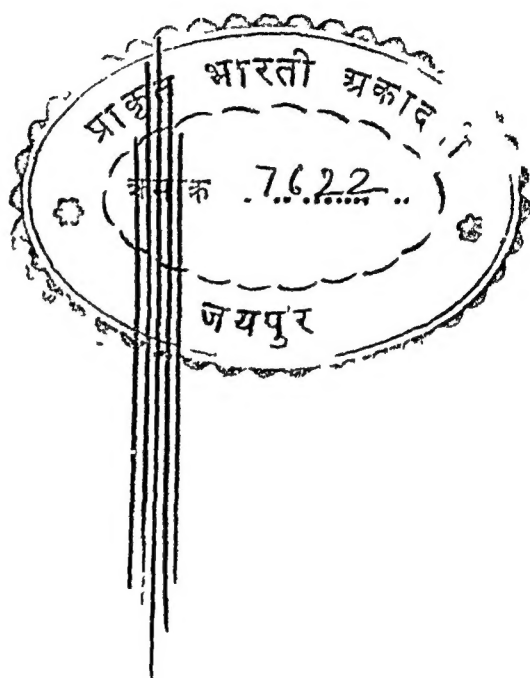


श्रीहरिः

मार्क्सवाद और रामराज्य



लेखक—

श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज

मुद्रक तथा प्रकाशक

मोतीलाल जालान

गीताप्रेस, गोरखपुर

स० २०१४ प्रथम संस्करण ३०००

स० २०१९ द्वितीय संस्करण ५०००

मूल्य ४.०० (चार रुपये)

(१) दामोदर

गुप्ता

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

अखिल भारतीय रामराज्यपरिषद्, हिन्दु महासभा, जनसंघ आदि राजनीतिक दलों द्वारा १९५३ में जम्मू-काश्मीर में आन्दोलन चलाया गया। उसी सम्बन्धमें श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज दिल्ली में गिरफ्तार हुए और वहाँकी जेलमें नजरबंद कर दिये गये। वहाँ उन्होंने, जो भी कम्युनिस्ट साहित्य उपलब्ध हो सका, उसे अच्छी तरह पढ़ा और फिर संस्कृतमें उसपर एक लंबा लेख लिखना आरम्भ किया। वह लेख पूरा न हो पाया और वे जेलसे छोड़ दिये गये। अनेकों कार्योंमें व्यस्त होनेके कारण वह लेख अधूरा ही पड़ा रह गया।

बादमें यह विचार हुआ कि यदि संस्कृत लेखका हिंदी-अनुवाद कर दिया जाय और हिंदीमें उसे आगे बढ़ाया जाय तो उससे अधिक लोग लाभ उठा सकेंगे। वम्वईके उन्साही युवक विद्वान् श्रीवासुदेव व्यासने, जो श्रीमहाराजजीके अनन्य भक्त हैं, संस्कृतके लेखका बड़े परिश्रमसे हिंदीमें अनुवाद किया। किंतु निरन्तर यात्रापर रहनेके कारण वह लेख आगे न बढ़ सका। फरवरी १९५५ में प्रयाग कुम्भसे लौटनेपर काशीमें श्रीविश्वनाथ-मन्दिर-सत्याग्रहके सम्बन्धमें वे फिर गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें जिला जेलमें रखा गया। वहाँ उस लेखको आगे बढ़ानेका प्रयत्न फिर आरम्भ हुआ। कम्युनिस्ट साहित्यकी कई पुस्तकें जेलमें पहुँचायी गयीं। जेल अधिकारियोंने बहुत-सी सुविधाएँ दे रखी थीं। दिनभर दर्शनार्थियोंका ताँता लगा रहता था। जेलमें भी अधिक अवकाश न मिलता था, पर तब भी लेखमें कुछ प्रगति हुई। महीनेभर बाद प्रयाग उच्चन्यायालयने उनकी गिरफ्तारी अवैध बतलाते हुए उन्हें छोड़ देनेकी आज्ञा दी, पर साथ ही यह लिखा कि 'उत्तरप्रदेशीय सामाजिक अयोग्यता-निवारण कानून' के अन्तर्गत उनपर मुकदमा चलता रहे। जेलसे निकलते ही यात्रा-क्रम फिर चल पड़ा और लेखका कार्य रुक गया। उसी वर्ष श्रीचरणोंका चातुर्मास्य 'श्रीधर्मसंघ शिक्षामण्डल' दुर्गाकुण्ड, काशीमें हुआ। चातुर्मास्यमें यात्रा स्थगित होनेसे कुछ अवकाश मिलता है, अतः लेखन-कार्य कुछ आगे बढ़ा। उन्ही दिनों 'सिद्धान्त'का जो पहले 'साप्ताहिक' था और तीन वर्षोंसे बंद था, 'पाक्षिक' रूपमें पुनः प्रकाशन आरम्भ हुआ। वह लेख उसीमें क्रमशः प्रकाशित होने

लगा। पर लेखका कलेवर धीरे-धीरे बढ़ने लगा। मूल विषयसे सम्बद्ध कितने ही विषय सामने आ गये और उनपर लेखनी चल पड़ी। चातुर्मास्य समाप्त होनेके कुछ ही दिनों बाद श्रीविश्वनाथ-मन्दिर-सत्याग्रह-सम्बन्धी मुकदमेमें उन्हें एक महीनेकी जेल हो गयी। जेलमें लेखका क्रम फिर चल पड़ा। जेलमें मिलने जानेवाले विद्वानों-से बराबर इसी विषयपर चर्चा चलती रहती थी। थोड़े ही दिनोंमें यह अनुभव होने लगा कि विषय केवल मार्क्सवादके दर्शनतक ही सीमित नहीं रह सकना। उसमें तो समस्त पाश्चात्य दर्शनकी आलोचना और अपने मतका प्रतिपादन आ जाता है। इसपर एक स्वतन्त्र पुस्तक ही हो सकती है। इस दृष्टिसे अनेक विषयोंका समावेश होने लगा।

महीनेभरका कारावास पूरा होनेपर श्रीमहाराजजी यात्रापर फिर निकल पड़े। परंतु अब यात्रामें भी जहाँ कहीं कुछ अवकाश मिल गया, उन्होंने थोड़ा बहुत लिख डाला। सब सामग्री मिलाकर कई सौ पृष्ठ हो गये। कोई योजना बनाकर क्रमसे उन्होंने पुस्तक नहीं लिखी। जहाँ जिस विषयपर ध्यान चला गया, उसीपर कुछ-न-कुछ लिख डाला। कभी-कभी कोई ऐसी पुस्तक हाथमें पड़ जाती, जिसमें पूर्वपक्ष मिल गया तो उसीपर कुछ लिख डालते थे। इस तरह कई सौ पृष्ठ लिख डाले गये। यह सामग्री क्रमवद्ध करनेकी कठिन समस्या खड़ी हो गयी। श्रीमहाराजजीको इतना अवकाश नहीं रहा कि वे सब सामग्री पुनः पढ़कर उसे ठीक करते। पुस्तक समाप्त करनेकी दृष्टिसे ही १९५६ का चातुर्मास्य काशीमें ही किया गया। उन दिनों 'कल्याण' सम्पादन-विभागके श्रीजानकीनाथ शर्माने जो जेलमें भी श्रीचरणोंके साथ ही रहे, वड़े परिश्रमसे सब सामग्री क्रमवद्ध करनेका प्रयत्न किया। 'गीताप्रेस, गोरखपुर'ने पुस्तक छापनेकी इच्छा प्रकट की और पाण्डुलिपि उसे भेज दी गयी। पर इसका प्रूफ-संशोधन भी सहज कार्य न था। लेखोंके अंश काट-काटकर क्रमसे एक साथ जोड़े गये थे। प्रेस-कापी ठीक न होनेसे प्रूफ-संशोधनमें बड़ी अड़चन पड़ी। पर श्रीजानकीनाथजीने बड़ा परिश्रम किया। फिर भी प्रूफकी अनेक अशुद्धियाँ रह गयी हों तो कोई आश्चर्य नहीं। जिस प्रकार पुस्तक लिखी गयी, उसमें कहीं-कहीं क्रम कुछ टूट जाना या कहीं पुनरुक्ति हो जाना अनिवार्य था, पर तब भी लेखका ऐसा क्रम बना दिया गया कि पढ़नेसे विचारधारा कहीं टूटती नहीं।

पुस्तकमें पाश्चात्य मतकी आलोचनाके साथ अपने पक्षका प्रबल प्रतिपादन किया गया है। अपने यहाँकी प्राचीन शैली है कि पहले

पूर्वपक्ष चलता है फिर उत्तरपक्ष । इस पुस्तकमें भी उसीका अनुसरण किया गया है । फलतः यदि किसी विषयका एक स्थलपर विवेचन हो गया, तो फिर उसे उस परिच्छेदमें विस्तारपूर्वक नहीं उठाया गया है, जिसका वह मूल विषय है । पुस्तकके पढ़नेसे सबसे बड़ा लाभ यह है कि दोनों पक्षोंका समुचित ज्ञान हो जाता है । पर पढ़नेके लिये चाहिये धैर्य और जिज्ञासा । पुस्तकके कुछ पन्ने उलट देने या एकाध अध्याय पढ़ लेनेमात्रसे प्रतिपाद्य विषयका पूरा ज्ञान नहीं हो सकता ।

पुस्तकके नामके सम्वन्धमे भी कुछ विचार चला । यद्यपि 'मार्क्सवाद' शब्द रखा गया है, पर उसके साथ समस्त पाश्चात्य दर्शनका आलोचन आ गया है । मार्क्सवादका बहुत कुछ सम्वन्ध राजनीतिसे है । उसके जोड़में 'रामराज्य' शब्द ही ऐसा है, जिसमें समस्त भारतीय राजनीतिका समावेश हो जाता है । दोनोंका ही आधार दर्शन है । इस दृष्टिसे सभी दार्शनिक विषय भी आ जाते हैं । दोनोंके मूल सिद्धान्त लेकर ही विचार उठाया गया है । पर इतनेसे ही उसका क्षेत्र इतना व्यापक हो गया कि जिसमें धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी प्रकारके विषयोंपर विचार चल पड़ा । इसीलिये किसी विषयपर कोई अध्याय पढ़ लेने मात्रसे उसका सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता । सभी विषय एकदूसरेसे सम्बद्ध हैं । अतः पुस्तकको आदिसे अन्ततक पढ़ लेना आवश्यक है ।

अभीतक कोई ऐसी पुस्तक उपलब्ध नहीं थी जिसमें प्राच्य और पाश्चात्य आधारभूत सिद्धान्तोंका इतना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया गया हो । इस अभावकी पूर्ति इस पुस्तकसे हो जाती है । यह बहुत आवश्यक है कि इस पुस्तकका अंग्रेजीमें अनुवाद निकाला जाय, जिससे विदेशी विद्वान् और ऐसे भारतीय विद्वान् भी, जो हिंदी नहीं जानते, लाभ उठा सकें । पुस्तकपर गम्भीर विचारकी आवश्यकता है । इसमें यह आग्रह नहीं कि अपना ही पक्ष माना जाय । श्रीस्वामीजी महाराजकी यह विशेषता है कि वे आलोचनाका सदा स्वागत करते हैं और विचार-विनिमयके लिये प्रस्तुत रहते हैं । अपने देशमें कम्युनिस्टोंकी संख्या कुछ कम नहीं, पर उनमेंसे कितने ऐसे हैं, जिन्होंने मार्क्सवादका अच्छी तरह अध्ययन किया है । केवल कम्युनिस्टोंसे ही नहीं, पाश्चात्यदर्शनके सभी विद्वानोंसे ही अनुरोध है कि वे एक-द्वार यह पुस्तक पढ़कर विचार-विनिमयका मार्ग प्रशस्त करें ।

यदि आदिसे अन्ततक किसीने यह पुस्तक सावधानी तथा धैर्यपूर्वक पढ़ी, तो उसे (आधुनिक वादोंसे प्रचलित) सत्यका प्रकाश अवश्य मिलेगा । सत्यके अन्वेषक इस पुस्तकके लिये श्रीस्वामीजी महाराजके सदा ऋणी रहेंगे । अस्तु !

गीताप्रेसके संचालकोंने प्रेसमें कार्याधिक्य रहनेपर भी समय निकालकर जल्दीसे यह पुस्तक छापकर वस्तुतः बड़ा ही प्रशंसनीय कार्य किया है ।

गङ्गातरङ्ग, नगवा,

काशी

महाशिवरात्रि २०१४ वि०

गङ्गाशङ्कर मिश्र

आमुख

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।

नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥

(वाल्मी० सु० १३ । ६०)

आजकल संसारमे दर्शन तथा राजनीतिकी बड़ी चर्चा है, उसमें भी पाश्चात्त्योंके दर्शन तथा नीतिकी तो बहुत ज्यादा । भारतीय जनताका भी इन दिनों जड विज्ञानके प्रभावसे उधर कम आकर्षण नहीं है । अपनी बात तो हम भूल ही गये । बहुतोंका तो यह अनुमान है कि भारतमे पहले कोई राजनीति-शास्त्र था ही नहीं । ऐसी दशामें एक ऐसी पुस्तककी बड़ी आवश्यकता थी, जिसमें एक ही साथ पाश्चात्य दर्शन, राजनीतिके साथ भारतीय-दर्शनों तथा राजनीतिका तुलनात्मक अध्ययन हो और मूल्य भी कम हो । पाश्चात्त्योंके दर्शन एवं नीति आदि ग्रन्थ स्वतन्त्र हैं, साथ ही उनका मूल्य भी अत्यधिक है, जिससे कोई साधारण व्यक्ति उन सबोंको प्राप्त नहीं कर पाता । हमारे सोभाग्यसे परमाराध्य अनन्त श्रीस्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराजने बड़े अध्यवसायसे कृपापूर्वक यह पुस्तक लिख दी, जो आज पाठकोंके सामने है । इसमें पाश्चात्य दार्शनिकों एवं राजनीतिज्ञोंकी जीवनी, उनका समय-मत-निरूपण, फिर उनकी आलोचना तथा साथ ही अपने ऋषियोंके मतका तुलनात्मक अध्ययन एवं उनकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है । विकासवादके अध्यायमें तो अद्भुत युक्ति तथा अगणित वैज्ञानिकोंके मत द्वारा ही विकासका खण्डन एवं ईश्वरादिका मण्डन है ।

साम्यवाद (जिसकी आज सर्वाधिक चर्चा है) के आचार्य मार्क्सके नामपर तो यह पुस्तक ही है। उसके प्रत्येक अङ्गपर इसके पृथक् पृथक् अध्याय हैं, जिनमें उनकी पोल खोलकर तर्कद्वारा ही उनकी धज्जी उड़ायी गयी है। साथ ही अपने गूढ़तम अकाट्य न्याय तथा वेद-वेदान्तके सिद्धान्तोंको भी विस्तारपूर्वक समझाया गया है। अन्तमें संक्षिप्त प्राचीन भारतीय निर्दोष शासन प्रणाली भी दे दी गयी है।

शीघ्रताके कारण पुस्तकमें आये हुए व्यक्तियों तथा पारिभाषिक शब्दोंकी वर्णानुक्रम-सूची नहीं बन पायी। विषय-सूचीमें केवल थोड़ेसे नाम हैं। पाश्चात्योंका मत उद्धरणचिह्न (“ ” या ‘ ’) में रखा गया है। इसके बाद तुरंत ही भारतीय मत रखा गया है। पाश्चात्य ग्रन्थोंका उल्लेख पृष्ठोंमें न हो सका, उसकी सूची अन्तमें दे दी गयी है। अपने ग्रन्थोंका उल्लेख यथास्थान पुस्तकके पृष्ठोंमें ही है।

इसी तरह इस एक ही पुस्तकमें इतनी अधिक सामग्री आ गयी है कि उसे दर्शन तथा राजनीतिका ‘विश्वकोष’ कहना भी अनुपयुक्त न होगा। डिमाई साइजके ८०० से भी अधिक पृष्ठोंमें (छोटे तथा घने अक्षरोंमें) सार-सार बातोंका संग्रह है। यह सब देखते हुए इसका मूल्य कम ही है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं धर्मके साक्षात् विग्रह श्री-स्वामीजी महाराजकी कृपा तथा गीताप्रेसकी तत्परता देखकर ऐसा लगता है कि इस कार्यके भीतर परम मङ्गलमय परमात्माकी ही शुभ प्रेरणा है। इसके अनुशीलनमें जो मेरा समय लगा, वह भी भगवत्कृपाका ही परिणाम है। मेरा विश्वास है कि जो सज्जन इसे एक बार ध्यानसे पढ़ लेंगे, वे तामस अविवेकके क्लेशसे मुक्त होकर सात्त्विक ज्ञान तथा हृत्प्रसादको निश्चय प्राप्त करेंगे, दर्शन एवं राजनीतिका निर्मल ज्ञान तो उन्हें प्राप्त होगा ही।

द्वितीय संस्करणका निवेदन

पहला संस्करण छपनेके बाद तुरंत ही समाप्त हो गया। तबसे इसके दूसरे संस्करणकी माँग बराबर आती रही। पर एक बड़ी मशीनके टूट जाने तथा कुछ पुर्जोंके मार्गमें ही खो जानेसे दूसरी एक नयी मशीनके व्यर्थ पड़े रहनेसे प्रकाशनमें देर होती रही। अन्तमें ग्राहकोंके तीव्र आग्रहसे यह दूसरा संस्करण जैसे-तैसे तैयार किया गया है। इस बार बौद्धदर्शनके बहुतसे नये पृष्ठ जोड़े गये हैं, फिर भी मूल्य वही रखा गया है। इस पुस्तककी राहुलजीने एक छोटी-सी आलोचना लिखी थी। पर उसमें तत्त्वकी कोई गलत न थी,

केवल बाहरी आक्षेप थे। पुस्तकके किसी अंशपर कुछ न लिखकर स्वामीजीके लेखन आदिपर ही संदेह किया गया था। अतः उसका उत्तर इसमें न देकर महाराजजीने उसे अलगसे ही प्रकाशित करना उचित समझा। वह धर्मसंघ, दुर्गाकुण्ड, काशीके पतेपर मिल सकती है।

‘कल्याण’ सम्पादन-विभाग
गीता-वाटिका, गोरखपुर

जानकीनाथ शर्मा

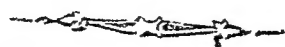
कुछ समाचार-पत्रोंकी सम्मतियाँ

‘नवभारत टाइम्स’ दिल्ली, वॉर्नर [१४ दिसम्बर १९५८]—
भौतिकवादकी प्रचण्ड आँधीने समस्त संसारकी चिन्तनधाराको झकझोर दिया है। आज संसारकी लगभग आधी आबादी मार्क्सवादसे प्रेरणा लेकर अपने-अपने ढंगपर आर्थिक उन्नयनके लिये प्रयत्नशील है। भारत भी इस हवासे अछूता नहीं है। पर यहाँकी दार्शनिक एक सांस्कृतिक परंपराओंको लॉचकर कोई भी वाद इसदेशमें पनप नहीं सकता। ऐसा क्यों नहीं होगा और क्यों नहीं होना चाहिये, इसी वस्तुको स्पष्ट करनेके लिये स्वामी श्रीकरपात्रीजीकी यह रचना है। प्रस्तुत ग्रन्थमें न केवल मार्क्स, बल्कि तमाम पश्चिमी राजनीति-शास्त्रों-का गम्भीर विश्लेषणद्वारा खण्डन किया गया है। वस्तुतः यह एक अनुपम ग्रन्थ है।

युगधर्म—(नागपुर, जबलपुर) हर-व्यक्तिके लिये पुस्तक सग्रहणीय है। ‘हिंदी इस रचनाके लिये चिर ऋणी रहेगी। भारतीय कम्युनिस्ट ही नहीं, सभी प्रगतिशील इस पुस्तकसे वह भाषा और विचार सीख सकते हैं जो आज भारतकी ‘प्रगति’के नामवाली वास्तविक ‘दुर्गति’ के पाशसे मुक्त करनेके लिये परमावश्यक है।

‘त्रैकटेश्वर समाचार,’ वॉर्नर—विद्वान् लेखकका यह महान् प्रयास अभिनन्दनीय एवं प्रशंसनीय है। भारतके वर्तमान सभी राजनीतिक दलोंके कार्यकर्ताओं तथा पाश्चात्य दर्शनोंके प्रशंसकोंको यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये। पूज्य स्वामीजी महाराजका यह महान् प्रयास समाज और राष्ट्रके लिये परम कल्याणकारक है।

इसी प्रकार ‘भारत, आर्यावर्त,’ कान्ति (रामपुर मई १९५९) आदिने प्रशंसा की है।



विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१- पाश्चात्य-दर्शन १-३६		हीगेल	१०७
दर्शनकी परिभाषा	१	बोदो	१०७
यूनानी दर्शन	८	टी० एच्० ग्रीन	११०
अन्य पाश्चात्य-दर्शन	१३	एफ्० एच्० ब्रैडले	११३
हेगेल-दर्शन	२६	मार्क्सवाद	११५
मार्क्स-दर्शन	३०	कालमार्क्स	११५
२- पाश्चात्य राजनीति ३७-१२९		समष्टिवाद	११९
यूनानका राज्यदर्शन	३७	सङ्घवाद	१२१
प्लेटो (अफलातून)	३८	बहुलवाद	१२२
अरस्तू	३९	फैमीवाद	१२३
मध्ययुग	८२	जनवाद	१२४
आल्फ्रेडसियम	८४	अराजकतावाद	१२८
ग्रोशस	४४	३. विकासवाद १३०-२३१	
आधुनिक विचारधारा	४६	डार्विनका मत	१३०
राज्यका जन्म और सामाजिक		स्पेसरकी सीमाना	१३४
अनुबन्ध	४६	जातिविधान	१५३
थामस हॉब्स	४७	लुप्त जन्तु	१६८
जान लॉक	५३	गर्भशास्त्र	१७०
रुसोके विचार	५७	सन्वियोनियों	१८३
महाभारतमें सामाजिक		प्राकृतिक चुनाव	१८५
अनुबन्ध	६५	कृत्रिम चुनाव	१९२
४. व्यक्तिवाद	७२	मनुष्यजाति	१९६
उपयोगितावाद	७७	मानवसृष्टिका मूलस्थान	१९९
वैयक्तिक स्वतन्त्रता	८२	भाषा-विज्ञान	२०४
एकसत्तावाद	९१	जड या चेतन ?	२१२
आदर्शवाद	९७	विकासवाद और जाति	२१७
जनवादी राजसत्ता	१००	कर्मविपाक और विकासवाद	२२३
कान्ट	१०३	४. मार्क्सोय द्वन्द्ववाद २३२-२४७	
फिक्टे	१०५	एजितमका प्रकृतिसम्यन्धी	
		द्वन्द्ववाद	२८०

विषय	पृष्ठ संख्या
५. वर्ग-संघर्ष	२४८-३१६
सापेक्ष और शाश्वत नियम	२४८
व्यक्तिगत सम्पत्ति	... २४८
शाश्वत नियम	.. २५०
गोपक-गोपित	... २५२
आर्थिक असंतुलन	. २६१
उत्पादन और नियम	. २६४
वर्ग-विद्वेष	.. २६७
वास्तविक पूँजीवाद	.. २७९
श्रेणीभेदका आधार	.. २८२
सघटनकी कुंजी	... २९४
राष्ट्रका वणीकरण	२९६
समाजवादमें लोकतन्त्र	.. २९८
श्रमिकोंका एकाधिपत्य	. २९९
कम्युनिस्टोंकी कूटनीति	. ३०३
उत्पादन और समाज	... ३०५
वितरण	... ३१०
लाभ और श्रमिक	.. ३११

६. मार्क्सिय अर्थव्यवस्था ३१७-४२२

मूल्यका आधार	... ३१७
मूल्य और श्रम	.. ३२१
मजदूरी	... ३२२
अतिरिक्त लाभ	... ३२४
उपयोगी वस्तु और सौदे- की वस्तु	... ३३०
लाभ या मुनाफा	.. ३३१
अतिरिक्त श्रम और मुनाफा	३३५
अतिरिक्त मूल्य और गोपण	३३८
श्रम और मुनाफा	... ३४४
पूँजी और श्रम	... ३५१
अतिरिक्त आय और अन्त- विरोध	... ३५७

विषय	पृष्ठ-संख्या
सर्वहारा और क्रान्ति	... ३५८
पूँजीवाद और कृषि	... ३६२
व्यक्तिगत वैध भूमि	... ३६६
भूमि-कर	... ३६८
कृषकका अतिरिक्त श्रम और भूमिकर	.. ३७६
बड़े परिमाणमें खेती	... ३७८
आर्थिक संकट	... ३८१
सामाजिक संकट	. ३८९
समाजवादी सञ्जबाग	... ३९४
मार्क्सवाद एवं राष्ट्र	... ४०१
मार्क्सवाद एवं युद्ध	... ४०३
अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें पूँजीवाद	४०६
पूँजीवादी साम्राज्यवाद	.. ४११
अशान्तिकी जड़-आर्थिक विपमता	... ४१४

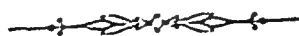
७. ऐतिहासिक भौतिकवाद ४२३-४५८

इतिहास क्या है ?	.. ४२३
इतिहासकी मार्क्सिय व्याख्या	४२५
भौतिकवादी व्याख्या	... ४२७
उत्पादन-शक्तियों और नियम	४२९
मार्क्स एवं इतिहास	. ४३८
परिवर्तनके कारण	.. ४४१
इतिहास और व्यक्ति	. ४४६
राष्ट्रियताका भाव	... ४४८
इतिहासका वर्ण्य विषय	. ४५४

८. मार्क्स दर्शन ४५९-५६८

वैज्ञानिक द्वन्द्ववाद	.. ४६१
पूँजीका स्वरूप	... ४८२
प्रतिषेधका प्रतिषेध	... ४८३
ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद	.. ४९२
अतिभौतिकवाद और द्वन्द्वमान	५१३

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
अन्तर्विरोधपर बुद्धि-अग्नि ...	५३४	आदर्शवाद ...	६१२
गुण-परिवर्तन ...	५३७	विज्ञान एवं समाजवाद ६१४	
ज्ञानका मूल ...	५४३	मत्त्व ...	६१४
सामाजिक व्यवस्था ...	५४७	ज्ञानका मूल ...	६१५
प्राप-पुण्य और शोषण ...	५४९	विकास ...	६१७
समाज-विकासकी कुंजी ...	५५०	आवश्यकता एवं स्वतन्त्रता ६१७	
श्रेणी और वृत्ति ...	५५४	स्वतन्त्रताका अवग्रोध ...	६१८
धर्म और अर्थ ...	५५६	भारतीय दर्शनमें ज्ञान-	
उत्पत्तिके साधन और न्याय ५६०		सिद्धान्त ...	६१९
माक्स और धर्म ...	५६३	अनुभव और आत्मा ...	६२०
९. माक्सवादी समाज-		अनुभव-विमर्श ...	६२१
व्यवस्था ५६९-६१०		ज्ञान और आनन्द ...	६७०
पूँजीवादी युग और स्त्री ...	५७१	मूल वस्तु या चेतना ? ...	६७६
पानिन्नत धर्म ...	५७३	आत्मा एवं भूत ...	६८०
अर्थमूलक समाजमें		११. माक्स और आत्मा ६८३-८०३	
सामाजिक सम्बन्ध ...	५७७	आत्मतत्त्व-विमर्श ...	७१०
वर्गवाद ...	५७९	स्मृति और प्रामाण्य पार्थक्य ७६१	
व्यभिचारका उन्मूलन ...	५८३	अहमर्थ और आत्मा ...	७८०
भूत और शक्ति ...	५८५	१२. माक्स और ईश्वर ८०४-८२५	
क्या मनुष्यकी इच्छाशक्ति		ईश्वरके सम्बन्धमें भारतीय	
स्वाधीन है ? ५८६		दर्शनके आधारपर माक्स-	
द्वन्द्वन्याय और अन्तिम मत्त्व ५९१		वादियोंके विचार ८२०	
क्रान्तिका ज्ञानसिद्धान्त ...	५९७	१३. उपसंहार ८२६-८४५	
व्यवहार और तथ्य ...	६०१	भारतीय राजनीतिक दर्शन ८२६	
द्वन्द्वन्याय और विकास ...	६०७	शास्त्रीय ज्ञान-विधान ...	८२८
१०. माक्स और ज्ञान ६११-६८२		राजनीतिमें किसका	
माक्सवादी मन या ज्ञानपर विचार ६११		अविकार ? ८११	
		मत्पुरुषोंसे एक निवेदन ८४८	



सहायक पुस्तकोंकी सूची

लेखक	पुस्तकका नाम	प्रकाशन-संस्था
१ मार्क्स—	कैपिटल (मराठी अनुवाद)	पीपुल्स-पब्लिशिंग्स हाउस -बम्बई ४
२ „	भारत-सम्बन्धी लेख	„ „
३ स्टालिन	लेनिनवाद	„ „
४ „	ऐतिहासिक भौतिकवाद	„ „
५ „	अराजकतावाद या समाजवाद	„ „
६ „	अक्टूबरकी क्रान्ति और कम्युनिस्टोंकी कार्यनीति	„
७ „	मार्क्सवाद और जातियोंका प्रश्न (अनुवादक—ओमप्रकाश)	„
८ „	लेनिनवादकी समस्याएँ	पी० प० हा० बंबई
९ „	मार्क्सवाद और भाषा शास्त्र	„ „
१० „	कम्युनिस्टपार्टीका इतिहास (अनु०—रामविलास शर्मा)	„
११ „	कम्युनिस्टपार्टीका घोषणापत्र
१२ फ्रेड्रिक एंजिल्स	समाजवाद काल्पनिक और वैज्ञानिक
१३ „	परिवार, व्यक्ति, सम्पत्ति और राजसत्ताकी उत्पत्ति...	„
१४ „	कार्लमार्क्स और उनके सिद्धान्त (अनु०—रामबालक शर्मा)	„
१५ „	मार्क्सवाद क्या है ? (अनु०—ओमप्रकाश)	„
१६ „	समाजवाद और व्यक्ति (अनु०—नरेन्द्र)	„
१७ भूपेन्द्रनाथ सान्याल—	मार्क्सका दर्शन	
१८ सत्यभक्त	कार्ल मार्क्स	
१९ यशपाल	मार्क्सवाद	
२० त्रिलोकीनाथ मिश्र—	यूनानका राजदर्शन	
२१ डाक्टर गणेशप्रसाद—	राजनीतिक विचारधाराएँ (प्रथम संस्करण)-	लौग मैन्स प्रकाशन
२२ कन्हैयालाल वर्मा—	वाश्वात्य राज्यदर्शन-नन्दकिशोर ब्रह्म, वाराणसी	
२३ स्पेंसर—	जेय मीमांसा (अनु०—कन्मल) इण्डियनप्रेस
२४ रघुनन्दन शर्मा—	वैदिक सम्पत्ति



मार्क्सवाद और रामराज्य

प्रथम परिच्छेद

पाश्चात्य-दर्शन

मार्क्सवाद समझनेके लिये उसकी पृष्ठभूमिपर एक दृष्टि डालना बहुत आवश्यक है । मार्क्सवादमें दर्शन, राजनीति और अर्थशास्त्र तीनोंका ही समावेश है । किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, मत या वादका स्थायी आधार उसका दर्शन ही होता है । मार्क्सने भी अपनी विचारधाराका आधार दर्शन ही बनाया । भूत, वर्तमान और भविष्यको एक दूसरेसे पृथक् नहीं किया जा सकता । यूरोपमें प्राचीनकालसे जो विचारधाराएँ चलती रही, उन्हींके विवेचनसे मार्क्सने अपने नये सिद्धान्त स्थिर किये । अतः यह बहुत आवश्यक है कि उन विचारधाराओंको भी पहले समझ लिया जाय । आरम्भमें ही यह प्रश्न उठता है कि दर्शन क्या है ? इसलिये पहले हम इसीपर विचार करेंगे ।

दर्शनकी परिभाषा

यूनानी 'फिलॉसफस' शब्द ज्ञान और प्रेमके अर्थमें प्रयुक्त होता था । उसके आधारपर अग्रेजीका 'फिलॉसफी' शब्द प्रचलित हुआ । यद्यपि सविस्तर सीमासा या विवेचना ही इसका अर्थ है, फिर भी विषय-विशेषके सश्रित विचार-दर्शनके लिये भी 'फिलॉसफी' शब्द व्यवहृत होता है । आजकल तो दर्शनकी एक-एक शाखाके लिये भी 'फिलॉसफी' शब्दका प्रयोग होता है । कई आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् विशेषकर कम्युनिस्ट, जीवनके दृष्टिकोणको ही दर्शन मानते हैं । उनके मतमें 'दर्शन' युगधाराका परिचायक होता है । युगसर्वपेसे ही उसका जन्म हुआ है । दर्शनका उसके निर्माताओंके जीवनकी घटनाओंसे भी सम्बन्ध होता है । अफलातून (प्लेटो) राजकुलमें शिक्षक था, इसलिये उसके दर्शनमें राजसम्बन्धका असाधारण प्रभाव है । हेराक्लिटस दलितवर्गमें पैदा हुआ, इसलिये उसका दर्शन परिवर्तनप्रवर्तक हो गया; क्योंकि दलित करनेवाली दूसरी श्रेणीका परिवर्तन आवश्यक था । हेल्मूसियसमध्यम श्रेणीका प्रतिनिधि था और कार्लमार्क्स उदीयमान श्रमिकोंका, इसलिये उन-उनके अनुसार उनके दर्शन भी बने । असाधारण निपटव्र कालमें मार्क्सका जन्म हुआ । फलतः उसका जीवन क्रान्तिकारी रहा और वैसा ही उसका दर्शन भी ।¹

यद्यपि अशतः यह ठीक है, तथापि यह स्वाभाविक स्थिति है। ऐसे विचारोका 'दर्शन' नाम नहीं दिया जा सकता; क्योंकि इनमें भावनाओका ही प्राधान्य है। पर भावनाएँ 'दर्शन' नहीं होतीं। भावनाके प्राबल्यसे तो कभी विधुर-परिभावित कान्ताका भी साक्षात्कार हो जाता है। परिस्थितिका प्रभाव विचारोपर होनेसे उनकी यथार्थतामें सदेह होना स्वाभाविक ही है। स्पष्ट है कि पित्तरोगयुक्त रसनासे गुड़की मधुरताका ठीक अनुभव नहीं हो सकता। पित्तयुक्त नेत्रसे श्वेत गङ्गा भी पीत प्रतीत होता है। सर्पदष्ट व्यक्ति कटु निम्बको भी मिष्ट समझता है। नीले-पीले उपनेत्रो (चक्षुः) से वस्तु नीले-पीले रूपमें प्रतीत होती है। कामी ससारको कामिनीमय और ज्ञानी ब्रह्ममय देखता है। निम्बके कीटको मिश्रीकी मिष्टताके अनुभवमें पर्याप्त कठिनाई होती है। नमकके पर्वतपर रहनेवाली चूँटी मिश्रीके पर्वतपर जाकर मिश्रीकी मिठासका तबतक अनुभव नही कर सकती, जबतक कि अपने मुँहसे नमकके कणोको निकाल न दे। ठीक इसी तरह जबतक तपस्या, सदाचार, निःस्पृहता एवं योगाभ्यास आदिके सहारे राग-द्वेष, सम्पत्ति-विपत्ति, व्यक्तिगत परिस्थिति तथा वातावरणके प्रभावसे ऊँचा नहीं उठा जाता, तबतक सूक्ष्म विषयोका यथार्थ ज्ञान कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।

भारतीय दृष्टिसे पवित्र विचार अर्थात् धर्म-ग्रन्थादि पवित्र वस्तुसम्बन्ध कल्याणकारी पवित्र विवेचन मीमांसा है—'माने जिज्ञासायाम्'। और वस्तुतत्त्व परम सत्यका निर्दोष प्रमात्मक अनुभव करनेवाला विचार 'दर्शन' कहा जाता है—'दृश्यते वस्तु याथात्म्य अनेन इति दर्शनम्'। दूसरे शब्दोंमें प्रमाणद्वारा आत्मा नात्माका ज्ञान जिसमें होता है उसका नाम 'दर्शनशास्त्र' है। प्रमाण अज्ञातज्ञापक होता है, अकृतकारक नहीं। ज्ञान कर्मके समान पुरुषके अधीन नहीं होता। कर्म करने, न करने, उल्टा करनेमें पुरुष स्वतन्त्र है, किन्तु ज्ञानके सम्बन्धमें यह बात नहीं कही जा सकती। प्रमाण-प्रमेयके परस्पर सम्बन्ध हो जानेपर इच्छा न रहनेपर भी दुर्गन्धादिका ज्ञान होता ही है। दर्शन प्रमाण-परतन्त्र होता है। प्रमाण अनुरोधक विरोधक सभी प्रकारके होते हैं। उनमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम मुख्य हैं; प्रत्यक्षानुमानका भी आगमानुसरण आवश्यक है। इसके बिना कितने ही अनुमानाभास भी अनुभवके रूपमें सामने आते हैं। उदाहरणार्थ कोई नरशिरके कपालकी हड्डीको प्राण्ड समझकर गङ्गातुल्य पवित्र मान सकता है। पर यह अनुमानाभास है। अतएव पवित्र बुद्धिके मनुष्य 'नरशिरःकपालं शुचिः प्राण्डत्वात् गङ्गात्' इस अनुमानका तिरस्कारकर 'नारं स्पृष्ट्वास्थिं सस्नेहं सवासां जलमाविजेत्' इस आगमानुसार जुगुप्सित नरशिरकी अस्थिका स्पर्श करे। जनेपर नन्दनान कर अपनेको पुनः शुद्ध करने हे।

मुँह लेंगे तो ऐसा भी मत है कि ये कौन हैं, कहाँसे आया हैं, यह

विश्व क्या है' आदिका चिन्तन तथा विवेचन 'दर्शन' है। इसी प्रकार कुछ विद्वान् प्रकृति तथा उसके व्यापारका अध्ययन एवं उसके भीतर एकता देखनेको दर्शन कहते हैं। पर इन मनोमे भी आंशिक सत्यता/मात्र है। सभी दर्शन सभी विषयोंमे आदरणीय भी नहीं हो सकते। जैसे अंधोंने हाथीके जितने अङ्ग जिस रूपमे अनुभव किये उसी ढंगसे उनका वर्णन किया। न इसे सम्पूर्ण मिथ्या ही कहा जा सकता है और न पूर्णतया सत्य ही। विवेकतया पाश्चात्य दर्शनोंके सम्बन्धमें तो अत्यन्त वैरूप्य है। भारतीय दर्शनोमे यद्यपि इतना अधिक वैरूप्य नहीं है; क्योंकि उनके मूल अनादि-अपौरुषेय वेद, तदाधारित शास्त्र, योगज ऋतम्भरा प्रज्ञा तथा लौकिक प्रत्यक्षानुमान हैं तथापि यहाँ भी सभी विषयोंमे सभी ऋषियोंका समान आदर नहीं, अपितु जिस विषयमें जिस ऋषिने धारणा, ध्यान, समाधि आदिद्वारा तत्त्वानुभूति प्राप्त की, उसी विषयमे उसका सार्वभौम आदर है। जैसे शब्दके सम्बन्धमे पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि आदिका एवं वाक्य-विचार आदिमें जैमिनि, व्यास आदिका।

पाश्चात्य-दर्शनोमें अविकाराका जन्म कुतूहल-बुद्धि एवं ज्ञान-पिपासा-आन्तिकी दृष्टिसे ही हुआ है। अनेक पाश्चात्य-दर्शनोका प्रादुर्भाव राजनैतिक उद्देश्यकी पूर्तिके लिये भी हुआ है, किन्तु भारतीय दर्शनोका अन्तिम उद्देश्य दुःख-निवृत्ति, मृत्यु-विजय तथा मोक्ष-प्राप्ति ही है, अतएव उद्देश्य अर्थ-काम-धर्मार्जन भी है।

वेदान्तमतमे ज्ञानस्वरूप आत्मा निर्विकार है। मन, अन्तःकरण आत्मासे भिन्न प्राकृतिक है। चित्त, अहंकार आदिके समान ही पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ भी प्राकृतिके सूक्ष्म तत्त्वोंसे ही बनी हैं। स्थूल देहसे भिन्न पञ्चप्राणसहित उक्त मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं कर्म-ज्ञानेन्द्रियोंको मिलाकर सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर कहा जाता है। स्थूल देहके नष्ट होनेपर भी यह सूक्ष्म देह नष्ट नहीं होता। सृष्टिसे लेकर प्रलयकालतक यह सूक्ष्म देह रहता है। इसीके आधारपर व्यापक आत्माका गमनागमनादि बनता है। इससे भिन्न एक रजस्तमोलेगानुविद्ध अतएव अविशुद्ध सत्त्वप्रधान अविद्यारूपी कारण शरीर भी मान्य है, जिनका तत्त्व साधारणसे ही बाध होता है। इस तरह वह अनादि, सान्त है। मूल प्रकृति भी अनादि, सान्त है। सम्पूर्ण प्रपञ्च पञ्चभूतात्मक है। उन भूतोंकी ग्राहक इन्द्रियाँ भी सूक्ष्म भूतोंका ही परिणाम हैं। भिन्न कारणोंमें स्वकार्यानुकूल शक्ति होती है। इसी तरह ब्रह्ममें भी सर्वप्रपञ्चोत्पादनी शक्ति होती है। इसीको मूल प्रकृति कहा जाता है। चेतन ईश्वर सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापी होता है। क्रमादि अनुसार जन्म-मरणके समान ही मरणका सृष्टिप्रलय होता है। नन्मग-

का कर्मके साथ असाधारण सम्बन्ध है । मोक्ष या भगवत्प्राप्ति ससारका चरम लक्ष्य है । वस्तुतः इन सभी विषयोंका विवेचन 'दर्शन' में आ जाता है ।

यूनानी-दर्शन

पाश्चात्य-दर्शन प्रायः मनतक ही पहुँचते हैं । आत्मवादी भी मन और आत्माका अभेद मानते हैं । इस सृष्टिके पहलेकी सृष्टियोंका विचार भी उन लोगोंने नहीं किया । 'मैटर' या भूतसमुदाय यद्यपि बहुत सूक्ष्म माना जाता है, तथापि वह साख्यीय प्रकृतिसे भिन्न है । यही कारण है कि आत्माका विचार उनके लिये बहुत दूरकी बात हो गयी है । यूनानके दर्शन अति प्राचीन समझे जाते हैं, पर वहँकि प्राचीन दार्शनिकोंने जड़-चेतनका भेद ही नहीं माना । किस प्रथम द्रव्यसे ससारकी उत्पत्ति हुई, यही उनका विचारणीय विषय था । अन्तर्मे मनुष्यादि प्राणियोंकी, मिट्टीसे अन्नकी, जल जमते-जमते मिट्टीकी और गर्मीसे जलकी उत्पत्ति उन्होंने मानी है । जीव-शक्ति भी उसीमें मिली थी । फिर कुछ लोगोंने परमाणु, कुछने विद्युत्कण और कुछ लोगोंने वानवे तत्त्व माने । अन्तर्मे मैटर या अव्यक्त एक द्रव्यसे ससारकी उत्पत्ति मानी ।

यूनानमें ईसवी सन्से ६०० वर्ष पूर्व थैलीज, एनैक्सीमैण्डर और एनैक्सिमैनीज—ये तीन दार्शनिक हुए हैं । हिप्पो और डायोजिनीज भी इन्हींके अनुयायी थे । ये लोग चेतन-अचेतन-मिश्रित मूल कारण द्रव्य समझते थे । अतएव आत्मा या ईश्वर आदिके सम्बन्धमें इन लोगोंने कोई चर्चा नहीं की । यद्यपि सृष्टिके पहले अतिसूक्ष्म द्रव्य एव दृक् दोनों अविकल्पित होकर एकमेव-से थे—

'आसीज्ज्ञानमथोत्पत्तिर्य एकनैवाविकल्पितम्' (श्रीमद्भा० ११।२४।३)

अर्थात् ज्ञान और अर्थ दोनों ही अविकल्पित होकर एक ही प्रतीत होते थे, तथापि यह अविकल्पकता, एकता, सूक्ष्मताके कारण प्रतीत होती है, अविवेकके कारण नहीं, किंतु थैलीज आदि तो जीव-शक्ति-मिश्रित ही मूल कारण मानते थे । थैलीज जलसे, एनैक्सीमैण्डर किसी अनियत द्रव्यसे और एनैक्सिमैनीज वायुसे ही विश्वकी सृष्टि मानता था । कहा जाता है कि थैलीज ज्योतिषी था । उसने ५८५ ई० में जो सूर्य ग्रहण हुआ था, उसे पहले ही बतला रक्ता था । उसके मतानुसार जल ही दृढ़ता, द्रवता तथा वायुके रूपमें परिवर्तित होता है । जलसे वनस्पति तथा सभी जीवोंको जीवन मिलता है । किसी दृष्टिमें यह मान्यता भारतीयोंमें भी थी । मनुने लिखा है कि परमेश्वरने पहले जल ही रचा और उसमें अपनी शक्तिका निक्षेप किया—

‘अथ एन ससर्जानां तासु बीजसवासृजत् ।’ (१।८)

जलमें निवासके कारण ही ईश्वरको 'पारायण' कहा जाता है ।

अनेकात्मक प्रपञ्चका मूल एक वस्तु है, यह खोज भी महत्त्वकी ही है ।

एनैक्सिमैण्डर ज्योतिष एवं भूगोलका विद्वान् था । उसने एक अपरिच्छिन्न परिमाणवाले द्रव्यसे ही विश्वकी उत्पत्ति और उसीमें समारका लीन होना माना है । यदि यह द्रव्य परिमित होता तो सृष्टि होते-होते समाप्त हो जाती । अतः यह द्रव्य अपरिमित अतएव अनश्वर है । इसकी गति भी शाश्वत है । यह स्वयं विभेद पदार्थ नहीं है, किंतु सब विभेद पदार्थ इसीसे निकलते हैं । गीत-उष्णका भेद, पृथ्वी, जल, वायु आदि सब इसीसे निकले । यह स्वयं थैलीजका सहवासी था और इसका शिष्य एनैक्सिमैनीज था । उसने (एनैक्सिमैनीज) प्रथम द्रव्य वायुको माना है । वायुमें ही शीतलता तथा उष्णतासे घनीभाव और शैथिल्य ये दो गुण प्रकट होते हैं । वायुके शैत्यसे जल एवं उष्णतासे अग्नि प्रकट होती है । जैसे प्राणके आधारपर प्राणीका देह होता है, वैसे ही वायुके आधारपर संसार स्थित है । हिप्पो थैलीजका ही अनुगामी था । वह आर्द्रतासे अग्नि और अग्नि तथा जलके सवर्षसे संसारका होना मानता था । ईडियस एवं डीयोजेनीज़ वायुको ही मूल कारण मानते थे, परंतु एनैक्सिगोरस अनेक तत्त्वोंका अस्तित्व मानता था । साथ ही वह ईश्वरकी इच्छासे ही इन तत्त्वोंके द्वारा सृष्टि स्वीकार करता था । पीथागोरसने सख्याको ही मूल माना है । वह ईश्वरको एक सख्या तथा अन्य अङ्कोंका उसीसे निकलना मानता था । एकसे बहुतोंकी उत्पत्ति होती है । बहुत सम्भव है कि यह 'एकोऽहं बहु स्याम्' (एक मैं अनेक होकर व्यक्त हो जाऊँ) इस श्रौतसिद्धान्तका ही रूपान्तर हो ।

एनैक्सिमैण्डर (ई० पू० ६४० से ५५०) का कथन है कि 'जो कुछ भी जाना जाता है वह मूल नहीं है । मूल तत्त्व तो कोई और ही है, जिसमें पृथ्वी-जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पाँच तत्त्वोंका जन्म होता है और जिसे 'असीम' नाम दिया जा सकता है । वही घन-विरलभावसे विश्वरूपमें परिणत और उपरत होता रहता है ।' पीथागोरस (ई० पू० ५७०-५००) तो मूल तत्त्वके सूक्ष्म रूपको ही सब कुछ मानता है । इसके अनुसार 'रूपका एक प्रकार अनुपात है । जैसे पित्त, कफ और वातके उचित अनुपातसे स्वास्थ्य और विपरीत होनेपर अस्वास्थ्य होता है, वैसे ही अन्य विषयोंमें भी । इसलिये विश्वका मूल वस्तु नहीं, पर वस्तुका रूप ही है ।' उधर परामेनीडीजके मतमें विश्व न कभी उत्पन्न हुआ, न नष्ट ही होगा ।

भारतीय दर्शनोके लिये यह सब कुछ नया नहीं है । मीमांसकोने कहा है कि 'न कदाचिदनीदृशं जगत् ।' अर्थात् यह जगत् कभी भी ऐसा नहीं रहा, जैसा आज नहीं है, अर्थात् वह सदा ऐसा ही रहा । सारी गतियाँ वाणकी गतिके समान भ्रमात्मिका ही हैं । वाण किन्ही विविष्ट स्थानोंपर 'गन्त' होते हुए भी 'असत्'

रहता है अर्थात् रहने हुए भी नहीं रहता । वह उस स्थानविशेषसे होकर जाता है, अतः 'सत्' है, परंतु क्षणभर भी नहीं ठहरता, अतः 'असत्' भी है । हेराक्लिटसने वस्तुओका अनादित्व, अनेकत्व और क्षण-विपरिवर्तित्व माना है । प्राकृत घटनाचक्र जितने भी हैं, वे सब सर्वशक्ती बुद्धिद्वारा प्रवर्तित हैं और विश्वका मूल भी । अनाक्सागोरस (ई० पू० ५००-४८८) और एम्पीडोल्कीज (ई० पू० ४६०-३७०) का कथन है कि 'वस्तुओकी अनेकविधताका पर्यवसान परमाणुओकी अनन्ततामें हो जाता है । समी वस्तुओके बीजभूत परमाणुओके संयुक्त होनेपर ही विश्व उत्पन्न होता है । असत्से कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता, न सत्का विनाश ही हो सकता है । अणुओका संयोग-वियोगात्मक ही परिवर्तन है । कोई भी वस्तु 'आकस्मिक' नहीं । सब वस्तुएँ कार्य-कारणसम्बद्ध ही हैं । अणु और शून्य इन दोके अतिरिक्त और कुछ नहीं है । अणु अनन्त हैं और उनकी अवस्थाएँ भी अनन्त हैं । नये अणु निःसीम प्रदेशोंमें अनवरत गिरते रहते हैं एवं पारस्परिक संघर्षोंसे ही भिन्न होते रहते हैं । उनके इन पारस्परिक संघर्षोंसे ही 'पार्श्वभ्रमि गतियों' (चारों ओर भँवर जैसी गतियाँ) उत्पन्न होती हैं, जिनसे असंख्य विश्वोंकी उत्पत्ति और विनाशकी परम्परा (शृङ्खला) चलती रहती है ।' इनके मतमें 'अणुओंमें आन्तरिक (भीतरी) गति नहीं होती । क्रान्ति और संघर्षोंसे ही परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती है । सूक्ष्म अणुओसे सारा शरीर व्याप्त है और उन्हींसे 'जीवन' और 'आत्मा' कही जानेवाली वस्तुओकी उत्पत्ति होती है ।'

डीमोक्रीटस (ई० पू० ४६०-३५७) के मतमें 'इन्द्रियोसे ही ज्ञान उत्पन्न होता है । जो एक जगह मृत्य है, वह दूसरी जगह अमृत्य भी हो संकता है ।' इनके मनमें मानवानुभूतिका ही सर्वाधिक महत्त्व है, ऐसा सोफिस्टोंका कहना है । भौतिकवादियोंके मतमें 'धार्मिक प्रचारोंमें दर्शनमें बड़ा प्रतिरोध उत्पन्न हुआ । चूँकि वहाँ मानव-बुद्धि सीमित ही है, अतः उससे तत्त्वज्ञान दुर्लभ ही है । प्रत्येक मानवके लिये दुर्भेद्य अन्वकार स्वभावसिद्ध है, इसीलिये प्रकृति भी रहस्यभूता ही रह जाती है ।'

वस्तुतः भौतिकवादी धार्मिक पक्षको बड़े विकृत रूपमें व्यक्त करते हैं । जो दग्धा (जलनेवाला) है, वह दहन (जलाये जाने) का विषय नहीं हो सकता, उसी प्रकार जो ज्ञाता (जाननेवाला) है, वह ज्ञान (जानने) का विषय नहीं हो सकता—यह सिद्धान्त सर्वथा युक्तिसङ्गत ही है । ठीक वैसे ही, तब जैसे श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा नहीं जाना जा सकता (केवल चक्षुरिन्द्रियके द्वारा ही जाना जा सकता है), वैसे ही शब्दस्पर्शादिगुणपञ्चकसे परेके पदार्थ इन्द्रियगोचर हैं—इन्द्रियोद्वारा नहीं जाने जा सकते (अर्थात् प्रत्यक्षके क्षेत्रके बाहर हैं, केवल अनुमान या शब्द-प्रमाणके द्वारा ही जाने जा सकते हैं) । यह

सिद्धान्त भी ठीक ही है—इसमें भी कहीं कोई युक्तिविरुद्ध बात नहीं दिखलाई देती । प्रामाणिक अनुशासन (शास्त्र या आसवाक्य) को भी न माननेपर 'तर्कानवस्थान' दोष अनिवार्य होगा । अर्थात् तर्कके वस्तुवाच्यपर अवलम्बित न रहकर व्यक्तिगत बुद्धिपर अवलम्बित रहनेके कारण जब जिन पक्षका व्यक्ति अधिक बुद्धिमान् होगा, तब उसीका मत सिद्धान्तरूपमें मान लेना पड़ेगा और कब किस पक्षका व्यक्ति अधिक बुद्धिमान् होगा, इसकी कोई व्यवस्था नहीं, अतः कभी सत्यपक्ष सत्य रह सकता है और कभी असत्यपक्ष भी जीत सकता है और ऐसी स्थितिमें ज्ञान भी अस्थिर ही रहेगा—

‘यस्तेनानुमितोऽप्यर्थः

कुशलैरनुमातृभिः ।

अभियुक्तैरैतैः अन्यैर्वोपपाद्यते

॥’

अर्थात् कुशल अनुमाता लोग बड़े प्रयत्नसे जिन अर्थको तर्कसिद्ध करते हैं, उन्हीं अर्थको अन्य अनुमाता तार्किक अपने अनुमान—तर्कोंद्वारा अन्यथा ही सिद्ध कर देते हैं । इस तरह पूर्व अनुमित अर्थका खण्डन कर नवीन अर्थ प्रस्तुत और पुनः उसका खण्डन कर नवीन बात सिद्ध की जा सकती है । इसलिये तर्कमें अप्रतिष्ठितताका आरोप होता है । तथापि यह तर्कका अप्रतिष्ठितत्व दूषण नहीं भूषण ही है, क्योंकि तर्कके अप्रतिष्ठितत्वकी सिद्धि भी तर्कसे ही होगी । जैसे ‘अयं तर्कः अप्रतिष्ठितः तर्कत्वात् तर्कान्तरवत्’ यह भी एक तर्क ही है और यदि यह तर्क भी अप्रतिष्ठित है, तो इस अप्रतिष्ठित तर्कके द्वारा तर्कका अप्रतिष्ठितत्व भी किस प्रकार सिद्ध होगा ? और यदि यह तर्क प्रतिष्ठित है, तो सब तर्क अप्रतिष्ठित हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह भी तर्क है, जिसको प्रतिष्ठित मान लिया गया । अतः कदाचित् तर्कका अप्रतिष्ठितत्व भूषण है, दूषण नहीं । अतः बड़ी सावधानीसे किसी तत्त्वके निर्णयके लिये कुछ तर्कोंका प्रयोग किया जाना चाहिये ।

सुकरातका मत था कि ‘सदाचारके अनुवर्तनमे ही सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है और वह ज्ञान प्रत्येक मनुष्यको उत्पन्न होनेवाले सामान्य ज्ञानसे भिन्न ही होता है । इष्ट घटनाओंद्वारा कार्यकारण-सम्वन्धमे सम्यग् ज्ञानकी उत्पत्ति सम्भव है । सम्यग् ज्ञान उत्कृष्ट गुण है । व्यापक विचारोंसे उसकी उत्पत्ति होती है ।’ कुछ लोगोंका यह जो मत है कि ‘सारा-का-सारा ज्ञान सभयाक्रान्त ही होता है, कोई भी ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होता’ उसका निराकरण करते हुए उनका कहना है कि ‘देवता नहीं चाहते कि इस विषयको लोग जाने । इसीलिये सभयाक्रान्ति होती है और सदाचार तथा देवानुग्रहसे सम्यग्ज्ञानका उत्पत्ति भी सम्भव ही है, असम्भव नहीं ।’ भौतिकवादियोंके मतमे सुकरातका दर्शन नीतिविषयक ही है । वैज्ञानिक अन्वेषणकी अपेक्षा उन्होंने आध्यात्मिक कल्याणका ही अधिक आदर किया है । उनके मतमें केवल बाह्य इन्द्रियोंसे ही अनुभूति होती हो सो बात नहीं है, अपितु तत्त्वानुभूति तो अन्तरात्मासे ही उत्पन्न (प्रत्यगुद्भूत ही) होती है । न्याय, सदाचार और सुबुद्धि मनुष्योंके आन्तरिक गुण हैं ।’ उनके मतमें

जो त्रिकालाबाध्य है, एकरस है, वही सत्य है। उन्होंने अप्रामाणिकप्राय असम्बद्ध ज्ञानोसे उपप्लुत मस्तिष्कको परिष्कृतकर उनमें सत्य ज्ञानके बीज बोये। उनका दर्शन गन्धार्थज्ञानविषयक ही है। बाह्य ज्ञानकी अपेक्षा आन्तरिक ज्ञानकी ही महत्ता उन्होंने अत्यधिक प्रख्यापित की है।

उनके शिष्य अफलातून विशिष्ट दार्शनिक हुए। उन्हींके प्रभावसे अनेक विद्वान् अपूर्ण ससारसे विरक्त हो गये और अनन्त सत्यमें अपना मन लगा दिया। भौतिकवादियोंकी दृष्टिसे लोग 'वस्तु' से अपना ध्यान हटाकर अमूर्त व्यापक सत्यके अन्वेषणमें लग गये। इन्द्रियव्यापारोंसे उपरत होकर उन्होंने विचारशक्तिसे महत्त्वपूर्ण मिद्धान्त स्थिर किये। उक्त विरोधाभासको ही तत्त्व मानकर यह मान लेना कि शक्ति या परिवर्तन विरोधपूर्ण है, अतः उसकी व्याख्या नहीं हो सकती, मिथ्या ही है। इसलिये तत्त्व तो अपरिवर्तनीय ही रहा और वही सत्य भी है, वही नित्य भी है। परिवर्तन तो भ्रममात्र है।

भौतिकवादकी पद्धतिसे तो इस दर्शनमें अनुभव और प्रयोगकी उपेक्षा ही है। जो तत्त्व है, वह 'कृतबुद्धिग्राह्य' ही है अर्थात् परमेश्वरके अनुग्रहसे प्राप्त हुई किन्नी रहस्यमयी आत्मशक्तिद्वारा ही उसका ज्ञान (ग्रहण) हो सकता है।

अन्य यूनानियोंका यह मार्ग भी प्रादुर्भूत हुआ कि 'तर्कद्वारा भी तत्त्वान्वेषण हो सकता है।' अफलातूनके मतसे 'भौतिक वस्तुओंको सत्यपरिचायक समझना चाहिये। घटनाएँ असम्पूर्ण और भ्रामिका होती हैं। इसलिये घटनाओंके मूलमें कोई गम्भीर सत्य रहता है। वही 'वैज्ञानिक नियम' कहलाता है। सारी सृष्टि उसीके अनुसार है। उन्हीं नियमोंसे घटनाओंकी व्याख्या भी होती है। साथ ही मूलभूत वैज्ञानिक नियम जाने भी जा सकते हैं।' अफलातूनके मतसे विश्वका घटनाचक्र यन्त्रमा नहीं है, अपितु जैसे वस्तुओंकी वृद्धिका मूल सूर्य है, वैसे ही नव घटनाचक्र किसी-न-किसी शुभके ही उद्देश्यसे प्रवृत्त होता है। इसका विषयानुसंग विवरण यह हो सकता है कि जितने अंशसे इन्द्रिय जगत्-सम्बद्ध है, उतने अंशमें उसकी सत्ता न्यून है। यदि कोई हिम (बर्फ) पर हाथ रखकर कठोण जल (गुणगुने पानी) में हाथ डाले, तो उसे वह जल अनुष्णके समान लगता है और यदि अनुष्ण जलमें पहले हाथ डालकर गुणगुनेमें डाले, तो उसे वह गीतल-जैसा लगेगा, इस प्रकार वही जल उष्ण भी है और गीतल भी। हाथीकी दृष्टिसे चूहा 'लघु जन्तु' है परन्तु चींटीकी दृष्टिसे वही 'महान्' अनुभूत होने लगता है। इस प्रकार वही मृगक लघु भी है, वही महान् भी। दृष्टिभेदकी दृष्टिसे वही युक्ति अन्य भी अनेक स्थानोंपर प्रयुक्त हो सकती है। कोई भी इन्द्रियानुभूत वस्तु विपरीत गुणयुक्त विदित होने लग सकती है। अतः गुण निश्चित नहीं कहे जा सकते और जो अपरिवर्तनीय गुणयुक्त नहीं है, वह सत्य नहीं है, और न वह ज्ञान ही प्रमात्मक है। कोई चित्र

किमीको सुन्दर लगता है किमीको असुन्दर । जो वस्तु नित्य है, उसका गुण निश्चित होता है अथवा गुणाभाव निश्चित होता है ।' उन (अफलातून) के मतसे इन्द्रिय-सम्बद्ध जगत जाना नहीं जा सकता । यदि पूछा जाय कि 'जो विज्ञान अनुभूत होता है वह किम्का है ?' तो उनके मतसे उत्तर है—'रूपजगत्का अथवा धारणाओका ।' इन्द्रियानुभूत (वस्तुओ) में गुणोंकी उपलब्धिका कारण रूप है । उसीमें उसमें मत्स्यत्वका आभास होता है । रूपका ही सम्यग्ज्ञान होता है । रूपशब्दसे यहाँ आध्यात्मिक रूप लेना चाहते हैं । सारा यह कि अपूर्ण बाह्य जगत्की अपेक्षा नित्यसिद्ध पूर्णताका ही अन्वेषण करना चाहिये ।'

अरस्तूने बाह्य एवं आन्तर दोनोंकी व्याख्या की है । 'व्यापक विचारोंसे ही तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है' यह तो उन्हें भी मान्य ही है । वे रूपोंको वस्तुसे सञ्चित ही मानते हैं, अन्यन्त पृथक् नहीं । अफलातूनकी रेखागणितमें अभिरुचि थी, इसलिये काल्पनिक वस्तुकी ओर उनका स्वाभाविक झुकाव रहा । अरस्तूकी जीवविज्ञानमें रुचि थी, इसलिये प्रकृतिके विकार, परिवर्तन आदि मस्कारोंकी प्रचलताके कारण अपरिवर्तनीय धारणा आदि सम्बन्धमें इनकी रुचि रही । उनके मतमें आकारमण्डित ही वस्तु विशिष्ट रूप ग्रहण करती है । विभिन्न वस्तुओंका वस्तु-तत्त्व और रूप पृथक्-पृथक् होता है । जैसे मूर्त्तिका वस्तुतत्त्व पाषाण है और शिल्पिकृत रूप ही रूप है । वनस्पति, पशु, मनुष्य आदिका शरीर-संघटन वस्तुतत्त्व है । रूप है; पचन-क्रिया, इन्द्रियानुभूति और बोध । रूपके बिना वस्तु कुछ नहीं है, क्योंकि धरणी, जल, अनल, अनिल आदि भी किमी मूल वस्तुके अवस्थाविशेष ही हैं । विश्वका गतिदायक परमेश्वर है, जो स्वयं गतिहीन है । उसकी सत्तामात्रसे विश्व पूर्णताकी ओर अभिमुख होकर विकासोन्मुखी है ।

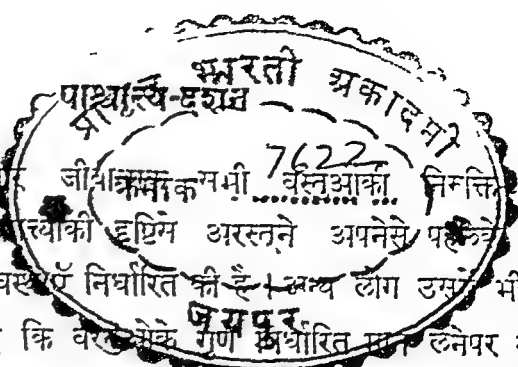
जिस वस्तुमें जितने अधिक रूप हैं, उसका उतना ही अधिक महत्त्व है । आम्रका वस्तुभूत वृक्ष है और वृक्षका रूप आम्रफल है, परन्तु वृक्ष भी वनका रूप है । उसकी दृष्टिसे वन वस्तु है । यहाँ एक ही पदार्थ किसीकी दृष्टिसे रूप है और किसीकी दृष्टिसे वस्तु ।

अरस्तूकी दृष्टिसे भी सभी वस्तुएँ बीजरूपसे स्थित हैं ही । साराका सारा वटवृक्ष बीजमें अवस्थित है । उपयुक्त मामलीसे उसके आवरणका अपनयन होनेपर उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है । विकासोन्मुख वस्तुओंमें विकासोपगुण (विकासोचित या विकासोपयुक्त) शक्तियोंकी कल्पना कर लेनी चाहिये । वृद्धिशील वस्तुओंकी प्रवृत्ति किमी उद्देश्यमें ही होती है । विश्व

कहोसे और क्यों दृष्टिगोचर होता है इस प्रश्नका उत्तर वस्तु, रूप, सुसशक्ति एवं वास्तविकता इन चार बातोंसे होता है। बीज वृक्षका भौतिक हेतु है। दूसरा है नियम, जिससे आम्रवृक्षसे आम्रहीका वृक्ष होता है, पनस (कटहल) का नहीं। तीसरा—कर्ता, जिम्मेकी प्रेरणासे क्रिया निर्वृत्त होती है। वास्तविकता चौथा हेतु है, जिसके उद्देश्यसे बीजकी प्रवृत्ति होती है। बीजके क्षेत्रमें यह आम्रफल है, चित्रकारके क्षेत्रमें सम्पूर्ण चित्र है। यह सारा भूतानी भाषामें 'टेलिओलौजी' सिद्धान्त कहलाता है। यान्त्रिक हेतु इससे भिन्न है। वह कार्यका पूर्ववर्ती तथा भावी (कार्य) का निर्णायक होता है। सामग्री सम्पूर्ण रहे तो कार्योत्पत्ति निःसदिग्ध है। जैसे छोटे-छोटे यन्त्र महान् यन्त्रके चलानेवाले होते हैं। 'टेलिओलौजी' सिद्धान्त बतलाता है कि इस बातपर भी ध्यान देना चाहिये कि कारण न हो तो वस्तु क्या हो जाय और किस उद्देश्यसे उसकी प्रवृत्ति होने लगे। सर्वत्र मुक्तवित्त, सुसघटित व्यवस्था ही ईश्वरके अस्तित्वको भी सिद्ध करती है।

'अचेतन माया प्रकृति ही अन्य सभी चेतनोंका मूल है' यह भी उनका मत है—कि 'अन्तर्निहितगतिवाले भूत ही जीव, जन्तु, वनस्पति आदि रूपोंमें परिणत हो जाते हैं। जिस प्रकार जीर्ण-शीर्ण काष्ठ, सड़े-गले गोबर तथा गीले बालोंसे कीड़े, बिच्छू तथा जूँ आदि उत्पन्न हो जाते हैं।' पर वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। यद्यपि इस मतकी विस्तृत समालोचना आगे चलकर मार्क्सदर्शनकी समीक्षाके अवसरपर की जायगी; तथापि यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि गोबर, काष्ठ, लोम, केड़ादिकोंसे बिच्छू आदिके जड़ कलेवरकी ही उत्पत्ति होती है, न कि उनके चेतन आत्माकी। वह तो सदाके अनुसार अन्वयने ही आता है, वहाँ उसकी अभिव्यञ्जनामात्र होती है। जैसे लोहा-लकड़, कोयला, पानी आदिपर स्वतः विद्यमान अग्निकी ही अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही विद्यमान चेतनकी ही तत्तत् शरीरोंमें अभिव्यक्ति होती है।

आधुनिकोंमें बहुतोंका मत यह है कि पहले वस्तुओंको देखनेके साधन यन्त्र ऐसे नहीं थे, इसलिए समष्टि दृष्टिसे विचार-परम्परा चल पड़ी। 'मानसिक विचारोंसे ही तत्त्वबोध हो सकता है, इस धारणाका भी मूल कारण यही है। अरस्तूने ज्ञानरश्मियुक्त आत्माओंके जन्मान्तर माने हैं। भौतिकवादियोंका कहना है कि यह उनका भ्रम ही था; क्योंकि जीवविज्ञानशास्त्रका निश्चित मत है कि मस्तिष्क एवं अन्तर्बोध इन्द्रियजन्य अनुभवका ही परिणाम है। अरस्तूके मतसे पदार्थोंमें जीवनके बीजाणु सर्वदा ही रहते हैं। ससारमें विशिष्ट श्रेणियाँ विशिष्टगुणयुक्त होती हैं। यह विज्ञानकी विशिष्ट उन्नति है। ससारका स्वरूप बुद्धिप्रसूत है, नियन्त्रित है। इसलिए सभी वस्तुएँ नियमानुवर्ती (नियमबद्ध) ही हैं।



परिभाषाविज्ञानसे जीवां और जीविकामें भी निम्नलिखित धारणा की जा सकती है ।^१ पश्चात्त्यकी दृष्टिमें अस्तित्व अपनेसे पहले के सभी दार्शनिकोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट व्यवस्था में निर्धारित की है । अन्य लोग उसमें भी कुछ कमी देखते हैं । वे कहते हैं कि वे अपने-अपने गुणों के आधारित मान लेनेपर उनका विकास उपपन्न नहीं होगा, (क्योंकि) किसी एक रूपका रूपान्तरमें परिवर्तित हो जाना ही तो विकास है । स्टोइक, स्कैप्टिक, एपिक्यूरस आदि नीतिके प्रपञ्चमें पड़े । एपिक्यूरसके विषयमें रोमके महाकवि ल्युक्रेटियस कैरमने कहा है कि 'जब धर्मने मनुष्योंपर आसमानसे अपना खूंखार फौलादी पञ्जा फैलाया और मनुष्योंने धर्मके भारी हमलेके सामने घुटने टेक दिये, तब यूनानके एक महापुरुषने उसका उठकर सामना किया, जिसे देवताओंका क्रोध भी विमुग्ध न कर सका ।'

सर्वाभ्युदय-निःश्रेयसहेतुभूत भगवान् धर्मके परम सुखकर स्वरूपको भी भ्रमवशात् इन लोगोंने उलटा ही समझा । ईश्वर ही ससारका मूल है । धर्म ही उसका तथा ससारके मूल परमपुरुषार्थका एकमात्र साधन है । अभ्युदय-निःश्रेयसार्थ बुद्धिमान् जन उसका सेवन करते हैं । अतः अरम्भ, इत्यादिकोंका दर्शन बहुत कुछ भारतीय आस्तिक दर्शनोंसे मिलता है ।

उनके दर्शनका लक्ष्य सुखप्राप्तिके मार्गका ज्ञान ही है । सुख ही जीवनका लक्ष्य है । विश्वनियमोंको जान लेनेसे वह सुलभ हो जाता है और उनके न जाननेसे ही मनुष्य 'रहस्यभूत कारण' की कल्पना कर उससे डरता है । विमुक्ति ही सुख है, मृत्युसे अनुभवशक्ति नष्ट होती है, अतः वह उद्वेगका कारण नहीं । जब मृत्युसे अपनी या आत्माकी सत्ता ही उपलब्ध हो जाती है, तब उनके लिये चिन्ताका अवकाश ही कहाँ रह जाता है ?

ज्ञानसे प्रसूत होनेके कारण सुख अच्छा है । अज्ञानसे उत्पन्न होनेके कारण दुःख बुरा है । स्टोइकोंके मतसे गुण ही सुख है । एपिक्यूरसके मतसे सुखके लिये गुणकी आवश्यकता होती है । स्टोइकोंके मतसे गुणका उपयोग गुणहीके लिये है । गुणवृत्तिसे दुःख भी सम्भव है, फिर भी गुणवृत्ति ही सुख है । एपिक्यूरसके मतसे गुण सुखका साधनमात्र है । यदि वह सुखका साधन न हो तो गुण ही कैसा ? (यदि सुख साधनत्व न हो तो गुणत्व ही न रहे) । मनुष्य तबतक सुखी नहीं होता, जबतक महत्त्व, बुद्धि, न्यायशीलता आदि गुण उसमें नहीं आते । परंतु बुद्धिमत्त्व आदि गुण शाश्वत नहीं हैं, अपितु आपेक्षिक एवं परिवर्तनशील हैं ।

डीमोक्रीटसको प्रकृति-परमाण्वादिसिद्धान्त भी स्वीकृत है । डीमोक्रीटसके मतानुसार 'परमाणु शून्यमें गिरते हैं ।' इस पक्षमें 'उन (परमाणुओं) के समान गतियोगे ही

गिरनेसे जटिल गतियोंकी उत्पत्ति नहीं होती, अतः विश्वसृष्टि दुर्लभ ही हो जायगी' अतः एपिकुरसने उनका वक्रगतिसे पतन माना है, जिससे विश्वसृष्टि उत्पन्न हो जाय । इस प्रकार वह सिद्ध करता है कि मनुष्य स्वतन्त्र इच्छावाला है किसी अन्यके द्वारा प्रयोज्य नहीं । शून्यसे शून्यकी ही उत्पत्ति हो सकती है, और किसीकी नहीं । अन्यथा किमीसे भी कुछ भी उत्पन्न हो जाय । जो है वह पिण्ड है, जो नहीं है वह शून्य है (अथवा जिसकी सत्ता है वह पिण्ड है, जिसकी सत्ता नहीं है, वह शून्य है) । अणु अविभक्त हैं, अपरिवर्तनीय हैं एव गतिमान् हैं । परस्पर अभिमुख होनेसे उनका संयोग होता है । गतियाँ अनादि हैं । परिमाण और आकारके अतिरिक्त उनका कोई गुण नहीं है । उनके मतमें आत्मा भी अणुविशेष ही है । वस्तुओसे पृथक् जीवन-क्रियाको प्रदर्शित करनेके लिये ही आत्माकी सृष्टि हुई (या की गयी) है । धर्मका बन्धन छुड़ाकर प्रकृतिका अध्ययन करना ही मुख्य 'दर्शन' है—ऐसा उन (डीमोक्रीटस) के मतानुयायियोंका कथन है, परन्तु ऐसा है नहीं । अणु परिमाण उसे कहना चाहिये जिससे अन्य कोई अपकृष्ट परिमाण न हो—'यतः अपकृष्टपरिमाणं नास्ति तत् अणुपरिमाणम्' । सूक्ष्मताकी कल्पना करने-करते वाचस्पतिकी मति भी जहाँ परिश्रान्त हो जाय, उस अधिभाज्य निरतिशय सूक्ष्म अवयवको परमाणु कहते हैं । स्वतन्त्र जड़ परमाणुओमें प्रपञ्चारम्भ या विनाशानुकूल व्यापार स्वतः सम्भव नहीं; क्योंकि चेतनानधिष्ठित जड़ पदार्थमें विलक्षण व्यवस्थित अभीष्टकार्यकारित्व सम्भव नहीं । अतएव स्वतन्त्र तन्मे वक्र गति या सीधी गतिसे भी सृष्टि निर्माण सम्भव नहीं; अपितु अदृष्ट और ईश्वरसापेक्ष ही परमाणुओसे कदाचित् सृष्टि और कदाचित् विनाश होता है ।

मिस्तके 'अलेग्जैण्ड्रिया' नगरमें बहुत-से दार्शनिकोंका आविर्भाव हुआ । पाश्चात्य एव पौरस्त्य दार्शनिक वहाँ एकत्र हुआ करते थे । वहाँ 'प्लेटिनस'के प्रभावमें धर्म और दर्शनका सम्मिश्रण हुआ । वे मानते थे कि 'अनन्तप्रज्ञारूपिणी रहस्यपूर्ण सत्तामें ही सब वस्तुओकी उत्पत्ति हुई है और वह सत्ता दुर्जेय है । उसी प्रणञ्जोत्पादनी शक्तिको ही ईश्वर मानकर व्यवहार चलाया जा सकता है और वह अपने भीतर ही संकल्पसे विश्वात्माकी सृष्टि करता है । विश्वात्मा ही नमष्टिजगत् एव व्यक्तियोंकी आत्मा है । पार्थिव सम्बन्धसे अवनति होती है और उसके विच्छेदद्वारा पूर्ण सत्ताप्राप्ति ही उत्थान है ।'

क्रानिस्किन, जान स्टोम्टस, एरिगेना (ई० ८१०—८७०), रोजिल्लिनस (१०५१-११२१) इत्यादि दार्शनिक अफलातूनके सिद्धान्तसे प्रभावित रहे और टोमैनिस्किन, एलबर्ट्स आदि अरस्तूके । एक्विनसकी दृष्टिसे निर्गुण पदार्थ-स्वरूप की वस्तुएँ हैं । उन्हींमें प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है । उपलब्ध वस्तुएँ रूप ही हैं । जिन रूपोंमें वस्तुओंका ज्ञान होता है, उन्हींसे मूर्ति मूर्ति हो पाती है, अन्यथा

निराकार पिण्ड ही रहे। वस्तुहीके समान रूप भी सत्य है। वस्तुसे भी उच्चतर सत्य रूप है। मूर्तिका रूप कृत्रिम नहीं है न बाह्याकृति है, अपितु वस्तुका तत्त्व भी वही है, और बाह्य और आन्तर भी वही है। वस्तुका रूपान्तरण ही विकासवादका सिद्धान्त है। मनुष्य पशुका रूपान्तरण है और पशु अचेतन पदार्थका रूपान्तर। एक ही मूल वस्तुसे अनेक सत्त्वोका स्रष्टन सम्भव है। जीवित, चिन्तनशील, अनुभवपूर्ण मनुष्य भी वैसा ही सत्य है।' ऐक्विनासके मतसे 'वस्तुतत्त्वका अनुभव तो बाह्य इन्द्रियोसे होता है, परन्तु रूपका बुद्धिसे ही होता है।'

स्कॉट्स एरिजेनाके मतमें 'प्रकृतिमें विवेक तो पहलेहीसे था। यथासमय शासनशक्ति भी उत्पन्न हो जाती है तथा समय प्रकृतिके साथ उत्पन्न होनेवाला है। तथापि प्रारम्भकालमें शासनशक्ति नहीं थी। विवेकसे ही शासनशक्ति उत्पन्न होती है, न कि शासनशक्तिसे विवेक। विवेकहीन शासनशक्ति दुर्बल ही रहती है। विवेक तो शासनशक्तिसे निरपेक्ष भी अपने गुणोसे ही सुरक्षित है।'

अन्य पाश्चात्य-दर्शन

रोजेनिलस आदि दार्शनिक धर्मविरोधी थे। रोजर बेकन इत्यादिने विचार-स्वातन्त्र्यमें धर्मको कुछ नहीं गिना। धर्मके विषयमें यूरोपमें उस समय सुधारकी भावना उद्भूत हुई। तथापि वे सुधारक भी सकुचित वृत्तिके थे। कैल्विनने सुधारक होने हुए भी 'रक्तसंचालन'के तथ्यके आविष्कारमें लगे हुए सर्विटसको जीवित ही जलवा दिया था।

बेकनका कहना है कि 'सर्वत्र श्रेष्ठ उपाय खोजना चाहिये। वस्तुके सभी अंशोंका यथायोग्य अध्ययन करना चाहिये। जिसका प्रथम स्थान हो, उसका अध्ययन प्रारम्भमें तथा दुरुहसे पहले सरलका अध्ययन कर लेना चाहिये। यह सब प्रयोगके बिना सम्भव नहीं हो सकता। आसवाक्य, विवेक और प्रयोग—ज्ञानके ये तीन मार्ग हैं। कारणरहित आसवाक्य अकिञ्चित्कर है, कारणके बिना आसवाक्यका कोई अर्थ नहीं। आसवाक्यपर विचारकर प्रयोगसे प्रमाणित कर विवेकसे ज्ञान एवं प्रदर्शनका भेद जानना चाहिये। उसके मतमें पहले प्राकृतिक ज्ञानमें ही विज्ञानकी उन्नति सम्भव है। इन्द्रियों पहले प्रमाण हैं, मन बादमें।'

असलमें ऐसे स्थलोमें प्रत्यक्षानुमान-मूलक जो आसवाक्य हैं, उनका प्रत्यक्षानुमानसे भिन्न शब्दप्रमाणसे व्यवहार नहीं किया जा सकता। ये वाक्य भी प्रत्यक्षानुमानमूलक होनेसे प्रत्यक्षानुमानके अन्तर्गत ही समझे जाते हैं। जैसे नैयायिकोंका प्रत्यक्षखण्ड, अनुमानखण्ड या बौद्धोंके आगमग्रन्थ होनेपर भी वे प्रत्यक्षानुमानके अन्तर्गत ही समझे जाते हैं। आसवाक्य या शास्त्रप्रमाणके रूपमें उनकी मान्यता नहीं होती। इसी तरह यहाँ बेकनका 'आसवाक्य' भी है, जिसे

वह प्रयोग और विवेककी कसौटीपर कसता है, पर वह शब्दप्रमाणसे मान्य नहीं हो सकता ।

ये प्रत्यक्षानुमानकी शिक्षाके लिये अपेक्षित शिक्षकका जो मूल्य है, वही इनके मतानुसार आत्मोपदेशका मूल्य है । कुछ आधुनिक वेदप्रामाण्यवादी वेदोका प्रामाण्य इसलिये मानते हैं कि वेदोक्त अर्थ प्रयोग और विवेककी कसौटीपर खरे उतरते हैं । परन्तु वास्तविक वेदप्रामाण्यवादियोंका कहना है कि जिस प्रयोग और विवेकके आधारपर वेदोक्त अर्थका सौष्ठव एव सत्यता सिद्ध की जाती है, उसी आधारपर वेदोक्त अर्थका परिज्ञान भी सम्पादित किया जा सकता है । फिर उसके लिये वेदप्रामाण्यकी कोई आवश्यकता नहीं ठहरती । जैसे नेत्रसे अवगतरूपके लिये दूसरे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती । अज्ञातज्ञापकता ही प्रमाणोका मुख्य प्रामाण्य होता है । प्रयोग और विवेकसे जो वस्तु ज्ञात हो, उसका ज्ञापक वेदवाक्य ज्ञातज्ञापक होनेसे अनुवाद ही ठहरता है ।

देकार्तेने भी बेकनका अनुवर्तन करते हुए 'धर्मबन्धनसे विनिर्मुक्त' ही दर्शनका प्रवर्तन किया । उसके मतसे 'ईश्वर भी बुद्धिसे अतीत [परे] नहीं है ।' विश्वसृष्टिके लिये उसने यान्त्रिक सिद्धान्त स्वीकृत किया है । पृथ्वीकी गतिके दृष्टान्तसे वस्तुओं एव उनकी गतियोंसे ही विश्वकी सृष्टि उसने सिद्ध की है । उसके मतमें 'विस्तार पदार्थोंका मुख्य गुण है, इसलिये जहाँ विस्तार हो, वहाँ भी पदार्थका अस्तित्व मान लेना चाहिये । इसलिये रिक्त स्थान है ही नहीं । जो स्थान रिक्त समझा जाता है, वह कोणमुक्त कोणसे भरा हुआ ही है और सभी गतिमान् पदार्थ पारस्परिक सघर्षसे 'कोणत्व' के मिट जानेपर वृत्ताकार और सूक्ष्म हो जाते हैं । उन्हींसे सूर्य तथा अन्य प्रकाशवान् वस्तुएँ होती हैं । कुछ विलक्षण प्रकारके उन्हीं कोणत्वहीन पदार्थोंसे आकाशकी भी उत्पत्ति होती है । तीसरे प्रकारके उन्हीं पदार्थोंसे, जो स्थिरप्राय होते हैं, पृथ्वी उत्पन्न होती है, जिसमें प्रकाशकी किरणोंका प्रवेश नहीं हो पाता । इनकी गतियाँ वृत्ताकार आवर्त-जैसी होती हैं । बड़ी वस्तुएँ भँवरके बीचमें रहती हैं, छोटी उनके चारों ओर । भँवरकी इस गतिसे ही नक्षत्र सूर्यके चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं ।'

परचेतनानधिष्ठित किसी भी प्रकारके पदार्थोंसे व्यवस्थित सृष्टिका होना असंगत है, क्योंकि कुलालादिसे अधिष्ठित मृत्तिकादिसे ही घटादिकी उत्पत्ति होती है । सारथिसे अधिष्ठित रथादिकी व्यवस्थित प्रवृत्ति होती है । इसलिये ईश्वर आवश्यक् है । देकार्तेको भी यह मानना पड़ा । वह ईश्वर बुद्धयतीत होते हुए भी पुष्टिगम्य हो सकता है । सृष्टिकर्तृत्वादसे उसका अनुमान होता ही है । जहाँतक आकाशकी उत्पत्तिकी बात है, वहाँ आकाश यदि अवकाशात्मक, आवरणात्मक तो उसकी उत्पत्ति निरर्थक है । क्योंकि निरवयव पदार्थकी उत्पत्तिमें कोई

प्रमाण नहीं है। शब्दसमवायिकारण आकाश निरवयव एव व्यापक है। इसलिये नेयायिको तथा वैशेषिकोके मतानुसार आकाशकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। वेदान्त-मतानुसार यद्यपि आकाशकी उत्पत्ति होती है, तथापि वह आकाशमे भी सूक्ष्म एवं अमूर्त अहतत्त्वका ही परिणाम है। परमाणु, अन्य भूतों या किन्हीं कणोंसे आकाशकी उत्पत्ति तो सर्वथा असंगत एव निराधार है।

‘ज्ञान कहांसे प्राप्त होता है और किस प्रकारका होता है’ यह दार्शनिकाका मुख्य प्रश्न है। ‘मनमे कुछ निश्चित सिद्धान्त सुस्थिर रहते ही ह, बुद्धि उन्हींका अनुगमन करती है और पदार्थोंके सत्य-ज्ञानके विषयमे सत्य-ज्ञान उत्पन्न होते हैं—यही देकात्तेंका ‘प्रज्ञावाद’ है। जिस प्रकार गणितका सारा प्रपञ्च कुछ निश्चित सिद्धान्तोंके आधार-पर चलता है, उसी प्रकार सारा-का-सारा दार्शनिक प्रपञ्च बुद्धिके आधारपर चलता है, यह कहा जा सकता है।’ दूसरे पक्षका कहना है कि ‘यदि विश्वकी सारी समस्या गणितकी ही जैसी हो तो ऐसा कहा जा सकता है, परन्तु ऐसा है नहीं। निश्चित घटनाओंके सम्बन्धमें गणितके समान कहा जा सकता है, परन्तु इनके साथ विविध प्रकारकी अनिश्चित घटनाएँ भी सम्मिलित ह। अतः मानना होगा कि गणितसे भिन्न भी अग है। कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं, जो अनिवार्यरूपसे किसी घटनाकी फलभूत नहीं होती। जैसे किसी पदार्थका पीतवर्णविशिष्ट गुरुत्व होनेपर भी अनुभवके बिना केवल बुद्धिसे नहीं जाना जा सकता। इसलिये विश्वके ज्ञानके लिये विश्वका अनुभव आवश्यक है।’ ‘घटनाके अनुभवसे ही सत्य ज्ञान प्राप्त होता है,’ ऐसा कहनेवाले अनुभववादी दार्शनिक ह। यद्यपि अगतः यह सत्य है, तथापि इससे दर्शनका उद्देश्य पूरा नहीं होता। ‘मनुष्य अपने उद्दिष्ट कार्योंमे स्वतन्त्र है अथवा ससार ही किसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये प्रवृत्त होता है, इस विषयमे अनुभववादी सदेहमें ही हैं। ससार आध्यात्मिक भी है, उसका ईश्वर भी है—यह अनुभवका विषय नहीं है। इन्द्रियोसे जिनका अनुभव नहीं होता, उनपर उन्हें विश्वास नहीं। ये आदर्शवादी नहीं, व्यवहारवादी हैं।

देकात्तेंके दर्शनमें ‘ससार आध्यात्मिक और सेश्वर है। इन्द्रियजन्य अनुभव तो मायामात्र ही है। कुछ सहज (स्वाभाविक) प्रत्यय होते हैं, उन्हींसे विश्वकी वस्तुएँ जानी जाती हैं।’ अन्य लोग सहज प्रत्ययोंको भी माननेको तैयार नहीं। उनका कहना है कि ‘दो और दो मिलकर चार होते हैं, यह सही है’ पर यह भी कुछ बार अनुभव करके ही जाना जाता है। ज्ञानदृष्टिकी अभिव्यक्तिके लिये भी दो-तीन अनुभवोंकी आवश्यकता है। यद्यपि सर्वत्र सहज प्रत्ययोंकी सिद्धि इतनी सरल नहीं, तथापि सहज प्रत्यय मान लेनेका यह तात्पर्य होगा कि अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं, जो सहज प्रत्ययोंसे ही जानी जाती हैं, परन्तु प्रमाणोद्धान नहीं।

वे केवल बुद्धिसे ग्रहण कर ली जाती हैं और वे मनुष्योको स्वतःसिद्ध हैं, अतः प्रमाण-निरपेक्ष होकर भी सत्य है ।'

वस्तुतः सत्यताका निर्णायक प्रमाण ही होता है, क्योंकि प्रमाके कारणको प्रमाण कहते हैं और अज्ञात अवाधित असदिग्धविषयक ज्ञान ही प्रमा शब्दसे कहा जाता है । उस प्रमाके कारणको ही प्रमाण कहा जाता है । सहज प्रत्यय भी तो चक्षुरादि प्रमाणोसे ही उत्पन्न होंगे । इसीलिये सहज प्रत्ययो-मे भ्रम, प्रमा आदि विभाग होंगे । देकात्तेके मतमें जिस वस्तुका बुद्धिमे स्पष्ट अवभासन हो, उसीका सत्य ज्ञान होता है, परंतु यहाँ यह विचारणीय है कि किसीकी बुद्धि या मनमे जो भासित होगा वह दूसरेकी भी बुद्धि या मनमे भासित हो यह अनिवार्य नहीं । यदि प्रत्येककी बुद्धिमे जो भासित हो उसीको सत्य मान ले, तो भिन्न-भिन्न बुद्धियोमे भिन्न मान होनेके कारण वस्तुका रूप ही विकृत हो जायगा । फिर भी अन्य सभी वस्तुओमे सदेह करनेवाला भी अपनेमे कोई सदेह नहीं करता । 'सदेह करनेवाला कोई मनन करनेवाला है' यह तो असदिग्ध ही है । यहाँ भी सदेह आदिका भासक कोई है, यह तो मानना ही पड़ेगा और वह अपरिवर्तनशील ही हो सकता है, अतः चेतनावान् पुरुषको भी देकात्तेने माना है ।

ह्यूमका कहना है कि 'काम, सकल्य, लज्जा, भय इत्यादि मानसिक भावोकी जिस प्रकार अनुभूति होती है, उस प्रकार उसके भासक पुरुषकी अनुभूति नहीं होती । यदि ऐसी कल्पना की जाय कि ये मानसिक भाव मणितुल्य हैं और आत्मा-रूपी सूत्रमे निवद्ध ह, तब भी मणिस्थानीय भावोके समान सूत्रस्थानीय आत्माकी भी उपलब्धि तो आवश्यक ही रहती है और यह सूत्रस्थानीय आत्मा उपलब्ध होता नहीं, अतः उसका अस्तित्व ही नहीं है ।' साथ ही इस पक्षमे ब्राह्म वस्तुकी अपेक्षा मनके मननकर्तृत्वसे स्वात्मज्ञान ही अधिक है । इस प्रकार ससारके मानसिक कल्पनामय होनेसे वस्तुत्वकी ही सिद्धि न होगी । तब फिर मनको पूर्णरूपेण शरीरसे भी पृथक् मानना पड़ेगा । ऐसी भ्रान्ति बहुतोको हुई है । वस्तुतः सर्वभासक नास्ती उपलब्धि अथवा भानस्वरूप होनेसे भानान्तरनिरपेक्ष ही सिद्ध है । वस्तुका प्रकाश दो प्रकारसे होता है । एक प्रकाशस्वरूप होनेसे और दूसरा प्रकाशसे ससर्ग होनेसे । जैसे घटादिमे 'प्रकाशके ससर्गसे प्रकाशित होता है, ऐसा व्यवहार होता है और प्रकाशमें संसर्गान्तर विना ही 'स्वतः ही प्रकाशित होता है' ऐसा व्यवहार होता है । इसी तरहसे प्रकाशान्तर या बोधान्तरका विषय न होनेपर प्रकाशस्वरूप होनेसे 'प्रकाशित होता है', ऐसा व्यवहार सगत है और मणियोके बीच सूत्रोपलब्धिके समान विविध बोद्धवृत्तियोकी सधियोंमे निर्विकल्प बोधस्वरूप स्वतः भासमान रहता ही है ।

गतिविज्ञानवादियोंकी दृष्टिमें यन्त्रादिकी अपेक्षा गति ही पहलेसे निर्धारित है । शरीर-के वस्तुजन-निमित्त होनेके कारण उन्नी भी गति वैसे ही पूर्वनिर्धारित ही है । मन भी

यदि शरीरसे अभिन्न वस्तु हो, तो उसकी भी वैसी ही गति मिट्ट हो जाय । पृथक्त्ववाटियोंके मतमें मन शरीर-प्रभावसे अगस्त्य ही रहता है ।

देकार्त्तके मतसे 'मन और वस्तु दोनों ही ईश्वरनिर्मित हैं । चिन्तन मनकी विशेषता है और विकास वस्तुकी । ये दोनों परस्पर भिन्न होनेके कारण एक दूसरेसे अत्यन्त अप्रभावित रहते हैं । जिन प्रकार दो घटिकायन्त्र स्वतन्त्ररूपसे नाद करते हैं, अतः एक साथ नाद करनेपर भी उनका सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार मन एवं शरीरकी घटनाएँ यद्यपि एक दूसरेके अनुरूप होती हैं, तथापि उनका कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है । परमेश्वरकी कृपासे ही मन और शरीर दोनोंकी क्रियाओंमें सामञ्जस्यसे जीवन चलता है ।' इस प्रकार भौतिकवाद तथा आदर्शवाद—ये उस [देकार्त्त] के दर्शनकी दो धाराएँ हैं ।

स्पिनोजा [१६३२-१६७७ ई०] भौतिकवादका प्रवर्तक हुआ और लाइबनिट्स [१६४६ ई०] आदर्शवादका । स्पिनोजाके मतसे 'प्रज्ञा ही सबसे उत्कृष्ट है । उसीके द्वारा धर्मग्रन्थके द्विपक्षकी भी परीक्षा की जानी चाहिये । प्रज्ञासे वस्तुओंके सम्बन्धोंका अन्वेषण करना चाहिये । प्राकृतिक घटनाओंके आन्तरिक सम्बन्धके बतलानेमें अप्राकृतिक शक्तिका हस्तक्षेप अनुचित है । इसके मतसे आध्यात्मिक, मानसिक एवं भौतिक ऐश्वर्य आदि सभी भाव प्रकृतिमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं और इस प्रकार ईश्वर अथवा प्रकृति एक ही है । सम्पूर्ण ही ईश्वर है, ईश्वर ही सम्पूर्ण है । घटनाओंका ऐक्य केवल उनके अस्तित्वमात्रका है, जो नियमानुवर्ती है । भूत, तथा आत्माओंका पूरा साम्य है । उनमें ईश्वरकी सत्ता है, अतः भूत आत्ममय ही हुए । सीमित वस्तुएँ एवं घटनाएँ अपने अतिरिक्त असंख्य वस्तुओं एवं घटनाओंसे सम्बद्ध हैं । इनके समूहका ज्ञान अत्यन्त दुष्कर है, अतः किसी न किसी स्वात्मनिर्भरकी सत्ता मानना आवश्यक है । इस प्रकार मूल पदार्थका वैविध्य नहीं रह जाता । साथ ही इस पक्षमें शून्यकारणतावादका परिहार बड़ी सरलतासे हो जाता है । पूर्ण अनन्त ईश्वर अथवा पूर्ण अनन्त प्रकृतिसे बहिर्भूत अन्य कुछ नहीं रह जाता—ईश्वर ही सम्पूर्ण है । इसमें अन्तर इतना ही है कि कार्य कारणसे अभिन्न अर्थात् अनन्य हो सकता है, परन्तु कारण कार्यसे अभिन्न नहीं होता । जैसे हाटक (सोना) से भिन्न कटक, मुकुट, कुण्डलादि नहीं हैं, पर कटक, मुकुट आदिके बिना भी हाटक रहता है । अतः हाटकको उनसे अभिन्न नहीं कहा जा सकता । इसी तरहसे सम्पूर्ण जगत् परमेश्वरसे अभिन्न है । पर जगत्के बिना भी वह परमेश्वर रहता है । अतः वह जगत्से अभिन्न नहीं कहा जा सकता और प्रकृति तथा ईश्वरमें इतना भेद है कि स्वतन्त्र और चेतन ईश्वर है, किन्तु अचेतन चेतनाधिष्ठित प्रकृति है । सृष्टिचक्रके बाहर कोई अप्राकृत वस्तु नहीं है और प्रकृतिका स्वभाव चञ्चल है । सभी शक्तियाँ उसीमें चिलीं रहती हैं । सारी-की-

शरीर शक्तियों परमेश्वरकी अङ्गभूता हैं । व्यापकता तथा मननशक्ति इन दोका अनुभव लोगोंको होता है । भौतिक पदार्थ तथा घटनाएँ व्यापकताशक्तिमें एव मन तथा उसकी अनुभूतियाँ मननशक्तिमें अन्तर्भूत हो जाती हैं । एक ही अन्तिम सत्ताके विभिन्न रूप होनेके कारण तथा समानकालिक होनेके कारण मन तथा शरीर परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियावान् हैं । पदार्थगतिके अनुरूप ही मनोगति होती है । बाह्य नियमबन्धनका प्रतिविम्बमात्र ही आन्तरिक-नियमबन्धन है । बुद्धिमें जिसकी धारणा होती है, बाहर भी उसकी सत्ता होती है । साथ ही, कार्यकारणभाव सर्वत्र है । जैसे लौहका कूट (निहाई) आदिके द्वारा ताड़नादि होता है, वैसे ही कूटादिका भी अन्य साधनोसे ही निर्माण होता है । वैसे ही उन साधनोका भी निर्माण साधनान्तरोसे ही होता है—यो कार्य-कारणभावकी कहीं समाप्ति नहीं । समान गुण हुए बिना दो वस्तुएँ परस्पर प्रभावोत्पादक नहीं हो सकती । इसलिये आत्मा एव भूतोके पारस्परिक प्रभावोत्पादनके लिये उनका समानगुणत्व मानना होगा । यो मूलतः दोनो एक ही हैं ।

आन्तर कारणके सम्बन्धमें स्विनोजाकी दृष्टिमें 'किमी प्रयोजनके बिना मन्द व्यक्ति भी किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता, अतः प्रवृत्ति सोद्देश्य होनी चाहिये । जैसे नेत्र देखनेके लिये बनाये गये हैं, दाँत चबानेके लिये, सूर्य प्रकाशके लिये, ऐसे ही सभी वस्तुएँ मानवीय उपयोगके लिये ही बनी हैं । उपयोग करने योग्य वस्तुएँ अपने प्रयत्नके बिना ही मिल गयीं, इसलिये यह कल्पना की जाती है कि वे किसीके द्वारा बनायी गयी होगी । निर्माताके बिना ही स्वतः उत्पन्न हो गयी होगी ऐसा विश्वास जल्दी नहीं होता; क्योंकि वैसा देखा नहीं जाता । जैसे हमलोग अपने उद्योगके लिये वस्तुओंका निर्माण करते हैं, वैसे ही प्रकृतिके अधीश्वरने हमलोगोपर अनुग्रह कर वस्तुओंका निर्माण कर दिया—ऐसे निरुद्ध संस्कारसे ईश्वर सिद्ध हो जाता है ।'

इसपर भौतिकवादियोंका यह कहना है कि "सब वस्तुएँ परमेश्वरके अनुग्रहसे उत्पन्न हुई हैं" यह इसलिये नहीं कह सकते कि बहुत-सी ऐसी भी वस्तुएँ मिलती हैं, जो उपयोगार्ह नहीं हैं, प्रत्युत विघातक हैं । यथा—विष, भूकम्प, व्याधि आदि । यदि कहा जाय कि 'ये वस्तुएँ परमेश्वरके कोपमूलक हैं' तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि वैसा माननेपर धार्मिको एव ईश्वरभक्तोंपर इनका कोई प्रभाव न पड़ना चाहिये था । पर देखा यह जाता है कि धार्मिक और अधार्मिक सब उपद्रव-ग्रस्त होते हैं । दूसरा मार्ग खोजनेकी अपेक्षा अन्धकारमें पड़े रहना ही सुखकर है ऐसा सोचकर आदर्शवादी वहीं पड़े हैं ।"

पर भौतिकवादियोंका प्रलाप है । वास्तवमें सुख-दुःख धर्मोद्धर्ममूलक हैं (सुखना मृत्यु धर्म और दुःखका मूल अधर्म है) । व्यक्तिके पापोंसे व्यक्ति, दुःख

और समष्टि पातकोसे समष्टिदुःखजनक उग्रवोकी उत्पत्ति होती है, यह सर्वथा निदाप सिद्धान्त है। इस स्थितिमें धार्मिक होनेपर भी दुःख आनेपर कालान्तरीय पातकोकी कल्पना की जा सकती है, जो फलबलकल्प्य है। इस प्रकार कोई दोष नहीं रह जाता। ऐसे प्रलापोका समाधान बहुत पूर्वसे होता आ रहा है। मनुने पापी पुरुषोको सुखी और कदाचित् धर्मात्माओके दुखी होनेकी गङ्गापर बतलाया है कि ऐसी बात देखकर भी अधर्मसे वचना चाहिये। क्योंकि पहले अधर्मसे कभी-कभी वृद्धि देखी जाती है, पर उसका कारण व्यक्तिके प्राक्तन सुकृत है। उनका फल समाप्त होते ही उसका समूल विनाश हो जाता है—

अधर्मैणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्ताञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥
नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥
न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानां शीघ्रं पश्यन् विपर्ययम् ॥

(मनु० ४ । १७४, १७३, १७१)

पापीके बड़े-बड़े पुण्याका फल तनिक मुखमें समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार पुण्यात्माके बड़े-बड़े पाप साधारण कष्टभोगोंसे समाप्त हो जाते हैं। पापीको जहाँ साम्राज्यप्राप्तिकी बात थी, वहाँ उसे पाप करते एक अगर्भी मिलकर रह जाती है। यो ही पुण्यात्माको जहाँ मरण-जैसा भयङ्कर कष्ट आना होता है, वहाँ पुण्य करते काँटा चुभकर रह जाता है।

प्रज्ञा (बुद्धि) में भी क्रम आदि दोष देख पड़ते हैं, अतः उसका भी प्रामाण्य ऐकान्तिक नहीं है। अनुभवके अतिरिक्त भी कोई विचारमार्ग है या नहीं? इस प्रश्नके उत्तरमें अव्यात्मवादी कहते हैं 'है', भौतिकवादी कहते हैं 'नहीं है'।

हाक्सने सब वस्तुओकी व्यवस्था यान्त्रिक सिद्धान्तानुसार बतलायी। उसके मतानुसार 'केवल वस्तुएँ और गतियाँ ही सत्यभूत हैं और सब इन्हींका विकार-समुदाय है। ज्ञान भी उसीमें अन्तर्भूत हो जाता है। इन्द्रियानुभूति ही ज्ञान है। वस्तुओके द्वारा इन्द्रियाक्रान्ति ही अनुभूति है। यह भी गतिविशेष ही है। मन भी भौतिक ही है। सभी वस्तुओका यह मूलभूत गुण है कि वे अपनी वर्तमान अवस्थामें रहती हैं। वह अवस्था गतिरहित हो या गतिमती हो यह दूसरी बात है।' हाक्सके मतमें 'मानव कल्याणशक्तके सीमित ही होनेके कारण किसी भी वस्तुकी असीम धारणा संभव नहीं है। इसलिये सीमारहित शक्ति या सीमारहित समय नहीं है। कहीं-कहीं असीम शब्दका जो प्रयोग होता है, उसका यही तात्पर्य होता है कि हमें उसकी सीमाका ज्ञान नहीं है। इन्द्रियानुभूतिका विषय न हो ऐसा कोई भी धारणाका विषय (संभव) नहीं हो सकता।'।

लाइबनिट्सने भौतिकवादका खण्डन करनेके लिये सञ्शोधित रूपसे परमाणु-वादकी प्रतिष्ठापना की। निर्जीव भूतोंमें सृष्टि नहीं हो सकती, यह सिद्ध करनेके लिये उसने 'मोनाड' नामके अनुभवशक्तियुक्त आव्यात्मिक अणुओंकी ही सृष्टिका कारण

माना । यान्त्रिक नियमोंका अनुवर्तन करनेवाले इन असख्य और असमान अणुओंका अन्योन्य प्रभाव न होनेपर भी परमेश्वरकी महिमासे परस्पर सम्बन्ध अवभासित होता है । जिन प्रकार अनेक घटीयन्त्र (घड़ियों) समान रूपसे कालनिर्देशन करते हैं, वैसे ही इन अनन्त असंख्य अणुओंके विषयमें भी समझना चाहिये । कार्य-कारणकी परम्परा ईश्वरमें जाकर समाप्त हो जाती है, क्योंकि मूलका मूल नहीं हुआ करता । इसलिये जो सबका मूल है उसे स्वयं अमूल (मूलरहित) ही होना चाहिये । कार्य-कारणपरम्पराके नियमानुवर्ती होनेके कारण सृष्टिमें परमेश्वरका हस्तक्षेप नहीं होता । ये 'मोनाड' नामके अणु ही अन्तर्निहित शक्तियोंद्वारा जीव, अजीव, पशु, मनुष्य आदिके रूपमें विकसित होते हैं । 'मोनाड' मन और शरीर तथा पशु और मनुष्यके भेदको दूर कर देता है । बाह्य वस्तुएँ प्रत्यक्ष अनुभूतिके विषय हैं, अतः उनका मनसे पृथक् रूपमें अस्तित्व है और उससे मन प्रभावित होता है । उसीसे बाह्य वस्तुओंका प्रत्यक्षीकरण होता है । परन्तु ऐसा माननेपर 'एक मोनाड दूसरे मोनाडोंसे प्रभावित नहीं होता' यह सिद्धान्त खण्डित हो जाता है । इसलिये वह प्रक्रिया ठीक नहीं । बड़ीके समान परस्पर सम्बन्ध न रहनेपर भी समान क्रिया हो सकती है—यह उपपत्ति तो दी ही जा चुकी है । इसलिये आत्मनिष्ठ घटनाका ही अनुभव होता है । बाह्यानुभूति तो माया ही है । काम, सकल्प आदिके समान बाह्य वस्तु भी मानस (मानसिक) ही हैं । मनुष्य-शरीर असख्य मोनाडोंसे संघटित है । इसका नियामक मन या आत्मा एक ही मोनाडसे बना है । विश्वके सम्बन्धमें मोनाडोंका विचार समानरूपमें म्यष्ट नहीं होता ।

अग्निसे दो हाथकी दूरीपर स्थित व्यक्तिको उष्णताकी अनुभूति होनेपर प्रतीत होता है कि औष्ण्य अग्निका गुण है । उससे भी अधिक निकट जानेपर औष्ण्यकी अभिवृद्धि हो जानेपर देहमें पीडा भी होने लगती है । वह संनिधान या नेत्रयका ही गुण हो सकता है, अग्निका नहीं । पीडा तो उष्णताका ही उत्कट रूप है । अतः औष्ण्य अनुभूतिविशेष ही हुआ, अग्निका गुण नहीं । कुछ कीटाणुओंकी टोंगे इतनी सूक्ष्मतम होती हैं कि वे सूक्ष्मवीक्षणयन्त्रसे ही देखी जा सकती हैं परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उन [कीटाणुओं] को भी अपनी टोंगे सूक्ष्मवीक्षणयन्त्रसे ही ज्ञात होती हैं । इसलिये द्रष्टाके मनके गुणोंके अनुसार ही सूक्ष्मता या दीर्घता प्रतीत होती है । इसीलिये कीटाणुके मनके लिये दृश्य कुछ और है, हमारे मनके लिये दृश्य कुछ और है । किन्तु इतने मात्र-म उस टोंगकी लम्बाई दो प्रकारकी नहीं हो जाती । परन्तु सिद्ध यह होता है कि परिमाण दृष्टिका गुण है, दृश्य वस्तुका गुण नहीं । कारण, वह द्रष्टाके मनसे सापेक्ष है । ये अज्ञात, गुण प्रतीत होते हैं, विचार करनेपर वे मनकी अनुभूतिके

- अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाने । दर्शन श्रवण आदिके स्वप्नका विचार करने पर भी यही निश्चय होता है । जैसे—वस्तुओंकी आत्येककिरणें स्नायुओंके सूक्ष्म दृष्टिस्तरोंपर पड़ती हैं । उसमें स्नायुओंमें गति उत्पन्न होती है । उसमें मस्तिष्कगत कणोंमें स्पन्दन उत्पन्न होता है । उसीमें किसी प्रकार चेतना उत्पन्न हो जाती है । यही वस्तुदर्शन कहलाती है । इसी प्रकार शब्दका जो वायुमण्डलीय स्पन्दनविशेष है, कर्णशृङ्गुलियोंमें सम्मन्व होता है, जिसमें मस्तिष्क प्रभावित होता है । उसमें मस्तिष्कस्थित स्नायु-कणोंमें गतिमय उत्पन्न होता है, उसमें चेतना । इसीको 'श्रवण' कहते हैं । मस्तिष्क गहरं तमसे आच्छन्न कमरे-सरीखा है । उसमें एक मुदीत पट है, जिसका दीपन करनेवाली चेतना है । अनुभूयमान बाह्य विषय इन्द्रियोंको उत्तेजित करते हैं और वे मस्तिष्कगत स्नायुओंको उत्तेजित करती हैं । उससे उत्पन्न चेतनाके द्वारा उद्दीप्त हुए पटपर वस्तुकी प्रतिकृतियाँ अभिव्यक्त हो जाती हैं । 'वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है', इसका अर्थ यह है कि वस्तुओंके चित्र—प्रतिकृतियाँ—मस्तिष्कस्थ प्रदीप्त पटपर व्यक्त होती हैं । चेतनाके द्वारा उज्ज्वलित पटपर प्रतिकूलित वस्तुकी प्रतिकृति ही ज्ञान है ।

सांख्य योग तथा वेदान्तके मतानुसार इन्द्रियोंद्वारा प्रत्युपस्थापित शब्दादि-विषयाकाराकारित वृत्तिसे युक्त अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित अमङ्ग पुष्पका अपने प्रतिबिम्बके साथ तादात्म्याभिमानके द्वारा विषयोपरागाभिमान उत्पन्न होता है । जैसे जपाकुसुमसे उपरक्त हुआ स्फटिक स्वनिष्ठ प्रतिबिम्बमें अपना आकार समर्पित कर देता है । तथा च वृत्तियुक्त अन्तःकरणमें स्थित विषयाकारताका प्रतिबिम्बमें भान होता है । इसलिये प्रतिबिम्ब भी रक्त हो जाता है और उसके तादात्म्याभिमानमें बिम्ब भी अपने आपको रक्त मानता है । दर्पणगत मालिन्यके कारण दर्पणान्तर्गत प्रतिबिम्बमें भी मलिनता प्रतीत होती है । प्रतिबिम्बके साथ तादात्म्याभिमानवान् होनेके कारण 'मेरा मुख मलिन है' यह समझकर बिम्ब भी चिन्तित होता है । उसी प्रकार विषयोपरक्त अन्तःकरणमें पुष्पका प्रतिबिम्ब है, अतः उस प्रतिबिम्बके साथ तादात्म्याभ्यास (अभेदाभ्यास) के कारण बिम्बमें भी विषयोपरागका अभिमान होता है । इस तरह अमङ्ग स्वप्रकाश चेतनमें विषयोपरागद्वारा विषयका प्रकाश होता है ।

ज्ञाताका मन प्रथम पदार्थ है, बाह्य वस्तु द्वितीय तथा चेतनोज्ज्वलितपट-प्रतिबिम्बित चित्र या प्रतिकृति तृतीय । मन प्रतिकृतिको तो जानता है, पर बाह्य वस्तुको नहीं, क्योंकि प्रथम एवं तृतीय द्वितीयके बाधकके रूपमें उपस्थित हैं । ऐसी दशामें प्रश्न उठता है कि फिर द्वितीयका अस्तित्व माना जाय या नहीं । यदि द्वितीय जाना ही नहीं जा सकता तो फिर उसीमें तृतीय उत्पन्न कैसे हो जाता है यह

वाचोयुक्ति भी संगत मालूम होती है। अन्य लोगोका कहना है कि बाह्य वस्तु अनुभूतिके कारणके रूपमें मान लेना चाहिये, क्योंकि उसके बिना अनुभूतियोंमें वैचित्र्य उपपन्न नहीं होता। औरोंका कहना है कि वासनाओंके वैचित्र्यसे ही उन अनुभूतियोंके वैचित्र्यकी उपपत्ति दी जा सकती है। कुछ लोगोका कहना है कि यद्यपि विज्ञानके अतिरिक्त और कुछ अनुभवका विषय नहीं होता, तथापि विज्ञानके वैचित्र्यकी उपपत्तिके लिये जब उसे मान लेना पड़ता है, तब स्वातन्त्र्येण भी उसकी कही सत्ता होगी ऐसा मान लेना चाहिये। बौद्धोंमें कोई क्षणिक बाह्य और आन्तर दोनों पदार्थ मानते हैं। कुछ लोग आन्तरको प्रत्यक्ष और बाह्यको अनुमेय कहते हुए आन्तर विज्ञानमें विचित्रताकी उपपत्तिके लिये अनुमेय बाह्य पदार्थ मानते हैं। कुछ लोग वासना-वैचित्र्यसे ज्ञान-वैचित्र्य मानने हैं। इसलिये बाह्य पदार्थका अस्तित्व नहीं स्वीकार करते।

वर्कलेका (१६८५-१७५३) मत है कि औष्ण्य (उष्णता)के समान ही रूप, संस्थान, गुरुत्व आदि भी 'मानस' भाव ही हैं, इसलिये उनमें भी औष्ण्यसे कुछ वैशिष्ट्य न होनेके कारण कोई भेद नहीं। इसी प्रकार वस्तु गुणात्मक ही है। गुणोंके न रह जाने-पर वस्तु रह ही नहीं जाती और गुण विज्ञानके अतिरिक्त कुछ नहीं है। भारतीय वेदान्तानुसार भी वस्तुस्थिति ऐसी ही है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि गुणोंके अभावसे पृथ्वीतत्त्व कुछ मनोमात्र ही तो रह जाता है। परमेश ज्ञानमय होनेके कारण व्यवहारमें सब वस्तुओंका यथायोग्य उपयोग हो जाता है, परंतु विचारमें उनका बाध हो जाता है, अतः अविचारितरमणीयता भी है। ईश्वरकी कल्पनाके विषय पदार्थ 'व्यावहारिक' और 'धारणाविषय' कहे जाते हैं और हमयोगोंके कल्पित पदार्थ 'प्रातिभासिक' और 'कल्याणमात्र'। यही भेद है। ब्रह्ममें भिन्न तब कुछ दृष्टि-प्रिमात्र है।

भौतिकवादी न तो परमेश्वरको ही मानते हैं, न चेतनको ही स्वतन्त्र मानते हैं। अतः उनके मतमें तो यह सारा ही दर्शन बाधित हो जाता है। उनके मतमें विज्ञान-मिद्ध पदार्थका भी अस्तित्व है ही। मन अथवा चेतना पदार्थोंके गुण ही हैं।

काण्ट (ई० १७२४-१८०४) दार्शनिक तथा गणितज्ञ था। उसकी 'प्रकृतिका नाधारण इतिवृत्त' और 'ऊर्बलोक-सिद्धान्त' नामकी पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। उसने धूमके अज्ञेयवादसे विज्ञानका उद्धार किया और धर्मकी भी रक्षा की। उसके मतमें सभी वस्तुएँ दो प्रकारकी होती हैं—पारमार्थिक तथा प्रातिभासिक। इन्हीं नामान्व व्यक्तिको वस्तुका यथावत् ज्ञान नहीं होता। उसके मतमें मनसे मन्त्र कुछ कारण होते हैं, जिनसे युक्त मनके द्वारा वस्तुएँ कुछ दूसरे ही प्रकारकी जानी जाती हैं। जैसे सहज नीले उपनेत्रसे युक्त चक्षुके द्वारा सब वस्तुएँ नील ही प्रतीत होती हैं, वैसे ही कुछ हेतुओंसे युक्त मनके द्वारा देश-कालमें व्याप्त ही

वस्तुएँ प्रतीत होती हैं। अनुभूतिमें जिनकी प्रतीति होती है, उनमें पहले स्वा-दिहीन वस्तुएँ ही प्रतीत होती हैं। सहज नीले उपनेत्र लगा लेनेके समान स्वतःसिद्ध ज्ञानरूपी सच्चिसे वस्तुएँ जब मन्मिषकमें 'जाती' हैं, तब देश-कालादिसे सम्बद्ध ही प्रतीत होती हैं—यह हम कह आये हैं। 'यहाँ', 'वहाँ', अथवा 'सर्वत्र' किंवा 'इस समय', 'उस समय' अथवा 'सर्वदा'—इस प्रकार सभी वस्तुओंका अवबोध देश-कालसे आवद्ध ही होता है। काण्टके अनुसार मनमें यही स्वतः-प्राप्त ज्ञानका रूप है। ऐसे ही मनःसल्लभ सहज उपनेत्रके समान अन्य कारणोंसे ज्ञान होनेका उम (काण्ट) का सिद्धान्त भी समझ लेना चाहिये, जिससे गुण, परिमाण, पदार्थ, कार्य और कारणके सम्बन्धोंका भान होता है। 'जो भी वस्तुएँ जानी जाती हैं, उनमेंसे प्रत्येक पदार्थ परिमाणयुक्त है। उनमें कुछ गुणयुक्तोंकी दृष्टिसे कार्य हैं, कुछकी अपेक्षासे कोई कारण है। ज्ञानसिद्धान्तानुसार अनुभूयमान वस्तुओंमें मनके साथ मानसिक भाव भी संयुक्त हो जाते हैं। अतः ज्ञात वस्तु मन्मिश्रित ही होती है शुद्ध नहीं। सहजप्रत्ययरूप रूपहीन पदार्थ ज्ञानसिद्धान्तमें सस्पृष्ट होकर विज्ञात होता है और 'यह मनुष्य है' 'यह पशु है' इत्यादि रूपमें प्रत्यभिज्ञात होता (पहचाना जाता) है। इसीसे अनुभव विज्ञान बनता है। उसके मतमें प्रतीयमान जगत्का नाम 'फेनोमेना' है और वस्तुभूत जगत्का 'नूमेना' प्रथम वर्कलेके सिद्धान्तमें सम्मत है, द्वितीय उससे भिन्न।

समस्त व्यवहार सकल्पमूलक ही हैं। तर्क, गणित आदिके नियम भी सकल्पात्मक ही हैं। जैसे दो और तीन मिलकर पाँच होते हैं—यह गणितका नियम है। कार्य सदा सकारण होता है। आम्रस्वयंभी और स्वयंसे भिन्न भी—यह सम्भव नहीं, यह तर्क भी उसी ढंगका है। ये भाव मानस ही हैं क्योंकि जिनके मनका सघटन भिन्न प्रकारका होगा, उनके इस विषयमें विचार भी भिन्न प्रकारके हो सकते हैं। इसलिये हमारी धारणाके अनुसार ही हमारा जगत् है। परंतु हमारे विचारोंसे वस्तुव्यवहार भी प्रभावित होता है, इस विश्वासका कोई कारण नहीं है। तर्क और अनुभवके मध्यसे विज्ञान प्रवृत्त होता है। गणितके समान विज्ञानमें भी तर्कका स्थान है। भेद इतना ही है कि विज्ञान अनुभवसे तर्ककी परीक्षा करता है और गणितका परिणाम अपरीक्षणाय ही रहता है, क्योंकि उसकी सत्यता छिपी नहीं रहती। इन्द्रियानुभूतिमें भी वैसी जटिलता नहीं है, किंतु तब गणितके तर्कोंका अनुभूतिके क्षेत्रोंमें प्रयोग कैसे हो, यह समस्या तो है ही। वैज्ञानिकी प्रक्रिया तो यह है। उसमें तर्कसिद्ध ज्ञान वस्तुव्यवहारमें प्रयुक्त होता है। जैसे मध्याह्न-नियमके आविष्कारसे वस्तुव्यवहारके सम्बन्धमें भविष्यवाणी की जाती है और वेना ही घटित भी होता है। तर्कसिद्ध वस्तुप्रयोगमें भी कैसे सत्य होती है। यह समस्या है। जिन वस्तुओंका इन्द्रियानुभूतियोंमें ग्रहण

किया जाता है तथा जिनका बुद्धिसे ग्रहण किया जाता है, उनमें अन्तर स्पष्ट है। कुछ वस्तुओंकी दो-दो जोड़ियाँ बालकके द्वारा गिनी जानेवाली बुद्धिसे दो-दो चार होते हैं, यह व्यापक सत्य है। व्यापकधारणा विशिष्ट इन्द्रियानुभूतियोंसे भिन्न पृथक् ही हैं, कारण वह रूप, प्रयोग आदिसे भिन्न है। यहाँ प्रज्ञावादी तो इन्द्रियानुभूतिके विषयका ही अपलप्य कर देते हैं। कार्यकारण-सम्बन्धमें बँधे होनेके कारण एक वस्तुके विज्ञानसे ही सब विज्ञान हो जाता है, क्योंकि वही अवश्यभावी परिणाम है। उनके मतमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसका अस्तित्व घटनामात्र हो।

डार्विनका (१८०९-१८८२) मत है कि 'इन्द्रियोंसे पृथक् विचारशक्ति है ही नहीं, इसलिये इन्द्रियानुभूतिके अतिरिक्त विचार कुछ है ही नहीं।' उसके मतमें 'उन सूक्ष्म तन्तुओंका सकुचन, गतिविशेष अथवा रूपान्तरसे परिवर्तनविशेष ही ज्ञान है, जिनसे इन्द्रियोंका निर्माण होता है।' विचारका ही दूसरा पर्याय इन्द्रिय गतिविज्ञान है। स्मृतिशक्ति, कल्पना यदि जीवगति नहीं तो और क्या हो सकती हैं? यदि उमेवस्तुओंका चित्र या प्रतिकृति कहा जाय तो वह कहों है, जहाँ सभी वस्तुओंका नम्रह शक्य हो? सामान्यतया इन्द्रियानुभूति-विश्वासियोंके मतमें कोई आत्मा है, जिसके द्वारा बाह्य वस्तुएँ प्रतिकृतिके रूपमें ग्रहण की जाती हैं।

डार्विन, हक्सले प्रभृति वैज्ञानिकोंने आत्मवादका खण्डन कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया कि 'वस्तुओंके इन्द्रिय-संनिकर्षसे स्नायुओंद्वारा शरीरमें जो क्रियाविशेष उत्पन्न होती है, उसीसे विचारका जन्म होता है।' इन्द्रियों और उनका विषयोंके साथ संनिकर्ष एव मस्तिष्क-स्नायुओपर तत्त्व प्रभाव सभी अचित् (जड़) होनेसे वे स्वयं अपना ही प्रकाश नहीं कर सकते, तो फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या? अचेतनमें चेतनकी उत्पत्ति होती है, यह सिद्धान्त भी अमिथ है, जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है।

कावानो (१८५२-१९३५) का कहना है कि 'मानवेन्द्रियोंमें बाह्य वस्तुओंकी क्रिया-प्रतिक्रिया आदिके द्वारा जो प्रभावोत्पादन होता है, वही ज्ञान है। अनुभव ही जीवन है। घटनावलियोंकी अद्भुत शृङ्खलाओंसे उसका अस्तित्व है। सभी वृत्तियोंके द्वारा अपने विकाससे किसी आवश्यकताकी पूर्ति ही की जाती है और परस्परके अनुसार अभ्यास बढ़ानेवालेके प्रयोजनोंकी निवृत्ति भी हो जाती है। बाह्य वस्तुओंके घात-प्रतिघातका परिणाम ही मानवजीवनका अस्तित्व है।

हलबागने 'प्रकृति-प्रथा' नामक पुस्तकमें फ्रांसीसी भौतिकवाद प्रकाशित किया है। उसमें दीड़े, बक, दूकरी, हेल्वेजियस इत्यादिका मत सग्रहीत है। उसके अनुसार 'दुःखका मूल प्रकृतिका अन्यथाज्ञान ही है। रूढ़िपाशमें बँधे हुए प्रकृतिके अध्ययनमें प्रमुख लोगोंका प्रेत-मिथ्यावादमें अन्धविश्वास ही दुःखका मूल है। प्रकृतिके अध्ययनमें उसका उच्छेद (कर डालना) आवश्यक है।

सत्य एक ही है और वह सुखरूप है। भ्रमवशात् ही उद्धृत पुरोहितों तथा राष्ट्रेने जातियोंका बन्धन बनाया और भीषण मृग-तृष्णामय धर्मोंके शिकार बने। अन्यथा-ज्ञानसे ही लोग तृष्णा तथा क्रूर दमनके भागी बनते हैं। इसलिये अन्धविश्वासका अपनयन और वस्तुतत्त्वज्ञान नितान्त आवश्यक है। जीव और उसे प्रभावित करनेवाले पूर्ण प्रकृतिके अंग हैं। अप्राकृत पुरुष कल्पना-प्रसूत ही है। मानव भौतिक ही है। विशिष्ट-सङ्घटनका परिणाम होनेके कारण उसकी विशेषता है। वस्तु तथा उसकी गतिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कार्यकारण-सम्बन्धकी अनन्त शृङ्खला ही ससार है। वस्तुओंमें परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियाकी परम्परा चलती ही रहती है। विचित्र गुणों एवं सयोगोंमें वस्तुविशेषकी अभिव्यक्ति होती है।

सुकरात, अफलातून, अरस्तू, काण्ट आदिके दर्शन ही इस पक्षका खण्डन हैं। सुख अवश्य पुरुषार्थ है, परन्तु क्षणभङ्गुर नहीं, अपितु अनन्त एवं शाश्वत भी है और वही पुरुषार्थ है। प्रकृति और प्राकृत प्रपञ्चका जो मान है, जिसके अनुग्रहसे प्रकृति और प्राकृत प्रपञ्च प्रस्फुरित होता है, उसको प्रकृतिपार या प्रकृतिमें अतीत कहना अनिवार्य है। चक्षुका दृष्टा चक्षुसे अतीत है, वह निर्विवाद है। महान् उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये सूक्ष्म, आवश्यक नियम अपरिहार्य होते हैं। अतएव वे नियम उद्धृत राजाओं और पुरोहितोंद्वारा निर्मित नहीं हुए, अपितु अब्ध, वायुभक्ष, कन्द-मूल-फलाशी, बल्कल-वसनधारी, अराय-वासी, गान्त, ऋतम्भरा प्रजावाले, महातपा महर्षियोंद्वारा आविष्कृत हुए हैं।

वर्कले (१६८५-१७५३) भौतिकवादियोंके विरुद्ध है। उसके मतमें 'मैं' कुछ सकल्पमात्र ही है भौतिक नहीं। इसकी अनुभूतिका मूल ईश्वर है, कारण उसीकी अनुभूतिमें सबकी अनुभूतिका अन्तर्भाव हो जाता है। सकल्पोंके परस्पर सम्बन्धका नियामक ईश्वर ही है। उसीसे वस्तुओंके भी सम्बन्धका नियम प्रतीत होता है। जिह्वासे दन्तस्पर्श होते समय 'मैं दन्तस्पर्शवान् हूँ' यह प्रतीति होती है। प्रतीतिके अतिरिक्त दंतोंका अस्तित्व नहीं ही है। किसी काष्ठका अगुलियोंसे स्पर्श करनेपर काठिन्य, चिकणता और गैत्यका अनुभव होता है। यहाँ अनुभूतिसे भिन्न बाह्य वस्तु कुछ भी नहीं है। जैसे सुवर्णका पीत रूप और विशिष्ट गुरुत्व होता है और दोनोंका सहज साहचर्य भी होता है, परन्तु उनका कार्यकारण-सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार वे लोग घटनामात्रका अपलाप कर देते हैं।

इन्द्रियानुभूतिवादियोंका कहना है कि 'बुद्धिसे किसी भी विषयका अस्तित्व नहीं जाना जाता। वास्तविकताके प्रत्यक्षीकरणसे ही अस्तित्वावगम होता है।' जैसे प्रज्ञावादियोंके मतमें प्रत्यक्षानुभूतिका स्थान नहीं है, वैसे ही प्रत्यक्षानुभूतिवादियोंके मतमें व्यापक मिथान्तोंका भी स्थान नहीं है, जिन व्यापक मिथान्तोंके

लिये दृश्य वस्तुओंका एकत्रीकरण, उनका पारस्परिक सम्बन्ध-स्थापन तथा तुलनात्मक आलोचना होती है। इसलिये इन्द्रियानुभूतिको सत्य माननेपर बुद्धिप्राप्त ज्ञान ही असम्भव है। यदि प्रज्ञावाद सत्य हो, तो इनका ज्ञान असम्भव है।

ज्ञानका विषय कुछ है। परंतु यह भी सत्य है कि अनुभूतियोंमें बुद्धि प्रयुक्त होती है। उसके परिणामका भी अपने जगत्में प्रयोग होता है। परंतु उभयवादियोंके सामञ्जस्यकी समस्या तो वैसी ही रह जाती है। इस विषयमें काण्टका कहना है कि 'अनुभूतिका विषय अकृत्रिम नहीं है। इसलिये वस्तुतत्त्व अनुभवसे ग्रहीत नहीं होता, किन्तु ज्ञानप्राप्तिकी क्रियासे परिष्कृत देगकालादि-सम्बन्ध ही वस्तुका ग्रहण होता है। इससे यह तो सम्भव है कि वस्तु उन नियमोंका पालन करे, जिन नियमोंमें वस्तु बुद्धिसे मण्डित होती है।

यदि भौतिकवादके अनुसार प्रकृतिको क्रियाशील और ज्ञानको अक्रिय माना जाता है तो ज्ञानमें व्यवस्थापकत्व कैसे बन सकता है? काण्ट आदिके ज्ञानका रचनात्मक कार्यकर्तृत्व इस दृष्टिसे होता है कि मनस या सर्वमनस ही ज्ञान है, भारतीय वेदान्तकी दृष्टिसे मन स्वयं ही भौतिक कार्य है, उसकी उत्पत्ति होती है और वह व्यापारवान् होता है, सक्रिय तो है ही। इगलिश-फ्रेच भौतिकवादियोंका यह मत भी ठीक नहीं कि वस्तुका अस्तित्व विचार कर्ताके अस्तित्वसे पहले है, विचारकर्ता इसकी अनुभूति प्राप्त कर सकता है। यदि आत्मा भूतका ही परिणाम है तब तो सुतराकार्य भूत आत्माके पहले कारणरूप भूतका रहना ठीक ही है। परंतु जड़भूतोंके किसी परिणाममें चेतनता या विचारकर्तृता किसी भी प्रमाणसे नहीं सिद्ध हो सकती, हाक्सके विचार भी इस सम्बन्धमें भौतिकवादी ही हैं। भौतिकवादी भूतपरिणामको ही ज्ञान मानते हैं, अतएव ज्ञानका उद्गमस्थान उनकी दृष्टिसे इन्द्रियग्राह्य रूपोंके मूलभूत ही हैं। किंतु अव्यात्मवादी जड़भूतोंके अतिरिक्त आत्माको ही ज्ञानका उद्गमस्थान मानते हैं। वह आत्मा नैयायिक, वैशेषिक आदिके अनुसार ज्ञान-गुणवाला है, कुछके मतानुसार ज्ञान-स्वरूप होकर ज्ञानधर्मक है और कुछके मतानुसार अखण्ड नित्य बोधस्वरूप है। उससे ही सर्वभूता एव भूतप्रकृतिकी उत्पत्ति होती है, उससे भौतिक अन्तःकरण मन आदि उत्पन्न होता है, उसीसे साभास वृत्तिरूप अनित्य ज्ञान उत्पन्न होते हैं। परंतु इन नवमें पृथक् अखण्ड स्वतः सिद्ध नित्यबोध है, जिससे अनित्य ज्ञानोंकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय आदिका बोध होता है।

हेगेल-दर्शन

हेगेलने (१७७०-१८३१) काण्टकी वस्तुस्वरूप धारणाका खण्डन किया और बतलाया कि 'वस्तुको उसके आवेष्टन गुणों और अवस्थाओंसे अलग करके देखना

ही वस्तु स्वरूपकी धारणा है। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं। अतः वह जानने परे है। हेगेलके जगत्का भी स्रष्टा मन ही है, काण्टके अमल जगत् एव दृश्यमान जगत्के द्वित्वका भी इसने खण्डन किया है। स्पिनोजाके समान हेगेल भी आत्मा-मन और भूतको अभिन्न ही मानता है। अर्थात् आत्मासे अभिन्न मन एव मनसे अभिन्न भूत हैं। उसके अनुसार 'पूर्णतत्त्व ही सब कुछ है, दृश्यमान जगत् उसीका अङ्ग है। किसी वस्तुको समझनेके लिये दूसरी वस्तुओसे तुलना आवश्यक होती है। जैसे एक मुर्गीका अण्डा गेढमे कम गोल है, चमड़ेमे अधिक टूटनेवाला है, गोरैयाके अण्डेमे बड़ा है। इस तरह सभी घटनाओको मिलाकर ही वस्तुविशेष बनती है। अतः दूसरी वस्तुओसे इसके सम्बन्ध इसकी प्रकृतिको बताते हैं। माय ही दुनियाकी सभी वस्तुओमे भी इस अण्डेका सम्बन्ध है। भले ही यह सम्बन्ध समतामे हो या विपमतामे। इसलिये एक अण्डेको पूर्णरूपमे जाननेके लिये हर विद्यमान वस्तुका ज्ञान होना चाहिये जो कि अत्यन्त प्राणीके लिये असम्भव ही है। अतः भेद असत्य है, एक ही महान् वस्तुके सब अङ्गोपाङ्ग हैं। यही बात विचारोंके सम्बन्धमे भी है। किसी सत्यके अस्तित्वके प्रकाशके साथ-साथ उसके विपरीत अमत्यके अस्तित्वका भी प्रकाश होता है। शङ्क श्वेत है, इस प्रकारकी घटनाके विवरणके लिये ही यह सत्य नहीं किन्तु सिद्धान्तोंके विचारके लिये भी यही सत्य है। जैसे स्वतन्त्र इच्छाके ही सिद्धान्तको देखे, अपनी इच्छाके अनुसार काम करनेकी स्वतन्त्रता हमें नहीं है। हमारा कार्य पूर्वनिर्धारित है। घटनावश उस कार्यको करनेके लिये हम बाध्य हैं। इसे ही 'पूर्वनिर्धारणका सिद्धान्त' कहा जाता है। इन सिद्धान्तोंके विपरीत सिद्धान्तके अन्तिमका अर्थ ही यही है कि कोई भी सिद्धान्त स्वतन्त्ररूपमे पूर्ण सत्य नहीं है। इसलिये वह कहता है कि 'कोई उपाय ऐसा अवश्य होना चाहिये जिसमे एक सत्य एव उसके विपरीत सत्यको मिलाकर व्यापक सत्यकी प्रतिष्ठा हो, जिसमें दोनों आंशिक सत्य मिले हों।' इन आंशिक सत्योंका परस्पर विरोध रहता है, अतः इनके अधूरेपनमे मनका टिकना सम्भव नहीं। इसीलिये मन व्यापक सत्यकी खोजमें बढ़ता रहता है। यद्यपि कारणरूपी सत्यमे विरोधी कार्योंका समन्वय हो जाता है, जैसे मृत्तिकामे घट-गरावादि विविध कार्य अन्तर्गत होते हैं, तथापि मृत्तिका भी स्वयं कार्य है, अतः अन्तिम (अधिष्ठान) सत्यपर जबतक मन नहीं पहुँचता, जहाँ किसी भी आंशिक सत्यका विरोध विलीन हो जाता है तबतक आंशिक सत्योंको मिलाकर एक व्यापक सत्यमें परिणत करनेकी क्रिया जारी रहती है। यह अन्तिम सत्य ही सब कुछ है और वह सत्य आन्तर अखण्ड बोधस्वरूप ही है। मन एव मनद्वारा ज्ञात विषय एव उनकी विभिन्नताएँ इसके अंदर ही हैं। मन उसी पूर्णका अंगमात्र है। इसीलिये यह विश्वको भी गन्त-

रूपमें देख सकता है और अलग वस्तुओंके पुञ्जके रूपमें देखता है । आम तौरपर समझा जाता है कि सत्यता सम्मति या रायका एक गुण है । कोई सम्मति सत्य है यह एक ही वस्तुपर निर्भर है । हेगेल सिवा पूर्णके और किसीको सत्य नहीं मानता । जो कुछ पूर्णसे कम है वह सत्य घटना नहीं, वह दूसरी घटनाओंसे सम्बन्धित है । जिनमें विच्छिन्न करके इसको नहीं समझा जा सकता । इसीलिये विचार एवं विचारका विषय मिथ्या है, परम सत्य अधिष्ठानस्वरूप नित्य बोध ही रहता है ।

हेगेलका 'स्वयंगतिविवर्तनवाद' का विचार बड़े महत्त्वका माना जाता है । अरस्तू एवं उसके अनुयायियोंके मतानुसार 'कोई नयी चीज हो ही नहीं सकती, क्योंकि वह एक आनुमानिक प्राथमिक वस्तुसे ही सारे ससारका सूत्र जोड़ लेती है । अरस्तूके अनुसार एक वस्तु एवं तदनुरूप विचार एक ही वस्तु है दो नहीं ।' इसमें भिन्न हेगेलने कहा कि 'प्रत्येक वस्तुमें एक अन्तर्विरोध है जो उसको गतिदान करता है और इस स्वयं विकासकी क्रियामें वह दूसरी वस्तुके रूपमें परिवर्तित हो जाती है ।' हेगेल वस्तुकी अपेक्षा विचारको ही तात्त्विक मानता है । संसारका क्रमविवर्तन उसके मतानुसार विचारका ही क्रमविवर्तन है ।

उसके अनुसार प्रथम विचारका नामवाद है, इसके साथ ही विपरीत विचार भी वर्णमान रहता है, उसका नाम प्रतिवाद है । इन दोनोंके सघर्षसे जो नया विचार उत्पन्न होता है, उसका नाम समन्वयवाद है । इस समन्वयवादमें पुनः अन्तर्विरोधकी सृष्टि होती है और एक नये सघर्षके परिणामस्वरूप गति उत्पन्न होती है जो एक नये और बृहत्तर समन्वयवादमें लीन होती है । विश्व-लीला इसी विचार-सघर्षकी ही क्रिया है । अन्ततः यह लय होती है पूर्णमें ।'

हेगेलके विचार वेदान्तके अद्वैत-दर्शनमें मिलते जुलते हैं । वेदान्तका ब्रह्म अखण्डबोधस्वरूप है, उसीका विवर्त विश्व है, विश्वके पहले भी मन बनता है ।

स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितवपुर्महान् ।

समनाद् मननीशक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥ (पञ्चदशी १३ । २०)

वह स्वप्रकाश ब्रह्मात्मा किंचित् मननी शक्तिको धारण कर मन हो जाता है । यह भी वेदान्तका ही सिद्धान्त है कि हर एक वस्तु व्यावृत्तरूपसे ही उपलब्ध होती है । अर्थात् अपनेसे भिन्न समस्त वस्तुनिरूपित भेदसे युक्त ही वस्तुका बोध होता है । किसी अल्पज्ञको सम्पूर्ण पदार्थोंका बोध हो नहीं सकता, अतः तन्निर्भूत भेदका भी ज्ञान अमम्भ्य है, फिर स्वेतर सर्व वस्तु भिन्नरूपसे ज्ञानी भी पदार्थका जानना सम्भव नहीं । इसीलिये घटज्ञानमें व्यावृत्तरूपसे घटका भान होता है, परन्तु व्यावृत्ति एवं उसके निरूपक घटातिरिक्त सकल पदार्थोंका बोध है नहीं, अतः अतन्में तद्वृद्धि होनेके कारण व्यावृत्ताकारेण घट-बोध ही भ्रम है, सुतरां उसमें सम्मित होनेवाला घट भी भ्रम-सिद्ध ही है । विचार या ज्ञानसे भिन्न

वस्तु नहीं। विचार या ज्ञान अखण्ड बोध ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, इस दृष्टिसे वस्तु एवं विचार सत्त्वका ही पर्यवसान अखण्ड बोधस्वरूप वस्तुमे ही होता है।

हेगेलका अन्तर्विरोध या द्वन्द्वमानका अभिप्राय क्रमिक विवर्तक स्वरूपका ही विवेचन है। मूल वस्तु अखण्डबोध आन्तरिक वस्तु है। मन, विचार आदि उसके अति सनिहित हैं। अतः उनमें हलचल होनेसे ही विचारान्तर या वस्त्वन्तर उत्पन्न होते हैं। विचार-सघर्षसे विरोधी विचारोंसे सर्वबाध होनेके अनन्तर बाधाधिष्ठान परमार्थ वस्तुका बोध होता है। वही सब विरोधों, सब सघर्षोंका अन्त हो जाता है। सुन्दोपसुन्दन्यायसे सत्कार्यवाद-असत्कार्यवाद दोनोंके ही साख्यो एवं नैयायिकोंद्वारा खण्डित हो जानेपर अनिर्वचनीयता एवं विवर्तकी सिद्धि होती है। इसी तरह जैसे बीजमें अन्तर्विरोधद्वारा उसका विव्यस होता है तब अङ्कुरकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही हर एक कारणमें अन्तर्विरोध होनेके बाद विव्यस या विकृति आनेपर ही कार्यान्तरका विकास होता है। अव्यक्तका महान्, महान्का अह, अहका आकाश, आकाशका वायु आदिरूपसे विवर्त या विकास इसी क्रमसे होता है। सत्त्व-रज-तम तीनों ही गुणोंके विमर्द-वैचित्र्यसे ही सृष्टि होती है। विमर्द भी सघर्ष ही है। निर्विरोध ज्ञान्त सम गुणोंसे सृष्टि नहीं होती। विमर्द वैषम्यमें ही तत्त्वान्तरका विकास होता है। उस तत्त्वान्तरको कारणकी अपेक्षा अनिर्वचनीय कहा जाता है। इन्हीं वस्तुओंको हेगेलने अपनी भाषामें वाद, प्रतिवाद, समन्वय, द्वन्द्वमान, या अन्तर्विरोध आदि शब्दोंमें कहा है।

विचारोंके वाद प्रतिवाद एवं रवादके अनुसार उत्तरोत्तर सत्य वस्तुपर उपनीत होनेके कारण कारणातीत परमार्थ सत्य ब्रह्मकी ओर पहुँच सकते हैं। वस्तुगत अन्तर्विरोध, सघर्षवाद, प्रतिवाद एवं सवादसे उत्तरोत्तर कार्यसृष्टिकी ओर अग्रसर हो सकते हैं। फिर भी यह विवेचनकी एक शैलीमात्र है। इसका सदुपयोग-दुरुपयोग दोनों ही हो सकता है। इसीलिये अन्तिम पूर्णपर ब्रह्मनिर्णयरूप सवादको भी इतर सवादोंके समान वाद बनानेका प्रयत्न भी हो सकता है। इसी तरह अन्तिम कार्यके भी अन्तर्विरोधके क्रमसे पुनः व्यापक कार्यान्तरमें समन्वयका प्रयत्न हो सकता है। यह सब अनवस्था-दोषदुष्ट होनेसे वैसे ही अनादरणीय है, जैसे अन्तिम मूलको भी मूल होनेसे ही समूलमाननेका आग्रह। परंतु सिद्धान्ततः अनवस्था-दोषके कारण अन्तिम मूल अमूल ही माना जाता है। वस्तुतः हर एक तर्ककी अवधि आशङ्का होती है। आशङ्काकी अवधि व्याघात ही होता है। जैसे 'धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् तर्हि किं स्यात्' धूम यदि वह्निव्यभिचारी हो तो क्या होगा? इस शङ्काका समाधान होता है 'तर्हि धूमो वह्निजन्यो न स्यात्' यदि धूम वह्निव्यभिचारी हो तो उसे वह्निजन्य नहीं होना चाहिये। यदि कोई इसपर भी तर्क करे तो उसके सामने व्याघातदोष

उपस्थित होता है। अर्थात् कार्य-कारणभाव तो प्रत्यक्ष दृष्ट ही है। दृष्ट व्याघात इस गड़्ढाकी अवधि है।

‘व्याघातावधिराशङ्का शङ्का तर्कावधिर्मतः।’

इस तरह अन्तिम परम सत्य परम सवादको वाद बनाना तथा अन्तिम कार्यरूप सवादको भी वाद बनाकर कार्यान्तरकी कल्पना करना भी अनवस्था एव दृष्ट व्याघात-दोषसे दुष्ट है। यो तो हेगेलके द्वन्द्ववादको भी वाद बनाकर उसका भी ऐकात्म्यवादमे लय हो जानेकी कल्पना की ही जाती है। जब द्वन्द्ववादके आधारपर अधिनायकवाद, समष्टिवाद, भूतवाद और चेतनवाद-जैसे परस्पर विरुद्ध मन सिद्ध हो सकते हैं तब उसके बलपर तो किसी ‘इदमित्थम्’ सिद्धान्तका निर्णय असम्भवप्राय ही है। हेगेलके मतानुसार ‘राज्य मानवकी नामाजिक प्रगतिकी चरम सीमा है।’ इसका अर्थ है कि ‘वह संवाद आगे वाद नहीं बनेगा।’ परंतु मार्क्सने उसे भी वाद बनाया ही। वह मजदूर-नायकत्व या समष्टिवादको चरम सवाद कहता है, परंतु रामराज्यवादी जड़-चेतन दोनोंको आध्यात्मिक सम्बन्धसे समन्वित करता है तथा राजतन्त्र-प्रजातन्त्र, व्यष्टि-समष्टि वित्तविभाग एव श्रमविभागको समन्वित करता है। इस तरह अत्यात्मवादपर आवृत्त धर्म-नियन्त्रित धर्मसापेक्ष पक्षपातविहीन शासन-तन्त्र राज्यको ही अन्तिम सवाद एव सामाजिक प्रगतिकी चरम सीमा मानता है। इस पक्षमे निश्चित प्रत्यक्षानुमान, अपौरुषेय आगम आर्पणास्त्र एव परम्परा सभी अनुकूल है। भारतीय अत्यात्मवादमें समष्टि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मा कार्य-कारणातीत ब्रह्मका स्थूल रूप है। उसके भीतर समष्टि लिङ्गात्मा हिरण्यगर्भ सूक्ष्मरूप है। उसमे भी आन्तरसमष्टिकारणात्मा महाकारण ईश्वर है और सर्वान्तर सूक्ष्मतम कार्य-कारणातीत शुद्ध ब्रह्म है। महाविराट्की अपेक्षा भी हेगेलका विश्वात्मा बहुत स्थूल एव सकीर्ण है।

मार्क्स दर्शन

कार्लमार्क्सने (१८१८-८३) हेगेलके द्वन्द्वमानको भौतिकवादसे जोड़ लिया, परंतु मार्क्स मानस या बोधको स्वयंविकास या विवर्त मानता है। इस प्रक्रियाका प्रथम अंग है एक अविभाजित इकाई। यह इकाई दो विरोधी अंगोंमे विभाजित हो जाती है। पुनः इन विरोधोंका समन्वय होकर एक नयी सम्बन्धित इकाईका जन्म होता है। इसी प्रकार सृष्टिका विकास होता रहता है। इन बातोंको ब्रह्मवादमें भी जोड़ा जा सकता है। अविभाजित ब्रह्मका भी दृक्-दृश्य, ज्ञान-ज्ञेयरूपमें विभाजन हुआ। पुनः दोनोंके समन्वयसे ही महदादि प्रपञ्चकी सृष्टि होती है। इसी तरह उत्तरोत्तर कारणका विभाजन, विध्वंस या समन्वयसे उत्तरोत्तर सृष्टि होती है। एक बीजमें धरणि, अनिल, जलके सम्पर्कसे उच्छ्रूनावस्था (अङ्कुरोत्पत्तिके पहले बीजकी फूलनेकी अवस्था) होती है। फिर अन्तर्विरोधसे बीजका विध्वंस या विभाजन होता है। पुनः समन्वय होकर अङ्कुर उत्पन्न होता है। मार्क्स इसी

अन्तर्विरोधको द्वन्द्वमान मानकर कहता है 'यह क्रिया भूतकी ही है मनकी नहीं, मन-मे तो भूतकी ही क्रिया प्रतिबिम्बित होती है।'

परन्तु वेदान्त-मतानुसार विनाश या विव्सको अङ्कुरका कारण नहीं माना जाता, किन्तु बीजके अवयव ही अङ्कुरके रूपमें परिणत या विवर्तित होने हैं क्योंकि कार्यमें बीजके अवयवोंका ही अन्वय दिखायी देता है। अतः विनाश या विव्स विकासका कारण नहीं, इसके अतिरिक्त कारण ब्रह्म कार्यरूपमें परिणत होनेपर भी अविकृत सुक्तोपसृप्य ब्रह्म बना ही रहता है। आकाश, वायु आदि भी उन उन कार्योंके रूपमें परिणत होनेपर भी समाप्त नहीं हो जाते। उनका भी पृथक् अस्तित्व बना ही रहता है। इसके अतिरिक्त हेगेलके यहाँ इस सघर्ष-क्रियाकी सीमा है। हर कार्यमें अन्तर्विरोध या सघर्षसे उत्तम वस्तुका विकास नहीं होता, इसीलिये कोई कार्योंके विनाशसे कोई भी अच्छी चीज उत्पन्न नहीं होती। तभी लोग कार्यव्यससे उद्विग्न होते हैं। वस्तुतः मार्क्सने हेगेलके द्वन्द्वमानका गलत अभिप्राय समझकर दुरुपयोग किया है। किसी कार्यमें भावरूप उसका उपादान कारण एव रजके हलचलके साथ तमका अवष्टम्भ तथा सत्त्वका प्रकाश भी अपेक्षित होता है, इस तरह कार्यात्मत्तिमें आधिक सघर्षसे अधिक प्रकाश एव अवष्टम्भका महत्वपूर्ण हाथ रहता है।

हलवाग एव ह्वेलवैगियस अठारहवीं शताब्दीके भौतिकवादियोंके प्रतीक समझे जाते थे। हलवागकी पुस्तक 'प्रकृति-विन्यास' है। उसका कहना है कि 'यदि सत्ताका अर्थ है सच्चा स्वरूप तो हमें वस्तुकी सत्ताका कोई ज्ञान नहीं। प्रत्यक्षावलोकनसे तथा तज्जनित स्पन्दन और विचारोंसे हमें भूतका ज्ञान प्राप्त है। इन्द्रियोंके अनुसार विषमेच्छा—अच्छी या बुरी राय कायम करते हैं। उसकी प्रतिक्रियाके अनुसार उसके कुछ गुणोंका परिचय यद्यपि हमें मिलता है, फिर भी भूतकी सत्ता या सच्चे स्वरूपका ज्ञान नहीं होता। मनुष्य भूतोंका ही बना है। अतः भूतोंके अतिरिक्त उसका और कोई विचार नहीं है। अन. भूत ही विचारशक्ति-सम्पन्न है। अथवा भूतका परिणाम ही मनन शक्ति है।'

पृथ्वीके सम्बन्धमें उसका अनुमान है कि सम्भव है कि यह एक भूतपिण्ड है, जो किसी नक्षत्रसे विच्छिन्न हो गया होगा। अथवा सूर्यस्थित काले बिन्दुओंके विस्तारका ही परिणाम है अथवा वृक्षी हुई धूमकेतु होगी।' ऐसे ही वह मनुष्य-को भी प्रकृतिकी आकस्मिक उपज होनेकी कल्पना करता है। इस समयके दार्शनिक धर्मके विरोधी थे और बुद्धि एव अनुभवपर प्रतिष्ठित नीतिके साथ धर्मके सम्बन्धको भयकर समझते थे। क्योंकि धर्मको वे बुद्धिविरुद्ध एव नैतिक शिक्षाको कमजोर बनानेवाला मानते थे। हलवाग वासनाको ही वागनापृत्तिकी औपध समझता था। यह वागनाओंका दमन अनाद्वय समझता था। उन्नी

कहना है 'मनुष्यमात्र सुख चाहता है। दुःखसे घबराता है। इसीलिये सुख-साधन भले तथा दुःख-साधन बुरे हैं। कोई सरकार ऐसा कष्ट तही उठाती जिससे उसकी प्रजाको न्याय, भलाई और ईमानदारीमें ही सुविधा मालूम हो। इसके विपरीत अन्यायी दोगी बननेके लिये प्रेरित किया जाता है। प्रकृतिने मनुष्यको बुरा नहीं बनाया। सामाजिक व्यवस्था ही इसके लिये जिम्मेदार है।'

वाल्टेयरके मतानुसार 'समाज न्याय-अन्यायकी धारणा बिना नहीं रह सकता।' किंतु हलवाश इसमें ईश्वरकी आवश्यकता नहीं समझता। 'न्याय, सयम, उपकार जीवनके लिये लाभदायक हैं, यह सभी समझ सकते हैं।' रूसो कहता है, 'फिर भी अपने सुखके लिये कोई मौतका सामना क्यों करेगा? अतः ऐसे स्थलोका स्वार्थ सामाजिक स्वार्थ ही समझा जाना चाहिये, व्यक्तिगत नहीं।' १८ वीं शतीके भौतिकवादी समझते थे कि 'भूलसे ही मनुष्यको दुःख होता है, यदि मनुष्य अपने स्वभावपर कायम रहेगा तो सदा सुखी रहेगा।' सियरवेलके शङ्कावाद लङ्क, कनडिलाक बर्क आदिके इन्द्रियानुभूतिवादसे भौतिकवादको बड़ा बल मिला, हल्वेशियसने भी बताया कि 'मनुष्यकी बुद्धिमें प्रकृतिगत समानता, विचारशक्ति तथा उद्योगकी उन्नतिमें एकता तथा पालन-पोषणकी महान् शक्ति स्वाभाविक गुण है।' इन सबमें समाजवादको बल मिला। सेंट माइमन लर्ड तथा राबर्ट एडवर्ड लासाल आदिने समाजवादकी स्वरूपा व्यक्त की। यद्यपि ये सभी ईश्वर एवं धर्ममें विश्वास रखते थे।

मार्क्स यद्यपि दार्शनिक विचारोंमें हेगेलका शिष्य था तो भी उसका कहना था कि 'हेगेल मिरके बल खड़ा था। आज मैं उसे पैरके बल खड़ा कर रहा हूँ।' हेगेल एवं मार्क्सके बीच फायरबाखका दर्शन है। इसके कई अंशोंको मार्क्स-ने ग्रहण किया, कईका खण्डन किया। बीटेने लिखा है—ईश्वर मेरा पहला विचार है, ज्ञान दूसरा तथा मनुष्य तीसरा और अन्तिम।' इसपर फायरबाखने कहा है, 'आदर्शवाद एवं भौतिकवादके अगड़ेका केन्द्र है मनुष्यका मस्तिष्क। मस्तिष्क किस प्रकारकी वस्तुसे बना है, यह मालूम हो जाय तब अन्य वस्तुओंके सम्बन्धमें विचार स्पष्ट होते हैं।' उसका यह भी कहना है कि 'अस्तित्व कर्ता है और विचार क्रिया है। विचार अस्तित्वका कार्य है कारण नहीं। अस्तित्व स्वयं मूल है।' वह कहता है, 'आदर्शवादी दर्शनका आरम्भ ही गलत है। सच्चे दर्शनका आरम्भ केवल मैंसे न होकर मैं और तुमसे होना चाहिये। यहाँसे विचार एवं पदार्थ तथा कर्ता एवं कर्मके सम्बन्धको ठीक रूपमें समझ सकते हैं। मैं स्वयं अपने लिये मैं हूँ, परंतु दूसरोंके लिये तुम। मैं एक साथ कर्ता हूँ एवं कर्म भी, मैं अमूर्त-सत्ता नहीं। मेरा वास्तविक अस्तित्व है मेरा शरीर ही। अपने समयरूपमें मेरी जन्मरिक्त सत्ता है। जो विचार करता है वह अमूर्त नहीं, भौतिक अस्तित्व ही कर्ता

है, विचार उसकी क्रिया है। विचार एव विरोधके अस्तित्वकी समस्याका यही हल है। प्रकृति या भूतोंको दबाकर या मिथ्या कहकर समस्याका हल नहीं हो सकता। फायरवाखका कहना है कि 'यदि स्पिनोजाके सिद्धान्तमें धर्म विद्याका जजाल निकाल दिया जाय तो मूलतः यह बहुत सही है।' कहते हैं, आदर्शवादसे नाता तोड़नेके बाद पहले-पहल मार्क्स एवं एंजिल्सने इसी दर्शनको अपनाया था। फायरवाखका कहना था कि 'बाहरी वस्तुकी क्रियाका विषयमात्र बनकर मनुष्य उन वस्तुओंको पहचानता है' परन्तु मार्क्सका कहना है कि 'वस्तुके ऊपर अपनी प्रति-क्रियाद्वारा हम उसकी पहचान करते हैं।'।

उपर्युक्त विद्वानोंके विचार भारतीय दर्शनोकी दृष्टिसे बहुत स्थूल हैं। विषयेन्द्रियमयोगजन्य सुख ही वास्तविक सुख नहीं हैं। अनश्वर सुख आत्मस्वरूप ही है। या तो दादके खुजलानेमें भी सुखकी प्रतीति होती है, पर क्या उसे कोई बुद्धिमान् सुख मान सकता है? इसी तरह मध्म विवेचन विना अस्तित्वयुक्त पदार्थको ही अस्तित्व मानकर उनके कर्ता एव विचारको कर्म मान लिया गया। अस्तित्व तो वह सूक्ष्म वस्तु है जो विचारमें भी अनुस्यूत है, जिस अस्तित्वके बिना देह एव देहान्तर्गत उसकी समग्रताके पूरक सभी असत् हो जाते हैं। सर्व विभेपणरहित अस्तित्व ही सर्वत्र समानरूपसे अनुस्यूत होनेके कारण सर्ववीज है, विचारकी सूक्ष्मता उससे अधिक सन्निकट है। उसमें ही मैं और तुम सबका अन्तर्भाव हो जाता है। अवश्य ही वहिर्मुख प्राणीको 'मैं' की अपेक्षा 'तुम' अधिक स्पष्ट है। इसीलिये तो भाष्यकार शंकराचार्यने 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः' इत्यादि रूपसे तुमसे ही विचार प्रारम्भ किया था। भौतिकवादियोंके मैं और तुम सभी शंकरके युष्मत्प्रत्ययगोचर ही ठहरते हैं, क्योंकि दृश्य अनात्ममात्र युष्मत्प्रत्ययगोचर होता है। निर्दृश्यदृक् आत्मा ही अस्मत्प्रत्ययगोचर भाष्यकारको मान्य है।

मार्क्सने फायरवाखके दर्शनपर टिप्पणी करते हुए लिखा है—'उस भौतिक सिद्धान्तमें जिसके अनुसार मनुष्य परिस्थितियों एव शिक्षाकी उपज कहा जाता है, इस बातको भुला दिया जाता है कि मनुष्य परिस्थितियोंमें परिवर्तन कर सकता और करता है और शिक्षकको स्वयं शिक्षित होनेकी आवश्यकता रहती है। ज्यों ही इस समस्याका समाधान होता है, इतिहासकी भौतिक धारणाका रहस्य खुल जाता है।' फायरवाख विचारप्रणालियोंके विकासका आधार मानवमत्ताके विकासको ही कहता है। 'मानवसत्ता क्या है' इसका उत्तर देते हुए वह कहता है कि 'मानवसत्ता मनुष्यके साथ मनुष्यके ऐक्यमें उनके परस्पर संयोगमें मिलती है।'।

मार्क्स कहता है 'सामाजिक सम्बन्धी समग्रता ही मानवमत्ता है।' पहलेमें इसमें स्पष्टता अधिक है। फायरवाखने पहले घोषणा की कि 'भूत मानस (ज्ञान) की उपज नहीं है, मानस ही भूतकी सर्वोत्कृष्ट उपज है।' उसने हेगेलके द्वन्द्ववादका

भी खण्डन किया था, पर मार्क्सने उसे ग्रहण कर ही अपना द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद बनाया। यह जगत्का असली रूप भूतको ही मानता है। जगत्के विचित्र एवं विभिन्न रूप एवं व्यापारभूतकी ही गतिके विभिन्न रूप हैं। इन व्यापारोके आपसी सम्बन्ध गतिशील भूतके विकासके नियम हैं। इन्ही नियमोके अनुसार जगत्का विकास होता है, इसे किसी विकासकर्ताकी आवश्यकता नहीं है। भूतप्रकृति जीवका अस्तित्व भी भूतके अंदर है। प्रथम भूत ही है, मन द्वितीय है, क्योंकि यह भूतसे ही उत्पन्न होता है। उसके अनुसार मनन या चिन्तन-क्रिया भूतकी ही उपज है और भूत ही मस्तिष्कका रूप प्राप्त कर चुका है।

एजिप्सके गव्होमें 'भौतिक अस्तित्व, मनन, प्रकृति और जीवात्माके अस्तित्वका प्रश्न ही दर्शनशास्त्रका मुख्य प्रश्न है। आदर्शवादी जीवात्माको पहले मानते हैं, भौतिकवादी प्रकृतिको। मार्क्स कहता है—'जो भूत चिन्तन करता है उस भूतसे चिन्तनको पृथक् नहीं किया जा सकता। जो ज्ञान प्रयोग एवं अनुभवद्वारा व्याप्त है वही वास्तविक ज्ञान है। इसको बाह्य जगत्से मिलाकर जोँचा जा सकता है। जगत्में कोई अज्ञेय वस्तु नहीं है। जगत् और उसके नियम पूर्णरूपसे जाने जा सकते हैं। यह बात अलग है कि अभी हम पूर्ण-रूपसे नहीं जानते।'।

उपर्युक्त बातोंपर विचार करनेसे मालूम होता है कि यह भी अनुमान है कि मनुष्य सब ससार एवं उसके नियमोंको जान सकेगा; क्योंकि अभीतक सम्पूर्ण जगत्की तो बात ही क्या, एक सूर्यके ही अंदर कितने तत्व हैं, इसीका पूरा अन्वेषण नहीं हुआ। एक कोयला या मिट्टीके तेलमें या एक परमाणुमें कितनी शक्तियाँ हैं, इसका भी परिज्ञान पूरा नहीं हुआ। विज्ञानके बलसे आज वैज्ञानिक एक वस्तुको जाननेका दावा करता है, कुछ दिन बाद उसे अपनी भूल भी मालूम पड़ती है। किसी चीजको आज किसी रोगपर लाभदायक समझा जाता है, कालान्तरमें ही उस ही हानिकारक मान लिया जाता है। फिर स्वेतरसकलवस्तुप्रतियोगी यदको ही आजतक कौन जान सका है? और आगे भी जाननेकी आशा कौन बुद्धिमान् कर सकता है? किसी भी प्रयोग या यन्त्रसे कोई भी सम्पूर्ण प्रपञ्च एवं तद्रत विचित्रताको कैसे जान सकता है? जैसे एक उडुम्बरके भीतर ही रहनेवाला नगण्य कीट बाहरकी वार्ताको नहीं जानता, उसी तरह एक क्षुद्र भूखण्ड तथा ब्रह्माण्डगोलकके भीतरका जन्तु सर्वज्ञ होनेका दावा करे, यह ग्राह्यसमाज है। एक तीक्ष्ण संख्याके स्वादका वैशिष्ट्य समझ लेनेके लिये लाखों जीवन समाप्त हो जाना भी पर्याप्त नहीं है, फिर उसके अन्य रस, वीर्य, गुण, जियारादिकों समझना; चँटीद्वारा आकाश-परिवेष्टनकी कल्पना-जैसी बात है।

एजिप्स पर कहना भी सही नहीं कि 'यदि हम अपनी किसी कल्पनाकी

मत्स्यनाका प्रमाण उम वस्तुको स्वयं बनाकर दे सके, उसको अपनी अवस्थाओंके बाहर उत्पन्न कर उसको अपने व्यवहारोपयोगी बना सके, तो काष्ठीके वस्तुमय-रूप का अन्त हो जाता है। कारण, इससे भी उपर्युक्त तर्कका समाधान नहीं होता। मनुष्य अपने नेत्रों, श्रोत्रों एवं तन्सहायक भौतिक साधनोंसे बहुत कुछ जान सकता है सही, परंतु इतनेसे ही वह सब वस्तुओंको जान लेगा—यह नहीं सिद्ध होता, क्योंकि इन्द्रियो और तत्सहायक साधनोंकी भी एक सीमा है। योगज अतिगयता भी उसे लङ्घन करनेमें असमर्थ होती है। अतएव चक्षुसे रूपकी अनुभूति होती है, स्पर्शकी नहीं। श्रोत्रसे गन्धकी उपलब्धि नहीं हो सकेगी, भले ही वैज्ञानिक सहस्रो साधनोंका प्रयोग कर ले। किसी यन्त्रद्वारा सूक्ष्म चक्षु इन्द्रियको देख सकना भी दुष्कर है। व्यापक नियम है कि द्रष्टासे दृश्यका दर्शन होता है, किंतु दृश्यद्वारा द्रष्टाका दर्शन नहीं होता। चक्षुद्वारा रूप दिखायी देता है, किंतु रूप या चक्षुद्वारा चक्षुका दर्शन नहीं होता; मनसे चक्षुके व्यापारोंकी मन्दता-पटुता आदिका तो बोध होता है, किंतु चक्षुसे मनके व्यापारोंका बोध नहीं होता। मनसे तो मनका पता लग सकता है, परंतु मन एवं अहं मयका भान जिससे होता है उनका बोध—भास्यभूत मन या अहंसे कैसे हो सकता है ? सर्वविज्ञाताको किससे जाना जा सकता है—
‘विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।’ (बृहदा० उप०)

आर्गेनिक केमिस्ट्रीके बलपर अवश्य कई सूक्ष्म रसायनोंका बोध हो सकता है, किंतु इसीमें निर्दृश्य दृक्का भी बोध हो जायगा, यह निराश्रम है। हृदय या मस्तिष्कके जिन तन्तुओंको ज्ञानचक्षु कहनेका प्रयत्न किया जाता है, वह भी ज्ञानव्यञ्जक अन्तःकरण वृत्तिके ही व्यञ्जक हैं। ठंडे एवं गर्म तारोंके संयोगसे प्रकाश शक्ति विद्युत् व्यक्त होती है, परंतु ‘दोनो तार या उनका संयोग ही विद्युत् है’ यह नहीं कहा जा सकता।

एजिल्सका यह कहना भी ठीक नहीं है कि कोपनिकसकी सूर्यमण्डलीका तथ्य एक अनुमान था, परंतु जैसे लारियरने गणनाओंसे उसके अस्तित्वका पता लगाया, गालिलेने खोज निकाला, वैसे ही सर्वज्ञानका अनुमान भी सही निकलेगा, क्योंकि दृश्यद्वारा द्रष्टाके ज्ञानका समर्थन इस उदाहरणसे भी नहीं होता। इतना ही क्यों ? ऋषियोंका ज्ञान आजसे कहीं बढ़ा हुआ था, उनके सनिकृष्ट-विप्रकृष्ट, लोक-परलोक, अस्त्र-शस्त्र, विमान आदिके विज्ञानतक अभी भी भौतिकवादी वैज्ञानिक नहीं पहुँचे हैं। वे ऋषि भी सर्वश होनेका दावा नहीं करते। ब्रिटेनके प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर लोका कहना है कि ‘मेरी रायमें इस युगकी सबसे बड़ी खोज यह है कि हम किसी वस्तुके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानते। प्रसिद्ध वैज्ञानिक मिस्टर कैल्डरने भी ब्रिटिश-वैज्ञानिक-विकास-संघके अधिवेशनमें ज्ञानान्तर्गमे उन्नी गतिकों प्रकट किया है। सुकृष्णका भी ऐसा ही मत था। भर्तृहरिक भी कहते थे—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विष इव मदन्ध. समभव
 तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।
 यदा किञ्चित् किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं
 तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥

(नीतिशतक ८)

अर्थात् जब मैं अत्यन्त नासमझ था तब हाथीके समान मदान्ध होकर अपनेको सर्वज्ञ मानता था; किंतु जब बुधजनोके अनुग्रहसे कुछ समझने लगा, तब मुझे मालूम पड़ा कि मैं तो निरा मूर्ख ही हूँ और तब ज्वरके समान मेरा सर्वज्ञताका मद भी उतर गया ।

अध्यात्मवादियोंकी आज भी चुनौती है । सब वस्तुका ज्ञान तो दूर रहा, एक घटका भी सम्यक् ज्ञान कोई सिद्ध कर दे । वस्तुतः सत्त्वकी शुद्धतासे ज्ञानमें विशेषता आती है । उपासना एवं योगसे जितनी सत्त्वकी शुद्धता बढ़ती है, उतना ही ज्ञान बढ़ता है । सर्वातिशायी सत्त्व-शुद्धि ईश्वरकी है, अतः पूर्ण सर्वज्ञ वही है । अन्योमें सर्वज्ञताकी कल्पना होती है, वस्तुतः सर्वज्ञता नहीं होती । इसी प्रकार भूत और मानसकी प्राथमिकताकी बात भी भौतिकवादियोंकी भ्रमपूर्ण है । वस्तुतः भूतसे प्रथम अत्यन्तावाध्य स्वप्रकाश सत्का अस्तित्व ही वेदान्त सिद्धान्त है । उसे भौतिकवादी भ्रमसे मानस कहते हैं । मनको तो अद्वैतवादी वेदान्ती भी भौतिक ही मानते हैं । प्रमाणाधीन प्रमेयकी सिद्धि होती है । बोधाधीन बोध्य तथा उसके व्यवहारकी सिद्धि होती है । सत्ता एव बोध बिना सब वस्तुएँ ही अस्तित्वहीन होनेसे असत् ठहरेगी । फिर तत्स्वरूप बोध पहले कि भूत पहले ? मृत्तिका बिना घट रहता ही नहीं । घटके बाहर-भीतर मृत्तिका ही है । फिर मृत्तिका पहले या घट पहले ? इसका क्या उत्तर है ? घट न रहनेपर भी मृत्तिका उदंचनमें है ही । वैसे ही अस्तित्व एक वस्तुमें न सही दूसरी वस्तुमें बना ही रहता है । घटबुद्धि यद्यपि घटान्तरमें हो सकती है, तथापि घटमें घटबुद्धि नहीं होती; परन्तु मृदुबुद्धि सबमें ही अनुवृत्त होती है । भूत परस्पर व्यावृत्त हैं, परन्तु सत् सर्वत्र अव्यावृत्त है । अतः जैसे व्यावृत्त पुष्पोसे अनुवृत्तसूत्रको पहले ही मानना पड़ेगा उसी तरह व्यावृत्त भूतोसे पहले ही सबमें अनुवृत्त सत् तथा तत्स्वरूप बोधको मानना अनिवार्य होगा । कोई प्रयोग, प्रयोक्ता एवं प्रयोगफल भी स्वप्रकाश सत्के बिना सिद्ध नहीं हो सकते । फिर बोधके प्रथम भूतको मानना सर्वथा ही निराधार है । वस्तुतः जैसे घटानुस्यूत मृत्तिका सामान्य ही घटविशेष रूपसे उपलब्ध होता है, कटक-मुकुट आदिमें अनुस्यूत सुवर्ण सामान्य ही कटकादि सुवर्णविशेष रूपमें व्यक्त होता है, वैसे ही सर्वप्रपञ्चानुस्यूत सत्सामान्य ही सद्विशेष प्रपञ्चके रूपमें उपलब्ध होता है । अतः वही सर्वप्रथम है ।

द्वितीय परिच्छेद पाश्चात्य राजनीति यूनानका राज्यदर्शन

पाश्चात्य राजनीतिपर विचार करते समय सर्वप्रथम उसके प्राचीन यूनानी राज्यदर्शनपर विचारना पड़ता है । वहाँकी सबसे प्राचीन रचनाएँ होमरकृत महाकाव्य 'इलियड' तथा 'ओडेसी' हैं । इनका महाभारतके साथ इतना साम्य है कि सिकन्दरके सैनिकोंको भ्रम हो गया कि 'कही महाभारत होमरकी रचनाओका भारतीय संस्करण तो नहीं है ।' उक्त महाकाव्योंमें प्राप्त जीवनदर्शनके अनुसार राजाका स्वरूप सामने आता है । राजा न्यायकर्त्ता था, किंतु तभी जब कोई समस्या सार्वजनिक हितके लिये उठती अथवा कोई प्रपीडित व्यक्ति फरियाद लेकर राजद्वारपर आता । अन्यथा नरवधके मामले भी कुलपतियोंद्वारा मुलझा दिये जाते थे । राजा सैन्यशक्तिका प्रधान था । राजाकी स्थिति यद्यपि जनस्वीकृतिपर आधारित थी, फिर भी राजाका व्यक्तित्व उसके अधिकारप्रयोगमें अधिक महत्त्व रखता था ।

हेसियड अपने वर्तमानको निकृष्ट तथा अतीतको स्वर्ण-युग मानता था । उसका विश्वास था कि मानव-इतिहासका उपकाल अत्यन्त सुखमय था । क्रमशः दुःखकी वृद्धि मानववर्गमें होती गयी, जिससे स्वर्णके बाद रौप्य (चाँदी) युग आया । इसके बाद ताम्रयुग तथा अन्तमे लौहयुग आया । अपने समयको वह लौहयुग मानता था ।

प्लेटार्कने अपोलोके सात सतोंका उल्लेख किया है, किंतु अर्नस्ट वार्करके अनुसार इनमें केवल सोलन नामक सत ही ऐतिहासिक है । सोलनने सामाजिक तथा राजनैतिक जीवनमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये । उसका प्रमुख आधार न्याय एव दण्ड था । वह एक ही साथ निर्धनोका मित्र तथा धनवानोंका रक्षक था । उसका युग शोषणका युग था । उसके लिये उसने केवल वैधानिक राज्यकी ही स्थापना नहीं की, अपितु कार्यकारिणीकी अपेक्षा न्यायकी उच्चता एव राजसत्ताका आधार जनसत्तामें स्थापित किया । तथापि उसका जनतन्त्र न्यायकी सीमाके अंदर ही था । सीधे-सीधे राज्यकी नीति तथा संचालनमे जनताको कोई अधिकार नहीं था । जनता इस बातका ध्यान रख सकती थी कि 'स्वीकृत नियमों तथा परम्पराके अनुसार ही वह शासित हो रही है ।'

साफिस्टोंके पूर्व, उपर्युक्त दार्शनिकोंके अतिरिक्त, आयोनियाके भौतिकवादी दार्शनिकोंका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । वस्तुतः यूनान विपमताओंका पुञ्ज था । एक ओर गणतन्त्रीय राज्यसंघ तथा दूसरी ओर मेसेडोनियाका विशाल साम्राज्य । एक ओर हेराक्लीटसका पदार्थ-परिवर्तनवाद और दूसरी ओर परमेनाईडीजके द्वारा उसका खण्डन । ये सब विरोधी भाव साथ ही चल रहे थे ।

इसी प्रकार यूनानमें जिस समय डायनीशसका परिष्कृतरूप आरफ्यूसवाद बनकर जनप्रिय हो रहा था, उमी समय आयोनियामें उसका विरोधी पक्ष भी उपस्थित हो गया था ।

यह नवीन विचारधारा अपने उद्गम आयोनियासे पेरिक्लिस्के समयमें अनेकसागोरसद्वारा एथेन्स लायी गयी थी । इस दार्शनिक विचारकी उत्पत्तिकारण चार्करके अनुसार 'पूर्वका प्रभाव' है । हेराक्लीटसका सर्वव्यापक तत्त्व अग्नि, जल ये । जिस प्रकार उनके दर्शनमें अग्नि, जल तथा उष्ण एव शीतकी धारणाएँ थी, उसी प्रकार समाजके क्षेत्रमें वह ऊँच-नीचका विचार मानता था । वह शुष्क एव अग्निप्रधान व्यक्तिको श्रेष्ठ, गीले एव जलप्रधान व्यक्तिको नीच मानता था ।

आयोनियाके अन्य दार्शनिकोंकी भाँति पिथागोरस भी अनेक रूपात्मक जगत्में एक तत्त्वकी व्यापकता मानता था । किंतु उसका एक तत्त्व अग्नि तथा जल आदिसे अधिक सूक्ष्म 'संख्या' था । 'संख्या' के अस्तित्वमें स्थान (अवकाश) भी सम्मिलित है । इस प्रकार ससारकी प्रत्येक वस्तुका सार संख्या ही है । पिथागोरसके मतसे 'समस्त प्राणियोंकी आत्मा समान है तथा 'जन्मचक्र' से एक मनुष्यकी आत्मा अगले या पिछले जन्ममें कुत्ते, हाथी या किसी जन्तुके देहमें भी हो सकती है । 'जन्म-चक्र' से मुक्ति पानेके लिये साधना और संस्कार अपेक्षित हैं । साथ ही ज्ञानकी महत्ता सर्वाधिक है ।'

प्लेटो (अफलातून)

प्लेटोके दर्शनमें दो पक्ष हैं—आदर्श तथा वास्तविक । अपने समयके स्वरूप अध्ययन करनेके बाद वह इस निष्कर्षपर पहुँचा कि 'लोग पतनशील हैं ।' उसने एक आदर्श राज्यका चित्रण 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थमें किया, किंतु वह अमानवीय हो गया । इसके अनुसार इस आदर्शके निकट जितना ही पहुँचा जायगा उतना ही कल्याण होगा । इस प्रकार वह आदर्शवादका जन्मदाता माना जाता है । कहा जाता है कि साम्यवाद तथा फासीवादका मूल प्लेटोके दर्शनमें ही था ।

वह कहता है 'अच्छे राज्य और अच्छे नागरिकका तात्पर्य एक ही है; क्योंकि आदर्श राज्यके बिना आदर्श व्यक्ति सम्भव नहीं । इसी प्रकार आदर्श राज्य भी आदर्श व्यक्तिके बिना सम्भव नहीं । आदर्श नागरिकका विस्तृत प्रतिबिम्ब आदर्श राज्य है । वह अपने गुरु सुक्रातके वाक्य 'सद्गुण ज्ञान है' का कायल था । अतः राज्यमें वह सद्गुणका प्राधान्य मानता था । उसके युगमें तीन वर्ग थे—संरक्षक, महायुद्ध-संरक्षक तथा कृषक-वर्ग । उनको वह ज्ञान (स्वर्ण), मान (चाँदी) तथा वासना (लोहा) मानता था । उन्होंने वह शरीरकी तीन विशेषताएँ भी मानता था ।

सद्गुणी जीवनकी स्थापनाके लिये वह साम्यवादकी स्थापना करना चाहता था। साम्यवादी राज्यमें वह सामान्य सम्पत्तिका पक्षपाती था। प्लेटो ज्ञेय वास्तविक स्वरूपपर आता है, तब वैयक्तिक सम्पत्ति, परिवार-नियम-प्राधान्य कुछ अङ्गमें मानने लगता है। उसके अनुसार स्त्री-पुरुषके स्थायी (जीवनपर्यन्त) समागममे लोलुपता बढ़ती है। बालकोंकी देख-रेखका उत्तरदायित्व राज्यपर माना गया, क्योंकि आदर्श राज्यमें ही आदर्श नागरिककी स्थापना हो सकेगी। वह स्त्रियोंको घरकी सीमासे बाहर नागरिक जीवनतक ले आया। उसने उनके समानाधिकारकी स्थापना की।

उसने आदर्श स्थितिके लिये आदर्श शिक्षाकी आवश्यकता बतलायी। उसके मतानुसार '१८ वर्षतक शिक्षा, व्यायाम आवश्यक है, क्योंकि इससे धैर्य, सहनशीलता तथा मनपर प्रभाव पड़ता है। इसी बीच संगीतका भी अध्ययन होना चाहिये, क्योंकि इनके द्वारा मनपर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता तथा आत्ममयम बढ़ता है। १८ से २० वर्षतक सैनिकशिक्षा, २० से ३० वर्षतक बुद्धिगम्य विषय (गणित, तर्क, ज्योतिष), ३०—३५ वर्षतक दर्शन, ३५—५० वर्षतक समाज-सेवा तथा ५० वर्षके बाद सत्यप्राप्तिके लिये सन्यास, यही उसकी शिक्षाका क्रम था। ऐसी शिक्षासे ही व्यक्ति सद्गुणी बन सकता है।

उसकी राजनीतिका सार तत्त्व है—१-आदर्श राज्य, २-ज्ञानका प्राधान्य, ३-सद्गुणी राज्य, ४-सद्गुणी नागरिक, ५-शिक्षा और ६-साम्यवाद। वह 'न्याय' तथा 'आर्थिक' न्याय मानता था। उसके अनुसार 'व्यक्ति योग्यतानुसार कार्य करे और वह वस्तु ले जिसे वह लेनेके योग्य हो। उसे अन्य कामोंमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। न्याय जीवनका क्रम है। न्यायकी विशाल धारामें समस्त जीवन ही आ जाता है।'।

अरस्तू

यह यथार्थवादी दार्शनिक था। अपने युगके लगभग १५० सविधानोंका अध्ययन करके इसने 'पॉलिटिक्स' नामक ग्रन्थ लिखा था। इसने प्लेटोकी आगमन-पद्धतिके स्थानपर निगमन-पद्धतिको स्वीकार किया। इसके अनुसार अध्ययनके बाद आदर्शकी स्थापना करनी चाहिये। उसने राजनीतिक तथा आर्थिक दो पक्षोंसे अध्ययन कर राज्योंको छः भागोंमें बाँटा। राजतन्त्र, उच्चजनतन्त्र, लोकहिताय जनवादको वह प्राकृतरूपमें मानता था। अत्याचार, सामन्ततन्त्र तथा जनवाद (डेमोक्रेसी) को उनका विकृतरूप मानता था। इस प्रकार नियमनिर्धारण तथा सविधानोंका वर्गीकरण—ये दो देने उसकी हुई। तीसरी देने उसकी 'शक्ति-

पृथक्कीकरण है। इसके अनुसार व्यवस्थापन, शासन तथा न्याय—इन तीनोंको उसने अलग किया। ४—प्लेटोने विवेकको प्रधान माना था। यद्यपि आगे चलकर उसने भी नियमपर जोर दिया, किंतु अरस्तूने नियमका ही प्राधान्य माना है, जिनमे परम्परागत तथा नैसर्गिक नियम मुख्य है। सत्ताधारीको इनके अधीन होना चाहिये। ५—आदर्श राज्य वह है, जिसमे मध्यम मार्गीय व्यवस्था हो—न ज्यादा गरीब न ज्यादा अमीर। प्लेटोने ५०४० व्यक्तियोंके राज्यको आदर्श राज्य माना था, किंतु अरस्तूने माना कि आदर्श राज्यमें गुणात्मक तथा मात्रात्मक दोनोंका संतुलन होना चाहिये। ६—राजनीति शास्त्रको इसने धर्मसे स्वतन्त्र किया, जब कि प्लेटोने आचार-शास्त्रपर आधारित राजनीतिको ही श्रेष्ठ तथा उपयुक्त माना था। उसके अनुसार सद्गुणी नागरिकके लिये सद्गुणी शासन आवश्यक था। अरस्तूने राजनीतिकी प्रधानता दी; यद्यपि उसका भी लक्ष्य आदर्श नागरिक निर्माण ही था। वह राजनीतिको शास्त्र ही नहीं, कला भी मानता था। उसके अनुसार 'राजनीति शास्त्र' उसे कहते हैं 'जो राजनीतिक धन्वनके आधारका विश्लेषण करे।'

वैयक्तिक सम्पत्ति—अरस्तू वैयक्तिक सम्पत्तिको मानता था। उसका कहना था कि 'मेरी सम्पत्ति वह दर्पण है, जिसमें मैं अपना प्रतिबिम्ब देखता हूँ। मुझे अपना परिचय उसीमें मिलता है, जिसपर मेरा अधिकार है।' दासताको प्राकृतिक, नैतिक एवं आवश्यकता—इन तीन दृष्टिकोणोंसे वह उचित मानता था। कुछ लोग गारीरिक तथा बौद्धिक दृष्टिसे निर्बल होते हैं, यह प्राकृतिक अन्तर है। कुछ लोग उत्कृष्ट तथा निकृष्ट होते हैं, यह नैतिक अन्तर है। सामाजिक दृष्टिसे भी दाम आवश्यक हैं, क्योंकि कृषि, उद्योग तथा पुलिस दासोंद्वारा अच्छी तरह संचालित हो सकते हैं। कार्यविभाजनकी दृष्टिसे भी वह दासताको आवश्यक मानता था।

वह प्रेम तथा सामान्य हितकी भावनासे परिवारको आवश्यक मानता था। उसके अनुसार नैतिकताकी दृष्टिसे परिवार एक सर्वोत्कृष्ट पाठशाला है। पति-स्त्री पिता-पुत्रका सम्बन्ध प्राकृतिक है। व्यक्तित्व-विकाशकी दृष्टिसे परिवार एक स्तर है। आधुनिक राज्यकी कल्पना यहींसे है। शिक्षामें सावयवका सिद्धान्त वह भी मानता था।

अस्त्यतून और अरस्तूकी विचार-परम्परा इतनी दूर तक जाती है कि कुछ विद्वान्तो यहाँतक कह डालते हैं कि 'प्रत्येक मनुष्य या तो अफलातूनका अनुयायी होता है या अरस्तूका।' यदि हम इस व्यापक बातको अधिक महत्त्व न दे तो उनके कुछ विविष्ट विचारोंसे यूनानी राज्यदर्शनका निष्कर्ष सामने आता है।

अफलातून और अरस्तू दोनोंने इस बातपर जोर दिया था कि राज्य और व्यक्तिमें किसी प्रकारकी विभिन्नता न थी, दोनों एक ही थे । कुछ तार्किकोंने इसपर जोर दिया था कि 'राज्य और व्यक्तिके स्वार्थमें विभिन्नता थी' और कुछने इस बातपर कि 'राज्यकी उत्पत्ति समझौताद्वारा हुई थी ।' अफलातूनने प्रथम पक्षके तार्किकोंको यह उत्तर दिया था कि राज्य व्यक्तिका बृहत्तम रूप था और व्यक्ति राज्यका सूक्ष्मरूप । इस प्रकार दोनोंके स्वार्थमें किसीका विरोध न था । अरस्तूने दूसरे वर्गके तार्किकोंको यह उत्तर दिया कि 'राज्य एक प्राकृतिक सस्था है, जिसका सावयवीकी भाँति क्रमशः विकास हुआ है ।' दोनों विचारक राज्यकी आवश्यकताको स्वीकार करते थे । अरस्तूके मतानुकूल यदि कोई व्यक्ति राज्यके बिना रह सकता था, तो वह या तो देवता था या दानव । अफलातूनके विचारोंमें नीतिशास्त्रोंकी प्रधानता थी । अरस्तू अफलातूनकी भाँति क्रान्तकारी नहीं था । उसके राज्यमें राजनीति, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र—तीनोंका समन्वय इस प्रकार किया गया था कि मनुष्य सुखमय जीवनको प्राप्त कर सके ।

यूनानी विचारकोंने मध्यवर्ती मार्गका प्रतिपादन बड़े प्रभावशाली ढंगसे किया था । इसका आरम्भ डेलफीकी देववाणियोंसे हुआ और सोलनके सुधारोंमें यह कार्यरूपमें परिणत किया गया । अरस्तू और अफलातूनने भी इस सिद्धान्तका अनुसरण किया । अफलातून और अरस्तू दोनों अपने समयके राज्योंसे सतुष्ट न थे । अतः उन्होंने ऐसे राज्योंका चित्रण किया, जिनके अनुरूप वे वास्तविक राज्योंको परिवर्तित करना चाहते थे । संरक्षकोंको निःस्वार्थसेवामें रत रखनेके लिये अफलातूनने आर्थिक और सामाजिक साम्यवादके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया था । अरस्तू इसका विरोधी था । उसके मतसे 'मानसिक विकार, मानसिक ओपधियों-द्वारा ही दूर किये जा सकते हैं ।' दोनोंही ग्रीकोंको राज्यके अधीन मानते थे । इस्टोइक दार्शनिकोंने समस्त मनुष्योंकी समानताके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया था । यूनानी विचारक मनुष्यकी स्वतन्त्रताके समर्थक थे ।

राजनीतिक विचारोंमें रोमकी प्रमुख देन कानून है । उसका प्रभाव आज भी समस्त यूरोपपर छाया हुआ है । यूनानियोंका राजनीतिक आदर्श व्यक्ति और राष्ट्रकी स्वतन्त्रताका आदर्श था । रोमन लोगोंने स्वतन्त्रताके स्थानपर व्यवस्थाके आदर्शको अपनाया । यूनानी लोग नगर-राज्योंकी ही सरकारोंसे परिचित थे । उनमें शासकों और शासितोंका सम्पर्क था । इसके विपरीत रोमने एक विशाल साम्राज्यका निर्माण करके वहाँसे उसका शासन-संचालन किया । यूनानियोंका दृष्टिकोण नगर-राज्योंकी सीमासे परिमित होनेके कारण संकुचित था । रोमन लोगोंने ससारके एक बड़े भागकी राजनीतिक एकता स्थापित करके लोगोंके हृदयमें यह धारणा उत्पन्न कर दी थी कि समस्त ससारको एक ही सूत्रमें बाँधा जा सकता है ।

मध्य युग

रोमन साम्राज्यके पश्चात् यूरोपीय इतिहासका मध्य-काल आरम्भ होता है। इसके दो भाग किये जाते हैं, पूर्वार्ध (अधकार-युग) और उत्तरार्ध। पूर्वार्धमें रोमन लोगोंद्वारा निर्मित सड़कोकी इतिश्री हो गयी थी। यूनानी और रोमन सभ्यताका अन्त-सा हो गया था। लोगोंमें आतङ्क छाया था। क्रमवद्ध राजनीतिक विचारनष्ट-से हो गये थे। सस्कृति और धर्मका भ्रष्ट स्वरूप सामने प्रस्तुत किया जा रहा था। ईसाइयोंका एक सम्प्रदाय बन चुका था। सारी उन्नति, आदर तथा सौहार्द सम्प्रदायतक ही सीमित था। परिणामस्वरूप धर्मसत्ता और राजसत्ताका संघर्ष प्रारम्भ हो गया। धर्म और सस्कृतिका वास्तविक स्वरूप न होनेसे राजसत्ता निरङ्कुश होकर आगे बढ़ी।

तेरहवीं शताब्दीमें धार्मिक सत्ता पराकाष्ठाको पहुँच गयी थी। चौदहवीं शताब्दीके आरम्भमें उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। राज्याधिकारियोंने पोपकी प्रधानताको अमनस्कतासे स्वीकार किया था। पोपोंने आत्मदलके अभावमें अपना नाग स्वयं किया। सम्पत्तिके कारण तथा समयके अभावमें उनमें विलासिताका प्रादुर्भाव हुआ। अरस्तुका बढ़ता हुआ प्रभाव भी धार्मिकताकी प्रधानताके विरुद्ध था। विवेक, बुद्धि तथा आत्मप्रेरणाकी उत्पत्तिसे धार्मिक विश्वास नष्ट हुए। राष्ट्रिय भावनाके उदयका प्रभाव भी धार्मिक सत्ताकी प्रधानताके प्रतिकूल तथा राजकीय सत्ताकी प्रधानताके अनुकूल था। फ्रांसके धर्माधिकारियोंतकने धार्मिक भावनाकी अपेक्षा राष्ट्रिय भावनाको उच्चतर समझा और पोपके आदेशोंकी अवज्ञा करके राजाका साथ देने लगे। स्वयं ईसाईसमूहमें कुछ ऐसे लोग थे जो पोपके अनियन्त्रित सत्ताके विरोधी हो गये थे। परिणाम यह हुआ कि राजनीतिपरसे धर्मका अङ्कुश समाप्त हो गया और धर्मविहीन लौकिक राजनीतिका उदय हुआ। इस लौकिक राजनीतिका स्वरूप-निर्धारण मेकियाविली जैसे कूटनीतिज्ञके हाथसे हुआ। मेकियाविलीके युगमें विद्याका पुनर्जन्म तथा धार्मिक सुधारोंका प्रचार था। उसने पहले ही पक्षको ग्रहण किया। पुनर्जागरणके भी दो पक्ष होते हैं—एक स्वार्थवादी, जिसमें ईर्ष्या, स्पर्धा, स्वार्थइत्यादिका प्राधान्य रहता है और दूसरा मानवतावादी, जिसमें सहिष्णुता, प्रेम और सहयोगका प्राधान्य रहता है। मेकियाविलीनेइसके भी प्रथम पक्षको ही ग्रहण किया, क्योंकि उसके अनुसार 'मनुष्य स्वभावतः कृतघ्न, सनकी, धोखेवाज, भीरु और लालची होता है। वह स्वार्थमयी इच्छाओंकी पूर्तिके लिये सतत प्रयत्नशील रहता है। उसे उसकी पूर्तिमें धर्म, अधर्म, नीति, अनिती किसीका विचार नहीं रहता। प्रेमका बन्धन नभीतक स्थिर रहता है, जबतक उससे स्वार्थकी पूर्ति होती है।' अरस्तूके विपरीत उमरका कहना था कि 'मनुष्य सामाजिक जीवनमें नीच प्रकृतिका होता है। अपने स्वार्थोंकी पूर्तिके लिये ही वह सामाजिक समझौतोंका प्रयोग करता है।'।

मध्ययुगमें राजनीति और धर्ममें एकता थी। मेकियाविलीने उन दोनोंको अलग किया। धर्मके विषयमें उसका कहना था—‘हमारे धर्मके अनुसार परमानन्द विनम्रता, तुच्छता और सामारिक विरक्ततामें मिलती है। उनके स्थानपर रोमनचर्चन आत्माकी ज्ञान-शौकत, गरीबकी शक्ति और उन वानोंपर अविक जोर दिया है, जो कि मनुष्यको दुर्बल बना देती हैं।’ उसके अनुसार ‘राज्यको धर्मकी आवश्यकता थी, किंतु इसी रूपमें कि वह राज्यके उद्देश्यकी पूर्ति करता रहे।’ उसका कहना था कि ‘राजनीति और धर्मका पृथक्करण मनुष्यके स्वाभाविक जीवनके अनुकूल है।’ उसके अनुसार ‘ममज्ञ और तन्निर्भर राजाकी उत्पत्ति स्वार्थके भावनार्थ हुई है।’ उसका कहना था—‘वह राज्य जो स्थायित्वके आधारपर समर्थित होता है, पतनोन्मुख हुए बिना नहीं रह सकता।’ राजाको उसने मलाह दी कि ‘वह पुरुषार्थमें शेर और चालाकीमें लोमड़ीकी तरह व्यवहार करे।’ यद्यपि मेकियाविलीकी निन्दा उस समय लोगोंने की, किंतु समस्त यूरोपकी राजनीति उसके परामर्शानुसार ही संचालित होती रही।

इसके बाद धार्मिक सुधारका युग आता है। मार्टिन लूथर तथा काल्विन इसके प्रमुख विचारक थे। इन्होंने नैतिकताकी स्थापना की, चेष्टा की, किंतु सुधारका जो सबसे प्रमुख दोष होता है वह इनमें भी आया। सुधारवाद परिस्थिति सापेक्ष हुआ करता है, परिस्थितियोंके अनुसार उनमें परिवर्तन होते हैं; अतएव उसमें एकात्मकता कभी नहीं आती। लूथर और काल्विन दोनों ही लौकिक राजनीतिको नहीं चाहते थे, किंतु उनके अनुयायी आगे चलकर लौकिक राजनीतिके प्रतिष्ठापक बने। कारण यह था कि ‘विचार-विशेषके विपरीत आचरण करनेवाले राज्य’ का इन्होंने खण्डन किया था। फल यह हुआ कि इनका राजशक्तिसे संघर्ष हो गया। तब इन्होंने राजशक्तिको देवीसिद्धान्तमें नीचे ले आनेवाले सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। इसमें स्वभावतः लौकिक राजनीतिका प्रतिपादन हो गया।

ज्ञानबोदाने राज्यकी आन्तरिक प्रभुताकी स्थापना की। बाह्य प्रभुताका स्पष्टीकरण ग्रीकमके द्वारा हुआ। राजनीतिशास्त्रकी गतिमें इसने मध्ययुगीन तथा आगामी प्रवृत्तियोंका समन्वय करना चाहा। परिणाम यह हुआ कि इसमें स्वभावतः विरोध हो गया, फिर भी उसने राजनीतिशास्त्रके विकासमें बड़ा योग दिया। उसने जो कुछ कहा स्पष्ट तथा तर्कपूर्ण ढंगसे कहा। इससे वह एक शुद्ध राजनीतिक विचार कहा जा सका। किंतु अन्तिम समयमें ‘पालिटिक’ में काम करनेके कारण दलीय राजनीतिको भी उसने दार्शनिक रूप देना चाहा। फलतः इनमें ‘वदतोव्याघात’ उत्पन्न हो गया।

उसने इतिहासका विकासवादी सिद्धान्त सामने रक्खा। इसके पूर्व यह विश्वास था कि मनुष्य स्वर्णयुगसे पतनकी ओर अग्रसर हो रहा है। उसने

राजनीतिक विचारकी स्थापनामें इतिहासको आधार माना । न्याय तथा नैतिक नियम (मेक्रियाविलीसे भिन्न) को राजनीतिका मूलतत्त्व स्वीकार किया । 'प्राकृतिक नियम' प्रत्येक सम्बन्धोके आधार हैं । इन्हे उसने नैतिक नियमोंसे अभिन्न बताया और सर्वशक्तिमान् 'प्रभु' को भी इन नियमोंके अधीन माना । राज्यके उद्देश्यमें इन्हीं नैतिक नियमोंको स्वीकार किया । इसी नैतिक नियम तथा प्राकृतिक नियमकी प्रधानतामें आधुनिक व्यक्तिवादकी नींव थी । साथ ही उसकी प्रभुता नागरिकोंके ऊपर सर्वसत्तासम्पन्न नहीं थी, अपितु नैतिक, प्राकृतिक तथा कौटुम्बिक नियमोंसे बाध्य थी ।

उसने राज्य और सरकारका भेद सामने रखा । राज्य-प्रभुता राज्यकी विशेषता थी; किंतु उसका प्रयोग सरकारके द्वारा ही सम्भव माना । उसने सरकारके भेदोंका वर्णन किया । इतना सब होते हुए भी वह 'प्रयोगवादी' था । इसी आधारपर उसने राजनीति और इतिहासका गँठबन्धन किया । इस गँठबन्धनमें उसने नक्षत्र-विज्ञानका भी माध्यम लिया । फ्रांसकी धार्मिक असहिष्णुतामें उसने धार्मिक सहिष्णुताका बीजारोपण किया । कुटुम्बको राज्यका आधार माना और कुटुम्बका आधार अर्थको । इसीलिये उसने वैयक्तिक सम्पत्तिको मूलधिकारके रूपमें स्वीकार किया, जो आजके व्यक्तिवादकी रीढ़ है । उसने 'प्रभुसत्ता' को धर्मसे अलग किया और उस प्रभुसत्ताको राज्यसे ऊपर माना । धर्म, अर्थ, सघटन इत्यादि सबको राज्यके अंदर माना, साथ ही प्रभुसत्ताको कुटुम्बसे बाधित भी । जब उसने यह स्वीकार कर लिया कि नैतिक तथा प्राकृतिक नियमोंका व्याख्याता व्यक्ति है, तब तो उसकी प्रभुता व्यक्तिके नीचे आ गयी । इनमें अमंगलितियाँ अत्यन्त स्पष्ट हैं ।

आल्थूसियस—अपने पूर्वविचारकोसे भी अधिक-सेक्युलर (लोकायत) था । वह जनताकी प्रभुसत्ताका दार्शनिक था । वह राज्यको एक क्रममें मानता था—अर्थात् कुटुम्ब, कारपोरेसन, कम्यून प्रान्त और उसके बाद राज्य; यह क्रम था । राज्यके बाद कुटुम्ब अधिक महत्त्व रखता था । पूर्ण ढाँचा लौकिक तथा स्पष्ट था । प्रत्येक क्रमके विकासका मूल (समझौता) था । उसने राज्यको जनताका सेवक माना । उसकी रायमें 'राज्यकी शक्ति सापेक्षमूलक थी । जनताने उसे कुछ कार्य दिये हैं, जिसे करना उसका कर्तव्य था । जनता किसी प्रकारसे बद्ध नहीं थी । शासक केवल मजिस्ट्रेटके रूपमें था । उसका अधिकार यदि कुछ था तो समझौतेसे ट्रस्टीके समान ही ।' इसकी राजनीति-विश्लेषणकी सर्वप्रमुख विशेषता 'लौकिक-राजनीतिकी स्पष्ट स्थापना' थी ।

ग्रोस—(१५८३—१६४५) अन्तराष्ट्रिय नियमका जन्मदाता था । सोलहवीं शताब्दी राजनीतिकी दृष्टिसे यदि फ्रांसकी थी तो मध्यही शताब्दी इंग्लैंडकी । ग्रोसकी

पृष्ठभूमि वह युग था, जिसमें यूरोप अनेक धार्मिक मतमतान्तरोंमें विभक्त हो गया था। व्यवहारमें वह मेकियावेलीसे पूर्ण प्रभावित था। फिर भी वह मानवतावादी कहा जाता है। उसके अनुसार युगकी उद्विग्नताका कारण यह था कि 'मनुष्यने अपने सम्बन्धों, व्यवहारोंसे अध्यात्मवादको निकाल दिया था। उसने कहा कि 'पोंप एक ऐसी तृतीय शक्ति थी जो कि नैतिकताका निर्माण करती थी। उसकी समाप्तिकी शून्यताको 'लौकिक नीति' पूर्ण कर रही है, अतएव अनैतिकताका विकास भी प्रारम्भ है। वस्तुतः उस शून्यको अन्ताराष्ट्रिय नियमोंसे ही पूर्ण करना चाहिये। धार्मिक मतोंकी विभिन्नता तथा परस्पर विरोधके कारण प्राकृतिक नियमका एक स्तर नहीं रह गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वह समाप्त ही हो गया।'।

इन मतमतान्तरोंसे बचनेके लिये ग्रीशसने ईसा-पूर्व युगमें अपने विचारोंका मूल रखा; क्योंकि उसके अनुसार वर्तमान एकताका सूत्र था। उसने अरस्तूके विचारोंका 'पुनर्जागरण काल' की विशेषताओंके प्रकाशमें विश्लेषण किया। प्रमाणस्वरूप अरस्तूने कहा था कि 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है।' ग्रीशसके अनुसार यही प्राकृतिक नियमकी माँ है, क्योंकि जब वह एक साथ रहना चाहता है तो निश्चय ही प्राकृतिक नियमसे प्रभावित होगा और वह मनुष्य स्वभाव समझौता करनेके लिये बाध्य करेगा। यह समझौता सिविल लाकी उत्पत्तिका कारण होगा।

मनुष्य स्वभावसे विवेकी है, इसीलिये वह समझौतेका आदर करता है। यह किसी भी शक्तिसे परिवर्तित नहीं हो सकता, क्योंकि यह प्रकृतिपर आधारित है। इसी प्राकृतिक नियमसे अन्ताराष्ट्रिय नियमका विकास होता है। मनुष्य स्वभावसे श्रद्धा, न्याय, आदर इत्यादिका पालक है। उसके दैनिक कार्यक्रम कुछ समझौतोंपर व्यतीत होते हैं, जो कि प्राकृतिक हैं। हम दूसरोंका विश्वास करते हैं, सत्य बोलते हैं, यह सब उपयोगिताके कारण नहीं, बल्कि यह हमारा स्वभाव है। मसारमें प्रबल, निर्बल दोनोंकी सत्ता है। ऐसा इसलिये कि हम प्राकृतिक नियमका पालन करते हैं।

अन्ताराष्ट्रिय जगत्में श्रद्धा, विश्वासका प्रयोग होता है, यही अन्ताराष्ट्रिय नियमके आधार हैं। यहाँतक कि युद्धके समयमें भी कुछ नियम उभरते हैं: मान्य होते हैं। ग्रीशसका यह आन्तरिक विश्लेषण हाब्स, लाक तथा रूसो इत्यादि दार्शनिकोंके विश्लेषणका मूल आधार बना, क्योंकि वे सब पहले प्राकृतिक स्थितिका विवेचन प्रस्तुत करते हैं और पुनः उसीके आधारपर अपने सारे दर्शनकी आधारभित्ति निश्चित करते हैं।

आधुनिक विचार-धारा

राज्यका जन्म और सामाजिक अनुबन्ध

कहा जाता है कि 'सर्वप्रथम समझौता-सिद्धान्त' या 'अनुबन्ध-वाद' ही राजनीतिक सिद्धान्त था। इसीको 'सोशल कॉन्ट्राक्ट थ्योरी' कहा जाता है। प्रजाने परस्पर समझौतेसे एक व्यक्तिको अपने सब अधिकारोंको शपथपूर्वक अर्पित किया। सामन्तो और किसानोंका, सामन्तो तथा राजाओंका एव राजाओं और सम्राट्का सम्बन्ध समझौतेपर आश्रित था। राजा अपने सामन्तो एव प्रजाके सम्मुख सच्चरित्रता, न्याय-परायणताकी शपथ लेता था। यह परम्परा अब भी है। १३ वीं शतीके एकानसका कहना था कि 'राज्यका जन्म-अधिकार एवं संचालन समझौते या अनुबन्धोपर आश्रित है। प्रथम अनुबन्धसे ईश्वरने राजसत्ता या राज्यकी स्थापना की। द्वितीय अनुबन्धद्वारा जनताने राज्यका वैधानिकरूप निर्धारित किया। तीसरे अनुबन्धद्वारा राजाकी सत्ताको जन-इच्छापर आश्रित किया गया। यदि राजा इन अनुबन्धोंका उल्लङ्घन करे, तो जनता उसे सिंहासनच्युत करके दूसरा राजा बना सकती है। मुव्वयस्थाकी स्थापना ही राजाका मुख्य कार्य है। समाज सर्वोपरि है, शासन परिवर्तनीय।' यह विचारधारा मध्य-युगकी है। कहा जाता है कि सोलहवीं शतीतक धर्मकी प्रधानता थी; अतः राज्यशासन भी धर्ममिश्रित था। राजा देवाश है, यह सिद्धान्त प्रचलित था। १६ वीं शतीमें यूरोपमें दो धार्मिक सम्प्रदाय बने—एक परम्परावादी रोमन कैथोलिक और दूसरा प्रोटेस्टेण्ट। प्रोटेस्टेण्टमें प्यूरिटन, प्रेसबिटेरियन, ह्यूगेनोज आदि कई उपसम्प्रदाय बने। फ्रांसके ३६ वर्षव्यापी गृहयुद्धमें एक पक्ष था रोमन कैथोलिक पादरियो एव सामन्तोंका और दूसरा ह्यूगेनोज व्यापारियो एवं कुछ सामन्तोंका। पहला पक्ष राजभक्तिका उपदेश देता था और दूसरा राज्योत्पत्तिका श्रेय अनुबन्धोंको देता था। उसके अनुसार राजाकी सत्ता निरपेक्ष नहीं, किंतु अनुबन्धोपर आश्रित है।

१७ वीं शतीमें ब्रिटेनमें गृहयुद्ध चला। इसमें एक पक्ष था निरपेक्ष राजतन्त्रीय लोगोंका और दूसरा संसद्-वादियोंका। पहला पक्ष राजाको ईश्वरका प्रतिनिधि मानता था। स्टूर्मर्ट नरेश जेम्स प्रथम इस सिद्धान्तका प्रसिद्ध दार्शनिक था। उसका एव उसके पुत्र चार्ल्स प्रथमका कहना था कि 'देवी प्रतिनिधि होनेके कारण राजाका प्रजाके जान-मालपर पूर्ण अधिकार है।' संसद्-वादी पक्षमें व्यापारियों एवं मध्यम-वर्गका बहुमत था। यह पक्ष राजाकी सीमित सत्ता मानता था। राजा लौकिक नियमों एव संसदीय नियमोंका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। जनताकी परोक्ष या प्रत्यक्ष अनुमति बिना राजा कानिसे कार्य कर नहीं लगा सकता। ये लोग 'ह्यूगेनोज' के अनुबन्धोंको

अशतः आधार मानने थे । उपर्युक्त पञ्चमे अनुबन्धको धर्मने स्वतन्त्र नहीं माना गया, परन्तु 'हॉव्स ने अनुबन्धवादको धर्मने विमुक्त कर उसे राज्याधीन रूप दिया । 'लॉक' एवं 'रूमो' ने भी इसी सिद्धान्तको विभिन्न दृष्टिसे गौने अपनाया । हॉव्सने निरपेक्ष राजतन्त्र, लॉकने सीमित राजतन्त्र और रूमोने प्रत्यक्ष जनवादको न्यायसंगत बताया ।

जामस हॉव्स (१५८८-१६७९) ब्रिटेनके गृहयुद्धकाल (१६४२-४९) का दार्शनिक था । कहा जाता है कि इसकी मताने भयभीत होकर समयमें पहले उसे जन्म दिया था, इसलिए वह भयसे अत्यधिक प्रभावित रहता था । १६४० में इंग्लैंडकी दीर्घ संसदकी बैठकके समय ब्रिटेनसे भागनेवालोंमें वह सर्वप्रथम व्यक्ति था । उस समय वहाँ राज्यनियम, राजसत्ता, नागरिकता सम्बन्धी विभिन्न विचार-धाराएँ प्रचलित थीं । राजसत्ताका प्रश्न मुख्य था । स्टुअर्ट आदिके मतानुसार 'गजा ईश्वरके प्रति उत्तरदायी है, नागरिकोंके प्रति नहीं' वह विचार राजाको निरपेक्ष सत्ताधारी बनाना है । संसदवादियोंके मतानुसार 'राजसत्ता और राजा संसदमें निहित है । राजाकी सत्ता सीमित है ।' दार्शनिकोंके अनुसार नैसर्गिक नियम सर्वोपरि है । कोई भी संस्था उसका लङ्घन नहीं कर सकती । जनतन्त्रवादियोंका कहना था कि 'आज्ञापालन अनुबन्धके प्रालम्भ आश्रित है । राज्यका जन्म अनुबन्धके द्वारा हुआ है । यदि राजा अनुबन्धका लङ्घन करे तो नागरिक राज्यका विरोध कर सकते हैं ।' कैथोलिकों और काल्विनियोंके अनुसार 'धर्म सर्वश्रेष्ठ है, राज्य उसके अधीन है ।' ये ही मतभेद गृहयुद्धकी पृष्ठभूमिमें थे । हॉव्सने अपने कालके सर्वश्रेष्ठ प्रश्न 'राजसत्ता कहाँ निहित है' का उत्तर दिया था । हॉव्स मुख्यव्यवस्थाको परमावश्यक समझता था । चाहे वह नगरद्वारा स्थापित हो, चाहे कामवेल (१५९९-१६५८)-जैसे ग्रामद्वारा । राज्यके पूर्वकी स्थितिको 'प्राकृतिक स्थिति' (दि स्टेट आफ नेचर) कहते हैं । जब कोई डजन खराब हो जाता है तो मिस्त्री उसके कलपुर्जेको पृथक् करता है । इस क्रमसे उसे डजिनकी खराबी मात्रम पड़ जाती है । खराबी दूर कर फिर वह कलपुर्जेको जोड़ता है । हॉव्सका कहना था कि 'मनुष्य समाज और मकानमें रहते हुए भी सन्दूकमें ताला क्यों लगाता है ? गौने समय दरवाजा क्यों बंद करता है ? इसका स्पष्ट अर्थ है कि मनुष्य एक दूसरेके प्रति विश्वास नहीं रखता । फिर जब राज्यव्यवस्थामें यह हालत है तब प्राकृतिक स्थितिमें तो कहना ही क्या ?' वह मनुष्यको स्वभावसे स्वाधीन मानता था । मनुष्य सत्ताधारी शक्तिके द्वारा ही सहयोगी बनकर रह सकता है । इसलिए प्राकृतिक स्थितिमें मनुष्य अलग-अलग ही रहते थे । उस समय न कोई व्यवस्था थी, न कोई सत्ताधारी था ।

दृष्टिसे कमजोर रहता था तो वह शारीरिक कमजोरीको मस्तिष्कशक्तिसे पूरा कर लेता था । अतः प्राकृतिक स्थितिमें व्यक्तियोंकी समानता थी । स्वार्थपूर्ति ही उनका लक्ष्य था । सहयोगका उनमें कोई स्थान नहीं था । स्पर्धा ही स्वार्थपूर्तिका साधन था । सघर्षद्वारा ही आधिपत्य जमाया जाता था । दूसरोद्वारा अपनी कीर्ति स्वीकृत करायी जाती थी । यदि प्राकृतिक स्थितिमें समानता न होती तो अवश्य ही एक दूसरेपर आधिपत्य जमा सकते । कोई अपनी कीर्ति दूसरोसे स्वीकृत नहीं करा सकता था । सभी स्वार्थपूर्तिके सघर्षमें लगे रहते थे । भौतिकशास्त्र एवं जीवशास्त्रकी खोजको भी समाजशास्त्रपर लागू किया जाता था । गैलिलियो और केप्लरने नक्षत्रोंकी गतिविधि सम्बन्धी खोज की थी । हर्वेने रक्तसंचरणके विषयमें खोज किया था । हॉव्सने समाजशास्त्रीय गतिविधिकी खोज की । उसने मानवजीवनकी गतिविधिको वैसा व्यापक बताया जैसे नक्षत्रों तथा प्राणियोंके रक्तकी । हॉव्सके अनुसार 'सघर्षगति ही मानव-जीवनका सार है । जैसे नक्षत्र-गतिविधिकी अनुपस्थितिमें विश्वका संहार होता है और रक्तगति बिना मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है, वैसे ही सघर्षके बिना भी मृत्यु हो जाती है ।' उसने इस गतिका लक्ष्य स्वास्थ्यपूर्ति एवं कीर्तिवृद्धि ही बताया ।

‘इस तरह प्रकृतिकी स्थितिमें सब युद्धरत ही थे । यह एक युद्धकी स्थिति थी । उम समय व्यक्तिगत सम्पत्ति, संस्कृति, विद्या, कला, विज्ञान, आयात-निर्यात, विश्व-ज्ञान, समय ज्ञान, कुछ भी सम्भव नहीं थे । नैतिकता-अनैतिकता, भलाई-बुराई, वैध-अवैधका कुछ भी ज्ञान नहीं था । लोगोको हत्याका भय सदा बना रहता था । जीवन एकाकी, निर्धन, जगली, घृणित एवं क्षणिक था, अर्थात् वह प्राकृतिक स्थिति मात्स्यन्यायकी थी । ‘जिसकी लाठी उसकी भैंस’ का सिद्धान्त लागू था ।’ हॉव्सके विश्वासानुसार ‘मनुष्य एक प्रेरणाप्रभावित प्राणी है । प्रेरणा ही प्राकृतिक स्थितिकी कारण थी ।’ साथ ही वह यह भी कहता है कि ‘मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है’ केवल प्रेरणाकी कठपुतली नहीं है । इस भीषण दशामें पहुँचकर मनुष्यने विवेकका उपयोग किया और उसे नैसर्गिक नियमोंका भान हुआ । ये नियम ईश्वराज्ञा-तुल्य होते हैं । उनका पालन व्यक्तियोंके लिये अनिवार्य है ।’ वैसे तो १९ नैसर्गिक नियमोंको उसने गिनाया, फिर भी तीनको मुख्य मानता था । प्रथम—मनुष्यको शान्तिस्थापनाका प्रयत्न करना चाहिये । दूसरा यह कि जब अन्य व्यक्ति भी राजी हो तो प्रत्येक व्यक्तिकी शान्ति-स्थापना और व्यक्तिगत सुरक्षाके लिये अपने सब अधिकारोंके त्यागके लिये प्रस्तुत रहना चाहिये । और तीसरा यह कि प्रत्येक व्यक्तिको समझौता (इकरार-नामा) मानना चाहिये ।

प्राकृतिक स्थितिमें उद्भूत मनुष्योंने विवेकसे इन तीन नैसर्गिक नियमों-

द्वारा असह्य स्थितिसे मुक्त होनेका प्रयत्न किया। प्रेरणाका परित्यागकर विवेकको मनुष्योने मार्गदर्शक बनाया। फलतः एकत्रित होकर एक समझौता किया और प्रत्येक व्यक्तिने शपथ दुहरायी कि यदि आपलोग अपने अधिकारोको इसी भाँति समर्पित करनेके लिये प्रस्तुत हैं तो मैं भी अपने अधिकारोको इस व्यक्ति या व्यक्ति-समूहको समर्पित करता हूँ।' इस शपथद्वारा प्राकृतिक स्थितिका अन्त हुआ और समाज तथा राज्यका जन्म हुआ। मानव इतिहासका एक नया अध्याय आरम्भ हुआ और एक व्यक्ति राजा हुआ। बहुसंख्यक लोगोने समझौतेमें भाग लिया। यदि कुछ अल्पसंख्यक लोगोने प्राकृतिक स्थितिमें ही रहनेका इष्ट किया तो उन्हें दण्ड मिलना अनुचित नहीं था। हाव्सके मतानुसार 'राजसत्ताधारी राजासे शपथ नहीं लिवायी गयी। व्यक्तियोंने ही शपथपूर्वक अपना अधिकार समर्पण किया। 'मरता क्या न करता' के सिद्धान्तानुसार प्राकृतिक स्थितिके मनुष्योने भी गर्तहीन अधिकारोका त्याग किया। हाव्स इस सत्ताधारी व्यक्तिको 'दीर्घकाय' (मानवदेव) कहता है। दीर्घकाय (लेवियाथन) ही उसकी पुस्तकका नाम है। जैसे पीड़ित लोग देवताके सामने शपथ लेते हैं, वैसे ही प्राकृतिक स्थितिसे पीड़ित व्यक्तियोने मानवदेवके सामने शपथ ली। जैसे देवता कोई शपथ नहीं लेता वैसे ही मानवदेवने भी शपथ नहीं ली। अतः यह पूर्ण स्वतन्त्र एवं स्वेच्छाचारी बना। हाव्सकी पुस्तकके मुख-पृष्ठपर बने चित्रमें दीर्घकायका शरीर छोटे-छोटे मनुष्योके शरीरोसे घिरा है। इससे विदित होता है कि यह सबका प्रतिनिधित्व करता है। उसके एक हाथमें तलवार, दूसरेमें धर्मशास्त्र—राजकीय शक्ति एवं धर्मरक्षाका प्रतीक है। दीर्घकाय मात्स्यन्याय और सभ्यताके मध्यकी दीवार है। वह समाज तथा राज्य दोनोंका ही प्रतीक है।'

वस्तुतः भारतीय शास्त्रोमें वर्णित मात्स्यन्याय एवं तदनन्तर स्थापित राजतन्त्रका ही यह अनुकरण है। इतना भेद अवश्य है कि भारतीय दृष्टिसे मात्स्यन्यायके पहले सभी व्यक्तियोमें सत्त्वगुणकी प्रधानता थी। सभी धार्मिक एवं ईश्वरवादी थे। सभी प्राणिमात्रको ईश्वरका पुत्र समझते थे। सभी सबके साथ समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताका व्यवहार करते थे। कोई अपराधी शोषक था ही नहीं। इसलिये राजा, राज्य एवं दण्ड-विधान आदि अनावश्यक थे। धर्मनियन्त्रित जनता आपसमें ही सब काम चला लेती थी। जब उसमें सत्त्वका हास हुआ, तमोगुण, रजोगुण बढ़ा, धर्म घटा, अधर्मका विस्तार हुआ, तब मात्स्यन्याय फैला। तब प्रजाने पीड़ित होकर ईश्वरसे प्रार्थना कर उसके अनुग्रहसे चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम आदि लोकपालोंके गुणों तथा अशोसे युक्त राजाको प्राप्त किया और उसे विविध प्रकारसे सम्मानित किया।

महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति । (मनु० ७।८)

इत्यादि रूपसे भारतीय शास्त्रोमें राजाका महत्त्व गाया गया है।

हाव्सने राज्यका जन्म ईश्वरद्वारा न मानकर समझौतेद्वारा बताया। राजा निरपेक्ष अवश्य था; परंतु दैवी सिद्धान्तके अनुसार नहीं। संसदीय सिद्धान्तानुसार उसने राज और राजसत्ताको विभक्त नहीं माना। उसके अनुसार नैसर्गिक और लौकिक नियम राज्यकी तलवार बिना शब्दमात्र रह जाते हैं, अतः दीर्घकायकी घोषणाएँ ही नियम हैं। जब जनताने ही अनुबन्धद्वारा अपने अधिकार राज्यको समर्पित कर दिये, तब जनताको विरोध करनेका अधिकार कहाँ रहा? वह अपने अधिकारोंसे च्युत हो चुकी, धर्मका भी रक्षक वही है। इस तरह हाव्सने उस समयके गृहयुद्धकी पृष्ठभूमिमें स्थित विविध विचार-धाराओंका उत्तर दिया; परंतु धार्मिक, नैसर्गिक, लौकिक, किन्हीं नियमोंसे नियन्त्रित न होनेसे वह दीर्घकाय राजा मानवदेव न होकर दानव ही बन जायगा। इसीलिये भारतीय शास्त्रोंने उसे धार्मिक नियमोंसे नियन्त्रित रहना आवश्यक बताया। जैसे बिना नकेलका ऊँट, बिना लगामका घोड़ा, बिना ब्रेककी साइकिल या मोटर खतरनाक होते हैं, वैसे ही अनियन्त्रित शासक सत्ताके लिये अभिशाप होता है। जो जनता किसीको अधिकार दे सकती है, वह उद्देश्य पूरा न होनेपर उसे अधिकारसे पदच्युत भी कर सकती है। इसीलिये वेन-जैसे उद्दण्ड शासकोंको जनताने पदच्युत कर दिया था। हाव्सने राज्यको 'निरपेक्ष संस्था' कहा अर्थात् बाह्य नीति या संस्थाका उसपर प्रतिबन्ध नही होता। उसके मतानुसार 'किसी प्राकृतिक स्थितिके व्यक्तियों-जैसा राज्योंका असहयोग एवं स्पर्धापूर्ण सम्बन्ध रहता है। उसी तरह किसी व्यक्ति, समूह या किसी नियमद्वारा भी राज्यसत्ता सीमित नहीं होती।'

सङ्घोंके सम्बन्धमें भी उसका कहना है कि 'सङ्घ प्राकृतिक मनुष्योंकी अँतड़ियोंमें कीड़ोंके समान थे। राज्योत्पत्तिसे प्राकृतिक मनुष्योंका अन्त हो गया। नये नागरिकोंका जन्म हुआ। स्वभावतः प्राकृतिक मनुष्योंके अँतड़ियोंके कीड़ों (सङ्घों) का भी अन्त हो गया अर्थात् राज्यमें कोई स्वतन्त्र सङ्घ सम्भव नहीं रहा। फिर उनके द्वारा सत्ता कैसे सीमित हो सकती है? दैवी नियम, धर्म, नैसर्गिक नियम, नागरिकता, लौकिक नियमपरम्पराका भी कोई नियन्त्रण राज्यपर न रहा। इस तरह हाव्सकी राजसत्ता एक निरङ्कुश शासनसत्ता हो जाती है, जिसका कि भारतीय शास्त्रोंने विरोध किया है। हाव्सके मतानुसार 'राजतन्त्रमें ही एकता, मन्त्रणा, गुप्तता, नीतिका स्थायित्व, व्यभिचारोंकी कमी और चापलसो तथा तानाशाहोंकी कमी सम्भव है। ये सब बातें नरेशको छोड़कर समूहों या सघोमें सम्भव नहीं है। यह सत्ता विभाज्य भी नहीं होती।' हाव्सके राज्यका अधिकार बहुत व्यापक था। वह जीवनके सभी क्षेत्रोंमें तथा विचारोंपर भी राज्यका हस्तक्षेप सह्य मानता था; क्योंकि विचारके नियन्त्रित होनेपर ही व्यक्तियोंके कार्य भी नियन्त्रित हो सकते हैं और 'दीर्घकाय सत्ताधारी' ही सर्वोच्चन्यायाधीश एवं सर्वोच्चमेनापति है। विधि-निर्माण,

दण्डाविवान; मन्धि, विग्रह तथा नियुक्ति आदि उसीके अधिकारमें होते हैं। प्राकृतिक स्थितिमें हर ममय जीवन एव सम्पत्ति खतरेमें रहती है। अतः वह राज्यकी ही शरण लेना व्यक्तियोंके लिये एकमात्र परमावश्यक समझता था। इमे वह नेतिक भी मानता था। जब व्यक्तियोंने अपने अधिकार राज्यको दे दिचे, तब उनका पुनः अपहरण अनेतिकता है। राज्यप्रदत्त नागरिक स्वतन्त्रतासे अधिक स्वतन्त्रता सम्भव नहीं। मनुष्योंने जीवन-रक्षाके लिये राज्यकी स्थापना की, राज्यका नियन्त्रण स्वीकार किया। अतः मृत्युभय, स्वार्थ, उपयोगिता ये ही उसके आधार हैं, इसी उपयोगिताके आधारपर वह राज्य-विरोधको न्यायसगत मानता है। 'यदि राज्यका नियम नागरिक-की जीवन-रक्षापर आघात करता है तो नागरिकोंको ऐसे नियमके विरोध करनेका अधिकार है।'।

ईश्वर एव धर्मका नियन्त्रण अस्वीकारकर अनियन्त्रित धर्महीन शासकको सुख-शान्ति एवं राज्यस्थापनाका उद्देश्य भी पूरा नहीं हो सकता। कहा जाता है कि धर्म और ईश्वर माननेमे प्राणीको विचार करनेका अवकाश नहीं रहता; परन्तु धर्म एव ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी हिताहित सुव्यवस्थाका पूर्ण विचार करनेका सदा ही अवकाश रहता है। विचारपूर्वक ही प्रत्येक कार्यमें प्रवृत्त होना आवश्यक है। फिर भी अनियन्त्रण, उच्छृङ्खलतासे हटकर किसी ढंगके भी नियन्त्रण-का अङ्गीकार करना श्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त हाव्सका व्यक्तियोंके सम्वन्धका वर्णन एकाङ्गी भी है। अपने बन्धुओंकी बरवादीसे सुख पानेवाले लोगोंकी सख्या वस्तुतः सदा ही कम थी। बच्चों एव बन्धुओंकी मृत्युपर प्रसन्न होनेवाले सोते हुए असहाय प्राणीको पाकर सर्वप्रथम मारनेकी भावना रखनेवाले मनुष्य कभी भी कम ही थे। फिर ऐसे मनुष्योंद्वारा राज्य-जैसी पवित्र सस्थाका निर्माण भी कैसे हो सकता है? रुसोका कहना है कि 'यह कैसे सम्भव है कि मनुष्य जो एक क्षण दूसरेके गलेपर छुरी मारनेके लिये तत्पर थे, वे ही दूसरे क्षण एक दूसरेके गले मिलने लगे?' मानव-इतिहासमें कायाकल्पका कोई दृष्टान्त नहीं; वस्तुतः प्रेरणा और विवेक सभी कार्योंमें प्राणियोंके साथ रहते हैं।

हाव्स एव हट्टेन्शियसके मतानुसार 'प्राणी परोपकार भी आत्महितके लिये ही करता है।' परन्तु जब देखा जाता है कि व्याघ्र-सरीखे क्रूर प्राणी भी अपने बच्चोंकी रक्षाके लिये प्राण देनेको तैयार होते हैं तो कहना पड़ता है कि प्रेम-परोपकार प्राणियोंमें स्वाभाविक धर्म भी होते हैं। नीतिकारोंने इन्हें इस प्रकार श्रेणीबद्ध किया है—

एके सत्पुरुषाः परार्थवटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये

गामान्यास्तु परार्थमुद्यममृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।

तेऽमी मानुपराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये

ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते द्वे न जानामीहे ॥ (नानिघ्नन् ७७)

‘जो स्वार्थ त्यागकर भी परोपकार ही करते हैं, वे सत्पुरुष हैं। जो अपने स्वार्थकी रक्षा करते हुए परोपकार करते हैं, वे सामान्यलोग हैं, जो लोग स्वार्थके लिये परहितका विघात करते हैं, वे तो मनुष्य-वेषमें राक्षस ही हैं; परंतु जो लोग निष्कारण ही परहित-विघात करते हैं, वे कौन हैं—उन्हे क्या कहा जाय—यह समझमें ही नहीं आता।’

सामान्यलोग भले ही स्वार्थी हो, परंतु इस आधारपर कोई व्यवस्था नहीं की जा सकती। सामान्यरूपसे भले ही प्राणी झूठ बोलता और घाट तोलता हो, तो भी व्यवहार-व्यवस्थापक यदि झूठ बोलने और घाट तोलनेको प्रश्रय देगा तब तो अनर्थ ही होगा। इससे भी आगे सामाजिक सुख अर्थात् मनुष्य जातिके सुखके उद्देश्यसे ही प्राणीको कार्याकार्यका निर्णय करना श्रेष्ठ है। फिर भी कभी उसी कार्यसे बहुतोको सुख होता है, परंतु कुछ लोगोको दुःख भी होता है। उत्कको प्रकाशसे कष्ट होता है, तो भी प्रकाश त्याज्य नहीं होता। अतः ‘बहुजनसुखाय’ का विचार आवश्यक है। यद्यपि एक ढगसे चलनेवाली ठीक टाइम देनेवाली घड़ी ठीक समझी जाती है, परंतु मनुष्य यन्त्र नहीं है। यहाँ तो उसके अन्तःकरणको देखा जाता है। मान लीजिये—कोई घूस देकर या चोरवाजारीसे कोई चीज खरीदकर परोपकार करता है। भले ही उससे बहुजनहित हुआ, पर इतनेसे ही घूस या चोरी न्याय नहीं हो जायगा। अमेरिकाके एक गहरमे ट्राम्वेकी बड़ी आवश्यकता थी; परंतु जल्दी सरकारी मजूरी नहीं मिली। व्यवस्थापकने घूस देकर मंजूरी ली और ट्राम्वे चलाया। उससे बहुत लोगोका लाभ हुआ, हित हुआ; परंतु पीछेसे घूसकी बात खुली और व्यवस्थापकको दण्ड दिया गया।

एक कार्यमें गरीबका चार पैसा और अमीरका लाखों रुपया भावनाकी दृष्टिसे समान या कभी-कभी चार पैसाका दान ही अधिक महत्त्वका होता है। इसी लिये बाह्य परिणामोकी अपेक्षा नीतिमत्ता एव बुद्धिका ध्यान होना आवश्यक है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय । (गीता २ । ४९)

छोटे कीड़ोंमें लेकर मनुष्यतक प्राणियोमें देखा जाता है कि वे अपने समान ही अपनी संतानों एव जातियोकी भी रक्षा करते हैं। किसीको दुःख न देकर बन्धुओं-की यथान्भव सहायता ही करते हैं अतः सजीव सृष्टिका यही स्वभाव है।

कई कीड़ोंमें स्त्री-पुरुष-भेद नहीं होता। उनके देहमें ही भेद होकर दूसरे कीड़े उत्पन्न होते हैं। वहाँ यही कहना पड़ता है कि संतानके लिये उनमें अपने शरीरके अंशको त्यागनेकी बुद्धि होती है। जगली जानवरो, मनुष्योंमें भी ऐसी ही प्रवृत्ति होती है। इसीलिये मनुष्य परार्थमें ही सुख मानता है, जैसा कि स्पेन्सरने भी माना है। भारतीय भावनाके अनुसार परार्थ ही जिसका स्वार्थ है, वही पुरुष सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ है—

शुद्धाः सन्ति सहस्रशो स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः ।

स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः ॥ (सुभाषितावलि २८५)

हाव्सके अनुसार हत्याके भयसे मनुष्यका व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका परित्याग कर एक अनियन्त्रित शासकके शरण होना वैसा ही लगता है, जैसे एक जंगली बिल्ली-से डरकर खूँखार हिंस्र शेरकी शरण जाना । लूसोका कहना है कि 'स्वतन्त्रता प्रकृतिकी देन है । स्वतन्त्रताका परित्याग मनुष्यताका ही परित्याग है ।' हाव्सका सिद्धान्त न तो प्राचीन धार्मिक लोगोने ही माना और न जडवादियोने ही । उसके मतानुसार 'राज्यका अधिकार ईश्वरीय, धार्मिक एवं पैतृक भी नहीं और न जनतान्त्रिक ही है ।' वस्तुतः पाश्चात्य दर्शनकार अपनी परिस्थितियोसे ऊँचे उठकर विचार कर ही नहीं सके । इसीलिये हाव्सने अपनी भीरु प्रकृतिके अनुसार ही भयमूलक ही सिद्धान्त भी स्थापित किया ।

जान लॉक

जान लॉक (१६३२-१७०४) भी समझौतावादी था । उसे सीमित राजनन्त्रमें विश्वास था । उसका पिता 'प्यूरिटन' सम्प्रदायका अनुयायी था । 'लॉक' १६८८ की रक्तहीन क्रान्तिका दार्शनिक माना जाता है । इंग्लैंडके जेम्स द्वितीयके पदच्युत होनेपर विलियम और मेरीको राज्यपदके लिये नियन्त्रित किया गया । 'बिल आफ राइट्स' और 'ऐक्ट आफ सैट्लमन्ट' नियमोंद्वारा कार्यपालिका ससद्के अधीन बनी । ससद्का राज्यकोष, राज्यनीति तथा सेनापर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हुआ । इसी रक्तहीन क्रान्तिके द्वारा ससद् सत्ताधारी बनी और राजा केवल वैधानिक रह गया । यह एक प्रकारसे जनवादका आरम्भ हुआ । लॉक भी प्राकृतिक स्थिति और राज्यकी स्थिति मानता है । उसके मतानुसार 'मनुष्य विवेकशील एवं सामाजिक प्राणी है । सत्य बोलना अच्छा, झूठ बोलना पाप है'—इत्यादि नैसर्गिक नियमोका पालन वह आवश्यक समझता था । इन्हीं सब हेतुओंसे प्राणी शान्ति, स्वतन्त्रता एवं भ्रातृनाकी ओर प्रवृत्त होता है । उसके मतानुसार 'लक्षणने भूमि एवं विविध पदार्थ सर्वसामान्यक प्रदान किया है । साथ ही श्रमशक्ति भी प्रदान की है । इसीके द्वारा सामान्य वस्तुओंसे कुछको अपने उपयोग योग्य बनाता है । वही उसकी निजी सम्पत्ति होती है । उदाहरणार्थ नदीका पानी सर्वसामान्य वस्तु है । पर जब एक मनुष्य श्रमद्वारा उसकी कुछ मात्रा लाकर अपने घरमे रखता है, तो वह उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है । श्रमके मिश्रणसे ही कोई वस्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति बनती है । प्राकृतिक मनुष्य एक विवेकशील सामाजिक तथा नैतिक प्राणी था । वह नैतिकतापूर्ण नैसर्गिक नियमोका अनुयायी था । हाव्सके विपरीत लॉकके मतानुसार मनुष्य एक दूसरेके व्यक्तित्व एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति और अधिकारका आदान-प्रदान करते थे । वह स्थिति सुख, शान्ति, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्वकी थी । लॉकका यह मत भारतीय भावनासे मिलता है । भारतीय दृष्टिकोणके अनुसार पहले वधपि राज्य, राजा, दण्ड-विधान नहीं था, परंतु कोई दण्डनीय भी नहीं था । सभी परस्पर

एक दूसरेके पोषक थे, कोई किसीका शोषक नहीं था । सभी धर्मनियन्त्रित थे । धर्मयुक्त होकर सब आपसमें ही काम चला लेते थे ।

न वै राज्यं न राजासीन्न च दण्ड्यो न दण्डिकः ।

धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥

(महा० शा० प० ५९ । १४)

‘जो जैसा करेगा वैसा पायेगा’—यह नैसर्गिक नियम प्रचलित था ।

लॉकके मतानुसार ‘कुछ दिनों बाद सुखमय न्यायपूर्ण जीवनमें बाधाएँ उत्पन्न हो गयीं । व्यक्ति अज्ञानी और पक्षपाती हो गये । अध्ययनशून्य हो जानेसे उन्हें निग्रमोंका ज्ञान नहीं रहा । सभी मनमाना नियम लागू करने लगे । अतः लिखित नियमकी आवश्यकता पड़ी । एक निष्पक्ष न्यायाधीश अपेक्षित होने लगा । निर्णयको कार्यान्वित करनेके लिये पुलिसकी भी आवश्यकता हुई । तब समझौता— ‘अनुबन्धद्वारा’ सभ्य समाजका निर्माण कराया ।’ लॉकके मतानुसार व्यक्तियोंने अपने कुछ ही अधिकार सभ्य समाजको समर्पित किये । नैसर्गिक नियमोंके अनुसार सभ्य समाजको नियम निर्माण करके निश्चित निष्पक्ष न्यायाधीश नियुक्त करने एवं निर्णयको कार्यान्वित करनेका अधिकार दिया गया । परन्तु नैसर्गिक नियमोंके लङ्घन तथा व्यक्तिगत सम्पत्तिपर आघात करनेका अधिकार उस समाजको नहीं दिया गया ।’ लॉकने नैसर्गिक नियमोंको सर्वव्यापक एवं सर्वोपरि बतलाया । व्यक्तिगत सम्पत्तिकी सुरक्षाके लिये ही व्यक्तिने सभ्य समाजकी स्थापना की और अमुविधासम्बन्धी उक्त तीनों अधिकारोंका परित्याग किया तथा बहुमतका निर्णय स्वीकार करनेका भी नियम स्वीकार किया । यह सभ्य समाज कुछ व्यक्तिगता समूह था; परन्तु इस समूहको यह अनुभव हुआ कि वह अमुविधाओंको दूर करनेमें असमर्थ है । कारण कि न तो सैकड़ों मनुष्य नियम ही निर्माण कर सकते हैं और न न्यायालय और कार्यपालिकाका ही काम कर सकते हैं । इसीलिये सभ्य समाजने व्यवस्थापिका सभा और संसदकी स्थापना की । इसी सभाको नियम-निर्माणका अधिकार दिया गया । सभ्य समाजके समान ही यह सभा भी नैसर्गिक नियमों एवं व्यक्तिगत सम्पत्तिके अधिकारोंका लङ्घन नहीं कर सकती थी । नैसर्गिक नियमोंके अनुसार कानून बनाना ही उसका काम था । व्यवस्थापिका सभाकी बैठकें स्थायी नहीं होती थीं; किन्तु आवश्यकताओंके अनुसार होती थीं । इसीलिये संसदने एक स्थायी कार्यपालिकाकी स्थापना की । इसका कार्य नियमोंको कार्यान्वित करना था । कुछ परिस्थितियोंमें वह नियम-निर्माणमें भी भाग लेती थी । संसदद्वारा नियुक्त न्यायाधीश नैसर्गिक नियमोंपर आश्रित लिखित नियमोंके अनुसार निर्णय करते थे । इस प्रकार संसद, कार्यपालिका, न्यायापालिका—राज्यके इन तीनों अङ्गोंकी स्थापना हुई ।

युद्ध एव शान्ति-सम्बन्धी कार्योंको कार्यपालिकाके जिम्मे किया गया और न्यायाधीशकी नियुक्ति ससद्के जिम्मे, परंतु न्यायपालिकाको कार्यपालिकाका अङ्ग माना गया । उम तरह शक्ति विभाजनकी बात भी आ जाती है । इसीके अनुसार फ्रांसके लेखक माटेस्क्यूने 'व्यक्तिगत स्वतन्त्रता'का समर्थन किया । लाककी राज्य-सत्ता स्वामी नहीं, किंतु एक सेवक है । उसे जनस्वीकृतिकी आवश्यकता थी । व्यक्ति और उसकी सम्पत्ति अर्थात् जीवनस्वतन्त्रता और सम्पत्तिकी सुरक्षा तथा नैसर्गिक नियमोंको लिपिवद्ध करना उसका कर्तव्य था । राजाके मनमाने शासन करने एव ससद्के कार्यक्रम एव निर्वाचनमें हस्तक्षेप करने, देशको विदेशी सत्ताके अधीन करने, संरक्षण-कार्यमें असफल होने आदिकी हालतमें कार्यपालिकाका विरोध किया जा सकता है एव उसे हटाया जा सकता है । लाकके मतानुसार 'ससद् यद्यपि राज्यका प्राण है तथापि उसे भी नैसर्गिक नियमोंके विपरीत नियम-निर्माणका अधिकार नहीं । संसद् न मनमाने नियम बना सकती है, न नियम बनानेका भार किसी व्यक्ति या सत्ताको दे सकती है । ऐसी स्थितिमें नागरिक-समाजद्वारा उसे पदच्युत करके दूसरी ससद् बनायी जा सकती है ।' लाक किसी राजाका जन्मसिद्ध असाधारण अधिकार नहीं मानता था और निरपेक्ष राजाका अपने सुकदमें स्वयं न्यायाधीश माननेको सर्वथा न्यायरहित मानता था । राजाको सभी अधिकार जनताद्वारा मिले होते हैं । जनता अन्यायी राजासे अपने दिये हुए अधिकारोंको वापस ले सकती है । उसके मतमें नागरिक समाज ही सर्वोत्कृष्ट सत्ता है । नागरिक लोगोंको सदा अधिकार रहता है कि नियमोल्लङ्घन करनेवाले राजा या ससद्को वैधानिक ढंगसे अथवा हिंसाद्वारा अलग कर दे ।

लॉकके मतानुसार 'सर्वोत्कृष्ट सत्ता जनतामें ही निहित होती है, परंतु स्वतन्त्रताके लिये सतर्कता अत्यावश्यक है ।' उसके विचारसे 'सतर्कता स्वतन्त्रताकी भगिनी है । शासनके कार्योंको देखते रहना, उसमें त्रुटि होनेपर विरोध करना आवश्यक है । जनता एक सुप्तसत्ताधारी है । किन्हीं विशेष परिस्थितियोंमें ही वह अपनी सत्ताका प्रयोग करती है । इस मतसे समाज ही सर्वश्रेष्ठ है । शासक उसीके प्रति उत्तरदायी होता है और नैतिक नियमोंके परतन्त्र होता है । सरकार एक संरक्षकमात्र है, भोक्ता नहीं । जैसे किसी अभिभावकको किसी बालकके शिक्षणके लिये कुछ रुपया दिया जाता है, तो वह उसका उसी कार्यमें विनियोग कर सकता है, उसे स्वयं भोग नहीं सकता । इसी प्रकार राजा राज्यका भोक्ता नहीं, किंतु संरक्षक मात्र है । इसमें विभिन्न वर्गोंके समन्वयमें कोई बाधा नहीं पड़ती ।' हुकर, चर्क आदि भी इसी विचारधाराके थे ।

भारतीय राजनीतिमें सदासे ही समाजको सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और उसमें वर्णाश्रमधर्मका समन्वय है। शासक धर्म एवं समाजके प्रति उत्तरदायी हैं। शासन बदलते रहते हैं पर समाज और धर्म नहीं बदलते। राज्यके नियम धर्मशास्त्रोके ही अनुकूल हो सकते हैं। व्यक्तिगत वैध सम्पत्तिपर आघात अन्याय माना जाता है। लोके समाजको सत्ताधारी मानता है, साथ ही व्यक्तिको भी उच्चस्थान देता है। वह राजाको व्यक्तिका सेवक मानता है। इस सिद्धान्तको सेवाइनने बेमेल बताया। लोके अनुसार राज्यकार्य सुरक्षातक ही सीमित है। उसे नैतिकता-शिक्षा आदिके कामोंमें हाथ नहीं डालना चाहिये। यह विचारधारा धर्मनियन्त्रित रामराज्यकी ही है; क्योंकि उसमें शिक्षा, सम्पत्ति एवं धर्मको सदा ही स्वतन्त्र रहना उचित समझा जाता है। राज्यलक्ष्मी चपला होती है। वह कभी देवता और कभी दानवके हाथ भी जा सकती है। उसके हाथमें शिक्षा-सम्पत्ति एवं धर्मके जानेसे व्यक्ति और समाज सदाके लिये नष्ट हो जायेंगे। उसीके बलपर व्यक्ति एवं समाज शासनोमें रहोबदल कर सकते हैं। ससद्के नामसे न सही परन्तु नीतिशास्त्र एवं मन्त्रिमण्डलकी व्यवस्था सदासे ही धर्म नियन्त्रित शासनतन्त्रमें थी।

आजकल समझा जाता है कि 'मानव-जातिका इतिहास उन्नतिका ही इतिहास है।' अतः लोकेका यह कथन कि 'व्यक्ति पहलेसे ही नैतिक है उसे नैसर्गिक नियमोंका ज्ञान था' संगत नहीं है। यदि ऐसा ही था तो उसने प्राकृतिक स्थितिका त्याग क्यों किया? उसमें असुविधा, अनैतिकता क्यों आयी? उसे समाजकी आवश्यकता क्यों पड़ी? अतः नैतिकता, शिक्षा आदि सब समाजकी या व्यक्तिकी देन माननी चाहिये, परन्तु रामराज्यके अनुसार इसका समाधान नरल है। जैसा कि कहा जा चुका है कि 'सत्त्व एवं धर्मके हाससे नैतिकतामें एवं ज्ञानमें कमी आयी, तभी राज्यकी अपेक्षा हुई। इस पक्षमें व्यक्ति और समाजकी स्थिति और सम्बन्ध सदा उसी ढंगका होता है जैसे वृक्ष एवं वनका, सैनिकों एवं सेनाका। निरीश्वर जडवादके अनुसार ही 'उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। पूर्वज लोग असभ्य, अज्ञानी एवं जंगली थे।' ईश्वरवादीके यहाँ तो विज्ञानपूर्वक विश्वकी सृष्टि है। अतः सृष्टि-कालमें लोग आजकी अपेक्षा अधिक ज्ञानशक्ति एवं नैतिकतासे पूर्ण थे। युग-ह्रासके अनुसार सत्त्व एवं शक्तिका हास होनेसे ही विभिन्न प्रकारकी असुविधाएँ हुईं।

धर्मनियन्त्रित शासनतन्त्रमें जनवाद एवं राजतन्त्रका समन्वय है, विरोध नहीं। धर्मशास्त्र सभीपर लागू होता है। अन्यथा लोकेके मतानुसार 'व्यक्ति कभी नैसर्गिक नियमों के धनके नामपर विरोध करते और नागरिकता स्वीकार करने न करनेमें स्वतन्त्र होते' तब तो राज्यका चलाना ही कठिन हो जाता। 'श्रम-मिश्रणसे ही धन

व्यक्तिगत होता है' लाकका सम्पत्ति सम्बन्धी यह सिद्धान्त मी० एच० ड्राइवर (C.H Driver) के मतानुसार 'एक अम्फुटित वम' के समान था। रेकार्डो आदिने तो श्रम-द्वारा ही वस्तुका मूल्य निर्धारित किया। मार्क्सने भी श्रमको ही आधार मानकर अपना मत खड़ा किया है। परंतु धर्म-नियन्त्रित शासनकी दृष्टिसे यह सिद्धान्त भी त्रुटिपूर्ण है। क्योंकि पद्मरागमणि, वज्रमणि आदिका मूल्य उनके गुणोंपर अवलम्बित होता है। श्रमपर नहीं। इसके साथ ही यह भी समझ लेना आवश्यक है कि भूमि आदि अनेक वस्तुओंमें श्रमयोग बिना भी पितृ-पितामहादि-परम्परासे स्वत्व प्राप्त होता है। तब भी धर्म-नियन्त्रित व्यक्ति, समाज एवं राज्यद्वारा तथा उचित वितरणद्वारा आर्थिक स्तुलन बना रहता था। अतः बेकारी, भुखमरीका प्रश्न ही नहीं उठता था। धर्म-नियन्त्रित व्यक्ति सब एक दूसरेके पोषक ही होते हैं, शोषक नहीं होते।

रूसोके विचार

१७८९ की फ्रांसकी राज्यक्रान्तिका प्रवर्तक रूसो (१७१२-७८) दस वर्षकी अवस्थामें ही एक पाठरीके यहाँ नौकरी करने लगा। बुरी आदतोंके कारण वहाँसे उसे हटा दिया गया। बादमें वह दूसरी नौकरीमें लग गया। वहाँ वह पूरा झूठा, चोर और आचारा बन गया। उसे मित्रोंसे सदा ही सहायता मिलती रही। बादमें एक धनाढ्य स्त्रीके सहारे उसे पढ़नेकी सुविधा मिली। फिर वह गरीबोंमें रहने लगा। वहाँ उसने शराबकी दूकान की, नौकरानीसे मैत्री कर ली और बिना विवाहके ही पाँच बच्चे पैदा किये। पीछे १७४९ में उसने 'विज्ञान और कलाकी उन्नतिसे नैतिकताकी वृद्धि हुई या अवनति' इस विषयपर निबन्ध लिखकर पारितोषिक प्राप्त किया। इसी निबन्ध लिखनेके प्रसंगसे उसके जीवनमें परिवर्तन हुआ। उस निबन्धमें उसने बताया कि 'विज्ञान और कलाकी वृद्धिसे नैतिकताकी वृद्धि नहीं हुई, प्रत्युत पतन हुआ।' पश्चात् उसने अनेक पुस्तकें लिखीं और आचारा रूसो एक दार्शनिक बन गया। १७५४ में असमानताके जन्मपर उसने पुस्तक लिखी। इसमें उसने प्राकृतिक स्थिति और राज्यका जन्म बतलाया। एक लेखमें उसने 'आदर्श सामान्य इच्छा' और 'आदर्श राज्य' का वर्णन किया। अपनी शिक्षासम्बन्धी पुस्तकमें उसने 'धर्मप्रभावित शिक्षा' का विरोध किया। इससे तात्कालिक पादरियों एवं सरकारने उसका विरोध किया। रूसोके समयमें किसानोंकी दशा बहुत शोचनीय थी। मध्यम वर्गमें निराशा एवं उदासीनता छाई हुई थी। रूसोके मतानुसार 'मानवमें भावनाका स्तर विवेकसे भी ऊँचा है।' उसके अनुसार 'आधुनिक सभ्यताने मनुष्यको अनैतिक एवं व्यभिचारी बनाया है। सभ्यताके पूर्व व्यक्तिका जीवन आदर्शमय था।' उस समयके अन्य विचारक कुशलताको महत्त्व देते थे, परंतु रूसोने स्वतन्त्रताको सर्वोच्च स्थान दिया। वह राजतन्त्रका कट्टर विरोधी था, सुतरा गरीबों और किसानोंका आदर्श दार्शनिक था।

रूसो की प्राकृतिक स्थितिमें 'मनुष्य नेक, सुखी, सीधे, चिन्तारहित, स्वस्थ, ज्ञानप्रिय, एकान्तप्रिय एवं सतुष्ट थे । कोई निजी घर न था और न सम्पत्ति ही थी । विवाह-प्रथा भी नहीं थी और न कुटुम्ब ही था । भूमिके उत्पादनसे ही भौतिक इच्छाओंकी पूर्ति हो जाती थी । पूर्ण समानता, स्वतन्त्रता व्यापक थी । कोई वस्त्र-समस्या भी न थी ।' उसके मतानुसार 'प्राकृतिक युगमें आधुनिक बुराइयाँ नहीं थीं, परन्तु आधुनिक भलाईयाँ भी न थीं । संक्षेपमें वह एक नेक जगलीकी भोंति था । प्राकृतिक मनुष्योंको न्याय, अन्याय और मृत्युका भी ज्ञान नहीं था । उसमें दुराई समाजके सम्पर्कसे ही आयी ।' उसके मतानुसार 'नैतिकता समाजकी देन है।' हॉव्सके विचारोंका उसने खण्डन किया था ।

भारतीय आर्ष इतिहासके अनुसार हॉव्स और रूसो दोनोंकी ही प्राकृतिक स्थितिका वर्णन असंगत है; क्योंकि अपने यहाँके मतानुसार सत्त्वगुणके विकासके समय नैतिकता और सभ्यता थी । सत्त्व-ह्रासके पश्चात् हॉव्सका चित्रण ठीक ही है । 'असमानताका जन्म' पुस्तकमें उसने बताया है कि 'एक मनुष्यने एक भूमिके टुकड़ेको घेरा और कहा कि 'यह मेरा है।' उसने अन्य भोले मनुष्योंसे उस टुकड़ेपर अपना अधिकार स्वीकार करवाया । उसके अनुसार यह मनुष्य ही सभ्यताका जन्मदाना बना । उसी तरह अन्य मनुष्योंने भी धीरे-धीरे भूमिके टुकड़ोंको अपनाया और दूसरोंसे अपना स्वामित्व स्वीकार करवाया । इस तरह व्यक्तिगत सम्पत्ति और असमानता ही सभ्यताकी जन्मदात्री है ।'

वस्तुतः कई शब्दोंका दुर्भाग्य भी कभी आया करता है । उनका अर्थ मुन्दर होते हुए भी अधिकांश लोगोद्वारा उनका प्रयोग कभी बुरे अर्थोंमें होने लगता है । 'सम्प्रदाय' 'साम्राज्य' 'सभ्यता' आदि शब्द इसी दंगके हैं । इनका अर्थ बहुत श्रेष्ठ होनेपर भी पाश्चात्य देशोंमें इनका बहुत दुरुपयोग हुआ और इनका 'फिरकापरस्ती', 'शोषण' एवं 'असमानता' आदिमें प्रयोग होने लगा । वस्तुतः समष्टि, व्यक्ति, अम्युदय एवं परम निःश्रेयस, अपवर्गके अनुकूल ज्ञान-क्रिया-सम्पन्न शिष्ट व्यक्ति या समाज ही सभ्य कहा जाता है । तदनुकूल परम्परा ही सम्प्रदाय एवं उसका व्यवस्थापक ही धर्मनियन्त्रित साम्राज्य था । रामराज्यका साम्राज्य इसी कोटिका था । तभी केवल मनुष्योंके लिये ही नहीं किन्तु पशु-पक्षीको भी वहाँ सरल-मस्ता न्याय मिलता था । रूसोके अनुसार 'उसी असमानताकी रक्षाके लिये पुलिस सरकार आवश्यक हुई । इन सबके द्वारा अमीरोंके अत्याचारोंको स्थायी बननेमें सहायता मिली । समाजके जन्ममें ही दुःख एवं दरिद्रताका जन्म हुआ । समाज और सभ्यताकी वृद्धिसे गरीबी, भूख, शोषण, हत्या, बीमारीकी वृद्धि हुई । रूसोने अपनी 'सामाजिक अनुबन्ध' (सोशल कंट्रैक्ट) पुस्तकमें लिखा है कि 'मनुष्य स्वतन्त्र जन्मा परन्तु सभी ओर जंजीरोंसे जकड़ा हुआ ।' उसकी

‘येमिल’ पुस्तकमें भी ऐसे ही विचार हैं। आधुनिक लोग भी मानते हैं कि ‘रूसोकी अपनी व्यक्तिगत अनुभूतिका ही यह चित्रण है। अगमान और दुःखकी प्रतिक्रिया-स्वरूप ही उसने यह विचार व्यक्त किया है।’ सुतरां इसमें तात्त्विक ग्यताकी अपेक्षा प्रतिक्रियाकी भावना ही अधिक है। उसका विश्वास था कि ‘वह नेक था; किंतु समाजकी परिस्थितियोंने उसे अवाग बनाया।’ उसने ‘सामाजिक अनु-बन्ध में लिखा है कि किस प्रकार एक ऐसी समस्या स्थापित हो जिससे प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियोंके साथ संघटित होने हुए भी केवल अपनी-अपनी इच्छाका बालन करे। अर्थात् स्वतन्त्रता सुरक्षित रखते हुए कैसे सुव्यवस्था स्थापित की जाय। किंतु गमराज्यीय दृष्टिकोणसे बिना इच्छाओंपर नियन्त्रण किये अर्थात् बिना उन्हें नीमित बनाये कोई भी संघटन हो ही नहीं सकता। समान उद्देश्यकी पूर्तिके लिये एक सूत्रमें सबके मन और इच्छाओंका आवद्ध होना ही वास्तविक संबन्ध है।

कहा जाता है कि ‘रूसोकी समस्या स्वतन्त्रता और सुव्यवस्थाका समन्वय थी। इसकी पूर्तिके लिये उसने परम्परागत अनुबन्धका प्रयोग किया। हॉन्सके अनुसार वह व्यक्तियोंद्वारा अपने सभी अधिकारोंका समर्पण आवश्यक समझता था और लॉकके अनुसार इन अधिकारोंको एक ऐसे आदर्श संघको दिया जाना ठीक मानता था जो व्यक्तियोंकी एक राशि हो।’ रूसोके अनुसार ‘अ, व, स, द व्यक्तियोंको अपने सब अधिकार अ+व+स+द संघको इकारनामा (अनुबन्ध) के द्वारा समर्पण करना चाहिये। इसी व्यवस्थासे प्रत्येक व्यक्तिके अधिकारोंकी सुरक्षा हो सकती है। इस संघ-राज्यके नियम प्रत्येक व्यक्तिकी स्वीकृतिसे निर्मित होंगे।’ परंतु हॉन्सके समान ‘दीर्घकालको अधिकारोंका समर्पण’ उसकी दृष्टिमें ‘स्वतन्त्रताका त्याग या मान्यताका त्याग है। इन समर्पणसे व्यक्ति दाम्न्तुल्य हो जाता है। दीर्घकाल ही सर्वेसर्वा बन जाता है। अतः ऐसा त्याग निश्चयापानके और कुछ नहीं।’ इसी तरह रूसोलॉककी प्रतिनिधि-सभाका भी विरोधी था। ब्रिटेनकी निर्वाचन-प्रथाका भी वह समालोचक था। निर्वाचनके बाद भी व्यक्ति दाम्न्तुल्य ही हो जाता है। उसके मतानुसार ‘आलस्यके कारण व्यक्ति या व्यक्तिगत समूह न स्वयं सुरक्षित रह सकता है; न राज्यद्वारा ही सुरक्षित रह सकता है। क्योंकि रूपमें धन देकर, मेनाद्वारा व्यक्तिगत रक्षा और प्रतिनिधियोंद्वारा सुव्यवस्थाका प्रबन्ध करना मूर्खता ही है।’ लॉकके मतानुसार ‘न्यायनामे पहले भी व्यक्ति विवेक-शील एवं न्याय-अन्यायका ज्ञाता था।’ यही विचार रूसोके समयके व्यक्ति-वादियोंका था। रूसोने उसका खण्डनकर यूनानी ग्रीक दर्शनके अनुसार गतयाया कि ‘वह सब राज्यद्वारा ही सम्भव हो सकता है। राज्यके द्वारा ही व्यक्ति व्यक्तित्वको भी पा सकता है। उसके बिना मनुष्य भक्तीके गुप्त है। अधिकार-

कर्तव्यपरायणता, स्वतन्त्रता, आत्मोत्थान, सम्पत्ति, नैतिकता और न्याय-अन्यायका ज्ञान राज्यद्वारा ही सम्भव है ।' यह सब व्यक्तिवादका उत्तर था ।

यहाँ भी रूसोके कथनमें पूर्वापरविरोध है । एक ओर वह समाज और सभ्यताको तथा राज्यसरकार आदि संस्थाओको गरीबी, भुखमरी, अत्याचारका सहायक मानता है । उसके पहले व्यक्तिको नैतिक एवं नेक मानता है और दूसरी ओर राज्यके बिना व्यक्तियोंको मक्खीतुल्य बतलाता है । रूसो आदर्शराज्यको ही सत्ताधारी मानता था । अर्थात् इस राज्यकी सामान्य इच्छाको सत्ताधारी मानता था । लाकका राज्य संरक्षक मात्र था, सत्ताधारी नहीं । हॉब्सका 'दीर्घकाय' ही सब कुछ था । रूसोने अपने जनवादी राज्यको एक अवयवीकी भाँति माना है । 'सत्ताधारी जनसभा या धारासभा इसका सिर है । नियम एवं परम्परा मस्तिष्क; न्यायाधीश, सरकारी कर्मचारी मस्तिष्कके स्नायु, व्यापार-व्यवसाय और कृषि मुख और उदर; आय रक्त और नागरिक शरीरके अङ्गोंकी भाँति हैं । राज्य एवं नागरिकोंके सम्बन्ध अवयव एवं अवयवीके सम्बन्धके तुल्य हैं । अवयवोंकी सुव्यवस्था अवयवीकी सुव्यवस्थापर एवं अवयवीकी सुव्यवस्था अवयवोंकी सुव्यवस्थापर निर्भर है । अर्थात् राज्य एवं नागरिकोंकी सुव्यवस्था एवं प्रगति अन्योन्याश्रित है ।' उसके अनुसार 'सामान्य इच्छा सदा ही नागरिकोंकी सामान्य इच्छाका प्रतिनिधित्व करेगी और वह उनके स्थायी हितका प्रतिनिधित्व करेगी ।' इसी आधारपर रूसोने यह भी कहा था कि 'नागरिक सदा ही राज्यहितमें व्यक्तिगत हित देखेगा, सदा राज्यकी सामान्य इच्छाके अनुसार ही सोचेगा । ऐसा न करनेवाला नागरिक भ्रान्त है । ऐसे भ्रान्तको राज्यकी इच्छाका अनुसरण करनेके लिये बाध्य किया जायगा, अर्थात् उसे स्वतन्त्र होनेके लिये राज्यद्वारा बाध्य किया जाना चाहिये ।'

वस्तुतः यह सामान्य इच्छा एक प्रत्यक्ष जनवादी संघ हॉब्सके दीर्घकायके ही तुल्य सर्वेसर्वा है और वह निरपेक्ष है । मनुष्यकी सद्भावनापर रूसोका अटूट विश्वास था । उसके अनुसार 'राजनीति और प्रचारकोद्वारा विशुद्ध मनुष्य प्रवृत्तनामें ढाला जाता है । राजनीतिक दल, समाचारपत्र आदि यन्त्र ऐसी प्रवृत्तनाके खोन हैं । वे यन्त्र नागरिकोंको कृत्रिमरूपसे संस्थाओंमें विभक्त कर देते हैं । दलोंकी इच्छासे उनके सदस्य प्रभावित भी होते हैं । इन दलों या यन्त्रोंद्वारा कई सामान्य इच्छाएँ बन जाती हैं । अतः ऐसे राजनीतिक दल या सङ्घ आदर्श सुव्यवस्थामें अनावश्यक ही नहीं, किंतु बाधक भी होते हैं । इनके न रहनेपर राज्य और नागरिकोंमें सीधा सम्बन्ध रहता है । नागरिक सदा ही दल या संस्थाओंकी अपेक्षा राज्यके हितमें ही अपना हित समझेगे । वे सामान्य इच्छाके अनुसार जीवन-यापन करना ठीक समझते हैं ।' इसीलिये रूसो 'अद्वैतवादी दार्शनिक' समझा जाता है । 'गंधों, दलोंको समाप्त करनेके लिये उनकी संख्या बहुत बढ़ा देनी चाहिये । इससे

वे स्वयं अस्तित्वहीन हो जाते हैं ।' रूसो प्राचीन नैसर्गिक स्वतन्त्रताकी प्राप्ति सम्भव नहीं समझता था । परंतु एक उच्च नैतिक नागरिक स्वतन्त्रताकी प्राप्ति सम्भव मानता था ।

उसके मतानुसार 'नागरिकोंकी सभा ही नियमनिर्णयकी अधिकारिणी है, प्रतिनिधि-सभा नहीं। नियमोंको कार्यान्वित करनेके लिये कार्यपालिका होती है। कार्यपालिका नागरिकोंकी सभाके प्रति पूर्ण उत्तरदायी होती है। यह कार्यपालिका ही सरकार होती है।' रूसोके मतानुसार 'ऐसा जनवाद अपने मदस्योसे स्थायी सत्कर्तृताकी आशा रखता है। यद्यपि ऐसे जनवादको सदा ही खतरा रहता था। उसका आदर्श वाक्य था 'मैं खतरनाक स्वतन्त्रताको शान्ति पूर्ण दासत्वसे अच्छा समझता हूँ।' ऐसे नागरिक ही इस व्यवस्थाको स्थायी बना सकते हैं।' रूसोका यह ऐतिहासिक वाक्य है कि 'जनवाणी ही देववाणी है।' उसने सामान्य डब्छाको निरपेक्ष, अदेय, अविभाज्य, स्थायी एवं सत्य माना है। उसने हॉव्सकी 'निरपेक्षता' और लॉककी 'जनस्वीकृति' का मिश्रण किया है। उसने हॉव्सकी निरपेक्षताको जनवादी रूप और लॉककी जनस्वीकृतिको सक्रिय रूप दिया। रूसोकी पुस्तकमें क्रान्तिकी ज्वाला धधक उठी, परंतु वह स्वयं क्रान्तिकारी नहीं था। उसने १७५२ के अपने एक भाषणमें कहा कि 'क्रान्तिको उतना ही भयानक मानना चाहिये, जितना कि उन बुराइयोंको—जिन्हें क्रान्ति दूर करना चाहती है।' उसने जेनेवाके नागरिकोंको लिखा था कि 'आप स्वतन्त्रता अवश्य प्राप्त कीजिये, परंतु मानव-हत्याके विरुद्ध दासताको पसंद कीजिये।' नियम बनानेका कार्य किसी राष्ट्रके सम्पूर्ण नागरिकोंद्वारा हो सकना सम्भव नहीं होता। जनताद्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियोंद्वारा ही वह सम्भव होता है। अतः प्रतिनिधिसभाका विरोध भी रूसोका अयौक्तिक है। 'सभ्य समाजने व्यक्तिको दुखी, अनैतिक, व्यभिचारी बनाया' यह भी रूसोकी धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। विशिष्ट विचारशील लोग ही मार्गदर्शक हो सकते हैं।

राक्सपीयरने रूसोको 'राज्यक्रान्तिका देवता' घोषित किया था। रूसो व्यक्तिवादका समर्थन करते हुए पूर्ण अराजकतावादी स्वतन्त्रताका समर्थक बन जाता है और सभ्य समाजका कट्टर विरोधी प्रतीत होता है। वह स्वतन्त्रता, नैतिकता एवं समाजका विरोध मानता था। इसी आधारपर फ्रांसिसियोंने तत्कालीन समाजका विरोध किया, व्यक्तिगत सुरक्षाके लिये संघर्ष किया और क्रान्तिके पश्चात् 'राष्ट्रिय सभा' की घोषणा हुई। यह विचारधारा भविष्यके व्यक्तिवादियोंकी पृष्ठभूमि बनी, क्योंकि व्यक्तिवादी भी स्वतन्त्रता तथा समाजका परस्पर विरोध मानते थे। वार्करने रूसोके लेखको 'व्यक्तिवादका प्राण' कहा, था, परंतु अन्यत्र रूसो अधिनायकवादका भी समर्थक प्रतीत होता है, जैसा पहले दिखाया जा चुका है।

‘राज्य विना व्यक्ति मक्खी-तुल्य है।’ राज्यद्वारा व्यक्तिको स्वतन्त्र होनेके लिये बाध्य किया जाना वह ठीक मानता था। राज्यद्वारा निर्मित नागरिक धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले नागरिकको फाँसीका दण्ड देना उचित समझता था। इसीलिये व्हानने रूसोको ‘व्यक्तित्वका शत्रु’ भी कहा है। हाँ, वह यह अवश्य कहता है कि ‘सामान्य इच्छाका स्रोत जनमत है।’ एक तरफ वह कहता है—‘मनुष्य जन्मा स्वतन्त्र परंतु सभी ओर जजीरोसे जकड़ा हुआ।’ और उसी पुस्तकमें राज्यकी निरपेक्षताका भी वर्णन करता है। उसका यह भी कहना है कि ‘पूर्ण स्वतन्त्रता किसी ही देशमें सम्भव है, सब जगह नहीं।’ वह स्वतन्त्रताका जलवायुसे भी घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है। व्यक्तिगत सम्पत्तिको उसने समाज और राज्यकी धात्री बताया और उसे ही दरिद्रता और दासताकी जननी भी। किंतु वही अन्यत्र सम्पत्तिको भली वस्तु भी बताता है। ‘येमिल’ में भी उसने व्यक्तिगत सम्पत्तिके आधारको न्याययुक्त माना है। उसकी रक्षा राज्यका कर्तव्य बताया है और ‘कार्सिका’ पुस्तकमें कहा है कि ‘व्यक्तिगत सम्पत्तिका अन्त नहीं किया जा सकता है।’ इस तरह कहा वह इस ‘सम्पत्तिका शत्रु’ प्रतीत होता है और कहीं उसका ‘पुजारी’। इसी तरह कहीं ‘स्वतन्त्रताका अग्रदूत’ तो कहीं ‘दासताका अग्रदूत’। जनवादके विपरीत वह सीमित राजतन्त्रका भी समर्थक बना। कहीं शिक्षाकी स्वतन्त्रताको ठीक कहा तो कहीं उसका राजतन्त्र होना ठीक कहा। कहीं कलाकी निन्दा की तो कहीं कलाकी प्रशंसा। कहा जाता है कि ‘रूसोका जीवन जैसे अव्यवस्थित था वैसा ही उसका दर्शन भी।’

रामराज्यकी दृष्टिमें खल प्राणीकी सम्पत्ति अवश्य शोषणका कारण होती है; परंतु शिष्ट, सभ्य, साधु पुरुषकी सम्पत्ति सदा ही परोपकारके काममें आती है। व्यक्तिद्वारा समाज बनता है और समाजसे व्यक्तिको उन्नत होनेमें सुविधा प्राप्त होती है। अतः व्यक्ति और समाजका विरोध नहीं, किंतु समन्वय ही उचित है। इसी तरह सभी लोग सब विषयके ज्ञाता नहीं हो सकते। सब विषयमें सबकी सम्मति लेनेकी अपेक्षा जिस विषयका जो जानकार हो उस विषयमें ही उसकी सम्मति लाभदायक होती है। अतः सम्पूर्ण नागरिक संघको नियमनिर्माणमें लगाना व्यर्थ ही है। स्पष्ट ही है कि एक शिशु-चिकित्सामें एडवोकेट या इंजीनियरकी सम्मति लेना व्यर्थ है। कुछ लोग इन सब बातोंको इसीलिये महत्व देते हैं कि इनके द्वारा राज्यको ईश्वरीय संस्था माननेका अन्धविश्वास दूर हुआ। वे लोग इस मान्यताको अवैज्ञानिक कहनेका भी साहस करते हैं। परंतु यदि विज्ञानका अर्थ मृत्युज्ञान ही है तब तो युक्ति, तर्क और अपौरुषेय वेदादि शास्त्र-सिद्ध ईश्वर एवं ईश्वरीय व्यवस्थाओंको अवैज्ञानिक कहना केवल साहसमात्र है। राजनीतिशास्त्रोंके द्वारा वस्तुतः शाश्वत सत्य सिद्धान्तकी अभिव्यक्तिमात्र होती है। मानवीय संस्थाकी अपेक्षा ऐसी संस्थाएँ कहीं अधिक जानकारी प्राप्त करना

आवश्यक होता है। मध्यकालीन योरोपीय लोगोंका यह विश्वास कि 'ईश्वरका प्रतिनिधित्व करनेवाला अत्याचारी शासक भी मान्य होना चाहिये, क्योंकि पापी नागरिकोंको दण्ड देनेके लिये ईश्वरने दुष्ट शासनकी नियुक्ति की है' अप्रामाणिक है। शास्त्रोंका स्पष्ट मत है कि मात्स्यन्यायसे पीड़ित जनताकी माँगपर ही विधिष्ठ शक्ति एवं गुणसम्पन्न शासक ईश्वरद्वारा नियुक्त हुआ था। जनरञ्जन करना उसका परम कर्तव्य है। अतः जनवादका धर्म नियन्त्रित रामराज्य जेमे शासनमें पूर्ण उपयोग है। केवल व्यक्तियोंद्वारा जन्म होनेमात्रसे राज्य अच्छा नहीं हो सकता। हॉब्सका दीर्घकाय राज्य व्यक्तियोंद्वारा होनेपर भी निरपेक्ष होनेसे लोक एवं रूसोंने उसे हानिकारक बताया है। आधुनिक आलोचक ही 'सोशल कट्टाक्ट' सामाजिक समझौता या इकरारनामाको अप्रामाणिक मानते हैं।

बेन्थम आदिकाका कहना है कि 'व्यक्तिको सर्वोमें रहना हितकर प्रतीत होता है, इसीलिये फिर सब उपयोगिताकी दृष्टिसे राज्य बनाता है। कहा जाता है कि राज्यको 'कृत्रिम सस्था माननेसे मनुष्य उसमें रहोपदल करना सम्भव समझता है।' परंतु 'राज्य ईश्वरीय मस्था है'—इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि उसमें गड़बड़ी नहीं हो सकती और उसमें सुधार नहीं हो सकता। मनुष्यका शरीर ही ईश्वरीय है। हेगेलके अनुयायी मार्क्सने उसके द्वन्द्ववादको 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' का रूप दिया। हेगेल जेमे निरपेक्ष आदर्श राजतन्त्रका समर्थक था, वैसे ही मार्क्सने भी सर्वहाराकी अधिनायकताका समर्थन किया। रूसमें वही निरपेक्षता स्थिर हुई। कहा जाता है कि हेगेलवादी या मार्क्सवादी अधिनायकवादका रूसमें बोलवाला है। इससे जनतन्त्र-वादका कोई मेल नहीं हो सकता है। सोवियत रूसकी उन्नति अवश्य हुई है, परंतु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता-जैसी बहुमूल्य वस्तु वहाँ समाप्त हो गयी। जब एक पक्षी भी सोनेके पिंजड़ेमें मीठे फल खाकर और ठंडा पानी पीकर बंद रहना पसंद नहीं करता, बल्कि आज्ञादीसे खट्टे फल खाकर और खारा पानी पीकर भी स्वतन्त्र रहना ही पसंद करता है, तब क्या मनुष्य उस पक्षीसे भी गया बीता है जो ऐसी स्वतन्त्रता पसंद करेगा ?

मार्क्सवादियोंके अनुसार राज्य दो ही प्रकारका होता है—एक सर्वहाराका अधिनायकत्व और दूसरा पूँजीपतियोंका अधिनायकत्व। रूसी राज्य राजनीति-शास्त्रकी परम्पराके विपरीत भी है। प्रजातन्त्रके अङ्ग—भाषण, कार्य, संगठन आदिकी स्वतन्त्रताका वहाँ कोई मूल्य नहीं है। सोवियत व्यवस्थाके विरुद्ध वहाँ कोई मत व्यक्त नहीं कर सकता और न कोई मंगटन ही हो सकता है। फिर

भी मार्क्सवादी रूसी राज्यको पूर्णजनतन्त्रवादी कहनेकी धृष्टता करते हैं । जॉन लॉककी जन-स्वीकृतिका भी रूसमें कोई महत्त्व नहीं है । एकदलीय व्यवस्था ही वहाँ सब कुछ है ।

स्टालिनके मतानुसार पूँजीवादी देशोंमें भिन्न-भिन्न वर्गोंके वर्गीय अर्थैक्यका प्रतिनिधित्व राजनीतिक दलोंद्वारा होता है अर्थात् एक राजनीतिक दल एक वर्गके या कुछ वर्गोंके अर्थैक्यका प्रतिनिधित्व करता है । सोवियत रूसमें वर्गोंका अन्त हो गया है, अतः वहाँ राजनीतिक दलोंकी आवश्यकता ही नहीं है; परन्तु राज्य शास्त्रमें राजनीतिक दल जनतन्त्रके प्राणतुल्य माने जाते हैं । उन्हें वर्गीय संस्था कहकर अनावश्यक बतला देना जनतन्त्रीय विचारके विपरीत है । विरोधी दलकी अनुपस्थितिमें वास्तविक जनवाद असम्भव ही है । फिर 'वर्गका अन्त हो गया' यह तो तभी विदित हो सकता है, जब भाषण, प्रकाशन और सगठनकी स्वाधीनता हो । मार्क्सवादियोंके अनुसार 'सर्वहाराका अधिनायकत्व सक्रमणकालकी ही वस्तु है । अन्तमें उत्पादन, वृद्धि एवं सुव्यवस्थाके द्वारा राज्यका अत्यन्त लोप होकर वर्गविहीन, राज्यविहीन समाजकी स्थापना होगी ।' परन्तु स्टालिनने बतलाया है कि 'सोवियत राज्य पूँजीवादी राज्योंसे घिरा हुआ है । शायद एगोत्सको, जिसने राज्यलोपकी बात कही है, अन्तार्राष्ट्रीय परिस्थितिका अनुमान नहीं था ।' मार्क्सवादी ऐतिहासिक मास्कोके मुकदमोंको सोवियतविरोधी षड्यन्त्रोंका प्रतीक बतलाकर कहते हैं कि 'सोवियट राज्यको शस्त्रास्त्र-सम्पन्न गुप्तचर पुलिस सेनासे पूर्ण दृढ़ बनाना ही आवश्यक है ।' अतः राज्यलोपकी कल्पना मनोराज्यमात्र रह गयी ।

चाणक्यने ठीक ही कहा है कि शक्ति-मदसे बड़ा कोई मद नहीं है । 'प्रभुता पाइ काहि मद नाही' यह तुलसीदासजीकी उक्ति भी सभी व्यवस्थाओपर लागू होती है । धर्मनियन्त्रित रामराज्य-प्रणाली ही ऐसी व्यवस्था है, जिसमें राज्यमदका संचार नहीं हो पाता । राज्यमदका पान कर वे ही मत्त होते हैं जिन्होंने साधु-सभाका सेवन नहीं किया—

जे अचर्वत नृप मातहिं तेई । नाहिन साधुसभा जहिं सेई ॥

भरत-जैसे साधु पुरुषोंको तो विधि-हरि-हर-पद पानेपर भी मद नहीं हो सकता है । क्या कभी नगण्य तक्र-बिन्दुसे क्षीर-समुद्र फट सकता है—

भरतहि होइ न राजमद विधि हरि हर पद पाइ ।

ज्वहँ कि काँजी सीकरनि क्षीरसिंघु बिनसाह ॥

अस्तु । धर्महीन सोवियत-शासन शक्ति-मदका अपवाद नहीं कहा जा सकता । समाजवादी ढाँचेमें आर्थिक सत्ताका तो अन्त हो गया, परन्तु सर्वहारा-दलके अधिनायकत्वमें राजनीतिक तथा सामाजिक सत्ताका अन्त नहीं होना । नये सत्ताधारी शक्तिमदके अपवाद नहीं होते । क्रान्तिके उपरान्त ये शक्तिशाली व्यक्ति अपने स्थानोंसे अलग नहीं होना चाहते । फलतः न जनतन्त्र ही सम्भव होता है और न राज्यका लोप ही । मार्क्सवादी कहते हैं कि 'राष्ट्रियता भी प्रेजीवादका ही परिणाम है । सर्वहाराकी क्रान्तिमें सभी प्रकारके शोषणका अन्त होता है, फिर राष्ट्रिय शोषण भी नहीं रहेगा ।' परन्तु क्या सोवियत रूसमें सभी शोषणका अन्त हो गया ? क्या अब वहाँ राष्ट्रियता समाजवादी ढाँचेमें नहीं पनप रही है ? मार्क्सवादके अनुसार विश्वक्रान्तिके अन्तमें भी राज्य तो आवश्यक होंगे ही । फिर इन राज्योंका परस्पर सम्बन्ध क्या होगा ? यदि मध्यकालीन पोप या सम्राट्के तुल्य एक ही अधिनायक या शासक संचालक होगा तब तो उसकी अपेक्षा एक धर्मनियन्त्रित राम-जैसा सार्वभौम राजा या राज्योंके धर्मनियन्त्रित प्रतिनिधियोंकी सभाद्वारा संचालन हो तो भी क्या हानि है ?

महाभारतमें सामाजिक अनुबन्ध

महाभारत शान्तिपर्वमें गरुडव्याख्य भीष्मजीने अन्य धर्मोके साथ राजधर्मका भी उपदेश किया है । उसमें उन्होने अराजकताको बड़ा पाप बताया है और कहा है कि 'राज्यस्थापनाके लिये उद्यत बलवान्के सामने सबको ही झुक जाना चाहिये । अराजक राज्यको दस्यु नष्ट कर देते हैं—'अनिन्द्रमवलं राज्यं दस्यवोऽभिभवन्त्युत ।' अराजक राज्य निर्वीर्य होकर नष्ट हो जाते हैं । अराजकतासे अधिक कोई पाप नहीं ।

अराजकाणि राष्ट्राणि हतवीर्याणि वा पुनः ।

न हि पापात् परतरमस्ति किंचिदराजकात् ॥

(शा० प० राजा० ६७ । ७)

कुछ लोग भीष्मद्वारा वर्णित मात्स्यन्यायकी हाव्सकी प्राकृतिक स्थितिसे तुलना करते हैं । कहा जाता है कि जिस युगमें मनुष्य प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था, वह 'स्टेट आफ नेचर' (प्राकृतिक दशा) है । जिसमें प्राकृतिक युगके बन्धनसे मुक्त होकर सामाजिक जीवनमें प्रवेश करता है, उसे 'स्टेट आफ सोसाइटी' कहते हैं और जिसमें राज्य निर्माण करके राजनीतिमें प्रवेश करता है, वह है 'स्टेट आफ पोलिटिकल सोसाइटी' । जैसे जलमें प्रबल मत्स्य निर्बल मत्स्योंका भक्षण कर लेता है, वैसे ही प्रबल मनुष्य दूसरे निर्बल मनुष्योंके वित्त-कलत्र आदि सब कुछ छीन लेते हैं, एक दूसरेकी हत्या कर देते हैं—

अराजका. प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति न. श्रुतम् ।

परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥

(शा० प० ६७।१७)

इसे ही 'लाजिक आफ फिश' (मात्स्यन्याय) कहते हैं । इसी मात्स्यन्यायसे पीड़ित होकर मनुष्योंने एकत्र होकर सदाचारसम्बन्धी कुछ नियम बनाये । जैसे कठोर वाणी, पर-स्त्री, पर-धन-हरण आदिके त्यागका नियम बनाया गया । इससे काम, क्रोध, लोभ, मोहादिसे छुटकारा मिलता है और मनुष्य घृणित नारकीय यातनामय, भयभीत एवं सशङ्क क्षणिक जीवनसे हटकर सभ्य जीवनमें प्रवेश करता है ।

वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात् पारजायिकः ।

यः परस्वमथादद्यात् त्याज्या नस्तादृशा इति ॥

समे य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम् । (शा० प० ६७अ०)

हाव्सने भी 'स्टेट आफ नेचर' (प्राकृतिक राज्य) का इसी प्रकार वर्णन किया है, परंतु हाव्सके अनुसार मनुष्यमें केवल भय-वृत्ति थी । इसी भयसे बचनेके लिये स्वार्थमयी वृत्तिसे राज्यका विकास हुआ । परंतु भीष्मके अनुसार लोभ, मोह, काम, क्रोध, मद, मत्सर—ये छः प्रधान आसुरी वृत्तियाँ मात्स्यन्यायके कारण हैं । अतः इन सबसे छुटकारा पाना सामाजिक जीवन-निर्माणका उद्देश्य है । इन वृत्तियोपर विजय प्राप्त करना ही सभ्यता है ।

पर ये सामाजिक नियम (मारल लाज) ही बने रहे, वास्तविक नियम (पाजिटिव लॉ) न बन सके; क्योंकि उन नियमोंका पालन करनेके लिये विवश करनेवाली कोई सत्ता न थी । जनताकी स्वीकृतिमात्र ही उसका आधार था । भीष्मका यह समाज निर्माण सामाजिक अनुबन्ध या पारस्परिक समझौता था, किंतु नियम-निर्माणके बाद उन नियमोंका कोई नियामक न होनेसे पालन न हो सका । लोग मनमानी उन नियमोंका उल्लङ्घन करने लगे, तब उन्हें एक शासककी आवश्यकता हुई । जिसके नियन्त्रण या दण्ड-भयसे प्रजाको नियम-पालनके लिये विवश होना पड़े । एतदर्थ प्रजाने ब्रह्माके पास जाकर विनय की कि एक राजा या शासकके बिना हमलोग नष्ट हो जायेंगे, अतः हमलोगोंके लिये कोई समर्थ योग्य शासक दीजिये, जिसका कि हमलोग सम्मान करें और वह हमलोगोंका रक्षण करे ।

सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्ताः पितामहम् ।

अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश ॥

यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत् ॥ (शा० प० ६७।२०-२१)

तब ब्रह्माने प्रजाके सामने अष्टलोकपालोंके दिव्य प्रताप, तेज आदिसे युक्त मनुको प्रस्तुत किया । परंतु मनुने शासक बनना अस्वीकार कर दिया और कहा कि राज्य चला देनेमें पापका डर रहता है, राज्य चलाना बहुत कठिन काम है ।

राजाको दण्ड देना पड़ता है। विशेषतः मिथ्याचारमें सङ्गन प्रजाका पालन तो बहुत ही कठिन है। इसपर प्रजाने कहा कि 'तुम डरो मत, दण्ड देना पाप नहीं वह तो पाप करनेवालोंके पापोंका ही फल है और हमलोग पशु तथा सुवर्णके ल्यामका पचासवाँ भाग तथा धनका दसवाँ भाग राजकोप-वृद्धिके लिये तुम्हें देने रहेंगे। उत्तम वस्तु तुम्हें भेंट की जायगी। शस्त्रोंमें सुसज्जित शूर तुम्हारा अनुसरण करेंगे। इस तरह तुम दुष्प्रवर्ष और प्रतापयुक्त होकर विजयी होओगे। राजामें सुरक्षित होकर प्रजा जो पुण्यकर्म करेगी, उस धर्मका चतुर्थांग भी तुम्हें मिलना रहेगा। इस तरह सुखमें प्राप्त धन, धर्म एवं बलसे उपवृद्धि होकर तुम हमलोगोंका उसी तरहसे पालन करोगे, जैसे इन्द्र देवताओंका। तुम सूर्यकी भाँति चमकते हुए विजयके लिये प्रस्थान करो। शत्रुओंका मान-मर्दन करो, तुम्हारी सदा जय होगी।'

तमवृवन् प्रजा सा भैः कर्तृनेनो गमिष्यति ।

पञ्चनामधिपञ्चागद्विरण्यस्य तथैव च ॥

धान्यस्य दशम भागं दास्याम कोपवर्धनम् ।

सुखेन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्या प्रशानतः ॥

भवन्त तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः ।

विजयाय हि निर्याहि प्रतप्तन् रश्मिवातिव ॥

मानं विधम शत्रूणां जयोऽस्तु तव सर्वदा ।

(भा० प० रा० ६७। २३-२५। २९)

इस तरह राजाका वरण करके प्रजाने राज्यका निर्माण किया। यहाँ सामाजिक सघटन तथा सामाजिक नियमोंको स्थायी एवं अक्षुण्ण रखनेके लिये ही राज्यका निर्माण हुआ है। अतः राजाको उनमें ही अधिकार दिये गये हैं जितने कि उक्त कार्यके लिये आवश्यक थे।

हाव्सके कल्पनानुसार 'राजाको प्रजाने अपने सभी अधिकार नहीं सौंप। अतएव हाव्सके 'लिवियाथन' (दीर्घकाय) के तुरन्त यह राजा निरङ्कुश नहीं था। उसके अधिकार सीमित थे। यदि वह अधिकारोंका दुरुपयोग करे तो जनताको उसे पदच्युत करनेका भी अधिकार था।' हाव्सके अनुसार 'दीर्घकायका विरोध करना कथमपि न्यायसंगत नहीं है।' परन्तु भीष्मके अनुसार ऐसा नहीं। यहाँ उद्धत वेन-जैसे राजाको प्रजाप्रतिनिधि ऋषियोंने पदच्युत ही नहीं, उने नष्ट भी कर दिया था। यही भीष्म-सम्मत सामाजिक समझौताका सिद्धान्त या सोशल कंट्रैक्टकी थ्योरी है।

कुछ लोग भीष्मद्वारा वर्णित मात्स्यन्यायके युगको हाव्सका प्राकृतिक युग ही मानते हैं, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है; क्योंकि भारतके अनुसार वस्तुतः कृतयुगमें सभी प्रजा धर्मनिष्ठ तथा परम विवेक, विज्ञान, सयम-सम्पन्न थी। कालक्रम से सत्त्वगुणके हास होनेपर धर्म-हास होनेसे राज तम एवं तदुद्भूत अधर्म घटनेपर

ही मात्स्यन्यायका आविर्भाव हुआ। मात्स्यन्यायकी स्थिति प्राकृतिक अवस्था नहीं है। वह विकृतिभूत अवस्था है। शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार विक्रमकी अपेक्षा हासका ही पक्ष तथ्य है। इसीलिये विष्णुके पुत्र ब्रह्मा सर्वज्ञ हुए। ब्रह्माके पुत्र वशिष्ठ आदि भी सर्वज्ञरूप हुए। जिनकी सृष्टि जितनी कारणके समीप थी, उनमें उतनी ही स्वच्छता थी। फिर जितनी-जितनी कारणसे दूर होती गयी, उतनी ही स्वच्छता होती गयी। अतः कारणके अव्यवहित समीपस्थ प्रजा (प्राणी) सात्त्विक, धर्मात्मा, विचारशील तथा नियन्त्रित थी। वैसे भी हर एक कृतयुगमें सत्त्वका विकास अधिक ही होता है। जैसे प्रत्येक ग्रीष्म, हिम आदि ऋतुमें गर्मी, जाड़ा आदिका प्रादुर्भाव होता है। उसी तरह कृतयुगमें सत्त्वका विशेषरूपसे विकास होता है। इस तरह मात्स्यन्यायकी अवस्था विकार ही है, स्वाभाविक नहीं। इसीलिये दूसरे प्रसङ्गमें उसी राजधर्ममें भीष्मने बतलाया है—

नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः ।
 यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत् ॥
 न वै राज्यं न राजासीन्न च दण्डो न दण्डिकः ।
 धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥
 पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत ।
 खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत् ॥
 ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ ।
 प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेपामनीनशत् ॥
 नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा ।
 लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥
 अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः ।
 कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो ॥
 तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नामाभिसंस्पृशत् ।
 रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्ये युधिष्ठिर ॥
 अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च ।
 भक्ष्याभक्ष्य च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन् ॥
 विलुप्ते नरलोके वै ब्रह्म चैव ननाश ह ।
 नाशाच्च ब्रह्मणो राजन् धर्मो नाशमथागमत् ॥
 नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवांस्त्रासः समाविशत् ।
 ते त्रस्ता नरशार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥

‘आदि कृतयुगमें जिस तरह राज्य उत्पन्न हुआ वह मुनो, उस समय राज्य, राजा, दण्ड एवं दण्ड देनेवाला कुल भी नहीं था। समस्त प्रजा धर्मके अनुसार चलती थी और उसी धर्मने परस्पर रक्षा कर लेती थी। (उस समय अनन्त विद्याओंका उद्गमस्थान वेद तथा तदनुगारी आर्षिगान्धर्व सवको अम्यन्थे । अतः धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी उचित विवेकपूर्वक सभी व्यवस्थाएँ चल रही थीं । सम्यता, संस्कृति और ज्ञान विज्ञानकी उत्पत्ति पराकाष्ठापर पहुँची थी । रूसों तथा मार्कम आदिद्वारा कल्पित भविष्यके स्वर्णयुग उसके सामने नगण्य थे ।) धर्मनीतिसे अन्योन्य-पालन-सलग्न प्रजा कालक्रमसे वेद या शकावटको प्राप्त हो गयी, फिर उसमें मोहका प्रवेश हुआ । मोहके कारण स्मृतिभ्रम हुआ और फिर धर्मका लोप होने लगा । स्मृतिभ्रम होनेसे लोग लोभके वश होकर विचारहीन हो गये और फिर रागकी प्रवृत्ति हुई और फिर कामका प्रादुर्भाव हुआ । उससे कार्याकार्यका ज्ञान भी न रहा, फिर तो अगम्यागमन, भय्याभय, वाच्यावाच्य, दोषादोषका विचार नष्ट हो गया । ऐसी दशामें वेद जो कण्ठस्थ हो गये थे, विस्मृत हो गये । वेदके विस्मरणसे वेदोक्त धर्मकर्मका भी लोप हो जाना स्वाभाविक था । (इससे स्पष्ट है कि पहले वेदादि शास्त्रों एवं तदुक्त धर्म-कर्म, विवेक-विज्ञानोंका पूर्णरूपसे प्रकाश था ।) इस स्थितिको देखकर देवतालोक व्रत होकर ब्रह्माकी शरण गये और उस भयके दूर करनेका उपाय पूछा ।’ ब्रह्माजीने सोच-विचारकर सबके कल्याणार्थ धर्म, अर्थ, कामका बोधक तथा प्रापक एक लाख अव्ययोंका दण्डनीति-शास्त्र बनाकर देवताओंको दिया । उमें सर्वप्रथम शक्रजीने ग्रहण किया । उनसे बृहस्पति, शुक्र, इन्द्रादिने ग्रहण किया और उसका संक्षेप भी किया—

ततोऽध्यायसहस्राणां गतं चक्रे स्रुतद्विजम् ।

यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः ॥

उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च ।

नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता ॥

(भा० प० ५, ९ । २९, ७७)

यद्यपि यह शास्त्र भी वेदान्यामजन्य संस्कृत ब्रह्मबुद्धिसे प्रादुर्भूत होनेके कारण वेदमूलक ही था, फिर भी उस परिस्थितिके लोगोंमें विशेषरूपसे प्रभावशाली हुआ । प्रसुगममत वेदवाक्योंकी अपेक्षा सुदृढ़-सम्मत वाक्योंके रूपमें व्यक्त होकर यह अधिक उपकारी सिद्ध हुआ । फिर भी इसे पूर्णरूपसे कार्यान्वित करनेके लिये दण्डकी अपेक्षा थी । दण्डमें युक्त होकर निग्रहानुग्रहद्वारा लोकरक्षणका हेतु बनकर ही यह दण्डनीति प्रचलित हो सकती थी । अतः योग्य समर्थ दण्डप्रणेता प्राप्त करनेके लिये देवता विष्णुके पास गये और उनसे श्रेष्ठ नामक मोंगा । भगवान् नारायणने उन्हें श्रेष्ठ लोकपालोंके दिव्य

सद्गुणोंसे सम्पन्न एक निर्दोष विरजा (रजोगुणसे रहित) राजा निर्माण करके दिया ।

ततः संचिन्त्य भगवान् देवो नारायणः प्रभुः ।

तैजसं वै विरजसं सोऽसृजन्मानसं सुतम् ॥ (८८)

वह राजा प्रभुत्व-निरपेक्ष होकर त्याग-वैराग्यकी ही ओर रुचि रखता था । उसका पुत्र कीर्तिमान् और पौत्र कर्दम हुआ । क्रमेण अग, फिर वेन राजा हुआ । वह उत्पथगामी था । इसीलिये ऋषियोने उसे पदच्युत कर दिया और अभिमन्त्रित कुण्डोंसे मार डाला । उसका पुत्र पृथु हुआ । वह बहुत ही योग्य एवं धर्मात्मा हुआ । उसने ऋषियोंसे प्रार्थना की कि मुझे आपलोग आज्ञा दे, क्या करूँ । ऋषियोंने उससे प्रतिज्ञा करायी 'तुम नियत होकर, निःशङ्क होकर धर्मका आचरण करो । स्वयं प्रिय, अप्रिय छोड़कर सब काम-क्रोध, लोभ एवं मानको दूरसे ही त्यागकर सब प्राणियोंका समानरूपमें हिताचरण करो । जो भी धर्मसे विचलित हो गान्धर्वधर्मके अनुसार उसका निग्रह करो और यह भी प्रतिज्ञा करो कि मन, वचन, कर्मसे तुम भौम ब्रह्म (पृथ्वीके ब्राह्मणों) की रक्षा करोगे । जो भी धर्मनीतियुक्त होगा, निःशङ्क होकर उसका पालन करोगे और मनमानी कुछ न करोगे । यह भी प्रतिज्ञा करो कि ब्राह्मणोंको प्राणदण्ड नहीं दोगे और सभी लोकोंको साङ्कर्यसे बचाओगे ।'

पृथुने वैसी ही प्रतिज्ञा की और कहा कि 'ब्राह्मण सदा ही हमारे नमस्स होंगे ।' इस तरह परस्पर वचनबद्ध होकर राज्य व्यवस्थित किया गया । इसे ही 'मोगल कट्टाक्टस' कहा जा सकता है । शुक्राचार्य पृथुके पुरोहित हुए । बालखिल्य ऋषिगण मन्त्री हुए । देवताओं तथा इन्द्रके साथ विष्णुने पृथुका अभिषेक किया । पृथुने प्रजाका रक्षण किया और इसलिये वे राजा कहे गये—

तस्मैचुस्तत्र देवास्ते ते चैव परमर्षयः ।

नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्कः समाचर ॥

प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु ।

कर्मं क्रोधं च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः ॥

यश्च धर्मात् प्रविचलेल्लोके कश्चन मानवः ।

निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद् धर्ममवेक्षता ॥

प्रतिज्ञां चाविरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा ।

पालयिष्याम्यह भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ॥

यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः ।

तमशङ्कं करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥

अदण्डया मे द्विजाञ्चेति प्रतिजानीहि हे विभो ।

लोकं च सङ्करान् कृत्स्नं त्रातास्मीति परंतप ॥

पृथुस्वाय—

ब्राह्मणा मे महाभागा नमस्या पुरुषर्षभा ।
पुरोध्राश्चाभवन् तस्य शुक्रो ब्रह्ममयो निधिः ॥
य विष्णुना च देवेन शक्रेण विबुधैः सह ।
ऋषिभिश्च प्रजापालैः ब्राह्मणैश्चाभिपेक्षितः ।
रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते ॥

(महा० जा० प० ५९ । १०३-११०, ११६, १२५)

कुछ लोग सत्ययुगके धर्मराजको लॉक था रूसोके प्राकृतिक युगसे तुलना करते हैं और कहते हैं कि 'उम समय राज्यकी परिपाटीका ज्ञान लोगोंको नहीं था । उस समयके मनुष्य राजनीतिक जीवनमें अनभिज्ञ थे ।' परंतु यह सर्वथा असंगत है । वस्तुतः भीष्मद्वारा वर्णित कृतयुगके राज्य-विहीन प्रजाका वर्णन अविशेष एव अज्ञानमूलक न होकर धर्मज्ञानोत्कर्षमूलक था । रूसो एव मार्क्स जिस स्वर्णयुगको उन्नतिकी परावाष्टा मानते हैं, उनमें भी उत्कृष्ट कोटिकी यह भीष्मोक्त स्थिति है । वह धर्मराज्य सर्वज्ञता, ब्रह्मनिष्ठताकी आधारभित्तिपर स्थित था और राजदण्डादिसे मुक्त था, क्योंकि सभी विवेकी थे, वेद उन्हें कण्ठस्थ थे । उन्हें कोई वस्तु अविदित थी, यह नहीं कहा जा सकता ।

गङ्गा हो सकती है कि 'जब वे इतने ज्ञानसम्पन्न थे, तब इतने भीषण अनाचारी होकर मात्स्यन्यायके शिकार कैसे हो गये ? इस बातका समाधान लॉक एव रूसोके मतसे भले न हो सके, किंतु धर्मवादी भीष्मके मतानुसार जीव अनादि होता है । उसके कर्मोंकी परम्परा भी अनादि है । उन्हीं कर्मोंके अनुसार सत्त्व, रज, तममें हास-विकास होता रहता है । कालक्रमसे वैसे कर्मोंके उद्भूत होनेपर खेद, तम, मोह, प्रतिपत्ति, विनाश, राग, काम, धर्मलोप आदिका विस्तार हुआ और प्राणी पतित हो गया । आज भी हम देखते हैं कि कोई अच्छा आदमी भी परिस्थितियों, घटनाओं और कर्मके वश होकर खराब हो जाता है और कभी खराब आदमी अच्छा हो जाता है । जैसे मार्क्सके स्वर्णयुगकी कल्पनामें 'राजा—राज्यादि नहीं होते' यह अज्ञतामूलक नहीं, किंतु विजतामूलक है । उसी तरह भीष्मके कृतयुगका राज्यादिविहीन धर्मराज्य अज्ञतामूलक नहीं था, किंतु विजतामूलक था । सुतरा लॉकके 'सिविल गवर्नमेन्ट' पुस्तकमें वर्णित 'ओरिजिनल स्टेट आफ नेचर' और भीष्मके धर्मराज्यमें पर्याप्त अन्तर है । हाक्सके प्राकृतिक युगसे तो इसका महान् भेद है ही । हाँ, हाक्सके प्राकृतिक युगका भीष्मके विकृत युगके मात्स्यन्यायसे कथंचित् मेल बैठता है ।

रूसोके प्राकृत युगका मनुष्य भावुक था । विवेकहीन होनेके कारण उसे सुख-दुःख नहीं होता था । परंतु भीष्मका आदिम पुरुष पूर्ण विवेकी तथा

सुखी था । भारतीय शास्त्रोंमें कहा गया है कि दो ही ढंगके पुरुष सुखी रह सकते हैं—एक अत्यन्त विवेकीन मूढ़, दूसरा परम विवेकी तत्त्ववेत्ता । दूसरे सभी लोग मध्यवर्ती दुखी ही रहते हैं ।

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परंगतः ।

द्वाविमौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥

(श्रीमद्भा० ३ । ७ । १७)

रूसोका 'प्राकृत पुरुष' पहली कोटिका था, भीष्मका 'कृतयुगी पुरुष' दूसरी कोटिका । लॉक एवं रूसोका 'प्राकृत स्वर्णयुगसे पतित, समाजके पुरुष' तथा हाव्सका 'प्राकृतिक पुरुष' अपनी सुख-शान्तिके लिये आपसी विचारसे ही राज्यनिर्माण करते हैं, परंतु भीष्मके 'धर्मराजसे पतित मनुष्य' ब्रह्माकी शरण जाकर राजनीति शास्त्र प्राप्त करते हैं और विष्णुसे योग्य शासक प्राप्त करते हैं । फिर उससे समझौता करते हैं कि वह कभी भी नीतिशास्त्रके नियमोंका उल्लङ्घन नहीं करेगा । रूसोद्वारा कथित राज्यकी आधारशिला लोगोंकी 'सामान्येच्छा' है, किंतु भीष्मके राज्यकी आधारशिला ब्रह्मा-द्वारा निर्मित 'विधिशास्त्र' । इस तरह भीष्मके राज्यका आधार पवित्र एवं श्रेष्ठतम विधि है।

भीष्मके दोनो ही वर्णनोंकी एकवाक्यता करके ही उनकी व्यवस्था समझी जा सकती है । दोनो वर्णनोंका दो अर्थ मानना सर्वथा असंगत है । दोनोकी एकवाक्यतासे यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रथम कृतयुगमें वेदादि शास्त्र तथा तदुक्त ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न मनुष्य राजादि विहीन धर्मराज्यमें ही रहते थे । सब धर्म नियन्त्रित वेदज्ञ तथा धर्म-ब्रह्मज्ञ थे । सब सुखी, शान्त, सन्तुष्ट एवं विविध वैभवोंसे पूर्ण थे । कालक्रमसे प्राक्तन कर्मानुसार आसुरी वृत्तियोंका जागरण हुआ । दैवी वृत्तियोंके अभिभव हो जानेसे उनका पतन हुआ और फिर उस अवस्थासे खिन्न होकर पुनः धर्मनियन्त्रित राज्यकी स्थापनाके लिये ब्रह्माकी रायमे राजनीति-शास्त्र ग्रहण किया । फिर उसे पूर्णरूपसे कार्यान्वित करनेके लिये विष्णुमे राज्य प्राप्त किया और उसको तथा अपनेको वचनबद्ध करके सीमित शक्तोंके साथ सामाजिक समझौता या सोशल-कंट्रैक्ट-थ्योरीके अनुसार धर्म-नियन्त्रित राजाका राज्य स्थापित किया ।

व्यक्तिवाद

यद्यपि सभी सिद्धान्तोंमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रताको महत्त्व दिया जाता है, किंतु व्यक्तिवादमें व्यक्तिको सर्वोच्च स्थान दिया गया है । इस मतमें न्याय एवं सुरक्षाके अतिरिक्त व्यक्तिकी स्वतन्त्रतामें समाज या राज्यका हस्तक्षेप ही नहीं होना चाहिये । इसीलिये व्यक्तिवादी राज्यमें व्यक्तिको निजी, सामाजिक तथा आर्थिक विषयोंमें स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये । इसीको 'यद्भाष्य-नीति' कहा जाता है । यह पूर्वावाधियोंके संघर्षकी देन है । सामन्तशाही प्रतिवन्धोंके मिटाने, स्वतन्त्र

व्यापार करनेके लिये व्यक्तिवादके आधारपर व्यापारियोंने सवर्ष किया था । डगलैडमें इसके लिये एक बड़ी पूँजी देनी पड़ी थी । वहींकहीं लडाइयों भी लड़नी पड़ी थी । दार्शनिकोंने भी यह प्रतिपादन किया कि आर्थिक प्रगतिके हेतु राज्यका आर्थिक एवं सामाजिक विषयोंमें हस्तक्षेप करना उचित नहीं । इन विषयोंमें व्यक्तिको पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये । इसी आधारपर १९ वीं सदीमें ब्रिटेनमें औद्योगिक क्रान्ति हुई और उसके नेता पूँजीपति ही थे । ब्रिटेनमें उनका ही प्राधान्य था । सामन्तों एवं श्रमिकोंसे सवर्ष लेकर वे लोग मफल हुए थे । अर्थशास्त्र, उपयोगितावाद, मिलकी स्वतन्त्रता एवं स्पेन्सरके जीवशास्त्रके आधारपर व्यक्तिवादका प्रचार बढ़ा । ब्रिटेनमें अर्थशास्त्रके चार प्रमुख दार्शनिक हुए । आरम्भमें स्मिथ (१७२३-१०) हुए । उनकी पुस्तक 'राष्ट्रोंकी सम्पत्ति' पूँजीपतियोंके लिये बाइबिल-तुल्य हुई । इसमें व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रका विग्लेपण है । माल्थस (१७६६-१८३४) के 'जनसंख्यासम्बन्धी सिद्धान्त'का अर्थशास्त्रमें महत्त्वपूर्ण स्थान है । रिकार्डो (१७७२-१८२३) के 'भूमिकर सिद्धान्त'का भी अर्थशास्त्रपर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा । स्टुअर्ट मिल (१७७३-१८३६) के 'अर्थशास्त्रके सिद्धान्त' पुस्तकका भी बड़ा प्रभाव पड़ा । इन लोगोका अनेक विषयोंमें मतैक्य था । वे नैसर्गिक नियमोंके समान ही अर्थशास्त्रके नियमोंको भी अपरिवर्तनीय मानते थे । जैसे ग्रीष्मके पश्चात् ग्रीष्म, ग्रीष्मके बाद वर्षा आनेका नियम तथा सूर्यका पूर्वमें उदय होकर पश्चिममें अस्त होनेका नियम नैसर्गिक एवं अपरिवर्तनीय है, तदनुसार प्राणीको जाड़ेमें गरम और गर्मियोंमें हल्के कपड़े पहनने पड़ते हैं, उसी तरह अर्थशास्त्रके नियम भी अपरिवर्तनीय हैं । मनुष्यको उसके अनुकूल ही अपने-आपको बनाना पड़ता है । कहा जाता है कि यह सिद्धान्त पूँजीपतियोंके अनुकूल किंतु श्रमिकोंके लिये विप-तुल्य था ।

व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रके सात नियम थे—१. निजी स्वार्थका नियम— इसके अनुसार 'मनुष्य तार्किक एवं स्वार्थी है, वह स्वयं अपना हित-अहित जानता है । सस्ता खरीदकर महंगा बेचता है । उसे स्वतन्त्रता मिलनेपर वह स्वयं ही बढ़ जाता है । कहा जाता है कि इन्ही सिद्धान्तोंके अनुसार 'लार्ड क्लाइव' 'वारेन हेस्टिंग्स' जैसे लोग साधारण श्रेणीसे उठकर भारतमें अंग्रेजी राज्यके जन्मदाता बने और गवर्नर बने । इन लोगोंकी दृष्टिसे 'मनुष्यके हित एवं समाजके हितमें विरोध नहीं है ।' मनु, शुक, बृहस्पति आदिके मतसे कहा जा चुका है कि व्यक्तिके समुदायका नाम ही समाज है । सुतरा व्यक्तियोंके सुखी हो जानेपर समाज सुखी होगा । एवं समाजके सुखी होनेपर व्यक्तियोंका भी सुखी हो जाना स्वाभाविक है ।

२. स्वतन्त्र प्रतियोगिताका नियम— 'अपना हित-अहित समझकर

मनुष्य बाजारसे एक वस्तुका क्रय-विक्रय अपने हितकी दृष्टिसे करता है। अपनी वस्तुका ज्यादा-से-ज्यादा दाम चाहता है। दूसरी वस्तु न्यूनतम मूल्यमें खरीदना चाहता है। राज्यको इस सम्बन्धमें नियम नहीं बनाना चाहिये। माँग और पूर्तिके आधारपर वस्तुओंके मूल्य निर्धारित हो जायेंगे। वस्तुकी माँग अधिक, पूर्ति कम होनेसे मूल्य बढ़ता है। पूर्ति अधिक, माँग कम होनेसे मूल्य घटता है। स्वतन्त्र प्रतियोगिताद्वारा वस्तुओंका वितरण भी स्वयं ही हो जायगा। जहाँ वस्तुकी आवश्यकता होगी वहाँ व्यापारी पहुँचायेगा। जहाँ माँग न होगी वहाँ नहीं भेजेगा। इसी प्रकार अपना व्यवसाय भी प्रत्येक व्यक्ति स्वयं निर्धारित करेगा। किम कार्यके करनेसे उसे लाभ होगा, किससे हानि, इसे मनुष्य स्वयं ही जानता है। उसमें भी राज्यका हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। वेतन-निर्धारणमें भी राज्यका हस्तक्षेप अनुचित है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिको अपनी आवश्यकताका ज्ञान है। वह अपना वेतन स्वयं ही निर्धारण कर लेगा।'

रामराज्यवादीका मत है कि यदि सभी लोग शिक्षित हों तो अन्ततः यह सिद्धान्त ठीक हो सकता है। जब ससारमें स्वार्थके लिये जाल, फौरेव भी चलता ही है, तब अज्ञित, अजानी प्राणियोंको धोखा हो सकता है। मोलतोल करना भी सबको नहीं आता। फिर सभी व्यक्ति क्रय, विक्रय व्यवहार भी नहीं समझ सकते। हीरा, पन्ना, पद्मराग आदि मणियों तथा अन्य रत्नोंका गुण सब लोग नहीं समझ पाते। इसीलिये रत्न-परीक्षा-शास्त्र तथा विशेषज्ञोंकी आवश्यकता होती है। अतएव सावधानीके लिये बोर्डोंपर सरकारी या गैरसरकारी तौरपर विभिन्न वस्तुओंके मूल्य-निर्धारणोंका उल्लेख रहता है। नदी पार उतारनेवाले नौकावाहकों, मोटर टैक्सी आदिके भाडोंका सरकारी तौरपर निर्धारण मिलता है। सर्वसाधारणके अज्ञानका दुष्परिणाम देखकर ही यह सब किया जाता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी रुपयेकी आवश्यकता अधिक होनेसे गरीब किसानोंको अपना गेहूँ, अन्न, कपास आदि सस्ते दाममें बेचनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। ऐसी स्थितिमें उत्पादन एवं आवश्यकता देखकर किसी सीमातक नियन्त्रण आवश्यक होगा। कहीं दरका नियन्त्रण करनेके लिये सरकारी दूकानें भी खोलनी पड़ती हैं। वेतन आदिके सम्बन्धमें भी यद्यपि सामान्यतया यही ठीक है कि नौकर और मालिक स्वयं ही आवश्यकतानुसार वेतनका निर्णय करे, तथापि नागरिकोंके निर्धारित जीवनस्तरके अनुसार वेतनकी भी कुछ सीमा निर्धारित करना आवश्यक है ही, अमुक अमुक काममें कम से कम वेतन कितना होना चाहिये—भले ही उससे ऊपर योग्यता एवं कामके अनुसार नौकरीमें कमी-वैशी हो सकती है। इसीलिये 'युक्ति-कल्पतरु' आदि ग्रन्थोंमें विभिन्न मणियों, रत्नोंके गुणों एवं मूल्योंका निर्धारण किया गया है। वेतनके सम्बन्धमें भी स्मृतिग्रन्थोंमें इस प्रकार

उल्लेख है कि 'यदि मालिक और नौकरने बिना तय किये ही काम किया और कराया है तो वेतनके सम्बन्धमें विवाद उपस्थित होनेपर न्यायालयद्वारा कृषि, पशुपालनादि सम्बन्धमें लाभकी अमुक मात्रा नौकरको दिलानी चाहिये।' हाँ, यह सब बात भले राज्यके द्वारा न होकर समाजके द्वारा हो। ससारमें रजोगुण, तमोगुणकी बहुतायत होती है। उम हालतमें 'दुर्लभो हि शुचिर्नरः' पवित्र लिंग बहुत कम मिलते हैं। अतः बिना नियन्त्रणके अनेक ढंगसे जोषण चलेगा ही। शास्त्रानुसार तो वैश्योंके भी कामके घटे नियत हैं और उनकी उच्चस्तरीय स्वस्थता-की जिम्मेदारी भी मालिकोंपर ही डाली गयी है। फिर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मनुष्य प्राणीके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या? सुतरा उनके कामके घटोंका नियम एव उचित वेतनकी व्यवस्था राज्य या सरकारद्वारा अवश्य ही होनी चाहिये।

३. जन-संख्याका नियम— जॉन माल्थसने बताया कि 'जनसंख्याकी वृद्धि ज्यामितिक ढंगसे २ से ४ (२×२) होती है और उपजकी वृद्धि अकर्मणितके ढंग २ से ३। इस नियमको भी अपरिवर्तनीय माना जाता है। अतः एक समय ऐसा आता है कि जब बढ़ती हुई जनसंख्याके लिये देगकी उपज पर्याप्त नहीं होती। फलतः कई लोगोंको भूखा रहना पड़ता है। तब अकाल, युद्ध, भीषण बीमारियोंद्वारा जनसंख्याका घटना ही अस्थायी तौरपर समस्याका समाधान होता है।' वस्तुतः इस तर्कद्वारा भी गरीबीको प्राकृतिक एव अनिवार्य बतलाकर राज्यके अहस्तक्षेपका ही समर्थन किया गया है। इसीलिये सतति-निरोधका भी प्रयत्न चलता है। वस्तुनः अब माल्थसका सिद्धान्त खण्डित हो गया है। उत्पादनके क्रममें घटाव, बढ़ाव दोनों ही होते हैं। उचित उपचारों एव प्रवन्धोंसे उत्पादनका विस्तार किया जा सकता है। खाद्यकी कमीके कारण मनुष्योंकी संख्या घटानेका प्रयत्न अमानुषिक है। न्याय और भावनाके नाते मनुष्यकी लम्बाईके अनुसार पल्लवकी लम्बाई बढ़ानी चाहिये, न कि मनुष्यका पाँव काटकर उसे पलंगके अनुसार बनाना चाहिये। ठीक इसी तरह उत्पादन-प्रगतिद्वारा ही जनसंख्याकी समस्या हल करना उचित है।

४. पूर्ति-मॉगके नियमानुसार 'पूर्ति मॉगसे अधिक हो तो दाम घटता है। पूर्तिकी अपेक्षा मॉग अधिक हो तो दाम बढ़ता है।' यह नियम अवश्य ठीक है; परन्तु यह भी सर्वथा अपरिवर्तनीय नहीं कहा जा सकता। उत्पादन और प्रति व्यक्तिकी आय एवं अनिवार्य आवश्यकताको ध्यानमें रखते हुए इसमें भी नियन्त्रण आवश्यक होगा। जैसे कभी मॉग कम होनेपर लागत मूल्यसे भी कम दाममें वस्तु बेचनी पड़ती है, वैसे ही व्यक्तिसामान्यकी आय एव अनिवार्य आवश्यकताके अनुसार कई वस्तुओंका न्यूनतम, कईका अधिकतम मूल्य निर्धारण करना आवश्यक है।

५. वेतनका नियम—‘यदि श्रमिकोंकी संख्या आवश्यक नियुक्तिकी संख्यासे अधिक होगी तो वेतन घटेगा। यदि नियुक्तिकी संख्यासे श्रमिकोंकी संख्या कम होगी तो वेतन बढ़ेगा। यदि दो पूँजीपति एक श्रमिकके पीछे चले तो वेतन बढ़ेगा। यदि दो श्रमिक एक पूँजीपतिके पीछे चले अर्थात् उससे नौकरी देनेके लिये आग्रह करे तो वेतन घटेगा।’ व्यक्तिवादियोंके मतानुसार, ‘वेतन-निर्धारणमें राज्यको हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।’ सामान्यतया यह नियम ठीक है, परंतु अपरिवर्तनीय नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अनिर्णीत अवस्थामें काम करनेपर न्यायालयको वेतनकी कोई-न-कोई दर निश्चित करनी पड़ेगी। इस तरह नागरिकोंका एक साधारण जीवनस्तर बनानेके लिये न्यूनतम मूल्यका निर्णय करना ही पड़ेगा। भारतीय शास्त्रोंने कृषि, गो-रक्षा, वाणिज्य आदिमें श्रमिकको लाभका छटा (आदि) भाग देना निश्चित किया है, जिसका विस्तार हम आगे दिखायेंगे। नौकरके कुटुम्बका पोषण, स्वास्थ्य, शिक्षण और काम देखकर न्यूनतम उचित वेतनका निर्णय राज्य या समाजको अवश्य करना चाहिये। उसके ऊपर श्रमिक और नियुक्तिकी संख्याके अनुसार घटाव, बढ़ाव उचित हो सकता है। मिल आदि श्रमिकोंकी संख्या कम करके मॉगपूर्तिके आधारपर ही वेतन बढ़ाना उचित मानते थे। वेतन कोपके सिद्धान्तानुसार प्रत्येक देशकी आयका एक भाग वेतनके लिये व्यय होता है। यह पूँजी निश्चित रहती है। श्रमिकोंकी संख्या अधिक होनेसे कम हिस्सा मिलेगा। कम रहनेसे अधिक हिस्सा मिलेगा। यदि राष्ट्रीय वेतन कोष १०० रुपया है और श्रमिकोंकी संख्या दस हो तो प्रत्येकको दस-दस मिलेगा। पाँच संख्या होगी तो बीस-बीस मिलेगा। निजी धन एकत्रित करनेके अभिप्रायसे ही मजदूरोंकी गरीबी दूर करनेका कोई प्रयत्न नहीं हुआ। धर्म-नियन्त्रित शासनतन्त्रसे यह सर्वथा विरुद्ध है।

६. भूमिकरका नियम—कहा जाता है कि यह नियम रिकार्डोंकी देन है। उसके अनुसार ‘भूमि या किसी वस्तुका कर स्वयं ही निर्धारित होता है। जैसे यदि ‘अ’ खेतकी उपज औसत उपज है। यदि ‘ब’ खेतकी उपज उस औसत उपजसे अधिक है तो वह अतिरिक्त उपज खेतका कर होगा।’ यह भी अपरिवर्तनीय नियम माना जाता है। इस सम्बन्धमें भी भारतीय दृष्टिकोणसे श्रम और लाभके अनुसार भारतीय शास्त्रोंमें लाभका छटा, पाँचवाँ, चौथा, कहीं-कहीं नवाँ, दसवाँ भाग भी राज्यका कर निर्धारित किया गया है। वही ठीक प्रतीत होता है।

७. अन्ताराष्ट्रिय विनिमयका नियम—देशके आयात-निर्यातपर कर नहीं लगना चाहिये। जैसे देशके बाजारोंमें पूर्ति और मॉगके नियमसे मूल्य और वितरण निर्धारित होता है, वैसे ही अन्ताराष्ट्रिय बाजारमें भी वस्तुओंका मूल्य और उनका आयात-निर्यात निश्चित हो सकता है। इसीको ‘मुक्त व्यापार’ भी कहते हैं।

कहा जा सकता है कि 'नैपोलियनसे होनेवाले युद्धके समय (१८०२-१४) यूरोपके अनाजपर ब्रिटिश सरकारने आयात कर लगाया था । इससे ब्रिटेनके अनाजका मूल्य बढ़ा था । इसमें जमींदारोंका लाभ भी बढ़ा था । किंतु इससे जनसाधारण एवं श्रमिकोंका निर्वाह-व्यय बढ़ा । श्रमिकोंने वेतन-वृद्धिकी माँग की । वेतन-वृद्धिसे धनिकोंका लाभ घटता था । उस समय जनसाधारणकी सहायताके नामपर पूँजीपतियोंने मुक्त व्यापारकी माँग की । अन्नकर रद्द करनेका आन्दोलन हुआ । सघर्षके पश्चात् अन्नकर हटाया गया । तभीसे मुक्त व्यापारकी प्रथा चली । अन्न सस्ता हुआ । श्रमिकोंकी वेतनवृद्धिकी माँग कुछ दिनोंके लिये रुक गयी । पूँजी-पतियों एवं सामन्तोंका लाभ हुआ । अन्तराष्ट्रिय व्यापारमें भी इसने ब्रिटेनके व्यापारियोंका लाभ हुआ । ब्रिटेनमें ही सर्वप्रथम औद्योगिक क्रान्ति हुई थी । अतः अन्य देशोंकी वस्तुओंसे ब्रिटेनकी वस्तु अच्छी और मस्ती थी । यदि सर्वत्र मुक्त व्यापारकी प्रथा होती तो ससारभरके बाजारपर ब्रिटेनका ही अधिकार हो जाता । जहाँ उनका अधिकार था वहाँ सदियोंके देशी व्यापारोंका अन्त हो गया । साम्राज्यवादसे व्यापारमें वृद्धि एवं व्यापार-वृद्धिसे साम्राज्य विस्तार हुआ ।'

भारतीय राजनीतिसे यह भी विरुद्ध है । कारण, स्वार्थी लोग लाभके लिये देशका माल विदेशोंमें भेज देते हैं । देशके लिये उपयोगी वस्तुओंको महंगी कर देते हैं । इससे गरीबोंका जीवन सड़कमें पड़ जाता है । अतः सरकारोंका कर्तव्य है कि वह देशके उपयोगलायक पदार्थसे अतिरिक्त हो तभी वह बाहर जानेकी आज्ञा दे । इसी तरह जिससे अल्पमूल्यमें सबका कार्य चल सके और अपने देशके व्यापारकी वृद्धि हो इस दृष्टिसे विदेशी मालपर प्रतिबन्ध या उचित कर लगाया जाय । कौटिल्य आदिने इस करका समर्थन किया है । जर्मनी आदि राज्योंने आयातकर लगाकर अपने राष्ट्रव्यवसायोंको ब्रिटेनकी प्रतियोगितासे बचाया । ब्रिटेनने भी अमेरिकाकी वस्तुओंका एकाधिकार रोकनेके लिये १९३१ में रक्षित व्यापार-प्रथाको स्वीकार किया । इस दृष्टिसे उपर्युक्त नियम ग्रीष्मके अनन्तर वर्षाऋतुके आने या सूर्यका पूर्वमें उदय होकर पश्चिममें अस्त होनेके नियम-जैसे प्राकृतिक नियम नहीं हैं और न ये नियम ईश्वरीय शास्त्रोंसे ही समर्थित हैं ।

उपयोगितावाद

वेन्थम (१७४८-१८३२) ने उपयोगितावादद्वारा भी व्यक्तिवाद की प्रथाका समर्थन किया था । हेनरी-मेनके मतानुसार 'उस समयके वैधानिक सभी सुधारोंपर वेन्थमके विचारोंकी छाप है । उसके विचारोंके बड़े बड़े ११ ग्रन्थ हैं । उसने फ्रांस, अमेरिका एवं भारतवर्षके लिये भी विधान बनाये थे । उसने प्रतियोगिताद्वारा कर्मचारियोंकी नियुक्ति, सरकारी विभागोंका स्फटन नोट

मुद्रणकला, उपनिवेशसम्बन्धी मताधिकारके सम्बन्धमे विचार व्यक्त किये हैं। कहा जाता है वेन्थमको प्रीस्टलेका एक सूत्र मिला 'अधिकतम लोगोका अधिकतम हित'। प्रीस्टलेसे पूर्व फ्रांसिस एवं इचीसनने भी इसी सूत्रका अनुकरण राज्यका मुख्य ध्येय बताया था। ग्रीसके 'हिडनिज्म दर्शन'के अनुसार मनुष्यके कार्य सुख-दुःखके मान-दण्डसे निर्धारित होते हैं। उसने इस सिद्धान्तको उक्त सूत्रसे मिलाया और अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'न्याय और व्यवस्थाके सिद्धान्तोकी प्रस्तावना'में बताया कि 'प्रकृतिने मनुष्य-जातिको दो सत्ताधारी स्वामियो—सुख और दुःखके अधीन बनाया। मनुष्यके कार्य सुख-दुःखपर आश्रित है। जीवनका एकमात्र ध्येय सुख-प्राप्ति, दुःखनिवारण है। यही जीवनका सार है। जिसका जीवन इस सिद्धान्तद्वारा नहीं चालित होता, वह अशानी है। सुख-दुःखका अर्थ उपयोगिता है। वही वस्तु उपयोगी है, जिससे सुख हो। आनन्द या आनन्द-कारण सुख है। क्लेश या क्लेश-कारण दुःख है।' वेन्थमके अनुसार 'मनुष्यके सभी भौतिक कार्य उपयोगितासे ही निर्धारित होते हैं। धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, भलाई-बुराईकी परख उपयोगिताके ही आधारपर की जाती है। जीवन-उपयोगिता ही सत्ताधारी है।'

उसके अनुसार 'नैसर्गिक, लौकिक, राजनीतिक और धार्मिक—ये चार सुख-दुःखके स्रोत हैं। जैसे किसीका मकान जल गया। यदि वह उसकी भूलसे जला तो नैसर्गिक स्रोतसे दुःख हुआ। यदि पड़ोसीकी बुरी भावनासे हुआ तो लौकिक स्रोतसे। सरकारी आदेशसे जलाया गया तो राजनीतिक स्रोतसे। यदि दैवी प्रकोप-से जला तो धार्मिक स्रोतसे दुःख हुआ।' 'वेन्थमके अनुसार'—सुख-दुःखकी मात्राकी परख तीव्रता, समयप्रसार, निश्चय, स्मीपता, उपजाऊपन, शुद्धता और विस्तार—इन सात विशेषताओद्वारा होती है। इन्हींके आधारपर वस्तुकी उपयोगिता निर्धारित होती है।' उसके अनुसार सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्तिके लिये ही राज्यके सब नियम बनने चाहिये। अधिकतम लोगोका सुख ही राज्यका ध्येय होना चाहिये। व्यवस्थापक उक्त सात विशेषताओद्वारा ही इसकी जानकारी प्राप्त कर सकता है।'

उपयोगिता एवं व्यक्तिवाद—उपयोगिताकी दृष्टिसे राज्यके नियम स्वतन्त्रताके बाधक होते हैं अतः नियम विकारतुल्य है। किंतु उनके बिना सम्य जीवन-निर्वाह सम्भव नहीं। अतः वह आवश्यक विकार है। राज्यको कम-से-कम नियम बनाना चाहिये। जैसे 'आरोग्यता सर्वोत्तम है, परंतु अस्वस्थ होनेपर औषध आवश्यक है। स्वतन्त्रतापूर्ण जीवन उपयोगिताकी दृष्टिसे आदर्श जीवन है। परंतु चोरी, दुराचार आदि बाधाओके द्वारा स्वतन्त्रता-भंग होनेकी सम्भावना होती है। तब नियम ही औषधका काम करते हैं। राज्यका नियम बाधा तो अवश्य है परंतु आवश्यक है; क्योंकि उससे अन्य असामाजिक बाधाएँ दूर होती हैं। औषधका प्रयोग लैमे कम-से-कम करना आवश्यक है; जैसे ही राजकीय नियमरूप बाधा

कम-से-कम होनी चाहिये। जैसे व्यक्ति स्वास्थ्यकी दृष्टिसे आरोग्य स्थितिमें ही चाहता है, वैसे ही उपयोगिताकी दृष्टिसे स्वच्छता, स्वतन्त्रता चाहता है। अतः सत्ताधारी उपयोगिताकी दृष्टिसे व्यवस्थापकको कम-से-कम नियम बनाने चाहिये। 'वेन्यम' के अनुसार व्यवस्थापकको नियम निर्माणके पूर्व इसपर विचार करना चाहिये कि नियमद्वारा जो कार्य रोके जाते हैं, वे समाजके लिये विकार हैं कि नहीं? उदाहरणार्थ — चोरी। साथ ही प्रस्तावित नियम विकारात्मक कार्यसे कम विकार है या अधिक? जैसे १००० रु० की चोरीके समक्ष तीन मासका कारागार कम विकार है या ज्यादा? अतः केवल चोरी आदि रोकनेके लिये ही नियम ठीक है। यह नागरिक-की स्वतन्त्रतामें सहायक है। समाजके कुछ लोग स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करते हैं। वे ही आदर्शभूत स्वतन्त्र-परिस्थितिमें बाधक होते हैं। इसलिये राज्यको नियम-द्वारा उसका नियन्त्रण आवश्यक होता है। अतः राज्य आवश्यक है। परंतु राज्य-का संचालन अपरिवर्तनशील तथा नैसर्गिक नियमोद्धार होना ठीक है। व्यक्तिके आर्थिक एवं सामाजिक विषयोंमें हस्तक्षेप करनेसे उपयोगिताकी वृद्धि सम्भव नहीं होती। प्राकृतिक बहुमूल्य उपयोगिता-वृद्धिके लिये शान्तिस्थापनाके क्षेत्रमें ही राज्यको नियम-निर्माण करना चाहिये। इस विषयमें भी नियम-निर्माण उपयोगिताके मानदण्डसे ही होना चाहिये।'

वस्तुतः भारतीय दर्शनके अनुसार केवल लौकिक सुखप्राप्ति एवं दुःख-निवृत्तिकी दृष्टिसे ही कार्य नहीं किया जाता है। नैयायिकोंने दुःख-निवृत्तिको ही अन्तिम ध्येय बताया है। सुख-प्राप्ति एवं उसके रागको दुःख ही बतलाया है और कहा है कि कुपित फणी (नाग) के फणातपत्रकी छायामें विश्रामके तुल्य ही सुखमें विश्राम है। वेदान्तके अनुसार भी लौकिकप्रिय (सुख) अप्रिय (दुःख) से अतीत होनेसे परम पुरुषार्थस्वरूप अपवर्ग मिलता है। 'नैन प्रियाप्रिये स्पृगतः'। तत्त्व-साक्षात्कारकी स्थितिमें प्राणीको प्रिय-अप्रिय दोनों स्पर्श नहीं करते। उसी अभिप्राय-से बुद्धिमान् संसार छोड़कर निरन्तर तपस्या करते हैं। परोपकारार्थ सब सुख छोड़कर विविध यातनाओं-दुःखोंको सहते हैं। अन्तमें प्राणतक दे देते हैं। बहुतसे लोग परार्थको ही स्वार्थ मानते हैं। अतः उन्हें परोपकारमें ही सुख होता है। इसीलिये भारतीय शास्त्रोंने वास्तविक आत्महित एवं लोकहितको ही राज्यका ध्येय माना है। हित और सुखमें पर्याप्त अन्तर होता है। परोपकारार्थ कष्ट-सहन एवं तपस्या सुख नहीं है, परंतु हित है। परदारपरवित्तापहरण सुखकर प्रतीत होते हुए भी अहित है। कटु औषध सेवन, कठोर पथ्य-पालन, कुपथ्य परिवर्जन दुःखकर प्रतीत होनेपर भी हित है। ज्वराक्रान्त प्राणीको उष्ण आतप सुखकर प्रतीत होता है, तक्रादि कुपथ्य रुचिकर प्रतीत होता है, फिर भी वह अहित है। स्वतन्त्रता यद्यपि प्राणीमात्रको अभीष्ट है। मनुष्य ही नहीं किन्तु प्रत्येक प्राणी

अपनी सत्ता या जीवनका प्रेमी होता है। ज्ञान एवं आनन्दका भी प्रत्येक प्राणी भक्त होता है। ठीक उसी तरह स्वतन्त्रताकी भी प्राणीमात्र इच्छा करते हैं। एक चीटीको पकड़ते हैं तो वह छुटकाराके लिये प्रयत्नशील होती है। एक पक्षी स्वतन्त्र होकर खड़ा फल खाकर, खारा पानी पीकर रहना मजूर करता है, परंतु परतन्त्र रहकर पिजड़ा में बंद होकर मधुर फल एवं मधुर पकवान खाकर रहना नहीं चाहता। इसी प्रकार शासन भी निम्न श्रेणीके लोगोसे आज्ञा-पालन कराना, उच्च श्रेणीके माता-पिता, गुरुजनोसे अनुरोध—प्रार्थना स्वीकार कराना चाहता है। इतना ही नहीं, सीमित सत्ता, ज्ञान, आनन्द, स्वतन्त्रता तथा शासनके बदले निस्सीम निरतिशय सत्ता, ज्ञान, आनन्द तथा निस्सीम निरतिशय स्वतन्त्रता, शासन-शक्ति चाहता है। तथापि महती स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके लिये पर्याप्त स्वतन्त्रताका बलिदान करना पड़ता है। किसी भी राष्ट्रको स्वतन्त्रताके लिये दूसरे राष्ट्रद्वारा हमला होनेपर सैनिक संघटन करना पड़ता है और सैनिकोको सेनापतिके नियन्त्रणमें रहना ही पड़ता है। शिशुको माता-पिता तथा गुरुजनोके परतन्त्र रहकर ही अध्ययनादिमें संलग्न होनेसे ही स्वतन्त्रताकी प्राप्ति होती है। किसी भी नागरिक-को राजकीय, सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक आदि विविध नियमोके पालन करनेसे ही स्वतन्त्रता मिलती है। यहाँतक कि जो जितना ही धार्मिक एवं आध्यात्मिक नियमोके पालनमें परतन्त्र बनता है, वह उतना ही स्वतन्त्र एवं सभ्य समझा जाता है। धारणा, ध्यान, समाधिके अभ्यासमें दृढ़ नियम पालन करनेवाला व्यक्ति तो अन्तमें देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं कर्म-बन्धनोसे छुटकारा पाकर पूर्ण स्वातन्त्र्य-सुखका उपभोग कर सकता है। अन्यथा स्वतन्त्रता परम अभीष्ट होनेपर भी उचित नियमोके अंगीकार बिना प्राणी भीषण परतन्त्रताके बन्धनमें जकड़ जाता है।

आधि-व्याधि, रोग-शोक, जरा-मृत्युके परतन्त्र रहनेवाला प्राणी वास्तविक स्वतन्त्रतासे अतिदूर रहता है। सुख-दुःखकी परिभाषा भी केवल तात्कालिक अनुकूल वेदनीय, प्रतिकूल वेदनीयतक ही सीमित नहीं है। वास्तविक सुख निरुपप्लव (निर्विघ्न) स्वप्रकाश सत्ता या अबाधित निर्विघ्न ज्ञान ही है। इसी-लिये ग्राह्मोने कहा है कि स्वतन्त्रता ही सुख एवं परतन्त्रता ही दुःख है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् । (मनु० ४ । १६०)

इन विचारोंसे वेन्थमकी विचार-धारा बहुत ही निम्नश्रेणीकी प्रतीत होती है। अवश्य ही सामान्य प्राणीकी स्वसुखार्थ, स्वदुःखनिवृत्त्यर्थ ही प्रवृत्ति होती है। तथापि यह कहा जा चुका है कि व्याघ्रादि क्रूर, हिंस्र प्राणी भी अपने बच्चोंके लिये जानतक दे देते हैं। अतः स्वसुखार्थके समान ही परसुखार्थ भी प्राणियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में भी यद्यपि यही कहा गया है कि 'पति, पुत्र, धर्म, लोक, परलोक, माता, पिता, गुरु, देवता' स्वयं जो प्रेम और कामना होती है, वह आत्माके ही लिये

होती है। वे सब अपने उपकारक हैं।' अतः उनमें प्रेम होता है। परन्तु वहाँ आत्मा शब्दका अर्थ देहादि सधानमात्र नहीं, किन्तु देहादिभिन्न विमुक्त आत्मा है। जो 'स्व' शब्दसे केवल देहादि संघात ही समझते हैं, उनके मतानुसार देहादि संघात-को भोजन, पान, वस्त्र, भूषण, वाहन, सम्पत्ति आदि मिलना ही स्वार्थ या आत्मार्थ है, परन्तु जो देहादि संघातसे भिन्न निर्विकार प्रत्यक्चैतन्याभिन्न आत्माको समझते हैं, उनका स्वार्थ या आत्मार्थ बहुत ऊँचा होता है। वहाँ तो परोपकार, धर्म, तपस्या, उपासना, तत्त्वसाक्षात्कार तथा सकलानर्थनिवृत्तिमय परमानन्दावाप्ति ही स्वार्थ या आत्मार्थ होता है, 'स्व' एव समाज व्यष्टि एवं समष्टिका भेद समाप्त हो जाता है। इस दृष्टिसे उच्च कोटिकी उपयोगिता एवं स्वार्थमें परार्थ अन्तर्भूत हो जाता है। मले ही राजकीय नियम स्वल्प-से-स्वरूप हो, क्योंकि यह तो भारतीय शास्त्रोक्तों भी सम्मत है। परन्तु सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, विविध नियन्त्रण तो तबतक परम अपेक्षित होते हैं, जबतक प्राणी प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परम तत्त्वका साक्षात्कार करके पूर्ण कृतार्थ नहीं हो जाता। इतना ही क्यों, उस कालमें भी जीवन्मुक्तोंको भी लोकमग्नहार्य बहुत न कर्तव्य-नियम पालन करने पड़ते हैं। विदेह-मुक्तिमें ही पूर्ण स्वतन्त्रता, नियमरहिता सम्भव होती है।

स्टुअर्ट मिल भी 'उपयोगितावादी' था। उसने वेन्यमके उपयोगितावादमें सङ्गोधन किया था। वह सुखके मात्रात्मक परिमाणके साथ-साथ गुणात्मक भेद भी मानता है। पहलेका उदाहरण है—'जितना सुख वीणावादनमें होता है, उतना संगीतमें।' परन्तु दूसरेको स्टुअर्ट मिलने बताया कि 'एक असंतुष्ट विद्वान् होना संतुष्ट मूर्खसे अच्छा है। उससे उपयोगिताकी परख केवल सुखकी मात्रापर नहीं किन्तु गुणके आधारपर होती है।' किन्तु गुणात्मक भेदसे उपयोगिताका मानदण्ड व्यक्ति भी होता है, केवल पदार्थ ही नहीं। वेन्यमने केवल पदार्थको ही मानदण्ड माना है। इसीलिये उसके आलोचक उसे 'संतुष्ट मूर्खका दर्शन' मानते हैं। इस तरह जब व्यक्तिगत दृष्टिकोणसे एक वस्तुकी उपयोगिता निर्धारित होती है, तब व्यक्तिकी रुचिका भी ध्यान रखना आवश्यक है। एवं शंकराचार्य-जैसे निःस्पृह त्यागी विद्वान्के हर्ष एवं सुखकी उपयोगिताका मानदण्ड एवं भौतिकवादी दार्शनिक हाक्स जैसे राजनीतिज्ञकी उपयोगिताका मानदण्ड भिन्न ही होता है। मनुष्य केवल सुख और स्वार्थका ही कठपुतला नहीं—मनुष्य केवल सुख-दुःखसे ही नहीं संचालित होता है। अन्य भावनाओंका भी जीवनमें महत्वपूर्ण स्थान है। देशभक्ति, नैतिक, आध्यात्मिक, संतुष्टि आदिकी भावनाओंसे ही मनुष्यके कार्य निर्धारित होते हैं। यदि मनुष्य-जाति उपयोगितावादके अनुसार ही चलती तो वणिष्ट, विधामित्र, शङ्कर, रामानुज, ईसा आदि-जैसे लोगोका सम्भव ही न होता। उपयोगितावादके अनुसार वेन्यमको ही एक धनी वकील होना था, गरीब दार्शनिक नहीं।

आज भी नैतिकताके नामपर कितने ही सज्जन सत्य बोलकर अपनेको सकटमे डालते हैं। एक देशभक्त सारा जीवन दुःखमय बिताता है। अतः यदि व्यवस्थापक उपयोगिताके आधारपर ही नियम बनायेगा तो वह अवश्य त्रुटिपूर्ण होगा। भारतीय वेदान्तके अनुसार पूर्ण स्वतन्त्रतापूर्ण सुख और आत्मा एक ही वस्तु है; परंतु वेन्थमका तो भौतिक सुख ही ध्येय है। वेन्थमके 'अधिक लोगोके अधिकतम सुख'के सम्बन्धमें भी समालोचकोने कहा है कि 'यह अव्यावहारिक है।' उदाहरणार्थ एक 'अ' नियमसे १२ मनुष्योंको दस मात्रा प्रतिमनुष्यके परिमाणसे सुख मिलनेकी सम्भावना है। पूर्ण सुख १२० मात्राका होगा। 'ब' नियमसे २० मनुष्योंको पाँच मात्रासे प्रतिमनुष्य सुख मिलनेकी आशा है। पूर्ण सुख १०० मात्राका होगा। ऐसी परिस्थितिमे व्यवस्थापक क्या करेगा ? 'अ' नियम अधिकतम सुख १२० मात्रासे सम्भव होगा। परंतु मनुष्योंकी संख्या क्रम (१२) होगी। 'ब' नियमद्वारा अधिकतम मनुष्योंको (२० को) सुख मिलता है, परंतु सुखकी मात्रा अल्प (५ मात्रा) होगी। अब यहाँ अधिकतम लोगोके सुखकी दृष्टिसे 'ब' नियम बनाना चाहिये, परंतु अधिकतम सुखकी दृष्टिसे 'अ' नियम आवश्यक जान पड़ता है। ऐसी स्थितिमे न्यायपूर्ण नियम सम्भव नहीं कहा जाता। वेन्थमका उपयोगितावाद उस समयके पूँजीपतियोंके लिये उपयोगी था। पूँजीपति निजी सुख और लाभके हेतु मानवताको भूल जाता है। वह अपने अधिकतम सुखको ही अधिकतम मनुष्योंका सुख समझता है। एक मानवतावादी तो यही चाहेगा कि 'अधिकतम लोगोको सम्भव हो तो अधिकतम सुख हो नहीं तो जितना भी सुख हो उतना अधिकतम लोगोको सुख मिलना चाहिये।' यह नहीं कि अल्प-से-अल्प लोगोको अधिकाधिक सुख मिले।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता

स्टुअर्टकी पुस्तक 'स्वतन्त्रता' (लिवर्टी, १८५९) व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका सर्वात्कृष्ट समर्थन करनेवाली है। व्यक्तिकी स्वतन्त्रता एवं व्यक्तित्वके लिये 'मिल' ने व्यक्तिवादको आवश्यक बतलाया। उसका कहना था कि 'मानव-प्रगतिके लिये विचार एवं भाषणकी स्वतन्त्रता अत्यावश्यक है।' कहते हैं, 'वह सनकी लोगोकी भी स्वतन्त्रताका समर्थक था। उसका कहना था कि 'इनमेंसे न जाने किसके विचारसे किसी नयी विचारधाराका जन्म हो जाय।' अतः प्रगतिके लिये प्रत्येक व्यक्तिको विचार एवं भाषणका स्वातन्त्र्य प्राप्त होना चाहिये। मिलके विचारसे स्वतन्त्रता बिना प्रगतिमें बाधा पड़ती है। उसका कहना था कि 'जो विचारधारा एक समयमे प्रचलित है, वही सत्य है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसके विपरीत किसी व्यक्तिकी विचारधाराका दमन नहीं करना चाहिये। हो सकता है कि वही विचारधारा सत्य हो। अतः विचार एवं

भाषणकी स्वतन्त्रताद्वारा किसीको भी अपनी विचारधाराका प्रचार करने देना चाहिये । ईसा एव सुकरातकी विचारधाराएँ प्रचलित विचारधाराओंसे विपरीत थीं । सत्ताधारियोंने उनके दमनका भरसक प्रयत्न किया । दोनोंको प्राणदण्ड दिया गया । परंतु संसारको मानना पड़ा कि वे सनकी नहीं किंतु महापुरुष थे ।' इसीलिये मिलका कहना था कि 'आज हम जिन्हे सनकी कहते हैं, उनके अनोखे विचारोंकी उपेक्षा करते हैं, वे ही भविष्यमें विशिष्ट बुद्धिवाले सिद्ध हो सकते हैं ।' डॉक्टर जानसनका कहना था कि 'दमनसे सच्चाई छिप नहीं सकती, सत्यकी दृष्टताके लिये दमन एक कठोर कसौटी है ।' परंतु मिल इस दमनको प्रगतिमें बाधक कहता था । मार्टिन लूथर (१४८३-१५४६) के पूर्व धर्मसुधार आन्दोलन बीस बार आरम्भ हुआ, परंतु वह दमनद्वारा रोका गया । यदि ऐसा न होता तो सम्भव है कि यूरोपमें १६ वीं शतीसे पूर्व ही धर्मसुधार आरम्भ हुआ होता । लूथरके धर्मसुधार (१६ वीं शती) के फलस्वरूप कई महत्त्वपूर्ण विचारधाराओंका बीजारोपण हुआ । यदि उसको पूर्व दमनसे रोका न गया होता तो उससे और अधिक प्रगति हुई होती । अवश्य सत्य अमर है । उसका दमनसे अन्त नहीं होता, परंतु दमनसे प्रचारमें विलम्ब किया ही जा सकता है । यह विलम्ब समाजके लिये हानिकारक होता है । अतः विचार एवं भाषणकी पूर्ण स्वाधीनता होनी चाहिये । मिलके अनुसार 'सत्यके कई पहलू होते हैं । वे एक दूसरेके बाधक नहीं किंतु परस्पर सहायक होते हैं । अतः एक पक्षके अनुमायीका दूसरेको सत्यविरोधी समझना ज्ञानवृद्धिमें बाधक है । सत्य किसी एक पक्षकी वपौती नहीं है । अन्य विचारधाराओंमें भी सत्य हो सकता है । अतः विचार-प्रचारकी स्वाधीनता आवश्यक है । ऐसे वातावरणमें निश्चित सत्यका बोध सम्भाव होता है । तर्कद्वारा सघर्षसे सत्य बलिष्ठ एवं विजयी होता है । इससे अन्धविश्वासकी जड़ नहीं जमती ।' इस तरह मिलने विचारों, तर्कोंकी पूर्णस्वतन्त्रताके पक्षमें मत प्रकट किया था ।

ब्राउनके मतानुसार मिलने जीवशास्त्रके—जो योग्य है 'जीवित रहेगा' इस नियमको विचारोंकी दुनियामें लागू किया; क्योंकि मिलका कहना था कि 'जो विचार तर्क, सघर्षमें बलिष्ठ होता है, वही विचार सत्य सिद्ध होता है । अतः राज्यको भाषण, लेख, विचार, तर्ककी पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये ।' मिलके मतानुसार 'समाजपर असर डालनेवाले चोरी-कलह आदि कार्योंपर तो राज्यको हस्तक्षेप करना चाहिये; परंतु व्यक्तिगत कार्योंमें राज्यको हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये । जैसे कोई अपने घरमें रहकर चाहे रातभर पढ़े, चाहे मद्यपान करे उसे स्वतन्त्रता होनी चाहिये । परंतु जोरसे गायन करनेसे दूसरोंके आराममें बाधा पड़ सकती है, अतः समाजके प्रतिकूल व्यक्तिगत कार्यपर प्रतिबन्ध ठीक है । परंतु जिसका बुरा असर समाजपर नहीं पड़ता, ऐसे व्यक्तिगत कार्य

स्वतन्त्रता ठीक है। यदि मद्यपायी अपने अनुभवसे मद्यपानको हानिकारक समझेगा तो उसे छोड़ देगा। राज्यके प्रतिबन्धसे भी मद्यपान छूट सकता है, परंतु इसमें चारित्रिक सघटन नहीं आता। जो निर्णय अपने अनुभवसे होता है, वही दृढ़ होता है। राज्य-प्रतिबन्धसे छिपकर भी मनुष्य मद्य पीता रह सकता है। शिक्षा-प्रोत्साहन, चित्रप्रदर्शन आदि परोक्ष रीतियोंद्वारा बुरे कामोंके रोकनेका प्रयत्न अनुचित नहीं।' इसी तरह द्यूत खेलनेको भी वह प्रतिबन्धद्वारा रोकना ठीक नहीं समझता था। ये सब काम बुरे हैं सही, परंतु आत्मसंघर्षसे ही उनका छूटना चरित्रबलका वर्धक होता है। वह सामाजिक परम्परागत रीति-रिवाजोंके बन्धनको भी प्रगतिका बाधक समझता था। सामाजिक नियन्त्रणसे व्यक्तित्वका विकास नहीं हो पाता। मिल आविष्कार एवं नवमार्गदर्शक शक्तिको महत्वपूर्ण मानता था। उसके मतानुसार 'जनसाधारणकी मनोवृत्ति सामान्यताकी दर्शिका होती है।' परंतु वह इस मनोवृत्तिका विरोधी था। वह तो 'अपूर्व नवीन बुद्धिवालोंको प्रोत्साहनसे नवीन विचारधाराकी सम्भावना होती है' ऐसा मानता था। वह अधिक कवियोंका होना समाजकी उन्नतिको लक्षण मानता था। 'इससे रुचियोंकी विभिन्नता विदित होती है और यह स्वतन्त्र वातावरणमें ही सम्भव है। यदि एक कक्षाके विद्यार्थियोंके प्रश्नोत्तरमें विभिन्नता होती है तो वह कक्षाकी प्रगति समझता था। जो जिसे हितकर प्रतीत हो उसे वैसा करनेकी छूट होनी चाहिये। एक ढंगसे जीवन-निर्वाहार्थ किसीको बाध्य करना उचित नहीं, इसीलिये शिक्षाके राज्यनियन्त्रित होनेका भी वह विरोधी था। हाँ, नागरिकोंको अपने बच्चोंको स्कूल भेजनेके लिये बाध्य करना राज्यका कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त शिक्षार राज्यका हस्तक्षेप न होना चाहिये। शिक्षा प्राप्त करनेकी स्वतन्त्रता नागरिकोंकी ही होनी चाहिये। विद्यालयमें बालक कैसी शिक्षा प्राप्त करे, यह नागरिकोंकी रुचिपर ही छोड़ना चाहिये।'

उसके मतानुसार 'व्यक्तिवादियोंकी भौति ही व्यक्तिगत लाभके लिये भी मनुष्य भलीभौति अपना कार्य संचालन करता है। उसमें राज्यके हस्तक्षेप हितकर न होंगे। सरकारी कर्मचारियोंद्वारा होनेवाले कार्योंमें उनकी इतनी तत्परता नहीं होती जितनी किसीको व्यक्तिगत कार्योंमें तत्परता होती है। जब व्यक्ति कोई काम स्वयं करता है तो उसकी ज्ञानवृद्धि होती है। इसीलिये मनुष्यको स्वयं ही अधिकाधिक कार्य करना चाहिये। हाँ, समाचार-पत्रोंद्वारा अतीत कार्योंके अनुभवोंकी सूचना सरकारको देते रहना चाहिये। उससे लोग स्वयं सबक सीखेंगे। चेतावनीद्वारा भी राज्य परोक्षरूपसे मार्गदर्शक हो सकता है। सरकारी कार्योंकी व्यापकतासे नागरिक सदा ही राज्यकी ओर निहारते रहते हैं। इससे आलस्य, अमाद एवं प्रगतिका

अवरोध होता है। इससे व्यक्तित्वके विक्राममें बाधा पड़ती है और नौकरग्राही बढ़ती है। इससे कोई कार्य भलीभाँति सम्पादित नहीं होता। राज्यहस्तक्षेप एक आवश्यक विचाररूपमें ही स्वतन्त्रताके लिये मानना चाहिये। नागरिक जीवनमें राज्यका न्यूनतम हस्तक्षेप ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके लिये अपेक्षित है।

समालोचक कहते हैं कि मिल 'इंस्ट इंडिया कम्पनी' के दफ्तरमें नौकर और राजनीतिक पत्रिका लेखक था। १८५८ में उसने कम्पनीके शासनके पक्षमें एक प्रार्थनापत्र लिखा था, जिसमें कम्पनीके शासनको न्यायसंगत कहा था और १८५९में उसकी 'स्वतन्त्रता' पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका पूर्ण समर्थन किया था। इस तरह उसके कार्य और विचार बेमेल थे। यह भी कहा जाता है कि १८३२ के पूर्व मध्यमवर्गके लोगोंने सामन्तोंकी सत्ताका विरोध किया था। १९ वीं शतीमें सामन्तोंका हान्य हुआ, परन्तु बुद्धिजीवी वर्गकी एक बढ़ती हुई जनशक्तिका विरोध इस आधारपर सम्भव नहीं था। पूँजीपतियों एवं मध्यमवर्गीय उपयोगितामें जनताकी उपयोगिता भिन्न थी। अतः जनमतमें भयभीत बुद्धिजीवीके लिये अपेक्षित था कि वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके नामपर जनमतके हस्तक्षेपसे बचे। उसी कार्यकी मिट्टि 'स्वतन्त्रता' पुस्तकद्वारा मिलने की। अब तो पूँजीपति एवं सर्वहारा श्रमिकोंके बीच पड़ा मध्यम वर्ग शोचनीय दशामें है। न वह पूँजीपति ही है न तो सर्वहारा ही ! वह स्वयं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता चाहता है। किसीका भी एकाधिकार नहीं चाहता। 'स्वतन्त्रता' पुस्तकमें इसी आवश्यकताकी पूर्ति की गयी है। समालोचकोंका यह भी कहना है कि 'मिलका धार्मिक जीवन ही परम्पराओंके विरुद्ध था। इसीलिये उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रताको दार्शनिक रूप दिया।

हम पहले कह चुके हैं कि 'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।' (मनु/ १६०) — पराधीनता ही दुःख और स्वाधीनता ही सुख है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अवश्य ही आदरकी वस्तु है, परन्तु यदि मद्यपान, द्यूत आदिकी स्वतन्त्रता व्यक्तियोंको होनी चाहिये, तब तो आत्महत्याकी भी स्वतन्त्रता होनी चाहिये ! इसी तरह यदि कोई स्वेच्छानुसार शराब, द्यूतसे परहेज न करे, मों, वहन, चैटोंसे भी जादी कर ले या मनमानी प्रेमसम्बन्ध करे तब तो मनुष्यता-पशुतामें कोई अन्तर ही नहीं रह जाता। आहार, निद्रा, भय, मैथुन मनुष्य एवं पशुका समान ही होता है। धर्म ही मनुष्यकी विशेषता है। धर्मविहीन स्वतन्त्रता स्वेच्छाचरिता या उन्मूलकताके ही रूपमें परिणत हो जाती है। सर्वाधिकारविनिर्मुक्त ब्रह्मात्मभाव प्राप्त होनेसे पहले प्राणीको अवश्य ही धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक विभिन्न नियन्त्रणोंके परतन्त्र रहना पड़ता है। वास्तविक पूर्ण स्वतन्त्रताके लिये प्राणीको पर्याप्त स्वतन्त्रताका वलिदान करना पड़ता है। अपौरुषेय वेद एवं तदनुसारी शास्त्रोंके अनुसार विनियमित

कार्यको ही धर्म कहा जाता है। भोजन, पान, शयन, विश्राम, संतानोत्पादनादि सभी कार्योंको शास्त्र-विधिके अनुसार करना ही धर्म है। धर्मनियन्त्रित जीवनसे ही पूर्ण स्वतन्त्रता-प्राप्ति सम्भव है। इसी प्रकार 'सनकी लोगोंके विचार एवं भाषणकी स्वतन्त्रता' भी उपहासास्पद है। अवश्य ही गुदडीसे भी लाल निकलते हैं, सनकियोंमेंसे भी कोई योग्य, लाभदायक सनकी निकल सकते हैं, परंतु सभी सनकियोंको पूर्ण स्वतन्त्रता दे देनेसे तो समाजकी शान्ति ही खतरेमें पड़ सकती है।

इसी प्रकार तर्कका आदर अवश्य उपयोगी हो सकता है, परंतु कुछ नियमोंको मानकर ही तर्कका प्रयोग करना पड़ता है। फिर तर्कका कुछ अन्त भी नहीं है ! जीवनमें विश्वासका भी तो कहीं स्थान है। यदि बाजारमें खड़े होकर राजद्रोहपर तर्क करनेकी स्वतन्त्रता दे दी जाय तो क्या शान्ति सुरक्षित रह सकेगी ? इसी प्रकार बहुत-सी निश्चित वस्तुएँ भी हैं। माता, पिता, गुरुजनोद्वारा उन्हें जानकर प्राणी आगे बढ़ता है। निश्चित वस्तुओंमें भी तर्कका प्रयोग करके वह अपने समयका अपव्यय ही करेगा। वैज्ञानिकोंको भी साम्राज्य तथा कुछ वैज्ञानिक नियमोंको मानकर ही नयी खोजकी ओर बढ़ना पड़ता है। पूर्वके अन्वेषणको ही अपने अनुभवसे अन्वेषण करना व्यर्थ ही होगा। यदि कोई अपने अनुभवपर ही संख्याके स्वाद और गुणके निर्णय करनेका हठ करेगा, तो उस-जैसे लक्षों व्यक्तियोंको जीवनसे हाथ धोना पड़ेगा और लाभ कुछ न होगा। काले नागके काटने और उसके विषका परिणाम अनुभवद्वारा ही समझनेका प्रयत्न करना मूर्खता है। स्पष्ट है कि इस सम्बन्धमें शिष्टोंके अनुभवोंका सदुपयोग करना उचित है। इसी प्रकार जिन दुराचारों, दुर्गुणों, पापोंकी अग्राह्यता पूर्वजोंके अनुभवोंसे सिद्ध है उनपर विश्वास न करके पहले पाप, दुराचार करनेकी छूट देना अमानवता है। 'हिंदू विचारोंके अनुसार मद्यपानसे ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व ही नष्ट हो जाता है। फिर लौटना असम्भव ही होता है। इसी प्रकार एक बार पतिव्रताका सतीत्व चले जानेसे पुनः उसका लौटना सम्भव नहीं। अतः पापोंका दुष्परिणाम देखनेके लिये पाप करनेकी छूट देना बुद्धिमानी नहीं।

परम्पराके अनुसार एक ढंगका संस्कार बन जानेपर तद्विरुद्ध प्रवृत्ति होती ही नहीं। फिर विरुद्ध प्रवृत्ति कराकर दुष्परिणाम अनुभव करके उससे निवृत्त होनेकी व्यवस्था करनी वैसी ही होगी, जैसे कंटक चुम्पाकर पीड़ा अनुभव करके पुनः कंटक-निष्कासन-जन्य स्वास्थ्यका अनुभव करना। इसकी अपेक्षा अपनी बुद्धि एवं समयको किसी अन्य उपयोगी काममें लगाना ही श्रेयस्कর है। जिनकी परम्पराओंमें मद्यन्मासका प्रचलन नहीं है, वहाँके बच्चोंको उस सम्बन्धके न तो संस्कार ही होते हैं, न इच्छा ही होती है। प्रत्युत निषेधके ही संस्कार होते हैं। उनके उस संस्कारको दृढ़ बनानेमें ही कल्याण है। अतितात्किकको सर्वतोऽभिशङ्की हो जाना

पडता है। फिर तो भोजनमें भी विपकी कल्पना होने लगनी है। कई लोग बालकी खाल ही खाँचते रहते हैं। वे अपने और दूसरोंका समय व्यर्थ ही अपव्यय करने रहते हैं। कितने ही जिदियोंको तर्क करनेकी स्वाधीनता देनेपर तत्त्व-निर्णय न होकर विवाद ही बढ़ता है। चरित्रोंकी भिन्नता एवं शक्तियोंकी वृद्धि समाजकी प्रगतिका लक्षण नहीं; किंतु निश्चित एवं उपयोगी गुणोंकी समृद्धि ही प्रगतिका लक्षण है। भिन्नताकी अपेक्षा गुणात्मक समृद्धिपर ही जोर देना आवश्यक है। योग्य वातावरण, उच्चकोटिकी शिक्षा एवं सदाचारके द्वारा ही उच्चकोटिका चारित्रिक सघटन होता है और यही राष्ट्रकी प्रगति है। शक्तियोंकी स्वतन्त्रतामें चरित्रमें भिन्नता भले ही आ जाय, परंतु चारित्रिक उच्चतामें कोई सहायता न मिलेगी। इसी प्रकार भले राजकीय नियम कम-से कम हों, परंतु धार्मिक, सामाजिक नियमोंद्वारा सदा ही व्यक्तियोंको उच्छृंखल जीवनसे बचाना अनिवार्य है। अवश्य ही रामराज्यकी दृष्टिमें सभी सम्पत्तियों एवं कार्योंका सरकारीकरण अनुचित है। तथापि विशिष्ट शिक्षा एवं शास्त्रोंका मार्ग-दर्शन समाजकी प्रगतिमें सदा ही सहायक होता है। प्रगतिके बाधक तत्त्वोंका निराकरण राज्यका अवश्य कर्तव्य है। विकास-वादियों एवं आधुनिक विचारकोंका सबसे बड़ा दोष यह है कि वे पृथ-पूर्वके निर्णयों एवं सत्त्वोंको निम्नस्तरका तथा उत्तरोत्तर निर्णयों एवं सत्त्वोंको उच्चकोटिका मानते हैं। इसीलिये वे सदा ही निश्चित विषयमें भी खोजते रहते हैं। वे इसी दृष्टिसे शक्तियोंसे भी नवीन ज्ञानकी आशा रखते हैं और नयी-नयी व्यवस्थाओंकी खोजमें लगे रहते हैं। परंतु प्रमाणद्वारा प्रमित तत्त्व किसी भी कालान्तर या देशान्तरमें अन्यथा नहीं हो सकते। इस दृष्टिसे अपौरुषेय वेदों, तदनुसारी आर्ष ग्रन्थों तथा सर्वजकल्प महर्षियों, राजर्षियोंने अपने ऋतम्भरा प्रजा एवं सफल प्रयोगोंद्वारा जिन नियमों, व्यवस्थाओंको समाजके लिये लाभदायक समझा, वे त्रिकालान्तर सत्य एवं उपयोगी हैं। उनका अनुसरण करना समाज एवं तद्व्यष्टक व्यक्तियोंका कर्तव्य है।

शास्त्र एवं समाज स्थिर वस्तु है। उनका धार्मिक, सांस्कृतिक स्वरूप एवं सभ्यता स्थिर वस्तु है और राज्यलक्ष्मी अस्थिर वस्तु। विशेषतया राज्यसत्ताको दृष्टियानेके लिये सभी लोग प्रयत्नशील होते हैं। जिस ढंगकी विचारधारावालोंका बहुमत होता है, उन्हींका शासन होता है। फलतः वे शासन, शिक्षा, सम्पत्ति, धर्म सभीको अपने हाथमें लेना चाहते हैं। कहना न होगा कि उक्त तीनों विषयोंमें सरकारी हस्तक्षेप होनेसे समाजकी संस्कृति, सभ्यता एवं धर्ममें सर्वथा रहोबदल हो जाता है, फिर समाजकी स्थिरता भी नष्ट हो जाती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'अच्छे ही लोगोंके हाथमें शासन सत्ता जाती है।' अनुभव तो यह है कि शान्तिप्रिय विचारक, गम्भीर विद्वान्, जाल-फौरेव न करनेवाले पीछे रह

जाते हैं। जाल-फौरेववाले अयोग्य लोग आगे आ जाते हैं। ऐसी स्थितिमें विभिन्न शासनोंके बदलनेके साथ यदि सभ्यता, संस्कृति, शिक्षामे भी रद्दोबदल होता जाय, तब तो समाजकी एकरूपता, स्थिरता असम्भव हो जायगी। बहुत-से लोग विकासवादी नियमानुसार उत्तरोत्तर प्रगतिका ही सिद्धान्त मानते हैं, परंतु इस मतमें फिर मनुष्यके प्रमाद, पुरुषार्थकी विशेषता नहीं रह जाती। परंतु वस्तुस्थिति यह है कि प्रमाद और सावधानीसे पतन एवं अभ्युदय स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। अतः हर चीजका भार राज्यपर छोड़ देना उचित नहीं। सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवनमें राज्यका कम-से-कम हस्तक्षेपवाला सिद्धान्त शास्त्र-सम्मत है। फिर भी धार्मिक, सामाजिक नियमोंका पालन तो सबके लिये अपेक्षित होगा ही। न्याय, सुरक्षा, समष्टि-स्वास्थ्य, सुव्यवस्था, सफाई आदिका काम सरकार कर सकती है। आज तो राष्ट्रके प्रत्येक जीवन-क्षेत्रमें सरकार ही हावी होती जा रही है। व्यक्ति गामनयन्त्रका एक नगण्य कल-पुर्जा बनता चला जा रहा है। उसे व्यक्तिगत विकास-विचार आदिकी कोई भी स्वतन्त्रता नहीं। मिलकी दृष्टिसे 'मद्य-पान, द्यूत आदि व्यक्तिगत समझे जानेवाले कार्योंका भी समाजपर असर पड़ता ही है।' धन एवं समयका यदि अनुचित कार्योंमें अपव्यय न कर किसी उचित कार्यमें व्यय किया जाय तो अवश्य ही उससे समाजका लाभ हो सकता है। एक व्यक्तिके भी दुर्गचारी होनेसे समाज दूषित होता है। अन्य लोगोपर भी उसके दुस्संस्कार पड़ते हैं, फिर जब व्यक्तियोंका समुदाय ही समाज है, तब तो व्यक्तिके दूषित होनेसे समाज दूषित होगा ही। मिलके इस स्वतन्त्रता-प्रेमका भी आधार रूसोंका यह वाक्य है कि 'मनुष्य स्वतन्त्र जन्मा है, किंतु सभी ओरसे वेड़ियोंसे जकड़ा हुआ।' इसका सार यही है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक बन्धन परस्पर विरोधी हैं। किंतु भारतीय भावनासे स्वतन्त्रता-प्रेम स्वाभाविक है और वह है परम व्यय एवं प्राप्य, परंतु उसे पूर्णरूपसे प्राप्त करनेके लिये पर्याप्त स्वतन्त्रताका वलिदान कर धार्मिक एवं सामाजिक सभी बन्धनोंको अंगीकार करना परमावश्यक है। अधिक मुनाफा पानेके लिये व्यापार आदिमें पर्याप्त धन व्यय करना पड़ता ही है। अतएव रूसों भी तो वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य-नियन्त्रणसे मानता ही था। इस दृष्टिसे व्यक्ति एवं समाजका परस्पर पोष्य-पोषक भाव ही है, विरोध नहीं। लौकिक दृष्टिसे भी कई स्वतन्त्रताएँ परस्पर विरोधी होती हैं। वहाँ समझौतासे काम चलता है। सर्वथापि समष्टिहिताविरोधेन स्वतन्त्रताका उपयोग ही सदुपयोग है।

विचार और भाषणकी स्वतन्त्रता बहुत आवश्यक है। भारतीय सिद्धान्तोमें उसका मदा ही अत्यन्त आदर था। इस देशमें चार्वाक, शून्यवाद, द्वैती, अद्वैती आदि अनेक प्रकारके परस्पर विरुद्ध दार्शनिक हुए हैं। उनमें विचार-संघर्ष

चलता रहा, परंतु किसीके विचार या भाषणपर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता था। यहाँ ईसा, सुकरातकी तरह विचार-भेदके कारण किसीको फाँसीपर नहीं लटकाया जाता था। रामराज्यमें एक रजकको अखण्ड भूमण्डलके लोकप्रिय सर्वजनरजन रामकी परम साध्वी सीताके विरुद्ध भी विचार रखने एवं भाषण देनेपर प्रतिबन्ध नहीं था। राम चाहते तो उसे दण्ड दे सकते थे। लौकिक मनुष्य, वानर, भालू, राक्षस तथा अलौकिक महर्षि, देवता, सिद्ध, इन्द्र, ब्रह्म, रुद्र, आदिके सामने जिनकी अग्नि-परीक्षा हो चुकी, उनके विरुद्ध एक रजक बोल सका। रामने यही सोचा कि 'दण्डके द्वारा एक मुख बंद किया जायगा तो हजारों मुखोंसे वही आवाज निकलेगी।' व्यवहारद्वारा ही जनता या व्यक्तिके विचार या भाषण बंदले जा सकते हैं, दण्डद्वारा नहीं। फिर भी उसकी कुछ सीमा उचित है। असम्बद्ध अहितकर विचारों एवं भाषणोंका दुष्प्रभाव समाजपर पड़ सकता है। अतः समष्टिहितके लिये उसमें भी एक सीमा उचित ही है। 'सनकीके भाषणसे भी कोई चीज अच्छी मिल सकती है।' इसका इतना ही अभिप्राय है कि 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्' एक अबुद्ध बालकसे भी सुभाषित ग्रहण करनेमें कोई हर्ज नहीं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि पागलोंके बढाने और उनके भाषणोंकी व्यवस्था की जाय, उसमें समयका अपव्यय किया जाय।

ज्ञानपिपासा अवश्य अच्छी चीज है, परंतु बहुत-सा ज्ञानभार भी लाभदायक नहीं होता। ईश्वरद्वारा निर्मित एवं नियमित विश्वके कल्याणोपयोगी सभी आवश्यक विषयोंका प्रबोध ईश्वरीय शास्त्रों एवं सर्वज्ञ महर्षियोंकी ऋतम्भरा-प्रज्ञाओंद्वारा सुलभ है। महाभारतकारका कहना है कि जो भारत ग्रन्थमें है, वही अन्यत्र है, जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है—'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।' फिर भी एक सीमाके साथ उसपर स्वतन्त्र तर्क करनेकी परम्परा मान्य ही है। जहाँसे शास्त्रोंकी परम्परा टूट गयी थी और शास्त्रीय देशोंसे भी सम्पर्क टूट गया था, वहाँ अन्वेषणकी उत्कृष्ट लगन लाभदायक सिद्ध हुई है। यह बात अवश्य है कि किसी परम सत्यपर बिना पहुँचे और बिना दृढ़ निश्चय किये समाजकी स्थिरता एवं सुखशान्तिका स्थायित्व नहीं हो सकता। दौड़ दौड़के लिये नहीं, श्रम श्रमके लिये नहीं; किंतु परम विश्रामके ही लिये होना चाहिये। 'मृत्यु किसीकी बपौती नहीं' परंतु किसीकी इच्छा-अनुसार उसमें रहोवदल भी नहीं होता रहता। एक रज्जुमें रज्जु ज्ञान ही यथार्थ है। रज्जुमें सर्पका ज्ञान, धाराका ज्ञान, मालाका ज्ञान अयथार्थ ही है। इन ज्ञानोंमें समझौता नहीं हो सकता। देह ही आत्मा है या देहभिन्न आत्मा है, चेतन आत्मा है या अचेतन-व्यापक आत्मा है या अणु अथवा मध्यम परिमाण है, आत्मा असद्ग है या कर्मा-भोक्ता है? इन सभी विचारोंका समान दृष्टिकोणसे समान सत्तामें समन्वय नहीं हो

सकता। अवस्थाभेद, दृष्टिभेद, सत्ताभेदसे समन्वयकी बात अलग है। फिर विचारके लिये अनेक पक्षोंका उत्थापन तत्त्व-अतत्त्वका विवेचन आवश्यक होता ही है।

इसी प्रकार हरवर्ट स्पेन्सरने (१८२०-१९०३) डार्विनके विकासवादके अनुसार बतलाया कि 'विश्वका विकास एक अनिश्चित असम्बन्धित एकत्वसे निश्चित और सम्बन्धित विभिन्नताकी ओर हो रहा है।' उसके मतसे समाजका विकास भी इसी ढंगसे हुआ है। प्राचीन समाजमें एकत्व था, परंतु था अनिश्चित एवं असम्बन्धित। आधुनिक समाज विभिन्नताके साथ निश्चित एवं सम्बद्ध है। जीवका विकास भी एक निम्नप्राणीसे उच्चकोटिके प्राणीकी ओर हुआ है। पहले एक सूक्ष्म अणु-के द्वारा ही खाना, पीना, श्वास लेना आदि काम होता था। प्रगतिके फलस्वरूप विभिन्न अणुओंका जन्म हुआ। इनके द्वारा विभिन्न क्रियाएँ होने लगीं। अणुओंमें कार्य-विभाजन हो गया। समाजका विकास भी इसी तरह हुआ। पहले समाज-में कार्य-विभाजन नहीं था। जीवन-सम्बन्धी सभी कार्योंको एक व्यक्ति सम्पादित करता था। विज्ञानकी प्रगतिसे समाजके कार्योंका विभाजन हो गया। आजका कार्यविभाजन जटिल हो गया। इसीलिये समाजके अंग अन्योन्याश्रित हो गये। पहले भी मनुष्य समूहरूपमें रहते थे। कुछ मात्राके नष्ट होनेपर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता था। परंतु आज तो यदि रेल या मिलोके श्रमिक कार्य बंद कर दें तो समाजपर उसका भीषण प्रभाव पड़ता है। स्पेन्सरके मतानुसार यह कार्य-विभाजन आन्तरिक एवं अपरिवर्तनीय हैं। इस आन्तरिक कार्य-विभाजनकी गतिमें राज्यको हस्तक्षेप न करना चाहिये। इस कार्यविभाजनसे समाज स्वयं प्रगतिशील होगा। यह जीवशास्त्रका सुप्रसिद्ध नियम है कि 'योग्य ही जीवित रहेगा।'

इस तरह उक्त महानुभाव जो सामाजिक वातावरणके अनुकूल अपना जीवन-यापन कर सकते हैं, वे ही जीविन रहकर उन्नतिमें सफल होते हैं। वर्षाऋतु-में अनन्त कीड़े उत्पन्न होते हैं। वर्षाके अनन्तर ये नये वातावरणके अनुकूल अपनी जीवन व्यवस्थामें परिवर्तन नहीं कर सकते, इसीलिये मर जाते हैं। स्पेन्सर कहता है कि 'गरीब वही है, जो जीवनको सामाजिक व्यवस्थाके अनुकूल संचालित करनेमें असफल होता है। जो योग्य होता है वही सफल होता है। योग्य अनुपयुक्त वातावरणमें भी सफलता प्राप्त करता है। अयोग्य व्यक्ति परिस्थितिके शिकार होते हैं। अयोग्य प्राणियोंके समान ही अयोग्य व्यक्ति भी समयानुसार जीवन-यापनमें अमफल होते हैं। जैसे अयोग्य प्राणी मृत्युके शिकार होते हैं, वैसे ही अयोग्य मनुष्य निर्धन एवं निर्बल होते हैं। संघर्षमें पिछड़ जानेवाला ही गरीब होता है। 'योग्य ही जीवित रहता है' इस प्राकृतिक नियममें राज्यको हस्तक्षेप नहीं करना

चाहिये । स्पेन्सरके मतानुसार 'एक गदी बस्ताके निवासियोंको उनके भाग्यपर छोड़ देना चाहिये । जो व्यक्ति योग्य होंगे, वे इस प्रतिकूल वातावरणमें भी जीवित रह सकेंगे । प्रतिकूल बीमार होकर मर जायेंगे । राज्यको स्वच्छता, जल और अन्नका प्रवन्ध नहीं करना चाहिये । अयोग्य सर्वसे लुप्त हो जायगा, योग्य बच जायगा ।' यह सिद्धान्त मानवताके विरुद्ध है । किसी भी बीमार प्राणीकी सहायता करना या कम-से-कम उसे स्वावलम्बी बननेमें सहायता करना एक मनुष्यता है । किसी परिस्थितिमें रुग्ण, मूर्च्छित प्यासे तथा अमहाय आदमी या प्राणिमात्रकी सहायता करना भास्तीय शास्त्रोंके अनुसार विश्वधर्म है ।

एकसत्तावाद

एकसत्तावाद भी एक राजनीतिक वाद है । इसके अनुसार एक प्रादेशिक राशिमें केवल एक ही सर्वोच्च सत्ताधारी व्यक्ति-विशेषोंका व्यक्तिमत्त्व होता है । सभी नागरिक एवं संस्थाएँ इस सत्ताधारी संस्थाके आधीन होती हैं । राज्यको राजसत्ताधारी संस्था माननेवाले दार्शनिक 'अद्वैतवादी' या 'एकसत्तावादी' कहलाते हैं । 'राजसत्ता' शब्द श्रेष्ठता अर्थमें प्रयुक्त होता है । तदनुसार श्रेष्ठता राज्यकी विशेषता है, अन्य किन्हीं भी संस्थाओंका कोई भी स्वतन्त्र अस्तित्व मान्य नहीं होता । राज्यके पास ही पुलिस, जेल, न्यायालय होते हैं । आजोल्डुनका दण्ड राज्य देता है । इसकी सदस्यता भी सबके लिये अनिवार्य है । राज्य ही नियम-निर्मात्री संस्था होती है । वह राज्य-संस्था किसी नियम या परम्पराके आधीन नहीं होती । राजाज्जपालन नागरिकोंके लिये अनिवार्य है । बहुलवादी दर्शनराज्यको राजसत्ताधारी तो मानता है, परंतु वह सत्ताको सप्रतिबन्ध मानता है । १६ वीं शतीके एकसत्तावादने ही विवादास्पद राज्यसत्ताकी व्याख्या की है । गियर्क राजसत्ताको एक 'जादूकी छड़ी' मानता है । राज्यका सर्वश्रेष्ठ सचालक ही राजसत्ताका प्रतिरूप है । वह पूरे देशपर अपनी नीति और योजनाओंको लाद सकता है । सभी दल निर्वाचनमें नागरिकोंसे मत प्राप्त करके कर्णधार बनना चाहते हैं । तरह-तरहकी प्रतिज्ञा करते हैं । राज्य राजसत्ताधारी है । इसी आधारपर यह सच होता है । जो भी राज्याधिकारी होगा, वह राज्यसत्ताका उपयोग अपनी योजनाओंकी पूर्तिके लिये करता है, जैसे मदारी जादूके डंडेद्वारा पिटारीसे अनेक चीजें निकालता है । नागरिक जादूके डंडेके तुल्य ही कुछ समझ नहीं पाता और राजनीतिज्ञोंके जालमें फँस जाता है ।

यूरोपभरमें १६ वीं शतीसे पूर्व धार्मिक विषयोंमें पोप तथा अन्य ग्रिगो-में रोमन सम्राट्का सर्वोच्च स्थान होता था । राष्ट्रीयताके आन्दोलनसे सामन्तवादका हास हुआ, केन्द्रीय सरकार शक्तिशाली हुई और प्रत्येक राष्ट्रमें स्वतन्त्र सत्ताधारी सरकारों और नेताओं (राजाओं) का जन्म हुआ । बोर्दोंके धर्ममुधार-आन्दोलनमें

ईसाई-धर्ममें कई गांथाओ, उपशाखाओका जन्म होनेसे पोपके एकाधिकारका अन्त हो गया। राजनीतिमें रोमन सम्राट्की भी सर्वोच्चताका अन्त हो गया। इस समय पुरानी परम्पराका अन्त होनेसे जनतामें कुछ अनिश्चितता एवं व्याकुलता उत्पन्न हो रही थी। उस समय बोर्दोने राज्यकी आज्ञाका पालन करना नागरिकोंका परम कर्तव्य बतलाया, क्योंकि प्रादेशिक राज्योंमें राज्य ही एक राजसत्ताधारी है। राजसत्ता निरपेक्ष, अदेय, अविभाज्य, व्यापक एवं स्थायी है। जादूके डंडेके तुल्य राज्यों एवं नरेशोंने इसका दुरुपयोग भी किया और अपनी निरपेक्षताको राज्यकी एक विशेषता बताया, फिर भी बोर्दो 'राजसत्ताधारी राज्य' नैसर्गिक नियमोंके परतन्त्र था। परन्तु हाव्सका 'लेबियाथन' (दीर्घकाय) तो सर्वथा निरपेक्ष था। वह सभी नियमोंको राजाकी तलवारसे ही सार्थक समझता था। लाकके प्रयत्नसे ब्रिटेनमें सीमित राजतन्त्र स्थापित हुआ। उसके मतानुसार नैसर्गिक नियम, सभ्य समाज और वैयक्तिक सम्पत्ति सर्वोपरि है। फिर भी व्यवहारमें राज्यसरकार ही सत्ताधारी अधिकारोंका प्रयोग करती है। यह विचार-धारा हाव्सके एकसत्तावादसे भिन्न थी। उसका प्रभाव फ्रांसके माटेस्क्यूपर भी पड़ा। रूसो भी हाव्सके एकसत्तावादका समर्थक था। उसके अनुसार भी राज्यकी राजसत्ता निरपेक्ष, अविभाज्य, व्यापक एवं स्थायी है। हाव्सके अनुसार 'राजसत्ता' एक 'लेबियाथन'में निहित है और रूसोके अनुसार एक प्रत्यक्ष जनतन्त्रीय राज्यकी सामान्य इच्छामें। रूसोने हाव्सकी निरपेक्षता और लाककी जनस्वीकृतिका समन्वय किया। वेन्थमने भी उपयोगितावादके लिये 'एकसत्तावाद' अपनाया।

जान आस्टिनने एकसत्तावादकी 'राजसत्ता' नामक प्रामाणिक परिभाषा की। वह वेन्थमका शिष्य था। उसकी परिभाषा यह है कि 'यदि एक निश्चित जनश्रेष्ठ किसी अन्य जनश्रेष्ठकी आज्ञा स्वभावतः पालन न करता हो और एक बहुसंख्यक समाज स्वभावतः उसकी आज्ञाका पालन करता हो, तो वह जनश्रेष्ठ उस समाजमें राजसत्ताधारी है और उस जनश्रेष्ठके सहित वह समाज राजनीतिक दृष्टिसे स्वतन्त्र है।' आस्टिनकी उक्त परिभाषाके मीमांसा और राजनीति—ये दो दृष्टिकोण हैं। प्रथमके अनुसार प्रत्येक राज्यमें एक निश्चित जनश्रेष्ठ होता है, वही राजसत्ताधारी होता है। राजसत्ताकी विशेषताएँ निरपेक्षता आदि हैं। मीमांसाके दृष्टिकोणसे राजसत्ताधारीकी आज्ञा ही कानून है। देवी, नैसर्गिक, लौकिक नियम तथा सङ्घोंके नियम एवं परम्परा कानून नहीं माने जा सकते। उसके अनुसार प्रत्येक नियमका निश्चित स्रोत होना आवश्यक है। नियम आज्ञामूचक होना चाहिये। नियमकी पृष्ठभूमिमें कोई प्रमाण भी चाहिये। इस प्रमाणसे ही दण्डविधान होता है।

भले ही एकसत्तावादी राज्य-व्यवस्थासे राज्य-सरकारोंकी दृढ़ता हुई और यह अच्छी चीज है; परन्तु इसमें अत्यन्त अपेक्षित धर्म-नियन्त्रण भी समाप्त हो जाता

है। अनियन्त्रित जनश्रेष्ठ अनियन्त्रित यन्त्रके समान ही भीषण हो सकता है; यद्यपि आधुनिक विवेचक इसे एक प्रगतिशील कदम मानते हैं और समय-समयपर एक सत्तावादी मीमांसने अनिश्चितता दूर की है। दैवी नियम, नैसर्गिक नियम, राज्य नियम या लौकिक नियम, इन नियमोंमें कौन नियम सवाचरूपसे मान्य हों, इस विप्रतिपत्तिमें हाव्सने 'दीर्घकाय' का, रूसने 'सामान्येच्छा' का, आस्टिनने 'जनश्रेष्ठका' अनुसरण ही ठीक बताया। एकसत्तावादी मीमांसने राज्यको ही एकमात्र 'नियम-विधायिका' सत्ता माना। कितनी भी अच्छी व्यवस्था क्यों न हो, जबतक उसके योग्य संचालक नहीं मिलते, तबतक वह व्यर्थ ही सिद्ध होती है। धर्मनियन्त्रित शासनतन्त्र हो या नैसर्गिक नियमतन्त्र, निरपेक्ष दीर्घकाय सामान्येच्छातन्त्र हो या आधुनिक जनतन्त्र, योग्य संचालकके बिना सर्वत्र ही त्रुटियाँ आती हैं। आधुनिक जनतन्त्रकी दरिद्रता, भ्रष्टाचार, बेकारी किसीमें छिपी नहीं है। लोकतन्त्र-निर्वाचनमें कितना भ्रष्टाचार और कितना वन-जन-शक्तिका क्षय होता है, यह भी स्पष्ट है। वीनोग्राडोफके अनुसार भी एकसत्तावादी मीमांसा अपूर्ण ठहरती है। अपर्याप्त इसलिये कि यह 'संघात्मक राज्य' पर लागू नहीं हो सकती। एकात्मक राज्यमें भी राजसत्ताधारीका पता लगाना कठिन हो जाता है। अपूर्ण इसलिये कि राज्यका कार्य केवल आशा देना ही नहीं, किंतु समन्वय भी है, नागरिकके सामने कर्तव्य-पालन ही नहीं, किंतु अधिकारोंकी सुरक्षा भी है। न्यायालयोंके निर्णयो एव लौकिक नियमोंसे असम्बद्ध तथा अन्तराष्ट्रिय नियमोंपर लागू न होनेसे भी यह अपर्याप्त एव अपूर्ण है। जनतन्त्रमें वह सत्ता-सत्ताधारी होनेमात्रसे सतुष्ट नहीं, किंतु सक्रियसत्ताकी प्राप्ति चाहती है। यहाँ निश्चित जनश्रेष्ठको ही वह सब कुछ नहीं मान सकती। अमेरिका आदिकी संघात्मक शासन-प्रणालीके भी यह विरुद्ध है।

एकात्मक सविधानमें केन्द्रियकरण होता है। ब्रिटेन एव फ्रांसमें यह व्यवस्था थी और है। वहाँ सभी अधिकार एक सत्ता—प्रतिनिधि सत्तामें निहित होते हैं। ऐसी सत्ताको 'दीर्घकाय' या 'जनश्रेष्ठ' कहा जा सकता है। परंतु अमेरिकाके 'संघात्मक' विधानमें राज्यके वैधानिक अधिकार केन्द्रिय सरकार एव उपराज्योंमें विभक्त होते हैं, क्योंकि वहाँ शक्ति-विभाजनका सिद्धान्त स्वीकृत है। कई अन्य देशोंने भी इस व्यवस्थाको अपनाया है, इस दृष्टिके सविधानोंमें कोई ऐसी संस्था नहीं है, जिसमें राज्यके सब अधिकार निहित हों। एकात्मक राज्यमें भी निश्चित जनश्रेष्ठका पता लगाना कठिन होता है। आस्टिनने ही तत्काल ब्रिटेनमें राजा, लार्डों और निर्वाचकोंको सत्ताधारी बतलाया था। परंतु दूसरी बार उसने राजा, लार्ड और लोकसभामें राजसत्ताका निहित होना बताया। दोनों ही स्थितिमें राजा और लार्डगणका सामान्य ही स्थान है। लोकसभामें

सदस्योंको जब निर्वाचक सप्रतिबन्ध मतदान करते हैं, तब वे स्वयं ही राजसत्ताधारीके अङ्ग बन जाते हैं। अप्रतिबन्ध मतदान करते हैं तो छोटी लोकसभा (कामन्स मभा) राजसत्ताधारीका अङ्ग बन जाती है। अतः 'राज्यमें एक निश्चित जनश्रेष्ठ सत्ताधारी है' यह न्यायसंगत नहीं। आस्टिनके मतमें 'कार्यपालिका एवं नौकरशाहीको कोई स्थान नहीं और न जनताकी सत्ताका ही कोई स्थान है परंतु आजकी स्थितिमें राज्यके कार्य निःसीम हो गये हैं। सभी विषयोंमें उसका हस्तक्षेप होता है। फिर उसमें अनियन्त्रित 'दीर्घकाय' या 'जनश्रेष्ठ' को न्यायसंगत कैसे कहा जा सकता है? आधुनिक जनवादमें प्रतिस्पर्द्धा एवं सहयोग चलता है। यह सब विभिन्न जाति, वर्ग विचार और संस्थाद्वारा होता है। अतएव कभी कोई, कभी कोई संस्था प्रभुता स्थापित करती है। इस प्रभुताका प्रभाव नियम-निर्माणपर पड़ता है। राष्ट्रमें कभी किसी संस्था या वर्गका बोलबाला होता है, कभी किसीका। कभी ससद् कार्यपालिकापर प्रभुता स्थापित करती है, कभी कार्यपालिका ससद्पर। सङ्घीय राज्योंमें कभी सङ्घीय न्यायालय राज्यसत्ताधारी होता है, कभी एक दल पूरे राज्यपर हावी होता है। प्रेस-आन्दोलन तथा विभिन्न सङ्घ भी राज्यको प्रभावित करते रहते हैं। कभी-कभी अन्तराष्ट्रिय जनमत नैतिकता परम्परा तथा सन्धियों भी राज्यके एकाधिकारको सीमित करती है। इस स्थितिमें राजसत्ताको निरपेक्ष, अविभाज्य कहना असंगत ही है।

आजकी स्थितिमें राज्यकी इच्छा एवं जनश्रेष्ठका निर्णय असम्भवप्राय है। 'जनश्रेष्ठका आज्ञा देना, जनताका सीधे पालन करना' यह आस्टिनकी व्यवस्था आज मान्य नहीं हो सकती। प्राचीन कालमें कर्तव्यपरायणतापर जोर था, परंतु आज तो अधिकारोंकी ही प्रधानता है। आज अन्य संस्थाओंका भी महत्त्व कुछ कम नहीं होता। राज्य सर्वश्रेष्ठ सङ्घ है, परंतु निरपेक्ष नहीं। यह श्रेष्ठता सप्रतिबन्ध है। श्रेष्ठ लक्ष्यद्वारा ही राज्यकी श्रेष्ठता निर्धारित होती है। राष्ट्रिय जीवनका समन्वय तथा जनसेवासे ही नागरिक राज्यको आदर देते हैं। एक प्रधानमन्त्री असफल होनेपर पदत्याग कर देता है। ठीक यही स्थिति राज्यकी होती है।

मीमांसाके विश्लेषणवादी, इतिहासवादी, राष्ट्रवादी, विकासवादी, समाज-शास्त्रवादी, दर्शनवादी, कई दृष्टिकोण हैं। एकसत्तावादसे सम्बद्ध मीमांसा विश्लेषणवादी है। इन प्रयासोंके अनुसार नियमोंके दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होते हैं। विश्लेषणवादके अनुसार नियम-निर्मात्री राज्यसत्ता ही सब नियमोंका स्रोत है। राजसत्ताधारीकी आज्ञा ही नियम है, रीति-रिवाज आदिका कुछ महत्त्व नहीं। परंतु वस्तुस्थिति यह है कि राष्ट्रकी विविध विशेषताओं, ऐतिहासिक प्रवृत्तियों, सामाजिक जीवन आदिका नियम निर्माणमें महत्त्वपूर्ण स्थान होना अनिवार्य है। अनेक सङ्घोंका भी नियम-निर्माणपर प्रभाव होता है। सभी देशोंमें न्यायालयोंके निर्णयोंको नियममूल्य ही माना

जाता है। सत्रोंच न्यायालयका निर्णय अन्य न्यायालयोंका मार्गदर्शक होता है। ब्रिटेनके भी संविधानमें न्यायालयके निर्णयका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहाँके अलिखित संविधानके ये निर्णय महत्त्वपूर्ण अंग हैं। ब्रिटिश नागरिकके मूल अधिकार किसी एक ग्रन्थमें सङ्गृहीत नहीं। ये अधिकार राज्य-विधियों, लौकिक नियमों तथा न्यायालयके निर्णयों—जुरी तथा व्यक्तिगत अधिकारपर ही आधारित हैं। अनेक लौकिक विधियाँ ऐसी हैं जिनका निरपेक्ष शासन भी लङ्घन नहीं कर सकता। ब्रिटिश संविधानमें इनका भी प्रमुख स्थान है।

१७वाँ शतीके ऐतिहासिक 'नरेश ससद्' सघर्षमें इन नियमोंके अस्तित्वका महत्त्वपूर्ण स्थान था। ससदीय नेताओं एवं न्यायाधीशोंका कहना था कि 'राजा लौकिक नियमोंका लङ्घन नहीं कर सकता।' ये नियम अभीतक अलिखितरूपमें ही चले आ रहे हैं। आस्टिनने अपने देशकी इस परम्परासे भी आँख मूँद ली थी। भारत एवं अन्यत्र अनेक जातियोंका जीवन परम्पराके अनुसार ही चला है। भारतीय शासन-व्यवस्थामें सदासे ही धर्म-विधियों एवं सदाचारपरम्पराका सर्वाधिक महत्त्व था। "तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रम्" (बृहदा०उप०१।४।१४) के अनुसार धर्मपर राजाका शासन नहीं, किंतु राजापर ही धर्मका शासन होता था। मध्यकालिक यूरोपमें धार्मिक एवं नैसर्गिक नियम सर्वोपरि माने जाते थे। वस्तुतः एकसत्तावादी मीमांसा राज्य सघटन मात्रसे सम्बन्धित है, प्राचीन समाजसे नहीं। समाजमें सदा ही लौकिक, धार्मिक एवं नैसर्गिक नियमोंकी ही प्रधानता थी। आस्टिनवादने भी इनका अस्तित्व स्वीकार कर लिया, परंतु ये नियम तभी मान्य होते हैं, जब कि 'दीर्घकाय' इनका निषेध न करता हो। वस्तुतस्तु 'दीर्घकाय' इनका निषेध न कर स्वीकार ही करता है और उसे स्वयं भी इनका पालन करना पड़ता है। हीयर्न गॉने कहा है कि 'आस्टिनकी मीमांसामें हवलदारीकी गन्ध मिलती है।'।

आधुनिक जनवादमें प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे जनस्वीकृति एवं नैतिकताके आधारपर ही राज-सत्ताधारीकी आज्ञा नियमका रूप धारण कर सकती है। शासनके लिये शक्ति आवश्यक है। परंतु ढंडेके बलसे नियम नहीं लागू किये जा सकते। सवैधानिक नियमोंका स्रोत क्रान्ति, सक्रिय या असहयोग आन्दोलन एवं जनमत है। निश्चित जनश्रेष्ठकी आज्ञा उसका आधार नहीं। 'नमनीय' और 'अनमनीय'—ये दो प्रकारके संविधान होते हैं। सवैधानिक परिवर्तनोंके लिये परोक्ष या अपरोक्ष रूपसे जनस्वीकृति आवश्यक होती है। नमनीय संविधानमें सवैधानिक तथा साधारण नियम-निर्माणकी पद्धति एक-सी होती है। नमनीय संविधानके सम्बन्धमें ही डी लोमका ऐतिहासिक कथन है कि 'ब्रिटिश ससद् सभी विषयोंपर नियम-निर्माण कर सकती है। केवल पुरुषको स्त्री और स्त्रीको पुरुष नहीं बना सकती।' यद्यपि अब यह भी नहीं रह गया। फिर भी वह ससद् मनमानी नियम नहीं बनाती। लाहरी

अनुसार 'यदि वह ऐसा करे तो ससद् ही नहीं, क्योंकि ससदीय सरकारका सार है जनमतद्वारा शासन।' ब्रिटेनमें सर्वैधानिक नियमोंके निर्माणमें जनताकी स्वीकृति प्राप्त की जाती है।

अन्ताराष्ट्रिय नियमोंका स्रोत भी किसी जनश्रेष्ठकी आज्ञा नहीं हो सकती। किंतु विश्व-शान्तिकी भावना मानवता एवं सामाजिकता है। यागयातकी वृद्धिसे आजकल अन्ताराष्ट्रिय जनमत सम्भव हो गया। कोई भी निरपेक्ष शासक जनमतका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। कोई भी निश्चित जनश्रेष्ठ अन्ताराष्ट्रिय नियमों, संधियों एवं नैतिकताको कुचल नहीं सकता। विश्वजनमतका विरोध करके किसी राज्यकी स्थिरता नहीं हो सकती। एकतावादके अनुसार 'निरपेक्षता राज्यकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता है। यह निरपेक्षता आन्तरिक तथा बाह्य—इन दो दृष्टियोंसे होती है। आन्तरिक दृष्टिकोणसे राज्यका विरोध कोई व्यक्ति या समूह नहीं कर सकता, सभी उसके अधीन होते हैं।' वैसे-सके मतानुसार राज्य नागरिकोंको उनकी इच्छाके विरुद्ध बाध्य कर सकता है, अन्यथा अराजकता ही समझी जायगी। बाह्य नीतिकी दृष्टिसे राजसत्ताधारीका राज्यपर कोई नियन्त्रण सम्भव नहीं। अन्य राज्य भी उसे आज्ञा नहीं दे सकता। अन्ताराष्ट्रिय नैतिकता, संधियों और नियम राजसत्ताधारी राज्यको बाध्य नहीं कर सकते। उनका अनुकरण करना राज्यकी इच्छापर निर्भर है। एकसत्तावादियोंके दृष्टिकोणसे अन्ताराष्ट्रिय नियमोंको नियम नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसकी पृष्ठभूमिमें राज्यकी तलवार नहीं होती। एकसत्तावादी दार्शनिक राज्योंके पारस्परिक सम्बन्ध हावसके प्राकृतिक मनुष्योंके सम्बन्धसे होता है। अर्थात् एक राज्य दूसरे राज्यके शत्रु होते हैं।

भारतीय नीति-शास्त्रोंके अनुसार स्वभावसे ही पड़ोसी राष्ट्रोंके साथ सघर्षकी सम्भावना होती है और पड़ोसीके पड़ोसीके साथ मैत्रीकी सम्भावना होती है।
परिमित्रमरेमित्रं मित्रमित्रमतः परम्। तथारिमित्रमित्रं च विजिगीषोः पुरः स्मृतः॥
पाणिग्राहः स्मृतः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम्। आसारावनयोश्चैव विजिगीषोश्च पृष्ठतः॥
अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः। अनुग्रहे संहतयोर्निग्रहे व्यस्तयोः प्रभुः॥
मण्डलाद् बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः। अनुग्रहे संहतानां व्यस्तानांच वधे प्रभुः॥

(अग्निपुरा० २४०। १—५)

शत्रु, मित्र, शत्रुका मित्र, मित्रका मित्र और शत्रुके मित्रका मित्र—ये पाँच विजिगीषुके आगे तथा पाणिग्राह, आक्रन्द, पाणिग्राहासार और आक्रन्दासार—ये चार विजिगीषुके पीछे रहते हैं। अरि तथा विजिगीषुमें यदि सधि हो जाय तो उन दोनोंपर निग्रह-अनुग्रह करनेकी क्षमता रखनेवाला तथा परस्पर समझौता न होनेपर दोनोंको दण्ड देनेकी क्षमता रखनेवाला 'मध्यम' होता है। इन सबमें उदासीन और इनके मण्डलमें बाहर सबके मिलनेपर अनुग्रह

कभी-कभी एक व्यक्तिके पापका फल समुदायको भी भोगना पड़ता है। जैसे एक व्यक्तिने मधुमक्खीके छत्तेको छेड़ दिया। उसका दुष्परिणाम आसपासके सभी लोगोको भोगना पड़ता है। भोक्ता लोग तात्कालिक फल भोगकर मुक्त हो जाते हैं, परंतु कर्ता ही दोषसे लिप्त होता है। परलोकमें अपना-शुभाशुभ कर्म ही व्यक्तिके साथ जाता है। व्यक्तिका समुदाय ही समाज होता है। अतः व्यक्तिकी उत्पत्ति पहले हुई, फिर आवश्यकतानुसार समाजका निर्माण संगत है।

रूसो कहता था—‘प्राणी स्वतन्त्र जन्मा है; परंतु सभ्यताके जन्मसे वह विविध बन्धनोसे जकड़ गया।’ वह इस परतन्त्रताकी वेड़ीसे मनुष्यको मुक्त करना चाहता था। उसका कहना था कि ‘अति प्राचीन नैसर्गिक स्वतन्त्रताका पुनर्जन्म तो नहीं हो सकता; परंतु एक नागरिक उच्च नैतिक वास्तविक स्वतन्त्रताकी स्थापना हो सकती है।’ प्रत्यक्ष जनवादी राज्य रूसोका आदर्श राज्य था। ‘प्रत्येक नागरिक व्यवस्थापिकाका सदस्य होता था। राज्य-नियम स्वीकृतिसे ही बनते थे। वे नियम जनताकी सामाजिक इच्छाका प्रतिनिधित्व करते थे। प्रत्यक्ष जनवादी राज्यकी इच्छा ही रूसोकी ‘सामान्येच्छा’ थी। वही सत्ताधारी थी। सबकी इच्छामें एकताकी भावना नहीं होती। वह सुधारद्वारा ही सामान्येच्छा बन सकती है। सामान्येच्छामें सावयव या अवयवीकी-सी एकता होती है। सबकी इच्छामें इसका अभाव होता है। व्यक्तिकी शान्तिकी इच्छा सावयवकी एकतासे विदित होती है। जिस नियममें क्षेत्र, ध्येय, उद्गम, सामान्य होते हैं, वही सामान्येच्छाका प्रतीक होता है। अर्थात् जो नियम सभीके लिये हितकर हो, जो व्यक्ति या समुदायविशेषसे सम्बन्धित न होकर सम्पूर्ण राज्यसे सम्बन्धित हों तथा जो निःस्वार्थ सामाजिक इच्छाका प्रतिनिधित्व करे और उनके मतदानसे निर्धारित हो, वे ही नियम सामान्येच्छाके प्रतिनिधि हैं।

‘इच्छा दो प्रकारकी होती है। एक सामाजिक, दूसरी व्यक्तिगत। नागरिकोकी सामाजिक इच्छाका ही प्रतिनिधित्व सामान्येच्छा करती है। प्रगति एवं शान्तिकी इच्छा सामान्येच्छा है। राष्ट्रोके वैमनस्यमूलक युद्ध आदिकी स्वार्थमूलक इच्छा सबकी इच्छा हो सकती है, सामान्येच्छा नहीं।’ रूसोके अनुसार सबकी इच्छा नागरिकोकी स्वार्थसम्बन्धी इच्छाका योग है। परंतु सामान्येच्छा तो नागरिकोकी सामान्येच्छाका प्रतिविम्ब होती है। सबकी इच्छा अस्थायी हित और स्वार्थ ध्येयोंसे सम्बद्ध होती है। सामान्येच्छामें स्थायी हित एवं सार्वजनिक भलाई निहित है। सावयवकी इच्छाकी भाँति राज्यकी सामान्येच्छा स्थायी है और सदा सत्य एवं सामान्य हितका प्रदर्शन करती है। ऐसी इच्छाकी अनुपस्थितिमें न राज्य सम्भन है न नागरिकता। जोन्सके अनुसार ‘जैसे एक खेलके खिलाड़ी विभिन्न इच्छा रखते हुए भी खेलके माध्यम एवं नैतिक नियमोंका पालन करना चाहते हैं, वैसे ही

नागरिकों को विभिन्न मतभेदों के होते हुए भी एक सामान्य हित एवं सामाजिक हित की इच्छा होती है। यह भावना ही सामान्येच्छा तथा सुव्यवस्था की धारणा है। ऐसी भावना को ग्रीक 'सामान्य स्वार्थ' कहता है। रूसो के मत से 'सामान्येच्छा'नुसार जीवन-यापन में ही व्यक्तिकी नैतिक, नागरिक तथा वास्तविक स्वतन्त्रता सम्भव है। इसके विपरीत व्यक्तिकी वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं होती। ऐसे व्यक्तिके हित के लिये उसे सामान्येच्छा के अनुसार जीवनयापन करने के लिये बाध्य किया जा सकता है। एक नटखट विद्यार्थी को कक्ष में चुप रहने के लिये बाध्य करने की क्रिया का अर्थ है, उसे स्वतन्त्र होने के लिये बाध्य करना।'

रूसो के अनुसार "स्वतन्त्र राज्य में स्वतन्त्र नागरिक" यह आदर्श व्यवस्था है। इसमें स्वतन्त्रता और नियम एक दूसरे के विरोधी नहीं होते।" लाक के अनुसार भी राज्य की अनुपस्थिति में 'मनुष्य स्वतन्त्र और नैतिक जीवन व्यतीत करता था।' रूसो ने इसका खण्डन कर बताया कि 'नैतिकता और अधिकार केवल राज्य में ही सम्भव हो सकते हैं।' एक सत्ताधारियों ने राजसत्ताधारी का ध्वज कुछ सीमित अवश्य कर दिया। बोर्दो ने राजसत्ताधारी को नैसर्गिक मौलिक नियमों के अधीन माना था। हाव्स ने कहा था कि 'राजसत्ताधारी कोई अन्याय नहीं कर सकता, न किसी नागरिक को प्राणत्याग के लिये बाध्य कर सकता है।' रूसो सामान्येच्छा के क्षेत्र को सामान्य विषयोत्तक ही सीमित मानता है। वेन्थम इसे उपयोगितावाद से सीमित मानता है। वेन्थमवादी उपयोगिता के विपरीत नियम-निर्माण नहीं कर सकता, फिर भी वैधानिक दृष्टि से एक सत्ताधारियों का राज्य 'सबे सर्वा है', वह कोई भूल नहीं कर सकता। अपनी प्रादेशिक सीमा में राज्य सर्वाधिकारी प्रभु है। कोई भी सङ्घ, भले वह ईसाई धर्म की तरह अन्ताराष्ट्रिय ही हो, राज्य के नियमों से परे नहीं हो सकता। हाँ, राजदूतावास एवं उसके निवासी राज्य विधियों के अधीन नहीं होते। इस तरह परदेशी नागरिक एवं दूतावासों से ही राज्य की व्यापकता सीमित है। उन-उन राजदूतावासों में उन-उन राज्यों के ही नियम चलते हैं। अन्य सभी विषयों में राज्य का एकाधिकार ही होता है। इस अर्थ में राजसत्ता की व्यापकता मान्य होती है। इसी तरह राजसत्ता अदेय मानी जाती है। राजसत्ता को राज्य से हटाने का अर्थ है 'राज्य का अन्त करना।' राजसत्ता के बिना राज्य प्राणहीन होता है। अतएव अस्थायी रूप से राज्य अपने राजसत्ताधारी अधिकार किसी सत्ता को दे सकता है। इस कार्य से उसके राजसत्ताधारी रूप का अन्त नहीं होता। वह उन अधिकारों को वापस ले सकता है। यदि एक राजसत्ताधारी राजा या संस्था पदत्याग करे तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि राजसत्ता का अन्त हो गया। इससे केवल राजसत्ता का स्थान परिवर्तित होता है। राज्य के समान ही राजसत्ता स्थायी है। सरकार में परिवर्तन होने से राज्य या राजसत्ता में परिवर्तन नहीं होता। राज्यसत्ता

अविभाज्य होती है। राज्योंके शक्ति-विभाजनके कारण राज्यके कार्य विभक्त होते हैं; परंतु इससे राजसत्ताका विभाजन नहीं होता।'

रूसोके अनुसार 'शक्तिका विभाजन हो सकता है, राज्यकी इच्छाका नहीं।' १९ वां शतीमें भी औद्योगिक क्रान्तिके फलस्वरूप सामाजिक जीवनमें स्पर्धा एवं स्पर्धका महत्वपूर्ण स्थान है। उस स्थितिमें राजसत्ता एक राशि न होकर अनेक प्रकारकी हो गयी। कई राष्ट्रोंमें वैधानिक राजसत्ता मान्य होती है, जैसे ब्रिटेनका सम्राट्, भारतका राष्ट्रपति। उसकी स्वीकृति बिना कोई कार्य नहीं चल सकता। परंतु उत्तरदायी मन्त्रिमण्डलकी स्वीकृति बिना ऐसे सत्ताधारी श्रेष्ठ जन कुछ भी नहीं कर सकते। ब्रिटेनमें सम्राट् और संसद् राजसत्ताधारी हैं। वे सभी प्रकारका नियम बना सकते हैं। कुछ परिस्थितियोंके कारण संसद् राजसत्ताधारी नहीं होती। आधुनिक समाजसेवक राज्यमें संसद् नियम निर्माणमें स्वतन्त्र नहीं होती। वस्तुतः कार्यपालिका ही सत्ताधारी होती है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें कांग्रेस ही नियम निर्माण करती है। परंतु कुछ नयी परिस्थितियोंके कारण राष्ट्राध्यक्षका भी परोक्षरूपसे नियम-निर्माणमें महत्वपूर्ण स्थान होता है। इसीलिये विश्वके वैधानिक अन्वक्षोंमें अमेरिकाका राष्ट्रपति सबसे अधिक अधिकारसम्पन्न होता है।

जनवादी राजसत्ता

आधुनिक जनवादी नागरिक जनता निर्वाचनद्वारा ही नहीं, किंतु प्रचारद्वारा भी राज्यकी नीतिपर प्रभाव डालती है। भाषण, लेखन, आन्दोलनद्वारा जनसत्ता बनता है। सरकारोंको भी तदनुसार अपनी नीति बनानी पड़ती है। कहा जाता है कि 'समाजके वास्तविक शासक हूँडे नहीं जा सकते। कभी एक सङ्घ, कभी दूसरा, कभी कोई आन्दोलन, कभी कोई प्रचार सफल होता है। अतः सर्वोच्च शासनसत्ता जनतामें ही निहित होती है। नियमविधायिनी सत्ताके सङ्घटनकी दृष्टिसे निर्वाचक-सत्ता सत्ताधारी होते हैं। राजनीतिक सम्बन्धमें समस्त जनताके मतका योग ही सत्ताधारी है।'

उपर्युक्त अधिकांश बातें केवल विभिन्न राष्ट्रोंकी घटनाओं, इतिवृत्तोंकी आलोचना-प्रत्यालोचनाओंके आधारपर ही निर्णीत होती हैं। यहाँ औचित्य-अनौचित्यकी कसौटी उत्तरोत्तरकी घटनाएँ तथा मान्यताएँ ही हैं। परंतु भारतीय विवेचक इसे अपर्याप्त मानते हैं। 'मानवका इतिहास प्रगतिका इतिहास है', केवल इसी आधारपर पूर्व-पूर्वके विचार और घटनाएँ हेय हैं, उत्तरोत्तरके विचार एवं घटनाएँ उपादेय हैं, यह कहना नितान्त अज्ञता है। इससे तो पूर्व-पूर्वके इतिवृत्तोंका भी महत्व घटना है, उत्तरोत्तरके मुखौटोंका भी महत्व घटना है। कहा

जा चुका है कि घटनाएँ भरी, बुरी सब तरहकी होती है । विचारवानों में मदा ही अच्छी-बुरी होती है । प्रत्यक्ष, अनुमान, ग्राह्य एवं आगममग्न विचार तथा घटनाएँ आदरणीय हैं । तद्विपरीत हेतु हैं । तत्त्वनिर्णय परिस्थिति, घटनाओं एवं तात्कालिक परिस्थितियोंसे प्रभावित विचारोंका कोई महत्त्व नहीं होता । लुटेरोंका राज्य हो जाय, तो 'हो गया इसलिये उचित मान लिया जाय' यह नहीं कहा जा सकता; किंतु मदा ही उसे मिटानेका प्रयत्न होना चाहिये । उचित योग्य व्यवस्था अति प्राचीन हो या अभूतपूर्व अनागत हो, उसका आदर होना चाहिये । धर्मनियन्त्रित धर्ममपेक्ष पक्षपातविहीन समष्टि-व्यष्टि-अविरोधेन सर्वहितकारी राज्य ही रामराज्य, धर्मराज्य एवं ईश्वरराज्य है । उसीका मदा आदर हुआ है, आगे भी होगा । वर्तमान कालमें भी उसीके लिये प्रयत्नशील होना आवश्यक है । इस दृष्टिमें एक सत्तावादीकी निरङ्कुश राजसत्ताका समर्थन नहीं किया जा सकता ।

कहा जाता है कि 'जहाँ पहले सरकार स्वामी तथा जनता दास थी, वहाँ रूसोकी व्यवस्थामें सरकार दास एवं जनता स्वामी है । उसके मतानुसार जनवाणी देववाणी है । रूसोके जनवादके आधारपर ही मत-संग्रह आदिकी प्रथा है । रूसो भी एक सत्तावादी था; उसके दर्शनमें अन्य संस्था या समुदायका कोई स्थान न था । नागरिक एवं राज्यमें वह सीधा सम्बन्ध रखना चाहता था । उसके शासनतन्त्रमें समाचारपत्रों, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक या नास्तुतिक सङ्घका स्थान नहीं । उसके अनुसार व्यक्ति प्रकृतिसे ही पवित्र है । मद्धहीन समाजमें व्यक्ति स्वयं ही सामाजिक इच्छा या राज्यकी सामान्येच्छाके अनुसार मोचेगा । सर्वो—प्रचारयन्त्रोंमें नैसर्गिक पवित्रताका हास होता है ।'

यद्यपि उसका यह कथन अशुद्ध मत्त है, वर्तमान सम्यता एवं प्रचार-प्रपञ्चोंमें जाल-फौरेवका ही विस्तार हुआ है । तथापि सच्चिदासे सद्वृद्धि, सद्वृद्धिमें सद्दिच्छा और उसमें मत्प्रयत्न एवं सकल होता है । सच्चिदाका निर्धारण होना आवश्यक है । यदि दुर्भाग्यवश किसी उत्पन्नगामी समुदायके हाथमें राजसत्ता आ गयी और समाचारपत्रों तथा प्रचारोंपर भी प्रतिबन्ध रहा तब तो सदा ही जनसमूहको शासनके अत्याचारोंको मिर झुकाकर रहते रहना पड़ेगा । शासन बदलनेका भी उसे कभी अवसर नहीं मिलेगा । इस तरह आदर्श राज्यके नामपर तानाशाहीकी स्थापना होगी ।

रूसो राज्यद्वारा एक नागरिक धर्मनिर्माण भी चाहता था । उस तरह सभी क्षेत्रोंमें राज्य हावी हो जायगा । व्यक्ति-विकासका अवकाश सर्वथा समाप्त हो जाना है । आजके समय सामान्येच्छाका बोध कितना दुर्गम है । विशेषतः

व्यक्तिस्वातन्त्र्य एवं प्रकाशन, भाषण-विस्तारका साधन न होनेसे तो वह और भी दुर्लभ हो जायगी । रूसोने नियमसे नागरिकताकी भावनाका जन्म माना और कहींपर नागरिक भावनासे नियमका जन्म माना । यह परस्पर विरुद्ध है । उसने यह भी माना है कि 'राज्यमें एक व्यवस्थापकद्वारा नागरिक भावनाके जन्म और प्रसारका प्रयत्न होगा ।' इस तरह भावना-निर्माण और उसके अनुसार नियम-निर्माण होगा । अन्य किसी व्यक्ति या समुदायको भावना-निर्माणका अधिकार न होगा । फिर तो जिसके हाथमें शासन होगा वही जो चाहे करेगा । इस तरह रूसोके मतानुसार जनवाद, अधिनायकवाद—दोनों ही साथ-साथ रहते हैं । अधिनायकवाद मानवताका विरोधी ही समझा जाता है । 'नागरिकको स्वतन्त्र होनेके लिये बाध्य किया जायगा' यह एक विचित्र बात है । जनकल्याण-कल्पना स्वतन्त्र करनेके नामपर परतन्त्र बनानेका व्यामोहक मायाजाल है । बोसॉके कहता है कि 'प्रत्येक राज्यकी इच्छा चाहे वह तानाशाहकी इच्छा ही क्यों न हो सामान्येच्छा है ।' उसके अनुसार 'नागरिकको जीवनयापन करनेके लिये बाध्य किया जाना चाहिये, अर्थात् स्वतन्त्र होनेके लिये बाध्य किया जाना चाहिये ।' यद्यपि यह ठीक ही है कि कितने ही कार्योंमें जनहितके लिये उसकी इच्छाके विरुद्ध कुछ करनेके लिये बाध्य किया जा सकता है । जैसे किसी अदीर्घदर्शी अवोध शिशुकी कुपथ्य-परिवर्जन, पथ्य-परिपालन तथा चिरायता आदि जैसी कटु औषधोके सेवनमें प्रवृत्ति नहीं होती तो वहाँ उसे हितैषिणी माताके द्वारा वैसा करनेके लिये बाध्य किया जा सकता है—

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ वाल अधीर ।

न्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर ॥

एक हितैषी डाक्टर भी आपरेगन करते हुए चीरफाड़ करता है और एक दुर्भावनावाला कूटनीतिज्ञ दुश्मन भी चीरफाड़ करता है । आजकल विभिन्न शासनारूढ दल ऐसी स्थिति उत्पन्न करके नागरिकों एवं दूसरे दलोंकी प्रचार-सुविधा रोककर केवल अपना ही प्रचार करते हैं । यह सदाके लिये अपने दलका शासन कायम रखनेका षड्यन्त्र ही है । स्वास्थ्यवर्धक ओषधि खानेके लिये बाध्य करना एक बात है और जहर खानेके लिये बाध्य करना अन्य बात ।

अठारहवीं शतीके मध्यसे उन्नीसवीं शतीतक ब्रिटेन एवं फ्रांसमें आधुनिक आदर्शवादका प्रभाव बढ़ा । स्वतन्त्रता, भ्रातृता, समानता फ्रांसीसी राज्यक्रान्तिका नारा था । वह समस्त यूरोपमें गूँजा और गरीब, किसान तथा मजदूरलोगोंने उसे अपनाया । जर्मनी, प्रुशिया आदि मध्य यूरोपके देशोंमें राष्ट्रियताका प्रसार हो रहा था । उसके अनुकूल आदर्शवादका जन्म हुआ । उदारवादके अनुसार राज्य-

साधन तथा उसका कार्यक्षेत्र सीमित है । उसमें स्वतन्त्रताका अर्थ है स्वेच्छाम जीवन-निर्वाह करना । ठीक इसके विपरीत आदर्शवादके अनुसार आदर्श राज्य साध्य, निःसीम एवं निरपेक्ष है उसके हस्तक्षेपपर कोई प्रतिबन्ध नहीं । इसके अनुसार स्वतन्त्रताका अर्थ है 'राज्यके नियमानुसार जीवन-संचालन करना ।' मान्टेस्क्यू गति-विभाजन स्वतन्त्रताके लिये अनिवार्य मानता था । आदर्शवादी गति-विभाजनके पक्षमें नहीं थे । उदारवादमें जनस्वीकृति मुख्य है ।

कान्ट (१७२४-१८०४) आधुनिक आदर्शवादका जन्मदाता माना जाता है । वह कनिंग्सवर्ग विश्वविद्यालयका अध्यापक था । वह दर्शन एवं राजनीति शास्त्रका विद्वान् और अव्यात्मवादी था । उसके मतानुसार एक वस्तुका ज्ञान उसकी बनावटसे नहीं, किंतु मस्तिष्कमें पड़े हुए उस वस्तुके प्रतिबिम्बसे होता है । एक वस्तुको हम पुस्तक इसीलिये कहते हैं कि वह हमारे मस्तिष्कके अनुसार पुस्तककी भाँति है । विशुद्ध विवेकका जीवनमें अनुभवसे अधिक महत्त्व है, लाकरी परम्परानुसार केवल अनुभव और प्रयोगसे नहीं । राजनीतिके सम्बन्धमें उसने कहा कि 'नियममें व्यापकता आवश्यक है; परंतु उसका आधार विवेक होना चाहिये ।' उसने जनवादका समर्थन करते हुए कहा कि 'राजतन्त्र आदर्श व्यवस्था नहीं है, क्योंकि उसमें नियम विवेकके अनुसार नहीं होते ।'

जनवादमें भी विवेकका अभाव ही है । निष्पक्ष दूरदर्शी ऋषियोंके राजनीतिक शास्त्रों एवं धार्मिक आध्यात्मिक दर्शनोके बिना विवेक न तो भौतिक जनतन्त्रमे है न निरपेक्ष राजतन्त्रमे ही । अध्यात्मवादपर आधारित धर्मनिश्चिन्तित शासनतन्त्रमें ही विवेकका महत्त्व है । वस्तुनस्तु इस पक्षमें सविधान एवं नियम भी सनातन ही है । उनका निर्माण नहीं करना है, किंतु निर्णय किया जाता है । इसलिये विधान-निर्मात्री परिषद् न बनाकर विधान-निर्णेत्री परिषद् ही बनाना है । कान्ट सर्वव्यापक नैतिक नियमोंको व्यक्तिका प्रेरक मानता है । वह इसीके द्वारा इच्छाओका संचालन और नियमन मानता है । अन्यथा मनुष्य निकृष्ट नियमोंका शिकार होकर नष्ट हो जाता है । अतः ऐसे नियमोंद्वारा ही नागरिक जीवनका संचालन होना चाहिये । उसका कहना है कि यदि नागरिक अपने कर्तव्योंका पालन करता है तो अधिकारी अपने आप ही उसका अनुगमन करते हैं । व्यक्तिवादियोंके अनुसार अधिकारकी प्रधानता है; परंतु कान्टके मतानुसार कर्तव्यकी । व्यक्तिवादी स्वेच्छानुसार कार्यको ही स्वतन्त्रता कहते हैं; परंतु कान्ट नैतिक नियमानुसार जीवनयापनसे ही स्वतन्त्रता सम्भव मानता है । मद्यपान, द्यूत आदि नैतिकताके विरुद्ध आचरणको स्वतन्त्रता नहीं कहा जा सकता । व्यक्तिवादी मिल्के अनुसार

‘मद्यपान आदि भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्यमें ग्राह्य हैं ।’ कान्ट कहता है—‘व्यक्ति ही समाजकी जड़ है, जब उसमें भी खराबी हो तब पत्रों, शाखाओंकी खराबी रोकी नहीं जा सकती । अतएव व्यक्तिके अनैतिक कार्य सर्वथा वर्ज्य हैं । राज्यके द्वारा मनुष्य नैतिक नियमोंका अनुगामी बन सकता है ।’ शक्ति-विभाजनको अङ्गीकार करता हुआ भी कान्ट व्यवस्थापिका सभाको राज्यमें प्रधान मानता था । सामन्तो एव मठोंके भूमिसम्बन्धी एकाधिकारका भी वह विरोधी था । उसके मतानुसार ‘मनुष्यके विवेक एव नैतिकताका पूर्ण विकास केवल राष्ट्रमण्डलद्वारा ही हो सकता है । स्थिर शान्ति एवं मानव-प्रगतिके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है ।’ फिर भी कान्टके अनुसार ‘राज्यको शासितोंकी स्वीकृतिपर निर्भर नहीं रहना चाहिये । उसके मतानुसार शक्तिद्वारा राज्यका जन्म हुआ है, कण्ट्राक्ट (सामाजिक समझौता) द्वारा नहीं । वह रूसोंके समान ही ‘सामान्येच्छा’ का समर्थक था । पर उसके लिये प्रत्यक्ष जनवादका आश्रयण अनिवार्य नहीं । एक व्यक्ति भी उसका प्रतिनिधित्व कर सकता है । कान्टका सर्वमनस्तत्त्व वेदान्तियोंके विशुद्ध अखण्डबोधब्रह्मके तुल्य है । बाह्यार्थवादी बौद्धोंके समान ही उसके मतमें बाह्यार्थ भले ही हो; किंतु वह स्वतः प्रत्यक्ष नहीं, अपितु अनुमेय-सा है । आन्तरिक ज्ञानमें होनेवाले प्रतिबिम्बों-द्वारा ही उसकी जति हो सकती है । आन्तर होनेसे ज्ञान ही स्वप्रकाश एव प्रत्यक्ष है । विभिन्न आकारवाली वस्तुएँ ज्ञाननिष्ठ प्रतिबिम्बके द्वारा विदित होती हैं । वेदान्तीके मतानुसार भले ही बाह्यार्थ अनिर्वचनीय व्यावहारिक ही हो तथापि घटादिका प्रत्यक्ष सर्वानुभवसिद्ध है । अतिसूक्ष्म वस्तुओंमें अनुभव एवं प्रयोग असम्भव है । अतः विवेक ही तत्त्वनिर्णयका मूलधार है ।

कान्टकी यह बात अवश्य बहुमूल्य है । विवेकके लिये परम्परा एव अपौरुषेय या ईश्वरीय तथा आर्प शास्त्रोंका समाश्रयण अपेक्षित है । विवेकसामग्री बिना विवेक असफल ही रहता है । सामान्य विषयोंमें जनवादद्वारा विवेकका प्रयोग हो सकता है; परंतु तत्तद्विशिष्ट विषयोंमें उन-उन विषयोंके विशेषज्ञों-द्वारा ही विवेकका सफल प्रयोग हो सकता है । ऐसे विवेक-निर्धारित नियमोंद्वारा इच्छाओंका नियन्त्रण एव संचालन अवश्य ही व्यक्ति-समष्टि सर्वकल्याणका कारण है । यह नियन्त्रण स्वतन्त्रताका साधक ही है, बाधक नहीं । माता-पिता गुरुजनो-द्वारा उचित नियन्त्रण एव शिक्षणसे ही मनुष्य विद्वान्, बलवान्, धनवान् होकर स्वातन्त्र्यसुखका भोक्ता हो सकता है । अनियन्त्रित, उच्छृङ्खल बालक प्रायेण मूर्ख रहकर परतन्त्रताके बन्धनोंमें जकड़ा ही रहता है । व्यक्तिका समुदाय ही समष्टि है । सुतरा व्यक्तिका पतन समष्टिके पतनका कारण बन सकता है । प्रसिद्ध है कि एक ग्रामके नेताने ग्रामीणोंको कहा कि आज राज्रामें सभी लोग एक कुण्डमें दूध डालें । ग्रामीणोंने स्वीकार कर लिया, परंतु डालते समय एक व्यक्तिके मनमें

आया कि सब लोग दूध डालेंगे ही यदि मैं दूधके बढते पानी डाल दूँगा तो भी क्या पता लगेगा ? देवात् डालनेके समयतक सबके ही मस्तिष्कमें यही विचार आ गया । फलस्वरूप सबने कुण्डमें पानी ही डाला, दूध किसीने भी नहीं । कुण्डमें शुद्ध जल-ही-जल पड़ा । ठीक इसी तरह व्यक्तियोंकी बुराईसे समष्टि-समाजमें बुराई और व्यष्टिकी अच्छाईसे समष्टिमें अच्छाई आ सकती है । अतः व्यष्टि-समष्टिका परस्पर अविरोधेन समन्वय ही दोनोंके कल्याणका कारण होता है । भारतीय राजनीति शास्त्रोंके अनुसार यद्यपि व्यष्टि शासक समष्टि शासक ईश्वरका ही प्रतीक होना है, इसीलिये उसमें तदनुसार आशिक ही सही ईश्वरके गुणों एवं शक्तियोंका मनोवैश्व अनिवार्यरूपसे होना चाहिये, तथापि मात्स्य न्यायसे पीडित जनताने शान्ति-सुव्यवस्थाके लिये राजाका वरण किया । इस तरह वह जनताके ऊपर बलात् लादा नहीं गया । इसीलिये उसके कार्योंमें विवेकका प्राधान्य होने हुए भी जन-सम्मति एवं जनसमर्थनकी उपेक्षा कभी न होनी चाहिये । अयोग्य अविवेकी गौरववीर्यविहीनके हाथमें शासन आनेसे राष्ट्रकी हानि होती है—‘वीरभोग्या वसुन्वरा’—शक्तिशाली ही पृथ्वीपति हो सकता है—‘नविष्णुः पृथिवीपतिः ।’ (दे० भा०)

फिफ्टे (१७६२-१८१४) प्रथम मार्टिन लूथरकी धार्मिक शिक्षासे प्रभावित हुआ । १७८४ में वह काण्टके आदर्शवादका अनुयायी हुआ । कहा जाता है कि वह १७९४ तक विश्ववन्द्य एवं जनवादका अनुगामी था । इसके पश्चात् उसकी विचारधारामें परिवर्तन हुआ और वह व्यक्तिवादका विरोधी राष्ट्रवादी हो गया । वह अपने गुरु काण्टके विचारोंसे आगे बढ़ा । वह विचारोंपर प्रतियोग्यरूपमें वस्तुका प्रभाव नहीं मानता था । वह विचारको मनुष्यके मस्तिष्क या विवेककी देन मानता था । उसका कहना है—‘केवल विचार-तत्त्वमें ही भौतिक जगत्का निर्माण होता है ।’ यह विचार तत्त्व बौद्धोंके क्षणिक विज्ञानके तुल्य नहीं, किंतु वेदान्तियोंके ब्रह्मसत्त्वके तुल्य है । मस्तिष्क या विवेकमें उसकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं । उसके मतानुसार ‘मानव जातिका इतिहास पाँच विभागमें विभक्त है’ मनुष्यकी प्राकृतिक स्थितिमें स्वर्णयुग था । दूसरे भागमें बाहुबलद्वारा राज्यकी स्थापना हुई । मध्य एशियाकी शक्तिशाली एक जातिने सम्पूर्ण एशियापर आधिपत्य किया । उसका ही एक अंग यूरोपमें आया । उस युगमें शासक दैवी अधिकारका प्रचार करते थे । तीसरे भागमें मनुष्यने व्यक्तिगत अधिकारके लिये संघर्ष और राज्यके एकाधिकारका विरोध किया । उस समय (१७-१८ वां शतीमें) व्यक्तिवादका बोलवाला हुआ । इतिहासके चौथे भागमें सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओंका विवेकके अनुसार निर्माण हुआ । यह युग १८०६ से आरम्भ हुआ । इसमें वीरो एवं विद्वानोंका राज्य होगा । व्यक्तिका जीवन स्वतन्त्र नैतिक इच्छाके अनुसार संचालित होगा । उसके बाद मनुष्यजाति इतिहासके पाँचवें भागमें

प्रवेश करेगी । उसमें आदर्शराज्य सर्वव्यापक होगा । विवेक ही सत्ताधारीका स्थान ग्रहण करेगा । पूर्ण स्वतन्त्रता एवं समानता सर्वव्यापक होगी ।'

कहा जाता है कि फिक्टेके इस विश्लेषणका प्रभाव हीगेल एवं मार्क्सपर पडा था । उसके मतानुसार भी 'उपयुक्त कार्य करनेमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्रता है । इससे भिन्न स्वतन्त्रता आत्महत्याकी स्वतन्त्रता-जैसी है । स्वतन्त्रता आन्तरिक-बाह्य दो प्रकारकी होती है । आन्तरिक स्वतन्त्रताद्वारा व्यक्ति निजी प्रेरणाओंसे मुक्त होता है, अर्थात् स्वच्छ विवेकके अनुसार कार्य करता है । बाह्य स्वतन्त्रताका अर्थ है व्यक्तिके कार्योंमें किसी अन्य व्यक्तिका हस्तक्षेप न होना । फिक्टेके मतानुसार आन्तरिक स्वतन्त्रता ही सच्ची स्वतन्त्रता है, इससे मनुष्य तुच्छ प्रेरणाओंको पराजित कर विवेकके अनुसार जीवन-यापन करता है । व्यक्तिवादियोंके अनुसार ऐसी स्वतन्त्रता व्यक्तिस्वतन्त्रताद्वारा ही सम्भव हो सकती है ।' वह कहता है—'राज्यका कर्तव्य है कि शिक्षा आदि साधनोंद्वारा नागरिकको आन्तरिक या नैतिक स्वतन्त्रता-प्राप्तिके योग्य बनाये ।' फिक्टेने राष्ट्रिय राज्य-संचालनके लिये भाषाकी एकता, आर्थिक राष्ट्रियता एवं समाजपर सम्पूर्ण नियन्त्रण आवश्यक बतलाया । कहा जाता है कि फिक्टेकी इसी विचार-धारासे हिटलर एवं मुसोलिनीका जन्म हुआ । फिक्टेके मतसे राज्यद्वारा आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाका संचालन होना चाहिये । उसने समाजको किसान, शिल्पी एवं व्यापारी—इन तीन विभागोंमें बाँटा है । उसके आदर्श-राज्यमें वस्तुओंका मूल्य राज्यद्वारा निर्धारित होगा । वह बेरोजगारीका पूर्ण विरोधी था, पर साथ ही व्यक्तिगत सम्पत्तिका समर्थक । वह व्यक्तिको स्वतन्त्र छोड़ देनेका भी विरोधी था । फिक्टे पहले जनवादी था, परंतु धीरे-धीरे वह अधिनायकवादी और फिर शुद्ध राजतन्त्रवादका समर्थक हो गया । वह पैतृक शासनप्रथाको सर्वश्रेष्ठ कहता था । उसके मतमें राजतन्त्रपर न धारासभा और निर्वाचक-मण्डलका ही नियन्त्रण होना चाहिये । यद्यपि उसके गुरु काण्टके मतमें राज्यमें व्यवस्थापिका मण्डलका ही प्रमुख स्थान था । फिक्टेके अनुसार मानवप्रगति शूरवीरो एवं विद्वानोंके कार्योंसे हुई है । भविष्यके आदर्श राज्यमें भी इन्हींकी प्रधानता होगी । तभी शुद्ध विवेकके साथ नियम-निर्माण हो सकेगा । ऐसे नियमोंसे ही नागरिककी नैतिक एवं आन्तरिक स्वतन्त्रता सम्भव होगी । विश्वमें सत्यके आधिपत्यके लिये असभ्योंपर सभ्य लोगोंका शासन होना चाहिये । इस तरह विद्वान्, शिक्षक भी हो, शानक भी हों—यह फिक्टेका आदर्श है । कहा जाता है, हिटलरका नाजीदल उन्हीं भावनाओंके प्रभावसे बना था ।

फिक्टेका विचारतत्त्व बाह्य वस्तुओंसे प्रभावित नहीं होता; अर्थात् वेदान्तियोंके नित्यबोधस्वरूप ब्रह्मके समान निर्विकार है, अन्तःकरण-वृत्तिरूप

नहीं। उसीसे विश्वकी उत्पत्ति होती है।' यह मत भी वेदान्तियोंसे मिलता है। वस्तुतः विचार स्वयं मानस किर्यारूप होता है। उसका भासक अखण्ड भान ही तात्त्विक पदार्थ है। उसी अर्थमें फिक्टोका 'विचार' शब्द प्रवृत्त होता है। फिक्टोकी प्राकृतिक स्थितिमें स्वर्णयुग था, यह कल्पना कृतयुगकी स्थितिसे मिलती है। तदतिरिक्त प्राचीन एव भविष्यके सम्बन्धमें फिक्टोकी ऐतिहासिक कल्पना उसकी भावनापर ही निर्भर है। अतीत कल्पना आर्ष इतिहासोके विरुद्ध है। भविष्य कल्पना आधुनिक प्रत्यक्ष अनुभवोके विरुद्ध है। उसकी आन्तरिक स्वतन्त्रता अवश्य महत्त्वपूर्ण वस्तु है। वस्तुतः इसके बिना वाह्य स्वतन्त्रता पशुभोकी स्वतन्त्रता-जैसी ही है। राष्ट्रियताकी भावना महत्त्वपूर्ण है, परन्तु समष्टि अविरोध ही नहीं, अपितु समष्टिका अभ्युदय भी उसका लक्ष्य होना चाहिये। इसी त्रुटिसे हिटलरकी राष्ट्रियतामें अहंकार, अभिमान एव परावमान, परावमर्दन बढा और अन्तमें पतन हुआ। राजतन्त्र भी धर्मनियन्त्रित होकर कल्याणकारी होता है। फिर भी वास्तविकरूपसे धर्मनियन्त्रित न होनेपर उसे पदच्युत करनेकी व्यवस्था तभी सम्भव हो सकेगी, जब धारासभा या निर्वाचकमण्डलका अस्तित्व होगा।

हीगेल (१७७०—१८३१) सर्वश्रेष्ठ आदर्शवादी माना जाता है। कहा जाता है, उसका पिता सरकारी कर्मचारी था। अतः वह पिताके पेशेसे प्रभावित होकर नौकरशाहीका समर्थक हुआ। हीगेल फ्रांसकी राज्यक्रान्तिसे भी प्रभावित था। कहते हैं कि हीगेलका दर्शन केवल एक ही व्यक्ति समझ सका था और उस व्यक्तिने भी उसे गलतरूपमें ही समझा। वह व्यक्ति था मार्क्स। हीगेलके मतानुसार विचार-तत्त्व ही वास्तविक जगत्का निर्माण करता है। विचार ही एकमात्र सत्ताधारी है और जगत् सब उसीकी रचना है। यही वस्तुगत आदर्शवाद है। जहाँ मस्तिष्कका स्वतन्त्र अस्तित्व है, वहाँ मस्तिष्कमे चित्रण होनेमे वस्तु-स्वरूप निश्चित होता है। यही आत्मगत आदर्शवाद है। परन्तु हीगेलके वस्तुगत आदर्शवादके अनुसार मस्तिष्क और वस्तु-जगत् दोनों ही सर्वव्यापक विचार-तत्त्व या विश्वात्मासे संचालित हैं।

बोर्दा (१५३०—१५९६) ने कहा था कि 'मनुष्यजातिका इतिहास प्रगतिका इतिहास है।' दो शती बाद हीगेलने इसी सिद्धान्तकी व्याख्या की और उसने बताया कि यदि कभी इसके विपरीत अवनति-सी दृष्टिगोचर होती है तो भी उसे अवनति नहीं मानना चाहिये; किन्तु यह घटना प्रगतिकी पृष्ठ-भूमि है। हीगेलके अनुसार मानव-इतिहास केवल कुछ घटनाओका वर्णन नहीं है, किन्तु प्रगतिकी कहानी है। उसका कहना है कि 'ससारमें प्रत्येक वस्तुकी प्रतिवादी वस्तु अवश्य होती है। पहले वाद होता है तब उसका प्रतिवाद और दोनोंके संघर्षसे

जो तीसरी वस्तु उत्पन्न होती है उसे ही संवाद कहते हैं। संवादमें वाद प्रतिवाद-की विशेषताओंका समावेश होता है, साथ ही वह दोनोंका अतिक्रमण भी करता है। इस तरह संवाद एक नयी परिस्थिति है। प्रगतिके दौरानमें कुछ दिनोंमें वह भी वाद बन जाता है, क्योंकि उसके भी कुछ विरोधी होते ही हैं। उनका सघटन होते ही वह प्रतिवाद बन जाता है। इस सघर्षके फलस्वरूप एक दूसरा संवाद उत्पन्न होता है। यह पहले संवादसे उच्चकोटिका होता है। तात्पर्य यह कि सर्वप्रथम संघटित शक्ति अपना कार्यक्रम रखती है। उसी कार्यक्रमके अनुसार वह विश्वका संचालन करती है। यह कार्यक्रम एक वाद है, परंतु प्रत्येक व्यक्तिके अनुकूल उसका कार्यक्रम नहीं हो सकता। अतः प्रतिकूलोंकी संख्या बढ़ती है, उसका सघटन होता है और उस सघटनद्वारा कार्यक्रमका विरोध करते हुए एक नवीन कार्यक्रम उपस्थित किया जाता है। इसीको प्रतिवाद कहा जाता है। कुछ समयतक इनमें सघर्ष चलता है तब इन दोनोंकी विशेषताओंका समन्वय कर कुछ नवीनका योग कर एक नया दल संघटित होता है। वह अपना नवीन कार्यक्रम उपस्थित करना है, इसे ही संवाद कहा जाता है। आगे इस संवादके भी प्रतिद्वन्द्वी तत्त्व प्रकट होने लगते हैं, तब यही संवाद वाद बन जाता है। इस तरह यह आवर्तन निरन्तर चलता रहता है। इस द्वन्द्वात्मक सघर्ष-द्वारा ही मानवकी प्रगति होती आयी है। यह क्रिया इतिहासमें व्यापक है।

यह द्वन्द्ववाद यूनानमें हीगेलसे पहले भी प्रचलित था। परंतु उसके अनुसार प्रगति वृत्तात्मक थी। हीगेलके अनुसार 'वह चक्रव्यूहके तुल्य' है। समाज, राज्य, दर्शन आदिमें भी हीगेलने इसी तर्कका प्रयोग किया। यह हीगेलकी विशिष्ट देन समझी जाती है। मार्क्सने हीगेलके इसी द्वन्द्ववादको 'द्वन्द्वात्मक भौतिक वाद'का रूप दिया। इसी तर्कके आधारपर हीगेलने बताया कि राज्य मानवकी सामाजिक प्रगतिकी चरम सीमा है। पहले कुटुम्ब होता है, यही वाद है। उसकी विशेषता प्रेम तथा त्यागमे होती है। कुछ समय पश्चात् समाजका जन्म हुआ, यह प्रतिवाद हुआ। उसकी विशेषता कुटुम्बके विपरीत स्पर्धा थी। वाद और प्रतिवादमें सघर्ष होनेसे संवादरूपी राज्यका जन्म हुआ। इस संवादमें वाद-प्रतिवादका समन्वय हुआ। उसमें कुटुम्ब एवं समाजकी विशेषताके साथ कुछ अन्य विशेषताओंका भी समावेश है। इसीलिये यह राज्य, कुटुम्ब एवं समाज दोनोंसे ही ऊँची मर्यादा है। हीगेल इसे विश्वात्माके प्रतिविम्ब-तुल्य कहता है। अति प्राचीन कालमें स्वेच्छाचारी राज्यवाद था। इसके बाद जनतन्त्रका जन्म हुआ, यह प्रतिवाद हुआ। दोनोंके सघर्षके फलस्वरूप संवैधानिक राजतन्त्रका जन्म हुआ। यही सर्वोच्चतन्त्र है। इसके बाद प्रतिवादके गुण आ जाते हैं।

हीगेल जर्मनीके तत्काल शासनको संवैधानिक राज्यमानता था। वह एक राष्ट्रिय

राज्यभक्त था। इसीलिये कहा जाता है कि वह दर्शनिकोंका सम्राट् होत हुए सम्राटोंका भी दार्शनिक था। काण्ट एवं फिक्टने राज्यको अन्ताराष्ट्रिय नैतिकताके अधीन माना और अन्ताराष्ट्रिय शक्तिका समर्थन किया। परन्तु हीगेल राष्ट्रने बड़ी कोई मस्था नहीं मानता। हीगेल युद्धका समर्थक और जनवाद-विरुद्धी था; परन्तु काण्ट शक्ति और जनवादका समर्थक। फिक्टनेके कल्पित भविष्यके आदर्श राज्यको हीगेलने उच्च तर्कोंके द्वारा जर्मनीके राज्यको ही आदर्श बतलाया। उसका दार्शनिक विवेचन बहुत गम्भीर समझा जाता है। उसके दर्शनको कई लोग त्रिगिष्टाद्वैतके समीप, कई लोग अद्वैतके समीप मानते हैं।

‘मनुष्य-जातिका इतिहास प्रगतिका इतिहास है’ इस कथनका अर्थ यदि डार्विनका उत्तरोत्तर विकास है, तब तो कहना पड़ेगा कि हीगेल वर्तमान अनाचार, पापाचार एवं भ्रष्टाचारको ही प्रगति मानता है। कारण—

न से स्तेनो जनपदे न क्षत्रपों न मध्यप।

नानाहिताग्निर्नायज्वा न ग्वैरी ध्वैरिणी कुतः॥

(छान्दो० उप० ५। १। ५)

नहि दरिद्र कोड दुर्गा न दाना। नहि वोड अयुध न लच्छन हीना॥

—कौ स्थिति जो रामराज्य एवं कृतयुगकी स्थिति थी वह तो आप दे ही नहीं। उस स्थितिकी अपेक्षा वर्तमान समय प्रगतिका है या पतनका, वह कोई भी विचार सकता है। रामराज्यके अनुसार ‘चक्रनेमिक्रमेण’ प्रगति-अवनति मसारका धर्म है। अतः फिर भी कृतयुग रामराज्य युग आ सकता है। वैज्ञानिक आविष्कारकी दृष्टिसे भी वर्तमान उन्नतिको ‘अपूर्व’ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे अधिक आविष्कार पूर्व युगमें हो चुके हैं और उनपर प्रतिबन्ध लगानेकी आवश्यकताके अनुसार प्रतिबन्ध लगाया जा चुका था। राज्य और राजाका महत्त्व मनुने भी बहुत कहा है, परन्तु उसपर भी धर्मका नियन्त्रण उन्होंने आवश्यक समझा। अनियन्त्रित शोषक राजाओंकी वही गति होनी उचित है जो वेन, रावण आदिकी हुई। इसी तरह स्वतन्त्रताका अर्थ यद्यपि उच्छृङ्खलता नहीं, तथापि तानाशाही शासन यन्त्रका नगण्य पुर्जा बनकर व्यक्तिगत, लौकिक, पारलौकिक अभ्युदय साधनोंमें पराधीन हो जानेको भी स्वतन्त्रता नहीं कहा जा सकता। शासकोंका व्यक्तिगत, धार्मिक एवं सामाजिक स्वतन्त्र जीवनमें अल्पतम हस्तक्षेप होना हर दृष्टिसे व्यक्ति एवं समाजके विकासका मूलमन्त्र है। सीमित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा लौकिक, पारलौकिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक नियमोंका पालन राजा-प्रजा, शासक-शासित सभीके लिये अनिवार्यरूपसे अपेक्षित एवं लाभदायक होता है।

हीगेलके मतानुसार एलेक्जेंडर (मिस्टर) नेपोलियन-डेमे धरवीगे-

द्वारा ही मानवकी प्रगति होती है। फिक्टे राज्यको अन्ताराष्ट्रिय नैतिकताके अधीन रहना उचित समझता था, परन्तु हीगेल राज्यको स्वतन्त्र मानता था। रामराज्यकी दृष्टिमें व्यक्ति-समष्टिके समन्वयसे ही सुव्यवस्था हो सकती है। हीगेलके मतानुसार युद्ध 'न्यायसंगत' है। वह इससे देशप्रेम एवं नैतिकताकी वृद्धि मानता है। रामराज्य यद्यपि युद्धके द्वारा धन-जन एवं शक्ति क्षय होनेसे युद्धको हानिकारक ही समझता है तथापि साम, दान, भेद आदि अन्य नीति सफल न होनेपर राभ्यता, संस्कृति तथा न्यायकी रक्षाके लिये उपस्थित धर्मसंग्रामसे पराङ्मुख होनेको क्लेश्य एवं पाप मानता है और ऐसे समुपस्थित धर्मसंग्रामको स्वर्गका खुला द्वार समझकर स्वागत करता है। हीगेल राज्यकार्य-संचालन, शिक्षा, जनोपयोगी कार्य, स्वास्थ्य, निर्धनोकी सहायता, व्यवसाय, व्यापार-संचालन आदि सभी कार्योंमें पुलिसका प्रयोग उचित समझता था। न्यायालय एवं पुलिसको राज्यकी उच्च एवं व्यापक सस्था मानता था। वह मान्टेस्क्यूके शक्ति-विभाजन सिद्धान्तका भी विरोधी था। हीगेलका सीमित राजतन्त्र ब्रिटेनके राजतन्त्रसे भिन्न था। ब्रिटेनमें ससदद्वारा सीमित राजतन्त्र होता है; किंतु उसपर नौकरशाहीका कुछ नियन्त्रण होता है। राज्यके किसान, व्यापारी एवं सर्वव्यापकवर्ग—इन तीन वर्गोंमें सर्वव्यापकवर्ग ही समाजका नेता होता है। इसी वर्गसे योग्यतानुसार नियुक्ति होनी चाहिये। इसी वर्गद्वारा राजतन्त्रकी शक्ति सीमित होनी चाहिये। हीगेलके आदर्श व्यवस्थापक मण्डलमें दो सभाएँ होनी चाहिये। बड़ी सभा कुलीनोकी प्रतिनिधि और छोटीमें समाजकी अन्य सस्थाओंके प्रतिनिधि होने चाहिये। हीगेलके आदर्श समाजमें सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संघोंको भी स्थान है। एकसत्तावादी दर्शनोमें राज्य और प्रजाके बीच इन संघोंका कोई स्थान नहीं। परन्तु हीगेलके राज्यके नियन्त्रणमें ही इन संघोंका संचालन हो सकता है। रामराज्यवादीकी दृष्टिसे शास्त्रोक्त धर्मनियन्त्रण प्रत्येक सस्थापर आवश्यक है। इसी दृष्टिसे सब व्यवस्थाएँ निर्दिष्ट हो सकती हैं। अन्यथा व्यक्तियों एवं समाजको तानाशाहीका शिकार बनना पड़ता है।

टी० एच० ग्रीन (१८३६-८२) ब्रिटेनका आदर्शवादी दार्शनिक था। उसने ग्रीक (यूनानी) दर्शन एवं आदर्शवादी दर्शनका अध्ययन किया और एक नया दर्शन (आक्सफोर्डदर्शन) निर्मित किया। वह आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयमें दर्शनका प्रोफेसर था। वह अफलातून, अरस्तूकी तरह राजनीतिशास्त्रको आचारशास्त्रका एक अङ्ग मानता था। रिची, ब्रेडले, बोसांके, लिण्डसे, बार्कर आदि ग्रीन परम्पराके अनुयायी हुए हैं। ग्रीन भी उनके समान ही मनुष्यके सामाजिक प्राणीराज्यको प्राकृतिक सस्था मानता था। उसके अनुसार 'आदर्श राज्यको नैतिक जीवनका सच्चा सहायक होना चाहिये।' काण्टके समान उसके दर्शनमें

उदारवाद और आदर्शवादका समन्वय मिलता है। वह क्रामवेलका, जिसने इंग्लैंडमें कुछ कालके लिये गणतन्त्र स्थापित किया था, वंशज था। वह 'यूरिस्टन' और 'नानकन्फार्मिस्ट' (आत्मसयमी और स्वतन्त्र) मनोवृत्ति-का था। इसीलिये वह 'स्वतन्त्रता' और 'नैतिकता' का प्रेमी था। उनके समयमें मिलकी 'स्वतन्त्रता' और 'अर्थशास्त्र' का पर्याप्त प्रभाव था। अतः वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका पोषक था। ग्रीन राज्यको 'सबोंका सब' मानता था। इन सबोंका जन्म राज्यके पूर्व हुआ था, राज्य इनका जन्मदाता नहीं। इनका समन्वय करना राज्यका कर्तव्य है। ग्रीन वास्तविक अधिकार राज्यकी देन मानता था। सामाजिक प्रगति तथा नैतिकताकी वृद्धिमें सहायक अधिकार ही वास्तविक अधिकार होते हैं। वह बाहुबलद्वारा राज्यका संचालन और मानवके अधिकारोंकी रक्षा मानता है। परन्तु वह बाहुबलको राज्यके व्यक्तिगत अधिकारोंका जन्मदाता नहीं मानता। वह व्यक्तिगत अधिकारोंका स्रोत राज्य और राज्यका आधार जनस्वीकृति मानता है। ग्रीन स्वतन्त्रताका प्रेमी था, परन्तु व्यक्तिवादियोंके समान वह स्वेच्छानुसार कार्य करनेको स्वतन्त्रता नहीं मानता था। वह सामाजिक, नैतिक दृष्टिकोणसे प्राप्तियोग्य वस्तु या मुखके लिये कार्य करनेको ही स्वतन्त्रता समझता था। नैतिकताकी वृद्धि सामाजिक भलाईके कार्यकी स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्रता है। ग्रीन अनुबन्धवादको इतिहास एवं तर्कके दृष्टिकोणमें मिथ्या कहता है।

'जनस्वीकृति राज्यका आधार है, बाहुबल नहीं' ग्रीनका यह ऐतिहासिक वाक्य है। फिर भी यह लोकके समान अनुबन्धवादी नहीं था। जनस्वीकृतिपर आधारित राज्य सामान्येच्छासे होना चाहिये। सामान्य भलाईकी सामान्य चेतना उसकी सामान्येच्छाका अर्थ है। जो राज्य ऐसा नहीं, उसका अन्त निश्चित है। ग्रीनकी सामान्येच्छा रूसोके समान जनतन्त्रीय नहीं, किन्तु उसके मतानुसार राज्यतन्त्र भी सामान्येच्छाका प्रतिनिधित्व कर सकता है। व्यक्तिगत सम्पत्तिके सम्बन्धमें वह पूँजीपतिका अस्तित्व उचित मानता था; किन्तु जमीनदारका नहीं। वह उत्पादनमें जमीनदारोंका हाथ नहीं मानता, अतः वह जमीनदारी प्रथाका विरोधी था। ग्रीनके अनुसार राज्य आदर्श सस्था अवश्य है, परन्तु व्यक्तिराज्यका दास नहीं। समाज हितके लिये नागरिक राज्यका विरोध कर सकता है, परन्तु बहुमत उसके पक्षमें होना चाहिये। इस तरह राज्यका विरोध किया जा सकता है। परन्तु शर्तें कठिन हैं। वह युद्धविरोधी और विश्वसंधद्वारा ससारमें शान्ति स्थापनाका समर्थक था। उसके अनुसार समाजहितका राज्यहितसे अधिक महत्त्व है। राज्य समाजका प्रतिनिधि है, स्वामी नहीं। अतः राज्यको विश्वसमाजकी सामान्य नैतिक चेतनाके अनुसार संचालित होना चाहिये। यह सामान्य चेतना

गान्तिका बोधक है। उसके मतानुसार 'आदर्श' राज्यका ध्येय विश्वशान्ति और सामाजिक प्रगति है। इस ध्येयकी पूर्तिमें असफल होनेपर राज्यका नागरिकोंद्वारा विरोध न्याय-सगत है।

ग्रीनके अनुसार 'सामाजिक हित'का स्थान व्यक्तिगत इच्छाओं एवं स्वाथंसे ऊँचा है। व्यक्तिवादियोंके नैसर्गिक अधिकारोंका वह विरोधी था। 'समाज हित'द्वारा ही व्यक्तिहित हो सकता है। काण्टके अनुसार ही ग्रीन भी राज्यके नियमोंको रुकावटोंकी रुकावट मानता था। अर्थात् नैतिक जीवनकी रुकावटोंको रोकना राज्यके नियमोंका उद्देश्य है। अज्ञानता, दरिद्रताकी हालतमें सच्ची स्वतन्त्रता सम्भव नहीं। ग्रीनका कहना है कि 'राज्य प्रत्यक्ष तो नहीं, किंतु परोक्षरूपसे ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकता है जिसके द्वारा व्यक्तिकी स्वतन्त्रता और नैतिकताकी वृद्धि हो सके। स्वतन्त्रता एवं नैतिकताके प्रतिरोधक तत्वोंको दूर करना राज्यका कर्तव्य है। अनिवार्य शिक्षा, मद्यविक्रय-निषेध ग्रीनकी दृष्टिमें अज्ञान एवं प्रमादका निवारक होनेसे अत्यावश्यक है। उसके मतानुसार एक मध्यम स्वतन्त्र नहीं, परतन्त्र ही है, क्योंकि इससे वह अपने विवेकका समुचित प्रयोग नहीं कर सकता। स्वच्छ स्वास्थ्यवर्धक गृहनिर्माणके लिये राज्य नागरिकोंको बाध्य कर सकता है। श्रमिकोंकी दयनीय दशाका सुधार भी राज्यका कर्तव्य है।'

वर्तमान यान्त्रिक विकास एवं उसके द्वारा होनेवाले आर्थिक असंतुलन तथा क्रयशक्तिका हास और मालकी अधिक उपज तथा माल खपतके लिये बाजारोंका अभाव आदि समस्याओंका समाधान ग्रीनकी व्यवस्थासे सम्भव नहीं होता। अतः उसके लिये अतिरिक्त आयके वितरण और यान्त्रिक विकासके अवरोध आदिके लिये रामराज्यवादका आश्रय अनिवार्य है। रामराज्यकी दृष्टिमें भी जनसम्मति अवश्य अपेक्षित है; क्योंकि लोकसंज्ञन राजाका मुख्य कार्य है। तथापि जन-स्वीकृतिके विषय सीमित ही है, निस्सीम नहीं। अनेकविध धर्म, दर्शन, शिल्प, कला आदि विषयोंमें जनसम्मतिकी अपेक्षा नहीं होती। यद्यपि परम्पराप्राप्त राज्य-प्राप्तिमें जन-स्वीकृति मूल नहीं। फिर भी जनसंज्ञनकी दृष्टिसे अपने कार्योंमें जन-सम्मति या जन-स्वीकृति लेना आवश्यक है।

इसी तरह जिस न्यायमें ग्रीन व्यक्तिगत पूँजीकी सत्ता मानता है, व्यक्तिगत भूमिकी सत्ता माननेमें भी वही न्याय क्यों न माना जाय? रामराज्यवादकी दृष्टिसे तो भूमि, सम्पत्ति, कल-कारखाना तथा उद्योग-धंधे आदि सभी विषयोंमें 'समवित्तागमा धर्म्या' के अनुसार, व्यक्तिगत वैध अधिकार मान्य हैं। शर्त यही है कि अन्याय, अत्याचार, शोषण आदिद्वारा उनकी प्राप्ति न की गयी हो; किंतु पितृपितामहादि परम्पराके दायसे तथा गाँठे पसीनेकी कमाई एवं मान-पुरस्कारादिसे प्राप्त की गयी हो। इसकी उपपत्ति पीछे की जा चुकी है। अन्य अंगोंमें ग्रीनका मन्व्य रामराज्य-सम्पन्न ही है।

एफ् एच्. ब्रैंडले (१८४६-१९२४) का कहना था कि 'मनुष्यका समाजसे बाहर कोई अस्तित्व ही नहीं। समाजद्वारा ही उसे भाषा एवं विचार मिलते हैं। मनुष्यका शरीर एक पैतृक सम्पत्ति है। परन्तु बिना समाजके यह सम्पत्ति प्रगति नहीं कर सकती। व्यक्तित्व-वृद्धिके लिये समाज अनिवार्य है।' उनके अनुसार 'व्यक्तिको समाजमें स्थान चुननेकी स्वाधीनता है। परन्तु चुननेके पश्चात् समाज-सम्बन्धी कर्त्तव्योंका पालन अत्यावश्यक है।' बोसाके (१८४८-१९२३) की प्रसिद्ध पुस्तक 'फिलॉसोफिकल थ्योरी आफ दि स्टेट' (राज्यका दार्शनिक सिद्धान्त) है। उसके दर्शनमें रूसोकी सामान्येच्छाका विश्लेषण किया गया है। वह राज्यकी इच्छाको सामान्येच्छा मानता था। वह सामाजिक इच्छाके अनुसार कार्य करनेको ही स्वतन्त्रता मानता था। इसीलिये चोर स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। व्यक्तिकी सामाजिक इच्छा सामान्येच्छासे अभिन्न है, यह राज्यमें निहित है, उसका कहना है कि 'एक चोरके चोरी करनेका कार्य स्वार्थमयी इच्छाका प्रतिविम्ब है। यह कार्य उसके वास्तविक स्वतन्त्रताके अनुसार नहीं है। न्यायाधीशका चोरको दण्ड देनेका कार्य चोरकी सामाजिक या विवेकशील इच्छाका प्रतीक है। उसके अनुसार चोरकी वास्तविक स्वतन्त्रता चोरी करनेमें नहीं बल्कि दण्ड भोगनेमें है। सामान्येच्छा और सच्ची इच्छामें यह भी विभिन्नता मानता है।

रूसोकी सामान्येच्छा जनतन्त्रीय है। परन्तु इसके मतानुसार 'सामान्येच्छा राज्यमें ही निहित है, भले ही वह राज्य तानाशाही क्यों न हो। एक तानाशाहकी इच्छा भी उसके अनुसार सामान्येच्छा है।' रूसोके अनुसार राजमत्ता नागरिकोंमें निहित होती है। अतः उसके अनुसार नागरिकोंको स्वतन्त्र होनेके लिये बाध्य करना न्याय-सङ्गत है। परन्तु एक अधिनायककी इच्छाके अनुसार काम करनेके लिये नागरिकोंको बाध्य किया जा सकता है और इसीको स्वतन्त्र होनेके लिये बाध्य करना कहा जायगा। उसके अनुसार 'राजमत्ताधारी नागरिकोंकी सामाजिक इच्छाके प्रतिविम्बभूत सामान्येच्छाके अनुसार नियम बनाने, भले ही नागरिक उनका विरोध करें। वह विरोध उनके अज्ञानका ही प्रतीक है। वे राज्यनिहित अपनी सामाजिक इच्छाको नहीं जानते। स्वार्थी तात्कालिक इच्छाके अधीन होकर नियमका विरोध करते हैं। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति नदीमें तैरना चाहता है। दूसरा उसका हितैषी तैरनेसे रोकता है, क्योंकि उसमें घड़ियाल-मगर आदि हैं। जिनसे कि तैरनेवाला खतरा पड़ सकता है। तैरनेकी इच्छा स्वार्थी इच्छा है। रोकनेवालेका परामर्श सामाजिक एवं विवेकशील इच्छाके अनुसार है। इसी तरह व्यवस्थापक, सत्ताधारी, सामाजिक, विवेकशील इच्छाका प्रतिनिधि है। विरोधी नागरिक स्वार्थी इच्छाके अनुसार कार्य करता है।' बोसाकेके मतानुसार 'राज्य अनैतिक कार्य नहीं कर सकता।' हीगेलके समान ही बोसाके भी 'अन्तागष्ट्रि

नैतिकता और अनुबन्धोंको स्थान नहीं देता । उसने भी राज्यको साध्य बनाया है, साधन नहीं । 'राज्य सर्वेसर्वा है ।'

अनुबन्धवादमे राज्य कृत्रिम सस्था मानी गयी, व्यक्तिको सर्वोच्च स्थान मिला, सामाजिक हित गौण हो गया । ह्यूम, वेन्थम आदिने उपयोगिताको राज्यके जन्मका कारण कहा । इन्होंने राज्यके अनुबन्धवादी और कृत्रिम रूपका खण्डन किया । परंतु उपयोगिताके आधारपर व्यक्तिको सर्वेसर्वा माना । आदर्शवादने राज्यको प्राकृतिक सस्था और व्यक्तिको स्वभावतः सामाजिक प्राणी कहा । इसीलिये प्राणी संस्था या समाज बनाता है । इसी प्रवृत्तिसे राज्य बना । व्यक्तिका राज्यमें रहना आन्तरिक मनोवृत्तिके अनुकूल है । राज्य व्यक्तिकी सामाजिक मनोवृत्तिका प्रतिबिम्ब है । इसमें राज्य साध्य है, व्यक्ति साधन । परंतु भारतीय भावनाके अनुसार 'रञ्जनाद्राजा' के सिद्धान्तानुसार प्रजाका रञ्जन करना ही राजाका कार्य है । प्रजाहितार्थ नया व्यक्तियोंके हितार्थ राजा अपने सर्वस्वका बलिदान करता है—

स्नेहं दया च मोक्षं च यदि वा जानकीमपि ।

आराधनाय लोकस्य सुखतो नास्ति मे व्यथा ॥

(उत्तररामचरि० १ । १२)

व्याधि नास हित जननी गने न सोसिसु पीर ।

—के अनुसार यह ठीक है कि कई प्रजाहित ऐसे हो सकते हैं कि जिन्हे सामान्य जन नहीं समझ सकते । परंतु समष्टिमें विशिष्टों एवं विशेषज्ञोंका अभाव नहीं रहता । अतः समष्टिकी उपेक्षा कर नियमनिर्माण या समाजकी इच्छाके प्रतिकूल कार्य करनेके लिये बाध्य करना न्यायसङ्गत नहीं । कहा जा चुका है कि डाक्टरसे आपरेगन कराया जा सकता है, परंतु विरोधी शत्रुको ऐसा करनेकी स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती । सावयववादके अनुसार नागरिक अङ्गहित और राज्य सावयवहित अन्योन्याश्रित हैं । सावयवराज्यके विना अवयव नागरिककी बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक, आर्थिक प्रगति नहीं हो सकती । समाज या राज्यके बाहर सभ्य-जीवन सम्भव नहीं होता । इस दृष्टिसे राज्य एक आवश्यक विकार न होकर अनिवार्य प्राकृतिक सस्था है । हाव्सके सत्ताधारी 'दीर्घकाय मानवदेव' (लेबियाथन) के समान ही आदर्शवादियोंने भी नागरिकोंके हितार्थ एक 'दीर्घकाय' को समाजशास्त्रमें प्रस्तुत किया । यह 'दीर्घकाय' आदर्शवादियोंका राज्य है । हीगेलका राज्य विश्वात्मा या 'सर्वव्यापक विचार-तत्त्व'का प्रतिबिम्ब है । बोसाकेका राज्य 'सामान्येच्छा' का प्रतीक है । इन सिद्धान्तोंकी ओटमें व्यक्तिगत उचित स्वतन्त्रताका भी अपहरण किया गया । नैतिकताकी वृद्धि राज्य तथा नागरिकका सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य माना जाना है । आदर्शवादका भौतिकवादियोंसे वैशिष्ट्य है । राजनीति शास्त्रके साथ आचार-

शास्त्रका सम्बन्ध महत्त्वकी वस्तु है । किंतु राज्यको अन्ताराष्ट्रिय नैतिकतासे भी मुक्त मानना राज्यकी पूर्ण निरङ्कुशताका समर्थन है । 'राज्य कोई अनैतिक कार्य कर ही नहीं सकता । युद्धसम्बन्धी अत्याचार अनैतिक नहीं कहे जा सकते' यह नव्य असंगत एवं मानवता-विरुद्ध है । रामराज्यमें अनिवार्य होनेपर युद्ध आदरणीय अवश्य है, परंतु उसके भी कुछ धर्म हैं, नियम हैं । अत्याचार, क्रूरता वहाँ भी अनैतिक ही है । शस्त्रहीन, अयुद्धयमान, पराङ्मुखका वध आदि वहाँ भी अनैतिक ही है । स्वतन्त्र-बुद्धि-प्राप्त कल्पनाएँ निरङ्कुश होती हैं, इसीलिये पाश्चात्य दार्शनिकोंमें दार्शनिकोंकी परस्पर अत्यन्त विसंगति है । कोई व्यक्तिवादका अतिवाद, कोई समष्टिवादका अतिवाद स्वीकार करने हैं । कोई प्रजा-प्राखर्य, कोई राज्य-प्राखर्यको चरम सीमापर ले जाना चाहते हैं । बिना सुस्थिर शास्त्रीय प्रमाण और बिना प्रामाणिक परम्पराके इन विभिन्न तुस्खोंको आजमाइशके लिये विभिन्न गण्टूरूपी प्रयोगशालामें प्रयुक्त किया जाता है । कोई भी प्रयोग कुछ सालोंमें ही असफल सिद्ध हो जाने हैं ।

गमराज्य-प्रणाली ठीक इसके विपरीत है । वह अनार्य अनन्त ईश्वरीय अपौरुषेय शास्त्रों एवं आर्प, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक शास्त्रों तथा प्रामाणिक परम्पराओंके आधारपर स्थिर है । यही प्रणाली ईश्वरराज्य, धर्मराज्य, गमराज्य, पक्षपान-विहीन धर्मसापेक्षराज्य, अत्यात्मवादपर आधारित धर्मनियन्त्रित शासनतन्त्र आदि नामोंसे प्रसिद्ध है । वह लाखों-करोड़ों नहीं, अरबों वर्षोंमें सफल अनुभूत है ।

मार्क्सवाद

कार्लमार्क्स (१८१८—१८८३) कै केपिटल आदि अनेक ग्रन्थोद्वाग समाजवाद एवं साम्यवादका परिष्कृत रूप व्यक्त हुआ । यो इसका प्रचलन बहुत पूर्वसे ही था । अफलातून, मोर आदिने तथा उनसे भी पहले कई धार्मिक लोगोंने साम्यवादी समाजका चित्रण किया है । 'वसुधैवकुटुम्बकम्' की प्रसिद्धि बहुत पुरानी है । किंतु कार्लमार्क्सने साम्यवाद या समष्टिवादको आवश्यक ही नहीं, अपितु अवश्यम्भावी बनलाया । वह एक नयी ऐतिहासिक विश्लेषण-पद्धतिका जन्मदाता तथा पूँजीवादका सर्वश्रेष्ठ समालोचक माना जाता है । फ्रेडरिक एजिल्ससे इन कार्योंमें उसे बड़ी सहायता मिली थी । उसी दर्शनके आधारपर लेनिनके नेतृत्व-में १९१७ में रूसी क्रान्ति हुई । लेनिनके बाद स्टालिनने इसका नेतृत्व अपने हाथोंमें लिया । चीनमें माओत्सेतुगने साम्यवादका नेतृत्व किया । इन लोगोंने नयी परिस्थितियोंके अनुसार मार्क्सवादकी नयी व्याख्या की ।

मार्क्सका जन्म एक मध्यमवर्गीय परिवारमें हुआ। पहले उसने वकालतकी शिक्षा ग्रहण की। फिर वह पत्रकार बना, समय पाकर उसने 'हीगेलवाद'का अध्ययन किया। मानवतावादसे प्रेरित होकर वह श्रमिक आन्दोलनमें अग्रसर हुआ और शीघ्र ही आन्दोलनका नेता बन गया। उसकी जीविकाका आधार उसके लेख एवं एंगिल्सकी सहायता ही थी। गरीबी अवस्थामें भी उसने अपना ध्येय नहीं त्यागा। अफलातून, अरस्तू, हीगेलकी श्रेणीमें ही वह भी उच्च दार्शनिक गिना जाता है। 'पावर्टी आफ फिलासफी', 'मेनिफेस्टो आफ कम्युनिस्ट पार्टी', 'एटटिन्थ ब्रूमेयर आफ लूई बोनापार्ट', 'ए कट्रिव्यूशन टु दी क्रिटिक आफ पोलिटिकल एकानामी', 'दी कैपिटल', 'सिविलवार इन कास', 'दी गोथा प्रोग्राम', 'क्लास स्ट्रगल इन फ्रांस', 'रेवेल्यूशन एंड काउंटर-रेवेल्यूशन' आदि उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

एंगिल्स एक धनी व्यवसायी कुटुम्बमें जन्मा था। उसका पिता प्रगाका एक व्यवसायी था। युद्धमें एंगिल्स ब्रिटेनके व्यवसायी नगर मेनचेस्टरमें रहने लगा। वह स्वयं एक मिलमालिक था। उसने मार्क्सको आर्थिक, बौद्धिक दोनों ही प्रकारकी आजन्म सहायता दी। मार्क्सकी मृत्युके बाद कम्युनिस्ट आन्दोलनका नेतृत्व उसने ही किया। उसने मार्क्सके सिद्धान्तोंको विज्ञान तथा दर्शनपर लागू किया। उसकी कई पुस्तकें प्रसिद्ध हैं।

लेनिन क्रान्तिकारी बॉलशेविक दलका जन्मदाता हुआ। २० वीं शताब्दीमें रूसके समाजवादी जनतान्त्रिकदलमें दो पक्ष हो गये। एक बॉलशेविक, दूसरा मेन शेविक। बॉलशेविक दल पहले क्रान्तिकारी था, लेनिन उसका नेता था। बहुत संघर्षोंके बाद १९१७ में उसके नेतृत्वमें समाजवादी क्रान्ति हुई और जीवन-पर्यन्त वह सोवियत-शासनका प्रमुख सूत्रधार बना रहा। उसकी सारी कृतियाँ ग्यारह ग्रन्थोंमें संकलित हैं।

मार्क्सके दर्शनको द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (डाइलेक्टिकल मेटिरियलिज्म) या ऐतिहासिक भौतिकवाद (हिस्टारिकल मेटेरियलिज्म) भी कहा जाता है। यह द्वन्द्वात्मक दृष्टिसे प्राकृतिक घटनाओंकी परख और पहचान करता है। भौतिकवादी दृष्टिसे प्राकृतिक घटनाओंकी व्याख्या, कल्पना तथा सिद्धान्तकी विवेचना करता है। स्टालिनके मतानुसार 'मार्क्सवाद अन्धश्रद्धा नहीं है।' अतः उसकी व्याख्या समयानुसार बदलती रहती है। साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्तियुगमें लेनिनने उसकी पुनः व्याख्या की थी। इसीलिये लेनिनवादको प्रधानरूपसे सर्व-हाराके अधिनायकत्वका दर्शन कहा जाता है। इतिहास और समाजकी आर्थिक व्याख्या, मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्यका सिद्धान्त वर्गसंघर्ष तथा सर्वहाराका अधिनायकत्व उनके दर्शनके मुख्य विषय हैं।

मार्क्सने निम्नलिखित वस्तुओंको सिद्ध किया—

१. वर्गोंका अस्तित्व उत्पादन व्यवस्थाके अनुकूल होता है । दासताके युगमें वर्गोंका अस्तित्व और सर्वर्ष उस युगकी उत्पादन व्यवस्थाके अनुकूल था । इसी तरह सामन्तशाही एवं पूँजीवादी युगमें इनका अस्तित्व तथा सर्वर्ष इन युगोंके उत्पादनके अनुकूल था ।

२. वर्ग-सर्वर्ष अनिवार्य रूपसे सर्वहारा दलके अधिनायकत्वका मार्ग प्रगस्त करता है ।

३. यह अधिनायकत्व सक्रमणकालिक होगा । इसके बाद वर्गोंका अन्त हो जायगा और एक वर्गविहीन समाजका जन्म होगा ।

हीगेलका द्वन्द्ववाद, ब्रिटेनका अर्थशास्त्र, फ्रांसका समाजवादी दर्शनके अध्ययन-द्वारा द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके नामसे उसने नये दर्शनका आविर्भाव किया । हीगेलके द्वन्द्ववादमें विचारका प्रमुख स्थान है । उसके मतानुसार 'बाह्य जगत् आन्तरिक विचारोंका ही प्रतिबिम्ब है । परन्तु मार्क्सने भौतिक ससारकी ही सत्ता मानी है और उसे आन्तरिक विचारोंका जनक माना है । इस प्रकार दोनोंके द्वन्द्वात्मक प्रणालीमें भेद है । प्रायः इतिहासकार मनुष्यको ही सर्वश्रेष्ठ स्थान देते आये हैं । इतिहासमें परिवर्तन अपूर्व बुद्धि मनुष्योद्धार ही मानते आये हैं । परन्तु मार्क्सवादके अनुसार इतिहासकी प्रगतिमें सर्वप्रधान है अर्थव्यवस्था । आर्थिक ढाँचेपर ही एक युगका सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक ढाँचा आश्रित होता है । उत्पादनके साधन और उत्पादनके सम्बन्ध ही आर्थिक ढाँचा हैं । इतिहासके परिवर्तनमें मनुष्यका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु वह परिस्थितियोंका दास होता है । उसके विचार भी उन्हीं परिस्थितियोंपर आश्रित रहते हैं । एक व्यक्ति नेता तभी बन सकता है जब उसकी योजनाएँ तत्कालीन परिस्थितियोंके अनुसार होती हैं ।'

अपनी परिस्थिति, अपनी सम्पत्ति, विपत्तिकी प्रतिक्रिया ही आधुनिक दार्शनिकोंका दर्शन होता है । वे अपने सुख-दुःख, राग-द्वेषके सत्कारोंसे घिरे हुए होते हैं । अतः जैसे लाल-पीले चश्मेवालोंको सारा जगत् ही लाल पीला दिखायी देता है, उसी प्रकार अपनी परिस्थितियों तथा भावनाओंके अनुसार ही उनकी प्रतिक्रियास्वरूप तर्क तथा सिद्धान्तोंका आविष्कार होता है । कामुकके लिये ससार कान्तामय ही उपलब्ध होता है । परिस्थितियोंसे ऊँचे उठे हुए तत्त्वज्ञोंको ससार ब्रह्ममय दिखायी देता है । गरीबीकी हालतमें आर्थिक कष्टसे पीड़ित मार्क्सके मस्तिष्कमें जैसी प्रक्रिया हुई, वैसा ही मार्क्सिय दर्शन हुआ । आर्थिक कष्टपीड़ित मनुष्य ही अर्थका महत्त्व समझता है । प्यासा पानीका, भूखा भोजनका महत्त्व समझता है । इस दृष्टिसे मार्क्सको ससारमें सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु अर्थ ही प्रतीत हुआ । ब्रह्म, चेतन आत्मा, श्रेष्ठ मनुष्य, धार्मिक, सामाजिक, शाश्वत नियम—सभी महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ उसे अर्थके सामने नगण्य जर्ची ।

यद्यपि—

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।

यस्यार्थाः स पुमाल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥

(महा० शां० प० ८ । १८)

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः

स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः ।

स एव वक्ता स च दर्शनीयः

सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥

(नीतिशतक ४१)

अर्थेभ्योऽथ प्रवृद्धेभ्यः संवृत्तेभ्यस्ततस्ततः ।

क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः ॥

(वाल्मीकिरामायण ६ । ८३ । ३२)

इत्यादि शब्दोंद्वारा शास्त्रोंमें धनका बड़ा महत्त्व बतलाया गया है और यह ठीक भी है, परंतु 'अर्थ'से अधिक कुछ है ही नहीं। धार्मिक, आध्यात्मिक नैतिक उन्नतियों तथा तदनुकूल सभी नियम, सबकी आधारभित्ति अर्थ ही है, वही सर्वश्रेष्ठ है, यह समझना तथा अर्थके लिये सनातन सत्य, शाश्वत न्याय, नित्य आत्मा परमात्मा तथा धार्मिक नियमोंका भी परित्याग कर देना तो गरीबी एवं दरिद्रताकी ही शुद्ध प्रक्रिया है। गरीबीमें धनवान्से ईर्ष्या-द्वेष भी होता है। उन्हे मिटा देनेकी इच्छा भी होती है, फिर तदनुकूल कुछ युक्तियों तथा तर्कों भी ढूँढ लिये जाते हैं। इस तरह अधिकांश पाश्चात्य दर्शन विशेषतः मार्क्सदर्शन प्रक्रियावादी दर्शन है। कोई भी समझदार समझ सकता है कि जड़, भौतिक अर्थ स्वयं महत्त्वपूर्ण नहीं है किंतु भोक्ताके भोगका साधन होनेसे ही उसका महत्त्व है। भोक्ताके बिना उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। कोई भी वस्तु भोक्ताद्वारा माँग होनेपर ही मूल्यवान् होती है। भोक्ताकी माँग न होनेपर उसका कुछ भी मूल्य नहीं होता। चेतन पुरुष ही अर्थका उत्पादक, वर्धक एवं रक्षक भी है। फिर भोक्ता या चेतन मनुष्यका महत्त्व कम आँकना, उसे आर्थिक व्यवस्थाओंका दास बनाना कहँतक सगत है? अवश्य ही सामान्य स्थिति यह है कि बड़े-से-बड़े लोग भी अर्थके दास होते हैं—'अर्थस्य पुरुषो दासः'। सामान्य मनुष्य मनका दास, परिस्थितियोंका गुलाम, इन्द्रियोंका किंकर एवं विषयोंका कीड़ा होता है। परंतु विशिष्ट जितेन्द्रिय सयमी प्राणी निश्चय ही मन, इन्द्रिय, भोग, परिस्थिति सबको अपना दास बनाकर उनका स्वामी हो जाता है। अनेक राजाओं, धनवानोंने परोपकारके लिये, पुण्यके लिये, अध्यात्मनिष्ठाके लिये धन ही नहीं, शरीर एवं प्राणतक दे दिये हैं। रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, गिवि, दिलीप आदि इसीके उदाहरण हैं। रन्तिदेवने कहा था—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।

कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥ (महा०)

‘मुझे राज्य, स्वर्ग, मोक्ष कुछ न चाहिये, केवल प्राणियोंकी दुःख-निवृत्ति ही मुझे इष्ट है ।’ रामचन्द्र, हरिश्चन्द्रका राज्यत्याग तथा दिलीप एव रन्तिदेवका सर्वस्व त्याग प्रसिद्ध है । समर्थ विद्वान्, महातपा, महात्यागी पुरुष तो इतिहासकी धारा ही वदल सकते हैं, यह प्रत्यक्ष सत्य है । जो तर्कसे इस प्रत्यक्षको मिथ्या सिद्ध कर सकते हैं, वे प्रत्यक्ष सूर्यको भी अपनी बुद्धि-वैभवसे अधिकार बतला सकते हैं । परिस्थितियाँ तथा अवसरके प्रवाहमें बह जाना वैसा ही है, जैसे मुर्देका नदी-प्रवाहमें बड़ना । बुद्धिमान् साहसी महापुरुष प्रवाहको चीरकर बाहर निकलते हैं और प्रवाहको भी वैसे ही वदल देने हैं, जैसे नदी-प्रवाहमें पड़ा व्यक्ति प्रवाहको काटकर निकलता है और बाँध बाँधकर, नहर निकालकर, प्रवाहका मुँह भी मोड़ देता है । ईर्ष्या-द्वेषकी स्थिति भी सामान्य स्थिति है । उत्तम स्थिति तो यही है कि अपने पुरुषार्थसे अपनी गाढी कमाईके कुछ पैसोंसे ही सतुष्ट रहे । लट्कर, दूसरोंको मारकर धनवान् बनना अच्छा नहीं है । ये सत्कार अभीतक ग्रामीणों, नागरिकों सभीके हृदयोंमें बढ्मूल हैं । ईर्ष्या-द्वेष आदि मनुष्यके दोष हैं, गुण नहीं । मार्क्सवादी इन्हीं विकारोंको उत्तेजित करके उनके द्वारा राजनीतिक समस्या सुलझाना चाहते हैं । स्वार्थ-साधनमें भी नैतिकताका कुछ ध्यान रखा जाता है, परापहरण आदि निन्द्य समझा जाता है । पर मार्क्सके मतसे परकीय वस्तुका अपहरण न्याय ही है; अन्याय नहीं ।

समष्टिवाद

समष्टिवादका भी मार्क्सवादसे अगतः मतभेद है । उसका स्रोत है फेबियन-वाद और संगोधनवाद । इसे ही ‘समाजवादी जनतन्त्र’ या ‘जनतन्त्रीय समाजवाद’ कहा जाता है । द्वितीय अन्तराष्ट्रिय मजदूर-संघके कई ढल इसके समर्थक थे । इसे ही सुधारवादी या विकासवादी समाजवाद भी कहा जाता है । इंग्लैंडका मजदूर-ढल इसी विचारधाराका है । मिल इस वादका उद्गम है । वार्करने मार्क्सवादसे बचकर ब्रिटेनमें समाजवादी दर्शनका निर्माण किया है । उसने ब्रिटिश व्यक्तिवादी परम्पराके अनुसार सुधारवादी समाजवादकी रूपरेखा प्रस्तुत की है । पीजका कहना था कि ‘हम समाजवाद बनाना चाहते हैं, समाजवादी नहीं ।’ बर्न स्टाइन (१८५०—१९२२) ने मार्क्सवादका संगोधन करते हुए बतलाया था कि ‘ससदीय नीतिद्वारा समाजवादकी स्थापना सम्भव है ।’ मार्क्सने भी अमेरिका और इंग्लैंडमें समदीय व्यवस्थाद्वारा भी समाजवादकी स्थापनाको सम्भव बतलाया था । एकतरहसे यह दर्शन विधानवादका समर्थक है । इनके अनुसार व्यक्ति विवेकशील होता है, अतः निर्वाचक समाजवादके पक्षमें मतदान करेंगे ।

इसलिये प्रचारद्वारा उन्हें यह बतलाना ही पर्याप्त है कि आधुनिक कुरीतियोंका अन्त समाजवादसे ही सम्भव है। निर्वाचनकी सफलतासे समाजवादी सरकार बनेगी। वह शनैः-शनैः पूँजीवादी व्यवस्थाको समाजवादमें परिवर्तन करेगी।

मैकडानल्डके अनुसार समाजवाद अवश्यंभावी है, अतः ससदीय नीति और प्रचारद्वारा क्रमेण सुधार करना इनकी नीति है। माक्सवाद सुधारवादको सङ्घियल मानता है। समष्टिवादियोंका समाजवादकी स्थापनाका एक ही लक्ष्य होना चाहिये, फिर अन्य विषयोंमें मतभेद रखनेवाले भी उसमें सम्मिलित हो सकते हैं। इनके यहाँ सघटनकी एकतापर जोर है, माक्सवादियोंकी तरह दर्शनकी एकता आवश्यक नहीं है। अन्य समाजवादियोंके विपरीत समष्टिवादियोंका यह भी कहना है कि सामन्तो तथा पूँजीपतियोंके अनुपाजित लाभको राज्यद्वारा समाजहितके लिये प्रयोगमें लाना चाहिये। परन्तु परोपजीवी पूँजीवादका अन्त वह भी चाहता है। किन्तु इस कार्यमें समष्टिवादी शीघ्रता नहीं करना चाहते। इनके मतानुसार खजाना, खान, इस्पात, विद्युत्, यातायात आदि व्यवसायोंका शीघ्र ही राष्ट्रियकरण कर लेना चाहिये। साबुन, तेल, वस्त्र आदि व्यवसायोंके परिपक्व होनेपर ही उनका राष्ट्रियकरण होना चाहिये। नाई, बढई, होटल आदि व्यवसायोंका व्यक्तिगत संचालन ही वे लाभदायक मानते हैं। शनैः-शनैः-वादी नीति अनुभवकी दृष्टिसे हितकर है। इनके अनुसार पूँजीपति आदिकी पूँजी लेनेपर उन्हें उसका मुआविजा देना उचित है। एटलीके मतानुसार ऐसा न करना अन्याय है। जनमत-निर्वाचन ही उनके परिवर्तनका आधार है। डाक्टर डाल्टनके अनुसार पूँजीवाद एवं समाजवादमें गुणात्मक नहीं, अपितु परिमाणात्मक भेद है। समष्टिवादके अनुसार व्यक्तिगत क्षेत्र धीरे-धीरे कम होना और सामाजिक क्षेत्र बढ़ना चाहिये। इनके मतानुसार आधुनिक जनवाद अपूर्ण है। इसकी पूर्णता होनेपर ही राष्ट्रियकरण समाजके लिये हितकर होगा। ब्रिटिश-मजदूर-दल राजतन्त्रको उपयुक्त सुधारोंद्वारा जनतन्त्रीय बनाना चाहता है। बड़ी धारा-सभाको भी वह जनवादीरूप देना चाहता है। उसके अनुसार छोटी धारा-सभाकी सत्ताका वास्तवीकरण जनवादके लिये नितान्त आवश्यक है। यह कमेटियोंकी संख्यामें वृद्धिमें सम्भव है। निर्वाचन तथा प्रचार आदिद्वारा जनतन्त्रकी पुष्टि होती है। ये न राज्यको एकवर्गीय संस्था मानते हैं और न वर्ग-संघर्षको समाजका आधार मानते हैं। इनके अनुसार राज्य एक अवयवी है। नागरिकका एवं राज्यका हित अन्योन्याश्रित है। श्रमिकों एवं पूँजीपतियोंका हित अवश्य वर्गीय है, तथापि सामाजिक जीवनमें वर्ग-सहयोगकी भी प्रधानता होती है। ये लोग

वैयक्तिक स्वतन्त्रताका भी पूर्ण सम्मान करते हैं, परंतु यह व्यक्तिवादके विपरीत समाजवादी व्यवस्थामें ही सम्भव मानते हैं । ये साम्राज्यके स्थानमें राष्ट्रमण्डलका समर्थन करते हैं । औपनिवेशिक देशोंमें भी ये आर्थिक, राजनीतिक प्रगति तथा औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित करना चाहते हैं । सर क्रिप्सने राष्ट्रमण्डलको प्रजातन्त्रीय विकासशील सस्था बना दिया था । यह सस्था केन्द्रीकरण एवं विवेन्द्रीकरणका प्रतीक है । समष्टिवाद, पूँजीवाद एवं साम्राज्यवादके एकाधिकारका और व्यक्तिवाद तथा रुढ़िवादका भी विरोधी है । साथ ही मार्क्सवाद पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य एवं श्रमिक एकाधिकारका और अधिनायकवाद एवं पूर्ण नवीन समाजका भी विरोधी है । वह डार्विनकी पूँजीवादी दुनियाके वैयक्तिक स्वतन्त्रता और साम्यवादी दुनियाकी अर्थयोजनाका समन्वय करना चाहता है । एक तरहसे समष्टिवाद विभिन्न मतोंकी खिचड़ी है । रामराज्य-प्रणालीके अनुसार निश्चित शास्त्रानुसारी सिद्धान्तोंके बिना स्थिरता नहीं हो सकती । मार्क्सवादियों तथा समष्टिवादियोंका सुन्दोपसुन्दन्यायानुसार विरोध इन दोनों ही सिद्धान्तोंकी त्रुटियोंको स्पष्ट करता है ।

सङ्घवाद

१९ वीं सदीके अन्तमें फ्रान्सीसी सङ्घवाद भी मार्क्सवाद एवं अराजकतावादके आधारपर ही बना है । इसका भी अनेक देशोंपर प्रभाव फैला । कोकरके कथनानुसार यह राज्य-विरोधी, देश-भक्ति-विरोधी, सैन्यवाद-विरोधी, राजनीतिक-दल-विरोधी, संसद्-विरोधी, माध्यमवर्ग-विरोधी और सोवियतवाद विरोधी भी है । उस समयके वोलेज़र, ग्रेवी-विल्सन, पनामा आदि अनेक भ्रष्टाचारकाण्ड इसके कारण थे । लेवीनके मतानुसार जिस शासनमें नागरिक स्वयं निर्माण करे, वही वास्तविक जनवाद है । मार्क्सके अनुसार ये भी देशभक्तिको ढोंग मानते हैं । श्रमिकोंकी न कोई मातृभूमि होती है और न कोई देश । भूखो और नगोंके लिये मातृ-भूमिका आदर्श खोखला है, यह पूँजीपतियोंका प्रचार मात्र है । संघवादी सैनिकोंसे कहते थे कि 'वे अपने वर्गीय बन्धुओपर गोली न चलायें, क्योंकि वे भी श्रमिक कुटुम्बके ही सदस्य हैं और अन्तमें उन्हें उन्हींमें रहना है ।' वे युद्ध-विरोधी भी थे । इनके मतमें ससदीय नीति एवं वर्ग-सहयोगसे श्रमिकोंका हित नहीं हो सकता, इसके लिये वर्ग-सघर्ष ही आवश्यक है । वे तोड़-फोड़में, आम हड़ताल करने और वोटमें भाग न लेनेमें विश्वास रखते थे ।

जॉर्ज सोरेलके अनुसार पूँजीपतियोंको सदा भयभीत रखना चाहिये । आम हड़ताल प्रोत्साहन एवं प्रेरणाके द्वारा ही सफल होती है । अराजकतावादियोंके

अनुसार इनका भावी समाज श्रमिक संघोद्वारा बनेगा। परंतु फ्रान्सके सघ-वादियोंने प्रथम महायुद्धमें क्रान्तिकारी मार्ग छोड़कर राष्ट्रभक्ति और सुधारका मार्ग ग्रहण कर लिया। अन्यत्रके भी सघवादी शिथिल हो गये। इसी तरह इंग्लैंडका श्रेणी समाजवाद भी कुछ दिन पनपकर खतम हो गया। यह फ्रान्सीसी सघवादका ऑग्ल-संस्करण था। ए० जे० पेन्दी, ए० आर० ओरेल, एम० जी० हॉब्सन, जे० डी० एच० कोल इनके प्रमुख विचारक थे। पूँजीवादके अन्तसे ही सब बुराइयोंका अन्त मानते थे। इनके अनुसार श्रेणीवादी समाजवाद ही मुख्य जनतन्त्र है।

हॉब्सनके अनुसार भावी समाजमें भी राज्यका महत्वपूर्ण स्थान होगा। वह एक समाज सेवक संस्था होगी। उसके द्वारा अन्य सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाओंका समन्वय होगा। परंतु लोकके अनुसार राज्यका कोई महत्वपूर्ण स्थान न होना चाहिये। वह राज्यके स्थानपर कम्यूनकी स्थापना चाहता था। उसके अनुसार राज्यके अधिकार इतने कम होने चाहिये कि वह धीरे-धीरे समाप्त हो जाय। इसके कार्य-क्रममें व्यावसायिक संघोंकी स्थापना महत्वपूर्ण है। १९२५ तक वह भी खतम हो गया।

वस्तुतः सिद्धान्तकी दृष्टिसे नहीं, किंतु बहुत-से पक्षोंकी सफलता परिस्थितियोंके अनुकूल हो जाती है। उन परिस्थितियोंको बदला जा सकता है अवश्य, परंतु उसमें अनेक साधनों तथा समयकी अपेक्षा होती है। यदि मार्क्सवादियोंकी रुसमें सफलता न होती, तो मार्क्सवादको भी वही हालत होती जो इन दूसरेवादोंकी हुई। यदि हिटलरकी जीत हो गयी होती तो भी मार्क्सवाद अबतक मर चुका होता। कई बार शून्यवादियोंकी भी जीत हो जाया करती है, परंतु इससे ही यह नहीं कहा जा सकता कि सिद्धान्त भी वही ठीक है, यह तो 'बन आयेकी बात' है। किसीका सिद्धान्त बहुत श्रेष्ठ हो, परंतु अन्य साधन न हो तो वह केवल सिद्धान्तके आधारपर नहीं जीत सकता।

बहुलवाद

इसी प्रकार त्रिटेनमें ही एक सत्तावादका विरोधी बहुलवाद दर्शन प्रकट हुआ। एक सत्तावाद एकात्म्यव्यवस्थाका समर्थक था। बहुलवादके अनुसार व्यक्ति उसकी स्वतन्त्रता उसके संघोंका समर्थक है। लॉस्की मुख्यरूपसे इस दर्शनका वेत्ता था। व्यक्ति अपने अनेक ध्येयोंकी पूर्तिके लिये अनेक सङ्घ बनाता है। राज्यद्वारा यह काम पूरा नहीं होता। उसके अनुसार कोई भी संस्था 'मेरे पूरे सँके लिये' नियम नहीं बना सकती। मैकाइवरके अनुसार राज्य अर्थैक्यका प्रतिनिधित्व करता है, परंतु सम्पूर्ण अर्थैक्यका नहीं। संघोंकी दृष्टिसे सहयोग

एव मन्वर्ष विश्वव्यापी है। लॉस्कीके मतानुसार आदर्श नागरिकका सर्वप्रथम कर्तव्य अपनी आत्माकी प्रगति है। वह उसी सचका अनुसरण करेगा, जिसमें उसकी आत्मतुष्टि हो। अतः राज्यसत्तावारी पदके योग्य तभी हो सकता है, जब वह व्यक्ति प्रगतिको पूरी करे। इतिहासके अनुसार संघोंने अनेक बार राज्यकी निरपेक्षताको सीमित किया है। नागरिककी सक्रियता ही सच्चा जनतन्त्र है। वह बहुलवादी मन्वान्मक समाजमें ही सम्भव है। ऑस्टिनके अनुसार अन्ताराष्ट्रिय निरपेक्षता भी सम्भव नहीं है। विश्वजनमतको कोई राज्य उल्लङ्घन नहीं कर सकता। लॉस्कीके अनुसार ब्रिटेनका आदेश दृष्टिकोण वह होना चाहिये कि वह विश्व-कल्याणमें अपना कल्याण समझे। उसके अनुसार नैतिक क्षमताको पूर्ण करनेवाली व्यवस्था या नियम मान्य होना चाहिये। यदि अव्यवस्थाका लक्ष्य मानव-प्रगति है, तो वह अन्यायसे कई गुना अच्छी है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, व्यक्त-प्रगति और व्यक्ति-सर्वोका अस्तित्व ही उनके दर्शनका सार है।

फैसीवाद

मुसोलिनी एव हिटलरके फैसीवाद एव नाजीवादने डार्विनके सवर्षको बहुत महत्व दिया और स्पेंसर आदिके इस पक्षको अपनाया कि 'जो सवर्षमें सफल हो वही जीवित रहे।' अर्थक्रियाकारित्ववाद इसका प्राण है। उत्कृष्ट जातिका यह प्रकृतिमिद्ध अधिकार है कि वह निकृष्ट जातिका शासन करे। उसके अनुसार मानव-इतिहास एक युद्धकी कहानी है। मानव-प्रगति युद्धके द्वारा ही होती है। इसमें भी वर्गों तथा सोरेलकी भौति अन्ध श्रद्धाको बढ़ाना आवश्यक माना जाता था। उसके मतानुसार 'जन-समूह एक स्त्रीकी भौति होता है, जो बलवान् एवं नाटकीय व्यक्तिकी तरफ आकृष्ट होता है। इसीलिये राज्य, देश एवं नेताकी भक्तिको खूब प्रोत्साहन दिया गया, रक्तकी पवित्रतापर भी बहुत बल दिया गया, भौतिकताके स्थानपर आध्यात्मिकता, गौरव, मान, चरित्रको मानव-जीवनका लक्ष्य बतलाया गया। राज्यको साध्य और व्यक्तिको साधन कहा गया। इनके मतानुसार सर्वाधिकारी राज्यके संरक्षणमें ही व्यक्तिकी सर्वविध उन्नति सम्भव है, राज्य ही सर्वोत्तम है। केन्द्रिय कार्य-पालिका एक प्रकारकी अधिनायककी परामर्श-समिति थी। जनसत्ताके स्थानपर नेतृ-सत्ता ही फैसीवादकी विशेषता थी। रूसी समाजवाद एव फैसीवाद दोनों ही सर्वाधिकारवादी अधिनायकवादी हैं। समाजवादी जनवादका नाम लेते हैं। फैसीवाद जनवादके स्पष्ट विरोधी थे।

जनवाद

जनवादकी व्याख्याएँ भी भिन्न-भिन्न ढंगसे होती रही हैं। अब्राहम लिंकनके अनुसार 'जनताका जनताके लिये जनताद्वारा किया जानेवाला शासन ही प्रजातन्त्र या जनतन्त्र माना जाता है। प्रतिनिधि जनवादका आधार राष्ट्रका सामान्य हित होता है। सुशासनके लिये सामान्यहितको कार्यान्वित करनेके लिये कुछ प्रतिनिधियोंका निर्वाचन होता है। यही 'परोक्ष-जनवाद' है।' आलोचकोंकी दृष्टिमें जनवादका अर्थ 'मूखोंपर उनकी अनुमतिद्वारा शासन करना' है। पर यह तो परम सत्य है कि जनवादमें जन-शिक्षा, निष्पक्ष जनमत, राजनीतिक दलोंका अस्तित्व, नागरिकोंका शासनमें सक्रिय भाग, सतर्कता और आदर्श निर्वाचन-व्यवस्था अनिवार्य है। इनके बिना तो जनवाद कोरा दम्भ ही है। राजनीतिक दलोंमें अर्धसैनिक-अनुशासन, नेताओंका बोलबाला और पूँजीपतियोंका दलोपर अधिकार आदि जनवादके बाधक ही हैं। पक्षपातयुक्त प्रचार-साधन—रेडियो, पत्र, सिनेमा आदि—भी बाधक हैं। समाचारपत्र आदि अपने दलों एवं मालिकोंका गुणगान करते हैं। इससे विवेकशीलताको धक्का पहुँचता है। सतर्कता भी इसमें परमावश्यक है। सतर्कता स्वतन्त्रताकी बहिन है। कहा जा चुका है कि एतदर्थ विकेन्द्रीकरण और सक्रियता आवश्यक है। इसीलिये स्थानीय स्वशासनादि आवश्यक होते हैं। प्रतिनिधि जनवादमें योग्य उम्मीदवारोंका मिलना, स्वतन्त्र मतदान, निर्वाचकोंकी योग्यता, निर्वाचन-विधिका सरलता और अल्पव्ययिता आदि भी आवश्यक हैं। यह सब इस समय असम्भव-सा ही हो रहा है। फिर भी इस समय इससे अन्य अच्छी व्यवस्था कोई नहीं है। यदि इसे शत्रु एवं धर्म अथवा सामान्य मानव-धर्मसे भी नियन्त्रित कर दिया जाय तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, क्षमा, दया, ईश्वर भक्ति आदि सद्गुणोंसे युक्त रामराज्य प्रणालीका जनतन्त्र-राज्य राम-राज्य ही बन सकता है।

अराजकतावाद

मार्क्सवादियोंसे भी बड़े-चढ़े अराजकतावादी हैं। इसके प्रवर्तक माइकेल बाकुनिन (१८१४—१८७६) और प्रिंस क्रोपोटकिन (१८४२-१९१९) हुए हैं। उनके मतानुसार क्रान्तिद्वारा पूँजीवादका अन्त होते ही राज्यका भी अन्त हो जाना चाहिये। श्रमिक क्रान्तिके पश्चात् वर्गीय संस्थाका अन्त हो जाना चाहिये। न मर्ज (वर्ग) रहे, न मरीज (राज्य) रहना चाहिये। मार्क्सवादी भी राज्यको वर्ग-विशेषकी ही संस्था मानते हैं। लेनिनके अनुसार भी राज्य दमन-यन्त्र है। किंतु वे विरोधियोंको कुचलनेके लिये उसकी आवश्यकता मानते हैं। परंतु अराजकतावादी इसका विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि 'ऐतिहासिक दृष्टिसे राज्य

आवश्यक नहीं। राज्यकी उत्पत्तिके पहले भी मनुष्य रहते थे और अपने समूहमें सुखी एवं स्वतन्त्र जीवन-निर्वाह करते थे। श्रमिक क्रान्तिके बाद भी वैसे ही बिना राज्यके सुखी एवं सम्पन्न रह सकते हैं। वर्गविहीन समाजमें, जो कि श्रमिक क्रान्तिका फल है, वर्गीय सस्था—राज्यकी आवश्यकता ही क्या है ? अराजकतावादी कहते हैं कि 'इतिहासके अनुसार राज्य कभी भी न्यायपूर्ण नहीं था। व्यक्तिगत सम्पत्तिके द्वारा ही राज्यका जन्म हुआ है। व्यक्तिगत सम्पत्ति एक चोरी है, राज्य इसका रक्षक रहा है। राज्य सदा ही शोषकोंका पक्षपाती तथा शोषितोंके विपरीत रहा है। जो सस्था सदा मजदूरोंके हितोंको कुचलती रही है, उससे मजदूर कैसे प्रेम कर सकता है।' क्रोपोट्किनने कहा है कि 'पूँजीवादी प्रथाके अभावका नाम ही शासन-प्रथाका अभाव है।' अराजकतावादी राज्यको निरकुशताका प्रतीक मानते हैं, चाहे वह राज्य जैसा भी हो। जैसे राजतन्त्र या कुलीनतन्त्रमें अल्पसंख्यकोंद्वारा बहुसंख्यकोंकी स्वतन्त्रताका अपहरण होता है वैसे प्रजातन्त्रके बहुमतद्वारा भी वैयक्तिक स्वतन्त्रताका अपहरण होता है।

अराजकतावादियोंके अनुसार 'कोई मनुष्य दूसरेका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। 'अ' का प्रतिनिधि मभामें ठीक 'अ' की भाँति नहीं बोल सकता। फिर समूहका प्रतिनिधि तो कोई हो ही कैसे सकता है ? कोई विधान-विशेषज्ञ वारासभाका मदस्य बनता है। वह सफाई, शिक्षा तथा शासनके सम्बन्धमें अनुभवशून्य होता है। फिर उसके द्वारा इन विषयोंके सम्बन्धमें बनाये नियम किस तरह लाभदायक होंगे ? अतः प्रतिनिधियोंकी सरकार वही होती है जो सभी कार्योंको अयोग्यतापूर्वक करती है। निर्वाचनद्वारा जनताकी सामान्य इच्छाएँ तक व्यक्त नहीं हो सकतीं। शक्तिका मद तो शासकमें आ ही जाता है।' अराजकतावादियोंके मतानुसार साधारणतया मनुष्य नेक होता है, परंतु पदपर पहुँचते ही वह बुरा हो जाता है। मनुष्य राजनीतिज्ञ होनेसे ही बुरा हो जाता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका भी कहना है कि अधिकार पाकर किसे गर्व नहीं होता—

प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं ।

अराजकतावादियोंके मतानुसार राज्यके बिना भी मनुष्य खाता, सोता, बोलता, पढ़ता है। जुआड़ी जुएमें हारकर बिना राज्यके दवावके ही रुपया देता है। चोर भी आपसमें समझौता करते ही है। कितने ही खेलोंमें खिलाड़ी स्वयं नियम बनाते और उसका पालन करते हैं। इसी तरह राज्यके बिना भी स्वेच्छात्मक संस्थाओंद्वारा सब काम चल सकता है। बाह्य आक्रमणका भी सामना राज्यसेनाकी अपेक्षा जनताकी सेना अधिक अच्छा कर सकती है। अराजकतावादी दण्ड-विधान एवं जेल आदिद्वारा भी सुधारमें विश्वास नहीं करते।

क्रोपोट्किनके अनुसार 'जेलो पाखण्ड और कायरताकी स्मारक हैं।' वह स्वयं रूस और फ्रान्सकी जेलोमें रहा था। जेलोके अपने अनुभव बतलाते हुए वह लिखता है कि "जेलोमें आधेसे अधिक हत्यारे तथा चोर थे, जो अनेक बार जेलोमें रह चुके थे। दण्डके भयसे प्राणी अपराध नहीं करेगा, यह समझना सर्वथा भ्रम है। एक अपराधी अपराध करते समय यही सोचता है कि वह दण्डसे अपने आपको बचा लेगा। किसी व्यक्तिको फाँसी देनेसे उसके बाल-बच्चे निराश्रित असहाय होकर समाजके लिये अधिक हानिकर सिद्ध हो सकते हैं। अराजकतावादियोंके अनुसार इतिहास बतलाता है कि राज्यने कभी भी उच्च आदर्शकी पूर्ति नहीं की। उसके द्वारा सदा ही दुःख एवं अन्यायको स्थायी बनानेका प्रयत्न किया गया है। राज्यकर्णधारोके सदियोंके प्रचारद्वारा राज्य नितान्त आवश्यक वस्तु समझी जाने लगी है। जन्मसे यही सुनते, विद्यालयोंमें पढ़ते और पुस्तकों, लेखों और समाचार-पत्रोंमें राज्यकी आवश्यकताका वर्णन पढ़ते-पढ़ते मनुष्यके मस्तिष्कमें यह बात बैठ जाती है कि राज्य नितान्त आवश्यक संस्था है। कोई भी राजनीतिज्ञ यही कहता है कि 'मुझे अधिकार दीजिये तो मैं देशमें घी-दूधकी नदियाँ बहा दूँगा।' राज्यका अन्त हुए बिना इन पाखण्डोंकी समाप्ति नहीं हो सकती।

अराजकतावादियोंका अपना कार्यक्रम भी है। उनके मतानुसार 'क्रान्तिके पहले अराजकतावादकी शिक्षा होनी चाहिये। मनुष्य समाज अराजकताकी ओर अग्रसर हो रहा है। क्रोपोट्किन जीवशास्त्रज्ञ था। उसके अनुसार 'मनुष्य जातिने सहयोगद्वारा ही प्रगति की है, प्रतियोगिताद्वारा नहीं। सहयोगद्वारा ही मनुष्यने प्रकृतिपर विजय पायी है, सहयोगद्वारा ही प्राचीन मनुष्य जीवित रहते थे। आधुनिक युगमें भी सहयोगकी मात्रा बढ़ रही है, अतएव स्वेच्छात्मक सस्थाओंकी वृद्धि हो रही है। राज्यके कार्योंकी सीमा भी घट रही है। मनुष्य जितना सभ्य होगा उनना ही सहयोगी होता है। सभ्यताकी प्रगतिसे स्वेच्छात्मक सस्थाओंद्वारा राज्य-कार्य सीमित हो रहे हैं। अब थोड़े ही प्रयत्नसे राज्यका अन्त एव स्वेच्छात्मक सस्थाओंका युग आरम्भ होगा, यही अराजकतावादी युग है। वैज्ञानिक तर्कोद्वारा जनताको अराजकताके पक्षमें कर लेना चाहिये। जनताके मस्तिष्कमें यह विचार कूट-कूटकर भर देना चाहिये कि अराजकतावादी युग अब बहुत ही निकटवर्ती है। जनता स्वागतके लिये तैयार रहे। यह अन्ध-विश्वास नहीं, किंतु वैज्ञानिक सत्य है। इसके लिये क्रान्ति आवश्यक है। अराजकतावादी समितियों तथा केन्द्रीय समितिके प्रयत्नसे यह क्रान्ति होगी। इनका भावी समाज साम्यवादी, स्वेच्छावादी और सहयोगवादी होगा। नागरिककी हैसियतसे राज्यसे, उत्पादककी हैसियतसे पूँजीवादसे और मनुष्यकी हैसियतसे शासनमात्रसे स्वतन्त्रता प्राप्त करना अराजकतावादका ध्येय है।

अराजकतावाद 'पूर्णस्वतन्त्रताका युग है। इसमें जो स्वस्थ और योग्य होगा, वह काम करेगा। २४ से ५० वर्षतक काम करनेकी अवस्था होगी। प्रत्येक व्यक्तिको प्रतिदिन ४ या ५ घंटे काम करना होगा। मनुष्य वेतन और प्रोत्साहनके बिना ही काम करेगा। काम करना मनुष्यका स्वभाव है। मनुष्यको सभी सुगम एवं रोचक कार्य ही पसंद होते हैं। अतः भावी समाजमें सभी काम सुगम एवं रोचक बना दिये जायेंगे। विज्ञानकी प्रगतिसे कोई काम गंदा न रह जायगा। अराजकतावादमें उत्पादन एवं उपभोगकी वस्तुओंमें कोई अन्तर न होगा। भोजन, वस्त्र, साइकिल, मोटर आदिकी सहायतासे, जो कि उपभोगकी वस्तु मानी जाती है, मनुष्य उत्पादन भी करता है, अतः सभी वस्तुओंका वितरण अराजकतावादी सघोंद्वारा होगा। पहले बच्चों, बूढ़ों, अङ्गहीनोको उनके आवश्यकतानुसार चीजे दी जायेंगी, फिर अन्य लोगोंको पहले जीवनोपयोगी वस्तुएँ दी जायेंगी, फिर आरामकी वस्तुएँ। सामाजिक बहिष्कारसे अनामाजिक कार्योंकी स्वतः निवृत्ति होगी। इतनेपर भी सुधार न होनेपर अपराधीका डाक्टरी इलाज होगा, उसे सुधार-गृहमें भेजा जायगा। मनुष्य अपने सामाजिक समझौतेको भंग न करेगा। आधुनिक समाज रचनासे ही मनुष्यमें दुर्गुण आये हैं। मघटनके लिये छोटे छोटे प्रादेशिक सघ होंगे। इनमें प्रत्यक्षजनवादी प्रबन्ध होगा। इन्हींमें प्रान्तीय समितियाँ बनेगी और प्रान्तीय समितियोंसे डेन-मिमि बनेगी। वहाँसे यूरोपको प्रतिनिधि भेजे जायेंगे और वहाँसे फिर संसारको प्रतिनिधि भेजे जायेंगे। ये प्रतिनिधि विशेषज्ञ होंगे, अल्पज्ञ या अज्ञ नहीं। समस्या-पूर्ति होनेपर इन अस्थायी सघोंका भी अन्त हो जायगा। दूसरी समस्या आनेपर पुनः उस प्रकारके विशेषज्ञ प्रतिनिधि भेजे जायेंगे; अर्थात् रोग-निवृत्तिके लिये चिकित्साविशेषज्ञ प्रतिनिधि होगा और खेलके लिये खेलका विशेषज्ञ खिलाड़ी-प्रतिनिधि होगा। स्वतन्त्र स्वेच्छात्मक सघोंका समुच्चय ही अराजकतावादी सघ होगा।' अराजकतावादका सार 'व्यवस्थाका अन्त नहीं, किंतु निरङ्कुशताका अन्त है।' इसके अनुसार 'समाजके बिना स्वतन्त्रतासे शोषण और अन्याय बढ़ता है एवं स्वतन्त्रताके बिना समाजवादसे दासता और पशुता बढ़ती है।'

कहना न होगा कि इतिहास भी एक विचित्र गोरखधंधा है। इसके द्वारा ही भिन्न भिन्न मतवादी अपना-अपना पक्ष सिद्ध करते हैं। इन लोगोंके इतिहास रामायण, महाभारतके समान महर्षियोंके आर्षविज्ञान एवं ममाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञाके आधारपर नहीं बनते। इनके इतिहास तो कुछ ईंट-पत्थरों, मुद्राओंके आधारपर ही कल्पनाओंके खड़े किये गये महल हैं, जिनमें कि प्रायः अटकलपच्चू अनुमान भिड़ाने जाते हैं। आज भी प्रायः विभिन्न समाचार-एजेंसियोंके तारों,

टेलिग्रिफोंके आधारपर समाचार प्रकाशित होते हैं, उनमें भी परस्पर पर्याप्त मतभेद दिखायी देता है । लड़ाईके दिनोंमें तो आँखों देखी घटनाओंसे भी विभिन्न एजेसियोंके समाचार-सकलनोंमें पर्याप्त पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है । उन्हें भी विभिन्न पत्र-प्रकाशक अपने-अपने दृष्टिकोणसे तोड़-मरोड़कर अपने उद्देश्यके उपयोगी बनाते हैं । सम्पादकीय टिप्पणियों एवं पर्यवेक्षकों, समालोचकोंकी विवेचनाओंके विभिन्न रूपोंमें ढलकर उन घटनाओंका सर्वथा ही रूपान्तर हो जाता है । उससे भी भिन्न-भिन्न मतवादी अपना मत सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं । सर सुन्दरलालकी 'भारतमें अंगरेजी राज्य' पुस्तकमें इतिहासके तोड़-मरोड़ और मिथ्या मनगढ़ंत इतिहास-निर्माणके सम्बन्धमें बहुत कुछ कहा गया है । जर्मनीके बुद्धिमानोंने सुझाव दिया था कि 'संसारका इतिहास नये सिरेसे लिखा जाना चाहिये और उसका आरम्भ होना चाहिये जर्मनीके पर्वतों, नदियों, ग्रामों एवं नगरोंसे । उसमें जर्मन जातिकी वीर गाथाओंका वर्णन होना चाहिये ।' इंग्लैंडकी पार्लामेंटमें अपने अनुकूल इतिहास गढ़नेके लिये मिथ्या पार्लामेंटरी प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये हैं । आर्योंका पश्चिमोत्तर एशियासे भिन्न देशोंमें जाकर आबाद होना, उन्हींकी एक श्रेणीका भारतमें आना; ग्रीक, लैटिन, जेन्द आदि भाषाओंके समान ही सर्वभाषाओंकी जननी सस्कृत भाषाको सब भाषाओंकी बहन मानना और किसी अनुपलब्ध भाषाको ही सर्वभाषाओंकी जननी मानना; आर्यों-अनायोंका भेद खड़ा करना आदि बहुत-सी भीषण ऐतिहासिक कल्पनाएँ जान-बूझकर गढ़ी गयी हैं । इस तरह जब सही इतिहास ही नहीं, तब उसके आधारपर किसी भी सिद्धान्तकी स्थिति कैसे हो सकती है ?

अराजकतावादी सिद्धान्त वस्तुतः अराजकताकी ही सृष्टि करेगा । जिसके कारण समाजमें मात्स्यन्याय फैलेगा और मनुष्य पशुप्राय हो जायगा । हाँ, यदि सभी साध्विक धर्मनिष्ठ जितेन्द्रिय तत्त्ववित् हो जायें तो अवश्य राज्य, राजा आदिके बिना भी कार्य चल सकता है । यह पीछे महाभारतके राजधर्मसे 'न वै राज्यं न राजासीत्' इत्यादिसे दिखलाया जा चुका है । जबतक यह स्थिति नहीं होती तबतक अराजकतावादसे सुख-शान्ति सर्वथा असम्भव हो जायगी । वाल्मीकि-रामायणके अयोध्याकाण्डके ६७ वे सर्गमें अराजकताकी दुरवस्थाका वर्णन किया गया है, जो नीचे दिया जा रहा है—

नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः ।

अभिवर्षति पर्जन्यो मही दिव्येन वारिणा ॥

नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते ।

नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वक्रो ॥

अराजके धनं नास्ति नास्ति भार्याप्यराजके ।
 इदमत्याहितं चान्यत्कुतः सत्यमराजके ॥
 नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः ।
 उद्यानानि च रम्याणि हृष्टाः पुण्यगृहाणि च ॥
 नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः ।
 सत्राण्यन्वासते दान्ता ब्राह्मणाः संश्रितव्रताः ॥
 नाराजके जनपदे ग्रहघ्ननटनर्तकाः ।
 उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः ॥
 नाराजके जनपदे सिद्धार्था व्यवहारिणः ।
 कथाभिरनुरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियैः ॥
 नाराजके जनपदे उद्यानानि समागताः ।
 सायाहे क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः ॥
 नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः ।
 शेरते चिवृतद्वाराः कृपिगोरक्षजीविनः ॥
 नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः ।
 गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमाचिताः ॥
 नाराजके जनपदे चरत्येकचरो वशी ।
 भावयन्नात्मनाऽऽत्मानं यत्रसायंगृहो मुनिः ॥
 नाराजके जनपदे योगक्षेम प्रवर्तते ।
 न चाप्यराजके सेना शत्रून् विपहते युधि ॥
 नाराजके जनपदे नराः शास्त्रविशारदाः ।
 संवदन्तोपतिष्ठन्ते वनेपूपवनेषु च ॥
 यथा ह्यनुदका नद्यो यथा वाप्यवृणं वनम् ।
 अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम् ॥

सभीका शासनमे भाग लेना सम्भव न होनेसे ही प्रतिनिधिकी कल्पना करनी पड़ती है । प्रतिनिधि मुख्यसे भिन्न होता ही है, किंतु वह मुख्यका अपेक्षित एव निश्चित कार्यकारी होता है । अराजकतावादियोंको भी तो ससारके लिये प्रतिनिधि निश्चित करना पड़ता है, अतः धर्मनियन्त्रित राजा या धर्मनियन्त्रित जन-प्रतिनिधियोंका शासन अपेक्षित ही है ।

तृतीय परिच्छेद

विकासवाद

प्राणिशास्त्र, शरीर-रचना

आजकल धर्म, संस्कृति, राजनीति, भाषाविज्ञान, इतिहास सभी क्षेत्रोंमें विकासवादका सिद्धान्त लागू किया जा रहा है। आधुनिक विज्ञान तथा जड़-भौतिकवादका एक प्रकारसे यही मूल हो रहा है। बहुत-से भारतीय विद्वान् भी इसे ही मानकर भारतीय विषयोंकी व्याख्या करते हैं। मार्क्सवादके सिद्धान्तोंका आधार भी बहुत कुछ विकासवाद ही है। अतः विकासवादका सिद्धान्त और उसके समर्थनमें जो तर्क रखे जाते हैं, उनपर भी विचार करना बहुत आवश्यक है।

डार्विनका मत

चार्ल्स डार्विन विकासवादके 'प्रवर्तक' माने जाते हैं। उन्होंने जहाजद्वारा यथासम्भव संसारभरकी यात्रा की। दूर-दूरके टापुओंमें जाकर विविध जातिके जन्तुओंका अवलोकन किया। एक-एक जातिके प्राणियोंमें उन्होंने अगणित भेद पाये। उन्हें इन भेदों, अन्तरोंसे आश्चर्य हुआ। इसीलिये मालथसके प्राणिसंख्या-वृद्धि-विचारको पढ़कर उन्होंने यह भी देखा कि 'जीवधारियोंकी संख्या १, २, ४, ८, १६ के हिसाबसे ज्यामितिक रेखागणितके अनुसार बढ़ रही है और खाद्यकी संख्या १, २, ३, ४ के क्रमसे अकगणितके अनुसार बढ़ती है। लड़ाइयो, बीमारियों तथा अन्य विविध विप्लवोंद्वारा होनेवाले सहारोंसे ही जन-संख्या नियमित है (आजकल यह मत मान्य नहीं है)। डार्विनने यह निश्चित किया कि प्रतिद्वन्द्विता एवं संघर्ष स्वाभाविक है। इसमें जो योग्यतम होता है, वही बच सकता है। किसी कारण-विशिष्ट शारीरिक रचना एवं विशिष्ट शक्तिसे ही विशेष प्रदेशोंमें प्राणियोंको प्राण बचानेकी सुविधा होती है। इस तरह जो विशेष निवास-स्थानके योग्य शरीरवाले होते हैं, उन्हींकी सताने भी बढ़ती हैं। औरोंकी जातियाँ या तो नष्ट हो जाती हैं अथवा सुविधाके अनुकूल कहीं अन्यत्र जाकर उन्हे प्राण बचाना पड़ता है। प्रकृति योग्यतमका चुनावकर उसकी ही रक्षा करती तथा औरोंकी उपेक्षा करती है। अतः वे नष्ट हो जाते हैं। डार्विनके मतानुसार प्रतिद्वन्द्विता प्राकृतिक, शाश्वत एवं सार्वत्रिक नियम है। प्राणियोंकी अभिवृद्धिसे यह स्पष्ट होता है कि यही जीवन-संग्रामका भी मूल है। बलवान् निर्बलको नष्ट करके अपनेको सुरक्षित रखते हैं, जिनमें अपने आपको परिस्थितिके अनुसार बना सकनेकी क्षमता होती है, उसीकी सतानवृद्धि भी चलती है। इस जीवन-संघर्षसे विभिन्न गुणों, विभिन्न परिस्थितियोंके अनुसार भेद होते हैं और परम्परानुगत होनेसे वे और भी पुष्ट होते हैं। इसी अवस्थानुरूप परिवर्तनके

कारण ही विभिन्न जातियोंका प्राकट्य हुआ। यह भिन्न या स्वतन्त्र सृष्टि नहीं।'

इस तरह निरीक्षण, अनुमान एवं परीक्षणद्वारा डार्विनने विक्राम सिद्धान्त स्थिर किया। यात्राद्वारा अनेकविध प्राणियोंका निरीक्षण किया एवं प्राणि-संख्या-वृद्धिका सिद्धान्त देखकर प्रतिद्वन्द्विता एवं उसमें योग्यतमके ही रक्षणका अनुमान किया। पश्चात् उसने परीक्षा आरम्भ की। उन्होंने देखा कि छोड़े एव भेड़ पालनेवाले लोग बहुतोंको छोटकर अपने मतलबके जानवरोंका संग्रह कर लेते हैं और उनमें इच्छानुसृत विभिन्नता उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त, पशु-प्राणियोंकी बहुत-सी जो जातियाँ नष्ट हो गयीं उनका वर्तमान जातियोंसे बहुत कुछ सादृश्य उपलब्ध होता है। भेद इतना ही है कि पहली जातियाँ वर्तमान जातियों-जैसी उत्तमताको प्राप्त नहीं हुई थी। पृथ्वीकी वर्तमान जातियोंका सादृश्य भी तीसरा प्रमाण है। इससे निश्चय किया जाता है कि किसी समय छोटे जन्तुओंकी एक ही जाति रही होगी। उनके ही सूक्ष्म अंडे या बीज जल, वायु आदिके प्रवाहसे समस्त भूमण्डलमें फैले। उन्होंनेसे विकासक्रमसे वर्तमान जातियाँ निकलीं। विकासका चौथा एक यह भी कारण है कि 'गर्भावस्थामे सभी प्राणी एक से ही देख पड़ते हैं। अनेक जन्तुओंमें कितनी ही आरम्भिक इन्द्रियाँ गर्भावस्थामें पायी जाती हैं, जिनका पूर्ण विकास नहीं होता। इससे भी प्राकृतिक चुनाव एवं योग्यतम रक्षाका सिद्धान्त सिद्ध होता है।' फिर भी डार्विनने यह माना कि 'मेरी यह कल्पना तभी सिद्धान्तित होगी, जब चिरकाल बीतनेपर भी वैज्ञानिक परीक्षामें इसके विरुद्ध कोई बात न मिले।'

अध्यात्मवादी सिद्धान्तकी दृष्टिसे डार्विनकी इस कल्पनामें कोई अपूर्व बात नहीं। वेदान्तियोंका ब्रह्म, सांख्यियोंकी प्रकृति अनन्त प्रपञ्चका भण्डार है। उसमें शक्तिरूपसे सभी वस्तुएँ रहती हैं। प्रथम कारणावस्थामें कार्य-शक्तियाँ अव्यक्त रहती हैं, क्रमेण सहकारी सापेक्ष होकर व्यक्त होती हैं। धरतीमें ही अनगिनत बीज रहते हैं। विविध जल वायुके योगसे अकुरित, पुष्पित, फलित होनेपर उनके भेद दृष्टिगोचर होते हैं। मिट्टीके विभिन्न वर्तनो; सुवर्णके अनेक भूषणोंकी कारणावस्था तो एक-सी होती है। सहकारी मिलनेपर कुलाल एवं सुवर्णकारके इच्छानुसार कार्यावस्थामें उनके अनेक रूप व्यक्त होते हैं। सारूप्य-वैरूप्य ही तो जगत्की विचित्रताका रूप है। नैयायिकोंने भी पदार्थोंके साधर्म्य-वैधर्म्यका विश्लेषण किया है। एक-एक अवान्तर कारणावस्था या मूल कारणावस्थासे भिन्न-भिन्न चेतनाचेतन वस्तुओंका विकास या प्रादुर्भाव हुआ है। ये सब बातें अध्यात्मवादमें हजम हो जाती हैं। सन्तर्प भी प्राणियोंमें दृष्ट ही है। कई लोगोंने यह भी दृष्टान्त रखा है कि एक पात्रमें एक सेर किण्विज्ञ या मुनक्का रख दे तो कुछ दिनोंमें उसमें एक ढगके कीट उत्पन्न हो जाते हैं।

पहले उनकी संख्या खूब बढ़ती है, पुनश्च ज्यो-ज्यो वे बढ़ते हैं, एक दूसरेका भक्षण करते हैं। प्रबल दुर्बलका भक्षण करते हैं। अन्तमें एक मोटा सा कीड़ा उस पात्रमें दिखायी देता है। पानी एवं जगलके जानवरोंमें यह भक्ष्य-भक्षक-भाव 'मात्स्यन्याय' नामसे प्रसिद्ध है ही। भारतीय शास्त्रोंने लिखा है कि हस्तहीनोंको हस्तवाले, अपदोंको पदवाले तथा छोटोंको बड़े जीव खा जाते हैं। इस तरह जीव ही जीवोंका जीवन है—

अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम् ।

फलगूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम् ॥

(श्रीमद्भा० १।१३।४७)

फिर भी यह स्वाभाविक नहीं, किंतु क्षुधाका ही यह सब उपद्रव है। क्षुधा बिना कोई किसीका भक्षक नहीं बनता। क्षुधा ही मृत्यु है—'अशनाया वै मृत्युः' (उपनिषद्)। स्वभावसे सभी प्राणी 'अमृतस्य पुत्राः' परमेश्वरके पुत्र हैं। अतः सबमें समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृता ही स्वाभाविक है। अनादि, अविद्या, काम, कर्मके कारण ही देहादि तादात्म्याध्यासके कारण अशनाया-पिपासा एवं मृत्युका उपद्रव उपस्थित होता है।

विकासके सम्बन्धमें आधुनिक लोगोको भी कई दोष प्रतीत होते हैं। जिन भिन्न प्रकारके व्यक्तियोंमेंसे देशकालोपयुक्त व्यक्तियाँ योग्यतमरूपसे प्रकृति-द्वारा चुनी जाकर रक्षित, परिवर्तित होती है और तदनुसार नाना प्रकारके जन्तुओंका विकास होता है, उन व्यक्तियोंमें प्रथम भेद कहाँसे आया? जन्तुओंको जातिभेदका मूल बतलानेवाली विकास-कल्पना अन्तिम व्यक्तिभेदपर जब पहुँचती है, तब उसे रुकना ही पड़ता है। डार्विनने अवस्थाभेदसे, इन्द्रियों और शक्तियोंके उपयोग-अनुपयोगसे भी व्यक्तियोंमें प्रथम भेद माना है। सर्दी-गर्मी आदि अवस्थाओंके भेदसे व्यक्तियोंमें भेद होता है। जिस शक्ति या इन्द्रियका उपयोग होता है, वह सुरक्षित होती है। जिसका उपयोग नहीं होता, वह नष्ट हो जाती है। इन कारणों या अन्य कारणोंसे होनेवाले भेदोंकी रक्षा और वृद्धि कैसे होती है, यही दिखलाना डार्विनके विकास-सिद्धान्तका लक्ष्य है।

अव्यात्मवादमें तो तत्तत् अनन्त विचित्र कार्योंके अनुगुण उन-उन कारणोंमें शक्तियाँ ही होती हैं। सूक्ष्मवट-बीजमें अकुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प, फलादि विचित्र रूप, रस एवं गन्धयुक्त विभिन्न पदार्थोंकी शक्ति होती है, वही कार्यरूप फलके बलसे अनुमेय होती है। सर्वथा असत्का विकास कभी भी हो नहीं सकता। इस दृष्टिसे तो प्रथम भेद या अन्तिम भेद, सबका ही मूल कारण शक्तिभेद है। विभिन्न चेतन जीवोंका उनसे सम्पर्क कर्मानुसार है, वह भी स्पष्ट है।

डार्विनके मतानुसार—‘मनुष्यकी बुद्धि एव शरीरकी पशुओंकी बुद्धि एव शरीरमें समानता मिलती है, अतः जैसे मछलियोंमें कछुआ, पत्नी आदि क्रममें बदरोंका आविर्भाव हुआ, वैसे ही बदरोंसे मनुष्योंका आविर्भाव हुआ ।’ डार्विनके मतानुसार ‘बदर यदि मनुष्यके पूर्वज नहीं तो उनके चचेरे भाई अवश्य हैं । अर्थात् दोनोंके पूर्वज अवश्य एक हैं । पशुओंमें स्मृति, मौन्दर्य, ज्ञान, सहानुभूति आदि गुण मनुष्यके समान ही होते हैं । घोड़ों, कुत्तों आदिको शिक्षित किया जाता है । अतः उनमें विवेक भी रहता है । सामान्य कीटोंसे लेकर मनुष्यतक क्रमेण विकास मानना ही उचित है । वीचकी श्रेणियोंको छोड़कर कीड़ों एवं मनुष्योंका भेद बहुत भारी मालूम पड़ता है, किंतु क्रमानुगत रूपसे देखें तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं लगती । इसी तरह मनुष्यकृत यंत्रों एव ग्रह आदि अन्य पदार्थोंका इतिहास देखें तो अन्तिम और आदिम अवस्थामें आकाश-पातालका अन्तर प्रतीत होता है, परंतु क्रमोन्नति देखनेपर कोई आश्चर्य प्रतीत नहीं होता ।’

अध्यात्मवादियोंके मतानुसार मूल कारणसे विभिन्न विचित्र ढंगकी सृष्टि शक्ति-वैचित्र्य, कर्म-वैचित्र्यसे सगत होती है । अवान्तर कार्यों एव कारणोंकी भी परम्परा ठीक ही है । कुछ कार्य-कारणोंमें प्रकृति-विकृति भाव भी मान्य है । जैसे मूल-प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहत्तत्त्व, अहत्तत्त्वसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे तेज, उससे जल एव जलसे पृथ्वी और उससे विभिन्न पार्थिव जगत् उत्पन्न हुआ । परंतु जैसे सीधे मुकुटसे कुण्डल, कुण्डलसे कटक उत्पन्न नहीं होता, भले ही किसी अंगमें समानता भी हो, वैसे ही रूप शब्द नहीं बनता, शब्द सीधे गन्ध नहीं बनता । निम्ब, आम्र, पनस, कदम्ब—ये सब एक दूसरेसे उत्पन्न नहीं होते, ठीक वैसे ही मछलीसे बंदर एव बदरसे या उसके पूर्वजसे मनुष्यके बननेकी कल्पना भी निराधार ही है । अवश्य देश, काल और जलवायुकी विशेषताओंके कारण उनके गुणों, आकृतियोंमें कुछ हास-विकास होते हैं, परंतु वह एक सीमाके भीतर ही । किसी-न-किसी रूपमें सभी वृक्षों, फलों तथा पुष्पोंमें समानता है, परंतु इतनेहीसे यह नहीं कहा जा सकता कि किसी एक मूलके ही ये क्रमिक विकास हैं । यदि विभिन्नताओं एव विचित्रताओंकी सूक्ष्म शक्तियाँ कहीं माननीय हैं तो कारणोंमें ही मानना उचित है । बीजसे यदि अंडुरका विकास होता है तो बीजसे दूसरे ढंगका विकास नहीं होता, पुष्पसे फलका विकास होता है तो पुष्पसे पुष्पका विकास नहीं होता । उसी तरह यदि मछलीसे क्रमेण बदर आदि बने और बदरसे मनुष्य बन गये, तो पुनः मछलीसे मछली ही बननेकी परम्परा क्यों विद्यमान है ? ऐसे ही बंदरसे बंदर बननेकी परम्परा क्यों कायम है ? जैसे प्राचीन कालमें बीजसे अंकुर उत्पन्न होते थे, वैसे ही आज

भी हो रहे हैं। इस न्यायसे पहलेके समान आज भी बदरोसे मनुष्योंकी सृष्टि क्यों नहीं हो रही है? इस तरह मनुष्येतरसे मनुष्योंकी उत्पत्तिका न दिखायी देना, मछली एवं बंदर आदिसे आज भी मछली एवं बंदरोकी उत्पत्तिका दिखायी देना विकासके विरुद्ध ही है।

डार्विनके मतानुसार 'प्रतिद्वन्द्विता एवं संघर्ष ही शाश्वत और सार्वत्रिक है। सहानुभूति, परोपकार, दया आदि भी स्वार्थके लिये ही है। कभी मनुष्य मनुष्यका वर्चस्व संहारक हो जाता है, कभी बंदर भी अपने मालिकके लिये प्राणतक दे देता है। प्रगंसा-योग्य कर्मोंमें प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है, निन्दित कामोंसे मनुष्यकी निवृत्ति होती है, धीरे धीरे अभ्यास हो जाता है। परार्थ-प्रवृत्ति एवं सहानुभूतिके कार्योंमें प्रवृत्ति होने लगती है। इससे प्रतिद्वन्द्विता सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं पड़ती।' अभ्यात्मवादी ठीक इसके विपरीत कहते हैं कि स्वाभाविक अभिन्नता, समानता एव सहानुभूति है। द्वैत, भेद, कलह, प्रतिद्वन्द्विता, क्षुधा, स्वार्थ आदि ही अविद्या, काम, कर्मके अनुसार आदत पड़ जानेसे स्वाभाविकसे प्रतीत होते हैं।

ईश्वरके सम्बन्धमें डार्विनने कुछ नहीं कहा। परंतु लोगोंके दुःख देखकर उसे कभी कभी यह सदेह अवगम्य होता था कि 'यदि कोई परमकारुणिक, सर्वज्ञ जगत्का निर्माता या शासक है तो उसे अपने उत्कृष्ट ज्ञानद्वारा दुःखरहित ही संसार बनाना चाहिये था।' परंतु ईश्वरवादी तो ईश्वरके समान ही उसके अश-भूत चेतन जीवों एवं अविद्याको भी अनादि मानते हैं और अविद्यावान् जीवोंके कर्मानुसार ही सृष्टि होती है। अतः सुख-दुःख एव तत्त्वसाधनोसे पूर्ण जगत्की विचित्रता मान्य होती है। विवेक, वैराग्य तत्त्वसाक्षात्कारके लिये सुखकी अपेक्षा दुःख अधिक उपकारक है, अतः संसारमें दुःखका भी अस्तित्व ईश्वरको अभीष्ट है। जैसे लौकिक शासक अपराधीकी आत्मशुद्धिके लिये कभी कभी दण्ड-विधान आवश्यक समझते हैं, वैसे ही ईश्वर भी।

स्पेंसरकी मीमांसा

हर्बर्ट स्पेंसर, हेमिल्टन एवं माइन्सेल आदि विकासानुयायियोंने ईश्वर माननेमें कई आपत्तियाँ उपस्थित की हैं, जैसे यदि 'स्वतन्त्र जगत्-कारण ईश्वर जगत् वाह्य है तो उसका जगत्से कोई सम्बन्ध ही नहीं। बिना सम्बन्धके कोई ज्ञान ही होना कठिन है। यदि जगत्में सम्बन्ध हुआ, तो स्वतन्त्रता कैसे रह सकती है।' इत्यादि। परंतु ईश्वरवादियोंकी दृष्टिमें इन तर्कोंका कोई महत्त्व नहीं है। कारण, ईश्वर जगत्के भीतर रहता हुआ भी कमल-पत्रवत् निर्लेप रहता है, अतः सबको जानता हुआ भी स्वतन्त्र रहता है। शासक भी कारागारमें जाता है, किंतु दण्ड भोगने नहीं अपितु सुव्यवस्थाके लिये। वस्तुतः सर्वदृष्टा, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र परमेश्वरमें ही नियमित विकास भी बन सकता है। अचेतन प्रकृति या अन्य कोई

भी जडत्व नियमित क्रमिक विकास करनेमें सर्वथा ग्री असमर्थ रहते हैं। लोकमें विकासकी नियमित योजनाका निर्माण एवं उसका सञ्चालन चेतनाद्वारा ही होता है अतः प्राकृतिक विकासके प्रोग्राममें चेतन ईश्वरका हाथ होना अनिवार्य है। अतएव प्रायः संसारका मूल कुल रहस्यमय वा अप्रमेय है। उसका सम्पूर्णरूपसे कोई भी वर्णन नहीं कर सकता, ऐसा विकासवादी भी मानते हैं।

इन लोगोंका कहना है 'दिक्, कालः, द्रव्य, वृत्ति, शक्ति, चित्त, आत्मा, परमात्मा आदि प्रत्यय हैं। उनका मूल एवं स्वभाव दुर्बोध एवं अनिर्वचनीय है।' अवश्य ही केवल प्रत्यक्ष प्रामाण्यवादीके लिये उक्त वस्तुओंका निर्णय कठिन है, परंतु अनुमान, आगम आदिद्वारा तो कोई भी वस्तु अज्ञेय नहीं है। हर्वर्ट स्पेंसर तो सभी मतोंका आधार प्रत्यक्ष ही मानता था। हमलिये उसके मतानुसार 'न कोई मत अत्यन्त सत्य है, न अत्यन्त असत्य ही। अतः सभी मतोंका सामान्याश ग्रहण करना ठीक है।' इसी आधारपर वह उक्त पदार्थोंको 'अज्ञेय' मानता है। उसके मतानुसार विशेष वस्तुओंको सामान्यमें और सामान्यको पुनः उच्च सामान्यमें ले आना चाहिये। अन्तमें उन परासत्तामें ही स्थिरता होनी चाहिये। जिसका किसीमें अन्तर्भाव नहीं होता, उसे 'अनिर्वचनीय' कहा जाता है। उसके मतानुसार 'ज्ञान सम्बन्ध ग्रहण-स्वरूप होता है, अतः एक वस्तुका वस्त्वन्तरमे भेद सादृश्यादिके बिना नहीं हो सकता। अप्रमेयमें भेद-सादृश्य आदिका ग्रहण होना असम्भव है।' स्पेंसरके मतानुसार 'ईश्वरका स्वरूप क्या है यह नहीं जाना जा सकता। किंतु सत्ता मानी जाती है। सम्बन्ध ग्रहण सापेक्ष-बोध ईश्वरमें नहीं पहुँचता; अतः सम्बन्धान्वीत अप्रमेय कारणशक्ति मान्य होनी चाहिये।'।

वस्तुतः स्पेंसरके इस तर्कसे तो किसी भी वस्तुका बोध नहीं हो सकता, क्योंकि एक वस्तुसे भिन्न सभी वस्तुओंमें उसका किनी-न-किसी ढंगका सम्बन्ध रहता ही है। फिर एक अल्पज्ञ व्यक्तिको सब वस्तुओंका ज्ञान सम्भव नहीं और न सबके साथ उसके सम्बन्धका ही ज्ञान हो सकता है। इस तरह सभी ज्ञान भ्रमात्मक ही ठहरेंगे। अतः 'सप्रकारक, निष्प्रकारक, दोनों ही प्रकारके ज्ञान होते हैं।' यही मिथ्यान्त मानना पड़ेगा। भले ही द्रव्यका गुण क्रिया-समन्वितरूपसे ही ग्रहण हो, फिर भी वस्तु-स्वरूपका भी ग्रहण होता ही है। रूप, सम्बन्ध आदि पदार्थोंका स्वरूप-ज्ञान भी होता है। एतावता ईश्वर, काल आदि भी अप्रमेय, अज्ञेय नहीं कहे जा सकते। हाँ, सर्वज्ञाना, सर्वद्रष्टा द्रव्य या शेष नहीं हो सकता; क्योंकि एक ही स्वयं ज्ञाता और ज्ञेय दोनों नहीं हो सकता। ऐसा होनेसे कर्म-कर्तृ-विरोध होता है। वही कर्त्ता अपनी क्रियाका कर्म नहीं बन सकता। द्रष्टाका भी द्रष्टा यदि अन्य माना जाय तो फिर उसका द्रष्टा-

और फिर उसका भी द्रष्टा हूँदना पड़ेगा। इस तरह अनवस्था-प्रसङ्ग होगा। सर्वद्रष्टा जिससे दृश्य होगा उसका द्रष्टा नहीं हो सकेगा; क्योंकि कोई भी दृश्य अपने द्रष्टाका द्रष्टा नहीं हो सकता। ऐसी स्थितिमें उसको सर्वद्रष्टा नहीं कहा जा सकता। अतः प्रमाण व्यापारसे अज्ञाननिवृत्ति तथा स्वप्रकाशरूपसे आत्माका बोध मानना उचित है। इसी तरह प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमादि प्रमाणों-के आधारपर काल आदिका भी ज्ञान होता ही है। कुछ भी हो, अज्ञेयरूपसे भी तो विद्यमान वस्तुका एक ज्ञान मानना पड़ता है। इसीलिये स्पेसर आत्मा-अनात्मा, जड-चेतनको शक्तिका ही रूपान्तर मानता है। परतु विचार करनेपर यह भी सत्य नहीं ठहरता। आत्मा तो मूल पदार्थ है, शक्ति उसका अंश है। जैसे वह्नि-में दाहिका शक्ति होती है, वैसे ही आत्मामें प्रपञ्चोत्पादिनी शक्ति मान्य होती है। साख्य-मतानुसार भी आत्मा एक स्वतन्त्र पदार्थ माना जाता है।

स्पेसरके मतानुसार 'शक्तिकी सार्वकालिक सत्ता ही मूल परमार्थ है। उसीसे द्रव्यकी अनश्वरता, गतिका सातत्य, शक्तियोंके सम्बन्धकी नित्यता अर्थात् नियमोंकी एकरूपता, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, शक्तियोंका परिणाम एवं तुल्यपरिवर्तिता, गतिका दिग्नियम अर्थात् उसकी अल्पतमावरोध, रेखानुसारिता, गुरुत्वाकर्षणानुसारिता, इन दोनोंका योग और गतिका अविच्छिन्न प्रवाह आदि निकलते हैं। उसी शक्तिके नियम सब प्रमेय पदार्थोंमें लगे हुए हैं। इन नियमोंमें सबसे व्यापी नियम विकासका नियम है। इसके अनुसार द्रव्यका सदा ही आन्तर परिवर्तन होता रहता है। संसारका प्रत्येक अवयव और समस्त संसार सदा ही 'विकास' एवं 'विच्छेद' इन दो व्यापारोंमें लगा है। विकासावस्थामें द्रव्यका सधीभाव और विच्छेदावस्थामें शिथिलीभाव होता है।' वस्तुतः यह अंश साख्योंके मतसे मिलता-जुलता है। वे भी प्रकृतिको ही आत्म-भिन्न सप्त व्यक्त प्रपञ्चका मूल मानते हैं। 'चलञ्च गुणवृत्तम्' के अनुसार व्यक्त-अव्यक्त सभीको गतिशील मानते हैं—

क्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चित्तिशक्तेः।

चित्तिशक्तिको छोड़कर सभी भावोंको वे क्षणपरिणामी मानते हैं। उनके असंगचेतन व्यापक पुरुष स्वतन्त्र माने जाते हैं। साख्यके सद्वादका ही प्रत्यभिज्ञान इस मतमें भी होता है। साख्यानुसार सत्का विनाश एवं असत्की उत्पत्ति नहीं होती। केवल अवयवोंके सधीभावसे आविर्भाव या विकास होता है एवं अवयव-विच्छेदसे तिरोभाव होनेसे ही नाशका व्यवहार होता है। प्रकृतिके स्वभावका उसके परिणामोंमें अनुवृत्त होना भी उन्हें मान्य है। प्रकृति सुख-दुःख-मोहात्मक है, अचेतन है। इसीलिये उसका परिणाम प्रपञ्च भी सुख-दुःख-मोहात्मक एवं अचेतन है।

स्पेंसर डम विकासकी तीन श्रेणियों मानता है—(१) शक्तिका केन्द्रस्थ होना, जैसा कि वाटोके डकट्टा होनेमें प्रारम्भिक बढलीका और कीटाणुओंके जीवन-केन्द्रोंमें देखा जाता है । (२) भेदीकरण—मूलका बहिरावेष्टनमे अलग होकर उसमें आन्तरिक भेद होना और (३) स्पष्टीकरण—अर्थात् भेदोंका निश्चितरूप एवं आपसमें सम्बन्धित होकर एक सुव्यवस्थित पूर्णरूप धारण करना । विकास और विच्छेदका भेद यही है कि विकासमें भेदके साथ सघटन है और विच्छेदमें सघटनका अभाव है । विकासकी गति अनिश्चित सम्बन्ध और व्यवस्थारहित एकरूपतासे निश्चित सम्बन्ध और व्यवस्थापूर्ण अनेकरूपताकी ओर होती है । उदाहरणार्थ निम्नश्रेणीके जीवोंमें विशेष इन्द्रियभेद नहीं होता, कहीं-कहीं लिङ्गभेद भी नहीं होता । एक (स्पर्श) इन्द्रियमें ही सब इन्द्रियोंका कार्य चलता है । परंतु जैसे-जैसे जन्तु विकासकी श्रेणीमें बढते जाते हैं, वैसे वैसे उनमें इन्द्रियभेद बढता जाता है और साथ ही विभिन्न इन्द्रियोंमें सम्बन्ध भी स्थापित होता जाता है । मनुष्यमें सब इन्द्रियाँ स्पष्ट होती हैं और तभी अपने-अपने सम्बन्धमें मनुष्य-शरीरकी रक्षा एवं वृद्धिमें योग देती हैं ! स्पेंसरके मतानुसार 'विकासका यह नियम सभी विषयोंमें लगता है ।' सांख्यानसार कारणगत प्रकाश, हलचल एवं अवष्टम्भ आदि गुणोंके अज्ञातभावस्वरूप वैषम्यके अनन्तर ही तिरोभावक आवरणसे बहिर्भूत होकर कार्यकी स्पष्टता होती है । बीज और मृत्पिण्डके विघटनपूर्वक अङ्कुर एवं घटादिके आविर्भावानुकूल संघटनक्रियासे ही अङ्कुर एवं घटकी अभिव्यक्ति होती है । अनेकता एवं व्यवस्था भी सांख्यानसार घटके समान अभिव्यक्त ही होती है । अपूर्वकी उत्पत्ति नहीं होती । चेतना एवं इन्द्रियाँ भी विद्यमान ही थीं, केवल उनकी अभिव्यक्ति ही होती है । अभिव्यक्तिमें ही क्रम मान्य है । अत्यन्त अविद्यमानका बालसे तेलके समान कभी भी आविर्भाव नहीं होता । उगी तरह मत्का नाश भी नहीं होता ।

विकासमें 'भूतपदार्थका एकीकरण और गतिका वितरण होता है विच्छेदमें गतिका तिरोभाव और भूत पदार्थका अनेकीकरण या वितरण होता है । यह विकास और विच्छेदका नियम विश्वके लिये एक साथ ही प्रयुक्त नहीं होता, किंतु एक भागमें विकास तो दूसरे भागमें विच्छेदका आरम्भ होता है । सांख्यमतानुसार शक्ति तो हर समय ही रहती है, किंतु एक कारणमें अनेक कार्य युगपत् नहीं हो सकते । अतः कार्यान्तरके आविर्भावके लिये प्रथम कार्यका तिरोभाव आवश्यक होता है, जैसा कि घटके आविर्भावके लिये पिण्डावस्थाका तिरोभाव अपेक्षित होता है ।' इसीलिये विकास-विच्छेदका क्रम भी सगत हो जाता है । स्पेंसरने जीवशास्त्रका तत्त्व बतलाते हुए कहा है कि 'आन्तर सम्बन्धोंके

साथ अविच्छिन्न मिलावट ही जीवनतत्त्व है। जैसे-जैसे बाह्य एव आन्तरिक सम्बन्धोंका साम्य होता है, वैसे-वैसे इन्द्रिय एवं शरीरसम्बन्धी विकासके क्रममें उच्चता होती है।' मनस्तत्त्वके सम्बन्धमें उसने कहा है कि 'मनस्तत्त्व विज्ञानगम्य नहीं है। जिन अवस्थाओंमें वह प्रकाशित होता है, केवल उन अवस्थाओंकी अभिव्यक्ति ही विज्ञानाधीन होती है।' उसके मतानुसार 'स्नायुनिष्ठ आघातसे ही संवित्की अभिव्यक्ति होती है, सवेदन और उसके सम्बन्धोंसे ही चित्त बनता है। सवेदनोके स्मरण, परस्पर सम्बन्ध और सघीभावसे समस्त संवित्का बनना वह मानता है। इसीलिये चित्तकी भिन्न वृत्तियोंमें परस्पर अत्यन्त भेद नहीं होता। चित्त व्यापारमें प्रतिफलन, स्वाभाविक क्रिया, स्मरण और विवेक ये क्रम हैं। संवित्के जो आकार व्यक्तियोंमें स्वाभाविक और सहज हैं, वे भी जातिमें किसी-न-किसी समय अनुभवसे ही प्राप्त माने जाते हैं। पीछेसे स्नायुजालमें जमकर वे परम्परागत हो जाते हैं।'

स्पेंसरने इसी प्रकार अनुभववाद और सहजज्ञानवादका साम्य स्थापित किया। किन्तु यहाँ भी यह प्रश्न बना ही रहता है कि प्रारम्भिक मनुष्योंमें ऐसे ज्ञानकी नींव किस प्रकार पड़ी? प्रारम्भिककालमें अनुभव किस प्रकार स्वतन्त्र हो सकता है? वस्तुतः स्नायुके आघात अथवा विषयेन्द्रिय-मनिकर्ष, शब्द-प्रमाण या व्यामिश्रानसे सात्त्विक मनकी ही विषयाकाराकारित वृत्ति उत्पन्न होती है। उसी वृत्तिपर अभिव्यक्त आत्मचैतन्यसे ही वस्तुका प्रकाश होता है। जैसे पार्थिव होने-पर भी सामान्य पाषाणोपर सूर्यका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, परंतु स्फटिकपर प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही सामान्य जड़ पदार्थोंपर आत्मचैतन्यका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, परंतु सात्त्विक अन्तःकरण-परिणामरूप वृत्तियोंपर आत्मचैतन्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार आदि एक ही वस्तुके अवस्थाभेद हैं। वेदान्त-मिद्धान्तानुसार अन्तःकरण सूक्ष्म पञ्च महाभूतोंके समष्टि सात्त्विक अंशका परिणाम है। ग्राह्य ग्राहकभाव सजातीयमें ही दृष्ट है। पार्थिव घ्राणेन्द्रियसे पार्थिव गन्धका ग्रहण होता है। तैजस चक्षुरिन्द्रियसे तैजस रूपका ग्रहण होता है। इसी तरह आकाशीय श्रोत्रेन्द्रियसे आकाशीय शब्दका, वायवीय त्वगिन्द्रियसे वायवीय स्पर्शका और जलीय रसनेन्द्रियसे जलीय रसका ग्रहण होता है। मनसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँचों ही विषयोंका ग्रहण होता है। अतः उसे सूक्ष्म पञ्चमहाभूतोंके समष्टि सात्त्विक अंशका परिणाम मानना प्रामाणिक है। छान्दोग्य उपनिषद्में तो स्पष्ट ही अन्वय व्यतिरेकसे मनस्तत्त्वको अन्नमय सिद्ध किया गया है। अन्नके अभावमें मनकी कलाएँ घटती हैं और अन्नके अस्तित्वमें उसकी कलाएँ उपोद्बलित होती हैं—'अन्नमयं हि सौम्य मनः।' संकल्प, विकल्प, स्मरण, निश्चय, अभिमान आदि सब इस चित्त या मनके ही परिणाम हैं। अभिव्यक्त

चिदग्र ही 'सवित्' शब्दसे कहा जाता है और उच्च वेदान्त-सिद्धान्तानुसार तो अखण्ड, अनन्त बोधस्वरूप ब्रह्मात्मा ही मननीय-विविध होकर मनस्तत्त्व-रूप-में विवर्तित होता है। अखण्ड बोध ब्रह्म एवं साक्षीस्वरूप आत्माका अग्रभूतमे जो भी ज्ञान होता है, वह प्रमाणके द्वारा प्रमात्मक होता है और सद्योप प्रमाणोंमें भ्रमात्मक ज्ञान होते हैं।

स्पेसरके मतानुसार 'बाह्यशरीरके द्वारा स्नायु तन्तुओंपर आघात होता है। उससे ज्ञान उत्पन्न होता है। चित्त एवं शरीर दोनों ही अप्रमेयके रूपान्तर हैं। संवित्के एकीभाव और विभागका प्रवाहरूप चित्त है। इसके अनुसार वास्तविक सत्ताके अस्तित्वका ज्ञान उसके दृश्योंद्वारा होता है। यह दृश्य उमकी प्रतिलिपि नहीं, किंतु उसके संकेत हैं। जैसे वर्णोंका संकेत लिपिद्वारा होता है, उच्चरित एवं लिखित शब्दोंमें समानता नहीं होती। वैसे ही वास्तविक सत्ता तथा उसके दृश्योंमें समानता नहीं है। यही 'रूपान्तरित सद्वाद' है। वस्तुवादमें बाहरी सत्ताको माना जाता है। इस विषयपर विचार करनेसे विदित होता है कि यह व्यावहारिक सत्ता ही पारमार्थिक सत्तारूपसे कही जाती है। व्यवहारकालमें जिमका बाध न हो, वह व्यावहारिक सत्ता है। अत्यन्ताबाध्य वस्तु ही पारमार्थिक सत्तावाली होती है।

जी० एच० ट्यू० विक्रमवादके सिद्धान्तको मानता हुआ भी रूपान्तरित वस्तुवादका विरोध करता है। उसका कहना है कि 'जो अनुभवमें आनेवाला है, वही सत्य और वास्तविक है। उसे संकेत मानकर उसके अतिरिक्त वास्तविक सत्ताकी खोज करना मानो रोगनीके पीछे रोगनीकी खोज करना है।' वह लिखता है कि 'यदि रूपान्तरितवादका भ्रम दूर करना है तो मेरा युक्तियुक्त वस्तुवाद बुद्धिके भ्रमको दूर करता है। निद्रा, स्वप्न, मूर्च्छा, मृत्यु आदिको देखकर प्राचीन मनुष्योंका ऐसा विश्वास हुआ कि चित्त कोई शरीरसे भिन्न वस्तु है। मरनेके बाद यह चित्त या आत्मा कहीं रहता है, ऐसा विश्वास रखकर ही लोग जादू, प्रार्थना तथा पितृपूजा आदि करते थे। जैसे अन्य विषयोंमें विकास हुआ, वैसे ही धर्मके सम्बन्धमें भी विकास हुआ। प्रेत-पिशाचकी कल्पना ही परिष्कृत होकर देवताओंकी कल्पना बनी और देवताओंकी कल्पना ईश्वरकी कल्पना बनी। वही अब अप्रमेय कल्पनाके रूपमें व्यक्त हुई है।'।

उपर्युक्त विचार भी असंगत हैं, क्योंकि शरीरातिरिक्त आत्माका अस्तित्व, जाग्रत्, स्वप्न, मुपुष्टिकी व्यावृत्ति एवं साक्षीकी अनुवृत्ति आदिसे सिद्ध होता है। आत्मा एवं परमेश्वरका निर्णय प्रामाणिक है, कल्पना नहीं। इसपर आगे विचार किया जायगा। फलीभूत सुखके आधारपर आचारका निर्णय होता है। जिससे अधिक सुख हो, वही आचार श्रेष्ठ है। यदि सुख कम मिले

तो आचार बुरा है । स्वार्थ, परार्थ दोनों पृथक् होनेके कारण अनर्थकारक हैं । दोनोंमें मेल होनेसे आचारकी उन्नति होती है । स्वार्थसे परार्थ एवं परार्थसे स्वार्थ साधन होता है । सर्वप्रथम स्वार्थप्रयुक्त कलह होता है, फिर प्रत्येकका स्वार्थ परस्पर अधीन देखकर मनुष्य प्रेममय जीवन पसंद करते हैं । सामाजिक आचारोंमें न्याय और उपकार मुख्य हैं । प्रत्येक व्यक्ति दूसरेके स्वातन्त्र्यका विरोध न कर जितना और जो चाहे कर सकता है । यही न्यायका नियम है ।

स्पेसरके मतानुसार 'समाज और व्यक्तिका अवयवावयवीभाव है । अवयव अवयवीसे पृथक् नहीं हो सकता । जो कार्य समाजके लाभका है, उससे व्यक्तिका भी लाभ होता है । जिस कार्यसे समाजको हानि होती है, उससे व्यक्तिकी भी हानि होती है, यही परार्थका आधार है । परस्पर विरोधके कारण समाजमें राज्य-शासनकी आवश्यकता पड़ी । प्रजामें परस्पर आन्तर भेदको वचाना, प्रजाकी बाहरी शत्रुओंसे रक्षा करना राज्यका कार्य है ।' व्यक्तिके कार्योंमें राज्यका हस्तक्षेप उसे अमान्य है ।

सापेक्षतावादी हेमिल्टनका कहना है कि 'हमारी मानसिक शक्तियोंसे ही सब ज्ञान होते हैं, निरपेक्ष ज्ञान नहीं होता ।' परंतु निरपेक्ष पदार्थ भी असम्भव या असत् नहीं । केवल दृश्य ही प्राणीको दिखायी पड़ते हैं । वे द्रष्टाकी अपेक्षा रखते हैं । यह दृश्य, यह गुण, अवश्य किसी पदार्थके दृश्य होंगे, परंतु वह पदार्थ अज्ञेय रहता है । दृश्य शृङ्खलाकी भिन्नतासे मूल द्रव्यमें भेद भी समझा जा सकता है ।

डीन मैन्सलका कहना है 'दार्शनिकोंके निश्चित ज्ञानतक न पहुँचनेके आधारपर ही धर्मकी पुष्टि की गयी है ।' बुद्धिवादी लोग धर्ममें जो कठिनाइयाँ देखते हैं वही तो विज्ञानमें भी कठिनाइयाँ हैं । फिर धर्ममें ही आपत्ति क्यों उठायी जाय ? जब एक और अनेकके दुर्भेद्य रहस्यके आगे दार्शनिक मूक हैं और सभी चीजोंकी उत्पत्तिका रहस्य नहीं जान सकते, तब ईश्वरकृत अद्भुत चमत्कारोंको न समझ पाना तो सर्वथा स्वाभाविक है ।

हक्सलेके मतानुसार 'अपनी रुचि एवं इच्छाओंको सत्यके निर्णयमें त्रिकुल स्थान न देना चाहिये । स्वर्ग, अमरत्व आदि यद्यपि इच्छाओंके प्रकृत हैं, तथापि जबतक वैज्ञानिक प्रत्यक्ष प्रमाण न मिले, तबतक उनपर विश्वास नहीं करना चाहिये । प्रयोगात्मक जाँचमें जो ठीक उतरे, वही सत्य है । अनुमानमात्र पर्याप्त नहीं है । जो बातें अनुभवमें नहीं आती, उनके सम्बन्धमें वैज्ञानिकोंको चुप रहना चाहिये ।' वैज्ञानिक

लोग जो एक मूल द्रव्यको सबका कारण मान लेते हैं, यह अपने अधिकारसे आगे जाना है। यद्यपि उन्होंने प्रत्ययवादियोंके सवित्को बड़ा महत्त्व दिया है, फिर भी ये कहते हैं कि 'भूतवादकी कल्पना अधिक पट सकती है।' इस तरह वे सवित्का आधार भी मानते हैं और यह भी कहते हैं कि 'सवित्के बाहर कोई वस्तु नहीं हो सकती।' इस तरह भूत वा आत्माके सम्बन्धमें हमके समान यह भी अज्ञेयवादी हैं। इनका कहना है कि 'भौतिकवादके सम्बन्धमें जहाँ तक व्याख्या हो, ठीक ही है। परंतु हमें तो व्यवहारके लिये प्राकृतिक नियमोंका ज्ञान भी पर्याप्त है।' हमें आम खानेसे काम है, पेड़ गिननेसे क्या लाभ? अज्ञेय पदार्थ एक हो या अनेक, इसके बारेमें कुछ निश्चय कहा नहीं जा सकता।' कर्तव्यके सम्बन्धमें उसका कहना है कि 'हमें प्रकृतिसे ऊँचे उठना चाहिये, उसका अनुकरण नहीं करना चाहिये।'

क्लीफोर्डके अनुसार 'सर्व मानसद्रव्य ही सर्वत्र ससारमें फैला है। यही द्रव्यविकासद्वारा ऐन्द्रियक शरीरोंमें इकट्ठा होकर चेतना हो जाता है। मेरे मनसे भिन्न अन्य मनके द्वारा भी जो वस्तु उपलब्ध होती है, वही वस्तुकी वस्तुता है।' विलियम रीडका कहना है कि 'मनुष्यजाति एक व्यक्ति है। वह पूर्णताकी ओर जा रही है, वही ईश्वर है।' विकासवादियोंके मतानुसार 'विकासकी पराकाष्ठामें जब मनुष्यमें सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता होगी, तभी ईश्वर-कल्पनाकी बात पूरी होगी।'

कहना न होगा कि 'इन जड़वादियोंकी कल्पनाओंमें भी परस्पर महान् मतभेद है।' अनेकों ऐसे पदार्थोंको 'अज्ञेय' कहकर ही वे सतोष कर लेते हैं। डीन मैन्सलके अनुसार 'जब भूतद्रव्यके ही समझनेमें वैज्ञानिकोंको कठिनाई है, तब आध्यात्मिक द्रव्यमें कठिनाई होनेमात्रसे उसमें अविश्वास क्यों किया जाय? जब किसी पदार्थके अस्तित्वके लिये प्रमाण अपेक्षित होता है, तब उसके अभावके लिये भी तो प्रमाण चाहिये ही। यह तो निश्चय ही है कि आधिभौतिक शास्त्रज्ञ भी एक अव्यक्त प्रकृतिको किसी न-किसी नाममें न्योकार करते हैं और उसीसे अनेक प्रकारकी सृष्टि मानते हैं।'

इस सम्बन्धमें लोकमान्य तिलकने 'गीता-रहस्य' में लिखा है— 'हेकलकी विश्वकी पहेली' (Riddle of the universe) के अनुसार आधुनिक पदार्थ विज्ञानवादीकी दृष्टिमें कार्यके कोई भी गुण कारणके बाहरके गुणोंसे उत्पन्न नहीं होते। जब कारणको कार्यका स्वरूप प्राप्त होता है, तब उस कार्यमें रहनेवाले द्रव्याश एव कर्मशक्तिका कुछ भी नाश नहीं होता। पदार्थकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके द्रव्याश और कर्मशक्तिके लोड़का वजन भी स्पष्ट

एक-सा ही रहता है। न वह घटता है न बढ़ता है। यह बात प्रत्यक्ष प्रयोगसे सिद्ध है। 'नासतो विद्यते भावः' (गीता २।१६) का ठीक यही अर्थ है। प्रथम अर्वाचीन रसायनशास्त्रज्ञ प्रपञ्च सृष्टिके ९२ मूलतत्त्व मानते थे। परंतु अब उन्होंने यह माना कि 'यह मूलतत्त्व स्वयंसिद्ध नहीं। इनकी जड़में कोई एक ही तत्त्व है, उसीसे सूर्य, चन्द्र, तारागण, पृथ्वी आदि सृष्टि उत्पन्न हुई है। उस एक पदार्थको सांख्यानुसार 'प्रकृति' कहा जाता है। 'इन्द्रियोके अगोचर, अव्यक्त, सूक्ष्म, अखण्डित एक ही निरवयव मूल द्रव्यसे व्यक्तकी सृष्टि होती है, इस सांख्यमतको ही पाश्चात्य भौतिकवादी भी मान गये हैं। हाँ, वे यह भी कहते हैं कि 'इस मूल द्रव्यकी शक्तिका क्रमशः विकास हो रहा है। पूर्वापर-क्रम छोड़कर अत्रानक निरर्थक कुछ भी निर्माण नहीं होता।' इसी मतको 'उत्क्रान्तिवाद' या 'विकासवाद' कहा जाता है। तदनुसार सूर्यमालामे पहले कुछ एक ही सूक्ष्म द्रव्य था, उसकी गति अथवा उष्णताका परिणाम घटता गया। तब उक्त द्रव्यका अधिकाधिक सङ्कोच होने लगा और पृथ्वीसमेत सब ग्रह क्रमशः उत्पन्न हुए। अन्तमें जो शेष अंश बचा, वही सूर्य है। पृथ्वीका भी सूर्यके सदृश पहले एक उष्ण गोला था। ज्यों-ज्यों उष्णता कम होती गयी, त्यों-त्यों मूल द्रव्योंमेंसे ही कुछ द्रव्य पतले और कुछ घने हो गये। इस प्रकार पृथ्वीके ऊपरका भाग हवा और पानी तथा उसके नीचेका पृथ्वीका जड़ गोला—ये तीन पदार्थ बन गये। इन तीनोंके मिश्रण अथवा संयोगसे सब सजीव एवं निर्जीव सृष्टि उत्पन्न हुई। डार्विन आदिकोके अनुसार 'छोटे कीड़ोंसे-ही विकास होते-होते मनुष्य बन गया।' यह पीछे कहा जा चुका है कि 'इन लोगोंने चेतनाको भी जड़का ही परिणाम माना है।' परंतु कान्ट आदिका कथन है कि 'सृष्टिका ज्ञान आत्माके एकीकरण व्यापारका फल है। इसलिये आत्माको स्वतन्त्र पदार्थ मानना ही चाहिये।' बाह्य सृष्टिके ज्ञाता आत्माको स्वयं भी बाह्य सृष्टिका एक भाग मानना वैसा ही अशुद्ध है, जैसा कि किसीका अपने कंधेपर स्वयं ही बैठ सकना। सांख्योके सत्त्व, रज, तमके स्थानमें भौतिकवादी गति, उष्णता और आकर्षणशक्ति मानते हैं। पदार्थ एक होनेपर भी उसमें गुणभेदके बिना विचित्र सृष्टि उपपन्न नहीं हो सकती, अतः उस प्रकृतिमें सत्त्व, रज, तम गुण माने जाते हैं।

हेकलका कहना है कि 'मन, बुद्धि, आत्मा आदि शरीरके ही धर्म हैं। अतएव जब मनुष्यका मस्तिष्क विगड़ जाता है, तब उसकी स्मरण-शक्ति नष्ट हो जाती है और वह पागल हो जाता है। मिरपर चोट लगनेसे जब मस्तिष्कका कोई भाग विगड़ जाता है, तब भी मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है। मस्तिष्कके शरीर ही मनोधर्म और आत्मा भी शामिल है। इस दृष्टिमें फिर केवल लड़

अव्यक्त ही रह जाता है। मूल प्रकृतिकी शक्ति ही वीर-वीरे बटती जाती है। उसीमें चेतन्य या आत्माका स्वरूप व्यक्त होता है।' सत्कार्यवादके समान ही इस प्रकृतिके भी कुछ नियम हैं। उन्हीं नियमोंके अनुसार जड़ जगत् और मनुष्य भी उत्पन्न होते हैं। प्रकृति जैसा कराती है वैसा ही सबको करना पड़ता है। ससार एक कारागार है, सब प्राणी उसके कैदी हैं और पदार्थोंके गुण-धर्म ही बेडियाँ हैं। उनका तोड़ना असम्भव है। इसीलिये, ह्रेकलके मतानुसार 'एक अव्यक्त प्रकृति ही सब कुछ है।' यही उसका 'जडाद्वैतवाद' है। साख्यमतानुसार 'प्रकृतिका कार्य जड़ प्रपञ्च ही है, चेतन प्रकृतिसे भिन्न है।'

जड़ सामग्रीसे ही सब वस्तुओंकी उत्पत्ति हो जाती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। साख्यवादी भी स्वतन्त्र, व्यापक, असग, चेतन, आत्मा और प्रकृतिके समन्वयसे ही सृष्टिप्रपञ्च मानते हैं। इसी समन्वयमें सांख्यीका 'पङ्क-अंधन्याय' प्रसिद्ध है। जैसे पङ्क चल नहीं सकता और अधा देख नहीं सकता, दोनोंका जब मेल होता है, पङ्क को कंधेपर चढ़ाकर जब अधेके पैर और पङ्कके आँखका सहयोग मिलता है, तब गमनादि क्रिया सम्पन्न होती है। वैसे ही अधेके तुल्य अचेतन प्रकृति और पङ्कके तुल्य गति-शक्तिरहित चेतन पुरुष, इन दोनोंके सम्बन्धसे सृष्टि-प्रपञ्च चलता है। व्यवहारमें अचेतन रथादिकी प्रवृत्ति चेतन अश्वके आधारपर ही होती है। यान्त्रिक प्रवृत्तियोंके भी मूलमें मयोजक होता है। एकत्रित सामग्री कर्ता नहीं बन जाती। संघात या समुदायमात्रमें कर्तृत्व नहीं हो सकता। क्षेत्ररूपी कारखानेमें मनुष्य बुद्धि, मन आदि नौकरोंसे काम करानेवाला कौन है? एकत्रित सामग्रियों भी विलग न हो जायँ, एतदर्थ उन्हें धागासे बाँधना भी पड़ता है, अन्यथा वे कभी भी अलग हो जायँगी, अतः कोई नियामक चेतन परमावश्यक है।' यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'समुच्चयका गुण चेतन्य है', क्योंकि जिसमें जो वस्तु अमत् है, वह कभी भी मत् नहीं हो सकती—'नास्तो विद्यते भावः' फिर भी समुच्चयोत्पन्न गुणकी अपेक्षा भौतिकवादी समुच्चयको ही चेतन आत्मा मानते हैं। परन्तु जब अग्निके बदले लकड़ी, विद्युत्के स्थानपर मेघ और आकर्षणशक्तिके बदले पृथ्वी आदि नहीं ग्रहण किये जाते, तब यह क्यों न माना जाय कि देहादि सघातका, मन, बुद्धि आदिका व्यवस्थापूर्वक काम चलता रहे, एतदर्थ सघातसे भिन्न किसी शक्तिका अगीकार करना आवश्यक है। भले ही उस शक्तिका अधिष्ठान अगम्य हो, परन्तु उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। 'सघातका शान स्वयं सघात ही कर लेता है।' यह कहना तो सर्वथा असङ्गत ही है। अतः सघात जिसके लिये प्रवृत्त होता है, जो सघातका ज्ञाता या प्रवर्तक होता है, उसे मानना आवश्यक है।

कॉन्टका कहना है कि 'बुद्धिके व्यापारोंका सूक्ष्म निरीक्षण करनेपर मालूम होता है कि मन, बुद्धि, अहङ्कार, चेतना ये सभी शरीर-क्षेत्रके गुण हैं। उनका प्रवर्तक आत्मा इनसे भिन्न स्वतन्त्र और इनसे परे है। किसी भी जीवशास्त्रके तर्क या विज्ञान अथवा यान्त्रिक साधनोसे इसके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिलता। विकासवादी अधिक-से-अधिक आत्मा या परमेश्वरको अज्ञेय कहते हैं। वेदान्त-शास्त्रमे भी समाधि-सम्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञाके बिना सर्वसाधारणके लिये आत्माको अज्ञेय कहा गया है। दृश्यका प्रकाश द्रष्टासे होता है। दृश्यसे द्रष्टाका प्रकाश नहीं होता। इसीलिये देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि सभी प्रपञ्चका भासक सर्वद्रष्टा आत्मा है। इन दृश्योके द्वारा उसका प्रकाश नहीं हो सकता, इसीलिये उसे अदृश्य, अप्राप्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य माना जाता है। फिर भी वही सबका अधिष्ठान एवं सबका भासक, स्वयंप्रकाश है। अतः उसके सम्बन्धमें सशय, भ्रम एवं अज्ञान हो ही नहीं सकते; क्योंकि जिसके द्वारा संशय, भ्रम तथा अज्ञानका भी भान होता है, उसकी सत्ताका अपलाप कौन कर सकता है ?—

येनेदं सर्वं विजानते तं केन विजानीयात्।

(बृहदा० उप० २।४।१४)

—अर्थात् जिसके द्वारा सब वस्तुओंको जाना जाता है, उसे किससे जाना जाय। नियमपूर्वक प्रवृत्तिके लिये ही प्रकृतिका प्रथम परिणाम महत्तत्त्व माना जाता है। समष्टिबुद्धि ही महत्तत्त्व है, परंतु चैतन्य-सम्पर्कके बिना जड प्रकृतिके परिणाम बुद्धितत्त्व या महत्तत्त्वसे भी नियमित-प्रवृत्तिका उपपादन नहीं हो सकता।

ईश्वर एवं आत्माके सम्बन्धमें विकासवादियोका मत अस्पष्ट, अधूरा एवं भ्रान्तिपूर्ण है। 'संवर्ष एवं स्वार्थ ही जीवनका सार है। परोपकारका भी अन्तिम लक्ष्य स्वार्थ ही है' यह मत भी विकासवादियोका असंगत ही है। कहा जा चुका है कि कितने ही लोग परोपकारको ही स्वार्थ समझते हैं। व्याघ्र-जैसे हिंस्र प्राणी भी अपने बच्चोंके लिये प्राणतक देते देखे जाते हैं।

डॉक्टर गेडोके मतानुसार 'पानीकी मछलियोंका मनुष्यतक विकास होनेमें ५३७५००० पीढ़ियाँ बीत गयीं।' कई लोग इससे भी अधिक संख्याका अनुमान लगाते हैं। मछलियोसे पहलेकी संख्या यदि गिनी जाय, तब तो पीढ़ियोंकी संख्या और भी बढ़ जाती है। सूक्ष्म जन्तुओंका ही मछलियो, कछुओं, पक्षियों, वंदरा तथा मनुष्योंके रूपमें परिणाम बतलानेवाले दार्शनिक अनेक चित्रों और फोटो आदिद्वारा विकासक्रमको प्रत्यक्ष-सा दिखला देते हैं। परंतु यदि यह विकासक्रम वास्तविक है, तो फिर वंदरोसे वंदरोकी, मनुष्योसे मनुष्योंकी, पक्षियोंसे पक्षियोंकी और मछलियोसे मछलियोंकी उत्पत्तिका नियम क्यों उपलब्ध हो रहा है ? आज भी वंदरोकी परम्परामे मनुष्योंका जन्म होता हुआ

दिखायी क्यों नहीं देता ? किञ्चिन्मात्र चाटव्यसे अन्यत्र अन्य न्यमें परिणाम नहीं मित्र किया जा सकता । कितने ही पौधे समान टगके होते हुए भी गुणोंमें भिन्न हैं । कोई जहर है तो कोई अमृत है । समान घंटोंमें भी हय, अश्व, अर्वा आदिमें जातिभेद माना जाता है । मनुष्योंमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि जातिभेद मान्य होता है । वृद्धो, पशुओं तथा जलचर जन्तुओंमें अवान्तर बहुत अधिक समानता होनेपर भी उनमें जाति, गुण आदिका भेद होता है । शुभ-अशुभ कर्मोंके अनुसार ही जातिभेद शास्त्रीय दृष्टिसे मान्य है । जाति, आयु, भोगका आरम्भक कर्म ही प्रारब्धकर्म माना जाता है । कार्यकी विलक्षणता कारणकी विलक्षणतासे ही सम्भव होती है । अतः कर्म-वैचित्र्यसे जाति-वैचित्र्यकी मान्यता समत है । विभिन्न ढगके बीजोंसे विभिन्न ढगके अद्भुतोंकी उत्पत्ति होती है । विभिन्न प्राणियोंके सजातीय शुक्र-शोणितोंसे सजातीय प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है । विजातीय प्राणियोंसे विजातीयोंकी उत्पत्ति अदृष्टचर है । विजातीय शुक्र-शोणितोंसे भी सतानोत्पत्तिमें बाधा पड़ती है । फिर इस दृष्ट कार्य-कारणभावको छोड़कर अदृष्टकी कल्पना सर्वथा अपार्थक्य है । जब भिन्न-भिन्न परम्पराएँ उपलब्ध हैं ही, तब बीजरूपसे तथा शक्तिरूपसे उन्हें स्वतन्त्र ही क्यों न माना जाय ? निम्बसे आम्रकी उत्पत्ति नहीं होती, वालूसे तैल नहीं निकलता तथा अश्वसे महिषकी उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि निम्ब आदिमें आम्र आदिका शक्तिरूपसे अस्तित्व नहीं है । 'असत्की उत्पत्ति और सत्का विनाश नहीं होता,' यह सिद्धान्त दृढ़ है । इसीलिये बदरोंसे मनुष्योंकी उत्पत्ति दृष्ट नहीं होती । इस तरह एक मूल प्रकृति या कारणब्रह्मसे ही समस्त प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है । सर्वकार्यानुगुण शक्तियों कारणमें रहती हैं ।

राजनीतिके सम्बन्धमें भी विकासवादियोंकी ऐसी ही कल्पनाएँ हैं । स्पेसरका यह भी कहना है कि 'गरीबी एवं निर्बलता भी प्राकृतिक है । जो योग्य होता है, वही जीवित रहता है । जो परिस्थितिके अनुकूल अपने-आपको नहीं बना सकते, ऐसे प्राणी मर जाते हैं । उसी तरह जो व्यक्ति वैज्ञानिक परिवर्तनके साथ अपनेको परिवर्तित नहीं कर सकता और विपरीत परिस्थितिमें नहीं रह सकता, वही गरीब होता है । उसके सुचारमें शासनको हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये ।' इसके मतानुसार 'यदि कोई अध्यापक उष्णता न सह सकनेके कारण मूर्च्छित हो गया हो तो विद्यार्थियोंको उसे वैसे ही मूर्च्छित छोड़कर चल देना चाहिये और उसे स्वयं परिस्थितिसे मुकाबिला करनेके लिये छोड़ देना चाहिये ।'

विज्ञान या साइंसमें भी पर्याप्त मतभेद है । डार्विन, हेज़ल आदिमें समयके प्राचीन साइंसमें आत्मा, ईश्वर, पुनर्जन्म आदिके सम्बन्धमें बहुत-सी उल्टी

वाते कही, परंतु सत्यकी खोज करनेवाले वैज्ञानिकोंकी खोज निरन्तर चल ही रही है। लगभग अर्धशताब्दीसे तो विज्ञानने ही प्राणिविज्ञान-सिद्धान्तमें पर्याप्त रद्दो-बदल कर दिया। विकासवाद तो वस्तुतः खण्डित ही हो गया, किंतु स्वेच्छाचारियोंके लिये आत्मा, ईश्वर, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि जहरके समान कड़ुए प्रतीत होते हैं। अतः वे लोग अब भी उसी जडवाद विकासवादकी रट लगा रहे हैं, क्योंकि विकासवादमें ईश्वर, धर्म आदिसे छुट्टी मिल जाती है। अतः जो वस्तु वैज्ञानिकोंकी दृष्टिसे भी गलत सिद्ध हो चुकी, उसी विकासवाद—जडवादके पीछे उच्छृङ्खल लोग पड़े हुए हैं।

‘साइंस एण्ड रेलीजन’ (धर्म एवं विज्ञान) पुस्तकमें सर ओलिवर जोसेफ लाज एफ्० आर्० एस० डी० एस्-सी०, एल्-एल्० डी०, प्रो० जॉन एम्बोज, प्रो० डब्ल्यू० बी० वाट्मली, प्रो० एडवर्ड हल, जॉन एलन हार्कर, प्रो० जर्मन सिम्स उडहेड तथा प्रो० सिलवेनिस फिलिप्स थॉम्पसन—इन सात प्रसिद्ध वैज्ञानिकोंके मन्तव्योंका उल्लेख है। इस पुस्तकमें ईश्वर, जीव, धर्म एवं विकासके सम्बन्धमें डार्विन आदिके मतका खण्डनकर आस्तिक पक्षका समर्थन किया गया है। वर्तमान वैज्ञानिक प्राचीन वैज्ञानिकोंको ‘पुराना’ कहकर उनके मतकी उपेक्षा करते हैं। प्रो० वाट्मली कहते हैं कि ‘हेकलका प्राचीन भौतिकवाद वर्तमान युगसे बिल्कुल दूर है। हेकलकी ‘दि रिड्ल आफ युनिवर्स’ का उत्तर ‘रही विचार एवं नूतन उत्तर’ (दि ओल्ड रिड्ल एण्ड न्यूएस्ट आंसर) पुस्तकमें दिया गया है। उस पुस्तकमें यह भी कहा गया है कि ‘नवीन वैज्ञानिक पहलेकी अधी प्रकृतिके हाथमें न रहकर प्रकृतिको अपने हाथमें रखनेकी शिक्षा देते हैं। विकासको मनमाना नहीं, प्रत्युत नियमबद्ध होकर कार्य करनेवाला बतलाते हैं। विकासके द्वारा परमात्माका दर्शन करते हैं। डार्विन, हक्सले, हेकल आदिके समयका संसार केवल प्राकृतिक था, परंतु अबके वैज्ञानिकोंको सर्वशः परमेश्वर भी स्वीकृत है। डार्विनकी प्रकृति भी अब ईश्वरसे नियन्त्रित है। साइकोलाजी (मनोविज्ञान), फ्रीनालोजी (मस्तिष्कशास्त्र) और स्पिरिटुअलिज्म (आधुनिक परलोकवाद) के पण्डित जीवका अस्तित्व एवं उमका जन्मान्तर भी स्वीकृत करते हैं।’

इस तरह कर्मोंद्वारा जीवोंकी अवस्था बदलती है। मनमानी प्रकृति मक्खीसे चिड़िया और चिड़ियासे सोंप नहीं बना सकती। सर ओलिवर लाजका कहना है कि ‘विकास तो कुड्मल (कलिका) से पुष्प एवं बीजसे अंकुर बनानेवाला निश्चित नियम है। नवीन विज्ञानके अनुसार कई प्राणी ऐसे पाये गये हैं, जिन्होंने अपने आदि जन्ममें लेकर अबतक अपना रूप बिल्कुल नहीं बदला। यही ‘स्थिर शरीरवाले’ कहे जाते हैं। हेकल आदिके अनुसार

मनुष्यको हुए ८ लाख २० हजार वर्ष हुए। इसी बीच उसने इतनी उन्नति की। पर मि० जॉन् टी० रोडको नेवादा में एक ६० लाख वर्षका पुगना जूनेका तला पत्थरकी दगामें मिला, तबसे तो विकासवाद सर्वथा ही धराशाही हो गया। पृथ्वीकी आयु अवतक जितने भी प्रकारोंसे मिट्टी की गयी, उनमेंसे कोई भी प्रकार इस जूनेके कारण विकासवादकी सब कड़ियोंको उपपन्न करनेमें समर्थ नहीं है। अमीबासे लेकर मनुष्यतक न जाने कितने कड़ियाँ ह, यदि एक-एक कड़ी करोड़ वर्ष ले, तो ज्यादा-से-ज्यादा पृथ्वी कितनी पुरानी हो सकती है, उसका अंदाजा लगाना भी कठिन है। अभी हालमें वह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि 'मनुष्योंका विकास बंदरोंसे नहीं हुआ, प्रत्युत बंदरोंका जन्म मनुष्योंसे हुआ है।' इन वैज्ञानिकोंका कहना है कि 'पूर्वकालके मनुष्योंने ज्ञान-विज्ञानमें बहुत उन्नति की थी; इसलिये उनके सिर कमजोर हो गये थे। कुछ दिनोंके बाद वे असमर्थ जगली हो गये। उनमेंसे कुछ वनमानुष और कुछ बंदर बन गये।' ये नवीन वैज्ञानिक पुराने वैज्ञानिकोंसे कहीं अधिक सूक्ष्मदर्शी हैं। इन्होंने अपने तत्त्वोंसे पुराने ज्ञानोंमें अधिक वृद्धि की है। अतः परिस्थिति संयोग या इत्तिफाकके अनुसार नहीं, किंतु कर्मोंके अनुसार ईश्वराज्ञानुसार ही प्रकृति जीवोंके शरीरोंको विकसित करती है। जैसे बीजसे वृक्ष, बलीसे फूलका विकास होता है, वैसे ईश्वरीय नियमानुसार ही सब विकास ठीक है।

विकासवादियोंके मतानुसार—“प्राकृतिक पदार्थोंका मूल कारण 'इंथर' है। उसीकी कल्पना और तरगावलीसे विद्युत्, प्रकाश, गर्म और गमी उत्पन्न होते हैं। उन्हींके अति सूक्ष्म कणोंको 'इलेक्ट्रॉन' कहते हैं। इनके ही संघातसे विद्युत् बनती है। यही शक्तिके रूपसे स्थूल आकारमें 'मैटर' कहलाती है। मैटरकी विरलदशाको 'गैस', तरल दशाको 'लिक्विड' तथा ठोस दशाको 'सॉलिड' कहते हैं। इंथरसे उत्पन्न ये पदार्थ घनीभूत होकर और आकर्षण-विकर्षणके नियमसे चक्राकारगतिमें हो जाते हैं। कुछ समयके बाद वही चक्र सूर्य बन जाता है। सूर्यमें गर्मी तथा गतिके कारण चक्कर पड़ जाते हैं। उसके कुछ अंग अलग होकर दूसरे ग्रह बन जाते हैं। उन ग्रहोंसे उपग्रह बनते हैं। इसी प्रकारके ग्रहोंमेंसे हमारी पृथ्वी एक ग्रह है। यह पहले गर्म थी, फिर धीरे-धीरे ठंडी हुई। उसीसे भाप, बादल, पानी, समुद्र, भूमि एवं जीव पैदा हुए। वनस्पति एवं जन्तुओंके भी पहले चेतनता उत्पन्न हुई। उसीकी एक शाखा एक कोष्ठधारी 'अमीबा' बन गयी। अमीबा इतने बड़े कि उन्हें खाने पीनेकी वस्तुओंकी दिक्कत होने लगी। उन्हींकी वे सतानें, जो शारीरिक प्रयत्न तथा मानसिक अभ्यासमें बलवान् थीं, जीवन संग्राममें बच गयीं। वे फिर बड़ी ओर भोजनके लिये संग्राम जारी रहा। योग्य बचे, अयोग्य मारे गये।

बचे हुए अमीबा पहलेसे कुछ भिन्न प्रकारके थे । इनमें भी वही सघर्ष चला । मरते-बचते परिस्थितिके अनुसार आकार-प्रकार बदलते-बदलते मछली, मेढक, सोंप, पक्षी, गाय, बैल, वंदर, वनमानुष और मनुष्यकी उत्पत्ति हुई ।

“सब प्राणियोंका एक ही तत्त्वसे बनना, सबमें जीवन और सतति धारण करनेवाले समान अवयवोंका होना सिद्ध करता है कि सब एक ही मूलयन्त्रके उसी प्रकार सुधरे हुए रूप हैं, जिस प्रकार आरम्भकी साइकिल भद्दे ढगकी थी, उसमें सुधार होते-होते आजकी साइकिल बन गयी । अवतककी सभी साइकिलोंको एक कतारमें रखे तो पता लगेगा कि एकहीके ये सब सुधरे हुए रूप हैं । उसी प्रकार सभी प्राणी ‘अमीबा’के सुधरे हुए रूप हैं । जैसे तीन पहिये और दो पहियेकी मोटर दो वस्तुएँ नहीं, वैसे ही बिना पैरका सोंप और सैकड़ों पैरवाला कनखजूरा कोई दो वस्तु नहीं । पहलेका सुधारा हुआ रूप ही दूसरा है । पहले सादी फिर सकीर्ण, पहले बिना हड्डीवाली फिर हड्डीवाली, पहले जोड़वाली फिर सपाट रचनाका क्रम यान्त्रिक ही है । जमीन खोदनेसे भी यही क्रम मिलता है । सादी रचनावाले नीचेकी तहोंमें और क्लिष्ट रचनावाले हड्डीवाले ऊपरकी तहोंमें मिलते हैं । मनुष्य गर्भ पहले अमीबाकी तरह एक कोष्ठवाला, फिर मछलीके आकारका, फिर क्रमशः मण्डूक, सर्प एवं पक्षीके आकारका होता है । फिर वंदरकी शकलका होकर मनुष्य होता है । इस तरहसे भूगोलके प्राणियोंकी शरीर-रचना, यत्र-तत्र प्राप्त हड्डियोंकी रचना तथा विभिन्न देशोंमें स्थित प्राणियोंकी शरीर-रचनाकी तुलना करनेसे यही प्रतीत होता है कि सब एक ही मौलिक यन्त्रके परिशोधित एवं परिवर्धित स्वरूप हैं । कई स्त्रियोंके चार या आठ स्तन होते हैं, कई मनुष्योंके पूँछ होती है । इससे मालूम होता है कि मनुष्य भी उन योनियोंसे होकर आया है, जिनमें अधिक स्तन एवं पूँछ होते हैं । कान न हिला सकने और आँत उतरनेकी बीमारीसे प्रतीत होता है कि मनुष्यके ये अंग शक्तिहीन हो गये । कहीं एक ही प्राणीमें इन दो प्रकारके प्राणियों-जैसे अङ्ग पाये जाते हैं । चमगादड़, उडती गिलहरी, लुप्त कडियोंके उत्तम निदर्शक और विकासके प्रमाण हैं ।”

इस मन्वन्धमें कहना यह है कि यन्त्रोंका विकास जैसे किसी चेतनकी बुद्धिका परिणाम है, वैसे ही विश्वका विकास भी किसी चेतन ईश्वरसे ही सम्भव है । भले सायकिलें एक ही यन्त्रके विकास हो, फिर भी मोटर, रेल, वायुयान तथा कारखानोंके यन्त्र, सब साइकिलके ही विकास नहीं । इसी तरह सोंपोंके अवान्तर-भेद सोंपोंके विकास भले ही हों, परंतु कनखजूरा, बड़ी गिजाया और छोटी गिजाई आदि का स्वतन्त्र ही अस्तित्व क्यों न माना जाय ? निराकार जीव कर्मवश विभिन्न योनियोंसे होता हुआ मनुष्य-योनिये आया, इसमें कोई मतभेद नहीं । किंतु अन्तर्-जीवित देहमें ही सब प्रकारके जीवित देह बने, यह कल्पना सर्वथा

निराधार है। कहा जाता है कि 'सम्पूर्ण समार परिवर्तनका फट है।' किन्तु परिवर्तन या गति जड़ पदार्थका स्वाभाविक धर्म नहीं हो सकती। व्यवहारमें देखने है कि घड़ीमें गतिका परिवर्तन घड़ीका स्वाभाविक धर्म नहीं, बटूकद्वारा चलनेवाली गोलीकी गति स्वाभाविक नहीं है, घड़ी और गोली पहले गतिहीन थीं, अन्तमें भी गतिहीन होनेवाली हैं। बीचमें किसी चेतनद्वारा ही उनमें गति मिलती है। इस तरह संसारमें तेज, जल, किरण, वायु आदि सभी पदार्थोंमें गति या परिवर्तन किसी चेतनमें ही मिलना चाहिये। घड़ी और गोलीकी गतिके तुल्य ही समारकी गति भी न पहले थी, न अन्तमें रहेगी। उसे गति देनेवाला चेतन ईश्वर ही है।

'साइंस एण्ड रेलीजन'में प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० जे० एम्० फ्लेमिंगका कहना है कि 'साइंसके स्वाध्यायमें हमें इस प्राकृतिक जगत्में तरकीब, योजना, धारणा और विचार दिखलायी पड़ते हैं। ये बातें इत्तिफाकसे अचानक नहीं आ गयीं। ये विचार चैतन्यकी सूचना देते हैं। यह संसार बिना विचारगद्गान्के कभी नहीं बन सकता। महर्षिर्व्यासने भी उपनिषदोंके आधारपर शारीरिक सूत्रमें कहा ही है कि जड़ प्रकृतिमें ईक्षण नहीं बन सकता, किन्तु यह संसार ईक्षणपूर्वक ही हो सकता है—'ईक्षतेर्नाशब्दम्।' (ब्रह्मसूत्र १।१।५)

कुछ विकासवादियोंकी कल्पना है कि 'पृथ्वीपर गिरनेवाले तारकाओंके द्वारा जीवनका बीज हमारे यहाँ पहुँचा।' परन्तु इसमें शक यह होती है कि क्या प्रोटोप्लाज्ममें इतनी शक्ति है कि तारिकाओंसे पृथ्वीपर पहुँचनेतक उनमें जीवन अवशिष्ट रह सकता होगा? दूसरी कल्पना यह है कि 'असंख्य वर्षोंके पहले अनुकूल स्थिति पानेपर जीवनका एकदम प्रादुर्भाव हुआ।' परन्तु इसपर विकासवादी ही कहते हैं कि 'जीवनका आरम्भ कब हुआ, कैसे हुआ, इसपर वैज्ञानिकोंको अबतक कुछ ज्ञात नहीं। इससे स्पष्ट है कि 'चैतन्य कैसे बनता है,' यह वैज्ञानिकोंको मालूम नहीं। परन्तु उनका विश्वास है कि 'वह है प्राकृतिक,' क्योंकि उनके मतमें चेतन प्रोटोप्लाज्म ही है। प्रोटोप्लाज्म, जो गह्वरी भौति तरल पदार्थ है, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, फॉस्फोरस आदि बारह भौतिक पदार्थोंसे बना है, जो कि जड़ ही हैं। ये भौतिक पदार्थ 'एलेक्ट्रॉन'के न्यूनाधिक मेलसे बनते हैं। एलेक्ट्रॉन खण्ड-खण्ड है, अर्थात् ये सब पदार्थ परमाणुओंसे बने हैं, जीव भी प्राकृतिक परमाणुओंसे ही बना है।' हक्सलेके मतानुसार 'चेतन' पदार्थ दीपज्योति अथवा पानीके भँवरके तुल्य नित्य प्रतीत होनेपर भी प्रतिक्षण बदलने वाली व्यक्तियों ही हैं। नये-नये परमाणु मिलते जाते हैं, पुराने अलग होते रहते हैं, यह धारा निरन्तर बहती रहती है, इसलिये ज्ञान एवं चैतन्यका मिलमिला नहीं दृष्टा।

नवीन विज्ञानके अनुसार 'प्रत्येक परमाणु कई एलेक्ट्रोनोसे बना होता है। एलेक्ट्रोन एक दूसरेसे चिपकते नहीं, प्रत्युत दूर-दूर रहते हैं। जिस प्रकार तारका-समूह दूर-दूर रहकर भी एक तारापिण्ड या सौर जगत् कहलाता है, उसी प्रकार अनेकों एलेक्ट्रोनोसे बना हुआ 'ऐटम' भी है। इसी ऐटमसे उपर्युक्त बारह पदार्थ बनते हैं। इन्हीं बारह पदार्थोंसे ज्ञान, चैतन्य या आत्मा बना है। अतः वह भी परिवर्तनशील है।' वैज्ञानिकोंके अनुसार परमाणुओंकी गति प्रति सेकेड एक लाख मील है। यहाँ विचारणीय यह है कि जुदा-जुदा रहकर इतने वेगसे चलनेवाले परमाणु किस प्रकार अपना ज्ञान दूसरे परमाणुमें डालते हैं अथवा किम प्रकार ज्ञान एक परमाणुसे उडकर दूसरे परमाणुमें जाता है और चैतन्य स्थिर रहता है? बीसो वर्ष पढ़ानेपर भी विद्यार्थी भूल जाता है, परंतु बिना किसी साधनके दूर-दूर स्थित परमाणु इतने वेगसे दौड़ते हुए अपना ज्ञान दूसरेमें फेंककर चले जाते हैं और दूसरे उस ज्ञानको ले लेते हैं। यह कितनी आश्चर्यजनक और कितनी असंगत बात है ?

दिसम्बर सन् १९२३ के 'चिल्डेन्स न्यूज' पत्रमें प्रो० रिचर्ड की 'थर्टी इयर्स आफ साइकिकल रिसर्च' नामक पुस्तकका विज्ञापन छपा है। उमीमें पुस्तकका एक उद्धरण है कि 'पचास वर्षपूर्व भौतिक विज्ञानका यही रुख था कि जो बात भौतिक विज्ञानसे सिद्ध न हो, उसका अस्तित्व ही नहीं, वह ढोंग है। किंतु आज ऐसे भी प्रमाण मिल रहे हैं कि भौतिक विज्ञानकी पहुँचके बाहर भी पदार्थोंका अस्तित्व है। ऐसे पदार्थोंको 'साइकिकल' कहते हैं। यह शब्द जीवके लिये व्यवहृत होता है। जीवात्माको अब कोई भी भौतिक नहीं कहना।' डार्विनके सुपुत्र प्रो० जार्ज डार्विनने—१६ अगस्त सन् १९०५ को दक्षिण अफ्रीकामें 'ब्रिटिश एशोसियेशन'के प्रधानकी हैसियतसे कहा है कि 'जीवनका रहस्य अब भी उतना ही गूट है जितना कि पहले था।' प्रो० गेडिस कहते हैं कि 'कुछ प्रामाणिक विज्ञानवेत्ता, जो जीवके एक लोकसे दूसरे लोकमें आगमनकी कल्पनाको मतोषजनक मानते हैं, ऐसा भी मानते हैं कि जीव प्रकृतिकी भौति अनादि है।' दूसरे एक विद्वान्का कहना है कि 'चेतनके प्रभाव बिना जड़ पदार्थोंमें चेतना आ ही नहीं सकती।' विज्ञानका यह नियम पृथ्वीके आकर्षण-नियमके समान अटल प्रतीत होता है। जवसे मनोविज्ञान, मस्तिष्कशास्त्र एवं आत्मविद्याका अन्वेषण हुआ, तबसे जीव सम्बन्धी सभी ज्ञाकॉ निवृत्त हो गयीं।''

मनोविज्ञानके एक विद्वान्का कहना है कि 'किसी भी जीवनवार्यकी सगति भौतिक नियमोंमें स्पष्ट नहीं होती। ऑसू या पसीना निकलनेके नियमोंका भी स्पष्टीकरण अभीतक नहीं हो सका।' मस्तिष्क-शास्त्रके जन्मदाता गॉलका

कहना है कि 'मेरी रायमें एक ही निरवयव वस्तु है, जो देखती, सुनती, स्पर्श करती है, प्रेम, विचार एवं स्मरण करती है, पर अपना कार्य करनेके लिये वह मस्तिष्कमें अनेक भौतिक साधन चाहती है।' इससे वेदान्तके द्रष्टा, स्वप्ना, श्रोता, ग्राना आत्माका ही वर्णन मिलता-जुलता है। आत्मविद्याके प्रसिद्ध पण्डित सर ऑलिवर लॉज लिखते हैं कि 'एक बार आप इस बातको देखें कि अन्तःकरण बड़ी वस्तु है। वह इस मशीन (शरीर) में बाहरकी वस्तु है। ऐसा नहीं कि जब शरीर नष्ट होता है, तब वह अपना अस्तित्व खो देती है। हम जितने दिनोत्तक पृथ्वीपर रहते हैं, उतने ही दिनोके लिये हमारा अस्तित्व परिमित नहीं। हम बिना शरीरके भी रह सकते हैं। हमारा अस्तित्व बना ही रहेगा। मे ऐसा क्यों कहता हूँ ? इसलिये कि ये सब बातें विज्ञानके आधारपर स्थित हैं। बहुतोंने अभी इसका अनुभव नहीं किया, पर यदि कोई तीस-चालीस वर्षतक अपनी आयु इस विषयमें लगाये, तभी वह यह कह सकनेका अधिकारी होगा कि अब मैं किसी स्थितिमें पहुँचा हूँ।' इन बातोंमें जात होगा कि जीवका स्वतन्त्र अस्तित्व विज्ञानसम्मत है। अब ईश्वर-नियन्त्रित प्रकृतिसे विकास उसी प्रकार मान्य है, जिस प्रकार कलीसे फूलका विकास होता है। जैसे कलीसे फूल ही होगा, भ्रमर नहीं, बीजसे वृक्ष ही होगा, मूँगा नहीं, वैसे ही ईश्वरीय नियमानुसार पदार्थोंका विकास होगा। यह टी० एच् हक्सलेके 'एनीवर्सरी ऐडेस' के इन वाक्योंमें स्पष्ट है कि 'प्रत्येक पशु और वनस्पतिकी सभी जातियोंमें कुछ विशेष प्राणी ऐसे होते हैं, जिनको मैं 'स्थिर आकृति' नाम देता हूँ, उनमें सृष्टिसे लेकर अबतक कोई विकार नहीं हुआ।'।

मद्रास हाईकोर्टके जज टी० एल० स्टेजका कहना है कि 'जल-कृमियोंमें बहुत प्रकारके भिन्न-भिन्न रूपवाले जन्तु प्रतिदिन उत्पन्न होते हैं। इनके लिये यह आवश्यक नहीं कि वे एक दूसरेसे विकृत होकर उत्पन्न हों, प्रत्युत वे तो एक दूसरेसे अपेक्षारहित होकर एक ही समयमें अलग-अलग आकारके साथ उत्पन्न होते हैं। इससे क्रम-विकासका स्पष्टतया खण्डन हो जाता है। अनुभव भी यही है कि मिरमें मैल जमनेसे जुँए साधात् उत्पन्न होती हैं। वे अनेक अन्य देह धारण करनेके बाद जुँए नहीं बनती। खाटका खटमल मलिनतासे ज्यो-का-ज्यो उत्पन्न होता है। मूत्रके कीड़े नमरके समस्त देशोंमें एक ही आकारके उत्पन्न होते हैं।' इन घटनाओंसे सिद्ध होता है कि अमुक आकार प्राप्त करनेके लिये अनेक आकारोंका चक्र लगाना आवश्यक नहीं। जिस ईश्वरके द्वारा चन्द्र-सूर्य बनते हैं, जिसमें अमीबा बनते हैं, उसीसे स्वतन्त्र अन्य शरीर भी बन सकते हैं।

इसीलिये एक आधुनिक वैज्ञानिक अपनी 'प्रिंसिपल्स ऑफ जुआलोजी' (प्राणिविज्ञानके सिद्धान्त) पुस्तकमें लिखता है कि 'पृथ्वीपर उत्पन्न बिना हड्डीके जन्तुओं और मनुष्यादि हड्डीवाले प्राणियोंमें एक समान ही उन्नति देखी जाती है, परंतु इस समानताका यह अर्थ नहीं कि एक प्रकारके प्राणीसे दूसरे प्रकारके प्राणी विकसित हुए हैं। आदिम मत्स्य ही सर्पणशील प्राणियोंका पूर्वज नहीं और न मनुष्य ही अन्य स्तनधारियोंसे विकसित हुआ है। प्राणियोंकी शृङ्खला किसी अभौतिक तत्त्वसे सम्बन्ध रखती है, जिसने पृथ्वीपर अनेक प्रकारके प्राणियोंकी सृष्टि करके अन्तमें मनुष्यको बनाया है—ब्रह्मावलोकधिषणं सुदमाप देवः। (श्रीमद्भाग० ११।९।२८) इसके अतिरिक्त परमेश्वरका अस्तित्व माननेपर प्रकृतिकी स्वतन्त्रताका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। फिर तो अनादिसिद्ध जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार उनके सुख-दुःखादि फल-भोगार्थ ही देहका निर्माण अपेक्षित होता है। सुख-दुःखकी न्यूनता-अधिकता देहकी वनावटपर निर्भर है। इस दशामें जिन प्राणियोंको उनके कर्मानुसार जैसा सुख-दुःख देना है, सीधे तदुपयोगी ही शरीरका निर्माण आवश्यक है। व्यर्थ असंख्य शरीरोंमें घुमा-फिराकर जीवको उस शरीरमें लाना परमात्माके लिये उचित नहीं। कर्मफलोंको भोगानेके लिये यदि किसी अपराधीको तीन मासकी कालकोठरीकी सजा देनी है, तो पुलिस उस व्यक्तिको वर्षों इधर-उधरकी हवालातोमें भटकती फिरे, यह न्याय नहीं। अतः ईश्वर एव जीव-तत्त्व मान लेनेपर फिर क्रम-विकासका कोई भी स्थान नहीं रह जाता।

विकास-सिद्धान्तकी मान्यता है कि 'चेतनकोष्ठसे प्राणी बनता है। इन्हीं चेतनकोष्ठोंसे समस्त प्राणियोंकी रचना हुई। इन सब जीवित प्राणियोंमें तीन सामान्य बातें हैं—(१) सब प्राणियोंके शरीर एक ही सरल पदार्थोंसे बने हैं। पशु-पक्षियोंके शारीरिक तत्त्वोंमें कोई अन्तर नहीं। (२) सब प्राणी अपनी क्षीण शक्ति फिरसे प्राप्त कर लेते हैं। प्रतिदिन काम करके श्रान्त होते हैं, विश्रामके अनन्तर पुनः ताजे हो जाते हैं। (३) यन्त्रोंकी भाँति सुघरते-सुघरते एक शरीरसे अन्य शरीरवाले होते हैं। सब प्राणियोंके आठ स्थान होते हैं—(१) पोषण—बाहरसे पदार्थ लेना, पचाना और सारे शरीरमें पहुँचाना, (२) श्वासोच्छ्वास, (३) मलत्याग, (४) रक्तप्रसार, (५) प्रेरणा, (६) आधारस्थान (जिससे शरीर सधाररहता है), (७) ज्ञानतन्तु (जिससे समस्त शरीरका ताल मालूम होता है) और (८) प्रसव। इस तरह सब प्राणियोंके तत्त्व एक-से हैं और आठ स्थान भी एक-से होते हैं। किंतु ये सब बातें भारतके लिये कोई नयी खोज नहीं हैं। यहाँका एक गँवार भी जानता है कि 'पंच रचित यह अधम सरीरा।' जो जीते, खाते, काम करते तथा सतति उत्पन्न करते हैं, उनमें

आठ सन्धान होने ही चाहिये। क्या कोई ऐसा भी मूर्ख होगा जो समझेगा कि 'मोड़न' किया जाता है और मलत्याग न किया जायगा ? नालेके पानीकी तरह रक्तका बहना, सतति उत्पन्न करना सभी दुर्नियोंको अवगत है। हाँ, विचारणीय यह है कि जिस प्रकार यन्त्र धीरे-धीरे सुधरता है, क्या उभी प्रकार प्राणी और-से-और हो जाता है। वस्तुतः यन्त्र मनुष्यकी परिमित बुद्धिमें बनता है, उसमें अनुभवके आधारपर कुशलता होती है, इसलिये आरम्भिक और अन्तिम रूपमें अन्तर पड़ जाता है, परन्तु सर्वज्ञ परमेश्वरकी बुद्धिकी रचना मनुष्य-बुद्धि-जैसी नहीं हो सकती।

प्राणियोंके कर्मफलभोगार्थ परमेश्वर तदुचित देह बनाते हैं। जिसके जैसे कर्म, उसे वैसा ही मुख दुःख भोगना पड़ता है। उसके लिये उभी प्रकारका देह-निर्माण आवश्यक है। शरीरका बनाना यदि स्वतन्त्र प्रकृति या जीवके अधीन माना जाय तो यन्त्रका दृष्टान्त ठीक हो सकता है। पर यहाँ तो कर्मानुसार शरीर प्रदान करनेवाला ईश्वर है। अतः यन्त्रका दृष्टान्त व्यर्थ है। विकासवादीका कहना है कि 'वैज्ञानिकोंने अवतक कोई ऐसी रीति आविष्कृत नहीं की, जिसमें इन परिवर्तनोंको वे परीक्षणोंद्वारा मिट्ट कर नके और न उनको अवतक यही जात हो सका कि इस प्रकारके परिवर्तनके नियम क्या हैं ? वैज्ञानिकोंको परिवर्तनके नियम मालूम नहीं। यह भी मालूम नहीं कि परिवर्तन कैसे होता है ? परिवर्तन होते हुए भी किसीने नहीं देखा। अमुक प्राणीका अमुक प्राणी बन गया, इसे किसीने नहीं देखा। आज किसीको भी बंदरमें मनुष्य बनते नहीं देखा जाता और मनुष्यके बाद मनुष्यसे दूसरा भी कोई प्राणी उत्पन्न होते नहीं दिखायी देता। ऐसी स्थितिमें परिवर्तन सिवा कल्पनाके और कुछ भी मिट्ट नहीं होता। विज्ञानके प्रखर पण्डित भी यही कहते हैं कि 'जीवकी श्रेणियों एवं जातियोंकी उत्पत्तिका रहस्य हमको जात नहीं।' थॉम्पसनका कहना है कि 'हम नहीं जानते कि पृथ्वीपर जीवधारीकी उत्पत्ति कबसे हुई ?' दूसरा एक विद्वान् भी कहता है कि 'इस उजाड़ पृथ्वीपर प्राणीकी उत्पत्ति कैसे हुई, यह हम नहीं जानते।' कुछ तीसरे लोग टाविनके ही शब्दोंमें स्वीकार करते हैं कि 'एक जातिसे दूसरी उपजातिकी भिन्नताके नियमोंके सम्बन्धमें हमलोग कुछ नहीं जानते।'।

जातिविधान

इसी तरह विकासवादी जातिविभाग-शास्त्रके अनुसार साधर्म्य-वैधर्म्यके अनुसार प्राणिवर्गका वर्गीकरण पृष्ठवंशवारी और पृष्ठव्यवहीनोंके भेदमें करते हैं। जल्द रक्तकी परीक्षाका मिलमिला जारी हुआ। तबमें विकासवादियोंका

वर्ग-विन्यास गलन सिद्ध हो गया। अबतक लोग 'गिनी फाउल' को मुर्गीकी किस्मका समझते थे। पर अब रक्तकी परीक्षासे वह शुतुरमुर्गकी जातिका मालूम होता है। इसी तरह 'विकासवाद' के लेखकने भालूको श्वान-जातिमें लिखा है। परंतु उसके रुधिरकी परीक्षासे वह सील आदिकी भोंति जलजन्तु सिद्ध हो रहा है। इसके अतिरिक्त जब विकासवादी एक ही प्रकारके मूल प्राणीसे समस्त भूमण्डलके प्राणियोंकी उत्पत्ति मानता है, जब सबके सस्यान एक समान गिनता है और एक ही तरीकेसे विकास मानता है, तब इन सबके रुधिरकण एक ही बनावटके क्यों नहीं होते? किसी जातिके प्राणीका रुधिरकण गोल, किसीका चपटा क्यों होता है? यह रुधिरका पृथक्त्व सिद्ध करता है कि प्रत्येक जातिका शरीर भिन्न प्रकारके रुधिरकणोंसे बना होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त जातियाँ एक ही प्रकारके प्राणीसे विकसित नहीं हुईं, प्रत्युत सबकी उत्पत्ति मूलतः अलग-अलग हुई।

तुलनात्मक शरीर-रचना-शास्त्रसे विकासवादकी बहुत ही सामग्री मिलती है। बाह्यरूपमें अत्यन्त भिन्नता होनेपर भी कई प्राणियोंका जातिविभाग इस शास्त्रने एक ही वर्गमें किया है। आन्तरिक रचना-साम्यपर इसका निर्णय होता है। तदनुसार चमगादड़, हेल और गौ अनुक्रमसे नभचर, जलचर और भूमिचर होनेपर भी तीनोंका एक ही वर्गमें अन्तर्भाव किया गया है, क्योंकि तीनों ही स्तनधारी हैं। इसके अनुसार अनेक जातिके कुत्तोंमें साधर्म्य-वैधर्म्य दोनों ही मौजूद हैं। साधर्म्यसे सब कुत्ते एक ही वर्गके हैं। वैधर्म्यसे बुलडाग, ताजी और लैडी आदि अलग-अलग हैं, किंतु हैं सब एक ही पूर्व जन्तुकी सतति। इसी तरह लोमड़ी, सियार और भेड़िया वैषम्यसे अलग हैं। पर मांसभक्षण आदि साम्यसे एक ही पूर्वजन्तुकी सतति प्रतीत होते हैं। बिल्ली और बनबिलाव अलग होते हुए भी एक ही हैं। चीता, व्याघ्र, सिंह अलग-अलग होते हुए भी एक हैं। इन सबका मासाहारी, स्तनधारी कक्षामें समावेश होता है। इनमें व्याघ्र तथा सिंहके मेलसे और भेड़िये तथा कुत्तेके मेलसे सतति भी होती है। भालू भी मास-भक्षक प्राणी है। इसकी आन्तर-रचना कुत्ते, बिल्लीकी रचनासे कुछ पृथक् है। पर इसका मेल इन्हींके साथ मिलता है। मास-भक्षकोंमें बिज्जु, नेवला, ऊदबिलाव अलग-अलग होते हुए भी एक ही प्रकारके हैं। हेल मछली भी मासभक्षक है। यह जन्तु पहले स्थलचारी था, पर अब इसका पानी ही घर हो गया। इसके पैर कमजोर और नावके चपूकी भोंति हो गये। शरीरमें इसके बल भी कम होता है। यह स्तनधारी, मासभक्षी प्राणी है। स्तनधारियोंमें तीक्ष्ण दाँतवालोंका एक दल चूहा, छुछूंदर, घूस, गिलहरी, शक और स्याहीका है। ये वस्तुओंको कुतरते हैं। अतः तीक्ष्णदंती कहलाते हैं। इनमें ही उडन गिलहरी भी है। चमगादड़ भी इसी

जातिका है; किन्तु यह उड़नेवाला है। इनके पैरोंकी रचना भूमिचर जानवरोंके अगले पैरोंके तुल्य होती है। विकासवादका यह सबसे उत्तम प्रमाण समझा जाता है। स्तनधारियोंमें गाय, घोड़ा, हाथी, ऊँट, हरिण, गैंड़ा, सूअर, दरियाई घोड़ा आदि हैं। इनके मूँड़ या खुर होते हैं। इनमें खुरका माध्यम्य है। हाथीकी पाँचों अँगुलियाँ, टापीरके चार, गैंड़ेके तीन, ऊँटकी दो और घोड़ेकी एक ही होती है। यहाँ अँगुलियोंके क्रमशः हाससे विकासका अच्छा प्रमाण मिलता है। आस्ट्रेलियाका कंगारू भी विकासका अच्छा प्रमाण है। इसकी माँदीके पेटमें एक थैली होती है। माता बच्चोंको पैदा करके इसी थैलेमें रख लेती है। इस थैलेमें स्तन होते हैं। बच्चे बड़े होनेपर थैलेसे बाहर निकलने हैं। इसी तरह अमेरिकाका 'ओपोसम' होता है। उसकी भी मादाके पेटमें थैली होती है। इनके सिवा डकविल एव ईकडूना दो स्तनधारी जन्तु और भी होते हैं। ये अण्डे देते हैं, परन्तु अण्डोंको पेटमें रखनेके लिये इनके भी पेटमें थैली होती है। इस तरह स्तनधारियोंमें देखा गया है कि कई पूर्ण जरायुज, कई कंगारूकी भोंति अर्ध-जरायुज और कई डकविलकी भोंति अण्डज हैं। ये स्तनधारियों एव अण्डजोंके मध्यवर्ती प्राणी हैं।

इसी तरह पृष्ठवंशधारियोंकी दूसरी श्रेणीके पक्षी भी कई प्रकारके होते हैं। कोई दाना चुगते हैं, कोई मास खाते हैं और कोई पानीमें तैरते हैं। परिस्थितिके अनुसार उनके चोंच, पैर और झिल्लीदार पंजोंकी बनावट होती है। आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, न्यूजीलैंड और अमेरिकाका पेग्विन पक्षी भी विकासका एक श्रेष्ठ प्रमाण है। यह जहाँ रहता है, वहाँ दूसरा पक्षी नहीं रहता; इसीलिये इसकी उड़नेकी शक्ति नष्ट हो गयी। यह पानीमें तैरता है। इसके पैर नावके चप्पुओंकी तरह पानी काटनेवाले हो गये। शुतुरमुर्ग और मोरकी भी उड़नेकी शक्ति कम हो गयी, क्योंकि इन्हें किसी पक्षीका डर नहीं। यह परिस्थितिमें प्राप्त विकासके उदाहरण हैं।

पीठकी हड्डीवालोमें तीसरी जाति सर्पणशीलोकी है। इनमें गोह, सोंप, अजगर, नाकू, मगरमच्छ एवं कछुआ आदि हैं। गोहकी अनेक जातियाँ हैं, एक जातिकी गोहमें आगेके पैर नहीं होते, दूसरी जातिमें आगे-पीछे चारों पैर नहीं होते। सर्प बिना पैरका होता ही है। ये भी विकासके प्रमाण हैं। पृष्ठ-वंशवालोकी चौथी जाति है मण्डूकोंकी, यह पैदाइशसे लेकर युवावस्थातक अपनी जीवनीसे सिद्ध कर देता है कि मछलियोंसे उसकी उत्पत्ति हुई है। मछलियोंकी तरह पहले वह गलफंडोसे श्वास लेता है, फिर मुखसे। पहले उसके (मछलीकी तरह) पूँछ होती है, फिर वह लुप्त हो जाती है। पाँचवीं श्रेणी मछलियोंकी है। वे हजारों प्रकारकी होती हैं, जिससे विकासके अनुमानकी अधिक सम्भावना

रहती है । इसी तरह अस्थिरद्वित प्राणियोंके भी शरीरोंसे विकासका अनुमान होना है । ये जोड़ोंसे बने होते हैं । कनखजूरा, बिच्छू, मकड़ी, भोंरा, ततैया आदि इसी विभागके हैं । इनमें भिन्नता होते हुए भी सबके शरीर छोटे-छोटे जोड़ोंसे बने होते हैं । इनसे भी मालूम होता है कि सब एक ही मूल प्राणीसे बने हैं । इनके आगे अत्यन्त सूक्ष्म हैड्रा, अमीबा आदि प्राणी हैं । इनके भी पोषण, श्वासोच्छ्वास आदि आठो सस्थान हैं । इस तरह सब प्राणियोंमें वैधर्म्य होते हुए भी वे साधर्म्यसे रहित नहीं हैं । क्रमसे रखनेपर पहले अमीबा, हैड्रा, कनखजूरे आदि जोड़वाले कीड़े, फिर हड्डीवाली मछलियाँ, फिर मण्डूक, फिर सर्प, फिर पक्षी और अन्तमें स्तनधारियोंका स्थान ठहरता है । विकाससे इनकी आकृतिमें भिन्नता है । जैसे नये यन्त्रके बन जानेपर पुराने यन्त्र अलग हो जाते हैं, वैसे ही योग्य प्राणियोंके उत्पन्न हो जानेपर अयोग्य जातियाँ पीछे रह जाती हैं । पिछली जातियोंके अवशिष्ट अवयव इस बातकी साक्षी दे रहे हैं । मनुष्य भी स्तनधारी जन्तुओंकी श्रेणीमें है । वनमानुष, बंदर, लीमर आदि जातियाँ इसी श्रेणीकी हैं, अतः इनकी उत्पत्ति विकासवादके अनुसार ही है ।

यद्यपि आन्तर-रचनाका मिलान ठीक है, फिर भी इनकी श्रेणियाँ बाह्य रूपसे ही निर्धारित की गयी हैं । स्तनोको देखकर स्तनधारियोंकी श्रेणीका निर्णय किया है । मांस खाना, जीभसे पानी पीना, मैथुनके समय बँध जाना, पसीना न आना, अँधेरेमें भी देखना आदि सब बाहरी लक्षण हैं । इसी तरह दाँत देखकर तीक्ष्ण-दन्तवालोंकी श्रेणी बनी । इस तरह सभी विभाग प्रायः बाह्य भेदपर ही निर्भर हैं, अतः आन्तरिक रचनापर वर्ग-विभागका अहंकार व्यर्थ है । ह्वेल, चमगादड़ और गायके स्तनोको देखकर ही सबको एक श्रेणीमें रखवा गया है । जहाँ इनकी बाह्य आकृतिसे काम नहीं लिया, वही भूल हुई । भालू और गिनी फाउल-को एक मानना भूल है । उस भूलको अब रुधिर-शास्त्र सुधार रहा है, अतः केवल आन्तर रचनापर उपर्युक्त विभागकी बात असङ्गत है । शरीरके अंदर हड्डियों, नस नाडियों, यकृत-प्लीहा, गर्भाशय आदि अनेक यन्त्र हैं । पर ये क्या अस्थिहीन कीड़ोंमें भी हैं ? कुत्ते और गायके पानी पीनेके ढंगमें भेद है । कुत्ता जीभसे और गाय घूँटसे पानी पीती है, फिर भी दोनों स्तनधारी हैं । अतः आन्तर-रचना जटिल है, उसके आधारपर वर्गभेद नहीं बन सकता । अमीबासे स्तनधारियोंतककी रचनामें साम्यका पक्ष भी गलत है । यत्किंचित् साम्य तो पाञ्चभौतिक होनेसे सबमें ही है । अस्थियुक्त और अस्थिहीन प्राणियोंकी कुछ भी समानता नहीं है । यकृत, प्लीहा, गर्भाशयादि एकमें हैं, दूसरेमें नहीं । अस्थिहीनोंमें अस्थियाँ कैसे हुई, इसपर भी विकासवादी चकरा जाते हैं ।

इसपर उनकी चार कटपनाएँ हैं—(१) प्राणियोंकी मानसिक प्रेरणासे अस्थियाँ बनीं, (२) कठोर काम करते-करते जेमे मनुष्याके शरीरमें घट्टे पड़ जाते हैं, वैसे ही श्रम करनेसे प्राणियोंके देहमें अस्थियाँ बन गयीं, (३) जब चूनेके अधिकांश भागवाले पदार्थ खाये गये, तब हड्डियाँ पैदा हुईं और (४) शरीरके अंदर नस, नाडो आदि अवयव ही हड्डियाँ बन गये। परंतु ये चारो पक्ष असंगत हैं। मनका असर उसीपर पड़ता है, जिसका मनसे सम्बन्ध हो। अस्थिका मनसे कोई सम्बन्ध नहीं। दाँतपर सुई चुमानेसे मनपर कुछ भी असर नहीं पड़ता। अतः 'मानसिक प्रेरणासे अस्थियाँ बनीं,' यह नहीं कहा जा सकता। यो तो सम्पूर्ण ससार ही मनकी कल्पना है, फिर अस्थि ही क्यों? घट्टोका दृष्टान्त भी ठीक नहीं, क्योंकि बाहरी वस्तुके संघर्षसे बाहरी ही कठोरता आती है। बाह्य संघर्षसे शरीरके अंदर हड्डियाँ कैसे बनेगी? चूनेवाले भोजनसे भी हड्डियाँ नहीं बन सकतीं। सभी जानते हैं कि 'खूनसे हड्डियाँ पैदा होती हैं,' परंतु लाखों जूँ, चूँ, चूँ, कीलने, खटमल मनुष्यों, पशुओंके खून पीते हैं, जोके खून पीती ह, परंतु उनमें हड्डी नहीं बनी। चींटियाँ हड्डियोंको चुनकर खाती हैं, उनमें भी हड्डी पैदा नहीं हुई। 'नस-नाडियों हड्डी बन जाती हैं' यह भी बात युक्तिहीन है। बच्चेके मुखमें पहले दाँत नहा होते, कुछ दिन बाद दाँत निकल आते हैं। यदि नस-नाडियोंका दाँत बन जाना मानें तो उबर थोड़े ही दिनोंमें वे दाँत गिर जाते हैं। गिरते समय नस-नाडियोंसे उनका कोई लगाव प्रतीत नहीं होता। कुछ दिनों बाद फिर नये दाँत निकलते हैं, यदि पहली नस-नाडियों चली गयीं तो यह दूसरी कहाँसे आयीं? वृद्ध होनेपर वे दाँत भी चले जाते हैं, तब भी किसी नस नाडीका लगाव मालूम नहीं होता। डाक्टर भी दाँत निकाल देते हैं, पर उनके साथ नस आदि कोई चीज नहीं निकलती। दाँत तो कीलोंकी तरह गड़े होते हैं, शरीर या किसी दूसरे अङ्गसे उनका वास्ता नहीं प्रतीत होता।

इसी तरह भीतरका सारा अस्थिपञ्जर अलग ही प्रतीत होता है, उसका वास्ता नस नाडी, मांस, त्वचा किसीसे नहीं। फिर ऐसी निराली वस्तुको अस्थिहीन प्राणियोंने कैसे प्राप्त किया? विकासवादी कहते हैं कि 'परिस्थितियोंसे ही हड्डियाँ उत्पन्न हुईं,' परंतु परिस्थिति भी हड्डी बनानेमें असमर्थ है। भाई-बहन दोनों एक ही परिस्थितिमें उत्पन्न होते और बढ़ते हैं। पर बहनके मुखपर दाढ़ी-मूँछका नाम भी नहीं होता। हाथी-हथिनी दोनों एक स्थितिमें उत्पन्न होते हैं, परंतु हथिनीके मुँहमें बड़े दाँत नहीं होते। मयूर-मयूरी, मुर्गा-मुर्गी समान परिस्थितिमें पैदा होते हैं, पर मादाके वे सुन्दर पंख और कँठगी नहीं होती, जो नरमें होती हैं। क्या यहाँ परिस्थितिमें कोई अन्तर सिद्ध हो सकता है? फिर कैसे किमीमें हज़ी हो और अन्यमें न हो? 'मुश्न' आदि आयुर्वेद

ग्रन्थोसे मान्य होता है कि 'दो स्त्रियोंके परस्पर मैथुन करनेसे यदि किसीके गर्भमें बीज चला गया, तो उस गर्भसे अस्थिविहीन शिशु उत्पन्न होता है।' इसी तरह 'कोई ऋतुस्नाता स्त्री यदि स्वप्नमे मैथुन करे तो वायुद्वारा आर्तव खिंचकर गर्भमें धारित होता है। वही अस्थिहीन मांस-पिण्डके रूपमे उत्पन्न होता है। केश-श्मश्रु, लोम, नख-इन्त, शिर-धमनी, स्नायु, शुक्र—ये सब पितृज गुण होते हैं। इसी कारण स्त्रीको दाढ़ी-मूँछ, मयूरीको पूँछ, मुर्गीको कलंगी और हथिनीके दाँत नहीं होते। पुरुषमें क्यों ये कठिन पदार्थ होते हैं और स्त्रीमें क्यों नहीं होते? अमीवामें कौन स्त्री है एवं कौन पुरुष, किस प्रकार उसका वंश चला, फिर नर-मादा-भेद कैसे हुआ, अस्थिहीन और अस्थियुक्त यह भेद कैसे हुआ? इनका विकासवादमें कोई भी यथार्थ उत्तर नहीं। अतः शरीर-तुलनाकी दृष्टिसे अस्थिहीनोका अस्थिवालोसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं। कहा जाता है कि 'एक कोष्ठवाला अमीवा दो कोष्ठवाला हैड़ा बन गया, क्योंकि विकास-सिद्धान्तानुसार कोष्ठ हमेशा दुगुने परिणाममें बढ़ता है अर्थात् एकके दो, दोके चार, चारके आठ और आठके सोलह हो जाते हैं।' इसके अनुसार प्रत्येक उत्तरोत्तर योनियाँ आकार और वजनमें पूर्वकी अपेक्षा दूनी, चौगुनी, अठगुनी होनी चाहिये। पर ऐसा देखनेमें नहीं आता। स्थिति तो यह है कि अमीवा हर जगहसे अपने अंदर छेद कर लेता है। इससे वह एक कोष्ठका भी नहीं प्रतीत होता। यदि एक कोष्ठ हर जगहसे फटता है तो उसका चेतन-रस—प्रोटोप्लाज्म—वह जाना चाहिये, किंतु ऐसा नहीं होता। इस तरह अमीवासे लेकर जोड़वालोंतक और जोड़वालोसे लेकर अस्थिवालोंतक कोई भी तुलना नहीं। स्तनोका विज्ञान क्या है, यह भी विचारणीय है। ये स्तन नरोमें क्यों नहीं होते, इसका कोई उत्तर नहीं। अमीवाके भी आकार-प्रकारका ज्ञान वैज्ञानिकोको नहीं। वह एक कोष्ठवाला है या अनेक कोष्ठवाला और कोष्ठका क्या विज्ञान है, उसमें नर-मादेका क्या विज्ञान है, इन कोष्ठोसे उत्तर योनियोका किस प्रकार विकास होता है, यह भी विकासवादी सिद्ध नहीं कर पाते। जोड़वालो और अस्थिवालोंके बीचमें भी कोई प्राणी है या नहीं, इसे भी वे नहीं जानते। अस्थिकी उत्पत्ति विकासद्वारा असम्भव है, यह बतलाया जा चुका है। घोड़ेमें स्तनोका अभाव क्यों, यह भी विचारणीय ही है। इस तरह शरीर-तुलना-शास्त्रसे विकास सिद्ध नहीं होता।

परिस्थितिवश प्राणियोके अङ्गोका हास-विकास कहा जाता है। 'ओपोसम, डकबिल, पेग्विन, मोर, हवेल, शुतुरमुर्गके शरीरोमे ऐसे चिह्न पाये जाते हैं, जिनसे परिस्थितिवश शरीरोमे हास-विकास सिद्ध होता है।' परंतु 'उक्त प्राणियोके अङ्गोमें हास-विकास हुआ' यह विकासवादी किस प्रमाणसे कहते हैं? यह

कहना वही अधिक प्रामाणिक है कि उन-उन प्राणियोंके कर्मानुसार मुख दुःख भोगार्थ परमेश्वरने ही उन्हें वेमे-वेमे अन्न दिये। 'हैल्ले' पर कमजोर हो गये, मोर, शुनुरमुर्गके पक्ष कमजोर हो गये, परन्तु यदि इससे पहले कमी के जोरदार परवाले और पंखवाले देखे गये होते तो कुछ कल्पना भी हो सकती थी। जब पानीमें तैरनेका काम देते हैं, तब इस कल्पनामें क्या प्रमाण है कि 'पहले वह स्थलचारी था, अब पानीमें रहनेमे पर कमजोर हो गये?' इसी तरह मोर, शुनुरमुर्ग है। वे डील-डौलमें बड़े हैं, इनको पक्षियोंसे डर नहीं। फिर भी स्थलचारियोंसे बचनेके लिये उनके पक्ष हैं अतः परिस्थितिके कारण पर कमजोर हैं। यह भी कहना व्यर्थ है। आज भी कुत्ता भोगको नोच डालता है, फिर यह कैसे समझ लिया कि 'उसका कोई शत्रु नहीं है, उड़नेका काम न पड़नेसे पक्ष कमजोर हो गये?' 'पक्षियोंमें स्तनधारी बने' यह कल्पना भी व्यर्थ है। जब उड़नेकी अधूरी विमान-विद्यासे भी मनुष्य प्रसन्न है, तब पक्ष पाकर भी पक्षी उड़न-विद्याको क्यों छोड़ेगे? 'पक्षियोंका कोई शत्रु नहीं' क्या ऐसा कोई समझदार व्यक्ति कह सकता है? यदि आज भी पक्षियोंके शत्रु हैं ही, तो वे अपने पक्षोंको बर्बाद कर पशु क्यों बन गये? परिस्थितिसे न अन्न लुप्त होते हैं और न तो नये उत्पन्न होते हैं। यदि परिस्थिति ही सब कुछ थी तो हथिनीका दाँत क्यों नहीं हुए? हथिनी और हाथी दोनों समान स्थितिमें थे ही। वस्तुतः प्राणियोंके जाति, आयु और भोग उनके कर्मानुसार ईश्वरद्वारा ही प्राप्त होते हैं।

'भिन्न जातियोंके मिश्रणसे वंश चलता है' यह पक्ष भी गलत है। अनेकों जातियोंका परस्पर मैथुन व्यर्थ होता है। कुछसे मृताने उत्पन्न होती हैं, पर वंश नहीं चलता। जिनमें वंश चलता है, वे अत्यन्त भिन्न जातियोंके नहीं, अपितु समान जातियोंके ही होते हैं। सिंह-व्याघ्र एवं कुत्ते-भेड़ियोंके मेलने मतानोत्पत्ति यद्यपि होती है तो भी उनका आगे वंश नहीं चलता। देखते हैं कि घोड़े-गादहेमे खच्चर उत्पन्न होते हैं, परन्तु उनमें वंश नहीं चलता। यही स्थिति कलमी आम, पेवदी बेरकी भी है। यदि कलमी आमसे वृक्ष पैदा हुए या सिंह-व्याघ्रके मेलने वंश चला तो भी आगे चलकर वे मूलजातियोंके रूपमें ही हो जाते हैं, धीरे-धीरे या तो व्याघ्र या सिंहकी ही शकलमें हो जाते हैं। कलमी आम भी छोटा होते-होते तुलसी आमके ही आकारका हो जाता है। विकाससे अलग जाति उत्पन्न हो सकती है, परन्तु वंश नहीं चलता। वच्चा तो दो स्त्रियोंके अन्योन्य मैथुनसे भी उत्पन्न होता है, परन्तु उसमें हड्डी नहीं होती, वंश नहीं चलता। अमेरिकामें विद्वान् लूथर बर्कने बहुतसे वृक्षोंकी कलमोंसे अनेक प्रकारके फल-फूल उत्पन्न किये हैं। वहाँ भी सजातीय मिश्रणमें ही सततिका सिद्धान्त स्थिर है। समान जाति और समान

भोगवालोके ही सम्बन्धसे संतान उत्पन्न होती है और वश चलता है। अतएव मास खानेवालो और घास खानेवालोके सम्बन्धसे भी वश नहीं चलता।

प्रायः जाति, आयु, भोगके साथ ही प्रसवका सम्बन्ध रहता है। भोगोके सम्बन्धमे परिस्थितिवादी कह सकता है कि 'अमुक जातिको जब जीनेके लिये खुराक न मिली, तब वह मास खाने लगी।' परंतु प्रत्येक जातिकी नियत आयुका क्या कारण है, यह विकासवादी नहीं बतला सकता। मनुष्य, बंदर, गाय, बकरी, ऊँट, गधा और छोटे कीड़ोकी आयुका महान् अन्तर है। मनुष्यके समान ही उससे भी बलवान् पशुओकी सौ वर्षकी आयु क्यों नहीं, इसका उत्तर भी विकासवादसे बाहर है। विकासवादके अनुसार पृष्ठवंशधारी प्राणियोमें कच्छप एव सर्प भी सर्पणशीलोकी श्रेणीमें हैं। आयुष्शास्त्रियोके मतानुसार कछुवा १५० वर्ष जीता है और सर्प १२० वर्ष जीता है। विकासवादके अनुसार सर्पणशील प्राणी ही पक्षी बने हैं, परंतु पक्षियोमें कबूतर ८ ही वर्ष जीता है। पक्षियोका विकास स्तनधारी प्राणी है, उनमें शशक ८ वर्ष, कुत्ता १४ वर्ष, घोड़ा ३२ वर्ष, बंदर २१ और मनुष्य १०० वर्ष जीता है। यहाँ स्पष्ट ही विकासमे आयुका हास हो रहा है। दीर्घायु कच्छप एव सर्पको पराजित करनेवाला कबूतर ८ ही वर्ष जीता है। इससे भी योग्य प्राणी शशक, कुत्ता, घोड़ा भी क्रमशः ८, १४ और ३२ ही वर्ष जीते हैं। मनुष्योका जिसे पूर्वज कहा जाता है, उस बदरकी आयु २१ वर्ष ही है। मनुष्य भी तो कच्छप एव सर्पसे कम ही जीता है। विकासवादका कहना है कि 'जीवन संग्राममें योग्य ही रह जाता है, उसीसे नवीन जातियोका प्रादुर्भाव होता है, परंतु जीनेके लिये संग्राम करके विकसित होकर और योग्यता प्राप्त करके भी प्राणी उलटे मृत्युके अधिक निकट पहुँच गये। जो पहिलेके और सरलरचनाके हैं, वे अधिक जीते हैं तथा जो क्लिष्ट रचनाके हैं और बाढ़के हैं, वे कम जीते हैं। यह क्या मशीनोका सुधार है कि जो पहली १२० या १५० वर्षकी थी, वही सुधरी हुई मशीन ८ ही वर्ष टिकने लगी। यह अच्छा यान्त्रिक विकास है।

शतमायुर्मनुष्याणां गजाना परम स्मृतम् ।

चतुस्त्रिंशत् वर्षाणामश्वस्यायुः परं स्मृतम् ॥

पञ्चविंशति वर्षाणि परमायुर्वृषोद्भयोः ।

यह भी स्पष्ट है कि एक मिनटमें शशक ३८, कबूतर ३६, बानर ३२, कुत्ता २९, बकरी २४, बिल्ली २५, घोड़ा १९, मनुष्य १३, हाथी १२, सर्प ८ और कछुआ ५ बार श्वांम लेना है। यह भी विचारणीय है कि 'अभिनवतम मशीन बन जानेपर पुरानी मशीनोका बनना बंद हो जाता है।' परंतु यहाँ तो मनुष्यके विकसित हो जानेपर भी पुराने कीड़े-मकोड़ोंके बननेमे किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं

हुई । मनुष्योंसे करोड़ों गुने अधिक गिजाई, मच्छर, मकोड़े तथा जलजन्तु हैं । सर्पणगील जन्तु तो पक्षी हो गये, परंतु जोड़वाले कीड़ों, भौरों, ततैया, मक्खी आदिके पक्ष किस तरह हो गये ? उड़नेवाली मछलियोंको पक्ष किस तरह पैदा हो गये ? इनसे पक्षियोंके शरीरकी तुलना कैसे होगी ? कृमियों, मछलियोंके साथ पक्षियोंका सम्बन्ध कैसे हुआ ? क्या कोई पक्षी इन पक्षधारी कीड़ों एवं मछलियोंसे वंश चलायेगा ? क्या बदर और मनुष्यसे वंश स्थापित होगा ?

यह तो हो सकता है कि पहले सादी रचनावाले प्राणी बने हों और बादमें क्लिष्ट रचनावाले प्राणी, किंतु सादी रचनावाले ही क्लिष्ट रचनावाले हो जाते हैं, यह कहना निष्प्रमाण है । वैसे तो कीटावस्थामें भी उड़नेवाले कीड़ों और मछलियोंकी पक्षियों-जैसी क्लिष्ट रचना देखी जाती है । कनखजूरे सरीखी क्लिष्ट रचना साँपकी नहीं होती, तितलियोंकी-सी कारीगरी कौओंमें नहीं पायी जाती; परंतु विकासवादके अनुसार तितली और कनखजूरा कौवे तथा साँपसे पहले ही उत्पन्न हो गये । ऐसी स्थितिमें सादी और क्लिष्ट रचनाका कुछ भी मूल्य नहीं रहता । यदि विकासवाद तितलीकी रचनाको क्लिष्ट रचना न माने, केवल अस्थिवाले प्राणियोंकी ही रचनाको क्लिष्ट रचना कहे तो यह भी निराधार है । देखनेमें तो अस्थिवाले प्राणियोंसे वृक्षोंकी ही रचना अधिक क्लिष्ट है । विचित्र पत्रों, पुष्पों, स्तवकों, फलोंकी सुन्दरता, सरसता, मधुरता अस्थिवाले उष्ट्रमें कहाँ है ? मनुष्यका शरीर भी वृक्षोंकी शाखाओं, उपशाखाओं, पत्तियों, पुष्पों, फलोंकी विचित्रताके सामने नगण्य है । एक फूलके रंग, बनावट और सुगंधके सामने मनुष्य-रचनाका कोई महत्त्व नहीं, परंतु पशुओं, पक्षियों-जैसी स्वतन्त्रता और मनुष्य-जैसा ज्ञान वृक्षोंमें नहीं है । इसीलिये वे सादी रचनावाले समझे जा सकते हैं । कर्मानुसार प्राणी ही भोग्य और भोक्ता होता है । सादी रचनावाले भोग्य और क्लिष्ट रचनावाले भोक्ता होते हैं । वनस्पति यदि भागनेमें स्वतन्त्र हो तो पशु कैसे जी सकते हैं ? घोड़ा यदि मनुष्यसे अधिक बुद्धिमान हो तो वह सगरीके काम कैसे आ सकता है ? उन व्यवस्थाके अनुसार पहले वनस्पति फिर पशु उत्पन्न होते हैं । पशुओंमें ही हाथीसे लेकर कृमिपर्यन्त आ जाते हैं, अन्तमें मनुष्यकी उत्पत्ति हुई । यह सिद्धान्त अति प्राचीन है और वेदों, उपनिषदों आदिद्वारा स्वीकृत है—भगवान् ने अपनी अजा-मायाशक्तिके द्वारा विविध प्रकारके वृक्ष, सरीसृप, पशु, खग, दश, मत्स्य आदि शरीररूपी पुरोंको बनाया तो भी उनसे सतुष्ट न हुए । किन्तु ब्रह्मज्ञान-सम्पादनयोग्य मनुष्यको बनाकर सतुष्ट हुए ।

मृदा पुराणि त्रिविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगद्वयमस्यात्

तैस्तैस्तुष्टहृदय.

पुरुषं

विधाय

ब्रह्मावलोकधिपणं

मुदमाप

देवः ॥

(भागवत ११ । ९ । २८)

कहा जाता है कि संसारमें जितने प्राणी मिलते हैं, सब अनादि नहीं हैं । पहले सीधी-सादी रचना हुई, पश्चात् क्लिष्ट रचनावाले प्राणी बने । भारतमें व्याघ्र, सिंह होते हैं, इंग्लैण्डमें नहीं होते । साँप, बिच्छू आदि उष्ण-प्रदेशोंमें होते हैं, यूरोपके शीत-प्रदेशोंमें नहीं होते । जिराफ अफ्रीकामें और मोर भारतमें ही होते हैं । जैसी भिन्नता पशु-पक्षियों, वनस्पतियोंमें होती है, वैसी ही मनुष्योंमें भी होती है । आस्ट्रेलियामें यूरोपियनोंके जानेके पहले खरगोश नहीं थे, बादमें जहाजसे पहुँचाये जानेपर वहाँ खरगोशोंकी बहुतायत होती गयी । गेलापेगस द्वीप विचित्र प्राणियोंके लिये प्रसिद्ध है । वहाँ गोह, गिरगिट, छिपकली, सर्प तथा पक्षी-श्रेणीके जन्तु बहुत हैं । इस प्रकारके जन्तु अफ्रीका, भारत, अमेरिकामें भी विद्यमान हैं, परन्तु सबकी अपेक्षा अमेरिकाके प्राणियोंके साथ गेलापेगसवाले प्राणियोंका अधिक मेल है । ये अमेरिका निवासियोंके वंशज हैं । अमेरिका इस द्वीपके समीप है, इससे मालूम होता है कि कभी पूर्वमें जब अमेरिका और इस द्वीपकी भूमि मिली रही होगी, तब अमेरिकासे प्राणी जाकर वहाँ रहने लगे होंगे । एक द्वीपसे दूसरे द्वीपमें, दूसरेसे तीसरेमें बसे । परिस्थितियोंके कारण कुछ भिन्नता हो जाती है । वस्तुतः वे सब एक ही पूर्वजोंकी संतति हैं । अफ्रीकाके समीप स्थित नर्स द्वीपके प्राणियोंकी अफ्रीकाके प्राणियोंके साथ बहुत कुछ तुल्यता है । प्रशान्त महासागर (पैसिफिक) के द्वीपोंमें घोघोंकी अनेक जातियाँ हैं । भूगर्भशास्त्री यह बतलाते हैं कि पूर्वकालमें इन द्वीप-समूहोंकी भूमि एकमें जुड़ी थी । अर्थात् यह पहले महाद्वीप था, इसीसे सब घोघोंका मेल है । सब एक ही पिताकी संतति हैं ।

किन्हीं दो देशोंके प्राणियोंकी भिन्नता और समानता दोनों प्रदेशोंकी दूरता और निकटतापर अवलम्बित है । दूर होनेसे भिन्नता होगी, समीपसे समता होगी, किंतु कभी-कभी दूरस्थ प्राणियोंमें बहुत अधिक समानता होती है । जैसे ब्रिटेन और जापानमें बहुत अन्तर होनेपर भी इन देशोंके प्राणियोंमें बहुत समानता है । आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड बहुत पास पास हैं, परन्तु वहाँके प्राणियोंमें बहुत बड़ा वैषम्य है । अतः इनकी भेदक प्रकृति ही है । यदि दो नजदीकके स्थानोंको कोई पहाड़ जुदा करे तो एक जगहके नदी-नालेवाली मछलियाँ जैसी होंगी, उसी तरहकी दूसरी जगहवाली नहीं होगी, क्योंकि मछलियाँ पहाड़ लँघकर नहीं जा सकती । इसीलिये समीप होते हुए भी उन जीवोंमें एक-त्पत्ता नहीं होता । दूर-देश होनेपर भी यदि गमनागमन रहे तो समता अधिक

रहती है। ऐसे प्रमाणोंको देखकर विकासवादी कहते हैं कि 'सब प्रकारके जीवित प्राणी एक ही जातिके आद्यवर्गजोसे उत्पन्न हुए हैं। इनके भिन्न-भिन्न रूप परिस्थितियोंके अनुरूप बनते हैं।'

परंतु उपर्युक्त बातें विकासवादके लिये भयंकर हैं। जब प्रकृति हर जगह मौजूद है, हर जगहके लिये जलवायु अनुकूल है, तब वहाँ अमीबा पैदा होकर कोई नयी जाति क्यों नहीं बना डालता ? क्यों पुरानी ही सृष्टिके प्राणियोंमें विकासवादकी स्वच्छन्द प्रकृति मत्था मार रही है ? भिन्न देशोंके प्राणियोंकी समता सबके एक ही वर्गके होनेकी सूचना देती है। परंतु यदि भिन्न देशोंके प्राणियोंकी समता इस तरह की जाय कि बिल्ली और कुत्ता स्तनधारी एवं मांसभक्षी हैं, अतः एक देशकी बिल्ली और दूसरे देशके कुत्तेको देखकर कहा दिया जाय कि दोनों ही प्राणी एक ही पिताकी सतान हैं, तो क्या ठीक होगा ? किंतु यदि बुल्डॉग, ताजी आदि कुत्तेको देखकर कहा जाय कि 'एक ही पिताके पुत्र हैं', तो सत्य होगा। अतः केवल रचना देखकर ही एक होनेका अनुमान नहीं किया जाना चाहिये। प्रत्युत समान प्रसव, समान भोग एवं समान आयुका मेल मिलनेसे ही दोनोंके एक पिताके सतान होनेका निर्णय किया जा सकता है।

कहा जाता है कि डार्विनको टेरोडेल्फिगोमें जब खर्वाकार मनुष्य दिखलायी पड़े, तब वह विश्वास ही न कर सका कि ये भी मनुष्य ही हैं। जब उसने गोरिल्ला और शिपेजी आदि वनमानुषोंको देखा, तब चिल्ला उठा कि 'ये भी एक प्रकारके मनुष्य ही हैं।' डार्विनके इस भ्रमका कारण यही था कि उसने केवल आकृतिसाम्यपर ही विश्वास किया, किंतु उस सृष्टि नियममें समान-प्रसवका नियम आवश्यक है। तदनुसार खर्वाकार-दीर्घाकार मनुष्योंके संयोगसे संतति होती है, परंतु मनुष्यों और वनमानुषोंके योगसे संतति नहीं होती। अतः पहले दोनों एक जातिके हैं और दूसरे भिन्न जातिके। इसीलिये यद्यपि घोड़े और गधेमें मनुष्यों और वनमानुषोंकी अपेक्षा अधिक समानता है, फिर भी खच्चरकी वंश परम्परा नहीं चलती। अतः घोड़े-गधे एक जातिके नहीं हैं। यह तो एक आस्तिकको स्वीकृत हो सकता है कि एक ही जगह सृष्टि हुई और वहाँसे सब जगह जा-जाकर प्राणी आवाद हुए; परंतु 'सब अमीबाका ही विकास है' यह सिद्धान्त सर्वथा असंगत है। जैसे विभिन्न वनस्पतियोंके बीज पृथक्-पृथक् होते हैं, वैसे ही सब प्राणियोंके बीज भी पृथक् ही थे। समानताका कारण दूरता एवं निकटता नहीं, किंतु वंश और परिस्थिति ही कारण है।

परिस्थितिके कारण ही बुल्डॉग, ताजी आदि कुत्तामें भेद होता है। परंतु

परिस्थितिवश सॉप ऊँट नहीं हो जाता। यदि एक ही प्राणीका यन्त्रोकी तरह अनेक योनियोंमें विभाग माना जाय तो अनेक आपत्तियाँ होगी।

१-एक कोष्ठके अमीवामें स्त्री और पुरुष यह भेद कैसे हुआ ?

२-यदि अमीवाके बाद दो कोष्ठका हाइड्रा हुआ, तो क्रमसे उत्तरोत्तर सभी योनियों दुगुने परिमाणसे बढ़नी चाहिये अर्थात् वजन और आकार आदि उत्तरोत्तर दुगुने होने चाहिये। फिर तो मनुष्यको हाथी, ऊँट आदिसे कई गुना बड़ा होना चाहिये। पखधारी प्राणी सर्पणशील प्राणियोंके बाद होता है, फिर तितली आदि कृमि पखधारी कैसे हो गये ? अस्थियोंकी उत्पत्ति कैसे हुई ? अस्थिहीनोंसे अस्थिवालोकी उत्पत्ति कैसे हुई ? जब पक्षी, जल-जन्तु एव कीड़ेतक मांसाहारी होते हैं, तब मांसाहारियोंका समावेश स्तनधारियोंमें ही क्यों किया गया ? एक ही परिस्थितिमें उत्पन्न होनेपर भी स्त्रियोंको दाढ़ी-मूँछ क्यों नहीं ? मयूरीको लंबी पूँछ क्यों नहीं ? मुर्गाके सिरपर कलंगी क्यों नहीं और हथिनीको बड़े दाँत क्यों नहीं ? प्राणियोंके दाँतोंकी संख्यामें न्यूनाधिकता क्यों ? घास खानेवाले स्तनधारियोंमें गाय, भैंसके ऊपरी दाँत क्यों नहीं ? घोड़ेके ऊपरी दाँत भी क्यों होते हैं ? कुत्तेके दूधके दाँत क्यों नहीं गिरते ? घोड़ेके स्तन क्यों नहीं होते ? बैलके स्तन अंडकोषोंके पास क्यों होते हैं ? पुरुषोंमें स्तनोका क्या प्रयोजन है ? घोड़ेके पैरमें परोके चिह्न क्यों हैं ? बच्चा पैदा होते समय घोड़ीकी जीभ क्यों गिर जाती है और दूसरे जानवरोंकी जीभ क्यों नहीं गिरती ? स्त्री जाति अस्थियाँ क्यों नहीं उत्पन्न कर सकती ? यदि यन्त्रके सिद्धान्तपर प्राणियोंका विकास हुआ है तो कछुए और सोंपकी अपेक्षा पक्षी और स्तनधारी क्यों कम जीते हैं ? अधिक जीनेवालोंका कम जीनेवालोंसे गर्भवास कम क्यों है ? अतः परिस्थितिसे ही प्राणी एक जातिसे अन्य जातिका नहीं हो जाता। कोई प्राणी अपनी मूलजातिसे इतनी दूर नहीं हो सकता जहाँ समान-प्रसव, समान-भोग, समान आयुका सिलसिला भी बंद हो जाय। स्त्री पुरुषकी बनावट भी परिस्थितिके सिद्धान्तका खण्डन करती है। आयुके सिद्धान्तसे ही यान्त्रिक सिद्धान्त खण्डित होता है।

लुप्त-जन्तु

यह भी कहा जाता है कि 'पृथ्वीकी तहोमें लुप्त हुए पाषाणमय प्राणियोंकी खोजसे भी विकास सिद्ध होता है। प्राणियोंकी शृङ्खलाकी कुछ कड़ियाँ नहीं मिलती क्योंकि वे आज लुप्त हो चुकी हैं। 'लुप्त-जन्तु-शास्त्र' से वर्तमान-कालमें अविद्यमान लुप्त जन्तुओंका पता लगाया जाता है। एल० म्यूजियममें घोड़ेकी, साउथ कैन्सिगटनमें हाथी-दाँतोंकी, ब्रूसेल्समें इग्गेनोडसकी और निन्टर् पेलेम, न्यूयार्क, लन्डन, जेयनामें अन्य प्राणियोंकी पाषाणीभूत

प्राप्त अस्थियाँ एकत्र की गयी हैं । घोड़ेकी ममस्त कडियाँ ठीक हो गयी हैं । 'आर्किओप्टेरिक्स' नामका एक ऐसा प्राणी मिला है जिससे सर्ववर्ग और पक्षीवर्गों के बीचकी कड़ी सिद्ध हो जाती है । अस्थिहीन प्राणी मरनेपर मिट्टीमें मिल जाते हैं । पर अस्थियुक्त प्राणियोंकी हड्डियाँ मिट्टीमें नष्ट नहीं हो जाती, हजारों वर्ष पुरानी हड्डियाँ मिलती हैं । इन्हे ही 'फौसिल' कहते हैं । इनसे सब कडियाँ पूरी हो सकती थीं, परंतु पृथ्वीके अविक भागमें समुद्र होनेके कारण एव शीत-उष्ण कटिवधोंमें सर्दी-गर्मीकी अधिकताके कारण खुदाईका काम हो ही नहीं सकता । अच्छे स्थानोंसे भी कुत्ते, शृगाल आदि अस्थियोंको नष्ट कर देते हैं । इन्हीं कारणोंसे 'लुप्त जन्तु-शास्त्र'के पूर्ण प्रमाण नहीं मिलते । प्राकृतिक परिवर्तनों, नदियोंके कटावों, अग्नि, प्रपातोंसे बहुत-सी हड्डियाँ नष्ट गयीं; बहुत-सी जल गयीं, बहुत-सी पिघल जाती हैं । बिना हड्डीवाले जन्तु तो मिल ही जाते हैं । पृथ्वीकी विभिन्न तहोंमें उपलब्ध अस्थियोंसे उन प्राणियोंके समयका निर्णय करना 'लुप्त-जन्तु-शास्त्र'का मुख्य विषय है ।

“परंतु पृथ्वीकी आयुका निर्णय करनेके लिये कात्पनिक सिद्धान्तोंके अतिरिक्त वैज्ञानिकोंके पास कोई प्रबल साधन नहीं है । पृथ्वीकी आयुके सम्बन्धमें भूगर्भ-शास्त्रके अनुसार प्राणियोंकी उत्पत्तिसे अबतक (दस करोड़) वर्ष हुए । वैज्ञानिक सूर्यकी गरमीके आधारपर जो समय निकालते हैं, वह इससे कम है, किंतु प्रो० पेरीने रेडियमकी खोजसे जो समय निकाला है, वह बहुत अधिक है । भूगर्भ-विद्याके अनुसार पृथ्वीकी चार तहें हैं । सबसे निचली तहमें हड्डीरहित प्राणी रहे होंगे । दूसरी तहमें प्राणियोंकी अस्थियाँ हैं, पर वे प्राणी मत्स्य-मण्डूक श्रेणीके हैं । तीसरी तहमें उन्नत प्राणियोंकी भी अस्थियाँ पायी जाती हैं । चौथी तहमें वर्तमान कालके सभी प्रकारके प्राणियोंके अवशेष पाये जाते हैं । इससे सिद्ध होता है कि जिस कालमें जो प्राणी थे केवल वही थे और बड़े विशालकाय थे । उनकी अनेक उपजातियाँ भी थीं । जब मत्स्य थे, तब सर्प नहीं थे । सर्पके समयमें सब सर्प ही थे । किसी समय अनेक जातिकी छिपकलियाँ थीं, जो ८० मनतककी बतलायी जाती हैं, यह उनकी हड्डियों देखनेसे सिद्ध होता है । मिस्र देशमें प्राणियोंके सिर भी मिलते हैं, जिनमें मास, चर्म-नस, नाड़ी आदि सभी अवयव विद्यमान हैं । 'मत्स्यपुराण'में आयी उडनेवाले सर्पोंकी कथा गलत नहीं ।

“इन सर्प-श्रेणीके पक्षियोंसे ही पक्षियोंकी उत्पत्ति हुई है । जर्मनीमें पायागोभीभूत घोघोंके कवच अनेक तहोंमें मिलते हैं । उनसे विकास-क्रमका पता लगता है । घोड़ेके विकासका भी क्रम मिलता है । भिन्न-भिन्न तहोंमें मिले हुए प्राणियोंके पंजों और मुँहों (घोड़ोंके अवयव-विशेष) के मिलानसे पता लगता है कि

‘घोड़े किन प्राणियोंसे विकसित होकर इस रूपमें आये हैं ।’ ऊपरकी तहमें वर्तमान घोड़े-जैसा ही जन्तु मिलता है । मध्य-स्तरमें वह ३-४ अंगुलीवाला मिलता है । निचली तहमें उसका आकार शशकके समान और ५ अंगुलीवाले पजोंका मिलता है । गाय, भैंसको पाँचमेंसे जिस तरह चार ही अंगुलियाँ रह गयीं, उसी तरह इस जानवरकी भी अंगुलियाँ क्रमशः घटते-घटते वीचकी अंगुली टाप बन गयी । घोड़ेके आदिपूर्वजका अबतक पता नहीं लगा; परंतु ज्ञात होता है कि वह पाँच अंगुलीवाला था । इसी तरह हाथी और हरिणके आद्यवशजोंसे लेकर वर्तमान समयतककी विकासपरम्परा ज्ञात होती है । लुप्त कड़ियोंका उदाहरण ‘ओप्टेरिक्स’ है । यह पखयुक्त उड़नेवाला सर्प है । इसका सिर छोटा, जबड़ा बड़ा और दाँत सोंप जैसे हैं; परंतु पंख एव पंजे पक्षियों-सरीखे हैं । इसी तरह एक प्राणी ‘टेरोडिक्टिल’ है । इसके हाथोंकी एक-एक अंगुली बहुत बड़ी है, जिससे पखको सहारा मिलता है । इसमें सर्प, पक्षी तथा स्तनधारियोंकी थोड़ी-थोड़ी बातें मिली हुई हैं । इसी प्रकार कंगारू, ओपोसम आदि इस अन्वेषणमें सहायक हैं ।”

उपर्युक्त बातोंपर विचार करनेपर भी विकास सिद्ध नहीं होता । यह सिद्ध है कि वर्तमान साधनोंसे पृथ्वीकी आयुका पता नहीं लगता और सारी पृथ्वीका खोजना भी सम्भव नहीं । अस्थियोंका नष्ट हो जाना, पिघल जाना आदि भी सम्भव है । फिर इस लुप्त-शास्त्रके बलपर विकासवाद कैसे सिद्ध होगा ? अस्थियोंके मेलका सिद्धान्त भी गलत है । यदि घोड़ा, गधा, जेब्रा एक ही जगह मिले तो विकासवादी तीनोंके पंजरोको एक ही कह सकता है । फिर भी तीनों एक नहीं, अतः अस्थियोंके मेल मिलाकर शृङ्खला मिलाना असंगत है । ‘घोड़ेकी कड़ियाँ मिल गयीं’ यह बात भी गलत है । घोड़ेकी कड़ियोंपर विकासवादियोंका दृढ़ विश्वास है । यूरोप, अमेरिकाकी खुदाईसे मिले हुए भिन्न समयोंके विचित्र जातिके अस्थि-पंजरोको मिलाकर यह दिखलानेकी कोशिश की जाती है कि ‘ये सब घोड़ेके पूर्वज उसके विकासकी कड़ियाँ हैं ।’ हक्सले साहबने इसे महत्त्व दिया है; परंतु आधुनिक खोजसे इसका खण्डन हो गया । सर जे० डब्ल्यू० डार्विनने अपनी ‘मार्डन आइडिया ऑफ इवोल्यूशन’ (विकासकी आधुनिक भावना) नामक पुस्तकसे अच्छी तरह सिद्ध किया है कि ‘अमेरिका एव यूरोपके इन जन्तुओंमें जिन्हें घोड़ेका पूर्वज कहा जाता है, परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ।’ घोड़ाबड़ा ही विचित्र जानवर है । पाँच बातें उसमें अन्य तृणाहारी पशुओंसे विलक्षण हैं—(१) नीचे-ऊपर दोनों तरफ दाँत, (२) प्रसवके समय घोड़ीकी जीभका गिरना, (३) घोड़ेके अगले पैरोंके गोंठोंमें पर्णिका निगान होना, (४) नर घोड़ेके स्तन न होना और (५) खुरकी

जगह टाप होना । कड़ा जाता है कि 'बोड़ोंकी चार अँगुलियाँ उम हो गयीं; बीचकी अँगुली टाप बन गयी । गाय-भैंसके अगलबगलकी चार अँगुलियाँ मौजूद हैं, बीचवाली लुप्त हो गयी ।' जो अँगुलियाँ विद्यमान हैं, उनमें दो तो फटे हुए खुरको बनलाया जाता है और दो उठी हुई मदनखुरी बतायी जाती है । यह कैसा उच्छा-पुलटा विकास ? किसीमें चारों अँगुलियाँ लुप्त होकर बीचकी अँगुली टाप बन गयी तो किसीमें सब नहीं, केवल बीचकी ही लुप्त । गधे, घोड़े और खच्चरके पंजरोंमें घोघ्वा हो सकता है, बनविलाव और चीतेके बच्चेके पंजरोंमें भी घोघ्वा हो सकता है । इसी तरह सभी पंजर मिलानवाली जातियोंको एक ही जातिके स्थिर करनेमें भी घोघ्वा हो सकता है । मि० डे० क्वाडर फेगम अपनी 'लेस अम्प्लस ठे डारविन' पुस्तकमें लिखते हैं कि 'बोड़ोंकी कड़ियाँ न तो इस प्रकारके जिंदा जानवरोंसे प्रती होती हैं और न प्रस्तरीभूत अस्थिपंजरोंसे ही । ऐसे प्राणियोंका अस्तित्व कल्पनामात्र है ।' इसी तरह जोन्स बोसनने नवम्बर सन् १९२२ ई० के 'न्यू एज' पत्रमें लिखा है कि 'ब्रिटिश म्यूजियमका अध्यक्ष कहता है कि "इस म्यूजियममें एक कण भी ऐसा नहीं, जो यह सिद्ध कर सके कि जातियोंमें परिवर्तन हुआ है । विकासविषयक दर्शनमें नौ बातें निःसार हैं । परीक्षणका आधार स्वच्छता और निरीक्षणपर विष्कुल अवलम्बित नहीं । संसारभरमें ऐसी कोई सामग्री नहीं, जो विकास-विद्वान्तकी महायक हो ।' इस तरह लुप्त-जन्तु ज्ञानके आधारपर विकासका सिद्ध होना असम्भव हो गया है ।

यदि विकास होता तो वर्फॉले स्थानोंमें कोई साङ्गोपाङ्ग ऐसा प्राणी मिलता, जिससे विकास सिद्ध होता । पृथ्वीकी तहोंकी आयुका भी अभी हिमाव नहीं बैठा । तहोंके प्रस्तरीभूत प्राणियोंकी आयु जाननेके लिये तहोंकी आयुका जानना आवश्यक है । जब पृथ्वीकी ही आयुका ठीक ज्ञान नहीं, तब तहकी आयुका ज्ञान कैसे होगा ? फिर एक नहके प्राणी कितने समयमें प्रस्तरीभूत हुए, यह जाननेका क्या साधन है ? आधुनिक विज्ञान यह भी नहीं बतला सकता कि मनुष्योंको पैदा हुए कितने दिन हुए । फिर समस्त कड़ियोंकी वर्ष सख्या मिलाकर पृथ्वीकी आयुके साथ मेल बैठानेका विकासवादियोंके पास कोई साधन नहीं । पृथ्वीकी अमुक बनावट किन साधनोंमें होनी है, उन साधनोंका निर्माण किसमें होता है, इन बातोंतक अभी विज्ञान पहुँचा ही नहीं । यदि जगत्की रचनाके कारणोंका ज्ञान, उन कारणोंकी गति, शक्ति तथा परिणामके मापका ज्ञान होता, तो पृथ्वीकी आयु निश्चित होती । परन्तु इनका ठीक ज्ञान नहीं । कल्पनाके द्वारा निम्नलिखित विद्वान्त विश्वमनीय नहीं होता । अगस्त सन् १९२३ के 'थियोमोर्फाल पाथ' में नैमनने

लिखा है कि 'नेवादामें जॉन टी० रीडको एक आदमीका पदचिह्न और एक अच्छी तरह बना हुआ जूतेका तला मिला है, जिसे वह अपने चट्टानविषयक भूगर्भ-विद्या-सम्बन्धी ज्ञानसे ५० लाख वर्ष पुराना बतलाता है। उस तलेमें ऐसी सिलाई, धागोंके मरोड़ और धागोंके माप मिलते हैं, जो आजकलके अच्छे-से-अच्छे बने हुए जूतोंके समान पक्के और सूक्ष्म हैं। इससे सिद्ध हुआ कि ५० लाख वर्षसे तो मनुष्य जूना पहनता है और वह सुई, सूत, सिलाई, नपाईका ज्ञान प्राप्त कर चुका था।' विकासके अनुसार यह ज्ञान बहुत दिनोमें हुआ होगा। इस विचारसे मनुष्यकी उत्पत्तिका समय आजसे यदि एक करोड़ वर्ष पूर्व माने और हेकलके मतानुसार प्राणियोंकी २१ कड़ियोंके बाद मनुष्यकी उत्पत्ति माने एवं प्रत्येक कड़ीको यदि एक करोड़ वर्षका समय दे तो प्रथम प्राणीकी उत्पत्तिसे मनुष्यकी उत्पत्तितक २२ करोड़ वर्ष और आजतक २३ करोड़ वर्ष होते हैं। लोकमान्य तिलकने 'गीता-रहस्य' में डॉ० गेडाका मत उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'मछलीसे मनुष्य होनेमें ५३ लाख ७५ हजार पीढ़ियाँ बीती हैं। इतनी ही पीढ़ियाँ अमीबासे मछली बननेमें बीती होगी अर्थात् अमीबा अबतक लगभग एक करोड़ पीढ़ियाँ बीती। कोई पीढ़ी एक दिन, तो कोई सौ वर्ष जीती है। यदि औसत प्रति पीढ़ी २५ वर्ष भी मान लें तो इस हिसाबसे भी प्राणियोंकी उत्पत्तिका समय २५ करोड़ वर्ष होता है।' यह भी सिद्ध है कि पृथ्वी उत्पन्न होनेके करोड़ों वर्ष बाद उसपर प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई होगी। यह संख्या विकासवादियोंकी निर्धारित संख्यासे बहुत आगे जाती है।

विकासवादी पृथ्वीकी प्राणियोंवाली तहोकी आयु १० करोड़ वर्ष बतलाते हैं। वे अमीबाको सादी रचनावाला कहते हैं, परंतु यह ठीक नहीं है। वह तो क्लिष्ट रचनावाला ही प्राणी है। अपने शरीरमें हर जगह छिद्र कर लेना क्या साधारण बात है? वनस्पतिकी ही रचना सादी है। सिद्धान्ततः भोग्य सादी रचनावाले और भोक्ता क्लिष्ट-रचनावाले हैं। पृथ्वीकी नीचेवाली तहमें हड्डीवाले प्राणी नहीं मिलते, अतः कहा जाता है कि 'पहले बिना हड्डीवाले प्राणी हुए।' परंतु इसपर यह भी तो कहा जा सकता है कि 'पृथ्वीके दबावसे नीचेवाली तह तथा उसके साथ हड्डियाँ भी पिघल गयी होगी।' अतः 'पहले हड्डियाँ नहीं थी' यह कल्पना भी गलत है। फिर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अस्थिहीनोसे ही अस्थिवालोंकी उत्पत्ति हुई। हड्डी अपने आप ही उत्पन्न होती है यह पीछे कहा जा चुका है। यदि यह सत्य हो कि 'जिस समय जो प्राणी थे, वही थे और वे भीमकाय थे,' तो वर्तमान प्राणियोंका उनसे उत्पन्न होना सिद्ध नहीं होता। किंतु सबसे प्रथम उत्पन्न एक कोष्ठवाला अमीबा भी अबतक मौजूद है। इतना ही नहीं, वे अन्तिम प्राणी मनुष्यसे भी अधिक हैं। अतः यह सत्य नहीं है कि

‘जब जो ये, तब वही ये ।’ पृथ्वीकी खुदाईमें भी यह बात पायी नहीं जाती । जिन तहमें जो हड्डियाँ पायी जाती हैं, वह तब उस सिद्धान्तानुसार उन्हीं जन्तुओंमें पड़ी होनी चाहिये, क्योंकि ‘उस समय वही ये और दीर्घकाय (विनालकाय) ये ।’ पर ऐसा है नहीं, बहुत गहरा खोदनेपर भी एक तहमें थोड़े ही जन्तु एक प्रकारके पाये जाते हैं । उन प्राणियोंका विनालकाय होना तो विकासवादके विरुद्ध ही होगा, क्योंकि उसके अनुसार तो बहुत छोटे प्राणियोंसे ही विकासका आरम्भ होता है । जब छोटे प्राणी ऐसे विनालकाय हुए कि एक छिपकली ही अस्सी मन वजनकी हुई और वृक्ष इनने बड़े हुए कि खदानोंमें कोयलाके पहाड़ बन गये तो उसी नियमानुसार आरम्भिक मनुष्योंकी लाशें ऐसी क्यों नहीं मिलीं ? वह भी कम-से-कम ताड़के पेड़के बराबर तो होनी ही चाहिये थी । छिपकली उतनी क्यों बड़ी और आदि प्राणी अमीबा और अन्निम प्राणी मनुष्य उतना क्यों न बड़ा ? क्यों भैंसके बराबर चोटियाँ देखनेको न मिलीं ? और जीवित प्राणियोंमें आज जैसे भीमकाय क्यों नहीं ? हो सकता है कि कुछ योनियाँ पहले भीमकाय रही हों, परन्तु उनके बगका आज पता नहीं लगता । वे सपरिवार नष्ट हो गयी होंगी ।

शास्त्रीय दृष्टिसे तो विकासकी अपेक्षा हास पक्ष ही सगत जँचता है । सत्ययुगके प्राणी आजके प्राणियोंकी अपेक्षा बहुत बड़े थे । युग हाससे सवमे हास हो रहा है । जो गाये पहले बड़ी होती थीं, वे भी आज छागप्राय हो रही हैं—‘छागप्रायासु धेनुषु’ (भागवत १२ । २ । १४) । किन्तु विकासवादका कहना है ‘भीमकाय प्राणी भी अमीबाके ही विकास थे, परस्थिति प्रतिकूल होनेसे वे नष्ट हो गये ।’ यदि यह सत्य हो तो विकासवादका यान्त्रिक सिद्धान्त अमर्त्य ठहरता है । विनालकाय प्राणी नष्ट हो गये और अल्पकाय जी रहे हैं । जिन प्रकार दीर्घजीवी कछुआने अल्पजीवी कवूतरको उत्पन्न किया, उसी प्रकार भीमकाय छिपकलीने अल्पकाय छिपकली उत्पन्न की । यद्यपि आज अस्सी मनकी छिपकलीका कर्दा पता नहीं लगता, पर क्या यह यन्त्रोंका सुधार एवं उन्नति हुई अथवा उनका विनाश एवं अवनति हुई ? वस्तुतः कर्मोंके अनुसार जिन प्राणियोंने जितना बड़ा शरीर जितने दिनोंके लिये पाया, उतने दिन वे उसे भोगकर चले गये । अब संसार जिन शरीरोंके योग्य है, वे बचे हुए हैं और कर्मफल भोग रहे हैं । ‘मत्स्यपुराण’ के पक्षयुक्त सर्प भी विकासके साधक नहीं हो सकते । चमगादड़ पशु एवं पक्षियोंके बीचका क्यों माना जाता है ? पक्षी एकदम चमगादड़ बनकर स्तनधारी हो गये या धीरे-धीरे ? यदि धीरे-धीरे, तब तो इस प्रकारकी आगे-पीछे हजारों कड़ियाँ दिखलानी होगी । यह कहनेसे काम नहीं चलेगा कि ‘आगे-पीछेकी हजारों कड़ियाँ नष्ट हो गयीं ।’ पहली कड़ियाँ तो बादवाली कड़ियोंमें कमजोर

गीं, वे नष्ट हो सकती थीं; परंतु बादवाली कड़ियाँ क्यों नष्ट हो गयीं ? वे तो योग्य होनेसे ही विकसित हुई थीं। वर्तमान चमगादड़से उसके बादकी कड़ियाँ, फिर आगे-पीछेकी सब कड़ियोंको हटाकर एकमात्र चमगादड़ ही कैसे बच रहा ? ये बातें विकासवादके साथ कैसे सगत होगी ? पुराणोंके अनुसार तो घोड़ों और पहाड़ोंके भी उड़नेकी बात पायी जाती है। क्या विकासवादी उसे भी मानेंगे ? वस्तुतः जिन्हें सधियोनियों या मध्य-कड़ियाँ कहा जाता है, वे चमगादड़, उड़नेवाले सर्प आदि स्वतन्त्र योनियों ही हैं। अतः 'लुप्त-जन्तु शास्त्र' के आधारपर विकासवाद सिद्ध नहीं होता।

गर्भ-शास्त्र

कहा जाता है कि 'गर्भ-शास्त्र' के आधारपर विकास सिद्ध होता है। पानीमें पड़े हुए पत्तों या लकड़ियोंपर जो लसदार काले चिकने कण दिखायी पड़ते हैं, वे मेढकोंके अंडे हैं। तीन-चार दिनमें ये कण या पिण्ड पूँछदार और चपटे सिरवाले जन्तुका आकार धारण कर लेते हैं। फिर इनके गलेके पास मछलियोंकी तरह श्वास लेनेके गलफड़े बन जाते हैं। ये सब बातें अंडेमें ही हो जाती हैं। इसके बाद बच्चे अंडोंको छोड़कर पानीपर तैरने लगते हैं। वे उस समय गलफड़ोंसे श्वास लेते हैं। उन्हें पूँछ भी होती है। वे एक प्रकारकी मछली ही-जैसे लगते हैं। शीत ऋतु आते ही वे किसी बंद जगहमें छिप जाते हैं। वर्षाका आरम्भ होते ही वे फिर बढ़ने लगते हैं। धीरे-धीरे पूँछ लुप्त होती है और पैर निकल आते हैं। फेफड़े बनने लगते हैं और वे गलफड़ोंसे श्वास लेना बंद कर देते हैं। तब ये पूरे मेढक बन जाते हैं। इस इतिहाससे मान्य पड़ना है कि प्राणीको अपनी उन्नतिके लिये विकासके पूरे चक्रमें घूमना पड़ता है। जिन-जिस जातिमें घूमता हुआ प्राणी जिस अन्तिम योनिमें पहुँचा है, गर्भसे लेकर वृद्धितकके समयमें ही उसे उन सभी चक्रमें घूमना पड़ता है। मुर्गीका अंडा भी एक कोष्ठवाले अमीबासे ही प्रारम्भ होता है। इसमें भी मछलियोंकी तरह गलफड़े होते हैं। अंडेसे बाहर आनेपर भी गलेके पास इसके चिह्न रहते हैं। इससे यही अनुमान होता है कि पक्षी भी मछली और मेढकके रूपमें होता हुआ ही पक्षी बना है। यद्यपि गर्भके परिवर्तन बहुत सक्षिप्त होते हैं तथापि वे अपनी पूर्व पीढ़ियोंका सब इतिहास दिखला देते हैं। सूअर, गौ, खरगोश और मनुष्यादि स्तनधारियोंके गर्भ सब एक ही प्रणालीसे विकसित होते हैं। मानवगर्भ क्रमशः मछली, मेढक, सर्प और पक्षीके आकारका होकर तब स्तनधारियोंकी अवस्थामें आता है। इससे ज्ञात होता है कि मनुष्यका इन योनियोंसे सम्बन्ध है। चाहे लाखों वर्ष लगे हों, पर मनुष्यकी उत्पत्ति अमीबासे ही हुई है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रकृति इससे अधिक क्या प्रमाण दे सकती है ? कीड़ोंके प्रथम पिण्ड सब समान ही होते हैं। उस दृगामें

नहीं पहचाना जा सकता कि यह तिनली, भारा, तंतया अथवा कनकजरा क्या है ? तिनली और रेशमके कीड़े भी, जो अपनी वृद्धिमें अनेक रूप दिखलाते हैं, प्राथमिक ढंगमें एक ही समान रहते हैं। इससे यही मात्तम होता है कि ये सब एक ही पूर्वजोंकी सतति ह, जो अपनी पीढ़ियोंका पूरा चक्र लगा रहे हैं। गर्भके बढ़नेका क्रम इस प्रकार है—पहले एक कोष्ठ, फिर दो कोष्ठ, फिर दोके चार, इस तरह चारके आठ और आठके सोलह कोष्ठ हो जाते हैं। कोष्ठ सदैव दूने क्रमसे बढ़ते हैं। उमी प्रकार अंडा भी दूने क्रमसे बढ़ता है। अमीवा एक कोष्ठवारी और हाइड्रा दो कोष्ठवारी होता है। इस तरह गर्भ ज्ञानसे मात्तम पड़ता है कि पहले प्राणी सरल रचनाके और फिर क्लिष्ट रचनावाले होते हैं।

उपर्युक्त बातोंपर विचार करनेसे भी विकास सिद्ध नहीं होता। गर्भमें जो सादी रचनाके बाद क्लिष्ट रचना दिखलाई पड़ती है, उसका कारण विकासकी उत्पत्तिका पुनर्दर्शन नहीं, प्रत्युत यन्त्र बनानेका एक साधारण नियम है। किसी भी यन्त्रके बनानेके लिये उसके सूक्ष्म एवं क्लिष्ट पुर्जोंको अटकानेके लिये एक सीधा सादा आधार आवश्यक होता है। चक्खोंके निर्माणमें गराडीमें नखिनियोंको डालकर रखा जाता है। साधारण रूल जैसा डंडा उसका आधार है। इसके बाद दो खूँटे एक सीधी-साधी पट्टियामें गाड़कर रखे जाते हैं। यह पट्टिया ही चक्खोंका मूल है अर्थात् एक सीधे मूल आधारपर ही सूक्ष्म, क्लिष्ट पुर्जे जमाये जाते हैं। मोटरमें भी धुरी, कमानी आदि मुख्य आधार है, वह सादा ही है। मनुष्यके शरीररूपी यन्त्रमें भी एक पीठको आधार माना जाता है। उमीको विकासवादी मछली कहने लगते हैं। उमीमें मिर, हाथ, पैर जुड़ जानेपर उसे ही मेढक कहने लगते हैं। पीठकी हड्डीके आधार बिना सिर, हाथ, पैर, हृदय, फुफ्फुस आदि शरीरयन्त्र किस प्रकार एकमें जोड़े जा सकते थे ? क्या विकासवादी कोई ऐसा यन्त्र बतला सकते हैं, जिसके क्लिष्ट पुर्जे किसी आधारपर रखे बिना यन्त्ररूप होकर काम दे रहे हों ? क्या पीठकी हड्डी (रीढ़) के बिना शरीरके अवयवोंसे शरीर-पजर काम लायक बन सकता है ? छोटे-छोटे कीड़ोंमें भी जोड़का आधार आवश्यक होता है। वही आधार रीढ़की हड्डी है। अतएव गर्भकी रचना पीढ़ियोंका चक्र नहीं, प्रत्युत यन्त्र-रचनाके नियमोंका अत्यावश्यक अनुवर्तनमात्र है। यह बतलाया जा चुका है कि अमीवा भी सादा नहीं, अपितु बड़ी क्लिष्ट रचनावाला है। जैसे वटवीजके भीतर मूलरूपसे साङ्गोपाङ्ग समृद्ध वृक्ष विद्यमान रहता है, वैसे ही अमीवाके छोटे स्वरूपमें ही वारीकीके साथ सभी अवयव संनिविष्ट रहते हैं। बालोंमें रहनेवाले लीस, जूँ, खटमल या चींटीके शरीरमें

भी बड़ी ही सूक्ष्म कारीगरी होती है। उन्हें भी सादी-रचनावाले नहीं कहा जा सकता। अतएव 'मैन्युअल ऑफ जियालॉजी' में मि० निकल्सनका कहना है कि 'अमीबा नामक क्षुद्र जन्तु अकल्प्य, सूक्ष्म कण ही है, परंतु उसकी पाचन-शक्ति क्लिष्ट-से-क्लिष्ट रचनावाले प्राणियोंकी पाचन-क्रियाके यन्त्रोंसे कम नहीं। वह अपने अंदर भोजन लेता है और बिना किसी पृथक् अवयवके उसे पचा जाता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह भोजनमेसे पोषकभाग रख लेता है और अनुपयोगी भाग निकाल डालता है।'

हक्सलेका भी 'प्राणियोंके वर्गीकरण' की भूमिकामें कहना है कि 'ग्रेगारिनीडा' वर्गके जन्तुओंसे नीचे दर्जेके अन्य जन्तु नहीं हैं। परंतु 'रीजोपोडा' वर्गके सूक्ष्म जन्तु उनसे भी अधिक सादी रचनाके हैं। सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्रसे देखा गया है कि इनमें गरीर-जैसी कोई गठन नहीं होती। ये तो पतले किये हुए सरेसके एक परमाणु-जैसे ही हैं। परंतु इनमें भी जीवन-शक्तिके समस्त गुण रहते हैं। ये अपने ही-जैसे प्राणीसे उत्पन्न होते हैं, भोजन पचा सकते हैं और हलचल करते हैं। इतना ही नहीं, ये अपने घुसनेकी छीट, जो बिल्कुल क्लिष्ट-रचनायुक्त होती है, बना लेते हैं। जेलीका यह एक कण प्राकृतिक शक्तियोंको इस प्रकार काबूमें करके ऐसी गणितयुक्त रचना (छीट) बना सकता है, यद्यपि स्वयं रचनारहित और अवयवविहीन है। मेरे लिये यह एक असाधारण सारयुक्त वस्तु है।'

इन बातोंसे कौन कह सकता है कि अमीबामें क्लिष्ट-रचना नहीं है? अतः भोग्य और भोक्ता ही क्रमशः सादी और क्लिष्ट रचनावाले हैं। कर्म-ज्ञानहीन वृक्ष भोग्य और ज्ञानहीन कर्मयुक्त पशु भोक्ता है एवं च ज्ञान-हीन पशु भोग्य और ज्ञान-कर्म-युक्त मनुष्य भोक्ता है। विकासवादी वनस्पति और पशुओंकी साथ-साथ उत्पत्ति मानते हैं। यदि प्राणियोंकी उत्पत्तिका चक्र गर्भमें लगता है तो मनुष्य प्राणी गर्भमें सिरके बल उल्टा क्यों लटकता है? विकासवादी नहीं जानते, पर कहा जा सकता है कि वह वृक्षोंका नमूना है। ज्ञान-कर्म-रहित वृक्ष नीचे सिरवाले होते हैं। पैदा होनेके बाद शिशु हाथ-पैरके बलसे तिरछा चलता है। यह कर्म-युक्त ज्ञान-रहित पशु दशा है। ज्ञानका उदय होनेपर वह खड़ा होकर मनुष्य हो जाता है। गर्भका सिर नीचे रहनेका यही कारण है। यही वृक्षोंकी पहले उत्पत्तिका प्रमाण भी है। वस्तुतः गर्भमें पिछली योनियोंके चक्ररकी बात गलत है। मुर्गीका इतिहास दिया गया है। मुर्गी पक्षी-जातिका प्राणी है। इसके पूर्व मछली, मेढक और सर्प जातिके प्राणी हो चुके हैं। मुर्गीके गलफड़ोने मछलीका रूप दिखलाया और पैर, सिर निकलनेपर मान लिया जाय कि मेढकका रूप दिखलाया। परंतु तीसरे सर्पणशीलोका रूप

क्या है ? पक्षी सुगमसे बहुत नजदीक हैं, पक्षीका विज्ञान सर्जनात्मिक प्राणिमें हुआ है, अतः उचित था कि उन सर्पशील प्राणियोंके गुण पक्षियोंमें हों। मनु प्रजियामें क्या सर्पशील प्राणियों-सीले दोन होते हैं ? एक चमगादड़के छोड़कर किसी अन्य पक्षीके दोन नहीं हैं। परन्तु चमगादड़ सर्पशीलोंमें पक्षी नहीं हो रहा है, उसके लिये तो पशुओंसे पक्षी होनेकी बात ब्रह्मा अधिक समझ है क्योंकि उसके स्तन और ज्ञान होने हैं। जब सुगमसे सर्पशीलोंके गुण नहीं तब पिछली योनियोंमें उसके चक्कर काटनेकी बात कैसे सिद्ध होगी ? केवल एकदो बातें देखकर कल्पनाका इतना बड़ा महल खड़ा करना दुस्साहस ही है।

उसी तरह मण्डूक यदि मछलीसे हुआ होता तो उसका पैर न होने चाहिये था। वह बड़नेके समय ही गलफड़ोंसे श्वास लेता है। उसकी यह अवस्था गर्भावस्था ही है। गर्भावस्थामें तो मनुष्यका बच्चा भी नालके द्वारा प्राण और गेष्म पाता है। इतनेहीसे क्या उसे मछली कहा जा सकता है ? यदि ऐसा होता तो सभी बच्चे पहले गलफड़ेसे श्वास लेते, क्योंकि विकासवादीके अनुसार सभीका विकास मछलीसे हुआ है। परन्तु मनुष्य एवं पशुओंके बच्चे माताने लगे हुए नालमें ही प्राण पाते हैं। इनमें भी यांत्रिक सिद्धान्तसे निर्माण होता है, अतः रीढ़की हड्डीका पहले निर्माण होता है। उसीको विकासवादी मछलीका आकार समझते हैं। पैर दिखानेकी पड़नेपर उसे मण्डूक कहने लगते हैं। परन्तु सर्पशीलोंके दोन और उड़नेवालोंके पर मनुष्यों और पशुओंके गर्भमें नहीं देखे गये। इस चक्करमें इन दोनों विभागोंके लक्षण क्यों नहीं देखे जाने, इसका भी विकासवादमें कोई उत्तर नहीं है।

उसी तरह गर्भवृद्धिमें भी न क्रम-क्रमसे प्राणियोंकी उत्पत्ति प्रतीत होती है और न पिछली जातियोंका चक्कर ही होता है। यों तो, जैसे किसी भी मृत्तमय पात्रकी उत्पत्तिके पहले मृत्तिका पिण्डावस्थामें रहती है वैसे ही किसी भी वन्य या शरीरके निर्माणके पूर्व उनके उपादान-कारणोंकी एकदो समान अवस्थाएँ हो ही सकती हैं। परन्तु इतनेसे ही 'ऊँट पहले साँप और छिपकली बनकर फिर ऊँट बना है' इत्यादि सब अनर्गल बातें नहीं सिद्ध हो सकती। स्तनधारियोंमें घोड़ी बारह महीनेमें, गाय नौ, भैंस दस, बकर चार और मनुष्य नौ महीनेमें बच्चा पैदा करते हैं। यह नियम न शरीरकी मजबूतीपर निर्भर है और न आयुपर ही। छोड़ा मनुष्यसे बलमें अधिक, पर आयुमें कम और गर्भव्रतमें अधिक है। बहुत मनुष्यसे आयुमें अधिक, बलमें कम और गर्भव्रतमें बहुत ही कम है। क्या कोई विकासवादी इसका कारण बतला सकता है ? गर्भके अंदर बँधी हुई गायरीकी तरह गर्भपर भी शरीरका न कोई अन्न किसी दृग्मे अन्नमें चिपगना है।

इस भेदका क्या कारण है ? गर्वकी विचित्रता, महत्ता भी ईश्वरी कारीगरीका एक नमूना है । एक नगण्य शुक्र-शोणित-विन्दु क्रमेण वृद्धिगत होकर हस्त, पाद, नेत्र, श्रोत्र, बुद्धियुक्त होकर ज्ञानवान् हो जाय, यह ईश्वरकी अघटित-घटना-पट्टीयसी मायाशक्तिका वैचित्र्य है । गर्भके विकासवादी इतिहासपर विज्ञान-वेत्ताओंको भी पूरा विश्वास नहीं है । हक्सले और हेकलका कहना है कि 'गर्भका इतिहास अति सक्षिप्त एव अधूरा है ।' प्रश्न हो सकता है कि ऐसा क्यों ? यदि गर्भ-इतिहास प्राणियोंके विकास-क्रमकी पाठमाला हैं तो इसमें गडबड़ी कैसे ? बीचमें गर्भ बेसिलसिले क्यों भासित होने लगे ? मण्डूकसे सर्पणशील होकर पक्षी होना, पर सर्पाकी हालतका पता नहीं । बीचमें पुच्छल ताराकी शकले क्यों आ गयीं ? विकासवादी कहते हैं कि 'इस गर्भावस्थाके इतिहासमें जहाँ समानताएँ समाप्त होकर भिन्न-भिन्न मार्गोका अवलम्बन करती हुई प्रतीत होती हैं, वहाँ वे स्थान बतलाते हैं कि प्राणियोंने परिस्थितिके अनुसार भिन्न-भिन्न मार्गोंसे चलना आरम्भ किया ।' शायद इसका मतलब यह है कि जहाँसे घास खानेवाले स्तनधारियोंके बाद स्तनधारियोंमें मास खानेकी प्रवृत्ति हुई, वही प्रक्षेप है । परतु यह बहुत भद्दा समाधान है । क्या घास खानेवालेसे एकदम मास खानेवाले हो गये ? क्या गायके बछड़ोंमेंसे एक भेड़िया हो गया, क्योंकि मछलीसे मेढक होना जितना कठिन है, बछड़ेसे भेड़िया होना उतना कठिन नहीं । वस्तुतः प्रत्येक जातिके स्वतन्त्र गर्भ होते हैं । इसमें पुरानी पीढ़ियोंके चक्रकी बात सर्वथा व्यर्थ है । इसीलिये 'विकासवाद' पुस्तकमें हारकर लिखा गया है कि 'किसी' भी प्राणीकी गर्भावस्थाका इतिहास पूर्णतया हम नहीं जानते और न किसीकी गर्भावस्थाके सब परिवर्तन देखे ही गये हैं अथवा न उनका सार्थक कारण पूर्णतया बतलाया जा सकता है ।'

विकासवादी कहते हैं कि 'तुलनात्मक दृष्टि, मनुष्यकी शरीर-रचना, गर्भ-परिवर्तन, चट्टानोंमें प्राप्त मनुष्यके अवयव आदिसे प्रतीत होता है कि यन्त्रकी भाँति मनुष्य भी उन्हीं प्राकृतिक नियमोंके अधीन रहता है, जिनके अधीन अन्य प्राणी हैं । मनुष्य-देहका भी उन्ही तत्त्वोंसे निर्माण हुआ है, जिनसे औरोका । स्तनधारी श्रेणीकी बदर कक्षावाली वनमानुष उपजातिमें ही मनुष्यका स्थान है । वानर कक्षाकी विशेषताएँ ये हैं—(१) गर्भनाल झिल्लीसे सम्बन्ध रखता है, (२) हाथों, पैरोंके अँगूठे चारों ओर फिर सकते हैं, अतएव वे पैरसे भी पकड़ सकते हैं, (३) वृक्षोंपर रहते हैं, (४) इनके दूधके दाँत और स्थिर अन्य दाँत होते हैं, (५) वानर-कक्षाके भिन्न वंशोंमें दाँतोंकी संख्या नियत होती है, (६) हाथमें पाँच अँगुलियाँ, नाखून और पंजे होते हैं, (७) हँसुलीकी अस्थियाँ दृढ़ एव उन्नत होती हैं और (८) प्रत्येकके दो स्तन होने हैं । पूर्णतया सीधे खड़े

हाकर चलना, मस्तिष्कका बहुत विकास, वाणी-द्वारा स्पष्ट बोलनेकी शक्ति और विचार करनेकी शक्ति यह चार मनुष्यकी विशेषताएँ हैं। पहली दोनों विशेषताएँ तात्त्विक नहीं प्रत्युत परिणामकी हैं अर्थात् छोटाई-बड़ाईका ही अन्तर है। खड़े होकर चलना भी मस्तिष्ककी उन्नति का परिणाम है।

वानरोंकी जानियाँ, उपजातियाँ तथा वंश अनेक हैं। लीमर अर्धवदर है, जो हाथ-पैरोंमें ही वदर प्रणीत होता है। मामोंसेट भी आकारमें लीमर-गहज होता है, पर वह वानरोंसे अधिक मिलता है। इसके नाखून पजेदार होते हैं। मागान्य वदर प्रसिद्ध ही है। वनमानुष भी इसी कक्षाका वंश है। इसके पाँच प्रकार हैं—गिवन, ओरांग, ओटांग, चिपाजी और गोरिल्ला। इनके ढाँठ मनुष्यों-जैसे होते हैं। नाक पीछेकी ओर झुकी होती है, पर अंदरकी ओर ढीछी नहीं होते। इनके हाथ पैरोंसे अधिक लंबे होते हैं। गालकी थैली और फुँछ बिल्कुल नहीं होती। गिवन जातिकी मादा अपने बच्चेका मुँह धोती है। चिपाजी शरीरसे बहते हुए खूनको बंद करनेकी चेष्टा करता है। वैज्ञानिकोंका कहना है कि चिपाजीकी बुद्धि नौ महीनेके बालकके समान होती है। मनुष्यकी खास विशेषताएँ दो ही हैं—मस्तिष्कका विकास और खड़े होकर चलना। खड़े होकर चलनेका कारण भी मस्तिष्कका विकास ही है। वनमानुष खड़ा होता है, पर झुका रहता है। मनुष्यके खड़े होनेसे ही उसे अंत उनरनेकी बीमारी होती है। मनुष्य और चिपाजीके मस्तिष्ककी तुलना करनेपर मालूम होता है कि दोनोंमें परिमाणका ही अन्तर है। मनुष्यका मस्तिष्क स्पष्ट होता है और चिपाजीका अस्पष्ट। यही हाल हाथ-पैरोंका भी है। वंदर पैरसे वस्तु उठा लेता है। इसी तरह एक जगली स्त्री भी पैरसे वस्तु उठा लेती है। डाढ़ मनुष्यको दरस आती है और छोटी होती है, पर गोरिल्लाकी डाढ़ बड़ी बलवान् और शीघ्र निकलनेवाली होती है। असभ्य जातियोंमें भी डाढ़ शीघ्र निकलती है। मनुष्यके शरीरपर प्रायः बाल नहीं होते, किसी-किसीके कानों और कंधोंपर होते हैं। जापानके ऐन्यू लोगोंकी देहपर बहुत बाल होते हैं। मिम जुलिया पास्ट्राना बहुत बालवाली प्रसिद्ध है। सारांश यही कि मनुष्यका इन जातियोंसे कोई तात्त्विक भेद नहीं, परिमाणका ही भेद है। मनुष्य-शरीरके अवशिष्टार्थ अर्थात् पुरानी योनियोंके कई अङ्ग अबतक मनुष्यमें पाये गये हैं। मनुष्य अपनी इच्छासे शरीरकी खाल हिला नहीं सकता, यद्यपि हिलानेवाली नसे मौजूद हैं। सिरके चोंदकी चमड़ी भी सब मनुष्य हिला नहीं सकते, पर कोई-कोई हिला सकते हैं। कान भी सब फड़फड़ा नहीं सकते, पर कोई ऐसा कर सकते हैं। नाकमें घँघर स। मनुष्य नहीं पहचान सकते, पर कोई पहचान भी सकते हैं। मनुष्य स्वेच्छया रोएँ नहीं खड़ा कर सकते, उष्णता रोएँ मज्जते करनेवाली नसे हैं। मनुष्यका अन्त मनुष्यमें

पूरे काम कर रहे हैं, जो कि मनुष्योसे लुप्त हो रहे हैं, पर किसी-किसीमे मौजूद है।

“भौहे चढ़ाना; माथा सिकोड़ना; होठ, गाल और नाकको मनमाना नचाना मनुष्यमें अवतक बना हुआ है। अन्न-नलिकाके अन्तमें एक थैली होती है, जो जानवरोंको तो काम देती है, पर मनुष्यके लिये निष्प्रयोजन है। कभी-कभी तो गुठली (बीया) आदि कठोर पदार्थ उसमें चले जानेसे वह घातक भी सिद्ध होती है। छठे महीने गर्भके बालकका शरीर बालोसे छा जाता है, जो वानरका पूर्वरूप है। बंदरके बच्चे माँके पेटसे चिपके हुए रहते हैं, अतः जन्म होते ही बालकके हाथकी मुट्ठी इतनी मजबूतीसे बंधी होती है कि वह रस्सी पकड़कर लटका रह सकता है। मनुष्यकी रीढ़की अन्तिम गॉठको ही पूँछका चिह्न कहा जाता है। पूँछवाले मनुष्यमें यह गॉठ आठ-दस इंचतक बढ़ी हुई पायी जाती है। यह केवल मास-स्नायुयुक्त होती है, इसमें हड्डी नहीं होती। मनुष्यकी अस्थियाँ पृथ्वीकी तीसरी तहमें मिलती हैं। पहले मनुष्यकी ऐसी-ऐसी जातियाँ हो गयी हैं, जिनका अब संसारमें निशान नहीं है। जावा द्वीपमें एक खोपड़ी मिली है, जो जंगली मनुष्यकी खोपड़ीसे अवनत और वनमनुष्यकी खोपड़ीसे उन्नत है। वह वनमनुष्य और मनुष्यके मध्यकी कड़ी अनुमान की जाती है। जो लीख आदि जन्तु मनुष्यके शरीरपर होते हैं, वे ही पशुओंकी देहपर भी पाये जाते हैं। चूहोंके रोग मनुष्योंको भी होते हैं। ऐसा कोई रोग नहीं, जो मनुष्योंको होता हो और पशुओंको न होता हो। इलाज भी दोनोंके समान ही हैं। नशा भी दोनोंको होता है। किसीका सधिरकण गोल, किसीका दीर्घवर्तुल और किसीका चपटा भी होता है। स्याहीके दस स्तन होते हैं, चुहियाको आठ, कुतिया और गिलहरीको आठ-आठ, बिल्ली और रीढ़को छः-छः और अन्य सब तृणाहारी पशुओंको चार-चार स्तन होते हैं। परंतु जर्मनीकी एक स्त्रीके चार, जापानकी एक स्त्रीके छः और पोलैंडकी एक स्त्रीके दस स्तन हैं।”

इस तरह अनुमानके आधारपर ही विकासकी इमारत खड़ी है। प्रत्यक्ष परीक्षणका उसमें नामतक नहीं है। विचार करनेपर विकासवादियोंका उपर्युक्त मत भी ठीक नहीं जँचता। मनुष्यकी विशेषता तो विकासवादियोंको भी माननी ही पड़ती है। गोरिल्ला यद्यपि हाथ, पैर और छाती आदिमें मनुष्यको हरा सकता है; किंतु बुद्धिबलमें वह मनुष्यसे बहुत कम है, इसीलिये उसे भी मनुष्यके अधीन होना पड़ता है। पूर्वोक्त युक्तियोंसे विकासवादके साधक प्रमाण खण्डित हैं। आस्तिक भी मानते हैं कि प्रकृति-पुरुषके ससर्गसे ही पशु-मनुष्यादि सभी प्राणी बनते हैं। इस तरह सबका समान तत्त्वोंसे बनना और सबमें आठ-दस स्तन होना विकास सिद्ध नहीं करता। अमीबा एक कोष्ठधारी है, उसके एक ही कोष्ठमें आठो काम होते हैं, पर जब वह एकसे दो होता है, तब उसीके

अदर एक दूसरा कोष्ठ तैयार होता है और अलग होनेके पड़नेका डोना ही कोष्ठ एकहीमें रहते हैं। ऐसी स्थितिमें उसे एक कोष्ठवारी क्यों कहा जाता है। इसी तरह कई कोष्ठवाले प्राणीके प्रत्येक कोष्ठ अभीवाकी तरह आटे काम अलग-अलग नहीं करते, भिन्न-भिन्न कोष्ठोंके काम भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थितिमें यह कैसे कहा जाता है कि ये कोष्ठ भी अभीवाके कोष्ठ-जैसे ही कोष्ठ हैं ? अनेक कोष्ठवाले प्राणियोंमें मसाल पाया जाता है और सबको मसालनेवाला एक ही कोष्ठ विदित होता है, क्योंकि यदि सभी कोष्ठ प्रवन्व करने लग जायें तो शरीरमें अव्यवस्था हो जायगी। अतः किसी एक कोष्ठको ही चेतन मानना ठीक है।

वेदान्तमतमें तो भौतिक तत्त्वोंसे भिन्न व्यापक आत्मा न्वतन्व मान्य है। अन्तःकरणकी उपाधिसे सब व्यवस्था उत्पन्न होती है। विकासवादमें तो कोष्ठोंके अंदरका सब ही चैतन्य कहा जाता है, जो सर्वथा असंगत है। अनेक संयुक्त चैतन्योंसे देहकी व्यवस्था उत्पन्न नहीं हो सकती। मनुष्य स्तनधारियोंकी श्रेणीमें मंडे हों, परन्तु न उनके परस्पर संयोगसे वज्र चलता है, न सबकी समान आयु है, न तो समान भोग और न समान गर्भवास ही, यह कहा जा चुका है। ऐसी दृष्टिमें मनुष्यका बदरादिके साथ मेल मिलाना उनमें पशुताके सदृश लाने-के प्रयत्नके सिवा कुछ नहीं। वालोंसे युक्त पैदा होनेवाले मनुष्य भिन्न प्राणियोंके वालोंमें मृत्युतक कोई परिवर्तन नहीं होता। जो गाय जिस रगकी होती है, आजीवन उसी रगकी रहती है। वही दृष्टि घोड़ा, गवा, बकरी, भैंस आदिकी है। बदर और वनमनुष्य भी जिस रगके पैदा होते हैं, मृत्युपर्यन्त उसी रगके रहते हैं। परन्तु मनुष्यके वालोंके रग जीवनमें चार बार बदलते हैं—पैदा होनेपर सुनहरे रगके, जीवनमें काले, वृद्धावस्थामें सफेद और अतिवृद्धतामें वे पिंगल हो जाते हैं। पशुओं और मनुष्योंमें यह भी अन्तर है कि सभी पशु पानीमें पड़ते ही तैरने लगते हैं, बदरकी भी यही हालत है, परन्तु मनुष्यको तैरना सीखना पड़ता है। बिना सीखे पानीमें पड़नेपर वह डूबकर मर जाता है। दो पैरपर खड़े होना, स्पष्ट बोलना, विचार करना, हँसना-रौना, गाना आदि मनुष्योंमें ही लक्षित होते हैं, पशुओंमें नहीं। बिना शिक्षाके सब काम कर लेना पशुओंमें ही है, मनुष्योंमें नहीं। इससे स्पष्ट है कि वह पशुश्रेणीका प्राणी नहीं है। इसी तरह पशुओं और वनस्पतियोंमें भी अन्तर है। पशु आड़े शरीरके हैं और वृक्ष ऊबटे शरीरवाले अर्थात् उनका सिर नीचेको रहता है। दूसरा अन्तर यह है कि पशुओंके देखने-सुनने आदिके लिये आँख-कान आदि इन्द्रियाँ होती हैं, वृक्षोंके नहीं। सबमें विरोधी अन्तर सुरासुरा है। वृक्ष जिग दूषित वायुको खाकर जीते हैं, अन्य प्राणी उसे खाकर मर जाते हैं। वृक्ष प्राणप्रद वायु देते हैं और प्राणनाशक

वायुका भक्षण करते हैं। अन्य प्राणियोंका क्रम इसके विपरीत है। इसी तरह वनस्पति एवं पशुओंका कोई भी शरीरसम्बन्धी उत्पादक सम्बन्ध कुछ भी प्रतीत नहीं होता। अतः मनुष्य न तो पशुश्रेणीका है और न वनस्पतिश्रेणीका ही, अतः तीनोंका ही कार्य-कारणभाव सर्वथा असंगत है।

वानर-कक्षाकी जो आठ विशेषताएँ दिखलायी गयी हैं, वे केवल वानरोंकी ही नहीं, उनमें आधीसे अधिक सब प्राणियोंमें पायी जाती हैं। जो दो-चार विशेषताएँ हैं, वे मनुष्यको पृथक् ही सिद्ध करती हैं। गर्भनाल भैसका भी लगा रहता है। अँगूठेके घूमनेसे भी बदर मनुष्यसे भिन्न जातिका सिद्ध होता है। वृक्षांपर तो चिड़ियाँ और कीड़े भी रहते हैं। दूधके और स्थायी दौत गाय, भैंस आदिके भी होते हैं। दाँतोंकी संख्या अन्य पशुओंमें भी अलग-अलग होती है। इसी तरह पाँच अँगुलियाँ गिलहरीके भी होती हैं। दो स्तन बकरीके भी होते हैं। इसी तरह मस्तिष्ककी बड़ाई भी मनुष्यता नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिक भी चींटीको बहुत बुद्धिमान् मानते हैं, उसकी-जैसी प्रबन्ध-शक्ति अन्यत्र नहीं देखी जाती। इससे 'बड़े या स्पष्ट मस्तिष्कसे ही बुद्धि और विचारोंकी उत्पत्ति होती है' यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः लीमर, मार्मोसेट आदि प्राणी स्वतन्त्र योनियाँ ही हैं। विकासक्रम दिखलानेके लिये ही उन्हें वानरकोटिमें मान लिया जाता है। इनका परस्पर वंश नहीं चलता, अतः ये वानरजातिके नहीं हैं। वनमानुषोंका भी बदरके साथ नाममात्रका ही मेल है, वस्तुतः इनका एक-दूसरेके साथ कुछ भी वास्ता नहीं है। यदि गिवनकी माता अपने बच्चेका मुँह धोती है तो गाय-भैंस चाट-चाटकर ही अपने बच्चेको साफ-सुथरा रखती है। चिड़िया दाना लाकर अपने बच्चोंको खिलाती है। यदि चिम्पेज़ी घाव दवाकर खून बंद करनेकी चेष्टा करता है, तो कुत्ता भी वास खाकर जुलाव लेता और चाटकर घावोंको ठीक कर लेता है। हाथी भी अपना इलाज आप कर लेता है। चिम्पेज़ी नौ महीनेके बालककी बुद्धि रखता है, परंतु चींटी सब संसारका प्रबन्ध करनेकी बुद्धि रखती है। अतः मनुष्य वनमनुष्यकी श्रेणीका भी नहीं। मस्तिष्कका सिद्धान्त चींटीके दृष्टान्तसे कट जाता है, चींटीको मस्तिष्क होता ही नहीं। यदि चींटीको मस्तिष्क हो तो भी चिम्पेज़ी आदिकी अपेक्षा तो नगण्य ही होगा। जब चींटी मस्तिष्कके बिना ही सब काम करती है, तब 'मनुष्य चौड़े मस्तिष्कसे ही सब काम करता है' यह नहीं कहा जा सकता।

इसी तरह दो पैरपर सीधे खड़े होनेसे आँतकी बीमारी होनेकी कहानी भी व्यर्थ है। यदि खड़े होनेसे यह बीमारी होती, तो करोड़ों वर्ष पहले भी यह बीमारी होना और फिर इसके डरसे मनुष्य सीधा खड़ा क्यों होता? वस्तुतः

यह रोग अधिक भोजनकी लोलुपताके कारण ही होता है। पशु बिना भूखके नहीं खाता। डा० ईटू कूनेका 'चिकित्साका नूतन विज्ञान' (न्यू साइंस ऑफ हीलिंग) पुस्तकमें कहना है—'आँत उतरनेकी बीमारी पेटके भीतर विकृत द्रव्यके बोझकी खिंचावट है। आमाशयकी झिल्ली उन स्थानोंमें जहाँ जरा भी रुकावट मिल जाती है, अंतर्द्धियों आन्तरिक दबावके कारण छेद कर देती हैं और बाहर निकल आती हैं, भिन्न-भिन्न पुरुषोंकी झिल्ली फटनेके स्थान भिन्न-भिन्न होते हैं, परंतु कारण सदैव एक ही रहता है। अतः इस रोगका कारण चोटखाना, गिर पड़ना, अथवा अन्य कोई बतलाना भूल है। झिल्ली अन्य कारणोंसे भी फट सकती है, परंतु आँत उतरनेका कारण चोट आदि नहीं है। युक्त चिकित्सा रीतिसे विकृत द्रव्यको शरीरसे निकाल देनेपर इस प्रकारके छिद्रोंमें आराम हो जाता है। फिर 'चौपायेसे द्विपाद होनेके कारण आँत उतरनेका रोग होने' की कल्पना सिर्फ बालकपन ही है। वनमनुष्य भी जबतक दो पैरसे खड़ा नहीं हो जाता, तबतक वह द्विपाद नहीं चतुष्पाद ही कहा जायगा। बदरके हाथ कहनेको ही हाथ हैं, वस्तुतः वे पैर ही हैं। बदर पैरसे भी वस्तु पकड़ता है। जगली स्त्री भी पैरसे वस्तु उठा लेती है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वनमानुष बंदरजातिका है। अभ्यास करनेसे तो बाजीगर आँखसे पैसा उठा लेता है और भानुमती पानीके अन्दर मुँह डालकर जीभसे नथमें मोती पिरो देती है। क्या यह सब बंदरोंमें सम्भव है? अच्छे पहलवान पैरसे दौंव चलाते हैं, सरकसवाले पैरसे कितने ही अद्भुत काम कर लेते हैं। क्या यह सब बदरोंके चिह्न हैं? उसी तरह अकलडाढकी बात है। जंगली लोगोंमें यह जल्दी निकलती है, इससे भी मनुष्यके बदरसे विकसित होनेकी बात सिद्ध नहीं होती। अङ्गाका शीघ्र स्फुटित होना खाद्य, पेय, आचार, व्यवहार एवं जलवायुपर निर्भर होता है। जगली मनुष्योंमें अकलडाढ कच्चे अन्न, कच्चे मांस खानेके कारण शीघ्र निकलती है, इसीलिये वह बड़ी भी होती है।

किसी-किसीके शरीरपर वालोंकी अधिकता गर्भमें पुरुष-शक्तिकी अधिकताकी द्योतक है। पुरुष-शक्ति अधिक होनेसे कभी-कभी स्त्रियोंके भी दाढी-मूँछ निकल आते हैं। पुरुष-शक्ति कम होनेसे पुरुषोंमें भी दाढी-मूँछ कम होते हैं। रोम, बाल, हड्डी, स्नायु आदि कठिन पदार्थ पितृ-शक्तिका परिणाम है। अतः किसीमें बाल अधिक देखकर बदरोंकी सतान होनेकी कल्पना भी गलत है। बाल होना यदि वानरोंका चिह्न है, तब तो जिन पुरुषोंके दाढी-मूँछ नहीं होती या जिन स्त्रियोंकी होती है, वे किसके विकास माने जायेंगे? क्या ऐसे भी बदर दिखायी देते हैं, जिनकी दाढीपर बाल स्त्रियोंकी भाँति बिल्कुल न हों? रहा वंश-परम्परागत वालोंका होना, सो वह तो सहज ही सिद्ध है। जब एक बार सतानके बाल निकल आये, तो वे धीरे-धीरे दस पोंच पीढ़ियोंके बाद ही जाते हैं। ऐन्यू लोगोंकी मनानेमें

अब बाल कम हो रहे हैं। इसलिये बालोंसे मनुष्य वानर-कक्षाका प्राणी सिद्ध नहीं होता।

अङ्गोंको न हिला सकना इस बातका सबूत नहीं है कि अब वे अङ्ग निकम्मे हो गये। क्या पीठपरसे मक्खी, मच्छर आदि उड़ानेकी अब आवश्यकता नहीं रही? यदि कहा जाय कि 'इनको उड़ानेके अब दूसरे साधन हो गये हैं, तो आँख, भौंह आदि हिलानेकी शक्ति क्यों बनी हुई है? इनकी ताकत तो सबसे पहले ही चली जानी चाहिये, क्योंकि हाथका साधन समीपमें है ही। वस्तुतः कर्मोंके अनुसार जिस प्रकारका भोग उपस्थित होता है, ईश्वर उसी प्रकारका शरीर और शक्ति देता है। गाल, भौंह, मस्तक, होठका फड़काना-नचाना यदि बंद हो जाता तो नाटक-नर्तकोंकी भाव-व्यञ्जना कैसे होती तथा दो अपरिचित भाषावालोंका परस्पर परिचय और संवाद कैसे सम्पन्न होता? सूँघकर पहचाननेकी शक्ति तो सभी मनुष्योंमें होती है। फूल-फल, इत्र, घी-तेल आदिके भेद सूँघकर सभी मनुष्य समझ सकते हैं। अभ्यासके कारण विशेषज्ञ इत्र आदिके भेद जितनी जल्दी बतला देते हैं, उतनी जल्दी व्योरेवार हर आदमी नहीं बतला सकता। संगीतज्ञ लोग रागोंके भेद अभ्याससे समझ लेते हैं, अन्य नहीं। जंगली और अशुद्ध लोग स्मृतिसे अधिक काम लेते हैं, इसलिये उनकी स्मरणशक्ति प्रबल होती है, परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि यह उनके पूर्वजोंका चिह्न है। राजस्थानमें पदचिह्न पहचाननेवाले लोग होते हैं। वे उससे चोरोका पता लगा लेते हैं, उनका यह अभ्यास किस पूर्व जातिकी देन है? रोएँ खड़े करना मनुष्यके आवश्यक नहीं, क्योंकि वह रोमवाला प्राणी नहीं। हर्ष, भय आदिके समय रोमाञ्च होनेपर रोएँ खड़े होते ही हैं, अतः रोमाञ्च करनेवाली नसोंको कमजोर नहीं कहा जा सकता। टूटा हुआ हाथ यदि कभी भी काम देता है तो उसे टूटा नहीं कहा जा सकता। रोमाञ्चवाली नसें न कमजोर हैं न रोज काम ही देती हैं। हाँ उनपर पुरुषकी स्वाधीनता नहीं है कि जब चाहे तब रोएँ खड़े कर दिये जायें। परंतु हृदय आदि यन्त्र भी तो स्वेच्छानुसार नहीं चलाये जाते, फिर भी वे सब अपना-अपना काम करते ही रहते हैं। फिर क्या हृदयको कमजोर कहा जायगा? इसी तरह रोमाञ्चवाली नसे भी कमजोर नहीं कही जा सकती। रोमाञ्च मनुष्यका ही गुण है, अन्य पशुओंका नहीं, इसलिये इसकी औरोंसे तुलना नहीं की जा सकती। गलेकी थैली गुठली न खानेकी चेतावनीके लिये है। मनुष्य फल खाता है, उसे गुठली नहीं खानी चाहिये अन्यथा पाचन-शक्ति कमजोर हो जाती है। गर्भमें शरीरपर बाल छा जानेका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य पहले बंदर था। यदि गर्भमें पुराने रूपोंका दिखलाना आवश्यक हो, तो फिर यह भी बतलाना पड़ेगा कि सबसे प्रथम प्राणी अमीबा अपनी उत्पत्तिमें किसका रूप दिखला रहा है। गर्भमें छः महीने बाद बच्चेकी खाल

बाहर आने योग्य होती है। कई बच्चे मात महीनेमें भी उत्पन्न होते हैं और पूर्ण आयु तक जीते हैं। उसलिये उस खालकी जरायुमें भरे गढ़े पानीमें रक्षा करनेके लिये ही गर्भमें वालोंका आयोजन होता है, क्योंकि वालोंके कारण बच्चेपर पानीका असर नहीं पड़ता। मनुष्यके वालोंके साथ वानरके वालोंकी तुलना भी नहीं हो सकती, क्योंकि किसी भी बंदरके सिरपर चार फीट लंबे बाल नहीं होते। किम बंदरकी दाढ़ी लंबी होती है। परंतु अनेकों मनुष्योंके सिर एवं दाढ़ीके बाल पर्याप्त लंबे होते हैं। संसारमें मनुष्यके अतिरिक्त किसी प्राणीके ऐसे बाल नहीं होते। 'मनुष्यका बच्चा रस्सी पकड़कर लटक सकता है', इसका भी यह तात्पर्य नहीं कि 'बंदरके बच्चेसे उसने पेटमें चिपके रहना सीखा है', इसलिये मनुष्यके बच्चेमें यह शक्ति है', किंतु पेटमें मुट्ठी बंधी रहनेके अभ्यासके कारण यह शक्ति होती है। पेटमें मुट्ठी उसलिये बंधी होती है कि यदि वह खुली रहे तो यह भय रहता है कि वह पेटकी किसी वस्तुको पकड़ सकती है और पैदा होते समय इसमें कठिनाई पड़ सकती है, अतः ईश्वरके प्रबन्धकी यह दक्षता ही है।

मनुष्यकी पूँछ पूँछ नहीं, वह तो बड़ा हुआ माम ही है, इसीलिये उसमें माम और नसे ही होती हैं, हड्डी नहीं होती। जिन प्रकार अमेरिकाकी आमेजन नदीके किनारे रहनेवाले मनुष्योंके ओष्ठ एक फुट लंबे होते हैं (सरस्वती वर्ष १०, अंक ४)। इसी प्रकार मनुष्योंके उस स्थानकी खाल भी बढी होती है। फिर भी जैसे उक्त अमेरिकन, हाथीका विकास नहीं माना जाता, वैसे ही मनुष्योंको भी बंदरका विकास नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त मनुष्यको वनमानुषका विकास कहा जाता है। पर जब वनमानुषकी पूँछ नहीं, तब वह मनुष्यको कैसे हो सकती थी। फिर यहाँ तो मनुष्य और वनमानुषके बीचमें एक और नरवानर भी माना जाता है। कई जगह फीलपॉव होता है, कहीं अडकोप-वृद्धि, कहीं गले और कंधे पेटकी वृद्धि होती है। इसी तरह अफ्रीकामें ओष्ठ मोटा होता है। पर 'यह सब नये अन्न फल रहे हैं', यह नहीं कहा जा सकता। इसी तरह स्थानविशेषकी किंचिन्मासवृद्धिको पूँछ नहीं कहा जा सकता। जावामें मिली पुरानी खोपड़ी या तो बालककी हो सकती है अथवा फ्रीनालोजीके अनुसार किसी मृगकी। उसी तरह मनुष्य, बंदर आदि सभी पञ्चतत्त्वरचित हैं। अतः सबमें जू-लीख, नींद-नशा आदि समान हों, इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? शास्त्र भी कहते हैं कि 'आहार-निद्रा, भय-मैथुनादि मनुष्य-पशु सभीमें समान ही होते हैं। मनुष्यमें धर्मकी ही विशेषता होती है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥ (चा० नानि)

मनुष्योंके वालोंके रंग बदलने और पशुओंके तरने आदिकी विशेषताओंके भेद भी पहले बतलाये ही जा चुके हैं। जिनके अनेक स्तनोंके आधारपर भी विकासवादी कहते हैं कि 'मनुष्य पहले स्थायी, चूड़ी

(चुहिया), कुत्ती, गिलहरी, बिल्ली एवं भल्लुकी होकर मनुष्य बना है।' परंतु अमेरिकाके मनुष्य लवे ओष्ठवाले होनेसे भी हाथीका विकास सिद्ध नहीं होता। अफ्रीकाके 'बुगमैन' अंधेरेमें देखते हैं, शिकार पकड़ते हैं, फिर भी वे गीध, उल्लू, सर्पसे उत्पन्न सिद्ध नहीं होते। यों तो कुछ-न-कुछ लक्षण मनुष्यमें सभी प्राणियोंके पाये जा सकते हैं, इससे क्या यह भी कहा जाय कि 'मनुष्य सभी जातियोंमें होकर आया है ?' ऐसा माननेपर हेकल, हक्सले आदिकी इक्कीस श्रेणीवाली बात भी असत्य ठहरेगी। हिंदू-शास्त्र तो यह मानते हैं कि 'प्राणी चौरासी लाख योनियोंमें भटकनेके बाद ही मनुष्य बना है। इसीलिये वह पैदा होते ही दूध पीनेमें प्रवृत्त होता है। हर्ष, शोक, भयका संचार भी पिछली अनेक योनियोंमें उमके जन्म होनेकी सूचना है। उत्पन्न होते ही बालकमें पूर्वजन्मके संस्कार उपलब्ध होते हैं, तब गर्भमें भी अनेक संस्कारोंका होना उचित ही है। उन संस्कारोंके अनुसार शरीरकी बनावटमें भी कुछ अन्तर पड़ता है। सगर्भा माताके भावविशेषसे प्रभावित होनेपर भी गर्भपर उसका असर पड़ता है। इस तरह गर्भस्थके संस्कार, माताके विचार, व्यवहार, देश, काल, परिस्थितिकी विशेषतासे गर्भस्थ बालकमें भी विचित्रता आ जाती है।

विकासवादके विरुद्ध सृष्टिमें कितनी ही बातें हैं, जिनसे विकासका सिद्धान्त खण्डित होता है। नरोंके स्तन, बकरीके गलेके स्तन, घोड़ेमें स्तनोंका अभाव, भेड़ोंकी सींग, मनुष्यकी छठी अंगुली आदि विकासवादके विशिष्टाविशिष्ट अङ्गोंकी कल्पनाको मिथ्या सिद्ध करते हैं। भैंसा, बैल, बकरा, हाथी, ऊँट, सिंह, कुत्ता, वानर और पुरुषोंके स्तन कब, क्यों और कैसे होते हैं, इनका उत्तर विकासवादमें नहीं है। अमीवामें नर-मादाका भेद नहीं था, आगे चलकर वह कैसे हो गया ? पहलेके प्राणियोंमें स्तन नहीं थे, चमगादड़से स्तन भी उत्पन्न होने लगे। जब पहले बिना स्तनके भी प्राणियोंका पोषण होता ही था, तब फिर स्तनकी क्या आवश्यकता आ पड़ी ? फिर नरोंके स्तनोंका क्या प्रयोजन और घोड़ेमें स्तन क्यों नहीं ? भेड़ोंमें सींग परम्परासे नहीं होते। किसीको हो जाते हैं, किसीको नहीं। विकासवादी इनका क्या कारण कहेंगे ? वस्तुतस्तु गर्भस्थके संस्कारों, माता-पिताके विचारों एवं व्यवहारोंसे ही ये सब विकृत अङ्ग होते हैं। जिस तरह मनुष्योंमें आठ-दस स्तन और पूँछ आदिके चिह्न देखे जाते हैं, उसी तरह पशुओंमें किसी अन्य पशुके चिह्न नहीं दिखायी पड़ते। वानरोंमें न कभी आठ-दस स्तन होते हैं और न एक साथ एकसे अधिक बच्चे ही होते हैं। परंतु मनुष्यके अनेक स्तन एवं एक साथ अनेक बच्चे भी पैदा होते हैं, अतः न वानर ही अन्य पशुओंका विकास है और न मनुष्य वानरका ही विकास है।

पशुओंको पुराने जन्मकी स्मृति नहीं होती, मनुष्योंको पिछली स्मृतियाँ

होती हैं, इसीलिये मनुष्योंमें ८४ लाख योनियोंमेंसे किसीके सस्कार गर्भमें उत्पन्न होनेसे बेसी रचना हो जाती है, पशुओंमें नहीं। यह भी मत है कि पुरुषका वीर्य अनेक कणोंका बना होता है, प्रत्येक कणमें एक-एक बालक उत्पन्न करनेकी शक्ति होती है। प्रायः एक कणहीसे बालक उत्पन्न होता है, अन्य घिसकर नष्ट हो जाते हैं। कभी कभी कई कण रह जानेपर कई बालक उत्पन्न होते हैं। कभी कोई कण दूसरे कणसे जुड़ जानेपर वही कहीं छठी अंगुली, कभी पूँछके समान अङ्ग और कभी अनेक स्तन उत्पन्न कर देते हैं। एक ही भेड़में बकरा और भेड़ा दोनोंका संयोग होनेसे सींगवाला भेड़ा पैदा होता है। देवात् सगर्भा गायसे साँड़का संयोग होनेपर पाँच पैर दो पूँछवाला बच्चा पैदा हो जाता है। कभी पाँच पैरोंकी गाय दिखायी देती हैं, उनमें दूसरी गायका पैर काटकर जोड़ दिया जाता है। विदेशोंमें ऐसे जोड़-तोड़की पद्धति चलती है।

संधियोनियाँ

‘इसी तरह संधियोनियोंके आधारपर भी विकाससिद्धिका प्रयत्न किया जाता है। ‘जो प्राणी बिल्कुल दो श्रेणियों जैसा आकार रखते हैं, वे संधियोनिके हैं—जैसे चमगादड़, डकविल, आर्किओप्टेरक्स, ओपोसम और कंगारू। जिनके कुछ अङ्ग निकम्मे हो गये हैं, जैसे ह्वेल, मयूर, शुतुर्भुग और पेन्ग्विन एवं जिनके कई अधिक अङ्ग स्फुटित हो गये हैं, जैसे कई स्तनोंकी स्त्रियाँ, पुच्छवाले मनुष्य।’ पर सिद्धान्तानुसार इनमेंसे किसीसे भी विकासवाद सिद्ध नहीं होता। यह पुनर्जन्मका सिद्धान्त माननेसे ही सिद्ध होता है। उड़नी गिलहरी और चमगादड़, वानर और वनमानुष—इन दोनोंमें एक उन्नत और दूसरा अनुन्नत है। इनमेंसे कोई निम्नश्रेणीसे उच्चश्रेणीमें जा रहा है और कोई उच्चश्रेणीसे निम्नश्रेणीमें उतर रहा है।

विकासवादीका कहना है कि ‘आदिका प्राणी वनस्पति और रेंगनेवाले प्राणियोंके बीचका था।’ परन्तु यह भी सत्य नहीं। वस्तुतः पहले वनस्पति हुए, फिर जन्तु। वनस्पति कटकर दो हो जानेपर भी जीवित रहते हैं, पर जन्तु कटनेपर जीवित नहीं रहते। कहा जाता है कि ‘मानेर कृमि और केचुए कटकर भी जीवित रहते हैं।’ मानेर तो बहुत सूक्ष्म हैं, उन्हें कृमि कहना भी कठिन है, अतः वे वनस्पति ही हैं। केचुए बड़े होते हैं, वे सर्पकी तरह हड्डीवाले नहीं होते। ये वृक्षोंमें लिपटी हुई पीले रंगकी नागवेलके टगके होते हैं। इनमें और नागवेलमें चैतन्यका बहुत थोड़ा ही अन्तर है। वे भी वृक्षोंपर रेंगकर फैलते हैं। टुकड़े हो जानेपर दोनों ही जीवित रहते हैं। किन्तु नागवेल अकुर स्थानसे कटनेपर ही जीवित रहती है, हर जगहसे कटनेपर जीवित

(चुहिया), कुत्ता, गिलहरी, बिल्ली एवं भल्लुकी होकर मनुष्य बना है।' परंतु अमेरिकाके मनुष्य लंबे ओष्ठवाले होनेसे भी हाथीका विकास सिद्ध नहीं होता। अफ्रीकाके 'बुशमैन' अंधेरेमें देखते हैं, शिकार पकड़ते हैं, फिर भी वे ग्रीध, उल्लू, सर्पसे उत्पन्न सिद्ध नहीं होते। यों तो कुछ-न-कुछ लक्षण मनुष्यमें सभी प्राणियोंके पाये जा सकते हैं, इससे क्या यह भी कहा जाय कि 'मनुष्य सभी जातियोंमें होकर आया है ?' ऐसा माननेपर हेकल, हक्सले आदिकी इक्कीस श्रेणीवाली बात भी असत्य ठहरेगी। हिंदू-शास्त्र तो यह मानते हैं कि 'प्राणी चौरामी लाख योनियोंमें भटकनेके बाद ही मनुष्य बना है। इसीलिये वह पैदा होते ही दूध पीनेमें प्रवृत्त होता है। हर्ष, शोक, भयका संचार भी पिछली अनेक योनियोंमें उसके जन्म होनेकी सूचना है। उत्पन्न होते ही बालकमें पूर्वजन्मके संस्कार उपलब्ध होते हैं, तब गर्भमें भी अनेक संस्कारोंका होना उचित ही है। उन संस्कारोंके अनुसार शरीरकी बनावटमें भी कुछ अन्तर पड़ता है। सगर्भा माताके भावविशेषसे प्रभावित होनेपर भी गर्भपर उसका असर पड़ता है। इस तरह गर्भस्थके संस्कार, माताके विचार, व्यवहार, देश, काल, परिस्थितिकी विशेषतासे गर्भस्थ बालकमें भी विचित्रता आ जाती है।

विकासवादके विरुद्ध सृष्टिमें कितनी ही बातें हैं, जिनसे विकासका सिद्धान्त खण्डित होता है। नरोंके स्तन, बकरीके गलेके स्तन, घोड़ेमें स्तनोंका अभाव, मेढेकी सींग, मनुष्यकी छठी अँगुली आदि विकासवादके विशिष्टाविशिष्ट अङ्गोंकी कल्पनाको मिथ्या सिद्ध करते हैं। भैंसा, बैल, बकरा, हाथी, ऊँट, सिंह, कुत्ता, वानर और पुरुषोंके स्तन कब, क्यों और कैसे होते हैं, इनका उत्तर विकासवादमें नहीं है। अमीवामें नर-मादाका भेद नहीं था, आगे चलकर वह कैसे हो गया ? पहलेके प्राणियोंमें स्तन नहीं थे, चमगादड़से स्तन भी उत्पन्न होने लगे। जब पहले बिना स्तनके भी प्राणियोंका पोषण होता ही था, तब फिर स्तनकी क्या आवश्यकता आ पड़ी ? फिर नरोंके स्तनोंका क्या प्रयोजन और घोड़ेमें स्तन क्यों नहीं ? मेढोंमें सींग परम्परासे नहीं होते। किसीको हो जाते हैं, किसीको नहीं। विकासवादी इनका क्या कारण कहेंगे ? वस्तुतस्तु गर्भस्थके संस्कारों, माता-पिताके विचारों एवं व्यवहारोंसे ही ये सब विकृत अङ्ग होते हैं। जिस तरह मनुष्योंमें आठ-दस स्तन और पूँछ आदिके चिह्न देखे जाते हैं, उसी तरह पशुओंमें किसी अन्य पशुके चिह्न नहीं दिखायी पड़ते। वानरोंमें न कभी आठ-दस स्तन होते हैं और न एक साथ एकसे अधिक बच्चे ही होते हैं। परंतु मनुष्यके अनेक स्तन एवं एक साथ अनेक बच्चे भी पैदा होते हैं, अतः न वानर ही अन्य पशुओंका विकास है और न मनुष्य वानरका ही विकास है।

पशुओंको पुराने जन्मकी स्मृति नहीं होती, मनुष्योंको पिछली स्मृतियाँ

होती है, इमीलिये मनुष्योंमें ८४ लाख योनियोंमें किसीके सत्कार गर्भमें उद्भूत होनेमें वैसी रचना हो जाती है, पशुओंमें नहीं। यह भी मत है कि पुच्छका बीज अनेक कणोंका बना होता है, प्रत्येक कणमें एक-एक बालक उत्पन्न करनेकी शक्ति होती है। प्रायः एक कणहीसे बालक उत्पन्न होता है, अन्य विचकर नष्ट हो जाते हैं। कभी-कभी कई कण रह जानेपर कई बालक उत्पन्न होते हैं। कभी कोई कण दूसरे कणसे जुड़ जानेपर वही कहीं छठी अंगुली, कभी पूँछके समान अङ्ग और कभी अनेक स्तन उत्पन्न कर देते हैं। एक ही भेड़में बकरा और भेड़ा दोनोंका संयोग होनेसे सींगवाला भेड़ा पैदा होता है। बैवात् सगर्भा गायमें माँड़का संयोग होनेपर पाँच पैर दो पूँछवाला बच्चा पैदा हो जाता है। कभी पाँच पैरोंकी गाय दिखायी देती हैं, उनमें दूसरी गायका पैर काटकर जोड़ दिया जाता है। विदेशोंमें ऐसे जोड़-तोड़की पद्धति चलती है।

संघियोनियाँ

‘इसी तरह संघियोनियोंके आधारपर भी विकासवादिका प्रयत्न किया जाता है। ‘जो प्राणी विलकुल दो श्रेणियों जैसा आकार रखते हैं, वे संघियोनिके हैं—जैसे चमगादड़, डकविल, आर्किओप्टेरक्स, ओपोसम और कंगारू। जिनके कुछ अङ्ग निकम्मे हो गये हैं, जैसे ह्वेल, मयूर, शुतुर्गु और पेन्ग्विन एवं जिनके कई अधिक अङ्ग स्फुटित हो गये हैं, जैसे कई स्तनोंकी स्त्रियाँ, पुच्छवाले मनुष्य।’ पर सिद्धान्तानुसार इनमेंसे किसीसे भी विकासवाद सिद्ध नहीं होता। यह पुनर्जन्मका सिद्धान्त माननेमें ही मिट्ट होता है। उड़नी गिलहरी और चमगादड़, वानर और वनमानुष—इन दोनोंमें एक उन्नत और दूसरा अनुन्नत है। इनमेंसे कोई निम्नश्रेणीसे उच्चश्रेणीमें जा रहा है और कोई उच्चश्रेणीसे निम्नश्रेणीमें उतर रहा है।

विकासवादीका कहना है कि ‘आदिका प्राणी वनस्पति और रेंगनेवाले प्राणियोंके बीचका था।’ परन्तु यह भी सत्य नहीं। वस्तुतः पहले वनस्पति हुए, फिर जन्तु। वनस्पति कटकर दो हो जानेपर भी जीवित रहते हैं, पर जन्तु कटनेपर जीवित नहीं रहने। कहा जाता है कि ‘मानेर कृमि और केचुए कटकर भी जीवित रहते हैं।’ मानेर तो बहुत सूक्ष्म हैं, उन्हें कृमि कहना भी कठिन है, अतः वे वनस्पति ही हैं। केचुए बड़े होते हैं, वे सर्पकी तरह हड्डीवाले नहीं होते। ये वृक्षोंमें लिपटी हुई पीले रंगकी नागवेलके ढगके होते हैं। इनमें और नागवेलमें चेतन्यका बहुत थोड़ा ही अन्तर है। वे भी वृक्षोंपर रेंगकर फैलते हैं। टुकड़े हो जानेपर दोनों ही जीवित रहते हैं। किन्तु नागवेल अकुर स्थानसे कटनेपर ही जीवित रहती है, हर जगहमें कटनेपर जीवित

नहीं रहती। यही स्थिति केचुएकी भी है। वह भी जगह-जगहसे कटनेपर जीवित नहीं रहता, खास जोड़परसे कटनेपर ही जीवित रहता है। केचुएके बीचमें एक स्थानपर छोटे छोटे छिद्र होते हैं। उन्हीं छिद्रोंमें दूसरा प्राणी उत्पन्न करनेका बीज रहता है। इनमें नरमादाका भेद नहीं रहता। वे परस्पर लिपटकर उन्ही बीज छिद्रोंमें बीजकी बदली और पुष्टि-वृद्धि करते हैं। इनको बीचसे काटनेपर यदि बीज-छिद्र पूँछकी ओर रह गया, तो वह भाग भी जानदार हो जाता है। पर यदि बीज-छिद्र पूँछकी ओर न रहा तो वह जीवित नहीं रहता। जैसे मनुष्यके कटे हुए हाथ-पैर जिंदा नहीं रहते, परंतु सिर एव धडका अश जिंदा रहता है। वैसे ही केचुएके सिरकी ओरका अश स्वतः जीवित रहता है, किंतु पूँछकी ओरका अश कट जानेपर जीवन बीज-छिद्रोंके कारण जीवित हो जाता है। केचुभोकी वनस्पतिके साथ अधिक तुलना है। वृक्षोंमें कोई फलोंके द्वारा, कोई डालोंके द्वारा और कोई जड़ोंके द्वारा वंश-विस्तार करते हैं। गुलाब आदिके डंठलसे वृक्ष बन जाता है, उसीसे केचुएका मेल मिलता है। जैसे अंकुरहीन गुलाबका डंठल सूख जाता है, वैसे जीवन-बीज-छिद्र-हीन केचुआ भी सूख जाता है। जैसे मनुष्यों और पशुओंके बीचमें वदर वनमानुष हैं, जैसे—पशुओं और पक्षियोंके बीचमें उड़नेवाली गिलहरी और चमगादड़ होते हैं; वैसे ही कीड़ों और वनस्पतियोंके बीचमें नागवेल और केचुआ है। केचुआमें कीड़ापन और नागवेलमें वृक्षपन अधिक है। केचुआ नागवेलसे होकर आया है और कृमि बनने जा रहा है। नागवेल केचुआसे होकर आयी है और वनस्पति बनने जा रही है। इस तरह समस्त सधियोनियाँ भिन्न-भिन्न योनियोंमें भटकनेके लिये पुलका काम दे रही हैं। इस तरह किसी प्राणीमें दो जातियोंका चिह्न देखकर विकास मानना भ्रम ही है।

इसी तरह अङ्गोंके ह्रासकी कल्पना भी व्यर्थ है। हेलके पैर और मोरके पख अब भी काम दे ही रहे हैं, यह पीछे कहा जा चुका है। अङ्गोंके स्फुटित होनेकी बातोंसे भी विकास सिद्ध नहीं होता, यह भी बतलाया जा चुका है। 'नवलकिंग्जोर प्रेस' लखनऊसे प्रकाशित, 'विश्वकी विचित्रता' नामक पुस्तकमें लिखा है कि 'प्रयागकी प्रदर्शनीमें एक मत्स्य स्त्री आयी थी और एक चुकंदरकी जड़में मनुष्यकी सूरत तथा एक दूसरे वृक्षमें मनुष्यके हाथकी शकल देखी गयी।' क्या वृक्षों और मछलियोंके पूर्व भी मनुष्य था? वृक्षों और मछलियोंके पूर्व तो विकासवादी मनुष्यका विकास नहीं मानते। विकासकी विधि और प्रकारके सम्बन्धमें विकासवादी कहते हैं कि 'आदिसे ही भिन्न-भिन्न प्राणियोंके जोड़े उत्पन्न हुए।' पर यह युक्ति शून्य है। प्राणियोंकी भिन्नताका कारण परिस्थिति और स्वाभाविक परिवर्तन ही है यन्त्र निर्माताके अनुकूल वनता है। अन्तिम अवस्थातक पहुँचनेके पूर्व यन्त्रकी

कई जातियाँ बन जाती हैं। अन्तमें सर्वश्रेष्ठ रचना स्थिर रहती है। यही प्राणियों-के विकासका दृष्टान्त है। विकासकी विधिमें सबसे प्रथम बात अनुकूलन (एडाप्टेशन) की है अर्थात् परिस्थितिके अनुसार प्राणी बनता है। परिस्थितियोंके अनुसार प्राणियोंमें परिवर्तन होते हैं और सततिमें वे परिवर्तन सक्रान्त होते हैं। परिवर्तन (वेरियेशन) में भी परिस्थिति, कार्य और पैतृक संस्कार हेतु होते हैं। सर्दी-गर्मी, नदी-नाले, वन-पहाड़में बसनेवालोंमें प्रेम, भय, भूख, प्यास और बीमारी आदि परिस्थितियाँ होती हैं। प्राणी जब ठंडे देशसे गरम देशमें आता है, तब उसे धक्की बीमारी होती है। गरम देशसे ठंडे देशमें और ठंडे देशसे गर्म देशमें आनेपर फेब्रिल की बीमारी होती है। अंधेरेमें वृक्षोंके पत्ते पीले पड़ जाते हैं। ठंडे देशके कुत्ते गरम देशमें जानेपर मर जाते हैं। अवर्षणके साथ वृक्ष सूख जाते हैं और उनमें नाना प्रकारके अवयव फूट पड़ते हैं। कार्य (फक्शन) से भी परिवर्तन होते हैं। उदाहरणार्थ लोहारका हाथ कठोर हो जाता है। हाथ ऊँचा रखनेवाले साधुओंका हाथ पतला हो जाता है। इसी तरह पैतृक संस्कारोंसे भी परिवर्तन होता है। जैसे कुष्ठ आदि बीमारियों सतानोंमें होती हैं। विलायतमें प्रायः भूरे बाल और काली आँखवाले स्त्री-पुरुषोंसे श्वेत केश और भूरी आँखवाली सतान होती है।

प्राकृतिक चुनाव

विकासकी दूसरी विधि डार्विनके प्राकृतिक चुनावकी है, जिसके पाँच तत्त्व हैं—(१) सर्वत्र विद्यमान परिवर्तन है, (२) अत्युत्पादन, (३) जीवन संग्राम, (४) अयोग्योंका नाश और योग्योंकी रक्षा तथा (५) योग्यताओंका सततिमें सक्रमण। परिवर्तनका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक प्राणी-की सततिमें भी भेद होता है। इस भेदका भी नियम है। इंग्लैंडमें सबसे अधिक संख्या उन लोगोंकी है, जो ५ फुट ८ इंचसे ९ इंचतक लंबे होते हैं। इनसे कम वे हैं, जिनकी लंबाई ५ फुट ७ इंचसे ८ इंचतक और ५ फुट ९ इंचसे १० इंचतक है। इनसे भी कम वे हैं, जिनकी लंबाई ५ फुट ५ इंचसे ६ इंचतक और ५ फुट १० इंचसे ११ इंचतक है। इन सबसे कम वे हैं, जिनकी लंबाई इनसे भी कम या ज्यादा होती है। इससे यह नियम बनता है कि यदि पर्याप्त संख्यामें औसत लंबाई ५ फुट ८ इंच ज्ञात है और उससे अमुक न्यून लंबाईवालोंकी संख्या भी ज्ञात है, तो अधिक लंबाईवालोंकी संख्या बतलायी जा सकती है। यह परिवर्तनके निश्चित नियमका उदाहरण है। 'अत्युत्पादन'का अभिप्राय यह है कि १५ वर्षमें चिड़ीके जोड़ेसे २ अरबसे कुछ अधिक सतति उत्पन्न होती है। पेटका एक कीड़ा ३० करोड़ अंडे देता है। इनमेंसे कई कीड़े ऐसे हैं, जो २४ घंटेमें १ करोड़ ७० लाख कीड़े उत्पन्न करते

हैं। यदि सुख-शान्ति हो तो २५ वर्षमें मनुष्य-संख्या भी दूनी हो जाती है। एक जोड़े हाथीसे ८०० सौ वर्षोंमें २ करोड़के करीब सतति होती है, 'जीवन-संग्राम' का तात्पर्य यह है कि सृष्टिमें हर जगह संग्राम हो रहे हैं। चींटियोंमें ही युद्धके कारण करोड़ोंकी मृत्यु होती है। कई मछलियों एक ऋतुमें १॥ करोड़तक अण्डे देती हैं, परंतु उनके सिरपर बैठे हुए शत्रु उन्हें नष्ट कर देते हैं। एक ऋतुतक रहनेवाले पौधोंसे २० वर्षकी अवधिमें १० लाख पौधे पैदा होते हैं, पर उनके सब बीज अच्छी भूमिमें नहीं पड़ते, इससे सततिका नाश हो जाता है। वर्षा, तूफान, भूकम्प, सिंह, व्याघ्र, सर्प आदिसे और स्वजातियोंसे सर्वदा असंख्य प्राणियोंका नाश हुआ करता है। इसी तरह नाना प्रकारकी बीमारियाँ भी करोड़ों प्राणियोंका नाश किया करती हैं, यही जीवन-संग्राम है। इन संग्रामोंमें वही बचते हैं, जो दूसरोंसे योग्य होते हैं और वे ही मरते हैं, जो निर्बल एवं अयोग्य होते हैं। प्राकृतिक चुनावकी प्रवृत्ति रक्षाकी अपेक्षा नाश करनेकी ओर अधिक है। एक ही जातिके भिन्न-भिन्न प्रकारके लाखों व्यक्तियोंको उत्पन्न करनेमें प्रकृतिका यही हेतु प्रतीत होता है कि यदि इनमेंसे दो, चार या दस-पाँच भी परिस्थितिके अनुकूल होकर बच जायँ तो उनसे उस जातिका अस्तित्व बना रहेगा। यही योग्यताओंका सततिमें संक्रमण होनेका ढंग है। यही डार्विनकी विकास-विधि है।

तीमरी विधि लामार्ककी है। उसके अनुसार 'कार्यसे प्राप्त हुआ परिवर्तन सततिमें आता है। जिराफ नामके पशुने पत्तोंके लिये गरदन उठायी, उसकी सततिने भी प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि गर्दन आगे बढ़ गयी। अगली सततिने और प्रयत्न किया, गर्दन और अधिक बढ़ायी। इस तरह प्रयत्न करनेसे उसकी गर्दन बहुत अधिक बढ़ गयी।'।

'विकासकी एक और विधि कृत्रिम और प्राकृतिक चुनावकी भी है। पशुओंके पालनेवाले कृत्रिम चुनावसे ही अच्छे बैल और घोड़े उत्पन्न करते हैं। किसान अच्छे बीजसे ही अच्छी फसल पैदा करते हैं। इस कृत्रिम चुनावसे ही क्वत्तर अनेक प्रकारके बनाये जाते हैं। जापानके मुर्गोंकी पूँछ बीस-बीस फुटतक लंबी कर दी गयी है। यह कृत्रिम चुनावकी विधि है। आस्ट्रेलियाके शशकोंमें पहले वृक्षपर चलने लायक नाखून नहीं थे, पर अब वैसे ही नाखून निकल रहे हैं, यह प्राकृतिक चुनावका नमूना है। विकासमें कार्य-कारण-भाव देखा जाता है। इंग्लैंडकी गायें विधवा स्त्रियोंके अधीन जीती हैं। वहाँ एक 'क्लवर' नामकी वनस्पति होती है, जिसकी वृद्धि मक्खियोंपर निर्भर है। जब चूहे मक्खियोंके अंडे खा जाते हैं, तब घासकी वृद्धि मारी जाती है। इंग्लैंडकी विधवा स्त्रियाँ बिल्ली पालती हैं। बिल्लियों चूहोंको खा जाती हैं, तब मक्खियोंकी खूब वृद्धि होती है।

इन मक्खियोंके पंखोंमें केसर पराग उस घासमें संयुक्त होना है, जिसमें क्लवरकी नृव वृद्धि होती है और गाँव आनन्दसे खाती हैं, एवं च उनकी वन-वृद्धि होती है। इस तरह गायोंका विधवाओंके साथ कार्य-कारण-भाव देखा जाता है। भारतमें भी जहाँ विलियम होती हैं, वहाँ चूहे नहीं होते और जहाँ चूहे नहीं होते, वहाँ प्लेग भी नहीं होता। यह भी कार्य-कारण-भावका नमूना है।

आनुवंशिक परम्परापर डार्विनकी राय है कि 'शरीरके प्रत्येक अवयवके प्रत्येक कोष्ठमें उस-उस कोष्ठके गुणवारी बहुत सूक्ष्म भाग उत्पन्न होते हैं। ये सूक्ष्म शरीरमें संतति-उत्पादक रजःकणोंमें इकट्ठे हो जाते हैं। इनमें उसी प्रकारके शरीर उत्पन्न करनेकी शक्ति होती है, जिस प्रकारके शरीरमें ये बनते हैं। ये शरीरकी प्रकृतियों ही हैं। इन्हींसे शरीर उत्पन्न होते हैं। इसपर वाइजमैनकी राय है कि शरीरके प्रत्येक कोष्ठमें क्रोमेटिन रहता है। इसीसे आनुवंशिक गुण रहते हैं। इसमें माता और पिताके समान गुण विद्यमान रहते हैं। गर्भ-वृद्धिके साथ-साथ यह भी बढ़ता है। इसकी धारा सतति, अनुसततितक लगातार बहती चली जाती है। यदि बीचमें कोई परिवर्तन उद्भूत होता है तो वह सततिमें सक्रान्त नहीं होता। यह सूक्ष्म वीक्षण-यन्त्रसे देखा गया है। वैज्ञानिक पहले इसे नहीं मानते थे, किंतु अब मानने लगे हैं। इससे डार्विनका सिद्धान्त पुष्ट होता है।' विद्वान् मेण्डलने यह भी निश्चय किया है कि 'पुत्रका पिताकी अपेक्षा पितामहके साथ अधिक मेल दिखायी पड़ता है।' डी० ह्याइजका कहना है कि 'नयी-नयी जातियाँ कभी-कभी एकदम बिना किन्हीं पूर्व चिह्नोंके उत्पन्न हो जाती हैं। इन्हें वह 'स्वयं परिवर्तित जाति कहता है।' ओसबोर्न बाल्डविन तथा लायडमार्गनका कहना है कि 'डार्विन और लामार्कका मत मिला देनेसे प्राणियोंका विकास अधिक अच्छे प्रकारसे सिद्ध किया जा सकता है।' नेगेली तथा ऐमरके सिद्धान्तपर कइयोंको अधिक विश्वास है। अज्ञात तथा अजेय शक्ति तथा आकस्मिक घटना और हेतुवादपर भी अनेकोंका विश्वास होने लगा है। सम्भव है इससे विकास विधिका अधिक स्पष्ट विवेचन हो सके।

परंतु इससे भी विकास सिद्ध नहीं होता। विकासवाद माननेवाले अनेक विद्वानोंने यह स्वीकार कर लिया है कि 'बहुतसे प्राणी अलग-अलग पैदा होते हैं और बहुतसे बिना रूप बदले आदि कालसे अबतक वैसे ही बने हुए हैं।' यह हकमलेने अपने 'एनिवर्सरी ऐड्रेस'में कहा है कि प्रत्येक प्राणी और वनस्पतिकी महान् जातियोंमें विशेष व्यक्तियों ऐसी होती हैं, जिनको मैं 'परसिस्टेंट टाइप' (स्थिर आकृति) का नाम देता हूँ। इनके स्वरूपमें आदि सृष्टिसे लेकर वर्तमान कालतक कोई ऐसा विकार नहीं हुआ, जो प्रतीत हो सके।' डी० ह्याइजने भी कहा है कि 'नयी जातियाँ बिना किन्हीं पूर्व चिह्नोंके उत्पन्न हो जाती हैं।' टी० एल्० स्ट्रेज महोदयका अपनी पुस्तकमें कहना है कि 'जल-कृमियोंमें बहुत

प्रकारके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंवाले जलजन्तु प्रतिदिन पैदा होते रहते हैं। ये एक ही जन्तुसे विकृत या विकसित होकर पैदा नहीं होते, किंतु बिल्कुल स्वतन्त्ररूपसे बिना दूसरेकी अपेक्षाके एक ही समयमें भिन्न-भिन्न गरीरोमें उत्पन्न होते हैं।' इन बातोंसे यह सिद्ध होता है कि विभिन्न प्राणियोंके अलग-अलग जोड़े ही उत्पन्न होते हैं। इसीलिये आज भी अलग-अलग प्राणी अपने-अपने जोड़ोंके साथ नये-नये रूपमें उत्पन्न होते देखे जाते हैं। अतः यह आवश्यक नहीं कि एक प्राणी दूसरे प्राणीसे विकसित होकर बने। लाखों प्राणी सृष्टिसे लेकर आजतक एक ही आकारमें बने हुए हैं। अमीबा स्वयं उसी आकारमें अबतक बना है जिसमें वह उत्पन्न हुआ था।

प्राणियोंकी उत्पत्तिमें यन्त्रका दृष्टान्त भी व्यर्थ-सा ही है। यन्त्र अपने या दूसरोके लिये बनाया जाता है, यन्त्रके लिये नहीं। परंतु यह शरीर, शरीर बनाने-वालेके लिये नहीं बनाया जाता, प्रत्युत वह अन्य शरीरोके लिये ही बनाया जाता है। कोई माइकिल उसी साइकिलके लिये नहीं बनायी जाती। अतः शरीरकी यन्त्रसे तुलना करना ठीक नहीं। यह पीछे कहा जा चुका है कि यन्त्र उत्तरोत्तर टिकारू बनते हैं, पर यहाँ तो सर्प और कछुआ १५० वर्ष जीते हैं, उनसे आगे बननेवाले दूसरे प्राणी उनसे कम जीते हैं। विकासवादके अनुसार पक्षियोंके बाद मनुष्यका विकास हुआ है। पक्षीमें उड़नेकी शक्ति थी, वह मनुष्यमें नष्ट हो गयी। मनुष्य आज वायुयान बनानेमें सिर मार रहा है। 'इसी तरह अनुकूलनसे परिवर्तन और परिवर्तनका सततिमें सक्रमण बतलाया जाता है।' विकासवादका यही मौलिक सिद्धान्त है। अनुकूलन, परिवर्तन और सक्रमण—ये तीनों शब्द महत्वके हैं। जब जैसा देश, काल और परिस्थिति आये, तब उन्हें सहन कर लेना और उनके अनुसार हो जाना 'अनुकूलन' कहा जाता है। गर्मीके दिनोंकी खालसे सर्दीके दिनोंकी खालमें बड़ा अन्तर होता है। कसरत करनेवाले और न करनेवालेके शरीरमें अन्तर पड़ता है। इसी तरह परिवर्तनोका सततिमें सक्रमण भी होता है।' यह बातें ठीक हो सकती हैं, परंतु इतनेसे यह तो सिद्ध नहीं होता कि सोंपसे भैंस बन जाती है। यदि प्रश्न किया जाय कि 'पशुओके शरीरपर वाल क्यों होते हैं?' तो उत्तर यही हो सकता है कि 'सर्दीसे बचनेके लिये।' टेराडेल्फिगोके निवासी सर्दीके कारण इतने ठिगने हो गये कि डार्विनको उन्हें मनुष्य समझनेमें भी शंका हो गयी। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अनुकूलनके लिये उनके शरीरपर बड़े-बड़े वाल क्यों नहीं निकले? विकासवादियोंके पास इसका कोई उत्तर नहीं है। परंतु एक आस्तिक तो यही कह सकता है कि उनकी देहपर रीछोकी तरह बड़े-बड़े वाल हो जाने या अन्य अवयवोंमें हेर-फेर हो जानेसे उनके साथ समान-प्रसव नहीं रह जाता और उनकी

एक अलग ही जाति हो जाती है। परन्तु परमेश्वरको एक जातिसे दूसरी जाति बनाना मजूर नहीं, अतः अनुकूलन उतना ही होता है, जितना उस प्राणीकी स्थाने सम्बन्ध रखता है। यह नहीं कि कुछ का-कुछ हो जाय। अतएव टेराडॉल्फिगोके मनुष्योंमें अनुकूलनसे जितना परिवर्तन होना अनिवार्य था उतना ही हुआ। यन्त्रके उदाहरणसे तो कह सकते हैं कि यह छोटे शरीरकी मशीन पहली मशीनसे खराब ही बनी। कोई मनुष्य किसी देशमें जाकर छोटा या दुबला हो जाय तो उसे अनुकूलनके बदले प्रतिकूलन ही कहना ठीक है।

उसी प्रकार परिवर्तनका सततिमें संक्रमण भी स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है। टेराडॉल्फिगोके मनुष्योंने परिवर्तित होकर जितना परिवर्तन अपनी सततिको दिया, उतना ही आज कायम है। जितने ठिगने वे हजारों वर्ष पूर्व थे, उतने ही अब भी हैं, यह नहीं कि प्रतिवर्ष अधिकाधिक ठिगने होते जाते हो। यही गुणोंका सक्रमण है। अतः पिता, पितामहकी भाँति बन जाना, कुछ-का-कुछ हो जाना सक्रमण नहीं। हजारों वर्षोंसे बदरों, मनुष्यों तथा अन्य पशुओंमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं दिखायी दे रहा है। यदि परिवर्तन स्वाभाविक होता तो इनमें भी कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य लक्षित होना चाहिये था। विकासवादके मतानुसार पैतृक-मस्कारका प्रश्न बड़े महत्त्वका है। इसपर अभी पूरा विचार नहीं हुआ। विद्वान् वेकन परिस्थितिको महत्त्व देता है। उसके अनुसार 'गर्मदेशमें रहनेसे शरीर काला हो जाता है और वह रंग उसकी सततिमें आता है।' पर लामार्क इसका कारण कार्यको बतलाता है। लोहारका दाहिना हाथ कार्यके कारण अधिक मजबूत होता है। यह बात उसके लड़केमें जन्मसे ही होती है। परन्तु डार्विन इन दोनोंके विरुद्ध प्राकृतिक चुनावको ही महत्त्व देता है। वह प्राकृतिक चुनावको ही सक्रमणका कारण मानता है। यद्यपि विकासवादियोंमें भी मतभेद है, तथापि परिवर्तन सभी मानते हैं और वह परिवर्तन आस्तिकको भी मान्य ही है। एक ही घरमें भिन्न भिन्न आकृति, बल और बुद्धिके मनुष्य हैं, देश-देशान्तरोंके भी मनुष्योंमें अन्तर होता है, पर तो भी वे सब-के-सब हैं मनुष्य ही।

डार्विनके प्राकृतिक चुनावमें सबसे पहली बात है 'परिवर्तनका सर्वत्र विद्यमान होना।' किंतु हम देखते हैं कि प्रकृतिमें सर्वत्र परिवर्तन विद्यमान नहीं है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, अमीबा, हाइड्रा तथा लाखों अन्य प्राणी जैसे पहले थे, वैसे अब भी हैं। यही विकासवाद और आस्तिकवादमें भेद है। विकासवादी सब जगह अव्याहत गतिसे परिवर्तनका जारी रहना मानते हैं। आस्तिकवादमें वस्तुमें आयुके अनुसार परिवर्तन होना है। अनेकों

प्राणी बालकसे युवा हो रहे हैं और अनेको युवा वृद्ध हो रहे हैं। इसे ही हाम-वृद्धि भी कहा जा सकता है। परंतु आस्तिकवादी ऐसा परिवर्तन नहीं मानते कि पृथ्वी धीरे धीरे रेल बन रही है और समुद्र धीरे-धीरे पुच्छल तारा हो रहा है। इसी तरह कबूतर भालू नहीं बन रहा है, घोड़ा, साँप और गधा बिच्छू नहीं बन रहे हैं। जल, वायु, माता-पिता और पूर्व सस्कारोंके कारण जो परस्पर भिन्नता दिखायी पड़ती है, उतना ही परिवर्तन है। यह समझना कि 'आगे' चलकर किसी देशके आदमी हरे रंगके हो जायेंगे, किसी देशके ऊँटोंके सिरपर सींग निकल आयेगे, ठीक नहीं है। जो प्रदेश आज समुद्रमें हैं, यद्यपि अभी उनके जलवायुका पता नहीं, यदि वहाँ भूमि निकल आये और उसपर मनुष्य बस जायें, तो लाखों वर्षोंमें वे किस प्रकारके हो जायेंगे, यह कहना भले कठिन हो, पर इतना तो निश्चय है कि जो रूप, रंग और आकार इस समय संसारमें प्रस्तुत है, इन्हींमें थोड़े बहुत हेर-फेरके साथ वहाँ भी रूप रंग और आकार-प्रकार होगा। यह नहीं कहा जा सकता कि अटलान्टिक समुद्र सूख जानेपर वहाँके निवासी ८५ हजार वर्षोंमें वैगनी रंगके हो जायेंगे और उनके कान बढकर पैरतक आ जायेंगे, जिनसे कि वे लोग पक्षीके पंखोंका काम ले सकेंगे।

परिवर्तनका एक नमूना अमेरिकामें तैयार हो रहा है। यूरोपसे जो लोग अमेरिकामें जाकर बसे हैं, उनका आकार-प्रकार अमेरिकाके मूल निवासी लाल भारतीयों (रेड इंडियन) जैसा हो रहा है। अंग्रेजोंको इंग्लैंडसे अमेरिका गये हुए अभी ४०० वर्ष ही हो रहे हैं, परंतु इतने ही थोड़े समयमें इंग्लैंडवाले रेड इंडियनोंके रूपके होते जा रहे हैं। इससे मालूम पड़ता है कि रेडइंडियनोंका परिवर्तन बढ है अन्यथा अंग्रेज यदि रेडइंडियनोंके समान हो गये तो रेडइंडियन अवतक कुछ और ही तरहके हो गये होते। किंतु वहाँके जलवायुने जितना कुछ परिवर्तन उनमें करना था, उतना लाखों वर्ष पूर्व ही कर डाला। इस बातसे भी त्रिकासवादकी निरन्तर परिवर्तनवाली बात कमजोर हो जाती है। पूर्वोक्त टेराडेल्फिगो और अमेरिकाके उदाहरणोंसे यह सिद्ध होता है कि परिवर्तन सीमित ही होता है, निःसीम नहीं। अतः इस मर्यादित परिवर्तनसे डार्विनका अमर्यादित परिवर्तन सिद्ध नहीं होता।

दूसरी बात अत्युत्पादनकी है। अत्युत्पादन और उत्पादनमें बहुत अन्तर है। उत्पादन ईश्वरीय एवं प्राकृतिक तथा अत्युत्पादन अस्वाभाविक होता है। ईश्वरीय, शास्त्रीय नियमोंके पालनसे नियमित उत्पादन होता है। अशास्त्रीय, अस्वाभाविक, अनाचारों, पापोंके बढनेपर अत्युत्पादनका क्रम चलता है। जन्म, मरण तथा विविध सुख-दुःखोंका अनुभव पाप-पुण्यादिकर्मोंका ही फल है। जन्म-मरण आदिमें भी दुःख ही होता है, यह अधिकांश पापोंका फल है। तत्त्वज्ञानसे

मोक्ष होता है। कर्म एव उपासनाके समुच्चयसे ब्रह्मान्त देवलोकोंकी ओर केवल कर्मकाण्डसे पितृलोककी प्राप्ति होती है। जो लोग कर्म एव उपासना दोनोंसे ही भ्रष्ट हैं, पागविक काम, कर्म, ज्ञानमें निरत हैं, उन्हींके लिये कीट-पतगादि योनियोंमें जन्म कहा गया है—‘जायस्व त्रियस्व इत्येतत् तृतीयं स्थानम्।’ इनमें जन्म-मरणादि कष्ट ही अधिकांश भोगना पड़ता है। इनके जन्ममें पञ्चाग्नि, द्युलोक, पर्जन्य, भूमि, पिता, माता आदि अपेक्षित नहीं होते। कई ढंगके प्राणी वृष्टिसे, कई मड़ी लकड़ियोंसे, कई गोबरसे, कई गीलं वालोंसे, कई विविध मलोंसे और कई तो मक्षिकाओंके विष्टारूप (एक मक्षिका जो कण-कणमें विष्टारूपसे सैकड़ों सूक्ष्म कीड़े उत्पन्न करती है) उत्पन्न होते हैं। ये सभी कर्मोंके ही फल हैं। मनुष्ययोनिके अतिरिक्त प्रायः अन्य सब भोगयोनियाँ हैं, भले ही हनुमान्, अगद, वालि, सुग्रीव, जाम्बवान्, जटायु, सपाति, गरुड़, अरुण आदि कुछ विशिष्ट जातिके विशिष्ट प्राणी विशिष्ट ज्ञानोपासनादिसम्पन्न हो। इसी तरह राक्षस, दानव और जेप, वासुकि आदि विशिष्ट नागोंमें भले ही विशिष्ट ज्ञान-उपासनादिकी वाते हो, परन्तु व्यापकरूपसे मनुष्य ही कर्मयोनि है, अन्य सब भोगयोनियाँ हैं। सृष्टिकी विचित्रता कमोंकी विचित्रतासे होती है। इसी आधारपर सर्वज्ञ महर्षियोंको अनुभूत कुछ विचित्र ढंग, विशिष्ट परिमाणके भी मनुष्य, पशु, पक्षी, नाग आदिका वर्णन वाल्मीकि-रामायण, महाभारत आदिमें मिलता है। कृत, त्रेतादि युगोंमें सत्त्वगुणकी अधिकता होती है, इसलिये सदाचार, सद्बिचार एव नियमित धार्मिक प्रवृत्तिका ही बाहुल्य होता है, अतः प्राणियोंको क्षुद्र जन्तुओंकी योनियोंमें जानेकी नौवत कम ही आती है। द्वापर, कलियुगोंमें रजोगुण, तमोगुणके विस्तार, पाप-प्रवृत्तिकी बहुलता आदिसे क्षुद्र जन्तुओंकी बहुतायत होती है। हिंसा, भूख, युद्ध एव प्राकृतिक विप्लवोंसे अकालमृत्यु भी बढ़ती है। अन्तिम लक्ष्य सभीका यही है कि सदाचारी, भक्त, जानी बनकर, मुक्त होकर भगवत्पदको प्राप्त करना। स्वाभाविक, प्राकृतिक नियमोंका उल्लङ्घन करने, जगल काट डालने, विविध प्रकारके कल कारखाने तैयार करने और यथेष्ट चेष्टादिसे सृष्टिमें बहुत उथल-पुथल हुए हैं, मेघ विद्युत् एवं भूगर्भमें इन कारणोंसे अनेक अस्वाभाविक परिवर्तन हुए हैं, अतः प्राणियोंमें अल्पायु, अल्पशक्ति आदि अनेक कृत्रिम परिवर्तन हुए हैं। ईश्वरीय, शास्त्रीय प्रवृत्तिके अनुसार मनुष्य बहुत कुछ अनुकूल परिवर्तन कर सकता है।

डार्विनके मतानुसार ‘जीवन-संग्राममें प्रकृति योग्योंका ही चुनाव करती है’ यह बात सत्य नहीं है। इंग्लैंडके मनुष्योंकी ऊँचाईका जो नियम पीछे कहा गया है, तदनुसार अधिक संख्या मध्यमें लवाईवाले मनुष्योंकी ही है, बहुत नाटे और बहुत लंबे लोगोंकी संख्या कम ही है। ‘योग्योंके चुनाव’ का सिद्धान्त यदि ठीक हो तो लंबे लोगोंकी ही संख्या अधिक होनी चाहिये। अयोग्य सबसे छोटा और निर्दल

जन्तु है, पर उसकी संख्या सबसे अधिक पायी जाती है। अन्य कीट-पतंगोंकी भी संख्या सर्वाधिक ही है। सबसे योग्य मनुष्योंकी संख्या तो कीट-पतंगोंकी अपेक्षा नगण्य ही है। मनुष्यको बलमे हाथी, सिंह, घोड़ा, ऊँट आदि पराजित कर देते हैं। दीर्घ जीवनमें सोंप और कछुआ मनुष्यसे बड़े हुए हैं। बुद्धिमें चींटी; परिश्रम, संचय, प्रबन्ध, कारीगरीमें मधुमक्खी सर्वश्रेष्ठ है। ये सब अपनेसे उत्तरवर्तियोंकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ हैं। 'फिर योग्योका चुनाव होता है', यह कैसे कहा जा सकता है ? पक्षियोंके पख, चींटियोंकी बुद्धि, कछुओंकी आयु कुछ कम योग्यताकी बात नहीं है। चींटीसे कनखजूरेके विकासमें कौन-सी योग्यता बढ़ी ? उड़ना, दीर्घजीवी होना, बुद्धिमान् होना उत्तरोत्तर महत्त्वकी बातें हैं। चींटीकी बुद्धि, कछुएकी आयु और पक्षीकी उड़नेकी शक्तिको छोड़कर स्तनधारी प्राणियोंमें क्या योग्यता हुई ? मनुष्यमे अवश्य योग्यता है, परन्तु अन्य स्तनधारियोंमें पूर्वोक्त जन्तुओंसे कोई योग्यता नहीं दिखलायी पड़ती, अतः योग्यताका संततिमें सक्रमणका सिद्धान्त भी असंगत ही है। ससारमे अयोग्योकी ही संख्या अधिक है। निर्बल, निर्धन और निर्बुद्धियोंकी बहुतायत स्पष्ट ही है। यदि मनुष्य अपनी सतानोंको योग्य बनानेका यत्न न करे तो सतानोंमें ज्ञानका संक्रमण अपने आप नहीं होता। 'अयोग्योके मरनेका सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। क्या युद्धो, बीमारियोंमें अयोग्य ही मरते हैं ? देखा तो यह जाता है कि ससारमें योग्योकी अपेक्षा अयोग्योंकी ही संख्या अधिक है। वस्तुतः विकासवादियोंको अबतक भी इस सम्बन्धका कार्य-कारण निश्चित नहीं है। इसलिये उनका कहना है कि 'नयी उपजातियोंकी उत्पत्ति करनेमें परिस्थिति, कार्य या पैतृक-संस्कार, इनमेंसे कौन अधिक कार्यकर है और कौन कम, इसका अबतक पूर्णतया निश्चय नहीं हुआ।' आस्ट्रेलियाके गशकोमे वृक्षोंपर चढ़ने लायक नाखून निकल रहे हैं।' यदि यह सत्य भी हो तो भी इतने मात्रसे वह नयी जाति नहीं है। जैसे मनुष्य होनेपर भी हब्शी, चीनीमें कुछ भेद होता है, वैसा ही सामान्य भेद यहाँ भी समझ लेना चाहिये और यदि किसी नये अङ्गविशेषका अकस्मात् नया विकास दिखलायी पड़ता है तो सृष्टिमें उसका भी उदाहरण है ही। जैसे, दीमकोंमें पख लग जाते हैं, कितु पर लगते ही उड़-उड़कर वे प्रायः मर ही जाते हैं। उनकी इस नयी जातिकी पीढ़ी नहीं चलती। कभी देश कालके अनुसार यदि कुछ हेर-फेर होता है तो वह भी शीघ्र ही स्थिर हो जाता है, जैसे कि अमेरिकाके रेड इंडियनोंका।

कृत्रिम चुनाव

कृत्रिम चुनावके भी तीन नियम हैं—(१) अमुक मर्यादातक कृत्रिम होनेपर संतति होती है, (२) अमुक मर्यादाके बाद अपनी पहली पीढ़ियोंके रूपकी ही हो जाती है और (३) अमुक मर्यादाके बाद वंश बढ़ हो जाता है।

पहला नियम प्रायः सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसीके अनुसार मनुष्य पशुओं एवं वृक्षोंके अच्छे बीज पैदा करते हैं। नीरोग, बलवान् माता-पितासे अच्छी सतति पैदा होती है। इनमें माताका अंश अधिक होनेपर सततिमें माताके अंश अधिक व्यक्ति होते हैं और पिताका अधिक होनेसे सततिमें उसके अंश अधिक व्यक्ति होते हैं। सौंड़का अंश अधिक होनेसे बछड़ेमें सींग आदि बड़े होते हैं और गायका अंश अधिक होनेसे छोटे सींगवाले या मुण्डे बच्चे होते हैं। फिर भी सींगका असर रहता है। इसीसे मुण्डेकी सतानमें भी सींग होते हैं। इसी नियमानुसार कौंटेदार नागफनी और सिवाड़ेसे बिना कौंटेवाली नागफनी और सिवाड़े बना लिये जाते हैं। यहाँ कृत्रिम उपायोंसे पितृ-शक्ति कम कर दी जाती है। इसीलिये कभी-कभी उनसे फिर कौंटेदार नागफनी आदि उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हीं सिद्धान्तोंसे कृत्रिमोकी विचित्रता बनती है।

दूसरे नियमका उदाहरण कलमी आम है। कलमी आम बोलनेसे दो पीटियोंमें वह साधारण आम हो जाता है। भेड़िये-कुत्ते और चीते सिंहके संयोगसे यदि संनान होती है, तो भी कुछ ही पीटियोंके बाद वह कुत्ते और चीतेकी-सी हो जाती है। यही सिद्धान्त सन् १९२२ के 'न्यू एज'में प्रकाशित है। हेनरी डमडसका भी यही मत है। मेन्डलके 'कभी-कभी बच्चाका पिताकी अपेक्षा पितामहके साथ बहुत मेल दिखलायी पड़ता है', इस कथनका भी यही अभिप्राय है। यदि कोई व्यक्ति अपनेमें कुछ अमर्यादित हेर-फेर कर डाले तो भी उसकी सतानमें वे चिह्न प्रकट नहीं होते, किंतु वह पितामहके गुणोंकी ही होती है। इससे पता लगता है कि प्रकृति पुरानी जातियोंकी ही रक्षा चाहती है।

तीसरे नियमके अनुसार ब्रेहिसाव(अमर्यादित) परिवर्तन होते ही वंश रुक जाता है जैसे घोड़े-गधेके संयोगसे खच्चर उत्पन्न होते हैं, परंतु उनका वंश नहीं चलता है। जापानके सुगाका भी वंश बढ़ हो जाता है। पाँच पैरकी गाय, पेवन्दी बैर आदिका वंश भी बढ़ हो जाता है। लामार्कने चूहोंकी दुम काटकर बिना दुमके चूहे पैदा करना चाहा था। अनेको पीटियोंतक वह प्रयत्न करता रहा, परंतु बिना पूँछके चूहे नहीं हुए। लेसिस्टर गायरके कुछ भेड़ चरानेवाले अपनी कुछ भेड़ोंका घाड़ेके बराबर और कुछ भेड़ोंको चूहोंके बराबर बनाना चाहते थे, परंतु दोनों प्रयत्न विफल हुए, उनका घटना-बढ़ना सामित ही रहा। प्राकृतिक चुनावके नमूने तो प्रायः सभी हैं, सामान्य भेद इन सबमें होता है। समान जातिमें समान उमरकी स्त्रियों, पुरुषों तथा पशुओं आदि सबमें भेद पहचाना जाता है। भेदके बिना तो पहचान और व्यवहार ही नहीं चल सकता। विकासवादी कहते हैं कि 'हममें और आपमें जो भेद है, यही आगे चलकर गिलहरीको रीछ बना देता है।' परंतु यह असत्य है। सामान्य भेद तो व्यवहारमें अत्यन्त

उपयोगी और ईश्वरदत्त ही है। हिंदू लाखों वर्षोंसे कान छिदवाते हैं; मुसलमान सैकड़ों वर्षोंसे खतना कराते हैं; चीनकी स्त्रियाँ हजारों वर्षोंसे अपने पैर छोटे बनानेका प्रयत्न करती हैं; परंतु उनसे वैसी सताने कभी नहीं हुई। अतः कहना होगा कि कृत्रिम विकास अमर्यादित नहीं होता। विलायतकी विधवाओंसे गायोंकी वृद्धिसे भी नवीन जातिकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती।

डार्विनका सिद्धान्त है कि 'माता-पिताके प्रत्येक अङ्गसे सार एकत्रित होकर संततिका जन्म होता है।' वाइज़मैनका कहना है कि 'इस सारके एकत्रित होनेमें यदि बीचमें कोई परिवर्तन उद्भूत हो तो वह संततिमें संक्रमित न होगा।' मेन्डलका मत है कि 'कभी लड़का पिताकी अपेक्षा पितामहके गुणका सग्रह करता है।' हाइजकी राय है कि 'कभी कभी नयी नयी जातियाँ अकस्मात् उत्पन्न हो जाती हैं।' ये सिद्धान्त तथा हेतुवाद और अज्ञात-ज्ञेय आदि सिद्धान्त मिलकर विकासके विरुद्ध ही ठहरते हैं। इनमेंसे पहली बात 'अज्ञातज्ञातसम्भवसि' इत्यादि वेदोंकी ही हैं। पुत्रमें कोई नया परिवर्तन नहीं आता। ऐसे स्थलमें पुत्र पितामहके ही गुणोंको ग्रहण करता है। इससे जातिकी स्थिरता ही सिद्ध होती है। नवीन जलकृमियोंकी उत्पत्ति भी किसी शरीर बननेके लिये विकास आवश्यक नहीं। हेतुवाद और अज्ञात ज्ञेयशक्तिसे तो यही निश्चय किया जा सकता है कि ईश्वर ही कर्मानुसार प्राणियोंकी रचना करता है, क्रम-विकास आवश्यक नहीं है।

'विकासवाद' पुस्तकमें भी लिखा है कि 'प्राणियोंकी उत्पत्ति विकासद्वारा हुई या नहीं, एक प्रकारके प्राणीसे भिन्न-भिन्न प्रकारके प्राणी बनते हैं या नहीं, इस प्रकार निरीक्षण करनेवाला मनुष्य भी विकास-क्रियाके किसी अत्यन्त सूक्ष्म भागको भी प्रत्यक्ष होते हुए पूर्णतया नहीं देख सकता। कई प्रश्नोंके सम्पूर्ण उत्तर प्राप्त करनेकी आशा भी नहीं करनी चाहिये।' अतः विकासवाद एक कल्पना ही है, सिद्धान्त नहीं। 'समाजमें निर्वर्लोंको जीनेका हक नहीं है', यह कल्पना कितनी भीषण है। मनुष्य और रीछ अथवा भैंसकी तुलना करे तो यह स्पष्ट ही है कि शरीर, बलमें रीछ और भैंस दोनों अधिक ठहरेंगे। मनुष्य इनसे शरीर, बलमें अवश्य हार जायगा। तथापि मनुष्य बुद्धिके कारण अधिक बलवान् सिद्ध होता है। मनुष्योंमें भी अधिक बुद्धिमान् ही प्रबल ठहरता है। नीतिबल, बुद्धि और शरीर-बलसे भी अधिक महत्त्वका है। सोडम और गभोरानिवासी अनीतिके कारण ही नष्ट हो गये। नीतिमान्, शान्त, निर्व्यसन अधिक दीर्घजीवी होते हैं। जो जाति परमार्थ-बुद्धिकी अपेक्षा अधिक स्वार्थ-बुद्धि रखती है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। जानवरोंमें भी परमार्थ-बुद्धि पायी जाती है। शेर, व्याघ्र-जैसे खूंखार प्राणी भी अपने बच्चोंको दूध पिलाते हैं, प्यार करते हैं। मनुष्यका स्वार्थ-रागी होना ही महत्त्व है। अतः 'जीवन-संग्राममें बलवानोंकी ही विजय होती

है, यह कहना सत्य नहीं। कई लोग पुराणोंकी चौरासी लक्ष योनियोंके वर्णन और मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह आदि अवतारोंके द्वारा भी विकासवाद सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं। इसी तरह कई लोग कुछ वेद-मन्त्रोंको भी विकास-सिद्धिके लिये उद्धृत करते हैं, परन्तु वेदों और पुराणोंसे डार्विनका विकास कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता। पुराणोंके अनुसार एक प्राणीसे दूसरे प्राणीका विकास सिद्ध नहीं होता। किंतु सभी योनियाँ स्वतन्त्र मानी गयी हैं। अवतारोंमें भी मत्स्य, कच्छपादि स्वतन्त्र अवतार हैं। 'मत्स्यसे कच्छपका विकास हुआ है' यह पुराणोंसे नहीं सिद्ध होता। 'क्रिश्चियन हेरट्ज' में छपे अनुसार 'ब्रिटिश साइन्स सोसाइटी' के आस्ट्रेलिया अधिवेशनमें सभापति-पदसे प्रो० विलियम वेटसनने कहा था कि 'डार्विनका विकासवाद वित्कुल असत्य और विज्ञानके विरुद्ध है।' अमेरिकाकी कई रियासतोंने स्कूलोंमें डार्विन सिद्धान्तकी शिक्षाको कानूनके विरुद्ध ठहराया। वहाँके एक जजने अपने एक फैसलेमें लिखा था कि 'ऊँचे दरजेके विद्वान् अब विकासवादपर विश्वास नहीं करते।' प्रो० पेड्रिक गेडिसका कहना है कि 'मनुष्यके विकासके प्रमाण सदिग्ध हैं। साइन्समें उनके लिये कोई स्थान नहीं।' सर जे० डब्ल्यू० डालसनका कहना है कि 'विज्ञानको वंदर और मनुष्यके बीचकी आकृतिका कुछ भी पता नहीं है। मनुष्यकी प्राचीनतम अस्थियाँ भी वर्तमान-जैसी ही हैं।' प्रसिद्ध विद्वान् ब्रुड जोन्सका कहना है कि 'डार्विनसे गलती हुई है। मनुष्य वदरसे उत्पन्न नहीं हुआ, किंतु वदर मनुष्यसे उत्पन्न हुए हैं।' सिडनी काफ्रेटका कहना है कि 'साइन्स स्पष्ट साक्षी है कि मनुष्य अवनत दशासे उन्नत दशाकी ओर चलनेके स्थानमें उलटा अवनतिकी ओर जा रहा है। उसकी आरम्भिक दशा उत्तम थी।'

प्रागुत्तर अश्मकालकी एक खोपड़ी मिली है। यह खोपड़ी जिस सिंगकी है, वह यूरोपमें सबसे बड़ा समझा जाता है। यह खोपड़ी एक सौ चौदह क्यूविक (घन) इंच है। यूरोपमें छोटे-से-छोटे सिर ५० क्यूविक इंच और बड़े से-बड़ा ७५ क्यूविक इंचका पाया गया है। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान यूरोपनिवासियोंकी दिमागी ताकत बढ़ नहीं रही है। सन् १८८३ में एक सिर हालैंडमें निकला, जो यूरोपनिवासियोंके औसत घेरेसे बड़ा है। इसका घेरा १५० क्यूविक इंच है। भूगर्भ-शास्त्रियों और पुरातत्त्वज्ञोंने 'हालींग सेक्शन' को २५ हजार वर्ष पुराना बतलाया है। इसका घेरा भी १५० क्यूविक इंच है। इन सब बातोंसे सिद्ध होता है कि प्राचीन मनुष्योंका विकासहीन मस्तिष्क वदरोंसे नहीं हुआ, किंतु वे परमात्माकी विशिष्ट रचना थे। आजके उत्तम-से उत्तम मनुष्योंकी अपेक्षा वे अधिक उन्नत थे। विकासवादी शका करते हैं कि 'यदि क्रमोन्नतिका सिद्धान्त न माना जाय तो फिर दीर्घकाय प्राणियोंकी उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती है? इतना बड़ा मनुष्य एकाएक आदि कालमें कैसे पैदा हो गया?' परन्तु वे एक कोष्टके

अमीवाकी एकाएक उत्पत्ति मान लेते हैं; परतु अनेक कोष्ठसंयुक्त मनुष्य-प्राणीका आप-से-आप उत्पन्न होना नहीं मानते। परतु वात सरल है, जिस महाशक्तिके प्रभावसे एक कोष्ठवाला अमीवा उत्पन्न हो सकता है, उस शक्तिको अनेक कोष्ठवाले मनुष्यके उत्पादनमें क्या कठिनाई है? जो बड़े-बड़े सूर्य, चन्द्र और छोटे-छोटे अमीवाको बना सकती है, वही शक्ति गाय, बैल, हाथी, बंदर, मनुष्य सबको बना सकती है। आरम्भिक सृष्टिको नये-पुराने सभी विद्वान् 'अमैथुनी सृष्टि' नामसे कहते हैं। प्रो० मैक्समूलर लिखता है—'कहा जाता है कि आदिमें एक ही मनुष्य नहीं था, किंतु हम हर प्रकारसे यह ख्याल कर सकते हैं कि आदिमें कुछ पुरुष और स्त्रियाँ उत्पन्न हुई थीं।' मद्रास हाईकोर्टके जज टी० एल० स्ट्रेन्ज अपनी 'दि डेव्लपमेंट ऑफ क्रियेशन् ऑन दी अर्थ (पृथ्वीपर सृष्टिका विकास)' पुस्तकमें लिखते हैं कि 'आदि सृष्टि अमैथुनी होती है। इस अमैथुनी सृष्टिमें उत्तम और सुडौल शरीर बनते हैं।' 'वैशेषिक दर्शन' का भी कहना है कि 'शरीर दो प्रकारका होता है—योनिज और अयोनिज'—'तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च।' इसपर 'प्रशस्तपादीय भाष्य' है।

‘तत्रायोनिजमनपेक्षितशुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहिते-भ्योऽणुभ्यो जायते।’

अर्थात् देवता और ऋषियोंके शरीर शुक्र-शोणितके बिना ही धर्मविशेष-सहित अणुओंसे उत्पन्न होते हैं। इन सब बातोंसे सिद्ध होता है कि विकासवाद अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण वाद है।

मनुष्य-जाति

‘मनुष्य-जातिका विकास वनमनुष्योंसे हुआ है,’ ‘जावाद्वीपके कलिंग नामक मनुष्य अधिकतर वनमनुष्योंसे मिलते हैं, अतः वे ही मनुष्य-जातिके पूर्वपितामह हैं,’ यह सब कथन भ्रान्तिपूर्ण हैं। अतएव जो कहा जाता है कि ‘यही मनुष्य-समुदायकी समस्त शाखाओंका जन्मदाता है’ यह सब भी भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि जब विकासवादका सिद्धान्त ही खण्डित हो गया, तब उसके आधारपर शास्त्र-विरोध कोई कल्पना निराधार ही है। आजकलका सिद्धान्त है कि मनुष्य-जाति के चार विभाग हैं, उसीके भीतर हजारों विभाग आ जाते हैं—(१) श्वेत रंग, लची आकृतिवाला काकेशस, (२) पीले रंग, चौड़ी आकृतिवाला मंगोलिक, (३) काले रंग, मोटी आकृतिवाला ईथियोपिक (निग्रो) और (४) लाल रंग और पतली आकृतिवाला रेडइंडियन। आधुनिक वैज्ञानिकोंका कहना है कि मनुष्य-जातिके चारों विभागोंमें काकेशस विभाग सर्वश्रेष्ठ है। इस विभागके लोग गौरवर्ण हैं। इसी विभागसे सब रंगवालोंकी उत्पत्ति हुई है। विद्वानोंकी

खोज है कि हेमाइट लोग काकेशस वंशके हैं और सफेदसे भूरे और काले रंगके हो गये हैं। उनके बाल सीधे और नीग्रो जातिके-से घुंघराले होते हैं।

“हेमिटिक शाखाके लोग मिस्त्रमें रहते हैं। विद्वानोंने यह भी स्वीकार किया है कि अमेरिकाके लाल रंगवाले मूल निवासियोंका मिलान मिस्त्रनिवासी हेमिटिकोंसे ही होता है। इन्दीकी एक हिमेगडत जाति लाल मनुष्य भी कहलाती है। यह जाति जिस समुद्रके किनारे रहती है, उसे भी लाल सागर कहा जाता है। श्वेतांग यूरोपियन भी अपनेको काकेशिक विभागके ही कहते हैं। इस तरह लाल, पीले, काले और सफेद रंगके चारो समुदाय काकेशिक विभागसे ही उत्पन्न हुए देखे जाते हैं। दूसरी खोज यह है कि ससारके जितने मनुष्य हैं, सब हेमिटिक और सेमिटिक शाखाओंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। मिस्त्रनिवासी हेमिटिक हैं। इनके यहाँ मुर्दोंमें मसाला भरकर रखनेका रिवाज था। मिस्त्रके पिरामिड इन्हीं मुर्दोंको रखनेके लिये बनाये जाते थे। अब पता चलता है कि अमेरिकाके लाल रंगवाले मूल-निवासियोंमें भी यही रिवाज था। अन्वेषकोको यहाँ भी पिरामिड मिले हैं। इससे इन दोनोंकी एकता ही प्रतीत होती है।

“काकेशस विभागकी दूसरी शाखा सेमिटिक है। इसमें अरब, बेबिलोन, सीरिया और जुडियाके यहूदी आदि सम्मिलित हैं। इसीकी एक शाखा अब हिट्टाइट है, जो पहले कभी मेनोपोटामियोंमें रहा करती थी। मेनोपोटामियोंमें अन्वेषकोको ३४ सौ वर्षकी ईंटे मिली हैं, जिनमें इनके सुलहनामे लिखे हुए हैं। इन्दी लोगोंका एक दल भारतवर्षमें रहता है, जिसे ‘द्रविड़’ कहते हैं। भारतके द्रविड़ोंकी भाषा मगोलिक और निग्रो विभागोंको जोड़ती है। भाषा ही नहीं, उनका रूप, रंग और शारीरिक गठन भी एक ही है। विद्वानोंने पता लगाया है कि भारतके द्रविड़ोंकी भाषा आस्ट्रेलियाकी भाषाकी भाँति है और वह भाषा मगोलिक विभागसे भी मिलती है। आस्ट्रेलियानिवासी शुद्ध निग्रो जातिके हैं, जो द्रविड़ जातिसे भी सम्बन्ध रखते हैं। इसी तरह मगोलिक-विभागसे भी द्रविड़ लोग सम्बन्ध रखते हैं। इन सब बातोंसे द्रविड़ जानि निग्रो और मगोलिक विभागोंको जोड़कर अपना मूल स्रोत सेमिटिक शाखासे स्थापित करती है। इसी तरह हेमिटिक शाखा अमेरिकाके मूल निवासियोंको जोड़ती है। इस तरह काकेशिक विभागके हेमिटिक और सेमिटिक शाखाओंसे ही मंगोलियन, अमेरिकन और निग्रो विभागोंका सम्बन्ध सूचित होता है। इस तरह ससारके काले, पीले, लाल और सफेद रंगवाले चारो विभाग काकेशिक विभागकी हेमिटिक और सेमिटिक शाखाओंसे ही उत्पन्न हुए हैं।”

वस्तुतः नूहका तूफान, वैवस्वत मनुकी मछलीवाली कथाका अनुवाद है। नूहके पुत्र हेमकी सतति, जो मिस्त्रमें रहती है, अपना सम्बन्ध राजा मनुसे दत्तलात

है और अपनेको सूर्यवंशी कहती है और मनु वैवस्वतके मूल विवस्वान् सूर्यको अपना इष्ट समझती है। इन मिस्त्रवालोंकी ही संतति अमेरिकाके मूल निवासी बतलाये जाते हैं। वे भी सूर्यवंशी राजा रामचन्द्रका 'राम-सीतव' उत्सव मनाते हैं। अन्वेषकोंको वहाँ सूर्यका मन्दिर भी मिला है।

मनुकी मछली एव नूहके प्लावनकी कथा मिस्त्र, वेबिलोन, सीरिया, चार्लिडया, जूडिया, फारस, अरब, ग्रीस, भारत, चीन, अमेरिका आदि ससारके सभी देशों एव सभी जातियोंमें पायी जाती है। इससे भी सिद्ध होता है कि मनुसे ही समस्त मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई है। बाइबिलमें बतलायी हुई नूहकी पीढ़ियाँ काल्पनिक हैं। आदमसे नूहतक ११ पीढ़ियाँ होती हैं और वर्ष-संख्या २२६२ है। नूहके पुत्र सेमसे इब्राहीमतक ११ पीढ़ियोंके तेरह सौ दस वर्ष कहे गये हैं। यह गणना विश्वास योग्य नहीं। जब मनु और नूह एक ही हैं तब उन्हें हुए लाखों वर्ष हो गये। कहा जाता है कि मिस्त्रकी भाषामें 'नून' शब्दका 'मछली' अर्थ होता है। 'नून' अक्षर फिनीशियामें 'ईल' नामक मछलीकी शकलका होता है। अंग्रेजी तथा अरबीमें भी यह अक्षर मछलीकी तरह ही होता है। मछलीके ही ढगकी नाव होती है। इजरत नूहको 'नौवा' भी कहा जाता था। इस नौवाका सम्बन्ध मनुके जलप्लावनसे ही है। यह नाव और मनुकी मछली एक ही है। मनुको वैवस्वत कहा जाता है। विवस्वान् सूर्य है। इजरत नूहके दो पुत्र हेम, सेम—सूर्यवंश और चन्द्रवंश ही हैं। हेमगर्भ, हिरण्यगर्भ, सूर्यवंशका ही बोधक है और सेम=पोम चन्द्रवंशका बोधक है। सूर्यवंशियोंकी पुत्री इलासे ही सोमवंशकी उत्पत्ति हुई है। इस दृष्टिसे दोनों मनुके पुत्र कहे जा सकते हैं। मनुस्मृतिके अनुसार क्षत्रियोंसे ही संसारके मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई है—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।

वृषलत्व गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥

पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।

पारदाः पल्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥

(मनुस्मृति १० । ४३-४४)

इतिहासकार मैनिंग कहता है कि "यह बात विद्वानोंने मान ली है कि 'मनुष्य' जातिके पूर्वपितामह 'मनु' या 'मनम्' उसी तरह हैं जिस तरह जर्मनोंके 'मनस्' हैं, जो ट्यूटनोके मूल पुरुष माने जाते हैं। अंग्रेजीका 'मैन' तथा जर्मनका 'मन्न' शब्द 'मनु' से उसी तरह मिलता है, जैसे जर्मनका 'मेनष्' और संस्कृतका 'मनुष्य' शब्द मिलता है। अतः मनुसे ही मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई है।" वह मनु मूल पुरुष हिरण्यगर्भसे अभिन्न समझा जाता है और उसी

हिरण्यगर्भके मुख, बाहु, ऊरु एवं पादसे ब्राह्मण, अत्रिय, वैश्य एवं शूद्रकी उत्पत्ति हुई—

पुत्रमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्त्रे प्रजापतिम् ।

इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म आश्रितम् ॥

(मनु० श्लो० १० । १०३)

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः ।

ऊरु तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

(ऋग्वेद, १० । ९० । १०; यजु० ३२ । ११)

मानवसृष्टिका मूलस्थान

‘इसी तरह जब समस्त मनुष्य बंदरोसे उत्पन्न हुए हैं, तब जहाँ-जहाँ बंदरोंका निवास है वहीं मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई और जब मनुष्योंकी उत्पत्ति वनमानुषोंसे हुई, तब वनमानुष जहाँ-जहाँ मिलते हैं वहाँ मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई। वनमानुष अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, मेडागास्कर, जावा आदिमें होते हैं। वहाँका निग्रोदल समयतामें अबतक भी मनुष्य-समुदायसे पीछे है। उनमें कई जातियाँ और दल ऐसे हैं जो वनमानुषोंसे कुछ थोड़े उन्नत हैं।’ वैसे विकासवादके खण्डनसे सब मत खण्डित हो ही जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक ही स्थानमें सृष्टि होनेपर भी देश, काल, सम्पर्कसे उनमें भेद प्रतीत होने लगता है। बीजके बिना कोई भी पौधा तैयार नहीं हो सकता। समुद्रके टापुओंमें भी जबतक बीज नहीं पहुँचता, मिट्टीमें लस नहीं आता तबतक किसी तरहके पौधे उत्पन्न नहीं होते। कोई भी माली बीजोंसे पौधोंको ऐसी ही जगह तैयार करता है, जहाँ उसकी सुरक्षाके योग्य स्थान हो। ओधी, तूफान, जलप्लावन, अग्नि, भूकम्प आदिका उपद्रव जहाँ न रहा होगा, वहीं ईश्वरने मनुष्यादि सभी प्राणियोंको उत्पन्न किया होगा। कई लोग कहते हैं कि ‘अमेरिकामें बंदर नहीं थे, अतः वहाँ मनुष्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती थी।’ पहले यूरोपका भी जलवायु मनुष्यकी उत्पत्तिके अनुकूल नहीं था। विद्वान् अन्वेषकोंका कहना है कि ‘स्तनधारी प्राणी एशियासे ही यूरोपमें आया है।’ वार्न साहब तथा उनकी पुस्तकसे प्रभावित होकर लोकमान्य तिलकने उत्तरीध्रुवमें ही प्राणियोंकी सृष्टि मानी है। किंतु विद्वानोंका मत है कि ‘उत्तरी ध्रुवमें प्रति साढ़े दस हजार वर्षमें भीषण हिमपात होता रहा है, अतः वहाँ सृष्टिका होना सर्वथा असम्भव है।’ इंगलैंडके डा० एलेग्जान्डर का कहना है कि ‘मनुष्यकी खालपर ध्रुव-प्रदेशनिवासी पशुओंके समान लंबे बाल नहीं हैं, इसलिये मनुष्य वहाँका प्राणी नहीं है। मनुष्यके शरीरपर पसीना निकलनेके लिये छोटे-छोटे रोम-छिद्र होते हैं, अतः यह अतिशीत प्रदेशका प्राणी नहीं है।’ भूगोल-विशेषज्ञोंका यह भी कहना है कि ‘उत्तरी ध्रुवमें वनस्पतियाँ नहीं होतीं, वहाँ मनुष्योंका

जी सकना ही मुश्किल था ।' अनेक विद्वान् एशियामें भी मनुष्योंकी उत्पत्ति मानते हैं । उनका कहना है कि 'पश्चिमोत्तर एशियामें ही मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई, वहाँ से भिन्न भिन्न श्रेणीके रूपमें लोग विभिन्न देशोंमें गये हैं ।' मैक्समूलरने मध्य एशियामें और स्वामी दयानन्दजीने तिब्बतमें मनुष्योंकी उत्पत्ति मानी है । उमेशचन्द्र दत्तके मतानुसार मंगोलियामें मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई है । अन्यान्य विद्वान् विभिन्न स्थान मानते हैं ।

संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, जेन्द आदि भाषाओंकी तुलना करनेपर भी अधिकांश विद्वान् इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि इन भाषाओंके भाषी लोग कभी एक भाषा-भाषी रहे होंगे । जैसे-जैसे वे एक दूसरेसे दूर होते गये, वैसे-वैसे उनकी भाषामें कुछ भेद पड़ता गया । यद्यपि वे लोग इन भाषाओंको परस्पर भिन्नी ही मानते हैं । उनकी जननी कोई अन्य भाषा रही होगी—ऐसी कल्पना करते हैं, तथापि संस्कृत भाषा ही सब भाषाओंकी जननी है—यह अधिक प्रमाणसिद्ध है । आज भी समारमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद माना जाता है । मोहेनजोदड़ो, हड़प्पाकी खुदाईसे मिलनेवाली वस्तुओंसे भी वैदिक सभ्यताकी अतिप्राचीनता विदित होती है । 'वाचा विरूपनित्यया'—विरूप नित्य वेदलक्षण वाणीद्वारा आप सृष्टि करते हैं । इस वेद-वाक्यसे वेद अनादि सिद्ध होते हैं । मनु भी 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'—स्वयम्भुवने अनादि-निधन-उत्पत्ति-नाशविवर्जित वेद लक्षण वाणीका उत्सर्ग किया; सम्प्रदायप्रवर्तन किया—इस वचनसे वेदको अनादि वतलाते हैं । अतः सर्व प्राचीन भाषा संस्कृत भाषा ही सिद्ध होती है । उससे ही अन्य भाषाओंका उद्गम हुआ है । उन अनादि अपौरुषेय वेदों, मनुस्मृति, चरक आदि ग्रन्थोंसे मालूम पड़ता है कि सप्तद्वीपा मेदिनीमें जम्बूद्वीप श्रेष्ठ है और जम्बूद्वीपमें भी भारतवर्ष ही सर्वोत्कृष्ट है । चतुर्दश भुवनोमें पृथ्वी और पृथ्वीमें भारतवर्ष विराट् पुरुषका हृदय-स्वरूप है । इसीमें आर्यावर्त्त, ब्रह्मावर्त्त एवं हिमालय हैं । इसीमें साङ्गोराङ्ग सभी ऋतुओंका विकास होता है । इसीमें सभी रगके मनुष्य भी मिलते हैं, अतः यहीं मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई है—

तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास । तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं वै देवानां देवयजनम् ।

(शतपथ)

यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् ।

(रामोत्तरतापि० १ । १, तारसार० २)

डॉक्टर ई० आ० एलंसका 'मेडिकल' पुस्तकमें कहना है कि 'हिमालयमें वनस्पति, वास खूब होते हैं, अतः गाय, भैंस, बकरी, हाथी, कुत्ता आदि जानवर और मनुष्यका भी वहाँ होना सगत है । हिमालयमें प्राणियोंके बहुत पुराने शेषाङ्ग मिलते हैं ।' भाषाशास्त्री टेलर स्वर्गतुल्य काश्मीरको मनुष्य-जातिकी जन्मभूमि

कहते हैं । पुरातत्त्वके विद्वान् अविनाशचन्द्र टासकी 'ऋग्वेदिक इंडिया'में कहा गया है कि 'आर्याका आदिदेश काश्मीर ही है ।' उत्तरप्रदेशके मुख्य मन्त्री श्रीरामपूर्णानन्दने अपनी 'आर्याका आदिदेश भारत' पुस्तकमें भारतको ही आर्योंकी जन्मभूमि माना है । पाश्चात्य लोग गोरे, लंबे, बड़े सिरवाले भारत, ईरान, योरोपवासियोंको आर्य कहते हैं । परंतु भारतीय कहते हैं कि 'जोरूप-रंग, आकृति-प्रकृति, धर्म-कर्म, ज्ञान-विज्ञान, आचार-विचार तथा जीलमें सर्वश्रेष्ठ है, वही आर्य है—

कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन् ।

तिष्ठति प्रकृताचारे यः स आर्य इति स्मृतः ॥

(वमिष्ठ-ऋषि)

न वैरमुदीपयति प्रज्ञान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति ।

न दुर्गनोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।

दृष्ट्वा च पश्चात् कुरुते न तपं स कथ्यते मत्पुरुषार्यशीलः ॥

(महा० उद्यो० ३३ । १११-११२)

वस्तुतः इस तरह भारतीय शास्त्रोंमें अभिगम्य और श्रेष्ठ अर्थमें ही 'आर्य' शब्दका प्रयोग आता है—

महाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधवः ।

(अमरकोष २ । ७ । ३)

वैश्य एव त्वागीमें 'आर्य' शब्दका प्रयोग न होकर 'अर्य' शब्दका ही प्रयोग होता है—

'स्यादर्थः स्नासिवैश्ययोः'

(अमरकोष ३ । ३ । १४६)

जातिकी दृष्टिसे अपने यहाँ चातुर्वर्ण्यमें 'हिंदू' शब्द और वैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि शब्द ही प्रयुक्त होते हैं ।

'मेनमार्या भाण्ते' इत्यादि वचनोंसे त्रैवर्णिकोंको आर्य कहा गया है ।

फिर भी बहुत-से विद्वान् विविष्ट जातिमें आर्य शब्दका प्रयोग करते हैं ।

हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः ।

अर्धयोजनविस्तारः

पञ्चयोजनमायतः ॥

परिमण्डलयोर्मध्ये

मेरुस्तमपर्वतः ।

ततः सर्वास्तमुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तमः ॥

प्रेरावती वितस्ता च विशाला देविका कुहूः ।

प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ॥

(महाभारत, वनपर्व)

इन वचनोंसे भी हिमालयपर ब्राह्मणादि आर्योंकी उत्पत्ति सिद्ध की जाती है।

‘शतपथ’के ‘तदप्येतदुत्तरस्य गिरेः मनोरपसर्पणम्’ (१।२।१६)

इससे हिमालयपर ही मनुका जलप्लावन सिद्ध किया जाता है। महाभारतके—
‘अस्मिन् हिमवतः शृङ्गे नावं बन्नीत माचिरम् ।’ (महा० वनपर्व १८७।४९)

इस वचनसे हिमालयके शृङ्गमें जलप्लावनके समय नावका बौधना सिद्ध होता है। कहा जाता है कि हिमालयके मानस स्थानपर मानसी सृष्टि हुई है, इसीलिये उसका नाम मानस पड़ा है। कुछ भी हो, हर दृष्टिसे एशिया एवं तदन्तर्गत भारतमें ही मनुष्यकी सृष्टि सिद्ध होती है। वैश्वतमनुको हुए अवतक (संवत् २०१३ में) १२ करोड़ ५ लाख ३३ हजार तीस वर्ष होते हैं, परंतु सृष्टि उनसे भी पहलेकी है, अतएव सृष्टिको हुए १ अरब ९५ करोड़ ५८ लाख ८५ हजार ५७ वर्ष माने जाते हैं। ब्रह्माके एक दिनमें १४ मनु बीतते हैं, जिसमें कि ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष होते हैं। १५ खरब ५५ अरब २० करोड़ मानव-वर्षका उनका एक वर्ष होता है। अवतक ब्रह्माके ५० वर्ष बीत चुके हैं, जिसमें ७ नील ७७ खर्ब ६० अरब वर्ष बीत गये। इस तरहके १०० वर्षोंकी ब्रह्माकी आयु होती है। विष्णु एव शिवका कालमान इससे भी बड़ा है।

विकासवादी प्रायः प्राचीन वस्तुओंकी खोजसे अनुमान करते हैं कि ‘मनुष्य पहले बहुत जंगली हालतमें था, क्योंकि भूमिकी सबसे नीचेकी तहोंमें मनुष्योंके बनाये जो पदार्थ मिले हैं, वे पाषाण-सींग आदिके ही बने हुए हैं। इससे मालूम होता है कि तत्कालीन मनुष्योंको धातुओका ज्ञान नहीं था। ऊपरी तहोंमें धातु-निर्मित शस्त्र मिलते हैं। इससे मालूम होता है कि उस समयके लोग पिछले लोगोसे कुछ उन्नत तथा सम्य थे। परंतु यह बात असत्य है, क्योंकि अवतक जहाँ-जहाँ खुदाई हुई है, वहाँ-वहाँ एक ही गहराईपर दोनो ही प्रकारके तथा-कथित उन्नत एवं अन्नत शस्त्र मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि एक ही समयमें दोनों ही प्रकारकी अवस्थाएँ थीं। आज भी भिन्न-भिन्न ढाँगी अवस्थाएँ होती हैं। लोकमान्य तिलकने ‘आर्योंका उत्तरी-ध्रुव-निवास’में लिखा है कि ‘यूरोपमें अनेक जगह प्राचीन छावनियाँ, किलोकी दीवालें, इमशानों, देवालियों, जलाशयोंके खोदनेसे पत्थर तथा धातुके हजारों शस्त्र मिलते हैं। इनमेंसे कितने ही स्वच्छ किये हुए, घुटे हुए और कितने ही अस्वच्छ एवं भद्दे हैं। पुरातत्त्व-वेत्ताओंने इनके तीन विभाग किये हैं। पहले ‘पाषाणशस्त्र, जिनमें सींग, काष्ठ एव हड्डियोंके शस्त्रोंका भी समावेश है। दूसरेमें काँसेके शस्त्र और तीसरेमें लोहेके शस्त्र माने गये हैं।’ परंतु इससे यह समझना भूल है कि एककी समाप्तिपर

दूमरेका आरम्भ हुआ है। इस तरह तो तौवे और रोंगेस काँमा बनता है, अतः एक ताम्रयुग भी मानना पड़ेगा; किंतु ताम्र-युगका पता नहीं चलता।

वस्तुस्थिति तो यह है कि जिस समय यूरोपके लोग पाषाणयुगकी भूमिका-में थे, उसी समय ईसवी सन्से ६ हजार वर्ष पूर्व मिस्रवासी उच्चतम सभ्यता प्राप्त कर चुके थे। इसी तरह जिस समय यूनानी लोग 'लौह-युग' में थे, उस समय तक इटालियन 'क्रॉस्य युग' में ही थे। यूरोपके पश्चिमी भागके लोग तो उस समय पाषाणयुगमें ही थे। इससे पाषाणादि युगोंकी कल्पना ही निराधार है। जैसे आज बैलगाड़ी और वायुयान दोनों ही हैं, वैसे ही उन्नत-अवनत सभी प्रकारके साधन सदा ही मिलते हैं।

किसीने एक ही जगह एक आधुनिक घड़ी और जगली मनुष्योंकी चक्रमक पथरी पायी। घड़ी जंगलके अफसरकी थी और चक्रमक जगलीका था। यदि यही चीजें दब जातीं और कालान्तरमें मिलतीं तो हमने वही अनुमान करना पड़ता कि सभ्यता और जगलीपन दोनों साथ थे। फिर 'ज्ञानका घीरे घीरे विकास हुआ' यह कथन कैसे सत्य माना जा सकता है ?

पत्थरोसे लोहा-तौबा निकालना भी तो सामान्य बात नहीं। जिसको धातु विश्लेषणकी शिक्षा मिलती है वही यह कार्य कर सकता है। अतः जिसे लौह युग, जगली युग नहीं कहा जा सकता ऐसे हरप्पा और मोहनजोदड़ोके खँडहरोंमें वहाँ सभ्यताके चिह्न मिलते हैं, वहीं पत्थरके शस्त्र—जगलीपनके चिह्न भी मिलते हैं। इस तरह भूगर्भकी जाँचसे यह नहीं सिद्ध होता कि ज्ञानकी क्रमसे उन्नति हुई है। पीछे कहा जा चुका है कि एक जगहके धरातलमें जिस कालके पाषाण-शस्त्र मिलते हैं, उसी कालके दूसरे देशके धरातलमें पूर्ण सभ्यताके पदार्थ मिलते हैं। आज भी जो पढ़ता-लिखता है, सभ्य होता है, उसके पड़ोसमें बिना पढ़े-लिखे जगली-जैसे लोग भी रहते हैं। बड़े बड़े विद्वानोंके पुत्र-पौत्र मूर्ख निकलते हैं। अतः ज्ञानके क्रमिक विकासका पक्ष गलत है ? जान्स बोसनने १९२३ के 'न्यू एज' में लिखा है कि 'यदि मनुष्य-जातिका इतिहास उत्तरोत्तर विकासकी ओर है तो क्यों चानो लोग ईसवी सवत्के पूर्व बालू और कपास काममें लेते थे, परंतु पीछे चलकर वे उसे भूल गये ? इसी तरह मिस्रमें पिरामिड बनानेके समय वहाँके लोग रेखागणितकी चरम सीमापर पहुँचे थे, पर पीछे उन्हें वह विद्या भूल गयी।' दिल्लीकी लोहेकी लाट भारतमें ही बनी, पर क्या आज यूरोप भी वैसा बना सकता है ? इसलिये कहना पड़ता है कि सभ्यतामें हास, विकास दोनों चलते रहते हैं।

दीपकके पास पतंग आता है, ओँच लगती है, भागता है, फिर आता है, बादमें कूदकर दीपकपर जल जाता है। यदि ज्ञानका विकास होता तो अनुभवे

पतंगोंको सबक सीखना था और दीपकके पास जाना बंद करना था । परतु ऐसा नहीं देखा जाता, अतः यही कहना पड़ेगा कि जहाँ ज्ञान-शिक्षाकी परम्परा कायम रहती है, वहाँ ज्ञान रहता है और जहाँ परम्परा टूट जाती है वहाँ नष्ट हो जाता है । इसीलिये बिना सीखे ज्ञान नहीं होता । सृष्टिके आदिमें परमेश्वरसे ज्ञान प्राप्त होता है और अब भी पूर्वजो, अध्यापकों, आचार्योंसे ही ज्ञान सीखा जाता है । डिस्कार्टेका कहना है कि 'ईश्वरसम्बन्धी ज्ञान मनुष्यके हृदयमें स्वतः उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि वह अनन्त है । 'मैडम क्लवेट्स्कीने 'सिक्रेट डॉक्टरिन'में लिखा है कि "कोई नवीन धर्मका प्रवर्तक नहीं हुआ । 'आर्यों, सेमिटिकों, तुरानियों ने नया धर्म, नयी सभ्यताका आविष्कार किया था,' इसका मतलब यही है कि वे धर्मके पुनरुद्धारक थे, मूल शिक्षक नहीं ।"

भाषा-विज्ञान

ज्ञानके लिये भाषा भी अपेक्षित होती है; क्योंकि ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं होता, जिसमें सूक्ष्म शब्दका अनुवेध न हो । भाषा भी सीखकर ही बोली जाती है । माता तथा कुटुम्बियोंकी बोलचाल सुनकर ही प्राणी बोलता है । स्वतन्त्रतासे कोई नयी भाषा बना भी नहीं सकता है । कहते हैं कि गूँगे बहरे भी होते हैं । वे सुन नहीं सकते, इसीलिये बोल भी नहीं सकते । परतु उनके मुँहमें बोलनेके साधन होते हैं । इसीलिये यन्त्रोंद्वारा उनसे बुलवाया जाता है । बिना सिखलाये कोई बोल नहीं सकता । गूँगा दूसरोंको मुँह पैलाकर बोलते देखकर वैसी नकल करता है । कहा जाता है कि भेड़ियेकी माँदसे निकले हुए मनुष्योंके बच्चे भेड़ियों-जैसा ही बोलते हैं । गूँगे और इन बच्चोंसे अ, इ, उ, ए, ओ के अतिरिक्त ककारादि वर्णमालाके अक्षर उच्चारित नहीं होते । यदि गूँगा अधा भी हो तो अ, इ आदिका भी उच्चारण नहीं कर सकता । प्रो० मैक्समूलरने 'भाषा-विज्ञान' (साइन्स ऑफ दि लैंग्वेज) में लिखा है कि 'मिस्रके बादशाह सामिटकरने सद्यःप्रसूत दो बालकोंको गडरियोंके सुपुर्द करके यह प्रबन्ध किया कि उन्हे पशुओंके अतिरिक्त किसीकी भाषा सुननेको न मिले । उन लड़कोंके बड़े होनेपर देखा गया कि वे अ, इ, उ के सिवा कुछ भी बोल नहीं सकते थे ।' इसी प्रकार द्वितीय फ्रेडरिक, चतुर्थ जेम्स, अकबर आदिने भी परीक्षा की थी । निष्कर्ष यही निकला कि मनुष्य बिना सिखाये भाषा सीख नहीं सकता । भाषा-विज्ञानके आधुनिक विद्वान् मनुष्य सृष्टिके साथ ईश्वरद्वारा भाषाका प्रादुर्भाव नहीं मानते । उनके अनुसार पहले हस्तसंकेत आदिद्वारा ही व्यवहार होता था । बादमें व्यवहारके लिये बुद्धिपूर्वक मनुष्योंने भाषा बनायी । विचारों और भाषाओंका अटूट सम्बन्ध होता है ।

विकासवादियोंका कहना है कि 'भाषाकी उत्पत्ति न एकाएक मनुष्यकी स्वेच्छासे हुई, न स्वभावसे, न दैवीशक्तिकी प्रेरणामे; किंतु सभ्यताके अन्य अङ्गोंकी तरह इसका भी धीरे-धीरे विकास हुआ है।' उनके मतानुसार "जड़चेतनात्मक बाह्य जगत्की ध्वनियोंके अनुकरणके आधारपर नाम रखे गये हैं, जैसे कृ-कृ वादी सुनकर कोकिलका अग्रेजीमें 'कुक्कू' नाम रक्खा गया। कौव-कौव सुनकर सस्कृतमें कौवेका 'काक' नाम रक्खा गया। इसी तरह हर्ष, गोक, आश्चर्य आदिसे कुछ स्वाभाविक ध्वनियाँ मुखसे निकल पड़ती हैं, जैसे—हा-हा, हाय हाय, अहह, वाह-वाह इत्यादि। इस तरह पहले इशारों या सकेतसे, फिर ध्वनियोंको सुननेसे और उद्गारात्मक शब्दोंके स्वभावतः निकलनेसे गनैः-गनैः भाषा बनी।"

पर विचार करनेपर यह पक्ष भी असंगत ही प्रतीत होता है, क्योंकि यदि ऐसी ही बात है तब तो पशुओंमें भी इसी प्रकार भाषाका विकास होना चाहिये। परंतु ऐसा नहीं देखा जाता। इशारेसे व्यवहार अमम्य जंगली तथा अज्ञानियोंका नहीं हो सकता। तारमें 'टू टक्कू' की ध्वनियोंसे, जहाजोंपर जड़ियासे, युद्धके समय चिनगारियाँसे बात करनेवाले जंगली नहीं, किंतु विविष्ट बुद्धिमान् ही समझे जाते हैं। इसी प्रकार नृत्य, नाट्यमें अभिनयद्वारा भावकी अभिव्यक्ति विशेषज्ञोंका ही काम है, किसी अज्ञानीका नहीं। यहाँतक कि इशारोंकी कला ता बोलनेकी अपेक्षा भी ऊँची है। इसीलिये पशुतुल्य अज्ञानी, जंगली इशारोंसे बातचीत नहीं कर सकता था। जैसे वर्णोंका उच्चारण सीखा जाता है, वैसे ही इशारा भी सीखना ही पड़ता है। गूँगोंका भी इशारा समझाना पड़ता है। वे आँखोंसे देखकर इशारा सीखते हैं। यदि वे अंधे भी होते हैं तो और भी अधिक कठिनाई पड़ती है। इसी तरह कोकिलके कू-कू और कौवेके कौव-कौवसे कुक्कू एवं काक शब्द बननेकी बात भी निराधार है। जब पहले क, ख, ग आदि वर्णोंका उच्चारण सीख लिया जाय, तभी यह अनुकरण बन सकता है। ये कोई शब्द वर्णात्मक नहीं होते हैं। यह तो वर्ण उच्चारण कर सकनेवाला व्यक्ति ही इन अव्यक्त शब्दोंमें व्यक्त शब्दोंकी कल्पना करता है। चूने 'कड़' से काट दिया, सोंप 'सर' से चला गया, पीठपर उण्डा 'गद्' से गिरा, बकरी 'में-में' कर रही है—यहाँ वर्णोंका उच्चारण करनेवाला ही अनुकृतिसे नाम रख सकता है। परंतु बाहरकी ध्वनियों ही जब स्पष्ट नहीं हैं तब उनके द्वारा शब्दोंका उच्चारण कैसे सीखा जा सकता है? बाहरकी ध्वनियोंको भले, हम 'टन्-टन्' 'धम्-धम्' 'खट्-खट्' 'पूँ-पूँ' 'झन् झन्' कहें, परंतु ये वर्ण बिल्कुल नहीं हाते। इसी तरह तोतेके, सरगाके शब्दमें वर्णोंकी कल्पना वर्णों ही कर सकता है। मनुष्यके मुखको छोड़कर अन्यत्रसे वर्णोंका उच्चारण हो ही नहीं सकता। उसके लिये मनुष्यके जैसे कण्ठ, तालु, मूर्द्धा, दाँत, ओष्ठ, जिह्वा एवं आन्तर-बाह्य प्रयत्न अपेक्षित होते हैं। जिनसे 'ट' का उच्चारण नहीं बनता वे लग 'टन्-

टन्'का अनुकरण भी नहीं करते। यह विभिन्न वर्णोंके उच्चारण सीखे बिना कभी आही नहीं सकता। बाह्य अव्यक्त शब्दोंमें वर्ण नहीं होते, इसीलिये मुर्गेकी बोलीमें हम 'कुक्कूँ' की कल्पना करते हैं। अंग्रेज लोग इसीको 'कॉक ए डू डिल् डू' कहते हैं। इसी प्रकार हर्ष, शोक आदिसे 'हाय, हा-हा' आदि शब्द भी उन्हींके मुखसे निकल सकते हैं, जिन्होंने वर्णोंका उच्चारण सीख रखा है। पशुओं और गूँगोंके मुखसे 'हा-हा' 'हाय-हाय' आदिका उच्चारण नहीं बनता है। बोलनेवालेका सम्पर्क हुए बिना किसी दुधमुँहे बच्चेके मुँहसे क, ख, ग, घ आदि वर्णमालाका उच्चारण नहीं हो सकता। आधुनिक लोग भी जब यह मानते हैं कि मनुष्यमें ही स्पष्ट शब्द उच्चारणकी शक्ति है, अन्यमें नहीं, तब यह गुण जब इसके पूर्वजोंमें नहीं था, तब इसमें क्यों और कैसे आ गया ?

कुछ लोग कहते हैं कि 'ईश्वरने ही मनुष्यके मुखमें वर्णोंके उच्चारणकी शक्ति दी है।' तब फिर यह भी क्यों नहीं माना जाता कि ईश्वरने ही मनुष्यको भाषा सिखायी ? जब पशु मनुष्यकी बोली नहीं बोलता, तब मनुष्य ही पशुकी बोलीकी नकल करके भाषा बोलना कैसे सीख गया ?

मैक्समूलरका कहना है कि 'मनुष्यकी भाषा ध्वनि अथवा पशुओंकी बोलीसे नहीं बनी।' लॉक एडम, स्मिथ एवं ड्यूगल्ड स्टुवर्ट आदि कहते हैं कि 'मनुष्य बहुत कालतक गूँगा रहा, संकेतसे, भ्रूक्षेपसे वह काम चलाता रहा। जब काम न चला, तब परस्पर संवाद करके शब्दोंके अर्थ नियत करके भाषा बना ली।' इसके उत्तरमें मैक्समूलरने लिखा है कि "मैं नहीं समझता कि भाषाके बिना उनमें संवाद कैसे जारी रह सका ? क्या अर्थ नियत करनेके पूर्व संवाद निरर्थक ही चला आता था ? जबतक उनके पास कोई सार्थक ध्वनि नहीं थी, तबतक 'अमुक शब्दका अमुक अर्थ है' यह नियत करना कैसे सम्भव था ? एकने दूसरेसे कैसे कहा कि 'रोटीको चूँ चूँ' कहना और समझना चाहिये' और कैसे दूसरोने ये सब बातें समझ लीं ? अतः ज्ञानके बिना भाषा नहीं बन सकती और भाषाके बिना ज्ञान नहीं बन सकता।" नाम-नामीका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। ऐसी दशामें यही तथ्य उपलब्ध होता है कि आदिम मनुष्य ज्ञान और भाषाके सहित उत्पन्न हुआ है।

इसपर भी विचार करनेसे मालूम पड़ता है कि जब ज्ञान और भाषा दोनों-हीके लिये शिक्षा अपेक्षित है, तब बिना शिक्षाके ज्ञान और भाषा कैसे उत्पन्न हुईं ? अतः अन्तिम सिद्धान्त यह मानना ही पड़ता है कि परमेश्वरने ही मनुष्यको निर्मित करके उसे ज्ञान और भाषा प्रदान की। वेदोंसे भी यही स्पष्ट मालूम पड़ता है कि परमेश्वरने ब्रह्माको उत्पन्न करके उन्हे वेद प्रदान किया—

यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।

(ज्योतिषतन्त्र ६ । १८)

ब्रह्माने अपने पुत्रोंको और उन्होंने इसी तरह अपने पुत्रों और शिष्योंको आदिम भाषा और ज्ञानका उपदेश किया । आगे चलकर ज्ञान और भाषामें अपभ्रंश भी होता गया । यह पीछे कहा जा चुका है कि कोई भी बोध या ज्ञान ऐसा नहीं होता, जिसमें सूक्ष्म शब्दका सम्बन्ध न हो । फिर इस दृष्टिसे अनादि ईश्वरके अनादि ज्ञानमें जो शब्द अनुविद्ध थे, वही अनादि भाषा थी । कोई भी कार्य ज्ञान, चिकीर्षा एवं कृतिपूर्वक ही सम्पन्न होता है । इस तरह सृष्टि कार्यमें भी ईश्वरकी जति, चिकीर्षा और कृति अपेक्षित ही है । उस अनादि ज्ञानमें अनुविद्ध अनादि शब्द-समूहका होना अनिवार्य है । जब संस्कृत भाषा एवं वेदसे पुरानी पुस्तक समारमें उपलब्ध नहीं है, इसकी अतिप्राचीनता तर्कोंसे भी सिद्ध होती है, तब मनु आदिके अनुसार उसे ही अनादि भाषा मानना युक्त है । उसके व्यापक धातुओंसे समारकी सभी भाषाएँ निष्पन्न भी हो ही जाती हैं । अतः 'ईश्वरने आदिम प्राणियोंको भाषा एवं विज्ञान सिखलाया' यही पक्ष ठीक है । जैसे आजकल हिन्दोटिज्म करनेवाला अपने माध्यम (सञ्जेट) के मुँहसे मानसिक प्रेरणाद्वारा ऐसी भाषाओंके शब्द उच्चारण करा देता है, जिसको माध्यमने कभी सुना भी नहीं, वैसे ही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर भी मनुष्योंको अपनी शक्तिद्वारा शब्दोच्चारण करा सकता है । इसीलिये आदिम मनुष्य परम ज्ञानवान् थे—यही पक्ष श्रेष्ठ है ।

सुकरातके मतानुसार भी कोई किसीको नया ज्ञान नहीं सिखलाता, अपितु भूले हुए ज्ञानको याद दिलाता है । जिसमें ज्ञान-शक्ति नहीं, उसे ज्ञान कराया नहीं जा सकता, जैसे—पापानोंको ज्ञान कराना असम्भव है । अतएव कोलवूत्रके मतानुसार भी भाषा मनुष्यका एक आत्मिक साधन है । आर० सी ट्रीनिचने 'शब्दोंका अध्ययन' (स्टडी ऑफ वर्ड्स) में कहा है कि 'ईश्वरने मनुष्यको वाणी उगी प्रकार दी, जिस प्रकार बुद्धि दी, क्योंकि मनुष्यका विचार ही शब्द है, जो बाहर प्रकाशित होता है ।' मैक्समूलरका कहना है कि 'भिन्न-भिन्न भाषा परिवारोंमें जो चार-पाँच सौ धातु मूल तत्त्वरूप शेष रह जाते हैं, वे न तो मनोराग-व्यजक ध्वनियों ही हैं और न अनुकरणात्मक शब्द ही । हम उनको वर्णात्मक शब्दोंका सौंचा कह सकते हैं ।' प्लेटोके साथ हम कह सकते हैं कि 'वे स्वभावसे ही विद्यमान हैं ।' वैदिकोंका तो स्पष्ट कहना है कि अनादि-निधन, सच्चिदानन्द ब्रह्म ही शब्द ब्रह्म है, उसीसे विश्वकी प्रक्रिया चलती है । अनन्त सदानन्दका ही प्रकाशविशेष अर्थ है । अनन्त चित् या अखण्ड बोधकी ही अभिव्यक्ति-विशेष शब्द है । दोनों एक सच्चिदानन्दके प्रकाश हैं, अतएव दोनोंमें विषय-विषयी भाव होते हुए भी अमेद है । इसीलिये कोई बोध बिना सूक्ष्म शब्दके नहीं होता । शब्द और अर्थान्तरात्मिक मते

औत्पत्तिक (स्वाभाविक) सम्बन्ध है। घटत्वादि जाति शब्दका शक्य होता है, अतः शब्दके समान ही अर्थ भी नित्य ही है—‘औत्पत्तिकस्तु शब्दस्वार्थेन सम्बन्धः’ (पू० मी०)

नैयायिक लोग शब्द और अर्थके सम्बन्धरूप संकेतको औत्पत्तिक, अकृत्रिम नहीं मानते, किंतु संकेतको पौरुषेय मानते हैं। परंतु जीव पुरुषके द्वारा नहीं, अपितु ईश्वरसे संकेतका होना मानते हैं। ‘अमुक शब्दसे अमुक अर्थको समझना चाहिये,’ इस प्रकार ईश्वर ही आदिम ऋषियोंको उपदेश करता है। इसपर मीमांसकोंकी आपत्ति यह है कि ‘ईश्वर जिन शब्दोंसे ऋषियोंको शब्दार्थ-सम्बन्ध बतलाता है, उन शब्दों और अर्थोंका सम्बन्ध यदि उससे पहले ऋषियोंको ज्ञात नहीं है, तो वे समझ कैसे सकते? यदि कहा जाय कि ‘हस्त, मुख, भ्रूक्षेप आदि इशारोंसे ईश्वर संकेत ग्रहण करायेगा’ तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि पहले तो ईश्वर निराकार है, उसका हस्त, भ्रूक्षेप आदि संकेत कैसे सम्भव होगा? यदि लीला-शक्तिसे उसे साकार भी माने, तो भी अल्पज्ञ प्राणियोंको सब संकेतों, इशारोंका बोध भी कितना कठिन है? इसके अतिरिक्त, जितने असंख्यात शब्द और अर्थ हैं, उतने संकेत इशारोंसे हो सकना भी सम्भव नहीं। हस्त, मुख, भ्रू आदिके विक्षेप सीमित हैं। परंतु शब्द और अर्थ अपार समुद्रतुल्य हैं—

इन्द्रादयोऽपि यस्यान्तं न ययुः शब्दवारिधेः।

यदि ईश्वर शब्दोंके द्वारा संकेत (शब्दार्थ-सम्बन्ध) को बोधित करे कि अमुक शब्दसे अमुक अर्थको समझना चाहिये, तो यह मानना ही पड़ेगा कि जिन शब्दोंके द्वारा वह बोध कराता है, उनका स्वार्थ सम्बन्धरूप संकेत प्रतिपादयिता और प्रतिपत्ता दोनोंको ही विदित होना चाहिये। इस दृष्टिसे नव-नवोत्पन्न अर्थों और अपभ्रंश शब्दोंका सम्बन्ध भले ही मनुष्यकृत हो, परंतु जिन गो आदि शब्दों एवं सास्नादिमत् व्यक्ति आदि अर्थोंके सम्बन्ध अनादि वृद्ध व्यवहारमे प्रचलित है, उनका संकेत अकृत्रिम एवं औत्पत्तिक ही मानना उचित है।

सुस्पष्ट है कि घटादि कार्य शरीर व्यक्तियोंसे निर्मित होते हैं, परंतु अंकुरादि कार्य अशरीरसे निर्मित मान्य होते हैं। सर्वसाधारण मनुष्य शरीर माता पितासे उत्पन्न होते हैं, परंतु सृष्टिके प्रारम्भके शरीरको अशरीरसे निर्मित ही मानना पड़ता है। प्रथम साकार वस्तुको निराकारद्वारा निर्मित मानना पड़ता है। जैसे गन्धवती पृथ्वी निर्गन्ध जलका, सरस जल नारस तेजका, स्पर्शवान् वायु निःस्पर्श आकाशका कार्य है, वैसे ही कुछ शब्दार्थ सम्बन्ध कृत्रिम होनेपर भी आदिम शब्दार्थ अकृत्रिम ही हैं। सर्वज्ञ सर्वशक्तेमान् परमेश्वरके द्वारा ब्रह्माको और ब्रह्माद्वारा, वशिष्ठादि ऋषियोंको उपदेश किया जाता है। बीज अकुर, दिन-रात, निद्रा-प्रबोध और जन्म मरणके समान ही सृष्टि एव सहारकी भी अनादि परम्परा है। तथा च जैसे प्रबुद्ध व्यक्तिको निद्राके पूर्वकी बातोंका स्मरण रहता है, वैसे ही सुप्त-प्रतिबुद्ध न्यायसे विशिष्ट ऋषियोंको प्रथमकल्पीय कुछ शब्दार्थ सम्बन्धों एवं कुछ मन्त्रोंका भी स्मरण होता है।

ऐसे ही आर्य मन्त्रद्रष्टा होते हैं । आवश्य मर्हर्षिको पिछले दस महाकल्पोंका स्मरण था—

दशसु महायगेषु पुनः पुनस्तपद्यमानेन वर्तमानेन मया यत्किञ्चिदनुभूत तत्सर्वं दुःखमेव
(योगभाष्य ३ । १८)

पूर्वमीमासक तो खण्ड प्रलय ही मानते हैं, महाप्रलय नहीं, अतः कहीं-न कहीं सृष्टिका क्रम जारी रहता है । यह जगत् सदा ऐसा ही रहता है (न कदाचिदनीदृशं जगत्) । अतः हम जैसे अपने गुरुसे ही वेदाध्ययन करते हैं, वैसे ही पूर्वके गुरुओंने भी अपने-अपने गुरुओंसे वेदाध्ययन किया है । यह परम्परा बीजाङ्कुर परम्पराके तुल्य अनादि है—

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा ॥

जिन उत्तरमीमासकोंके मतमें महाप्रलय होता है, उनके यहाँ भी प्रलयकालमें मूल गुरु परमेश्वरमें वेद विद्यमान रहते हैं । सृष्टिके आरम्भमें ईश्वर, वेद या गन्धार्ये सम्बन्धका निर्माण नहीं करते, किंतु नित्य सिद्धका उपदेश करके सम्प्रदाय प्रवर्तन करते हैं ।

यह भी कहा जाता है कि प्रथम एकाक्षरात्मक वर्ण नहीं थे, वाक्योंद्वारा ही चिन्तन या विचार चलता है, अतः प्रारम्भमें वाक्यात्मक ही शब्द थे । जिससे पूर्ण-भावकी व्यक्ति हो वही वाक्य है, भले वह 'चल' 'ॐ' आदिकी तरह अनेकाक्षर हों चाहे अनेक शब्दाके हों । विकासवादी भाषाके सम्बन्धमें भी विकासका सिद्धान्त मानते हैं । अयोगात्मक भाषा चीनियोंकी मानी जाती है, उसमें प्रकृति-प्रत्ययका भेद नहीं होता । योगात्मक भाषा तुर्की है, जिसमें प्रकृति-प्रत्यय स्पष्ट रहते हैं । विभक्तियुक्त भाषा संस्कृत है । इनमें भी विकासवादी क्रमिक विकास मानते हैं । आधुनिक अनुसंधानोंसे पता लगा है कि चीनी भाषा सदा ही ऐसी नहीं थी । उसमें पहले अनेकाक्षरके शब्द होते थे । हासके कारण एकाक्षरके शब्द हो गये । जैसे मुखका 'मुह', कमी 'मूँ' भी कह दिया जाता है, वैसे ही चीनमें हुआ होगा । रेड इंडियनोंकी एव इथियोपिक भाषाओंको बहुसंश्लेषणात्मक या बहुमिश्रात्मक कहा जा सकता है । अफ्रीकी भाषाओंको भी अनेकाक्षरात्मक ही कहा जा सकता है । इससे पता लगता है कि पहलकी भाषाएँ विभक्तियुक्त अनेकाक्षरात्मक थीं, बादमें एकाक्षरात्मक हुईं । अतः प्रतीत होता है कि संस्कृत भाषा ही आदिम भाषा है और उसका अपभ्रंश अन्यान्य भाषाएँ हैं । संश्लेषणात्मक एव विभक्तियुक्त भाषाएँ प्राचीन हैं और विश्लेषणात्मक या एकाक्षरात्मक भाषाएँ नवीन हैं । आर्य, सेमिटिक और पुरानी भाषाएँ एक ही परिवारकी हैं । इनमें भेद भी है और वह भेद बहुत पुराना भी हो सकता है । जब सबके मूल पुरुष एक थे, तब आदि ज्ञान एव आदि भाषाका भी रूप एक ही होना चाहिये ।

डेविसका 'हामोनिया' में कहना है कि 'भाषाके मुख्य उद्देश्यमें विकास होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उद्देश्य सर्वदेशी एवं पूर्ण होता है। उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन सम्भव नहीं है।' मैक्समूलरके मतानुसार 'सभी भाषाएँ मूलमें एक ही थीं। मनुष्यकी असावधानीसे ही उनमें विगाड हुआ।' इससे विकासके विपरीत हास प्रतीत होता है। डा० पाटके अनुसार 'भाषाके मूल स्वरूपमें परिवर्तन नहीं हो सकता, केवल कुछ बाह्य परिवर्तन ही होते हैं। पिछली जातिने एक भी नया धातु नहीं बनाया। ज्ञान, अज्ञानका ज्वारभाटा सदासे ही आता रहता है। जो जातियाँ कभी जंगली थी, वही कभी ज्ञान-विज्ञानयुक्त हो जाती हैं और ज्ञान-विज्ञानयुक्त जातियाँ कभी अज्ञानसे जंगली बन जाती हैं।' पीछे यह भी कहा गया है कि 'द्रविड़ भाषाका आस्ट्रेलियन आदि अनेक भाषाओंसे सम्बन्ध प्रतीत होता है और केम्बल्स द्रविड़, तेलगू आदि भाषाओंका वैदिक भाषासे ही निकलना मानता है। इनके सैकड़ों शब्द अबतक एक ही समान पाये जाते हैं। इन भाषाओंकी तुल्यता मिलती है। संस्कृतमें अम्ब, सीरियनमें आमो, द्राविड़में अम्मा, सामोपेडिकमें अम्म, सीथियनमें अम्माल, अरबीमें उम्म, मलयालीमें अम, तुलूमें अप्पा और चीनीमें माँ इत्यादि। जैसे संस्कृत, जेन्द और लैटिन भाषाओंमें लिङ्ग एवं वचन तीन तीन होते हैं, वैसे ही सेमेटिक, अरबी और हिब्रू भाषाओंमें भी लिङ्ग, वचन तीन-तीन होते हैं। पुल्लिङ्गसे स्त्रीलिङ्ग बनानेका ढग वही है। जैसे रामका, रामा, वैसे ही साहबको साहिबा और मलकको मलिका बनाकर पुल्लिङ्गसे स्त्रीलिङ्ग किया जाता है। पुराने भेदके अन्तर्गत यूरल, अल्ताइक, तुंगसिक, मंगोलिक, तुर्की और तिलगू आदि भाषाएँ आती हैं। इनमें एक शाखा सामोपेडिक है, जो चीनकी पैतिसी तथा साइबेरियाकी ओवि नदीके किनारे विस्तृत रूपसे बोली जाती है। इस भाषामें संस्कृतकी भाँति तीन वचन और आठ विभक्तियाँ होती हैं।

अनादिसिद्ध शुद्ध शब्दोंके उच्चारणमें शिक्षाकी कमीके कारण गड़बड़ी होती है। उच्चारणमें व्यत्यास हो जानेसे शुद्ध शब्द अपभ्रष्ट हो जाते हैं। जैसे असुर लोग 'हे आर्य !' के स्थानमें 'हेलय' उच्चारण करने लगे। आज भी इसी कारण सूक्ष्मको 'छुच्छम' और 'टिकिट'को 'टिकस' उच्चारण करते हैं। लिपिके अक्षरोंमें कमीके कारण अरबीमें 'चरक'को 'सरक', 'कोटपाल'को 'कोतवाल' कहा जाता है। तीन वचन-वाली संस्कृत भाषासे उत्पन्न हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली आदि भाषाओंमें दो ही वचन होते हैं, तीन नहीं। इसी प्रकार जेन्द भाषाओंमें तीन वचन हैं, उससे उत्पन्न फारसी, पश्तो, उर्दू आदि भाषाओंमें दो ही वचन हैं। लैटिनमें तीन वचन होते हैं, उससे उत्पन्न भाषाओंमें दो ही वचन होते हैं। इसी तरह हिन्दीमें नपुंसक लिङ्गका प्रयोग लुप्त हो गया। गुप्त कामोंके लिये इसी तरह अपभ्रष्ट करके कुछ संवत्सयी भाषाएँ बना ली जाती हैं। क्लिष्ट और विस्तृत संस्कृत भाषासे ही

सरल और सकुचित करके उच्चारणकी दृष्टिसे अन्य भाषाएँ बनी हैं । जैसे 'ऋत' को 'राइट', 'उष्ट्र' को 'उड्टर', 'स्थान' को 'स्तान', 'धनी' को 'गनी', 'विधवा' को 'विडो', 'गृभ' को 'ग्रिफ्ट', 'भ्रातर' का 'ब्रदर', 'मातर' का 'मदर', 'पितर' का 'फादर', संस्कृत एव जेन्दमे 'असुर' को 'अहुर', 'सोम' को 'होम', 'सप्त' को 'हफ्त', 'आहुति' को 'आजुति', 'वाहू' को 'वाजू', 'पशु' को 'पसू', 'उक्षन्' को 'आक्स' तथा संस्कृत एव फारसीमें 'तनु' को 'तन', 'जानु' को 'जानु', 'बाहु' को 'बाजू', 'अगुष्ठ' को 'अगुस्त', 'हस्त' को 'हस्त', 'पाद' को 'पा', 'शिर' को 'सर' कहते हैं । संस्कृत ओर यूनानीमें 'गते' को 'केटन', 'दश' को 'डेक', 'अश्मन' को 'अक्मन्' कहते हैं । संस्कृत और मिस्रीमें 'अथ' को 'अख', 'आप' को 'आप' कहते हैं । संस्कृत और अरबीमें 'हर्म्य' को 'हरम्', 'सुर' को 'हुर' कहते हैं । संस्कृत और अफ्रीकीमें 'ध्यान' को 'यानी', 'कर्त्त' को 'काटा' कहते हैं । संस्कृत और चीनीमें 'स्थान' को 'तान', 'जन' को 'जिन', 'अम्वा' को 'मों', 'होम' को 'घोम' कहते हैं । संस्कृत एवं जापानीमें 'का' को 'का', 'बहुत्व' को 'मोत्तो' आदि कहते हैं । संस्कृत और द्रविड़में 'तालु' को 'तला', 'मजु' को 'मछी', 'मेप' को 'मेक', 'राजा' को 'राजू' कहते हैं ।

इस तरह इन उदाहरणोंसे यह सिद्ध होता है कि उच्चारणमें असावधानीसे ही अनेक भाषाएँ बनी हैं । संस्कृतमें, विशेषतः वेदमें उच्चारणकी सावधानी बहुत ही आवश्यक होती है । स्वर एवं वर्णसे हीन मन्त्रका प्रयोग मिथ्या प्रयोग कहा जाता है । वह जिस अर्थके लिये प्रयुक्त हुआ है, उसका बोध नहीं कराता । इतना ही नहीं, वह वाग्वज्र बनकर यजमानका नाश कर देता है । जैसा कि—'इन्द्रशत्रो विवर्द्धस्व' में स्वरके दोषसे अर्थात् अन्वयोदात्तके स्थानमें आद्युदात्तका प्रयोग करनेसे तत्पुरुष समासके अनुसार इन्द्रका शत्रु अर्थात् घातक अर्थ नहीं हुआ, अपितु बहुव्रीहि समासके अनुसार 'इन्द्र है घातक जिसका' ऐसा अर्थ हुआ । इस स्वरापराधसे यजमान वृत्र मारा गया । वैदिक-लौकिक दोनों ही प्रकारके व्याकरण वैदिक-लौकिक संस्कृत भाषाको बिगड़ने नहीं देते ।

वैदिक भाषाकी लिपि भी प्राचीन ही है और उसी आधारपर लिपि भी यन्त्र आदिके काम आती है । अब बहुत-से प्राचीन लेख मिल रहे हैं । ब्राह्मी लिपिके पहलेके कहे जानेवाले लेखोंमें कोई स्पष्ट लिपि नहीं । कितने ही शिलालेख तो काल्पनिक ही हैं ।

धातुपाठ, प्रत्यय, नियम, तीन वचन, आठ विभक्तियों, दस लकार, सधि-कौशल तथा स्वर-विज्ञानमें संस्कृत व्याकरणसे तुलना ससारका कोई भी व्याकरण नहीं कर सकता । इन सब प्रक्रियाओंका प्रयोग करनेसे शब्दोंके

स्वरूप अटल रहते हैं। उनमें अपभ्रंशका अवसर (गुंजाइश) नहीं रहता। यही कारण है कि लाखों वर्षोंका प्राचीन साहित्य एक ही ढंगसे सर्वत्र उच्चरित और अवगत किया जा सकता है।

कुछ लोग समझते हैं कि प्राकृत भाषाका संस्कार करके संस्कृत भाषा बनायी गयी है। जैसे किसी प्राकृत काष्ठ, पाषाणका संस्कार कर मल्लापनयन, अतिशयाधानद्वारा उससे विशिष्ट संस्थानकी वस्तुएँ बनायी जाती हैं। परंतु वस्तुतः यहाँका संस्कार इस प्रकारका है कि जैसे मिश्रित ग्राह्य-अग्राह्य पदार्थोंमेंसे गालिनी (चलनी) द्वारा अग्राह्य और ग्राह्यका पृथक्करण किया जाता है, इसे भी संस्कार ही कहा जाता है। इसी तरह मिश्रित साधु-असाधु शब्दोंमेंसे व्याकरणके लक्षणों-सूत्रोंद्वारा असाधु शब्दोंसे साधु शब्दोंका विवेचन ही शब्दोंका संस्कार है। इस तरह नित्य शब्दोंमें भी संस्कारका व्यवहार होनेसे संस्कृतत्वका व्यवहार होता है।

कहा जाता है कि भौतिक विज्ञानसे उत्पन्न भौतिक उन्नति अनिश्चित होती है। बड़े-बड़े विद्वान् बड़ी बुद्धिसे, साधनोंसे जो निश्चित करते हैं, कालान्तरमें उसका खण्डन हो जाता है। कारण यह है कि जितने सूक्ष्म तत्त्वोंसे मस्तिष्क बना होता है, उनसे भी अधिक सूक्ष्म पदार्थ संसारमें विद्यमान हैं। जैसे नेत्रकी दर्शन शक्तिसे भी दृश्य पदार्थ अधिक सूक्ष्म पाये जाते हैं, वैसे ही सोचनेवाले यन्त्र मस्तिष्कमें भी सूक्ष्म पदार्थ हो सकते हैं। इसीलिये विद्वान् थॉम्सन्का कहना है कि 'संसारके जब छोटे रहस्य खुल जाते हैं, तब आगे बड़े रहस्य आ खड़े होते हैं। संसारके आश्चर्योंको विज्ञान कभी मिटा नहीं सकता, प्रत्युत उन्हें अगाध बना देता है।' मनोविज्ञानके पण्डितोंका कहना है कि 'किसी भी जीवन कार्यकी सगति भौतिक नियमोंसे अबतक स्पष्ट नहीं की जा सकी है। ऑसू निकलने, पसीना बहनेके छोटे-छोटे जीवन कार्य भी भौतिक तथा रासायनिक नियमोंसे स्पष्ट नहीं होते।' एफ० सोडीका कहना है कि 'परस्पर दो पदार्थ क्यों आकर्षित होते हैं और क्यों जुदा होते हैं यह भी ज्ञात नहीं है। यही स्थिति अन्य विज्ञानोंमें भी है। कल्पनाएँ बदलती रहती हैं।'।

यहाँतक विकासवादके पक्षमें रखे जानेवाले तर्कोंपर विचार किया और सक्षेपमें अपने शास्त्रोंका मत रखा। अब उन्हींपर कुछ विस्तारपूर्वक विचार करनेकी आवश्यकता है। मूल प्रश्न यही है कि सृष्टि जड़से हुई या चेतनसे? पहले इसीपर विचार करना है—

जड़ या चेतन ?

जड़ संसार जड़ परमाणुओंके एकत्रित होने या जड़ विद्युत्कणोंके संघर्ष अथवा प्रकृतिके हलचलमात्रका परिणाम नहीं है; किंतु अखण्ड सत्ता अखण्ड

बोध परमानन्दस्वरूप परमात्माकी अवष्टितवटनापटीयसी मायाशक्तिका परिणाम है। जैसे कल-कारखाने, रेल, तार, रेडियो, वायुयान, परमाणुबम हाइड्रोजन बम आदि उत्पादक, पालक, सहारक अनेक यन्त्रोंका निर्माण जड़-प्रकृति आदिसे सम्पन्न नहीं होता, किंतु उनके लिये कोई बुद्धिसम्पन्न परिष्कृत मस्तिष्कवाला वैज्ञानिक उनका निर्माता अपेक्षित होता है। वैज्ञानिकोंके परिष्कृत मस्तिष्क, बुद्धि एवं शरीर आदिका निर्माता, विविध पशुओं, पक्षियों, फलोंका निर्माता सर्वेश्वर अपेक्षित है। मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पाकी खुदाइयोंमें मिलनेवाली रंग-विरंगी और विचित्र वस्तुओंके आधारपर यदि कोई विशिष्ट बुद्धिमान् चेतन कर्ता अपेक्षित होता है तो कोई कारण नहीं कि उपर्युक्त रंग-विरंगे विचित्र फूलों-फलों, विचित्र साड़ी पहननेवाली तितलियों, पक्षियों, पशुओं तथा विचित्र बुद्धिपूर्ण मनुष्यका निर्माता कोई चेतन ईश्वर न हो। चन्द्र-सूर्य-सागर-पर्वतादि वस्तुएँ सावयव होनेसे कार्य हैं। कार्य होनेसे उनका सकर्तृक होना आवश्यक है। किसी भी कार्यको सकर्तृक, साधार एवं सोपादान होना अनिवार्य ही है। इस दृष्टिसे प्रपञ्चोत्पादिनी शक्तिसम्पन्न चेतनसे विश्वकी उत्पत्ति होना उचित है। पार्थिव प्रपञ्चका कारण पृथिवी, पृथिवीका कारण जल, उसका कारण तेज, उसका कारण वायु, वायुका आकाश, आकाशका अहंतत्त्व, अहंतत्त्वका महत्तत्त्व, महत्तत्त्वका अव्यक्ततत्त्व और उसका कारण स्वप्रकाश सत्तत्त्व है। जैसे वहिमें दाहिका शक्ति एव मृत्तिकामें घटोत्पादिनी शक्ति होती है, वैसे ही सत्में प्रपञ्चोत्पादिनी शक्ति होती है। जैसे व्यष्टिगत व्यवहारमें निद्रायुक्त चेतनसे निद्रा भग होनेपर कुछ बोध उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् अहका उल्लेख होता है, अनन्तर वायु, आकाश आदिका उपलब्ध होता है। आकाश होनेपर हलचल, हलचलसे उष्मा, उष्मासे स्वेद, स्वेदसे घनीभूत स्वेद अर्थात् पार्थिव मल उत्पन्न होता है। ठीक यही स्थिति समष्टि जगत्की उत्पत्तिकी है। कारण सूक्ष्म तथा व्यापक एव निविशेष होता है। कार्य उसकी अपेक्षा स्थूल, सविशेष एव व्याप्य होते हैं। पृथिवीमें गन्ध, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच गुण हैं। जलमें गन्धविहीन पूर्वोक्त चार गुण हैं। तेजमें गन्ध, स्पर्श, रूप तीन गुण, वायुमें गन्ध, स्पर्श दो गुण तथा आकाशमें केवल एक गन्ध ही गुण है। उत्तरोत्तर व्यापकता भी इनमें प्रसिद्ध है। आधाराधेयकी दृष्टिसे भी व्यापक, सूक्ष्म एव निविशेष आधार है। स्थूल, व्याप्य आधेय हैं। सर्वाधार, सर्वकारण, स्वप्रकाश सत् निराधार एव अकारण है। 'मूले मूलाभावादमूलं मूलं' अन्तिम मूल समूल माननेसे अनवस्था प्रसंग होगा। अतः उसे अमूल मानना आवश्यक है।

यद्यपि भौतिकवादी भूतको ही मूल मानता है। फिर भी किसी

भी कार्यमें प्रकाश, हलचल, अवष्टम्भ (रुकावट) अपेक्षित है । परमाणु, विद्युत्कण या भूतसे बिना उपर्युक्त तीनों गुणोंके काम नहीं चल सकता । प्रकाश बिना हलचल नहीं, हलचल बिना कार्य नहीं । साथ ही उचित रुकावट (अवष्टम्भ) बिना भी कार्य नहीं सम्पन्न हो सकता । कोई बटई आलमारी तभी बना सकता है, जब उसे पहले उसका बोध हो, पुनः वह बसूला लेकर क्रिया प्रारम्भ करे । निरन्तर बसूला चलता ही जाय तो काष्ठ ही समाप्त हो जायगा, कोई कार्य सम्पन्न नहीं होगा । अतः यथायोग्य क्रिया और रुकावट भी होनी चाहिये । वस, ये ही तीन चीजे सत्त्व, रज और तम हैं । सत्त्व प्रकाशात्मक, रज क्रियात्मक तथा तम अवष्टम्भात्मक है । साध्य और कई उसके अनुयायियोंने इन तीनों गुणोंकी समष्टि प्रकृतिको ही मूल मान लिया है; परन्तु प्रकृति या गुणोंका भी अस्तित्व एवं स्फुरण अपेक्षित है । उसके बिना सब असत् एवं स्फूर्तिविहीन हो जाते हैं । अतः सत्स्फुरण अर्थात् अबाधित स्फुरण या स्वप्रकाश सत्के भीतर सबका अन्तर्भाव हो जाता है । सत्का अन्तर्भाव अन्यत्र नहीं हो सकता, अतः स्वप्रकाश सत् ही मूल कारण है । वही अबाधित बोधस्वरूप है । वही सब विश्वका मूल है । एक वृक्ष, एक सरोवर, एक अङ्गुल भूमितक बिना स्वामीके नहीं है तो कैसे माना जाय कि चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नक्षत्र-मण्डल, गगन, भूधर, पर्वत, सागर, भूमि, अरण्य बिना स्वामीके होंगे । इस तरह सर्वकारण सर्वाधार सर्वकर्ता सर्वस्वामी सर्वशासक परमेश्वर सिद्ध होता है । उसीका सनातन अंश क्षेत्रज्ञ आत्मा सिद्ध होता है । देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धिका द्रष्टा साक्षी आत्मा देहादिसे भिन्न है । जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों बुद्धिकी अवस्थाओंका वही साक्षी है । जैसे महाकाशका अंश घटाकाश होता है, वैसे ही अनन्तबोध अखण्ड सत्स्वरूप परमात्माका ही अंश जीवात्मा है । वह भूतोंका परिणाम नहीं है । अतएव चेतनविहीन देहादि जडमात्र रह जाते हैं ।

भले ही देह, दिल-दिमाग या मस्तिष्क एवं बुद्धिके बिना स्वतन्त्र चेतनाका उपलम्भ नहीं होता, फिर भी चेतना देह या दिल-दिमाग आदिका धर्म नहीं है । जैसे तेज या अग्नि का दाहकत्व, प्रकाशकत्व, लोहालकड़, तार आदि पार्थिव आप्य पदार्थोंके ही सम्बन्धसे व्यक्त होता है तो भी पार्थिव आप्य पदार्थोंका धर्म दाहकत्व, प्रकाशकत्व नहीं माना जाता, इसी तरह दिल-दिमाग आदिके सम्बन्धसे आत्माका चैतन्य अभिव्यक्त होता है, परन्तु चैतन्य उनका धर्म नहीं है । व्यक्तिके सम्बन्धसे ही जातिकी अभिव्यक्ति होती है । फिर भी जाति स्वतन्त्र वस्तु मान्य है । जालान्तर्गत सूर्यरश्मियोंके सम्पर्कसे त्रसरेणु आदि प्रतीत होते हैं, फिर भी उनका स्वतन्त्र अस्तित्व है । उसी तरह जिस बोधके द्वारा सब प्रमाण-प्रमेय आदिकी प्रतीति होती है, उस बोधका स्वतन्त्र अस्तित्व

है। इतना ही क्यों ? उसकी ही सत्तासे अन्य पदार्थ सत्तावान् होते हैं । उसीकी स्फूर्तिसे इतर पदार्थोंमें स्फूर्ति होती है । जैसे दर्पणभानके अनन्तर ही दर्पणस्थ प्रतिविम्बकी प्रतीति होती है, इसी तरह अथवा आलोककी प्रतीतिके अनन्तर ही रूपकी प्रतीति होती है उसी तरह प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमाता तीनोंकी प्रतीतिसे पहले ही सर्वभासक भानकी प्रतीति होती है । प्रकाश सम्पर्क होनेसे अथवा प्रकाशस्वरूप होनेसे वस्तु प्रकाश होता है । प्रमाण बिना प्रमेयसिद्धि नहीं होती । प्रमाण भी प्रमाताके पराधीन होता है । प्रमाता स्वभिन्न प्रमेयकी प्रमितिके लिये प्रमाण ढूँढता है । अपनी प्रमितिके लिये प्रमाणकी आवश्यकता नहीं समझता । यदि प्रमाता भी प्रमाणसिद्ध माना जाय तब तो वह प्रमेय-कोटिमें आ जायगा । फिर उसका प्रमाता कोई अन्य आवश्यक होगा, उसका भी अन्य, फिर उसका भी अन्य प्रमाता आवश्यक होगा । इस तरह अनवस्था-प्रसक्ति होगी । एक ही प्रमाता स्वयं प्रमाता और स्वयं प्रमेय नहीं हो सकता, क्योंकि एकमें कर्मकर्तृभाव नहीं बन सकता । किसी भी वस्तुका प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव सिद्ध करनेके लिये प्रमाता प्रमाण या साक्षी अपेक्षित है । साक्षीविहीन भाव या अभाव कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता । सुषुप्तिमें प्रमाता प्रमाणका भी अनुपलम्भ सिद्ध है । परंतु सर्वभासक बोध या सवित्का प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव या अत्यन्ताभाव कुछ भी नहीं सिद्ध होता । बोधाभावका बोध नहीं तो बोधाभाव सिद्ध नहीं हो सकता । बोधाभावका बोध है तो बोधाभाव भी कैसे कहा जा सकता है ? इस तरह यह अतीत अनागत अहोरात्र, पक्ष, मास, वर्ष, युग, कल्प सब देशकालका भासक है, स्वयं अनाद्यनन्त है । बीजसे पहले अङ्कुर, अङ्कुरसे पहले बीज होता है । जागरणसे पहले सुषुप्ति (निद्रा) एवं उमसे पहले जागरण होता है । प्राणी जागनेके बाद सोता है और सोनेके बाद जागता है । इसी प्रकार जन्म-मरण, सृष्टि-संहार तथा जन्मों और कर्मोंकी परम्परा अनादि है । संसारमें देखा ही जाता है कि कारणमें विलक्षणता हुए बिना कार्यमें विलक्षणता नहीं होती । रेल, तार, रेडियो आदि विलक्षण कार्योंके लिये विलक्षण हेतु अपेक्षित होते ही हैं । इसी तरह देव, मनुष्य, पशु आदि उच्चावच योनियोंमें जन्म बिना धर्माधर्मरूपी कर्मोंकी विलक्षणता सम्भव नहीं है । लोकमें भी भले कर्मोंका भला फल और बुरे कर्मोंका बुरा फल होता है । ठीक इसी तरह धर्म अधर्मके वैचित्र्यसे ही जन्मोंमें वैचित्र्य होता है ।

कोई भी शासक शासनके लिये शासन-विधान आवश्यक समझता है । सुतरा सनातन परमेश्वर भी सनातन जीवोंपर शासन करनेके लिये सनातन विधान आवश्यक समझते हैं । सनातन जीवात्माओंको सनातन परमपद प्राप्त करानेके लिये सनातन परमात्माने अपने सनातन निःश्वासभूत सनातन वेदादि

शास्त्रोद्धार जिन सनातन नियमोंको निर्धारित कर रखा है, वे ही सनातनधर्म या सनातन नियम संसारके कल्याणकारी हैं । यह अनुभवसिद्ध बात है कि संसारमें छोटे-बड़े किसी कार्यके करनेके पहले प्राणीको उसका संकल्प या ज्ञान होता है । इस तरह ज्ञानपूर्वक ही प्रत्येक कार्य होते हैं । साथ ही हरेक ज्ञान या संकल्पमें शब्दोंका अनुबोध अवश्य रहता है । ऐसा कोई भी प्रत्यय (बोध) नहीं होता जिसमें सूक्ष्मरूपसे शब्दका अनुगम न हो—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादिते ।

(वाक्यपदीय)

यद्यपि चार्वाक एवं उसके अनुयायी मार्क्स आदि भौतिकवादी प्रत्यक्षप्रमाणके अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं मानते, तथापि दूसरोंके अज्ञान, संशय, भ्रान्ति या जिज्ञासा-प्रगमनके लिये वाक्य-प्रयोग वे भी करते हैं । परंतु केवल प्रत्यक्षवादी दूसरोंके अज्ञान, संशय, भ्रान्ति, जिज्ञासा आदि प्रत्यक्ष प्रमाणसे कैसे जान सकेंगे? श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राणसे शब्द-स्पर्शादिरहित अन्यनिष्ठ सशयादि सर्वथापि नहीं जाने जा सकते । बिना संशयादि जाने जिस किसीके प्रति अजिज्ञासित अर्थका प्रतिपादक वक्ता उन्मत्त ही कहा जा सकता है । अतः स्वीकार करना पड़ेगा कि मुखाकृति या वाग्व्यवहार आदिसे दूसरोंके सशयादिकोंका अनुमान करके ही कोई भी वक्ता वाक्यप्रयोग कर सकता है । अतः प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाण नहीं है, इसे कहनेके लिये भी अनुमान प्रमाण मानना आवश्यक है । अतएव पशु-पक्षीतकवा व्यवहार भी अनुमानमूलक होता है । भोजन आदि लेकर आते मनुष्यकी ओर प्रवृत्त होना, दण्डोद्यतकर मनुष्यसे पलायन करना आदि भी अनुमानसे ही सिद्ध होता है । इसी प्रकार व्यवहारमें कोई भी व्यक्ति पिता-पितामहादिकी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी तभी होता है, जब वह अपनेको पिता-पितामहका पुत्र-पौत्र सिद्ध कर सके । प्रत्यक्ष प्रमाणसे कोई प्राणी अपने माताकी सिद्धि नहीं कर सकता, पिता-पितामहकी सिद्धि तो दूरकी बात है । अतः पार्श्ववर्तियों तथा माता आदिकी बातोंपर विश्वास करनेसे ही पिता आदिकी सिद्धि होती है । पशु आदिको पिता आदिकी सम्पत्तिमें अधिकारी नहीं होना होता है, अतएव उन्हें वचनप्रमाणसे पिता आदिकी सिद्धिकी अपेक्षा नहीं होती । पशु आदि वचनप्रमाणरहित होते हैं, अतः उनकी दृष्टिसे माता, भगिनी, पुत्री आदिका भेद भी मान्य नहीं होता । वे पत्नी, भगिनी, किसीसे भी संतान उत्पन्न कर सकते हैं । पर मनुष्य वचनप्रमाण मानता है, इसीलिये यह माता, भगिनीका भेद मानकर यथायोग्य व्यवहार करता है । अतः आस पुरुषोंका कहना है—

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः ।

शस्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नगः ॥

प्रत्यक्षानुमानादिमूलक मति जहाँतक जाती है, वहाँतक जानेवाले वानरादि पशु होते हैं । परन्तु प्रत्यक्षानुमान एव शास्त्र जहाँतक चलते हैं, वहाँतक चलनेवाला प्राणी ही नर होता है । हाँ, पौरुषेय वचन प्रत्यक्षानुमानादिमूलक होते हैं । पर अपौरुषेय वचन स्वतन्त्ररूपमें प्रमाण होते हैं । जैसे रूपग्रहणमें नेत्र स्वतन्त्र प्रमाण होता है, वैसे ही धर्म-ब्रह्मादिग्रहणमें वेदादि शास्त्र स्वतन्त्र प्रमाण होते हैं । इस तरह प्रत्यक्ष, अनुमान तथा वेदादि आगमोंद्वारा यही भिन्न होता है कि शुभाशुभ कर्माके अनुसार ईश्वरसे ही विश्वकी सृष्टि एवं उसकी व्यवस्था होती है । विचित्र सूर्यमण्डल अपने आप कैसे बन गया ? उससे चन्द्रमण्डल, भूमण्डलके टुकड़े कैसे टूटे ? अब ऐसे टुकड़े क्यों नहीं टूट रहे हैं ? अब वानरसे मनुष्य क्यों नहीं उत्पन्न होते, इन अतीत इतिवृत्तोंमें क्या प्रमाण है ? केवल कुछ मनुष्योंकी दिमागी कल्पनाको छोड़कर इन तत्त्वोंका क्या आधार है ? आर्ष विज्ञान अपौरुषेय शास्त्रोंके सामने इन कल्पनाओंका क्या मूल्य है ?

इन कल्पनाओंकी निस्मरता इसीसे स्पष्ट है कि अग्नि, सूर्य, इन्द्रादि देवता उपयोगिताके आधारपर माने गये हैं । परन्तु यह कोई भी नहीं कह सकता कि जिसका उपयोग करना हो उसकी पूजा भी करनी चाहिये । पूजा तो उसी दशामें होती है, जब दृश्य जडवस्तुसे भिन्न कोई चेतन वस्तु मान्य होता है । आस्तिक लोग उपयोगी अग्नि आदिमें एव अनुपयोगी पापाण आदिमें भी चेतन अविष्टान देवता मानकर उनकी पूजा करते हैं । इसी तरह इन्द्र या ईश्वर आदिकी कल्पना भी भीरु प्राणीकी भीरुताका परिचायक नहीं, किन्तु भय, झोका, मोह, सुख-दुःख आदि प्रापञ्चिक भावोंसे ऊपर उठे हुए महापुरुषोंद्वारा परम तथ्यका ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा साक्षात्कार है । निर्विकल्पसमाधिदशामें ईश्वरतत्त्वका साक्षात्कार होता है । एव दार्शनिक दिव्य तर्कोंद्वारा अशुक्ल भौतिकवादी कुतार्किकोंके अखर्व गवोंको चूर करके अध्यात्मवादी आत्म परमात्मवाद मित्र करते हैं । वशिष्ठ, व्यास, कण्व, गौतम, श्रीहर्ष, उदयन, कुमारिल आदिकोंके महान् तर्क आज भी नास्तिकोंके लिये दुर्भेद्य हैं ।

विकासवाद और जाति

जल, वायु एवं देशोंके प्रभावसे रगमें परिवर्तन होना प्रत्यक्ष अनुमान एव शास्त्रसे भी सिद्ध है । कफ, वात, पित्तकी प्रधानता-अप्रधानताने भी रग, रूप, स्वभावमें भेद होना शास्त्रसिद्ध है । जैसे संकटों, विचारों एवं वातावरणोंसे रजस्वला स्त्री प्रभावित हो, स्त्री-पुरुष जैसे देश, काल,

वातावरणसे प्रभावित होकर गर्भाधान करते हैं, वैसे ही सतानका प्रादुर्भाव होता है। वात, पित्त, कफका प्रभाव भी संतानपर पड़ता है। 'बृहदारण्यक' में स्पष्ट मिलता है कि जो चाहे कि मेरा पुत्र शुक्लवर्ण और एक वेदका विद्वान् हो, वह विधानसहित क्षीरोदन पकाकर घृतके साथ प्राशन करे। जो चाहे कि कपिल एवं पिगलवर्णका पुत्र हो और दो वेदका पण्डित हो, वह विधिपूर्वक घृतयुक्त दध्योदनका प्राशन करे। ऐसे ही श्याम, लोहिताक्ष और तीन वेदका पण्डित होनेके लिये भी प्रकारान्तरका उल्लेख है। पुष्पो, फलो, पौधोंका भी रूप-रंग, स्वाद बाह्य उपचारोंसे बदला जा सकता है, यह स्पष्ट ही है। तात्कालिक या प्राचीन लौकिक एवं शास्त्रीय कर्मोंसे रूप-रंगमें प्रमाणानुसार परिवर्तन माननेमें विकासवादके प्रसंगकी उपस्थितिका कोई भी अवसर नहीं रहता। इतना ही क्यों, देवताओं, ऋषियोंके वर या शाप अथवा तीव्र पुण्य या पापसे तत्क्षण जातिका परिवर्तन हो जाता है। विश्वामित्रके शापसे रम्भा पहाड़ी हो गयी, सप्तर्षियोंके वचनसे नहुष अजगर हो गया और देवताके वरसे नन्दी देवता हो गये। परतु इतनेसे ही विकासवादियोंके बदरोंसे मनुष्यकी उत्पत्ति हुई, इस मतकी पुष्टि नहीं होती। वैदिकोंके मतमें किसी भी विलक्षण कार्यका आविर्भाव-तिरोभाव किसी हेतुसे किसी बुद्धिमानद्वारा होता है, यह पक्ष तो सर्वसम्मत है। इस दृष्टिसे कर्मोंके वैचित्र्यसे सर्वज्ञ ईश्वरद्वारा विलक्षण कार्योंका आविर्भाव-तिरोभाव होना ठीक है। परतु कर्मनिरपेक्ष जड (प्रकृति या अन्यान्य जड) परमाणु या विद्युत्कणसे विलक्षण कार्य बन जाने या वंदरसे मनुष्य आदिकोंकी उत्पत्तिका कोई आधार नहीं है।

जब कर्म, वर, शाप, भावना, सकल्प आदि अन्यान्य हेतु परिवर्तनके विद्यमान हैं, तब खामखाह व्यभिचारकी ही कल्पना करना, सबको झूठा समझकर केवल अपने अटकलपर ही डटे रहना कहाँतक ठीक है ? भले ही किसीको कोई रोग परस्त्री-सम्भोगसे ही हुआ हो, परतु अन्यान्य प्रकारके सम्पर्कसे वह रोग हो ही नहीं सकता, ऐसा नहीं कहा जा सकता। श्रीदशरथके राम, भरत ये दो श्यामल पुत्र और लक्ष्मण, शत्रुघ्न गौरवर्णके हुए। वसुदेवसे भी बलराम गौर, कृष्ण श्यामल हुए। प्रद्युम्न, अनिरुद्ध श्यामल हुए, व्यास, शुक आदि श्यामल थे, अतः यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि आर्य सब गोरे ही होते थे। भारतमें लहौं ऋतुओंका पूर्ण विकास होता है, अतः देश-कालभेदसे तथा अन्यान्य हेतुओंसे भी रूप-रंगमें भेद हो ही सकता है। मैथिल, बंगाली, पंजाबी, युक्तप्रान्तीय, महाराष्ट्रीय, द्रविड़ आदिकोंके रूप-रंग, स्वरूपमें स्पष्ट भेद पड़ जाते हैं। वे सभी आर्य हैं, सभीके समान गोत्र होते हैं। गंकर गौरवर्ण, ब्रह्मा रक्तवर्ण, विष्णु श्यामल वर्णके हैं। यही स्थिति

महाकाली, महालक्ष्मी और महामरुत्तनीकी भी है। सव्य शुक्ल, रज रक्त, तम कृष्ण होता है। भगवान्‌के अवतारोंमें भी शुक्ल, रक्त, पीत, कृष्ण—ये चार भेद आये हैं—

शुक्लो रक्तस्तथा पीत इन्द्राक्षी कृष्णतां गतः । (श्रीमद्भा० १० । ८ । १३)

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश—इन पाँच तत्त्वोंमेंसे जिस तत्त्वकी प्रधानता जिन प्राणियोंमें रहती है, उस प्रकारके रंग उन प्राणियोंमें होते हैं। पृथ्वीका पीतवर्ण, जलका शुक्ल, अग्निका रक्त, वायुका कृष्ण, आकाशका धूम्रवर्ण है (योगतत्त्वोपनिषद्)। सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि—इन ग्रहोंका रंग क्रमशः ताम्र, श्वेत, रक्त, ह्रस्व, पीला, मात्सर, शुक्ल और कृष्ण है। जन्मकालीन लग्नके नवाग्रका स्वामी ग्रह यदि बलवान् हो तो उसके वर्णानुसार उन पुरुषका रंग होता है। लग्ननवांशाविपत्ति निर्बल हो और यदि लग्नमें स्थित या लग्नको देखनेवाला ग्रह बलवान् हो तो उसके वर्णानुसार उस पुरुषका रंग होता है। लग्ननवांशाविपत्ति निर्बल हो और यदि लग्नमें स्थित या लग्नको देखनेवाला ग्रह बलवान् हो तो उन ग्रहके वर्णानुसार रंग होता है। अथवा चन्द्रमा जिस राशिके नवांशमें हो, उसके स्वामी ग्रहके वर्णानुसार रंग होता है। 'लग्ननवांशपतुल्यतनुः स्याद्दीर्घयुतग्रहतुल्यवपुर्वा । चन्द्रममेतनवांशपवर्णः ।' (बृहज्जा० ५ । २३) हाँ, इसमें भी देश, जाति, कुल आदिके अनुसार वर्णमें तारतम्य होना स्वाभाविक है—(परं विधार्थाः कुलजातिदेशाः ।)

विकासवाद युक्तिमगत हो तो उसे माननेमें कोई आपत्ति नहीं, परन्तु जिस विकासवादकी अवतक कोई निश्चित व्यवस्था ही नहीं, उसके बारेमें कहाँतक क्या कहा जाय ? विकास-ह्याम ये संस्कृत शब्द हैं। किसी विद्यमान वस्तुका ही ह्याम और विकास होता है। इस दृष्टिसे हर एक वस्तुका 'जायते, अस्ति, वर्धते' तक विकास कहा जा सकता है। 'परिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति' यहौतक ह्याम होता है। इस तरह हर एक तत्त्वमें ह्याम-विकासका चक्र चलता रहता है। यह विकास हास भी बिना किसी नियन्ताके नहीं चलता। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके नियन्त्रणमें तो यह सब सम्भव है, परन्तु जिस विकासवादमें सर्वज्ञ ईश्वर नहीं, जिसमें पूर्व-पूर्वके लोग अज्ञ, उत्तरोत्तरके लोग विज्ञ होते हैं, जिसमें अभीतक सर्वज्ञ कोई हुआ ही नहीं, अतएव जिसका शास्त्र भी अभीतक ठीक-ठीक नहीं बन पाया, ऐसा विकास सचमुच किसी आत्मिकको मान्य नहीं हो सकता। इसके सिवा सबसे बड़ा दोष इस विकासवादमें यह है कि इसमें कर्मवादका सम्बन्ध नहीं रहता। यदि अनन्त प्राणियोंके उत्कर्ष, अपकर्ष, सुख-दुःख उनके धर्माधर्मरूप कर्मोंने माने जायें और कर्मों तथा फलोंका ज्ञाता, नियन्ता परमेश्वर माना जाय, तब कर्मोंके अनुसार ही विकास

और उसके अनुसार ही हास भी मानना पड़ेगा। तब तो हाम-विकासका चक्र ही समझमें आ सकता है।

किसी पीढ़ीमें अकस्मात् परिवर्तन विकासवादमें परिगणित हो सकते हैं। परतु संकल्प, धर्माधर्म, वर-शापादिसे परिवर्तन इस विकासवादमें नहीं आ सकता। विकासवादियोंका यह कहना भी युक्तिविहीन है कि 'किसी जातिके किसी पीढ़ीमें अकस्मात् आविर्भूत होनेवाले गुण-दोष दोनों ही प्रबल होते हैं। खतरनाक अवस्था आनेपर दोषवाली जातिके लोग नष्ट हो जायेंगे, परतु गुणवाली जातिके लोग और जातियोंके नष्ट होनेपर भी बचे रहेंगे।' तब ये विशेषताएँ बिना कारणके कैसे होंगी? फिर जब अकस्मात् ही सब कुछ होना है, तब आकस्मिक दोषवाली जातिके नष्ट हो जाने, गुणवाली जातिके जीवित रहनेका ही नियम कैसे रहेगा? शास्त्रीय विचारधाराके लोगोंका तो कहना है कि किसी भी परिवर्तनमें हेतु अवश्य है और जो विशेषताएँ आगन्तुक हैं, उनको मिटाना भी अनिवार्य है। उत्तम दृढ़ हेतुसे व्यक्त विशेषताएँ कुछ दीर्घकालतक ठहरती हैं। निम्नश्रेणीके हेतुसे उत्पन्न विशेषताएँ शीघ्र ही नष्ट होती हैं। कुष्ठ, प्रमेह, मृगी आदि ऐसे कितने ही रोग हैं, जो प्रारब्ध एवं अन्यान्य बाह्य हेतुओंसे उत्पन्न होते हैं और फिर उनकी परम्परा चल पड़ती है। कितने रोग ऐसे भी होते हैं कि जिनकी परम्परा नहीं चलती। वैसे दोषोंका भी ज्ञान फल-बलसे ही जानना चाहिये।

रूप-रंग एवं मनपर बाह्य परिस्थितियोंका प्रभाव भी अवश्य पड़ता है। मैथिलों, पञ्जावियों, द्राविड़ोपर देश, जल, वायुका प्रभाव अवश्य है। पवित्र, अपवित्र वस्तुओंका सेवन, वैसे वातावरणका सेवन अवश्य मनपर प्रभाव डालता है। भोग, मद्य आदिके सेवनसे मनपर विकृति आती ही है। 'बैवल आधुनिक विकासवादियोंको मान्य नहीं है, इतनेहीसे कोई बात अयुक्त नहीं हो सकती। फिर जो आकस्मिक परिवर्तन माननेवाला है, उसकी दृष्टिमें किसी भी हेतुका सम्मान कैसे हो सकता है? इसके अतिरिक्त तीव्र पुण्य-पाप, ऋषियों, देवताओंके वर-शापसे भी विचित्र परिवर्तन शास्त्रसिद्ध है। रचनामें अलौकिक ईश्वरीय शक्तिका हाथ होते हुए भी चित्रकारके समान परमेश्वरमें अल्पज्ञता एवं अभ्याससापेक्ष कुशलताकी आपत्ति नहीं होगी। मनुष्यजातिकी धीरे-धीरे उन्नति करनेपर ही उसकी न्यूनता नहीं, क्योंकि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भी परमेश्वर जीवोंकी उन्नति अवनतिके सम्बन्धमें उनके कर्मोंपर अवलम्बित है। जीवोंके अङ्गोंके सौन्दर्य, माधुर्य आदि गुण-गणोंके होनेमें जीवोंके कर्म भी हेतु होते हैं, कर्मानुसार ही जीवोंको रूप, रंग, सौन्दर्य, बुद्धि आदि मिलेगी। इतनेसे ही सृष्टिकी पूर्णता-अपूर्णताका निर्णय करना निरर्थक है। जब जीवोंके पुण्य विशेष होते हैं, तब उनका उत्तम विकास होता है,

पुण्योकी कमीमें विकासकी कमी होती है। रगो, रूपो, बुद्धियोंमें खराबी पापोकी विशेषतासे भी होती है। वैसे ही हर एक जीवमें सब तरहके गुण और शक्तियाँ विद्यमान होती हैं। तपस्या और धर्मकी महिमासे उनका आविर्भाव, अवर्मसे उनका हास हो जाता है। प्रकृतिके विरुद्ध परमेश्वरका जातिपर हाथ लगानेका तो कोई प्रयत्न ही नहीं, प्रेम, भक्ति आदिसे भी अनेक परिवर्तन होनेपर भी उस देहके रहते-रहते जाति नहीं बदल सकती, दूसरे जन्ममें तो अभीष्ट जाति-परिवर्तन तीव्र क्रमसे हो सकता है। यह भी योगादि शास्त्रोको सम्मत है। भगवान् भक्तपर अनुग्रह करे, यह भी पक्षपात नहीं है; क्योंकि जैसे अन्यान्य कर्म हैं वैसे ही भक्ति भी मानस कर्मविशेष ही है। अग्निके समीप जो ही जायगा, उसकी गीत-निवृत्ति होगी। वह सभीके लिये समान है। विशेष कर्मों, उपासनादि हेतुओंसे उमी जन्ममें जातिपरिवर्तन होना अपवाद और उस देहमें जातिका न बदलना उत्सर्ग है। फिर किसी पीढ़ीके रूप, रग, मनके परिवर्तनसे जाति बदलनेका कोई प्रयत्न ही नहीं है। जो कहा गया है कि 'परमेश्वर किसी भक्त जातिको ब्राह्मणत्व दे सकता है' यह कहना अनभिज्ञता है, क्योंकि ब्राह्मणत्व भी जाति ही है। फिर एक जातिको दूसरी जाति कैसे मिल सकती है? यह व्यान देनेकी बात है कि व्यक्तिको जाति प्राप्त होती है। जातिको जाति कभी भी नहीं मिल सकती, 'जातों जाते-रनङ्गीकारान्' किसी अन्य जातिके व्यक्तिसे अन्य जाति मिल सकती है, परन्तु वह अपवाद है।

जो तपस्या और योगकी शक्तिसे प्रकृतिपर अधिकार पा चुके हैं, जो प्राकृतिक तत्त्वोंमें सकल्पमात्रसे परिवर्तन कर सकते हैं, वे शूद्रादि जात्यारम्भक कर्मविशिष्ट भूत, तन्मात्राओं या परमाणुओंको हटाकर ब्राह्मणजात्यारम्भक कर्मविशिष्ट भूतो या परमाणुओंसे ब्राह्मणजातिको व्यक्त कर सकते हैं। परन्तु यह सामर्थ्य उन्हीं लोगोंमें सम्भव है, जो अपने सामर्थ्यसे नहुषको अजगर और रम्भाको पहाड़ी बना सकते हैं। उन महर्षियोंके वचनोंमें वह सामर्थ्य रहती है कि जिससे उनके वचनोंका अनुगमन अर्थ करते हैं। वचनोंको अर्थके अनुगमनकी आवश्यकता नहीं होती। वे यदि घटको पट कहे, तो घटको पट होना पड़ता है—'ऋषीणा पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' आद्य महर्षियोंके वचनोंका अनुधावन अर्थ करते हैं। अतएव परमेश्वरद्वारा किसी जातिमें अनियमित परिवर्तनका प्रसङ्ग ही नहीं आता। जो यह कहा गया है कि मिश्रणसे भी रग-रूपमें भेद होता है, जैसे काली मुर्गी और श्वेत मुर्गसे उत्पन्न चार बच्चोंमें एक काला और एक श्वेत होता है, बाकी दो मिश्रत होते हैं। दूसरी पीढ़ीमें सोलह बच्चोंमें एक श्वेत, एक काला और चौदह मिश्र रगके तथा तीसरी पीढ़ीमें चौसठमें एक काला, एक श्वेत, बाकी सब मिश्र रगके होते हैं। इस तरह मिश्र जातिमें भी शुद्ध विशेषताएँ आ जाती हैं। वैसे ही मनुष्योंमें भी पश्चिमी श्वेत

और पीत मंगोलका मिश्रण होनेपर उनसे कुछ पश्चिमीय रूप-रंगके और कुछ मंगोल रूप-रंगके होते हैं। परंतु अधिकांश पारसी, ईरानी टगके होते हैं। इसी दृष्टिसे निश्चित किया जा सकता है कि पारसी जाति इन्हीं दोनोंका मिश्रण है। यही स्थिति उत्तर भारतकी उच्च जातियोंमें भी है। वहाँ मिश्रण स्पष्ट है। परंतु ऐसा कहना ठीक नहीं है। जैसे मुर्गीमें यह देखा जाता है, वैसे ही अन्य जातियोंमें इसका व्यभिचार भी देखा जाता है। 'कलमी आमोंमें कभी भी मूल आमके समान फल नहीं होते। व्यक्तियोंके रूप, रंग, ऊँचाईमें एकता, शरीरके हर एक अङ्गमें स्पष्टता शुद्ध जातिके चिह्न हैं,' यह कथन भी असङ्गत है। शुद्ध जातिका अर्थ क्या है? क्या सृष्टिकालसे प्रकट होनेवाली कोई आदिम जातिको शुद्ध जाति कहा जाता है? यदि हाँ, तो उपर्युक्त चिह्न उसीके हैं, इसमें क्या आधार है? वानर आदि जातियोंके अङ्गोकी अस्पष्टताके कारण क्या उन्हें अशुद्ध माना जाय? फिर शुद्ध वंदर कौन? कोई जाति ही स्पष्ट अङ्गवालोंकी होती है, कोई अस्पष्ट अङ्गवाली होती है।

'पाँचवीं, छठी, सातवीं पीढ़ीमें अशुद्ध सतानोंमें फिर शुद्धता आ जाती है,' इसका ठीक अर्थ न समझकर विद्वान् लेखकने व्यर्थ ही क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रके रक्तका हिसाब-किताब लगा डाला है। 'पाँचवीं पीढ़ीमें अशुद्ध सतान शुद्ध हो जाती है,' इसका अभिप्राय यह नहीं है कि किसी तरहसे भी अशुद्ध सतानसे पाँचवीं पीढ़ीकी संतान शुद्ध हो जाती है। उसका अभिप्राय है कि शूद्रकन्याका ब्राह्मणके साथ विवाह हो और फिर उससे कन्या ही हो, उसका विवाह फिर ब्राह्मणसे ही हो, उससे फिर कन्या हो और उसका फिर ब्राह्मणसे ही विवाह हो। इस परम्परासे सातवीं पीढ़ीमें उत्पन्न कन्या ब्राह्मणी होगी। शूद्रकन्यामें ब्राह्मणसे उत्पन्न कन्यापरम्परासे ही सातवीं पीढ़ीमें जातिका उत्कर्ष होगा, परंतु शूद्रपुत्रकी परम्परामें उत्कर्ष नहीं हो सकेगा, बल्कि शूद्र यदि उत्कृष्ट वर्णकी कन्यासे उद्वाह करे तो उसका पतन हो सकता है। 'अतः हर तरहसे निकृष्ट सतान भी उत्कृष्ट जातिको प्राप्त हो जाती है,' ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'रक्तमिश्रणसे भी जातमें भेद नहीं होता,' यह बात नहीं है। प्राचीन कालमें स्त्रियाँ विल्कुल शुद्ध थीं, यह तो कोई भी नहीं कहता, किंतु जो अशुद्ध थीं, उनसे उत्पन्न सतान अनुलोम, प्रतिलोम सङ्कर कोटिमें गिनी गयीं, जो आज भी अनेक उपजातियोंके रूपमें प्रत्यक्ष हैं। शुद्ध जातियोंमें वे मिलायी नहीं गयीं, यही वैदिकोका कहना है। स्त्रियोंकी शुद्धिपर विश्वास न होनेका कारण भिन्न-भिन्न देशोंका वर्तमान वातावरण ही है। अब भी देखा जाता है कि माता, पिता, भ्राताके पूर्ण नियन्त्रणमें कन्या रहती है। वह नौ-दस वर्षकी अवस्थामें ब्याही जाती है। श्वशुरकुलमें जाते ही पदोंमें रहती है। ज्येष्ठ, श्वशुरतकसे भी नहीं चोलती, घरके भीतर सदा घूँघटकी आटमें रहती है। जहाँ घूँघटकी प्रथा नहीं है, वहाँ

भी दृष्टिसवरणरूप पर्दा है ही। बिना कुटुम्बियोंके अकेले उसका कहीं जाना-आना सम्भव ही नहीं; किसी बाहरी व्यक्तिसे बोलनातक जब असम्भव है, तब स्वतन्त्र मिलनेकी तो बात ही क्या ? ऐसी दशामें कुटुम्बमें कहीं व्यभिचार भले ही हो जाय, परन्तु परजातिके साथ सम्बन्ध तो असम्भव ही है। रजस्वला होनेपर स्त्रीके मनमें विकार आनेपर किसीपर मन जा सकता है। इसीलिये रजस्वला होनेके पहले ही विवाह करनेका नियम है। पातिव्रतधर्म, वैधव्य-पालन, सतीधर्म आदिके प्रचारपर जिनकी दृष्टि है, जो आज भी एक-एक गाँवमें सैकड़ों निर्दोष कुलोंको देख रहे हैं, उन्हें स्त्रियो, विशेषतः प्राचीन कुलाङ्गनाओंकी शुद्धिपर अविश्वासका कोई कारण नहीं। जहाँ कहीं कुछ भी गड़बड़ीका सदेह हो, वहाँ उनकी सतानोंको पृथक् करनेका आशय यही था कि जातिकी शुद्धता बनी रहे। साराङ्ग यह है कि रूप, रंग, रक्त, वीर्य आदि सभीका परिवर्तन देग, जल, वायु, प्रारब्ध एव अन्यान्य आगन्तुक दोषों और गुणोंसे हो जाता है। इतनेहीसे जाति-भेद निराधार और निरर्थक नहीं सिद्ध होता। जैसे काली, श्वेत मृगोंमें भी जाति बही रहती है। नील, श्वेत, लाल, सब रंगकी गायोंमें 'गोत्व' और पूज्यत्व रहता ही है, वैसे ही पजाबी, मैथिल, बगाली, द्रविड ब्राह्मणोंके रूप-रंगमें भेद होनेपर भी ब्राह्मणत्व समान ही रहता है। 'इनमें कौन शुद्ध है, कौन नहीं,' इसका निर्णायक प्रमाण लेखकके साथ क्या है ? पजाबियों, बगालियों, युक्तप्रान्तियों, मैथिलों सभीके आकार-में स्पष्टता है। फिर भी कुछ भेद केवल देग, जल, वायुका ही है। अतएव उन-उन देगोंके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रतकके आकार-प्रकार, भाषामें एक खास समानता होते हुए भी जातिमें भेद है। बगाली, मैथिल, दक्षिणी ब्राह्मणके गोत्र, शाखा, सूत्र समान हैं। एक ही देशके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके रूप, रंग बोल-चालमें समानता होनेपर भी गोत्र आदिमें भेद है।

कौन चीज बदल सकती है, कौन नहीं, इसका ज्ञान अनुमान और शास्त्रोंसे सुगम है, पर शास्त्र-अनुमानशून्य केवल कल्पनाकी उड़ान करनेवालेको वह अवश्य दुर्गम है। जब यह स्पष्ट है कि रूप-रंग, मोटापन दुबलापनकी तरह परिवर्तनशील है, मनमें भी सत्त्व, रज, तमकी प्रबलता निर्बलता घट-बढ़ सकती है, तब स्पष्ट ही है कि इनके बदलनेसे ब्राह्मणता आदिमें परिवर्तन नहीं होता।

कर्मविपाक और विकासवाद

जड़ प्रकृतिसे विश्वका विकास माननेपर ईश्वरवाद और कर्मवादसे विरोध बतलाया जाता है। यह पक्ष उचित ही प्रतीत होता है कि जैसे बीज, धरणी, अनिल और जलके ससर्गसे अपने-आप अकुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प, फलसमन्वित होता है, वैसे ही प्रकृति अपने आप ही महदादिक्रमेण समस्त प्रपञ्चाकारेण परिणत होती है। विद्युत्कणों या परमाणुओंसे बहुत-से सूर्यादि

ग्रह, फिर पृथ्वी और उसपर घास, फूल, वृक्ष, फिर मांसमय ग्रन्थियाँ, फिर जलजन्तु, पक्षी, वानरादि क्रमसे मनुष्यका प्रादुर्भाव हुआ। परंतु ईश्वरवादी कहता है कि जड़ प्रकृतिको जब कुछ ज्ञान ही नहीं, तब वह सुव्यवस्थित विचित्र विच्यका निर्माण कैसे कर सकती है? अतः सर्वज्ञ ईश्वर मानना चाहिये। साथ ही विश्व वैचित्र्यका निमित्त कर्मवैचित्र्य भी मानना पड़ेगा। वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, देवता, दानव, मानव आदिकोमे सुख-दुःखकी विचित्रताके लिये कर्मोंकी विचित्रता मानना ही चाहिये। कर्मोंको बिना माने वस्तुओंका सौष्टव, असौष्टव, भोग-सामग्रीकी बहुलता-हीनता आदि कैसे सिद्ध हो सकते हैं? जड़वादी सब कुछ 'प्रकृतिके स्वभाव' से ही मान लेता है; परंतु ईश्वरवादी, धर्मवादी इसे अनुचित मानते हैं।

विचार करनेसे ईश्वरवादीके कर्मानुसार व्यवस्थामें भी दोष प्रतिभासित होते हैं। ईश्वरवादी कर्मके अनुसार समस्त व्यवस्थाका उपपादन करते हैं। परंतु कर्म यदि समस्त जन्तुओंको कर्मोंका फल माना जाय तो अनन्त तृण, वीरुध, वृक्ष, ज्ञानशून्य प्राणियोंको कर्मका ज्ञान ही नहीं है, फिर उनके किन कर्मोंके अनुसार उनका अग्रिम जन्मादि माना जायगा? साथ ही पशु-पक्षियों, कीट-पतंगोंको धर्माधर्मका ज्ञान ही नहीं, फिर वे कैसे धर्मका अनुष्ठान और अधर्मका परिवर्जन कर सकते हैं? इसके सिवा सर्प, व्याघ्रादि कितने ही स्वभावानुसारी प्राणियोंसे तो पाप ही अधिक बनता है, फिर तो उनके उद्धारका समय ही न आयेगा। पापकर्मसे अधम योनियों, अधम योनियोंसे पुनरपि पाप होता ही जायगा। परंतु कहा जाता है कि कर्मका अधिकारी केवल मनुष्य ही है और सब भोगयोनि है। मनुष्यशरीरसे ही प्राणी कर्म करके अनेक योनियोंमें कर्मफलोंको भोगता है। अधम कर्मोंसे अधम योनियोंमें, उत्तम कर्मोंसे देवादि उत्तम योनियोंमें फिर भोगा जाता है। इस कथनके अनुसार यह भी मालूम पड़ता है कि देवता, असुर, राक्षसादिकोंके लिये भी विधि-निषेध नहीं है। वे भी भोग-योनियाँ ही हैं। यहाँतक कि भारतवर्षके ही मनुष्य कर्मके अधिकारी हैं, अतएव उन्हींमें वर्णाश्रमानुसार कर्म एव तद्बोधक वेदादि शास्त्र हैं। तद्भिन्न अष्ट वर्ष, जम्बूद्वीपके और समस्त छः द्वीप तथा त्रयोदश भुवनके सभी प्राणा केवल कर्मोंके फल ही भोगते हैं। वे कर्मके अधिकारी नहीं, इसलिये विधि-निषेधके भी अधिकारी नहीं हैं। शास्त्रोंसे यह भी प्रमाणित होता है कि इन्द्रादि देवताओं, असुरों एव राक्षसोंमें भी पुण्य-पाप कुछ माना जाता था, अतएव यज्ञादिकोंका अनुष्ठान उनमें भी सुना जाता है। और नहीं तो कुछ माता, दुहिता आदिकोंका सम्भोग आदि पाप और उपासना ज्ञानादि पुण्य तो माने ही जाते थे। इसी तरह सुग्रीव-बालि-जैसे वानरों, जटायु-सम्प्राप्ति-जैसे गृध्रादि, गरुडादि पक्षियोंमें

भी पुण्य पापकी भावना सुनी जाती है। फिर भी प्रधान सिद्धान्त यही है कि भारतीय मनुष्य ही कर्माधिकारी हैं, अतएव यहींसे भोग, मोक्ष सब कुछ सिद्ध होता है और यहींके समस्त कर्मठ कर्मफलभोगार्थ भिन्न योनियोंमें जाते हैं।

कुछको ईश्वरीय सृष्टिके मूल कर्मको माननेवालोंके इस सिद्धान्तपर भी शंका होता है कि “कथञ्चित् उत्तरकुरु-जैसे देशोंके दिव्य मनुष्योंको भले ही भोगयोनि मान लें, पर भारतके बाहर रहनेवाले मनुष्योंको कर्माधिकारी क्यों नहीं माना गया ? कहा जा सकता है कि स्वर्गियोंके समान वे भी कर्मफलोंके भोगार्थ हैं। यदि सर्वत्र कर्म-परम्परा मानते जायेंगे, तब तो फिर कर्मोंकी समाप्ति ही न होगी, अतः कहीं कर्मभोग ही मानकर कर्म न माननेसे भोगद्वारा कर्मोंकी समाप्ति सम्भव है। परतु आजके यूरोपीय, अमरीकन, रूसी, चीनी, अफ्रीकन आदि मनुष्योंमें तो भारतीयोंसे कुछ भी भेद नहीं है, फिर उन्हें कर्मका अधिकारी क्यों न माना जाय और वहाँ ईश्वरीय वेदादि शास्त्रोंका प्रचार क्यों नहीं हुआ ? यदि कथञ्चित् यह मिद्ध किया जाय कि ‘वर्तमान उपलब्ध समस्त पृथ्वी भारतवर्ष ही है, अतएव उपर्युक्त सभी कर्मके अधिकारी हैं, इनमें सर्वत्र वेदका प्रचार भी था, प्रमादवश ही लोग अवैदिक हो गये। ब्राह्मणोंका सम्बन्ध दृष्टनेसे भक्ष्याभक्ष्यादिके नियम दृष्ट गये, इंगीलिये अब भी मानवधर्म, सामान्यधर्म, अहिंसा, सत्यादि नियमों, ईश्वरोपासनादि नियमोंके मनुष्यमात्र अधिकारी हैं,’ तो भी यह प्रश्न होगा कि कितनी ही जगली, हव्जी आदि अनेक मनुष्य जातियाँ हैं, जिनमें मालूम पड़ता है, कभी भी धर्म-कर्मकी भावना ही नहीं थी। उन्हें पुण्य-पाप होता है या नहीं ? यदि नहीं होता, तो क्यों ? यदि ‘अज्ञानी होनेसे,’ तब तो किसी अंशमें ज्ञानी होना भी अपराध कहा जा सकता है। ज्ञानी होनेसे पुण्यके अनुष्ठानसे स्वर्गादि सुख प्राप्त करना तो अच्छा है, परतु ज्ञानी होकर पापकर्म करके नरकादि महान् कष्टोंको भोगना तो अनिष्ट ही है। यदि अज्ञानी होनेसे ही वनमानुषादि अनेक जगली मनुष्य हिंसादि पापोंका फल नहीं भोगते, तब तो हिंदुओंके पापियोंका ज्ञान ही अपराध हुआ। यदि ज्ञान न हो, तो वे भी पापफलसे मुक्त हो जायेंगे, इसलिये पापफलसे डरनेवालोंको चाहिये कि वे अपने दृष्टोंको ज्ञानी न होने दें। इसके अतिरिक्त, एक ब्राह्मण बालक ज्ञानी होनेके लिये वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन न करे, तो यह भी पाप ही समझा जाता है। इस तरह जगन्त्रियोंका भी ज्ञानके लिये प्रयत्न न करना भी पाप ही समझा जाना चाहिये। फिर जैसे राजकीय कानूनमें अपराधका फल भोगना ही पड़ता है, ‘मैं नहीं जानता या’;

यह कहनेसे काम नहीं चल सकता, जैसे विष जाने, बिना जाने अपना फल देता ही है, वैसे ही यदि धर्माधर्म कोई वस्तु हैं, तो वे जाने, बिना जाने अपना फल देंगे।

“कहा जा सकता है कि विज्ञान भी एक तरहका कर्म ही है, अतः इसका होना, न होना भी फलोंमें विशेषता सम्पादन करता है। जैसे हथकड़ी-बेड़ीसे जिस व्यक्तिके हस्त-पादादि जकड़े हैं, जो असमर्थ है, उसके लिये करने, न करनेका विधि-निषेध नहीं हो सकता। समर्थके प्रति ही विधि-निषेध होते हैं, अतः जिनमें जो सामर्थ्य है ही नहीं—(जैसे पशुओंमें किसी ग्रन्थ पढ़नेकी) उन्हें उस सामर्थ्यके सम्पादनका विधान भी नहीं किया जा सकता। अतएव उस विधानके पालन न करनेसे वे अपराधी भी नहीं माने जा सकते। ऐसी स्थितिमें यह आया कि भगवान् ने जिनको कर्म करनेके देश-कालमें और कर्म करने एवं तदुपयोगी ज्ञान-सम्पादनमें योग्य—समर्थ बनाया, यदि वे विधि-निषेधका उल्लङ्घन करते हैं तो वे ही अपराधी माने जाते हैं।’ परंतु इससे यह भी सिद्ध होगा कि जो लोग भारतमें भी आर्यों या अन्य धर्मानुयायियोंमें हैं, उन्हें भी ज्ञान-सम्पादनकी सामग्री न मिली, उचित माता-पिता, उचित संग-सहवास न प्राप्त हुआ; अतएव जिज्ञासा ही न हुई। फिर उनके ज्ञान न सम्पादन करनेमें उनका कोई दोष न होना चाहिये। साथ ही उनको पापादिका फल भी न भोगना चाहिये। इसी तरह जंगलियोंमें भी मनुष्य होनेके कारण यद्यपि ज्ञान-सामर्थ्य है, तथापि संग-सहवास आदि ज्ञानकी सामग्री नहीं है अपना वेदिक धर्म, कर्म, ज्ञानके विपरीत ही सामग्री है। तब शुद्ध ज्ञानके न सम्पादन करनेमें उनका क्या दोष है? फिर यदि वे वेदके विपरीत वेदोंसे निषिद्ध समस्त पातकोंको करे, तो उनका क्या दोष और उनको नरकादि दुःख क्यों होगा? यदि भावना न होनेसे उनके वेद-निषिद्ध आचरणसे भी कोई दोष न माना जाय, तब तो यह मानना पड़ेगा कि भावना ही धर्माधर्म है, उससे भिन्न कोई धर्माधर्म नामकी वस्तु नहीं है। फिर तो यह भी मानना पड़ेगा कि वैदिक धर्म भी किसीकी दृष्टिसे पुण्य, किसीकी दृष्टिसे पाप होगा। उस दशमें धर्मका कोई निश्चित स्वरूप तथा निश्चित फल न रहा और फिर पशुओं, पक्षियोंके समान ही पर-स्त्री-गमनादिमें या तो मनुष्योंको भी पापादि न होगा या तो पक्षी-पशु आदिकोंको भी होगा ही, क्योंकि कोई-न-कोई भावना सर्वत्र ही है।

“इनके सिवा भारतीयों या मनुष्यमात्रको भी यदि कर्मयोनि मान लें, तो भी कर्मकी व्यवस्था नहीं बैठेगी; क्योंकि मनुष्योंकी संख्या प्रतिपरार्ध एक भी नहीं है। फिर इतने मनुष्य कब हुए जो मनुष्य-शरीरमें कर्म करके उनका फल भोगनेके लिये पशु, पक्षी, कीट, पतंग और तृण-वीरुधोंमें गये? जब मनुष्य उत्पन्न हुए ही नहीं थे, तभी पहलेसे असंख्य तृण, वीरुध, वृक्ष पृथ्वीपर हैं,

वे भी जीव ही हैं। यदि वे कर्मफल भोग रहे हैं और कर्मयोनि मनुष्य ही है, तो वे कभी मनुष्य रहे होंगे, यह भी मानना पड़ेगा। परंतु कभी भी इतने मनुष्य रहे होंगे, यह कल्पना भी नहीं हो सकती। समुद्रोंमें अपरिगणित जातिके कीट, टिड्डी, पिपीलिका, पतंग ऐसे अचिन्त्य जीव हैं, जिनकी संख्याका कभी भी पता नहीं लग सकता। यह सब कभी मनुष्य रहे होंगे, यह कल्पना नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि 'अनादि सृष्टिमें कभी-न-कभी वे सब मनुष्य रहे होंगे', तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जब मनुष्य रहे, तब तृणादि तो अवश्य ही रहे होंगे। कम-से कम भोजनके लिये अन्न रहे होंगे। अन्नकी भी सम्पूर्ण ओपधियाँ जीव ही हैं। वे भी कर्मफल ही भोग रहे हैं। फिर कभी भी जन्तु न रहे हों, यह नहीं कहा जा सकता। वैज्ञानिक लोग जलोंमें भी अपरिगणित कीटोंको दिखलाते हैं, प्राणियोंके रूपोंको भी कीटमय ही बतलाया जाता है। फिर वे सब जीव, मनुष्य जब कभी भी रहा होगा, तब भी अवश्य ही रहे होंगे। ऐसी स्थितिमें उन सबका कभी मनुष्य होना कैसे सम्भावित हो सकता है? हाँ यदि कतिपय कल्प या कतिपय ब्रह्माण्ड ऐसे माने जायें, जहाँ केवल मनुष्य ही असंख्येय मात्रामें हों और कोई भी जन्तु या तृणादि वहाँ न हों और वे ही जीव वर्तमान उपलब्ध संसारोंमें तृण, कीटादि रूपमें भोग भोग रहे हैं, तब कुछ समाधान हो सकता है। परंतु इसमें कोई प्रमाण भी तो होना चाहिये। उनके खानेकी चीज क्या थी? तृण, जल, अन्न बिना वे रहते थे, रक्तादि उनके देहमें नहीं थे, कीटोंका भी संसर्ग नहीं था, फिर भी वे पाप करते थे, जिससे यहाँके तृणादि हुए। उस ब्रह्माण्डको इतना बड़ा मानना होगा कि इस ब्रह्माण्डके परमाणु प्रदेशपर भी मरे हुए जीव वहाँ मनुष्य बनकर पाप करें। फिर जब उनको खाना नहीं, रक्त-वीर्य न होनेसे व्यभिचार नहीं, तब पाप ही कैसे और कौन करेंगे? यह सब यदि दृढतर प्रमाणसे प्रमाणित हो, तभी कर्मकी व्यवस्था हो सकती है, परंतु कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता।

“कुछ लोग कहते हैं कि ‘ज्ञानवान् और समर्थ होनेपर ही जीव कर्ममें स्वतन्त्र होते हैं, इसके पहले वे प्राकृतिक कर्मप्रवाहमें ही बहते रहते हैं। अर्थात् प्रकृति स्वभावसे तमोगुणप्रधाना होकर जिस समय जब राज्यकी ओर प्रवाहित होती है, उस समय प्रायः तदन्तःपाती सभी जीव जडताको प्राप्त हो जाते हैं। फिर स्वभावसे ही वही प्रकृति जब रजोगुणक्रमेण सत्त्वगुणकी ओर प्रवाहित होती है, तब स्वभावसे ही जडता मिटती जाती है, चेतनता विकसित होती जाती है। फिर मनुष्य होनेपर जीव स्वतन्त्र कर्म करके उन्नति या अवनतिकी ओर जा सकता है, अन्यथा प्रकृति-प्रवाहके अनुसार ही उसकी देवादिपर्यन्त उन्नति होती है, क्रिया-ज्ञानशक्ति का विकास चलता है, फिर स्वभावसे ही तमोगुणकी ओर प्रवाह बदलने-से स्थावरान्ता अधोगति होती है। जैसे असमर्थ शिशुका समस्त कार्य माता करती

है, वैसे ही जीवोंका समस्त कार्य माया ही करती है ।”

परंतु यह पक्ष भी संगत नहीं जँचता, क्योंकि एक तो विकासवादसे भिन्न यह कोई पक्ष ही नहीं है, दूसरे यदि हरएक कर्मोंका भी मूल कर्म ही है, तो प्रकृतिका परिणाम भी किंमूलक है ? प्रकृतिकी साम्यावस्था और वैषम्यावस्था क्यों होती है ? क्यों जडराज्यकी ओर उसका प्रवाह होता है ? क्यों चैतन्यराज्यकी ओर परिणाम होता है ? यदि इन सबका मूल कर्म माने, तो वह किसका ? चेतनोंका या अचेतनोंका ? यदि चेतन-सम्बन्ध-शून्य जड़ोंका ही कर्म कहा जाय, तो उसका फल भी उसीको होना चाहिये, चेतन उसका फलभागी क्यों होगा ? यदि इतना महत्वपूर्ण कर्म बिना कर्मसे ही हुआ, तो और भी अपेक्षित शय्या, प्रासादादि भी कर्मके बिना ही सम्पन्न हो सकेंगे । फिर उनमें कर्मकी क्या अपेक्षा और फिर ईश्वर कर्म-सापेक्ष ही प्राणियोंको भिन्न-भिन्न कर्मोंमें प्रवृत्त करता है, इसका क्या अर्थ है ?

‘एष एव साधुकर्म कारयति यमेभ्योऽग्रे निनीषते’, (कौषीत० उप०)

‘वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् ।’ (ब्रह्मसूत्र २ । १ । ३४)

इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंका क्या अर्थ है ? फिर तो वह विकासवाद ही उचित प्रतीत होता है, जिसमें स्वतन्त्र प्रकृतिसे ही विलक्षण प्रकारके पदार्थोंका विकास होता है ।

प्रकृति या परमाणु आदिकोंसे निर्मित ही किसी विलक्षण प्रपञ्चका प्रादुर्भाव होना भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । जब कोई भी लौकिक शय्या, प्रासाद, यन्त्र, यानादि बिना ज्ञानेच्छाप्रयत्नसम्पन्न चेतनके नहीं बन सकते, तब मन, बुद्धि, इन्द्रिय, मस्तिष्कादिसहित शरीर एव अनेक विचित्र सुख-दुःख सामग्रियों जीवको यो ही प्राप्त हो गयीं, यह कैसे कहा जा सकता है ? फिर यदि चेतन जीव देहादिसे भिन्न नित्य है, तो यह जिज्ञासा बनी ही रहेगी कि आखिर उसे शुभाशुभ शरीरोंकी प्राप्तिमें क्या निमित्त है ? अतः ‘अकृताभ्यागम, कृतविप्रणाशादि’ अनेक दोषोंके वारणार्थ देहादिसे भिन्न, नित्य, चेतन जीव और उसके विचित्र सुख-दुःख, तत्सामग्री आदिकी प्राप्तिके अनुकूल शुभाशुभ कर्म मानना ही चाहिये । देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिकी चेष्टाओंकी विचित्रतासे लोकमें भी फलकी विचित्रता दृष्ट है । आयुर्वेद, शिल्प, विज्ञान, संग्रामादि लौकिक स्थलोंमें कर्मकी विचित्रतासे फलकी विचित्रता सम्प्रतिपन्न है । अतः सम्पूर्ण विश्व-वैचित्र्यका मूल भी कर्मवैचित्र्य ही होगा, यह बात मरलनासे समझमें आ सकती है । जिन विचित्र कार्योंका हेतुभूत विचित्र कर्म दृष्ट नहीं है, वहाँ भी अनुमान करना चाहिये । तथा च समष्टि-व्यष्टि विश्वकी विचित्रताका मूल समष्टि-व्यष्टि प्राणियोंके विचित्र कर्म ही हैं । किस विचित्र कार्यका

हेतु कौन विचित्र कर्म है, यह जाननेके लिये जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान प्रमाण मिलते हों, वहाँ प्रत्यक्षानुमानसे मानना चाहिये। जहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाण न मिलते हों, वहाँ शास्त्रसे जानना चाहिये। देखते ही हैं कि जिन बहुतसे कार्यकारणभावका निर्णय प्राणियोंकी अल्पज्ञ बुद्धि नहीं निर्धारण कर सकती, उनका निर्णय योगियों, महर्षियोंकी बुद्धिसे होता है। कोई भी प्राणी आयुर्वेदोक्त ओषधियोंके गुण-दोषोंका अन्वय-व्यतिरेकादि युक्तियोंसे अनुभव करके सहस्रों जन्मोंमें निर्णय नहीं कर सकता, फिर उन अपरिगणित ओषधियों और उनके अपरिगणित सम्प्रयोग-विप्रयोगसे व्यक्त होने-वाले अपरिगणित गुण-दोषोंका निर्णय कौन कर सकता है? फिर भी उनका प्रत्यक्ष फल देखकर उनके निर्धारयिताओंकी धर्मयोगादिजन्य विशेषता माननी पड़ती है। यही स्थिति मन्त्रोंकी भी है। विभिन्न वर्णोंकी पौर्वापर्यरूप विचित्र आनुपूर्वका विचित्र सामर्थ्य प्रत्यक्ष दिखायी देता है। मन्त्र एवं आयुर्वेदादि शास्त्रोंकी सत्यता देखकर उनके निर्माताओंकी विशेषता विदित होती है। फिर आयुर्वेदादि निर्माताओं-द्वारा वेदादि धर्मशास्त्रोंकी महिमा सुनकर वेदोंकी ईश्वरीयता या अपौरुषेयता विदित होती है और उन्हींके द्वारा देहादिसे भिन्न आत्मा, जगदुत्पत्ति, जगत्का वैचित्र्य तथा उसके मूल धर्माधर्मका परिज्ञान होता है। किन कर्मोंसे क्या सुख दुःख एवं तत्सामग्री आदि फल प्राप्त होता है, कौन योनि किन भावना और कर्मोंसे प्राप्त होती है, यह सब शास्त्रोंसे ही मालूम पड़ता है।

कुछ कर्म ऐसे हैं जिनकी समाप्ति फल प्राप्त कराकर ही होती है—जैसे गमन, भोजनादि। कुछ कर्म अपना फल कालान्तरमें देते हैं, जैसे क्षेत्रमें बीज बोना आदि। कुछ वस्तुओंका खाना, छूना आदि भी शनैः-शनैः कालान्तरमें ही फल देता है। इसी तरह किन्हीं कर्मोंका फल कर्मकी ही महिमासे दृष्टानुसार होता है। उदाहरणार्थ आयुर्वेदिक, होमियोपैथिक आदि औषधोंका। जैसे कुछ सेवादि कर्म स्वामी आदिकी प्रसन्नता सम्पादनादिद्वारा फलपर्यवसायी होते हैं, वैसे ही कुछ कर्म इसी देहमें फल देते हैं, कुछ परलोकमें दूसरे देहद्वारा फल देते हैं। समष्टि-व्यष्टि जगत्के धारण-पोषण एवं लौकिक-पारलौकिक उत्थानके अनुकूल देहेन्द्रियमनोबुद्धि आदिकोकी ईश्वरीय शास्त्रादिष्ट हलचल ही धर्म है। विपरीत कर्म अधर्म है। उन सबको जानकर यथावत् फलप्रदान करनेके लिये ही सर्वत्र सर्वशक्तिमान् परमेश्वर भी मान्य होता है। फिर भी असमर्थके लिये विधि-निषेध नहीं हो सकता, अतएव अन्ध, बधिर, उन्मत्त मनुष्य या विवेकशून्य अन्य प्राणियोंके लिये विधि निषेध सम्भव नहीं है। केवल उनके स्वाभाविक कर्मोंके ही जो सुपरिणाम, दुःपरिणाम होते हैं, वही हो सकते हैं, किंतु मनुष्योंके लिये शास्त्रोक्त कर्म हैं ही। विशेष संस्कारसे जिन सुग्रीव, वालि-जैसे वानरों और जटायु, सम्पति जैसे गुर्रों या अन्यान्य खगों, मृगोंको, जिनको धर्माधर्म और अधिकारका ज्ञान है, उन्हें अधि-कारानुसार उन कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे पुण्य-पाप होता है। देवता, असुर, नाग,

गन्धर्व आदिकोंको भी संस्कारवशात् शास्त्रज्ञा बोध है। अतः उन्हें भी यद्यपि वर्णाश्रमधर्मके अनुष्ठानका तो अधिकार नहीं है, तथापि उपासनाओं, विद्याओं तथा कुछ कर्मोंमें अधिकार है। दुहितृ-गमनादि निषिद्ध कर्मोंके अनुष्ठानसे पापादि भी होता है। इस तरह बहुत सी कर्मयोनियाँ हो जाती हैं। उनसे भिन्न कीट, पतंग, वृश्चादि भोग-योनियाँ हो जाती हैं। कर्मयोनि-भोगयोनिका अन्तर माननेसे जीवोंके पुनरुत्थानका अवसर बना रहता है। उच्चकोटिकी योनिमें उत्पन्न प्राणियोंके किये हुए कर्मोंसे इतर योनियोंमें भोग भोगनेके लिये जाना पड़ता है।

वैसे तो कर्मोंसे ही समस्त योनियोंकी प्राप्ति है, परंतु किसीमें नये कर्म भी बनते हैं, कोई केवल भोगके लिये होती हैं। अधिक पुण्य होनेपर स्वर्गीय देवादि योनियोंकी प्राप्ति होती है। किन्हींसे नरक और कीटादि योनियोंकी प्राप्ति होती है। उत्तम, मध्यम, अधमभेदसे त्रिविध-तामस, त्रिविध-राजस, त्रिविध-सात्त्विक योनियाँ होती हैं। सामान्यरूपसे मनुष्यपर कर्तव्याकर्तव्यकी अधिक जिम्मेदारी रहती है। कानून समर्थ लोगोसे आशा रखता है कि वे उसे जाने और माने, अतएव वह यह नहीं सुनता कि 'हम इस नियमको नहीं जानते थे।' किसी भी तरह प्रमादवश धर्म-कर्मका ज्ञान और अनुष्ठान मनुष्योंसे भिन्न होना उनका अक्षम्य अपराध है। धर्म ही एक उनकी विशेषता है। धर्मके बिना तो वे भी पशुओंके ही समान होते हैं—'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः' यद्यपि विशिष्ट-कर्म भारतवर्षके मनुष्योंमें ही हैं, तथापि सामान्यरूपसे पुण्य-पाप सभी द्वीपोंके मनुष्योंको होता है। पुराणोंकी परिभाषाके अनुसार इस समयकी उपलब्ध समस्त भूमि भारतवर्ष ही है। अन्य अदृश्य द्वीपों, वर्षोंके मनुष्यों, नागों, गन्धर्वों तथा अनेक देवभेदों तथा समर्थ अन्यान्य योनिके लोगोंको भी साधारण पुण्य-पाप होते हैं। नागों, देवों आदिकोंकी संख्याका पारावार नहीं है। फिर भी यद्यपि कीट, पतङ्गादिकोंकी संख्या अधिक है, तथापि संसार अनादि और विचित्र है। ब्रह्माण्ड भी अनन्त हैं। अतः सभी भोग-योनिके जीवोंको कभी-न-कभी कर्मयोनियोंमें आना सम्भव है ही। मनुष्य-योनिमें न सही तो भी देव, नाग, गन्धर्व तथा सावधान पशु, पक्षी आदि योनियोंमें कभी किसी भोग-योनिके प्राणीका जन्म नहीं हुआ, यह कौन कह सकता है? जब कि एक मनुष्यशरीरसे एक दिनके किये हुए कर्मोंसे लाखों युगतक कीटादि जन्म प्राप्त हो सकते हैं, तब मनुष्य-देहके कर्म होनेपर भी अ-न्य देहोंको मनुष्यदेहकृत कर्मोंका फल कहा जा सकता है। जैसे किसी भवनका मुख्य दरवाजा एक होनेपर भी उसीसे निकलकर अवान्तर हजारों दरवाजोंपर मनुष्योंकी स्थिति हो सकती है, वैसे ही मनुष्यशरीर-रूप दरवाजाके कम होनेपर भी, उससे निकलकर प्राणी अनेक देहोंमें रह सकते हैं। अपरिगणित जीव मानस कर्मोंके ही बलसे अनेक योनियोंमें जा जाते हैं? साथ ही विचित्र ब्रह्माण्ड और विचित्र लोक ऐसे भी हो सकते हैं, जहाँ सूक्ष्म एवं अपरिगणित ऐसे समर्थ प्राणी हों, जिनके मानस आदि कर्मोंमें अनेक प्रकारकी योनियाँ प्राप्त होती हों। योगसिद्ध योगी कायव्यूह निर्माण करके अपने प्राक्तन शुभाशुभ कर्मोंको भोग-

कर मुक्तिपदको प्राप्त होते हैं । कायव्यूह निर्माण करके वे सहस्रों शुभ देहोंसे अपने प्राप्तन शुभकर्मोंका भोग करते हैं । ऐसे ही सहस्रों अशुभ देहोंके द्वारा अशुभकर्मोंका उपभोग करते हैं । यहाँ कर्म कर्ता एक ही जीव होता है परंतु फल भोगनेके लिये वह लाखों देह धारण कर लेता है । फिर भी सब देहोंमें अभिमानि जीव एक ही होता है ।

इसी तरह कोई जीव विशिष्ट कर्मों एवं उपासनाओंके बलसे हिरण्यगर्भ पदको प्राप्त करता है (समष्टि सूक्ष्म प्रपञ्चका अन्तर्यामी ईश्वर भी यद्यपि हिरण्यगर्भ शब्दसे बोधित होता है । तथापि प्रकृतिमें 'पुरा औषत पुरुषः' श्रुतिके अनुसार जो जीव अन्यहिरण्यगर्भ पदके उम्मीदवारोंको हराकर या दग्ध करके विशिष्ट उपासनादि द्वारा हिरण्यगर्भ हुआ है । वह समष्टि सूक्ष्म प्रपञ्चाभिमानि जीव ही यहाँ हिरण्यगर्भ शब्दसे अभिप्रेत अर्थ है ।) वह हिरण्यगर्भ दिव्य शक्तिसम्पन्न है । वह एक होता हुआ कायव्यूह निर्माण करके अनन्त देहोंको धारण करता है । इस तरह कर्म कर्ताओंके कम होनेपर भी भोक्ताओंकी आनन्द्य प्रतीति सगत हो जाती है ।

इसके अतिरिक्त कितने कर्म ऐसे होते हैं, जो जाने, बिना जाने किसी भी तरह हो जानेपर फलजनक होते हैं । जैसे विप, जाने, बिना जाने किसी भी तरह पीनेसे उसका फल होता है । किन्हीं मूषकोंकी जिवमन्दिरमें दीपककी वाती उमका देनेसे, किसी पक्षीकी बाजके भयसे अन्नपूर्णाकी परिक्रमा कर लेनेसे सद्गति हुई है ? इसी तरह बहुत-से ऐसे जीव हैं, जिनके शरीर सूक्ष्मतन्मात्राओंके ही बने होते हैं । उनके द्वारा बहुत-से मानस कर्म होते हैं । उनकी संख्या भी अपार है । 'जो नहीं देखा नहीं सुना जो मनहू न समाय' । एक वटवृक्षके भीतर वटवृक्ष, उसमें अपरिगणित फल, उससे फिर अगणित बीज और उनमें वृक्ष, इस दृष्टिमें जैसे एक वटवृक्षमें अनन्तकोटि वटवृक्षोंकी सम्भावना हो सकती है, वैसे ही एक परमाणुके पॉचवें अंग स्वर्शतन्मात्रामें वायु, उसके एक देशमें प्राण और उसके एक देशमें मन और मनमें ब्रह्माण्ड होता है । फिर ब्रह्माण्डके अनन्त मनोमें अनन्त ब्रह्माण्ड होते हैं । एकक्षणके स्वप्नमें अपरिगणित जीव दिखायी देने लगते हैं । फिर उनके कर्माँ और भोगोंका सिवा ईश्वरके और किसको पता लग सकता है ? फिर विद्वान् तो फल बलसे कारणकी कल्पना करते हैं । कार्य देखकर कारणकी कल्पना करनी उचित है । अतः भोगयोनि के जीवोंको देखनेसे ही उनका कर्मयोनिमें जन्म सिद्ध हो जाता है । अतः सर्वज्ञ ईश्वर प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मानुसार ही विश्वको रचता है । स्वतन्त्र जड़ प्रकृति या परमाणुओंसे विश्वकी उत्पत्ति की कल्पना तो सर्वथा ही बेतुकी बात है । प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मोंकी वासनाओंसे वासित प्रकृति भी कर्मानुसार ईश्वराधिष्ठित होकर ही अपने प्रवाहमें निपतित जीवोंको चैतन्य-साम्राज्य या जड़-साम्राज्यकी ओर प्रवाहित करती है ।

चतुर्थ परिच्छेद माक्सिीय द्वन्द्ववाद

‘डायलेक्टिस’ (द्वन्द्ववाद) ग्रीक (यूनानी) भाषाका शब्द है। यह ‘दियालेगो’ से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है चर्चा या विवाद करना। इसी विवादस्वरूप द्वन्द्ववादके आधारपर प्राचीन-कालमें कोई वक्ता विपक्षीके तर्ककी असंगति दिखलाकर उसका निराकरण कर सत्यसिद्धान्तका प्रतिपादन करता था। उस समयके दार्शनिकोंका ऐसा विश्वास था कि विचारोंमें परस्पर विरोध-प्रदर्शनसे अथवा विरोधी मतोंके संघर्ष स्पष्ट कर देनेसे सत्यकी प्रतिष्ठा होती है। सत्य सिद्धान्त प्रतिष्ठित करनेकी सर्वश्रेष्ठ प्रणाली ही द्वन्द्ववाद या ‘डायलेक्टिकल’ है। विचार-क्षेत्रके बाहर प्राकृतिक घटनाओंपर भी इस द्वन्द्वात्मक-प्रणालीको लागू किया जाता है। प्रकृतिको वृद्धि-परखनेकी द्वन्द्वात्मक प्रणालीमें ही द्वन्द्ववादका विकास हुआ। इसके अनुसार प्रकृतिके बाह्यरूप सतत गतिशील हैं और उनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। तदनुसार ही प्रकृतिकी शक्तियोंकी परस्पर क्रियाप्रक्रियाको एवं प्रकृतिके असंगतियोंके फलस्वरूप प्रकृतिका विकास हुआ।

(जे० स्टालिनका द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद)

वस्तुतः आधुनिक पाश्चात्य दर्शनोको ‘दर्शन’ कहनेमें ही संकोच होता है, क्योंकि उनकी तत्त्व दृष्टि सर्वथा धुँधली और अस्पष्ट

ही रहती है। इसका मूल कारण यह है कि उनमें प्रमाणोंका स्पष्ट विग्लेपण नहीं होता। उदाहरण या दृष्टान्तको ही ये कभी-कभी प्रमाण मान बैठते हैं, जो कि पौरस्त्य-दर्शनमें परार्थानुमानके पञ्चावयवमें केवल एक अङ्ग है। चर्चा या विवाद स्वयं कोई प्रमाण नहीं, जिसके आधारपर स्वयं कोई प्रमेय सिद्ध हो सके—

‘लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः ।’

—लक्षण और प्रमाणसे वस्तुसिद्धि होती है, केवल चर्चासे नहीं। पौरस्त्यदर्शनोंमें चर्चा वाद, जल्प, वितण्डा-भेदसे तीन प्रकारकी होती है। तत्त्व-निर्णीया, विजिगीषा, परपक्ष-निराचिकीर्पासे प्रेरित वादी-प्रतिवादियोंद्वारा परस्पर पक्ष-प्रतिपक्षोका प्रमाणोंद्वारा साधन बाधन करनेको ‘चर्चा या विवाद’ कहा जा सकता है। प्रामाणिक असंगति और विरोधप्रदर्शन, परपक्षनिराकरण, स्वपक्ष-साधनका एक आशिक साधनमात्र है। अनुमानके अङ्ग, व्याप्तिनिर्णयमें अनुकूल तर्क अपेक्षित होता है। व्याघात-प्रदर्शन करके सशय-निवृत्तिरूप अनुकूल तर्कसे व्याप्तिज्ञान दृढ़ हो जाता है। फलतः निर्दोष अनुमानसे अनुमेय पदार्थोंकी अनुमिति होती है। उसीके एक अंशको ‘वाद’ मानकर उसे विचार-क्षेत्रके बाहर लागू करना असंगत ही है। हाँ, अनुमानोंके आधारपर प्राकृतिक पदार्थोंका गुण-स्वभावादि निर्णय करना गुणही है, फिर इसे कोई खास व्यक्तिका वाद मानना व्यर्थ है।

वेदान्ती अन्य मतोंमें असंगति दिखलाकर सर्वमतखण्डनावधि निराकर्ताके प्रत्यगात्माकी स्वतः सिद्धि मानते हैं। इसी पक्षको लेकर हेगेलने अखण्ड नित्यबोधकी सिद्धिमें उसे प्रयुक्त किया है—

नेति नेतीति नेतीति शेषितं यत् परं पदम्।

निराकर्तुमशक्यत्वात्तदस्तीति सुखी भव ॥

नेति नेति नेति—इन तीन निषेधोंसे स्थूल, सूक्ष्म, कारण—इन त्रिविध दृश्योंका निषेध कर देनेपर सर्वनिषेधावधि, निषेधाधिष्ठान, निषेधसाक्षी निराकर्ताका प्रत्यगात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है। उसका निषेध अशक्य है, अतः वह स्वतः सिद्ध है। पर इस असंगति-प्रदर्शनमात्रसे किसी गुणवर्मकी सिद्धि शक्य नहीं। किसी भी वाक्यकी सिद्धिके लिये प्रमाण अपेक्षित है। माकर्सनवादके अनुसार ‘द्वन्द्वमान’ (Dialectics) में एकके द्वारा तर्ककी उत्थापना होती है, फिर उसका खण्डन होता है, पुनः नये तर्ककी उत्थापना होती है। इस प्रकार एक नीचे दर्जेके सत्यसे ऊँचे दर्जेके सत्यपर पहुँचते हैं। यह क्रमोन्नतिप्रक्रिया है। इसमें स्थिरता नहीं, वेग है। यही प्रक्रिया सारी प्रकृतिमें वर्तमान है। मानव-समाज और प्रकृतिके इतिहाससे ही द्वन्द्वमानके नियम निकाले गये हैं। ये नियम व्यापक रूपसे सब प्रकारकी गतिके नियम हैं। यहाँ भी वादी-प्रतिवादियों, तर्क प्रवर्तकोंद्वारा पक्ष-

प्रतिपक्षका साधन-बाधन ही द्वन्द्वमान ठहरता है। 'वाद'मे भी भारतीय प्रणालीके अनुसार नियम होते हैं। मध्यस्थ और सदस्य उसके नियामक होते हैं। निर्दोष तर्कद्वारा सिद्ध पदार्थका तर्कान्तरसे खण्डन नहीं हो सकता। तर्कशतसे भी पदार्थ-स्वभाव नहीं बदलता। यथार्थ-ज्ञान वस्तुतन्त्र होता है, पुरुषतन्त्र नहीं। केवल तर्क अनवस्थित होता है। उसके आधारपर किसी भी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। कुशल तार्किक तर्कद्वारा जिस वस्तुको सिद्ध करता है, दूसरे तार्किक उसे अन्यथा ही उपपादित कर देते हैं—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः

कुशलैरनुमातृभिः।

अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते

॥ (वाक्तिकसार)

प्राग्लोप, अविनिगमकत्व, प्रमाणापगम—इन दोषोंसे अनवस्था दोष दृष्ट होत है।

माक्सवादी द्वन्द्वात्मक प्रणालीके मुख्य लक्षण निम्नलिखित है—

अतिभूतवादके प्रतिकूल द्वन्द्ववादके अनुसार प्रकृति ऐसे पदार्थोंका आकस्मिक सघटन नहीं जो परस्पर स्वतन्त्र, विच्छिन्न और असम्बद्ध हैं। द्वन्द्ववादके अनुसार प्रकृति सम्बद्ध और पूर्ण इकाई है। उसके पदार्थ और बाह्यरूप एक दूसरेपर निर्भर तथा एक दूसरेसे सजीवरूपमें सम्बद्ध हैं और परस्पर एक-दूसरेकी रूप-रेखा निश्चित करते हैं। कुछ पदार्थोंका कार्य-कारण-भाव अवश्य मान्य है। पर अनेक सनिहित पदार्थ ऐसे भी हैं, जिनका आपसमें कोई सम्बन्ध नहीं; जैसे पशुके दोनों शृङ्गोंमें आपसमें कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं, इसीलिये यह भी कहना ठीक नहीं कि 'द्वन्द्वात्मक-प्रणालीका यह सिद्धान्त है कि अपने चारों ओरके सघटनसे अलग करके कोई प्राकृतिक घटना अपने-आपमें समझी नहीं जा सकती। कारण यह है कि उसके चारों ओरकी परिस्थितियोंसे और उनके प्रसङ्गमें उनका विचार न करके वह घटना प्रकृतिके किसी भी प्रदेशकी घटना हमारे लिये निरर्थक सिद्ध होती है। फलतः हम प्रकृतिकी कोई भी घटना तभी समझ सकते तथा उसकी व्याख्या कर सकते हैं, जब हम उसके चारों ओरके सघटनके अविभाज्यरूपमें उसपर विचार करें और हम यह सोचकर उसकी व्याख्या करें कि उसकी रूपरेखा उसके चारों ओरके सघटनसे निश्चित हुई है।' इससे भी सभी सनिहित पदार्थों या घटनाओंमें परस्पर कार्य-कारण भाव नहीं होता। कई घटनाएँ और पदार्थ एक साथ उत्पन्न होते हैं, फिर भी उनमें कोई सम्बन्ध नहीं होता। कार्य-कारण निर्णयके लिये अन्वय-व्यतिरेकादि युक्तियों अपेक्षित होती हैं। अन्वय-व्यतिरेक दृढ होनेपर अव्यवहित पौर्वापर्य होनेपर भी उसे काकनालीय-न्याय कहा जाता है। जैसे काकके बैठते ही ताल-फल गिरनेसे कई अगिरी काक एवं ताल पतनका कार्य-कारणभाव म न लेते हैं।

माक्सिवा दी कहते हैं—‘अतिभूतवादकी तरह द्द्ववादका यह सिद्धान्त नहीं है कि विराम, गतिहीनता एवं अचल जडता और स्थिरताका माप प्रकृति है।’ किंतु इस मतमें प्रकृतिका लक्षण है — ‘अविराम गतिशीलता, परिवर्तन एवं नित्य नव-नवोन्मेष-विकास। इस परिवर्तनक्रममें कुछ तत्त्वोंका उन्मेष और विकास होता है, तो कुछका ह्रास और निर्माण होता जाता है। इसलिये द्द्ववाद-प्रणालीके द्वारा प्रकृतिक घटनाओंकी परस्पर निर्भरता और सम्बद्धता ध्यानमें रखकर ही उनपर विचार करना यथेष्ट नहीं। हमें उनकी गति, परिवर्तन, विकास तथा उनके निर्माण और निर्वाण ध्यानमें रखकर उनपर विचार करना चाहिये।

भारतीय दर्शनोंके अनुसार सत्त्व, रज, तमकी साम्यावस्था प्रकृति है। तीनों ही स्वप्रकाश चेतनसे भिन्न होनेसे जड अवश्य हैं, परंतु वृत्तिरूप ज्ञान सत्त्वसे होता है, हलचल या क्रिया रजसे होती है और अवष्टम्भ या रुकावट तमसे। अतः तीनों क्रमसे प्रकाश, हलचल एवं अवष्टम्भ स्वभावके माने गये हैं। तीनों गुणोंकी समता भंग होने और विषमता होनेसे सृष्टि होती है। प्रकृति परिणामशील एवं गतिशील है, अतएव नियमित परिणाम एवं विकास उसका होता है, पर उसका किसी द्द्ववादी सिद्धान्तसे सम्बन्ध नहीं।

द्द्ववात्मक प्रणालीके अनुसार ‘मूलतः वह वस्तु महत्त्वपूर्ण नहीं, जो किसी समय स्थायी मालूम पड़ती है, पर जिसका ह्रास तब भी आरम्भ हो चुका है। महत्त्वपूर्ण वस्तु वह है, जिसका अभ्युदय और विकास हो रहा है, चाहे उस समय वह स्थायी ही प्रतीत होती हो, क्योंकि द्द्ववात्मक प्रणाली उसीको अजेय मानती है, जिसका अभ्युदय और विकास हो रहा है। एजिल्सका कहना है कि ‘छोटीसे बड़ी-तक वस्तु—बालूमे सूर्यतक, लघुतम जीवकोपसे मनुष्यतक सम्पूर्ण प्रकृति सतत गतिमय और परिवर्तनशील है। उसकी स्थिति-निर्माण और निर्वाजके अविराम प्रवाहमें है।’ (एजिल्सका प्रकृति-सम्बन्धी द्द्ववाद)

उपर्युक्त बातें आशिक सत्य हो सकती हैं, पर इनका द्द्वमानसे क्या सम्बन्ध ? द्द्वमान भी कोई प्रमाण नहीं, जिससे ये सब बातें सिद्ध हों। उपर्युक्त बातोंके सम्बन्धमें विचार करनेसे विदित होगा कि माक्सिवादियोंका ‘प्रकृति’ शब्द भी भ्रामक है, क्योंकि वे पृथ्वी, तेज, जल, वायु, भूतसमुदायसे भिन्न किसी प्रकृतिका अस्तित्व नहीं मानते। ठीक इसके विपरीत साख्यमतानुयायी सत्त्व, रज, तमकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं। सम्पूर्ण विभक्त कार्यवर्गका निर्माण करनेवाली अर्थात् महदादि कार्यवर्गके रूपमें परिणत होनेवाली वस्तु प्रकृति है। प्रकृति शब्द उपादानका वाचक है तथाच विश्वके उपादानको प्रकृति कहा जा सकता है। कहा जा चुका है कि किसी भी कार्यकी उत्पत्तिमें प्रकाश, हलचल और अवष्टम्भ (रुकावट)—ये तीन चीजें अपेक्षित होती हैं। प्रकाश,

क्रिया तथा उचित नियन्त्रण बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। इन्हीं तीनोंकी साम्यावस्था प्रकृति है। भूतोत्पत्ति, अहत्त्व या महत्त्वकी उत्पत्ति भी इनपर निर्भर है। प्रकृति उपादान है, इसीलिये हर एक विकृतिमें इनका अनुस्यूत होना उचित ही है। ये सब परस्पर सम्बद्ध होते हैं, यह सांख्यका सिद्धान्त ही है—

‘गुणानां सम्भूयार्थक्रियाकारित्वम् ।’

गुण मिलकर ही क्रिया कर सकते हैं। गुण चल अर्थात् गतिशील होते हैं। ‘चलं च गुणवृत्तम्’ यह भी सांख्य-सिद्धान्त है। सत्त्व, रज, तम—तीनों ही गुणोंमें अङ्गाङ्गिभावकी विचित्रतासे ही विचित्र ससार बनता है—

‘गुणानां विमर्दवैचित्र्यात् सर्गवैचित्र्यम् ।’

यह सभी पौरस्त्य दार्शनिकोंके निश्चित सिद्धान्त हैं। इनमें माक्स या एंजिल्सका कोई भी नया आविष्कार नहीं। उन्होंने जो भी नयी बात कही वही असंगत तथा अप्रामाणिक है। जैसे ‘प्रकृतिके पदार्थ और बाह्यरूप एक-दूसरेपर निर्भर हैं; एक दूसरेसे सजीवरूपसे सम्बद्ध हैं,’ इत्यादि अंश अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। यदि सभी सम्बद्ध हों तो सम्बन्धके भावाभावका कोई मूल्य ही नहीं रह जाता। फिर किसका क्या सम्बन्ध है, इस गवेषणाका भी कोई अर्थ नहीं रह जाता। फिर तो खपुष्प, वन्यापुत्र, शशशृङ्गको भी सम्बद्ध ही कहना पड़ेगा। इसी तरह ‘एक दूसरेकी रूप-रेखा निश्चित करते हैं’, यह भी असंगत है। जड़भूत घटादिके समान स्वयं अपनेको ही नहीं जानते, फिर वे दूसरेकी रूप-रेखा क्या निश्चित करेंगे? निश्चय आदि चेतनके धर्म हैं—‘ईक्षतेर्नाशब्दम् ।’ (१।१।५) इस ब्रह्मसूत्रमें, जड़ प्रकृतिमें ईक्षणधर्म अनुपपन्न होनेसे उससे ईक्षणपूर्वक सृष्टिका निषेध किया है। जल, वायु, तेजकी प्रवृत्ति विचारपूर्वक नहीं होती। जैसे अचेतन रथादिकी प्रवृत्ति चेतन सारथि-अश्वादिद्वारा अधिष्ठित होनेसे ही होती है, उसी तरह अचेतन वायु आदि भी स्वाधिष्ठाता चेतन देवतासे अधिष्ठित होनेसे प्रवृत्त होते हैं। किसी कार्यमें अवश्य ही अनेकों पार्श्ववर्ती कारण हुआ करते हैं। परंतु सभी पार्श्ववर्ती कारण हो, तब तो कार्य-कारणभावकी विशेषता ही नष्ट हो जायगी। अणु-परिमाण, पारिमाण्डल्य आदि किसीके प्रति भी कारण नहीं होते। किसी चोरी या हिंसाके अनेक पार्श्ववर्ती कारण होते हैं, तब केवल हिंसक या चोरको ही क्यों दण्ड दिया जाता है? यह भी विचारणीय है। वस्तुतः शब्दाडम्बरके अतिरिक्त उपर्युक्त माक्सवादी वादोंमें कोई तत्त्व नहीं। नवनवन्मेष और विकासपर भी विचार आवश्यक है। उन्मेष या विकास विद्यमान वस्तुका ही होता है। कारण-सामग्री, आवरण,

प्रतिबन्धक आदि हटाकर कार्यको व्यक्त कर देती है। जैसे तिलसे तैल, दुग्धसे नवनीत, तन्तुसे पट आदि। वायुसे तेल, आकाशसे तन्तु या पटका साक्षात् विकास कभी भी सम्भव नहीं। इसीलिये परावर द्रष्टाओंके यहाँ केवल विकास ही नहीं। किसी भी कार्यमें 'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति—अर्थात् उत्पत्ति, अस्तित्व, वर्द्धन, विक्रिया, अपक्षय तथा विनाश—ये छः विकार देखे जाते हैं। स्पष्ट ही है कि कोई मनुष्य, पशु या वनस्पति उत्पन्न होता है, अस्तित्वको प्राप्त होकर वृद्धि, अपक्षय तथा विनाशको प्राप्त होता है। वर्षा में उत्पन्न होनेवाले तृण ग्रीष्मतक विनष्ट हो जाते हैं। बहुत-से जीव प्रतिवर्ष तत्तद्दृष्टाओंमें व्यक्त होते हैं। वसन्तके पतझड़, आमोंके बौर, कोकिलाकूजन, ग्रीष्मकी उष्मा, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर—की अपनी-अपनी विशेषताएँ प्रतिवर्ष व्यक्त होती ही हैं। वेद और गीता इसी तरह सृष्टिका पुनः प्रादुर्भाव मानते हैं।—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।' पूर्वसृष्टिके समान ही विधाता उत्तरोत्तर सृष्टिमें सूर्य-चन्द्र आदिमा विधान करते हैं। 'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते' (गीता ८। १९) यह भूतग्राम पुनः-पुनः उत्पन्न होकर प्रलीन होता है।

इसी तरह निर्माण और निर्वाणकी बात भी कोई नयी नहीं। एक ओर मनुष्य उत्पन्न और विकसित होता है, परन्तु एक ओर यदि निर्माण निर्वाण-परम्परामें अनुस्यूत एक आत्मा मानकर जन्म, कर्मका सुसम्बद्ध कार्य-कारण भाव माना जाय, तो वह अनियन्त्रित, अप्रामाणिक, असम्बद्ध, निर्माण-निर्वाणकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है। जन्म-कर्मकी परम्परा में अनुस्यूत एक नित्य वस्तु विना माने 'अकृताभ्यागमकृतविप्रणाश' दोष अनिवार्यरूपसे उपस्थित होता है। जब लोकमें कारण-वैलक्षण्य विना कार्य-वैलक्षण्य नहीं हो सकता, तब हेतुकी विलक्षणता विना जन्मों एवं तत्सम्बन्धी सुख-दुःखकी विलक्षणता कैसे हो सकेगी? इसी तरह जब लौकिक कर्मोंका कुछ परिमाण होता है, तब अदृष्टफलवाले कर्म विना फल दिये कैसे नष्ट हो सकेंगे? अतः कोई नित्य आत्मा है, जो कि पूर्व पूर्वके शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार उत्तरोत्तर जन्म ग्रहण करता है। 'अभ्युदयोन्मुख लघु वस्तु भी महत्त्वपूर्ण होती है, पतनोन्मुख महान् वस्तु भी नगण्य होती है', यह भी कोई नयी बात नहीं। प्रतिपद्का चन्द्र और पूर्ण चन्द्र इसके उदाहरण हैं, पर इतनेमात्रसे किसी सिद्धान्तका पतन, किसी व्यक्ति या समूहका उत्थान या पतन ऐकान्तिकरूपमें नहीं कहा जा सकता। काल भेदसे एक ही वस्तुके उत्थान और पतनकी स्थिति आती है। सूर्यका ही उदय-अस्त तथा पुनः उदय होता है। चन्द्रमाका हास होता है और पुनः उसीका विकास भी। किसी व्यक्तिका भी जीवनमें कई बार उत्थान और कई बार पतन होता है। जो घटनाएँ व्यक्तिमें होती हैं, वही समष्टिमें होती रहती हैं। काल-भेद हो सकता है।

अतिभूतवादकी तरह द्वन्द्ववादका यह सिद्धान्त नहीं है कि विकसित होनेका

अर्थ सीधे-सीधे बढ़ना है। जब कि परिमाणमें परिवर्तन होनेसे गुणोंमें परिवर्तन नहीं होता; द्वन्द्ववादके अनुसार विकास-क्रममें हम अदृश्य और अकिंचन परिमाण-सम्बन्धी परिवर्तनोसे स्पष्ट और मौलिक गुणसम्बन्धी परिवर्तनोतक पहुँच जाते हैं। इस परिवर्तनक्रममें गुणसम्बन्धी परिवर्तन धीरे-धीरे न होकर हठात् एक मजिलसे दूसरे मजिलतक छल्लोंग मारकर शीघ्रतासे होते हैं। ये परिवर्तन आकस्मिक नहीं होते। वे धीरे-धीरे होनेवाले प्रायः अदृश्य परिमाणसम्बन्धी सघटनके स्वाभाविक परिमाण हैं। इसीलिये द्वन्द्वात्मक प्रणालीके अनुसार विकास-क्रमका यह अर्थ नहीं कि पहले जो हो चुका, अब वही सीधे-सीधे दुहराया जा रहा है और न कोल्हूके बैलकी तरह एक ही जगह चक्कर खानेका नाम ही विकास है। विकासकी गति ऊर्ध्वोन्मुख होती है। पहलेकी गुणात्मक स्थितिसे दूसरी गुणात्मक परिस्थिति-तक सक्रमणका नाम विकास है। विकास साधारणसे सश्लिष्ट और निम्नसे ऊर्ध्वकी ओर होता है।' एजिल्सका कहना है कि 'द्वन्द्ववादकी कसौटी है प्रकृति और आधुनिक विज्ञान। प्रकृतिविज्ञानके विषयमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि उसने इस कसौटीके लिये अत्यन्त मूल्यवान् सामग्री दी है, जो प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा प्राकृतिक क्रम द्वन्द्वात्मक ही सिद्ध होता है न कि अतिभूतवादी। यह क्रम किसी चिर अपरिवर्तनशील वृत्तमें चक्कर काटनेकी गति नहीं, बल्कि वास्तविक इतिहासके निर्माणकी गति है। यहाँपर सबसे पहले डार्विनका उल्लेख करना चाहिये, जिसने प्रकृतिकी अतिभौतिक कल्पनापर दुःसह प्रहार किया था और सिद्ध किया था कि आजका चराचर वनस्पति जीव और मनुष्य भी उस विकास क्रमका परिणाम है, जो करोड़ों वर्षसे लगातार होता चला आ रहा है।'

उपर्युक्त बातोंमें भी निर्माण-निर्वाण, उत्पत्ति-विनाशसे भिन्न पदार्थ नहीं। कार्य-मात्रका उत्पत्ति-विनाश अनिवार्य होता है। पर इस भूत-प्रकृतिसे अतीत, नित्य कूटस्थ वस्तु नहीं है; यह भिन्न नहीं होता। बहुत-सी बातें अतिभूतवादियोंके नामसे वेतुकी लिखी गयी हैं। कम-से-कम भारतीय अध्यात्मवादकी दृष्टिमें मार्क्स, एजिल्सकी दुष्कल्याण सर्वथा उपहासास्पद हैं। भारतीय अध्यात्मवादी हर एक विकासमें क्रमिक एवं धीरे-धीरे विकसित होनेका सिद्धान्त नहीं मानते। मेघमण्डलसे महाविद्युत्-प्रकाशका विकास अतिशीघ्रतासे मान्य ही है। इन्हींको एक मजिलसे दूसरे मजिलपर छल्लोंग मारनेकी बात कही जा सकती है। उस विकासमें भी क्रम रहता ही है। तापमानके बढ़ जानेसे जलका भाप बन जाना, ताप-मान घट जानेसे वर्षा बन जाना भी इसी क्रोटिका विकास है। मार्क्सवादियोंके शब्दोंमें 'यही प्रकृतिका एक मजिलसे दूसरी मजिलपर छल्लोंग मारना है।' अध्यात्मवादी आत्म-परमात्म-सम्बन्धमें ही ऐसी बात करते हैं। ये भौतिकवादियोंको सम्मत न हों, पर भौतिक वस्तुओंके सम्बन्धमें प्रत्यक्षानुमानादिसिद्ध जो भी बातें हैं, उन्हें माननी ही हैं।

दुग्धका दधि परिणाम है, जलका बर्फ परिणाम है। इसी प्रकार विरोधी-कारणोंने कारणमें जलका विलय या शोषण होता है। इसी तरह 'कोल्हूके बैलके समान चकर खानेका नाम विकास नहीं', यह भी असंगत है। कौन नहीं जानना कि पुनः-पुनः दिन-रात, सूर्योदयास्त, चन्द्रमाका ह्रास-विकास तथा ग्रीष्म-वसन्तके आगमनमें पुरानी बातें ही दुहरायी जाती हैं। सदासे ही वैचित्र्य-सादृश्यका ही लक्षण है। जो समझते हैं कि विकासकी गति सदा ऊर्ध्वोन्मुख ही होती है, उनकी दृष्टिमें ऊर्ध्वकी सीमा कोई है या निःसीम? यदि निःसीम तो इसमें प्रमाण क्या? पुनश्च जब विकसित वस्तुका भी निर्वाण या विनाश भी मानते ही हैं, तो इस तरह ह्रास-विकासका चक्र ही परिलक्षित होता है। उदयनाचार्यने 'न्यायकुमुदाजलि' की— 'जन्ममंस्कारविन्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः। ह्यमदर्शनतो ह्यम. न्यप्रदायस्य मीयताम्' (२।३) कारिकामें दिखलाया है कि स्वाभाविक रूपसे ह्रास हो रहा है। पूर्वजोंकी बुद्धिशक्तिकी तुलनामें आजकी बुद्धिशक्तिका अत्यन्त ह्रास हो गया है। पहलेके मनुष्य-शरीर तथा आजके मनुष्य-शरीरमें पर्याप्त अन्तर हो गया है। अभी अनेक स्थलोंमें ऐसे भाले और नलवारें मिली हैं, जिसे आजके लोग उठा भी नहीं सकते। चारित्रिक स्तर तो इतने नीचे गिर गये हैं कि उनकी पूर्वजोंके सामने कोई तुलना ही नहीं।

मृष्टिकामें देवते हैं कि कारण कार्यकी अपेक्षा व्यापक, स्वच्छ तथा उच्च कोटिका होता है। कार्य व्याप्य, अस्वच्छ तथा निम्न कोटिका होता है। हाँ, कार्यमें गुण एव विशेषण आदि बढ़ जाते हैं। घट-पट आदिमें जलानयन, अङ्गप्रावरणादि कार्य सघते हैं, परन्तु मृत्तिका, तन्तु आदिमें उक्त कार्य नहीं सघते। फिर भी घटादिकी अपेक्षा मृत्तिका, तेज, जल, वायु आदि कारणोंमें व्यापकता आदि अविक स्पष्ट हैं। मृत्तिकामें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच गुण हैं। जलमें गन्धको छोड़ चार, तेजमें शब्दादि तीन, वायुमें दो और आकाशमें केवल एक शब्द ही गुण होता है। व्यापकता, स्वच्छता आकाशमें सर्वाधिक है। इसीलिये परम कारण सर्वापेक्षया स्वच्छ, व्यापक तथा उच्चकोटिका मान्य है। विकासवादियोंका यह कथन कि 'पूर्वजोंमें क्रिया, ज्ञानशक्तियों पूरी विकसित न हुई', सर्वथा भ्रममात्र है। तथ्य तो यह है कि पूर्वजोंने ही आगिक ज्ञान क्रियाशक्ति उत्तरोत्तरके लोगोंको प्राप्त होती है, पुस्तकोत्प्रेषण, शिक्षणालय-स्थापन सभी मार्थक होंगे। यदि उत्तरोत्तर लोगोंमें ज्ञान-क्रियाशक्तिका विकास अविक मानते हैं तो वे किनके लिये पुस्तकोत्प्रेषादि करते हैं? अलग पूर्वज अतीत हो चुके। उत्तरोत्तर आनेवाली सनातन पूर्वजोंकी अपेक्षा बुद्धिमान् होगी ही। उनके लिये ज्ञानोपदेश व्यर्थ ही है। न्यूव ही हो तो भी पिता, पितामहादिको पुत्रादिकोंके ही छात्र होना चहिये। पुत्रादिकोंको अ-व्यापक बनना चाहिये। पर नहीं, अध्यात्मवादकी दृष्टिसे ईश्वर पूर्ण सर्वज्ञ है। उसकी सतानें ब्रह्मा, वशिष्ठादि तदपेक्षया अल्पज हैं। जिन लोगोंमें कुछ विशेषता व्यक्त हुई, उनमें ईश्वरके अनुग्रहसे ही। आध्यात्मिकोंकी

अनभिज्ञता केवल विकासवादियोंकी ही सम्मत है, पर विकासवादियोंकी अनभिज्ञता उभयसम्मत है; क्योंकि वे स्वयं ही अपने पुत्रादिकोंकी अपेक्षा अपनेको उसी न्यायसे अनभिज्ञ मानते हैं ।

‘परिमाणसम्बन्धी विकाससे गुणसम्बन्धी विकासतकका नाम द्वन्द्वात्मक विकास है ।’ इसकी व्याख्या करते हुए एंजिल्सने लिखा है कि ‘भौतिक विज्ञानमें प्रत्येक परिवर्तनका अर्थ है—परिमाणका गुणमें सक्रमण । जो किसी भी वस्तुमें निहित अथवा प्रविष्ट गतिके परिमाणमें परिवर्तन होता है, वह भी क्रमसे ही होता है । उदाहरणके लिये पानीके ताप-मानका प्रभाव पहले उसके द्रवगुणपर नहीं पड़ता । परंतु उस द्रवगुणका परिमाण ज्यों-ज्यों चढ़ता या गिरता है, त्यों त्यों वह क्षण निकट आता-जाता है, जब पानी या तो बर्फ होगा या भाप बनेगा । जलकी द्रवस्थिति ज्यों-की-त्यों नहीं बनी रहती । फ्लेटिनमके तारको भी दहकानेके लिये एक अल्पतम विद्युत्प्रवाह आवश्यक होता है । प्रत्येक धातुका एक निश्चित तापमान होता है, जब वह पिघलने लगती है । आवश्यक तापमान पानेके हमारे पास जो साधन हैं, उनका प्रयोग करके द्रवपदार्थके शीतोष्ण दिन निश्चित कर दिये गये हैं, जब कि यथेष्ट शीतोष्ण प्रभावसे वह पदार्थ जमने या खोलने लगता है । अन्तमें प्रत्येक गैसके लिये वह चरम बिन्दु निश्चित है, जब यथावश्यक दबाव और शीनसे वह द्रव पदार्थके रूपमें परिवर्तित किया जा सकता है, भौतिक विज्ञानमें जिन्हें हम स्थिर बिन्दु कहते हैं, जहाँसे पदार्थकी स्थिति बदलकर दूसरी हो जाती है; वे अधिकतर और कुछ नहीं, क्रान्ति बिन्दुओंके ही नाम हैं, जहाँ गतिके परिमाण-सम्बन्धी ह्रास किंवा वृद्धिसे उस पदार्थकी स्थितिमें एक गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है । फलतः इन क्रान्ति-बिन्दुओंपर परिमाणमें गुणका रूपान्तर हो जाता है ।

एंजिल्सका प्रकृतिसम्बन्धी द्वन्द्ववाद

इसी प्रकार एंजिल्सने रसायनशास्त्रके विषयमें लिखा है कि ‘पदार्थोंकी अणु-वद्ध रचनामें परिवर्तन होनेसे गुणात्मक परिवर्तन सम्भव होते हैं । इन गुणात्मक परिवर्तनोंके विज्ञानको हम ‘रसायनशास्त्र’ कह सकते हैं । हेगलको यह मालूम हो चुका था । उदाहरणके लिये आक्मिजनके अणुमें दो परमाणु होते हैं । इन दोके बदले यदि तीन परमाणु कर दिये जायें, तो ओजोन बन जाता है, जो गन्ध और प्रतिक्रियामें साधारण आक्मिजनसे नितान्त भिन्न होता है । जब आक्मिजन विभिन्न अनुपातोंमें नाइट्रोजन या गन्धकसे मिलाया जाता है, तब तो उसका कहना ही क्या ? हर अनुपातसे ऐसा पदार्थ बनता है, जो गुणात्मक दृष्टिसे दूसरे पदार्थोंसे भिन्न होता है ।’

उपर्युक्त दोनों ही प्रवृत्तियोंसे यह सिद्ध होता है कि निर्दिष्ट कारणोंसे वस्तुओंकी अवस्थाओंमें परिवर्तन ही सिद्ध होता है । वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार तेजसे ही जल उत्पन्न होता है, शीतके योगसे वह बर्फ बन जाता है । तेजसे जलका शुष्क हो जाना लोकसिद्ध है, परंतु फिर भी इन परिणामोंकी निश्चित

सीमा है, अतएव अचेतन चेतन नहीं बन सकता । इस तरह असत्य सत्य, अनित्य नित्य नहीं बन सकते ।

स्टालिनका कहना है कि 'द्वन्द्ववादका सिद्धान्त है कि प्रकृतिके सभी बाह्य रूपों और पदार्थोंमें आन्तरिक असङ्गतियों सहजरूपसे विद्यमान हैं । इन पदार्थों और रूपोंके भाव-पक्ष और अभाव-पक्ष दोनों हैं । उनका अतीत है तो अनागत भी है । एक अश मरणशील है तो दूसरा विकासोन्मुख । इन दो विरोधी अशोंका संघर्ष ही विकासक्रमकी आन्तरिक प्रक्रिया है । परिमाणभेदके गुण-भेदमें परिवर्तित होनेकी यही आन्तरिक प्रक्रिया है । इसलिये द्वन्द्वात्मक प्रणालीके अनुसार निम्नसे ऊर्ध्वकी ओर विकास इस क्रममें नहीं होता कि प्रकृतिके स्तर एकके बाद एक सहज गतिसे खुलते जायें । इसके प्रतिकूल विकासक्रममें पदार्थों और प्रकृतिके बाह्यरूपोंमें सहजरूपसे विद्यमान असङ्गतियाँ ही खुलती जाती हैं । इन असङ्गतियोंके आधारपर जो विरोधी प्रवृत्तियाँ क्रियाशील हैं, उनका संघर्ष ही खुलता जाता है ।' लेनिनके शब्दोंमें 'वास्तवमें पदार्थोंके सारतत्त्वोंमें ही अन्तर्निहित असङ्गतियोंके अध्ययनका ही नाम द्वन्द्ववाद है ।' (लेनिनदर्शन-सम्बन्धी नोटबुक रूसी संस्करण, पृ० १६७) । लेनिनने यह भी कहा था कि 'विरोधी तत्त्वोंका संघर्ष ही विकास है ।' (सक्षिप्त लेनिन ग्रन्थावली, रूसी संस्करण, खण्ड १३, पृष्ठ ३०१)

उपर्युक्त बातोंपर विचार करनेसे विदित होगा कि अंश-भेदसे निर्वाण-निर्माणकी परम्परा चलती है । परतु अशभेदसे जब दोनों बातें चलती हैं, तब उनमें संघर्ष क्या ? एक व्यक्ति मरता, दूसरा पैदा होता है, इसमें संघर्षकी कोई बात नहीं । क्रमेण वनस्पति, पशुवादि एक ओर उत्पन्न हो रहे हैं तो दूसरी ओर नष्ट हो रहे हैं । हाँ, यदि उसी क्षण उसी अशमें उसी रूपसे भाव, अभाव, निर्वाण, निर्माण आदि हों, तभी विरोध और संघर्ष हो सकता है । पर यह असम्भव है ही, क्योंकि यदि भाव, अभाव, निर्वाण, निर्माण समान देश, समान कालमें रह जायें तो ससारमें विरोध ही मिट जायगा । फिर संघर्ष भी क्या रहेगा ? यदि रात्रि और दिन समकालमें हों तभी संघर्ष सम्भव है । दो विरोधी मल्लोंका ही संघर्ष हो सकता है, अतीत-अनागत मल्लोंका संघर्ष क्या होगा ? साथ ही यदि सहभाव सम्भव हो जाय तो भी विरोध असम्भव है, क्योंकि स्वानुचित देशकाल-स्थायित्व ही विरोधका कारण होता है । धरणी, अनिल, जलके संघर्षसे, बीजके विव्वससे अङ्कुरकी उत्पत्ति होती है । कुछ लोग इसी आधारपर अमत्कारण-वाद सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं, परतु अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि ऐसा हो तो कार्यमें कारणका अनुवेध रहनेसे हर कार्यमें कारणका अनुवेध रहना चाहिये, किंतु उपलब्धि इसके विपरीत रहती है । कार्यमात्रमें सत्ताका ही अनुवेध दिखायी देता है । अतः सत्कार्यवाद ही ठीक है । बीजके अंश ही अङ्कुरादिमें अनुस्यूत रहते हैं । सर्वथापि व्यवहारमें कार्योंत्पादनानुकूल

समग्रियाँ ही कार्य-विकासमूल समझी जा सकती हैं, असंगतियाँ विरोध या संघर्ष नहीं। कार्यके प्रतिबन्धकादि दोषका निवारण अवश्य अपेक्षित होनेपर पुरातन या निर्वाण स्वयं विनाशोन्मुख है। अतः उसकी प्रतिबन्धकता असिद्ध है।

स्टालिनका कहना है कि 'समाजके जीवन और इतिहासके अध्ययन करनेके लिये सामाजिक क्षेत्रके द्वन्द्वात्मक प्रणालीका प्रचार कितना महत्त्वपूर्ण है और समाजके इतिहास तथा सर्वहारावर्गकी पार्टियोंकी प्रत्यक्ष कार्यवाहीपर उन सिद्धान्तोंका लागू करना क्या महत्त्व रखता है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। यदि संसारमें कोई भी वस्तु विच्छिन्न और एकाकी नहीं है, यदि सभी वस्तुएँ सम्बद्ध और परस्पर निर्भर हैं, तो सिद्ध है कि इतिहासकी किसी भी समाज-व्यवस्था या सामाजिक आन्दोलनका मूल्याङ्कन हम किसी भी सनातन न्याय अथवा पूर्वकल्पित सिद्धान्तसे नहीं कर सकते। इस प्रकारके मूल्याङ्कनका इतिहासोमें नितान्त अभाव नहीं है। यह मूल्याङ्कन परिस्थितियोंपर विचार करके वे ही कर सकते हैं, जिन्होंने उस समाज-व्यवस्थाके सामाजिक आन्दोलनको जन्म दिया होगा, जिनसे वे सम्बद्ध हैं। वर्तमान परिस्थितियोंमें दासप्रथा निरर्थक, अस्वाभाविक और मूर्खतापूर्ण होगी। पर जब पंचायती-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही थी, तब दास-प्रथाका होना समझमें आ सकता था। तबकी परिस्थितिमें वह एक स्वाभाविक घटना थी, क्योंकि प्राचीन समाजकी पंचायती व्यवस्थाको देखते हुए वह उन्नत व्यवस्था थी। जब जारशाही और पूँजीवादी व्यवस्था विद्यमान थी, तब उदाहरण-के लिये १९०५ के रूसमें एक पूँजीवादी जनवादी प्रजातन्त्रकी माँग अच्छी तरह-से समझमें आ सकती थी। वह उचित और क्रान्तिकारी माँग थी, क्योंकि उस समय इनकी प्राप्ति अर्थ होता 'प्रगतिकी राहपर एक कदम आगे बढ़ना।' पर अब सोवियतसंघकी परिस्थितियोंमें पूँजीवादी जनवादी प्रजातन्त्रकी माँग एक अर्थ-हीन और क्रान्तिविरोधी माँग होगी; क्योंकि सोवियत प्रजातन्त्रकी तुलनामें पूँजीवादी प्रजातन्त्र निकृष्ट है। यह तो पिछली मंजिलकी ओर लौटना होगा। देशकाल-परिस्थितियोंके अनुसार ही प्रगति और प्रतिक्रियाका निर्णय हो सकता है, यह स्पष्ट है। सामाजिक घटनाओंके प्रति इस ऐतिहासिक दृष्टिकोणके बिना ऐतिहासिक विज्ञानका अस्तित्व और विकास असम्भव है। इतिहास विज्ञान-तारतम्य-हीन घटनाओंकी सूची और क्षुद्रतम भ्रान्तियोंका संकलन न बने, यह इस दृष्टिकोणद्वारा ही सम्भव है।'

उपर्युक्त बातोंकी समालोचनामें सबसे पहली बात यह है कि जिस इतिहासके आधारपर द्वन्द्ववादकी कल्पना खड़ी की जाती है, वह इतिहास स्वयं किसी सिद्धान्तका साधक या बाधक नहीं हो सकता। इतिवृत्त, ऐतिह्य, इतिहासादि

शब्द पुरानी घटनाओंके लिये प्रयुक्त होते हैं। 'इति इ आस'—ऐसा था, ऐसी प्रसिद्धि ही इतिहास कहलाता है। वह प्रामाणिक, अप्रामाणिक दोनों ही प्रकारका होता है। इतिहास यदि प्रत्यक्षानुमानमूलक हो या शब्दमूलक हो तो प्रमाणके निर्दुष्ट होनेसे ही निर्दुष्ट हो सकता है। प्रमाण दुष्ट है तो इतिहास भी दुष्ट ही होता है। प्रायः आजकलके इतिहास दुर्गमिषन्धि एवं भ्रान्तिपूर्ण होते हैं। हम सम्बन्धमें अनेक पाश्चात्य विद्वानोंकी सम्मतियों 'भारतमें अंग्रेजी राज्य' पुस्तकमें उद्धृत हैं। किमी मिक्के या खण्डहर आदिके आधारपर ऐतिहासिक कल्पनाओंका महल खड़ा कर दिया जाता है। चतुर्ग लोग अपने विभिन्न उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये मनगढ़न्त इतिहासका निर्माण कर देते हैं। आँखों देखी घटनाओंके सम्बन्धमें विभिन्न सवादादाताओंकी विभिन्न राये होती हैं। तार, टेलीग्रीन्टर, रेडियो, अखबारों-तक पहुँचते-पहुँचते उनके अनेक रूप बन जाते हैं। फिर इनके आधारपर किमी सत्य घटनाका निर्णय कैसे किया जा सकता है? ऋतुम्भरा-प्रजायुक्त ऋषियोंके इतिहास अवश्य प्रामाणिक कहे जा सकते हैं। व समाधिके द्वारा सनिकृष्ट, विप्रकृष्ट, स्थूल, सूक्ष्म वस्तुओंका साक्षात्कार कर सकते हैं। परन्तु उनकी दृष्टिमें पुरानी घटनाओंका दुहराना मात्र, 'इतिहास' गड़े मुर्दोंको उखाड़नेके अनिरिक्त और कुछ नहीं। सत्य ऐतिहासिक घटनाओंमें भी समीचीन, असमीचीन, हष्ट, अनिष्ट, उचित, अनुचित कई तरहकी घटनाएँ होती हैं। इसीलिये व्यवहारमें इतिहास प्रमाण नहीं होता, अपितु विधान प्रमाण होता है। इसीलिये रामायण, भारतसे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि रामादिवत् आचरण करना चाहिये, न कि रावणादिवत्। यही इतिहासका प्रयोजन है। जिन घटनाओंसे राष्ट्र या विश्वको धार्मिक, आर्थिक, चारित्रिक उन्नतिमें मद्दायता मिलती हो, उन्हीं घटनाओंका इतिहासमें उल्लेख होना उचित है। आज भी विजिष्ट पुरुषोंका ही इतिहासमें उल्लेख होता है। मार्क्स, लेनिन-जैसा अन्य कम्युनिष्टोंका इतिहासमें महत्त्व नहीं। म्युनिसिपालिटीके दफ्तरमें मनुष्यके जन्म मरणका उल्लेख होता है। कीट-पतंगोंका नहीं, क्योंकि उनका महत्त्व नहीं है। सारांश यह है कि इतिवृत्तमात्रसे कोई सिद्धान्त नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि इतिवृत्तकी घटनाएँ उचित-अनुचित—दोनों ही ढगकी हो सकती हैं। विधानमें औचित्य निर्णयके अनन्तर ही कोई ऐतिहासिक घटना स्थान पा सकती है। यदि सूर्योदय सूर्यास्त, चन्द्रमाका हास विकास, समुद्रके ज्वार-भाटादिके नियम सनातन हैं तो कोई सनातन न्याय या सिद्धान्त भी हो ही सकता है, पर व्यक्तिविशेष या परिस्थितिविशेषसे कुछ क्रियाओंमें अन्तर पड़ सकता है। सनातन न्याय एवं सिद्धान्तोंपर इनका कुछ भी असर नहीं पड़ सकता। उष्णता अग्निका स्वभाव है, वह व्यक्ति या परिस्थितिविशेषसे बदल नहीं सकती।

दासप्रथाको कितना भी निरर्थक अस्वाभाविक या मूर्खतापूर्ण क्यों न कहा जाय; परंतु किसी-न-किसीरूपमें उसका अस्तित्व सर्वत्र है और रहेगा। हाँ, नाममें भेद हो सकता है। कौन नहीं जानता कि 'सोवियतसंघ'में सरकारसे मतभेद रखने-वाले लोगोंके साथ दासोंकी अपेक्षा भी बुरा वर्ताव किया जाता है ? विरुद्ध व्यक्तियोंको शासनारूढ व्यक्तियों या सघोंके नियन्त्रणमें दासोंसे भी निकृष्ट बनकर जीवन बिताना पड़ता है। शासन, न्याय, शिक्षा, सेना आदि सभी विभागोंमें उच्च कर्मचारियों और निम्न कर्मचारियोंमें अङ्गाङ्गिभाव-या श्रेष्ठ श्रेष्ठिभाव अनिवार्य रहता है। 'एक व्यक्ति दूसरेका हुक्म माननेके लिये बाध्य हो, न माननेपर दण्डित हो', यही दास-प्रथाका नमूना है। इसका कब अभाव हो सकता है। धर्म-नियन्त्रित राज्यमें ही शासन एवं शासित आदिका अभाव कहा जा सकता है। वहाँ भी धर्ममूलक नियम्य-नियामकभाव, गुरु-शिष्य, अग्रज-अनुज, पिता पुत्र, पति-पत्नीके नियम्य-नियामकभाव रहता ही है। सोवियत प्रजातन्त्रकी तुलनामें पूँजीवादी, जनवादी प्रजातन्त्रको निकृष्ट कहना भी स्वगोष्ठीनिष्ठ सिद्धान्त है। इस सम्बन्धमें उत्तरोत्तर ऐतिहासिक प्रगतिकी बात करना निराधार है। आजके प्रजातन्त्र, गणतन्त्र सबकी अपेक्षा दो हजार वर्ष पहलेके अशोकके साम्राज्यकी सुख समृद्धि कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थी। उसमें सभी अपनेको सुखी और समृद्ध अनुभव करते थे। पोंच हजार वर्ष पहले युधिष्ठिरके शासनमें तो धर्मराज्य था ही। लाखों वर्ष पहले होनेवाले रामराज्यका मुक्तावला करनेवाला कोई भी शासन न कभी हुआ और न भविष्यमें ही होनेकी आशा है। आजके पण्डितमन्य बड़े गर्वसे कहते हैं कि 'यह बीसवीं शताब्दी है, पुराना जमाना लुप्त गया। दुनिया बहुत आगे बढ़ गयी। पुरानी धर्म-कर्मकी सड़ी-गली बातें अब नहीं चल सकतीं। उनका समय बीत गया,' परंतु वे यह नहीं देखते कि यदि धर्म और सभ्यताका समय बीत गया तो सुख, शान्ति एवं समृद्धिका भी समय बीत गया। यदि सुख-शान्तिके बीते दिनोंको लौटाना है तो धर्म, सभ्यता एवं सुव्यवस्थाओंके दिनोंको भी लौटाना ही पड़ेगा।

कुछ लोग अग्ने दृष्टिकोणके अनुसार तोड़-मरोड़कर इतिहासका भी दृष्टिकोण बना ले, परंतु इतने मात्रसे ऐतिहासिक घटनाओंका सर्वसिद्धरूप मिटाया नहीं जा सकता। हास-विकारका चक्र ही ससार है। विकारी पुरानी चीजका क्षय, नवीनका अभ्युदय होता है सही; परंतु आत्मा-काल आदि कुछ पुरातन ऐसी भी तो वस्तुएँ होती हैं, जो नित्य हैं, जिनका कभी क्षय नहीं होता। इसी तरह व्यक्तियोंके अनित्य होनेपर भी प्रवाह नित्य होता है। जैसे गङ्गादि प्रवाहकी अपेक्षा दीप-शिखादि प्रवाह अधिक अस्थिर है। सत्त्व, रज, तमके अनुसार सत्त्वका प्रवाह अनुकूल-प्रतिकूल चलता है। कभी काम-क्रोधका तो कभी शम-दमका प्रवाह चलता है। अविवेकी कामादि प्रवाहमें बहते हैं। विवेकी उन्हें रोककर शान्त्यादिका

प्रवाह चलाता है। महापुरुष कभी प्रवाहमें नहीं बहते, वे उसे रोककर धर्म-नियन्त्रित बनाते हैं। अतः कभी नास्तिक भौतिकवादियोंका बाहुल्य होता है, फिर आस्तिकपक्ष उठता है। सत्य-अनृत, आसुर-दैव दोनों पक्षोंका कालानुसार उद्भव, अभिभवादि होता रहता है। फिर भी 'सत्यं जयति नानृतम्' के अनुसार अन्तमें सत्य ही जीतता है, भले ही पहले अनृतका बोल वाला फैल गया हो। इसी तरह धर्मकी ही विजय होती है, अधर्मकी नहीं। इसलिये चिरन्तन शाश्वत सत्य सिद्धान्तका अवलम्बन करनेसे ही अनृत-अधर्मका अतिक्रमण किया जा सकता है। एतावता यह कहना सर्वथा असङ्गत है कि 'संसार निरन्तर गतिशील है, पुरातन-का विनाश और नवीनका उदय होता रहता है; पुरातन व्यवस्थाएँ चिरन्तन नहीं हो सकती।' कोई वस्तु स्थायी रहनेपर ही स्थायी कही जा सकती है।

स्टालिनका यह कहना भी ठीक नहीं कि 'शोषण और व्यक्तिगत सम्पत्तिके सिद्धान्त शाश्वत सत्य नहीं हो सकते। किसानपर जमीनदारके, मजदूरपर पूँजीपतिके प्रभुत्वका सिद्धान्त त्रिकालाबाध्य नहीं हो सकता; क्योंकि यह एक साधारण वस्तु-का अतिरञ्जित बीभत्स वर्णनमात्र है।' व्यक्तिगत सम्पत्तिके सिद्धान्तको शोषणका सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। (आगे चलकर तर्कके आधारपर व्यक्तिगत सम्पत्तिका सिद्धान्त निरूपित किया जायगा, देखिये पृष्ठ २४८)। कम्युनिष्टकी दृष्टिमें तो किसी गिरहकट व्यक्तिको रोक नहीं जा सकता और न तो उसका पुनरुत्थान ही सम्भव है। इसलिये उसे और धक्का दे देना चाहिये, जिससे वह शीघ्र ही नष्ट हो जाय। इस तरह वे सर्वदा अभ्युदयोन्मुख वर्गके साथी होते हैं। 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' बहुमतका रिद्धान्त वहाँ असम्भव है।

स्टालिनका कहना है कि '१९ वीं शतीके नवे दशकमें जब मार्क्सवादियों तथा लोकवादियोंमें सग्राम चल रहा था, रूसी सर्वहारावर्ग साधारण जनताका एक छुट अल्प भाग था, इसके विपरीत खेतिहर किसान जनताका बहुसंख्यक भाग था। पर सर्वहारावर्ग एक विकासमान वर्ग था, जब कि वर्गके रूपमें किसान छिन्न भिन्न हो रहे थे। पर चूँकि सर्वहारावर्ग एक विकासमान वर्ग था, अतः मार्क्सवादियोंने इसीके आधारपर अपनी नीति निर्धारित—स्थापित की। उनकी यह धारणा भ्रान्त न थी। अतएव आगे चलकर यही वर्ग एक क्षुद्र शक्तिसे विकसित होकर उच्च कोटिका ऐतिहासिक और राजनीतिक शक्ति बन गया।' (जे० स्टालिनका द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद)

पर यह कहना ठीक नहीं। उत्थान पतन संसारका धर्म है। जो सर्व कभी अस्त होता है, वही उदय होता है। जीवनमें भी ग्रहदशाके अनुसार कभी पतन, कभी उत्थान भी होता है—

'नीचैर्गच्छन्त्युपरि च दशा चक्रनेमिकमेण।' (मेघदूत २।५२)

खेतिहर किसान वर्गको शोषक भी नहीं कहा जा सकता । उसीकी कमाई सबको खानेको मिलती है । अतः 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' उसकी दशा सुधारना क्या उचित न था ? फिर जब कम्युनिष्ट शोषितका ही पक्ष लेता है, तब यह भी कहना होगा कि 'जो सर्वाधिक शोषित हो, उसीका पक्ष लेकर शोषकोंका मुकाबला करना चाहिये ।' इस दृष्टिसे भी सर्वाधिक बहुसंख्यक समाजके हितार्थ प्रयत्न आवश्यक है । फिर केवल सर्वहारा मजदूर समाजका ही पक्षपात क्यों ? पुनश्च, यदि परिणाम सम्बन्धी, क्रमिक-परिवर्तन और अकस्मात् एवं शीघ्रतासे होनेवाले गुण-सम्बन्धी परिवर्तन विकासके नियम हैं तो जैसे सर्वहारावर्गद्वारा की गयी क्रान्ति स्वाभाविक अनिवार्य घटना हो सकती है, वैसे ही खेतिहर वर्ग-द्वारा भी की गयी क्रान्ति महत्वपूर्ण क्यों न होगी ? फिर यदि द्वन्द्वमानके अनुसार निर्माण और निर्वाणका क्रम चलता ही रहेगा तो किसी दिन साम्यवादकी कल्पना भी पुरानी होगी और फिर इसे भी मिटानेके लिये कम्युनिष्टको प्रयत्न-शील होना पड़ेगा ।

आजकल जो 'सुधारवाद' चलता है, जिसका उद्देश्य प्राचीन वस्तुओंका एकाएक विनाश नहीं, किंतु दोषोंको दूर कर उन्हें अच्छा बनाना होता है, स्टालिन आदिने उसे नगण्य बताया है । समाजवादकी मुख्य तीन प्रवृत्तियाँ हैं—सुधारवाद, अराजकतावाद और मार्क्सवाद । सुधारवाद—(बर्न्सवीक आदिकी विचारधारा) समाजवादको बहुत दूरकी बात समझता है । उससे आगे कुछ है ही नहीं । सुधारवाद समाजवादी क्रान्तिको नहीं मानता और शान्तिपूर्ण उपायोसे समाजवाद कायम करना चाहता है । सुधारवाद वर्गसंघर्षको न मानकर वर्ग-सहयोगका प्रतिपादन करता है । स्टालिनकी दृष्टिमें 'यह सुधारवाद दिन-प्रति-दिन सड़ता ही जा रहा है । समाजवाद और सुधारवादकी सारी समानता दिन-प्रति-दिन खतम होती जा रही है, अतः सुधारवादपर विचार करना ही व्यर्थ है ।' सुधारवादके सम्बन्धमें मार्क्सवादियोंकी यह धारणा है । प्राचीनतावादी सुधारवादियोंको सर्वथा हेय बताते हैं । भारतमें कांग्रेस, हिंदूसभा, जनसंघ आदि सुधारवादी सत्थाएँ हैं । ये एक तरफ भारतीयता, संस्कृतिकी बातें करतीं और सुधार भी चाहती हैं । उधर, कम्युनिष्ट, सोशलिष्ट आदि अराजकतावादी पार्टियाँ सर्वथा परिवर्तनकर महाक्रान्ति चाहती हैं । रामराज्यादि पार्टियाँ शास्त्रों और परम्पराके अनुसार सनातन संस्कृति, धर्म एवं राजनीतिमें सिद्धान्ततः तिलभर परिवर्तन नहीं चाहतीं । इनमें सुधारवादी किसी सिद्धान्तपर स्थिर नहीं हैं । रामराज्यवादी ईश्वर एवं धर्म आत्माको ही आधारभित्ति मानकर चलते हैं । अपौरुषेय वेद एवं तन्मूठक आर्यशास्त्र तथा तद्विरुद्ध तर्कके आधारपर तत्त्वका निर्णय करते हैं । भौतिकवादी आत्मधर्मशास्त्रादिनिरपेक्ष, तर्क, प्रत्यक्ष एवं विज्ञानके आधारपर

तत्त्व-निर्णय करते हैं। पर सुधारवादी बीच-बीचमें रहना चाहते हैं। फलतः वे दोनों पक्षोंहीसे उपेक्षित रहते हैं। उनमेंसे कुछको अन्तमें भौतिकवादकी ओर जाना पड़ता है और कुछको अध्यात्मकी ओर। अराजकतावादीका कहना है कि 'जबतक व्यक्तिको स्वतन्त्रता नहीं मिलती तबतक जनताको स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। अतः सब कुछ व्यक्तिके लिये होना चाहिये।' मार्क्सवादी कहता है कि 'जनताकी स्वतन्त्रतासे ही व्यक्तिको स्वतन्त्रता मिलती है। अतः सब कुछ जनताके लिये ही होना चाहिये।' पर रामराज्यवादीकी दृष्टिमें व्यक्ति और समाज दोनोंका समन्वय ही ठीक है। समष्टिकी सुख-समृद्धि और स्वतन्त्रतासे व्यक्तिके अभ्युदयमें सुविधा होती है। अनुकूल साधन और वातावरणसे आदमी उन्नतिके मार्गमें अग्रसर हो सकता है।

इसके साथ ही जैसे एक-एक वृक्ष कट जानेसे वन कट जाता है, एक-एक सैनिक कट जानेसे सेना कट जाती है, वैसे ही एक-एक व्यक्तिके धनवान्, बलवान् वन जानेसे समष्टि बलवान्, धनवान् बन जाता है। व्यक्तियोंके निर्धन, अयोग्य हो जानेसे समष्टि निर्धन एवं अयोग्य हो जाता है। जहाँ व्यक्ति समष्टिके हितोंमें विरोध हो, वहाँ समष्टिके अविरोध ही व्यष्टिको आत्महित-साधनमें प्रवृत्त होना अनिवार्य होगा। व्यष्टिको समाजहितका, समाजको राष्ट्रहितका, राष्ट्रको विश्वहितका ध्यान रखना अनिवार्य होगा। समष्टिको हानि पहुँचाकर आत्महित साधना निन्द्य समझा जायगा। मार्क्सवादियोंके मतानुसार 'सुधारवादी न होकर क्रान्तिवादी होना चाहिये। विकासका क्रम आन्तरिक असंगतियोंके खुलनेसे आगे बढ़ता है। इन असंगतियोंपर विजय पानेके लिये इन्हींके आधारपर विरोधी शक्तियोंमें संघर्ष होता है। अतः मजदूरोंका वर्ग-संघर्ष स्वाभाविक तथा अनिवार्य घटना है। इसीलिये पूँजीवादी असंगतियोंपर पर्दा न डालकर उन्हें खुलासा करना चाहिये। वर्ग-संघर्ष रोकनेका प्रयत्न न कर उसे उसके अन्तिम परिणामतक ले जानेका प्रयत्न करना चाहिये। अतः बिना मुलाहिजेकी सर्वहारा श्रेणी वर्गनीतिका पालन आवश्यक है।' सर्वहारा और पूँजीवादियोंके हित-सामञ्जस्य करते ही सुधारवादी नीति या पूँजीवाद-के समाजवादमें विकसित होनेकी समझौतावादी नीतिका अनुसरण उचित नहीं है। इसे ही समाजके जीवन एवं इतिहासपर लागू की जानेवाली द्वन्द्ववात्मक प्रणाली कहा जाता है। रामराज्यवादी सर्वत्र अनिन्दित व्यक्ति या वर्गोंमें सामञ्जस्यके साथ अभ्युदयोन्मुखी प्रगतिको श्रेयस्कर समझते हैं। वर्गसंघर्ष दुष्प्रचारमूलक ही होता है। मन्थराने राम और भरतमें फूट डालकर संघर्ष डालना चाहा, पर सफल न हुई। इसी तरह अच्छे लोगोंमें वर्गवाद सफल नहीं होता।



पञ्चम परिच्छेद

वर्ग-संघर्ष

‘वर्गसंघर्ष’ मार्क्सवादका एक मूल सिद्धान्त है। ऐतिहासिक विवेचनसे वह इसी निष्कर्षपर पहुँचना है कि समाजका विकास वर्गसंघर्षसे प्रभावित होता है। समाजमें दो वर्ग होते हैं—शोषित तथा शोषक। उत्पादनके साधनोंपर जिनका अधिकार होता है; वह शोषक वर्ग है; दूसरा शोषित। प्रत्येक नियम, रीति, रिवाज, दर्शन, कला, इतिहास—सभी वर्ग-संघर्षके विचारोंसे प्रभावित होते हैं। उत्पादनके साधनोंमें परिवर्तनके साथ सामाजिक मान्यताओंमें परिवर्तन होता रहता है। इस स्थितिमें कोई भी नियम ऐसा नहीं जो शाश्वत कहा जा सके। शाश्वत नियमोंका नारा पूँजीवादी दार्शनिकोंद्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुक्षा तथा शोषक को प्रोत्साहित करनेके लिये लगाया गया।

सापेक्ष और शाश्वत नियम

कहा जाता है कि समाजमें सबसे पहले फ्रासमें समानता, स्वतन्त्रता एवं भ्रातृताका नारा बुलंद किया। मार्क्स उसीसे प्रभावित होकर साम्यवादकी ओर आकृष्ट हुआ; परंतु उसने देखा कि फ्रासमें समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताके नारे ही नारे हैं, व्यवहारमें घोर वैषम्य विद्यमान है। कोई तो महाधनवान्, सर्वमाधन-सम्पन्न है और कोई महादरिद्र एवं दुखी है। मार्क्सको इसका कारण ढूँढ़नेसे ज्ञात हुआ कि समाजमें धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक, आर्थिक शाश्वत नियमों का दृढ़ विश्वास बना हुआ है और समाज उन शाश्वत नियमोंको अपरिहार्य मानता है। फलतः लक्ष्यरति, काटिपनिका पुत्र स्वभावतः धनवान् होता है; भूमिपति, मकानमालिक आदि सभीकी सताने सम्पन्न होती हैं। इस तरह समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताकी बातें करते हुए भी कुछ लोगोंकी व्यक्तिगत सम्पत्ति ज्यों-की-त्यों बना रहेगी। गरीब गरीब हो बने रहेंगे और व्यावहारिक आर्थिक दृष्टिसे समानता नहीं हो सकेगी। इसलिये आर्थिक असंतुलन या अर्थ-वैषम्य दूरकर व्यावहारिक समानता लानेके उद्देश्यसे मार्क्सने अर्थ-सम्बन्धी प्राचीन नियमोंका खण्डन किया। परंतु यह सगत नहीं है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति

भारतीय धार्मिक, राजनीतिक शास्त्रोंने व्यक्तिगत सम्पत्तियोंको वैध माना है। मन्वादि र्मशास्त्र, मिताक्षरा आदि निम्नग्रन्थोंमें कहा गया है कि त्रितृपितामहादिकी सम्पत्तिमें पुत्र पोत्रादिका जन्मन स्वत्व है। गर्भस्थ शिशुका भी पितापितामहादिकी सम्पत्तिमें स्वत्व मान्य है। अतएव दायके रूपमें प्राप्त चल, अचल धन पुत्रादिका वैध धन है। इसी प्रकार निधि लाभ, मित्रोंसे मिली, विजयसे प्राप्त, गाढे पसीनेकी कमाईमें खरीदी हुई सम्पत्ति, पुरस्कार तथा दानमें प्राप्त एवं उद्योग, कृषि, व्यापार आदि तथा उचित सूद आदिद्वारा प्राप्त सम्पत्ति वैध-सम्पत्ति समझी जाती है—

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।

प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥

(मनु० १० । ११५)

प्रायः आज भी सभी देशोंमें सम्पत्ति-सम्बन्धी नियम ऐसे ही हैं । किसीकी व्यक्ति सम्पत्ति, भूमि, मकान आदिपर उनके उत्तराधिकारियोंका अधिकार रहता है, सरकार भी अगर किसीकी कोई वस्तु सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे लेती है तो उसे मुआविजा देती है । भारतमें भी जमींदारी, जागीरदारीका मुआविजा दिया गया है; राजाओंसे राज्य लेकर उन्हें कुछ सालाना दिया जा रहा है । इससे सिद्धान्ततः भारत-सरकारने बाप-दादाकी सम्पत्तिको बेटे पोतेकी वपौती—मिलकियत होनेका सिद्धान्त मान लिया, तभी मुआविजा और सालाना देनेकी बातकी सङ्गति लगती है । अन्यथा मुआविजा आदि देनेकी कोई सङ्गति नहीं लग सकती । हाँ, यह बात अवश्य है कि जब राज्य या जागीरें राजाओं या जागीरदारोंकी वैधानिक मिलकियत है, वैध धन है तब उन्हें उचित मूल्य बिना दिये और उन्हें बिना सतुष्ट किये मनमानी कुछ देकर अपहरण करना एक प्रकारका स्तेय ही है । आजकल कुछ लोग भूमिस्वामी कहनेमें हिचकिचाते हैं । परन्तु वस्तुतः यदि कोई अपने मिरकी टोपीका स्वामी हो सकता है, अपनी झोपड़ी और पत्नीका पति हो सकता है, तो भूमिस्वामी होना भी कोई अनहोनी घटना नहीं । यदि दृढतासे अपनी टोपीकी रक्षा न की जायगी, तो गुंडे टोपी भी छीन लेंगे, अपनी थालीकी रोटीको भी उठा ले जायेंगे, झोपड़ी और पत्नी भी छिन जायगी । इसलिये कुछ पुगने साम्यवादियोंका भी मत था कि मौजूदा राज्य शासनसे अलग रहकर ही स्वतन्त्ररूपसे साम्यवादी पचायती शासन कायम किये जाने चाहिये । नैतिक, आर्थिक भावनाओंके कारण किसीकी व्यक्तिगत सम्पत्तिमें हाथ डालना ये लोग अनुचित समझते थे ।

परन्तु मार्क्सके मतानुसार 'राज्यशक्तिको ही सामाजिक क्रान्तिका एक प्रबल अस्त्र बनाया जा सकता है ।' मार्क्सने सबसे पहले इन विश्वामोंका खण्डन करना उचित समझा । तदनुसार ही उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादकी स्थापना की । जिसके अनुसार आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक नियमों और सिद्धान्तोंकी शाश्वतिकता और नित्यताका खण्डन किया जाता है । प्रमत्नानुसार उसे आत्मा, परमात्मा एवं धार्मिक नियमोंकी अनावश्यकता सिद्ध करनेका भी प्रयत्न करना पड़ता है । इन लोगोंके मतानुसार भूत या परमाणु अथवा कुछ विशुत्कर्णों अथवा प्रकृतिके हलचलसे ही प्रपञ्च निर्माण होता है ।

'डार्विन'का विकासवाद तथा वैज्ञानिक आविष्कार आदि ही इनकी विचारधाराकी आधार-भित्ति है । विकासवादकी आलोचना पिछले अध्यायमें पूर्णरूपसे की जा चुकी है । यहाँ उसे दुहरानेकी आवश्यकता नहीं ।

मार्क्सके मतानुसार जब मानवसमाजमें खेती आदि आरम्भ हो गयी, कुछ

नियम बनने लगे और विवाह आदि चल पड़े, तब पंचायतों और मुखियोंका निर्माण हुआ; धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि अनेक प्रकारके नियम बनाये गये। इसी बीच खेतों तथा फलवान् वृक्षोंपर अधिकार प्राप्त करनेके लिये दो दलोंमें संग्राम होने लगे। संग्राममें जो लोग जीत गये, वे मालिक बन बैठे और जो हार गये, वे गुलाम बने। उसी समयसे मालिक और गुलामका जन्म हुआ और उनमें भेद, संघर्ष तथा विद्वेष उत्पन्न होने लगा। निजी सम्पत्तिकी प्रथा जबसे चली है, तभीसे दो दल तथा वर्ग परस्पर विरुद्ध रहने लगे थे। तबसे ही मनुष्यजातिका इतिहास वर्ग-कलहका इतिहास है। यह दूसरी बात है कि यह वर्ग-कलह कभी प्रत्यक्ष रहता है कभी अप्रत्यक्ष। इसके फलसे या तो नवीन सामाजिक प्रणाली, नवीन स्वामित्व प्रथा, नवीन आर्थिक नियमोंका जन्म होता है या दोनों वर्गोंका लड़ते-लड़ते नाश हो जाता है। ये दोनों दल भिन्न भिन्न स्वार्थ स्वामित्वकी प्रथा, आदर्श तथा सभ्यताके समर्थक होते हैं।

शाश्वत नियम

पर सिद्धान्ततः राज्यशक्तिको किसी भी धार्मिक, आध्यात्मिक नियन्त्रणमें ही रहना उचित है। अन्यथा अनियन्त्रित उच्छृङ्खल राज्यशक्ति राष्ट्रके लिये भीषण सिद्ध हो सकती है। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में कहा गया है कि 'धर्म क्षत्रका भी क्षत्र है', अर्थात् धर्मपर राजाका शासन नहीं चलता, अपितु राजापर धर्मका शासन चलता है। जैसे बिना नकेलके ऊँट, बिना लगामके घोड़ा, बिना ब्रेकके साइकिल-मोटर आदि खतरनाक होते हैं, वैसे ही बिना नियन्त्रणके निरङ्कुश राज्यशक्ति देशके लिये अभिशाप सिद्ध हो सकती है। इसीलिये आज भी कुछ शासनके नियम और परम्पराएँ हैं ही तथा शासनको उनका नियन्त्रण मानना ही पड़ता है। ऐसी स्थितिमें राज्यशक्तिको धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक परम्परागत नियमोंके उल्लङ्घन करनेका अधिकार कथमपि नहीं है। भारतीय सभ्यतामें धर्म ब्रह्मके द्रष्टा सांसारिक भावोंसे अतीत होते हैं।

प्रियान्न सम्भवेद् दुःखमप्रियादधिकं भवेत् ।

ताभ्यां हि ये वियुज्यन्ते नमस्तेषां महात्मनाम् ॥

(वाल्मी० रामा० सुन्दर० २६ । ४६)

जो प्रिय-अप्रिय दोनोंसे अतीत हैं, उन्हें ही नमनीय महात्मा कहा गया है। वे लोग भी ऋतुम्भरा प्रज्ञा एवं अपौरुषेय शास्त्रोंका आदर करते हैं।

कुछ लोगोंका कहना है कि विभिन्न देश-काल और परिस्थितिके अनुसार विभिन्न महापुरुषोंद्वारा राष्ट्रके धारण पोषणानुकूल निर्धारित नियम-समूह ही शास्त्र है। परतु यह सर्वथा अनिश्चित एवं अन्यवस्थित है। क्रियामें विकल्प हो सकता है, परतु वस्तुमें विकल्प नहीं हो सकता। एक वस्तुके विषयमें एक ही ज्ञान यथार्थ

होता है, अन्य अयथार्थ होते हैं। जैसे किसीने आत्माका देहादि भिन्न होना स्वीकार किया, किसीने देह मात्रको ही आत्मा माना, किसीने आत्माको अणुरूप, किसीने मन्थम, किसीने व्यापक माना, किसीने चेतन, किसीने अचेतन, किसीने उभयात्मक माना। यदि महापुरुष सर्वज्ञ हैं तो मतभेद कैसे? कोई सर्वज्ञ, कोई अल्पज्ञ कहा जाय तो भी कैसे? तत्तन्मतानुयायी अपने-अपने तीर्थंकरोंको सर्वज्ञ ही मानते हैं। किसी पुरुषके मतसे प्रभावित जनता, पंचों, विधानसभाओं एवं लोकसभाओंने यदि कोई धर्म या धर्मशास्त्र बना भी लिया, तो भी जवतक कर्मफलदाता ईश्वर उसे स्वीकार न कर ले तवतक उसका कोई भी महत्त्व नहीं। लौकिक कर्मों और फलोंके नियम लौकिक पुरुषोंद्वारा बनाये जा सकते हैं, परंतु जिन कर्मोंका दृष्ट फल नहीं है, जिनका केवल परलोकमें फल होता है, उन कार्योंका फल प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विदित नहीं हो सकता। कितने लौकिक नेता या शासक मृत्युके अनन्तर कहों गये, उन्हें पिछले किन कर्मोंका क्या फल मिला, यह जानना न तो जनताके लिये सम्भव है और न तो पत्रकारों तथा विधानसभाई, लोकसभाई सदस्योंके लिये ही।

धार्मिकोंका विश्वास है कि सगोत्र, सपिण्ड विवाहसे पाप होता है, परंतु आज सरकार इस शास्त्रीय नियमको तोड़कर उसे धर्म बनाने जा रही है। आज पिता-पुत्री, भ्राता-भगिनी, माता-पुत्रका उद्वाह अधर्म माना जाता है। हो सकता है, कुछ और प्रगतिशील कुछ दिनोंमें इसे भी जायज धर्म माननेका आग्रह करें और इसे भी कानून बना दे। किंतु यदि वस्तुतः ईश्वर है और वह इसे अधर्म समझता है तो जवतक वह इसे धर्म स्वीकार न करे, तवतक ऐसे उद्वाहोंको कोई सरकार धर्म भले ही कह दे, परंतु वह वस्तुतः धर्म नहीं हो सकता। ईश्वरवादीकी दृष्टिसे ईश्वर सनातन है, अतः उसके निर्धारित नियम भी सनातन हैं। वह सर्वज्ञ है, सर्वदेशों, कालों तथा परिस्थितियोंको जानता है तथा तत्तद्देशों, कालों और परिस्थितियोंके अनुसार नियम बनाता है। अल्पज्ञ नेता या सरकार सर्वदेश काल-परिस्थितियोंसे अनभिज्ञ होते हैं। अतः वे यथाज्ञान नियम बनाते हैं। यदि दूसरी परिस्थितिमें पुराने नियमोंमें अड़चन प्रतीत होती है, तब उन्हें रहोवदल करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। किंतु सर्वज्ञके सम्बन्धमें यह बात नहीं कही जा सकती। वह तो अनन्त देशकाल तथा ब्रह्माण्डोंको जानता है; अनन्त जीवों, उनके अनन्त जन्मों तथा प्रत्येक जन्मके अनन्त कर्मों एवं उनके फलोंको जानता है और फल देनेकी क्षमता भी रखता है। उभी सर्वज्ञात्ता सर्वज्ञका शासनवचन ही शास्त्र है। यदि ईश्वरका विनाश सम्भव हो या ईश्वरकी पराजय सम्भव हो अथवा ईश्वरमें अल्पज्ञता या भ्रान्ति मिद्ध हो सके, तभी ईश्वरमें रहोवदल सम्भव है। पर ईश्वरका विनाश, पराजय आदि सर्वथा असम्भव है, अतः उसके धर्ममें भी परिवर्तन करना असम्भव है।

हाँ, ईश्वरीय शास्त्रोंने पहलेसे ही देश, काल परिस्थितिके अनुसार जितना नियमोंमें परिवर्तन निश्चित कर रखा है, वह परिवर्तन मान्य है। जैसे सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुगके भेदसे; विपत्ति, सम्पत्तिके भेदसे कुछ परिवर्तन शास्त्र सम्मत है ही। व्यवहारमें भी जो जिम कार्यमें दक्ष होता है, वह उसी कार्यमें सफल होता है। मिले हुए दूध-पानीको अलग करना इसके लिये सरल है, पर औरोंके लिये कठिन। मिली हुई बालू और शर्कराको पृथक् करना पिपीलिकाके लिये सरल है, पर दूसरोंके लिये कठिन। विविध पुष्पस्तवकोसे मधुर रस निकालकर मधु बनाना मधुमक्षिकाके लिये सरल है, औरोंके लिये कठिन। वैद्य, इंजीनियर, वकील, गणक आदि अपने-अपने विषयमें सफल हो सकते हैं, दूसरोंके विषयमें नहीं। दूरवीक्षण, अणुवीक्षण आदि या योगादिजग्य विशेषताओंके उत्पन्न होनेपर भी विषयकी सीमा बनी ही रहती है। योगादिजग्य विशेषतासे श्रोत्ररूपके सम्बन्धमें अथवा नेत्रशब्दके सम्बन्धमें सफल नहीं हो सकता—

यत्राप्यतिशयोदृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्। दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥

यहाँ बहुमतका भी कोई मूल्य नहीं। कहा जा चुका है कि नेत्रविहीन कोटि-कोटि अन्धे भी रूपज्ञानमें सफल नहीं हो सकते। इसी तरह रोगके सम्बन्धमें वैद्यादिकी ही सम्मति मान्य होती है, इंजीनियर या वकीलोंकी नहीं। डाक्टरों या वकीलोंके बहुमतके आधारपर टूटी घड़ीका पुर्जा ठीक नहीं कराया जा सकता, उसके लिये तो इंजीनियर ही अपेक्षित होगा। इसी तरह शाश्वत नियमोंके सम्बन्धमें उन्हींका मत मान्य हो सकता है, जो उसके जानकार तथा अधिकारी हैं।

शोषक-शोषित

भूमि आदिके लिये युद्ध, संघर्ष होने; मालिक गुलाम, शोषक-शोषित, उत्पीड़क-उत्पीड़ित आदिकी कल्पना तो हामकालकी बात है। सृष्टिके प्रारम्भकालमें सम्पूर्ण प्रजा धर्म-नियन्त्रित थी। उस समय सत्त्वगुणका पूर्ण विस्तार था। सभी समझते थे कि सभी प्राणी अमृतके पुत्र हैं—‘अमृतस्य पुत्राः’। सभी प्राणियोंकी सहज समानता, स्वतन्त्रता एवं भ्रातृताकी मूल आधार भित्तिकी समझते थे। व्यवहारमें सब एक दूसरेके पोषक ही थे, शोषक नहीं, सब परस्पर एक दूसरेके रक्षक ही थे, भक्षक नहीं। उत्पीड़क-उत्पीड़ितका भेद सर्वथा ही न था। महाभारतमें उस अवस्थाका वर्णन मिलता है—

न वै राज्यं न राजाऽऽपीन्न दण्डो न च दाण्डिकः ।

धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥

(महा० शां० प० ५९ । १४)

अर्थात् प्रथम राज्य-राजा, दण्ड-दाण्डिक कोई भी भेद नहीं था। सभी धर्म-

नियन्त्रित हो परस्पर एक-दूसरेका पालन करते थे। अथौरुपेय नित्य वेदोंके द्वारा भी आदर्श शासनका रूप दिखलाया गया है—

न मे स्तेनो जनपदे न कट्यो न मत्प्रपः ।

नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुनः ॥

(छांदोग्यो ७. ५. ११. ५)

मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं, कोई कृपण नहीं, कोई मत्प्रप नहीं और कोई अधिकारी होकर अनाहिताग्नि नहीं; अर्थात् कोई अस्वधर्मनिष्ठ नहीं, किंतु सभी स्वधर्म-निष्ठ हैं। मेरे राज्यमें कोई दुग्गाचारी पुरुष नहीं, फिर दुग्गाचरिणी स्त्री तो हो ही कैसे सकती है? आजके समय कहां जानेवाले किसी भी शासनमें क्या ऐसा धार्मिक स्तर दृष्टिगोचर होता है? व्यवहारतः जहाँ शिवि, दिलीप, शन्तिदेव आदि पशु, पक्षी एवं साधारण मनुष्योंके लिये आत्मोत्सर्गनक कर देते थे, वहाँ शोषक-शोषित, उत्पीड़क-उत्पीड़ितोंके वर्ग-भेदको स्वाभाविक कहना किनना भ्रामक है, यह स्पष्ट है।

कहा जाता है कि 'प्राचीनकालमें यूरोपके नगरोंमें निवास करनेवाले व्यापारी, कारीगर तथा मध्यमश्रेणीके लोगोंका जमींदारों-सरदारोंसे इसलिये लड़ाई हुई थी कि उनको कारीगरी एवं व्यापारकी स्वाधीनता तथा निजी सम्पत्तिको इच्छानुसार खर्च करनेकी स्वतन्त्रता मिले एवं एक राष्ट्रिय सरकार कायम हो। वही व्यापारी आदि आगे चलकर विजयी होकर पूँजीपति हो गये। उनसे भिन्न श्रमजीवी सम्पत्ति-विहीन हो गये। अपने देशकी सम्पत्तिमें उनका कुछ भी हिस्सा नहीं है। दूसरी ओर पूँजीकी उत्पत्ति दिन-पर-दिन पारस्परिक सहयोगपर निर्भर होती जा रही है और पूँजी एक सम्मिलित वस्तु बनती चली जाती है। इस कारण श्रमजीवी दल अब सम्पत्तिको व्यक्तिगत बनानेके लिये न झगड़कर हमलिये झगड़ता है कि समाज जो भी माल पैदा करता है, उसको उपयोगमें लाने या बँटवनेका अधिकार भी समाजको ही हो। इस प्रकार मध्य श्रेणीद्वारा ही एक दल ऐसा पैदा हुआ, जिसका उद्देश्य है वर्ग-विरोधके उद्देश्यको नष्ट कर सार्वजनिक स्वामित्वकी प्रथा प्रचलित करना। अन्तराष्ट्रिय-संघकी बड़ी सभा सितम्बर १८६७ में स्विटजरलैंडके लोगान नामक नगरमें हुई। उसमें एक प्रस्ताव पाम किया गया कि रेलोंको राष्ट्रिय सम्पत्ति बना लिया जाय। तीसरी महामभा सितम्बर १८६९ में ब्रूमेल्स (बेल्जियम) में हुई, इसमें युद्धोंका विरोध किया गया और यह भी प्रस्ताव स्वीकृत किया गया कि रेलों, खानों, जंगलों और खेतीके लायक तमाम जमीनोंको राष्ट्रिय सम्पत्ति बना ली जाय। चौथी सभा १८६९ में हीवाल (स्विटजरलैंड) में हुई। उसमें घोर वाद-विवादके पश्चात् यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि उत्तगधिकारके प्रचलित सभी नियम सर्वथा निन्दनीय हैं, अतः निजी सम्पत्तिकी प्रथाको सर्वथा उठा देना चाहिये।

विस्तृत मन्त्रन्तरो, युगों, कल्पों आदि महाकालको देखते हुए हजार, पॉच

सौ वर्षोंका कोई महत्त्व नहीं रहता । इसलिये इस बीचके व्यक्तियों या विचित् व्यक्ति-सम्भूतोंसे सम्बन्धित घटनाओंका कुछ भी महत्त्व नहीं रहता । अतः कुछ व्यक्तियों या कुछ सभाओंके प्रस्तावोंके आधारपर शाश्वतिक सिद्धान्तोंमें रद्दो-बदल नहीं हो सकता । इतिहासके आधारपर सिद्धान्तका निर्णय नहीं हो सकता । आये दिन अनाचार, दुराचार, पापाचारोंकी घटनाएँ घटती ही रहती हैं, फिर भी वे उपादेय नहीं समझी जातीं । डाका, चोरी, व्यभिचार, अग्निकाण्ड, हत्या-काण्डकी घटनाएँ घटती ही रहती हैं, परंतु इसीसे वे सब कर्म सिद्धान्त-कोटिमें नहीं आते । जब पूर्वोक्त युक्तिसे दाय, जय, क्रयादिद्वारा प्राप्त भूमि, सम्पत्ति आदिकर व्यक्तिगत अधिकार मान्य है, तब कुछ लोगोंके प्रस्तावों या व्यवहारोंसे उनका रद्दोबदल कैसे हो सकता है ?

संसारमें प्रमाद, पुरुषार्थके भेदसे फलमें भेद होना अनिवार्य ही है । अतः दाम, आराममें विशेषता प्राप्त करनेके लिये ही प्राणी गुण, कर्ममें विशेषता लानेका प्रयत्न करता है । यदि दाम, आराममें विशेषताकी सम्भावना न हो तो कोई भी गुण कर्ममें विशेषता लानेका प्रयत्न ही न करेगा । कुछ विद्यार्थी, खिलाड़ी होते हैं, कुछ खर्राटा लेते रातभर सोते हैं, कुछ सावधान होकर रात-रात जागकर पढ़ते हैं । एक ही पिताके चार पुत्र होते हैं, पिताकी सम्पत्तिके वे चारो हिस्सेदार होते हैं । उनमेंसे कोई परिश्रमसे अपनी सम्पत्ति बढ़ा लेता है, कोई प्रमाद एव विलासितामें फँसकर थोड़े ही दिनोंमें फूँक ताप लेता है । पुनः-पुनः समाज या समष्टिके नामपर सब सम्पत्तिका राष्ट्रियकरण एव वितरणकी व्यवस्था उस गुणकर्मकी विशेषताका अपलाप करना है ।

जैसे निम्नस्थलकी ओर जलका बहना स्वभाव है, वैसे ही बहिर्मुख प्राणियोंकी पशुवत् प्रवृत्ति स्वाभाविक है । भोग विलास, छीना-झपटी, विना परिश्रम किये उत्तमोत्तम भोग-विलास एव सामग्रीका पाना उन्हें अभीष्ट होता है । ईश्वर-बुद्धि, धर्म-बुद्धि ही इसमें रुकावट डालती है । इसीलिये ऐसे लोग ईश्वर एवं धर्मको पहले समाप्त करना चाहते हैं । अपनेसे प्रबल धनवान्, बुद्धिमान्को देखकर ईर्ष्या, उसे मिटा देनेकी इच्छा—यह पाशविक स्वाभाविक भावना होती है । तमोगुण, रजोगुणकी अधिकता और सत्त्वगुणकी कमी संसारमें होती ही है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि गुण समष्टिके लिये अत्यावश्यकरूपसे प्रायः सर्वमान्य हैं, तथापि उनकी कमी होती है । इस दृष्टिसे सामन्त जागीरदार, जमीनदार, वादग्राहों, राजाओंकी समाप्ति चाहते, व्यापारी अपनी सुविधाकी दृष्टिसे सामन्तादिकोंकी समाप्ति चाहते तथा किसान-मजदूर उनका भी खात्मा चाहते हैं । यदि उनसे भी अधिक अपकृष्ट कोई वर्ग हो, तो वह किसानोंका भी विनाश चाहेगा । इन्हीं स्वाभाविक, पाशविक प्रवृत्तियोंको रोकनेके लिये ही सदाचार, धर्म आदिकी

भावना फैलानेका महापुरुष लोग प्रयत्न करते आ रहे हैं । अमीर-गरीब सभी दुष्ट एव शोषक हो सकते हैं । वे ही शोषक एवं सज्जन भी हो सकते हैं । अधिकांशरूपमें अभावसे पीड़ित होकर गरीब ही चोरी, डाका, व्यभिचार आदिमें पकड़े जाते हैं । अमीरोंके पास वस्तुओंकी कमी न होनेसे उन्हें डाका, चोरी आदि-की आवश्यकता बहुत कम पड़ती है । बहुत-से गरीब भी सदाचारी, सत होते हैं । वैसे ही धनवान् भी सदाचारी होते हैं ।

वस्तुनस्तु विद्वान्, बलवान्, धनवान्, शक्तिमान्की विद्या, बल, धन, शक्ति-स्वतः न अच्छे ही होते हैं और न बुरे । दुष्ट पुरुषोंकी विद्या विवादके लिये, धन घमड़के लिये, शक्ति दूसरोंको उत्पीड़ित करनेके लिये होती है, परंतु सत्पुरुषोंकी विद्या ज्ञान फैलाने, उनका धन दान देने तथा दूसरोंकी सहायता पहुँचानेके काममें आता है और उनकी शक्ति दीनों, दुखियों और आतोंके रक्षणके काममें आती है । इसलिये 'धनवान्, बलवान्, शक्तिमान् सब शोषक होते हैं,' यह सिद्धान्त ही गलत है । मजदूर भी अधिनायकतन्त्र स्थापित कर अपने विरोधियोंका शोषण ही नहीं खात्मातक कर देते हैं । साधारण लोग अपने खाने-कमानेके काममें लगे रहते हैं । न उनमें शोषक होनेकी ही भावना है और न शोषित ही होनेकी । अतः यह विभाजन ही गलत है । हाँ, धर्म-भावना कम होने, सत्त्वगुण घटने, आध्यात्मिकता मिटने और भौतिकता बढ़नेसे 'मात्स्यन्याय' अवश्य फैल जाता है; जिसका अभिप्राय होता है कि जैसे जलमें बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको खा लेती हैं, अरण्यनिवासी प्रबल जानवर दूसरे छोटे जन्तुओंको भक्षण कर लेते हैं, उसी प्रकार समाजके बलवान् मनुष्य भी दुर्बलोंके भक्षक बन जाते हैं । मृपकका मार्जार, मार्जारका श्वान, श्वानका व्याघ्र भक्षक बनता है । व्याघ्रका सिंह और सिंहका भी शार्दूल भक्षक होता है । सर्पके मुखमें पड़ा हुआ मेढक भी आसनासके उड़ते हुए मच्छरोंको खानेके लिये मुख फैलाता है । यहाँ सर्प, मेढक, मच्छर सभी अपेक्षाकृत शोषक भी हैं और शोषित भी । मत्स्योमें भी सहस्रों मनकी मछली (तिमि आदि) सैकड़ों मनकी मछलीका भक्षण कर लेती हैं । मनोकी मछली सेरोंकी मछलीको, सेरोंकी मछली छंटारकी मछलीको और वह भी तोलोंकी मछलीका भक्षण करती है । यहाँ सभीमें शोषक-शोषित भाव है । इसी तरह धनमें भी तारतम्य है । कोटिपतिकी अपेक्षा अर्बुदपति प्रबल है, तब अर्बुदपतिको शोषक और कोटिपतिको शोषित कहना पड़ेगा । इसी तरह कोटिपतिको शोषक एव लक्षपतिको शोषित कहना पड़ेगा । लक्षपतिकी अपेक्षा सहस्रपति, उसकी अपेक्षा शतपति आदिकोंको शोषित कहा जायगा । फिर तो

रूप्यकपति और वराटिका (कौड़ी) पतिमें भी शोषक-शोषितकी कल्पना करनी पड़ेगी ।

यदि वर्ग-विध्वंसके सिद्धान्तानुसार शोषककी समाप्ति अभीष्ट है, तब तो आरण्यक व्याघ्र, सिंह, शार्दूल आदिको समाप्त करके केवल मच्छरोंका ही साम्राज्य स्थापित करना पड़ेगा । इसी प्रकार बड़ी मछलियोंको समाप्त करके केवल रत्ती-रत्तीकी मछलियोंको ही रखना पड़ेगा । इसी तरह समाजके बलवान्, धनवान्, विद्वानोको समाप्त करके केवल अति निर्बल, निर्बुद्धि, निर्धनोंका ही राज्य बनाना होगा । परंतु यह क्या है ? राष्ट्रका उत्थान है या पतन ? आदर्श शासनोका कभी भी ऐसा लक्ष्य न था । राष्ट्रके सिंह, शार्दूल समाप्त हो जायें, केवल शृगाल, मच्छर आदि रह जायें—यह आदर्श नहीं । सिंह-व्याघ्र भी रहे, श्वान-शृगाल भी रहे, अपने-अपने कर्मोंके अनुसार प्रवृत्त-निर्बल, बुद्धिमान् निर्बुद्धि—सभी रहें; पर एक-दूसरेके पोषक हो, शोषक नहीं । इसीलिये रामराज्यमें बाघ-बकरे एक घाटपर पानी पीते थे; गज-पंचानन साथ-साथ रहते थे । सर्प-नकुल, चूहा-बिल्ली सब एक दूसरेके रक्षक थे, भक्षक नहीं, यही आदर्श शासन है ।

वस्तुतः मात्स्य-न्याय मिटानेके लिये ही राजा एवं राज्यकी व्यवस्था हुई थी । धर्मस्थापनके द्वारा सत्त्व विस्तार करके अहिंसाकी भावना दृढ़ करके ही राजा मात्स्यन्याय मिटाता था । वह सबको एक दूसरेका पूरक बनाता था, वैर मिटाकर, सौहार्द उत्पन्न कर शासन, शोषण एवं उत्पीड़नका अन्त करता था—

सब नर करहिं पररपर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥

बयरु न कर काहू सन कोई । राम प्रताप विषमता खोई ॥

फूलहिं फलहिं सदा तरु कानन । रहहिं एक सँग गज पंचानन ॥

चूहे-बिल्ली भी एक-एक दूसरेके हित-चिन्तक, उपकारक तथा पोषक बने हुए थे । अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ।' (योगदर्श० २।३५) मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसाकी प्रतिष्ठा होनेपर अहिंसकके समीपमें परस्पर विरोधी हिंस्र प्राणियोंके भी वैर छूट जाते हैं । रामायणके निशाकर या चन्द्रमा मुनिके आश्रममें यह आदर्श प्रत्यक्ष उपलब्ध होता था । रामराज्यमें तो यह आदर्श था ही । हाँ, जिनमें रज, तमकी मात्रा अधिक होती थी, धार्मिकताका सस्कार आनेमें विलम्ब होता था, उन्हें उग्र दण्ड देकर शोषणसे विरत किया जाता था । इसीलिये नीति शास्त्रोंमें दण्ड-विधान भी है । सरकस आदिमें देखा ही जाता है कि एक बकरी शेरके सिरपर चढ़कर हरी पत्ती खाती है, विद्युत्-सृणि (बिजलीके हंटर) के डरसे शेर चुप रहता है, बकरीको नहीं मारता ।

इसलिये वर्गसंग्रह वर्ग-विद्वेष फैलाकर वर्ग-विवेकका प्रयत्न कभी भी आदर्श वस्तु नहीं है।

आधुनिक यन्त्रीकरण युगमें भी उत्पादनमें पूँजी और श्रम दोनों कारण हैं। पूँजी बिना श्रमजीवी कुछ नहीं कर सकते। श्रमजीवी बिना पूँजी भी कुछ नहीं कर सकती। फिर भी श्रमजीवीको जीवनके लिये धन चाहिये। पूँजीपतिको उत्पादनके लिये श्रम चाहिये, अतः पूँजीपति धनसे श्रम खरीदता है। इसीलिये वह मजदूरको निश्चित मजदूरी देकर आयका भागी होता है। कम्यूनिज्ममें भी पूँजीवाद चलता है। भेद इतना ही है कि पूँजीवादमें अनेक पूँजीपति होते हैं, साम्यवादमें सरकारी पदाधिरुढ लोगोंका एक गिरोह ही पूँजीपति होता है और इसके लिये तोड़-फोड़की परम्परा चलती रहती है। यदि वस्तुतः शासन-परिपद् और मजदूर-अधिनायकोंमें साधारण मजदूरोंसे कोई विशेषता न हो तो फिर संघर्ष क्यों? फिर ट्राट्स्की, बेरिया आदि का सफाया क्यों? विरोधी व्यक्ति या समूहको समाप्त कर कुछ लोगोंके ही धाक जमानेका क्या अर्थ है?

भारतीय शास्त्रोंके अनुसार यद्यपि सब वस्तु सबकी नहीं होती, इसीलिये भूपति, भूपाल सब नहीं होते। भूमि, सोना, लोहा, तँवा, पेट्रोल आदिकी खाने भी सबकी नहीं होतीं, अबतक भी सबकी नहीं मानी जातीं। प्राकृतिक वस्तु सबकी होती है, यह पक्ष मान्य होनेपर पुत्री-पत्नी आदिमें सबका हिस्सा मानना उपस्थित हो जाता है। अतएव प्रसिद्ध पितृ-पितामहादिकी सम्पत्तिमें ही प्राणियोंका अधिकार होता है। उसमें भी अधिकारके साथ कर्तव्य लगे हैं, 'पिण्डं दत्त्वा धनं हरेत्' पिण्ड दानादिक श्राद्ध करनेका जो अधिकारी है, वही पितृ-पितामहादिके दायका अधिकारी होता है। उनमें भी राजा आदिके प्रथम पुत्र ही मुख्य अधिकारी होते हैं। अन्य पुत्रोंको पोषण—गुजारा मिलता है। पिता पुत्रको 'त्वं यज्ञस्त्व लोकस्त्व ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंद्वारा अपने अकृत या अर्धकृत वेदाध्ययन, धर्मानुष्ठान, लोक साधनादिके सम्पादनका उत्तरदायित्व देता है और पुत्र 'अहं यज्ञः, अहं लोकः, अहं ब्रह्म' इत्यादि शब्दोंद्वारा उस उत्तरदायित्वको अङ्गीकार करता है। तभी वह सम्पत्तिका भी उत्तराधिकारी होता है। जो सम्पत्ति तो ले लेता है, परंतु कर्तव्यपालन नहीं करता; स्वाध्यायाध्ययन, धर्मानुष्ठान, लोकार्जनादि कर्तव्योंसे पराङ्मुख होता है, उस असाधुसे धन छीनकर कर्तव्यपालनमें तत्पर किंतु अर्थहीन साधुपुरुषको प्रदान करनेका राजाको अधिकार है—

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः सम्प्रयच्छति।

स कृत्वा पुत्रसात्त्वान संतारयति तावुर्भा ॥ (मनु० १०।१०)

अतएव पुत्रके रहते हुए पुत्री (कन्या) को श्राद्धादिका अधिकार नहीं है । इसीलिये पुत्रके रहने हुए भारतीय धर्मशास्त्रानुसार पुत्रीको दाय्याधिकार भी नहीं है । परंतु पुत्र न होनेपर पुत्रीको पिण्डदानका अधिकार है और पुत्राभावमें पुत्री दाय्याधिकारिणी भी मानी जाती है । इस तरह 'सबमें सबका अधिकार है', यह सिद्धान्त गलत है । फिर भी विश्वप्रपञ्चकी सृष्टिमें जैसे ईश्वर कारण है, वैसे ही शुभाशुभ कर्मोंद्वारा जीव भी विश्वसृष्टिमें कारण है । जीवोंके कर्म-वैचित्र्यसे ही सृष्टिमें वैचित्र्य है । इस दृष्टिसे विश्वप्रपञ्चमें जीवोंका भी अधिकार है, अतः विश्वके आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवीके उपयोग करनेका अधिकार सबको ही है । इसीलिये योग्यता एव आवश्यकताके अनुसार चोटीको कणभर, हाथीको मनभरके अनुसार काम, दाम, आराम सबको ही मिलना चाहिये । इस रूपसे विशिष्ट भूमिसम्पत्ति आदिके अधिकारी विशिष्ट लोगोको मान, आवास, स्थान एवं रोजी, रोजगार, उन्नतिका खुला रास्ता सबको ही मिलना चाहिये ।

द्वादशलक्षणी पूर्वमीमांसामें एक विचार चला है 'सर्वस्वदक्षिण याग' का, जिसमें सर्वस्व दक्षिणाकी चर्चा है । 'सर्वस्व, क्या है, माता-पिता भी सर्वस्वमें आते हैं या नहीं, उनका भी दान हो सकता है या नहीं, इत्यादि, इसपर उत्तर दिया गया कि सर्वस्वमें माता पिता अवश्य हैं, पर उनका दान नहीं हो सकता, क्योंकि स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोत्पादन ही दान है । माता-पिताका स्वत्व इस प्रकारका नहीं है जिसकी निवृत्ति हो सके । पुनः विचार चला कि समग्र भूमिका दान हो सकता है या नहीं । यह विचार खण्ड भूमिके लिये नहीं है, क्योंकि खण्ड भूमिका तो दान होता ही है । इसीलिये शबर स्वामीने विचार करते हुए कहा कि 'अखण्डभूमि किसके पास हो सकती है ? हो सकती है सार्वभौम सम्राट्के पास, सर्वस्वदक्षिणमें अखण्डभूमिका दान प्रसक्त है, इसपर जैमिनिका सूत्र है—

‘न भूमिर्देया स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ।’ (मीमांसादर्श ० ६ । ७ । २ । ३)

अर्थात् राजमार्ग, चत्वर, देवादि स्थानसहित अखण्डभूमिका दान नहीं हो सकता; क्योंकि वह सबकी है । यद्यपि यहाँ कुछ लोगोंने इसी आधारपर यह भी सिद्ध किया है कि भूमि किसी व्यक्तिकी नहीं होती, किंतु वह समाजकी होती है, इसीसे उसका दान नहीं हो सकता, किंतु पूर्वापर देखनेसे यह गलत सिद्ध होता है । उसका अभिप्राय इतना ही है कि चत्वर, राजमार्गादिसहित भूमिका दान नहीं हो सकता, क्योंकि हो सकता है कि प्रतिगृहीता राजमार्गमें ही खेत, उद्यान बनाये और दूसरोंको चलनेसे रोके । अतः अखण्ड भूमण्डलका दान नहीं हो सकता । हाँ, देवस्थान, चत्वर, राजमार्गादि छोड़कर सगल

भूमिका दान शतपथ, ऐतरेय आदिमें स्पष्ट वर्णित है ! 'श्रीमद्भागवत' में ही आता है कि होता आदि ऋत्विजोंके लिये प्राची आदि सभी दिशाओंका दान श्रीरामचन्द्रने किया था, जिससे समस्त राज्यका दान सुस्पष्ट प्रतीत होता है ।

सार यही है कि विविष्ट वस्तुओंमें विविष्ट लोगोंका अविकार होनेपर भी सर्व-साधारणको भी उचित विकासका अवकाश मिलना चाहिये । इसीलिये खेती, व्यापार उद्योग या सेवा-सर्विस आदि द्वारा सबके ही निर्वाहका उपाय होना चाहिये । भले ही उसे किसी व्यक्तिकी सेवा न कहकर राष्ट्रकी सेवा कहा जाय । पारिश्रमिकको मजदूरी, या वेतन न कहकर हिस्सा कहा जाय । आजकल नोकरी, मजदूरी, गुलामी आदि शब्दोंसे बड़ी घृणा है, पर चल रहा है नामान्तरसे वही । वैसे सिद्धान्त है 'समानमें अङ्गाङ्गीभाव, श्रेय-श्रेणी भाव नहीं होता ।' इसीको सेव्य-सेवकभाव, उपकार्योपकारक तथा मृत्य एवं स्वामीका भाव भी कहा जाता है । चेतन-चेतन समान है । उनमें श्रेय श्रेणीभाव न होना जो उचित मानते हैं, उनके यहाँ भी श्रेय-श्रेणीभाव अवश्य चलता है । राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, फोर्टडमार्गलकी रुचिके अनुसार चलनेवाले, उनकी आज्ञा माननेवाले, सभी उनके श्रेय या अङ्ग ही हैं, चाहे उनका नाम जो रखा जाय ।

वस्तुतः प्राणिमात्र अपनी सीमित सत्ताको अपरिमित, अनन्त सत्ता बनाना चाहता है । सीमित ज्ञान आनन्द एव परिमिन स्वतन्त्रता एव सीमित शासन 'हुकूमत' को निःसीम बनाना चाहता है । शब्दोंका भेद अवश्य रहता है छोटीसे हुकूमत स्वीकार कराना चाहता है । माता, पिता, गुरुओंसे अपना अनुरोध या प्रार्थना स्वीकार कराना चाहता है । फल दोनोंका एक ही है । उसकी रुचिके अनुसार छोटे-बड़े सभी काम करें । शब्दोंका ही हेरफेर है । पहले बिना पारिश्रमिक दिये काम करानेको बेगार कहा जाता था, आजकल बिना पारिश्रमिक दिये बड़े-बड़े लोगोंसे भी काम कराया जाता है, उसे बेगार न कहकर 'श्रमदान' कहा जाता है । प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दवाओंसे यह श्रमदान सबको कना पड रहा है । रामराज्यके अनुसार यद्यपि पूँजी, भूमि, खान आदि सबका नहीं है, जिन्हें पितृ-पितामहादि परम्परासे प्राप्त है, अथवा जिन्होंने जय, क्रय, पुरस्कार आदिके रूपमें पाया है, उनका है । उनसे होनेवाली आय मालिकको ही मिलनी चाहिये, साथ ही श्रमकी उचित कीमत उन्हें देनी पड़ती है । श्रमके मूल्य-निर्णयमें आवश्यकतानुसार आर्थिक असतुलन दूर करनेकी नीतिसे एव उचित रूपसे सबका ही जीवनस्तर उन्नत बनानेकी दृष्टिसे राज्योंका भी हस्तक्षेप हो सकता है । उधर मालिकोंके घरमें भी—

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च ।

पञ्चधा विभजन् वित्तं ह्यहामुग्र च मोदते ॥

(भाष्य ८. ६. १)

के अनुसार अतिरिक्त आयका पञ्चधा विभाजन कहकर समन्वयकी व्यवस्था की गयी है ।

रामराज्यका यह आदर्श था कि कोई किसीका शोषक, भक्षक या अनिष्ट-चिन्तक न बने । एक-दूसरेके पोषक, रक्षक, शुभचिन्तक बने । कारण सब वेदादिशास्त्रोंके अनुसार अपने धर्मपर ही चलते थे, कोई किसीसे वैर नहीं करता था । परस्परकी विषमता दूर हो चुकी थी । जाति, सम्प्रदाय, पाटी आदि बिना सबके साथ सुन्दर व्यवहार होता था । दैहिक, दैविक, भौतिक किसी प्रकारका ताप किसीको नहीं होने पाता था । निरपराध श्वानको भी मारनेवाला दण्डका भागी होता था, चाहे वह विद्वान्, बलवान्, धनवान्, ब्राह्मण हो या और कोई । यो तो योग्यता एव आवश्यकताके अनुसार काम, दाम और आराममें तारतम्य हो सकता था; किंतु काम, दाम और आरामकी कमी किसीको न होती थी । दरिद्र, हीन, दुखी या मूर्ख कोई न था—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहि कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥

रामराज्यके आदर्श चाहनेवालोंके द्वारा आज भी विविध वैषम्य और आर्थिक असंतुलन दूर करनेका प्रयत्न होना ही चाहिये । सदाका नियम है—जब किसी अङ्गमें रक्त, मांस, अस्थिकी कमी होती है तो आवश्यकतानुसार दूसरे अङ्गसे उसकी पूर्ति कर ली जाती है । इसीलिये सब अङ्ग-परस्पर पोषक माने जाते हैं, शोषक-नहीं । एकको कष्ट होनेसे सभी कष्ट मानते हैं । सब सहायताके लिये तत्पर रहते हैं । चरणमें कौटा लगता है तो नेत्र देखनेमें, हाथ कौटा निकालनेमें, मुख फूटकारद्वारा दर्द दूर करनेमें लग जाते हैं । इसीलिये किसी अङ्गमें दर्द या दोष आनेपर दर्द और दोष मिटानेका प्रयत्न किया जाता है, अङ्गछेदके लिये नहीं, किंतु लाखों खर्च करके भी एक अंगुलीके दर्द दूर करनेका यत्न किया जाता है । अङ्ग-भङ्ग करनेसे सर्व शरीरको बचाया जाता है । इसीलिये कहा जाता है, नासिकापर हुई फोड़ाफुसियोको दूर करना उचित है, नाक काटना उचित नहीं । सिर-दर्द दूर करनेके लिये सिर काटना उचित नहीं । सिर बना रहे दर्द दूर हो, यही चिकित्सा है । रोगी मिटाकर रोग मिटाना बुद्धिमानी नहीं । रोगीका रोग मिटाना उचित है । रोगीको

मिटाना चिकित्साका उद्देश्य नहीं है । जहाँ अनिवार्य होता है, एक अङ्ग छेद विना अङ्गीके विकृत होनेका भय रहता है, वही अङ्ग-छेद या आपरेशनकी अनुमति होती है । इसीलिये यहाँ यज्ञ, दान आदिकी पद्धति थी । इसके द्वारा आर्थिक असंतुलन दूर होता रहता था । एक सम्राट् भी सर्वस्वदक्षिण याग करनेके पश्चात् समान्य मृन्मय पात्रसे ही अपना काम चलाता था ।

साम्राज्ञीके भी अङ्गमें माङ्गल्य मूत्र-मात्र भूषण रह जाता था । यजोम सदा सेवा निरत श्रद्धासे सेवा लेकर, व्यापारनिरत वैश्यसे वस्तुएँ खरीदकर, धनत्रयपर रक्षाका भार देकर, ब्राह्मणको याजनका कार्यभार देकर सभीको द्रव्य समर्पण किया जाता था ! याचक अयाचक हो जाते थे । प्रायः सब देनेकी बात संचते थे, लेनेकी नहीं । देनेवाले हर टगसे देनेका रास्ता खोजते थे ! दूसरे लोग न लेनेका मार्ग खोजते रहते थे । गाढ़ी कमाईके स्वल्प धनसे भी गुजारा करना ठीक समझा जाता था । प्रतिग्रहको निन्द्य समझा जाता था । मुफ्तखोरी, हरामखोरीसे सभी भरसक बचनेका प्रयत्न करते थे । लट, खसोट, चोरीकी तो बात कोई सोचता ही न था । दूसरेकी सम्पत्ति, हीरा, रत्न, मणि, अन्नादि रास्तेमें पड़े हो या अपने घरमें ही कोई क्यों न डाल गया हो, आवश्यकता होनेपर भी विधिपूर्वक बिना पाये लेना अनुचित समझा जाता था—

परान्नं परद्रव्यं वा पयि वा यद्धि वा गृहे ।

अदत्तं नैव गृह्णीयादेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥

इधर भौतिकवादमें लेनेवाले हर प्रकारसे मरकर, मारकर भी लेना चाहते हैं । देनेवाले मर जाना मजूर करते हैं, पर देना नहीं चाहते । जिसके घरमें तीन वर्षके लिये कुटुम्ब-पोषणकी सामग्री होती थी, वह शेष धन सोमयज्ञमें अवश्य खर्च कर देता था । साधारण दीन प्राणी भी अतिथि-सत्कारके लिये सदा लालायित रहता था । रन्तिदेव आदि तो ४८ दिनके निर्जल व्रतके बाद भी स्वल्प प्राप्त सामग्रीद्वारा सर्वप्रथम अतिथि-पूजा आवश्यक मानकर प्रवृत्त हुए, ब्राह्मण, अन्त्यज, पुल्कसको सब कुछ देकर सत्कार किया । मरते-दमते ईश्वरसे यही चाहा कि 'मुझे स्वर्ग, अपवर्ग, राज्य आदि कुछ भी न चाहिये । केवल दुखी प्राणियोंका दुःख ही मुझे मिले । मेरे शुभकर्मसे प्राणियोंको सतोष हो ।' धर्मभावनाकी प्रधानताके कारण ही राजा शिविने कपोतकी रक्षाके लिये अपने शरीरका मांस और अन्तमें अपने आपको देकर कपोतकी रक्षा करनी चाही थी । राजा दिलीपने नन्दिनीकी रक्षाके लिये अपनेको भिहका ग्रास बनानेका निश्चय कर लिया । इस भावनामें शोषण, उत्पीड़न, विताड़नाकी कल्पना भी नहीं हो सकती ।

आर्थिक असंतुलन

आर्थिक असंतुलन मिटानेके लिये ही शास्त्रोंमें दानका महत्त्व कहा गया है । अपनी श्रद्धासे, दूसरोके उपदेशसे, लज्जासे, भयसे किसी तरह भी देना परम कल्याणकारी है । शास्त्रोंमें यह भी कहा गया है कि जो धनी होकर दानी नहीं और निर्धन होकर तपस्वी नहीं, ऐसे लोग गलेमें पत्थर बाँधकर समुद्रमें डुबा देने योग्य होते हैं—

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम् ।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥ -

(महाभा० उद्योग० ३३ । ६०)

रामराज्यकी अर्थनीतिमें उपार्जन और उपयोग दोनों ही धर्मनियन्त्रित होते हैं। पर्वत खनन जैसे अति क्लेशसे होनेवाले स्वल्प लाभको तथा धर्मातिक्रमण-जन्य लाभको एव शत्रुचरणचुम्बनसे होनेवाले लाभको हेय समझना ही उचित है—

अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा ।

अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥

(महा० उद्योग० ३९ । ७७)

दूमरोको बिना संताप पहुँचाये, सद्धर्मका अतिक्रमण बिना किये, खलोके द्वारोपर बिना घुटना टेके मिलनेवाले स्वल्प लाभको भी बहुत समझना चाहिये ।

अकृत्वा परसंतापमगत्वा खलमन्दिरम् ।

अनुल्लङ्घ्य सतां वर्त्म यत्स्वल्पमपि तद्बहु ॥

(शार्ङ्ग० पद्य० स० १)

ईमानदारीकी कमाईसे सुख-शान्ति एवं समृद्धि होती है। प्रसिद्ध है कि ईमानदारीका धन पानीमें नहीं डूबता, आगमें नहीं जलता और चोरके पेटमें नहीं हजम होता। उसीसे बरक़त भी होती है। वंश-वृद्धि भी उसीसे होती है। बेईमानीसे भले ही तत्काल बड़ा लाभ हो, पर वह टिकाऊ नहीं होता। उलटे सुख समृद्धि लेकर चला जाता है। वंशवृद्धिके अनुकूल भी नहीं होता। न्यायार्जित धनमें भी टैक्स आदिका खर्च निकालकर अतिरिक्त आयमें पञ्चधा विभाग करके ही यथोचित उपयोग करना ठीक होता है। प्रथम विभाग धर्मार्थ राष्ट्रके हितमें व्यय किया जाय, द्वितीय भाग यशके लिये राष्ट्रमें व्यय किया जाय, तृतीय भाग अर्थार्जन या मूल सम्पत्ति-रक्षणके काममें लाया जाय और चतुर्थ भाग अपने काममें लगाया जाय। पाँचवाँ भाग कुटुम्बी, नौकर, मजदूर आदि स्वजनोके काममें लगाया जाय। पाँच हिस्सामें एक हिस्सा अपने काममें लगानेकी अनुमति है, परतु उसमें भी नियन्त्रण है कि जितनेमें पेट भरे, तन ढके, उतने-हीमें ममत्व उचित है। अधिकमें ममत्व करना चौर्य है, उसे दण्ड मिलना चाहिये। इस तरह पाँच हिस्सेमें चार हिस्सा राष्ट्रहितके काममें आता ही है। एक हिस्सेमें भी यथावश्यक अपने उपयोगमें लगाना उचित है।

तथाकथित राष्ट्रीकरणमें राष्ट्रकी भूमि, सम्पत्ति, कल-कारखानो, उद्योग-धंधोका सरकारीकरण हो जाता है। व्यक्ति शासनयन्त्रका नगण्य कलपुर्जे बन जाता है। शासनयन्त्र किसी दल या दलके तानाशाहोके हाथका कठपुतला बन जाता है। ऐसी तथाकथित सरकारें बिना नवेलके ऊँट, बिना लगामके घोड़े, बिना ब्रेकके मोटर, अथवा बिना ब्राइवरके स्टार्ट की हुई मोटरके समान खतरनाक हो

जाती हैं। सब वस्तुओंका राष्ट्रीकरण शास्त्र और धर्मसे विरुद्ध तो है ही, लेकिन दृष्टिमें भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नष्ट हो जानेसे व्यक्तिगत विकास रुक जाता है। व्यक्तियोंका समुदाय ही कुटुम्ब, नगर, राष्ट्र तथा विश्व होता है। जैसे एक-एक वृक्षोंके कट जानेपर वन कट जाता है, एक-एक मैनिकोंके नष्ट हो जानेपर मेना नष्ट हो जाती है, वैसे ही एक-एक व्यक्तियोंके परतन्त्र, अशिक्षित, निर्वन, निर्बल हो जानेपर राष्ट्र एवं विश्व भी वैसे ही हो जाता है। एक-एक व्यक्तियोंके दृष्ट पुष्ट, बलवान् तथा बुद्धिमान् होनेपर राष्ट्र तथा विश्व भी दृष्ट-पुष्ट बलवान् तथा बुद्धिमान् हो जाता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति-शक्ति नष्ट हो जानेपर नामन निरङ्कुश हो जाता है, उसे हरा सकनेकी शक्ति जनताके पास नहीं रहती। नोटिस, पोस्टर, अखबार, सभा, आन्दोलन आदि सभी कामोंमें द्रव्यकी अपेक्षा होती है। सब चीज सरकारके हाथमें रहनेसे व्यक्ति एवं तत्समुदाय जनता कुछ न कर सकेगी। अतः जनतामें शक्ति भी रहना आवश्यक है।

वस्तुतः अतिसमता और अतिविपमता दोनों ही दोष प्रतीत होने हैं। हाथकी अङ्गुलियाँ भी यदि अति विपम हों तो भी, अति सम हों तो भी, ब्रेडगी लगेंगी। पैर, पैर, हाथ सम हों तो भी ठीक नहीं और यदि पैर बहुत मोटा, पैर, हाथ बहुत पतले हों तो भी रोग ही समझा जायगा। इस तरह आवश्यक है कि योग्यता-आवश्यकताके अनुसार सभीके काम, दाम, आरामकी व्यवस्था हो। भले ही चोंटीको कनभर, हाथीको मनभरके अनुसार योग्यता और आवश्यकताका ध्यान रखा जाय, परन्तु आरामकी कमी नहीं होनी चाहिये। केन्द्रीकरण या राष्ट्रीकरणकी अपेक्षा विकेन्द्रीकरण मदा ही सर्वश्रेष्ठ है। इसमें एक तो सम्पत्तिसम्बन्धी परम्परागत ईश्वरीय नियमका रक्षण होता है, 'सप्तविंशतागमा धर्म्याः'के अनुसार दाय, जय, क्रय, पुरस्कारादिमें प्राप्त सम्पत्ति वैध मानी जायगी, पितृ, पितामहकी सम्पत्तिमें पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रका जन्मना स्वत्व स्वीकृत होगा तथा जय, क्रयादिद्वारा भी व्यक्तिगत विकासका अवकाश रहेगा। अनिश्चित आयका पञ्चवा विभागद्वारा धार्मिक दृष्टिसे कर्तव्य-बुद्धिसे राष्ट्रके हितार्थ अवकाश आयका व्यय होगा। मूल सम्पत्तिका भी अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, नग्नता आदि असाधारण परिस्थितिमें, जैसे सरकारी खजानेकी सम्पत्तिका राष्ट्रहितार्थ विनियोग होता है, वैसे ही व्यक्तिगत मूल सूरक्षित धन भी काममें आ सकेगा। इस तरह धर्मनियन्त्रित नीतिमें आर्थिक असतुलन भी नहीं होता। व्यक्तिगत विकासका अवकाश बना रहता है। पितृ-पितामहादि-परम्पराप्राप्त दायविकास भी बना रहता है। दाम, आरामकी विशेषताके लिये ही काममें विशेषता सम्पादनकी प्रवृत्ति होती है। तभी विविध प्रतियोगिताएँ भी सार्थक होती हैं। लौकिक कहावत है कि 'हानिका डर एवं लाभका लोभ ही प्राणीको प्रगतिशील

बनाता है। भय और लोभके बिना आमतौरपर प्राणी निरुत्साह रहता है। सब वस्तुओंके राष्ट्रियकरणसे मनुष्य भी यन्त्रवत् काम करता है, ममत्व न होनेसे तत्परता और सावधानीसे काम नहीं होता। जिस नौकरशाहीकी पहले निन्दा की जाती थी, वही नौकरशाही सिरपर आ जाती है। यही कारण है कि नौकरोकी देख-रेख रखते हुए भी गोदामोंमें लाखों टन अन्न सड़ जाते हैं। उपार्जन करने-वालोंको जितनी ममता अपनी छोटी अन्नराशिमें होती है और जितनी तत्परतासे वह उसकी रक्षा करता है, सरकारी नौकरोमें न उतनी ममता ही होती है और न तो रक्षणका ही ध्यान रहता है। यही स्थिति बड़े-बड़े कामोंकी है। कागजी घोड़े दौड़ानेमें करोड़ों खर्च हो जाते हैं, काम कुछ नहीं हो पाता। दामोदर-घाटी, हीराकुण्ड आदिके कामोंमें वितना व्यय और कितनी असफलता हुई, यह स्पष्ट ही है पञ्जाबके बाँध और विद्युत्केन्द्र निर्माणमें भी यही हालत है।

अस्तु ! अभिप्राय यह है कि जब विकेन्द्रीकरणके पक्षमें अनेक अच्छाइयाँ हैं तो आस्तिकोंको उसे व्यवहारमें लानेका प्रयत्न करना चाहिये। सबसे पहले तो प्रत्येक नागरिक यह नियम बनाये कि उसके ग्राम, नगर, पड़ोसमें कोई व्यक्ति भूखा, नगा नहीं रहने पायेगा। बिना भूखेको खिलाये न खायेंगे। रोगीका इलाज-प्रबन्ध बिना किये विश्राम न करेंगे। विशेषतः शासक तो कुटुम्बपतिके तुल्य होता है। जैसे कुटुम्बके भोजन, वस्त्रका प्रबन्ध कर लेनेके बाद ही कुटुम्बपति भोजन, वस्त्र ग्रहण करता है, उसी तरह राष्ट्रके भोजन, वस्त्रादिका प्रबन्ध करा लेनेके बाद ही शासकोंको भोजन, वस्त्रादि ग्रहण करना चाहिये। इतना ही क्यों, भगवान् शिवके समान कुटुम्बपति अमृत कुटुम्बके अन्य सदस्योंको बाँट देता है और स्वयं विपको ही ग्रहण कर लेता है। कौस्तुभ, लक्ष्मी, ऐरावन, उच्चैःश्रवा, अमृत आदि अन्य सभी रत्न देवताओंके हिस्सेमें पड़े, विप शकरके हिस्सेमें। विपको भी शिवजीने पेटमें रखकर न तो पेटको ही विषैला बनाया और न मुखमें रखकर मुखको ही जहरीला बनाया, बल्कि उसे कण्ठमें ही रख लिया। ठीक ऐसे ही कुटुम्ब या राष्ट्रके मालिक पुरुखाको कठिनाइयोंको विषके घूँटके तुल्य स्वयं सहना पड़ता है। वह उसकी कटुतासे न पेटको, न मुखको ही कड़ा बनने देता है। पेटका विषैलापन या मुखका विषैलापन दोनों ही सघटनको छिन्न-भिन्न कर देते हैं। परन्तु जब कोई अच्छी वस्तु, अच्छे वस्त्र, भूषण, भोजनादि मिलें तो घरका कोई मालिक अपने बच्चोंकी और अपनी परवा न कर कुटुम्बके अन्य सदस्योंको ही बाँट देता है। तभी उसके नियन्त्रणमें कुटुम्बका संचालन ठीक चलता है।

उत्पादन और नियम

उत्पत्तिके पुराने साधनों एवं पद्धतियोंमें रहोवदल होनेसे उत्पादनमें

विस्तार अवश्य हो जाता है, उत्पन्न वस्तुओंमें सस्तापन भी आता है तथा आमदनीमें भी वृद्धि हो जाती है। पर माल खपतके लिये बाजारोंकी आवश्यकता, माल भेजने तथा कारखानोंके लिये कोयले, पेट्रोलके खानोंकी आवश्यकता, बाजारों एवं कोयले-पेट्रोल आदिके लिये सर्व एव बेकारीकी समस्या अवश्य खड़ी होती है। इसीलिये रामराज्यमें उद्योगोंका विकेन्द्रीकरण अभीष्ट है। छोटे व्यवसायों-द्वारा स्वावलम्बी ढंगसे बेकारी दूर कर व्यापक रूपसे रोजगारोंकी व्यवस्था की जाती है। कम्यूनियिस्ट यद्यपि बड़ी-बड़ी पुस्तकोंमें कलकारखानोंके द्वारा गरीबोंके रोजगार छिन जानेकी चीख—पुकार मचाते हैं, परन्तु उन्हीं कलकारखानोंका ही वे समर्थन भी करते हैं। इतना ही क्यों, वे कलकारखानोंके विस्तारसे ही मजदूरोंका लाखोंकी संख्यामें एकत्रित एवं सघटित हो सकना तथा मजदूर-आन्दोलनोंके द्वारा कम्यूनियिस्ट राज्य-स्थापनाका भी स्वप्न देखते हैं। अस्तु, ईश्वर एवं वर्मकी भावना दृढ होनेसे वैभव एवं सम्पत्तिवाले सम्पत्तिका सदुपयोग राष्ट्रके पोषणमें तथा जीवन-स्तर उन्नत करनेमें करेंगे। बेकारी दूर करनेके काममें सम्पत्ति उपयुक्त होगी। इसीलिये प्राचीनकालमें आजकी अपेक्षा कहीं अधिक सम्पत्ति, शक्तिशाल, विद्या, दक्षताके रहनेपर भी असंतुलित विषमता, बेकारी, कलह आदि नहीं था। ईश्वर-धर्मकी भावना घटनेसे ही मात्स्यन्याय परस्पर भय-भयभाव, शोषक-शोषित भाव बढ़ता है। पर उसे ही मार्क्सवादी गुण मानते हैं। वर्ग-कलह, वर्ग-विद्वेष, वर्ग-विध्वंस ही जिसके सिद्धान्त एवं सत्ताका आधार हो, वही जिसके जीवन एवं उन्नतिका एकमात्र साधन हो, उससे विश्वशान्ति एवं विश्वमें समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताकी आशा करना व्यर्थ है। अस्तु।

उत्पादन-विस्तारसे कुछ भौतिक परिवर्तन होनेपर भी धर्मदर्शन एवं राजनीतिक नियमोंमें स्वत्वोंके रद्दोद्दलका कोई प्रसङ्ग नहीं होता। अमेरिका आदिकोंमें विना मौलिक रद्दोद्दलके भी काम चलता ही है। आर्थिक दशा, सामाजिक, धार्मिक नियमोंकी नाँव ही नहीं, जिससे आर्थिक-दशामें परिवर्तन होने-से धार्मिक नियमरूप भवन ढह पड़ें और उनमें रद्दोद्दल आवश्यक हो।

जो कहते हैं कि 'जिन लोगोंने उत्पादन साधनोंमें रद्दोद्दल कर लिया उन्हें उत्पन्न हुई वस्तुओंके वितरणसम्बन्धी नियमोंमें भी रद्दोद्दल कर लेनेका अधिकार मानना न्यायमङ्गल है। अतः पुत्र-पौत्रादिका पिता-पितामहादिकी सम्पत्तिमें दायरूपसे वपोती सम्पत्तिके रूपमें अधिकार माननेके नियम भी रद्दोद्दल करके तथा सभी स्वत्व-सम्बन्धी पुराने नियमोंमें भी रद्दोद्दल करके समाजीकरण या राष्ट्रियकरणका सिद्धान्त मानना ठीक ही है। पर यह पक्ष विचारणीय है कि उत्पादन साधनोंमें रद्दोद्दल करनेका मुख्य श्रेय किसे है। क्या साधारण मजदूर-समुदायको ? कहना पड़ेगा कि बड़े-बड़े वैज्ञानिकों, अन्वेषकोंकी ही इसका श्रेय होना

चाहिये । दूसरा श्रेय वैज्ञानिकोंको सहायता, प्रोत्साहन एवं सामग्री देनेवाले धनवानोंको होना चाहिये । जबतक वे पुराने स्वत्वके नियमोमे रहोबदल नहीं चाहते, केवल मजदूरोकी इच्छामात्रसे रहोबदल कैसे हो सकता है ? बड़े-बड़े वैज्ञानिक, आविष्कारक, अन्वेषक एवं धनवान् आदि तो कम्युनिष्टोंके मतानुसार शोषित वर्गमें नहीं आ सकते, वे तो शोपक वर्गमें ही चले जायेंगे । फिर वे पुरानी व्यवस्थामें रहोबदल क्यों चाहेंगे ? केवल आविष्कारकोंके आविष्कारो, यन्त्रो एवं मजदूरोके प्रयत्नसे ही नहीं उत्पादन होता, किंतु उसमें पूँजी भी अपेक्षित होती है । यदि पूँजी न हो तो यन्त्र ही कहाँसे खरीदे जायें ? मजदूरोके लिये मजदूरी कहाँसे आये ? वैज्ञानिकों, अन्वेषकोंको सुविधा भी कहाँसे मिले ? अतः उत्पादन-साधनमे रहोबदलका मुख्य श्रेय पूँजीपतिको ही क्यों न दिया जाय ? इसके अतिरिक्त कोयला, पेट्रोल, लोहा, ताँबा, गन्धक आदिकी खाने तथा अन्य कच्चे माल न हों तो वैज्ञानिक, पूँजीपति, मजदूर कोई भी उसका उत्पादन नहीं कर सकेगा, न यन्त्र बना सकते हैं, न उत्पादन-साधनोमे ही रहोबदल कर सकते हैं । वस्तुतः ईश्वर ही वह वस्तु है जिसके अखण्ड भण्डार प्रकृतिमें ही विभिन्न खाने हैं । जिसकी पृथ्वीसे ही लोहा, सोना, हीरा, गन्धक, पारा, कपास, अन्न, फल आदि कच्चे माल पैदा होते हैं । इनके बिना पूँजीपति, वैज्ञानिक, मजदूर सब बेकार हैं ।

इतना ही क्यों, वैज्ञानिकोंके बल, दिमाग, बुद्धि भी (जिसके द्वारा वे भिन्न-भिन्न आविष्कार करते हैं) किसी लौकिक अन्वेषकका आविष्कार नहीं है; किंतु ईश्वरका ही आविष्कार है । मजदूरोके देह-मन-बुद्धिमें कार्यक्षमता भी ईश्वरदत्त ही है । अतः ईश्वरीय शक्तियो एवं वस्तुओके सहारे कुछ अन्वेषण या उत्पादन बढ़ाने मात्रके कारण कुछ व्यक्तियो या व्यक्तिमूहोको ईश्वरीय धार्मिक सामाजिक नियमोमें रहोबदल करनेका अधिकार हर्गिज नहीं है । रहा यह कि 'बहुमतके आधारपर उनका रहोबदल किया जाय ।' तो यह भी ठीक नहीं । कारण, मार्क्सवादी बहुमतका कोई महत्त्व नहीं मानते । जिसमें शोपक पूँजी-पतिके मतका भी उपयोग किया जा सके, ऐसा बहुमत कम्युनिष्टको सर्वथा अमान्य है । शोपको एवं शोपितोंके वोटोंका समानरूपसे महत्त्व देनेका कम्युनिष्ट मखौल उड़ाते हैं । दूसरोके यहाँ भी बहुमत उसी हदतक आदरणीय हो सकता है, जहाँतक बहुमत विशेषज्ञोंके मतसे न टकराये । जैसे रोगीकी चिकित्साके सम्बन्धमें चिकित्साविशेषज्ञ वैद्य-डाक्टरके मुकाबिले सामान्य जनोके बहुमतका कोई मूल्य नहीं है । घड़ी आदि यन्त्रोंके सुधार या निर्माण आदिके सम्बन्धमे यन्त्रविशेषज्ञ एवं शिल्पीके मुकाबिले सामान्य जन-बहुमतकी कोई कीमत नहीं है । एक नेत्रवान्के कथनानुसार जङ्घकी शुक्लताका निर्णय होगा । दम या दस लाख अथवा दस करोड़ अन्धोंकी सम्मतिसे शङ्खकी कृष्णता अमान्य होती है । ठीक

इसी तरह अपौरुषेय गान्धर्व आर्ष-विज्ञानके आधारपर धर्मका स्वरूप निर्णय किया जाता है, उनमें रद्वोवदलकी बात मोची नहीं जा सकती है। सामान्यजनोंके बहुमतके आधारपर वैज्ञानिकों या मजदूरोंकी सम्मतिसे धर्ममें रद्वोवदल करनेकी बात वैसी ही मूर्खताकी होगी, जेमे गैवागेकी सम्मतिसे हवाई जहाजका पुर्जा सुधारना और बकीलोंमे हृदयका आपरेजन कराना। वैद्यों-डाक्टरोंमे वायुयानके कल-पुर्जे सुधारना शुद्ध मूर्खता है। जो वस्तु उपयोगार्ह नहीं रह जाती वह अवश्य छूट जाती है, परन्तु चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, जल आदिके समान गान्धर्व धर्म नियम कभी अनुपयोगी नहीं होते। ईश्वर, उसकी उपासना एवं तदुपयोगी धर्म और नीति भी कभी अनुपयोगी नहीं होते। प्राचीनता-नवीनताका सवर्ष, प्राचीनताका विनाश एवं तदनुकूल तर्क, दर्शन, विवेक, वस्तुतः अविवेक ही है। पुराण पुरुष, आत्मा, परमात्मा, आकाश, वायु, चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी आदिके समान, धार्मिक दार्शनिक राजनीतिक सत्य मिथ्यान्त, न्याय, उपासना आदि प्राचीन होनेपर भी त्याज्य नहीं हैं। कालरा, प्लेग आदिके तुल्य वर्ग-कलह, वर्ग-द्वेष, अधर्मका प्रचार आदि नवीन होनेपर भी त्याज्य ही हैं। कभी चकमक पत्थर, कभी अरणीमन्थन, कभी दियासलाई तथा आधुनिक अन्य वैज्ञानिक माधनमे अग्नि प्रकट किया जाता है, परन्तु एतावता अग्निके दाहकत्व, प्रकाशकत्व आदि धर्मोंमें परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। इसीलिये बुद्धिमानोंने कहा है—

पुगणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्।

मन्तः परीक्ष्यान्यतरदृ भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

(मालविकाग्निमित्रम् १ । २)

अर्थात्—सब वस्तु पुरानी होनेसे ही अच्छी नहीं एवं नयी होनेसे ही खराब नहीं। मत्पुरुष परीक्षा करके पुगनी या नयी वस्तुओंमें जो भी उचित या श्रेष्ठ हो उसे ग्रहण करते हैं। मूढ लोग ही परप्रत्ययनेय बुद्धि होते हैं। यही न्याय आज नवीनतावादियोंपर भी लागू है। वे भी नवीन होनेसे ही किसीको ठीक समझते हैं तथा प्राचीन होनेसे ही धर्म, दर्शन, नीति, सबका परित्याग करनेके लिये प्रस्तुत होते हैं। उन्हें भी निष्पक्ष दृष्टिसे प्राचीन, नवीनकी परीक्षा करनी चाहिये। उचित होनेसे प्राचीन या नवीन किसी भी पक्षका ग्रहण किया जा सकता है। उपर्युक्त युक्तियोंमे दिखलाया जा चुका कि ईश्वरीय गान्धर्व, धार्मिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक नियमोंमें परिवर्तन नहीं हो सकता।

वर्ण-विद्वेष

कहा जाता है कि “जिन प्राचीन हथी-भिल्ल आदि जंगली जानियोंमें प्राचीन कालके अनुसार जीवन व्यतीत होता है, उनमें व्यक्तिगत सम्पत्तिका अभाव है अथवा उन्नति नहीं हुई। उनमें न वर्ग-भेद है, न किसी वर्ग विशेषका

अधिकार है—न वर्ग-विरोध है । गोंवके मुखिया, पण्डित, पञ्च, प्रचलित रीतियों, धार्मिक अनुष्ठानोंका पालन कराते हैं, परंतु व्यापारकी वृद्धि और युद्धोंके फल-स्वरूप जब प्राचीन व्यवस्थाका लोप हो जाता है, व्यक्तिगत सम्पत्ति बढ़ने लगती है, तभी उन लोगोमें वर्गभेद उत्पन्न होता है । कुछके पास सम्पत्ति होती है, कुछके पास नहीं होती । सम्पत्तिवाला वर्ग शासन चलाता है, कानून बनाता है, नवीन प्रथाओं और सस्याओंकी सृष्टि करता है । इन सब कामोंका उद्देश्य होता है, उस अधिकारी वर्गके हितों और स्वार्थोंकी रक्षा करना । उस वर्गके समाजकी विचारधारा उसके ही हितों एवं स्वार्थोंके अनुकूल बहने लगती है । जबतक ये स्वार्थ कुछ अंशमें सर्वसाधारणकी भलाईके अनुकूल होते हैं, जबतक उत्पादक शक्तियों एवं उत्पादन प्रणालीमें बहुत अधिक विरोध पैदा नहीं हो जाता, तबतक विभिन्न वर्गों एवं समूहोंमें समझौता या सुलह बनी रहती है । जब उत्पादक शक्तियों एवं उत्पादन-प्रणालीमें भेद या विरोध बढ़ जाता है, उस प्रणालीसे अधीन वर्गकी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकतीं, तब वर्गकलह आरम्भ हो जाता है । फिर या तो उस समय कानूनी समझौता, शासनसुधार होता है अथवा उस समाजका विनाश होता है और नवीन सामाजिक प्रणालीका आविर्भाव होता है । यहूदी, यूनानी, रोमन आदि लोगोका इतिहास ही इसका उदाहरण है । इस तरह अमीरों, गरीबों, कुलीनों, अकुलीनों, छोटों, बड़ों, गुलामों, नागरिकोंका संघर्ष जारी रहता है । अन्तमें इन समाजोंका उच्छेद होता है । साथ ही इन वर्ग-कलहोंसे ज्ञान भण्डारकी वृद्धि होती है । मालिकों, गुलामों, जमीनदारों, किसानोंके समान ही पूँजीपतियों, श्रमजीवियोंका भी वर्गकलह अनिवार्य होता है और इससे क्रान्तिका जन्म तथा नवीन सिद्धान्तोंका प्रचार होता है । इस ऐतिहासिक विरोध और कलहके अनुसार ही बौद्धिक और राजनीतिक विरोधकी उत्पत्ति होती है । यह बौद्ध विरोध जननेताओं या पैगम्बरोंद्वारा विभिन्न मत-मतान्तरोंके रूपमें प्रकट होता है । उदाहरणार्थ, वैदिक, बौद्ध, ईश्वरवादी या अनीश्वरवादी, कैथलिक, प्रोटेस्टेण्ट, भौतिकवादी, अध्यात्मवादीका नाम लिया जा सकता है । ये सभी मत-मतान्तर चाहे जितने भी सूक्ष्म और आध्यात्मिक प्रतीत होते हों, सासारिक जीवन और भौतिक प्रपञ्चसे कितने भी पृथक् क्यों न प्रतीत होते हों, परंतु उनके मूलका पता लगानेसे विदित होगा कि उनका भी आधार भौतिक ही है । समाजके आर्थिक आधार और उत्पत्तिकी प्रणालीमें विरोध उत्पन्न हो जाने और इसी कारण भिन्न-भिन्न वर्गों—दलोंमें कलह आरम्भ होनेसे ही सभी मत-मतान्तरोंकी उत्पत्ति हुई है ।

“इसी तरह समस्त नैतिक, राजनीतिक, अर्थशास्त्र-सम्बन्धी प्रणालियों (जो कि प्रधानता पानेके लिये परस्पर प्रतियोगिता कर रही हैं) और समस्त प्रादेशिक या व्यापक युद्धोंके तात्कालिक कारण चाहे कुछ भी हों, पर मूलकारण सामाजिक

आर्थिक दशा ही है। इसी तरह आदर्शवाद, उपयोगितावाद, एकतन्त्र, प्रजातन्त्र, रक्षित व्यापार, मुक्त व्यापार, राज्यनियन्त्रित अर्थव्यवस्था, स्वतन्त्र आर्थिक व्यवस्था, समाजवाद, व्यक्तिवाद आदि जितने भी सिद्धान्त घोषित किये जाते हैं, उनके समर्थनमें चाहे जितने भी उच्च भावनायुक्त तर्क उपस्थित किये जायें और उच्च उद्देश्य बतलाये जायें, पर उन सबकी उत्पत्ति समाजके भौतिक आधार और उत्पादन-प्रणालीद्वारा ही होती है।”

कम्युनिष्ट मैनिफेस्टोमें ऐतिहासिक भौतिकवादका साराग्न इस प्रकार कहा गया है—“इसे समझनेके लिये किसी गम्भीर अन्तर्ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है कि मनुष्यकी भौतिक अवस्था और सामाजिक जीवनकी दशामें परिवर्तन होनेसे ही उसके मानसिक भावों, विचारों और धारणाओंमें भी परिवर्तन होता है। ससारके विचारोंका इतिहास यही बताता है। भौतिक उत्पत्ति, पैदावारमें परिवर्तन होनेसे बौद्धिक उत्पत्तिमें भी परिवर्तन होता है। जब जिस वर्गका शासन होता है तब उसके ही विचारोंकी प्रधानता होती है। जीवन-निर्वाहकी प्राचीन प्रणालीका नाश होते ही, प्राचीन विचारोंका ही लोप हो जाता है। यूरोपमें ईसाई धर्म तथा भारतमें बौद्धधर्मका आविर्भाव एव पुराने धर्मका लोप भी आर्थिक दशाके बदलनेसे ही हुआ था। उत्पत्तिकी प्रणाली, सामाजिक वर्गविभाग और सम्पत्ति-सम्बन्धी नियम जब उत्पादक शक्तियोंके लिये बन्धनरूप बन जाते हैं और विभिन्न वर्गोंका स्वार्थ, विरोध वर्गकलहका रूप धारण कर लेता है, तब सामाजिक क्रान्तिका युग आता है। इससे प्राचीन समाज नष्ट होकर विस्मृतिके गर्भमें चला जाता है। परन्तु वह नष्ट होनेसे पहले जीवनके नवीन मार्गका निर्माण कर देता है, जो उत्पादक-शक्तियोंके अनुरूप होता है। इस नवीन समाजकी वृद्धि चाहनेवाले लोग क्रान्तिकारी भावनाओंसे उत्पन्न होनेवाली समस्याओंको हल करनेमें संलग्न हो जाते हैं। इस तरह उत्पादक शक्तियोंकी उन्नति और पूर्णता ही मनुष्यजातिके विकासका सार है।

“आदिकालीन, मध्यकालीन, वर्तमानकालीन उत्पादन-प्रणालियोंको मनुष्य-समाजकी प्रगतिके विभिन्न युग कहते हैं। वर्तमान पूँजीवादी समाजकी उत्पादन-प्रणाली इस विरोधयुक्त शृङ्खलाकी अन्तिम कड़ी है। यह विरोध व्यक्तित्वगत नहीं, किन्तु समाजकी परिस्थितिद्वारा उत्पन्न होता है। साथ ही पूँजीवादके भीतर जो उत्पादक शक्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, वे इस विरोधको मिटानेका मार्ग भी प्रशस्त कर रही हैं। इस प्रकार पूँजीवादी समाज मनुष्य-जातिके प्रागैतिहासिक युगका अन्तिम अध्याय है।”

उपर्युक्त बातोंका खण्डन पूर्वोक्त युक्तियोंसे ही हो जाता है। कम्युनिष्ट वर्ग-कलह, वर्गविद्वेष या वर्गसंघर्षको ही वर्गविकास एव ज्ञान भण्डार वृद्धिका कारण कहते हैं। साथ ही वर्गभेदको ही विकास या उन्नतिके लिङ्ग मानते हैं। अतएव

हवशी या भिल्ल आदि जंगली अविकसित जातियोंमें वर्गभेदका अभाव बतलाते हैं। परंतु यह सुविचारित सिद्धान्त है कि सुमति, दक्षता, सदाचार, सद्धर्म, नियन्त्रण, सहिष्णुतासे वैमन्य मतभेद मिटता है और संघटन, समन्वय, सामञ्जस्य एवं सौमनस्य होता है। इसका महत्त्व ऋग्वेद तथा अथर्ववेदमें भी सौमनस्य सूत्रोंके द्वारा कहा है—

‘संगच्छध्वं संवदध्वं स वो मनांसि जायताम्’

आदि मन्त्रोंके द्वारा सगमन, संवदन तथा सौमनस्य-संघटन आदिको अभ्युदयका कारण कहा गया है। ‘मा विद्विषावहै’ आदि मन्त्रोंद्वारा ईश्वरसे भी परस्पर द्वेष मिटानेकी प्रार्थना की गयी है। जहाँ दुर्बुद्धि, दुर्भावना, असहिष्णुता, उच्छृङ्खलता बढ़ती है, वहीं विद्वेष, वैमनस्य, विवाद तथा विनाश आदि होता है। यदि कलह, संघर्ष, विद्वेष, विनाश आदि ही सभ्यता या प्रगतिशीलता है और संघर्ष, विनाश, वर्गविद्वेष आदि न होना पिछड़ना या असभ्यता है तो कोई भी बुद्धिमान् कहेगा कि ऐसी सभ्यतासे असभ्यता ही ठीक है, ऐसी प्रगतिसे अप्रगति ही ठीक है। तभी तो आजके वर्वरतापूर्ण नरसंहार, अशिष्टता, असभ्यता, दुर्दान्तताका नग्न अकाण्ड ताण्डव एवं मानवताको त्रस्त करनेवाली, पशुताको मात करनेवाली स्वेच्छाचारिता, विलासिताकी प्रगति एवं सभ्यता माना जा रहा है। वस्तुतः यह विपरीत बुद्धि है। वैभव, सम्पत्ति, उन्नति, प्रगति, विघटन, वैमनस्य कभी भी वर्गविनाशका कारण नहीं होता। गरीबी भी विघटनकी कारण नहीं होती। प्रमाद, मूर्खता, विलासिता, स्वेच्छाचारिता, स्वार्थपरायणता ही विघटन, वैमनस्यका कारण होती है। इन दोषोंसे युक्त होनेसे गरीबो-अमीरो सबमें विघटन होता है।

चाहे अमीर हो या गरीब, जंगली हो या नागरिक, प्रगतिशील हों या अप्रगतिशील, मनुष्य हो या देवता अथवा पशु ही क्यों न हों, जहाँ दुर्बुद्धि, अविवेक और स्वार्थपरायणता बढ़ती है, वहीं विद्वेष, वैमनस्य, विघटन और विनाश बढ़ता है। जहाँ सद्बुद्धि, सदाचार, नियन्त्रण, सहिष्णुता है, वहाँ प्रेम संघटन उन्नति ही होती है। इसीलिये जंगली पशुओं, मनुष्यों, देवताओंमें भी इन गुणोंके आधारपर संघटन रहता है। गुणोंके अभाव एवं दोषोंके बढ़ जानेपर विघटन आदि बढ़ता है। मधुमक्खियोंका संघटन प्रसिद्ध है। कपोतों एवं अन्यान्य पशु-पक्षियोंमें भी संघटन होता है। कहते हैं, कुछ कपोत जालमें फँस गये, एकमत होकर एककी रायसे वे सब जाल लेकर उड़ गये एवं अपने मित्र हिरण्यक-मूषककी सहायतासे मुक्त हो गये। जंगली गायें एकत्र होकर सिंहका भी मुकाबला करती हैं। वे निर्बल, बाल-वृद्ध पशुओंको मध्यमें रखकर प्रबल सॉड़ोंको आगे करके सिंह-व्याघ्रका मुकाबला करती हैं और अपने आपको बचा लेती हैं। कम्युनिष्टोंको भी मजदूर-संघटनसे अथवा दृढ़ प्रयत्नसे ही सफलता मिल सकती है। संघटनमें केवल एक

स्वार्थ ही नहीं, किंतु सद्दिणु मनकी एकता ही मूल कागण है। एक उद्देश्यकी मित्रिके लिये एक सूत्रमें सम्बन्धित व्यक्तियोंका ग्रन्थित होना ही सघटन है। महान् प्रयोजन होनेपर भी असद्दिणु, स्वेच्छाचारी सघटित नहीं हो सकते। कयञ्चिन् किसी स्वार्थके लिये कुछ क्षणके लिये सघटित हो भी जाते हैं तो भी पद प्राप्त हो जानेपर स्वार्थके टकराते ही संघटन छिन्न-भिन्न हो जाता है। यही बात जडवादियोंके सघटनोंमें देखी जाती है। अधिकार-प्राप्तिके लिये 'मफाया, या 'कण्टक-शोधन' के नामपर अधिकारारूढ लोग अपने पुराने साथियोंको ही मौतके घाट उतारने लगते हैं। अमृत-प्राप्तिके लिये देवताओं एवं दानवोंमें भी संघटन हुआ था, पर स्वार्थमें आघात आते ही भीषण देवामुर-सग्राम हुआ। जालमें फँसे हुए लोमश विल्लेने, दो शत्रुओंसे घिरे हुए पलित मूपकका सन्धि प्रस्ताव भी स्वीकार किया था। विडालसे मित्रता करके मूपक अपने शत्रु सर्प एवं श्येनसे मुक्त हुआ। आत्मरक्षाका ध्यान रखते हुए शिकारीके समीप आनेपर शीघ्रतासे जाल काटकर बिलावको भी बचा दिया। परन्तु कार्य पूर्ण होते ही फिर दोनों पृथक् हो गये। फिर तो बिलावके बुलानेपर भी मूपक उसके पास नहीं गया। परन्तु यदि किसी अहिंसकके प्रभावसे मूपक-मार्जारके स्वाभाविक वैर भी छूट जाते हैं तो वह मदाके लिये ही वैर छोड़ देते हैं। वे एक दूसरेके भक्षक या गोपक न रहकर रक्षक या पोषकही रहते हैं। यह चन्द्रमा मुनिके आश्रम एवं रामराज्यके उदाहरण-से स्पष्ट किया जा चुका है।

वैभव, सम्पत्ति, अधिकार या राज्य-प्राप्त होनेपर प्रमादको अधिक अवसर होता है। तपस्यासे राज्य एवं राज्यसे मद उत्पन्न होता है। दुखी, दरिद्र, उत्पीडित प्राणीको न्याय, धर्म, ईश्वर प्रिय लगते हैं। वह चाहता है कि 'सबके साथ न्याय हो, सभी धर्मात्मा हों।' परन्तु जब इस शुभ भावना एवं तपस्यासे उसे राज्य प्राप्त होता है, तब वह न्याय, धर्म, ईश्वरादिको भूल जाता है। फिर वही घमण्ड, प्रमाद, शोषणकी प्रवृत्ति चलती है। अन्तमें उसके सामने पतन एवं नरकादि ही आते हैं। इसी ऐश्वर्य-मदके उन्मादसे हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, वृत्र, रावण-वसादिका तथा इन्द्र, दक्ष, नहुष आदिका पतन हुआ था। इन्द्रके प्रमादसे त्रेलोक्यलक्ष्मी नष्ट हो गयी थी। पुनः महती तपस्या एवं प्रयत्नसे उसका प्रादुर्भाव हुआ था। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि सबका ही पतन होता है, जो राज्य, ऐश्वर्य या सम्पत्ति करके भी सावधान रहते हैं, शास्त्र एवं धर्मके नियन्त्रणमें बने रहते हैं, समाज, राष्ट्र एवं विश्वके हितार्थ आत्मोत्सर्गके लिये तत्पर रहते हैं, उनका पतन न होकर उत्थान ही होता है।

धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ।

मनु, इक्ष्वाकु, दुष्यन्त, भरत, हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र, शिवि, रन्तिदेव आदि ऐश्वर्यपूर्ण होनेपर भी प्रमत्त न होकर निरन्तर धर्मनिष्ठ ईश्वरपरायण रहकर विश्वहितमें लीन रहे, अतः उनकी उत्तरोत्तर उन्नति हुई है । यह बात—

विद्या विवादाय धनं सदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।

खलस्य साधोः विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥

(गुणरत्नम् ७)

—से स्पष्ट कर दी गयी है ।

विद्या, बुद्धि, शिक्षा आदिके सम्बन्धमें अपनेसे अधिक वृद्ध, बुद्धिमान् एवं विद्वान्से लोग तत्तद् वस्तुओंको प्राप्त करते हैं । यहाँ गुरु-शिष्यभाव रहता है—द्वेष नहीं । पूर्वजोंमें पूज्य-बुद्धि होती है, विरोध-बुद्धि नहीं । इसी तरह जिन प्राचीन नियमोंसे प्राणीकी उन्नति होती है, उनके प्रति भी विरोध-बुद्धि नहीं होती ।

पूर्व-पूर्व अवस्थासे उत्तरोत्तर उन्नति होती है तो पूर्व-पूर्व अवस्थासे उत्तरोत्तर अवस्थाके संघर्षका अवकाश नहीं रहता । पूर्व-पूर्वकी पुज्जी एवं साधनोंके सहयोगसे उत्तरोत्तर पुजी एवं साधनोंकी वृद्धि अवश्य होती है । कोई व्यापारी सहस्रसे लक्ष, लक्षसे कोटि कमाता है अतः परस्पर साध्य-साधन भाव या उपकारी-उपकारक भाव होना ही अधिक न्यायसङ्गत है । इसीलिये पूर्वकालमें ईश्वर, धर्म, धार्मिक राजा, धनवान्, पूँजीपति एवं सुखी किसान, सेवक, शूरवीर सभी साथ रह सकते थे । बैलगाड़ी, पुष्पकयान, पादचारी भी साथ रह सकते थे । लाठीसे लेकर ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्रतक शस्त्रास्त्र थे । हाथके करघेसे लेकर महायन्त्र-तक थे । विश्वकर्मा, मयके आविष्कारके साथ हाथसे पर्णशाला बनाकर रहनेवाले भी थे । सब एक दूसरेके पोषक थे शोषक नहीं । सारांश यह है कि शास्त्र, धर्म एवं ईश्वरभावके नियन्त्रणके अभावमें ही वर्ग-संघर्ष, वर्ग विद्वेष, वर्ग-विध्वंस एवं क्रान्ति आदिकी बात चलती है । जो दोष है, गुण नहीं हो सकता । इतिहासमें भली, बुरी सभी बातें होती हैं । सब न तो सिद्धान्त ही होती हैं, न ग्राह्य ही । भारतीय सभ्यतामें जो 'मात्स्य न्याय' कहा गया है, वही कम्युनिष्टोंका परम पुरुषार्थ एवं अभीष्ट वर्ग-संघर्ष है । यह पहले बतलाया जा चुका है कि कृतयुगमें जब कि सत्त्वगुणका पूर्णरूपसे विकास था, सभी धार्मिक, सात्त्विक थे । साथ ही विद्या, बल, शक्ति, वैभवका भी अभाव न था । ईश्वर, ब्रह्मा आदिमें सत्त्वकी प्रधानतासे ही विद्या, वैभव, विविध ऐश्वर्य होते हैं । इन्द्रादि देवताओंका ही नहीं, पर हिरण्यकशिपु, मय आदि दानवोंका ऐश्वर्य भी जो वेदों-पुराणोंमें वर्णित है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि उसके मुकाबले आजका वैभव कुछ नहीं है । पूर्ण उत्कर्ष कालमें भी सत्त्व एवं धर्मकी जब प्रधानता हुई, तब धर्मनियन्त्रित

जनता किसी राजा, राज्य, दण्डविधानके बिना भी आपसमें ही सब काम चला लेती थी—

न राज्यं न च राजासीन्न दण्डो न च दण्डिकः ।

धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥

(महा० शा० प० ५९)

यह भी एक महान् आश्चर्य है कि जो सर्वत्र समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताक आदर्श रखते हैं, वे ही वर्ग-विद्वेषका मार्ग भी प्रगस्त करते हैं। यह वेभी ही विरुद्ध बात है—जैसे कोई जाना चाहता है पूर्व, पर चल रहा है पश्चिमकी ओर। जहाँ समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताके लिये विद्वेष, वैमनस्य मिटाकर सदाचार, परस्पर पोषण, उपकार, सहिष्णुता एवं सहानुभूतिका भाव बढ़ाना अपेक्षित है, वहाँ मार्क्सवादी संवर्प, विद्वेष बढ़ानेका मार्ग ग्रहण करते हैं। मार्क्सवादी समझते हैं कि शोषक-शोषितोंका विरोध मूलक-मार्जारके बरके समान अमिट है; इनमें विरोध मिटाकर समानता, भ्रातृता आदि स्थापित नहीं हो सकती, अतः विद्वेष उत्तेजित कर वर्ग-विध्वंसके द्वारा ही समानता सम्भव है। शोषितोंका राज्य होने एवं शोषकोंकी समाप्ति होनेसे ही वर्गहीन समाजमें समानता ठीक सम्पन्न होगी। परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रान्तिमूलक है। कारण, पहले तो वर्गभेद ही कोई वास्तविक स्थिर भेद नहीं; क्योंकि शोषकों एवं शोषितोंकी कोई निश्चित जाति नहीं है। जो किसीकी अपेक्षा शोषित है, वही किसीका शोषक होता है। जलकी कोई भी मछली अपनेसे बड़ी मछलीद्वारा शोषित है, वही अपनेसे छोटी मछलीकी शोषक है। जङ्गलके पशुओंकी भी बात ऐसी ही है। मेढक सोंपके मुखमें है, परन्तु उस हालतमें भी वह मच्छरोंको खाता है। इस तरह शक्ति एवं सम्पत्तिमें तारतम्य रहता ही है। फिर उनमें भी प्रबल शोषक और दुर्बल शोषित होगा ही। वराटिकापति, रूप्यकपति, शतपति, सहस्रपति, लक्षपति आदिमें आपसमें शोषक शोषित भावकी कल्पना हो सकती है। अन्तिम शोषितको ही रखकर सभी शोषकोंकी समाप्ति भी सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्तिम शोषित कौन ? इसका निर्णय कठिन है।

यदि यह मान भी लिया जाय तो भी इसका यह अर्थ हुआ कि समुद्रके प्रबल जल-जन्तुओंको समाप्त करके सिर्फ अति क्षुद्र जन्तुओंका ही राज्य बनाया जाय। जङ्गलोंके सिंह-व्याघ्रादिको मिटाकर शृगालों या मच्छरोंका ही राज्य बनाया जाय। परन्तु यह न तो कभी किसी शासनका ही आदर्श रहा, न आदर्श हो ही सकता है। आदर्श तो यह था कि समाजमें सब रहें, पर कोई किसीका शोषक न रहे, सब एक दूसरेके पोषक रहे। बाघ, बकरे सब एक घाट पानी पीयें। बाघ, बकरे दोनोंको ही जीवित रहनेका अधिकार है, परन्तु दोनोंके पोषक होकर ही रहें, शोषक होकर नहीं।

जैसे बुद्धिमान् रोगीको न मिटाकर रोग मिटानेका ही प्रयत्न करते हैं, वैसे ही

शोषकोंको न मिटाकर शोषण-वृत्ति मिटाना शासनका उद्देश्य है । दण्ड-विधानका भी उद्देश्य बदला चुकाना आदि न होकर अपराधीकी अन्तरात्मशुद्धि ही मुख्य उद्देश्य रक्खा गया था । शोषणवृत्ति बिना मिटाये शोषितोंमें ही शोषक उत्पन्न होते रहेगे । अत्यन्त गरीब, मजदूर या कंगले भी अधिकार पाकर शोषक हुए हैं एवं हो सकते हैं । धार्मिक भावनावाले दिलीप-जैसे महासम्राट् भी एक गायकी रक्षाके लिये अपने प्राण दे सकते हैं, शिवि-जैसे सम्राट् भी एक कबूतरके प्राण बचानेके लिये अपने देहका सम्पूर्ण मांस दे सकते हैं ।

साथ ही यह भी विचारणीय है कि क्या कोई मनुष्य स्वभावसे ही शोषक होता है या उसमें शोषणकी बुराई आगन्तुक है ? यदि बुराई या शोषण कोयलेमे कालापनके समान स्वाभाविक है तब तो अवश्य जैसे कितना ही साबुनसे धोनेपर बिना कोयलाके मिटे उसका कालापन नहीं मिट सकता, वैसे ही शोषक मनुष्यके मिटे बिना उससे शोषण या बुराई नहीं मिट सकती । परंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं । स्वभावसे प्राणी बुरा या शोषक नहीं होता । यह कह चुके हैं कि कभीका शोषक ही पोषक बन जाता है तथा कभीका पोषक ही शोषक बन जाता है । शास्त्रीय संस्कार, सत्समागम एवं धर्मनिष्ठाके विस्तारसे प्राणी पोषक बनता है । अधर्म, प्रमाद, स्वार्थपरता बढ़नेपर पोषक भी शोषक बन जाता है । वात्मीकि पहले शोषक थे, पर वे ही सत्समागमसे महर्षि एवं विश्वपोषक बन गये । अजामिल जो पहले साधु पुरुष थे, दुस्सगसे शोषक हो गये, फिर कालान्तरमे वे ठीक हो गये ।

रामराज्यके सिद्धान्तानुसार प्राणिमात्र ईश्वरके अश, अविनाशी, चेतन, अमल, सहज सुखराशि है—ईश्वर अस जीव अविनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी॥ वेद भी कहते हैं—‘अमृतस्य पुत्राः’ प्राणिमात्र अमृत—परमेश्वरके पुत्र हैं । जैसे गङ्गाका तरङ्ग गङ्गाजलके तुल्य ही शीतल, मधुर और पवित्र होता है, वैसे ही चेतन, अमल, सहज, सुखराशि परमेश्वरकी सत्तान भी चेतन, अमल, सहज-सुखराशि ही हैं । उनमें बुराई, अविद्या, काम कर्मके सम्पर्कसे आयी—

भूमि परत मा ढावर पानी । जिमि जीवहि माया लपटानी ॥

जैसे निर्मल जलमें भूमिके सम्पर्कसे मलिनता आ जाती है, वैसे ही माया आदिके सम्पर्कसे जीवमें मलिनता आ जाती है । जैसे मलिन जलमें निर्मली बूटी या फिटकिरी डालनेसे जलमें निर्मलता आ जाती है, वैसे ही स्वधर्मानुष्ठान एवं ईश्वरभक्तिसे जीवकी मलिनता, बुराईयाँ दूर हो जाती हैं, फिर वह शोषक नहीं रह जाता, शुद्ध पोषक हो जाता है । असलमें मात्स्यन्याय दूर होनेके लिये ही शासनकी स्थापना हुई है । धर्म, सदाचारका विस्तार, सत्य, अहिंसाकी प्रतिष्ठा तथा दण्डके द्वारा शोषण मिटाकर समन्वय, सामञ्जस्य स्थापित करना ही शासनका मुख्य लक्ष्य है । वस्तुतः मार्क्सवादी स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृताकी बात तो करते हैं, परंतु उन्हें समानता,

स्वतन्त्रता और भ्रातृताकी वास्तविक आधार-भित्ति विदित नहीं है। जड़ देह, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि समानता आदिके आधार नहीं हो सकते। कारण, उनकी विषमता स्पष्ट है। देह किसी ढोके भी एक समान नहीं। किसीका देह मोटा, किसीका पतला, किसीका लंबा, किसीका नाटा होता है। सगे भाइयोंके भी प्रत्येक अवयवमें भेद रहता है। शक्तिमें भी भेद है। कोई दो-दो मोटरोंको रोक सकते हैं, कोई बकरीको भी नहीं रोक सकता। इसी तरह बुद्धिमें भी समता नहीं कही जा सकती। कोई कई शास्त्रोंके विद्वान् एव दार्शनिक होते हैं और कोई अत्यन्त निर्वुद्धि भी होते हैं। कोई पर्याप्त अन्न, दुग्धादि पचा सकते हैं, कोई किंचिन्मात्र भी घृत-दुग्धादि नहीं पचा सकते, वे थालीमें रखे हुए मोदकको छूनेसे परमाणुवम-जैसा डरते हैं। कार्यकरणक्षमता भी सबकी एक सी नहीं। अतः भौतिकवादमें समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताकी कोई वास्तविक आधारभित्ति ही नहीं है। इसीलिये वहाँ समानता, भ्रातृता, स्वतन्त्रतादिकी केवल बात ही होती है, कार्य-वर्ग-विद्वेष वर्गविध्वंसका होता है। उनकी समानता उनके दलके साथियोंतक ही सीमित है। उनमें भी विरोध उत्पन्न होते रहते हैं और 'सफाया' कण्टकशोधनके नामपर कलके साथीको भी मौतके घाट उतारा ही जाता है। परन्तु रामराज्यके सिद्धान्तमें समानता, भ्रातृता आदिका वास्तविक आधार अव्यात्मवाद है। जहाँ किसी सीमित दायरेके भीतर ही नहीं, किन्तु किसी देश, जाति, सम्प्रदाय या पार्टीका अमीर, गरीब, पुण्यात्मा, पापात्मा, कोई स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध हो अथवा देवता, दानव, मानव, पशु-पक्षी, कीट-पतंग हों, सभी ईश्वरके पुत्र हैं। उनके देहोंमें भेद हो सकता है, किन्तु देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धिका द्रष्टा, क्षेत्रज्ञ आत्मामें कोई भेद नहीं होता। सोने, लोहे, मिट्टीके घड़ेमें भेद है, पर उनमें स्थित आकाशमें कोई भेद नहीं। वैसे ही विभिन्न देह, इन्द्रिय, मन-बुद्धिमें भेद हो सकते हैं, उनके कार्योंमें भी विषमता होती है; परन्तु सबमें रहनेवाले द्रष्टा, चेतन, अमल, सहज सुखरागिमें कोई भी भेद नहीं है। उसी बोधरूप आत्मामें वास्तविक समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृता हो सकती है। जड़में न स्वतन्त्रता ही सम्भव है, न समानता। आधि, व्याधि, मृत्युके परतन्त्र, किसी भी जड़ वस्तुमें स्वतन्त्रताका राग अलापना केवल विडम्बना ही है। सर्वोपाधिकृत भेदविवर्जित आत्माको ही लेकर समानता सम्भव है। जो सब प्राणियोंमें एक आत्मा या भगवान्को देखता है, वह किसका विरोध करेगा, किसका शोषक होगा ?

उमा जे राम चरन रत विगत काम मद क्रोध ।

निज प्रभुमय देखहि जगत केहि सन करहि विगोध ॥

जो प्राणिमात्रमें भगवत्सत्ताका अनुभव करता है अथवा सभी प्राणियोंको भगवान्की पवित्र संतान समझता है, वह कैसे किसीका शोषक होगा ? शास्त्रोंमें

भगवान् ने कहा है—नाना प्रकारके भूषणों, अलंकारों, नैवेद्योंद्वारा मेरा सम्मान करना और मेरे अंशभूत प्राणियोंको सताकर शोषण करना वैसी ही मूर्खता है, जैसे किसीको संतुष्ट करनेके लिये किसीके गलेमें माला पहनाना और उसीकी आँखमें काँटा चुभाना। प्राणियोंका अपमान करनेवाले पुरुषकी ईश्वरार्चा भस्ममें डाली हुई आहुतिके तुल्य व्यर्थ है। इसीलिये शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर ही जीवरूपसे श्वान, चाण्डाल, उष्ट्र, गर्दभादि सभी प्राणियोंमें प्रविष्ट है, अतः दान-मानादिद्वारा सबका ही सम्मान करना चाहिये, किसीका भी अपमान नहीं करना चाहिये—

‘ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवान् स्वयम् ।’ (भाग० ३।२९।३४)

‘प्रणमेद्वण्डवद् भूमावाश्चचाण्डालगोखरम् ॥’ (भाग० ११।२९।१६)

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।

हित्वार्चा भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः ॥ (भाग० ३।२९।२२)

भक्तराज प्रह्लादने यही प्रार्थना की थी—

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।

मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥

(भाग० ५।१८।९)

अर्थात् विश्वका कल्याण हो, खल प्राणी सज्जन बने। खलको मिटाना अभीष्ट नहीं; किंतु उसकी खलताका ही मिटाना अभीष्ट है। दुर्जन सज्जन बने, सज्जन शान्ति प्राप्त करे एवं शान्त प्राणी संसारबन्धनसे मुक्त हो तथा वे मुक्त होकर औरोंको भी बन्धनसे छुड़ानेका प्रयत्न करें—

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात् ।

शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत् ॥

सब प्राणी एक दूसरेका परस्पर शुभानुसंधान करे, शुभचिन्तक बने, सबका मन भद्रदर्शी हो, सबकी बुद्धि परमेश्वरनिष्ठ हो। इसीलिये महर्षिगण अपनी नाक कटाकर भी दूसरेके शकुन बिगाड़ने-जैसा किसीका अनिष्ट-चिन्तन नहीं करते थे। धनवान् बलवान्को देखकर उन्हें ईर्ष्या नहीं होती थी। उन्हींका अनुसरण करते हुए आस्तिक प्रतिदिन ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो ! सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सब भद्रदर्शी हों और कोई भी दुःखभागी न हो। जिसे पुत्र न हो उसे पुत्र मिले, पुत्रवान्को पौत्र मिले, निर्धन धनवान् हो तथा धनवान् दीर्घजीवी हो—

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिदुःखभागभवेत् ॥

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।

अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥

शास्त्रोंने भी अपनेसे निम्नस्तरवाले दुखी लोगोंपर करुणा, समान लोगोसे

मैत्री तथा अपनेसे अधिक ऐश्वर्यवालोंसे मुदिता करनेके लिये कहा है। सब कुछ परमेश्वर-से उत्पन्न, परमेश्वरस्वरूप है। अतः परमेश्वर-स्वरूपसे ही सबका सम्मान उचित है। फिर शोषणकी कथा ही क्या है ? लोकव्यवहारार्थ दण्ड-विधान आदि भी प्रजाहितार्थ ही होता है, ठीक वैसे ही, जैसे अध्यापक छात्रोंके हितके लिये ही शासन करता है।

जैसे कामीको सम्पूर्ण जगत् कान्तामय दिखायी देता है, वैसे ही भौतिकवादियोंको सब कुछ भूतमय ही प्रतीत होता है। इसीलिये वे सभी धर्मों, दर्शनों, आदर्शों आदिका मूल भौतिक अवस्था ही मानते हैं। प्रायः पाश्चात्य विचारोंके मतानुसार भिन्न-भिन्न दर्शन, निर्माताकी परिस्थिति, वातावरण एवं भौतिक अवस्थाके अनुकूल ही आविर्भूत होते हैं। इससे स्पष्ट है कि उन दर्शनोंमें भावनाओंकी ही प्रधानता है। सत्यका दर्शन वहाँसे बहुत दूर है। वस्तुतः बाह्य भावोंमें अप्रभावित समाविसम्पन्न ऋषियोंके दर्शन ही सत्यसे सम्बन्धित हो सकते हैं। पाश्चात्य दर्शन-विवेचनके प्रारम्भमें ही यह बात कही जा चुकी है। वस्तुतस्तु स्वतन्त्ररूपसे जड़ किसी एक भी कार्यके सम्पादनमें असमर्थ होता है। परतु भौतिकवादी सभी वस्तुओंका एकमात्र कारण भौतिक अवस्था ही मानते हैं। आस्तिक मूलवस्तु स्वप्रकाश सत्-चेतनको ही मानते हैं। यद्यपि श्रोत्र, त्वक्, चक्षु आदि पञ्च ज्ञानेन्द्रिय एवं मन, बुद्धि, चित्त, अहकार, अन्तःकरणचतुष्टय और इनके द्वारा उपलब्ध होनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं तदात्मक पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश सब-के-सब भौतिक ही हैं, फिर भी इन सबसे सूक्ष्म चैतन्य आत्मज्योतिद्वारा ही इन भूतों एवं भौतिकोंकी सत्ता, स्फूर्ति एवं गति निष्पन्न होती है। उसके बिना सर्वत्र जगदन्धतापत्ति अनिवार्य है। जैसे बाह्य जड़-प्रपञ्च चेतन प्राणीके उपकरण एवं भोग्य होते हैं, उसी तरह अहकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, देह भी स्वविलक्षण, असगत चेतन आत्माके ही उपकरण एवं भोग्य हैं। जैसे झरने, स्रोत, सरिता आदि जलांश अपने अशी समुद्रकी ओर स्वभावसे ही प्रवाहित होते हैं, उसी तरह व्यष्टिचेतन आत्मा समष्टिचेतन ब्रह्मकी ओर स्वभावतः प्रवाहित होता है। सम्पूर्ण भौतिक ऐश्वर्यको छोड़कर जीवमात्रकी प्रवृत्ति निद्रा या सुषुप्तिकी ओर होती है। अविद्यारूपी कारण बीज विविष्ट चेतन अर्थात् अज्ञात सत्-रूप चेतनमें ही सुषुप्त जीव लीन होता है। सुषुप्तिमें यद्यपि विविष्ट विज्ञानका अभाव रहता है, तथापि विशेष विज्ञानाभावका द्रष्टा कारण साक्षी विद्यमान रहता है। तभी 'जो मैं सुखमें सो रहा था वही मैं जग रहा हूँ', यह अनुभूति होती है। यह कहा जा चुका है कि स्वभावसे सीमित सत्ता, ज्ञान, आनन्द, स्वतन्त्रता एवं सीमित शासन शक्तिवाला प्रत्येक जीव निःसीम अनन्त सत्ता, निःसीम अनन्त ज्ञान, आनन्द, स्वातन्त्र्य, शासनशक्तिसम्पन्न बनना चाहता है। तदनुगुण ही सबके प्रयत्न होते हैं। जैसे महाधन प्राप्त करनेके लिये व्यापारादि कार्योंमें पर्याप्त धन व्यय

करना पड़ता है, वैसे ही महती स्वतन्त्रता-प्राप्तिके लिये पर्याप्त स्वतन्त्रताओंका त्याग कर विविध आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक नियम स्वीकार करना पड़ता है। इसीलिये कहा गया है कि सनातन परमेश्वर अपने सनातन अंश जीवोंका सनातन कैवल्यपद प्राप्त करानेके लिये ही सनातन निःश्वासभूत वेदादि शास्त्रोंद्वारा आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, सनातन नियमरूप साधनोंका उपदेश करते हैं, अतः भौतिक अवस्थाओंके रहोबदलसे उनमें रहोबदल करनेका कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। यह दूसरी बात है कि साधनोंके न होनेपर साधनाहीन कामोंमें बाधा पड़ती है, भौतिक देहादि न रहनेपर तदधीन साधनोंमें बाधा होती है, वैसे ही धनादिके अभावमें तदधीन कार्योंमें बाधा पड़ती है। यह भी ठीक है कि भग, सुरा आदि मादक पदार्थोंके सेवनका प्रभाव जैसे मन, बुद्धि एवं विचारोंपर पड़ता है, वैसे ही घन, भूषण, वस्त्र, भवन, वाहनादिके अस्तित्वमें मन-बुद्धिपर दूसरे ढंगका प्रभाव पड़ता है, उनके अभावमें दूसरे ढंगका प्रभाव पड़ता है। साधन-सम्पन्न दूसरे ढंगसे सोचते-विचारते हैं और साधनविहीन दूसरे ढंगसे। फिर भी प्रमास्वरूप ज्ञानपर धनादिके भावाभावका असर नहीं पड़ता। एक धन-विहीन भी नेत्रसे रूप देखता है, शब्द नहीं; श्रोत्रसे शब्द ही ग्रहण करता है रूप नहीं; वैसे ही धनी भी। ममस्ति-व्यपत्ति, साधन-सम्पन्नता, साधन-विहीनता, किसी भी दशामें प्रमाणके अन्वय नियमित ही प्रमा होती है। नीरोग उपविष्ट हो अथवा रुग्ण होकर भूमिपर विलुण्ठित हो रहा हो, निर्दोष चक्षुसे रज्जुका रज्जु ही ज्ञान होगा। जंगली, मध्यकालीन एवं आधुनिक प्रगतिशील, मनुष्य, सभ्य अमभ्य, अमीर गरीब, शोषक-शोषित, सभी एक रूपसे ही श्रोत्रादि प्रमाणोंद्वारा शब्दादि प्रमेयोंकी प्रमा सम्पादन करते हैं। यहाँ अवस्थाओं, भावनाओं, परिस्थितियोंका कुछ भी असर नहीं पड़ता। इसी तरह जो नियम, सत्य या भिद्धान्त प्रमाणासे सिद्ध प्रमास्वरूप हैं, उनमें कभी भी किसी ढंगसे रहोबदल नहीं होता। सिद्धान्ततः जैसे कोंटेसे कौटा निकाला जाता है, विपसे विषका प्रगमन होता है, वैसे ही भौतिक साधनोंसे ही भौतिक प्रपञ्चका प्रशमन कर अधौतिक, स्वप्रकाश, ब्रह्मतत्त्व प्राप्त किया जाता है। मर्त्यसे अमृत एवं अमृतमें मर्त्य वस्तुको प्राप्त कर लेना ही बुद्धिमानोंकी बुद्धि तथा मनीषियोंकी मनीषा है—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।

यत्पत्यमनृतेनेह सत्येनाप्नोति मामृतम् ॥

(भाग० ११ । २९ । २२)

वस्तुतः केवल उसी पारमार्थिक सद्बस्तुकी प्रातिपत्तिके लिये भूत एवं भौतिक प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है—

अध्यारोपपादवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपद्यते ।

अध्यारोप एव अपवाद निष्प्रपञ्च ब्रह्मकी प्रतिपत्तिके उपाय हैं । अध्यारोप बिना निष्प्रपञ्च ब्रह्म वा मन आदिका गोचर ही नहीं होता । महाकाश जिस घटके द्वारा घटाकाश बनकर गोचर होता है, वस्तुतः वह घट एव घटाकाश सब महाकाश ही है । अन्वय-व्यतिरेकसे घटमृत्तिकासे भिन्न वस्तु नहीं ठहरता । वैसे मृत्तिका जलसे, जल तेजसे, तेज वायुसे एव वायु आकाशसे भिन्न नहीं ठहरता । ठीक इसी तरह आकाश अहत्तत्त्वसे, अहत्तत्त्व महत्तत्त्वसे, महत्तत्त्व अव्यक्तसे तथा अव्यक्त सत्तत्त्वसे भिन्न नहीं ठहरता । इस प्रकार उपेय ब्रह्मकी प्रतिपत्तिका उपाय स्वरूपभूत सत्से भिन्न कुछ भी नहीं ठहरता ।

किंच यदि विकासवादके अनुसार अभी विचार चल ही रहा है तो पूँजीवादी वर्ग एव मजदूर-वर्गके इस वर्ग विरोध, वर्ग-संघर्षकी विरोधकी अन्तिम कड़ी क्यों माना जाय ? हो सकता है आगे चलकर और प्रगतिशील लोग वर्गवाद मिद्धान्तको अपस्त्रिद्धान्त ही समझने लगे । आज अराजकतावाद आदि मत उपस्थित ही हो रहे हैं । बहुत सम्भव है कि वर्ग-संघर्षकी अशान्तिसे ऊँचकर लोग साम्यवादकी मरुमरीचिका समझ जायें और अध्यात्मवादी हेतु शान्तिमूलक धर्म-नियन्त्रित शासन तन्त्र रामराज्यको ही अपनायें । देखते ही हैं कि लोग कभी सत्त्वगुणसे हटकर रज एव तमको फिर तम एव रजसे हटकर पुनः सत्त्वको अपनाते हैं । जागरणसे स्वप्न एव स्वप्नसे सुषुप्तिसे पहुँचते हैं और सुषुप्तिसे पुनः जागरण अवस्थाको अपनाते हैं । अतः पूँजीवादी युगको प्रागैतिहासिक युगका अन्तिम अध्याय मानना भी निर्मूल है । मार्क्सकी जीवनी पढ़नेसे विदित होता है कि उसने पहले अनेक मार्ग अपनाये और छोड़े और हो सकता है यदि वह कुछ दिन और जीवित रहता तो अपने भौतिक द्वन्द्ववादकी त्रुटियोंको समझकर कोई ओर ही वाद अपनाता । किंतु मर्त्यो, लक्षों वर्षोंके अपने जीवनमें अपौरुषेय वेदादि शास्त्रोंद्वारा प्राप्त अनुभवोंमें महर्षियोंने रहस्यवदल करनेकी आवश्यकता नहीं समझी ।

वास्तविक पूँजीवाद

कहा जाता है कि पूँजीवादी समाज भी प्राचीन वर्गोंके समान ही उभी वर्ग-कलहपर एक दलके द्वारा दूसरे दलके रक्तशोषणपर ही स्थिर है । राय ही उभी पूँजीवादके द्वारा ही मनुष्यको वह उत्पादन-शक्ति भी प्राप्त होती है, जिसके द्वारा भौतिक बन्वनों और प्राकृतिक गुलामीने मनुष्यको त्रुटनग्रा मिलता है और वह वर्गकलहको त्यागकर वैदिक सम्प्रदाय या ज्ञान युगकी श्रीगणेश कर सकता है । यह ऐतिहासिक भौतिकवाद विज्ञान की अन्य जगहों के समान नीति अथवा आदर्शसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता ।

यह भी कहा जाता है कि 'मनुष्यने हजारों वर्षतक प्रकृतिकी निष्ठुर पराधीनतामें रहकर कष्ट भोगा। पाशविक दशासे छुटकारा पानेके लिये संग्राम किया। हजारो वर्षोतक समाजकी स्थापनाके लिये उद्योग किया और बहुत विकास भी प्राप्त किया, फिर भी उसे न्याय तथा मानवीय अधिकारोंकी प्राप्ति न हुई।'।

कहते हैं—'सामाजिक वर्गों और वर्गकलहका सिद्धान्त मार्क्सने आविष्कृत किया है। यद्यपि उससे पहले भी वर्ग-कलहका अस्तित्व देखा और समझा जा रहा था, तथापि श्रमजीवी दल पहले नगण्य था, अतः ऐतिहासिक महत्व प्राप्त न था।'।

पर वस्तुस्थिति यह है कि धर्मनियन्त्रित पूँजीपति एवं समाज राष्ट्रके विकास एवं कल्याणके कारण हैं। शास्त्र तथा धर्म-निरपेक्ष उच्छृङ्खल पूँजीवाद शोषणका कारण होता है। पूँजी स्वतः निन्द्य नहीं है, मालिकोंकी अच्छाई-बुराईसे पूँजीमें अच्छाई-बुराईका व्यवहार होता है। साम्यवादमें भी जनता नहीं तो सरकारको पूँजीपति बनना ही पड़ता है। उसके बिना कोई भी विकास-योजना, संग्राम, इत्यादि सफल नहीं हो सकता। सामान्यरूपसे सरकारी भूमि, सम्पत्ति, उद्योग-धंधे या पूँजीका कोई मनमानी उद्योग नहीं कर सकता। परंतु बाढ़, भूकम्प, दुष्काल आदि विपत्तियोंके समय सरकारी पूँजी आदिका उद्योग जनहितके काममें हो सकता है। उसी तरह व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति, पूँजी भी रहनेमें कोई अहित नहीं। जैसे सरकारी खजानेकी पूँजी राष्ट्रकी है, वैसे ही व्यक्तिगत खजानेकी पूँजी भी राष्ट्रकी समझी जा सकती है; क्योंकि अवसरपर राष्ट्रके काममें उसका उपयोग किया जा सकता है। आज भी युद्धकाल अथवा असाधारण राष्ट्र-विप्लवमें सरकारोका अधिकार होता है कि वे व्यक्तिगत सम्पत्ति, मोटर, मकान आदिको राष्ट्रहितकी दृष्टिसे अपने कब्जेमें ले ले। पूँजीके दुरुपयोग या अपव्ययपर सरकार कभी भी प्रतिबन्ध लगा सकती है। भेद यही रहता है कि जहाँ सरकारी वस्तुओंमें साधारण ममत्व होता है और सेवक नामधारी नौकरोंद्वारा लापरवाही, दुरुपयोग, लोहाकाण्ड, जीपकाण्डके समान भ्रष्टाचार होता है। व्यक्तिगत वस्तुओंमें व्यक्तिको प्राणतुल्य ममता होती है, लापरवाही दुरुपयोगकी भावना नगण्य होती है। हाँ, मूलधन आदिसे होनेवाली आमदनी विशेषतया अतिरिक्त आयपर शुक्रके अनुसार पूर्वोक्त पञ्चधा विभागका नियम होना अनिवार्य है।

वस्तुतः शास्त्रीय उचित व्यवस्था-पालनमें प्रमाद होनेसे ही अनेक अनर्थ बढ़ते हैं। प्रायः शास्त्र, सज्जन, समाजकी उपेक्षासे सदाचार, सयम, नीति-नैपुण्य आदि सद्गुणोंका विनाश होता है। ऐसी हालतमें धन केवल

विलासिताका ही कारण बनता है । विलासितासे क्षीणता, क्लीबताकी वृद्धि होती है । इससे सततियोंकी कमी होती है और दूसरे कुलोंसे दत्तक लाये जाते हैं । यदि दत्तक हीन कुलसे आये तो उनमें विलासिता, अनाचार एवं अनुदारताका और भी विस्तार होता है, और भी भीषण क्षीणता, क्लीबता बढ़ती है, पुनश्च सततिकी हीनता बढ़ती है । फलतः अविकाधिक सम्पत्ति थोड़े से लोगोंके हाथमें रह जाती है । गरीबोंमें सम्पत्तिहीनता होते हुए भी संतानोंकी अधिकता होती है । इस तरह धनवान् निःसतान और धनहीन बहुसतान होने लगते हैं । दोनों जगह सदाचारकी कमी होनेसे धनवान्में अनाचार बढ़ते हैं, शोषण उत्पीड़नका विस्तार बढ़ता है, धनहीनोंमें ईर्ष्या बढ़ती है, फलतः संघर्ष होता है । धनहीनोंका बहुमत शासन एवं शासकोंका खात्मा कर देता है । बहुमतमें भी मुण्डगणनाकी ही प्रधानता रहती है । बहुमत शासनमें भी अल्पधन बहुधनवाले लोगोंका अस्तित्व रहता है । धनके आधारपर भी बहुमत बनाया जाता है । कभी-कभी बहुमतका अल्प मतपर अत्याचार होने लगता है । उसी समय धनवान् निर्धनका विरोध बढ़ जाता है । धनवानोंको शुद्ध शोषक मानकर उनके वोटोंका महत्त्व हटा दिया जाता है, फिर आर्थिक समानताके नामपर साम्यवाद स्थापित होता है । थोड़े दिनोंतक उसमें रुचि बढ़ती है, पर आगे चलकर व्यवस्थाकी दृष्टिसे वहाँ भी कुछ लोगोंका ही शासन-तन्त्रपर नियन्त्रण हो जाता है । व्यक्ति शासन-यन्त्रके नगण्य कल पुर्जे बन जाते हैं, शासन-यन्त्र मुट्ठीभर तानाशाहोंके हाथका खिलौना बन जाता है, साम्यवादी साथियोंमें ही फूट और शापक-शोषणकी भावना जग उठती है, इस तरह साम्यवाद अधिनायकवाद ही बन जाता है । शास्त्र, धर्म आदिका नियन्त्रण न होनेसे उच्छृङ्खलता बढ़ती है और फिर लोगोंकी धर्मनियन्त्रित शासन-तन्त्रकी पूरी प्रवृत्ति हो जाती है । इस तरह शासन-तन्त्रोंमें भी चक्रवत् परिवर्तन चलता रहता है । सुतरा धर्मनियन्त्रित होनेसे ही वर्ग कलहका अन्त होता है । वास्तविक सम्यताके विकासकी बात भी तभी चल सकती है । इस प्रकार तथाकथित भौतिकवाद न सही, किंतु मूल भौतिक समस्त वस्तु अभौतिक चेतन वस्तुरूप प्रतिपत्तिका उपाय है । अतः भूतोंका पर्यवसान भी अभौतिक तन्त्रमें ही है ।

मनुष्य स्वयं चेतन नहीं है, भूतोंका परिणाम है । यदि अचेतनने भिन्न कोई स्वतन्त्र चेतन है तो उसकी 'प्रकृति पराधीनता, कष्ट भोगना या पाशविकतासे छुटकारा पानेके सग्राम' आदिका कुछ अर्थ ही नहीं है । जल-कणों या जलप्रपातों एवं पाषाणोंके संघर्ष-जैसे ही मनुष्यके प्राकृतिक संघर्ष हैं । उससे क्रिमी अभीष्ट पदार्थकी निद्रि आदिकी बात नहीं उठती । अतएव वर्ग-कलह, वर्ग-संघर्ष, सामूहिक दलबंदी, दलविशेषके विजय आदिकी जहानी

सृष्टि-प्रलयकी परम्परा जबसे चली और जबतक रहेगी तबतक किसी-न-किसी रूपमें रहेगी ही । धर्म-नियन्त्रण घटनेपर संघर्ष बढ़ता है और धर्म-नियन्त्रण बढ़नेपर संघर्ष समाप्त हो जाता है ।

श्रेणीभेदका आधार

मार्क्स कहता है—‘जैसे पशुओं, वनस्पतियों, धातुओंमें श्रेणीभेद है, वैसे मनुष्योंमें भी श्रेणीभेद है और वह आर्थिक आधारपर ही उचित है । जिस उपायसे मनुष्यसमुदाय अपनी रोजी कमाता है, वही उसका प्रधान लक्षण है । वेतन, मजदूरी आदिसे निर्वाह करनेवाले लोग श्रमजीवी वर्गमें आते हैं, पूँजी (जमीन, मकान, कारखाने, खाने) द्वारा कमानेवाले लोग पूँजीपति वर्गमें समझे जाते हैं । यद्यपि मजदूर भी कहीं बैकमें रुपया रखता है, उससे ब्याज भी पाता है । कोई पूँजीपति भी अपने व्यापारकी देख-भाल करता है और मैनेजरकी हैसियतसे उसे कुछ तनखाह भी मिलती है, तथापि श्रमजीवीका खास आधार मजदूरी होता है । पूँजीपतिका खास आधार पूँजी होती है । इन वर्गोंमें भी अवान्तर भेद हो सकते हैं । कुछ बुद्धिजीवियोंको अधिक वेतन मिलता है, कुछको जानवरोंकी तरह मेहनत करके भी पेट भरनेतकको पूरा नहीं पड़ता । पर श्रमके आधारपर ही इन सबकी जीविका चलती है, अतः सभी श्रमजीवी हैं । पैदावारके साधनोंपर अधिकारवाले पूँजीपति हैं ।’ मार्क्सका कहना है कि ‘इन दो वर्गोंके बीच गहरा और अमिट विरोध रहता है, जिनके फलस्वरूप वर्ग-कलह उत्पन्न होता है । श्रमजीवी अपने श्रमको ज्यादा से-ज्यादा कीमतपर बेचना चाहता है, अधिक से-अधिक मजदूरी प्राप्त करना चाहता है । पूँजीपति इस श्रमको कम-से-कम दाममें खरीदना चाहता है, कम से-कम मजदूरी देना चाहता है । यह विरोध दूकानदार और ग्राहको-जैसा नहीं, किंतु सिद्धान्तपर आधारित होता है । कारण, इसमें और खरीदने एवं बेचनेमें बड़ा अन्तर है । श्रमजीवी यदि अपने श्रमको जल्दी न बेचे तो भूखो मरने लगे । इसलिये उसे पूँजीपतিকে इच्छानुसार मजदूरी करनेके लिये लाचार होना पड़ता है । इस तरह पूँजीपति श्रमजीवीपर अत्याचार करता है । यह विरोध ही श्रमजीवीको संगठनकी ओर प्रवृत्त करना है और श्रमजीवी संघ मजदूर-सभाओंका जन्म होने लगता है । यही वर्ग-कलहकी पहली सीढ़ी है । निजी सम्पत्तिका सिद्धान्त जबतक रहेगा, तबतक पराधीनता बनी रहेगी । अतः निजी जायदादकी प्रणालीको मिटाकर उत्पत्तिके साधनोंपर समस्त जनताका अधिकार उचित है । इस भावनासे मजदूर संगठन और उग्र बन जाता है । वर्ग-भेद समझकर वर्ग-विद्वेष, वर्ग-संघर्षके अनन्तर ही वर्ग-विवर्धन क्रान्ति सम्भव है । अतः वर्तमान कष्टोंको दूर करना, मजदूरी बढ़ाना, घोनस-भत्ता बढ़ाना, कामके घंटोंमें कमी करना आदि सब गौण चीजें

हैं। मुख्य बात यही है कि निजी सम्पत्तिकी प्रणालीको समूल नष्ट कर दिया जाय। पैदावारके सब साधनोंपर सार्वजनिक अधिकार मान लिया जाय। परन्तु जवतक मजदूरोंका दृढ़ संघटन नहीं होता और उन्हें अपने भीतर अपने कष्ट दूर करनेकी शक्तिका विश्वास नहीं होता, तवतक साधारण सुधारोंपर ही संतोष कर लेते हैं। कभी उदारहृदय परोपकारी पुरुषोंपर विश्वास करके भी मजदूर-वर्ग शान्त हो जाता है। यह सब श्रमजीवी आन्दोलनमें विघ्न ही हैं। श्रमजीवियोंकी शक्तिहीन दशामें उन्नत-चरित्र पुरुष दयालु शासकोंको समझा-बुझाकर न्याय और जनताके हितकी दृष्टिसे साम्यवादी सिद्धान्तानुसार काम करनेके लिये प्रेरित करते हैं और कुछ अंशोंमें दरिद्रता और दुर्गति मिटानेका प्रयत्न करते हैं। किन्तु जव उद्योग-धंधोंकी विशेष वृद्धि होती है और उत्तमोत्तम यन्त्रों, उत्पत्तिके साधन तथा विनिमयकी बहुतायत होती है, एक स्थानमें सैकड़ों मिलों, कारखानों, जहाजों रेलोंके जंकशनो, खानोंमें काम करनेवाले मजदूरोंका बड़ा जमघट होने लगता है, तब श्रमजीवियोंकी संख्या, शक्ति, संघटन और वर्गके ज्ञानकी बहुत बड़ी वृद्धि हो जाती है। तब काल्पनिक साम्यवाद या सुधारवादका सर्वथा अन्त हो जाता है।

“उत्पत्ति और विनिमय साधनोंके एक स्थानमें एकत्रित होनेसे ही यह सब हो सकता है। हो सकता है कि मजदूरवर्ग एक साथ उद्योग-धंधों और जीवन-निर्वाहके सब कामोंको एक साथ बंद करके समस्त समाजको विश्वास दिला सकें कि श्रमजीवी समुदाय ही समस्त समाजके आर्थिक जीवनका प्राण है।”

उपर्युक्त कथन युक्तिहीन एवं अवैज्ञानिक है। वस्तुतः रोजी, रोजगार या जीविकाके आधारपर होनेवाले मनुष्योंका श्रेणीभेद कृत्रिम एवं गौण है। अतएव जीविका या रोजगारके बदल जानेसे मनुष्योंकी ऐसी श्रेणियाँ मिट जाती हैं। जैसे पशुओं, वनस्पतियोंके श्रेणीभेद अकृत्रिम होते हैं, उनके या दूसरोंके इच्छानुसार उनका श्रेणी-परिवर्तन सरल नहीं है। श्वान, शृगाल, गौ, हस्ति, गर्दभ आदि पशुओं, आम्र, निम्ब आदि वृक्षोंमें श्रेणी-परिवर्तन ऐच्छिक नहीं है। अवश्य ही उनपर देशकाल-भेदके अनुसार भिन्न-भिन्न भौतिक वातावरणके अनुसार भेद उपलब्ध होते हैं, तथापि उनकी विलक्षणता स्वरूपप्रविष्ट असाधारण धर्म-स्वरूप है। वैसे ही मनुष्योंका भी श्रेणीभेद अन्तरङ्ग है। जैसा कि भारतीय धर्ममें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री-पुत्रादि भेद हैं। यहाँ अकृत्रिम श्रेणी-भेदके अनुसार जीविका या रोजी ग्रहण करनेका नियम है। इसीलिये वर्णाश्रम-जीविकाके कारण ब्राह्मणादि वर्ण न म चलता है। श्रेणीगत असाधारणताके आधारपर ही जीविकाका वरण होता है। जीविकावरणके आधारपर श्रेणी-भेद नहीं होता। यद्यपि अन्तः, वृषभ और आम्र निम्बके तुल्य ब्राह्मण क्षत्रियादि मनुष्योंमें विलक्षणता या श्रेणी-भेद प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं होता, तथापि यह भेद अत्यन्त गहन एवं कल्पवृक्ष है।

नेत्रसे विभिन्न जातीय आँसुओंमें भेद नहीं प्रतीत होते, वृक्ष, शाखा, पत्रादि सबके समान ही होते हैं तो भी फल एवं रस-गन्धादिकी विलक्षणता प्रमाणसिद्ध है। अश्वकी विभिन्न जातियोंमें नेत्रसे भेद परिलक्षित न होनेपर भी गुण-धर्म-भेदसे उनका भेद मान्य होता है। उसी तरह ब्राह्मणादिमें उपरिगत भेद भासित न होनेपर भी शास्त्रप्रमाणगम्य विभिन्न गुण-धर्मों, रक्तोंके भेदसे उनमें भेद मानना अनिवार्य है। जैसे वैध और जारजात अवैध संतानोंमें ऊपरी कुछ भी भेद प्रतीत नहीं होता, तथापि शुद्धि-अशुद्धिका भेद समाजमें मान्य होता है। अनुलोम-प्रतिलोम-भेदसे साकर्यमें ही पर्याप्त भेद है। जारजातके ललाटमें शृङ्ग नहीं होता, कुलप्रसूतके हाथमें कमल खिला नहीं होता; किंतु शास्त्रों और उनके गुणोंके आधारपर उनका परिज्ञान होता है—

न जारजातस्य ललाटशृङ्गं कुलप्रसूतस्य न पाणिपद्मम् ।

यथा यथा मुञ्जति वाक्यजालं तथा तथा तस्य कुलं प्रमाणम् ॥

सामान्यरूपसे नित्य अनेक समवेत धर्म ही जातिपदसे व्यपदिष्ट होता है। अनेक गोव्यक्तियोंमें समवेत नित्य गोत्व धर्मही जाति है। यह धर्म ही अपने धर्मोंको स्वजातीय-विजातीयसे व्यावर्तन भी कर देता है। गोत्व-धर्म विजातीय घटादि और सजातीय अश्व-महिषादिसे गोका व्यावर्तन करता है। बहुधा आकृतिभेदसे जाति-भेदकी मान्यता चलती है। परंतु शास्त्रीय दृष्टिसे आकृतिभेद न रहनेपर भी ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णोंमें जातिभेद मान्य होता है। पाणिनिव्याकरणकी दृष्टिसे जाति-अर्थमें ब्राह्मण और तद्धिन्न अर्थमें ब्राह्म बनता है। 'ब्राह्मोऽजातौ' (६ । ४ । १७३) ब्राह्मणी आदिमें डीष् प्रत्यय भी जाति अर्थमें ही होता है—

आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक् ।

सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह ॥

(महाभाष्य ४ । १ । ६३)

अनुगत सस्थानविशेषसे जातिकी व्यञ्जना होती है। यहाँ आकृतिको उपदेशका उपलक्षण माना गया है। तथा च ईदृश आकारवाली वस्तु गौ है, इस प्रकारके उपदेशसे गोत्व जातिका परिज्ञान होता है। कारिकामें कहा गया है कि जो असर्व-लिङ्गभागी हो और एक बारके उपदेशसे अनुगतरूपेण ग्राह्य हो, वही जाति है। 'ब्राह्मणः' 'वृषलः' आदि शब्द पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग होनेपर भी नपुंसकलिङ्ग नहीं हैं, इसलिये इनके अनुगत-सस्थान आकृति अनुपलब्ध होनेपर भी जातिका व्यवहार होता है।

संस्थान व्यग्य गोत्वादि जाति या उपदेशगम्य ब्राह्मणादि जाति जन्मसे ही होती है। साथ ही जाति यावद्द्रव्यभावी अमर्बलिङ्गभागिनी तथा अनेकानुगत होती है—

आदिर्भावदिनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद्वृणैः ।

असर्वलिङ्गां बह्वर्था तां जातिं कवयो विदुः ॥

(व्या० महाभाष्य ४ । १ । ६३)

जैसे गुणके बिना द्रव्य नहीं रहता, वैसे ही जातिके बिना भी द्रव्य नहीं रहता और द्रव्यके रहते जैसे गुणका नाश नहीं होता, वैसे ही जातिका भी नाश नहीं होता । इसीलिये मृतहरिणके शरीरको भी हरिण ही कहा जाता है । क्षत्रिय-गुणकर्मवाले परशुराम, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा आदिको ब्राह्मण ही कहा गया है तथा ब्राह्मण-गुणकर्मवाले युधिष्ठिरादिको भी क्षत्रिय ही कहा गया है । शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार जैसे शूकर, कूकर, देव, मनुष्यादि जातियाँ प्राप्त होती हैं, वैसे ही शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रियादि जातियाँ प्राप्त होती हैं—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्
ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा ॥

(छान्दो० उप० ५ । १० । ७)

कर्मोंके अनुसार जैसे हरिणीसे हरिण उत्पन्न होते हैं, वैसे ही ब्राह्मण-ब्राह्मणी-से ब्राह्मण उत्पन्न होता है । जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था और तन्मूलक कर्म धर्म-व्यवस्था होती है । जन्मना वर्ण और कर्मणा उत्कर्ष यही व्यावहारिक स्थिति है । योनि-विद्या और तप ब्राह्मण्यका कारण होता है । विद्या-तपके बिना भी जाति ब्राह्मण्य होता है । योनि बिना विद्या और तपसे 'सिंहो माणवकः' के समान गौण ब्राह्मण्य आता है । सिंह-सिंहीसे जन्म होने और शौर्य न होनेसे जाति सिंहत्वका व्यवहार होता है । पर सिंह-सिंहीसे जन्म न होने तथा शौर्य आदि गुणयोग होनेपर गौण सिंहत्वका व्यवहार होता है । 'जन्मना प्राप्यते सा जातिः ।'

जाति मुख्यरूपसे जन्मना ही होती है, फिर भी कहीं-कहीं देशके नामसे भी जातिका व्यवहार होता है । इसका कारण यह है कि देशके सम्बन्धमे जाति-व्यञ्जक स्थितिमें विशेषता आती है । विभिन्न देशके जलवायु आदिके प्रभावसे रंग-रूप-बनावटमें भेद पड़ता है । ब्रीहि आदि अन्नों, आम्रादि फलोंपर भी देशका प्रभाव पड़ता है । इन सब बातोंका प्रभाव मनुष्योंपर भी पड़ता है । इसलिये चीनी, जापानी, बर्मी, इंगलिश, अफ्रीकी मनुष्योंके भी रूप रंग-बनावटका भेद उपलब्ध होता है । तत्तत्संस्थान भेदसे व्यग्य होनेके कारण उनमें जाति भेदकी कल्पना होती है । अधिक क्या, भारतमें भी नैपाली, मैथिल, पञ्जाबी, द्रविण, बंगाली, उत्कल, मद्रासी मनुष्योंमें बनावटका भेद उपलब्ध होता है ।

यावद्भूवभावी होनेके कारण देशादि-जन्य विशेषताओंके कारण जातिभेदकी कल्पना चल सकती है । परन्तु ब्राह्मणत्वादि जाति-संस्थान व्यग्य नहीं है, वह मात्मात् उपदेशगम्य होती है । यही कारण है कि मिथिला, उत्कल, महाराष्ट्र, तेलंगादि भारतके विभिन्न भागोंके मनुष्योंमें बनावटका भेद होनेपर भी ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्वादि सर्वत्र समान माना जाता है ।

यदि देवात् परम्परासे ब्राह्मणत्वादि जातियाँ और वेदशास्त्रानुकूल आचरण अंग्रेजों, जर्मनों और यहूदियोंके भी बने होते तो उनके रूप-रंगके भेद रहनेपर भी

मार्क्सवाद और रामराज्य

ब्राह्मणादि माननेमें कोई आपत्ति न होती । बल्कि अपने मनु आदि स्मृति-कारोने माना ही यह है कि बहुत से-क्षत्रिय दिग्विजयके लिये बाहर जाकर ब्राह्मणोंके साथ सम्बन्ध और वैदिक आचार-विचार छूट जानेसे भ्लेच्छजातिके हो गये—

शानकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।

वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥

पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।

पारदाः पल्लवाश्चीनाः किराता दरदाः स्वशाः ॥

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।

भ्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥

(मनु० १०।४३-४५)

इस तरह वैदिकोंमें किसी तरह द्वेष या रागसे उत्कर्षापकर्षकी कल्पना नहीं है । तात्त्विक जाति-भेद होनेपर भी किसीका उत्थान ज्ञान उन्हे नहीं खलता । इसलिये धर्मव्याघ आदि अन्त्यज, विदुरादि शूद्र, तुलाधार आदि वैश्यो-जैसे यहाँ कितने ही उच्चकोटिके ज्ञानी और सम्मानित धर्मात्मा थे ।

कुछ लोगोका कहना है कि सृष्टिके आदिमें जो मूलभूत ब्राह्मण-क्षत्रियादि उत्पन्न हुए हैं, उनके ब्राह्मणत्वादिका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि उस समय माता-पिताकी जातिका स्मरणरूप उसका व्यञ्जक नहीं था । फिर जब उनमें ब्राह्मणत्वादिका प्रत्यक्ष नहीं हुआ, तब उनके पुत्र-पौत्रादिमें ब्राह्मणत्वादिका प्रत्यक्ष होना नितरा दुर्घट है । यदि उनके ब्राह्मणत्वादिका व्यञ्जक कुछ और है तो वही आधुनिक ब्राह्मणादिकोंके भी ब्राह्मणत्वादिका व्यञ्जक मानना चाहिये । पर यह संदेह तो गोत्व-अश्वत्वादि जातियोंके भी सम्बन्धमें भी होगा, क्योंकि वे भी गो-अश्वदिसे उत्पन्न नहीं हैं । इसपर कहा जा सकता है कि प्रथम गो आदिमें हिरण्य-गर्भके उपदेशसे गोत्वादि जातिका निश्चय होता है । हिरण्यगर्भको पूर्वकल्पोंका निश्चय रहता है । फिर गोत्वका प्रत्यक्ष तो पूर्वकल्पके गोव्यक्तिकी गठन (सास्नादि) देखनेसे होता है, पर ब्राह्मणादिके देखनेसे तो यह समाधान नहीं हो सकता; क्योंकि उनका कोई विशिष्ट गठन (अवयव-संस्थान) नहीं है । पर इसका समाधान यह है कि मूल ब्राह्मणादिमें मुखजत्व बाहुजत्वादिका ज्ञान ही उनके ब्राह्मणत्वादि जातिका अभिव्यञ्जक है ।

वैदिकोंके मनसे तो ब्राह्मणत्वादि जातियाँ वृक्षत्वादिकी तरह प्रत्यक्ष सिद्ध हैं । जो यह शङ्का की जाती है कि ब्राह्मणमें, सजातीयोंमें अनुगत किसी आकारविशेषकी उपलब्धि नहीं होती, सो ठीक नहीं, क्योंकि आकार या संस्थान जाति नहीं है । ऐसा होनेपर निश्चयज्ञान, इच्छा आदिमें जातिका होना असम्भव हो जायगा । अतः अनुगत " १ " का विषय ही जाति है । अयं वृक्षः, अयं महिषः, अयं ब्राह्मणः, इत्यादि

अनुगत प्रतीतिका विषय ही ब्राह्मणत्वादि जाति है। फिर भी यहाँ जो शक्ता की जाती है कि वृक्षत्वजातिका ज्ञान यदि प्रत्यक्ष माना जाय तब तो उसमें शब्दरूपी सहकारीकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहती, वह तो इन्द्रियमे ही हो सकता है, पर ब्राह्मणत्वके कोई भी रस्थान व्यञ्जक नहीं है। तब वृक्षत्वके समान ब्राह्मणत्वको प्रत्यक्षमिद्व कैसे माना जाय ? पर इसका समाधान स्पष्ट है—‘सब जातियोंके समान व्यञ्जककी आवश्यकता नहीं होती। वृक्षत्वमें शाखापत्रादि रस्थान व्यञ्जक हैं। सुवर्णत्व जानिके प्रत्यक्षमें रूप व्यञ्जक है। इसी प्रकार ब्राह्मणत्व जातिके प्रत्यक्षमें माता-पिताकी जानिका ज्ञान व्यञ्जक है। जिस प्रकार गान्धर्ववेदके ज्ञाना स्वर्गकी जातियाँ, जौहरी रत्नोंकी जातियाँ पहचान लेते हैं, दूसरे लोग कुछ नहीं जान पाते, इसी प्रकार निपुण लोग ब्राह्मणत्वादिको जान लेते हैं। नारदादिकोंने वात्मीकिको मिनटोंमें ब्राह्मण जान लिया था। मत्स्यकाम जावालके ब्राह्मणत्वको उसके आचार्यने जान लिया था।

कहा जाता है कि ‘आजकल विद्युद्ध रक्तका अभिमान केवल दम्भ है, क्योंकि कोई भी जाति अछूती नहीं बची है। सबका किसी-न-किसी रूपमें मिश्रण हुआ है। रंग-रूपमें भेद ही मिश्रणका प्रमाण है। जैसे काली मुर्गी और श्वेत मुर्गसे उत्पन्न चार बच्चोंमें एक काला और एक श्वेत है, बाकी दो मिश्रित हैं। दूसरी पीढ़ीमें सोलह बच्चोंमें एक श्वेत, एक काला और चौदह मिश्र रंगके तथा तीसरी पीढ़ीमें चौंसठमें एक काला और एक श्वेत, बाकी सब मिश्र रंगके होते हैं, वैसे ही मनुष्योंमें भी पश्चिमी श्वेत और पीत मंगोलका मिश्रण होनेसे कुछ पश्चिमीय रंगके कुछ मंगोल रंगके होते हैं; पर अविकाश पारसी, ईरानी ढगके होते हैं। अतः पारसी जाति इन्हीं दोनोंका मिश्रण है। यही स्थिति उत्तर भारतकी उच्च जातियोंमें है। वहाँ मिश्रण स्पष्ट है।’

पर यह कहना भूल है। कलमी आमोंमें कभी भी मूल आमके समान फल नहीं होते, तो क्या इतनेसे ही वह आम किसी दूसरे आमका बीजमान लिया जाय ? जैसे काली, श्वेत मुर्गीमें भी जाति बही रहती है, नील, श्वेत, लाल, सब रंगोंकी गायोंमें गोत्व और प्रज्यत्व रहता है, वैसे ही पञ्जाबी, मैथिल, बंगाली, द्रविड़, उत्कल, तेलग ब्राह्मणोंके रूप-रंगमें भेद होनेपर भी ब्राह्मणत्व समान रहता है। कभी काले माता-पितासे भी गोरे बच्चे पैदा हो जाते हैं। कभी तो किसी पशुकी आकृतिका बच्चा पैदा हो जाता है। तब क्या उसका पशुके साथ सम्बन्ध माना जाय ? आर्योंमें स्त्रियाँ अत्यन्त सुरक्षित रहती हैं। यहाँ अनादिकालसे वेदादिशास्त्रोंके अनुसार स्त्रियाँ परमन्त्र रहती हैं, पातिग्रन्थ पालन करती हैं। अतः वहाँ माता-पिताका सम्बन्ध ज्ञान और तदधीन ब्राह्मणत्वादिका प्रत्यक्ष ज्ञान सुलभ है। यही आर्योंकी विशेषता है, जो अन्यत्र बहुत कम मिलेगी। आज मोहवश उसे ही खो देनेके लिये कुशिक्षाके प्रभावसे प्रभावित भारतीय भी व्यग्र हो रहे हैं।

अस्तु, वैज्ञानिक ढंगमें मनुष्योंमें बाह्य एवं आन्तरिक भेदसे जातिभेद ठीक उसी प्रकार स्वीकार्य है, जैसे मनुष्यमें धन एवं बल-बुद्धि आदिमें अनेक प्रकारका तारतम्य होता है। अतः जो किसीकी अपेक्षा शोषित है, वही किसीकी अपेक्षा शोषक सिद्ध होगा। अर्बुदपति, कोटिपति, लक्षपति, सहस्रपति, शतपति आदिमें सबमें परस्पर सापेक्ष शोषक-शोषित-भाव है।

व्यापार आदिके द्वारा निर्वाह करनेवाला शोषक, मजदूरी-नौकरीके आधारपर जीवन चलानेवाला शोषित—यह व्यवस्था भी नहीं चल सकती। कारण, कितने ही ऐसे लोग हैं जो व्यापारादि भी करते हैं, नौकरी भी। केवल नौकरी करनेवालोंमें भी कुछ लोगोंको हजारों, लाखों रुपये मासिक वेतन मिलता है और हजारों, लाखों वैतनिक उनके नियन्त्रणमें पीसते हैं। क्या माक्सवादी उन्हें भी शोषित कहेंगे? बड़े-बड़े इन्जीनियर, बड़े-बड़े एडवोकेट १०-१० मिनटका पारिश्रमिक हजारों रुपये ले लेते हैं। चिकित्सक, डाक्टरोंकी भी यही हालत है, एक-एक आपरेशनमें लाख-लाख रुपये ले लेते हैं। यही स्थिति बड़े फील्डमार्शलो, चीफजस्टिसों, राष्ट्रपतियों एवं मन्त्रियोंकी भी है। पूँजीपतियोंके परम प्रिय कई ऐसे नौकर हजारोंका वेतन लेते हैं और गरीबों मजदूरोंका पूर्ण शोषण करनेवाले ये ही हैं। क्या वे भी शोषित समझे जा सकते हैं? इस तरह माक्सवादी किसी तरह भी वास्तविक वर्ग-भेदका निर्धारण नहीं कर सकता। अतः इन वर्गभेदोंमें अमिट विरोधकी कल्पना करना व्यर्थ है। अनेक नौकर मालिकोंके अत्यन्त हितैषी होते हैं। उनके नामपर प्राण देना उनके लिये साधारण-सी बात है। आज भी वैतनिक सैनिक अपने सेनापतियोंके आज्ञानुसार प्राण देते ही हैं। हाँ, विद्वेष फैलानेवाले साहित्यिकों तथा प्रचारकोंकी महिमासे मालिक-मजदूरोंमें ही क्यो, पिता-पुत्र, पति-पत्नियों, गुरु-शिष्योंमें भी आज अमिट वैर-विग्रह बढ़ रहा है, छात्रोंका प्रोफेसरों, प्रिन्सिपलों, कुलपतियोंके साथ भी अमिट विरोध बन गया है। प्राचीनकालमें बुद्धिजीवी, श्रमजीवी आदि नौकरों तथा साधनसम्पन्न भूमि-सम्पत्तिवाले मालिकोंमें पिता-पुत्र जैसा प्रेम होता था। अनेको उदाहरण पुराणोंमें मिलते हैं, जिनमें मालिकोंके लिये सेवावृत्तिवाले नौकरोंने अपनी जान लडा दी थी, जिसका नमक खाते थे, उसके प्रति कृतज्ञ रहते थे। नमकहरामीको पाप समझते थे। अतः पूँजीपतियों, मालिकों, मजदूरोंमें सघर्ष उत्पन्न की हुई चीज है, न वह स्वाभाविक है और न उनका विरोध ही अमिट है। जहाँ राष्ट्रसेवाकी दृष्टिसे दोनों मिलकर काम करेंगे, वहाँ मालिक स्वयं मजदूरको पुत्रके तुल्य समझकर उसकी प्रत्येक सुविधाका ध्यान रखते हुए उसकी जीविकाका ध्यान रखेगा। वैज्ञानिकों, इन्जीनियरों, डाक्टरों, वकीलोंको—पर्याप्त वेतन दिया ही जाता है। सामान्य मजदूरोंको भी उनकी योग्यता एवं आवश्यकताका ध्यान रखते हुए उचित वेतनकी व्यवस्था की जाती रही है। आज भी

अनेक स्थानोंमें मालिको-मजदूरोंमें परस्पर प्रेम है, संघर्ष नहीं। अवश्य ही अनेक प्रकृतिके लोग होते हैं। अतः बहुत-से मालिको एवं मजदूरोंमें संघर्ष भी होता ही है। मजदूर भी इस प्रकृतिके होते हैं कि कम-से-कम पारिश्रम और ज्यादा से-ज्यादा मजदूरी लेना चाहते हैं। मालिक भी कम-से-कम दाममें ज्यादा-से-ज्यादा काम लेना चाहते हैं। कहीं-कहीं मजदूरोंमें अविश्वसनीय भलमनसाहत होती है। कहीं पूँजीपतियोंमें भी भलमनसाहत होती है। पूँजीपतियोंके पास ऐश्वर्यमय होनेसे प्रमाद, विलासिता, निर्दयता, अत्याचार अधिक सम्भव होता है अवश्य; परन्तु यह सब दोष किसीमें भी स्वाभाविक एवं अनिवार्यरूपसे नहीं होते। इसीलिये सभी सेटोंमें भी भले-बुरे होते ही हैं। सर्वत्र परिस्थितियों एवं वातावरण-निर्माण और शिक्षादिद्वारा दोष मिटाये भी जा सकते हैं और बढ़ाये भी जा सकते हैं। वर्गवादी खूनी क्रान्ति शीघ्र लानेके लिये संघर्ष बढ़ानेका ही प्रयत्न करते हैं। इसीलिये वे दोनों वर्गमें सद्भावना बढ़ाने, यहाँतक कि मजदूरोंके वेतन, भत्ता, मजदूरी आदि बढ़ाने एवं कामके घंटोंमें कमी होनेको भी संघर्ष और कम्युनिष्ट राज्य बननेमें बाधक समझते हैं। फिर भी बेनस, भत्ता, वेतन बढ़ाने और कामके घंटोंमें कमी करानेके लिये आन्दोलन करते हैं। इस सम्बन्धमें उनका उद्देश्य यही रहता है कि इसी मार्गसे संघर्ष बढ़ेगा। माँग सफल हो जायगी तो सफलताका श्रेय उन्हें प्राप्त होगा, मजदूर-नेताओंपर मजदूरोंका विश्वास बढ़ेगा; आन्दोलनमें भी विश्वास बढ़ेगा और पुनः अधिक संघर्षके साथ और अधिक माँगके लिये आन्दोलन बढ़ायेगे। माँग पूरी न होनेसे द्वेष और बढ़ेगा। हड़तालें, जुलूमों, सभाओंद्वारा उत्तेजना बढ़ाकर मजदूरोंको तोड़-फोड़के कामोंमें प्रोत्साहित किया जाता है। प्रबन्धको, शासकोंके द्वारा हस्तक्षेप करने, लाठी चार्ज, गोलीकाण्ड होनेसे वह विद्वेष-वैमनस्य और बढ़ता है। वस, इसी वैमनस्यको बढ़ानेके लिये कम्युनिष्ट तरह-तरहकी माँग उपस्थित करते रहते हैं। रामराज्यवादीकी दृष्टिमें योग्यता, आवश्यकता एवं उत्पादन, लागत खर्च, टैक्स और आयको देखते हुए, काम-दाम-आरामकी व्यवस्था होती है। साम्यवादी शासनको भी इन बातोंका ध्यान रखते हुए ही व्यवस्था करनी पड़ती है। न सभी सब प्रकारका काम ही कर सकते हैं और न सभीको एक-सा पारिश्रमिक ही दिया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्तिको एक-सी सुविधा नहीं मिल सकती। हर व्यक्तिके लिये वायुयान, मोटर आदिकी व्यवस्था होनी कठिन ही है।

जहाँ सद्भावना एवं न्यायकी बुद्धि नहीं है, वहाँ परिस्थितियोंसे लाभ उठानेकी चेष्टा सभी करते हैं। जैसे भूखो मरते हुए मजदूरअल्पमूल्यमें अपना श्रम बेचने को बाजार होता है। पूँजीपति उस लाचारीका अनुचित लाभ उठाकर उसके श्रमका उचित मूल्य नहीं देता, उसी तरह मजदूर भी संगठित होकर, लड़ता-लड़के, स...

काम ठप करके, पूँजीपतिको भी ज्यादा दाम देनेके लिये लाचार कर देते हैं। इतना ही क्यों ? सभी कुछ छीनकर उसे समाप्त भी कर डालते हैं। कुछ ऐश्वर्यमदोन्मत्त धनिकोंके प्रमादसे, कुछ उनके विरुद्ध किये गये अनुचित प्रचारसे ऐसा वातावरण बन जाता है कि निरपराध, शिष्ट, परोपकारी, धनवान्को भी अपमानित होना पड़ता है और कभी शिष्ट ईमानदार मजदूरको भी अत्याचारका शिकार बनना पड़ता है। सड़कोपर कभी रिक्सा या तोंगासे जब मोटरकारका एकसीडेण्ट हो जाता है तो भले ही अपराध रिक्सेवालेका ही हो, फिर भी साधारण जनसमूह मोटरवालेको ही अपराधी ठहराता है। वस्तुतः दूकानदार एवं खरीददार-जैसा ही मजदूर तथा मालिकोका संघर्ष है। जब देहाती किसानोको टैक्स देने तथा वस्त्रादि आवश्यक वस्तु प्राप्त करनेके लिये रुपयोकी अत्यधिक अपेक्षा होती है, तब उन्हें अपने गाढ़े पसीनेकी कमाईका गेहूँ, चावल, कपास, गन्ना आदि अल्प मूल्यमें ही देनेके लिये लाचार होना पड़ता है। परंतु जब कभी उन्हें बेचनेकी आवश्यकता नहीं होती, तो वे अपनी वस्तुओका मनमाना दाम बढ़ा देते हैं, और अभाववाले लोग ज्यादा-से-ज्यादा दाम देनेको लाचार होते हैं। असतुलनके कारण संघर्षसे किसीका लाभ नहीं होता। मजदूर आन्दोलन करके ज्यादा दाम प्राप्त करता है तो मालिक वस्त्रादिपर ज्यादा दाम बढ़ा देता है। उसके लिये किसानोको ज्यादा दाम देना पड़ता है तो वे अपने अन्नका दाम बढ़ा देते हैं। फलतः मजदूरोंने आन्दोलनो-द्वारा ज्यादा मजदूरी पायी, वह उधर अन्न, वस्त्र खरीदनेमें खतम हो गयी। हथर मध्य श्रेणीके लोगोंका जीवन अधिक संकटपूर्ण हो जाता है। यह कहा जा चुका है कि केवल प्रचारके बलपर निर्माण एवं विध्वंसकार्य होता रहता है। वर्ग-भेद—वर्गविद्वेष पैदा कर अवश्य वर्गविध्वंस किया जा सकता है, संसारमें दुराचार, व्यभिचार भी होता है, डाकुओके दल भी संघटित होते हैं, उनको कभी-कभी पर्याप्त सफलता भी मिल जाती है, परंतु एतावता वह धर्म, सदाचार या सिद्धान्त नहीं बन सकता।

पूर्वोक्त युक्तिसे पैदावारके साधनापर यदि लोगोके व्यक्तिगत अधिकार वैध हैं, तब उनका मिटाना या समाज या राष्ट्रके नामपर कुछ तानाशाहोके हाथमें उत्पादन साधनोका जाना कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता। यह भी कहा जा चुका है कि केवल मजदूरोंके कारण ही उत्पादन-वृद्धि नहीं होती, किंतु वैज्ञानिकों, नरेशों, पूँजीपतियों एवं प्राकृतिक साधनों, कच्चे माल इत्यादिकोकोही इसका मुख्य श्रेय है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश एवं सामयिक वृष्टि विविध प्रकारके लोहा, कोयला, तामा, सीसा, पारा तथा सर्वोपरि ईश्वर-निर्मित प्राकृत दिल, दिमाग, मस्तिष्क आदिका भी इन सब विकासोमें प्रमुख हाथ है। इनके बिना ज़रूर कुछ भी नहीं कर सकते। यह मार्क्सवादी भी मानने दी हैं। पूँजीपतियोके

कारण ही हजारों कल कारखानोंका बनना सम्भव हो सका। लाखों मजदूरोंको एकत्र रहकर संघटित होने एवं आन्दोलन करनेकी सुविधा प्राप्त हुई। अन्यथा देशों, गाँवोंमें अपने खाने कमानेमें परेशान मजदूरोंके लिये यह कहाँ सम्भव था कि वे दूर-दूरसे चलकर लाखोंकी सख्यामें एकत्र हो सके।

शास्त्रीय दृष्टिसे इसे उपजीव्य विरोध कहा जाता है। जैसे पितासे उत्पन्न पुत्र पिताका घातक नहीं हो सकता, वैसे ही पूँजीपतियोंके सहारे संघटित एवं बलवान् होनेवाले मजदूर पूँजीपतियोंकी सम्पत्ति छीनकर उन्हें नष्ट कर दें, यह कृतघ्नता समझी जाती है—‘जेहि ते नीच बडाई पावा। सो प्रथमहिं हति ताहि नसावा ॥’ अग्निसे उत्पन्न धूम (मेव) के द्वारा अग्निका नाश किया जाना ही इसका उदाहरण है—‘धूम अनल समव सुनु भाई। तेहि बुझाव घन पदवी पाई ॥’ इसके अतिरिक्त जिस मजदूरवर्गने वेतन लेकर अपना श्रम बेच डाला, फिर उसे क्या अधिकार है कि वह उत्पादन-साधनों या उत्पन्न हुई वस्तुओंपर अधिकार कर ले? किमीने अपनी कोई चीज किसीके हाथ बेच दी, तो उसमें या उसके द्वारा प्राप्त फलमें उसका कोई भी अधिकार नहीं रहता। शास्त्रानुसार दक्षिणाके द्वारा क्रीत-ऋत्विजों-द्वारा होनेवाले यज्ञोंका फल यजमानको ही मिलता है, ऋत्विजोंको नहीं—‘शास्त्रफलं पयोक्तुरितल्लक्षणत्वात्’ (३। ७। १८—३। ८। ५) इत्यादि पूर्व-मीमांसादर्शनमें यह स्पष्ट है। अवश्य ही ईश्वरके तुल्य जो भी अदृष्टोंद्वारा विश्व सृष्टिमें कारण है। अतः विश्वमें सभी प्राणियोंका हिस्सा है। इस दृष्टिसे न केवल मनुष्योंका ही अपितु प्राणिमात्रका उसमें हिस्सा है। अतः सबको जीवित रहने, विकसित होनेका अधिकार है। अतएव किसीपर अन्याय, अत्याचार होना अनुचित है। पशु, पक्षी, वृक्ष आदिका भी अन्याय-पूर्ण सहार तथा शोषण पाप है। इस दृष्टिसे राज्यद्वारा एक सर्वसामान्य जीवन-स्तर निर्धारित होना आवश्यक होता है, जिसमें योग्यता, आवश्यकता तथा उत्पादनके अनुसार काम, दाम, आरामकी व्यवस्था की जाय और सभीको स्वस्थ, शिक्षित एवं विकसित होनेका अवसर मिले। इस दृष्टिसे मजदूरोंके भी वेतनका क्रम उचितरूपमें निर्धारित किया जाय। इस सम्बन्धमें न अत्यन्त समता ही लायी जा सकती है, न अत्यन्त विषमताका ही समर्थन किया जा सकता है। सतुलित समता, सतुलित विषमता ही मान्य हो सकती है। शरीरमें भी हाथ, पाँव, पेट, पीठ आदिमें तथा एक हाथकी ही अँगुलियोंमें भी मोटापन, पतलापन, लम्बाई-चौड़ाई आदि समान नहीं। कोई बड़ी, कोई छोटी, कोई मोटी, कोई पतली है, तथापि इनका एक सतुलन भी है। पेट बहुत मोटा हो जाय, हाथ-पैर दुबले हो जायँ तो शरीर स्वस्थ नहीं समझा जा सकता। निष्कर्ष यह है कि सामाजिक, आर्थिक सतुलन रहना बहुत आवश्यक है। इसी असतुलनको दूर करनेके लिये भारतीय धर्मशास्त्रों, नीतिशास्त्रोंमें अनेक प्रकारके नियम हैं।

शास्त्रानुसार प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरेका मधु अर्थात् मोदहेतु माना गया है। पञ्च महायज्ञद्वारा विश्वका उपकारक बनता है। यज्ञसे देवताओंका, ब्रह्मयज्ञसे ऋषियोंका, भूतयज्ञसे कीट-पतंगों, पशु-पक्षियों, सभी प्राणियोंका तर्पण किया जाता है, श्वान, काक, प्रेत, पिशाचादि सभी प्राणियोंके तर्पणका प्रयत्न किया जाता है। अर्थात् मनुष्य केवल अपने लिये नहीं उत्पन्न हुआ है, किंतु सम्पूर्ण विश्वके तर्पणके लिये उसका जन्म है। भोजनकालमें जो भी भोजनार्थी आये, उसका नाम, गोत्र पूछे बिना उसे भोजन करानेका नियम है। रन्तिदेव आदि महापुरुषोंने ४८ दिनका निर्जल व्रत करनेके अनन्तर भी भोजन उपस्थित होनेपर नियमानुसार अतिथिकी प्रतीक्षा की। प्रातः सत्तुक आदि सब कुछ ब्राह्मण, अन्त्यज आदिको प्रदान कर दिया था। जल पीनेके समय भी जब पुल्कसने आकर जल माँगा तो वह जल भी उसे दिया और प्राणान्त होते समय भी परमेश्वरसे यही प्रार्थना की कि 'प्रभो ! मुझे राज्य, स्वर्ग, अपवर्ग कुछ भी नहीं चाहिये, केवल दुखियोंका दुःख ही मुझे मिल जाय; जिससे वे सुखी हो जाय—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।

कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

मन्वादिने भी यह नियम रक्खा है कि जिसके घरमें तीन वर्षोंके लिये भृत्यादि भरणकी सामग्री हो उसे सोमयज्ञ करके उसीमें अपना धन लगाना चाहिये।

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।

अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ (मनु० ११।७)

विविध प्रकारके दानोंका भी उद्देश्य असंतुलन मिटाना ही है। अतिरिक्त आयका पञ्चधा विभाजन करके राष्ट्रहितमें लगानेकी बात पीछे कही जा चुकी है। मनुने यह भी कहा है कि जो राजा असाधु पुरुषसे धन लेकर साधु-पुरुषोंको प्रदान करता है, वह अपनेको नाव बनाकर उन दोनोंको तार देता है—

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति ।

स कृत्वा ह्यवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥ (मनु० ११।१९)

इसी प्रकार अनुचित ढंगसे चोरवाजारी, चोरी, डाका, घूससे धनवान् बननेवाले असाधुओंसे धन छीनकर साधुओंको देना उचित है। ईमानदार धनवानोंसे भी सहायता लेकर विना रोजी-रोजगारवालोंकी रोजीका प्रबन्ध करना राजाका कर्तव्य है। भूमिवालोंसे भी भूमि लेकर बेरोजगारी दूर की जा सकती है। हाँ, यह अवश्य है कि जिस कुँएसे पानी लिया जाय, उसको इस योग्य बनाये रखे कि वह आगे भी सहायता देने लायक रहे। किसी अगसे अस्थि या मासकी सहायता लेकर दूसरे अगकी आवश्यकता पूरी की जा सकती है, परंतु सहायक अंगको मिटा देना—नष्ट कर

देना अनुचित है। उसे पुष्ट बनाकर उसकी कमी पूरी करनी ही ठीक है। यही जड़वाद, अध्यात्मवादमें भेद है। अध्यात्मवादी अपनी शक्ति, सम्पत्तिको विद्य-सेवामें समर्पित करनेको लालायित रहता है, भारतीय नीतिके अनुसार दूसरे व्यक्तिकी वस्तु लेनेसे हर प्रकार वचना चाहता है। पर देनेवाला हर प्रकार अपनी वस्तु दूसरेको देना चाहता है। शास्त्र प्रतिग्रहसे वचनेका आदेश भी करते हैं और देनेवालेको हर प्रकारसे देनेका उपदेश भी। प्रतिग्रहसमर्थ पुरुषको भी प्रतिग्रहमें वचना चाहिये—

‘प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसन्नं तत्र वर्जयेत् ।’ (मनु० ४ । १८६)

पर देनेवालेको कहते हैं कि—

‘श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्, हिया देयम्, भिया देयम् ।’

(तैत्तिरीय उप० १ । ११ । ३)

स्वतः श्रद्धासे दे, दूसरोंकी प्रेरणासे दे, लजासे दे, भयसे दे। टोला-पड़ोसके लोग भूखे रहेंगे तो कोई भी धनी अपनी कोठीमें सुखकी नींद सो न सकेगा। चोरी, डाका, लूट, खसोट आदि अवश्य ही मचेगी। इस दृष्टिसे देनेवाला हर तरह देना चाहता है। लेनेवाला वचना चाहता है। अतः लीजिये, लीजिये, नहीं, नहींका घोप सुनायी पड़ता है। आधुनिक साम्यवादियोंमें ठीक इसका उल्टा है। गरीबों-मजदूरोंके नामपर लेनेवाले कहते हैं, ‘लड़कर लेंगे, झगड़कर लेंगे, मरकर-मारकर लेंगे, लेंगे।’ देनेवाले कहते हैं—‘नहीं देंगे, मर जायेंगे, मिट जायेंगे पर नहीं देंगे।’ इस तरह यहाँ ‘दो-दो, नहीं-नहीं’ का घोप चलता है। अध्यात्मवादमें एक मुख्य उपासना है, जिसमें निर्गुण ब्रह्म जाननेके लिये विराट् हिरण्यगर्भ तथा अव्याकृत ब्रह्मकी उपासना करनी पड़ती है। यह उपासना अटग्रहरूपसे होती है। उपासकको अपने व्यष्टि स्वरूपको हटाकर समष्टिरूपकी भावना करनी पड़ती है, अर्थात् अपनेको साधारण देह न मानकर महाविराट् मानना पड़ता है। फिर तो ब्रूलोकको अपना मूर्द्धा, सूर्यको चक्षु, वायुको, प्राण, अन्तरिक्षको उदर, समुद्रको वस्ती, पृथ्वीको पैर मानता है। जिसमें अहता लानी हो उसमें पहले घनिष्ठ ममता लानी पड़ती है। जिनमें साधारण ममता होती है, उनमें अहता नहीं होती। देहमें घनिष्ठ ममता होती है, अतः उसमें ही अहता होती है। इतनी ममता दृढ होनेसे ही अहता उत्पन्न होती है। जब कभी पुत्र-कलत्रमें ममता घनिष्ठ हो जाती है, तब उनमें भी अहता उत्पन्न होती है। इसीलिये उनके दुःख-मुखमें दुखी-मुखी होनेकी बात चलती है। अतएव जैसे प्राणी देहके भोजन-वस्त्र विविध सुख-साधनोंके लिये तथा दुःख दूर करनेके लिये प्रयत्नशील होता है, वैसे ही जब पुत्र-कलत्रादि भी ममता एव अहताके आस्पद होते हैं, तब उनके भी दुःख-निवृत्ति एव सुखप्राप्तिके लिये प्राणी सदा ही तत्पर होता है। यह ममता क्रमेण विकसित होती है। साधारण प्राणी देहमें ही ममता रखता है, पर साधक घीरे

धीरे सकुचित व्यष्टि अभिमानको मिटाकर, उसे कुटुम्ब, ग्राम, मण्डल, राज्य, राष्ट्र एवं विश्वमें विकसित करता है। इसीलिये साधारण प्राणी अपने ही दुःखमें दुखी और सुखमें सुखी होते हैं। पर उच्च भावनावाले लोग कुटुम्ब, ग्रामके दुःख-सुखमें दुखी-सुखी होते हैं। और अधिक उच्च लोग सारी पृथ्वीको ही कुटुम्ब मानकर सारे विश्वको अपनी आत्मा मानकर संसारके ही सुख-दुःखमें सुखी-दुखी होते हैं। इसीलिये अधिकांश अपने दुःख-सुखमें रोते-हँसते हैं, पर दूसरोंके दुःखमें रोनेवाले और दूसरोंके सुखमें हँसनेवाले महापुरुष होते हैं। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि जैसे सामान्य प्राणी अपने सुख-प्राप्ति दुःख-निवृत्तिमें निरन्तर प्रयत्नशील होता है, वैसे ही महापुरुष समष्टि जगत्की दुःख-निवृत्ति और सुख साधनमें लगे रहते हैं। इस दृष्टिसे राजा-प्रजा सभी समष्टि हित-साधनमें संलग्न रहकर एक इस प्रकारका जीवन निर्धारित करते और कम-से-कम उस स्थितिमें राष्ट्रके प्रत्येक नागरिकको पहुँचानेका प्रयत्न करते हैं। विविध प्रकारकी सहायता तथा बिना सूद-श्रृणादिद्वारा रोजी-रोजगार देकर मजदूरी या नौकरी देकर सभीके लिये उचित रोटी, कपड़ा, औषध, शिक्षा, निवासकी व्यवस्था की जाती है। उसी दृष्टिसे वेतनका भी निर्धारण होता है। योग्यता एवं परिस्थिति-के अनुसार किसीको नौकरी, किसीको कोई व्यापार, किसीको कोई उद्योग, किसीको खेती करने आदिकी व्यवस्था करके सबकी ही रोजीकी व्यवस्था की जाती है। इतनेपर भी हानिका डर एवं लाभका प्रलोभन हुए बिना आलस्य-प्रमादका त्यागकर उत्साहके साथ तत्परतापूर्वक परिश्रममें जबतक प्रवृत्ति न होगी, तबतक सफलता सम्भव नहीं।

संघटनकी कुंजी

यह तो हुई विघटनकी बात। अब जहाँ 'संघे शक्तिः कलौ युगे' की बात आजकल बहुत होती है, वहाँ भी संघटनकी योजनाएँ कैसे सफल हो, इस विषयमें सभी परेशान हैं। वास्तवमें जो संघटन पर रातों-दिन व्याख्यान दे और लेख लिख रहे हैं, जो स्वयं प्रान्त, समाज, राष्ट्रके संघटनपर जमीन-आममानके कुलावे एक किया करते हैं, उनके स्वाभाविक स्वार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी काम प्रायः विघटनके मूल होते हैं। सौहार्द, सामञ्जस्य, सौमनस्य, मनुष्यत्वकी बातें वहींतक होती हैं, जहाँतक उनके निजी स्वार्थमें बाधा नहीं आती। फिर बाहरकी तो बात ही दूसरी है, पहले उनके घर्गोंमें ही कितना संघटन है? कुटुम्बियों, बन्धु-बर्गों, स्त्री, पुत्र, माता-पितामें क्या सौहार्द है? यदि नहीं तो बाहर कैसे होगा? वस्तुतः यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है कि व्यक्तियोंके सुधार बिना सामूहिक सुधार हो जायगा। यह सच है कि राष्ट्र, प्रान्त, समाजके वातावरणका प्रभाव व्यक्तियोंपर पड़ता है, पर व्यक्तियोंके ही समूहको तो समाज, राष्ट्र आदि कहा जाता है। यदि सभी व्यक्ति आत्मसुधारकी ओर ध्यान न देकर

केवल समूह-सुधारके लिये प्रयत्नशील होंगे तो क्या स्वप्नमें भी वैयक्तिक या सामूहिक सुधार हो सकता है ? कुछ व्यक्तियोंके समूहको कुटुम्ब, कुछ कुटुम्बके समूहको ग्राम या नगर कहा जाता है और उनके समूहको ही प्रान्त एवं राष्ट्र कहा जाता है । अतः जबतक वैयक्तिक, सामूहिक दोनों ही सुधारकी ओर न्यान न दिया जाय, तबतक सफलताका स्वप्न देखना बेकार है । इसीलिये भगवान् मनु इस राष्ट्रिय, सामाजिक व्यवस्थाको ही लक्ष्यमें रख कर कौटुम्बिक, सामाजिक व्यवस्थापर जोर देते हैं और कुटुम्बपतिको वैयक्तिक नियन्त्रणके लिये यह बतलाते हैं कि धर्मबुद्धिसे ऐसा नियन्त्रण करे कि जिसमें कुटुम्ब और समाजके विघटनका मूल विवाद ही न उठने पाये ।

असहिष्णुता, अक्षमता, स्वार्थपरायणता आदि दोष ही विवाद और कटुता फैलाकर विघटन करते हैं । मनुका कहना है कि प्रति व्यक्तिको चाहिये कि वह ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मातुल, अतिथि, आश्रित, बालक, वृद्ध, रोगी, वधेय, जातिवालों, सम्बन्धी, बान्धव, माता, पिता, बहन, भाई, पुत्र, स्त्री, बेटा तथा नौकर-चाकरोंके साथ विवाद न करे—

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यमातुलातिथिसंश्रितैः ।

बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिवान्धवैः ॥

मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।

दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥

(४ । १७९-८०)

अगर उपर्युक्त व्यक्तियोंमें एक व्यक्तिके चलते विवाद और विघटन न हुआ तो कौन कह सकता है कि 'उम्मीके दृष्टान्तसे दूसरे भी वैसा कर एक महासंघटनका सूत्रपात न करेंगे ? पर महत्वाससे खटपट होना स्वाभाविक है । राग, रोष, ईर्ष्या, मद, मोह आदि बड़े-बड़े योग्योंके मनमें भी विकार, अपराग पैदा कर देते हैं । सधर्मसे वचना तो बड़ा कठिन है, स्वार्थोंके सम्बन्धसे पिता-पुत्रादिमें भी विवाद खड़ा होता है, फिर दूसरोंमें तो कहना ही क्या ? अतएव मनु इसे धर्म बतलाकर इसके पालनसे परलोक-भिद्धि बतलाते हैं । धार्मिक पुरुष कठिन-से-कठिन कष्ट सहकर भी धर्मको बचाते हैं । धर्म-बुद्धिसे एक सम्राट् भी अपने गुरुका सेवक बनता है । उनके किये हुए अमानोको श्रद्धासे सहन करता है और उमने मनमें विकारका लेश भी नहीं आता । इसलिये मनुका कहना है कि इनके साथ झगडा बचाकर रहस्य सब पापोंमें छूट जाता है—

एतैर्विवादान् सत्यज्य सर्वपापै प्रमुच्यते ।

एभिर्जितैश्च जयति सर्वलोकानिमान् गृही ॥ (मनु० ४ । १८१)

हानि और अन्तमें किसीको लाभ भी होता है—यह कार्य-कारणभाव मान्य ही है। सब घटनाओंका कार्य-कारणभाव सर्वथा ही असङ्गत है। यदि सभी घटनाओंका परस्पर कार्य-कारणभाव हो तो कार्यकारणभावकी कल्पना ही समाप्त हो जाती है। किसीका कोई कारण होकर अन्यका अकारण हो तभी कार्य-कारणभावकी विशेषता होती है। कुलालका पिता भी यद्यपि कुलालजननद्वारा घटका कारण कहा जा सकता है, परन्तु तार्किकोंने ऐसे कारणोंको 'अन्यथासिद्ध' कहा है। अन्यथा-सिद्धिशून्य कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्तीको ही कारण कहा जाता है। कालान्तरभावी स्वर्गादिके प्रति अग्निहोत्रादि पूर्वक्षणवर्ती नहीं हो सकता। अतः बीचमें अपूर्व (अदृष्टरूप) व्यापार मानकर उसके द्वारा कार्य-कारणभाव निश्चित होता है। 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्व' ही व्यापार है। अग्निहोत्रादिजन्य होकर अग्निहोत्रादिजन्य स्वर्गका जनक अदृष्ट है। काकके बैठने, तालके गिरनेमें यद्यपि कार्य-कारणभाव प्रतीत होता है, तथापि 'काकतालीयन्याय' का अकार्य-कारणभाव स्पष्ट ही है। इसके अतिरिक्त 'इति-ह-आस' (इतिहास) ऐसा हुआ—इस ऐतिह्यको ही इतिहास कहते हैं। 'वटे यक्षः' यह प्रसिद्धि इतिहास नहीं है। अन्ध-परम्पराकी प्रसिद्धि अप्रमाण और आसपरम्पराकी प्रसिद्धि प्रमाण होती है।

इसीलिये अतीत घटनाओंके सम्बन्धमें वचन या लेख ही प्रमाण होते हैं। कुछ अंशोंमें अनुमान भी सहायक होते हैं। करोड़ों वर्षोंकी अगणित घटनाओंका उल्लेख हो ही नहीं सकता। यदि एक-एक वर्षकी घटनाओंका एक-एक पन्नेमें भी संकलन करे तो भी करोड़ों पन्नोंका इतिहास होगा। उसे कौन कितने दिनमें पढ़ेगा, फिर कब निष्कर्ष निकालेगा? सम्पूर्ण घटनाओंका ज्ञान न होनेसे अधूरी घटनाके अधूरे ज्ञानसे निकाला हुआ निष्कर्ष भी अधूरा ही होगा। फिर घटनाओंकी सचाई जाननेमें भी पर्याप्त भ्रम रहता है, आँखों-देखी घटनाओंके सम्बन्धमें विभिन्न सवाददाताओं, समाचार एजेंसियोंमें पर्याप्त मतभेद रहता है। समाचार-पत्रों एवं सम्पादकीय लेखोंमें जाते-जाते एक ही घटनाका रूप सैकड़ों ढंगका बन जाता है। इसीलिये पुरानी घटनाओंका पढ़ना-लिखना गड़े मुर्दोंके उखाड़ने-जैसा ही व्यर्थ होता है। म्यूनिसिपलबोर्डोंमें मनुष्योंके ही जनमने मरनेका लेखा-जोखा होता है, मच्छरों-मक्खियोंके जीने-मरनेका लेखा-जोखा नहीं रहता; क्योंकि उनका कोई महत्त्व नहीं होता। वैसे ही प्रतिवर्ष इतिहासमें मुख्य-मुख्य व्यक्तियों एवं घटनाओंका ही उल्लेख होता है, लाखों ही नहीं, करोड़ों व्यक्तियों एवं घटनाओंका उल्लेख छोड़ दिया जाता है। क्योंकि लेखक उनका महत्त्व नहीं मानता। परन्तु एनावता क्या कोई कह सकता है कि 'उनमें कोई व्यक्ति या घटना भी महत्त्वपूर्ण नहीं?' इसीलिये भारतीय महर्षियोंने योगज ऋतम्भरा प्रज्ञाके द्वारा ही अतीत महत्त्वपूर्ण आवश्यक घटनाओंका साक्षात्कार कर उनका उल्लेख किया है।

‘योगजविशेषता नहीं होती’ यह कहना मूर्खता होगी। स्पष्ट ही देखते हैं कि ‘जब चित्त शान्त, एकाग्र होता है तो सूक्ष्म ज्ञान उत्पन्न होता है। चित्तके चञ्चल एवं अग्रान्त होनेपर आँखों-देखी, कानों-सुनी बातोंका भी ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता।’ वाल्मीकीय रामायणके लिये ब्रह्माका वरदान है—‘न ते वागनृता काव्ये काचिदन्न भविष्यति’ (वाल्मी० १।२।३३) इस काव्यमें तुम्हारा एक भी वाक्य अनृत नहीं होगा। यदि ये सब बातें झूठी हैं, तो जडवादियोंकी सम्पूर्ण ऐतिहासिक कल्पनाएँ और उनके कार्यकारणभाव भी सुतरां झूठे हैं।

मनुष्योंको विचारने, सोचने, उन्नत करनेमें अवश्य स्वतन्त्रता है, परन्तु उसके लिये भी शिक्षण, मार्गदर्शन अपेक्षित होते हैं। आज भी शिक्षणादिकी आवश्यकता सूर्यके समान स्पष्ट है। सर्वज ईश्वर, आत्मा, महातपा, महर्षियोंके शिक्षण मार्गदर्शनके अनुसार सोचने, विचारने, उन्नतिके प्रयत्न करनेसे सफलता निश्चित होती है, मनमानी करनेसे भटककर परेशान होना पड़ता है। आज भी न्याय, नीति, शिक्षा, शिल्पादिके सम्बन्धमें परम्परासे ही शिक्षा ली जाती है। अदालतोंमें भी पुरानी नजीरे पेश की जाती हैं। नीतिके सम्बन्धमें भी पुरानी मान्यताओंकी खोज की जाती है। यदि अतीतसे शिक्षा नहीं लेनी है, तो फिर इतिहासका महत्त्व ही क्या? अतीत घटनाओंमें कितनी ही अनिष्ट हैं, कितनी इष्ट हैं, कितनी भली हैं, कितनी बुरी हैं। अविकाश अनाचार, पापाचार एवं बुराईकी ही घटनाएँ घटती हैं। अतः महर्षियों, शिष्टोंसे सम्मत, सत्य, लाभदायक इतिहास ही आदरणीय होता है। अतः राष्ट्रको अपने भविष्यनिर्माण करने, धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनीतिक उचित शिक्षण प्राप्त करनेके लिये ही आत्म इतिहासोंका उल्लेख होता है।

पूँजी जड़ है, वह स्वयं मुर्दा है, प्रयोक्ताओंके गुण एवं दोषसे उसमें गुण या दोष आते हैं। पूँजीद्वारा होनेवाले विकाससे पूँजीपतिका ही विनाश नहीं होता, किन्तु मजदूरका भी होता है। अन्यथा उसकी भी बेकारी बढ़ती है। बेकारी बढ़नेसे ही मजदूरोंका राज्य नहीं बन जाता। यदि यही बात हो तो फिर राज्य बनानेके लिये व्यक्ति या समूह बेकार ही प्रयत्न करे, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। इसके साथ ही यह भी समझना चाहिये कि वैज्ञानिक आविष्कारक आदि आधुनिक विकासके मूल हैं। यदि विकासके परम्परागत हेतु होनेसे पूँजीपतिका विनाश होता है, तो साक्षात् ‘सश्लिष्ट’ आविष्कारको एवं मजदूरोंका विनाश क्यों न होगा? जैसे पूँजीपतियोंका विनाश इतिहाससिद्ध है, वैसे ही पूँजीपतियोंसे अधिक सख्यामें मजदूरोंका विनाश भी इतिहाससिद्ध है। फिर भी जैसे मजदूर रहते हैं, वैसे पूँजीपति भी हैं। यह दूसरी बात है कि मजदूरके नामपर कुछ सरकारी अविनायक पूँजीपति बन जाते हैं। किसी भी कार्यमें आनेवाले दोनों एव दुष्परिणामोंको

बुद्धिमान्, ईमानदार मिटानेका प्रयत्न करता है और सफ़र होता है; कोई खास वर्ग या व्यक्ति ही ऐसा करता है, यह नहीं कहा जा सकता । फिर धर्म-निषन्त्रित ज्ञान सुतरा ईश्वरीय एव आर्ष सम्प्रतियोंके अनुसार आगत दोषोंको तो दूर कर ही सकता है ।

श्रेणी और वृत्ति

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'जीविका पैदा करनेके क्रममें जो मनुष्य जिस स्थान-पर है वही उसकी श्रेणी है । मनुष्य जीविका उपार्जन करनेके ढंगके अनुसार अपने रहन-सहनका ढंग बना लेता है, अतएव जीविकोपार्जनका ढंग बदलनेसे समाजका रूप भी बदल जाता है । समाजमें पैदावारकी दृष्टिसे श्रेणियाँ अपना-अपना स्थान रखती हैं । पैदावारके फल या पैदावारके साधनोपर अधिकार करनेके लिये जो संघर्ष चलता है, वही मनुष्यसमाजका इतिहास है, वही मनुष्यसमाजके विकासका मार्ग है । विकासके मार्गमें विरोध आना आवश्यक है, विरोधसे नया विधान तैयार होता है । नया विधान समाजके विकासको आगे बढ़ाना है ।' शरीर-मात्रको आत्मा माननेवाले शरीरभिन्न आत्मा एवं उसका जन्मान्तर होने, ईश्वर एवं धर्माधर्मका रहस्य न समझनेवाले चार्वाकप्राय जडवादियोंकी दृष्टिमें उपर्युक्त बातें ठीक ही हैं । परंतु तद्विपरीत रामराज्यवादीको 'पशुओं, वृक्षों-जैसी ही मनुष्योंकी भी जन्मना ही ब्राह्मणादि श्रेणी मान्य है । जीविका चलयी हर मनुष्यकी मुख्य समस्या नहीं, किंतु लौकिक-पारलौकिक विविध अभ्युदय एव परम निःश्रेयस ही उसका मुख्य उद्देश्य है । तदर्थ धर्म, संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान, शिल्प, संगीत, कला-कौशलका आविर्भाव परमावश्यक होता है । केवल मनुष्योंके लिये ही जीविका कोई असाधारण समस्या नहीं है । वह पशु-पक्षियोंके लिये भी अपेक्षित ही होती है ।

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाञ्च ।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

(हितो०)

अतएव आस्तिकोंके यहाँ वर्णानुसारिणी जीविका होती है । जीविकानुसारी वर्ण नहीं । वर्णोंके भेदसे ही शास्त्रोक्त कर्मोंका भी भेद है । राजसूय, वाजपेयादि क्षत्रिय-ब्राह्मणादिके भेदसे विहित हैं । इस तरह धर्मकी दृष्टिसे ब्राह्मणादि श्रेणियाँ ही मुख्य एव उपादेय हैं । धनी, गरीब, पूँजीपति, मजदूर आदि वास्तविक श्रेणी ही नहीं हैं । ऐसी कृत्रिम श्रेणियाँ सदा ही हानिकारक होती हैं ।

ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों-सभीमे ये अमीर-गरीब होते हैं । बुद्धिमान्, निर्वुद्धि, दुर्बल, सबल कंई जाति नहीं होती । उनके विवाह, खानदान आदि भी इन्हीं अकृत्रिम श्रेणियोंमे होते हैं । इन श्रेणियोंमे साधनोंके हथियानेके लिये कभी भी संघर्ष नहीं हुआ । मार्क्स-जैसे कुछ लोगोद्वारा यह कृत्रिम भेद उत्पन्न किया

जाना और उनमें सवर्ष, विद्वेष फैलाकर अपना मतलब गौंठनेका प्रयत्न किया जाना है। लाखों वर्षोंके पुराने इतिहासमें किसीकी भूमि-सम्पत्ति, कल-कारखाना छीननेका श्रेणीबद्ध प्रयत्न नहीं होता था। हाँ, एक राजा दूसरे राजापर राज्य छीननेके लिये प्रयत्न करता था। कुछ व्यक्ति कुछ व्यक्तियोंकी कोई वस्तु छीननेका प्रयत्न यदि करते थे तो वे दण्डके भागी होते थे। मार्क्सवादियोंके मनगढ़त इतिहासकी घटनाएँ केवल हजार-पाँच सौ वर्षकी ही हैं।

सभी देशों, सभी धर्मोंके पुराने इतिहासोंमें मार्क्सवादी-क्रमकी गन्ध भी नहीं प्रतीत होती। इतना ही क्यों, युक्तियों एवं आख्यायिकाओंमें मार्क्स पड़ता है कि ऐसी क्रान्तियाँ क्षुद्रोपद्रवमात्र हैं। इनका कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं। वेदों, रामायण, महाभारत तथा पुराणोंमें दशहजारों, अरबों वर्षों एवं अगणित युगों, कल्पों तथा विभिन्न सृष्टियोंके इतिहास हैं। जैसे प्रतिवर्ष वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा आदि ऋतुओंका समान-रूपसे आवर्तन होता रहता है, वैसे ही प्रतिकल्प प्रतिसृष्टिमें समानरूपमें सूर्य, चन्द्र आदि उत्पन्न होते हैं। अनेक ढंगकी प्रधान-प्रधान वस्तुएँ एक-सी ही होती हैं। कभी भी जीविकाके आधारपर श्रेणीबद्धता और सवर्षको सिद्धान्तरूपमें नहीं माना गया। जैसे कभी-कभी चोरी, डाका, दुराचार आदि उपद्रवके रूपमें आते रहते हैं, वैसे ही नास्तिकता, अराजकता, अनुचित गिरावटें एवं छीना-झपटी भी उपद्रवके रूपमें ही कभी-कभी हुआ करती हैं। प्रतिद्वन्द्विता, प्रतियोगितामें आधि-भौतिक, आध्यात्मिक उन्नति होती है। परन्तु छीना-झपटी एवं अपहरणके लिये सवर्ष सदा ही अपराध माना गया और उससे समाजका विकास नहीं विनाश होता है। मार्क्सवादियोंद्वारा उपस्थापित शोषक-शोषितश्रेणी, उनके शोषण एवं संवर्षका इतिहास उन्हीं उपद्रवोंका एक अग्रमात्र है, वह भी एक अत्यन्त क्षुद्र कालका एवं अति क्षुद्र देशका। जिनके अधिकांश मनगढ़त मिथ्या तथा दुरुद्देश्यसे कल्पित किये गये हैं। सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक इतिहासके अनुसार मनुष्योंने अपने शुभाशुभ कर्मों, तपस्याओं, आराधनाओं तथा परिश्रमोंके आधारपर धन-शान्ति एवं समृद्धताकी उन्नति की है, दूसरोंको गुलाम बनाकर उनकी कमाईके आधार-पर नहीं।

आस्तिक मनुष्योंने केवल मनुष्योंको ही नहीं, अपितु प्राणिमात्रको परमेश्वरकी समान एवं परमेश्वर-स्वरूप माना है। 'अमृतस्य पुत्राः' के अनुसार वे प्राणिमात्रके साथ समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताका व्यवहार पसंद करते हैं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'वासुदेवः सर्वमिति' 'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवान् स्वयम्' 'नानाविधैश्च सैवेद्यैर्द्रव्यैर्मे नाम्न्य तोषणम्' वे मनुष्य ही क्या किसी भी प्राणीके अपमान या शोषणमें भगवान्का ही अपमान समझते हैं। वे एक नगण्य प्राणीके लिये अपना सर्वस्व प्राणनक्त न्योछावर कर देते थे, शिवि, दिलीप आदि इसके उदाहरण हैं।

धर्म और अर्थ

माक्सवादी कहते हैं कि धर्म, प्रेम या परोपकारके नामपर सर्वस्व लुटा देने या प्राण न्योछावर कर देनेका भी आधार आर्थिक ही है, क्योंकि सब कुछ सतोष-तृप्तिके लिये ही किया जाता है। अन्यायके विरोधमें आत्मबलिदान करता हुआ भी प्राणी सब कुछ स्वार्थके उद्देश्यसे करता है। परंतु यहाँ स्वार्थका अर्थ व्यक्ति न समझकर श्रेणी समझना उचित है। समाजमें व्यवस्था एवं शान्ति न रहनेसे समाजके नुकसानके साथ व्यक्तिका भी नुकसान होता है। समाजकी रक्षामें ही व्यक्तिकी भी रक्षा होती है; परंतु जडवादमें उपर्युक्त बातें सङ्गत नहीं होतीं। जो देहमात्रको आत्मा मानता है, देहके नष्ट हो जानेपर आत्माका नाश मानता है वह आत्मनाशके काममें कभी भी प्रवृत्त नहीं हो सकता। आत्माके नष्ट हो जानेपर समाजकी रक्षासे फिर किसकी रक्षा होगी? जिसकी रक्षाके लिये समाजकी रक्षा करनी है, जब उसका नाश सामने ही है तो उसकी रक्षाके लिये समाज-रक्षाकी बात ही कहाँ उठती है? शान्ति या सतोषके लिये त्याग भी वहीतक किया जा सकता है जहाँतक जिसे शान्ति-सतोष चाहिये, वह बना रहे। जब शान्ति-सतोषका भोक्ता ही नष्ट हो जायगा तो शान्ति-सतोषका सुख कौन भोगेगा? अध्यात्मवादी देहादिके नष्ट हो जानेपर भी सुख-शान्ति-सतोष भोगनेवाली आत्माको अमर मानते हैं। अतः उनका त्याग, बलिदान बन सकता है। आत्म-कल्याणके लिये धर्मार्थ, परोपकारार्थ प्राणत्यागतक करना उनकी दृष्टिसे उचित हो सकता है।

अध्यात्मवादमें भी दो प्रकारका स्वार्थ होता है—एक संकुचित और दूसरा वास्तविक। जहाँ 'स्व' शब्दका अर्थ देहादि ही माना जाय वह संकुचित स्वार्थ है। वहाँ रोटी-कपड़े आदि लौकिक अभीष्ट वस्तुओंकी प्राप्ति ही स्वार्थ गिना जाता है। परंतु जहाँ 'स्व' शब्दका अर्थ देहादिभिन्न नित्य आत्मा माना जाता है, वहाँ स्वार्थका अभिप्राय वस्तुभूतस्वरूप परमेश्वरका साक्षात्कार, परमेश्वरप्राप्ति, अनर्थ-निवृत्ति तथा परमानन्दस्वरूप मोक्षप्राप्ति ही है। यह सच्चा स्वार्थ कहा जाता है—
 'स्वार्थ साँच जीव कहँ एहू । मन क्रम बचन राम पद नेहू ॥' इसी वास्तविक स्वार्थके अभिप्रायसे कहा गया है कि 'सब कुछ आत्माके लिये ही होता है। सर्वभूत, सर्वलोक, सर्वदेव आदिकोमें प्रेम सर्वभूत, सर्वलोक, सर्वदेवके लिये नहीं, किंतु आत्माके लिये ही होता है। 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' (बृहदा० उ०) परंतु यहाँ प्रबोध होनेपर व्यष्टि समष्टि दो नहीं रह जाते। अविद्या-दशामें ही सर्वस्वरूप आत्मामें असर्वता अध्यारोपित है। बोध होनेपर अध्यारोपित असर्वताके बाधित होनेपर स्वाभाविक सर्वता ही व्यक्त हो जाती है। अतः वास्तविक स्वार्थ समष्टि-व्यष्टिका एक ही होता है; परंतु जडवादमें यह सब सम्भव नहीं।

किमीके पैदावारका साधन छीनना सदासे सभी पाप समझते रहे। परान्न-परद्रव्य मार्गमें पडा हो या अपने घरमें ही कोई डाल गया हो तब भी नहीं लेते थे— 'परान्नं परद्रव्यं वा पथि वा यदि वा गृहे। अदत्तं नैव गृह्णीयादेतद्वाह्यणलक्षणम्।' दायभागमें प्राप्त अपनी बपौती सम्पत्तिको ही अपनी सम्पत्ति मानते थे। दान-पुरस्कार तथा परिश्रमार्जित सम्पत्तिको ही अपनी वैध सम्पत्ति मानते थे। फिर छीनने, अपहरण करनेका उनसे सम्बन्ध ही क्या हो सकता था ? लोक, परलोक, ईश्वर, धर्म न माननेवाला जडवादी ही दूमरेकी सम्पत्ति लेनेकी सलाह दे सकता है। आस्तिक दूमरेकी गिरी हीरेकी माला या लाखोका नोटका बडल जिमके हैं, उन्हीं-को लौटा देनेकी सलाह देगा, परतु एक कम्युनिष्ट ऐसी सलाह दे ही कैसे सकता है ? आस्तिककी दृष्टिमें सब मनुष्य ही नहीं, किंतु सभी प्राणी परमेश्वरकी संतान हैं। फिर भी जिण्य गुरुको, पुत्र माता-पिताको, पत्नी पतिको, नौकर मालिकको पूज्य और आनेको सेवक मानते हैं। पूज्यको सेव्य समझने हैं। व्यवहारमें वह सेव्य-सेवक-भाव मान्य होता है। अतएव आस्तिक किसीको गुलाम नहीं मानता। मनुष्य मनुष्यमें सेव्य-सेवकभाव चलता है। यह अब भी है और सदा रहेगा। नाम भले बदल जाय, पर वस्तु कभी नहीं बदल सकती। मिश्रकी पिरामिड, यूनान एव भारतकी विशाल इमारतोंके बनानेमें गरीबोंको रोजी और नौकरी मिली है, उनका पोषण हुआ है। उनकी सम्पत्ति छीनकर ये सब चीजें नहीं बनायी गयीं। सब सम्पत्ति गरीबों, मजदूरोंकी ही होती, तो वे गरीब और मजदूर ही क्यों होते ? मजदूरोंने पैशवारमें हाथ बँटाया तो उसके बदलेमें वेतन पाया। कमाईका सारा फल मजदूरका ही है, यह सिद्धान्त असिद्ध है। हाँ, उनका जीवन उन्नत और समृद्ध हो इसके लिये आस्तिकोंका सदा प्रयत्न रहा। फलस्वरूप वे सुखी भी रहे। देशमें कोई दरिद्र, दुखी, अविद्वान् नहीं रहता था। 'न मे स्तेनो जनयते न कदर्यो न मद्यपः।' 'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अलुध न लच्छन हीना ॥'

सभ्यता, सस्कृति, शिल्प, सगीतका विकास अमीर, गरीब सबके ही हितकी चीज है। रूसी विद्वान् साहित्य, सगीत ज्योतिषके अध्ययनमें सलग्न हो रहे हैं, एतावता क्या वे भी शोषक हो जायेंगे ? वैज्ञानिक लोग अनेक प्रकारके अविष्कारमें लगे हैं, वे भी तो किसान-मजदूरोंकी ही कमाई खाते हैं ? पर क्या वे शोषक कहे जायेंगे ? वस्तुतः जो भी अपने कर्त्तव्यका पालन करते हैं, वे शोषक नहीं कहे जाते। शासक, शिक्षक, अन्वेषक यदि शोषक नहीं तो शिल्प, सगीत, साहित्यके अभ्यासमें लगे लोग भी शोषक कैसे कहे जा सकते हैं ? श्रमके अतिरिक्त प्राकृतिक साधनोंका भी उत्पादनमें प्रमुख हाथ रहता है। अतः श्रमवालोंको यदि लाभका अंग मिलता है, तो साधनवालोंका भी लाभमें हिस्सा होना अनिवार्य है। श्रमवालोंको उचित पारिश्रमिक मिलना चाहिये और साधनवालोंको लाभ। शरीर, मस्तिष्क, श्रमशक्ति भी वस्तुतः प्राकृतिक ही वस्तु है। मनुष्योंने इतर यन्त्रोंके समान

मस्तिष्क एव देहोका निर्माण नहीं किया । जैसे इन प्राकृतिक साधनोसे मनुष्य लाभ उठाता है, वैसे ही अन्य प्राकृतिक साधनोसे दूसरोको भी लाभ उठानेका अधिकार है । मशीनो, कल-कारखानोके विस्तारसे उत्पादनमें वृद्धि, वस्तुओकी बहुलतासे दाममे कमी होना, कम मजदूरोका उपयोग, अधिकोकी बेकारी आदिका होना तो अनिवार्य है । परंतु बच्चो एव स्त्रियोसे काम लेना, चार घटेके बदले मजदूरोसे बारह घटे काम लेना, कम मजदूरी देना और उन्हें असहाय छोड़ देना आदि जुर्म है । यह कहीं भी हो, इसका समर्थन नहीं किया जा सकता ।

यह सार्वदेशिक एव सार्वकालिक इतिहासकी बात नहीं । अन्यान्य अनाचारोके समान यह भी शुद्ध उपद्रव ही है, जो सर्वथा हेय है । यह अतिरञ्जित बीभत्स वर्णन एक वर्गके प्रति घृणा फैलानेके उद्देश्यसे भी हो सकता है । वैसे रूसमें विरोधियोके साथ लोग हमसे भी अधिक भीषण दुर्व्यवहारकी बात करते हैं ।

भौतिकवादी ईश्वर एव धर्मके सम्बन्धमें बहुत उलटा प्रचार करते हैं और कहते हैं कि 'इस पक्षमें सब कुछ ईश्वरकी इच्छासे ही होता है । मनुष्यके विचार भी ईश्वरप्रेरणाके ही अवीन होते हैं । ईश्वरवादी ससारको मिथ्या मानकर उससे भागनेके ही फेरमें रहते हैं ।' वे कहते हैं कि 'इतिहास इस पक्षका समर्थन नहीं करता ।' परंतु ये बातें बहुत ही छिछली हैं । लाखो-करोडों वर्षका इतिहास वस्तुतः ईश्वरवादका ही समर्थक है । ईश्वरवादियोने ही बड़ा-बड़ा पुरुषार्थ किया है । समुद्रमे सौ योजनका पुल ईश्वरवादियोने ही तैयार किया है । अखण्ड भूमण्डलका साम्राज्य, पुष्पकविमान-जैसे वायुयान, दार्ड्रोजनबमसे करोडो गुना अधिक शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र ईश्वरवादियोने ही प्रकट किये हैं । मनुष्योके अतिरिक्त दिव्य शक्तियोके साथ प्रत्यक्ष व्यवहार भी उन्होने ही किया है । एक देहात्मवादी उसी बड़े काममे हाथ लगा सकता है, जिसका फल वह जीवनमें देख सके । उसके जीवनमें जिसका फल सम्भव नहीं, उस काममें वह किस उद्देश्यसे प्रवृत्त होगा ? परंतु आत्मवादी आत्माको अमर मानता है, वह जानता है कि 'इस जन्ममें नहीं तो जन्मान्तरमे मेरे प्रयत्नका फल होगा ही ।' वह कोटि-कोटि जन्मतक भी किसी बड़े कामको पूरा करनेका दृढ संकल्प वर सवता है—'८८ कोटि लगी रगर हमारी । बरों संभु न त रहौ कुमारी ॥' कई पीढीके प्रयत्न करनेसे गङ्गाके लानेका प्रयत्न भी डभी कोटिका था । जैसे अङ्कुरोत्पत्तिमें पर्जन्य साधारण कारण है, अङ्कुरके रूप, रस, फल आदि विचित्रताका असाधारण कारण पर्जन्य नहीं, किंतु बीजकी निजी विशेषता है, वैसे ही ईश्वर सर्व प्रवृत्तियोमे साधारण कारण है । तत्तद्विशिष्ट फलोंकी प्राप्तिमें प्राणियोके पुरुषार्थ ही मुख्य कारण हैं । प्राणियोके अपने पुरुषार्थ-प्रमादके अनुसार ही सफलता-असफलता चलती है । योगवाशिष्ठ आदिमें पुरुषार्थका जितना जवर्दस्त समर्थन है, जडवादी कभी भी उतने पुरुषार्थकी कल्पना नहीं कर सकते ।

कई लोग आजकल कहते हैं कि 'आस्तिकलोग जीने-मरने, स्वर्ग-नरककी ही चिन्तामें परेगान रहते हैं। इसीलिये उन्होंने लौकिक-भौतिक उन्नतिमें सफलता नहीं पायी। भौतिक लोग स्वर्ग-नरककी चिन्तासे मुक्त थे, अतः वैज्ञानिक उन्नतिमें बढ़ गये। परन्तु यह उनका भ्रम है, हम भौतिक वैज्ञानिक उन्नतिकी चर्चा कर आये हैं। अलवत्ता आत्मा-परमात्मा माननेवाला, स्वर्ग-नरकविश्वासी प्राणियोंको परमेश्वरका अंग मानकर उन्हें सतानेमें सकुचायेगा। कोई प्राणी एक कारी-गरके बनाये हुए खिलौनेको बिगाड़नेमें सकुचाता है, फिर कोई समझदार ईश्वरके बनाये प्राणियोंको सताने या मौतके घाट उतारनेसे अवश्य सकुचायेगा। भौतिकवादी पाप पुण्य, स्वर्ग-नरकसे डरते नहीं, अतः भीषण-से-भीषण नरसंहारमें, प्राणिसंहारमें उन्हें कुछ भी सकोच नहीं। उसका स्वार्थ भीषण-से-भीषण वृणित-से-वृणित कार्यसे भी सम्पन्न हो तो भी वे स्वार्थ-साधनके लिये तैयार हो जाते हैं। मार्क्सके दर्शन, जीव-विकास एवं मृत्यु आदिकी समालोचना पिछले प्रकरणमें की जा चुकी है। डार्विन हैबल आदिके सिद्धान्त भारतीय दर्शनोकी वसोटीपर मिनट-भर भी नहीं ठहरते।

बहुत से समाजवादी मार्क्सवादी भी मार्क्सके अर्थसम्बन्धी दर्शनसे सहमत होते हुए भी उसके अध्यात्मविचारसे सहमत नहीं होते। अनेकों लोग समाजवादी होते हुए भी ईश्वर एवं धर्ममें विश्वास रखते हैं। विशेषतः भारतमें हजारमें नौ सौ निजानवे समाजवादी धार्मिक एवं ईश्वरवादी होते हैं, परन्तु मार्क्सवादी दृष्टिकोणसे वे गलत रास्तेपर ही समझे जाते हैं। यह दुरगा ढंग उनकी दृष्टिमें सर्वथा अवैज्ञानिक है। उनका कहना है कि जब आत्मा-परमात्माका अस्तित्व विज्ञान एवं तर्कद्वारा सिद्ध नहीं होता तो वह क्यों माना जाय ? ईश्वर इन्द्रियोंका विषय नहीं, किंतु अनुभवका विषय है। ऐसे विश्वासोको अन्ध विश्वास ही कहते हैं। उनके मतानुसार भूत-प्रेतकी कल्पनाके समान ही ईश्वरकी कल्पना है। वे कहते हैं कि विज्ञानकी उन्नतिके लिये मनुष्यने ईश्वरकी कल्पनामें भी उन्नति कर ली है। आरम्भकालकी भूत-प्रेतकी कल्पना ही मध्यकालमें परिष्कृत होकर देवी-देवताके रूपमें प्रकट होती है। अधिक प्रगतिशील युगमें देवी देवताकी कल्पना भी परिष्कृत होकर एक ईश्वरका रूप ले लेती है और परिष्कृत होकर वही कल्पना अद्वैत निर्गुण-निराकार ब्रह्मका रूप धारण कर लेती है। मार्क्सका कहना है कि जो वस्तु है ही नहीं उसपर विश्वास करनेसे क्या लाभ ? और झूठी कल्पनासे मनुष्यको क्या आश्रय मिलेगा ? और क्या उत्थान होगा ? सबसे बड़ी अड़चन यह है कि अध्यात्मवादियोंके मतानुसार आत्मा परमात्मामें परिवर्तन नहीं होता। सुतरा ईश्वरनिर्दिष्ट धार्मिक-सामाजिक नियमोंमें भी रद्दोदल नहीं हो सकता। परन्तु मार्क्सके मतानुसार कोई धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक नियम शाश्वत नहीं है। उनमें रद्दोदल होता ही रहता है। तभी उसका राष्ट्रीकरण समाजीकरण चल सकता है। ईश्वर

मानना एवं उसके निर्दिष्ट नियमको न मानना यह अर्धजरतीयन्याय कैसे चलेगा ? अपरिवर्तनीय ईश्वर एवं धर्मको मानते हुए व्यक्तिगत सम्पत्ति-भूमिका समाजीकरणके नामपर छीनना कथमपि नहीं हो सकता । मार्क्सवादी कहते हैं कि धार्मिक, आध्यात्मिक विचारवाले समाजकी प्रगतिका सदा ही विरोध करते हैं । फ्रांसके चाल्टेयरने कहा था कि यदि परमेश्वर नहीं है तो हमें स्वयं परमेश्वर गढ़ लेना चाहिये, क्योंकि उसका भय मनुष्योंको उचित मार्गपर चलानेमें सहायक होता है । परंतु मार्क्स ऐसे काल्पनिक भयसे लाभकी अपेक्षा हानि ही देखता है । उसे भय है कि ईश्वर माननेवाला व्यक्ति ईश्वरीय शास्त्र एवं ईश्वरीय नियमोंको भी माननेके लिये बाध्य होता है । फिर उसे श्रेणी-सर्वप एवं किसी व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं भूमिके छीन लेनेके सिद्धान्तमें विश्वास जमना असम्भव हो जायगा ।

वस्तुतः ईमानदारीकी बात यही है कि मार्क्सवादी, ईश्वरवादी दोनोंका समन्वय हो नहीं सकता । अन्ततः जो ईश्वरवादी हैं उन्हें मार्क्सवाद छोड़ना ही पड़ेगा । मार्क्सकी अर्थनीति ईश्वर एवं वर्मके रहते-रहते चल ही नहीं सकती । ईश्वरवादी मार्क्सवादी बनकर या तो मार्क्सवादियोंको धोखा देते हैं या अपनेको धोखा देते हैं । जब भौतिक सूक्ष्म वस्तुओंके ज्ञानमें अणुवीक्षण आदि अनेक साधन अपेक्षित होते हैं तब परमाणु एवं आकाशसे भी परम सूक्ष्म अह महान् अव्यक्त एवं इन सबसे परम सूक्ष्म स्वप्रकाश सत्स्वरूप परमेश्वर बिना साधनोंके कैसे बुद्ध्यालू हो सकता है । स्वधर्मानुष्ठानद्वारा शुद्धान्तःकरणप्राणी विवेक, वैराग्य, शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिज्ञा, श्रद्धा-समाधान एवं मुमुक्षुत्व आदिसे युक्त होकर उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्रका विचार करनेसे परमेश्वरको समझ सकता है । शङ्कराचार्य उदयनाचार्यके तर्कोंको सुनकर कोई समझदार पुरुष नहीं कह सकता कि ईश्वर भीरु मस्तिष्ककी कल्पना है या अन्वविश्वासकी चीज है । अभय सत्त्वशुद्धि ज्ञानयोगव्यवस्थितिपूर्ण तर्क एवं योगाभ्यासजनित एकाग्रता आदि जिसके समझनेके साधन हैं उसे अन्ध-विश्वासकी बात समझना बड़ी भयंकर मूर्खता है । भूत-प्रेतकी कल्पनाने ही परिष्कृत होकर निर्गुण ब्रह्मकल्याणका रूप ले लिया, यह कथन भी अनभिज्ञतामूलक है, लाखों वरस पहलेसे ही सत्रकी मान्यता साथ-साथ चली आ रही है । ताम्रम प्राणियोंके लिये भूत-प्रेत, सात्त्विकोंके लिये देवी-देवता एवं सर्वोच्च अधिकारीके लिये सगुण परमेश्वर एवं साक्षात्कारसम्पन्न अत्यन्त अन्तर्मुखके लिये निर्गुणब्रह्मका उपदेश है । तत्त्वविद् भी व्यावहारिक दृष्टिसे सबका सम्मान करता है । कर्मकाण्ड, देवता आदिकी व्यावहारिक सत्ता तत्त्ववित्को ही नहीं अपितु सर्वज्ञशिरोमणि ईश्वरको भी मान्य है ।

उत्पत्तिके साधन और न्याय

मार्क्सवादी कहते हैं कि न्याय भी सदा एक-सा नहीं रहता; किंतु उसमें रदोबदल होता रहता है । जैसे प्राचीन भारतमें शूद्रोंका विद्या पढ़ना अन्याय और

एक पुरुषको दो पत्नियों रखना न्याय था। विधवाका सती होना महापुण्य था, परंतु आज वह अपराध है। न्याय क्या है, इसका निर्णय रहता है उन लोगोंके फैसलेपर, जिनके हाथमें शक्ति रहती है। जिस श्रेणीके हाथमें पैदावारके साधन होते हैं, वही न्याय अन्यायका निर्णय करती है। जिससे उनके हितोंकी रक्षा हो, उनके हाथमें शक्ति बनी रहे, उसी टगके तरीकोको वे न्याय कहा करते हैं। पूँजीवादी समाजमें जिस तरह पूँजीपतिके कब्जेमें पूँजी बनी रहे, वही न्याय है। वे व्यक्तिकी पूँजी छीननेको महापाप बतलाते हैं। समाजमें मुनाफा कमाकर पूँजी बढ़ानेके अधिकारको न्याय कहते हैं। कम मूल्यमें सौदा खरीदकर अधिक दाममें बेचने, सौरूपयेका काम कराकर नौकरको पचास रुपया देनेको भी न्याय कहते हैं। रूस इन सब बातोंको अन्याय समझता है। पूँजीवादी देशोंमें पूँजीपतिके हितकी बात न्याय है। और रूसमें मजदूरोंके हितकी बात न्याय है।

वस्तुतः ऐसी ही भ्रान्त धारणाओंके कारण भौतिकवादी अपने विरोधियोंको कुचलनेके लिये अमानवताका व्यवहार करते हैं और उसे भी न्याय समझते हैं। समाजके नामपर व्यक्तियोंकी भूमि-सम्पत्ति छीनकर विचार-स्वातन्त्र्यपर प्रतिबन्ध लगाकर व्यक्तियोंके शरीर, वाणी एवं मस्तिष्कपर ताला लगा देने-जैसे बुरे-से-बुरे पापको अपनी हित-रक्षाका साधन समझकर उसे न्याय कहते हैं। भारतमें विद्या, ज्ञान, जानकारीपर कभी भी प्रतिबन्ध नहीं था। विदुर, धर्मव्याध, मूक आदि शूद्र एवं अन्त्यज भी परम ज्ञानवान् थे और समाजमें आदरणीय थे। बड़े-बड़े ब्राह्मण, ऋषि-महर्षि भी धर्मव्याधके पास धार्मिक परामर्शके लिये जाते थे। जिन वेदादि ग्रन्थोंका विधिपूर्वक अध्ययन पुण्यविशेषकी दृष्टिसे जिन वर्णोंके लिये विहित है, उनका अध्ययन उन्हींके लिये आज भी है, तब भी था। जो वेदादि शास्त्रके अनुसार अदृष्ट अर्थमें विश्वास रखते हैं वे तदनुसारी नियम प्रसन्नतासे ही मानते हैं। यहाँ किसी श्रेणीके स्वार्थका प्रश्न ही नहीं उठता। जो वेदोंको किसी दूसरी श्रेणीके स्वार्थकी चीज समझते हैं, वे पुण्यकी दृष्टिसे उनका अध्ययन करना ही क्यों चाहेंगे? फिर उनके लिये निषेधका प्रश्न ही क्यों उठेगा? जो विधिपूर्वक वेदाध्ययनसे जिस आधारपर किसीके लिये पुण्य मानेगा, उसी आधारपर किसीके लिये उसे पाप भी मानना ही पड़ेगा।

आजकल मूर्तिपूजाके सम्बन्धमें भी यही बात है। पाषाणादि मूर्तिमें देवताका अस्तित्व माननेपर ही मूर्तिपूजाका प्रश्न उठता है। जो मूर्तिमें देवताकी सत्ता नहीं मानता, उसके लिये मूर्तिपूजाका प्रसङ्ग ही नहीं आता। प्रत्यक्षानुमानादिके आधारपर मूर्तिमें देवता सिद्ध हो, तब तो कम्युनिष्ट भी अवश्य ही मूर्तिपूजक बन जायेंगे। अतः कहना होगा कि प्रत्यक्षानुमानसे मूर्तिमें देवताका अस्तित्व एवं उसकी पूजासे लाभ सिद्ध नहीं होता। केवल शास्त्रप्रमाण माननेसे ही मूर्तिमें प्रतिष्ठाविधिके

द्वारा देवताका आवाहन-प्रतिष्ठापन होता है, तभी उसकी पूजासे पुण्यकी बात उठती है। फलतः मूर्तिप्रतिष्ठा पूजादिविधायक शास्त्रोंमें विश्वास रखनेवाला जब मूर्तिपूजामे प्रवृत्त होगा तो उसे उस शास्त्रकी अन्य बातें भी माननी पड़ेगी। यदि शास्त्रोंके अनुसार ही मन्दिरस्थ प्रतिष्ठित मूर्तिमें और म्यूजियममें रहनेवाली मूर्तियों तथा आपणस्थ (बाजारमें बिकनेवाली) मूर्तियोंमें विशेषता सिद्ध होती है, तो उन्हीं शास्त्रोंके अनुसार यह भी मानना होगा कि अमुक-अमुक हेतुओंसे मूर्तिसे देवत्व नष्ट हो जाता है और अमुकको मूर्तिपूजासे कुछ लाभ न होगा किंतु उलटा नुकसान होगा। यह सब बातें भी उन्हीं शास्त्रोंसे माननी पड़ेगी। शास्त्रोंकी दृष्टिसे न्याय-अन्यायका निर्णय किसी श्रेणीके हित या अहितकी दृष्टिसे नहीं होता। ब्राह्मणको राजसूय करना अधर्म कहा गया है, क्षत्रियके लिये वही धर्म है। वैश्यके लिये वाजपेय करना अधर्म कहा गया है वही ब्राह्मणके लिये धर्म है। इसी तरह वैश्यस्तोम, निषादस्थपति इष्टि, वैश्य एवं शूद्रविशेषके लिये धर्म है, अन्यके लिये अधर्म। यहाँ उन अनुष्ठाताओंके हिताहितकी दृष्टिसे धर्माधर्मका निर्णय किया गया है, ग्रासक या धनवान् श्रेणीकी दृष्टिसे नहीं।

औषध-विशेषके सेवनका विधि-निषेध रोगियोंके हिताहितसे सम्बन्ध रखता है, शासक-शासित-श्रेणियोंसे नहीं। किसी अवस्थामे किसी रोगीको किसी औषधसे लाभ हो सकता है और किसी औषधसे हानि। उसी दृष्टिसे विधि-निषेध होता है। हर जगह श्रेणी-स्वार्थकी बात जोड़ना कलुषित मनोवृत्तिका ही परिचायक है। इसी तरह अवस्था-विशेषमें दो पत्नीका होना तब भी धर्म था और अब भी धर्म है। अवस्था-विशेषमें वही तब भी अधर्म था और अब भी अधर्म है। यदि संतानके लिये, पिण्ड-श्राद्धके लिये अपने पूर्वजोंका नाम चलानेके लिये, पूर्व पत्नीकी सम्मतिसे ही दूसरा विवाह किया जाय तो इसमें अन्याय-जैसी कोई बात नहीं। कोई विधवा सती न होकर वैधव्य धर्म पालन करे तब भी उसकी सद्गति शास्त्रसम्मत है। वह धर्म उसपर लादा नहीं जाता, उसकी इच्छापर निर्भर है। यहाँ उसीके हिताहितका सम्बन्ध है, अन्यका स्वार्थ नहीं। अथ च विधवाका सती होना तब भी धर्म था और अब भी धर्म है। कानून बन जानेमात्रसे धर्म-अधर्ममें भेद नहीं पड़ता। ईश्वरीय धर्माधर्ममें सरकारें रद्दोदल, हस्तक्षेप करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं, क्योंकि धर्माधर्मका वास्तविक फल देना सरकारोंके हाथकी बात ही नहीं है। इसी तरह रूसी कानूनसे व्यक्तिगत सम्पत्ति छीनना भी धर्म नहीं हो सकता।

वस्तुतः जो कानून स्वार्थकी दृष्टिमें बनाये जाते हैं, कोई भी तटस्थ विधेचक उन कानूनोंको न्याय नहीं कह सकता। न्याय स्वपर-पक्षपातविहीन होता है, जिसके आधारपर रामचन्द्रने एक विद्वान् बलवान् धनवान् ब्राह्मण एवं नगण्य श्वानके विवादमें अपराधी ब्राह्मणको ही दण्ड दिया था। धोत्रीके सुकाधले

सीतातकको वनवास दिया था । शाहजहाँने हकीकतरायके मृत्युदण्डके बदलेमें काजीको भीषण दण्ड दिया, जो उसकी ही श्रेणीका था । सगरने अपने पुत्र असमञ्जस-को देशवर्हिष्कृत कर दिया था । अपराधी पुत्रको भी दण्ड देना, निरपराध शत्रुको भी दण्ड न देना ही न्याय कहलाता है । विश्वासघात, मित्रद्रोह, चोरी, व्यभिचार, परपीड़न आदि अधर्म-अन्याय हैं ।

इसी प्रकार औचित्य-अनौचित्य, सत्य एव सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें भी मार्क्स-वादी कहते हैं कि 'ये कोई भी स्थिर नहीं होते ।' पर यदि सर्वसम्मत प्रमाणन्याय, औचित्य, सत्यको आधार न माना जाय तो फिर कोई सिद्धान्त स्थिर करनेके लिये पुस्तकादि लिखनेका प्रयास भी मार्क्सने क्यों किया ? फिर तो उचित-अनुचित, प्रमाण-अप्रमाण, सत्तर्क-असत्तर्कसे कोई भी कुछ भी सिद्ध कर सकता है । फिर जब सभी सिद्धान्तों, सत्त्योंकी यही हालत है, तब मार्क्सद्वारा प्रचारित सिद्धान्तोंकी भी यही हालत होगी ।

मार्क्स और धर्म

भौतिकवादियोंका कहना है कि "सभ्य मनुष्यका विश्वास है कि आध्यात्मिक शक्ति सदा मङ्गलमय है, लेकिन असभ्य मनुष्यके लिये यह शक्ति निष्ठुर है, इसलिये सदा ही उसको विपत्तिमें डालती रहती है । पत्थर जब गिरकर आदमीको घायल करता है, अचानक पेड़की डाल टूट जाती है, तब यह सब प्रकारके भूतों या पेड़के भूतकी शैतानीको छोड़कर और क्या है ? जबतक औजार—हथियारोंके ज्ञानकी वृद्धि नहीं हुई, तबतक असभ्य मनुष्य भूतोंको वशीभूत करनेके लिये मन्त्र-तन्त्रके ही फेरमें पड़ा रहा । हथियार-औजारोंके ज्ञान बढ़नेके साथ-साथ प्राकृतिक शक्तिपर मनुष्यकी प्रभुता बढ़ने लगी । 'भौतिक शक्ति निष्ठुर ही नहीं है, बल्कि यह भलाई भी कर सकती है', जब इस धारणाका जन्म हुआ तब असभ्य मनुष्यके प्रेततत्त्व-पर सभ्यताकी सुहर पड़ी । प्रेत-तत्त्व असभ्य मनुष्यका है, देवता-तत्त्व इसके ऊपरकी सीढ़ी है—जो सभ्य मनुष्यका है । आदिम असभ्य मनुष्यके लिये प्रकृति निष्ठुर भयावह है । प्रकृतिके रहस्यका भेद जानकर सभ्य मनुष्य कहने लगा—'मङ्गलमयी विश्वजननी' । यह परिवर्तन अकस्मात् एक दिनमें नहीं हो गया । आदिम भूत-प्रेतोंने सभ्य होकर यह रूप ग्रहण किया है । आदिम मनुष्यका प्रेत-तत्त्व सभ्यताकी मीढ़ीपर चढ़कर सूक्ष्म बन गया है । प्रकृति-जगत्को चलानेवाली है असंख्य निष्ठुर प्रेतोंकी शक्ति; और इसी प्राथमिक कल्पनाका सशोधितरूप है देवताओंकी कल्पना । ये सब देवता प्रकृति-जगत्के एक-एक हिस्सेके मालिक हैं । ये भलाई भी करते हैं और बुराई भी कर सकते हैं । जल, अग्नि, वायु—सभी प्राकृतिक शक्तियाँ किसी-न-किसी देवताके अधीन हैं । देव-समाज भी मनुष्य-समाजके मॉचेपर ढला हुआ है । ये असंख्य देवता घटते-घटते एक ईश्वरतक पहुँचे ।

सभ्यताकी सीढ़ीपर चढ़कर वस्तु-जगत्के विषयमें मनुष्यका ज्ञान ज्यो-ज्यो बढ़ने लगा, त्यो त्यो देवताओकी संख्या घटने लगी । मनुष्य ज्यो अगणित पदार्थोंमें एक मेल देखने लगा, त्यो देवताओका बहुत्व भी एकत्वमें परिणत हो गया ।'

“पहले भूत या चैतन्य ? इस प्रश्नका आदिम असभ्य जातियोंके प्रेत-तत्त्वसे बहुत निकट सम्बन्ध है । इस बातको स्मरण रखना चाहिये कि आदिम असभ्य मनुष्यको जीवनकी प्राथमिक बातें सोचनी पड़ी थी । अनुमानके ऊपर प्रतिष्ठित मन्त्र-तन्त्रोंके द्वारा उसको जीवन-धारणका कौशल सीखना पड़ा था । उसकी यह कोशिश चाहे जितने बचपनकी हो, उसका मूल है जीवन-धारणकी अभिलाषा । इसलिये जीवन-मरणके रहस्यने आदिम मनुष्यको काफी चिन्तित कर डाला था । मनुष्यका शरीर जीवित-अवस्थामें एक प्रकारका और मरनेपर दूसरे प्रकारका क्यों होता है, जागरण, निद्रा, स्वप्न, रोग और व्याधि—ये सब क्यों होती हैं, स्वप्नमें जो मनुष्य-मूर्तियाँ दिखायी देती हैं, वे सब क्या हैं, स्वप्नमें मनुष्योंकी जो छाया-मूर्तियाँ दिखायी देती हैं, वही शायद जीवनकी कुजी है, शायद इस छायामूर्तिका शरीर छोड़ना ही मृत्यु है—असभ्य मनुष्यकी प्रेतात्माकी धारणा इसी प्रकार बनी है । यहाँ इस धारणाकी ऐतिहासिक आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं, लेकिन इसमें सदेह नहीं कि यही प्रेतात्मा सभ्यताके साबुनमें धुलकर चैतन्य परमात्मा आदि बन गयी है । मानव आत्माके विषयमें असभ्य जातियोंकी धारणा है कि यह सूक्ष्म भापकी तरह है । इसके शरीर त्याग देनेसे मृत्यु हो जाती है ।

“मनुष्य तथा अन्य उन्नत प्राणियोंके शरीर-धारणके लिये श्वासक्रिया बहुत ही आवश्यक है । मरते समय श्वासक्रिया क्षीण होते होते बंद हो जाती है । आदिम असभ्य जातियोंने भी इसको देखा था । इसीलिये श्वासक्रियाको ही उन्होंने आत्मा मान लिया था । आस्ट्रेलियाके आदिम निवासियोंको भाषामें ‘श्वास’ और ‘आत्मा’ इन सबके लिये एक ही शब्द है । हिब्रू तथा सभी आर्य भाषाओंके भाषा-विज्ञानमें श्वास और आत्मबोधक शब्दोंका निकट सम्बन्ध है । यूनानी ‘साइक’ और ‘न्यूमा’, लैटिन ‘एनिमस’, ‘एनिमा’, ‘स्पिरिट्स’, इनका रूप-परिवर्तन इसी प्रकारसे हुआ है ।”

इसपर कहना यह है कि यद्यपि मस्तिष्क अतिभौतिक प्रतीत न हो, तथापि यह तो नहीं कहा जा सकता कि जिससे जो निश्चित हो, वह उसका स्वरूप ही होता है । यदि ऐसी ही बात हो तब तो ज्ञानसे ही सब ज्ञेय निश्चित किया जाता है, यहाँतक कि मस्तिष्क भी ज्ञानसे ही निश्चित किया जाता है, फिर क्या भौतिकवादी सबको ही ज्ञानस्वरूप माननेको तैयार हैं ? यदि नहीं, तब तो भले ही भौतिक मस्तिष्कसे ही ईश्वर विदित हो, परंतु वह भौतिक नहीं कहा जा सकता । स्वयं इन्द्रियों लीरूप एवं सूक्ष्म हैं, परंतु उनसे रूपादिसाम् स्थूल प्रपञ्च विदित होता

ही है। इसी तरह मस्तिष्क आदिद्वारा अभौतिक आत्मा, ब्रह्म आदिका बोध होता ही है। परिवर्तनशील भौतिकवादियोंका भूत ही नयी-नयी पोगाकोंमें भले उपस्थित हो, उपनिषदोंका ब्रह्म तो सदासे ही औपाधिकरूपमें अनेक रस और निरुपाधिकरूपसे एकरस ही रहा है और वैसे ही रहेगा। जिसको भौतिकवादी वस्तु कहते हैं, वही अवस्तु है। जिसे वे अवस्तु समझते हैं, विचारकी दृष्टिसे वही वस्तु है। स्थूलदर्शी कार्यको ही वस्तु समझता है। एक स्थूलदर्शी पटको सत्य मानता है, परन्तु एक सूक्ष्मदर्शी तन्तुभिन्न पटको ही असत् कहता है। इसी तरह कारण-परम्पराका विचार करते हुए तन्तु भी अशुसे भिन्न असत् है। अशु भी विनौलमात्र है, विनौला भी पृथ्वीमात्र है, पृथ्वी भी जलमात्र ही है, जल तेजसे भिन्न होकर कुछ नहीं ठहरता। तेज वायुमात्र है, वायु आकाशमात्र ठहरता है; किन्तु स्थूलदर्शीको यह सब ढोंग ही जँचता है।

अन्तिम सत्यका विचार सर्वदा ही उपयुक्त है, चाहे श्रेणीविभाजित जीवन हो चाहे समष्टिवादी जीवन। सभीके लिये विक्षेपशून्य, निष्प्रपञ्च, सत्य, स्वप्रकाश ब्रह्म अपेक्षित है। इन्द्र भी अनन्त आनन्दसामग्री भुलाकर निष्प्रपञ्च सौप्त सुखकी ओर प्रवृत्त होता है। कोई कितना भी निर्द्वन्द्व, शान्त एव सुखी क्यों न हो, सुषुप्तिकी निष्प्रपञ्चताके बिना उसे विश्राम नहीं मिलता। 'ईश्वरको न युक्तिसे जाना जा सकता है, न उसे प्रकाशित किया जा सकता है' यह कान्टका कथन; तथा 'ईश्वर वाङ्मनसगोचर नहीं है' यह हिंदूदर्शनोंका कथन; यह सिद्ध नहीं करते कि ईश्वर अवास्तव एव असत् है। किन्तु उनका अभिप्राय यही है कि श्रद्धा, समाधान तथा एकाग्रताके बिना ईश्वरका साक्षात्कार नहीं हो सकता। ईश्वरके अस्तित्वमें अनुमान, आगमादि अनेको प्रमाण हैं। श्रुति ब्रह्म या आत्माको साक्षात् अपरोक्ष ही बतलाती है—'यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म।' (बृहदा० उप० ३।५।१) विज्ञाता प्रमाता प्रमाणानपेक्षरूपसे ही स्वतःसिद्ध होता है। सशय, विपर्यय एवं अज्ञान मिटानेके लिये ही प्रमाण अपेक्षित होते हैं। आत्मा अन्यत्र सदिहान होता हुआ भी स्वयं असदिग्ध है, अन्यत्र विपर्ययज्ञानवान् होता हुआ भी स्वयं अविपर्यस्त रहता है। अन्यत्र अनुमिमान होता हुआ भी (अनुमान करता हुआ भी) स्वयं अपरोक्ष रहता है। फिर प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि सभी जिस अखण्ड बोधके अनुग्रहसे भासित होते हैं, उसे किमसे सिद्ध किया जाय ? यही बात 'विज्ञातारमरे केन विज्ञानीयात्' इत्यादि श्रुतियोंद्वारा कही गयी है। अतएव प्रमाणसिद्ध एव स्वतःसिद्ध ईश्वर या ब्रह्म परमकल्याणकारी होनेसे ग्राह्य, उपास्य एव ज्ञेय है। अनादि स्वतःसिद्ध वस्तुको बुद्ध्यारूढ करनेके लिये युक्ति, श्रुति आदि अपेक्षित होती है। इतिहास घटनाओंका ही होता है, फिर भी औपचारिकरूपसे 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्', 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुत इतिहासके आधारपर सर्वकारण-स्वप्रकाश ब्रह्मका अस्तित्व सिद्ध होता ही है। तदनुगुण युक्ति भी श्रुतिने ही दी है। जैसे अन्न

(पृथ्वी) रूप अङ्कुरसे जलरूपी बीजका पता लगता है, जलरूपी अङ्कुरसे तेजरूपी मूलका पता लगता है, वैसे ही तेजरूपी अङ्कुरसे सद्रूपी मूलका पता लगता है—‘तेजसा सौम्य शुद्धेन सन्मूलमन्विच्छ ।’ दार्शनिक पण्डितोंके इन तत्त्वविचारोंको गलत कहना बुद्धिकी अजीर्णताका ही द्योतक है । वास्तविक अभिज्ञता और व्यावहारिक ज्ञानसे तो भौतिकवादियोंने ही शत्रुता कर रखी है । विश्वके उपादानकारणरूपसे, विश्वके निमित्तकागणरूपसे, विश्वके आधार या अधिष्ठानरूपसे, विश्वके प्रकाशक तथा व्यवस्थापकरूपसे, कर्मफलदातारूपसे, सर्वज्ञासरूपसे ईश्वरकी सिद्धि होती ही है । जैसे दर्पणके अंदर प्रतिबिम्ब भासित होता है, वैसे ही अनन्त चिद्रूप दर्पणमें मनुष्य, पशु, पक्ष्यादि, जङ्गम-स्थायरादि सभी प्रपञ्च भासित होते हैं । काष्ठपर व्यक्त अग्निको काष्ठसे भिन्न समझना ही पड़ेगा, ज्ञान या चेतनाको मनुष्यादि देहोंसे भिन्न समझना ही पड़ेगा ।

आदिम जगली मनुष्योंके वस्तु और चेतनासम्बन्धी विचारोंको इतिहासके बलसे सिद्ध करनेकी दुश्चेष्टा निराधार है । यह इतिहास कपोलकल्पित, मिथ्या एवं पूरा मनगढन्त है । जड़वादियोंका इतिहास-सम्बन्धी मनोराज्य केवल विनोदका विषय है । कोई प्रमाणचक्षु पुरुष इसे केवल भौतिकवादियोंका दिमागी फितूर ही कहेगा । प्रामाणिक आस्तिकोंके इतिहासोंके अनुसार तो विश्वकारण ईश्वरकी संताने ईश्वरीय ज्ञानरूप वेदादि शास्त्रोंद्वारा पूर्णरूपसे शिक्षित ही होती हैं । उत्तरोत्तर जहाँ-कहीं सच्छिक्षा एवं सत्सङ्गमे विच्छेद हुआ, वहीं असभ्यता, अज्ञता एवं मिथ्या धारणाएँ बनती हैं । भौतिकवादियोंकी यह धारणा नितान्त असत्य है कि ‘अध्यात्मवादियोंकी अतिभौतिक देवता, ईश्वर या ब्रह्म’ इत्यादि कल्पनाएँ हैं और इनका मूल असभ्यो, जंगलियोंकी तन्त्र-मन्त्र, भूत-प्रेतकी कल्पनाएँ हैं ।’ जिन्होंने सच्चे इतिहासोंका अध्ययन किया है, रामायण, महाभारत, पुराणों, उप-पुराणों, तन्त्रों, आगमों एवं मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों एवं उनके आरण्यक, उपनिषदोंका मनन किया है और जिन्होंने व्यास, वसिष्ठ एवं श्रीकृष्ण भगवान्‌के दिव्य दर्शनोंका अध्ययन किया है, उनको यह समझनेमें कठिनाई न होगी । भौतिकवादी जिन बाह्य भौतिक वस्तुओंको सत्य मानते हैं, देवता, ईश्वर, ब्रह्मकी बात तो पृथक् रहे भूत-प्रेतकी कल्पना भी उनसे अधिक सत्य है । इसीलिये उपनिषद् या गीताके जिस निर्गुण ब्रह्मको भौतिकवादी अन्तिम कल्पना मानते हैं, उस कल्पनाके साथ भी भूत-प्रेत एवं देवताओंकी कल्पनाएँ हैं । यह समझना नितान्त भ्रम है कि विक्रमक्रमसे भिन्न-भिन्न कालोंकी ही यह कल्पनाएँ हैं । एक उच्च-कोटिका ब्रह्मदर्शन परमार्थ-दृष्टिमें सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य ब्रह्मतत्त्व बतलाता है । परंतु वही अन्य अधिकारियोंके लिये ईश्वरकी उपासना बतलाता है । कुछ और ढंगके अधिकारियोंके लिये सगुण ईश्वरकी आराधना, अन्य लोगोंके लिये विभिन्न देवताओंकी आराधना बतलाता है । अन्य ढंग-

कें लोगोके लिये प्रेत-पिशाचकी आराधना भी उचित मानता है । 'बृहदारण्यक' आदि उपनिषदोंमें भी निर्गुण ब्रह्म, ईश्वर और साथ-ही-साथ अनेक देवताओंका भी वर्णन है । भारत, रामायण, गीता आदिमें तो सबका वर्णन है ही । यदि पिछली-पिछली कल्पनाएँ उत्तरोत्तर कल्पनाओंकी दृष्टिसे असत्य हैं, तब तो उनको मिथ्या ही कहना चाहिये । किसीके लिये भी उनकी ग्राह्यता एव उपासनाका उपदेश कैसे हो सकता है ? इसलिये व्यावहारिक दृष्टिसे प्रेत, पिशाच आदि सभी तत्त्वोंका अस्तित्व है ।

प्रेतादि केवल कल्पना नहीं, उनकी देवयोनिमें गणना है । परलोकविद्या-वालोंकी दृष्टिसे प्रेत-तत्त्वकी सिद्धि होती है । भूतावेश, प्रेतावेश आज भी वैसी ही सत्य वस्तु है, जैसी पुराने कालमें । इसके अतिरिक्त भौतिकवादियोंकी प्रेतकल्पनाका युग कितना पुराना है ? जब मानवका इतिहास ही लाखों नहीं हजारों ही वर्षोंका है, तब उनके प्रेतकल्पनाका युग भी उनकी दृष्टिमें हजारों वर्ष-का ही पुराना है । परंतु आर्य इतिहासके अनुसार निर्गुण ब्रह्मकी कल्पना तो लाखों वर्ष पुरानी है । द्वापरके कृष्ण, त्रेताके राम और सृष्टिके मूल कारण ब्रह्मा, विष्णु एव महेशकी अतिप्राचीन दृष्टिमें भी निर्गुण ब्रह्मकी सत्ता स्वतःसिद्ध है । भौतिकवादियोंके तथाकथित मनगढंत मिथ्या इतिहासोंकी अपेक्षा आर्य इतिहासकी तथ्यता कहीं अधिक श्रेष्ठ है । अतएव जागरण, निद्रा तथा स्वप्न-के आधारपर देह-भिन्न आत्माका निर्णय करना, प्राणधारणसे जीवन, प्राणराहित्यसे मरण आदिकी धारणा जंगली असभ्योंकी नहीं, किंतु सम्यक्षिरोमणि महा-दार्शनिकोंकी भी यही धारणा थी और आज भी है । श्रीशङ्कराचार्यका कहना है कि जो स्वप्न, जागर एव सुषुप्तिको जानता है, वही आत्मा है, भूतसब नहीं—'यस्स्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यं तद्ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः ।' भागवतमें कहा गया है कि स्वप्न, सुषुप्ति बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं, जिस द्रष्टासे इनका बोध या प्रकाश होता है, वही अध्यक्ष पर पुरुष है—'बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः । ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः ॥' (श्रीमद्भा० ७ । ७ । २५) ।

इस शरीरकी विभिन्न अवस्थाओंमें उसके भीतर अन्तरसे भी अन्तरतम-रूपसे आत्माको देखनेकी पद्धति लाखों वर्ष पुरानी है । जैसे मुझमेंसे बुद्धिमान्नीसे झोका (सोंक) निकाली जाती है, वैसे ही शरीरसे, इन्द्रियो, मन, बुद्धि, अहंकार या आनन्दमयसे, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिसे अन्वयव्यतिरेकादि युक्तियों-द्वारा समझकर पृथक् रूपसे आत्मा समझा जाता है । शरीरके भीतर ही अ-तत्को त्याग करते हुए भगवत्तत्त्वको समझा जा सकता है—'अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव ह्यतस्य जन्तौ मृगयन्ति सन्तः ।' (श्रीमद्भा० १० । १४ । २८) 'गुहाहितं गद्वरेणं पुराणम्', 'यो वेद निहितं गुहायाम् ।' शरीरके भीतर बुद्धिरूपा गुहामें अभिव्यक्त अनन्त चित्-स्वरूप आत्माका उपलब्ध होता है । प्राणधारणके आधारपर जीवगन्दकी

प्रवृत्ति भी अति प्राचीन ही है। यह हजार दो हजार वर्षके जंगली मनुष्योंकी कल्पना नहीं, बल्कि यह कहना चाहिये कि अतिप्राचीन वास्तविक आर्षज्ञानका विकृतरूप अवशेष है। उपनिषदोंने मरनेके सम्बन्धमें बड़ी गम्भीरतासे विचार किया है। नचिकेताका प्रश्न ही मुख्य यही था—‘येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।’ (कठोप० १।१।२०) अर्थात् मरनेके बाद जो यह सदेह होता है, कुछ लोग कहते हैं कि देह-भिन्न आत्मा बचा रहता है, कुछ कहते हैं कि कुछ भी बाकी नहीं बचता इसमें तथ्य क्या है? इसीपर यमराजने वरप्रदानके रूपमें अनन्त, सर्वाधिष्ठान, सर्वद्रष्टा आत्माका निरूपण किया है।

देवताओंके सम्बन्धमें तो भगवान् व्यासकी उत्तरमीमांसामें (१।३।९) गङ्गाद्वारा स्पष्ट ही बतलाया गया है कि ‘इन्द्रो ह वै देवानामभि प्रवव्राज’ इत्यादि आख्यायिकाओंद्वारा ऐश्वर्यशील देवतातत्त्वका स्पष्टबोध होता है। महादार्शनिक विद्यारण्य स्वामीने सर्वाधिष्ठान ब्रह्मको अनिर्वचनीय तथा प्रकृतिविशिष्ट रूपको ईश्वर बतलाया है। प्रकृतिके सूक्ष्म कार्य समष्टि सप्तदशतत्त्वात्मक लिङ्गशरीरसे विशिष्ट उसी ईश्वरको हिरण्यगर्भ बतलाया है और समष्टि स्थूलशरीर एवं स्थूलप्रपञ्चविशिष्ट उसी हिरण्यगर्भको विराट् कहा है। ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट्—तीनों ही ईश्वरके ही रूप हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरोंसे विशिष्ट ब्रह्म ही तीनों रूपमें व्यक्त होता है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों प्रपञ्च और उसका प्रत्येक अंश ईश्वर ही है। ईश्वररूपसे आराधना करनेपर इसीलिये निम्ब, पिप्पल, पाषाणादि भी फलप्रद होते हैं। अस्ति, भाति, प्रिय, नाम, रूप यह पाँच रूप सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। नाम, रूप मायाके अंश हैं और शेष—अस्ति, भाति, प्रिय—तीनों ब्रह्मके ही रूप हैं।

जंगली लोगोंकी विचारधाराओंका यह निष्कर्ष नहीं कि ‘प्रेततत्त्व, जादूविद्या, अनेकेश्वरवाद, एकेश्वरवाद मनुष्यकी चिन्ताधाराके विभागकी सीढ़ियाँ हैं और अध्यात्मवादका मूल भीरुतामय प्रेतकल्पना ही है।’ उसका निष्कर्ष तो यह है कि ईश्वरसे निहित ऋषियो, महर्षियोंके उच्च स्तरका ब्रह्मविज्ञान, आत्मविज्ञानका ही विकृत अवशेष जंगलियोंमें मिलता है। उच्चकोटिका ब्रह्मविज्ञान, आत्मविज्ञान कालक्रमसे लुप्त हो गया। सन्निधा, सत्सङ्ग लुप्त हो जानेसे उदात्त विचार नष्ट हो गये। निम्नश्रेणीकी प्रेतविद्या, जादूगरी आदिके भाव रह गये। अतः उस आधारपर चलनेसे भ्रम ही बढ़ेगा।



नवम परिच्छेद

मावसीय समाज-व्यवस्था

मावसके अनुसार 'समाज' व्यक्तियों और परिवारोंका समूह है। समाजकी व्यवस्थामें आनेवाला कोई भी परिवर्तन व्यक्तियों और परिवारोंपर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता। परिवार-स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध समाजका केन्द्र है। समाजकी आर्थिक अवस्था मनुष्योंको जिस अवस्थामें रहनेके लिये मजबूर करती है, उसी ढंगपर मनुष्य परिवारको बना लेता है। कुछ देशोंमें बहुत बड़े-बड़े सम्मिलित परिवार होते हैं और कुछ देशोंमें छोटे छोटे। कहीं परिवार पिताके वशसे होते हैं और कहीं माताके वशसे। स्त्री समाजकी उत्पत्तिका स्रोत है। इसके साथ ही वह कई तरहसे पुरुषसे शारीरिकरूपसे कमजोर भी है। इन सब बातोंका प्रभाव समाजमें स्त्रीकी स्थितिपर पड़ता है।

‘समाज जब विल्कुल आदि अवस्थामें था और मनुष्य जंगलोंमें घूम-फिरकर जंगली फलों और शिकारसे पेट भर लिया करते थे, या जब वे खेती और पशुपालनद्वारा अपना निर्वाह करते थे, उस समय कबीलोंमें भूमिके भाग या इस प्रकारकी दूसरी चीजोंके लिये लड़ाइयाँ होती रहती थीं। इन लड़ाइयोंमें शारीरिकरूपसे स्त्रीके कमजोर होनेके कारण उसका अधिक महत्त्व नहीं था। इसके अलावा स्त्रीको लड़ाई लड़नेके लिये आगे भेजना खतरासे खाली न था। क्योंकि स्त्रियोंके लड़ाईमें मारे जाने या उनके कैदी होकर शत्रुके हाथमें पड़नेसे कबीलोंमें पैदा होनेवाले पुरुषोंकी संख्यामें घाटा पड़ जाता था और कबीला कमजोर हो जाता था। इसलिये स्त्रियोंको लड़ाईमें पीछे रखा जाने लगा; बल्कि सम्पत्तिकी दूसरी वस्तुओंकी तरह उनकी भी रक्षा की जाने लगी। सम्पत्तिकी ही तरह उनका उपयोग भी किया जाता था। उस समय साधनोंका विकास न हो सकनेके कारण पैदावारके कामोंमें विशेष परिश्रम करना पड़ता था; क्योंकि स्त्रीकी अपेक्षा पुरुष पैदावारके कठिन कामको अधिक अच्छी तरह कर सकता था, इसलिये स्त्रीको पुरुषकी प्रधानता मानकर उसकी सम्पत्ति बन जाना पड़ा। उस समय वैयक्तिक सम्पत्तिका चलन था, इसलिये स्त्री सम्पूर्ण कबीले या परिवारकी साझी सम्पत्ति थी।

‘जब विकाससे वैयक्तिक सम्पत्तिका काल आया तो स्त्री भी पुरुषकी वैयक्तिक सम्पत्ति बन गयी, जिसका काम पुरुषके घरेलू कामोंको करना और उसके लिये सतानके रूपमें उत्तराधिकारी पैदा करना था। परंतु स्त्री दूसरे घरेलू पशुओंके ही समान उपयोगकी वस्तु न बन सकी। पुरुषके समान ही उसका भी विकास होनेके कारण या कहिये उसके भी पुरुषके समान ही मनुष्य होनेके कारण, पुरुषकी सम्पत्तिमें ठीक पुरुषके बाद उसका दर्जा सुकरर हुआ। आलंकारिक भाषामें इसे यो कहा गया कि वैयक्तिक सम्पत्ति या परिवारके राजमें पुरुष राजा है तो स्त्री मन्त्री। मनुष्य-जीवके विकासके नाते स्त्री और पुरुषमें कुछ भी अन्तर नहीं। मनुष्य समाजकी रक्षाके लिये वे दोनों एक समान आवश्यक हैं। पुरुष यदि

शारीरिक बलमें या मस्तिष्कके कामोंमें अधिक सफलता प्राप्त कर सकता है, तो स्त्रीका महत्त्व पुरुषको उत्पन्न करनेमें कम नहीं है। पुरुष-समाजका जीवन स्त्री के बिना सम्भव नहीं, इसलिये पुरुषकी सम्पत्ति होकर भी स्त्री पुरुषके बराबर ही आसनपर बैठती रही है।

“मार्क्सवादमें स्त्री-पुरुष-सदाचारका चाहे कितनी भी लीपा-पोतीके साथ महत्त्व गाया जाय, परंतु यह प्रश्न प्रमुखरूपसे बना ही रहेगा कि ‘क्या एक गिलास पानीके लिये गलेमें वाल्टी बँधकर घूमते रहें ? कहीं भी गिलासभर पानी मिल सकता है।’ व्यक्ति एवं परिवारका समूह ही समाज है और स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध परिवार और समाजका केन्द्र है। समाजमें सम्पत्ति-विपत्तिके कारण बहुत प्रकारके रहोबदल होते रहते हैं, फिर भी बहुत-से धार्मिक-सामाजिक नियम प्राकृतिक नियमोंके समान सुस्थिर होते हैं।”

मार्क्सवादियोंकी ऐतिहासिक कल्पनाएँ सर्वथा निराधार हैं। जगत्-प्रपञ्च निरीश्वर नहीं है। सर्वज्ञ ईश्वरकी सृष्टि लावारिस एवं निर्विवेक भी नहीं थी। आदिम कालके ब्रह्मा, वशिष्ठ, अत्रि, अङ्गिरा, भृगु, बृहस्पति, शुक्र आदि आधुनिक लोगोंकी अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिमान् और बलवान् थे। स्वार्थ मूलक सघर्ष जैसे आज चलता है, वैसे ही कभी पहले भी चलता था। कठिन अवसरोंपर स्त्रियाँ भी लडाईमें शामिल होती थीं। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है दुर्गाके अनेक अवतारों—महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती आदि द्वारा मधुकैटभ, महिषासुर, शुम्भ, निशुम्भ, चण्ड, मुण्ड, धूम्रलोचनादि दानवोंका संहार। पत्नी-रूपमें नारी पुरुषकी भोग्या है, परंतु माताके रूपमें वही पुत्रकी पूज्या है। शृङ्गार-रसके लिये नारी कोमलाङ्गी है, परंतु प्रचण्ड दैत्य-दर्प-दलनमें वही भीषण कराल कालिका है। भगवतीकी यह गर्जना मार्क्सवादियोंने कभी नहीं सुनी कि जो मुझे सग्राममें जीत ले, जो मेरा दर्प दूर कर सके और जो मेरे समान बलवान् हो, वही मेरा भर्ता हो सकता है—‘यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति। यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति ॥’ (दुर्गासप्त० ५ । १२०) नारी सदासे ही शक्तिकी प्रतीक रही है और पुरुष शिवका प्रतीक रहा है। उसका ही रामके साथ सीतारूपमें, विष्णुके साथ लक्ष्मीरूपमें, ब्रह्माके साथ सरस्वतीरूपमें और कृष्णके साथ राधा, रुक्मिणीके रूपमें आदर होता रहा है। वह रणाङ्गणमें प्रचण्डरूप धारिणी होने-पर भी शिवके विश्राम एवं विनोदके लिये ‘सत्यं शिवं सुन्दरम्’ की प्रतिमा बनकर परम कोमलाङ्गी एवं रक्षिणीरूपमें व्यक्त होती थी। वह साझेकी सम्पत्ति कभी नहीं रही। वह सदा ही गृहस्वामिनी एवं गृहलक्ष्मी रही है। द्रौपदी, मारिषाका उदाहरण विशेष वर-शापमूलक अपवादस्वरूप घटनाएँ हैं। वे आचारमें प्रमाण नहीं हैं। आचारमें उदाहरणका आदर न होकर विधि (कौस्टि-

ट्यूशन) का ही आदर होता है । उसके उदाहरण सती, सीता, सावित्री, दमयन्ती, अरुन्धती, अनसूया, लोपामुद्रा, शाण्डिली आदि पतिव्रताएँ हैं । क्वचित् स्त्रियोंके अनावृत होनेकी कहानियाँ अनादि, अपौरुषेय, समस्त पुदोष-गङ्गा-कलङ्कशून्य शास्त्रोंके विरुद्ध होनेसे सर्वथा तात्पर्यशून्य है । अपवादभूत विपत्कालिक नियोग-प्रवर्तनकी पशु-तुल्य प्रवृत्तियोंका समर्थन ही उन मिथ्यार्थ-बोधक अर्थवादोंका उद्देश्य था । मन्वादिकोंने पतिके मरनेपर भी पत्यन्तरवरणका वर्जन किया है और नियोग आदिको वेन-राज्यका विगर्हित पशुधर्म बतलाया है ।

पूँजीवादी युग और स्त्री

माक्सिवादी कहते हैं—‘औद्योगिक युग आनेपर जब सम्मिलित परिवार आर्थिक कारणोंसे बिखर गये, जब पुरुषोंको प्रत्येक नगरमें जीवन-निर्वाहके लिये भटकना पड़ा, उस समय सम्पूर्ण परिवारको साथ लिये फिरना सम्भव न था । इसके साथ ही पैदावारके साधन, मशीनोंका विकास हो जानेसे ऐसे हो गये कि उनमें कठोर शारीरिक परिश्रमकी जरूरत कम पड़ने लगी और स्त्रियाँ भी उन कामोंको करने लगीं । बहुधा ऐसा भी हुआ कि जीवनके लिये उपयोगी पदार्थोंकी संख्या बढ़ जानेसे, जिसे दूसरे शब्दोंमें यों भी कहा जा सकता है कि जीवनका दर्जा (Standard of living) ऊँचा हो जानेसे अकेले पुरुषकी कमाई उसके परिवारके लिये काफी न थी, तब स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर मजदूरी करने लगे और घरका खर्च चलाने लगे । इन अवस्थाओंमें पुरुषका स्त्रीपर वह कब्जा न रहा जो कृषि और घरेलू-उद्योग-धंधोंकी प्रधानताके जमानेमें था । ऊपर जिस ऐतिहासिक विकासका जिक्र हम करते आ रहे हैं, वह औद्योगिक विकासके साथ हुआ और चूँकि यह विकास यूरोपमें अधिक तेजीसे हुआ, इसलिये वही लोगोंने इसे अधिक उग्ररूपमें अनुभव भी किया । इस विकासका प्रभाव समाजके रहन-सहनके टगपर पड़नेसे स्त्रियोंकी अवस्थापर भी पड़ा । स्त्रियोंकी स्थिति पुरुषोंके बराबर होने लगी । उन्हें भी पुरुषोंके समान ही सामाजिक और राजनैतिक अधिकार मिलने लगे, परंतु वैयक्तिक सम्पत्तिकी प्रथा जारी रही, क्योंकि वह पूँजीवादके लिये आवश्यक थी । परिणाम स्वरूप स्त्रीके एक पुरुषसे बँधे रहनेका नियम भी जारी रहा । अब स्त्रीको पुरुषका दास न कहकर उसका साथी कहा गया, जिसे यह उपदेश दिया गया कि परिवारकी रक्षाके लिये उसे एक पुरुषके सिवा और किसी तरफ न देखना चाहिये । मौजूदा पूँजीवादी-प्रणालीमें स्त्रीकी स्थिति इसी नियमपर है ।

‘फिर भी आर्थिक दृष्टिकोणसे जीवनके उपायोंको प्राप्त करनेके लिये स्त्री पुरुषके आधीन रही; क्योंकि परिवारके हितके ख्यालसे पुरुषने स्त्रीको अपने वशमें रखना आवश्यक समझा । जबतक समाज भूमिकी उपजसे या घरेलू

बंधोंसे अपने जीवन-निर्वाहके साधन प्राप्त करता रहा; स्त्रीकी अवस्था परिवार और समाजमें ऐसी ही रही। क्योंकि स्त्रीकी खोपड़ीमें भी पुरुषकी तरह सोचने-विचारने और उपाय ढूँढ निकालनेकी सामर्थ्य है; अतः पुरुष उसे गलेमें रस्सी बाँधकर नहीं रख सका। समाजने अपने कल्याण और हितके विचारसे स्त्रीको भी पुरुषकी तरह ही जिम्मेदार ठहराया; लेकिन स्त्रीके व्यवहारपर ऐसे प्रतिबन्ध लगाये गये जो कि सम्पत्तिके आधारपर बने परिवारकी रक्षाके लिये आवश्यक थे। उदाहरणतः स्त्रीका एक समय एक ही पुरुषसे सम्बन्ध रखना ताकि उसके दो व्यक्तियोंकी सम्पत्ति बँटनेसे झगड़ा न उठे। पुरुषकी सतानके बारेमें झगड़ा न उठे कि संतान किसकी है; कौन पुरुष उस संतानको अपनी सम्पत्ति देगा? यह सब ऐसे झगड़े थे जिनके कारण परिवारोंका नाश हो जाता। इसलिये स्त्रियोंके आचरणके बारेमें ऐसे नियम बनाये गये कि झगड़े उत्पन्न न हो। पतिव्रताधर्म— अर्थात् एक पुरुषसे सम्बन्ध रखनेको स्त्रीके लिये सबसे बड़ा धर्म बताया गया ताकि व्यक्तिगत सम्पत्तिके आधारपर बना हुआ समाज तहस-नहस न हो जाय।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, स्त्री बुद्धिकी दृष्टिसे मनुष्यके समान ही सामर्थ्यवान् है; इसलिये पशुओंकी तरह उसके गलेमें रस्सी बाँध देनेसे काम नहीं चल सकता था। उसे समझाकर और विश्वास दिलाकर समाजमें मुख्य 'पुरुष' के हितके अनुसार चलानेकी जरूरत थी। इस कारण पुरुष और समाजके हाथमें जितने भी ऐसे साधन धर्म, नीति, रिवाज आदिके रूपमें थे, उन सबसे स्त्रीको पुरुषके आधीन होकर चलनेकी शिक्षा दी गयी। उसे समझाया गया, यहाँ चाहे वह पुरुषका मुकाबला भले ही कर ले, परंतु बादमें उसे पछताना पड़ेगा, क्योंकि उसकी स्वतन्त्रतासे भगवान् और धर्म नाराज होते हैं।”

वैयक्तिक सम्पत्तिके सम्बन्धकी भी माक्सवादी प्रथा अप्रामाणिक है। ईश्वरकी सृष्टि उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति ही थी; उसीसे उत्तराधिकार रूपमें वह उसकी सतानभूत विभिन्न प्राणियोंको मिली। जिस तरह आज अखण्ड भूमण्डलमें कोई भी पर्वत, वृक्ष, नदी, क्षेत्र, ग्राम, नगर बिना मालिकके नहीं हैं, उसी तरह संसारका कोई भी अंश कभी भी बिना मालिकके नहीं था। हॉव्स या लॉकके मतानुसार निरीश्वर राज्य कभी भी नहीं था और केवल किसी व्यक्तिके द्वारा सीमाकी एक रेखामात्र बना देनेसे ही कोई भूमि उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं बन गयी और न तो रिकार्डोंके अनुसार कुछ श्रममिश्रित हो जाने मात्रसे वस्तुओंपर व्यक्तिगत स्वत्वका जन्म ही हुआ। किंतु मुख्यरूपसे दायसे और फिर जय, क्रय, दान, पुरस्कारादि रूपमें ही भूमि-सम्पत्ति आदिपर व्यक्तिगत अधिकार हुए हैं। अपने-अपने कर्मोंसे सुख-दुःख एवं तत्तत्साधनोंका व्यक्तिगत सम्बन्ध हुआ है। कर्मोंके ही तारतम्यसे साधनोंकी भी तारतम्यरूपसे प्राप्ति होती है। कन्यापर उसके माता-पिताका स्वत्व रहता है। पिता जिसे देता है, वही कन्याका पति होता है। माता-पिताके न

रहनेपर भाई आदिका उसपर स्वत्व होता है। वे जिसे देने हैं, वही उसका पति होता है। कन्याका भी अपनेपर स्वत्व होता है। अतः वह स्वयं भी जिसे आत्म-समर्पण करती है, वह उसका पति होता है। कन्या ऐसी वस्तु नहीं है कि जो भी चाहे उसे अपना ले या साजेदारीकी चीज बना ले। स्त्रीसम्बन्धकी मार्क्सवादी ऐतिहासिक धारणा अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। मनुकी दृष्टिसे तो जहाँ नागीकी पूजा होती है, वहाँ देवता एवं सभी सद्गुण रमते हैं, और जहाँ उसकी पूजा नहीं होती वहाँ सब क्रियाएँ निष्फल होती हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ (मनु० ३ । ५६)

पुरुष मदासे ही नारीको मातारूपमें पूज्य एवं मार्गदर्शक मानता रहा है। पत्नीरूपमें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय एवं हृदयेश्वरी बनाकर उसे अपना सर्वस्व समर्पण करके उसके रक्षण, पोषणके लिये, भूषण-आभरण जुटानेके लिये दिन-रात परिश्रम करता रहा है। इतना ही नहीं—नारीके इंगारेपर ही पुरुष सब काम करता रहा है। प्रेमसे ही पुरुष स्त्रीको वशीभूत रखता था, प्रेमसे ही स्त्री भी पुरुषको अपने इंगारेपर नचाती रही है। किन्हीं धार्मिक, आध्यात्मिक संस्कारशून्य जंगली प्रदेशके लोगोंमें स्त्रीको गलेमें रस्सी बाँधकर रखनेकी प्रथा हो सकती है, पर वह भारतमें नहीं रही। स्त्रीका एक ही पुरुषके साथ सम्बन्ध शुद्ध धर्ममूलक ही है, धर्म-नियन्त्रित स्नेह एवं अर्थ-व्यवस्था उसका आनुषङ्गिक फल है। यह पहले कहा जा चुका है कि पशुओंकी अपेक्षा मनुष्योंकी मनुष्यता एवं विवेकता ही यह है कि मनुष्य प्रत्यक्षानुमानसे अतिरिक्त आगम-प्रमाण भी मानता है और तदनुकूल वह धार्मिक होता है। धर्ममूलक ही उसमें पति-पत्नीका धार्मिक सम्बन्ध होता है। पति-पत्नीके अमाधारण सम्बन्धसे ही पत्नी, पुत्री, भगिनी, माता आदिकी असाधारण व्यवस्था होती है। तदनुकूल ही उत्तराधिकारकी व्यवस्था भी चलती है। इसीलिये आस्तिकोंका कहना है कि प्रत्यक्षानुमानाश्रित मति जहाँतक दौड़ती है, वहाँतक ही चलनेवाले वानर आदि पशु होते हैं और प्रत्यक्षानुमानातिरिक्त आगमके अनुसार धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक व्यवस्था करके चलनेवाले लोग ही नर अर्थात् मानव होते हैं—

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः ।

शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः ॥ (तन्त्रवार्तिक)

पातिव्रत-धर्म

मार्क्सवादी अनुसार 'पातिव्रत धर्म' केवल व्यक्तिगत सम्पत्तिके आधारपर ही बना है। व्यक्तिगत सम्पत्तिके आधारपर बना हुआ समाज तद्दस-नद्दस न हो जाय, इसीलिये एक ही पुरुषके साथ सम्बन्ध रखनेके लिये स्त्रीको सपत्नी-

बुझाकर राजी किया गया। तदनुसार ही धर्म, नीति, रिवाज गढ़े गये। स्त्रीकी स्वतन्त्रतासे धर्म और भगवान्‌के नाराज होनेका डर दिखलाया गया। 'ठीक ही है, जड़वादी मार्क्ससे इसके सिवा और अधिककी आशा भी क्या की जा सकती थी? जिसकी दृष्टिमें विश्वका कारण सर्वश ईश्वर ही नहीं जँचता, जो भूत-प्रेतकी कल्पनाकोही परिष्कृतरूपमें ईश्वर-कल्पना समझता है, जिसके अनुसार धर्म-कल्पना भीरु मस्तिष्कका फितूरमात्र है, वह सीता, सावित्री आदिके परम गम्भीर पातिव्रत-धर्मको कैसे समझ सकता था? अनसूयाद्वारा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रको पातिव्रतबलसे तीन महीनेके बालक बनाया जाना, सावित्रीका यमराजसे आपने मृत पतिको पुनः प्राप्त कर लेना, शाण्डिलीका सूर्यनारायणके उदयपर प्रतिबन्ध लगा देना आदि मार्क्सवादकी दृष्टिसे कोरी कल्पनाएँ ही ठहरेगी। आश्चर्य है कि परम सत्य आर्ष इतिहास मार्क्सवादियोंकी दृष्टिमें झूठे हैं, परंतु निराधार वंदरसे मनुष्य उत्पन्न होनेका विकासवादी इतिहास सत्य है! भारतमें अभी-अभी हालहीमें ५० वर्षोंके भीतर सैकड़ों सतियाँ हुई हैं। वे हँसती-हँसती चितापर अपने पतिके साथ परलोक चली गयीं। उत्तर-प्रदेश तथा राजस्थानमें तो कई सतियाँ बिना अग्निके ही अपने शरीरसे दिव्याग्नि प्रकट करके सती हुई हैं। चित्तौरगढ़की पद्मिनी आदिके ऐतिहासिक सतीत्वसे कोई समझदार व्यक्ति आँख नहीं मूँद सकता। मार्क्सवादी सिवा अनर्गल प्रलापके इन बातोंका क्या उत्तर दे सकते हैं? स्पष्ट है कि जिन्हे धर्म, सभ्यता, संस्कृति, पातिव्रत मान्य है, ऐसे स्त्री-पुरुषोंके लिये मार्क्सवाद धर्म एवं मानवताका शत्रु ही है।

मार्क्सवादकी दृष्टिसे व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा उत्तराधिकारका सम्बन्ध तो अब समाप्त हो गया; क्योंकि मार्क्सवादी दृष्टिकोणसे भूमि एवं सम्पत्तिका उत्तराधिकार-नियम समाप्त करके सबका राष्ट्रियकरण या समाजीकरण होना ही उचित है। जब व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा उत्तराधिकारकी प्रथा समाप्त हुई, तब फिर तदर्थ स्त्रीका एक पुरुषसे सम्बन्धवाला नियम क्यों रहेगा? सम्बन्धित पतिके मरनेके बाद ही नहीं, अपितु एक साथ ही स्त्री यदि सैकड़ों पुरुषोंसे सम्बन्ध रखे तो भी कोई आपत्ति नहीं। जैसे एक पानीभरी बाल्टीसे अनेक व्यक्ति प्यास बुझा सकते हैं, वैसे ही एक स्त्रीसे भी यदि असंख्य पुरुष प्यास बुझा लें तो भी कोई हर्ज नहीं है। लेनिनके शब्दोंमें 'भादी नालीके जलसे प्यास बुझाना ठीक नहीं; किंतु जैसे स्वास्थ्यकर, तृप्तिकर स्वच्छ जलसे ही प्यास बुझाना उचित है, वैसे ही तृप्तिकर, स्वास्थ्यवर्द्धक स्त्री-पुरुष-सम्बन्धमें कोई भी हानि नहीं है। और अब तो गर्भपात करानेकी स्वाधीनता भी रूसमें मिल गयी है। 'पुरुष-समाजके हाथों ही धर्म, नीति, रिवाज सब कुछ था,

इसलिये पुरुषने स्त्रीको स्वाधीन बनानेका प्रयत्न किया; माकर्मवादियोंका यह कथन भी दुरभिसंधिपूर्ण है। माकर्मवादी अधिकार पाकर जैसे दूसरोंको सदाके लिये कुचल देना चाहते हैं, महर्षियों तथा ईश्वरके सम्बन्धमें भी उनकी वैसी ही धारणा होती है। उनके मस्तिष्कमें अव्यय, वायुमय, परम निष्काम लोककल्याण-परायण महर्षियोंमें भी पक्षपात ही प्रतीत होता है। परंतु माकर्मवादियोंकी यह धारणा सङ्गत नहीं है। धर्मबुद्धिसे शिष्य जैसे स्वेच्छापूर्वक गुरुका अनुसरण (दास्य) करनेमें लज्जित नहीं होना; पुत्र जैसे माता-पिताका दास्य करनेमें नहीं हिचकता, वैसे ही स्त्री भी अपने पति एवं सास-ससुरका दास्य या सेवन एवं अनुसरण करनेमें लज्जित नहीं होती। जयंतक धर्मबुद्धि रहेगी, वहाँ यह भाव भी पहलेके समान ही जारी रहेगा। इसपर सम्पत्ति-विपत्तिका असर नहीं पड़ता है, वृत्ति आपत्तिकालमें तो धीरज, धर्म, मित्र एवं नारीकी विशेषरूपसे परीक्षा होती है—‘धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद्काल परखिये चारी।’ रामराज्य-जैमी धन सम्पदा, ऐश्वर्य-वैभवमें भी स्त्री-पुरुष अपने पूज्यो, गुरुजनोके प्रति दास्यभाव ही रखते थे—‘दासवत् संनताऽर्याद्वि।’ (भागवत ७।४।३२)। प्रह्लाद गुरुजनोके चरणोंमें सदा दासतुल्य विनत रहते थे। धन एवं सम्पत्तिकी वृद्धि खलोंको ही घमंडी एवं उद्वण्ड बनाती है, सत्पुरुषोंको नहीं। इसीलिये औद्योगिक समृद्धिके युगमें भी सन्नारियोंके शील-स्वभावमें कोई अन्तर नहीं पड़ा। प्राचीन कालमें भी असत् स्त्री-पुरुष होते ही थे, वे उस कालमें भी उद्वण्ड ही थे, कोई किसीके नियन्त्रणमें नहीं रहता था। वैयक्तिक सम्पत्ति एवं नर-नारीके धर्ममूलक सम्बन्ध शाश्वतिक हैं। जडवाद एवं नास्तिकताके प्रचारसे कुछ थोड़ा-बहुत हास होना सम्भव है, फिर भी इनका मिट सकना सम्भव नहीं। पुरुषकी अपेक्षा भी नारी-जाति श्रद्धालु है। वह अपने पतिसे भिन्न पुरुषको भ्राता, पिता, पुत्रकी ही दृष्टिसे देखना उचित समझती है, धर्महीन मनमाने यौन सम्बन्धको वह पाप ही समझती है।

वेदोंकी नीतिमें तो मुख्य विशेषता ही यह थी कि देशमें कोई स्वैरी पुरुष भी नहीं होता था, फिर स्वैरिणी स्त्रीका तो होना सम्भव ही कैसे था—‘न स्वैरी स्वैरिणी कुतः’ (छान्दोग्य ५।११।५)। स्त्री सर्वदा ही लज्जागील होती है, वह कभी भी अभियोगत्री नहीं होती। वेश्या भी अभियुक्ता होनेमें ही सुखका अनुभव करती है। पुरुष हो स्वैरी होकर स्त्रीको स्वैरिणी बनाता है। जहाँ पुरुष स्वैरी न होगा, वहाँ स्त्री भी स्वैरिणी नहीं हो सकती। स्त्री पुरुषकी हृदयेश्वरी है, प्राणेश्वरी है, आत्मा है, सब कुछ है। उसके हिस्से एवं अधिकारकी बात जडवादी नास्तिकोंके द्वारा ही उठायी जाती है। स्त्रीको पुरुषके बराबर बनानेका प्रयत्न करना उसका अपमान करना है, उसको हजारगुना नीचे उतारना है। शास्त्रोंने पितासे सहस्रगुना अधिक माताका सम्मान करना वतन्त्राया है—‘ग्रहसं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते।’ (मनु० २।१४५) धार्मिक

दृष्टिसे चतुर्थाश्रमी यति सर्वबन्ध है। गृहस्थ पिता भी पुत्र सन्यासीका वन्दन करता है, परंतु उस सन्यासीको धर्मानुसार मातृवन्दन विहित है—‘सर्वबन्धेन यतिना प्रसूर्वन्धा प्रयत्नतः।’ (स्क० पु० काशी० ११।५०) इस तरह माताको कुछ अधिकार प्रदान करना, क्या उसके सर्वाधिकारको सीमित करना नहीं है? किसी भी उपासना एवं साधनामें शिष्यको जैसे अपनी आत्मा गुरुकी आत्मामें मिलानी पड़ती है, गुरुकी इच्छामें शिष्यको अपनी इच्छा विलीन कर देनी पड़ती है, वैसे ही पत्नीको अपनी आत्मा, अपनी इच्छा पतिकी आत्मा तथा इच्छामें मिलानी पड़ती है। पतिद्वारा किये हुए सत्कर्मों तथा आराधनाओंमें पत्नीका भाग रहता है। पाश्चात्य राजतन्त्रने जडवादकी धुनमें ईश्वर एवं धर्मसे नाता तोड़ लिया, फिर पूँजीपतियोने राजतन्त्रको भी समाप्त कर दिया। जहाँ ईश्वर एवं धर्मका राजतन्त्रपर नियन्त्रण नहीं, वहाँ सामाजिक बन्धनोका ढीला पड़ना स्वाभाविक है।

पाश्चात्य शिक्षाका प्रभाव भारतपर अवश्य ही पड़ रहा है। इतना ही क्यों, भारतकी परिस्थिति तो अन्य देशोकी अपेक्षा भी बदतर होती जा रही है। सर्वप्रथम औद्योगिक विकास जिस इंग्लैंडमें हुआ था, वहाँके सर्वप्रथम एवं सर्वोत्कृष्ट नागरिक राज्य-सिंहासनाधीश तथा उसके परिवारके सिंहासन-सम्बन्धित व्यक्तियोंके लिये अभी भी पर्याप्त धार्मिक नियन्त्रण अधिक है। उन्हें तलाक देने-वाले स्त्री-पुरुषके साथ शादी करनेकी मनाही है। तलाक दी हुई स्त्रीके साथ शादी करनेके लिये अष्टम एडवर्डको राजगद्दी छोड़नी पड़ी। वर्तमान रानीकी बहन कुमारी मार्गरेटको धार्मिक नियन्त्रणके कारण अपने प्रेमीसे शादीका निश्चय छोड़ना पड़ा। वहाँ ‘वाइविल’के अनुसार पति-पत्नीका सम्बन्ध-विच्छेद ईश्वरीय नियमके विरुद्ध एवं पाप कहा गया है। परंतु जडवादसे प्रभावित, समाजवादका अन्धानुकरण करनेवाली भारतसरकार तलाकका नियम बनाकर स्त्रियोंको स्वाधीन करनेके नामपर उनका सर्वनाश कर रही है। घटना अवश्य समाजवादियोंके अनुसार घट रही है, परंतु यह घटना कॉलरा और प्लेगके समान आनष्ट ही है, इष्ट नहीं। मार्क्सवादी-वर्णित स्त्रीममजकी दुर्दशाका मूल कारण धर्मविमुखता ही है, इसीसे बरकतमें भी कमी हुई। पहले घरमें एक व्यक्ति कमाता था, उससे घरभरका काम चलता था। आज पुरुष कमाता है, स्त्री कमाती है और बच्चे भी कमाते हैं, तब भी परिवारका पेट नहीं भरता। प्राचीन कालमें यथोचित वयमें कन्याओंका विवाह हो जाता था, स्त्रीको अनाथकी तरह भटकनेकी नौबत नहीं आती थी। अविवाहित दशामें प्रसवकालका, अनाथ-अवस्थाका उसे कोई अनुभव नहीं करना पड़ता था। मार्क्सवादी उत्तरोत्तर प्रगतिकी कल्पनाका स्वप्न देख रहे हैं, परंतु स्थिति यह दिखायी देती है, कि समाजका उत्तरोत्तर अधिक पतन होता जा रहा है। स्त्रीममजकी दोनदशा उत्तरोत्तर बढ रही है। स्वतन्त्रताके नामपर तलाक-प्रथाके विस्तार होनेका परिणाम भीषण होगा। अल्पवयस्क लड़की भले ही तलाक देकर

अपनी दूसरी शादी कर पाये, परन्तु वही जब चार बच्चोंकी माँ हो चुकी होगी, उसका यौवन ढल गया होगा और सुन्दरता समाप्त हो गयी होगी, तब उसे यदि तलाक मिल गया तो उस अवस्थामें उसकी पुनः शादी होनी मुश्किल हो जायगी। उस दशामें वह औरत क्या स्वयं खायेगी और क्या बच्चोंको खिलायेगी? उस समय वह खूनके आँसू बहाती हुई भारतको नरककुण्ड बनायेगी।

धर्महीन क्या पूँजीवाद, क्या समाजवाद, सर्वत्र ही स्त्री समाजकी दुर्गति घुंव है। रामराज्य-प्रणालीमें वात्स्यायनमें ही लडकियोंकी शादी हो जायगी। प्रत्येक कुटुम्ब एवं नागरिककी बेकारी, बेरोजगारी दूर करके सबका ही जीवनस्तर उन्नत बनाया जायगा। रामराज्यके अनुसार स्त्रियों गृह-लक्ष्मी, घरकी रानी होंगी, उन्हें नौकरानी बननेकी आवश्यकता ही न रहेगी। पुरुषोंका काम घरके बाहर होगा और स्त्रियोंका काम घरके भीतर। वैसे किसी खास अवसरपर उनकी बाहर आवश्यकता अपवादरूपमें ही होगी। सीता सदा गृहके भीतर रहती हुई भी शतमुख रावणका दर्प दलन करनेके लिये रणचण्डीका रूप धारण कर पुष्कर द्वीप गयी थीं। (अष्टम० रामा० १७। २४) इसी वोटिस्र हॉडी और ब्रॉसीकी रानी आदिका उदाहरण है। विवाह कर परिवार-पालन करनेके उदात्त कर्तव्यको झगडा या अज्ञात समझनेकी प्रवृत्ति जडवादी उच्छृङ्खलपणियोंकी ही प्रेरणा है। स्त्री और पुरुष सभी यदि नौकर-नोकर्नी बनेगे, तो उनकी संतानें भी अवश्य ही नौकर मनोवृत्तिकी ही बनेंगी। माताका दुग्ध न पाकर, जननीका लाड-प्यार, लालन-पालन न पाकर, डिब्बोंके दूध पीने-वाले बच्चे निम्न श्रेणीके ही होंगे। माता-पिताका भी बच्चोंमें कोई प्रेम न होगा; बच्चोंका भी माँ-बापके प्रति कुछ आकर्षण—अनुराग न होगा। पति-पत्नीका भी परस्पर स्थायी प्रेम न होनेसे किसी भी सम्बन्धकी स्थिरता न होगी। सभी सम्बन्ध वासना-वृत्ति और पैसेके कारण होंगे। विवाह और तलाककी अराध परम्परा चलती ही रहेगी।

अर्थमूलक समाजमें सामाजिक सम्बन्ध

माकर्सवादी सभी सम्बन्धोंकी धार्मिकता एवं परम्परामूलकताका नष्ट हो जाना आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टिमें 'सब सम्बन्ध जब अर्थमूलक हो जायेंगे, तब पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहन, शिक्षक-शिष्यका अर्थमूलक सीधा सघर्ष हो सकेगा। किसी परम्पराकी ओटमें सघर्षके कारणको छिपाया न जा सकेगा। सीधा संघर्ष क्रान्तिके अनुकूल ही होगा।' परन्तु जिन्हें कुटुम्ब, समाज, धर्म, कर्म, गभ्यता, सद्गुण, भक्ति, प्रेम एवं आध्यात्मिक उन्नति अभीष्ट है, उनके लिये तो ये बातें गुण नहीं, अपितु कॉलरा एवं प्लेगके समान एक रोग ही होंगी। रामराज्य-प्रणालीमें स्त्रियोंकी यह दुर्दशा किसीको स्वप्नमें भी नहीं देखनी पड़ेगी। जैसे लता, वल्लरी आदि वृक्षाश्रित रहकर ही पनपती, फलती-फूलती

हैं, उन्हें यदि अपने ही पैरों खड़ा करनेका प्रयत्न किया जाय तो भी वे वृक्षके समान सीधी खड़ी नहीं हो सकती हैं, पृथ्वीपर ही वे फैलती हैं और फिर उन्हें शतशः पादप्रहारकी भागिनी बनना पड़ता है, वैसी ही स्त्रियोंकी भी स्थिति है। उन्हें स्वतन्त्रताका पाठ पढ़ाकर ही पाश्चात्य जगत्ने भीषण दुर्दशातक पहुँचा दिया है।

यह तो सभीको मानना पड़ता है कि अनेक अशोमें स्त्रीसमाज तथा पुरुषसमाजमें समानता होते हुए भी अनेक अशोमें भिन्नता भी है। स्त्रियोंमें जितनी कोमलता, सुन्दरता और विश्रान्तहेतुता है उतनी पुरुषोंमें नहीं है। वह गर्भ-धारण करती है और शिशुका पालन-पोषण करती है, अतः उसे पुरुषका आश्रय अपेक्षित है। बुद्धि एवं मस्तिष्ककी विचक्षणता होते हुए भी उसमें श्रद्धा एवं भक्तिका भी अश अधिक होता है। पुरुषके कठोर, परिश्रमपूर्ण एवं रूक्ष जीवनको इसीसे सरसता मिलती है। प्राचीन दार्शनिकोंका तो मत है कि जैसे अग्नि एवं दाहिकाशक्ति, जल एवं शीतलता, दुग्ध एवं उसकी स्वच्छता, बीज एवं उसकी अङ्कुरोत्पादिनी शक्तिका अविच्छेद्य सम्बन्ध है, वैसे ही पति-पत्नीका भी अविच्छेद्य सम्बन्ध है। शक्ति आधेय है और शक्तिमान् आधार। शक्तिके बिना शक्तिमान् अकिञ्चित्कर है। शिव जब शक्तिसे समन्वित होता है, तभी ससारका उत्पादन, पालन, सहरण कर सकता है, अन्यथा शक्तिके बिना देव शिव हिल-डुल भी नहीं सकता—‘शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्। न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितमपि ॥’ (सौन्दर्यल० १) विश्व-निर्माण जैसे महाकार्य-निर्माणकी बात तो दूर रही, शक्तिमान्से शक्तिके पृथक् करनेसे दोनोंकी ही दुर्गति होती है। इसीलिये भारतीय सभ्यतामें शक्तिसहित ही शक्तिमान्की आराधना होती है। अतएव मन्दिरोमें गौरी-शंकर, लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधा कृष्ण, शक्ति-शक्तिमान् दोनोंकी आराधना चलती है। अग्रहित होनेसे, पिताकी अपेक्षा भी माताके सहस्रगुणिन अधिक पूज्य होनेके कारण ही नाममें पहले गौरी और पीछे शंकरका, पहले लक्ष्मी और पश्चात् नारायणका, प्रथम सीता एवं राधाका तथा पश्चात् राम और कृष्णका उच्चारण होता है। राष्ट्ररूपी मन्दिरमें भी लक्ष्मी स्थानीय नीतिके सहित ही नारायण स्थानीय धर्मका सम्मान श्रेयस्कर होता है। धर्महीन नीति विधवा-तुल्य और नीतिहीन धर्म विधुर-तुल्य माना जाता है। व्यष्टिरूपमें दस वर्षपर्यन्तकी कुमारी नव-दुर्गारूपमें और सुवासिनी साक्षात् भगवतीके रूपमें पूजित होती है। साक्षात् परमेश्वर ही जैसे शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि रूपमें पूजित होता है, वैसे ही शक्तिप्रधान परमेश्वर ही दुर्गा, लक्ष्मी, सीता, राधा आदिके रूपमें पूजित होता है। अगामिक, जडवादी लोग ही स्त्रीको केवल भोगकी सामग्री समझकर उसका अपमान करते हैं और उसे विपज्जालमें डालते हैं तथा उसी पापके कारण वे स्वयं भी सर्वनाशके गर्तमें निपतित होते हैं।

स्वतन्त्रता, आत्मनिर्णयका अधिकार आदि मोहक नामोंसे स्त्रियोंको बरगलाकर अपना शिकार बनाना और उन्हें मजदूरी या वेश्यावृत्ति करनेके लिये निराश्रय एवं असहाय छोड़ देना उनके साथ घोर अन्याय करना है। पुरुष जब सहर्ष अपनी कमाई स्त्रियोंको खर्च करनेके लिये समर्पण करता है, तब उन्हें भी कमानेके काममें लगानेका अर्थ ही क्या है? इसके अतिरिक्त गृहका कार्य भी कुछ कम नहीं है। यदि गृहिणी सुप्रबन्ध करनेवाली गृहलक्ष्मी न हो तो पुरुषके लाखों कमानेपर भी घरमें बरक़्त नही होती। मानव-जीवन और गृहको सरस एवं माङ्गलिक बनानेवाली स्त्रीके सिरपर कमानेका भार न होना ही अच्छा है। स्त्री-द्वारा उत्पादित रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, ध्रुव, शिवि, दिलीप, भगीरथ-जैसी एक भी मतान समष्टि व्यष्टि जगत्के लोक-परलोकका जीवन माङ्गलिक एवं समुन्नत बना सकती है। उपयोगितावादी स्थिति तो धर्म, संस्कृति, प्रेम, सौन्दर्य, कला, क्षमा, दया, त्याग आदि सभी उदात्त गुणोंमें उपयोगिता ही छूटता है। लोक-कल्याणार्थ अपने प्राणतत्त्वको बलिदान कर देनेमें स्थिति को कुछ भी उपयोगिता नहीं दिखायी दे सकती, परन्तु क्या इतनेसे ही यह त्याग व्यर्थ कहा जा सकता है? ससारमें उपयोगिता ही सब कुछ नहीं है। माता, भगिनी, पुत्री, पत्नी-का महत्त्व उपयोगिताकी कसौटीपर नहीं परखा जा सकता।

वर्गवाद

मार्क्सके मतसे 'भारतमें औद्योगिक विकाससे होनेवाला परिवर्तन यूरोपके प्रभावसे देरमें आरम्भ हुआ बल्कि अभी शनैः-शनैः हो रहा है और पूरे रूपमें हो भी नहीं पाया, स्त्रियोंकी अवस्थामें भी परिवर्तन अभीतक यहाँ नहीं हो पाया है। जन-साधारण या जमींदार-श्रेणी और पूँजीपति-श्रेणीकी स्त्रियाँ इस देशमें अभीतक उसी अवस्थामें हैं, परन्तु मध्यम श्रेणीकी स्त्रियोंकी अवस्थामें - जिनपर आर्थिक परिवर्तनका प्रभाव गहरा पड़ा है, परिवर्तन तेजीसे आ रहा है।

'यूरोपमें जहाँ पूँजीवाद पूर्ण उन्नति कर चुकनेके बाद ठोकरें खाने लगा है, स्त्रियोंकी अवस्था पुरुषोंकी अपेक्षा जीवन-निर्वाहके सघर्षमें कम योग्य होनेके कारण पुरुषोंसे भी गयी-बीती है। बेकारी और जीवन-निर्वाहकी तंगीके कारण लोग व्याह-कर परिवार पालनेके झगड़ेमें नहीं फँसना चाहते, इसलिये स्त्रियोंके लिये घर बैठकर बच्चे पालने और निर्वाहके लिये रोटी-कपड़ा पाते रहनेका भी मौका गया। अब उन्हें भी मिलो, कारखानों, खानों, खेतों और दफ्तरोंमें मजदूरी कर पेट पालना पड़ता है। यदि उनका विवाह हो जाता है तो माता बननेका उनका काम ज्यो-त्थों निभ जाता है और वे फिर मजदूरी करने चल देती हैं। यदि विवाह नहीं हुआ और शरीरकी स्वाभाविक प्रवृत्तिके कारण वे माता बन गयीं तो उनकी मुसीबत है। प्रसवकी अवस्थामें उनके निर्वाहका सवाल बहुत कठिन हो जाता है और प्रसवकालमें ही उन्हें सहायताकी अधिक आवश्यकता रहती है। प्रसवकालमें यदि

वे कामपर नहीं जा सकतीं तो उनकी जीविका छूट जाती है और प्रसवकालके बाद जब उन्हें एकके बजाय दो जीवोंकी जरूरतको पूरा करना पड़ता है, तो वे बिना साधनके हो जाती हैं। इससे समाजमें उत्पन्न होनेवाली संतानके पोषण और अवस्था-पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह समझ लेना कठिन नहीं।

‘स्त्रियोंकी इस अवस्थाके कारण देशकी जनताके स्वास्थ्यपर जो बुरा प्रभाव पड़ता है, उसके कारण अनेक पूँजीवादी सरकारोंने स्त्रियोंकी रक्षाके लिये मजदूरी-सम्बन्धी कुछ नियम बनाये हैं। जिनके अनुसार मिल-मालिकोंको प्रसवके समय स्त्रियोंको बिना काम किये कुछ तनखाह देनी पड़ती है और बच्चा होनेपर मिलमें काम करते समय माँको बच्चेको दूध आदि पिलानेकी सुविधा भी देनी पड़ती है। इन कानूनी अड़चनोंसे बचनेके लिये मिले प्रायः विवाहित स्त्रियोंको और खासकर बच्चेवाली स्त्रियोंको मिलमें नौकरी देना पसंद नहीं करतीं। यूरोपमें अस्सी या नब्बे प्रतिशत लड़कियाँ विवाहसे पहले किसी-न-किसी प्रकारकी मजदूरी या नौकरी कर अपना निर्वाह करती हैं या अपने परिवारको सहायता देती हैं, परंतु विवाह हो जानेपर उन्हें जीविका कमानेकी सुविधा नहीं रहती। इन कारणोंसे स्त्रियाँ विवाह न करने या विवाह करनेपर भी गर्भ हटा देनेके लिये मजबूर होती हैं। जीविकाका कोई उपाय न मिलनेपर उन्हें अपने शरीरको पुरुषोंके क्षणिक आनन्दके लिये बेचकर अपना पेट भरनेके लिये मजबूर होना पड़ता है।

‘वैयक्तिक सम्पत्तिके आधारपर कायम पूँजीवादी-समाजमें स्त्री व्यक्तिकी सम्पत्ति और मिलिकयतका केन्द्र होनेके कारण या तो पुरुषके आधिपत्यमें रहकर उसके वंशको चलाने, उसके उपयोग-भोगमें आनेकी वस्तु रहेगी या फिर आर्थिक संकट और बेकारीके शिकंजेमें निचोड़े जाते हुए समाजके तंग होते हुए दायरेसे, अपनी शारीरिक निर्बलताके कारण—जिस गुणके कारण वह समाजको उत्पन्न कर सकती है, समाजमें जीविकाका स्थान न पाकर केवल पुरुषके शिकारकी वस्तु बनती जायगी। पर यह अवस्था है साधनहीन गरीब और मध्यम श्रेणीकी स्त्रियोंकी। साधन-सम्पन्न और अमीर श्रेणीकी स्त्रियाँ यद्यपि भूख और गरीबीसे तड़पती नहीं, परंतु उनके जीवनमें भी आत्मनिर्णय और विकासका द्वार बंद रहता है।’ मार्क्सके अनुसार ‘समाजमें स्त्रियोंका समान अधिकार होनेके लिये उन्हें भी समाजमें पैदावारके कार्यमें सहयोग देनेका अवसर मिलना चाहिये।’ मार्क्सवाद इस बातको स्वीकार करता है कि ‘समाजमें सतान उत्पन्न करना न केवल स्त्रीके बल्कि सम्पूर्ण समाजके सभी कामोंमें महत्वपूर्ण काम है; क्योंकि मनुष्य-समाजका अस्तित्व इसीपर निर्भर करता है। इस महत्वपूर्ण कार्यके ठीक रूपसे होनेके लिये अनुकूल परिस्थितियाँ होनी चाहिये। स्त्रीको सतानोत्पत्ति मजबूर होकर या दूसरेके भोगका साधन बनकर न करनी पड़े, बल्कि वह अपने आपको समाजका एक स्वतन्त्र अङ्ग

समझकर, अपनी इच्छामें सतान पैदा करे। सतान पैदा करनेके लिये समाजकी सभी स्त्रियोंके लिये ऐसी परिस्थितियाँ होनी चाहिये, जो स्वयं स्त्री और सतानके स्वास्थ्यके लिये अनुकूल हो। गर्भावस्थामें स्त्रीके लिये इस प्रकारकी परिस्थिति होनी चाहिये कि वह अपने स्वास्थ्यको ठीक रख सके और स्वस्थ सतानको जन्म दे सके। परंतु पूँजीवादी-समाजमें साधनहीन तथा पूँजीपति दोनों ही श्रेणियोंके लिये ऐसी परिस्थितियाँ नहीं हैं। साधनहीन श्रेणीकी स्त्रियोंको गर्भावस्थामें उचितसे अधिक परिश्रम करना पड़ता है और पूँजीवादी श्रेणीकी स्त्रियाँ बिल्कुल निष्क्रिय रहनेके कारण जैसी सतान पैदा करना चाहिये, वैसी नहीं कर पातीं।

‘समाजवादी और समष्टिवादी-समाजमें स्त्री भी समाजका परिश्रम या पैदावार करनेवाला अङ्ग समझी जाती है। उसे केवल पुरुषके भोग और रिझावका साधन नहीं समझा जाता। ‘मार्क्सवाद’ मनुष्यमें आनन्द, विनोद और रिझावकी जगह भी स्वीकार करता है, परंतु उसमें पुरुषको प्रधान बनाकर स्त्रीको केवल साधन बना देना उसे स्वीकार नहीं। पूँजीवादी-समाजमें स्त्री अपने माता बननेके कार्यके कारण पुरुषके सामने आत्मसमर्पण करनेके लिये मजबूर होती है (क्योंकि पुरुष जीविका कमाकर लाता है)। समाजवाद और समष्टिवादमें स्त्रीके गर्भवती होने, प्रसवकाल और उसके बाद जबतक वह फिर परिश्रमके काममें भाग लेनेके योग्य न हो जाय, स्त्रीकी आवश्यकताओंकी पूर्ति और स्वास्थ्यकी देख-भालकी जिम्मेदारी समाजपर होगी। प्रसवसे दो-ढाई मास पूर्वसे लेकर प्रसवके एक मास पश्चात्तक वह समाजके खर्चपर रहेगी। सतान पैदा होनेके बाद समाज जो काम उसे करनेके लिये देगा, उसमें बच्चेकी देख-भालका समय और सुविधा भी उसे देगा। बच्चेके पालने-पोसने और शिक्षाकी जिम्मेदारी भी गरीब स्त्रीके ही कंधो-पर न होकर समाजके सिर होगी। इस प्रकार सतान पैदा करना स्त्रीके लिये भय और मुसीबतका कारण न होकर उत्साह और प्रसन्नताका विषय होगा।’

उपर्युक्त मार्क्सवादी मन्तव्यसे यह स्पष्ट है कि मार्क्सवादियोंको स्त्री-हितसे उतना प्रयोजन नहीं है, जितना कि स्त्रीको अपने पति पुत्रादि परिवारसे विच्छिन्न कर उसे समाजकी वस्तु बनानेसे है। स्पष्ट है कि पतिको अपनी पत्नीमें जितनी प्रीति है, पुत्रको अपनी मातामें जितना स्नेह है, उतनी प्रीति, उतना स्नेह समाजकी साधारण वस्तुमें समाजका क्यों होगा? जेलो एव अनाथालयोंमें भी स्त्रियो-पुरुषोंको भोजन मिलता है, वस्त्र मिलते हैं, इलाज मिलता है और गर्भ तथा प्रसवकालमें बहुत सी सुविधाएँ भी मिलती हैं। परंतु क्या स्वाधीनतापूर्वक गरीबी हालतके भी जीवनका सुख उपर्युक्त स्थितिमें सम्भव है? पति, सास-ससुर, देवर-जेठ, पुत्र-पौत्र आदिके सहज सम्बन्ध और स्नेहकी तुलना समाजमें कहाँ प्राप्त हो सकती है? रामराज्य-प्रणालीमें स्त्री गृहलक्ष्मी रहेगी। वेदोंने विवाहके

समय वरके मुखसे वधूको कहलाया है कि तुम श्वशुर, श्वश्रू, ननद और देवरमे सम्राज्ञी बनो—‘सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवा भव । ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवेषु ।’ (ऋक् सं० १० । ८५ । ४६) स्त्री ससुर, पति, पुत्रादिकी कमाईकी रानी एवं मालकिन होगी, परिवारके लोग उसके इशारेपर काम करेंगे, उसका ही दिया हुआ खायेगे और खर्च करेगे । उसे मिलोमें मजदूरी करने नहीं जाना पड़ेगा, समाजके नामपर हुक्मत करनेवाले मुट्ठीभर तानाशाहोके प्रबन्ध-स्थापनमें कोई वस्तु पानेके लिये पक्तिबद्ध खड़े रहकर उसे बाट नहीं जोहना पड़ेगा । बिना मजदूरी किये ही वह समाजमें पुरुषोके बराबरका ही नहीं उनसे हजारगुना अधिक ऊँचा स्थान प्राप्त करेगी ।

रामराज्यके अनुसार सन्नारीके बलपर कुल, गोत्र एव वंशकी रक्षा होगी । समाजवादी-व्यवस्थामें इच्छानुसार किन्हीं नये-नये पुरुषोंसे सतान उत्पन्न करनेवाली नारीके पुत्र-पुत्रीका कुल, गोत्र, धर्म क्या होगा ? एक ही माँसे उत्पन्न अनेक भाई, बहने कितने ही पिताओसे उत्पन्न हुए होंगे, उनका परस्पर क्या सम्बन्ध होगा ? इससे मार्क्सवादीसे क्या मतलब होगा ? मार्क्सवादमें तो जैसे सभी सम्पत्ति सरकारी, भूमि सरकारी; वैसे ही सब औरते सरकारी, सब मर्द सरकारी और सभी बच्चे भी सरकारी होंगे । जैसे गाय-बैल, बड़े-घोड़ी, ऊँट-ऊँटिनी आदि पशुओका अपना न निजी कोई पति है, न पत्नी है, न अपना कोई माता-पिता है, न अपना कोई बच्चा-बच्ची है, सब सरकारी-ही-सरकारी हैं, वैसे ही स्त्री-पुरुष, बच्चे-बच्ची सब सरकारी-ही-सरकारी होंगे । फिर कहाँका पिण्डदान, कहाँका श्राद्धतर्पण, कहाँका गयाश्राद्ध, कहाँका धर्म, दान, पुण्य, मोक्ष, कहाँका परिवार, कुटुम्ब और कैसा पारिवारिक स्नेह ?—सब पशुवत् जीवन होगा । सरकारी अफसरके आदेशानुसार जैसे किमी घोड़ा-घोड़ीका सम्बन्ध कराया जाता है, वैसे ही समाज या समाजवादी सरकारके आदेशानुसार अनियतरूपसे स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध करा दिया जायगा ।

समाजके नामपर तानाशाही सरकार और उसके नौकर सब व्यवस्था करेंगे । वे ही लोगोसे विभिन्न काम करायेगे, वे ही रोटि-कपड़ा देगे, वे ही गर्भधारण करायेगे, वे गर्भ तथा प्रसवकालका सब प्रबन्ध करेगे । फिर पति-पुत्र और कुटुम्बका कोई भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहेगा । गो, गर्दभ, श्वान, शूकरादि जानवरोंके या काक, कुक्कुट, कपात आदि पक्षियोंके समूहके तुल्य ही मानव-समूह होगा । गरीब स्त्रीसमाजके कंधेपर कोई भार न दिया जायगा, दयालु समाज और समाजवादी सरकारके कंधेपर ही सब भार रहेगा, यह है समाजवादमें स्त्रियोका स्थान । समाजमें यदि समानाधिकार लेना है, तो स्त्रियोको यह सब स्वीकार करना पड़ेगा । बिना कम ये उन्हें अधिकार न मिल सकेगा । मार्क्सवादमें स्त्रियोके लिये सरकारी गुलामी ओर सरकारी मजदूरी ठीक समझी जाती है, परंतु अपने सास-ससुर, पति-पुत्र आदिकी सेवा, लालन-पालन असह्य है । यह स्त्रीके लिये गुलामी है, उसे आत्म समर्पणके लिये बाध्य करना है । श्वशुरकुलकी साम्राज्ञी पतिके घर एव हृदय-

की, पुत्रोकी पूज्या महारानी होकर गृहस्वामिनी, गृहलक्ष्मी बनना श्रेष्ठ है या सरकारी नौकरानी बनकर पिछड़ी-कुतियाका जीवन व्यतीत करना श्रेष्ठ है, इसे समझदार स्त्रियों स्वयं सोचें और सोचे वे पुरुष जिन्हें आगेसे ऐसी ही पत्नी और माता पाना है।

व्यभिचारका उन्मूलन

मार्क्स लिखता है कि 'हम स्त्रीको पुरुषकी सम्पत्ति बनाने और धर्मके भयसे जकड़ देनेके पक्षमें नहीं हैं। यह भी हमें स्वीकार नहीं है कि एक सतान उत्पन्न करनेके लिये किसी स्त्रीका एक पुरुष-विशेषकी दासी या सम्पत्ति बन जाना जरूरी है। वह स्त्री-पुरुषके सम्बन्धको स्त्री-पुरुषकी शारीरिक आवश्यकताका सम्बन्ध मानता है; परंतु इसके लिये वह दोनोंमेंसे एक-दूसरेका दास बन जाना आवश्यक नहीं समझता। इस सम्बन्धमें वह कानूनके भी दखल देनेकी जरूरत नहीं समझता; परंतु इसके साथ ही वह स्त्री-पुरुषके सम्बन्धकी उच्छृङ्खलताको भी स्वीकार नहीं करता। किसी स्त्री या पुरुषका दूसरोके शारीरिक भोगके लिये अपने शरीरको किरायेपर चढ़ाना वह अपराध समझता है। समाजवादी और समष्टिवादी समाजमें जीविकाके साधन अपनी योग्यता और अवस्थाके अनुसार सभीको प्राप्त होंगे, इसलिये जीविकाके लिये व्यभिचारसे धन कमानेकी आवश्यकता हो नहीं सकती और जो लोग पूँजीवादी-समाजके सत्कारोके कारण ऐसा करेंगे, वे अपराधी होंगे। सक्षेपमें स्त्री-पुरुष और विवाहके सम्बन्धमें मार्क्सवाद समाजके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके विचारसे पूर्ण स्वतन्त्रता देता है, परंतु उच्छृङ्खलता, गड़बड़ या भोगको पेशा बना लेनेको और इसके साथ ही अपने भोगकी इच्छाके लिये दूसरे व्यक्तियों और समाजकी जीवन-व्यवस्थामें अड़चन डालनेको वह भयकर अपराध समझता है। स्त्री पुरुषके सम्बन्धमें मार्क्सवादका रुख लेनिनकी एक बातसे स्पष्ट हो जाता है। लेनिनने कहा था—स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध शरीरकी दूसरी आवश्यकताओं—भूख, प्यास, नींद—की तरह ही एक आवश्यकता है। इसमें मनुष्यको स्वतन्त्रता होनी चाहिये, परंतु प्यास लगनेपर शहरकी गली नालीमें मुँह डालकर पानी पीना उचित नहीं। उचित है स्वच्छ जल, स्वच्छ गिलाससे पीना। स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध मनुष्योंकी शारीरिक, मानसिक-तुष्टि और समाजकी रक्षाके लिये होना चाहिये न कि स्त्री पुरुषोंको रोग और कलहका घर बना देनेके लिये। अबतकके पारिवारिक और विवाह सम्बन्धी बन्धन पूँजीवादी आर्थिक सगठनपर कायम हैं, जिनमें स्त्रीका निरन्तर शोषण होता रहा है; इसलिये अब समाजको इसे बदलकर स्त्री-पुरुषकी समानतापर लाना चाहिये।'

यह सही है कि मार्क्सवादमें जीविकाके लिये स्त्रियोंको व्यभिचार न करना पड़ेगा; परंतु काम-प्रेरणासे होनेवाले व्यभिचारपर मार्क्सवादमें क्या रोक है ?

गंदी नालीका पानी पागल ही पीता है, अन्य सभी स्वास्थ्यकर स्वच्छ ही जल पीना चाहते हैं। क्या माक्सवादमें अपने पति या अपनी पत्नीसे अन्य स्त्री-पुरुषसे सम्बन्ध गंदी नालीके जल पीनेके तुल्य मान्य है? किसी भी माक्सवादी ग्रन्थमें हँदनेपर भी स्त्री-पुरुषके स्वेच्छापूर्वक सम्बन्धोंमें कोई रुकावटकी बात नहीं दिखलाई देती, सिर्फ दूसरेकी इच्छाके बिना या पेशा किंवा जीविकाके लिये व्यभिचार करना अपराध माना गया है। परंतु शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्यके विचारसे नितान्त स्वेच्छापूर्ण स्त्री-पुरुष-सम्बन्धकी माक्सवादमें पूरी स्वाधीनता है। फिर इससे भिन्न और उच्छृङ्खलता या गडबड़ क्या है? स्त्री-पुरुष दोनोंमें किसीकी जिसमें अनिच्छा न हो, जो पेशेके लिये न हो, जो शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्यके प्रतिकूल न हो; ऐसे स्वेच्छापूर्ण मनमाने सम्बन्धमें कोई रुकावट नहीं है। फिर जब पाप पुण्यका प्रश्न है ही नहीं, तब ऐसे सरल, सुखकर कामसे पेशेपर ही रुकावट क्यों हो? किन्हीं माक्सवादी वाक्योंसे भी चारित्रिक जीवनका समर्थन नहीं मिलता और पुलिस एवं गुप्तचरकी आँखोंमें धूल डालकर, अदालत-को धोखा देकर कोई दुराचार कर सके तो क्या होगा?

अध्यात्मवादीकी दृष्टिमें तो प्रथम संयतात्मा सावधान व्यक्तियोंका गुरु ही जाता है, उनके लिये राज्यशासन आवश्यक ही नहीं है। परंतु दुरात्मा प्राणीका नियन्त्रण करनेके लिये राजा जाता होता है। किंतु जो प्रच्छन्न पातकी होते हैं, जो पुलिस एवं अदालतको चकमा देकर पाप करते हैं, उनका शासक वैवस्वत यम ही हैं। (नारदस्मृ० १८ । १०८; विदु० नी०) एक जडवादीके मतमें यदि निर्विघ्न रूपसे दूसरेका धन या दूसरेका सुन्दर कलत्र प्राप्त हो जाय, तो उससे बचना, उसे अस्वीकार कर देना या वह जिसकी है, उसके पास सही-सलामत पहुँचा देना शुद्ध मूर्खता ही कही जायगी, क्योंकि उसके सिद्धान्तानुसार किसीकी व्यक्तिगत सम्पत्ति जायज नहीं है, सब सम्पत्ति राज्यकी ही है। स्त्री-पुरुष कोई भी किसीकी वस्तु नहीं है, सब समाजकी वस्तु है, उसके लेनेमें पाप-पुण्यकी कोई बात ही नहीं है। परंतु एक अध्यात्मवादी, परान्न, पर-वित्तकी स्वीकार करना जघन्य कृत्य समझता है। वह कहता है कि पर-वित्त, परान्न यदि मार्गमें पड़ा हो चाहे घरमें, अपना वैध स्वत्व हुए बिना उसे कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये, यही सत्पुरुषका लक्षण है—‘परान्नं परद्रव्यं वा पथि वा यदि वा गृहे। अदत्तं नैव गृह्णीयादेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥’ अपने यहाँ पति-पत्नी, माता-पुत्र आदिका सम्बन्ध धार्मिक एवं सांस्कृतिक, शास्त्र एवं परम्परामूलक समझा जाता है, जब कि माक्सवादी सम्पूर्ण धार्मिकताओं, परम्पराओंको मिटाकर शुद्ध अर्थमूलक सम्बन्धको ही क्रान्तिके लिये लाभदायक मानते हैं। इनके मतानुसार ‘अपनी शारीरिक प्रेरणाओंसे ही स्त्री-पुरुष सम्बन्धित होते हैं, उनसे तीसरा व्यक्ति बतौर ‘एक्सिडेंट’ (आकस्मिक घटना) के उत्पन्न हो जाता है। माँका दूध पिलाना भी उसके लिये अनिवार्य है, बिना स्तनसे दूध निकले उसे

मार्क्सवादी समाज-व्यवस्था

कष्ट हो सकता है, इसीलिये माँ बच्चेको दूध पिलानेके लिये बाध्य होती है।' अतः 'माता पितासे सहस्रगुणित पूज्य है'—'सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते' (मनु० २।१४५) का मार्क्सवादमें कोई महत्त्व नहीं है। सीता, सावित्री, दमयन्ती, अरुन्धती आदिके पातिव्रत्यका भी मार्क्सवादमें कोई गौरव नहीं, केवल भूख-प्यासकी तरह शारीरिक आवश्यकताकी पूर्तिमात्र ही वहाँ स्त्री-पुरुषके सम्बन्धका आधार है। राम राज्यमें पातिव्रत्य सर्वधर्मसार है और सीता, सावित्री आदि उसके उच्च आदर्श एवं मार्गदर्शक हैं।

भूत और शक्ति

मार्क्सवादी कहते हैं, "कुछ आधुनिक वैज्ञानिक अब रहस्यवादकी शरण लेते हैं। उन वैज्ञानिकोंका कहना है कि 'भूत शक्ति ही है और शक्तिका पूर्णरूपसे बोध नहीं हो सकता।' लेकिन यह बात सही नहीं है। यदि यह मान लिया जाय कि भूत विजली ही है, तथापि इस विजलीका परिमाण और वजन है, इसलिये भूतकी धारणा भले ही बदल जाय इसका अस्तित्व नहीं मिट जाता। जैम्सनके शब्दोंमें 'उन वैज्ञानिकोंकी, जो भूतको केवल शक्तिका ही सगठन मानते हैं, तुलना उस वीरसे की जा सकती है, जिसने केवल धारसे तलवार बनायी अथवा उन केवटोंसे जिन्होंने जालकी यह परिभाषा की कि यह सुतलीसे बँधा हुआ छेद है।'

आईंस्टीनके सापेक्षताके नियमका प्रारम्भ है कि निरपेक्ष गतिकी न तो धारणा की जा सकती है और न इसको मापा जा सकता है। किसी दी हुई रेखा या बिन्दुसे ही इसको मापा जा सकता है। इससे कुछ वैज्ञानिक इस नतीजेपर पहुँचे कि 'गति वास्तविक नहीं है', किंतु यह हीगेलका ही सिद्धान्त है कि 'अस्तित्व सम्बन्ध बोधक है। किसी वस्तुको दूसरी वस्तुद्वारा ही मापा जा सकता है और किसी पदार्थका गुण किसी दूसरे पदार्थपर प्रतिक्रियाका नाम है।' द्वन्द्वात्मक भौतिकवादप्रयोगको ही प्रथम स्थान देता है। निरपेक्ष गति हो या न हो हमारे लिये घड़ी और स्थान दोनोंकी आवश्यकता है; इसलिये दोनों ही वास्तविक हैं।"

वस्तुतः ईमानदार वैज्ञानिक ही कहीं भूतके रूपमें शक्ति मानते हैं और उसे दुर्ज्ञेय मानते हैं। पूर्वोक्त न्यायसे कहा गया है कि सूक्ष्मसे ही स्थूलकी उत्पत्ति होती है। धारसे तलवार तथा सुतलीसे बँधे हुए छेदसे और शक्तिसे भूतनिर्माणमें पर्याप्त अन्तर है। तन्तुसे पट बनता है, फिर भी पटका तन्तु है, यह भी व्यवहार होता है। मृत्तिकासे घट उत्पन्न होता है, फिर भी घटकी मृत्तिका है, यह भी व्यवहार होता है। आमतौरपर पृथ्वीका गन्ध, जलका रस, तेजका रूप, वायुका स्पर्श और आकाशका शब्द गुण माना जाता है। फिर भी साख्य वेदान्त-सिद्धान्तानुसार शब्दतन्मात्रासे ही आकाश, स्पर्शतन्मात्रासे ही वायु, रूपतन्मात्रासे

तेज, रसतन्मात्रासे जल तथा गन्धतन्मात्रासे पृथ्वीकी उत्पत्ति होती है । यह स्पष्ट है कि जिन भूतोमें केवल शब्द है, वह सूक्ष्म आकाश है । वायुमें शब्द, स्पर्श दो गुणोंका उपलब्ध होता है । वह आकाशकी अपेक्षा स्थूल है । उत्तरोत्तर रूप, रस, गन्ध गुणोंकी जैसे-जैसे अधिकता होती है, वैसे ही तेज आदिमें स्थूलता उपलब्ध होती है । इस दृष्टिसे शब्दस्पर्शात्मक ही भूत है । उपनिषदोंके अनुसार सत्से आकाशादिकी उत्पत्ति होती है, फिर भी आकाशादिकी सत्ताका व्यवहार होता है । कारणसे कार्य उत्पन्न होनेपर मायाद्वारा प्रधान कारणकी अप्रधानता तथा अप्रधान कार्यकी प्रधानता हो जाती है इसीलिये कार्य विशेष्य हो जाता है, कारण विशेषण हो जाता है । इसी कारण आकाशकी सत्ता, घटकी मृत्तिका, पटका तन्तु आदिका व्यवहार होता है । हर जगह शक्तिसे ही कार्य उत्पन्न होता है, मृत्तिकामें घट-शक्ति होती है, बीजमें अङ्कुर-शक्ति होती है । ऐसे ही सम्पूर्ण कार्योंके उत्पादनानुकूल उन-उन कारणोंमें शक्तियाँ रहती हैं, इस दृष्टिसे सत्में प्रपञ्चोत्पादिनी शक्ति रहती है । उसी सत्-शक्तिसे भूतोकी उत्पत्ति होती है । सूक्ष्मरूपसे स्थूल भिन्न नहीं होता । सूक्ष्म कारण है, स्थूल कार्य है, यह कहा जा चुका है । घट कपालमात्र है, कपाल चूर्णरूप है, वह भी रजोमात्रा है । रज भी परमाणु रह जाता है । मृत्तिकासे भिन्न घट नहीं होता, रससे भिन्न जल नहीं, रूपसे भिन्न तेज नहीं । ऐसे ही धारसे भिन्न तलवार नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता । उसी तरह सुतलीसे भिन्न होकर सच्छिद्र जाल नहीं है; परंतु जालसे भिन्न होकर सुतली नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता; अतः विषम दृष्टान्त है । गति पदार्थकी आवश्यकता है, अवस्था अवस्थावान्से भिन्न नहीं । नाप तौल तथा मार्क्सवादियोंका प्रयोग भी बिना ज्ञानके नहीं होता है, अतः प्रयोगवादको भी सर्वकारण परममूलका अन्वेषण तो करना ही चाहिये ।

क्या मनुष्यकी इच्छाशक्ति स्वाधीन है ?

‘मनुष्यकी इच्छा स्वतन्त्र है या नहीं’, यह दार्शनिक क्षेत्रमें एक प्राचीन प्रश्न है । द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी इसका उत्तर देते हैं—“नहीं, इस प्रश्नका मूल भी धर्मविद्यामें है । यदि मनुष्यका कर्म उसकी स्वेच्छासे नहीं है तो वह पाप-पुण्यके भारसे मुक्त हो जाता है तथा स्वर्ग और नरकका कोई अर्थ नहीं रह जाता । यही कारण है कि धर्म-विद्या मनुष्यकी इच्छाको स्वतन्त्र मानती है । “इस प्रश्नका यो विचार कीजिये । सारा ससार कार्य-कारणके नियमसे बँधा हुआ है । क्या मनुष्य इस ससारका अंश नहीं ? केवलमात्र मनुष्यकी इच्छा ही क्या इस प्राकृतिक नियमसे परे है ? सब वस्तुओंकी तरह मनुष्यकी इच्छा भी कारणजनित है । उसकी इच्छाके प्राकृतिक तथा सामाजिक कारण हैं । मनुष्य ऐसा सोचता अवश्य है कि वह अपनी इच्छानुसार ही सब कुछ करता है ।

लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। कविने उदाहरण दिया है कि प्रत्येक वारिविन्दु भी यह सोचता है कि अपनी इच्छासे ही वह जमीनपर गिरता है। मातृ-स्तन पीते समय बच्चा भी यह सोचता है कि अपनी इच्छाको ही वह पूरी कर रहा है। यदि हमारी इच्छा स्वाधीन नहीं है तो बाध्य होनेपर ही हम कोई काम करते हैं। इस बाध्यताके सम्बन्धमें हीगेलने लिखा है—‘बाध्यता उसी हदतक दृष्टिहीन है, जहाँतक हम इसको समझते नहीं।’ इसपर टीका करते हुए एजिल्सने लिखा है कि ‘प्रकृति और मनुष्यके समाजमें ही स्वतन्त्रताका निवास है और इसकी बुनियाद है प्रकृतिकी मजबूरियोंका ज्ञान।’ इसका खण्डन करते हुए यह कहा जाता है कि—‘जहाँ हम मजबूरीके सामने सर झुकाते हैं वहाँ स्वतन्त्रता कहाँ?’ यहाँपर मजबूरीके अर्थपर हमें गौर करना चाहिये।

“अरस्तूने इस अवश्यम्भाविवाद या नियतिवादके विभिन्न अर्थोंपर बहुत पहले ही विचार किया था। यदि हमें रोगमुक्त होना है तो हम दवा लेनेके लिये बाध्य हैं! जीवनधारणके लिये श्वास लेना आवश्यक है। किसी स्थलमें दिये गये ऋणकी बसूलीके लिये वहाँ जाना जरूरी है, यह प्रयोजनीयता अवस्थापर निर्भर है, एक अवस्था दूसरी अवस्थापर निर्भर है, जैसे जीवन धारण श्वास लेनेपर निर्भर है। मनुष्यको बाह्य प्रकृतिसे सम्बन्धमें इसी तरहकी मजबूरियोंका सामना करना पड़ता है। फसल काटनेके लिये फसलका बोना जरूरी है। इसमें कुछ लोगोंको पराधीनताकी गन्ध आती है। निस्सदेह मनुष्य अधिक स्वतन्त्र होता, यदि बिना परिश्रम ही उसकी आवश्यकताएँ पूरी हो जातीं। जब वह प्रकृतिको अपना मतलब पूरा करनेके लिये बाध्य करता है तब भी वह प्रकृतिका अनुवर्ती है। लेकिन यह अनुवर्तिता ही उसकी स्वतन्त्रताकी शर्त है। प्रकृतिका अनुगामी बनकर प्रकृतिपर वह विजय पाता है और इस प्रकार वह अपनी स्वतन्त्रताके राज्यका विस्तार करता है।” अब हीगेलके इस वाक्यका अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि ‘प्रयोजनकी स्वीकृति ही स्वतन्त्रता है।’

किंतु यह ठीक नहीं है। ज्ञानसे इच्छा होती है, इच्छानुसार ही प्राणीकी कृति होती है। भले ही ससार कार्य-कारणके नियमसे बँधा हो और भले ही मनुष्य तथा उसकी इच्छा भी ससारका अंग ही हो, तथापि उसी ससारमें तो स्वतन्त्रता-परतन्त्रताका व्यवहार चलता है। जो प्राणी किसी अन्यकी प्रेरणा या आशामें काम करता है, वह परतन्त्र कहा जाता है। अपरप्रेरित अपनी इच्छामें काम करनेवाला स्वतन्त्र कहा जाता है। रहा यह कि इच्छा भी कारणजनित ही होती है। सो तो ‘ज्ञानजन्या भवेद्विच्छा’ ज्ञानसे इच्छा होती है, यह सिद्धान्त है। अन्यान्य प्राकृतिक तथा सामाजिक भी कारण रह सकते हैं। फिर भी स्वेच्छाधीन कार्य करनेवाला स्वतन्त्र कहा जाता है। इसमें विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

तभी स्वेच्छाधीन भला या बुरा काम करनेवाला मनुष्य निग्रह या अनुग्रहका भागी होता है। बिन्दुकी पृथ्वीपर गिरनेकी इच्छा तो काल्पनिक ही है, क्योंकि इच्छा चेतनका धर्म है, अचेतनका नहीं। फिर भी 'नद्याः कूलं पिपतिपति' (नदीका किनारा गिरना चाहता है), इस प्रकारकी इच्छाएँ वस्तुतः काल्पनिक हैं। आसन्न-पतनता देखकर ऐसा व्यवहार किया जाता है। मातृस्तन पीनेकी इच्छा तो चेतनकी इच्छा है, वह क्षुधासे भी होती है। फिर भी इष्टसाधनता-ज्ञानसे ही इच्छा मुख्य है। रोगमुक्त होनेके लिये भी एक तो स्वेच्छासे ओषधि खायी जाती है, दूसरे अभिभावकोंद्वारा बाध्य किये जानेपर भी ओषधि खायी जाती है। इसी प्रकार जीवन-धारण करनेके लिये श्वास लेनेकी भी बात है। वस्तुतः प्रयोजनकी स्वीकृति ही स्वतन्त्रता है। इस परिभाषासे 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' यह पाणिनिकी परिभाषा ही श्रेष्ठ है, जिसका आशय है 'क्रियामें स्वतन्त्ररूपसे विवक्षित अर्थ ही कर्त्ता होता है।'

स्वेतर समस्त कारकोंका प्रयोजक होकर स्वयं किसीसे प्रयुक्त न होना ही स्वतन्त्रता है। व्यवहारमें भी जितने विधि-निषेध होते हैं, सभी स्वतन्त्रके ही होते हैं। जिसके हाथ-पैर हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़े हो, ऐसे परतन्त्र व्यक्तिको जल लाने या दौड़नेको कौन आदेश दे सकता है? यो कोई भी बुरा काम करता है तो परिस्थितियोंसे बाध्य होकर ही करना पड़ता है। काम, क्रोध, लोभ—सभी परिस्थितियोंके अनुसार ही होते हैं। चोरी कोई तभी करता है, जब वह परिस्थितियोंसे उसके लिये बाध्य हो। तो भी क्या समाजसे चोरी करनेको अपराध मानना बंद हो जाना चाहिये? ससारमें सभी कार्य कामना या इच्छापूर्वक ही होते हैं। इच्छामें भी जब प्राणी सदा परतन्त्र ही है, तब तो फिर किसी बुरे कामसे हटनेका उपदेश या प्रयत्न व्यर्थ ही होगा। इसी तरह किसी अच्छे काममें प्रवृत्त होनेका उपदेश और प्रयत्न भी व्यर्थ है। अतः सुस्पष्ट है कि परिस्थितियोंसे सम्बन्ध होते हुए भी इच्छाके अनुसार होनेवाले कार्योंको स्वाधीनतापूर्वक कर्म कहा जाता है। तभी शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार प्राणीको निग्रह एवं अनुग्रहका भागी होना पड़ता है। अन्यथा यह तो कोई भी अपराधी कह सकता है कि 'अमुक परिस्थितियोंने ही हमसे यह काम कराया है, अतः दण्ड उन परिस्थितियोंको मिलना चाहिये या परिस्थिति उत्पन्न करनेवालेको मिलना चाहिये।' परिस्थिति उत्पन्न करनेवाले भी यही कह सकते हैं कि 'हमने भी परिस्थितिवश ही ऐसा किया है।'

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'श्रेणी विभाजन समाजमें जिनका ही मुहल होता गया, शासक-श्रेणी उतनी ही उत्पादनशक्तियोंसे दूर हटती गयी। कृषिकार्यका भार, कारखाना चलानेका भार होता है गुलामोंके ऊपर, मजदूरोंके ऊपर। पूँजीपति सोच-विचारकर समाजव्यवस्थाके नीतिविधानकी रचनामात्र करते हैं, वस्तुजगत्का उनसे कोई सम्पर्क नहीं। हाथ-पैरसे काम करनेके लिये हैं मजदूर, मिस्त्री या इजीनियर; लाभकारी आविष्कारके लिये हैं वैज्ञानिक। यहाँतक कि पूँजीपतिको

देखभालकी आवश्यकता नहीं। ईरानमें नेलकी खानें चलती हैं और लाखों मील दूर बैठ कर पूँजीपति मुनाफा कमाता है। धनिक वस्तुजगतके जिस अंशका भोग करता है, वहाँ वह देखता है कि वही कर्त्ता है, वह स्वाधीन और सर्वेसर्वा है और उसीकी आज्ञासे सब चलता है। इसलिये आधुनिक सस्कृति और दर्शनमें इच्छा-स्वाधीनताका दावा सहज ही मजूर हो जाता है।

“वर्तमान आदर्शवादी दार्शनिक इच्छा स्वतन्त्रताके दावेके प्रमाणके लिये आधुनिक विज्ञानकी शरण लेने हैं। आइसनवर्गके—‘प्रिंसिपुल आफ मिनेसी’ में उनको एक सहारा मिलता है। संक्षेपमें इसका सिद्धान्त यह है कि ‘कोई एलेक्ट्रन दूसरे मुहूर्तमें क्या करेगा, यह निश्चित नहीं है। एलेक्ट्रन एक कक्षसे दूसरे कक्षको कूद रहा है, लेकिन कौन एलेक्ट्रन कूदेगा, इसका निश्चय नहीं।’ जैम्स, एलिंगटन, शोडिंगगेर इसीकी इच्छा स्वतन्त्रताके प्रमाणके रूपमें सादर अभ्यर्थना करते हैं। यहाँपर दो बातें जान लेनेकी हैं; एक यह कि किसी एक एलेक्ट्रनकी गतिविधिको लक्ष्य करनेके लिये उसके ऊपर जो आलोक पार किया जाता है, उसीसे उसका स्थान परिवर्तन हो जाता है। दूसरी बात यह है कि मोरके ‘करमपाण्डेंस प्रिंसिपुल’ के अनुसार परमाणुओंके सख्याधिक्यसे उनकी गतिकी निश्चयता बढ़ जाती है। इस प्रकार आधुनिक विज्ञान भी कारणविहीन स्वतन्त्रताका अन्त कर देता है।”

परन्तु यह बात भी ठीक नहीं है। इच्छा-स्वतन्त्रताका प्रश्न केवल पूँजीपतियोंसे ही नहीं है, क्योंकि इच्छा और तदनुसार विविध चेष्टाओंका प्रश्न तो सभीके साथ रहता है, भेद होता है, इच्छापूर्तिमें। जिनके पास पर्याप्त साधन हैं, उनकी इच्छाओंकी पूर्ति होती है, जिनके पास साधन नहीं हैं, उनकी इच्छापूर्तिमें बड़ी कठिनाई पड़ती है। जबतक पूँजीपतियोंके पास साधन हैं, उनकी इच्छापूर्तिमें सरलता रहेगी। जब मजदूरोंके हाथमें साधन हो जायेंगे, तब फिर उनकी इच्छा-पूर्तिमें सरलता हो जायगी, यद्यपि साधनोंके मिलनेके साथ साथ इच्छाएँ भी बढ़ती जाती हैं। शास्त्रकारोंका तो कहना है कि ससारमें विवेक-वैराग्यके बिना भोगप्राप्तिसे कभी कामनाओं और इच्छाओंकी पूर्ति नहीं हो सकती। जैसे घीकी आहुतिसे अग्निज्वाला बढ़ती है, वैसे ही भोगप्राप्तिसे इच्छाएँ बढ़ती हैं—‘न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्द्धते ॥’ (विष्णुपुराण १०।१०।२३) यहाँतक कि संसारभरकी सम्पूर्ण धन-वान्य, हिरण्य आदि सम्पत्तियाँ मिल जायें, तब भी एक पुरुषकी भी तृप्ति सम्भव नहीं—‘यत् पृथिव्या ब्रीहियवं हिरण्यं पद्मवः स्त्रियः । सर्वं नैकस्य पर्याप्त इति मत्वा शमं ब्रजेत् ॥’ (लिङ्गपुराण पूर्व० ६७।१८)। संसारकी सभी स्वतन्त्रताएँ तो सीमित ही हैं। अविद्या-काम-कर्मके परतन्त्र प्राणीमें स्वतन्त्रताकी भी एक सीमा होती है, पूर्ण स्वतन्त्रता तो निरुपाधिक स्वप्रकाश आत्मामें ही है। जिनमें ‘जायते,

वर्धते, अस्ति, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति'—ये छः विकार होते हैं, उनकी पूर्ण स्वतन्त्रता कभी कैसे हो सकती है ? षड्भावविकारवर्जित कूटस्थ आत्मा ही सर्वथा स्वतन्त्र है, फिर भी आपेक्षिक स्वतन्त्रता तो रज्जुमुक्त गोवत्सादिकी भी स्वतन्त्रतामें व्यवहृत होती है। वैसे कारागारमें बंद प्राणी भी बहुत अशोमें स्वतन्त्र कहा जाता है। यों राष्ट्रकी पराधीनतासे भी प्राणी पराधीन कहा जाता है। वेदान्तकी दृष्टिसे स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीरत्रयवर्जित होनेपर ही पूर्ण स्वतन्त्रताका व्यवहार होता है।

कार्योंकी सुविधाके लिये श्रेणीविभाजन अनिवार्य ही है, सभीको सब कामका उत्तरदायित्व देनेसे कोई भी सुव्यवस्था नहीं बन सकती। वकील, इंजीनियर, चिकित्सक आदिसे कृषिका कार्य या मिलोके करघे चलानेका काम करानेसे हानि ही है। इसीलिये प्राचीन कालमें प्रधानरूपसे ज्ञानार्जन, ज्ञानवितरणका काम ब्राह्मणोंपर, बलार्जन, बलवितरण, राष्ट्ररक्षण आदिका काम क्षत्रियोंपर; कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदिद्वारा धनार्जन, धनवितरण आदिका काम वैश्योंपर, राष्ट्रोपयोगी विभन्न कर्मों, शिल्पादि कलाओंके अर्जन, रक्षण आदिका भार शूद्रोंपर डाला गया था। इससे उन-उन विषयोंके लोग निरन्तर विशेषता-सम्पादनके लिये प्रयत्नशील रहते थे। आज भी शिल्प, चिकित्सा आदि विविध विषयोंमें विशेषज्ञता-सम्पादनके लिये 'स्पेशलिस्ट' तैयार किये जाते हैं। आज भी संग्राम लड़नेवाले सिपाही अलग होते हैं, विचारकर युद्धनीति निर्धारित करनेवाले अन्य होते हैं, वैज्ञानिक अनुसंधान करनेवाले दूसरे लोग होते हैं और अनुसंधानके फलभूत विविध यन्त्रोंके निर्माण तथा संचालन करनेवाले दूसरे लोग हुआ करते हैं। जैसे कोई अपने शारीरिक बलसे लाभ उठाता है, वैसे ही बौद्ध-बलसे फायदा उठानेका बुद्धिजीवियोंका अधिकार है ही। व्यावहारिक भौतिक-जगत्में कारणविहीन निरपेक्ष स्वतन्त्रता तो अध्यात्मवादी कभी नहीं मानते, इसके लिये विज्ञानकी खोज व्यर्थ है, किंतु सापेक्ष सकारण होनेपर भी इच्छा तथा कर्मोंकी स्वतन्त्रता अवश्य मान्य है जिससे इच्छानुसार कर्मापर उत्तरदायित्व होता है और अपनी इच्छाओं तथा कर्मोंके सुपरिणाम-दुष्परिणामको वह भोगता है। जहाँतक किसी ढंगकी राज्यव्यवस्था होगी, वहाँतक अपराध एवं दण्डविधानकी भी आवश्यकता रहेगी। फिर उन-उन अपराधियोंकी इच्छाके आधारपर होनेवाले अपराधोंका उत्तरदायित्व भी उनपर मानना पड़ेगा, तभी दण्डविधान न्यायपूर्ण कहा जा सकेगा। ऐसी स्थितिमें इच्छाओं एवं कर्मोंमें स्वतन्त्रता स्वीकार किये बिना निग्रहानुग्रहकी कोई भी व्यवस्था नहीं चलेगी। सभी लोग परिस्थितिके ही जिम्मे सब दोष डालकर बरी हो जानेका प्रयत्न करेंगे।

द्वन्द्व न्याय और अन्तिम सत्य

कहा जाता है 'द्वन्द्वमान किसी भी अन्तिम सत्यको नहीं मानता, इसके विपरीत आदर्शवादी दर्शन हर समय एक अन्तिम सत्यकी खोज करता रहता है। यह सत्य अनादि, अनन्त और निर्विकार है, लेकिन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस परिवर्तनशील जगत्में अपरिवर्तनीय सत्यकी खोज नहीं करता। इस दृष्टिकोणकी कहीं अन्तिम समाप्ति नहीं है। भूत-जगत् निरन्तर प्रवहमान है, कहीं विराम नहीं। हम व्यावहारिक सुविधाकी दृष्टिसे और प्रकृतिको विचारबद्ध करनेकी दृष्टिसे वस्तुजगत्की किसी एक दिशाकी विशेषताओंको अलग कर लेते हैं, लेकिन सनातन युक्तिका अनुसरणकर इनको अपरिवर्तनीय नहीं मानते। परमाणु गतिशील तरङ्गकी तरह है, लेकिन यह केवल वस्तु-जगत्के एक विशेष क्षेत्रके लिये ही सत्य है। दूसरे जगत्में यही ठोस पदार्थका आकार ग्रहण करता है। चेतन और अचेतन पदार्थको हम 'पृथक् रूपमें देखते हैं और इस पार्थक्यकी आपेक्षिकताको भी देखते हैं। चेतन पदार्थके बीच भी अचेतन पदार्थका उपादान है, भूत-जगत्के अन्तर्निहित विरोधी गुण ही कभी चेतन और कभी अचेतन पदार्थकी सृष्टि करते हैं। एक अवस्थामें परमाणु अविभाज्य और मौलिक दीखता है और फिर यही अपनी शक्तिसे टूटकर नये परमाणुको जन्म देता है। पञ्चेन्द्रिय-की क्षमताकी सीमाको हम देखते हैं, पुनः ये ही यन्त्रकी सहायतासे अदृश्यको दृश्यमान करते हैं। 'इनफरारेड' फोटो प्लेटमें कुहरेके भीतरसे १५, २० मील दूरकी तस्वीर उतर जाती है।

'वस्तु जगत्के गतिप्रवाहमें कोई विराम नहीं है, एक ही वस्तुकी विरोधी शक्ति उसको एक जगहसे दूसरी जगह ले जाती है, कणिकासे तरङ्ग और अचेतनसे सचेतन हो रही है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसी प्रकार वैज्ञानिक परीक्षाके क्षेत्रमें प्रमाणित हो रहा है। 'बन्धी पगडण्डीपर चलनेवाले बुर्जुआ, बुद्धिजीवी अवज्ञाके साथ कहते हैं कि विज्ञानके सिद्धान्त तो रोज बदलते रहते हैं, उनकी सत्यता कहाँ ! नासिकाग्रपर दृष्टि स्थिर कर जो योगबलसे सब कुछ जान लेते हैं, उनके सिद्धान्त नहीं बदलते, क्योंकि उन्होंने तो अन्तिम सत्यपर अधिकार जमा लिया है, लेकिन वैज्ञानिक सिद्धान्त तो बदलते रहते हैं। व्यवहारमें इन सिद्धान्तोंकी जाँच होती रहती है और यहींपर वैज्ञानिक सिद्धान्तकी सार्थकता है।'।

अध्यात्मवादमें भौतिक पदार्थोंकी सत्यताके अनेक तारतम्य हो सकते हैं। परंतु भौतिक प्रपञ्चका आधारभूत स्वप्रकाश चेतन आत्मा तो परमार्थ सत्य ही है। अत्यन्तावाव्यता ही परमार्थिक सत्यना है। सर्वाधिष्ठान, सर्वसाक्षी, अत्यन्तावाव्य है ही। साक्षीविहीन बाध भी सिद्ध नहीं होता। जब सर्ववावका साक्षी होना अनिवार्य है ही और उस साक्षीका कोई बाधक प्रमाण सिद्ध नहीं है,

तब त्रिकालाबाध्य परमार्थसत्का अपलाप कौन कर सकता है ? व्यावहारिक सत्य भी ऐसा ढुलमुल नहीं है, जैसी मार्क्सवादियोंकी धारणा है। मार्क्सवादियोंका टूटनेवाला, विभक्त होनेवाला परमाणु अध्यात्मवादियोंको मान्य नहीं है। यहाँ तो जिसका विभाग न हो सके उसी अन्तिम अवयवको परमाणु कहा जाता है। किसी तरह भी जिसका विभाजन हो सकता है, वह परमाणु है ही नहीं। परिवर्तनशील जगत् है, इस सिद्धान्तको तो सत्य मानना ही चाहिये। इसी प्रकार चेतन-अचेतन भूत-जगत्के अन्तर्निहित विरोधी गुण हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वस्तुको भी चेतन या अचेतन किसीमें अन्तर्निहित करना पड़ेगा। अचेतनसे चेतनकी उत्पत्तिकी अपेक्षा चेतनसे अचेतनकी उत्पत्तिमें अधिक युक्तियाँ हैं, यह बात कही जा चुकी है। पञ्चेन्द्रियोंकी क्षमताकी सीमामें साधनोके साहित्य, राहित्यसे अन्तर पड सकता है। फिर भी उनकी इस सीमामे कोई अन्तर नहीं होता कि श्रोत्रसे शब्दका ही ग्रहण होता है, रूपका नहीं; घ्राणसे गन्धका ही ग्रहण होता है, शब्दका नहीं, इत्यादि।

‘अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति होती है’ इस सम्बन्धमें कोई भी वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है। विज्ञानमे परिवर्तन आये दिन होता ही रहता है। इसका अपलाप प्रौढवादसे नहीं हो सकता। जैसे बुर्जुआलोग बन्धी पगडण्डीके अन्धविश्वासी हैं, वैसे ही मार्क्सवादी राजमार्गको छोड़कर विपथगामी होनेके अन्धविश्वासी हैं। कोई भी मार्ग हो आखिर मार्ग ही है, उसपर चलनेसे वैज्ञानिक जाँच होती रहे; परतु इसीसे एकान्तनिश्चित सिद्धान्तका परित्याग नहीं किया जा सकता। धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक कोई भी कार्यपद्धति अनिश्चित अवस्थामें नहीं चल सकती। एक निश्चित चिकित्सापद्धतिको छोड़कर कोई बुद्धिमान् अपने शरीरको नवसिखिये वैज्ञानिकोकी प्रयोगशाला बनानेको प्रस्तुत न होगा। जिस आध्यात्मिक, धार्मिक सत्य-निर्णयसे लौकिक, पारलौकिक कल्याणका सम्बन्ध है, उसे अनिश्चित अवस्थामें डालकर कोई भी बुद्धिमान् सतुष्ट नहीं हो सकता। फिर विज्ञानकी भी तो कुछ सीमाएँ हैं। यह कहा जा चुका है कि घ्राण या रसनाद्वारा रूप या शब्दके निर्णयकी वैज्ञानिक चेष्टा व्यर्थ ही है।

मार्क्सवादी कहते हैं कि ‘ज्ञान-विज्ञान सभी मनुष्यके कर्म और विचारके बीच सृष्ट होते हैं। वैज्ञानिक तत्त्व पारस पत्थरकी तरह एकाएक नहीं मिल जाता। मनुष्यके कर्म और विचारकी क्षमता उसकी शिक्षा पारिपाश्विक और यन्त्रादिके ऊर्ग यदि अलौकिक प्रेरणा ही ज्ञानका मूल होती तो पाँच सालकी उम्रका बालक भी जगलमें बैठकर ही सब कुछ आविष्कार कर लेता। वैज्ञानिक सिद्धान्तोंकी आपेक्षिकताका कारण यह है कि वैज्ञानिक ज्ञान उत्पादन-व्यवस्थाकी उन्नति तथा वैज्ञानिक शिक्षाका स्तर और पारिपाश्विकके

ऊपर निर्भर हैं। दूसरा कारण यह है कि वैज्ञानिक तत्त्वका समग्र हम भूत-जगत्से करते हैं। यदि यह भूत-जगत् अपरिवर्तनीय होता तो हम सब कुछ बिना अवशिष्टके जान सकते। लेकिन यह भूत-जगत् ही द्वन्द्वात्मक रीतिसे बनता-विगडता है। इस ध्वंस और निर्माणके एक विशेष अंशको अलगकर इसकी परीक्षाकर अपनी ज्ञानकी सत्यताको हम प्रमाणित करते हैं। परंतु द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हमको आगाह कर देता है कि चरम ज्ञानकी खोज मत करो, क्योंकि जिसको जान रहे हो, उसीका कोई चरम शेष नहीं है। भूत जगत् निरन्तर परिवर्तित हो रहा है। नुस्खाबन्द घड़ेकी तरह चलनेवाले बुर्जुआ दार्शनिक तब नसीब टोककर कहते हैं—‘इसीलिये तो सभी माया है, हम कुछ नहीं जान सकते, परम पिता परमेश्वर ही जान सकते हैं।’ व्यावहारिक ज्ञान यह सिद्ध करता है कि भूत-जगत्को हम जान सकते हैं। वह इसका पूर्व विभाग है, लेकिन इसकी कोई सीमा नहीं है। यदि तुम्हारा यह ख्याल है कि एक विराम-दण्ड खींचे बिना तुम्हारे मनको सान्त्वना नहीं मिलेगी, समुद्रके उच्छ्वासके स्तब्ध हुए बिना समुद्रका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकेगा, तो यह तुम्हारी दुर्बलता है। न भूत-जगत्का कोई अपराध है, न वैज्ञानिक धाराकी कोई त्रुटि। वैज्ञानिक हर समय नये तत्त्व और नये तथ्यका संधान करता रहता है और हरेक वैज्ञानिक सत्यभूत जगत्के गति-प्रवाहका अपेक्षित और आज्ञिक विवरणमात्र है। इसको भ्रम कहकर उड़ाया नहीं जा सकता।

“भौगोलिक तत्त्वका एक दृष्टान्त लीजिये, भारतवर्षका जो वर्तमान मानचित्र हम आज देख रहे हैं, वह क्या सदासे ऐसा ही रहा है? दो हजार वर्ष पूर्व भारतवर्षका जो रूप था, वह आजमे बहुत भिन्न था और दस हजार वर्षोंके बाद इसका रूप और भी बदल जायगा। बंगालकी खाड़ीके बीच रेत उठ सकती है, कोई पहाड़ ऊँचा या नीचा हो सकता है। किसी नदीका प्रवाह बदल सकता है। इसलिये आजका मानचित्र, जो परीक्षित सत्य है, दस हजार वर्ष बाद एक ऐतिहासिक सत्यमात्र रह जायगा। ग्रीनलैंडकी वर्तमान अवस्थाके वर्णनका दो हजार वर्ष पूर्वकी अवस्थासे कोई सम्बन्ध नहीं है। आज वह जनविहीन है। एक समय वह जनबहुल था और वहाँका जलवायु मनुष्यके निवासके लिये उपयुक्त था। यह भौगोलिक सत्य चरम सिद्धान्त नहीं हो सकते, क्योंकि भौगोलिक अवस्था परिवर्तनशील है। वैज्ञानिक सिद्धान्त भी इसीलिये आपेक्षिक है। तथापि यह परीक्षासिद्ध और कार्यकारी है। तर्ककी आतिशबाजीसे इस सत्यको उड़ाया नहीं जा सकता।

“वैज्ञानिक सत्यमें कुछ दूसरे प्रकारकी आपेक्षिकता है। एक दृष्टान्त ले लीजिये। जब चन्द्रके ऊपर पृथ्वीकी छाया पड़ती है, तो हम कहते हैं कि चन्द्रग्रहण हो गया। हमारी यह दृष्टि पृथ्वीसे सम्पृक्त है। इसी घटनाको यदि कोई चन्द्रके ऊपरसे देख ले तो वह कहेगा कि सूर्यग्रहण हो गया; क्योंकि चन्द्रके ऊपर-

से वह देखेगा कि सूर्यके ऊपर पृथ्वीकी छाया पड़ी है। जिस घटनाका यह अवलोकन किया जा रहा है, वह न भूल है और न मायादृष्टिकेन्द्र (फ्रेम-आफ-रिफरेन्स)की विभिन्नताके कारण एक ही घटना दो प्रकारसे दीख रही है। यहाँ भी वैज्ञानिक ज्ञानकी आपेक्षिकता प्रमाणित हो रही है। सत्य आपेक्षिक है सही, लेकिन इस आपेक्षिकताको अति तक पहुँचाया जा सकता है और तब यह हास्यास्पद बन जाता है। इसी प्रकारकी आपेक्षिकताकी आड़ लेकर वर्तमान पूँजीवादी भविष्यके एक वैज्ञानिक चित्रको देखनेसे मुँह मोड़ता है। सत्यकी परिभाषा करते हुए लेनिनने लिखा है कि यह दृश्यगत घटनाके सब पहलुओका जोड़ है, उनकी वास्तविकता है, पारस्परिक निर्भरता है।”

अध्यात्मवादी इसे अनुक्तोपालम्भ कहते हैं। यह रामराज्यवादीका कभी भी मत नहीं है। विज्ञानके लिये शिक्षा अपेक्षित नहीं है। अंश्वय ही शिक्षा, विचार, कर्म और पारिपार्श्विक यन्त्र आदि ज्ञान-विज्ञानमें सहायक होते हैं। इन सामग्रियोंसे एक ज्ञानशक्तिसम्पन्न चेतनको ही ज्ञान-विज्ञान उत्पन्न होते हैं। इन सब सामग्रियोंके रहनेपर भी किसी काष्ठ, पाषाणको ज्ञान-विज्ञान नहीं सम्पन्न होता। काष्ठमें अग्नि है, तिलमें तैल है—वह प्रयत्नसे प्रकट होता है। इसी तरह चेतन प्राणीमें ज्ञानशक्ति है, वही प्रयत्नसे व्यक्त होती है। इसमें पूर्वके संस्कार भी हेतु होते हैं। आद्य शंकराचार्य आठ ही वर्षकी अवस्थामें सर्वज्ञास्त्रोके विद्वान् हो गये थे, परंतु सबमें यह क्षमता नहीं। ध्रुवको ईश्वरके विशेष अनुग्रहसे सम्पूर्ण ज्ञान हो गया था। गीताके कृष्ण तो स्वीकार करते हैं कि भगवान् आराधनाओंसे संतुष्ट होकर प्राणीको वह ज्ञानयोग प्रदान करते हैं, जिससे वह भगवान्को प्राप्त कर लेता है—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।

(गीता १० । १०)

बहुत प्रकारके ज्ञान पशु-पक्षियोंको भी होता ही है, हसका क्षीरनीर-विवेक, मधुमक्खियोंद्वारा मधुका निर्माण, भेड़ियों, बाजों तथा बिल्ली आदिद्वारा शिकारकी दक्षता आदि गुण बिना शिक्षाके भी हो जाते हैं। पक्षियोंमें उड़नेकी कला, मछलियोंमें तैरनेकी कला जन्मजात ही होती है; फिर वैज्ञानिकोंका घमण्ड क्या अर्थ रखता है? भूतजगत्का परिवर्तन तो परिणामवादी, आरम्भवादी सभी मानते हैं; परंतु उनके भी कुछ नियम हैं ही। वैज्ञानिकोंको भी कुछ नियम निश्चित करने पड़ते हैं। मार्क्सवादियोंको भी आखिर निर्वाण एवं निर्माणका नियम तथा परिवर्तनशील होनेका नियम, क्रम-परिवर्तन और क्रान्तिकारी परिवर्तन आदिके कुछ-न-कुछ नियम मानने ही पड़ते हैं। द्वन्द्वात्मक रीतिसे बनने-बिगड़नेका भी आखिर नियम हुआ ही। जैसे कूपमण्डूक या उडुम्बरफल्के बीचमें रहनेवाला नगण्य जन्तु अपनी जानकारीको ही बहुत मानता है, उसी तरह मार्क्सवादी अपनेको सर्वज्ञ होनेका घमण्ड करते हैं। पर वस्तुस्थिति यह है कि हर बातमें वैज्ञानिककी भी खोपड़ीपर अज्ञान ही सवार रहता है। समझदार वैज्ञानिक नत-

मस्तक होकर यही कहता है कि 'आजका सबसे बड़ा ज्ञान यही है कि अभी हमलोग कुछ भी नहीं जानते।' फिर विज्ञान या वैज्ञानिकको यह अधिकार कहाँसे प्राप्त हुआ कि वह अन्तिम सत्य ज्ञानकी खोजको मना करे ? अल्पज्ञान (अधूराज्ञान) और सम्यक् ज्ञानका भेद स्पष्ट प्रतीत हो तो किसी भी सम्बन्धमें तत्त्वज्ञानकी रूचि स्वाभाविक है। सिवा अल्पज्ञके आज भी कौन दावा कर सकता है कि हम सभी भूत-जगत्को जानते हैं ?

वैज्ञानिक हो चाहे और कोई, वह सत्यको बनाता नहीं; किंतु सत्यकी जानकारी प्राप्त करता है। यथाभूत वस्तु ही सत्य कहलाती है, उसको अयथाभूत जानना भ्रान्ति है। एक अल्पायु अज्ञ प्राणी अपने परिमित साधनोंसे, निःसीम संसारमेंसे बहुत-सी वस्तुओंको बहुत अज्ञमें जानता है, उन्हींको नयी नयी वस्तु, नये-नये तथ्यके रूपमें जानता-समझता है। परंतु एतावता दीर्घायु, दीर्घतपा, दीर्घ-दर्शियोंकी ऋतुम्भरा प्रज्ञाद्वारा होनेवाले परमार्थ सत्यज्ञानका अपलाप नहीं किया जा सकता। भौगोलिक उथल-पुथलका परिज्ञान भी उन महातपस्वियोंको था ही। शास्त्रोंमें योगवाशिष्ठ आदिमें यह स्पष्ट वर्णन है। जहाँ आज समुद्र लहराता है, वही कभी भीषण मरुस्थल परिलक्षित होने लगता है। जहाँ आज हिमालय है, वहाँ कभी समुद्र हो सकता है, इतना ही क्यों, उनकी दृष्टिमें सूर्य, चन्द्र, सागर, भूधर एव समस्त वसुन्धराका अनेक बार उद्भव एव अनेक बार प्रलय हुआ है। फिर भी भिन्न-भिन्न वस्तुओंके गुण, स्वभाव, परिमाण आदिका तथ्य वर्णन किया जाता है। व्यावहारिक वस्तुएँ आपेक्षिकरूपसे ही तथ्य हैं, यह तो शास्त्रोंका परम्परा सिद्धान्त है। 'तर्ककी आतिशबाजी नहीं', तर्ककी गोलावारी होती है, जिससे अप-सिद्धान्त ध्वस्त हो जाता है। प्रमाण, युक्ति, तर्कविहीन विज्ञान विज्ञान ही नहीं, वह है निरा अज्ञान और निरा अभिमान। जिस भूमण्डलपर जो प्राणी रहता है, वहेंसे वह सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहणका विचार करता है। चन्द्रमासे सूर्यग्रहण या सूर्यसे चन्द्रग्रहणके विचारका मतभेद उपस्थित हो तभी उस सम्बन्धमें विचार चल सकता है। आपेक्षिकताकी अति कहाँ है, इसकी सीमा भी प्रमाणके आधारपर ही निश्चित हो सकती है। क्या जो माक्सवादियोंके विपरीत पड़े वही आपेक्षिकताकी अति है ?

जैसे पूँजीवादी, माक्सवादियोंके भविष्य-चित्र देखनेसे मुँह मोड़ते हैं, वैसे ही रामराज्यवादियोंकी भविष्य निर्धारणासे भौतिकवादी भी मुँह विचवाते हैं। 'दृश्यगत घटनाके सभी पहलुओंका जोड़ सत्य है, उनकी परस्पर निर्भरता ही वास्तविकता है,' इत्यादि लेनिनका कथन भी असङ्गत है। क्योंकि घटनाएँ क्रिया हैं, वे स्वयं बाध्य एव अमृत्य होती हैं, फिर उनके पहलुओंकी भी यही स्थिति होगी। उनके जोड़की यही स्थिति अवश्यम्भावी है। वस्तुतः अबाध्यता ही सत्यता है, जिस वस्तुमें जितनी अबाध्यता है, उतनी ही सत्यता है। यद्यत्कि रज्जु, सर्प, शक्ति रजतादि प्रातिभासिक पदार्थ भी प्रतिभास कालमें अबाधित होनेसे

प्रातिभासिक सत्य होते हैं। आकाशादि व्यवहारकालमें अबाधित होनेसे व्यावहारिक सत्य हैं। सर्वाधिष्ठान; अखण्डबोधस्वरूप सर्वसाक्षी अत्यन्ताबाध्य होनेसे वही परमार्थ सत्य है।

‘प्रेग्मेटिज्मके जन्मदाता विलियम जेम्सका कहना है कि जिसकी व्यावहारिक उपयोगिता है, वही सत्य है। सत्य हमारे विचारोंमें प्रतिबिम्बित वास्तविकताका रूप नहीं है, बल्कि जो व्यक्तिविशेषकी भावनाओं और आवश्यकताओंके साथ खप जाता है। शीलरका मत भी इसी प्रकार है। सामाजिक मनुष्य वास्तवभूतकी विचार-क्रियासे सत्यपर उपनीत नहीं होता, बल्कि मनुष्य ही सत्यकी सृष्टि करता है। पिल्लैडेओके नाटक ‘तुम सही हो, यदि तुम अपनेको ठीक समझते हो’ में इस दर्शनवादका सुन्दर चित्र मिलता है। तुमको हों या ना करनेके लिये दस्तावेज-का प्रमाण चाहिये। मेरे लिये इनकी कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि मेरी रायमें इन दस्तावेजोंमें सत्यका निवास नहीं, बल्कि उन व्यक्तियोंके मनमें है, जिनके अदर, निवा उन्हींके दिये हुए प्रमाणसे हम प्रवेश नहीं कर सकते। डीवीके शब्दोंमें ‘हमारे लिये सत्य वही है, जिससे हमको सहायता मिलती है और जिसका हमारे ऊपर प्रभाव है।’ प्रयोजनवादका सारतत्त्व यही है कि व्यावहारिकता ही हमारे लिये सब कुछ है। इससे अधिक हम कुछ नहीं जान सकते। यह दर्शन साम्राज्यवादकी अवनतिका द्योतक है।’

मार्क्सवादियोंका यह कहना कि ‘अन्य दर्शन मायाविमूढकी तरह हमें पथ-भ्रष्ट करते हैं, मार्क्सवाददर्शन जीवनपथ निर्देश करता है’ अपने मुँह मियों मिट्टू बनना है। जैसे किसी आशिक दृष्टिकोणसे मार्क्सवाददर्शन दर्शन कहला सकता है, वैसे ही अन्य पाश्चात्य-दर्शन भी भारतीयदर्शनोंकी दृष्टिसे तो यह सब ‘दर्शन’ कहलानेके योग्य ही नहीं हैं। समुचित प्रमाण, प्रमेय, फल तथा साधनोंका निरूपण पूर्णरूपसे किसी पाश्चात्य दर्शनमें नहीं है। छायावादी ढंगके वाक्योंसे केवल आपेक्षिक एकाङ्गी दृष्टिकोणसे ही सिद्धान्तोंका निरूपण किया जाता है। इस दृष्टिसे उपर्युक्त दृष्टिकोण ठीक नहीं है। हजार अन्य सत्य भले ही हो, परंतु प्रयोजनवादी-के लिये अगर वे उपयोगी नहीं तो प्रयोजनवादी दृष्टिकोणसे व्यर्थ ही हैं। शीलरका सत्य भी इसी दृष्टिका है। अपनी सचाई-झुठाई प्राणी जितना अपने आप जान सकता है उतना दूसरा नहीं समझ सकता। इस दृष्टिसे ‘तुम सही हो यदि तुम अपने आपको ठीक समझते हो,’ कितनी सुन्दर बात है। दर्शन साम्राज्यकी अवनतिका जीता-जागता नमूना तो है, मार्क्सका जडवादी दर्शन, जिसमें ‘धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा’ के बदले ‘अर्थो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा’ के सिद्धान्तको भी सिद्धान्तनामसे पुकारा जाता है।

आमतौरपर वादि-प्रतिवादि-सम्भव प्रमाणों, तर्कों, सिद्धान्तोंके आधारपर ही विप्रतिपन्न विषयोंकी सिद्धि की जाती है। परंतु मार्क्सवादी किन्हीं भी सिद्धान्तों-

तथ्यो, न्यायोको स्थिर नहीं मानते । कारण, उन कमौटियोंपर वे एक क्षण भी नहीं टिक सकते । अतः उनके पास यह कहनेके सिवा कि 'परमात्मा, ईश्वर, धर्मके अतिरिक्त माक्सवादी स्थिर आत्मावा भी अस्तित्व नहीं मानता', कोई दूसरा चारा नहीं । भला इसे दर्शन भी कैसे कहा जा सकता है ? माक्सवादी स्वयं ही कहते हैं—'जो दार्शनिक जिस परिस्थितिमें रहता है, उसी ढंगका उसका दर्शन होता है', एतावता सिद्ध है कि उस दर्शनपर उस दार्शनिकके दिमागी फितूरके अतिरिक्त सत्यका अंश कुछ भी नहीं रहता ।

कांटका ज्ञान-सिद्धान्त

“कांट इससे सहमत है कि हमारा ज्ञान अनुभवसे आरम्भ होता है और इस अनुभवकी प्रारम्भिक बात है—बाहरी वस्तुओका अस्तित्व । वह केवल इस बातसे इनकार करता है कि यहीं इसका अन्त होता है; क्योंकि हमें ऐसी चीजोंका ज्ञान है जो अनुभवसे परे हैं । वह इसको मान लेता है कि शेषोक्त प्रकारका ज्ञान पूर्वोक्त प्रकारके ज्ञानका अनुमान कर लेता है । क्योंकि यह कैसे सम्भव है कि पहचान (जन) की शक्तिका उद्बोध नृ हो सिवा उन वस्तुओंके सयोगसे, जिनका प्रभाव हमारी इन्द्रियोंपर पड़ता है और जो स्वयं अपने प्रतिबिम्ब उत्पन्न करती हैं और अशतः हमारी बुद्धिको जाग्रत करती हैं, ताकि वह इन प्रतिबिम्बोंकी तुलना कर सके, इनको जोड़ सके तथा अलग-अलग कर सके और इस प्रकार हमारे इन्द्रिय लब्ध चित्रोंके सच्चे मालकी वस्तुओंके ज्ञानके रूपमें परिणत करता है और जिसको हम अनुभवका नाम देते हैं । इसलिये समयके खयालसे हमारा कोई ज्ञान अनुभवसे पहले नहीं है बल्कि इसके साथ ही आरम्भ होता है ।

“वह आगे चलकर कहता है कि 'ज्ञानका एक और अङ्ग है । यद्यपि हमारा ज्ञान अनुभवसे आरम्भ होता है, इसका यह अर्थ नहीं कि अनुभवसे ही सब ज्ञानकी उत्पत्ति होती है । क्योंकि इसके विपरीत यह बहुत सम्भव है कि जो कुछ हमको इन्द्रिय-सयोगसे प्राप्त होता है और जो कुछ हमारी पहचानकी शक्ति स्वयं अपना अंश मिलाती है, इन दोनोंके मिश्रणसे ही हमारा व्यावहारिक ज्ञान बनता है । लेकिन मुद्दतकी आदतसे ही हमारे अंदर वह कौशल और एकाग्रता आती है, जिससे हम इन दोनोंको पृथक् करनेमें समर्थ होते हैं । कांटके पहलेके दार्शनिक दो मुख्य दलोंमें बँटे हुए थे, एक भौतिकवादी जो इन्द्रियानुभव तथा उसके ऊपर सोच विचारके दूसरे रास्तेद्वारा बाहरी दुनियाँसे एक ज्ञानकी उत्पत्ति बताते थे और दूसरे आदर्शवादी, जो कहते थे कि मानसमें ऐसे विचार हैं, जिनका कारण नहीं बताया जा सकता । ऐसे विचार जिनकी सार्व-भौमिकता और अमूर्तरूप यह निर्देश करता है कि ये स्वयं प्राप्त हैं और सब अनुभवके मूलमें हैं ।

“काष्ठकी ऐतिहासिक स्थिति यह है कि, दोनो दृष्टिकोणोंके समन्वयके द्वारा उसने इस विरोधका अन्त किया । और उसका यह दावा था कि इस नये दृष्टिकोणमें उसने इन दोनोंका सम्मेलन एक ऊँचे स्तरपर कराया है । उसने यह मान लिया कि स्थान, काल, कारण इत्यादि अमूर्त कल्पनाओको केवल अनुभवमें रूपान्तरित नहीं किया जा सकता, दूसरी ओर यद्यपि ये स्वयं प्राप्त हैं । यह कल्पना नहीं की जा सकती कि ये बिल्कुल ही अनुभवपर निर्भर नहीं हैं । उसका दावा था कि वास्तविकता यह है कि सब अनुभवके मूलमें पूर्व परिस्थितिके रूपमें ये विद्यमान हैं और इस तरह ये अनुभवके रूपोंका निर्णय करते हैं ।

“उसने यह दलील दी कि बाहरी वस्तु और दूसरी मानव बुद्धि—ये ज्ञानके दो उद्गम नहीं हैं—ज्ञानका एक ही उद्गम है—वह है कर्ता और कर्म (बुद्धियुक्त मनुष्य और वस्तु) का सम्मेलन । जैसे जलका कारण अम्लजन और उद्गमनका सम्मेलन है । यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि जलके दो कारण हैं, किंतु दोनोंका सम्मेलनरूप एक ही कारण है । उसी तरह प्रकृतमें भी समझना चाहिये । कर्ता और कर्मका सम्मेलन ही जलका कारण है । सारा ससार हमारे लिये दृश्यमान घटनाओंकी एक परम्परा है । क्या ये दृश्य मानसकी उपज हैं, जिसके सामने ये दर्शित होते हैं या कि ये वस्तुओंके विगुह्य प्रतिनिधि हैं ? आदर्शवाद या वस्तुवाद—दोनोंमेंसे कोई नहीं और दोनों मानव और वस्तु सहयुक्त होकर दृश्य या प्रत्यक्षीकरणको उत्पन्न करते हैं । प्रत्यक्षीकरण दोनोंने सम्मेलनका ही फल है ।”

“अनुभवसे ज्ञानका आरम्भ होता है”, इत्यादि काटका कथन इन्द्रिय-व्यापार आदिके अभिप्रायसे सङ्गत होता है । इन्द्रिय, मन, अहंकार एवं बुद्धिके व्यापारोंको ही अनुभव, सकल्प आदि अनेक नाम दिये गये हैं । वस्तुतः ये सभी जड़ हैं । जड़ोंमें जब अपने ही प्रकाशकी शक्ति नहीं है, तब उनसे विषय-प्रकाशकी कल्पना सर्वथा निरर्थक है । मन या अन्तःकरणकी वृत्ति भी ज्ञानपदसे कही जाती है, परंतु यह सब कथन औपचारिक ही है । इन्हीं जड़ व्यापारोंकी उत्पत्ति और जात्र कहा जा सकता है । सर्वप्रकाशक बोधका न प्रागभाव सिद्ध होगा और न तो प्रध्वंसाभाव ही । वस्तुओंके संयोगसे इन्द्रियोंपर प्रभाव पड़ता है और विषयरूपी वस्तुओंका प्रतिबिम्ब भी वृत्तिमें उत्पन्न हो बुद्धिके जागरणमें भी वस्तुओंका उपयोग होता है । फिर भी इनके द्वारा नित्य-बोधकी अभिव्यक्ति ही होती है, उत्पत्ति नहीं । जैसे काष्ठोंके संघर्षसे दाहकत्व-प्रकाशकत्वविशिष्ट अग्निका प्राकट्य होता है, ठंडे-गरम तारोंके योगसे विद्युत्प्रकाशका प्राकट्य होता है, किवा सूर्य-कान्तमणिके योगसे व्यापक सौरालोकका अग्निके रूपमें प्राकट्य होता है, स्वच्छ वायु आदिके योगसे सौरालोक चमत्कृत होता है, उसी तरह वृत्तियोंके योगसे व्यापक अखण्ड बोध चमत्कृत होता है । इस तरह अनुभव और ज्ञानका भिन्न-

भिन्न अर्थोंमें प्रयोग केवल ज्ञानको उपाधियोंमें ही होता है। वस्तुतः स्वतन्त्र नित्य नीरूप चित्प्रकाश ही अनुभव एवं ज्ञान आदि शब्दोंका लक्ष्य अर्थ है। व्यावहारिक ज्ञान-पहचान, अनुभव, इनकी उत्पत्ति, विनाश, स्पष्टता, अस्पष्टता, एकता एवं अनेकता—ये भी बातें इन्द्रिय, मन, अहकार एवं बुद्धिके ही विभिन्न व्यापारोंसे सम्भव हैं। परतु एक समान प्रकाश तो सर्वत्र एक-सा ही रहता है। उसी एक नित्यप्रकाशको ही किन्हीं पाश्चात्त्योंने मानसमे स्वयसिद्ध माना है। अतएव 'अनुभवकी स्पष्टता या उसका निरूपण बाह्यवस्तुसापेक्ष है'—यह काटका कथन भी इसी दृष्टिसे सङ्गत होता है। बुद्धियुक्त मनुष्य और बाह्यवस्तुओंसे अनुभव उत्पन्न होता है, यह कथन भी वृत्तिरूप ज्ञानके सम्बन्धमें है। बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञानके उत्पन्न होनेपर उसीके द्वारा नित्य ज्ञानका प्राकट्य होता है। यद्यपि परमार्थ सत्य यही है कि सम्पूर्ण संसार मानसकी ही उपज है। इतना ही क्यों? मानस भी तो अखण्ड बोधका ही एक भ्रान्तिसिद्ध रूप है। क्या हम देखते नहीं कि स्वप्नका देह, स्वप्नका प्रपञ्च, स्वप्नका सभी दृश्य एक ढगके बोधका ही विवर्त है। कुछ निम्नस्तरकी दृष्टिसे मानस और बाह्य-वस्तुओंके सम्मेलनसे प्रत्यक्षीकरण आदि व्यापारके भासक साक्षीका अपलाप नहीं किया जा सकता।

“हीगेलके बहुतेरे सिद्धान्तोंका मूल काटके दर्शनमें मिलता है। जब काटने सब सम्भव ज्ञानके क्षेत्रको उन रूपोंमें सीमित कर दिया, जिनमें मनुष्य बाहरी दुनियोंको देखता है तो उसने हीगेलके इस वाक्यकी नींव डाली कि जो कुछ वास्तव है, वह तर्कसङ्गत है और जो कुछ तर्कसङ्गत है, वह वास्तव है। यह ठीक है कि काटने अस्वीकार किया कि वस्तुस्वरूपका कोई ज्ञान प्राप्त हो सकता है, लेकिन हीगेलको दो दिशाओंमें यह असम्बद्ध मालूम हुआ। पहली बात तो यह है कि इस सिद्धान्तके अनुसार कि 'विचाररूप' के अदरकी वास्तविकताको देनेवाला अनुभव ही है। वस्तुस्वरूप नामक विचाररूप तभी सत्य हो सकता है, जब इसकी उत्पत्ति किसी अनुभवसे ही हो। दूसरी बात यह है कि दृश्यगत घटनाओंमें तथा इनके और बुद्धिके बीचके सम्बन्धमें ही अनुभवका निवास है। एजिल्सने इसीका भाषान्तर करके कहा 'यदि हम किसी वस्तुके सभी गुणोंको जान लें, तो वस्तुस्वरूपके विषयमें कुछ आविष्कार करना बाकी नहीं रह जाता, सिवा इसके कि वह वस्तु हमारे बाहर है और उसका अस्तित्व हमारे ऊपर निर्भर नहीं है।

“इन्द्रियानुभूतिवादियों (लॉक इत्यादि) के खण्डनकी क्रियामें काटके सिद्धान्तोंने उसको यह कहनेके लिये बाध्य किया कि हम पृथक् रूपसे केवल गुणोंका प्रत्यक्षीकरण नहीं करते। सम्पूर्ण प्रत्यक्षकारी संज्ञा क्रियाशील प्रत्यक्षीकरणमें सम्पूर्ण बाहरी वास्तु ताकें द्वारा सञ्चित और परिवर्तित होती है। हीगेलने इन

दोनों सम्पूर्णोंको एक विकासमान सम्पूर्णके घनात्मक और ऋणात्मकरूपमें माना और इस प्रकार पूर्ण आदर्शवादको पहुँचे । 'काटने कर्ता और कर्म (वस्तु) के विरोधात्मक एकत्वको अपनी दर्शन-व्यवस्थाका केन्द्र बनाया । लेकिन उसकी इस कल्पनामें यह असङ्गति थी कि एक ही ओर यानी कर्ताकी ओर ही यह एकत्व क्रियाशील तथा फलोत्पादक है । हीगेलने इस असङ्गतिको दूर किया और इस बुनियादपर अपनी सारी प्रथाका निर्माण किया कि सत्यका अवस्थान न केवल शुद्ध कर्तामें और न केवल शुद्ध वस्तुमें है, बल्कि इनके बीचके क्रियाशील सम्बन्धमें है—जिस सम्बन्धके द्वारा कर्ता और वस्तु, दोनोंमें क्रमवर्धनशील रूपान्तर होता रहता है । आदर्शवादके स्तरपर यह कल्पना हमको ले जाती है, मार्क्सीय विश्वकल्पनाकी ओर । आदर्शवादने क्रियाशील पक्षको विकसित किया, लेकिन केवल अमूर्तरूपमें द्वन्द्वमान, तर्क और विचारके व्यापक नियमोंके विकासमें तथा मनुष्यकी मस्तिष्क-क्रियाकी सीमाओंको रेखाङ्कित करनेमें । वस्तुओंके द्वारा रक्तमांससम्पन्न मनुष्य-व्यवहारके क्रियाशील पक्षका विकास भौतिकवादियोंने किया नहीं और आदर्शवादी अपने आदर्शवादके कारण कर न सके ।

“प्रारम्भमें दिये गये ज्ञानकी परिभाषाका द्वन्द्वात्मकरूप अब समझा जा सकता है । मनुष्यके बाहर स्थित प्रकृति ही ज्ञानका उद्गम है । ज्ञानप्रक्रिया मनुष्य और वस्तुके बीच एक क्रिया प्रतिक्रिया है जो मनुष्य और वस्तुको भिन्न बना देती है ज्ञात होनेके कारण । ज्ञात वस्तु अपने पहले रूपसे विभिन्न बन जाती है और ज्ञानी मनुष्य भी अपने पहले रूपसे भिन्न है । ज्ञानका मूल है मनुष्यकी व्यावहारिक क्रिया—वस्तुओंके द्वारा, अनुभवके द्वारा । ज्ञान-प्राप्तिकी पहली सीढ़ी है इन्द्रियानुभूति । इन्द्रियानुभूति कोई ऐसी चीज नहीं है जो मनुष्य-अवयवके साथ सदा एक-सी बनी रहती हो । यह इन्द्रियानुभूति एक विशेष उपज है और यह पैदा होती है पशुओंकी इन्द्रियानुभूतिसे भिन्नरूपमें; ऐतिहासिक, सामाजिक प्रयोगकी बुनियादपर । सामाजिक ज्ञानका विकास इन्द्रियानुभूति तथा युक्तियुक्त ज्ञान दोनोंको समृद्ध करता है । किसी भी अमभ्य मनुष्यके विचार और इन्द्रियानुभूतिका स्तर इतना निम्न होता है कि किसी सभ्य मनुष्यसे उसकी तुलना नहीं हो सकती । उसके निम्नस्तर और अत्यन्त सीमित पार्थिव आचार-व्यवहारपर ही उसके विचार और इन्द्रियानुभूति दोनों ही निर्भर हैं । ज्ञानकी दूसरी सीढ़ी है तर्कबुद्धि । यह बुद्धि भी प्रयोग और व्यवहारके द्वारा आती है ।”

वृत्तिरूप ज्ञानका ही क्षेत्र किन्हीं रूपोंमें सीमित हो सकता है । निर्विषय, निर्दृश्य शुद्धबोधके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता । साथ ही बाह्यरूप भी

सीमित नहीं है। केवल जो कुछ मानवबुद्धिग्राह्य है वही सब कुछ नहीं है। मनुष्यकी अल्पज्ञता तो स्पष्ट ही है। यदि हम वस्तुका सभी गुण जान लें तो वस्तु-स्वरूपके विषयमें कुछ आविष्कार बाकी नहीं रह जाता। ऐंजिल्सका यह विचार भी आकाशकुसुमकी कल्पना ही है। स्वाप्टिक दृश्यवस्तु जैसे द्रष्टापर ही निर्भर होती है, उसी तरह जाग्रत-प्रपञ्च भी द्रष्टापर ही निर्भर है। इसीलिये ही गेलको चेतनसे अचेतनकी उत्पत्ति माननेको बाध्य होना पड़ा। काट और हीगेलके इस भेदमें कोई तथ्य नहीं है कि कर्ता और कर्मका क्रियाशील एकत्व क्रियाशील तथा फलोत्पादक है, या क्रियाशील सम्बन्ध फलोत्पादक है। क्योंकि ज्ञान स्वयं चेतन एवं प्रकाशात्मक होनेसे कर्ताकी जातिका है, अतः कर्ताकी ओर फलोत्पत्तिका व्यवहार होता है—यह काटका अभिप्राय है। निर्विकार, निर्दृश्य अखण्ड बोधमें विषयो-पराग स्वतः सम्भव नहीं है। अतः दृक्, दृश्य, चेतन, अचेतनके अन्योन्याध्यासे ही व्यावहारिक सप्रपञ्च ज्ञान होता है। यही हीगेलका अभिप्राय है। मार्क्सके अनुसार ‘मनुष्य एवं वस्तुके बीचकी क्रिया-प्रतिक्रिया ही ज्ञानप्रक्रिया है और ज्ञानका मूल मनुष्यकी व्यावहारिक क्रिया है। इन्द्रियानुभूत और तर्क-बुद्धि ही प्रयोग एवं व्यवहारके द्वारा युक्तियुक्त ज्ञानका निर्माण करती है।’ जहाँतक व्यावहारिक वृत्तिरूप ज्ञानकी बात है, सांख्यवादी भी यही मानते हैं। इतना अवश्य है कि सांख्यियोंका मनुष्य रक्त मांस-अस्थिपञ्जरमात्र नहीं; किंतु वह चेतन असङ्ग आत्मा है। और उसी दृष्टिसे द्रष्टा तथा दृश्य, कर्ता और कर्म, भोक्ता तथा भोग्यका भेद भी सिद्ध होता है। अथवा इससे निम्नस्तरपर उतरें तो कह सकते हैं कि सूक्ष्म सत्त्वात्मक बुद्धि-तत्त्व ही कर्ता या ज्ञाता है। तामस, राजस, स्थूल-प्रपञ्च वस्तु हैं। यही कर्ता, कर्म, ज्ञाता एवं ज्ञेयका भेद है। परंतु मार्क्सके अनुसार ‘भूत ही सब कुछ है। उसका ही परिणाम वस्तु है, और उसीका परिणाम मनुष्य है।’ फिर उसकी क्रिया-प्रतिक्रियामें भी अति विलक्षण प्रकाशरूप ज्ञान किस तरह उत्पन्न हो सकेगा, यह विचारणीय विषय है।

व्यवहार और तथ्य

मार्क्सवादी कहते हैं कि ‘‘भूत पहले या मानस, यह प्रश्न एक दूसरे रूपमें भी जीवनके सामने उठ खड़ा होता है। प्रयोग पहले या सिद्धान्त ? व्यवहार पहले या तथ्य ? इसका उत्तर हमको जीवनपथमें एक विशिष्ट दिशाकी ओर ले जाता है। इस विषयमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण भी अपनी विशेषता रखता है। कुछ लोग कहते हैं कि प्रयोग और सिद्धान्तमें कोई समन्वय नहीं हो सकता। प्रयोग इस गद्दी, स्थूल, असत्य, मायावी दुनियाँकी चीज है। सिद्धान्त चिरसत्य, जिव और सुन्दर है। दोनोंका क्या सम्बन्ध है ? ‘सिद्धान्त दर्शन-ज्ञान ही सब कुछ है, इसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं’, इस तरहके विचार रखनेवाले लोग मकड़ीकी भोंति अपने भीतरसे सिद्धान्तके निकालते हैं। दूसरे लोग हैं, जो प्रयोगसे एकदम इनकार तो

नहीं करते; किंतु वे सिद्धान्तको ही प्रधान मानते हैं । उनकी दृष्टिमें सिद्धान्त प्रयोगकी संतान नहीं है, वह एक स्वयम्भू तत्त्व है । ऐसे मतवालोके लिये प्रयोगका आश्रित होना निम्नकोटिके लोगोंको ही शोभा देता है । सिद्ध महर्षि इसके ऊपर हैं । यह गौर करनेकी बात है कि प्राचीन भारतका प्रगतिशील युग प्रयोग-निर्भर ही था, जैसा कि अलबेरूनीद्वारा उद्धृत आर्य भट्ट (४७६ ई०) के निम्न सूत्रसे स्पष्ट हो जाता है । 'सूर्यकी किरणें जो कुछ प्रकाशित करती हैं वही हमारे लिये पर्याप्त है । उनसे परे जो कुछ है और वह अनन्त दूरतक फैला हो सकता है, उसका हम प्रयोग नहीं कर सकते । जहाँ सूर्यकी किरणें नहीं पहुँचती, वहाँ इन्द्रियोकी गति नहीं और जहाँ इन्द्रियोकी गति नहीं, उसे हम जान नहीं सकते ।'

“पूर्वोक्त दृष्टिकोण श्रेणी-विभाजित समाजका और उस समाजमें शारीरिक और मानसिक श्रमके विभाजनका परिणाम है । पूँजीवादमें शारीरिक और मानसिक श्रमका विच्छेद पूरे तौरपर हो जाता है । श्रमके इस विभाजनके कारण प्रयोगसे विल्कुल स्वतन्त्र होकर सिद्धान्तका निर्माण होता है और ऐसे विद्वत्तापूर्ण तथ्योंका आविष्कार होता है जो व्यवहारकुशल लोगोंकी अवज्ञाके पात्र बन जाते हैं । इस प्रकार उत्पन्न प्रयोग और सिद्धान्तका विच्छेद पूँजीवादी विचारधाराकी रक्षण-शील सक्रीणताके कारण अधिक गहरा बन जाता है और जो आजके दिनके ढोंगपूर्ण विचारोंके लिये जिम्मेदार हैं । विज्ञानकी विभिन्न शाखाओंके अध्ययनसे भी हम इसी नतीजेपर पहुँचते हैं कि प्रयोग ही सिद्धान्तका जनक है । देशविजय और व्यापारने भूगोलको जन्म दिया । पैदावार तथा उद्योग और लड़ाईके औजारोंने खनिज-विज्ञानकी सृष्टि की । कृषिमें बीज बोनेके लिये ऋतुओंके ज्ञानकी आवश्यकता हुई । इस आवश्यकताके कारण नक्षत्र-शास्त्रकी रचना हुई । इसी नक्षत्र-शास्त्रकी शाखा-उपशाखाके रूपमें आलोक-विज्ञान (दूरबीन आदिका आविष्कार) तथा पदार्थ-विज्ञानकी सृष्टि हुई । व्यावहारिक उपयोगिता ही यन्त्रगति शास्त्रका जनक है । जैसे नील नदीकी सतहको उठाकर खेत सींचनेकी आवश्यकता इत्यादि । इतर धातुओंको सोनेमें परिवर्तित करनेकी चेष्टासे रसायनशास्त्रकी उत्पत्ति हुई । रसायनशास्त्रके पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द केमिस्ट्रीकी उत्पत्ति है मिश्र-भाषाके गन्द कीमियासे । गणितशास्त्र एक ऐसा शास्त्र है जो सबसे अधिक बुद्धि-प्रसूत और प्रयोगसे असम्बन्धित ज्ञान पड़ता है । लेकिन इसके इतिहासके अध्ययनसे भी यही विचारधारा पुष्ट होती है । खेतोंकी नाप-जोखसे ज्यामिति (रेखागणित) का सम्बन्ध है । और जिस समय रोम-अधिपति आगस्टमने सिकदरियाके हीरोको रोमन-राज्यका नकशा खींचनेके लिये नियुक्त किया, उससे भी ज्यामिति-शास्त्रने काफी पोषण प्राप्त किया । 'साइस पेट दी क्रास-रोडस' (विज्ञानके चौमुहानेपर)

नामक लेखमें हेसेनने न्यूटनपर जो प्रकाश डाला है उससे इस भ्रमका निराकरण होता है कि न्यूटन किसी घुलोकका स्वानद्रष्टा है जिसका पार्थिव व्यवहारसे कोई सम्पर्क नहीं है। उसने यह दिखलाया है कि न्यूटनने जिन समस्याओंका समाधान किया है, उनकी उत्पत्ति उस समयके मानव-समाजकी व्यावहारिक आवश्यकताओंसे ही हुई है।”

‘भूत पहले या मानस’ यह प्रश्न इस अभिप्रायसे है कि दृक्दृश्य, ज्ञान-ज्ञेय इनमेंसे कौन पहलेसे है ? यदि मानसका अर्थ उस मानससे है जो कि एक आन्तर इन्द्रिय या सूक्ष्म पञ्चमहाभूतोंके समष्टि सात्त्विक अंगोंसे निर्मित अन्तःकरणरूपसे प्रसिद्ध है, तब अधिक मतभेद नहीं रह जाता। प्रयोग पहले या सिद्धान्त, व्यवहार पहले या तथ्य ? कोई भी समझ सकता है कि प्रमाणसे ही प्रमेयकी सिद्धि होती है। कभी भी बोधसे ही बोध्यकी सिद्धि होती है। फिर बोध तो वह वस्तु है कि प्रमाण भी उसीसे सिद्ध होता है। इस बोधका प्रागभावा एव प्रथम समझनेके लिये भी बोध आवश्यक ही है। जब अगोचरसे उसका प्रागभाव समझना कठिन ही नहीं असम्भव है। बोधमें सविशेषता लानेके लिये इन्द्रिय-मन आदिका व्यापार आवश्यक होता है। प्रयोगोंसे नियमों एव सिद्धान्तोंकी जानकारी होती है, निर्माण नहीं होता। किन्-किन वस्तुओंमें क्या-क्या गुण हैं, यह हमारी जानकारीमें पहले भी कम-से-कम भौतिकवादीको तो मान्य होना ही चाहिये। इसलिये व्यापार, विजय-यात्राके कारण भौगोलिक स्थितिका ज्ञान होता है निर्माण नहीं। इसी प्रकार पैदावार, उद्योग, लड़ाई और औजारोंके खनिजके ज्ञानमें सहायता की है, परन्तु इनके कारण खनिजका निर्माण नहीं हुआ। कृषिके कारण ऋतुओंका ज्ञान भले ही हुआ हो, परन्तु ऋतुओंका अस्तित्व कृषिके कारण नहीं हुआ। प्रयोगके आधारपर विद्यमान वस्तुका ही ज्ञान और उपयोग कहा जा सकता है। अग्निकी उष्णता, जलकी शीतलता, वायुकी प्रवहणशीलता, हमारे प्रयोगके आधारपर नहीं बनी। इस तरह प्रयोग और आवश्यकताके अनुसार गुण-उपयोगिता एव सिद्धान्तोंका ज्ञान होता है। परन्तु गुण-उपयोगिता और सिद्धान्त पहलेसे ही होते हैं। इतना ही क्यों ? सभी प्रवृत्तियोंमें सकल्प या ज्ञान हेतु होते हैं। क्रियाओं, अनुभवोंसे जानकारीमें विशेषताएँ होती हैं। ये ज्ञान भी सदा प्रयोगोंके आधारपर नहीं होते। व्यवहारमें देखते हैं कि जो गाँवके किसान खेती करते हैं, उन्हें इतना कृषिविज्ञान नहीं रहता जितना पुस्तकों और प्रयोगशालाओंके द्वारा विद्यार्थियोंको होता है। सदा सग्राम करनेवालोंको भी इतना परिज्ञान नहीं होता जितना एक फील्डमार्शलको, और मजदूरोंको गिल्फका इतना ज्ञान नहीं होना जितना इंजीनियरोंको।

बुद्धिका मद्दत तो सभीको मान्य होना ही चाहिये। सहस्रों मनुष्य जो काम नहीं कर पाते, वह काम बुद्धिनिर्गम मशीनोंसे सरलतासे हो जाता है।

इसी तरह लाखों वर्षोंकी वृत्तियोंसे भी जो ज्ञान सम्पन्न नहीं होता, वह ज्ञान शान्त-समाहित, योग-शक्तिसम्पन्न मनसे हो जाता है। जैसे बुद्धिनिर्मित दूर-वीक्षण या सूक्ष्मवीक्षणसे दूर-सूक्ष्म वस्तुओंका ज्ञान हो सकता है, वैसे ही योग-जन्यशक्तिविशिष्ट मनसे बाह्य प्रयोगके बिना भी अनेक वस्तुओं, उनके गुणों एवं सिद्धान्तोंका ज्ञान हो जाता है। 'जहाँ सूर्यकी किरणें नहीं पहुँचतीं वहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं और जहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं, उसे हम जान नहीं सकते'—यह कथन योगज-ज्ञानविहीन व्यक्तियोंके लिये ही ठीक है। यह भी रूपवान् वस्तुके ही सम्बन्धमें कहा गया है। शब्द और स्पर्शके सम्बन्धमें सूर्यकिरणें प्रकाश नहीं फैला सकतीं; फिर भी श्रोत्रत्वके द्वारा उनका ज्ञान होता ही है। प्रकृति-परमाणु आदिका ज्ञान अनुमानसे होता है। इन्द्रियों, मन एवं बुद्धिमें सूर्यकी किरणें नहीं पहुँचतीं; फिर भी उनका ज्ञान साक्षीसे होता ही है। रेडियो, टेलीविजनद्वारा इस समय अतिदूरस्थ शब्द एवं रूपका अनुभव किया ही जा रहा है। यह सामान्य इन्द्रियगतिसे भिन्न ही यान्त्रिक शक्तिका चमत्कार है। इसी तरह यौगिक चमत्कार भी है। रसायनशास्त्रके कारण भी जिन-जिन सम्बन्धोंसे जिन-जिन धातुओंमें सुवर्ण बननेकी शक्ति है, उन्हीं धातुओंसे उन्हीं सम्बन्धोंके द्वारा सुवर्णनिष्पत्ति होती है। इसी तरह क्या गणित क्या अन्य विषय—सबमें सिद्धान्त स्थायी ही होते हैं। उनकी जानकारीके लिये ही शिक्षा-प्रयोग आदि अपेक्षित होते हैं।

मार्क्सवादी कहते हैं कि "अनुभव सामाजिक प्रयोगोंका परिणाम तथा जोड़ है। लेनिनके शब्दोंमें अनुभवमे हमारी बुद्धिपर अनिर्भर होकर बुद्धिके विषयोंका आविर्भाव होता है।" मौसमी हवा और सामुद्रिक धाराएँ जीवरूपके आविर्भावके बहुत पहलेसे थीं। मानव-ज्ञान और सामाजिक प्रयोगके आविर्भावके करोड़ों वर्ष पहले ये वर्तमान थीं, लेकिन बहुत दिनोंके समुद्रयात्राके अनुभवसे ही इन हवाओं और धाराओंका ज्ञान सम्भव हो सका। फिर लेनिनके ही शब्दोंमे वह इसी रूपमें अनन्तकालसे चली आ रही है। युक्तियुक्त बुद्धिका आधार है, मानव-व्यवहार, जो लाखों बार दुहरानेपर सज्ञाके अंदर तर्कज्ञानके रूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। यद्यपि व्यावहारिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये ही सिद्धान्तका जन्म होता है। जन्म ग्रहण करनेके बाद एक सीमातक इसका स्वतन्त्र विकास होता है। और जिस व्यावहारिक आधारपर यह उठ खड़ा होता है, उसको प्रभावित, संशोधित और परिवर्धित किये बिना नहीं रहता। इस प्रकार प्रयोग और सिद्धान्त 'विरोधियोंका एकत्व' है जिनके परस्पर प्रभावका कोई अन्त नहीं है—जबतक मनुष्य-जातिका अस्तित्व है, मानव-व्यवहार प्राथमिक है। गेटेके शब्दोंमें—'आरम्भमें था कर्म' लेकिन चूँकि व्यवहार पूर्णता लाता है, इसलिये प्रयोगका विकास सिद्धान्तको आगे बढ़ाता है और यह पुनः प्रयोगको प्रभावित करता है।

“यहाँपर बुखारिनके यह उद्धरण अनुपयुक्त न होगा—‘उद्योग और सिद्धान्त—दोनों ही सामाजिक मनुष्यकी क्रिया है यदि हम सिद्धान्तको एक निश्चित प्रणालीके रूपमें और प्रयोगको एक बनी-बनायी वस्तुकी तरह न देखें, बल्कि क्रियाशील-अवस्थामें इनको देखें तो हमें श्रम-क्रियाके दो रूप दिखलायी पड़ेंगे । श्रमका शारीरिक और मानसिक भागोंमें विभाजन सिद्धान्त-प्रयोगका सञ्चित और साररूप है प्रयोग और सिद्धान्तकी परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया और उनकी एकताका विकास प्रयोगकी प्राथमिकताकी बुनियादपर होता है । इतिहासमें व्यावहारिकताके क्षेत्रमें विज्ञानने जन्म ग्रहण किया, विचारोंकी उपज वस्तुओंकी उपजने ही अपना रूप ग्रहण करती है । सामाजिकताके क्षेत्रमें सामाजिक रहन-सहन सामाजिक चेतनाका मूल है । सम्पूर्ण सामाजिक विकास वस्तु-उत्पादक श्रम-क्रिया-शक्ति-जनित है । मार्क्समें ही हमें प्रयोगकी प्राथमिकताकी बुनियादपर प्रयोग और सिद्धान्तके समन्वयकी शिक्षा मिलती है । प्रयोग ही सिद्धान्तकी सत्यताका प्रमाण है ।’”

परंतु विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि कुछ अनुभव अवश्य प्रयोगोंके परिणाम हों, परंतु सबके सम्बन्धमें ऐसा नहीं कहा जा सकता । बुद्धिके विषय जो भी होंगे वे उसी हालतमें बुद्धिपर अनिर्भर रह सकेंगे, जिनकी स्वतन्त्र सत्ता होगी । बुद्धि या अनुभव प्रमाणकोटिमें आते हैं, जिनपर सभी वस्तुओंकी सिद्धि निर्भर होती है । ‘मौसमी हवा और सामुद्रिक धाराएँ जीवरूप एवं मानव-विज्ञान और सामाजिक प्रयोगके करोड़ों वर्ष पहले थीं’, यह भी अत्यन्त प्राणिश्रुत कोरी कल्पना ही है । ग्रीज एव अङ्गुरके समान कमाँ एव गरीरोंकी अनादि परम्परा है । अनादि जीवको बिना स्वीकृत हुए कर्मों, गरीरों, प्रवृत्तियों, निद्राओं-जन्मों-मरणोंकी परम्पराएँ निराश्रय हो जायँगी । किसी वस्तुका भाव या अभाव सिद्ध करनेके लिये प्रमाण और द्रष्टा तो अपेक्षित होता ही है । अतीत कालका भी बोध होना चाहिये । कालपरिमित वस्तुओंका भी जन होना चाहिये । अनुमान भी सामाजिक ज्ञानके ही आधारपर चलता है । फिर इसी तरह सामाजिक ज्ञानके ही आधारपर यह भी तो सिद्ध है, जैसे स्वप्न एवं जागरणके पूर्व भी निद्राका प्रबोध होता है । उसी तरह मौसमी हवा और सामुद्रिक धाराकी कौन कहे, आकाश और उससे भी सूक्ष्म अहंकार, उससे भी प्रथम बुद्धि एव बुद्धिसे पहले समष्टि निद्रारूप अविद्या और उससे भी पहले उसका भासक अखण्ड अनुभव या । विद्यमान वस्तुकी ही अभिव्यक्ति होती है । बाटमें तेलकी तरह अत्यन्त अविद्यमान वस्तुका कभी भी प्रादुर्भाव हो नहीं सकता । लेनिनकी युक्तियुक्त बुद्धिकी विशेषता अन्तःकरणकी वृत्तिसे ही सम्बन्ध रखती है । जैसे विभिन्न काष्ठों, तारों तथा

अनेक उपाधियोंके कारण प्रकट विशिष्ट अग्निके प्रकारोंमें विशेषता आ सकती है। व्यापक मूल अग्निकी सत्तामें इन उपाधियोंके भाव-अभावका कुछ असर नहीं पड़ता। इसी तरह बुद्धिकी विभिन्न अवस्थाओं एवं बाह्य उपाधियोंमें भेद होनेपर भी सर्व-भासक अखण्ड बोधमें इन बाह्य व्यवहारोंका कुछ भी असर नहीं पड़ता। प्रमाणोंके आधारपर वादिप्रतिवादियोंद्वारा निर्णीत सत्य ही सिद्धान्त होता है। प्रामाणिक निर्णय न तो पुरुषोंकी इच्छापर निर्भर होता है और न आवश्यकताकी अपेक्षा रखता है। अनिष्ट निर्णयकी न तो आवश्यकता ही होती है और न पुरुषकी इच्छा ही वैसी होती है। फिर प्रमाणके द्वारा वस्तुतन्त्रज्ञान होता ही है। हाँ, सिद्धान्तोंको जानकर उनके आधारपर आवश्यकता-पूर्ति होती है। जैसे जल-अग्नि आदिका सामान्यरूपसे प्रयोगसे सिद्धान्त, और सिद्धान्तसे प्रयोगमें प्रगति होती है, परंतु ये बातें आपेक्षिक हैं। सिद्धान्त न तो खड्गच्छन्दकी तरह घटता-बढ़ता है और न तो गिरगिटकी तरह क्षण-क्षणमें रंग ही बदलता रहता है। कहा जा चुका है कि प्रमाणोंके आधारपर वादि-प्रतिवादियोंद्वारा सत्यका निर्णय ही सिद्धान्त है। त्रिकालबाध्य सत्य परिवर्तनशील नहीं होता है। अग्नि उष्ण है—यह सिद्धान्त अस्थायी नहीं। उद्योग और सिद्धान्त दोनों ही सामाजिक मनुष्यकी क्रिया है।

• बुखारिनका यह कहना भी इसी अंशमें सही है कि जानकारी मानसी क्रिया है। परंतु इससे भी प्रकाशस्वरूप ज्ञानकी नित्यता एवं सिद्धान्तकी स्थिरतामें फरक नहीं पड़ता। हाँ, यह सही है कि जिस वस्तुका ज्ञान अपूर्ण है, उसके सिद्धान्त भी अपूर्ण होंगे। उस सम्बन्धमें जितना ही अधिकाधिक परिचय होगा उतनी जानकारी होगी, उसी ढंगका सिद्धान्त बनेगा। इसमें भी सदेह नहीं है कि प्रयोगमें शारीरिक श्रमकी विशेषता रहती है और सिद्धान्तमें मानसिक श्रमकी विशेषता। फिर भी यह व्यवस्थित नहीं है। कितने ही प्रयोग भी मानसिक ही होते हैं। प्रयोग और सिद्धान्त जबतक अन्तिम रूपसे निश्चित नहीं होते, तबतक उनमें विकास या परिवर्तन होता रहता है। परंतु अन्तिम रूपसे निश्चित हो जानेपर विकास समाप्त हो जाता है। इसीलिये यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रयोग और सिद्धान्तकी क्रिया-प्रतिक्रिया और उनकी एकताका विकास प्रयोगकी प्राथमिकताकी बुनियादपर होता है; क्योंकि प्रयोग-प्रवृत्ति भी ज्ञानपूर्वक ही हुआ करती है। प्रवृत्तिमात्रकी प्रथम बुनियाद है ज्ञान। अतएव कहा जा सकता है कि सर्वत्र ज्ञानसे ही व्यवहारने जन्म ग्रहण किया है। सर्वव्यवहारहेतु आत्मा या अन्तःकरणका गुण ही ज्ञान कहा जाता है। जैसे हमारे ज्ञानसे घटादि वस्तुएँ उपजती हैं, उसी तरह ईश्वरीय ज्ञानसे आकाशादि वस्तुएँ उपजती हैं। 'जानाति, इच्छति, अथ करोति' यह व्यापक सिद्धान्त है। कोई व्यक्ति जानता है, इच्छा करता है, फिर क्रिया करता है। सामाजिक रहन-सहन सामाजिक चेतनका मूल है, यह भी अर्धसत्य है। सत्य यह है कि रहन-सहन भी विचारमूलक

मार्क्सवादी समाज-व्यवस्था

होते हैं। उनमें उत्तरोत्तर स्पष्टता होती रहती है। शिक्षणपरम्परा या किसी कारणसे अभिव्यक्त विशेष ज्ञान ही सामाजिक चेतनाका मूल है। अतएव श्रम-क्रिया-शक्तिजनित सामाजिक विकास अशतः मान लेनेपर भी हर क्रियाके मूलमें ज्ञान है। यह न भूलना चाहिये कि क्रिया इच्छाजन्य है, इच्छा ज्ञान-जन्य है, क्रियाजन्य जब इच्छा भी नहीं है, तब इच्छाका भी जनक ज्ञान क्रियाजन्य • कैसे होगा ? प्रयोगकी प्राथमिकताकी बुनियादपर प्रयोग और सिद्धान्तके समन्वय-का मार्क्सवादी शिक्षाका सिद्धान्त सर्वथा असङ्गत है।

द्वन्द्वन्याय और विकास

मार्क्सवादी कहते हैं कि “जगत् परिवर्तनशील है। विकास परिवर्तनका ही एक प्रकार है।” इस परिवर्तनको देखनेके विभिन्न दृष्टिकोण हैं। अतिभौतिकवादी और नैसर्गिकवादीका दृष्टिकोण एक है। और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादीका दृष्टिकोण और है। लेनिनकी व्याख्यासे इसपर काफी प्रकाश पड़ता है। विकास विरोधियोंका सर्वर्ष है। विकासकी दो ऐतिहासिक धाराएँ हैं। पहली विकासवृद्धि और हास तथा दुहरानेके रूपमें और दूसरी विकासविरोधियोंके समन्वित एकत्व तथा परस्परसम्बन्धित रूपमें। पहली धारणा मृत, शुष्क, निःसार है, दूसरी जीवित है। दूसरी धारणाके द्वारा ही हर विद्यमान वस्तुकी स्वयं गति समझी जा सकती है और इसकी कल्पना की जा सकती है कि पुरानेका ध्वंस होकर नयेका आविर्भाव कैसे होता है। (लेनिन—मेटेरियलिज्म एण्ड इम्पीरियलिज्म—क्रिटिसिज्म)

“विकासकी पहली धारणासे हम मौलिक परिवर्तनको नहीं समझ सकते। इस धारणाके अनुसार परिवर्तनको क्रमपरिवर्तनके रूपमें देखा जाता है। परिवर्तित वस्तु भी मुख्यतः मूल वस्तु ही है। मूल वस्तुमें परिवर्तनकी मात्रा अत्यल्प होती है और इन स्वल्प मात्राओंको जोड़कर ही परिवर्तित वस्तु बन जाती है। लेकिन इस प्रकार मौलिक परिवर्तनको समझा नहीं जा सकता। उदाहरणसे यह सिद्ध है कि प्राकृतिक वस्तुओंकी एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाकी कुदान होती है। प्रकृतिमें क्रान्तिकारी परिवर्तनके उदाहरण मिलते हैं। विकास ही प्रकृतिका एक-मात्र नियम नहीं है, क्रान्तिकारी परिवर्तनका भी उसमें स्थान है। किसी वस्तुके आविर्भाव या तिरोभावकी कल्पना उसके क्रमशः आविर्भाव या तिरोभावकी कल्पना है। लेकिन सत् (अस्तित्व) का परिवर्तन न केवल एक गुणसे दूसरे गुणका परिवर्तन है, बल्कि परिमाणात्मकसे गुणात्मक परिवर्तन है। इस प्रकार एक परिवर्तन घटित होता है, जो एक दृश्यगत घटनाको दूसरीके स्थानापन्न करता है और धारा टूट जाती है, जब प्रवाहकी धारा टूट जाती है, तब विकासके रास्तेमें एक आकस्मिक परिवर्तन घटित होता है। हीगेलने अनेकों दृष्टान्तोंसे

यह प्रमाणित किया है कि 'प्रकृति और इतिहासमें कितनी ही बार आकस्मिक परिवर्तन होते रहते हैं।' साधारण जन-विदित विकासवादके सिद्धान्तके पोलेपनको उन्होंने अच्छी तरह दर्शाया है। हीगेलके शब्दोंमें क्रमविवर्तनकी बुनियादी बात यह है कि जिसका आविर्भाव होता है, वह पहलेसे ही विद्यमान रहता है, केवल सूक्ष्म होनेके कारण अदृश्य रहता है। इसी प्रकार जब हम किसी दृश्यगत घटनाके तिरोभावकी बात करते हैं, तब हम ऐसी कल्पना करते हैं कि जिसका तिरोभाव होता है, वह तिरोहित हो चुका है और पूर्वगत घटनाका जो स्थान लेता है, वह पहलेसे ही विद्यमान है, लेकिन दोनो ही दृष्टिगोचर नहीं होते। परंतु इस प्रकारसे हम आविर्भाव या तिरोभावके सम्पूर्ण ज्ञानको दबा देते हैं। किसी घटनाके आविर्भाव या तिरोभावकी व्याख्या क्रमविवर्तनके द्वारा करना शब्दसम्भारमात्र है और इसका अन्तर्हित अर्थ यह है कि जो वस्तु आविर्भाव या तिरोभावकी प्रक्रियामें है, हम ऐसा समझते हैं कि वह आविर्भूत या तिरोहित हो चुकी है !

हीगेलने स्वयं इस वस्तुका जो वर्णन दिया है, वह महत्त्वपूर्ण है। लोग परिवर्तनको उसके क्रमकी न्यूनतासे अपनी कल्पनाके अन्तर्गत करना चाहते हैं, लेकिन क्रमिक परिवर्तन नाममात्रका परिवर्तन है और गुणात्मक परिवर्तनके विपरीत है। क्रमिकता दो वास्तविकताके संयोगको, चाहे ये दो अवस्थाएँ हों, चाहे दो स्वतन्त्र वस्तु, दबा देती है। परिवर्तन समझनेके लिये जिनकी आवश्यकता है, उनका अपसरण हो जाता है। संगीतसम्बन्धोंमें परवर्ती स्वर आरम्भके मूलस्वरसे दूर हट जाता है। फिर ऐसा मालूम होता है कि एकाएक वह मूलस्वर लौट आया। यह पिछले स्वरमें जोड़का परिणाम नहीं है, इसका सम्बन्ध दूरके स्वरसे मालूम पड़ता है। सब मृत्यु और जन्म धारावाहिक क्रमिक न होकर इसके विघ्न ही हैं और परिमाणात्मकसे गुणात्मक परिवर्तनकी यह एक कुदान है। साधारण कल्पना जब कि किसी उत्थान या निर्वाणका ख्याल करती है, तब इसे वह क्रमिक उत्थान या निर्वाणके रूपसे देखती है, परंतु अस्तित्वमें परिवर्तन न केवल एक परिमाणसे दूसरे परिमाणका रूपान्तरण है, बल्कि गुणात्मकसे परिमाणात्मक तथा इसके विपरीत रूपान्तरणमें है। यह स्वरसे भिन्न होनेकी एक क्रिया है, जो क्रमकी धारा तोड़ देती है।

“प्रारम्भिक बात यह है कि प्रकृतिको समझनेके लिये इसके इतिहासके अध्ययनकी आवश्यकता है। परिमाणकी दृष्टिसे यह तो निश्चय ही है कि किसी भी मुहूर्तमें विश्व (संसार) वही है, जो पहले था और जो कि भविष्यके संसारके निर्माणकी क्रियामें है। इसी अनुमानके आधारपर विश्व (संसार) बुद्धिगम्य और व्यवहारयोग्य है। गुणात्मक दृष्टिसे यह समानरूपमें स्वयं सिद्ध है कि किन्हीं दो मुहूर्तोंमें विश्व (संसार) एक-सा नहीं है। यहाँतक हालत डार्विन

की क्रान्तिकारी पुस्तक 'ओरिजन आफ मैन' के प्रकाशित होनेके बाद, साधारण विकासवादकी कल्पनाके अनुरूप ही है। लेकिन यदि इस कल्पनाको व्यवहारोपयोगी बनाना है तो इसे और गहराईतक ले जाना पड़ेगा। विशेषकर इस जानकारीकी आवश्यकता है कि विश्व (संसार) का निरन्तर रूप-परिवर्तन ऊपरी परिवर्तनतक ही सीमित नहीं है, वल्कि इसका बुनियादी संघटन भी उसमें सम्मिलित है और वे गतियाँ भी, जिनके योगकी सम्पूर्णतामें विश्वकी क्रियाशीलता है। इस ज्ञानसे भी इसको समृद्ध करना चाहिये कि विश्वके असीम परिवर्तनमें अपरिवर्तनीयताकी मात्रा कितनी है। विज्ञानमें पुनरावर्तनके दृष्टान्तोंसे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।”

पर ये बातें अविचारितरमणीय हैं। वस्तुतः विकास परिणामका ही एक स्वरूप है। परिणामवादमें सत्कार्यवाद ही मान्य होता है। क्रमपरिवर्तन या प्राकृतिक वस्तुओंकी एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें कुदान अर्थात् क्रान्तिकारी परिवर्तन सब परिणाम ही हैं। बादलोंकी टक्करसे तत्काल दिग्दिगन्तव्यापी महाविद्युत्प्रकाशका विकास, काष्ठसे अग्निका क्रमिक विकास, जलका शीतल होना या बर्फ बन जाना, गर्म होना या भाप बन जाना, कुछ भी परिणामसे भिन्न नहीं है और न तो मूल वस्तुसे अत्यन्त भिन्न किसी वस्त्वन्तरका निर्माण ही होता है। अल्पश, अल्पायु मानवोंकी दृष्टिमें उत्तरोत्तर नवीन-नवीन वस्तुका ही विकास होता है। परन्तु ईश्वर और दीर्घायु, दीर्घश, दीर्घदर्शी महर्षियोंकी दृष्टिमें वही भूतग्राम पुनः-पुनः उत्पन्न होकर प्रलीन हुआ करता है—‘भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।’ (गीता ८। १९)। किसी प्रकारका भी परिवर्तन मर्त्यता, शुष्कता एवं निःसारताका ही द्योतक है। जड़ वस्तु न स्वयं गति है, न सार और न अमृत ही है; वल्कि वह क्रियाशील, विकारी एवं ध्वस्त होनेवाली वस्तु है। जो भी उत्पन्न होनेवाली वस्तु है; उसकी वृद्धि, परिणाम, अपक्षय एवं विनाश ध्रुव है। अविनश्वर तो सर्वकारण, सर्वाधिष्ठान, अखण्डब्रह्मात्मक ब्रह्मात्मा है, जिसे मोहवश माक्सवादकी भुलानेका प्रयत्न करते हैं। माक्सवादकी और हीगेल जिसे ‘आकस्मिक घटना एवं प्रकृतिकी कुदान या क्रान्ति’ कहते हैं, विकासवादी जिसे ‘क्रमिक’ कहते हैं, दोनोंका ही साख्यीय परिणामवादमें अन्तर्भाव है। केवल शीघ्रता एवं विलम्बमात्रसे परिणाममें भेद नहीं हो जाता और इस अर्थमें कि अत्यन्त अविद्यमान (बालूमें तेल-जैसी चीज) का कभी भी आविर्भाव नहीं हो सकता, कोई भी आकस्मिक घटना नहीं होती। परन्तु एक अल्पशकी दृष्टिमें कई वस्तुएँ आकस्मिक ही प्रतीत होती हैं। जलके बर्फ बन जाने या भाप बन जानेपर स्थूल रूपमें क्रमविच्छेद प्रतीत होने-

पर भी सूक्ष्मक्रम ज्यो-का-त्यो विद्यमान रहता ही है। चाहे जन्म और मरण हो, चाहे परिमाणात्मकसे गुणात्मक परिवर्तन हो, चाहे गुणात्मकसे परिमाणात्मक परिवर्तन हो, मूल वस्तुका अत्यन्त विच्छेद कभी नहीं होता। माता-पिताका सूक्ष्म शुक्रशोणित ही एकत्रित होकर क्रमेण विकसित होकर गर्भावस्था, शैशवावस्था, यौवन एवं वार्धक-अवस्थाको प्राप्त होता है। 'जायते अस्ति वर्धते' आदि षड्विध भावविकारको प्राप्त होते हुए भी मूलतः प्राकृतिक वस्तु ही सब कुछ थी और है। परमार्थ-तत्त्वदृष्टिसे सब कुछ स्वप्रकाश सत्से अनतिरिक्त ही है। दो अवस्थाएँ या दो स्वतन्त्र अवस्थावाली वस्तुएँ मूल वस्तुसे भिन्न नहीं होती, अतः उनका संयोग भी कोई नयी वस्तु नहीं है। रुईसे चाहे कितने भी चमत्कारपूर्ण वस्त्र, मृत्तिकासे कितने ही अच्छे मकान और लोहेसे कितने ही अच्छे यन्त्र बन जायँ, फिर भी क्या ये सब वस्तुएँ चाकचिक्यमात्रसे मूल वस्तुसे भिन्न हो जायँगी? बर्फ बन जानेपर भी क्या जलसे कोई बर्फ स्वतन्त्र वस्तु हो जायगी?

माक्सवादियों एव हीगेलियन लोगोके वागाडम्बरमात्रसे कार्य कभी कागणसे भिन्न नहीं हो सकता। संगीतके स्वरोंमें भी परस्परभिन्नता और विच्छिन्नता आरोहावरोहसे भिन्न होते हुए भी परिणामीके क्रमिक परिणाममें कोई अन्तर नहीं है। पुष्कर-शतपत्रका तत्क्षणच्छेद यद्यपि अक्रमिक ही प्रतीत होता है, फिर भी वहाँ सूक्ष्म क्रम रहता ही है। निर्वाण या निर्माणमें भी मूल वस्तुसे भिन्नका अस्तित्व नहीं होता। प्रकृतिके पदार्थोंमें एक-सी परिणामधारा नहीं होती। वह धारा कभी सूक्ष्म होती है, कभी स्थूल। सूक्ष्म धाराका स्थूल धाराके रूपमें परिवर्तन ही जन्म कहा जाता है। स्थूल धाराका पुनः सूक्ष्म धारामें परिवर्तन होनेमें ही ध्वंस या मरणका व्यवहार होने लगता है। इसीको 'धारा टूट जाना' कहा जाता है। इसीमें मूल वस्तु भिन्न होनेकी भ्रान्ति होने लगती है। इतिहासका अध्ययन और उससे भी अधिक दर्शनका अध्ययन प्राकृतिक परिणाम समझनेके लिये आवश्यक है। किसी प्रकारके परिवर्तन एवं परिवर्तनशील विश्वके मूलमें एक अपरिवर्तनशील, स्वतःसिद्ध स्वप्रकाश अखण्डबोध साक्षीका रहना अनिवार्य है, जिसके बिना न क्रमिक परिवर्तन, न आकस्मिक परिवर्तन ही सिद्ध होता है। विश्व एवं उसकी मूलभूत सप्तप्रकृति, विकृति एव अविकृतिभूत मूलप्रकृति, सबका ही परिवर्तन तत्त्वदर्शियोंद्वारा अनुभूत है। परंतु उससे भी परस्तात् वह स्वयंसिद्ध सत्ता, जिसके बिना सब असत् एव अप्रकाश, निरात्मक हो जाते हैं, सदृषियोंद्वारा साक्षात्कृत है।

दशम परिच्छेद

माक्स और ज्ञान

(माक्सिय मन या ज्ञानपर विचार)

(१) मन और शरीर

मोरिस कौर्न फोर्थकी 'दि थ्योरी आफ नालेज'में कहा गया है कि—
“मन शरीरसे विभाज्य नहीं है। मानसिक क्रियाएँ मस्तिष्ककी क्रियाएँ हैं। मस्तिष्क प्राणीके बाह्य जगत्के साथ रहनेवाले जटिलतम सम्बन्धोंका अवयव है। वस्तुओंकी प्रत्ययात्मिका जानकारी (Conscious, awareness) का प्रथम रूप 'संसेशन' (Sensation) अनुभूति है, जो प्रतिनियत सहज प्रतिक्रियाओं; 'कण्डीशण्ड रिफ्लेक्सेज़' (Conditioned reflexes) के विकाससे उत्पन्न होता है। अनुभूतियाँ (संसेशन) प्राणीके लिये बाह्य-जगत्के साथ उसका जो सम्बन्ध है, उसके संकेतोंकी एक पद्धति निर्मित करती हैं। मनुष्यमें एक द्वितीय संकेतपद्धति विकसित हो गयी है—वाणी ! यह काल्पनिक (भावप्रधान) [ऐब्स्ट्रेक्टिंग] और साधारणीकरणके कार्य करती है और इसी वाणीसे सम्पूर्ण उच्चतर मानसिक जीवन बढ़ चलता है, जो कि मनुष्यप्राणीकी निजी विशेषता है। मानसिक प्रक्रियाओंकी अनिवार्य बात यह है कि उन्हीं गतिविधियोंके भीतर और उन्हींके द्वारा प्राणी अपने चारों ओरके वातावरणके साथ जटिल और विभिन्न सम्बन्ध अनवरत बनाता रहता है। इसलिये प्रत्ययोंकी प्रक्रियाएँ वास्तवमें बाह्य जड (मेटीरियल) सत्यको प्रतिबिम्बित करनेवाली प्रक्रियाएँ हैं। मस्तिष्ककी जीवन प्रक्रियामें जड (भौतिक) जगत्का प्रतिबिम्ब ही 'प्रत्यय' (कौशमनेस) है।”

आश्चर्य है कि इस विज्ञानके युगमें जब कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तुओंकी खोज हो रही है, तब भी मन-जैसी सूक्ष्मवस्तुको जड़ स्थूल देहकी ही एक अवस्था माना जाता है। इसपर आगे पर्याप्त विवेचन किया जायगा कि मन दर्शन, श्रवण आदि इन्द्रियजन्य क्रियाओंमें सहकारी सूक्ष्म देहसे भिन्न तत्त्वान्तर है।

‘मनुष्यकी मानसिक क्रियाओंका विकास उसके सामाजिक कार्यकलापोंसे उद्भूत होता है। इसकी प्रक्रिया है—दर्शन, प्रेक्षण, अनुभूति, प्रतीति, ज्ञान (Perception) से विचारणा। विचारने एवं बोलनेकी क्षमता उत्पन्न होती है, सामाजिक श्रमकी प्रक्रियासे; जो (सामाजिक श्रम) कि मनुष्यका मूलभूत (आधारभूत) सामाजिक कार्य (प्रवृत्ति) है।’

सामाजिक कार्य-कलापोंका प्रभाव यद्यपि क्रियाओंपर अवश्य पड़ता है, परंतु एतावता प्रकाशस्वरूप बोध, जड़, बाह्य वस्तुओं एवं उनकी जड़ क्रियाओंका परिणाम नहीं हो सकता।

“विचारनेमें हम उन प्रारम्भिक धारणाओंसे, जिनके अनुसार साक्षादिन्द्रिय-गम्य वस्तुएँ हैं—प्रारम्भिक कल्पनामयी धारणाओंकी ओर आगे बढ़ते हैं। कल्पनामयी धारणाओंका उद्गम है सामाजिक सम्बन्धोंके विकास तथा बाह्य प्रकृतिसे सम्बद्ध उद्गादनविषयक एवं अन्य प्रवृत्तियोंके विकाससे, जब कि मनुष्योंके अज्ञान तथा असहायता जन्म देती है रहस्यमयी, इन्द्रजालमयी तथा स्वापिक, मृगमरीचिकामयी काल्पनिक धारणाओंको। मानसिक श्रम, मास्तिष्किक श्रम (दिमागी मेहनत) का भौतिक श्रमसे विभाजन काल्पनिक धारणाओंसे ही प्रारम्भ होता है और फिर सैद्धान्तिक प्रवृत्तियोंका व्यावहारिक प्रवृत्तियोंसे सम्बन्धविच्छेद होता है; जिसमें कि सिद्धान्तकी सत्यसे दूर उड़ चलनेकी प्रवृत्ति हो जाती है। आदर्शवादी एवं भौतिकवादी दलोंकी विचारपद्धतिके विरोधकी शाखाएँ ही नहीं, स्कन्ध भी यहीसे पृथक् होते हैं।”

वस्तुतः किन्हीं भी प्रवृत्तियोंमें ज्ञान ही मूल होता है। ज्ञानसे ही संघ या समाजका निर्माण होता है। स्थूल बाह्य-जगत्की अपेक्षा मन बहुत सूक्ष्म है। अतः मानसिक ज्ञान-विज्ञान तथा कल्पनामें एक ही भौतिक स्थूल प्रवृत्तियों आगे बढ़ी होती हैं, यह स्वाभाविक है। इतना ही क्यों, मन ही तो सबका मूल भी है।

आदर्शवाद

‘काल्पनिक धारणाओंका प्रयोग किसी न-किसी प्रकारकी वस्तुओं अथवा विचार-पद्धतियोंकी सुव्यवस्थित दृष्टियोंके निरूपणमें ही किया जाता है। ये दृष्टियाँ या विचारपद्धतियाँ समाज-विकासकी विभिन्न अवस्थाओंमें विभिन्न

सामाजिक वर्गोंद्वारा आविष्कृत होती है । आदर्शविषयक विकास समाजके भौतिक जीवनके विकासपर अवलम्बित है तथा आदर्शादि वर्गविशेषकी रुचियाँ या स्वार्थोंकी पूर्ति करते हैं । परन्तु इसके साथ-ही-साथ यह भी आवश्यक है कि आदर्शवाद ऐसा बनाया जाय कि वह बौद्धिक आवश्यकताओंकी भी पूर्ति कर सके । इसीके परिणामस्वरूप आदर्शवादोंके विकास तथा उनकी आलोचनामें निरन्तर वदतोव्याघात या विरुद्धताएँ रहती हैं और इसीलिये उसकी आलोचना भी की जाती है । इसीलिये आदर्शवादोंमें सत्य एवं कल्पना-मृगमरीचिका दोनोंके तत्त्व साथ-साथ रहते हैं ।”

वस्तुतः सूक्ष्मबोधतक बुद्धिके न पहुँचनेके कारण ही भौतिकवादियोंको बहुत-से निगूढ़ तत्त्वोंमें केवल कल्पना ही दृष्टिगोचर होती है । व्यवहारमें उच्च आदर्शोंके अनुसार देह-इन्द्रियादिकी प्रवृत्ति बनानेकी चेष्टा होती है, पर कभी-कभी बाह्य प्रवृत्तियों वहाँतक नहीं पहुँच पाती । उन्हीं उच्च आदर्शोंको भौतिकवादी मृगमरीचिकातुल्य समझने लगते हैं ।

“आदर्शवादी मृगमरीचिकाओं ; स्वप्नोका उद्गम है समाजके उत्पादन-सम्बन्धोंसे, परन्तु वे इस उद्गम या स्रोतसे विदितरूपमें उद्भूत नहीं होतीं, परन्तु अविदित या अप्रतिभातरूपमें अनजाने या सहजरूपमें ही उद्भूत हो आती हैं । आदर्शवादियोंको यह ज्ञात (पता) तो रहता नहीं कि उनकी इन भ्रान्त स्वापनिक धारणाओंका वास्तविक मूलस्रोत क्या है; वे सोचते हैं कि ‘हमने शुद्ध विचारकी पद्धतिसे इन्हें जन्म दिया ।’ और इसलिये आदर्शवादमें प्रतीपन (उलट देने) की प्रक्रियाका आगमन होता है, जिसके द्वारा वास्तविक सामाजिक सम्बन्धोंको काल्पनिक धारणाओंके प्रतिनिधिरूपमें दिखलाया जाता है । अन्तमें, आदर्शवादी स्वप्न एक वर्गविशेषलक्षित प्रवृत्तिनापद्धति (धोखेकी पद्धति) का निर्माण करते हैं ।”

यह भी ‘अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते’ का ही उदाहरण है । सदा ही आत्मचालित स्थूल-सूक्ष्म देहके समान ही सम्पूर्ण जड़-जगत्की चेष्टाएँ अभ्यात्मनियन्त्रित होती हैं—यही तथ्य है । सुतरा इनकी प्रवृत्तिका निर्धारण भी ज्ञान-विज्ञानके आधारपर ही होता है ।

“आदर्शवादी मृगमरीचिकाओंके ठीक विपरीत, लोग अपने व्यावहारिक प्रत्यक्ष क्रियाकलापों या प्रवृत्तियोंकी शृङ्खलामें सत्यकी खोज करते हैं । ऐसी खोजका प्रथम मूलस्रोत सामाजिक उत्पादनमें निहित है । उत्पादन-विषयकी प्रक्रियासे आविष्कृत धारणाओंसे प्राकृतिक विज्ञान (नेचुरल साइंस) उत्पन्न होते हैं, जो कि उत्पादनसे पृथक्कृत, विशिष्ट

गवेषणाका रूप ग्रहण करते हैं। यह कार्य कुछ विशिष्ट वर्गोंद्वारा किया जाता है और ये वर्ग अपने वर्ग-विशेषके आदर्शोंको विज्ञानोंमें घुसेड़ देते हैं। इसीके साथ सामाजिक विज्ञानोंका विकास होता है, जिसका मूल वर्ग-संघर्षमें प्राप्त अनुभवोंमें होता है और जो सामाजिक मामलोंके सामान्य व्यवस्थापन एवं नियन्त्रणके अन्तर्गत काम देते हैं। परंतु शोषक-वर्गोंके हाथोंमें रहकर सामाजिक विज्ञान कभी भी प्राकृतिक विज्ञानोंके वैज्ञानिक स्तरको नहीं प्राप्त कर सकते।”

मार्क्सवादी सत्यकी खोजमें भी अपने वर्ग-संघर्षको ही घुसेड़नेका प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः सत्यकी खोज-प्रमाणोंपर ही निर्भर होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण नेत्र-श्रोत्रादि एवं उनके सहायक सूक्ष्म-दूरबीक्षणयन्त्र काच आदिके द्वारा जैसे सत्यका पता लगता है, वैसा वर्णन करना विज्ञानका काम है। वस्तुस्थिति किसी आवश्यक क्रिया एवं संघर्ष-विशेषसे सम्बन्ध रखनेके लिये बाध्य नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त जैसे नेत्रगम्य रूपकी खोज कानसे करनी व्यर्थ है, वैसे अनुमान या आगमगम्य बातोंकी खोज आँख-कानसे करनी व्यर्थ है।

विज्ञान एवं समाजवाद

“बोर्जिआई विज्ञानने जहाँ महान् वैज्ञानिक उन्नतियाँ प्राप्त की हैं, वहीं पूँजीवादी सम्बन्धोंने विज्ञानोंके विकासपर बन्धन (सीमाएँ) लगा दिये। समाजवादके अधीन जहाँ विज्ञानका जनताकी सेवाके लिये विकास किया जाता है, ये बन्धन दूर कर दिये जाते हैं। विशेषतः समाजवादके लिये मजदूर-वर्गके संघर्षके उदयके साथ समाजविज्ञान स्थापित हुआ है। समाजवादी समाजमें पुरानी आदर्शवादी मृगमरीचिकाएँ या स्वप्न नष्टमूल हो जाती हैं और एक विश्वव्यापी वैज्ञानिक आदर्शवाद अस्तित्वमें आने लगता है।”

यदि पूँजीपति अपने स्वार्थ-साधनके लिये विज्ञानका विकास करना चाहते हैं तो मार्क्सवादी भौतिकवादनक ही उसे सीमित रखना चाहते हैं। अपने मतके विरुद्ध तथ्य निकालनेवाले वैज्ञानिकोंको फाँसीतककी सजा रूसमें दी गयी है, अगर सत्यकी खोज विज्ञानका लक्ष्य है, तो भी जैसा भी सत्य हो और जैसे उपलब्ध होता हो, वैसा ही प्रयत्न वैज्ञानिक प्रयत्न है।

सत्य

“सत्यका अर्थ होता है धारणाओं एवं वस्तुगत सच्चाईकी समन्विति। ऐसी समन्विति बहुधा केवल आंशिक एवं प्रायिक (लगभग) ही होती है। हम जिन सत्यताओंको स्थापित कर सकते हैं, वह सर्वदा सत्यके अन्वेषण एवं अभिव्यञ्जनके हमारे साधनोंपर अवलम्बित रहती है, परंतु इसीके साथ धारणाओंकी सत्यता, यहाँके अर्थमें आपेक्षिक ही सही, उन वस्तुगत तथ्योंपर आधारित रहती है जिनके साथ धारणाओंकी समन्विति है। हम कभी भी सम्पूर्ण, समग्र विशुद्ध सत्यताको प्राप्त कर ही नहीं सकते, परंतु सदा उस ओर बढ़ते जा रहे हैं।”

ठीक है, जिनके मतमें मनुष्य एव उसका ज्ञान-विज्ञान सब जड़भूत-का ही परिणाम है और अभी विकास ही हो रहा है, वह परम सत्यके सम्बन्धमें इससे अधिक कह ही क्या सकता है ? परन्तु अध्यात्मवादी इससे सहमत नहीं होता; क्योंकि वह तो सर्वदा सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे विश्वका निर्माण मानता है । उसीके द्वारा विश्वका निर्धारण एवं संचालन होता है । उस दृष्टिसे सत्य त्रिकालाबाध्य है, पर मार्क्सवादी किसी भी सर्वसम्मत तर्क या सिद्धान्त तथा सत्यको नहीं मानते; इसलिये सब सत्योंको भी अपूर्ण ही कहते हैं ।

ज्ञानका मूल

“ज्ञान वस्तुगत सत्यताकी यथासम्भव निर्दुष्ट प्रतिच्छायाओंके रूपमें प्रतिष्ठापित एवं परीक्षित मान्यताओं, दृष्टियों एव प्रस्तावनाओंका योग है । यह निश्चितरूपसे एक सामाजिक उपज है, जिसकी जड़ें सामाजिक व्यवहारोंमें हैं, जिन्हे व्यावहारिक आगाधो एवं अपेक्षाओंकी पूर्तिद्वारा परीक्षित एवं सञ्चोधित कर लिया जाता है । सभी ज्ञानोंका प्रारम्भ उन इन्द्रियानुभूतियोंमें निहित है, जिनकी विश्वसनीयता मनुष्यके व्यवहारोंमें सिद्ध है । ज्ञान कभी भी सम्पूर्ण या अन्तिम नहीं हो सकता, परन्तु उसका सर्वदा विस्तृत एव आलोचित होते रहना आवश्यक है ।”

वस्तुतः नित्य ज्ञान ही सबका मूल है, उसका मूल कोई नहीं । अनित्य-ज्ञान विषयों एव इन्द्रियोंके सनिकर्षसे अन्तःकरण-वृत्तिरूप ज्ञान उत्पन्न होता है । वह भी ज्ञान तभी बनता है, जब उसमें नित्य-बोधका प्रतिबिम्ब पड़ता है । सामान्यतया क्रियाएँ ज्ञानके प्रतिफल भले ही हो, परन्तु ज्ञान क्रियाओंका फल नहीं हो सकता । जड़ वायु, जल एव अग्निमें अनेक प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं, उन्हें अन्तर्यामी चेतनसे प्रेरित तो कहा जा सकता है, परन्तु उन क्रियाओंके द्वारा उनमें कोई ज्ञान नहीं उत्पन्न होता । ‘ज्ञायते अनेनेति ज्ञानम्’ इस व्युत्पत्तिसे ज्ञान शब्दका अन्तःकरण-वृत्ति अर्थ है । परन्तु ‘ज्ञप्तिर्ज्ञानम्’ इस व्युत्पत्तिसे स्फुरणमात्र ही ज्ञानपदार्थ है । ज्ञानमें क्रिया और स्फुरण दो अंश हैं । जानातिके ‘तिङ्’का अर्थ चिदाभास है, धात्वर्थ क्रिया है । दोनोंको मिलाकर ही ‘जानाति’का व्यवहार होता है । चैतन्य प्रतिबिम्बयुक्त बुद्धिकी घटादिवृत्ति चैतन्यसे व्याप्त होती है; इसीलिये बुद्धिवृत्तिमें ही ज्ञानकी भ्रान्ति होती है । आरोपित मर्बदृश्यका भासक होनेसे ब्रह्ममें ही ज्ञानता मुख्य है । प्रत्ययकारिता बुद्धिके साक्षीमें अभ्यस्त होनेसे साक्षीमें भी भासकत्वकी कल्पना होती है, वस्तुतः है वह भानस्वरूप ही । बुद्धिकर्तृक सभी प्रत्यय चैतन्यसंचित ही उत्पन्न होते हैं, इसी आधारपर ‘ज्ञानं क्रियते’ (ज्ञान किया जाता है) यह व्यवहार होता है । जैसे बुद्धिके पहले अनवच्छिन्नबोध कूटस्थ है, वैसे ही बुद्धि उत्पन्न होनेपर भी वह बोध निष्क्रिय

ही रहता है; इसीलिये श्रुतियाँ द्रष्टाकी स्वरूपभूता दृष्टिका सर्वथा अविपरिलोप ही बतलाती हैं—

न हि द्रष्टृदृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते । (गृहदारण्यकोपनिषद् ४ । ३ । २३)

आलोचन-सकल्प-अभिमानादिकरण व्यापार बुद्धिमे उपसंक्रान्त होकर बुद्धिके अध्यवसायरूप व्यापारके साथ उसी तरह एक व्यापारवान् हो जाते हैं, जैसे अपनी सेनाके साथ ग्रामाध्यक्षादिकी सेना सर्वाध्यक्षकी ही हो जाती है ।

वेदान्त-मतानुसार सूक्ष्म पञ्चभूतोंके समष्टि सात्त्विक अंशोंसे मन या अन्तःकरण उत्पन्न होता है । व्यष्टि सात्त्विक अंशोंसे श्रोत्रादि पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं और चित्त, अहंकार, बुद्धि सब उसी मन या अन्तःकरणकी ही वृत्तियाँ हैं, जैसे लोहपिण्डमे स्वतः दाहकत्व न होनेपर भी वह्निके साथ तादात्म्यसम्बन्ध होनेसे लोहपिण्डमें दाहकत्व होता है, उसी तरह भौतिक अन्तःकरण यद्यपि जड़ है, उसमें प्रकाशकत्व नहीं है, फिर भी स्वप्रकाश आत्मचैतन्यके तादात्म्याध्याम-सम्बन्धसे उसमें भी चैतन्यका उपलम्भ होने लगता है । स्वप्रकाश अखण्डबोध आत्मा ही मुख्य-ज्ञान है, उसीके प्रकाशसे मन अन्तःकरण आदिमें भी प्रकाश व्यक्त होता है । अनन्त आकाशस्वरूप बोधात्मक ब्रह्म ही उपाधिभेदसे विभिन्न ज्ञानोंके रूपमे भासित होता है, जैसे घटादि उपाधि-भेदसे घटाकाश आदिका भेद प्रतीत होता है । जहाँ विषयावच्छिन्न चैतन्यका प्रमातृचैतन्यके साथ अभेद होता है, वहाँ अपरोक्ष-ज्ञान होता है । जहाँ प्रमातृचैतन्यसे विषयचैतन्यका भेद विद्यमान रहता है, वहाँ प्रमाणके बलसे केवल परोक्ष ज्ञान होता है । इसलिये अनुव्यवसायको विशिष्ट विषय बनानेके लिये सामान्य-विशेषविषयक ही इन्द्रियोको मानना चाहिये । 'योगभाष्यकार'का भी यही कहना है—

न च तत्सामान्यमात्रग्रहणाकारम्, कथमनालोचितः, विषयविशेष इन्द्रियेण मनसानुव्यवसीयेत । (योगभाष्य ३ । ४७)

कुछ लोग कहते हैं आलोचन-ज्ञान सामान्यज्ञान विषयको ग्रहण करता है; किंतु मन विशिष्टविषयको ग्रहण करता है । परंतु यह ठीक नहीं, वस्तुतः इन्द्रिय-जन्य आलोचन अविविक्त सामान्यविशेषको ग्रहण करता और अनुव्यवसाय-ज्ञान विविक्त सामान्यविशेषको ही ग्रहण करता है इसीलिये 'योगवार्तिक'में कहा गया है—

निर्विकल्पकबोधेऽपि द्वयात्मकस्यापि वस्तुनः ।

ग्रहणं लक्षणाख्येयं ज्ञात्रा शुद्धं तु गृह्यते ॥

निर्विकल्पकज्ञान सामान्यमात्रको ही नहीं ग्रहण करता; क्योंकि उसमें विशेषका भी प्रतिभास होता है । इसी तरह विशेषमात्रका ही ग्रहण होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसमें सामान्याकारका भी भान होता है, किंतु सामान्य-विशेष—दोनोंहीका ग्रहण करता है, परंतु 'यह सामान्य है, यह विशेष' इस तरह विवेचन-

पूर्वक ग्रहण नहीं होता है; क्योंकि कालान्तरका अनुसंधान नहीं होता । जैसे ग्रामाध्यक्ष कुटुम्बियोंसे कर लेकर विषयाध्यक्षको अर्पण करता है, विषयाध्यक्ष सर्वाध्यक्षको, सर्वाध्यक्ष भूपतिको कर समर्पण करता है; इसी तरह बाह्येन्द्रिय विषयोंका आलोचन करके मनको अर्पण करती है, मन सकल्प करके अहंकारको अर्पण करता है, अहंकार उसका अभिमान करके अर्थात् सवेदन और स्मृतियोंके समूहको आत्मीयत्वेन ग्रहण करके अर्थात् बाह्येन्द्रियोपलब्ध क्षणिक सवेदन एव स्मृतियोंको समग्रित करके सर्वाध्यक्षभूता बुद्धिको समर्पण करता है; इस तरह सभी करण बुद्धिमें अर्थ समर्पण करके पुरुषको अर्थ-प्रकाश कराते हैं ।

विकास

“ज्ञान, जब हम वस्तुओंके साथ सक्रिय सम्बन्धोंमें आते हैं, तब प्राप्त होता है और प्रतीतिसे निर्णयकी ओर विकसित होता है । ज्ञानका विकास प्रत्ययात्मकसे उपपत्त्यात्मक (युक्तिपूर्ण सिद्धि) तक, वस्तुओंके रूप-रङ्ग आदिके केवल बहिरङ्ग (ऊपरी-ऊपरी) निर्णयोंसे उनके आवश्यक गुण-धर्मों, पारस्परिकसंयोगों तथा नियमोंके विषयमें तर्कपूर्ण निष्कर्षात्मकके मार्गपर होता है । इस प्रकार हम बाह्य (वस्तुमय) ससारका उत्तरोत्तर अधिक पूर्ण एव गम्भीर ज्ञान प्राप्त करते चलते हैं । प्रत्येक अवस्थामें हमारा ज्ञान सीमित है । पर वह इन सीमाओंको जीतता हुआ प्रगति कर रहा है, करता जा रहा है ।”

बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञानोंका विकास ही नहीं, किंतु हास भी होता है । कोई प्राणी ज्ञान-साधनोंसे ज्ञानार्जन, ज्ञान विकास करता है, किंतु प्रमादसे वह उत्पन्न ज्ञान भी नष्ट हो जाता है । आजके पुरातत्त्ववेत्ता तो यह भी कहते हैं—‘प्रथम ज्ञान अत्यन्त विकसित था, परंतु अब वह सकुचित हो गया है ।’ पर वेदों, पुराणों, भारतादि ग्रन्थोंको पढ़नेसे मात्ूम होगा कि आज पड़लेकी अपेक्षा सभी क्षेत्रोंमें ज्ञानका सकोच हो गया है । नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा तो चित् नित्य स्वप्रकाश ही है । उसके विकासका प्रश्न ही नहीं उठता ।

आवश्यकता एवं स्वतन्त्रता

“युक्तिपूर्ण या उपपत्त्यात्मक ज्ञान वस्तुओंकी ‘आवश्यकताओं’का उद्घाटन करता है और यह भी बतलाता है कि आवश्यकताका महत्त्व सर्वदा काकतालीय (ऐक्सिडेण्टल) से ही विदित होता है । ज्ञानकी प्राप्ति (Acquisition) से हमें स्वतन्त्रता मिलती है, जो आवश्यकता-के ज्ञानपर आधारित आत्मनियन्त्रण एवं बाह्यप्रकृति-नियन्त्रणके ही रूपमें है । हम उस समय स्वतन्त्र हैं, जब ज्ञानके आधारपर निश्चित करते हैं कि ‘क्या करें’ और अपने उद्देश्यकी पूर्त्तिको प्रभावित करनेवाले विदित विषयोपर ज्ञान-वृद्धकर नियन्त्रण करनेका प्रयत्न करते हैं ।”

भौतिक, औपपत्तिक, आगमिक, आनुमानिक, प्रत्यक्षात्मक, सशयात्मक या विपर्ययात्मक—ये सभी ज्ञान बुद्धि अथवा मनके तत्तत्साधनोसे होनेवाले परिणामविशेष हैं। इन सभीमें स्फुरण, स्फूर्ति या बोध समानरूपसे होता है। ज्ञानके अनुसार क्रिया होती है, ज्ञानसे भ्रमात्मक बन्धन भी कटते हैं तभी स्वतन्त्रता मिलती है। वैसे पूर्ण स्वतन्त्रता तो नित्य ज्ञानसे ही होती है। आवश्यकताकी प्रतीतिके साथ असाधारण सम्बन्ध रहता है। आत्मनियन्त्रण या बाह्य प्रकृतिपर नियन्त्रण स्वतन्त्रताकी मजिल है, सम्पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं। अन्योपर नियन्त्रण शासन कहलाता है, अत्मगत स्वतन्त्र नियन्त्रणादि ही स्वतन्त्रता है। यह भौतिकवादीके लिये आकाशकुसुम-तुल्य ही है।

स्वतन्त्रताका अवबोध

मार्क्सवादी कहते हैं कि “जनता जन्मतः ही स्वतन्त्र नहीं उत्पन्न होती, परंतु शनैः-शनैः स्वतन्त्रता उपार्जित कर लेती है। स्वतन्त्रता प्रकृतिपर प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये किये जानेवाले सघर्ष एव वर्गसंघर्षद्वारा उपार्जित एव विकसित की जाती है। समाजमें विभिन्न वर्गोंद्वारा वस्तुतः उपार्जित एव अधिकृत स्वतन्त्रता एव उस स्वतन्त्रताके बन्धन तत्तद्बर्गोंकी स्थिति एव उद्देश्योके अनुसार स्थूलतः एवं स्पष्टतः विभिन्न होते हैं। साररूपमें, स्वतन्त्रताका सघर्ष जनताका अपनी निजी आवश्यकताओकी पूर्ति या संतुष्टि करनेमें समर्थ हो जानेका सघर्ष है। मनुष्यजाति पशुस्थितिसे उठकर स्वतन्त्रताके अवबोधकी उस राजमार्गपर अनवरत गतिसे प्रगति कर रही है जो कि वर्गवादी समाजकी ओर ले जाता है। स्वतन्त्रताके विकासकी सीढियाँ नैतिकता (चरित्र या सदाचार) के विकासकी भी सीढियाँ हैं।”

पर स्वतन्त्रताका अवबोध भौतिकवादमें सम्भव ही नहीं। मनुष्य स्वतन्त्रताका उपार्जन करता है, फिर भी प्रभुत्व प्राप्त करना चाहता है, शासन-शक्ति प्राप्त करना चाहता है। पराधीनताराहित्य ही स्वतन्त्रता है। यह देहधारी पराधीन जीवके लिये सापेक्ष ही होती है। यो तो बकरीके गलेसे रस्सी खुल जानेपर बकरी भी स्वतन्त्र कही जा सकती है। परंतु यह स्वतन्त्रता कितनी है? बहुत छोटी-सी मजिल है। वस्तुतः देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धि आदि कार्यकारण-संघटन-सम्पर्कजनित आत्मनिष्ठ पारतन्त्र्यकी निवृत्ति ही स्वतन्त्रता है। तदर्थ ही विविध क्रियाओ एव ज्ञानोकी आवश्यकता होती है। आत्मा नित्य अखण्ड बोधरूप है। उसमें ही अनात्माका अध्यास एव तन्मूलक ही भ्रमात्मक बन्धन होता है। क्रियाओ, ज्ञानो एवं अन्तिम परम तत्त्व-विज्ञानसे इस बन्धनकी पूर्णतया निवृत्ति होती है, उसे ही मोक्ष कहा जाता है। उसके पहले भी जिसमे जितना अधिकाधिक ज्ञान-क्रिया-शक्ति व्यक्त होती है, उतनी ही उसमें स्वतन्त्रता एवं

शासनशक्ति व्यक्त होती है। सघर्ष जब विजयका जनक होता है, तब स्वतन्त्रता एव शासन-शक्तिका कारण बनता है। जब पराजयका कारण होता है, तब परतन्त्रताका भी कारण होता है। मार्क्सवादका 'वर्गसघर्ष' तो काकतालीयन्यायसे कहीं ही स्वतन्त्रताका कारण हो सकता है। अन्यथा तो अनर्थका ही कारण होता है; वस्तुतः वर्गसघर्ष मिटाकर वर्गप्रेम फैलाकर एक वर्गको दूसरे वर्गका पोषक बनानेसे ही अधिकांशमें अनर्थ-निवृत्ति एवं स्वतन्त्रता-प्राप्ति होती है। समन्वय-सामञ्जस्यकी स्थापनासे ही निराकुल समाज स्वधर्मनिष्ठा तथा उपासनाके द्वारा मनकी एकाग्रताका सम्पादन करके श्रवण-मनन-निदिध्यासन-क्रमसे परम तत्त्वका साक्षात्कार करके सर्वबन्धनविमुक्त होकर पूर्ण स्वतन्त्रता भी प्राप्त कर सकता है। आवश्यकताओंकी पूर्ति एव सतुष्टि भी विचार एव समयसे ही हो सकती है, केवल सघर्षसे नहीं। जैसे घृतकी आहुतिसे अग्निका प्रज्वलन बढ़ता ही जाता है, उसी तरह वस्तुओंकी प्राप्ति एवं संघर्षसे भी उत्तरोत्तर अमृतुष्टि बढ़ती जाती है। तृष्णा—कामनाका कभी अन्त नहीं होता। 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई' के अनुसार जैसे-जैसे लाभ बढ़ता है, वैसे-वैसे तृष्णा भी बढ़ती है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥

(मनु० २। ९४, विष्णुपु० ४। १०। २३; लिङ्गपु० ६७। १७, महा० १। ७५। ५७)

अभीष्ट पदार्थोंके उपभोगसे काम कभी भी प्रशान्त नहीं होता; किंतु घृताहुतिसे अग्नि-ज्वालाके समान वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाना है। रामराज्यके अनुसार सघर्षके स्थानपर समन्वय अपनातेसे ही सर्वत्र सुख-शान्ति सम्भव होती है—

सर्व नर करहिं परस्पर प्रीति । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीति ॥

भारतीय दर्शनमें ज्ञान-सिद्धान्त

‘काटके भी अनुभव और ज्ञान—दोनोंका भेद सिद्ध नहीं हो सकता। भारतीय दर्शनोके अनुसार अनुभवके ही भ्रम और प्रमा—ये दो भेद होते हैं। उसे ही ज्ञान भी कहते हैं। ‘सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्’ अर्थात् आहार-विहार, शब्द-प्रयोगादि सभी व्यवहारोका असाधारण कारण गुण ही बुद्धि है, वही ज्ञान भी है। ज्ञानके बिना कोई भी व्यवहार नहीं बन सकता, यह स्पष्ट ही है। शब्द—वाक्यादि प्रयोग भी बिना ज्ञानके नहीं बनता। घटादिका दण्डादि कारण सर्वव्यवहारका कारण नहीं है। कालादि सर्वकारण होते हुए भी असाधारण कारण नहीं है। इसीलिये बुद्धि या ज्ञानका यह लक्षण दण्डादि एव कालादिमें अतिव्याप्त नहीं है। वह बुद्धि या ज्ञान दो प्रकारका है—एक स्मृति और दूसरा अनुभव। इनमें सत्कारमात्र-जन्य ज्ञान ‘स्मृति’ कही जाती है और स्मृतिभिन्न ज्ञान अनुभव है। अनुभव भी

यथार्थ एव अयथार्थ—इस तरह दो प्रकारका होता है। तद्वान्में तत्प्रकारक ज्ञान 'यथार्थ' ज्ञान है। जैसे रजतमें रजतज्ञान और अतद्वान्में तत्प्रकारक ज्ञान 'अयथार्थ' है। जैसे शुक्तिमें रजत-ज्ञान यथार्थानुभव या प्रमा, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्दादि-भेदसे अनेक मतोंके अनुसार अनेक प्रकारका होता है। यथार्थानुभव या प्रमाके व्यापारवान् असाधारण कारणोंको 'प्रमाण' कहा जाता है। अयथार्थानुभव भी संशय, विपर्यय एवं तर्कभेदसे तीन प्रकारका होता है—एक घर्मीमें विरुद्ध नानाधर्म-वैशिष्ट्यबोधक ज्ञान 'संशय' है, जैसे कि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' अर्थात् वह स्थाणु है या पुरुष। मिथ्याज्ञान 'विपर्यय' है, जैसे कि शुक्तिमें रजत-ज्ञान। व्याप्यके आरोपसे व्यापकका आरोप तर्क है, जैसे कि यदि वहि न होगा तो धूम भी नहीं होगा। यहाँ वहिके अभावरूप व्याप्यके आरोपसे धूमाभावरूप व्यापकका आरोप किया जाता है। स्मृति भी प्रमाजन्य यथार्थ और अप्रमाजन्य अयथार्थ होती है।

सांख्यमतानुसार प्रकृतिका परिणाम बुद्धि स्वतन्त्र पदार्थ है। महत्तत्त्व या बुद्धि अव्यक्ततत्त्वसे उत्पन्न होती है। महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धिसे अहंकारकी उत्पत्ति होती है, बुद्धिद्वारा अध्यवसित निश्चित विषयमें 'मैं अधिकृत हूँ' इस प्रकारका अभिमान करनेवाला अहंकार है। उसी तरह अहंकारसे मन उत्पन्न होता है। इन्द्रियके द्वारा सम्बुद्धाकार पदार्थका संकल्प-विकल्प करना मनका काम है। पहले आलोचनात्मक ज्ञान होता है, उसके बाद सविकल्प ज्ञान होता है। इन्द्रियोंके द्वारा मनोव्यापारके पहले प्रतिपत्ताको प्रथम अविकल्पित वस्तुमात्रका ही ग्रहण होता है। उस समय सामान्य-विशेषरूपसे अनाकलित और अविविक्त विषयका ही ग्रहण होता है। प्रतिपत्ता मनके व्यापारसे फिर सामान्य-विशेषरूपसे वस्तुकी विकल्पना करता है। यह सांख्यो तथा भट्टपाद कुमारिल आदिकोंको सम्मत है। 'प्रथमं सविकल्पकप्रत्ययात् पुरा यद्वस्तुमात्रगोचरं बालमूकादिविज्ञान-समानं निर्विकल्पज्ञानमस्ति, तत्प्रतीति सिद्धमालोचनात्मकं ज्ञानमभ्युपेयम्, तदभावे सविकल्पकज्ञानानुपत्तेः।' निर्विकल्पक ज्ञानके उपरान्त बुद्धिके द्वारा नीलत्व घटत्वादिरूपसे विविक्त होकर जो गृहीत होता है, वही सविकल्पक ज्ञान है। एतावता केवल इन्द्रियसे उत्पन्न ज्ञान निर्विकल्पक एवं इन्द्रियसहकृत मनसे उत्पन्न ज्ञान सविकल्पकज्ञान है।

प्रभाकरके मतानुसार स्वप्रकाशज्ञान विषयरूपसे घटादिका प्रकाश करता है और आश्रयत्वेन आत्माका प्रकाशक होता है। अतः 'अहं जानामि' इस अंशमें अहं रूपसे आत्मा ही भासमान होता है। 'अहं' यह अनात्मा नहीं है। कहा जाता है कि "जैसे 'अयो दहति' (लोहपिण्ड दहन करता है) यहाँ वस्तुतः लौहपिण्डमें जैसे स्वतः दाहकत्व नहीं होता, वैसे ही 'अहं' में भी स्वतः शातृत्व नहीं हो सकता।" परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि शीतल लौहपिण्ड और दीप-ज्वालात्मक

दग्धा—दोनों जिस प्रकार विविक्तरूपसे उपलब्ध होते हैं, उस प्रकार अहंकार और ज्ञाताका कही भी विवेकेन उपलब्ध नहीं हो सकता। इसलिये आत्मा अहंकारास्पद है। वही सवित्का आश्रय होनेसे अपरोक्ष है। सांख्यवादी जड़ अन्तःकरणमें चित् प्रतिबिम्बको देखकर उसके कारणभूत तादृग्विम्बकी कल्पना वैसे ही करते हैं, जैसे दर्पणस्थ प्रतिबिम्बके आधारपर मुखका अनुमान किया जाता है। परंतु इन पक्षोंमें यदि आत्मा नित्यानुमेय है तो अपरोक्षावभास विरुद्ध है। नैयायिक आत्माको मानस प्रत्यक्षका विषय मानते हैं। मनका अन्वय-व्यतिरेक विषयानुभवसे ही गतार्थ हो जाता है। वस्तुतः विषयानुभवके आश्रयरूपसे जब आत्माकी सिद्धि हो सकती है, तब पृथक् आत्म विषयक ज्ञान मानना व्यर्थ ही है।

भट्टपादके मतानुसार आत्मा प्रत्यक्ष होनेसे घटवत् ज्ञानका विषय है। एकहीमें कर्म कर्तृविरोध होता है। परंतु यहाँ तो द्रव्याशमें प्रमेयता और बोधाशमें प्रमातृता है। उसमें भी प्रमेय-अंशमें प्रधानता और प्रमाता-अंशमें अप्रधानता रहती है। प्रभाकर इस पक्षका भी विरोध करते हैं। उनके मतानुसार अचेतन द्रव्याशको आत्मा नहीं कहा जा सकता। यदि बोधाशको ही कर्म कहा जाय तो कर्म-कर्तृविरोध होगा। बोध समकालमें ही प्रमेयरूपसे और प्रमातारूपसे परिणत हो नहीं सकता; क्योंकि वह नित्य है। यदि प्रधान आदिके समान वह परिणत हो, तो भी प्रमातृभागके स्वप्रकाश होनेसे सवित्के आश्रयरूपसे वह प्रतीत न हो सकेगा। ऐसी स्थितिसे अपसिद्धान्त भी होगा। विषयरूपसे प्रतीत होनेपर घटादिके समान प्रमातामें भी अनात्मताकी प्रसक्ति होगी। इसलिये सवित् आश्रयरूपसे ही आत्माका एव सवित्के विषयरूपसे घटादिका प्रत्यक्ष मानना चाहिये। प्रमिति स्वसत्तामें कभी भी अवेद्य होकर नहीं रहती।

उपर्युक्त प्रकारसे प्रभाकरका ज्ञान या सवित् स्वप्रकाश है। भट्टपादके अनुसार विषय प्राकट्यरूप ही बोध उत्पन्न होता है। बौद्धोका क्षणिक विज्ञान स्वतन्त्र है। उनमें सौत्रान्तिक ज्ञानमें विषयप्रतिबिम्ब देखकर उसके आधारपर और प्रतिबिम्ब विम्बपूर्वक होता है, इस आधारपर ज्ञाननिष्ठ विषयप्रतिबिम्बके बलपर विम्बरूप सत्य-विषयका अनुमान करते हैं। विज्ञानवादी 'विज्ञानरूप ही विषय है', यह मानकर विषयोकी अपरोक्षता मानते हैं। नैयायिकलोग मनःसंयुक्त आत्मामें प्रमितिरूप ज्ञानकी उत्पत्ति कहते हैं। वे ज्ञानविषयक ज्ञान मानते हैं। 'अयं घटः' यह ज्ञान व्यवसायात्मक होता है और 'ज्ञातो मया घटः' अथवा 'घटमहं जानामि' इस आकारका ज्ञान अनुव्यवसायात्मक कहा जाता है। उत्तरोत्तर ज्ञानोंसे पूर्व-पूर्व-ज्ञानोंका प्रामाण्य भी कहा जाता है। परंतु इस स्थितिमें पूर्व-पूर्व ज्ञानोंका अज्ञान भी मानना पड़ेगा, तभी अज्ञान-निवर्त्तरूपमें उत्तरोत्तर ज्ञानोंकी सार्थकता हो सक्ती

है। कोई भी प्रतीति स्वसत्ताकालमें प्रकाशहीन नहीं होती, अतएव घटादिके तुल्य उसे अवेद्य नहीं कहा जा सकता।

कुछ लोगोका कहना है कि 'जैसे घटादिरूप वेद्य होता है, वैसे ही प्रमाण-रूप आत्मव्यापारसे जायमान घटादिनिष्ठ प्राकट्य भी वेद्य हो सकता है।' यहाँ भी प्रश्न होता है कि 'वह आत्मव्यापार क्या है, परिस्पन्द या परिणाम?' प्रथम पक्ष इसलिये मान्य नहीं कि सर्वगत आत्मामें परिस्पन्द नहीं हो सकता। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि मृत्तिकाका परिणामभूत घट जैसे मृत्तिकामें ही रहता है, वैसे ही आत्म-परिणामभूत ज्ञान आत्मामें ही रहना चाहिये, उसकी विषय-निष्ठता नहीं हो सकती। कहा जाता है कि 'वालोके पकने (श्वेत होने) रूप परिणामसे जैसे शरीरमे वार्धक्य होता है, वैसे ही आत्मपरिणामसे विषयमें ज्ञानका प्राकट्य होता है।' इसपर भी विचारणीय यह है कि 'प्राकट्यका जो आश्रय है वह चेतन है या प्राकट्यका जो जनक है, वह चेतन है, अथवा प्राकट्यजनक ज्ञानाख्य व्यापारका आधार ही चेतन है?' यदि पहला पक्ष है, तब दो घटादि विषयको चेतन होना चाहिये; क्योंकि विषय ही प्राकट्यका आश्रय है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि चक्षुरादि भी प्राकट्यके जनक हैं; अतः वे ही चेतन कहे जायेंगे। तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि 'भोजनक्रियाजन्य तृप्ति-फल-सम्बन्धी देवदत्तके समान आत्मा ज्ञानक्रियाजन्य-फल-सम्बन्धी होनेसे ज्ञानक्रियावान् है', इत्यादि अनुमानके आधारपर आत्माकी ज्ञानाधारताका अनुमान करना पड़ेगा। परंतु आत्मामें फल-सम्बन्धका अभाव होनेसे हेतु असिद्ध है; क्योंकि प्राकट्यरूप फल विषयमे ही रहता है, आत्मामे नहीं। अतएव तार्किकों और भाट्टोंका मत ग्रहण न करके प्रमातृव्यापारप्रमाण एव प्रमाणफल-प्रमितिको स्वप्रकाश ही मानना उचित है। बौद्ध संवेदन (अनुभव) को ही प्रमाण और उसे ही प्रमाणफल मानते हैं। परंतु इस पक्षमे वही प्रमाण और वही प्रमाणफल होनेसे कर्म-कर्तृ-विरोध स्पष्ट ही है।

कहा जाता है कि 'यद्यपि प्रमाता आत्माका कोई व्यापार नहीं है, तथापि आत्मा, मन, चक्षु एवं विषयोका सनिकर्ष ही प्रमाणरूप होकर प्रमातृव्यापार-रूपसे उपचरित होता है। प्रमाणफल तो अव्यभिचारतरूपसे प्रामिति ही है। ज्ञान, उपादान, उपेक्षा व्यभिचरित होनेवाले हैं, अतः उन्हें प्रमाणफल नहीं कहा जा सकता।' इस तरह प्रभाकरका मत है कि 'स्वप्रकाश विषयसंवेदनके आश्रयरूपसे प्रदीपाश्रय-वर्त्तिकके तुल्य प्रकाशमान अहंकार आत्मा है, दृग् दृश्यका अन्योन्या-ध्यासरूप अहंकार नहीं।' परंतु वेदान्ती आत्माको अनुमवरूप ही मानते हैं। यहाँ विचारणीय यह है कि 'क्या आत्मा ही चित्प्रकाश है अथवा आत्मा और अनुभव—दोनों ही चित्प्रकाश हैं, अथवा केवल अनुभव ही चित्प्रकाश है और आत्मा छड़ ही है?' यदि आत्मा ही चित्प्रकाश है, तो 'क्या अनुभव चक्षुरादिके तुल्य

स्वयं अप्रकाशित रहकर ही विश्वको प्रकाशित करेगा या आलोकादिके तुल्य सजातीय प्रकाशान्तर निरपेक्ष प्रकाशमान होकर विषयका प्रकाशक होगा ?' पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षु तो स्वातिरिक्त अनुभवका जनक होता है। इस तरह अनुभव स्वातिरिक्त अनुभवका जनक नहीं है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभव सजातीय अनुभवान्तरकी अपेक्षा न करके ही प्रकाशमान होता है। इस तरह स्फुरण लक्षणयुक्त होनेसे अनुभव ही चित्रप्रकाश सिद्ध हो जाता है। यद्यपि अनुभव, चक्षु तथा आलोक—तीनों ही घटादिके व्यञ्जक हैं तथापि अनुभव विषयाज्ञानका विरोधी होनेसे चित्रप्रकाशरूप है। आलोक विषयगन तमका विरोधी होनेसे जड़ प्रकाशान्वयरूप है और चक्षु अपरोक्ष अनुभवका साक्षात् साधन होनेसे अज्ञात कारण है। इसपर भी कहा जाता है कि 'आलोकके तुल्य अनुभव सजातीय प्रकाशानपेक्ष है।' परंतु यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि आलोक भी अपने प्रकाशके लिये सजातीय चक्षुकी अपेक्षा रखता ही है, कारण आलोक स्वतः तमसे रहित है, अतः चक्षुका तमके निवारणमें उपयोग नहीं है। हाँ, चक्षुर्जन्य अनुभवके द्वारा आलोकका प्रकाश होता है। परंतु वह आलोकका विजातीय ही है, अतः आलोककी तरह सजातीयानपेक्ष अनुभवका चित्रप्रकाशरूप होना ठीक है। यदि इस प्रकाशको जड़ माना जाय, तो जगत्में अन्धता-प्रसक्ति हो जायगी। प्रमातृ-चैतन्य ही जडानुभवबलसे सबका अवभासन करता है। यदि आत्म-चैतन्यका विषयके साथ सम्बन्धमात्रके लिये जडानुभवका उपयोग है, तब तो यह वेदान्तका ही मत है। वृत्तिरूप अनुभव सम्बन्धार्थ या आवरणाभिभवार्थ ही होता है। कुछ लोग आत्म-चैतन्यसे पृथक् ही विषयकी अभिव्यक्तिके लिये जडानुभवजन्य अनुभवान्तर मानते हैं; परंतु वह अनुभव भी यदि जड़ है तो उसे भी अन्य अनुभव अपेक्षित होगा। इस तरह अनवस्था होगी।

'आत्मा और अनुभव दोनों ही चित्रप्रकाश हैं' यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह आत्मा और अनुभव दोनों ही अन्योन्य-निरपेक्ष सिद्ध होंगे, फिर उनका सम्बन्ध किसके द्वारा विदित होगा? दोनोंके ही अन्योन्यवार्तानभिज्ञ होनेके कारण दोनोंमेंसे कोई भी सम्बन्धग्राही नहीं हो सकता। कहा जा सकता है कि 'जैसे पुरुषान्तरका ज्ञान चिद्रूप होनेपर भी दूसरेको विदित नहीं होता, वैसे ही चिद्रूप होनेपर भी आत्मा स्वयं प्रकाशित नहीं होगा। इसलिये अनुभवाधीन ही आत्माकी सिद्धि होती है।' परंतु यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि तब तो यही आपत्ति अनुभवके सम्बन्धमें भी हो सकती है। यदि कहा जाय कि 'पुरुषान्तर संवेदनव्यवहित होता है, किंतु अपना अनुभव अव्यवहित है, अतः स्वप्रकाश है,' तो आत्माके सम्बन्धमें भी यही कहा जा सकता है। आत्मा चिद्रूप एवं अव्यवहित होनेसे अपने अनुभवके समान स्वयं ही प्रकाशित होता है।

‘अनुभव ही चित्प्रकाश है’ यह तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ‘आत्मा ही चित्प्रकाश है’ यह पक्ष मानना अनिवार्य है। कारण, आत्मा और अनुभवका अभेद ही है। ‘यह अनुभव आत्माका गुण है’ ऐसा तार्किक और प्रभाकर मानते हैं। ‘आत्मस्वरूप होनेसे द्रव्य ही अनुभव है’ यह साख्यमत है। ‘ज्ञान-परिणाम क्रियाका फल है तथा च क्रिया और फलमें अभेदकी विवक्षासे कर्म ही ज्ञान है’ यह भाट्टमत है। परंतु ज्ञानको कर्मरूप माननेसे गमनादि क्रियाके तुल्य ही उसमें प्रकाशरूपता और फलता नहीं बन सकती। द्रव्य होनेपर भी अनुभव यदि अणुपरिणाम हो, तब तो खद्योतके समान परिमित वस्तुके एक देशका ही प्रकाशक होगा, सम्पूर्ण वस्तुका प्रकाशक ज्ञान नहीं होगा। यदि अनुभव महत्परिमाण द्रव्य माना जाय, तब तो अनुभवस्वरूप आत्माका सर्वत्र अवभास होना चाहिये। यदि आत्मा महत्परिमाण अनुभवका आश्रय हो तो भी वही प्रसङ्ग रहेगा। यदि अनुभवको मध्यम परिमाण माना जाय तो उसे सावयव कहना पड़ेगा और फिर अनुभव अवयवोंके परतन्त्र होगा, आत्माधीन न रहेगा। यदि कहा जाय कि ‘जैसे भूतलपरिणाम घट भूतलाधीन होता है, वैसे ही आत्मपरिणाम अनुभव आत्मपराधीन होगा,’ तब भी प्रदीप एवं प्रकाशके समान आत्मा और अनुभवका अभेद ही कहना पड़ेगा। जैसे प्रदीपसे घटादि प्रकाशित होते हैं, वैसे ही ‘घटो मयावगतः’ (मैंने घट जाना) इत्यादि व्यवहार होता है। यदि आत्मा और चैतन्य या ज्ञानका भेद होगा तब तो ‘काष्ठेन प्रकाशितः’ (काष्ठके द्वारा प्रकाशित होता है) के समान ‘मयावगतम्’ यह प्रयोग भी औपचारिक ही समझा जायगा।

‘ज्ञान गुण है’ इस पक्षमें जैसे प्रदीपमें रहनेवाले भास्वरूपकी उत्पत्ति आश्रयकी उत्पत्तिसे भिन्न नहीं होती, वैसे ही अनुभवकी भी उत्पत्ति उसके आश्रयकी उत्पत्तिसे भिन्न नहीं होगी। ऐसी स्थितिमें आत्मा नित्य है, उसमें अनुभवका व्यभिचार कभी नहीं होता, अतः अनुभव और आत्मा दोनोंमें भेद नहीं है, किंतु अनुभवस्वरूप ही आत्मा है। यदि आत्माकी सिद्धि अनुभवके अधीन हो, तब तो घटादिके समान ही आत्मा भी अनात्मा ही ठहरेगा। कहा जा सकता है कि ‘नील-पीतादि अनुभव अनेक हैं, वे आत्मस्वरूप कैसे हो सकते हैं?’ परंतु अनुभवामें स्वरूपतः कोई भी भेद नहीं है। जैसे एक अनन्त आकाशमें घटादि उपाधिके भेदसे भेद प्रतीत होता है, वैसे ही नील-पीतादि विषय एव तदाकार बुद्धिवृत्त आदि उपाधिसे आकाशवत् अनन्त अखण्ड एक अनुभवमें औपाधिक भेद प्रातिभासित होते हैं। अनुभवके भेदमें कोई प्रमाण नहीं है। अनुभवका जन्म और विनाश भी अप्रामाणिक है, अतः ‘घटमें पाकके अनन्तर रक्तरूप उत्पन्न होनेपर रक्तानुभव उत्पन्न होता है। रक्तानुभवके पहले इयामरूपका अनुभव था, अब वह नहीं है,’ इत्यादि कथन ठीक नहीं हैं, क्योंकि भेदसिद्धि होनेपर जन्म-विनाश सिद्ध होगा और जन्म-विनाश सिद्ध होनेपर भेद-सिद्धि होगी। इस तरह अन्योन्याश्रय

दोषकी प्रसक्ति होती है। कुछ लोगोका कहना है कि 'चक्षुरादि साधनोंकी अर्थ-वृत्ताके लिये उत्तर सवित्का जन्म मानना आवश्यक है और एक कालमें दो सवित् नहीं रह सकतीं, अतः पूर्व सवित्का विनाश भी मानना चाहिये।' परतु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही सवित्के भिन्न-भिन्न विषयोंके साथ होनेवाले सम्बन्धोके ही उत्पत्ति-विनाशसे साधनोकी सार्थकता एव यौगपद्य (एककालिकता) की निवृत्ति बन जायगी।

बौद्धोका कहना है कि 'सविदोमें भेद रहता हुआ भी सादृश्यके कारण प्रतीत नहीं होता। नील-पीतादि विषयरूप उपाधिके ससर्गसे ही वह भेद प्रतीत होता है।' परतु यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्वालाएँ अन्यवेद्य हैं, उनमें भेदकी अप्रतीति हो सकती है, परतु स्वप्रकाश सवित्में होनेवाले भेदकी अप्रतीति नहीं बन सकती। कहा जा सकता है कि 'जैसे वेदान्तियोका स्वप्रकाश भी ब्रह्म अज्ञात रह सकता है, वैसे ही सवित्का भेद भी अप्रतीत रह सकता है।' परतु यह भी ठीक नहीं है। ब्रह्ममें अविद्याका आवरण प्रमाणसिद्ध है, अतः एक ही सवित् अनादि है, क्योंकि उसका प्रागभाव नहीं है। सुरेन्द्रराचार्यका कहना है कि प्रत्येक कार्य प्रागभावपूर्वक ही होता है। उस प्रागभावकी भी सिद्धि सवित्से ही होती है, अतः सवित्का प्रागभाव नहीं है। यदि सवित् न हो तो प्रागभाव ही मिद्ध नहीं हो सकता और जब सवित् है ही, तब उसका प्रागभावकैसे कहा जा सकता है? 'कार्य सर्वैर्यतो दृष्टं प्रागभावपुरस्सरम्। तस्यापि संवित्साक्षित्वात् प्रागभावो न संविदः॥' इस तरह स्वप्रकाशानुभव नित्य है, वही आत्मा भी है। आत्मा ही विषयोपाधिक होकर अनुभव कहलाता है। विषयोपाधिकी विवक्षा न होनेसे वही अनुभव आत्मा कहलाता है। जैसे वृक्ष ही समूहरूप उपाधिके कारण बन कहलाते हैं और उपाधि-विवक्षा न होनेसे वे ही वृक्ष कहलाते हैं। अतः प्रभाकरका यह कहना ठीक नहीं है कि 'अनुभवके आश्रयरूपसे आत्माका प्रकाश होता है।'।

कहा जाता है कि 'घटमह पश्यामि' यहाँ अहकार ही घटका द्रष्टा है वही आत्मा है। परतु यह ठीक नहीं है। यदि 'अह' ही आत्मा है, तब तो सुषुप्तिमें भी उसका स्फुरण होना चाहिये। परतु सुषुप्तिमें अहकी प्रतीति नहीं होती, अतः अहकार आत्मा नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि 'सुषुप्तिमें विषयानुभव नहीं होता, अतः अहकारकी भी प्रतीति नहीं होती।' यह कहना भी ठीक नहीं है। यहाँ यह विचारणीय है कि 'क्या सुषुप्तिमें अनुभव ही नहीं है अथवा विषय-सम्बन्धका ही अभाव है?' पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभव नित्य है, अतः उसका अभाव नहीं कहा जा सकता। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि विषय सम्बन्ध आत्मप्रतीतिका कारण नहीं है। कहा जाता है कि 'आत्माका द्रष्टृत्वरूप आकार ही अहकार है, द्रष्टृत्वकी प्रतीतिमें विषय सम्बन्ध आवश्यक

है ।' परंतु यह कहना भी ठीक नहीं है । यहाँ विचारणीय यह है कि 'द्रष्टृत्व क्या है ? क्या दृश्यका अवभासकत्व ही द्रष्टृत्व है अथवा दृश्यभिन्नता द्रष्टृता है किंवा चिन्मात्र ही द्रष्टृत्व है ? पहले और दूसरे पक्षमें दृश्यके ही द्वारा द्रष्टाका निरूपण होता है । दृश्यके आगन्तुक होनेसे द्रष्टा भी आगन्तुक ही होगा । तब वह आत्मा कैसे होगा ? अतः अहंकार आत्मा नहीं हो सकता । तीसरे पक्षमें तो दृश्यकी अपेक्षा ही नहीं रहती, अतः सुषुप्तिमें विषय न रहनेपर भी अहंकारका उपलम्भ होना चाहिये । 'सुषुप्तिमें अहंकी प्रतीति होती है' यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जैसे पूर्व दिनके अहंका स्मरण होता है, वैसे ही सुषुप्तिके भी अहंका उल्लेख होना चाहिये । यद्यपि जिसका अनुभव होता है उसका स्मरण होना अनिवार्य नहीं है । फिर भी जब आत्माका स्मरण होता ही है, तब चिद्रूप अहंकारका स्मरण होना ही चाहिये । कहा जा सकता है कि 'सुषुप्तिके अहंकारका भासक नित्य चैतन्यरूप अनुभव है । उसका विनाश न होनेसे संस्कार उत्पन्न नहीं होता, अतः स्मृति नहीं होती ।' परंतु तब तो पूर्व दिनके अहंकारका भी स्मरण न होना चाहिये । वेदान्तमतमें तो अहंकारावच्छिन्न चैतन्यसे ही अहंकारकी प्रतीति होती है । वह अनित्य ही है, अतः संस्कारोत्पत्ति तथा स्मरण बननेमें कोई आपत्ति नहीं । यदि कहा जाय कि 'सुषुप्तिके भी अहंकारका स्मरण होता ही है, अतएव 'सुखमहम-स्वाप्सम्' (मैं सुखपूर्वक सोया था) इस सुप्तोत्थितके स्मरणमें अहंकी प्रतीति होती है ।' इसपर तार्किकका कहना है कि 'यह स्मरण है ही नहीं, किंतु उत्थान-कालमें प्रतीत होनेवाले आत्मामें सुखोलक्षित दुःखाभावका अनुमान किया जाता है । मैं स्वप्न एव जागरितके बीचमें दुःखरहित था, क्योंकि उस बीचके दुःखका घटादिके समान कभी स्मरण नहीं होता ।'

मुख्य सुख सुषुप्तिमें हो नहीं सकता, अतः जैसे सिरका भार हटनेपर प्राणीको सुखका अनुभव होता है, वैसे ही सुषुप्तिमें दुःख न होनेसे सुखका व्यवहार होता है । कहा जा सकता है कि 'सुखका स्मरण होनेसे सुषुप्तिमें मुख्य ही सुख मानना ठीक है ।' परंतु फिर तो सामान्य विशेषनिष्ठ होता है, अतः भोजनसुख, पान-सुख आदि रूपसे विविष्ट सुखका भी स्मरण होना चाहिये । यदि कहा जाय कि 'उस विषयमें संस्कारका उद्बोध नहीं हुआ' तब भी 'सुखमहमस्वाप्सम्' के साथ 'नाहं किंचिदवेदिषम्' (मैं कुछ भी नहीं जानता था) यह ज्ञानाभावका परामर्श सुखानुभवका विरोधी है, अतः दुःखाभावमें ही सुखका व्यवहार मानना ठीक है । जो कहा जाता है कि 'सुप्तोत्थितमात्रका अङ्गलाघव, प्रसन्नवदनत्वादिसे पूर्वकालमें सुखानुभवका अनुमान होता है,' तो वह भी ठीक नहीं है । अनुभवके अनन्तर क्षणमें स्मरण ही हो सकता है फिर अनुमान व्यर्थ है । यह भी कहा जाता है कि 'तारतम्यरूपसे दृश्यमान अङ्गलाघवादि सातिगय स्वापसुखानुभवके बिना उपपन्न नहीं हो सकते । दुःखाभाव तो एक रूप ही होता है, अतः उस आधार-

पर अङ्गलाघवादिका तारतम्य नहीं बन सकता ।' परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतियोगिदुःखजनक करण-व्यापारोंके उपरमके तारतम्यसे अङ्गलाघवादिके तारतम्यकी प्रतीति होनेमें कोई भी बाधा नहीं है ।

वेदान्तसिद्धान्तानुसार तो स्वप्रकाश साक्षिचैतन्यस्वरूप ही आनन्द है । वह यद्यपि सर्वदा ही भासमान रहता है, फिर भी जाग्रत् एवं स्वप्नमें तीव्र वायु विक्षिप्त प्रदीपप्रभाके समान 'अहं मनुष्यः' इत्यादि मिथ्याज्ञानसे विक्षिप्त होनेके कारण स्पष्ट प्रतीत नहीं होता । परन्तु सुषुप्तिमें वह मिथ्या ज्ञान नहीं रहता, अतः वहाँ साक्षीरूप आनन्द स्पष्टरूपसे भासित होता है ।' आवरणभूत अविद्या ब्रह्मतत्त्वाकारका आच्छादन करती हुई भी स्वभासक साक्षिचैतन्याकारको नहीं ढकती । अन्यथा बिना साक्षीके तो अविद्या भी सिद्ध न हो सकेगी । अतः सुषुप्तिमें अनुभूत आनन्द, आत्मा एवं भावरूप अज्ञान, इन्हीं तीनोंका सुतोत्थितको 'मुखमहमस्वाप्सम्, नाहं किंचिदवेदिषम्' इस तरह स्मरण होता है । कहा जाता है कि 'इन तीनोंका अनुभव अन्तःकरणश्रुतियोंसे नहीं हो सकता, क्योंकि सुषुप्तिमें वृत्ति नहीं रहती । चैतन्यसे अनुभव हो सकता है, परन्तु वह अविनाशी होनेसे संस्कारका उत्पादक न होगा, अतः स्मरण नहीं बनेगा ।' परन्तु यह ठीक नहीं है । सुषुप्तिमें अविद्या-वृत्तिसे ही तीनोंका ग्रहण सम्भव है । अविद्या-श्रुत्यवच्छिन्न चैतन्यसे ही उक्त तीनों वस्तुओंका अनुभव होता है, उसीका नाश भी सम्भव है और संस्कार भी सम्भव है । उसी संस्कारसे स्मृति हो सकती है । कहा जाता है कि 'इस तरह तो अविद्या-विशिष्ट आत्मा अनुभविता होगी और अन्तःकरणविशिष्ट आत्मा स्मर्ता होगी, अतः वैयधिकरण्य होगा । अन्यके अनुभूतका अन्य स्मर्ता नहीं होता ।' परन्तु यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उत्थानकालमें भी अविद्याविशिष्ट ही आत्मा स्मर्ता है । स्मृत अर्थका शब्दानुविद्ध व्यवहार अन्तःकरणसे होता है ।

जो कहा जाता है कि 'मुखमस्वाप्सम् नावेदिषम्' यह ज्ञान दुःखाभाव एवं ज्ञानाभावको ही विषय करता है' वह ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिमें यद्यपि ज्ञानाभाव एवं दुःखाभाव रहता है, फिर भी उनका अनुभव नहीं होता, कारण सुषुप्तिमें उनके प्रतियोगी दुःख तथा ज्ञानका स्मरण नहीं रहता । प्रतियोगि-स्मरणके बिना अभावका ग्रहण असम्भव ही होता है । कहा जाता है कि 'तो फिर वेदान्त-पक्षमें भी सौपुत ज्ञानाभाव तथा दुःखाभावका अनुभव कैसे होगा ?' इसका समाधान अर्थापत्तिसे किया जाता है । उक्त रीतिसे सुषुप्तिके अविक्षित सुखका अनुस्मरण करके तद्विरोधी दुःखका अभाव प्रमित हो सकता है । परामृष्ट-भावरूप अज्ञानकी अन्यथा अनुपपत्तिसे अज्ञानविरोधी ज्ञानका अभाव निश्चित हो जाता है । कुछ लोग कहते हैं कि 'भावरूप अज्ञान ज्ञानके विरुद्ध नहीं है, क्योंकि जागरणकालमें ज्ञान और अज्ञान दोनों ही एक साथ रहते हैं ।' परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यद्यपि अज्ञानमात्रका प्रपञ्च-ज्ञानके साथ विरोध

नहीं है, तथापि विशेषाकाररूपसे परिणत अज्ञानका ज्ञानके साथ विरोध होता है। घटज्ञानाकारसे परिणत अज्ञान पटादि ज्ञानोसे विरुद्ध होता ही है। अन्यथा घट-ज्ञानकालमें पटादि सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित होना चाहिये। इस दृष्टिसे सुषुप्तावस्थाकारसे परिणत अज्ञानका अशेष विशेष ज्ञानोके साथ विरोध है ही; अतः अर्थापत्तिसे ज्ञानाभाव सिद्ध होगा। कुछ लोग प्रबोधकालमें ज्ञानका स्मरण होनेसे सुषुप्तिमें ज्ञानाभावका अनुमान करते हैं, परंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि मार्गस्थ तृणादिका भी स्मरण नहीं होता। फिर भी उनका अभाव नहीं कहा जा सकता।

कहा जाता है कि 'यदि स्मरण न होनेसे अभावका अनुमान नहीं हो सकता, तो अस्मर्यमाण होनेसे गृहमध्यमे प्रातःकाल गज नहीं था' यह अनुमान कैसे बनेगा?' परंतु यह कोई दोष नहीं है। वहाँ तो गृहमें कुसूलादि विविध पदार्थोंका अनुभव करके मध्याह्नमें उन्हीका स्मरण करके उनकी अन्यथानुपपत्तिसे प्रातः गजाभाव प्रमित होता है, अतः सुषुप्तिमें दुःखाभाव एवं ज्ञानाभाव अर्थापत्तिसे ही वेद्य होते हैं। भावरूप अज्ञान, आनन्द तथा आत्माका स्मरण होता है। फिर भी सुषुप्तिमें न अहंकारका अनुभव होता है और न तो उत्थितको उसका स्मरण ही होता है। 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस रूपसे स्मरणमें जो अहंका उल्लेख होता है, उसकी स्थिति यह है कि सुषुप्तिमें अहंकार अज्ञानमें विलीन हो जाता है। प्रबोधमें वह पुनः उद्भूत होता है। उत्पन्न होकर वही अहंकार स्मर्यमाण आत्माको स्पष्ट व्यवहारके लिये सविकल्पकरूपसे उपलक्षित करता है। अहंकार-वृत्तिका यही प्रयोजन भी है। इसीलिये आत्मा अहंवृत्तिको छोड़कर अन्य अन्तःकरणवृत्तियोसे कभी भी व्यवहृत नहीं होता। इसीलिये नैष्कर्म्य-सिद्धिकारका कहना है कि 'प्रत्यक्स्वरूप एवं अति सूक्ष्म होने तथा आत्मदृष्टिसे उसका अनुशीलन होनेसे घटपटाद्याकार अन्य वृत्तियोंको छोड़कर अहंवृत्तिसे ही आत्मा उपलक्षित होता है। अहंकार या तो आत्माके साथ ही व्याप्त होकर रहता है अथवा विलयको प्राप्त होता है। उसकी अन्य तीसरी अवस्था नहीं होती। इसीलिये अहंबुद्धिसे आत्माका सविकल्प बोध होता है।' इस तरह जाग्रत-स्वप्नमें आत्मरूपसे भासमान होनेपर भी अहंकार सुषुप्तिमें नहीं रहता, अतः वह स्वप्रकाश आत्माका स्वरूप नहीं है। अहंकार परमेश्वराधिष्ठित स्वविद्यासे ही उत्पन्न होता है। ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति उसका स्वरूप है। कूटस्थ चैतन्यसे ही उसकी सिद्धि होती है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि उसके कार्य हैं। सुषुप्तिमें अन्तःकरणका प्रलय हो जाता है, अतः वह वहाँ नहीं रहता। यद्यपि क्रियाशक्तिरूप प्राण सुषुप्तिमें भी रहता है, तथापि प्राण अहंकारसे भिन्न है, अतः अहंकारके लयमें कोई विरोध नहीं है। यदि प्राण अन्तःकरणका ही अंश माना जाय, तो यह मानना चाहिये कि प्राणागको छोड़कर अवशिष्ट अन्तःकरणका सुषुप्तिमें लय होता है।

दृष्टि सृष्टि-प्रक्रम तो मुन पुरुषके प्रति सभीका मुख्य प्रलय ही होता है । जो लोग स्वतन्त्र अचेतन प्रकृति आदिको ही महत्त्व, अहत्तत्त्व आदि सब प्रपञ्चका उपादान मानते हैं, परमेश्वराविष्टित अविद्याको नहीं, उनके यहाँ सब वस्तुएँ इदरूपमे ही ग्रहीत होनी चाहिये । 'अयं कर्ता अयं भोक्ता' (यह कर्ता है, यह भोक्ता है) इस रूपसे प्रतीति होनी चाहिये, 'अहं कर्ता अहं भोक्ता' (मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ) इस प्रकारसे नहीं । ऐसी प्रतीति तो सभी बन सकती है, जब सभी वस्तुएँ आत्मामें अव्यस्त हों ।

नैयायिक अणुपरिमाण मनको इन्द्रिय मानते हैं । उसीको सुख-दुःख, इच्छा ज्ञानका निमित्तकारण मानते हैं । इस मनके बिना आत्मा इन्द्रिय तथा विषयके संयुक्त होनेपर भी एक कालमें अनेक ज्ञान नहीं होते । मन अणु है, अतः एक कालमें अनेक इन्द्रियोंमें संयुक्त नहीं हो सकता । जिस समय वह जिस इन्द्रिय-से ससृष्ट होता है, उस समय उसी विषयका ज्ञान होता है । इसीलिये एक कालावच्छेदेन दो ज्ञानकी उत्पत्ति न होना ही मनका चिह्न है । 'युगमज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (न्यायदर्शन ० १ । १ । १६) यह कहा गया है । मनसे भिन्न मन्त्रम परिमाण अन्तःकरण नैयायिकोंको मान्य नहीं है । उनके मतानुसार मनके द्वारा सर्वगत आत्मामें समवायसम्बन्धमे ज्ञान-गुणकी उत्पत्ति होती है । आत्मा यद्यपि ज्ञानाश्रय है और वह सर्वगत है तथापि निरवयव होनेसे उसका सर्वमयोग सम्भव नहीं है, अतः युगपत् (एक साथ) सर्वप्रकाश नहीं होगा । किरारूप या गुणरूप ज्ञानका-स्वाश्रयका उल्लङ्घन करके—अन्यत्र सयोग सम्भव नहीं है, अतः उस ज्ञानसे किसी भी वस्तुका प्रकाश न होना चाहिये । यदि ज्ञान बिना असर्गके अससृष्टका ही ग्रहण करे तो अतिप्रसङ्ग होगा, अर्थात् असर्ग समान होनेसे किसी भी वस्तुका ग्रहण होना चाहिये । 'शरीरावच्छिन्न आत्मप्रदेशसमवायी ज्ञान होता है' इस पक्षमें भी विचारणीय है कि यदि प्रदेश आत्माका स्वाभाविक धर्म है, तब तो आत्मामें सावयवत्वापत्ति होगी । यदि प्रदेश औपाधिक है तो भी ज्ञान तत्प्रदेश-संयुक्त वस्तुका ही ग्राहक है, अतः देहादिसे बाह्य घटादिका प्रकाश न होना चाहिये । यदि ज्ञान बाह्यात्मप्रदेश-संयुक्त वस्तुका भी ग्राहक है, तो फिर सभी बाह्य वस्तुएँ बाह्यात्मप्रदेशसंयुक्त हैं ही, अतः सबका ही ग्रहण होना चाहिये । कुछ लोगोका यह भी कहना है कि 'ज्ञानाधार आत्मामें मन संयुक्त होता है, मनमे इन्द्रिय संयुक्त होती है और इन्द्रियमें विषय संयुक्त होता है । इस तरहकी सयोग-परम्परासे वस्तुका बोध होता है ।' परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह परम्परा तो ज्ञानोत्पादनमे ही उपयुक्त होती है । ज्ञान उत्पन्न होनेके बाद भी यदि सयोगपरम्परासे विषयका प्रकाश हो तब तो विषयसंयुक्त, तत्संयुक्तादिरूपसे अवस्थित सभी जगत्का प्रकाश होना चाहिये ।

वेदान्त-मतानुसार सर्वगत चिदात्माको आवृत करके स्थित भावरूप अविद्या ही सम्पूर्ण जगत्के आकारमे स्थित होनी है । शरीरके मध्यमें अविद्याविवर्त्त

अन्तःकरण रहता है। इसीकी सूक्ष्म पञ्चभूतोंके समष्टि सात्त्विक अंशसे भी उत्पत्ति मानी जाती है। वही धर्माधर्मसे प्रेरित होकर नेत्रादि इन्द्रियोद्धार निकलकर घटादि विषयोको व्याप्त होकर तत्तद्-विषयोके आकारसे आकारित होता है। जैसे पूर्ण सरोवरका जल सेतुच्छिद्रके द्वारा निकलकर कुल्याप्रवाहरूप (नहर-नालियो) से खेतोंमें पहुँचकर तदाकार हो जाता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिये। फिर भी जलके समान अन्तःकरण बहता नहीं है, किंतु सूर्यरश्मिके तुल्य ही है। तैजस होनेसे अन्तःकरण दीर्घ प्रभाकारसे परिणत होता है और रश्मिमें समान ही सहसा उसका संकोच भी उपपन्न होता है। अन्तःकरण सावयव है, अतः उसका परिणाम उपपन्न होता है। वह अन्तःकरण घटाद्याकारसे परिणत होकर देहके भीतर और घटादिमें व्याप्त होकर देह एवं घटादिके मध्यमें दण्डायमान अविच्छिन्नरूपसे अवस्थित रहता है। देहावच्छिन्न अन्तःकरणका भाग 'अहंकार' एवं 'कर्ता' कहा जाता है। मध्यवर्ती दण्डायमान अन्तःकरणका भाग 'धृत्तिज्ञान' नामकी क्रिया कही जाती है। विषयव्यापक भाग विषयको ज्ञानका कर्म बनानेवाला अभिव्यक्ति योग्य कहा जाता है। वह तीनों ही भागवाला अन्तःकरण अतिस्वच्छ होता है, अतः उसमें स्वच्छ काँचपर सौर प्रकाशके समान आत्म-चैतन्य अभिव्यक्त होता है। अभिव्यक्त चैतन्य यद्यपि एक ही है, तथापि अभिव्यक्तके त्रैविध्यसे उसमें त्रिधा व्यवहार होता है। कर्तृभागावच्छिन्न चिदश 'प्रमाता', क्रियाभागावच्छिन्न चिदश 'प्रमाण' और विषयगत योग्यत्वभागावच्छिन्न चिदश 'प्रमिति' कहलाता है। तीनों ही भागोंमें अनुगत एकाकार अन्तःकरणमें प्रमातृ-प्रमेय-सम्बन्धरूप 'भयेदमवगतम्' (मैंने इसे जाना) यह विशिष्ट व्यवहार बनता है। व्यङ्ग्य चैतन्य एवं व्यञ्जक अन्तःकरणका ऐक्याध्यास होनेसे अन्योन्यमें अन्योन्य-धर्मका व्यवहार भी सङ्गत है। प्रकाशरूप होनेसे या प्रकाशसंसृष्ट होनेसे ही वस्तुओका प्रकाश होता है। सूर्यादि प्रकाशरूप होनेसे प्रकाशित होते हैं। घटादि प्रकाशससर्ग होनेसे प्रकाशित होते हैं। वैसे ही आत्मचैतन्य या अखण्ड बोध अथवा नित्यज्ञान प्रकाशरूप होनेसे एवं अन्य वस्तुएँ तत्संसर्ग होनेसे प्रकाशित होती हैं। चैतन्यका विषयके साथ संयोग, समवायादि सम्बन्ध नहीं होता, किंतु आध्यासिक ही संसर्ग होता है। जैसे रज्जुमें सर्पका अध्यास होता है, वैसे ही चैतन्यमें प्रपञ्चका अध्यास है। अतः अधिष्ठान चैतन्यमें प्रपञ्च अध्यस्त है। उसी चैतन्यसे प्रपञ्चका प्रकाश होता है। किंतु वह चैतन्य अविघ्नाशोंसे ढका रहता है। उन्हीं आवरणांगोंके हटानेके लिये प्रमाता-प्रमाणादिका व्यापार होता है। घटादिकी प्रत्यक्षतामें आलोक, चक्षु, मन आदिकी आवश्यकता पड़ती है। आलोककी अपरोक्षताके लिये अन्य आलोक अपेक्षित नहीं होता। चक्षुके ज्ञानमें दूसरे चक्षु आदिकी अपेक्षा नहीं होती। सर्वविज्ञाता, प्रमाता या ज्ञानको अपने प्रकाशके लिये अन्यकी अपेक्षा नहीं होती। सर्वसाक्षी

प्रमाताका भी प्रकाशक अखण्डभान साक्षात् अपरोक्ष कहा जाता है। दो उपाधियोंके एकत्रित होनेसे दो उपहितोंका भी अभेद हो जाता है। जैसे घट और मठ एकत्रित होनेसे घटाकाश और मठाकाश दोनों एक ही हो जाते हैं, वैसे ही जहाँ अन्तःकरण विषय-प्रदेशपर इन्द्रियादिद्वारा जाता है वहाँ विषय एवं अन्तःकरण दोनों उपाधियाँ एकत्रित होनेसे विषयावच्छिन्न चैतन्य और वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य एक हो जाते हैं। इसीको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। जहाँ अन्तःकरणवृत्ति विषयसे सम्पृष्ट नहीं होती, वहाँ परोक्ष ज्ञान होता है और अन्तःकरण तथा विषय दोनों एकत्रित होनेसे अन्तःकरणावच्छिन्न एवं विषयावच्छिन्न चैतन्यकी एकता हो जाती है। उस समय विषयावच्छिन्न चैतन्यमें अव्यक्त विषय विषयावच्छिन्न चैतन्याभिन्न अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमातृचैतन्यमें भी अव्यक्त समझा जाता है। इसीलिये प्रमातृ चैतन्यसे विषयका अपरोक्षज्ञान होता है।

इसपर शङ्का होती है कि 'अन्तःकरणसे चैतन्यकी अभिव्यक्ति क्या है? यदि आवरण-विनाश, तब तो घटज्ञानसे ही मोक्ष हो जाना चाहिये, क्योंकि वेदान्त-मतमें आवरण-विनाश ही मोक्ष है। यदि अभिव्यक्ति आत्मगत अतिशय-विशेष है तब तो सातिशय आत्मा विकारी ही होगा।' परन्तु इसका समाधान यह है कि आवरणाभिभव ही अभिव्यक्ति है। एतावता निरावरण चैतन्यसे विषयका प्रकाश होता है। कहा जाता है कि 'चैतन्य सर्वगत है, फिर स्वसम्पृष्ट सर्वभासक होनेसे प्रतिकर्म-व्यवस्था नहीं होगी। प्रमाण-प्रमेयादि व्यवहार ही प्रतिकर्म-व्यवस्था है। परन्तु यह दोष नहीं है। 'जो सुख-दुःखादि एक पुरुषसे अनुभूत होते हैं, वे क्या सभी पुरुषोंको अनुभूत होने चाहिये, क्योंकि चैतन्य एक ही है?' यह आपत्ति है अथवा यह कि 'देवदत्त जिस समय घटका अनुभव करता है, उसी समय सम्पूर्ण जगत्का अनुभव होना चाहिये। क्योंकि देवदत्तका चैतन्य सर्वगत है।' पहली आपत्ति इसलिये सङ्गत नहीं है कि केवल चैतन्य अनुभवका हेतु नहीं है, क्योंकि वह अविद्यासे आवृत है, किन्तु अन्तःकरणद्वारा अभिव्यक्त चैतन्यसे ही विषयोंका अनुभव होता है। वह अन्तःकरण प्रतिपुरुष भिन्न है, अतः जिस पुरुषके अन्तःकरणसे अभिव्यक्त चैतन्यद्वारा जिस विषयका सम्पर्क होता है, उसीको उसका ज्ञान होता है। दूसरी आपत्ति भी ठीक नहीं है; क्योंकि परिच्छिन्न अन्तःकरणसे अभिव्यक्त चैतन्यका युगपत् सम्पूर्ण जगत्से सम्बन्ध नहीं होता, अतः सर्वाविभासका प्रसङ्ग ही नहीं है। अतः प्रतिकर्म-व्यवस्थामें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

कहा जाता है कि 'परिच्छिन्न अन्तःकरणका भी सूर्यरश्मिवत् सर्वव्यापी परिणाम होगा।' परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि पुण्य-पाप, नेत्र-श्रोत्र आदिके रूपसे अन्तःकरणके परिणामकी सामग्री प्रतिविषयमें निश्चित है, अतः परिणाममें भी व्यवस्था ही सिद्ध होगी। जो कोई योगाभ्यासद्वारा अन्तःकरणकी सर्वव्यापी परिणाम-सामग्री सम्पादन कर लेता है, वह सर्वज्ञता हो ही सकता है। यहाँ भी

शङ्का होती है कि 'क्या चैतन्यके असङ्ग होनेके कारण स्वतः विषयोपराग असम्भव होनेसे विषयोपरागके लिये अन्तःकरण-उपाधि अपेक्षित है अथवा उपराग होने-पर भी विषय प्रकाश-सिद्धिके लिये अन्तःकरण-उपाधि मान्य है ?' पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि असङ्गी होनेसे अन्तःकरणोपाधिपर भी चैतन्यका उपराग सम्भव नहीं है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि चित् सम्बन्धसे ही प्रकाश सिद्ध होता है, फिर उपाधि व्यर्थ है। तब तो उपाधि-परित्यागसे सर्वगत चैतन्यसे संयुक्त सर्ववस्तु-का प्रकाश होना ही चाहिये। इसी प्रकार यह समाधान भी पर्याप्त नहीं है कि 'प्रति-बिम्बभूत जीव चैतन्य परिच्छिन्न होनेसे सर्वभासक नहीं हो सकता।' बिम्बभूत ईश्वरकी सर्वज्ञता मान्य ही है। यद्यपि जीव-ब्रह्मका अद्वैतवेदान्तमें भेद मान्य नहीं है, तथापि व्यावहारिक अल्पज्ञता-सर्वज्ञता आदिका भेद तो है ही; क्योंकि विषयका अनुभव ब्रह्मचैतन्यरूप है। जीवमें सर्वज्ञताके समान ही अल्पज्ञता भी नहीं बन सकेगी। यदि कहा जाय कि 'जीवोपाधि अन्तःकरणका चक्षुः आदिद्वारा विषयसम्बन्ध होता है, अतः जीव विषयोका ज्ञाता हो सकेगा' सो भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि अन्तःकरणसे सृष्ट होनेसे जीव ज्ञाता हो तब तो जीवको सदा ही ब्रह्मस्वरूपका भी ज्ञाता होना चाहिये, क्योंकि सर्वगत ब्रह्मका अन्तःकरणके साथ ससर्ग है ही। यदि कहा जाय कि 'अविद्योपाधिक ही जीव सर्वगत है और वह सभी जगत्को प्रकाशित कर सकता है फिर भी वह अविद्यासे आवृत होनेके कारण स्वयं भी अप्रकाशमान रहता है, अतएव 'अहमज्ञः' ऐसा अनुभव होता है। अविद्या यद्यपि परिच्छिन्न है, फिर भी वह सर्वगत चैतन्यका तिरोधान करती है। नेत्रके समीपमें धारित अङ्गुलिमात्रमें महान् आदित्यादिका भी तिरोधान होता ही है। इस दृष्टिसे जहाँ अन्तःकरणका उपराग (सम्बन्ध) होता है, वही अविद्या-आवरणका अभिभव होता है। वहाँ ही अभिव्यक्त चैतन्यसे किंचित् अशका ही प्रकाश होता है।' परंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि अविद्याकार्यभूत अन्तःकरणसे अविद्याका अभिभव असम्भव है। इसलिये प्रतिकर्म-व्यवस्था नहीं बन सकती।

इन सब बातोंका वेदान्तीय समाधान यह है कि जीव चैतन्य असङ्ग होनेसे यद्यपि अन्यसम्बन्धित नहीं होता, तथापि अन्तःकरणसे उसका सम्बन्ध होता है; क्योंकि अन्तःकरणका ऐसा ही स्वभाव है। जैसे सर्वगत भी गोत्वजाति सास्त्रादि (गल-कम्बलादि) मती गो-व्यक्तिमें ही सम्बन्धित होती है, अन्यत्र नहीं, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिये। अथवा जैसे प्रदीप-प्रभा रूप, रस, गन्ध, वायु आदि प्रदेशोंमें व्याप्त होनेपर भी रूपको ही प्रकाशित करती है, अन्यको नहीं, वैसे ही अन्तःकरण-उपाधि चैतन्यसे विषयोपराग-सिद्धिके लिये सङ्गत होगी। उपरागके बिना चित्प्रकाश विषयोंका प्रकाश नहीं कर सकता। जैसे प्रदीप-प्रकाश स्वसंयुक्त-का ही द्योतक होता है, वैसे ही चैतन्य भी स्वोपरक्तका ही प्रकाशन कर सकता है। ब्रह्म सर्वप्रपञ्चका उपादान कारण है, अतः औपाधिक उपरागके बिना ही स्वस्वरूप-

के समान ही स्वाभिन्न सर्वजगत्का प्रकाशन करता है। जीव ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि वह प्रपञ्चका उपादान नहीं है।

कहा जा सकता है कि 'जब जीव स्वतः अवभासक नहीं है, तब घटादिके समान ही अन्य सम्बन्धसे भी प्रकाशक नहीं हो सकता।' परन्तु यह ठीक नहीं। केवल लौह तृणादिका दाहक न होनेपर भी लौहपिण्डपर व्यक्त अग्नि जैसे तृणादिका दाहक होता है, वैसे ही असङ्ग-साक्षी चैतन्य विषयोंका प्रकाशक न होनेपर भी अन्तःकरणवशात् निरावरण होकर विषयोंका प्रकाशक होगा। जिस पक्षमें अन्तःकरणस्थ चित्प्रतिबिम्ब ही जीव है, तब तो परिच्छिन्न होनेसे सुतरा प्रतिकर्म व्यवस्था उपपन्न होगी। भले ही विषयानुभव ब्रह्म-चैतन्य हो, फिर भी जीवोपाधिभूत अन्तःकरणका वृत्तिरूप परिणाम जबतक विषयकार नहीं होता, तबतक वह अव्यक्त ही रहता है। विषयकार अन्तःकरणवृत्तिपर अभिव्यक्त चैतन्यको जीव-चैतन्य भी कहनेमें कोई विरोध नहीं है। ब्रह्मके अन्तःकरण-समृद्ध होनेपर भी ब्रह्माकार अन्तःकरण वृत्ति न होनेसे जीवको सदा ब्रह्म ज्ञान-प्रसङ्ग नहीं आता। अन्तःकरणस्वरूप मात्र वस्तुका व्यञ्जक नहीं होता, किन्तु तत्तद्ब्रह्मस्वाकार-अन्तःकरणके परिणाम ही उन-उन वस्तुओंके व्यञ्जक होते हैं। अतएव तदाकार-वृत्ति न होनेसे ही अन्तःकरणमें ही रहनेवाले धर्मादिकी अभिव्यक्ति नहीं होती। जीव भी जीवाकार अहवृत्तिरूपसे परिणत अन्तःकरणमें ही अभिव्यक्त होता है, अन्तःकरणमात्रमें नहीं। इसीलिये सुषुप्तिमें अहवृत्ति न होनेसे जीवकी भी प्रतीति नहीं होती। इस तरह अन्तःकरण प्रतिबिम्ब जीवत्व-पक्षमें भी सब व्यवस्था बन जाती है।

जिस पक्षमें अविद्योपाधिक सर्वगत जीव है, उस पक्षमें भी आवरणतिरोधायक अन्तःकरणसे सब व्यवस्था बनती है। जैसे, गोमय-कार्य वृश्चिक एवं मृदादि-कार्य वृक्ष अपने कारण गोमय तथा मृदादिके तिरोधायक होते हैं, वैसे ही अविद्या-कार्य अन्तःकरण भी अविद्याका तिरोधायक बन जाता है। वृश्चिक-शरीरमें गोमयके और वृक्ष-शरीरमें मृदादिके किंचित् भी अशकी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। इस तरह वेदान्तमतमें प्रमात्रादि व्यवहार ठीक सम्पन्न हो जाते हैं। चिदुपरागके लिये अथवा विषय चैतन्याभेदकी अभिव्यक्तिके लिये या आवरणाभिभवके लिये वृत्तिका उपयोग हो सकता है। वृत्तिके द्वारा चैतन्य तथा विषयका विषय विषयिभाव सम्बन्ध होता है। कुछ लोग विषयसयुक्त वृत्तिके तादात्म्यसम्बन्धसे चैतन्यद्वारा विषयका प्रकाश मानते हैं। अन्य लोगोंका मत है कि अपरोक्ष जीव-चैतन्यके साथ साक्षात् सम्बन्धसे ही सुखादिका साक्षात्कार होता है, अतः परम्परासम्बन्ध ग्रहण न करके साक्षात् सम्बन्ध ही ग्रहण करना चाहिये। इसलिये जैसे तरङ्ग और तरुके ससर्गमें तरुमें नदी-स्पर्श माना जाता है, वैसे ही विषयवृत्ति-ससर्गसे जीव-विषय-ससर्ग भी मान्य

है। जैसे कारणाकारण-संयोगसे कार्याकार्य संयोग होता है, वैसे ही कार्याकार्य-संयोगसे कारणाकारण-संयोग भी होता है; अर्थात् नैयायिक लोग जैसे हस्त एवं वृक्षके संयोगसे देह-वृक्षका संयोग मानते हैं, हस्त अवयव होनेसे शरीरका कारण है, वृक्ष शरीरका अकारण है। कारण (हस्त) तथा अकारण (वृक्ष) के संयोगसे कार्य (शरीर) तथा अकार्य (वृक्ष) का सम्बन्ध मान्य है, वैसे ही वृत्ति जीव-चैतन्यका कार्य है और विषय अकार्य है, अतः कार्य (वृत्ति) तथा अकार्य (विषय) संयोगसे कारण (जीव-चैतन्य) और अकारण (विषय) का भी सम्बन्ध बन जायगा। इस तरह वृत्तिद्वारा जीव-चैतन्यका विषयके साथ साक्षात् सम्बन्ध बन जाता है।

कुछ लोगोंका यह भी मत है कि 'अन्तःकरणोपहित विषयावभासक चैतन्यका विषयतादात्म्यापन्न ब्रह्म-चैतन्यके साथ अभेदाभिव्यक्तिद्वारा विषयतादात्म्य-सम्पादन ही चिदुपराग है।' इस पक्षमें विषयकी अपरोक्षतामें आध्यासिक सम्बन्ध ही मुख्य कारण है। वृत्तिद्वारा अभेद व्यक्त होनेपर विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य एक ही हो जाता है, अतः विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यमें अध्यस्त विषय-विषयावच्छिन्न चैतन्याभिन्न अन्तःकरणवच्छिन्न चैतन्यरूप जीवचैतन्यमें भी अध्यस्त समझा जा सकता है। अभेदाभिव्यक्ति क्या है, इसपर कुछ लोगोका कहना है कि 'जैसे कुल्याद्वारा तड़ाग एवं केदारसलिलकी एकता होती है, वैसे ही वृत्तिद्वारा विषय एवं अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यकी एकता होती है। यद्यपि विषयावच्छिन्न चैतन्य ब्रह्मचैतन्य ही है और वही विषय-प्रकाशक है, तथापि वृत्तिद्वारा जीव-चैतन्यके साथ अभेद होनेसे उसमें जीवत्व सम्पन्न हो जाता है, इसलिये जीव विषयका प्रकाशक बन सकता है।' दूसरे लोग कहते हैं कि 'विम्बस्थानीय विषयावच्छिन्न चैतन्य ब्रह्मके साथ प्रतिविम्बभूत जीवकी (अभेदाभिव्यक्ति) नहीं होती। व्यावर्तक-उपाधिदर्पणके समान जबतक बनी है तबतक उपहितोंकी एकता नहीं हो सकती। जबतक दर्पण है तबतक विम्ब-प्रतिविम्बभाव रहेगा ही। इसी तरह अन्तःकरणादि उपाधि जबतक है तबतक जीव ईश्वरभाव रहेगा ही। फिर ब्रह्मचैतन्यका जीवचैतन्य बनना असम्भव ही रहेगा। यदि वृत्तिकृत अभेदकी अभिव्यक्तिसे विषयावच्छिन्न ब्रह्म जीव हो जायगा, तब तो ब्रह्मका विषय-संसर्ग न रहनेसे ब्रह्म उस विषयका ज्ञाता न रहेगा। फिर उसकी सर्वशता बाधित होगी। अतः विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य विषयससृष्ट वृत्तिके अग्रभागमें विषयप्रकाशक प्रतिविम्बका समर्पण करता है। उसी प्रतिविम्बका जीवके साथ एकीभाव होता है। इसी तरह अन्तःकरण, वृत्ति तथा विषयोसे अवच्छिन्न चैतन्योंमें क्रमेण प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय-व्यवहार असंकररूपसे सम्पन्न होगा।

कहा जा सकता है कि 'वृत्तिसे उपहित चैतन्य विषय-प्रमा होगी, उसका विषयाधिष्ठान चैतन्यके समान विषयके साथ आध्यासिक सम्बन्ध नहीं होगा।

फिर विषय की अपरोक्षतामें आध्यासिक सम्बन्ध प्रयोजक है, यह सिद्धान्त असङ्गत हो जायगा ।' परतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि विषयसे अविच्छिन्न विषयाधिष्ठान चैतन्य ही वृत्तिमें प्रतिबिम्बित है । इस दृष्टिसे अभेद उपपन्न होता है । कुछ लोग विषयाधिष्ठान-चैतन्यसे ही विषयका साक्षात् आध्यासिक सम्बन्ध होनेसे विम्बभूत ब्रह्मचैतन्यको ही विषयप्रकाशक मानते हैं, किंतु विम्बत्वादि विगिष्टरूपसे उसका भेद होनेपर भी विम्बत्वोपलक्षितरूपसे एकीभाव ही अभेदाभिव्यक्ति है । विम्बादिरूपमें भेद बना ही रहता है । अतः जीवब्रह्मके साकर्यमें एव ब्रह्मकी सर्वज्ञतामें विरोध आदि नहीं । इसी तरह 'वृत्तिसे आवरणका अभिभव होता है, इस पक्षमें भी विचारणीय है कि आवरणाभिभव क्या है ? यदि अज्ञाननाश ही आवरणाभिभव माना जाय तब तो घटज्ञानसे अज्ञानका नाश होगा और अज्ञान-मूलक प्रपञ्चकी ही निवृत्ति हो जायगी । कुछ लोगोंके मतमें चैतन्यमात्रके आवरक अज्ञानका विषयावच्छिन्न-प्रदेशमें ज्ञानसे एकदेशेन नाश उसी तरह होता है जिस तरह महान्धकारमें खद्योत-प्रकाशसे एकदेशेन अन्धकारका नाश होता है । अतः घटज्ञानसे विषयप्रदेशस्थ अज्ञानके एकदेशका ही नाश होगा, सम्पूर्ण अज्ञानका नहीं, अतः प्रपञ्च-निवृत्तिका प्रसङ्ग नहीं होगा । अथवा ज्ञानसे विषयाज्ञानका कट (चटाई) के समान सवेष्टन या सकोच हो जाता है, यही आवरणाभिभव है, अथवा रणमें भीत भट (योद्धा) के पलायनके समान ज्ञानसे विषयावच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अज्ञान हट जाता है, यही आवरणाभिभव है । अन्य लोगोंका कहना है कि 'अज्ञानका एकदेशसे नाश होनेसे उपादान न रहनेसे विषयावच्छिन्न चैतन्य-प्रदेशमें फिर आवरणकी उत्पत्ति न होगी । अतएव मानना यह चाहिये कि चैतन्यमात्रके आवरक अज्ञानका तत्तदाकारवृत्ति सस्पृष्ट अवस्थावाले विषयावच्छिन्न-चैतन्यको आवरण न करनेका स्वभाव ही आवरणाभिभव है ।' कहा जाता है कि घटादि विषयको ढककर स्थित होनेवाले पटके समान विषयावच्छिन्न चैतन्यको आवृत करके स्थित होनेवाला अज्ञान विषयको आवृत क्यों न करेगा ?' परतु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अहमज्ञः' इस प्रतीतिके आधारपर कहा जा सकता है कि अहमनुभवमें प्रकाशमान चैतन्यका आश्रय करके अज्ञान स्थित होता है और वह स्वाश्रयभूत चैतन्यको आवृत नहीं करता है ।

अन्य लोगोंका कहना है कि 'घट न जानामि' (मैं घट नहीं जानता) इस तरह अज्ञान घटज्ञान विरुद्धरूपसे प्रतीत होता है । घटज्ञान होनेपर घटका अज्ञान निवृत्त हो जाता है । इस तरह घटज्ञानद्वारा निवर्त्यरूपसे अनुभूयमान घटज्ञान मूलज्ञान नहीं है । शुद्ध चैतन्यविषयक अज्ञान शुद्ध चैतन्य ज्ञानसे ही निवर्त्य होता है । घटज्ञान-निवर्त्य घटाज्ञान वैसा नहीं है, अतएव घटावच्छिन्न चैतन्यविषयक अज्ञान मूलज्ञानका अवस्थाविशेष है । उस अवस्था—अज्ञान (मूलज्ञान) का नाश ही आवरणाभिभव है ।' कहा जाता है कि 'फिर भी

एक ज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेपर तत्समानविषयक ज्ञानान्तरोमें आवरणा-भिभावकता कैसे होगी ?' यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जितने ज्ञान हैं, उतने ही अज्ञान हैं। इसलिये प्रत्येक ज्ञानसे प्रत्येक अज्ञानका नाश होता है। यह अवस्थारूप अज्ञान मूलज्ञानके तुल्य ही अनादि है। व्यावहारिक जगत् और जीवको आवृत करके स्वाग्निक जीव-जगत्को प्रतिभासित करनेवाली आवरण एव विक्षेप-शक्तिवाली निद्रा अज्ञानकी अवस्था है। इसी तरह सुषुप्तिमें अन्तःकरणादिके विलीन होनेपर 'सुखमहमस्वाप्सम्, नाहं किंचिदवेदिषम्' (मैं सुखपूर्वक सोया, मैंने कुछ नहीं जाना) इस तरह स्मरण होनेसे मूलज्ञानके तुल्य अनुभूयमान सुषुप्ति भी अज्ञानकी अवस्थाविशेषरूप ही है। जाग्रत् भोगप्रद कर्मोंके उपरम होनेपर इन दोनों ही अवस्थाओंका प्रादुर्भाव होता है, अतः ये सादि हैं। इसी तरह अन्य अवस्था—अज्ञान भी सादि ही है। यदि सभी मूलज्ञान अनादि माने जायें तब तो प्रथम उत्पन्न घटज्ञानसे ही घटविषयक सभी अज्ञानोंका नाश होगा। किस अज्ञानका नाश हो किसका न हो, इसमें कोई विनिगमका अर्थात् निर्णायक युक्ति नहीं है। 'घटावच्छिन्न चैतन्यावरक सर्व अज्ञानोंके नाश हुए बिना घटविषयक प्रकाश ही न होगा। अतः पीछे होनेवाले ज्ञान आवरणके अभिभावक सिद्ध न होंगे।' इसका समाधान कुछ लोग यह करते हैं कि 'जैसे अनेक ज्ञान-प्राग-भावोंके रहनेपर भी एक ज्ञानसे एक ही प्रागभाव नष्ट होता है, सशयादि-उत्पादनमें समर्थ घटावरणरूप अन्य ज्ञान-प्रागभावोंके रहनेपर भी घटज्ञानसे एक घटप्रागभावके नष्ट होनेपर ही घटविषयका प्रकाश होता है, वैसे ही एक ज्ञान उत्पन्न होनेपर एक ही अज्ञान निवृत्त होता है, इतर अज्ञानोंके रहनेपर भी विषयका प्रकाश होता है।'।

दूसरे लोगोका मत है कि 'सब अज्ञान सर्वदा आवरण नहीं करते, किंतु जिस समय जो अज्ञान आवरण करता है, उस समयके उस ज्ञानसे उसी अज्ञानका नाश होता है। वृत्तिद्वारा आवरक अज्ञानका नाश होनेपर जब वृत्ति उपरत होती है, तब अन्य अज्ञान आवरण करते हैं।' इसपर कहा जाता है कि 'यदि सब अज्ञान सर्वदा आवरक न हो तब तो ब्रह्मज्ञानकालमें ब्रह्मज्ञानसे भी उन अज्ञानोंकी निवृत्ति नहीं होगी, फिर तो मुक्तिमें भी उन अज्ञानोंकी प्रसक्ति होगी।' परंतु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त सभी अज्ञान मूलज्ञानकी अवस्था ही हैं, अतः ब्रह्मज्ञानसे मूलज्ञानके नष्ट होनेसे उसके अवस्थाभूत अन्य अज्ञानोंका भी नाश होना सङ्गत है।

कई लोग कहते हैं कि 'अज्ञान स्वभावसे ही सविषय होता है, अतः सभी अज्ञान सर्वदा ही अपने विषयको आवृत करते हैं।' कहा जा सकता है कि 'घटादिविषयकी उत्पत्तिके पहले अज्ञान किसे आवृत करेगा ?' परंतु कारणमें

सूक्ष्मरूपसे घटादि सदा ही रहते हैं अतः उनका आवरण सदा ही हो सकता है । उनके मतानुसार एक ज्ञानसे एक अज्ञानका नाश होता है, अन्योका अविभव होता है । जैसे 'बहुजनसमाकुल प्रदेशमें एकके ऊपर भी वज्र पड़नेपर दूसरोका अपसारण हो जाता है, वैसे ही प्रकृतमे भी समझना चाहिये । अथवा जैसे सनिपातहर औषध एक दोषको हटाता हुआ इतर दोषोको भी हटाता है, वैसे ही एक अज्ञानको नष्ट करता हुआ भी ज्ञान इतर अज्ञानोको भी तिरस्कृत करता है । जबतक ज्ञान रहता है तबतक आवरणशक्तिका प्रतिबन्ध ही उनका तिरस्कार है ।

कहा जा सकता है कि 'धारावाहिक ज्ञानस्थलमें प्रथम वृत्तिके द्वारा अज्ञानका निवारण होगा । परंतु द्वितीय आदि वृत्तियाँ अज्ञानकी निवारक न होगी, क्योंकि प्रथम ज्ञानसे ही एक अज्ञानका निवारण और अन्योका तिरस्कार सम्पन्न है ।' परंतु इसका समाधान कुछ लोग यह करते हैं कि 'जैसे दीपधारा तमको तिरस्कृत करके स्थित रहती है, वैसे ही वृत्तिधारा भी अज्ञानको तिरस्कृत करके स्थिर होती है । जैसे प्रदीप तिरस्कृत भी तम प्रदीपके उपरत होनेपर पुनः प्रवृत्त होता है, वैसे ही वृत्ति-तिरस्कृत भी अज्ञान-वृत्तिके उपरत होनेपर पुनः विषयको आवृत करता है, परंतु वृत्त्यन्तरोके उदय होनेपर तिरस्कृत ही रह जाता है, जैसे प्रदीपान्तरके उदय होनेपर तम तिरस्कृत ही रहता है । जिसके रहनेपर अग्रिम क्षणमें जिसका सत्त्व रहता है, जिसके अभावमें जिसका असत्त्व रहता है, वह तज्जन्य मान्य होता है । तथा च प्रदीपधारासे तमके प्रागभावका पालन जैसे सम्पन्न होता है, वैसे ही वृत्ति-परम्परासे अनावरणका परिपालन होता है । वही द्वितीय आदि वृत्तिका फल है ।' कुछ लोगोंके मतानुसार 'पर्यायसे ही अज्ञानविषयको आवृत करते हैं, अतः ज्ञान स्वकालके ही आवरक अज्ञानका नाश करता है । इसलिये धारावाहिक ज्ञानस्थलमें द्वितीयादि वृत्तियाँ भी अज्ञानकी नाशक हैं ।' इस पक्षमें कहा जा सकता है कि 'यदि ज्ञानोदयकालमें भी अज्ञान रहता है, तो विषयका आवरण भी सम्भव है ।' परंतु इसका समाधान यह है कि अवस्थारूप अज्ञान तत्तत्कालोपलक्षितस्वरूपका ही आवरण करते हैं । ज्ञान भी स्वकालोपलक्षितविषयावरक अज्ञानका नाश करते हैं तथा च किसी ज्ञानके उदय होनेपर तत्कालीन विषयावरक अज्ञानका ही नाश होता है । विद्यमान भी अज्ञान अन्यकालीन विषयोंके ही आवरक होते हैं, इसलिये तत्कालीन विषयावभासमे कोई अनुपपत्ति नहीं हो सकती ।

कुछ लोग कहते हैं कि 'आद्य घटादिज्ञानसे घटादिके अज्ञान नष्ट होते हैं । द्वितीयादि ज्ञानोसे तो कालविशिष्ट वस्तु-विषयक अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है । अतएव एक बार चैत्र-ज्ञान होनेपर 'चैत्र न जानामि' इस प्रकार स्वरूपावरण

अनुभूत नहीं होता । किंतु 'इस समय वह कहाँ है, यह मैं नहीं जानता' इस तरह कालादिविशिष्टविषयक ही आवरणका अनुभव होता है । भले विस्मृतिशालीको एक बार अनुभवके अनन्तर भी स्वरूपावरणकी अनुभूति हो, परंतु अन्यत्र द्वितीयादिज्ञान विशिष्टविषयक ही होते हैं ।' कहा जा सकता है कि 'इस तरह तो धारावाहिक ज्ञानस्थलमें द्वितीयादिज्ञान अज्ञाननिवर्तक न होंगे; क्योंकि स्थूल-कालविशिष्टज्ञान प्रथमज्ञानसे ही निवृत्त हो चुका है । पूर्वापरज्ञानसे व्यावृत्त सूक्ष्म कालादिविशिष्टज्ञानकी निवृत्ति द्वितीयादिज्ञानसे हो ही नहीं सकती; क्योंकि सूक्ष्मकाल द्वितीयादिज्ञानके विषय ही नहीं हैं ।' परंतु धारावाहिक स्थलमें प्रथमोत्पन्न एक ही वृत्ति तावत्काल स्थायीरूपसे मान्य है, अतः वहाँ वृत्तिभेद है ही नहीं । वृत्तिभेद माननेपर भी बहुकालावस्थायी वृत्ति मान्य होती है, अतः स्थूलकालादिविशिष्ट ही वस्तुका अज्ञान निवृत्त होता है । प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाली अनेक वृत्तियोंकी ही यदि धारा मानी जाय, तब तो द्वितीयादिज्ञान ज्ञातविषयक ही होनेसे प्रमाण नहीं हैं । अतः आवरण-निवर्तक न भी हो, तो भी कोई हर्ज नहीं ।

'विवरण'कारने साक्षिसिद्ध अज्ञानको ज्ञानाभावभिन्न सिद्ध करनेके लिये अनुमानादि-वेद्य बतलाकर भी अज्ञानको प्रमाणवेद्य इसीलिये कहा है कि अज्ञात-ज्ञापक ही प्रमाण मान्य होता है, अज्ञान सदा ही साक्षिवेद्य होनेसे अज्ञात नहीं है, अतः अनुमानागमादि-वेद्य होनेपर भी वह प्रमाणवेद्य माना जाता है । इसलिये द्वितीयादि वृत्तियों उपासनादि वृत्तियोंके तुल्य अज्ञाननिवर्तक न भी हो, तो भी कोई हानि नहीं । प्रमाणवृत्तियोंके ही अज्ञाननिवर्तनका नियम होता है । विषयावरक अज्ञान दो प्रकारका मान्य होता है—एक विषयाश्रित होता है, जो कि अनिर्वचनीय रज्जु-सर्पादिका उपादान होता है । अनिर्वचनीयकार्यके उपादानरूपसे उसकी सिद्धि होती है । दूसरा विषयावरक अज्ञान पुरुषमें 'इद-महं न जानामि' (इसे मैं नहीं जानता) इस रूपसे अनुभूत होता है । पुरुषाश्रित अज्ञान विषयाश्रित सर्पादि विक्षेपका उपादान नहीं हो सकता और विषयाश्रित अज्ञानका प्रकाशरूप साक्षीके साथ संसर्ग नहीं हो सकता, अतः दोनों ही अज्ञान मानना उचित है । परोक्षज्ञानस्थलमें वृत्ति बाहर नहीं जाती, अतः दूरस्थ वृक्षोंमें आतवाक्यसे परिमाण-विशेषका ज्ञान होनेसे यद्यपि पुरुषगत अज्ञान टूट हो जाता है, तथापि विषयगत अज्ञान नहीं मिटता, अतः उनमें विपरीत परिमाण-भ्रम देखा जाता है । उपदेशके अनन्तर 'शास्त्रार्थ न जानामि' इत्याकारक अज्ञानकी निवृत्ति देखी ही जाती है ।

अन्य लोगोका कहना है कि 'जैसे नेत्रगत काचादि दोष विषयको आवृत करते हैं, वैसे ही पुरुषाश्रित अज्ञान ही विषयका आवरण होता है ।'

वाचस्पतिमिश्रके मतानुसार 'जीवाश्रित अज्ञानके विषयीभूत ब्रह्मका ही विवर्त सम्पूर्ण संसार है। जैसे दर्शकोंसे अविज्ञात मायावी ही अनेक मायिक प्रपञ्चके रूपमें प्रकट होता है, वैसे ही पुरुषसे अज्ञात शुक्तिकादिसे अवच्छिन्न ब्रह्म ही शुक्ति-रजतादिरूपमें विवर्जित होता है। परोक्षवृत्तिसे अज्ञानसम्बन्धी एक आवरणावस्थाकी निवृत्ति होनेपर भी विक्षेपरूप अवस्थान्तर अज्ञान बना रहता है।' अन्य लोगोंका कहना है कि 'शुक्ति-रजतादि परिणाम विषयेगत अज्ञानका ही हो सकता है, अतः विषयको आवृत करनेवाले पटके समान विषयगत आवरण ही मानना ठीक है।' कहा जा सकता है कि 'इस तरह अज्ञानका साक्षीके साथ ससर्ग न होनेसे साक्षीके द्वारा उसका प्रकाश नहीं बन सकेगा और परोक्ष-वृत्तिसे विषयससर्ग न होनेसे उसकी निवृत्ति भी नहीं बनेगी।' परतु इसका समाधान यह है कि 'शुक्तिमह न जानामि' यह मूलाज्ञान ही साक्षीसे सृष्ट है। उसीका साक्षीसे भान होता है। शुक्तिविषयगत अज्ञान मूलाज्ञानका अवस्थाविशेष ही है। शुक्ति आदिका भी मूलाज्ञानके विषयभूत चैतन्यके साथ अभेद होनेसे शुक्तिविषयताका अनुभव उपपन्न हो जायगा। विवरणादिमें मूलाज्ञानके साधन-प्रसङ्गमें 'इदमह न जानामि' इस रूपसे मूलाज्ञानमें प्रत्यक्ष-प्रमाणका उपन्यास किया गया है। 'अहमज्' इस प्रकार सामान्यतया अज्ञानका अनुभव मूलाज्ञानका अनुभव माना गया है। 'शुक्तिमहं न जानामि' इत्यादि विषय-विशेषके अज्ञानका अनुभव अवस्था-अज्ञानका ही अनुभव है। फिर भी अवस्था-अवस्थावान्का अभेद होनेसे मूलाज्ञानका साक्षिससर्ग होनेसे ही अवस्था-ज्ञानका भी भान बन जाता है। अथवा विषयचैतन्य तथा साक्षिचैतन्य, दोनोंका अभेद होनेसे अवस्थाज्ञान भी साक्षिचैतन्यका विषय समझा जा सकता है। परोक्ष-ज्ञान यद्यपि विषयससर्ग न होनेसे अज्ञानका निवर्तक नहीं है, तथापि सत्ता निश्चय परोक्षवृत्त्यात्मक प्रतिबन्धके कारण अज्ञानके अनुभवकी भ्रान्ति होती है, अतः अपरोक्षज्ञान ही अज्ञानका निवर्तक होता है। परतु अविद्या-अहकार सुख-दुःखादि-विषयक अपरोक्षज्ञानमें भी अज्ञाननिवर्तकता नहीं होती, क्योंकि ये सब सदा ही साक्षिभाष्य होते हैं, कभी भी अज्ञात नहीं रहते। कूटस्थ, व्यापकचैतन्यसे वृत्तियों तथा वृत्तियोंका अभाव भासित होता है। अहकार आदिका सदा ही साक्षिरूप प्रकाशसे ससर्ग रहता है, अतः वे सदा ही भासमान रहते हैं। अन्य ज्ञानधाराकालमें 'अहम्' भासित ही रहता है। अतएव 'एतावन्तं कालमिदमहं पश्यन्नेवासमम्' (इतने कालतक मैं इसे देखता ही रहा) इस प्रकार अहकारका अनुसंधान होता है। जैसे, राहुका प्रकाश राहुसमावृत सूर्य-चन्द्रद्वारा ही होता है, वैसे ही अविद्याका प्रकाश अविद्यावृत साक्षिचेतनद्वारा ही होता है। साक्षीके नित्य होनेपर भी वृत्तिके नाशसे सस्कार और स्मृति हो सकेगी। अनवस्था-भयसे वृत्तिगोचर वृत्ति न माननेपर भी वृत्तिके नाशसे ही तद्गोचर सस्कार आदि

उपपन्न होते हैं। सुख-दुःखादिके ही नाशसे तद्गोचर सस्कार बन सकेगा। साक्षिचैतन्य स्वतः नित्य होनेपर भी भास्य विशिष्टरूपसे अनित्य है, अतः भास्यके नाशसे तद्विशिष्ट चैतन्यका भी नाश होता है। उसीसे सस्कार, स्मृति आदि बन सकेगे। अन्य लोग सौषुप्त अज्ञान-सुखादिग्राहक अविद्यावृत्तिके समान अहंकार-सुखादिकी स्मृतिके लिये अविद्या-वृत्ति मानते हैं। उसीके नाशसे सस्कारादि बनते हैं। इस पक्षमें यह कहा जा सकता है कि 'एतावन्तं कालमिदमहं पश्यन्नेवासम' (इतने समयतक मैं इसे देखता ही रहा) इस प्रकार विषयज्ञानधाराके साथ अहंकार-ज्ञानकी धारा कैसे बन सकेगी? परंतु यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि 'शिरसि मे दुःखं पादयोर्मे सुखम्' (मेरे सिरमें दुःख है, पैरमें सुख है) इस तरह जैसे अक्छेदकके भेदसे सुख-दुःखका यौगिपद्य हो सकता है, वैसे ही अहमाकारवृत्ति और इदमाकारवृत्ति—दोनों ही एक साथ रह सकती हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि 'अहमाकारवृत्ति अविद्या-वृत्ति नहीं है, किंतु उपास्तिके तुल्य मनोवृत्ति है, ज्ञान नहीं। 'सोऽह' इस प्रत्यभिज्ञामें भी तदशमें स्मृति है, अहमशमें ज्ञान नहीं है। अहमाकारवृत्ति ज्ञान इसलिये नहीं है कि ज्ञान करण चक्षु-श्रोत्रादि तथा लिङ्गादिसे जन्य नहीं है। मन स्वयं ज्ञानका उपादान है, वह करण नहीं हो सकता। जैसे 'पर्वते वह्निमनुमिनोमि' इस ज्ञानमें परोक्षता-अपरोक्षता दोनों होती है। 'इदं रजतम्' इस ज्ञानमें अंशभेदसे जैसे प्रमात्व-अप्रमात्व सम्भव है, वैसे ही 'सोऽहं' इस प्रत्यभिज्ञामें भी अंशभेदसे ज्ञानत्व-अज्ञानत्व (ज्ञानभिन्नत्व) भी सम्भव है। अन्य लोग मनको इन्द्रिय मानते हैं, अतः 'मामह जानामि' इस प्रकारकी वृत्ति ज्ञान ही है, अतएव बाह्यविषयक अपरोक्ष-वृत्ति आवरणकी अभिभावक होती है। इस सम्बन्धमें भी विवाद यह है कि शुक्तिमें 'इदं रजतम्' ज्ञान होता है। यहाँ इदमाकार अपरोक्ष वृत्ति होती है, फिर भी इदमंशका आवरण अभिभूत नहीं होता। यदि ऐसा होता, तो शुक्तिमें रजतका अध्यास न होता।' इसका कुछ लोग समाधान यह करते हैं कि 'इदमाकारवृत्ति-से शुक्तीदमगविषयक अज्ञान निवृत्त होता है। परंतु शुक्तित्व विशेषका अज्ञान निवृत्त नहीं होता। उसी अज्ञानसे रजतका भ्रम होता है, क्योंकि शुक्तित्वके अज्ञानसे ही रजतभ्रम होता है। शुक्तित्वज्ञानसे ही रजतभ्रम दूर होता है, अतः शुक्तित्वके अज्ञानसे ही अनिर्वचनीय रजतकी उत्पत्ति होती है। इसीलिये 'इदं रजतम्' इस भ्रममें इदमंशका स्फुरण होता है। रजतभ्रममें शुक्त्यंश अधिष्ठान है, इदमंश आधार है। सकार्य अज्ञानका विषय अधिष्ठान है। अतद्रूप भी तद्रूपसे आरोप्य बुद्धिमें स्फुरित होते हुए आधार कहा जाता है—'संसिद्धा सविलासमोहविषये वस्तुन्यधिष्ठानगीर्णाधारेध्यसनत्य वस्तुनि ततोऽस्थाने महान्सम्भ्रमः' (संक्षेप शारीरक ३। २३९)

अन्य लोगोंका मत है कि 'इदमंशज्ञान'का ही परिणाम रजत है; अतएव 'इदं रजतम्' इस तरह 'इदम्' से सृष्ट ही रजत प्रतीत होना है। इदमाकारवृत्तिसे आवरण शक्तिमात्रकी निवृत्ति होती है। फिर भी विक्षेप-शक्तिके साथ अज्ञान बना रहता है। वही कल्पित रजतका उपादान है। अधिष्ठान-साक्षात्कारसे अधिष्ठानाज्ञान निवृत्त हो जानेपर भी विक्षेप-शक्तिसहित अज्ञान ही जड़प्रति-विम्बित वृक्षका अयोऽप्रत्याव्यास तथा जीवन्मुक्तिमें अनुवृत्त प्रपञ्चाध्यासका उपादान होता है। कुछ आचार्य कहते हैं कि "इदं रजतम्" यह ज्ञान भ्रमात्मक है। इसमें इदमाकार-ज्ञान प्रमाणज्ञान नहीं है। 'इदं रजतम्' इस भ्रममें दो ज्ञानोंका अनुभव नहीं होता है; अतएव 'इदं' यह प्रमाणज्ञान है, 'रजतम्' यह भ्रमात्मक ज्ञान है। परंतु यह पक्ष सगत नहीं है; क्योंकि सामान्य-विशेष संसर्गविषयक यहाँ एक ही ज्ञान है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अधिष्ठान-सामान्यज्ञान अध्यासका कारण है; अतः अध्यास देखकर उसके कारणभूत इदंवृत्तिकी कल्पना करनी चाहिये, क्योंकि अधिष्ठान-सामान्यज्ञान अध्यासका हेतु है ही नहीं। कहा जा सकता है कि 'अधिष्ठान सम्प्रयोगके बिना प्रातिभासिक रजतकी उत्पत्ति नहीं होती। यही इदंवृत्तिके होनेमें प्रमाण है।' परंतु यह ठीक नहीं है। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि दुष्टेन्द्रिय-सम्प्रयोग ही अध्यासका कारण है। यह भी गङ्गा होती है कि 'इन्द्रिय-सम्प्रयोग सभी भ्रमोंमें कारण नहीं है; क्योंकि अहंकारके अध्यास-में इन्द्रिय-सम्प्रयोग अपेक्षित है ही नहीं। अतः अधिष्ठान-सामान्यज्ञानको ही अध्यासका हेतु मानना ठीक है। रजतादि अध्यासमें इन्द्रियसे शक्तिके इदमंशका ज्ञान होता है। अहंकाराध्यासमें स्वतः प्रकाशमान प्रत्यगात्माका सामान्य-ज्ञान हेतु है।' परंतु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि घटादिके अध्यासमें अधिष्ठान-सामान्यज्ञान नहीं होता है; क्योंकि घटादि प्रत्यक्ष होनेके पहिले घटादिके अधिष्ठानभूत नीरूप ब्रह्ममात्र गोचर चाक्षुष वृत्तिका उत्पन्न होना असम्भव ही है। स्वरूप-प्रकाश तो आवृत ही रहता है। यदि कहा जाय कि 'आवृत-अनावृत साधारण अधिष्ठान प्रकाशमात्र अध्यासका कारण है,' तब तो शक्तिके इदमंशसे इन्द्रियसम्प्रयोग हुए बिना भी आवृत शुक्यवच्छिन्न चैतन्य रहता ही है; अतः उस समय भी शक्तिमें रजतका अध्यास होना चाहिये यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'अध्यास-सामान्यमें अधिष्ठान-प्रकाश सामान्य हेतु है और प्रातिभासिक अध्यासमें अभिव्यक्त अधिष्ठान-प्रकाश हेतु है, इसलिये कहीं दोष न आयेगा। सामान्यमें सामान्य और विशेषमें विशेष हेतु होता ही है,' क्योंकि 'पीतः शङ्खः, नीलं कृपजलम्' इत्यादि प्रातिभासिक अध्यासोंमें भी अभिव्यक्त अधिष्ठानका प्रकाश नहीं होता है। रूपके बिना चाक्षुषज्ञान नहीं होता। गङ्गादिगत शुक्ल-रूपका उपलब्ध उस समय है ही नहीं। अध्यासके परलं नीरूप गङ्गादि गोचरवृत्ति असम्भव ही है। यदि यह माना जाय कि 'प्रातिभासिक भ्रमोंमें भी रजतादि

अध्यासोमे ही अभिव्यक्त अधिष्ठान प्रकाश हेतु है' तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि फिर भी 'पीतः शङ्खः' इत्यादि स्थलोमें दुष्टेन्द्रिय-सम्प्रयोगको हेतु कहना ही पड़ेगा। ऐसी स्थितिमें प्रातिभासिक अध्यासोंमें दुष्टेन्द्रिय-सम्प्रयोगको ही हेतु क्यों न माना जाय ? इसीसे रजताध्यासके कादाचित्कत्वका भी निर्वाह हो जाता है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि सामान्यतया एवं विशेषतया अधिष्ठान प्रकाश अध्यासका कारण है। फिर भी शङ्का होती है कि 'सादृश्यनिरपेक्ष अध्यासोंमें अधिष्ठान-प्रकाश हेतु न भी हो, तो भी सादृश्यतापेक्ष रजतादि अध्यासमें रजतादि सादृश्यभूत भास्वरूप विशेषादिविशिष्ट धर्मिज्ञानको कारण मानना चाहिये। यदि दुष्टेन्द्रिय-सम्प्रयोगमात्रको अध्यासमें कारण कहा जाय तब तो शुक्तिके तुल्य ही इंगाल (कोयला) में भी रजतादिका अध्यास होना चाहिये।' कुछ लोगोका कहना है कि 'सादृश्य भी विषयदोषरूपसे ही अध्यासमें कारण है।' परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि वि-सदृशमें सादृश्यभ्रमसे भी अध्यास होता है, जैसे कि समुद्रजलमें दूरसे नील शिलातलका अध्यारोप होता है। कुछ लोग सादृश्य-ज्ञान-सामग्रीको ही अध्यासका कारण कहते हैं; परंतु ज्ञान-सामग्री ज्ञानका कारण हो सकती है, अर्थका कारण नहीं। अतः लाघवात् सादृश्य-ज्ञान ही अध्यासका कारण है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'जैसे स्वतः शुभ्र रजतपात्रगत स्वच्छ जलमें ही नैल्याध्यास होता है, मुक्ताफलमें नैल्याध्यास नहीं होता, वैसे ही शुक्तिमें ही रजताध्यास होता है, इंगालादिमें नहीं। यह फल-बल-कल्प्य स्वभावभावविशेष ही व्यवस्थाका कारण है। सादृश्यज्ञानका होना-न-होना हेतु नहीं है।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि स्वतः पटखण्डमें कमल-कुडमल आदिका अध्यास यद्यपि नहीं होता तथापि कर्त्तनादिके द्वारा कमलाकार सम्पन्न होनेपर उसी कर्त्तनादिद्वारा कमलाकारघटित पटखण्डमें कमलका अध्यास देखा जाता है। यहाँ वस्तुस्वभावानपेक्षसादृश्यज्ञान ही अन्वयव्यतिरेकसे अध्यासका हेतु निश्चित होता है। अन्यथा कमलाकाररहित पटखण्डमें भी कमलका भ्रम होना चाहिये। इसपर भी कुछ लोग कहते हैं कि 'सादृश्य-ज्ञानको यदि अध्यासमें कारण माना जाय तो भी विशेष दर्शनप्रतिबन्ध रजतादि अध्यासोंमें ही उसे कारण मानना ठीक है।' 'पीतः शङ्खः' इत्यादि विशेष दर्शनसे अप्रतिबन्ध स्थलोमें सादृश्यज्ञान सम्भव ही नहीं है। विशेष दर्शनसे प्रतिबन्ध शुक्ति रजतादि स्थलोंमें प्रतिबन्धक ज्ञान-सामग्रीको प्रतिबन्धक माननेका नियम है। इस दृष्टिसे विशेष दर्शन-सामग्रीको अवश्य प्रतिबन्धक कहना पड़ेगा। इसीसे सब व्यवस्था बन सकती है। फिर सादृश्य-ज्ञानको अध्यासका कारण क्यों माना जाय ? इंगालादिके चक्षुःसम्प्रयुक्त होनेपर उसमें नैल्यादिरूप विशेष दर्शन-सामग्री होनेसे रजतादि अध्यास नहीं होता। शुक्ति आदिमें भी यदि नीलपृष्ठत्वादिके साथ चक्षुःसम्प्रयोग होता है तो विशेष दर्शन-सामग्री होनेसे रजताध्यास नहीं होता। सदृशभागमात्रका सम्प्रयोग होनेसे विशेष दर्शन-

सामग्री न होनेके कारण अध्यास होता है। कहा जा सकता है कि 'उस समय भी शुक्तित्वरूप विशेष दर्शनकी सामग्री तो है ही, फिर अध्यास क्यों नहीं होता?' परन्तु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अध्यास-समयमें भी शुक्तित्व-दर्शनाभावसे तत्सामग्र्यभाव आपको भी मानना ही पड़ेगा। यदि सादृश्य-ज्ञानरूप अध्यास कारणदोषसे प्रतिबन्धके कारण शुक्तित्व-दर्शन-सामग्र्यभाव मान्य है, तब तो घट-कुटीप्रभातन्यायसे सादृश्य-ज्ञानको अध्यासका कारण मानना ही पड़ा।

इसपर दूसरे पक्षका कहना है कि रजताध्याससे समीप आनेपर शुक्तिमे रजतसादृश्यरूप चाकचिक्यके दृश्यमान रहनेपर ही शुक्तित्वका उपलम्भ होता है। इससे सादृश्यज्ञान शुक्तित्वरूप विशेष दर्शनकी सामग्रीका प्रतिबन्धक सिद्ध नहीं हुआ। अतः दूरत्वादि दोषोंसे प्रतिबद्ध होनेसे अथवा शुक्तित्व-व्यञ्जक नीलपृष्ठ-त्वादिग्राहक मानाभावसे विशेष दर्शन-सामग्रीका अभाव मानना पड़ेगा। इसी तरह दूरस्थ समुद्र-जलमें नीलशिलात्वका आरोप हो सकता है; क्योंकि वहाँपर नियत नीलरूपाध्यासके प्रयोजक दोषसे दूरत्वके कारण नीरत्व-व्यञ्जक तरङ्गादि-ग्राहक साधनके संनिहित न होनेसे शुक्लरूप, जलराशित्व आदि विशेषोंके दर्शनकी सामग्रीका अभाव है। विस्तृत वस्त्रमें परिणाहरूप विशेष-दर्शनकी सामग्री होनेसे कमलत्वादिका अध्यास नहीं होता है। कर्त्तनादिद्वारा कमलाकारसम्पन्न पदमें विशेष दर्शन-सामग्री न होनेसे कमलत्वादि अध्यास हो जाता है।

एक गङ्गा यह भी होती है कि अध्यासमें यदि सादृश्य-ज्ञानकी अपेक्षा न हो तो करस्पृष्ट लौहखण्डमें उसके नीलरूपकी ग्राहक विशेष दर्शन सामग्री न होनेसे रजताध्यास क्यों नहीं होता? परन्तु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसे स्थलोंमें रजताध्यास होता ही है। हाँ, ताम्रादिव्यावर्त्तक विशेष सामग्री न होनेसे ताम्रादि अध्यास भी होता है। कहीं अनेक अध्यास होनेसे अध्यस्तमें संशय भी होता है। 'ताम्र है या रजत है' इत्यादि कहीं रजतग्राय वस्तुपूर्ण कोषगृहादि लौहशकलमें रजतहीका अध्यास होता है। कहीं सादृश्य-ज्ञान रहनेपर भी करणदोष न रहनेसे शुक्तिमें रजताध्यास नहीं होता। वैसे ही कभी अध्यास न भी हो तो भी कोई दोष नहीं। अतः कार्यकल्प्य इदमाकारवृत्ति आवश्यक नहीं है। फिर 'इदमाकारवृत्ति आवरणभङ्ग करती है या नहीं' इत्यादि विचार व्यर्थ है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'अप्रतिबद्ध इदमर्थ-सम्प्रयोगरूप कारणसे भी इदमाकारवृत्तिकी कल्पना होगी' क्योंकि इदमर्थ-सम्प्रयोगरूप कारणसे उत्पन्न होती हुई इदवृत्तिका दुष्टेन्द्रिय-सम्प्रयोगसे क्षुब्धित अविद्याके परिणामभूत इदंवृत्तिके समकाल उत्पन्न रजत ही विषय होता है। वहीं प्रातिभासिक रजत दोषयुक्त चक्षुसे गृहीत होता है। कहा जा सकता है कि चक्षुसे रजतका सम्प्रयोग हुए बिना रजत चाक्षुष नहीं हो सकता। दुष्टेन्द्रिय-सम्प्रयोगजन्य रजत इदवृत्तिके समकाल नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान-कारण इन्द्रिय सम्प्रयोगसे ज्ञान ही उत्पन्न हो सकता है। रजत तो

अर्थ है, उमकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अतः इदवृत्तिके अनन्तर तज्जन्य तदभिव्यक्त साक्षीमें ही रजतका अध्यास होता है। इसलिये साक्षीमें ही रजतका भान होता है। रजतमें चाक्षुपत्वका अनुभव इसलिये होता है कि स्वभासक चैतन्य-व्यञ्जक इदवृत्तिका चक्षु जनक है, अतः परम्परासे चक्षुर्जन्य होनेके कारण चाक्षु-पत्वका अनुभव होता है।

इस पक्षमें अन्य लोग यह दोष देते हैं कि 'इस तरह तो पीत शङ्ख-भ्रममें चक्षुकी अपेक्षा न होनी चाहिये; क्योंकि रूपके बिना केवल शङ्ख चक्षुसे ग्राह्य हो नहीं सकता। पीतिमा ग्रहणके लिये भी चक्षु अनावश्यक है, क्योंकि साक्षिभास्यत्व-पक्षमें आरोप्य ऐन्द्रियक मान्य नहीं होता।' यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'पीतिमाका स्वरूपाध्यास नहीं होता, अपितु नयनगत पित्तकी पीतिमा ही अनुभूयमान होती है। उसका केवल शङ्ख-संसर्ग ही अध्यस्त होता है, इसलिये उसी पीतिमाके अनुभवार्थ चक्षुकी अपेक्षा होती है।' कारण इस स्थितिमें तो शङ्ख और पीतिमाका संसर्ग प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये, क्योंकि नयन-प्रदेशगत पित्तकी पीतिमाकारवृत्तिसे अभिव्यक्त चैतन्यके साथ शङ्ख और पीतिमाके संसर्गका सम्बन्ध ही नहीं है, अतः वे साक्षिभास्य नहीं हो सकते। पीतिमासे संसृष्ट शङ्खगोचर एकवृत्ति स्वीकृत नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'नयनप्रदेशस्थित पित्तकी पीतिमाके दोषसे शङ्खमें संसर्गाध्यास नहीं होता, किंतु नयनरश्मियोसे निर्गत विषयव्यापी पित्त द्रव्यकी पीतिमाका ही संसर्गाध्यास होता है। जैसे रक्त रगसे व्याप्त घटमें अनुभूयमान रक्तरूपके संसर्गका भान होता है। अतः पित्त पीतिमाकारवृत्तिसे शङ्खदेशमें चैतन्यकी अभिव्यक्ति होनेसे शङ्खपित्त-पीतिमाका अपरोक्ष अनुभव हो सकता है। परंतु उक्त कथन इसलिये ठीक नहीं है कि फिर तो जैसे सुवर्णलिप्त घटादिमें अन्य लोगोंको भी पीतिमाका अनुभव होता है वैसे ही शङ्खमें लिप्त पित्तकी पीतिमाका अनुभव अन्य लोगोंको भी होना चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं कि "समीपमें गृहीत होकर ही पीतिमा दूरगृहीत होती है। जैसे दूर आकाशमें उड़ते हुए पक्षीका तभी दर्शन होता है, जब उसका समीपमें दर्शन हुआ हो। परंतु अन्य नयनगत पित्तद्रव्यकी पीतिमा अन्यको समीपसे गृहीत नहीं होती, अतः उसे शङ्खव्यापी पित्तकी पीतिमा भी गृहीत नहीं होती।" परंतु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि पित्तरोगवाले मनुष्यके चक्षुके समीप चक्षु रखनेसे पीतिमा-समीप्य तो है ही, फिर उसका ग्रहण अन्य लोगोंको होना ही चाहिये। इसी तरह अतिविवल बालुकामय तलमें बहनेवाली स्वच्छ नदीके जलमें नीलत्वके अध्यासमें तथा गगनमें नीलत्वके अध्यासमें एव जोंदनीयें स्थित रक्त दल्लके नील्याध्यासमें अनुभूयमान आरोपका निरूपण नहीं

हो सकता। यदि यहाँ नैत्यससृष्ट तादृग् जल या गगनादि-अधिष्ठान-गोचर चाक्षुषवृत्ति स्वीकार नहीं की जायगी, तब तो चक्षुका अनुपयोग दुष्परि-हार्य ही होगा।

‘पञ्चपादिका’ कारकी दृष्टिमें जिस बालकने इस जन्ममें तित्तरसका अनुभव नहीं किया है, उसे मधुर दुग्धमें तित्कताकी प्रतीति जन्मान्तरीय अनुभवजन्य सस्कारसे होनी मान्य है। इससे स्वरूपतः अध्यस्त तित्तरसका रसनासे ही अनुभव मानना स्पष्ट है। अन्यथा रसना-व्यापारके बिना भी तित्कताकी प्रतीति होनी चाहिये। अतः पूर्वोक्त नीलता-अध्यासस्थलोंमें भी अधिष्ठानसम्प्रयोगसे तद्विषयक चाक्षुषवृत्तिका उदय होता है और उसी समय नीलतावा अध्यास होता है। वही अध्यस्त नीलता उस वृत्तिका विषय होती है अतः वह भी चाक्षुष ही है; क्योंकि रूपके बिना गगनादि अधिष्ठानोंमें चाक्षुषवृत्ति हो नहीं सकती। अतः अधिष्ठानावच्छिन्न चैतन्यकी अभिव्यक्ति न होनेसे अध्यस्तनीलता अधिष्ठान-चैतन्यसे भास्य नहीं हो सकती। तित्तरसस्थलोंमें तो अध्यस्त एवं अधिष्ठान दोनों ही एक रसनेन्द्रियग्राह्य नहीं है। त्वक् इन्द्रियसे मधुर दुग्धरूप अधिष्ठान गोचरवृत्ति उत्पन्न होती है। उस वृत्तिसे अधिष्ठान-चैतन्यकी अभिव्यक्ति होनेसे पित्रोपहत रसनाका सम्प्रयोग होता है, उसी चैतन्यमें तित्तरसका अध्यास होता है। उसी समय अध्यस्त रसविषयक रसनवृत्ति उत्पन्न होती है। त्वगिन्द्रियजन्य अधिष्ठानगोचरवृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्यसे भास्य तित्तरसमें यदि परम्परासे भी रसनाका उपयोग न होगा तो रसनत्वानुभवका समर्थन किसी भी तरह नहीं होगा। इसी तरह रजतके भी चाक्षुषत्वकी उत्पत्ति हो सकती है। अतएव ‘चक्षुषा रजतं पश्यामि’ (नेत्रमें रजत देखता हूँ) यह अनुभव होता है।

कहा जा सकता है कि ‘चक्षुसे रजतका सनिकर्ष हुए बिना ही यदि रजतमें चाक्षुषत्व हो, तब तो प्रत्यक्ष रजतमें विषयेन्द्रिय-सनिकर्ष कारण है, द्रव्य-प्रत्यक्षमें द्रव्येन्द्रिय-सयोग कारण है। रजत-प्रत्यक्षमें रजतेन्द्रिय-सयोग कारण है, इत्यादि कार्य-कारणभाव भङ्ग होगा।’ परन्तु यह कोई दोष न होगा। सनिकर्ष, सयोगादि कोई एक कारण अनुगत नहीं है, अतः प्रथम नियम नहीं बनता। नैयायिकोंके मतमें सयोगायोग्य तमरूप अद्रव्यमें भी द्रव्यत्वका अध्यास होता है और सयोगायोग्य गुणादिमें भी द्रव्यत्वका अध्यास होता है, अतः द्वितीय नियमका अभिप्राय यह है कि व्यावहारिक द्रव्यत्वाधिकरणके प्रत्यक्षमें उन्द्रिय-सयोग कारण है, अतः प्रातिभासिक रजतमें तो अधिष्ठानगत इदंत्वके समान ही अधिष्ठानगत द्रव्यत्वका भी आरोप ही होता है। इसलिये प्रातिभासिक द्रव्यत्वाधि-करण रजतके इन्द्रिययोगके बिना भी प्रत्यक्ष होनेमें कोई हानि नहीं है।

अतएव तृतीय नियमका भी कोई अस्तित्व नहीं रह जाता । जहाँ बीज-सामान्यका अङ्कुर सामान्यके साथ कार्य-कारणभाव माननेपर बीजान्तरसे अङ्कुरान्तरकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग होता है, वही विशिष्य कार्य-कारणभाव मानना आवश्यक होता है । प्रकृतमें वह सर्वथा व्यर्थ है ।

कहा जा सकता है कि 'द्रव्यप्रत्यक्षमें द्रव्य-संयोग कारण है, यह सामान्य नियममात्र माननेसे अन्य द्रव्यसंयोगसे अन्य द्रव्य-प्रत्यक्ष होने लगेगा ।' परंतु यह ठीक नहीं, क्योंकि तत्तद्द्रव्यके प्रत्यक्षमें तत्तद्द्रव्यसंयोग कारण है, ऐसा माननेपर कोई अतिप्रसङ्ग नहीं होता । अन्यथा अन्य रजतसंयोगसे अन्य रजतका प्रत्यक्ष होनेका अतिप्रसङ्ग भी अनिवार्य ही होगा । इसके अतिरिक्त 'इदं रजतं पश्यामि, नीलं जलं पश्यामि, नीलं गगनं पश्यामि' इत्यादि अनन्यथासिद्ध अनुभवोंमें 'प्रत्यक्षमात्रमें विषय-संनिकर्ष कारण है' इत्यादि नियमोंका व्यावहारिक विषयमें ही संकोच करना चाहिये । कहा जा सकता है कि 'इस तरह तो यही कहना ठीक है कि प्रमामें सनिकर्ष कारण है, भ्रममें नहीं, यह भी संकोच कल्पना हो सकती है । फिर तो असनिकृष्ट देशान्तरस्थ रजतादिका भी भ्रम हो सकता है । इस तरह अन्यथाख्यातिका प्रसङ्ग होगा ।' परंतु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि अभिव्यक्त चैतन्यका सम्बन्ध हुए दिना देशान्तरस्थ रजतकी अपरोक्षता नहीं बन सकती । रजतप्रतीति और बाध, दोनों ही बातोंमें भ्रमविषयक अनिर्वचनीय रजत-को स्वीकार किये बिना काम नहीं चल सकता ।

कहा जा सकता है कि 'अधिष्ठान-सम्प्रयोगमात्रसे यदि प्रातिभासिक रजत-को ऐन्द्रियक माना जायगा, तब तो शुक्ति-रजताध्यास समयमें ही वहीं कालान्तर-में अध्यसनीय रंग (रँग) का भी चाक्षुषत्व होना चाहिये । परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि रजताध्यास समयमें रंग-रजतसाधारण चाकचिवय दिखलायी पड़नेपर भी जिस रागादिरूप दोषके अभावसे वहाँ रगाध्यास नहीं होता, उसी-के कारण रगादिविषयक वृत्ति भी उत्पन्न नहीं होती । रजतमें रागादि होता है, इसीलिये रजताध्यास एवं रजताकारवृत्ति उत्पन्न होती है । अतः इदमंशयुक्त रजता-कार एक ही वृत्ति इन्द्रियजन्य उत्पन्न होती है । उसके पहले इदमाकारवृत्ति नहीं होती । परंतु अन्य लोगोका मत है कि 'इदमाकारवृत्ति' एक ही होती है । वही अध्यामके प्रति कारण है । अध्यस्त रजतादिका उस वृत्तिसे अभिव्यक्त साक्षि-चैतन्यसे भान होता है । अतः रजताकारवृत्ति निरर्थक है ।' अन्य लोगोके मतानुसार 'इदमाकार सामान्य-ज्ञानरूपिणी एक ही वृत्ति होती है । इद एवं रजत-के तादात्म्यगोचरवृत्ति दूसरी होती है । अतः दो ज्ञान ही मान्य होना ठीक है ।' अन्य लोगोका मत है कि 'जैसे इदमंशावच्छिन्न चैतन्यस्थ अविद्या रजत-ज्ञानाभासरूपसे परिणत होती है, इदवृत्तिके तुल्य रजतज्ञान अनध्यस्त नहीं है, जैसे रजतमें अधिष्ठानगत इदंताके संसर्गका भान होता है, वैसे ही रजतज्ञानमें

अधिष्ठानगत इदत्व-विषयत्व-ससर्गका भान [हो सकता है । अतः 'इष्टंरजतम्' यह द्वितीय गान इदविषयक नहीं कहा जा सकता ।'

कहा जा सकता है कि 'साक्षिचैतन्यसे ही सब पदार्थोंका भान हो सकता है, वृत्तिकी क्या आवश्यकता है ? यदि घटादिविषयक सस्कारके लिये वृत्ति आवश्यक भी हो, तो भी उसका निर्गम अनावश्यक है । परोक्षस्थलके समान ही अनिर्गत वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यसे ही घटादिका प्रकाश हो ही सकता है । फिर भी परोक्ष-अपरोक्षकी विलक्षणता वैसे ही उत्पन्न हो सकेगी, जैसे परोक्षमें भी शब्द एवं अनुमितिमें करणविशेषप्रयुक्तवृत्तिसे विलक्षणता सम्भव हो जाती है ।' अन्य लोगोंके अनुसार 'प्रत्यक्ष-स्थलमें विषयावच्छिन्न चैतन्य ही विषयप्रकाश होता है, अतः विषय-चैतन्यकी अभिव्यक्तिके लिये वृत्तिनिर्गम आवश्यक है । परोक्ष-स्थलमें व्यवहित वन्ध्यादिके साथ वृत्ति-ससर्ग नहीं होता, वहाँ इन्द्रियोंके समान वृत्ति-निर्गमका द्वार उपलब्ध नहीं होता, अतः अगत्या अनिर्गत वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही स्वरूपसम्बन्धसे विषय-प्रकाश माना जाता है ।' अन्य लोगोंके मतानुसार जैसे साक्षात् चैतन्यसंसर्गी अहकार तथा सुख-दुःखादिका चैतन्यसे प्रकाश होता है, वैसे ही विषयसमृष्ट चैतन्य ही अपरोक्षताका हेतु है । अतः विषय-चैतन्यकी अभिव्यक्तिके लिये वृत्ति-चैतन्य आवश्यक है ।

अन्य लोगोंका कहना है कि 'शब्दानुमानावगत विषयोकी अपेक्षा प्रत्यक्षावगत विषयकी स्पष्टता अनुभूत होती है । रसालके सौगन्ध्य-माधुर्यादिकी हजारों शब्दानुमानोंसे भी उतनी स्पष्टता नहीं होती जितनी रासन, घ्राणजादि प्रत्यक्ष-ज्ञानसे होती है; क्योंकि प्रत्यक्षके बिना रसालका माधुर्य-सौगन्ध्य कैसा है, यह जिज्ञासा बनी ही रहती है । अतः प्रत्यक्ष ग्राह्य पदार्थ अभिव्यक्त अपरोक्ष-चैतन्यसे अवगुण्ठित होता है, इसलिये उसकी स्पष्टताविषयक जिज्ञासा प्रशान्त हो जाती है । शब्दसे रसालकी मधुरता आदिका ज्ञान होनेपर भी तद्गत माधुर्यादि वृत्ति अवान्तर जातिका बोध नहीं होता । इसीलिये साक्षिवेद्य सुखादि भी स्पष्ट हैं । शब्दवृत्ति-वेद्य ब्रह्म भी मननादिके पहले अस्पष्ट होता है । मननादिसे जब पूर्ण अज्ञान मिटता है तब स्पष्टता होती है ।' इसपर भी कुछ लोग कहते हैं कि 'विषयावच्छिन्न चैतन्यगत आवरण अज्ञान अनिर्गतवृत्तिसे नष्ट हो सकेगा और कहीं अतिप्रसङ्ग भी नहीं होगा ।' कहा जा सकता है कि 'समानविषयक होनेसे देवदत्तके घट-ज्ञानसे यज्ञदत्तके घटाज्ञानकी निवृत्ति होनी चाहिये । अहमर्थ एव विषयचैतन्यमें रहनेवाले ज्ञान-अज्ञानका भिन्नाश्रय होनेपर भी विरोध होगा ही, क्योंकि समानाश्रयता विरोधका प्रयोजक नहीं ।' परंतु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि समानाश्रय-विषयत्वको ज्ञानाज्ञानके विरोधका प्रयोजक मानकर वृत्ति-निर्गम माननेपर भी देवदत्तीय घटज्ञान एव यज्ञदत्तीय घटाज्ञान दोनों ही एक घटावच्छिन्न चैतन्यको

आश्रय करते हैं, अतः अतिप्रसङ्ग होगा ही । इसलिये कहना पड़ेगा कि 'विशिष्ट विरोधप्रयोजक जो अज्ञान जिस पुरुषके प्रति जिस विषयका आवरण करता है वही अज्ञान तद्विषयक ज्ञानसे निवृत्त होता है । फिर समानाश्रयता अपेक्षित नहीं है । दूसरे लोग उपर्युक्त पक्षको असङ्गन कहते हैं । उनके अनुसार 'वृत्ति-निर्गम अङ्गीकार किये बिना ज्ञान एव अज्ञानके विरोधका कोई भी प्रयोजक निश्चित नहीं हो सकेगा ।' कोई लोग विषयगत अज्ञानकी निवृत्तिके लिये वृत्तिका निर्गम आवश्यक समझते हैं । कुछ लोग चिदुपरागार्थ अर्थात् चैतन्यके साथ सम्बन्धके लिये वृत्ति-निर्गम आवश्यक समझते हैं और कई लोग अभेदकी अभिव्यक्तिके लिये वृत्ति-निर्गम आवश्यक समझते हैं ।

'तत्त्वशुद्धि' कारका कहना है कि 'प्रत्यक्ष-प्रमाण न तो घटपटादिको ग्रहण ही करता है और न उनका सत्त्व ही ग्रहण करता है । किंतु वह (प्रत्यक्ष-प्रमाण) अधिष्ठानरूपसे घटादि-अनुगत सन्मात्रको ही ग्रहण करता है । 'सत् ही प्रत्यक्ष-प्रमाणका विषय है, घटादिका प्रत्यक्ष नहीं होता । जैसे भ्रममें अधिष्ठानका इदमंश ही प्रत्यक्षसे ग्रहण होता है, इन्द्रियोका अन्वय-व्यतिरेक इदमंशके प्रत्यक्षमें ही उपधीण हो जाता है, आरोपित रजताशका प्रतिभास भ्रान्तिसे होता है, वैसे सन्मात्रका प्रत्यक्षसे ग्रहण होता है । उभीमें इन्द्रियका व्यापार सार्थक है । घटादि-भेद प्रतिभास, भ्रान्तिसे ही होता है ।' कहा जा सकता है कि 'रजतादिकी तरह घटादिका बाध नहीं होता, अतः घटादि-प्रतिभासको भ्रान्ति मानना निर्मूल है ।' परंतु यह ठीक नहीं । बाधदृष्टि न होनेपर भी देशकालव्यवहित वस्तुके समान घटादिभेद वस्तु प्रत्यक्षके अयोग्य है, अतः उनका प्रतिभास भ्रान्ति है । इन्द्रिय-व्यापारके अनन्तर प्रतीयमान घट स्वभिन्न समस्त पदार्थोंसे भिन्न ही प्रतीत होता है । घटादि सर्वभिन्नरूपसे असदिग्ध, अविपर्यस्तरूपसे प्रतीत होते हैं । भेद-ग्रह प्रतियोगिग्रह-सापेक्ष होता है । परंतु देश, काल व्यवधानसे अमनिकृष्ट प्रतियोगियोंका प्रत्यक्षसे ग्रहण नहीं हो सकता । जो लोग कहते हैं कि 'भेदज्ञान प्रतियोगि-अंशमें संस्कारकी वैसे ही अपेक्षा करता है, जैसे प्रत्यभिज्ञान तत्ताशमें संस्कारकी अपेक्षा करता है ।' परंतु यहाँ तो प्रतियोगि-अंशमें स्मृति भी सम्भव नहीं है । कहा जाता है कि 'वस्तुभेद होनेसे कनकाचल भेदका प्रतियोगी है— इस तरहके अनुमानसे प्रतियोगि-सम्बन्धगोचर संस्कार सम्भव है ।' परंतु यह भी ठीक नहीं है । भेदज्ञानके बिना अनुमिति भी नहीं होगी । अनुमिति तभी हो सकती है, जब पक्ष, साध्य, हेतुका भेद ज्ञात हो । पक्षादि-भेदज्ञान तभी हो सकता है, जब अनुमिति हो । इस तरह आत्माश्रय दोष होता है । अतः भेदगत प्रतियोगि-सम्बन्धका भान नहीं हो सकता । पक्षादिके अभेद-भ्रम निराकरणके लिये भेदज्ञान आवश्यक है । सम्बन्धिद्वयका प्रत्यक्ष हुए, बिना सम्बन्धका प्रत्यक्ष

नहीं होता । प्रतियोगीका प्रत्यक्ष हुए बिना प्रतियोगि-विशिष्ट भेदका प्रत्यक्ष नहीं होता । प्रत्यक्षयोग्य प्रतियोगीका प्रतिमान भ्रान्तिरूप ही है । फिर उसी ज्ञानमें भासित भेद एव भेदविशिष्ट घटादि भी उसी भ्रममें भासित होते हैं, अतः निर्विशेष सन्मात्र ही भासित होते हैं ।

अनुभव और आत्मा

‘वार्तिकमार’ में सवित्के सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी हैं । सवित्का भेद स्वतः नहीं कहा जा सकता । घटसवित्, पटसवित् इस रूपसे वेद्य-पूर्वक ही सवित्का भेद भासित होता है, अतः सवित्का यह भेद स्वाभाविक नहीं, किंतु घटादि उपाधिके कारण ही प्रतीत होता है । वह सुनरा भ्रम है । इसी प्रकार सम्यक् ज्ञान, सगय एव मिथ्याज्ञान इत्यादि भेद भी सवित्के स्वाभाविक नहीं हैं; क्योंकि ये भेद बुद्धिगत हैं । चिद्रूप सवित् तो सम्यक्, सगय, मिथ्या आदि सभी ज्ञानोंमें समान है, क्योंकि बाध न होनेसे रज्जु-सर्पका भी स्फुरण मिथ्या नहीं । यदि स्फूर्तिका बाध हो, तब तो रज्जुतत्त्वका भी स्फुरण कैसे हो सकेगा ? यदि कहा जाय कि रज्जुस्फूर्ति सर्पस्फूर्तिमें पृथक् है, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसी स्थितिमें दो स्फूर्तियोंमें स्फूर्ति शब्दका प्रयोग कैसे होगा ? कहा जा सकता है कि स्फूर्ति-जातिके अनुगमसे ही दोनोंमें स्फूर्ति शब्दका प्रयोग हो सकेगा । परंतु वेदान्तमतानुसार व्यक्ति-जातिके स्थानमें व्यावृत्त एव अनुवृत्त शब्दका प्रयोग होता है । तदनुसार यहाँ चित् अनुवृत्त है, बुद्धि व्यावृत्त है । तथा च सर्पबुद्धि, रज्जुबुद्धियोंकी परस्पर व्यावृत्ति होनेपर भी चित् या स्फूर्ति उभयत्र अनुगत है । उसीको कोई जाति कह लेते हैं । गोत्वादिमें भी यही न्याय लागू हो सकता है । सर्वत्र अनुगत ब्रह्म ही गोत्वादि जाति है । व्यावृत्त व्यक्ति मायिक है । इस तरह सम्यक्, सगय, मिथ्या आदि विभिन्न आकारवाली बुद्धि है । इसी तरह प्रमाता-प्रमाणादिका भी भेद है । जैसे घटादिका भेद है, वैसे ही सम्यक्त्वादि और प्रमात्रादिमें भी भेद है । परंतु यह भेद कल्पित है । इन्हीं कल्पित भेदोंसे सवित्का भेद भी कल्पित होता है । वस्तुतः प्रत्यक्स्वरूप सवित् स्वतःसिद्ध है और एक है । उसीके आधारपर भावाभाव सब व्यवहार चलता है ।

गोध, अनुभव, सवित् आदि शब्दोंसे वही परब्रह्म आत्मा कहा जाता है । अनुभवरूप सवित्से ही अहंप्रत्ययकी भी सिद्धि होती है । जो लोग अहंप्रत्ययसे आत्मसिद्धि मानते हैं, उनके यहाँ भी अहंप्रत्ययसिद्धिके लिये अनुभवरूप आत्माकी अपेक्षा रहेगी ही इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होगा । जो अहंकीको स्वप्रकाश एव आत्माको जड़ कहते हैं, उनका केवल भाषाका ही भेद है । स्वप्रकाशसे ही जड़की सिद्धि होती है । इन सम्बन्धमें उनका तथा वेदान्तीका ऐकमत्य ही है ।

श्रुतिके अनुसार ब्रह्म जड़ नहीं है; क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति ब्रह्मको ज्ञानरूप कहती है ।

यह भी विचारणीय है कि यदि सवित् प्रमेय है, तब तो प्रमेयविषयक प्रमा फलरूप संवित् अन्य होनी चाहिये । परंतु दो संवित्का उपलम्भ नहीं होता । यदि कहा जाय कि यद्यपि अन्य सवित्का उपलम्भ नहीं होता तथापि व्यवहारलिङ्गसे उसका अनुमान किया जायगा, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि फलरूप संवित् तो स्वप्रकाश होती है, फिर उसके अनुमानकी बात कैसे चल सकती है ? कहा जाता है कि जैसे 'अयं घटः' इस व्यवसायज्ञानका - प्रकाशक 'घटज्ञानवानहं' यह अनुव्यवसायज्ञान होता है, वैसे ही आत्मामे भी संवित् एवं तद्विषयक सवित् इस तरह दो संवित् मान्य हैं । परंतु यह कहना असंजत है, क्योंकि यह प्रतीतिसे पराहत है अर्थात् दो सवित्की प्रतीति नहीं होती । जैसे घटादिविषयक संवित् होती है, वैसे सविद्विषयक सवित्की प्रतीति नहीं होती ।

कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा द्रव्य एवं बोधस्वरूप है, अतः आत्मा द्रव्यरूपसे प्रमेय है और बोधरूपसे प्रमाता । इस तरह एकहीमें ग्राह्यता-ग्राहकता दोनों ही बन सकती है ।' परंतु इस मतमें भी आत्मा अहंघीगम्य नहीं हो सकता । यदि द्रव्यांग अहंबुद्धि है, तो अन्योन्याश्रय दोष होगा; क्योंकि जैसे भासमान ही दीप घटादिका प्रकाशक होता है, वैसे ही भासमान ही बुद्धि किसीका साधक हो सकती है । अतः उसके प्रकाशके लिये बोध आवश्यक होगा । तदर्थ आत्माके ज्ञाततारूप लिङ्गसे अहंबुद्धिका अनुमान करना पड़ेगा । लिङ्गज्ञानमें ज्ञातताविशिष्ट आत्माका भी ज्ञान हो जायगा । तथा च आत्माके ज्ञानमें अहंबुद्धि होगी एवं अहंबुद्धिसे आत्माका ज्ञान होगा । यदि अहंबुद्धि बोधाश ही है, तो अन्तःकरणरूप उपाधिसे बोध ही अहंबुद्धि भी है और उसीसे सर्वव्यवहार उपपन्न हो सकता है, फिर द्रव्यांशका अङ्गीकार करना व्यर्थ है । फिर भी कहा जाता है कि 'यदि बोध स्वप्रकाश ही है, तो वेदान्तोका क्या प्रयोजन रहेगा ?' परंतु इसका समाधान यही है कि उसी बोधका अनुवाद करके उसे ब्रह्मरूप समझाना ही वेदान्तोका प्रयोजन है । उस अखण्ड स्वप्रकाश बोधसे प्रत्यक्षानुमानागमादि प्रमाण एवं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि, मूर्च्छा-अवस्था स्वतः सत्तास्फूर्तिरहित होनेपर भी प्रकाशित होते हैं । इसी तरह निखिल प्रपञ्च जिस बोधके प्रसादसे सत्ता-स्फूर्तिशाला होकर भासमान होता है, जो स्वयं स्वमहिमस्य एवं स्वप्रकाश-बोध है, वही ब्रह्मात्मा है । जो स्वयं अन्यार्थ नहीं है और सब कुछ जिसके लिये है, वही निरतिशय पर-प्रेमका आस्पद आत्मा एव आनन्दस्वरूप बोध ही सब कुछ है; अर्थात् सब कुछ उसीमें अध्यस्त है । भावाभावात्मक सभी पदार्थ जिसका आश्रय करते हैं, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि परस्पर विलक्षण अविद्याकार्यस्वरूप जगत् जिसमें प्रतिभासित होता है, वही सर्वविकारशून्य, सर्वसाक्षी अखण्ड बोध ब्रह्म है ।

कहा जा सकता है 'निद्रामें किसी नित्य अनुभवका पता नहीं लगता, फिर उसे अवस्थात्रय-साक्षी कैसे कहा जा सकता है ?' परंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि निद्राकालमें भी सुख, निद्रा, विशेषज्ञानाभाव, सुखादिके भासक असकुचित बोधका अस्तित्व है ही; अतएव श्रुति कहती है 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृह० उ० ४ । ३ । २३) । अर्थात् द्रष्टाकी स्वरूपभूता नित्य-दृष्टि कभी भी छुप्त नहीं होती । फिर भी जागरस्वप्नमें प्रकाश्य स्फुट होनेसे प्रकाशकत्व स्फुट है, सुप्तिमें स्थूल दृश्य न होनेसे औपाधिक साक्षिता स्फुट नहीं होती । वस्तुतः साक्ष्यके सम्बन्धसे ही आत्मामें साक्षिताका भी व्यवहार होता है । प्रत्यग्बोधस्वरूप आत्मा तो मन, बुद्धि एवं वाक्का भासक होनेसे उनका भी अगोचर ही है । उसीमें कर्तृत्वादि अविद्या-कल्पित है । अविद्या भी बोधसे ही प्रकाशित होती है । अविद्या अनादि होने पर भी ब्रह्माकारवृत्तिसे बाधित हो जाती है । जैसे सौरालोकप्रकाशित तूलराशि सूर्यक्रान्तपर अग्निरूपसे व्यक्त उसी सौरालोकसे दग्ध हो जाती है, वैसे ही अविद्या-भासक भान ही ब्रह्माकारवृत्तिपर प्रकट होकर अविद्याका दाहक हो जाता है । भले वह बोध देह, बुद्धि, मस्तिष्क आदिमें ही प्रतीत हो, फिर भी वह स्वतन्त्र है, देहादिका धर्म नहीं है । भले गृह, क्षेत्र आदिमें दिव्य रत्नादि मिले, फिर भी वे गृह-क्षेत्रदिके धर्म नहीं हैं । भले ही काष्ठादिमें अग्नि उपलब्ध हो फिर भी अग्नि स्वतन्त्र है, काष्ठादिका धर्म नहीं है, वैसे ही बोध स्वतन्त्र, नित्य एवं ब्रह्मात्मस्वरूप है, वह देहादिका धर्म नहीं है ।

अनुभव-विमर्श

अनुभव यदि दूसरे अनुभवसे अनुभाव्य होगा तो अनवस्थादोष होगा, क्योंकि वह जिस अनुभवसे अनुभाव्य होगा, उसे भी किसी अन्य अनुभवसे अनुभाव्य होना पड़ेगा । यदि प्रथमानुभवसे द्वितीयका एवं द्वितीयसे प्रथमका अनुभव माना जाय तो अन्योन्याश्रयदोष होगा । प्रथमका द्वितीयसे, द्वितीयका तृतीयसे अनुभव मानें, तो अनवस्था और यदि प्रथमानुभवका अपनेसे ही अनुभव माना जाय तो आत्माश्रय-दोष होगा एवं वही कर्म और वही कर्त्ता होनेसे कर्म-कर्त्तृ-विरोध भी होगा । अतएव अनुभवत्व एवं अनुभाव्यत्व दोनोंका सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता । लोग कहते हैं कि 'यदि अननुभाव्यत्वके कारण अनुभवका अनुभवत्व सिद्ध किया जायगा, तब तो खपुष्प भी अननुभाव्य है, अतः उसमें भी अनुभवत्व ठहरेगा ।' परंतु ऐसा कहना ठीक नहीं । जैसे गोमें गोत्व, घटमें घटत्व होता है, वैसे ही अनुभवमें अनुभवत्व सिद्ध ही है । फिर उसे अननुभाव्यत्वरूप साधनसे सिद्ध क्या करना है ? फिर भी यदि अननुभाव्यत्वरूपसे अनुभवत्व सिद्ध भी करना पड़े तो 'सत्त्वे सत्यननुभाव्यत्व' अर्थात् सत्त्वविशिष्ट अननुभाव्यत्व भी अनुभवत्वका साधक हेतु माना जाता है । तथा च

स्वप्नमे भले ही अननुभाव्यत्व रहे, परंतु विशेषणभूत सत्त्व न होनेसे उसमें अनुभवत्व नहीं जायगा । अज्ञात घटमें भी अनुभवयोग्यता है ही । अनुभवितुं योग्य ही अनुभाव्य होता है, अतः उसमें भी अतिव्याप्ति न होगी ।

कुछ लोग कहते हैं कि 'जो वर्तमान दशामें स्वाश्रयके प्रति स्वसत्तासे ही स्वविषयका साधन है, वही अनुभूति है ।' परंतु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विषय-साधनत्व विषय प्रकाशकत्व ही है । उसका भी अर्थ होगा विषय-प्रकाशजनकत्व । विषय-प्रकाश विषयानुभवरूप ही होगा । तथा च निष्कर्ष यह निकलेगा कि अनुभव-अनुभवका जनक है । यदि इन दोनों अनुभवोंकी एकता मान्य है, तब तो आत्माश्रय-दोष होगा । जैसे स्वयं देवदत्त अपनेसे उत्पन्न नहीं हो सकता, वैसे अनुभव भी अपनेसे ही उत्पन्न नहीं हो सकता । यदि दोनोंका भेद माना जाय तो द्वितीय अनुभवको प्रथमानुभवसे जन्य कहना पड़ेगा । परंतु प्रथमानुभव किमसे उत्पन्न होगा ? यदि उसे विषयेन्द्रिय-सनिकर्षसे जन्य माने, तब तो द्वितीय अनुभवको भी उस सनिकर्षसे जन्य मानना चाहिये । फिर उसे प्रथमानुभवसे जन्य क्यों माना जाय ? अतः 'अनुभव स्वविषय अनुभवका जनक है' यह कल्पना व्यर्थ ही है । 'अनुभव स्वाश्रयके प्रति स्वविषयका प्रकाशक है' इस तरह 'स्वाश्रयके प्रति' यह अंश भी व्यर्थ ही है; क्योंकि अनुभव किसीके आश्रित नहीं रहता । जो कहते हैं कि 'अनुभव आत्माके आश्रित रहता है', वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभव स्वयं ही तो आत्मा है ।

कुछ लोग कहते हैं कि 'अनुभविता ही आत्मा है, अनुभव नहीं', पर यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभव ही अनुभविता भी है । जैसे प्रकाशस्वरूप सविता ही प्रकाशक भी कहा जा सकता है, वैसे ही अनुभवस्वरूप आत्मा ही अनुभविता भी कहा जा सकता है । कहा जाता है कि 'संकोचविकासशाली धर्मभूत नित्यद्रव्य आत्मस्वरूपसे भिन्न ही ज्ञान है ।' परंतु संकोचविकास साव-यव पदार्थका ही धर्म होना है । जो विकारी है, वह नित्यद्रव्य नहीं हो सकता । फिर इस पक्षमें यदि धर्मभूत ज्ञानद्रव्य स्वसत्तासे ही स्वविषयका प्रकाशक होता है, तो इसी तरह ज्ञानस्वरूप आत्मा भी स्वसत्तासे विषयप्रकाशक हो ही सकता है । वस्तुतस्तु शुद्ध बोध ब्रह्मस्वरूप ही है, अतएव वह निर्धर्मक ही है । अतएव उसमें अनुभवत्व, बोधत्यादि धर्मकी कल्पना व्यर्थ है । 'अनुभवका लक्षण क्या है ?' इस प्रश्नका उत्तर यही है कि अनुभवका स्वरूप लक्षण अनुभव ही है । यदि अनुभवका भी अन्य स्वरूप हो, तब तो उस स्वरूपका भी कोई अन्य स्वरूप होगा एवं उस स्वरूपका भी अन्य स्वरूप होगा, फिर अनवस्थाप्रसङ्ग अनिवार्य होगा । तद्वत् लक्षण अनुभवका वही है, जो ब्रह्मका है—'यतो वा इमानि भूतानि

जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म' (तैत्ति० उप० ३ । १) अर्थात् जिससे समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, जिममें जीवित रहते हैं और जिसमें विलीन होते हैं, वही ब्रह्म है ।

कहा जाता है कि 'अनुभव यदि परप्रकाश होगा, तो अनवस्थादि दोष होंगे, अतः उसे स्वयंप्रकाश कहना पड़ेगा । इस तरह स्वयंप्रकाशत्व धर्म उसमें रह सकता है, फिर उसे निर्धर्मक कैसे कहा जा सकता है ?' पर यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यद्यपि ब्रह्ममें व्यावहारिक सधर्मकत्व है, तथा पारमार्थिक धर्म उसमें कोई नहीं है, क्योंकि वह सजातीय-विजातीय-स्वगत सर्वविध भेदशून्य है । कहा जाता है कि 'अनन्यायभास्यत्वविशिष्ट स्वेतरसर्वावभासकत्व ही स्वयंप्रकाशत्व है । अनुभवके सर्वावभासक होनेका अर्थ है सर्वावभास या सर्वानुभवजनक होना ।' परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है । वस्तुतः निर्विकल्पक ज्ञान चैतन्य शब्दसे कहा जाता है और सविकल्पक ज्ञान वृत्तिशब्दवाच्य है । इस दृष्टिसे सविकल्पक ज्ञानकी उत्पत्ति निर्विकल्पक ज्ञानसे हो सकती है । यहाँ भी प्रश्न होता है कि 'वृत्तिज्ञान क्या है ? वृत्ति चैतन्य या अन्य कुछ ?' पहला पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि वृत्ति स्वयं जड़ है, वह विषयवभासक नहीं हो सकती । ज्ञान भासक होता है । भान ही ज्ञान है । जड़वृत्ति तो स्वकालमें भी भानरूप नहीं बन सकती । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि चैतन्यको तो वृत्तिज्ञानका जनक ऊपर कहा गया है । फिर वही जन्य कैसे होगा ? तीसरा पक्ष भी सङ्गत नहीं है । वृत्ति एव चैतन्यसे भिन्न चानरूप कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है । उपर्युक्त प्रश्नका समाधान यह है कि वृत्तिप्रतिकल्पित चैतन्य ही वृत्तिज्ञान है । वही चैतन्य विषयचैतन्यसे अभिन्न होकर प्रत्यक्ष होता है । इसीलिये केवल चैतन्य एव केवल वृत्तिसे वह वृत्तिज्ञान अन्य ही है । एक ही ज्ञानमें उपाधिभेदसे जन्यजनकभाव हो सकता है । अथवा अनुभव 'स्वेतर सर्वावभासक है' इसका अर्थ यह है कि स्वेतर सभी विषयोंमें 'भाति' (प्रतीत होना है) इत्याकारक प्रतीतिविषयताका जनक है । 'भाति' इस प्रतीतिकी विषयता ही सर्वावभास्यता है । त्रिदाभासरूप फलकी व्याप्ति हुए बिना कोई भी जड़ वस्तु 'भाति' इस प्रतीतिका विषय नहीं हो सकती । एतावता स्वतः सर्वदा सर्वका अवभासन करता हुआ भी वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यके द्वारा सभी वस्तुओंमें 'भाति' (भासमान है) इस प्रतीतिकी विषयता होती है ।

कहा जा सकता है कि 'भाति यह प्रतीति ही तो अनुभव है, इससे अतिरिक्त अनुभव कुछ नहीं है ।' परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतीतिसे अतिरिक्त अनुभव है । चक्षुसे घटका साक्षात्कार करके पुरुष निश्चय करता है कि घट है और भासमान है । इस तरह घटसाक्षात्काररूप अनुभवसे भिन्न ही अनुभवजन्य प्रतीति होती है ।

फिर भी 'भाति' इस प्रतीतिसे भिन्न अनुभव क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर वस्तुतः दुर्वच ही है । यद्यपि कहा जाता है कि 'निर्विकल्पक अनुभव ही दुर्वच होता है, सविकल्पक अनुभव तो सुवच ही होता है ।' तो भी यह ठीक नहीं, क्योंकि सविकल्पक अनुभवकी भी वही दशा होती है । हाँ, भेद यह है कि निर्विकल्पक अनुभवका विषय दुर्वच है, सविकल्पक अनुभवविषय सुवच होता है । स्वयं अनुभव तो दोनों ही दुर्वच ही होते हैं । विषयभेदके कारण वही अनुभवका सविकल्प-निर्विकल्परूप द्वैविध्य भी होता है । स्वतः तो अनुभव एक ही होता है । वह अनन्यावभास्य होकर स्वेतर सर्वका भासक होता है । यही उसका लक्षण है । यद्यपि यहाँ भी बहुत से विकल्प उठते हैं, जैसे अनुभवका घटावभासकत्व क्या है ? घट इत्याकारक प्रतीतिकी जनकता अथवा घट इस प्रतीतिविषयताकी जनकता अथवा घटाकारानुभवजनकत्व अथवा घटानुभवविषयत्वजनकत्व ? अनुभव और प्रतीति यदि एक ही हैं, तो अनुभव अनुभवका जनक कैसे हो सकेगा ? क्योंकि अभेदमें कार्यकारणभाव नहीं होता । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि घट तो सर्वदा विषय ही होता है, अतः उसमें विषयता सदा ही रहती है । फिर उसमें कादाचित्क जन्यता और अनुभवमें जनकता कैसे सम्भव होगी ? इस तरह अन्य पक्ष भी असङ्गत ही हैं ।

इस सम्बन्धमें अध्यात्मवादियोंका समाधान स्पष्ट है । प्रतीतिशब्द-प्रयोगलक्षण व्यवहार है । अनुभव उससे भिन्न उसका जनक है । इस तरह प्रतीति और अनुभवमें भेद होता है । यद्यपि स्वानुभवसमयमें शब्दप्रयोग नहीं होता, परोपदेशसमयमें ही शब्दप्रयोग होता है, तथापि स्वानुभव-समयमें भी सूक्ष्म मानसिक शब्दप्रयोग होता ही है । इस तरह प्रतीतिजनकता अनुभवमें सङ्गत है ही । इसी तरह अनुभूत घट ही 'घट' इस व्यवहारका विषय होता है । अतः अनुभव ही घटकी व्यवहारविषयताका जनक है । यदि घटका अनुभव न हो तो घटमें व्यवहारविषयता ही नहीं बन सकती । तीसरे पक्षमें भी कोई बाधा नहीं, क्योंकि केवल अनुभव घटानुभवका जनक हो ही सकता है । जैसे केवल प्रकाश घटप्रकाशका जनक कहा जा सकता है, वैसे ही यहाँ भी व्यवहार हो सकता है । निरुपाधिक अनुभव सोपाधिक अनुभवका जनक है । इस तरह घटरूप उपाधिके द्वारा कार्यकारणभाव होता है । अतएव चौथा पक्ष भी ठीक ही है । भले ही घट सर्वदा ही सामान्यानुभवका विषय हो, तथापि विशेषानुभवविषयता सदा नहीं रहती । किंतु चक्षु एवं घटका संयोग होनेसे ही घट विशेषानुभवका विषय होता है । इस तरह घटानुभवविषयत्वजनकता भी अनुभवकी घटावभासकता हो ही सकती है ।

फिर प्रश्न होता है कि 'वह सामान्यानुभव साक्षिचैतन्यरूप है अथवा साध्याकार-वृत्तिज्ञानरूप ?' कहा जा सकता है कि 'साध्याकार-वृत्ति होनेपर

साक्षीका साक्षात्कार समझा जायगा और फिर तो सभीको मुक्त ही होना चाहिये ।' परतु यह ठीक नहीं है, कारण कि प्रमाणजन्य साक्षात्कारवृत्तिसे साक्षीके आवरक अज्ञानकी निवृत्तिके बिना साक्षात्कार नहीं होता । इसपर भी विचार चलता है कि 'साक्षीका साक्षात्कार क्या हो सकता है ? क्योंकि अनुभवका अनुभव क्या होगा ?' परतु इसका भी समाधान यही है कि साक्षीसे भिन्न द्वैतका अनुभव न होना ही साक्षीका साक्षात्कार है । कहा जा सकता है कि 'इस तरह तो द्वैतानुभवाभाव ही साक्षीका अनुभव हुआ ।' परतु यह ठीक नहीं, क्योंकि अनुभव नित्य है । फिर वह अभावका प्रतियोगी कैसे बन सकता है ? अतः विशेष अनुभवका अभाव ही सामान्यानुभव है । विशेषानुभव तो चक्षुषट-संयोग आदिसे उत्पन्न होता है, अतः उसका अभाव हो सकता है । विशेषानुभव-दशामें भी यद्यपि सामान्यानुभव रहता है, तथापि वह असत्-जैसा ही रहता है, किंतु विशेषानुभवाभावदशामें सामान्यानुभव सत्ताप्रकर्षको प्राप्त हो जाता है । इसीलिये विशेषानुभवाभाव सामान्यानुभवरूप साक्षीका साक्षात्कार है ।

कहा जाता है कि 'विशेषानुभवाभावदशामें अज्ञानका ही अनुभव होता है, साक्षीका नहीं ।' परतु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि साक्षीके आवरक अज्ञानका अनुभव ही साक्षीके अनुभवरूपसे व्यवहृत होता है । अज्ञानावच्छिन्न साक्षीका अनुभव ही सामान्यानुभव है । कहा जाता है कि 'यद्यपि सोपाधिक साक्षीका अनुभव हो सकता है, क्योंकि वह अनुभाव्य होता है । परंतु केवल साक्षीका अनुभव कैसे हो सकेगा ? केवल साक्षी ही अनुभव है, यह भी नहीं कहा जा सकता ।' परतु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जबतक अविद्या रहती है, तबतक साक्षी केवल रह ही नहीं सकता । अविद्या उपाधिके द्वारा साक्षीकी सोपाधिकता बनी रहती है । यह भी कहा जाता है कि 'फिर तो समाधिमें भी अज्ञान रहता है, अतः वहाँ भी साक्षीका स्फुरण कैसे होगा ?' पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि समाधिमें साक्षी केवल ही है, उपाधिशून्य है, तब तो अवश्य समाधिमें साक्षीका अनुभव नहीं हो सकता; क्योंकि साक्षीका अनुभव करनेके लिये वहाँ कोई प्रमाता ही नहीं होता । किंतु उस समय केवल साक्षी ही रहता है । इसीलिये उस समय 'मैं साक्षीको देख रहा हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती । अतः अज्ञान एव अज्ञानकार्य जिस किसी विशेषके अनुभवका अभाव ही साक्षीका साक्षात्कार है । कहा जा सकता है कि 'अभाव साक्षात्काररूप कैसे हो सकता है ?' पर यह ठीक नहीं, क्योंकि अभाव स्वयं अधिकरणरूप ही होता है । अतः विशेषानुभवाभावाधिकरण साक्षी ही साक्षीका साक्षात्कार है ।

विशेषका अध्यास सामान्यमें ही होता है। अध्यासाभाव अधिष्ठानसे अनतिरिक्त अधिष्ठानरूप ही होता है। विशेषानुभवाभावरूप साक्षीका साक्षात्कार उपपन्न हो सकता है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि 'साक्षीका ही परिशेष रहना साक्षीका अनुभव है और सर्वद्वैतकी अप्रतीति होनेपर ही वह होता है।' यह भी कहा जा सकता है कि 'साक्षिस्वरूप ही साक्षीका साक्षात्कार है। जैसे राहुका शिर, आत्माका चैतन्य, सूर्यका प्रकाश आदि स्थानोंमें अभेदमें भी भेद-व्यवहार होता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। इस तरह प्रत्यगभिन्न स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही नित्य अनुभव है।'।

कुछ लोग कहते हैं कि 'अनुभवका प्रागभाव अनुभवसे ही गृहीत होता है, अतः अनुभवको नित्य नहीं कहा जा सकता।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि फिर प्रश्न होगा कि 'जिस किसी वस्तुका जिस किसीमें गृह्यमाण प्रागभाव होता है अथवा अगृह्यमाण भी प्रागभाव होता है?' दूसरा पक्ष तो सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि इस तरह तो प्रमाणके बिना ही किसी वस्तुका अस्तित्व सिद्ध हो सकेगा। पहला पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ विचारणीय यह है कि अनुभवका प्रागभाव अपनेसे ही ग्राह्य है या अन्यसे? पहली बात ठीक नहीं; क्योंकि पुत्रका प्रागभाव पितासे गृह्यमाण होता है, स्वयं पुत्र अपना प्रागभाव ग्रहण नहीं कर सकता। इसी तरह अनुभव स्वयं अपना प्रागभाव ग्रहण नहीं कर सकता। यदि अपने प्रागभाव-ग्रहणके समय अनुभव रहता है, तो उसका प्रागभाव कैसे कहा जा सकता है? यदि स्वयं नहीं है, तो प्रागभावका ग्रहण किस तरह होगा? स्वप्रागभाव अन्यसे गृहीत होना तो ठीक है, परंतु प्रकृतमें तो अनुभवसे भिन्न सब जड़ ही है। फिर जड़से अनुभव-प्रागभाव किस तरह गृहीत हो सकेगा? 'अनुभवका प्रागभाव आत्मासे गृहीत होगा' यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि आत्मा ही तो अनुभव है।

कहा जाता है कि 'अनुभवके प्रागभावको अनुभव ग्रहण नहीं करता यह आपने कहीं देखा है या नहीं?' पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि उसी आपके दर्शनसे अनुभवका प्रागभाव सिद्ध हो जायगा। अनुभवका अपने प्रागभावको ग्रहण न करना भी अनुभवका प्रागभाव ही है। उसका दर्शन आपको है ही। दूसरा पक्ष भी इसलिये ठीक नहीं है कि यदि आपने यह देखा ही नहीं, तो कैसे कह सकते हैं कि 'अनुभव अपने प्रागभावको ग्रहण नहीं करता?' यदि अदृष्ट भी ग्राह्य हो, तब तो शशशृङ्ग भी ग्राह्य हो सकेगा।' परंतु इस कथनमें कुछ सार नहीं है, क्योंकि पुत्रका प्रागभाव पुत्र स्वयं ग्रहण नहीं करता। 'यह मैंने देखा है' इससे स्वप्रागभाव अपनेसे गृहीत नहीं होता, यह व्याप्तिज्ञान होता है। इसी आधारपर यह कहना सङ्गत है कि 'अनुभव-प्रागभावको अनुभव नहीं ग्रहण कर सकता।'।

कहा जाता है कि 'भले ही पुत्र-प्रागभावको पुत्र ग्रहण न करे, पर क्या एतावता पुत्र प्रागभाव सिद्ध नहीं होता ? उसी तरह भले ही अनुभव स्वप्रागभाव ग्रहण न करे तथापि उसके प्रागभावकी असिद्धि नहीं कही जा सकती।' पर यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्तमें तो पुत्र-प्रागभावको पिता ग्रहण करता है, अतः वहाँ पुत्र-प्रागभाव सिद्ध होता है। परन्तु अनुभव-प्रागभावको कोई भी नहीं ग्रहण करता, अतः उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। कहा जाता है कि 'पुत्र भी अपने प्रागभावको अनुमानसे जान सकता है, जैसे कि 'उत्पत्तिके पहले मैं नहीं था; क्योंकि उत्पत्तिके पहले घटका असत्त्व देखा जाता है।' परन्तु यह भी कथन सङ्गत नहीं है; क्योंकि स्वप्रागभाव स्वप्रत्यक्षका विषय नहीं होता; यही उपर्युक्त कथनका आशय है। एतावता स्वानुमानकी विषयता स्वप्रागभावमें हो भी तो कोई आपत्ति नहीं। जो लोग कहते हैं कि 'फिर तो इसी तरह अनुभव भी अनुमानके द्वारा स्वप्रागभावको जान सकता है।' परन्तु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि अनुभव स्वसत्तासे ही स्वविषयका प्रकाशक होता है, यही अनुभववादियोंकी धारणा है। फिर अनुभव यदि अनुमानरूप अन्य व्यापारसे स्वविषयको प्रकाशित करेगा तो सिद्धान्त विरोध होगा। ऐसा होनेमें अनुभवमें स्वयंप्रकाशता भी नहीं सिद्ध होगी।

कुछ लोग कहते हैं कि 'अनुभव अतीत वस्तुको भी प्रकाशित करता है, इसीलिये योगियोंको अतीत वस्तुका भी प्रत्यक्ष होता है। इसी तरह अतीत प्रागभावको भी अनुभव ग्रहण कर सकता है।' पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि हमारा यह कहना नहीं है कि अनुभवमें वर्तमान वस्तु ही विषय होती है, किन्तु योगीको या सर्वज्ञ ईश्वरको त्रैकालिक वस्तुओंका प्रत्यक्ष हो सकता है। अनुभव-प्रागभाव अनुभवका विषय नहीं होता, यही कहना है। फिर भी शङ्का होती है कि 'गुरूपदेशके पहले मुझे इस श्लोकार्थका ज्ञान नहीं था', इस प्रकारके अनुभवमें अनुभवका प्रागभाव विषय होता ही है।' पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ श्लोकार्थज्ञानका प्रागभाव श्लोकार्थज्ञानका विषय नहीं है; किन्तु यह प्रागभाव अन्य ज्ञानका ही विषय है। इस तरह ज्ञानान्तरके द्वारा ही श्लोकार्थज्ञानका प्रागभाव सिद्ध होता है। एतावता अनुभव-प्रागभाव किसी भी ज्ञानसे सिद्ध नहीं होता। हाँ, वृत्तिज्ञानका तो प्रागभाव एव प्रध्वंसाभाव चैतन्यसे गृहीत होता है। अतः वृत्तिज्ञानका प्रागभावादि हो सकता है। परन्तु चैतन्यका प्रागभाव चैतन्यसे व्याघातदोषके कारण गृहीत नहीं होता।

यदि कहा जाय कि 'एक चैतन्यका प्रागभाव अन्य चैतन्यसे गृहीत हो', तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि अन्य चैतन्य है ही नहीं। चैतन्य चैतन्य सत्र एक ही है, आकाशवत् उसके भेदमें कोई प्रमाण नहीं है। जैसे पुत्र यह समझता है कि

मैं उत्पत्तिके पहले नहीं था, वैसे चैतन्य यह अनुभव नहीं करता कि मैं उत्पत्तिके पहले नहीं था। अतः उसकी उत्पत्ति एवं प्रागभाव कथमपि गृहीत नहीं होते। फिर भी कहा जाता है कि 'मैं नहीं था' इस तरह आत्मा अपने प्रागभावका अनुभव करता है और यदि आत्मा अनुभवरूप ही है तब तो उसका प्रागभाव सिद्ध हो गया।' पर यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि देहतादात्म्य (अभेद) के अध्यासे देह-प्रागभावको ही आत्मप्रागभाव भ्रान्तिवश समझ लिया जाता है। वस्तुतः आत्मप्रागभाव अनुभूत नहीं होता। कहा जाता है कि 'मैं सर्वदा रहा हूँ' इस प्रकार भी अनुभव नहीं जानता।' परतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभवस्वरूप विद्वान् आत्मा अवश्य अनुभव करता है कि मैं सर्वदा रहा हूँ। फिर भी कहा जाता है कि 'सृष्टिके पहले जीव आदि नहीं थे, केवल ईश्वर था। 'भागवत' का कहना है—'अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्' (२।९।३२) अर्थात् सृष्टिके पहले मैं ही था, अन्य सत्, असत् कुछ भी न था। पर यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि सिद्धान्तमें जीव-ईश्वरकी एकता ही है, अतः ईश्वरकी नित्यतासे तदभिन्न जीवकी भी नित्यता सिद्ध हो जाती है। इसीलिये 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयम्' (कठोप० १।२।१८) इत्यादि श्रुतियोंसे जीवात्माकी नित्यताका प्रतिपादन होता है। इस तरह अनुभव ही प्रत्यक् ब्रह्म है, उसका प्रागभावादि सिद्ध नहीं होता। यह स्वयंप्रकाशत्व, नित्यत्वादि अजन्य नित्यज्ञानका ही है। वृत्तिरूप इन्द्रिय-संनिकर्षादिजन्य ज्ञानके सम्बन्धमें यह बात नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'जैसे पृथ्वी नित्य है, फिर उसके अवस्थाविशेष गड्ढादि अनित्य हैं, वैसे ही ज्ञानद्रव्यके नित्य होनेपर भी उसके अवस्थाविशेष स्मृतित्वादि अनित्य होंगे।' पर यह कहना भी ठीक नहीं, कारण नित्य वस्तुमें अवस्था नहीं होती। सिद्धान्ततः पृथ्वी आदि भी अनित्य ही हैं। अनित्य क्षीरादि द्रव्यकी ही क्षीरत्व, दधित्वादि अवस्थाएँ होती हैं, नित्य ज्ञानकी कोई अवस्था वास्तविक नहीं होती। अवस्था स्वयं विकार है। विकारी वस्तु अनित्य ही होती है। कहा जाता है कि 'जैसे वेदान्ती घटावच्छिन्न चैतन्यको अनित्य मानता है, फिर भी उसे शुद्ध चैतन्य नित्य मान्य है।' पर यह ठीक नहीं है; क्योंकि वहाँ भी चैतन्य नित्य ही है, किंतु घटकी अनित्यतासे तदवच्छिन्न चैतन्यमें अनित्यताका व्यवहार होता है। यदि उसी तरह ज्ञानकी नित्यता एवं स्मृति, प्रमा आदिकी अनित्यता जडवादीको भी मान्य हो, तब तो ठीक ही है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'स्वयंप्रकाशत्व, नित्यत्वका सामानाधिकरण्य नहीं होता। स्वयंप्रकाश भी दीपादि अनित्य होता है। आकाश, कालादि स्वयंप्रकाश न होनेपर भी नित्य होते हैं।' परंतु यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि जो स्वयंप्रकाश नहीं, वह स्वतःसिद्ध भी नहीं होता। जो स्वतःसिद्ध नहीं है, वह नित्य भी नहीं होता। काल, आकाश आदि भी अनित्य ही हैं। दीपादिकी स्वयं-

प्रकाशता सापेक्ष ही है। अतएव उसे भी अपने प्रकाशके लिये दीपान्तरकी अपेक्षा न होते हुए भी चक्षुः, मन एवं चैतन्यकी अपेक्षा है ही। जो लोग योग्यानुपलब्धि-के बलपर ज्ञानप्रागभाव सिद्ध करना चाहते हैं, वे भी भ्रान्त ही हैं; क्योंकि अनुपलब्धि-उपलब्धिका अभाव ही है। उपलब्धि अनुभव ही है। तथा च निष्कर्ष यह निकला कि अनुभवाभावसे ही अनुभवका प्रागभाव सिद्ध होता है। यहाँ विचारणीय है कि दोनों अनुभवों एव दोनों अभावोंका यदि अभेद है तब तो आत्माश्रय-दोष होगा, अतः उसी अनुभवाभावसे अनुभव-प्रागभाव नहीं गृहीत हो सकता। यदि दोनोंका भेद है, तो प्रश्न होगा कि 'अनुभवाभाव किससे गृहीत होगा?' यदि दूसरे अनुभवसे, तब तो अन्योन्याश्रय-दोष होगा।

कहा जाता है कि 'यदि यहाँ घट होता तो उपलब्ध होत', घट नहीं उपलब्ध होता, अतः वह नहीं है। इसी प्रकार इस समय यदि अनुभव होता, तो वह उपलब्ध होता, अनुभव उपलब्ध नहीं होता, अतः अनुभव नहीं है। इस तरह अनुभवाभाव सिद्ध होगा।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि यदि अनुभव उपलब्ध या भास्य हो तभी इस प्रकार अभावसिद्धि हो सकती है। यदि अनुभव रहता हुआ भी वेद्य नहीं होता, स्वप्रकाश होनेसे अनुभवान्तरका गोचर नहीं होता, तो इस प्रकारकी अनुपलब्धिसे अभाव कैसे सिद्ध हो सकता है? घटका उपलब्ध आत्मा होता है। परंतु अनुभवका कोई भी उपलब्ध नहीं होता। आत्मा तो स्वयं अनुभवरूप ही है। प्रमाता भी अनुभवका ही सोपाधिक रूप है, अतः अनुपलब्धिग्रमाणसे अनुभवाभावका बोध नहीं हो सकता।

कुछ लोग यह भी आपत्ति उपस्थित करते हैं कि 'प्रत्यक्ष ज्ञान स्वसत्ताकालमे विद्यमान ही स्वविषय घटादिका साधक होता है, घटादिकी सर्वदा सत्ताका बोध नहीं कराता। इसीलिये पूर्व एवं उत्तर कालमें घटादिकी सत्ता प्रतीत नहीं होती। प्रत्यक्ष-ज्ञानरूप संवेदन कालपरिच्छिन्नरूपसे प्रतीत होता है। इसीलिये घट भी कालपरिच्छिन्नरूपसे प्रतीत होता है। यदि घटादिविषयक संवेदन स्वयं कालानवच्छिन्न होकर प्रतीत हो; तब तो वेदनाविषय घटादिको भी कालानवच्छिन्नरूपसे ही प्रतीत होना चाहिये और फिर इस तरह घटादि भी नित्य ठहरेगा।' परंतु यह आपत्ति निःसार है; क्योंकि यदि घटादि विषयके परिच्छिन्न होनेसे तद्विषयक प्रत्यक्ष-ज्ञान भी परिच्छिन्न कहा जायगा, तब तो यह भी कहना होगा कि ईश्वर एव आत्मा आदि विषयके नित्य होनेसे तद्विषयक प्रत्यक्ष-ज्ञानकी भी नित्यता होनी चाहिये। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'जब घटादि प्रत्यक्षस्थलमें प्रत्यक्षकी अनित्यता दृष्ट है, तब तदनुसार ही ईश्वर या आत्मादिस्थलमें भी प्रत्यक्षको अनित्य ही मानना ठीक है।' परंतु यह भी तो कहा जा सकता है कि 'ईश्वरात्मस्थलमें ज्ञानकी नित्यता देखकर घटादिस्थलमें भी ज्ञान नित्य ही है।' फिर शङ्का होती है कि 'संवेदनके नित्य होनेसे संवेदनविषय घटादिको भी नित्य होना

चाहिये ।' परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ भी यही कहा जा सकता है कि संवेदनके अनित्य होनेसे ब्रह्म आदि भी अनित्य क्यों न हो ? अतः स्वविषयके नित्यत्व एवं अनित्यत्वसे प्रत्यक्षका नित्यत्व या अनित्यत्व नहीं कहा जा सकता । घटसंवेदनके क्षणिक या त्रिचतुःक्षणस्थायी होनेपर भी तद्विषय घटादिको महीनों एवं वर्षातक स्थिर देखा ही जाता है । अतः घटादिको संवेदनके समकालिक नहीं कहा जा सकता । यदि घटसंवेदनके असमकाल हो सकता है, तो संवेदन भी घटके असमकाल हो ही सकता है । फिर तो संवेदनके नित्य होनेपर भी घटादिकी नित्यताका कोई प्रसङ्ग नहीं आता ।

यह भी विचारणीय है कि 'संवेदन अपने पूर्वोत्तरकालमें घटाभावका बोधन करता है अथवा घटका पूर्वोत्तरकाल घटाभावका बोधन करता है ।' पहला पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि संवेदनके पूर्वोत्तरकालमें घटका सत्त्व रहता ही है । व्यावहारिक घटकी अज्ञात सत्ता भी मान्य है ही । सामान्यतया कोई भी यह नहीं समझता कि 'इसी समय मुझे घटज्ञान हुआ, अभी ही घट भी हुआ, पूर्वोत्तरकालमें घट नहीं था ।' अद्वैतीका जो कहना है कि 'जब घट-प्रतीति होती है, तभी घट है । घटप्रतीति नहीं तो घट भी नहीं ।' उसका आशय केवल इतना ही है कि प्रतीतिमें घट अव्यक्त होता है, अतः प्रतीतिसे अतिरिक्त घटकी सत्ता नहीं होती और दृष्टिदृष्टिवादकी व्यवस्था अत्युच्च अधिकारियोंके लिये ही है । इन्द्रियार्थ-संनिकर्षजन्य घटादिज्ञान क्षणिक त्रिचतुरक्षणस्थायी होता है अथवा स्वविरोधिवृत्त्यन्तरोत्पत्तिपर्यन्त स्थायी होता है । अतः उसकी अनित्यता वेदान्तिकों भी अभीष्ट ही है । जो अजन्य ज्ञान है, वही नित्य है । कुछ लोग कहते हैं कि 'अजन्य ज्ञान है ही नहीं ।' परंतु उन्हें वृत्तिरूप ज्ञानकी उत्पत्तिसे ही तदुपाधिकज्ञानकी जन्यताकी भ्रान्ति होती है । वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप ज्ञान तो अजन्य ही है । उसकी जन्यतामें कोई प्रमाण नहीं है । वृत्ति एवं चैतन्यका विवेचन अतिदुष्कर है । जैसे मिले हुए क्षीर-नीरका विवेचन हंस ही कर सकता है, वैसे ही वृत्ति एवं चैतन्यका विवेचन अन्तर्मुख परमहंस ही कर सकता है ।

जो कहते हैं कि 'संविद्की अपेक्षासे ही विषयकी अतीतता एवं अनागतता होती है', उन्हें यह भी बतलाना चाहिये कि फिर संविद्की अतीतता आदि किसकी अपेक्षासे होगी ? यदि संविद्का अतीततानागतत्व स्वापेक्षासे ही मान्य है, तब तो विषयका भी अतीतत्वादि स्वापेक्षासे ही हो सकेगा । फिर संविद्की अपेक्षा क्यों होगी ? यदि संविद्की अतीतता, अनागतता विषयकी अपेक्षासे मानी जाय, तब तो अन्योन्याश्रय-दोष अनिवार्य होगा । एक संविद्का अतीतत्वादि अन्य संविद्की अपेक्षा मान्य हो, तब तो उस संविद्की अतीतता आदिमें अन्य संविद्की अपेक्षा होगी । उसको अन्य संविद्की अपेक्षा होगी, इस तरह अनवस्था-प्रसङ्ग होगा ।

अतः कालकी अपेक्षा ही विषयकी अतीतता आदिका होना उचित है । वर्तमान-कालावच्छिन्न घट वर्तमान है, अतीतकालावच्छिन्न घट अतीत होगा । आगामी कालावच्छिन्न घट अनागत कहलाता है ।

कहा जा सकता है कि 'काल तो नित्य है, फिर उसमें अतीतत्वादि-व्यवहार कैसे होगा ?' परंतु यह ठीक नहीं है । दिन-मासादिलक्षण कालमें अतीतत्वादि दृष्ट ही है । 'संविद्की अपेक्षासे कालमें अतीतत्वादि माना जाय' यह भी ठीक नहीं; क्योंकि वस्तुतः कालकी अपेक्षासे ही संविद्में अतीतत्वादिका व्यवहार होता है । 'इस समय घटज्ञान वर्तमान है, पूर्वक्षणमें घटज्ञान वर्तमान था, उत्तरक्षणमें घटज्ञान होगा' इस व्यवहारसे संविद्धिमें कालावच्छिन्नताकी प्रतीति होती है । यह भी कहा जाता है कि 'संविद्धिसे ही कालका अतीतत्वादि विदित होता है ।' परंतु इसमें किसीको विवाद ही नहीं है । संविद्धिसे कालका वेदन होनेमें कोई आपत्ति नहीं । आपत्ति तो है घटसंविद्धिसे कालवेदनमें । संविद्धिसे भिन्न सभी वस्तुएँ संविद्धिसे अधीन ही स्थितिवाली हैं । एकमात्र संविद्धि ही स्वतःसिद्ध है । 'कालका अतीतत्वादि एवं कालपूर्वक विषयका अतीतत्वादि संविद्धिसे ही ज्ञात होता है' इस कथनसे संविद्धिका अतीतत्वादि सिद्ध नहीं होता । यह आवश्यक नहीं है कि अतीत संविद्धिसे अतीत विषयका एव वर्तमान तथा आगामी संविद्धिसे वर्तमान तथा आगामी विषयका ग्रहण हो; क्योंकि संविद्धिवच्छेदक कालके अतीतत्वादिसे ही विषयोका अतीतत्वादि सिद्ध हो जाता है । जैसे एतद्दिनस्थित सूर्यप्रकाशभास्य घट भी पूर्वदिनस्थित सूर्य प्रकाशसे ही भास्य होता है; क्योंकि कालके भेदसे सूर्यप्रकाशमें भेद नहीं होता । इसी तरह एतद्दिनसंविद्धिभास्य घटादि भी पूर्वदिनस्थित संविद्धिसे ही भास्य होता है । दिनभेदसे संविद्धिमें भेदसिद्ध नहीं हो सकता है । अतः घटज्ञान नित्य एव स्वप्रकाश है । उसका विषयभूत घटादि अनित्य एवं जड है । घटकी अनित्यतासे ही ज्ञानमें अनित्यताका व्यवहार होता है ।

कुछ लोग कहते हैं कि 'निर्विषय अनुभव ही नहीं होता, क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं होती ।' परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ विचारणीय यह है कि 'यह निर्विषय संविद्धिका अनुपलम्भ कहनेवालेको है या अन्यको ?' पहला पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि जिसको निर्विषय संविद्धिका उपलम्भ नहीं है, वह अज्ञानी होनेके कारण 'नहीं जानता' यही कहा जा सकता है । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरेका हृदय दूसरेको प्रत्यक्ष नहीं होता । 'दूसरेको भी निर्विषय संविद्धिका उपलम्भ नहीं होता' यह कैसे कहा जा सकता है ? यदि कहा जाय कि 'निर्विषय संविद्धि सम्भव ही नहीं है', तो इसमें कोई-न-कोई हेतु होना चाहिये । 'अनुपलम्भमानत्व हेतु है' यह भी नहीं कहा जा सकता । यह हेतु तो सविषय ज्ञानमें भी अतिव्याप्त है; क्योंकि सविषय ज्ञान भी तो स्वप्रकाश होनेसे उसमें भी उपलब्धि-

विषयतारूप उपलब्धमानता नहीं है। फिर तो अनुपलब्धमानत्वरूप हेतुसे सविषय ज्ञानका भी अभाव ही सिद्ध हो जायगा। 'ज्ञानमें ज्ञेयत्व नहीं हो सकता' यह कहा जा चुका है। 'निर्विषय ज्ञान नहीं है' यह कथन निर्विषयज्ञानाभावको जानकर कहा जाता है अथवा बिना उपलब्धके ही ? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि अभाव प्रतियोगिपूर्वक ही होता है। जो घट नहीं जानता, उसे घटाभावका भी ज्ञान कैसे हो सकता है ? जो निर्विषय-ज्ञान नहीं जानता, वह निर्विषय ज्ञानाभाव भी कैसे जान सकेगा ? दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि निर्विषय-ज्ञानाभावकी उपलब्धि नहीं है, तब तो निर्विषय-ज्ञानकी सिद्धिमें कोई बाधा है ही नहीं।

फिर भी कहा जाता है कि 'ज्ञायते अनेन घटादिविषयजातमिति ज्ञानम्' इस व्युत्पत्तिसे ज्ञान विषयप्रकाशनस्वभाववाला ही प्रतीत होता है। विषयप्रकाशक ही ज्ञान है। जो विषयप्रकाशक नहीं, वह ज्ञान कैसे कहा जा सकता है ? वह विषयप्रकाशकत्व ही ज्ञानका स्वयंप्रकाशत्व भी है। यदि ज्ञान निर्विषय होगा, तब तो स्वप्रकाश-ज्ञानत्व ही उसमें नहीं रहेगा। परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि विषयप्रकाशकत्व ज्ञानत्व हो, तब तो घटादिप्रकाशक सूर्यादिप्रकाशको भी ज्ञान नहीं कहना चाहिये; क्योंकि उसीसे घटादिका प्रकाश होता है, अन्धकारस्थ घट भासित नहीं होता है। यदि सूर्यादिप्रकाशसे अतिव्याप्ति हटानेके लिये विषय-ज्ञानजनक ज्ञानको ज्ञान कहा जाय, तो इस वाक्यमें दो ज्ञान शब्द आते हैं। दोनोंका अर्थ-भेद है या नहीं ? यदि भेद है, तो क्या भेद है ? यदि कहा जाय कि 'जन्य ज्ञान फल है, जनक ज्ञान उसका करण है, तो भी विचारणीय यह है कि फलभूत ज्ञान स्वप्रकाश है अथवा पर प्रकाश ?' पहला पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि जो विषयज्ञानका जनक नहीं, वह तो आपके मतमें स्वप्रकाश हो ही नहीं सकता। दूसरा भी पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि फलभूतजन्य ज्ञानका प्रकाशक कोई है ही नहीं। यदि अन्य प्रकाशक ज्ञान माना जाय, तब तो अन्यमें होनेवाला प्रकृत फलज्ञानप्रकाशकत्व फलज्ञान ज्ञानजनकत्व ही होगा। फिर इस तरह अनवस्था प्रसक्त होगी। यदि दोनो ज्ञानशब्दोंका एक ही अर्थ है, तो व्याघातदोष होगा अर्थात् वही ज्ञान अपने-आप ही जन्य और अपने-आप ही जनक कैसे होगा ? अतः यदि विषयावबोधजनकत्व ही स्वप्रकाशत्व कहा जायगा, तो विषयावबोध-जनक करणभूत बोध ही स्वप्रकाश होगा, फलभूत बोध स्वप्रकाश ही न होगा। यदि करणभूतको ही स्वप्रकाश माना जायगा, तो कर्ता आत्मा भी स्वप्रकाश सिद्ध न हो सकेगा। इसी तरह ब्रह्ममें भी स्वप्रकाशता न रहेगी, अतः 'धनन्याव-भास्यत्वे सति स्वेतरसर्वावभासकत्व' को ही स्वप्रकाशत्व कहना उचित है। करण-ज्ञान तो जड़ होनेसे चैतन्यावभास्य है, अतः वह स्वप्रकाश नहीं कहा जा सकता।

यह भी कहा जा सकता है कि 'अस्तित्वे सत्यनन्यावभास्यत्व' ही स्वप्रकाशत्व है अर्थात् जो दूसरेसे प्रकाशित न होकर भी स्वतः सत्तावाला है, वही

स्वप्रकाश है। अशशृङ्गादिकोंकी सत्ता ही नहीं होती, अतः वे अन्यान्यवभास्य होनेपर भी स्वयंप्रकाश नहीं कहे जाते। व्यावहारिक सत्य अज्ञात जगत् अनन्यावभास्य नहीं होता, वह तो किसी ज्ञानसे भास्य ही होता है, अतः उसमें भी अतिव्याप्ति नहीं होगी। वृत्तिज्ञान भी चैतन्यभास्य है ही। फलज्ञान ही इस प्रकारका स्वप्रकाश है; क्योंकि नित्य चैतन्य ही वृत्तिपर प्रतिफलित होकर फलज्ञान कहा जाता है। विषयावच्छिन्न चैतन्यके आवरक अज्ञानका निराकरण करना वृत्तिका उपयोग है। जैसे अजन्य नित्य मोक्षमें फलत्व-व्यवहार होता है, वैसे ही अजन्य फलज्ञानमें भी फलत्वव्यवहार हो सकता है। अज्ञात-विषयावच्छिन्न चैतन्य ही ज्ञात होकर फल कहलाता है। उसमें जन्यता नहीं है। कहा जा सकता है कि 'फिर इस तरह तो ज्ञानमें ज्ञातता मान ली गयी।' परंतु यह ठीक नहीं, क्योंकि विषयावच्छिन्न चैतन्य ही ज्ञात होता है, केवल नहीं। केवल तो अनुभवरूप होनेसे स्वप्रकाश ही है। विषयगत अवभास्यत्वरूप धर्म विषयावच्छिन्न चैतन्यमें आरोपित किया जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि 'भले ही फलभूत चैतन्यमें उपर्युक्त ढंगकी स्वप्रकाशता रहे, परंतु करणभूत ज्ञानमें तो विषय-प्रकाशकत्वरूप ही स्वप्रकाशता उचित है। तथा च निर्विषय वृत्तिज्ञान नहीं हो सकता।' परंतु इस सम्बन्धमें सिद्धान्तिकी कोई विवाद नहीं है। वेदान्ती जो निर्विकल्पज्ञानका समर्थन करता है, उसका अभिप्राय यही है कि निर्विकल्प ब्रह्मविषयक वृत्तिज्ञान ही निर्विकल्प-ज्ञान है। वह भी सविषयज्ञान है ही। अतः वृत्तिरूप ज्ञान निर्विषय न हो, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। चैतन्यज्ञान तो निर्विषय होता ही है।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि 'सोकर जागे हुए प्राणीको 'इतने समयतक मैंने कुछ भी नहीं जाना' इस प्रकारका स्मरण होता है। इससे निद्राकालमें अनुभवाभाव सिद्ध होता है।' पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ विचारणीय यह है कि 'सुषुप्तिमें कुछ न जाननेवालेको ही सुषुप्ति मिटनेपर उक्त स्मरण होता है अथवा कुछ जाननेवालेको निद्राके अनन्तर उक्त स्मरण होता है?' पहला पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि कुछका न जानना यदि मान्य है, तब तो सुषुप्तिमें अनुभवकी सिद्धि होती ही है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि फिर तो उक्त स्मरण ही नहीं सिद्ध होता। यदि कुछ वेदन था ही, तब कुछ नही जाननेका स्मरण कैसे सङ्गत होगा? यहाँ कहा जाता है कि 'न किंचित् जाननेका अर्थ है किसी भी वेदनका अभाव अर्थात् सुषुप्तिमें कोई भी ज्ञान न था।' परंतु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यह विचारणीय है कि सुषुप्तिके ज्ञानाभावको आपने जाना या नहीं जाना? यदि जाना, तब तो सुषुप्तिमें ज्ञानाभावका ज्ञान आपको था ही। फिर ज्ञानाभाव कैसे कहा जा सकता है? यदि आपने ज्ञानाभावको नहीं जाना, तो उसको स्वीकार कैसे किया जाय? यदि अविदितका भी अस्तित्व माना जाय, तब

तो शशशृङ्गादिका भी अस्तित्व मानना पड़ेगा । अतः यही कहना ठीक है कि सुषुप्तिमें विशेषानुभवका ही अभाव था । चैतन्यरूप सामान्यानुभवका अभाव नहीं कहा जा सकता है ।

इसी तरह यह भी शङ्का होती है कि 'जहाँ भी कहीं सविद्, ज्ञान या अनुभव होता है साश्रय ही होता है, निराश्रयज्ञान वही भी नहीं देखा गया । संविद्को आत्माके आश्रित मानना ठीक है; क्योंकि सविद् या ज्ञान एक क्रिया ही है । क्रिया कर्ताके आश्रित होती है, अतः आत्मा कर्ता है, तदाश्रित संविद्का होना ठीक है ।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि आत्मा स्वयं निष्क्रिय होनेसे अकर्ता है और संविद् भी वृत्तिसे अभिव्यक्त फल है, क्रिया नहीं । आत्मा ही सविद् है, संविद् ही आत्मा है । इस तरह संविद् ही सबका आश्रय है, वही सर्वाधिष्ठान है, वह किसीके भी आश्रित नहीं है । कहा जा सकता है कि 'आत्मा तो अनुभविता है, फिर वह अनुभवरूप कैसे होगा ?' परंतु यह ठीक नहीं । जैसे प्रकाशस्वरूप सविता ही प्रकाशक भी कहा जाता है, वैसे ही अनुभवस्वरूप आत्मामें अनुभविताका भी व्यवहार होता है । कुछ लोग कहते हैं, कि 'ज्ञान-स्वरूप आत्माके आश्रित रहनेवाले ज्ञानद्रव्यको ही अनुभव कहते हैं, आत्माको नहीं ।' परंतु यह भी ठीक नहीं । यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, तब 'आत्मा ज्ञान नहीं है' यह कहना असङ्गत है । यदि आत्माके स्वरूपभूत ज्ञानसे ही सब काम चल जाता है, तो तदाश्रित अलग ज्ञानद्रव्य मानना व्यर्थ है । इसमें गौरव भी है और कोई प्रमाण भी नहीं है । यदि ज्ञानमें भी अन्य ज्ञान होगा, तो फिर उस ज्ञानमें भी ज्ञानान्तर कहना पड़ेगा । इस तरह अनवस्था होगी । यदि आत्मा ज्ञानरूपी द्रव्य है, तो तदाश्रित ज्ञानरूपी अन्य द्रव्य मानना व्यर्थ भी है । अनवस्था, गौरवादि दोषोंसे दुष्ट भी है । यदि आत्माको द्रव्य न माना जाय, तो आत्माको सगुण माननेवालोका पक्ष बाधित होगा । सुषुप्तिमें भी 'मैंने कुछ नहीं जाना, सुखपूर्वक सो रहा था' इत्यादि स्मरणोंके बलसे अज्ञान एव सुखका अनुभव रहता ही है । अतः सुप्तिमें चैतन्यरूप या वृत्तिरूप ज्ञानका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता । चैतन्य एव अविद्यावृत्तिका अस्तित्व स्मरणबलसे स्पष्ट सिद्ध है । विशेषानुभवाभाव अवश्य मान्य है ।

कहा जाता है कि 'सुप्तिमें अन्तःकरण नहीं होता, विषय भी नहीं रहता तब विषयाकारपरिणत अन्तःकरणकी वृत्तिरूप ज्ञान कैसे हो सकता है ?' परंतु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि यद्यपि अन्य विषय न भी हो, तो भी सुख एवं अज्ञानरूप विषय होनेसे तदाकारपरिणत अविद्यावृत्ति हो सकती है । कहा जा सकता है कि 'सुषुप्तिमें फिर तो ज्ञान भी सविशेष ही हो गया । फिर निर्विशेष ज्ञानकी मिद्धि कैसे हो सकती है ?' परंतु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सुप्तिमें

सविशेष ही ज्ञान की सिद्धि होती है, निर्विशेषकी नहीं । फिर भी कहा जा सकता है कि ‘‘सुप्ति’, ‘स्वप्न’, ‘जागर’ तथा ‘समाधि’में भी जब निर्विषय ज्ञान नहीं होता, तब तो ‘सर्वदा सविषय ही ज्ञान होता है’ यही मानना ठीक है । तब तो फिर ‘ज्ञानवान् ही आत्मा है, ज्ञानरूप नहीं’ यही मानना उचित है ।’’ पर यह भी ठीक नहीं । व्यवहारतः यद्यपि आत्मा वृत्तिरूप ज्ञानवान् ही है; तथापि परमार्थतः ज्ञानवान् नहीं है, क्योंकि वस्तुतः वृत्तिके भासक आत्माका वृत्तिके साथ आध्यात्मिक सम्बन्धके अतिरिक्त कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है । अतः आत्मा चैतन्यज्ञानरूप ही है । प्रश्न होता है कि ‘आत्माका स्फुरण होता है या नहीं ? यदि होता है, तब तो स्फुरण होनेवाले आत्माका स्फुरण धर्म हो गया । इस तरह धर्मी आत्माका धर्मभूत ज्ञान सिद्ध होता है । जैसे प्रकाशमान सूर्यका प्रकाश धर्म है, वैसे ही यदि आत्माका स्फुरण न हो, तब तो बन्ध और मुक्तिमें कोई भेद ही न रहेगा । जैसे संसारमें आत्माका स्फुरण नहीं है, वैसे ही मुक्तिमें भी स्फुरण न हो, तो बन्ध-मुक्ति समान ही ठहरेंगे । इसके अतिरिक्त घटके समान ही यदि आत्माका भी स्वतः स्फुरण न होगा, तो घटवत् आत्मामें भी जडताकी ही प्रसक्ति होगी । मुक्तिमें अन्य है नहीं, जिससे कि परप्रकाश्यता भी सम्भव होती । परप्रकाश्यता माननेपर स्वयज्योतिष्ट्व-श्रुतिका भी विरोध होगा ।’ परतु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि इसी प्रकारका विकल्प आपके धर्मभूत कल्पित ज्ञानमें भी होगा । उसकी स्फूर्ति होती है या नहीं ? प्रथम पक्षमें स्फूर्तिवाले धर्मभूत ज्ञानमें स्फुरणरूप धर्म मानना पड़ेगा, तथाच वह धर्मान्तर होगा । इस तरह अनवस्था होगी । द्वितीय पक्षमें घटवत् जडत्वापत्ति होगी । फिर उसे ज्ञान भी कैसे कहा जायगा ?

कुछ लोग कहते हैं कि ‘धर्मभूत ज्ञानका स्फुरण नित्य है, वह भासमानता व्यवहारके अनुगुण होता है । धर्मभूत ज्ञानका स्फुरण विषयसम्बन्धजन्य होता है । वह त्रिषयसम्बन्धके समय ही होता है, अन्यत्र नहीं । सुप्तिमें उसकी सर्वविषय-सम्बन्धारहता वह्निशक्तिके समान प्रतिबद्ध होती है, अतः उस समय स्फुरण नहीं होता ।’ परतु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि वस्तुतः स्फुरमाण वस्तुका स्फुरण ही स्वरूप है । जैसे भासमान सूर्यका भास ही स्वरूप है, प्रकाशातिरिक्त सूर्य नहीं होता । फिर भी ‘सूर्यका प्रकाश’, यह व्यवहार ‘राहुका सिर’के समान औपचारिक होता है । इसलिये ‘प्रकाश भासित होता है या नहीं’ इस विकल्पके समान ही ‘आत्मा स्फुरित होता है या नहीं’ यह विकल्प भी अयुक्त ही है । आत्मा स्फुरणरूप ही है । ‘स्फुरण स्फुरित होता है या नहीं’ यह विकल्प कोई भी अनुमत्त नहीं कर सकता । फिर भी कुछ लोग कहते हैं कि ‘‘स्फुरण स्फुरमाणका धर्म ही है, स्वरूप नहीं; क्योंकि क्रिया कर्ताका स्वरूप नहीं होता । छेदनक्रिया छेत्ताका स्वरूप नहीं होती ।’ परतु, यह पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि कहा जा चुका है कि प्रकाशस्वरूप सूर्यका प्रकाश क्रिया नहीं है, किंतु उसका स्वरूप ही है । जो

आत्माको धर्मिज्ञानस्वरूप मानता है, उसके मतमें भी जब ज्ञान क्रिया नहीं है, तब स्फुरण-स्फुरमाणका स्वरूप क्यों नहीं ?

जो लोग ज्ञानसामान्यको मृत्तिकादिकी तरह नित्य द्रव्य मानते हैं, स्मृतित्वादि अवस्थाविशेषरूप ज्ञानोको घटादिकी तरह अनित्य मानते हैं, उनका यह कहना नितान्त असङ्गत है कि 'सुप्तोत्थित पुरुषके इतने समयतक मैंने कुछ नहीं जाना इत्याकारक ज्ञानसामान्याभावबोधक स्मरणसे अनुभवका प्रागभाव सिद्ध होता है,' क्योंकि यदि ज्ञानसामान्य नित्य है, तो उसका प्रागभाव कैसे सिद्ध हो सकता है ? कोई नित्य वस्तु अभावका प्रतियोगी नहीं होती । यदि ज्ञानसामान्य भी न हो, तब तो 'मैंने कुछ नहीं जाना' यह स्मरण भी असम्भव ही होगा, क्योंकि यत्किंचित् ज्ञानाभावका ज्ञान होनेपर ही स्मरण हो सकता है । जागरकालमें भी 'तुम्हारी बात मैं नहीं समझता' इस प्रकार जो बोलता है, उसे विशेष ज्ञान न रहनेपर भी सामान्य ज्ञान है ही, अन्यथा यदि उच्यमान अर्थज्ञानाभावका ज्ञान न हो, तो वाक्य-प्रयोग भी सम्भव नहीं । अतः सामान्य ज्ञान ही विशेषज्ञानाभावको ग्रहण करता है, सामान्यज्ञानाभावका ग्रहण नहीं हो सकता ।

कहा जाता है कि 'यदि अनुभव नित्य है, तो 'मुझे यह अनुभव हुआ, यह अनुभव नष्ट हो गया' इत्यादि व्यवहार कैसे सम्पन्न होंगे ?' परंतु इसका समाधान किया जा चुका है । विषयसम्बन्धके उत्पत्ति-विनाशसे अनुभवमें उत्पत्ति-विनाशका व्यवहार उपपन्न होता है । घटोत्पत्तिसे घटाकाशकी उत्पत्तिका जेसा व्यवहार होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिये । घटादि स्वाभाविक जन्मादिविकारवान् हैं, किंतु अनुभूति औपाधिकरूपसे ही जन्मादिविकारवती है तथा जन्मादिविकारहीन स्वप्रकाश नित्य एक संविद् है । कुछ लोग कहते हैं कि 'संविद् एक नहीं, किंतु अनेक हैं । जैसे अज आत्मा देहादिसे भिन्न है, अनादि भी अविद्या आत्मासे भिन्न है, वैसे अनादि एव नित्य भी संविद् परस्पर भिन्न हो सकती है । यदि अविद्याका और आत्माका विभाग न होगा, तो अविद्यारूप ही आत्मा ठहरेगा ।' परंतु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'संविद् अज होनेसे व्यतिरेकेण घटादिके तुल्य अविभक्त है, इस अनुमानसे संविद्की एकता ही सिद्ध होती है । संविद् ही आत्मा है, अतः आत्मासे देहादिका विभक्तत्व-दृष्टान्त असङ्गत है । अविद्या भी प्रपञ्चरूपसे जायमान होनेसे अज नहीं है । घटादिके समान अन्यसे उसकी उत्पत्ति नहीं होती, इसी दृष्टिसे वह 'अजा' कहलाती है । अजा (बकरी) के रूपकसे भी वह अजा कहलाती है । जैसे लोहित-शुक्ल-कृष्ण रंगवाली, अपने समान ही बहुत-से बच्चोंको उत्पन्न करनेवाली अजाका कोई अज भोग करता हुआ अनुसरण करता है, कोई भुक्तभोगी अजाको छोड़कर उदामीन हो जाता है, तद्वत् कोई जीव प्रकृतिका अनुसरण करता है,

कोई उससे भोग-अपवर्गरूप प्रयोजन सम्पन्न करके उसे छोड़ देता है—
‘अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको
जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥’ (ज्वेताथ० उप० ८ । ५)
जैसे घटादि मृत्तिकासे भिन्न नहीं ठहरते, वैसे ही देहादि प्रपञ्च भी सविद्रूप
आत्माका ही विवर्न या कार्य है, अतः वह भी सविद्से भिन्न नहीं है । आत्मशक्ति
होनेसे अविद्या भी आत्मासे अभिन्न ही है । जैसे वह्निशक्ति वह्निसे भिन्न नहीं,
वैसे ही आत्मशक्ति आत्मासे भिन्न नहीं है ।

कहा जा सकता है कि ‘यद्यपि कार्य कारणसे अभिन्न है, फिर भी कारण
कार्यसे भिन्न होता है । शक्ति शक्तिमान्से भिन्न न होनेपर भी शक्तिमान् शक्तिसे
भिन्न ही है । उसी तरह यहाँ भी सविद्को देहादिसे विभक्त कहना उचित है ।’
परतु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि देहादि एव अविद्यादि परमार्थतः यदि असत्
हैं, तो फिर सविद्में तत्प्रयुक्त भेद कैसे रह सकता है ? एतावता ‘आत्मा अविद्या-
रूप ही ठहरेगा’ यह आपत्ति भी निर्मूल ही है; क्योंकि वस्तुतः अविद्या है ही नहीं ।
यदि व्यावहारिक भेद कहा जाय, तो यह तो मान्य ही है । यावद्व्यवहार आत्मा
और देहादिका भेद है ही, अतः अज होनेसे सविद् अविभक्त ही है । कहा जाता
है कि ‘निर्विकार होनेसे भले ही संविद्में स्वगत भेद न हो, परंतु देहादिसे तो
संविद्में विजातीय भेद एवं सविदोंके नानात्वसे सजातीय भेद मानना उचित ही
है । अबाधित बोधसिद्ध दृश्यके नानात्वसे दर्शनका भी नानात्व सिद्ध होता ही
है । जैसे छेद्यके भेदसे छेदनका भेद सिद्ध होता है, वैसे ही दृश्यके भेदसे दर्शनका
भी नानात्व सिद्ध होता है ।’ परतु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जैसे प्रकाश्य
पटादिके भेद होनेपर भी प्रकाशका भेद नहीं होता, वैसे ही दृश्यके नानात्व होने-
पर भी दर्शनका नानात्व सिद्ध नहीं हो सकता । घटादि विषयके भेदसे घटादि-
वृत्तिरूप ज्ञानका भेद ही भेद हो, परतु नित्य सविद् प्रकाशके रमान अभिन्न ही
है । सविद् न तो छेदनके समान क्रिया है और न तो वह जन्य ही है । वृत्ति
अवश्य जन्य एव क्रिया है । सविद् ही जब आत्मा है, तब आत्माका नानात्व
भी इसी तरह खण्डित है । अतः जैसे गगनमें घटादि-उपाधिसे औपाधिक ही भेद
होता है, स्वाभाविक नहीं, वैसे ही सविद्में घटादि एव वृत्तिके भेदसे ही औपाधिक
भेद प्रतीत होता है, स्वाभाविक भेद नहीं ।

कहा जाता है कि ‘गगन तो घट-करकादि व्यतिरेकेण सिद्ध हैं, अतः उसमें
औपाधिक भेद ठीक है, परतु ज्ञान तो जेय एवं ज्ञाताके बिना कहीं उपलब्ध ही
नहीं होता, फिर ज्ञानका औपाधिक भेद कैसे माना जाय ? अतः ज्ञानका स्वाभाविक
ही भेद मानना ठीक है ।’ परतु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि
सबकी सत्ता अनुभवके अधीन होती है । फिर अनुभवकी सत्ता जेय एव ज्ञाताके

अधीन कैसे हो सकती है ? अनुभवके बिना किसी भी वस्तुकी सत्ता सिद्ध नहीं होती । श्रेय तो ज्ञानाधीन है ही । ज्ञाताका तो वास्तविक रूप ज्ञान ही है । यदि अनुभवके बिना भी सत्ता मानी जाय, तब तो गश्-शृङ्गादिकी भी सत्ता माननी पड़ेगी । अन्धकारमें रहता हुआ भी घट अनुभवके बिना असत् ही रहता है ।

कहा जाता है कि 'भले ही रज्जु-सर्पादि प्रातीतिक पदार्थकी सत्ता अनुभवाधीन हो, क्योंकि उसकी अज्ञात सत्ता नहीं होती, परंतु घटादिकी सत्ता तो अनुभवाधीन नहीं होती; क्योंकि घटादि तो अनुभवके पहले और पीछे भी रहते ही हैं । प्रत्युत अनुभव ही घटादि विषयके अधीन होता है । घटादि जब होते हैं, तभी चक्षुका उनसे सनिकर्ष होता है, तभी घटानुभव होता है ।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि स्वप्नमें घटादि विषयो एवं इन्द्रियोके न होनेपर भी घटादि-अनुभव होता है । यदि कहा जाय कि 'स्वाप्तिक ज्ञान तो भ्रम है', तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि अनधिगत, अबाधित अर्थविषयक ज्ञान ही प्रमा है । संविद्ब्रह्मसे भिन्न सभी बाधित है, अतः घटादि-अनुभव भी वस्तुतः भ्रम ही है । यावद्व्यवहार बाधित न होना जैसे घटादिका है, वैसे ही स्वाप्तिक पदार्थका भी है, स्वप्न भी व्यवहार ही है । यदि कहा जाय कि 'स्वप्न अस्थिर व्यवहार है', तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि व्यवहारगत स्थिरता या अस्थिरता विषयके बाधितत्व-अबाधितत्वपर ही निर्भर है । बाधितत्व जब स्वप्न-जागर दोनोंमें ही है, तब स्थिरत्व-अस्थिरत्वका भेद कैसे सिद्ध होगा ? शतायु पुरुष एवं दशायु पुरुषके भी बाधितत्व-अंशमें समानता ही है । अतः जैसे स्वप्नमें विषयेन्द्रियादि न रहनेपर भी विषय-प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही जागरमें भी हो सकता है । निद्रादोषके भावाभावसे ही स्वप्न-जागरमें भेद है । निद्रा-दोषके हटनेपर स्वप्न हट जाता है । जागरमें पित्रादि-दर्शनजनक अदृष्टके मिटनेसे पित्रादिका दर्शनाभाव होता है । अनुभवसे भिन्न पित्रादि हैं ही नहीं, अतः उनकी मृति आदिका प्रसङ्ग ही नहीं उठता । अतएव मृतके सम्बन्ध नष्ट होनेका व्यवहार होता है । नाशका अदर्शन ही अर्थ है । इस तरह प्रतीति ही विषय है, प्रतीतिसे भिन्न विषय नहीं है, फिर प्रतीतिकी सत्ता विषयाधीन कैसे कही जा सकती है ? इसमें अन्वयव्यतिरेक भी है । जब प्रतीति है, तभी विषय है । जब प्रतीति नहीं, तब विषय भी नहीं । जैसे मिट्टी होनेपर ही घट है । मिट्टी नहीं, तो घट भी नहीं । वैसे ही प्रतीतिसे भिन्न विषय नहीं ।

कुछ लोग कहते हैं कि 'विषय होनेपर प्रतीति होती है, विषय न रहनेपर प्रतीति नहीं होती, यही न्याय क्यों न माना जाय ?' परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि विषय न रहनेपर भी स्वप्नमें प्रतीति होती ही है । मृत पित्रादि स्वप्नमें हैं नहीं, तब भी प्रतीति होते हैं । जो लोग जन्य ज्ञानकी सत्ता विषयाधीन मानते हैं, वे भी

नित्य ईश्वरज्ञान मानते हैं। फिर ईश्वरका नित्य ज्ञान अनित्य विषयोंके अधीन कैसे हो सकता है ? नैयायिक तथा विजिष्टाद्वैतवादी नित्य ज्ञान मानते हैं। वेदान्तानुसार तो नित्यज्ञानात्मक ब्रह्म ही अविद्यावशात् जन्य ज्ञान होता है और वही विषयसत्ताका हेतु बनता है। नित्य ज्ञान ही आत्मा है, आत्माकी सत्तासे ही अन्य सभी पदार्थ सत्तावान् होते हैं। 'अहमस्मि' इस रूपसे आत्माकी सत्ता आत्मासे ही सिद्ध है। परन्तु 'इदमस्ति' इस रूपसे घटादिकी सिद्धि आत्म-प्रत्ययसे ही होती है। 'अहं घटोऽस्मि' इस रूपसे घट अपने आपको नहीं जानता, अतः घटादिकी सत्ता आत्मप्रत्ययके अधीन है। कहा जाता है कि 'घटोऽस्ति' इस प्रकारके आत्मप्रत्ययसे पहले भी घट तो है ही', परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि 'अस्ति' इस प्रत्ययके अविषय घटमें सत्ता नहीं हो सकती, अन्यथा जल-शृङ्गादिमें भी सत्ता प्रसक्त होगी। कहा जा सकता है कि 'अहमस्मि' इस बोधके पहले भी जैसे आत्माकी सत्ता है, वैसे ही घटप्रत्ययके पहले भी घटकी सत्ता होनी चाहिये।' परन्तु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि 'अहमस्मि' इस प्रत्ययका जो प्रत्येता है, वह तो इस प्रत्ययसे भी प्रथम सिद्ध ही है, अतः आत्माकी सत्ता हो सकती है, परन्तु 'अयं घटः' इस प्रत्ययके पहले घट सिद्ध नहीं है, अतः घटकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, अतः अनुभवकी सत्ता विषयाधीन नहीं है। इसी तरहके ज्ञाताके अधीन भी अनुभवकी सत्ता नहीं है; क्योंकि सिद्धान्तमें ज्ञाता ही अनुभव है। यदि अनुभवसे भिन्न ज्ञाता प्रमाता माना जायगा, तो उस प्रमाताकी सत्ता भी अनुभवके अधीन माननी पड़ेगी। ज्ञाताका स्वरूप ही अनुभव है, वही अज्ञान, अन्तःकरण आदि उपाधिसे साक्षी, प्रमाता आदि नामसे भी व्यवहृत होता है।

'अनुभूति दृशिरूप होनेसे व्यतिरेकेण घटादिके तुल्य दृश्यधर्मवाली नहीं है' इस अनुमानसे अनुभूति दृश्य या वेद्य धर्मसे युक्त नहीं है, यह भी सिद्ध होता है। कुछ लोग कहते हैं कि 'जब अनुभूतिसे नित्यत्व, स्वयम्प्रकाशत्वादि धर्म मान्य हैं, तब उसे दृश्य धर्मरहित कैसे कहा जा सकता है ? नित्यत्वादि भी सवेदनमात्र हैं, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सवेदनसे इनका स्वरूप भिन्न ही है।' परन्तु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि जो धर्म जिससे दृश्य होता है, वह उसका धर्म नहीं कहा जा सकता। जैसे चक्षुसे दृश्यमान रूप चक्षुका धर्म नहीं है। यद्यपि देवदत्त स्वगत स्थौल्यादि, मुखादि देखता है, तथादि वस्तुतः स्थौल्यादि, मुखादि देह, मन आदिके ही धर्म हैं, आत्माके धर्म नहीं हैं। आत्मा तो देह, मन आदिसे भिन्न ही है, अतः यहाँ प्रश्न होता है कि 'यदि स्वधर्म स्वसे वेद्य नहीं होते, तो अनुभवधर्म नित्यत्वादि किससे वेद्य होंगे ?' अनुभवसे भिन्न सब जड़ ही है, उससे वेदन असम्भव है। अनुभव एक ही है, उसमें भेद ही नहीं है, अतः 'अमुक अनुभवसे अमुक अनुभवका नित्यत्वादि गृहीत होगा' यह भी नहीं कहा जा सकता। आत्मा भी अनुभवरूप ही है, अतः उससे भी नित्य

त्वादिका अनुभव नहीं कहा जा सकता । इस तरह यदि नित्यत्वादि अनुभूतिके धर्म होंगे, तो वेदिता न होनेसे वे अवेद्य ही ठहरेगे । यदि अवेद्य हैं, तो धर्म ही कैसे होंगे ? अतः वस्तुतः अनुभूतिके कोई भी धर्म नहीं होते । जो नित्यत्वादि धर्म अनुभवसे विदित होते हैं, वे अनुभूतिके धर्म नहीं हैं, किंतु माया एवं मायाकार्य मूर्त वस्तुके ही धर्म हैं । मायाके द्वारा ही नित्यत्वादि अनुभूति-धर्म-त्वेन कल्पित हैं ।

कहा जा सकता है कि 'नित्यत्व, स्वयम्प्रकाशत्वादि यदि अनुभूतिके धर्म नहीं हैं, तब तो अनुभूति नित्य, स्वप्रकाश, एक सिद्ध नहीं होगी । फिर तो वह अनित्य, जड़, अनेक ही ठहरेगी ।' परंतु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि अनुभूतिमें जैसे पारमार्थिक नित्यत्वादि नहीं हैं, वैसे ही अनित्यत्वादि भी नहीं हो सकते । अतः अनुभूति निर्धर्मक ही है; क्योंकि यदि परमार्थतः कोई भी भास्य वस्तु होती, तभी वह भासक होती । यदि परमार्थतः कालत्रय होता, तभी कालत्रयाबाध्यत्वरूप नित्यत्व भी होता । इस तरह यदि एकत्वादि सख्या होती, तभी अनुभूतिमें एकत्व भी होता । अतः व्यावहारिक भास्य आदि पदार्थोंको लेकर ही स्वयम्प्रकाशत्वादिका व्यवहार अनुभूतिमें होता है । इसलिये अनुभूतिमें कोई भी दृश्यधर्म नहीं रह सकता । फिर भी कहा जाता है कि 'यदि दृशिमें दृशित्वधर्म है, तब तो दृशि निर्धर्मक न हुई, उसमें दृशित्वधर्म है ही । यदि दृशिमें दृशित्व नहीं है तो दृशित्वरहित दृशि ही कैसी ?' परंतु यह भी शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि व्यवहारभूमिमें धर्म और धर्मी दो पदार्थ हैं या नहीं ? यदि हैं, तो धर्मको निर्धर्मक मानना ही पड़ेगा; क्योंकि धर्ममें धर्म नहीं माना जाता । यदि धर्ममें भी धर्मान्तर होगा, तब तो वह भी धर्मी ही होगा, धर्म न रहेगा । इस तरह धर्म जैसे धर्मत्वरूप धर्मरहित सिद्ध होता है, वैसे ही दृशि भी दृशित्वधर्मरहित सिद्ध होगी । यदि धर्म-धर्मी ये दो पदार्थ मान्य नहीं हैं, तब तो 'यह धर्म है, यह धर्मी है' इस प्रकारका व्यवहार ही छुट हो जायगा । इसलिये निर्धर्मक दृशिमें कोई भी धर्म नहीं है ।

ज्ञान और आनन्द

ज्ञानके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी विप्रतिपत्तियोंके रहते हुए भी 'अर्थ-प्रकाश' को ही 'ज्ञान' कहा जा सकता है । मुक्तिमें यद्यपि अर्थ नहीं होता तथापि जब अर्थ-संसर्ग सम्भव हो तभी अर्थका प्रकाशक अर्थ ही ज्ञान है । अतएव 'ज्ञानत्व जाति-विशेष है, साक्षात् व्यवहारजनकत्व ही ज्ञानत्व है, जड़-विरोधित्व ही ज्ञानत्व है, जड़से भिन्नत्व ही ज्ञानत्व है, अज्ञानविरोधित्व ही ज्ञानत्व है' आदि भी ज्ञानके लक्षण हैं । इनमेंसे कोई लक्षण वृत्तिप्रतिबिम्बित चिदाभासमें रात्रत होता है, तो कोई अखण्ड ब्रह्मरूप ज्ञानमें जाता है, किंतु अर्थप्रकाशत्व वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप ज्ञान एवं ब्रह्मरूप ज्ञान दोनोंमें ही अनुगत है ।

सर्वावभासक ज्ञान ही ब्रह्म है, क्योंकि यह श्रुति प्रमाण है—‘तस्य भासा सर्वमिद्रं विभाति ।’ (कठोप० २ । २ । १५) सर्वप्रेमास्पदत्व, सर्वानन्दयितृत्व ही आनन्द है । ‘एष ह्येवानन्दयति’ (तैत्ति० उप० २ । ७) । यह ब्रह्म ही आनन्दित करता है । यह सर्वावभासक ज्ञान स्वतः भासमान होता है । यदि उसका भी कोई अन्य भासक माना जायगा, तो उसका भी भासक कोई अन्य मानना पड़ेगा ? इस तरह अनवस्था-दोष अनिवार्य हो जायगा । इसपर कहा जाता है कि ‘यदि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म सर्वदा भासमान है, तो उसमें जगत्का अध्यास किस तरह बन सकेगा ? क्योंकि भासमान श्रुक्तिकामें रजतका अध्यास नहीं होता—जैसे श्रुक्तिकाभान रजताध्यासका विरोधी होता है, वैसे ही ज्ञानस्वरूप ब्रह्मका भासमान होना भी प्रपञ्चाध्यासका विरोधी होगा ।’ किंतु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वथा अभासमान श्रुक्तिकामें भी तो रजताध्यास कभी भी नहीं होता, सामान्यतया भासमान श्रुत्यादि अधिष्ठानमें ही रजतादिका अध्यास होता है । अभासमान एव विशेषाकारेण भासमान अधिष्ठानमें अध्यास नहीं होता । इस तरह सामान्यतया भासमान ज्ञानस्वरूप ब्रह्मसे प्रपञ्चाध्यास बन सकता है ।

इसपर पुनः कहा जा सकता है कि ‘निर्विशेष ब्रह्ममें सामान्य-विशेष-व्यवहार नहीं बन सकता ।’ पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जबतक अविद्या है, तबतक निर्विशेष ब्रह्ममें भी कल्पित विशेष मान्य होता ही है । निर्विशेष ब्रह्ममें प्रपञ्चाध्यास माना भी नहीं जाता, किंतु अज्ञानावच्छिन्न सविशेषमें ही प्रपञ्चका अध्यास होता है । तथाच प्रपञ्चाध्यासका अधिष्ठानभूत ब्रह्मका सामान्याकार सन्मात्र है और विशेषाकार ज्ञान एव आनन्द है । भ्रमकालमें विशेषाकारकी प्रतीति नहीं होती, सामान्याकार-प्रतीति भ्रमकालमें भी होती है । ‘इदं रजतम्’ के समान ही ‘सज्जगत्’ यह भ्रम-प्रत्यक्ष होता है । जैसे वहाँ ‘इदमंश’ अधिष्ठान सामान्याश है, वैसे ही यहाँ सदश अधिष्ठान सामान्याश है । जैसे ‘श्रुक्तौ रजतम्’ इस प्रकार भ्रम नहीं होता, वैसे ही ‘ज्ञानमानन्दो वा जगत्’ ऐसा भ्रम नहीं होता । जैसे नीलवृष्ट, त्रिकोण श्रुक्तिके साक्षात्कारसे रजतभ्रम दूर हो जाता है, उसी तरह सत्यज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्मके साक्षात्कारसे जगद्भ्रम मिट जाता है । ज्ञानानन्दरूपसे अभासमान और सद्रूपसे भासमान ब्रह्ममें जगत्का अध्यास होता है । अघटित-घटना-पटीयसी मायाके कारण ही ब्रह्ममें जगत्का अध्यास होता है । ‘सेय भगवतो माया यत्र येन विरुद्धयते’ (श्रीमद्भा० ३ । ७ । ९)—भगवान्की माया नयसे विरुद्ध होनेपर भी प्रत्यक्ष ही प्रपञ्चाध्यास मायाके द्वारा सम्पन्न हो जाता है ।

आनन्दके सम्बन्धमें भी इसी प्रकार कहा जा सकता है—(१) आनन्दत्व जाति आनन्द है या (२) अनुकूलतया वेदनीयत्व आनन्द है या (३) अनुकूलत्व मात्र आनन्द है या (४) ज्ञानस्वरूपता ही आनन्द है अथवा (५) निरुपाधि-इष्टता ही आनन्द है अथवा (६) दुःखविरोधित्व ही आनन्द है या (७)

दुःखाभावोपलक्षितत्व आनन्द है ? पहला पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि वह लक्षण अखण्डस्वरूप ब्रह्मानन्दमें नहीं जाता । दूसरा भी ठीक नहीं; क्योंकि मोक्षमें तो आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही रहता है, उसे जाननेवाला कोई वेदिता रहता ही नहीं । आनन्दस्वरूप आत्मा वेद्य है भी नहीं, अतः वह वेदनीय भी हो नहीं सकता, तब उसमें द्वितीय लक्षण कैसे सङ्गत होगा ? अनुकूलता भी सापेक्ष होती है और वह भी अन्यके प्रति न होकर अपने प्रति ही कहनी पड़ेगी । तथा च, सविशेषता अनिवार्य होगी, निर्विशेषमें अपने प्रति अपनेमे अनुकूलवेदनीयता कथमपि उपपन्न नहीं हो सकती । इसीलिये तीसरा भी पक्ष ठीक नहीं । यदि वेदनस्वभावसे अधिक अनुकूलता स्वाभाविक है, तब भी सखण्डतापत्ति होगी । यदि अनुकूलता औपाधिक है, तब तो उस आनन्दकी कभी निवृत्ति भी हो सकती है । चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि उक्त रीतिसे अनुकूलता सम्भव नहीं । इस तरह तो दुःखज्ञानको आनन्द कहना पड़ेगा । निर्विषय ज्ञान अतएव निरुपाधि-इष्टता ही आनन्द है, यह पाँचवाँ पक्ष भी ठीक नहीं । सुख है, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ज्ञान सविषय ही होता है, विषयानुल्लेखि ज्ञान होता ही नहीं । छठा पक्ष भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यदि विरोधनिवर्तन ही है, तब तो आनन्दरूप आत्मामें सदा ही दुःख-निवृत्ति होनी चाहिये । यदि दुःखतादात्म्यकी अयोग्यता ही दुःखविरोधिता है तब तो घटादि भी दुःखतादात्म्यके अयोग्य हैं, उन्हें भी आनन्द कहा जाना चाहिये । सप्तम पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि दुःखाभावरूप वैशेषिकके मोक्षमें -आनन्द न होनेपर भी दुःखाभावोपलक्षितस्वरूप वेदान्तीके आनन्दका लक्षण चला जायगा ।

इस तरह उपर्युक्त लक्षणोंमें दोष होनेपर भी निरुपाधि-इष्टता अर्थात् निरुपाधिक निरतिशय प्रेम या इच्छाकी विषयता ही आनन्द है, यह लक्षण निर्दोष है । इसपर कहा जा सकता है कि 'दुःखाभाव भी निरुपाधि-इच्छाका विषय होता है, अतः लक्षण अतिव्याप्त है ।' किंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि दुःखाभाव भी एक प्रकारके सुखका शेष ही है, अतः वह लक्ष्य ही है, वहाँ लक्षण जाना अतिव्याप्ति नहीं । अभाव भी विरोधि-भावान्तर ही है, अतः दुःखाभाव सुखरूप ही है । कहा जा सकता है कि 'मुक्तिमें तो इच्छा नहीं रहती, परंतु वहाँ भी आनन्द तो रहता है, अतः अव्याप्ति हुई ।' पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि वहाँ भी इष्टत्वोपलक्षितत्व तो है ही । जब भी इच्छा थी तब उसका विषय आनन्द था । इच्छाके विषय यद्यपि शब्दादि विषय भी होते हैं, तथापि वे सुखसाधन होनेसे इच्छाके विषय होते हैं, स्वतः नहीं । वे ही जब दुःखकारक होते हैं, तब उनमें द्वेष होने लगता है । अतः वे सोपाधिक इच्छाके ही विषय होते हैं, निरुपाधिक इच्छाके नहीं । उपलक्ष्यमें व्यावर्त्तक अवच्छेदकका

रहना आवश्यक नहीं, जैसे कभी भी काकके रहनेसे काकोपलक्षित गृहका बोध होता है, उमी तरह कभी भी होनेवाली इच्छासे इष्टत्वोपलक्षित आनन्दका बोध हो सकता है।

यहाँ गड़्हा होती है कि 'निरुपाधि-इष्टत्व आनन्दमें स्वाभाविक है या औपाधिक?' अन्तिम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूपमें आनन्दरूपता औपाधिक नहीं होगी, क्योंकि उसकी इष्टता तो निरुपाधिक ही है। प्रथम पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें भी विकल्प यह है कि वह निरुपाधि इष्टत्व-ज्ञानसे भिन्न है या अभिन्न? यदि पहला पक्ष कहे, तो उसमें सखण्डत्वापत्ति होगी। यदि ज्ञानसे अभिन्न ही है, तब तो उसमें आनन्द-पदप्रयोग व्यर्थ ही है, परंतु यह भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि ज्ञान और आनन्द दोनोंका यद्यपि अभेद ही है, तथापि कल्पित भेद लेकर ज्ञानत्व-आनन्दत्व जातिभेदको लेकर दोनों शब्दोंकी प्रवृत्ति होती है। एतावता 'विषयोल्लेखरहित ज्ञान आनन्द है', यह पक्ष भी निर्दोष ही है। ज्ञान विषयोल्लेखरहित भी होता ही है', यह पीछे सिद्ध किया जा चुका है। जगत् दृश्यरूप होनेसे सत् नहीं कहा जा सकता, किंतु दृक् रूप होनेसे आनन्द सद्रूप भी है।

सुख एवं वेदनका भेद न होनेसे परप्रेमास्पदरूपसे भासमान आत्मा ही आनन्दरूप है। जैसे वृत्तिरूप ज्ञान अनित्य होनेपर भी वृत्तिभासक स्फुरणरूप ज्ञान नित्य है, वैसे ही अन्तःकरणवृत्तिरूप सुख भी अनित्य है; परंतु ब्रह्मात्मस्वरूप सुख नित्य ही है। 'मैं कभी न रहूँ' ऐसा न हो, किंतु सर्वदा बना रहूँ 'मा न भूवम् किंतु सर्वदा भूयासम्' इस प्रकार आत्मामें स्वाभाविक ही प्रेम देखा जाता है। यदि आत्मा सुखरूप न हो, तो वह प्रेमास्पद नहीं हो सकता। यदि प्राणी अनित्य सुखमें भी प्रेम करता है, तो नित्य सुखमें तो परप्रेम होना ही चाहिये। सुखमें ही प्रेम होता है। सुखसाधनोंमें भी यद्यपि प्रेम होता है, तथापि सुखके प्रयोजनसे ही सुखसाधनोंमें प्रेम होता है। सुखसाधनोंमें प्रेम सुखार्थ ही होता है, परंतु सुखमें प्रेम अन्यार्थ नहीं होता। इसी तरह आत्मामें भी प्रेम आत्मार्थ ही होता है, अन्यार्थ नहीं। इसीलिये आत्मा निरुपाधिक प्रेमका आस्पद है। जैसे चणकचूर्णादि (वेसन) में मधुरता शर्करासम्बन्धसे होती है, परंतु शर्करामें स्वतः मधुरिमा होती है। मोदक आदिमें सातिशय मिठास होती है, शर्करामें निरतिशय मिठास होती है। उसी तरह अन्यत्र सातिशय प्रेम होता है, आत्मामें निरतिशय प्रेम होता है। इसीलिये सब कुछ आत्मार्थ है, आत्मा अन्यार्थ नहीं होता। अतः आत्मा सबका ही शोधी है।

ससारमें सुख दुःख एवं सुख-दुःख-साधनोंके वैचित्र्यसे यह मानना पड़ता है कि यह विचित्रता जीवात्माके पिछले शुभाशुभ कर्मोंसे ही उपपन्न होगी। पिछले

शुभाशुभ कर्मोंकी उत्पत्ति भी जन्मान्तरीय देहसे माननी पड़ेगी । वह जन्मान्तर भी उससे प्राचीन कर्मोंसे मानना पड़ेगा । इस तरह बीज एव अङ्गुरकी परम्पराके समान ही जन्मो एव कर्मोंकी परम्पराको भी अनादि मानना पड़ता है । यह अनादि परम्परा सादि देहके आश्रित हो नहीं सकती । अतः अनादि आत्माके ही आश्रित उसे मानना पड़ता है, अर्थात् अनादि आत्माके ही पूर्व-पूर्व देहोंसे उत्तरोत्तर कर्म होते हैं एवं पूर्व-पूर्व कर्मोंसे उत्तरोत्तर देह होते हैं । उस आत्मामें ही कर्म एवं जन्म चलते हैं ।

शय्या, प्रासादादि-संघात जैसे परार्थ (दूसरोके लिये) होते हैं, वैसे ही देह, इन्द्रिय, मन आदिका संघात भी स्वविलक्षण किसी चेतनके लिये ही होता है । गय्यादि जैसे अपनेसे भिन्न देवदत्तादि शरीररूपी संघातके ही लिये दृष्ट हैं वैसे ही यदि देहादिसंघात भी किसी दूसरे संघातके ही लिये हो, तब तो अनवस्था प्रसङ्ग होगा, क्योंकि उस संघातको भी किसी अन्य संघातके लिये मानना पड़ेगा । अतः शरीरादि-संघातको किसी स्वविलक्षण, असंहत चेतनके लिये मानना पड़ेगा । इसीलिये त्रिगुणात्मक सुख-दुःख मोहात्मक अव्यक्त, महदादि प्रपञ्चके विपरीत त्रिगुणातीत, असंहत असङ्ग चेतन आत्मा सिद्ध होता है । त्रिगुणात्मक जड-प्रपञ्च रथादि चेतन सारथी या अश्वादिके अधिष्ठित ही जैसे कार्यकरणक्षम होता है, वैसे ही अचेतन प्रकृति, बुद्धि आदि भी चेतनसे अधिष्ठित होकर ही कार्यकरण क्षम होंगी । अतः त्रिगुणात्मक अचेतनसे भिन्न चेतन अधिष्ठाता आवश्यक है । भोक्ता भी अचेतनसे भिन्न चेतन ही होना चाहिये । सुख-दुःखादि भोग्य हैं । इनके द्वारा अनुकूलनीय, प्रतिकूलनीय, सुखी, दुखी चेतन ही हो सकता है । बुद्ध्यादि स्वयं सुख-दुःख-मोहात्मक हैं, अपनेसे ही स्वयं अनुकूलनीय या प्रतिकूलनीय नहीं हो सकते । इसी तरह द्रष्टाके बिना दृश्य नहीं हो सकता । बुद्ध्यादि दृश्य हैं, उनका द्रष्टा उनसे भिन्न ही होना चाहिये । साक्षात् द्रष्टा होनेसे चेतन ही साक्षी हो सकता है । द्रष्टा चेतन स्वयं अदृश्य होता है । जैसे रूप दृश्य है, चक्षु द्रष्टा है, वैसे ही चक्षु भी दृश्य है, मन द्रष्टा है ।

संसारमें चेतनके अधीन ही अचेतनकी प्रवृत्ति होती है । भले चेतनसयुक्त अचेतनकी प्रवृत्ति होती है, तथापि प्रवृत्ति अचेतनकी ही है, क्योंकि दोनों ही प्रत्यक्ष हैं । फिर भी अचेतन रथादिसे जीवित देहमें अचेतन विलक्षणता स्पष्ट ही है । काष्ठादिसे आश्रित दाह, प्रकाशादि क्रिया केवल अग्निसे उपलब्ध नहीं होती । फिर भी दाह, प्रकाशादि क्रिया अग्निका ही धर्म है, क्योंकि अग्निसंयोग होनेसे ही काष्ठादिमें दाहादि उपलब्ध होता है, अग्निसंयोगके बिना उपलब्ध नहीं होता । भौतिकवादी भी तो चेतन देहको ही प्रवर्तक मानते हैं । वेदान्तानुसार निर्विकार

कूटस्थ आत्मा भी अचेतनका प्रवर्त्तक वैसे ही होता है, जैसे अयस्कान्तमणि स्वयं प्रवृत्तिरहित होनेपर भी लोहका प्रवर्त्तक होता है या जैसे प्रवृत्तिरहित रूपादि चक्षुरादिके प्रवर्त्तक होते हैं। यद्यपि जैसे दुग्ध स्वयं वत्सवृद्धयर्थं प्रवृत्त होता है, जैसे जल अचेतन भी प्रवृत्त होता है, वैसे ही अचेतनकी प्रवृत्ति होनी ठीक है, तथापि वहाँ भी वत्सके चोपण तथा सर्वशासक अन्तर्यामीसे ही दुग्धादिकी प्रवृत्ति होती है। जैसे कर्त्ताके बिना कुठारादि करणोंका व्यापार नहीं बन सकता, वैसे ही देह, इन्द्रियादिका देहादिभिन्न कर्त्ताके बिना व्यापार नहीं हो सकता। भौतिकवादी शरीरको चेतन कहता है।

कहा जाता है कि 'जैसे नैयायिकके मुक्तात्मामें ज्ञान नहीं होता, वैसे ही मृत शरीरमें भी ज्ञानका अनुपलम्भ उपपन्न हो जाता है। प्रमाणके अभावसे ज्ञानका अभाव उपपन्न हो ही जाता है।' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि शरीर चेतन हो, तो बाल्य-यौवनादि भेदसे देहमें भेद सुस्पष्ट उपलब्ध होता है। फिर एक देह न होनेसे एक आत्मा भी नहीं होगा। फिर 'जिस मैंने बाल्यावस्थामें माताका अनुभव किया था, वही मैं वृद्धावस्थामें पौत्रोंका अनुभव करता हूँ' ऐसा अनुभव न होना चाहिये। बाल, स्थविर-शरीरमें भेद प्रत्यक्ष है। शरीरसम्बन्धी अवयवोंके उपचय-अपचयद्वारा शरीरका उत्पाद-विनाश सिद्ध है। जो कहा जाता है कि 'पूर्वशरीरोत्पन्न संस्कारसे द्वितीय शरीरमें संस्कार उत्पन्न होता है', तो यह ठीक नहीं। अनन्त संस्कारोंकी कल्पनामें गौरव होगा। यदि शरीर ही चेतन है, तब तो वह उत्पन्न होनेवाला शरीर नवीन ही है। फिर बालकोंकी माताके स्तन्यपानमें प्रवृत्ति न होनी चाहिये, क्योंकि इष्टसाधनता ज्ञान प्रवृत्तिमें हेतु है। सद्यःसमुद्भूत शिशुको इष्टसाधनताका अनुभावक कुछ भी नहीं है। देहभिन्न आत्मा माननेवाले तो कह सकते हैं कि जन्मान्तरानुभूत इष्टसाधनताका स्मरण हो सकता है। परन्तु जहाँ देहभिन्न आत्मा नहीं है, वहाँ तो जन्मान्तरकी बात है ही नहीं। वहाँ स्तन्यपानमें जन्मान्तरीय इष्टसाधनताका ज्ञान नहीं कहा जा सकता। शङ्का हो सकती है कि 'यदि जन्मान्तरीय अनुभूत स्तन्यपानकी इष्टसाधनताका स्मरण होता है, तो अन्य जन्मान्तरीय अनुभूत पदार्थोंका स्मरण क्यों नहीं होता?' तो इसका समाधान यह है कि उद्बोधक न होनेसे उनका स्मरण नहीं होता। स्तन्यपानके सम्बन्धमें तो जीवनका हेतुभूत अदृष्ट ही संस्कारका उद्बोधक है। यदि स्तन्यपानमें इष्टसाधनताका बोध होकर प्रवृत्ति न हो, तो जीवन ही असम्भव हो जायगा।

कुछ लोग चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियोंको ही चेतन मानते हैं, परन्तु चक्षु आदिके उपघात होनेपर भी स्मृति होती है, अतः यदि चक्षुरादि इन्द्रियाँ चेतन होतीं, तो उनके उपघातमें स्मृति न होनी चाहिये थी। अन्यके अनुभूतका अन्य

स्मरण नहीं कर सकता । मन भी चेतन नहीं है । फिर तो वह अणु-होनेसे उसकी प्रत्यक्षता न होगी । कहा जाता है कि 'क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है ।' परंतु 'सोऽहं' (मैं वही हूँ) इस प्रकार अनेकदिनवर्ती आत्माकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे नित्य विज्ञान ब्रह्मको ही आत्मा मानना ठीक है ।

मूल, वस्तु या चेतना ?

“मूल, भूत है चेतना ?” इस प्रश्नके उत्तरमें आधुनिक वैज्ञानिक एडिंगटन भी कहते हैं—‘खोजते हुए अन्तमें जहाँ पहुँचा, वहाँ देखता हूँ, मनकी छाया-मात्र है ।’ वैज्ञानिक जोन्स गणितशास्त्रके पण्डित हैं । उनका कथन है—‘अन्तमें देखता हूँ, विज्ञानकी ही विजय है । विश्वका मूलधार, ईश्वर एक अङ्कशास्त्रवित् है और यह विश्व उसीके मस्तिष्कका एक अङ्कमात्र है ।’ पूछा जा सकता है कि एडिंगटनका मानस और जोन्सका अङ्क क्या उनके मस्तिष्क और शरीरके ऊपर निर्भर नहीं है ? क्या अपना मस्तिष्क और शरीर उनको अभौतिक या अतिभौतिक मालूम होता है ? जोन्स, एडिंगटन आदिकी वर्णनशैलीमें कुछ अन्तर है, उसपर आधुनिकताकी मामूली छाप है, लेकिन बात पुरानी है—पिथागोरसका अङ्क, प्लेटोका आदर्श, उपनिषदोंका ब्रह्म—केवल नयी पोशाकमें हमारे सामने आये हैं । वस्तुको लोंघकर उसके पीछे किसी अवास्तव अलौकिककी प्रतिष्ठाकी चेष्टा हमको अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होती । श्रेणीविभाजित समाजमें वास्तव-जीवन जब अनिश्चित और जटिल होता है, तब एक अलौकिक और अन्तिम सत्यकी प्राप्तिसे वास्तव-पीड़ित मनको सान्त्वना मिलती है । धर्मकी प्रयोजनीयताका समर्थन करते हुए बड़े-बड़े धार्मिक भी यही युक्ति पेश करते हैं ।

‘पर मनुष्यका शरीरसम्बन्धी ज्ञान जितना ही उन्नत होता गया, आत्माकी धारणा भी उतनी ही सूक्ष्म होती आयी है और शरीर और आत्माका अविच्छेद्य सम्बन्ध उन्हें दिखायी देने लगा है । शरीरके साथ ही आत्माका निधन होता है, इस बातको मनुष्यने सभ्यताके प्राचीन युगमें ही मान लिया था । पश्चात् आत्माके दो भाग किये गये—जीवात्मा और परमात्मा । जीवात्मा नश्वर है, लेकिन परमात्मा अमर । देहातीत आत्मा या चैतन्य इस तरह जिंदा रहा । प्लेटो और अरस्तू, रामानुज और शङ्कर, सभीने विदेही आत्माको इस प्रकार ईश्वर या ब्रह्मके साथ जोड़ दिया । आत्माको ‘विदेह’ माननेके अतिरिक्त कोई मार्ग भी नहीं रहा । असभ्य मनुष्यके निकट प्राकृतिक और अलौकिक दोनों ही प्रत्यक्ष सत्य हैं, उनका विज्ञान प्रधानतः मन्त्र-तन्त्र है । सभ्यजगत्से विज्ञानकी उन्नति रोकनी नहीं जा सकती । विज्ञान अलौकिक शक्तिकी कोई परवा नहीं करता, बल्कि शत्रु मनुष्यके कल्पित अलौकिकके राज्यको क्रयशः सकीर्ण बना देता है ।

यही कारण है कि विज्ञानके प्रभावस्वरूप दर्शनकी आत्मा क्रमशः विशुद्ध होती आयी है, यानी इसका प्रमाण प्रयोगके बाहर ले जाकर इन्द्रिय-बुद्धिसे परे रखा गया है। इसी आत्माको सारे विश्वतत्त्वके मूलमे उन्होंने विराजमान देखा। शङ्कर-वेदान्तके अनुसार विश्वका मूलधार ब्रह्म और आत्मा एक ही चीज है—‘तत्त्वमसि’।

“देखा गया है कि प्रत्येक युगमें देश और जातियोकी सीमा अतिक्रम कर मनुष्यकी विचारधारा एक प्रकार रही है। प्रेत-तत्त्व, जादू-विद्या, अनेकेश्वरवाद, एकेश्वरवाद इत्यादि मनुष्यकी चिन्ताधाराकी सीढियाँ सभी देशोंमें एक ही प्रकारकी रही हैं। यह भी सधान मिलता है कि यह तत्त्व-विचार जीवनकी गतिके छन्दमें ही बदलता रहा है और सूक्ष्म भी होता आया है। हमारे असभ्य पूर्व पुरुषोंका प्रेत-विश्वास ही सभ्य मनुष्योंके अध्यात्मवादके मूलमें है, इससे हमारे सभ्यतागर्वी मनको चोट पहुँचती है, लेकिन इतिहास इसका साक्षी है। प्रकृति-जगत्का इतिहास हमको यह दिखलाता है कि चेतनाकी उत्पत्ति भी वस्तु जगत्में ही है। आदर्शवादी दार्शनिक कहता है कि चेतना ही भूतका मूल है, लेकिन विज्ञानने यह भलीभाँति प्रमाणित किया है कि चेतना सदासे नहीं रही। वस्तु-जगत्के इतिहासमें ऐसा भी समय था, जब जीव-जगत्का अस्तित्व नहीं था। वस्तुनिरपेक्ष चेतना, रक्त-मासविहीन अदृश्य—ये धारणाएँ मनुष्यकी बुद्धिप्रसूत हैं। लेकिन मनुष्यसे भी पहले, जीव-जगत्के अस्तित्वके पहले, चेतनाका अस्तित्व है, यह सम्भव नहीं। भूतसे ही चेतनाकी उत्पत्ति है, इसलिये भूत ही पहले है। चेतना सभी प्रकार भूतके पश्चात् है। अध्यात्मवादी वस्तु और चेतनाके सम्पर्कको केवल बुद्धिद्वारा जाँचते हैं, इतिहासकी ओर ध्यान नहीं देते।

“आदिम मानवकी अपरिणत विज्ञानबुद्धिने वस्तुजगत्में मनुष्यकी ही भावनाधारणाकी छाया देखी है। उसीने प्रेत, परमात्मा, देवता, ईश्वर-आदर्श आदिका रूप लिया है। सदियों पहले चार्वाक और जेनोफेनीजने इसका अनुमान किया था। गताब्दियोंकी वैज्ञानिक गवेषणासे प्रमाण मिलता है कि भूतसे ही चेतनाकी उत्पत्ति हुई। चेतना भूतके ही विकासकी एक विशेष अवस्था है। इस चेतनाका, चाहे यह मनुष्यकी हो चाहे किसी और प्राणीविशेषकी, भूत-जगत्से अलाहिदा कहीं पता नहीं चलता। अध्यात्मवादी सूर्यविज्ञान, भूतत्व और जीव-विज्ञानके प्रमाणित सिद्धान्तोंको मान भी लेते हैं, लेकिन साथ-ही-साथ कहेंगे कि ‘अस्फुट चेतनाने तो सारे जगत्को छा रक्खा है, यह विश्व चेतनामय है।’ इस प्रकार भूतजगत्की एक विशेषवस्तु या गुणको वह इसके मूलमें बिठला देते हैं, मनुष्यकी चेतनाको देश-कालातीत मानकर इसको भूतजगत्की चेतनाका रूप दे देते हैं।

“अनुभव ही इस अध्यात्मवादी युक्तिका अन्तिम उत्तर है । शरीरविहीन चेतनाका कोई अस्तित्व नहीं । बर्बरके प्रेतकी तरह मानव-कल्पनाका यह प्रतिबिम्ब है । मार्क्सवाद इसीलिये इतिहासके ऊपर जोर देता है । इस इतिहासका अर्थ राजाओंका युद्ध नहीं । यह समग्र मानव-समाज और सारे विश्वका इतिहास है । इतिहास ही चेतनाके ऐतिहासिक जन्मका प्रमाण है । यह चेतना देश और कालसे सीमित है । अध्यात्मवादी क्या करते हैं, वे मनुष्यकी किसी एक मानसिक क्रियाको मूल सत्य मानकर इसीको भूतजगत्के मूलमें पहुँचा देते हैं । कोई कहता है कि भूतके मूलमें प्रज्ञा (रीजन) है, कोई कहता है इच्छाशक्ति (विल) है और कोई कहता है प्राणशक्ति (वाइटल एयर्स) है । जहाँतक जान पड़ता है, जीवजगत्में मनुष्यको ही केवल अमूर्त-भावनाकी क्षमता प्राप्त है । मानव-मस्तिष्क और शरीरके सगठनकी विशिष्टतासे ही इस क्षमताकी उत्पत्ति है । असंख्य मनुष्योंकी अभिज्ञतासे ही ‘मनुष्य’ नामकी साधारण संज्ञा बनती है । लेकिन इन असंख्य मनुष्योंको छोड़कर इस साधारण सज्ञाका स्वतन्त्र अस्तित्व कहाँ रह जाता है ? साधारण संज्ञा मनुष्यकी विचारक्रियाकी एक पद्धति है, यह मनुष्यके जीवनधारणके काम आती है । अन्यान्य जीव बाहरी जगत्की प्रेरणाओंको मिलाकर अमूर्त-भावनाकी सृष्टि नहीं कर सकते और इसीलिये प्रकृतिके सामने उनकी अक्षमता अधिक है । साधारण संज्ञाकी सृष्टिकी क्षमताने मनुष्यको प्रकृतिके रहस्यको समझनेमें काफी सहायता पहुँचायी है, लेकिन यही क्षमता मनुष्यके मनमें भ्रान्तिकी सृष्टि कर सकती है और करती है । साधारण सज्ञा वास्तवकी अभिज्ञतासे ही बनती है, लेकिन मनुष्यका मन इसको वास्तवसे हटाकर इसके एक स्वतन्त्र अस्तित्वकी सृष्टि कर सकता है, और करता है, इसीलिये मनुष्यकी विचारधाराको ‘चेतना’, ‘प्रज्ञा’ आदि अनेकों साधारण सज्ञाओंमें परिवर्तित किया जा सकता है । आदर्शवादी यह भूलकर कि ‘चेतना’, ‘प्रज्ञा’ आदि साधारण सज्ञाएँ असंख्य जीवोंकी विशेष अवस्थापर निर्भर हैं, इनको एक स्वतन्त्र शक्तिके रूपमें देखते हैं ।”

परन्तु यह सारी कल्पना निरर्थक है । आयुर्वेद, योगशास्त्र तथा आध्यात्मिक दृष्टिके आधारपर शरीरसम्बन्धी ज्ञान लाखों वर्षोंका पुराना है । उपनिषदोंने लाखों वर्ष पहले घोषित कर दिया है—‘अविनाशी वा अरे अयमात्मा’ । (बृहदा०) यह आत्मा अविनाशी है । शरीरके विनाशसे आत्माका भी विनाश होता है’ यह भ्रम पहले भी लोगोको था । श्रुतिने भी कहा—“एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति (बृहदा० २।४। १२) ।” अर्थात् शरीरादि सघातरूपमें परिणत भूतोंसे समुत्थित होकर उनके विनाशके पश्चात् ही विनष्ट हो जाता है, अर्थात् देहादिका नाश होते ही उसके साथ तादात्म्या-भिमानमलक जो औपाधिकरूप है, वह नष्ट हो जाता है । जैसे विशिष्ट तेज

आदिके कारण सामुद्रिक जलमें लवण-कणका रूप बनता है, उपाधिके वियुक्त होनेपर वह औपाधिकरूप नष्ट हो जाता है। परन्तु जैसे लवण कण नष्ट होनेपर भी सिन्धुजल नहीं मिटता, वैसे ही देहादि उपाधिमूलक औपाधिकरूप नष्ट होनेपर भी वास्तविक अनौपाधिकरूप बना ही रहता है। जैसे महाकाशका अंग ही घटा-काश-होता है, वैसे ही परमात्माका अंग ही क्षेत्रज्ञ आत्मा है। जीवात्माके औपाधिक रूपके नश्वर होनेपर भी उसका वास्तविकरूप कभी नश्वर नहीं है।

प्रेतात्माकी कल्पना न केवल शास्त्रीय ही है, अपितु उसके प्रत्यक्ष चमत्कार आज भी उपलब्ध होते हैं। प्रेत-विद्याके आधारपर ही अन्य लोगोको अविज्ञात गुप्त-से-गुप्त रहस्योंका ज्ञान परलोकविद्यावाले बतलाते हैं। अनेक स्थानोंमें सबके सामने किसी गृह-प्राङ्गणमें ईंट, पत्थर एवं अपवित्र वस्तुओंकी वर्षा होना, घरकी वस्तुओं, वस्त्रों आदिका देखते-देखते लुप्त होना आदि घटनाएँ ऐसी हैं कि पुलिसकी छान-बीन भी वहाँ व्यर्थ होती है, केवल साहस-मात्रसे ऐसी वस्तुओंका अपलाप नहीं किया जा सकता। युक्तिकी दृष्टिसे भी उत्कट कामनायुक्त मनःप्रधान सूक्ष्म शरीरविशिष्ट प्राणी अपने प्राप्त कर्मके अनुसार अन्य योनियोंके समान ही प्रेतयोनिमें भी प्राप्त होता है। कर्मके उत्कर्ष-अपकर्षके अनुसार ही उनमें भी ऐश्वर्यका तारतम्य होता है।

आस्तिक प्रत्यक्षानुमानके अतिरिक्त आगम-प्रमाण भी मानते हैं। तदनुसार प्रजा-पाठ, मन्त्र-तन्त्र—सभीका अस्तित्व है। ईश्वर न माननेवाले मीमांसकों एवं सांख्योंने भी मन्त्रोंका महत्त्व माना है। निरीश्वरवादी बौद्धो एवं जैनियोंमें भी मन्त्रोंका अस्तित्व मान्य है। सबके ही वहाँ प्रणवादि मन्त्रका जप चलता है। आजके वैज्ञानिक युगमें भी अधिकांश मनुष्य मन्त्रोंमें विश्वास रखते हैं। जैसे तृण, वीरुध, ओषधियोंमें भिन्न विचित्र गुण होते हैं, उनके परस्पर सञ्श्लेष-विश्लेषसे उन गुणोंमें हास-विकास एवं उद्गम-अभिभव होता रहता है, वैसे ही मन्त्रोंसे भी। अगणित ओषधियों एवं उनके अगणित सञ्श्लेष-विश्लेषोंसे उद्भूत एवं अभिभूत होनेवाले गुणोंको केवल अन्वय-व्यतिरेकसे नहीं समझा जा सकता। अन्वयव्यतिरेकसे एक सखियाका ही गुण, रस, स्वाद आदि लाखों प्राणियोंके भी वलिदानमें लाखों वर्षोंमें भी जान सकना असम्भव है। अतएव महातपा महर्षियोंने योगज प्रत्यक्ष-से ही सब वस्तुओंके गुण जाने हैं। इसी तरह वर्णोंके भी विचित्र सञ्श्लेष-विश्लेषमें भी विलक्षण प्रकारकी शक्तियाँ निहित होती हैं। वर्णविन्यासोंके चमत्कार लोकमें भी प्रत्यक्ष हैं ही। राजा-जारा, नदी-दीन, कपि-पिक आदि वर्णोंके व्यत्यास-मात्रसे अर्थ और प्रभावमें कितना भेद होता है ? कोई वर्णविन्यासज्ञ पाँच मिनटके लिये सुप्रीमकोर्टमें खड़ा होकर वर्णविन्यासकी महिमासे दूसरोंका और अपना महान् लाभ कर लेता है। कोई अननुरूप वर्णविन्यासके कारण कलहका

कारण बन अपना और दूसरोका नुकसान कर लेता है। इसीलिये योगियों, तार्किकों एवं नैयायिकोंने भी मन्त्रशक्ति मानी है। कोई भी विधिपूर्वक मन्त्रानुष्ठान करके आज भी मन्त्रकामहत्त्व अनुभव कर सकता है। कुछ वैज्ञानिक भी अलौकिक शक्ति मानने लगे हैं। दर्शन वैज्ञानिकोंके विज्ञानकी परवा न करके ही अपने सत्य सिद्धान्तको वैज्ञानिको एव विज्ञानकी उत्पत्तिके पहलेहीसे बतला रहा है। लाखों वर्ष पहलेसे ही, जब आधुनिक वैज्ञानिक गर्भमें भी नहीं आये थे, उपनिषदें आत्मा-को मनोवचनातीत कहती आ रही हैं। वह इसलिये कि आन्तर वस्तुसे बाह्य वस्तुका ग्रहण होता है, बाह्यसे आन्तरका नहीं। बाह्य प्रकाशका परिज्ञान नेत्रसे होता है, परंतु सूक्ष्म नेत्र-इन्द्रियका बोध बाह्य प्रकाशसे नहीं होता। इन्द्रियोका व्यापार मनसे विदित होता है, परंतु इन्द्रियोसे मनका व्यापार विदित नहीं होता। मन, बुद्धि आदिका बोध सर्वभासक साक्षीसे होता है, परंतु स्वप्रकाश साक्षीका मन आदिके द्वारा बोध नहीं होता। इसी तरह जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्धसे रहित होनेके कारण शब्दकी अभिधावृत्तिका गोचर अद्वितीय ब्रह्म नहीं होता। वराक (वेचारे) विज्ञानके भयसे दार्शनिकोंने ब्रह्मको मनोवचनातीत नही बनाया है।

आत्मा एवं भूत

मार्क्सवादी 'आत्माकी अपेक्षा प्रकृति या भूतको ही मूल मानते हैं। भौतिक चिन्त्य वस्तुसे भिन्न चिन्तन या विचार पृथक् नहीं किया जा सकता है। चेतना या विचार चाहे कितने ही सूक्ष्म क्यों न प्रतीत हों, परंतु हैं वे मस्तिष्ककी उपज ही। मस्तिष्क एक भौतिक दैहिक इन्द्रिय ही है। यह भौतिक जगत्का सर्वश्रेष्ठ इन्द्रिय है। मार्क्सके शब्दोंमें 'पदार्थ मनसे उत्पन्न नहीं हुआ, किंतु मन पदार्थकी सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है।' लेनिनने कहा है कि 'सृष्टि-ज्ञानका अर्थ है—पदार्थकी गति और उसकी चिन्तनशीलताका ज्ञान।' इस तरह भौतिक पदार्थ या प्रकृति ही मूल है। विचार या चेतना उसका प्रतिबिम्ब है। व्यक्तिके विचार उसकी सामाजिक सत्ता या परिस्थितिसे स्वतन्त्र नहीं होते। कहा जाता है कि 'एक दार्शनिक अपने युगका कीचड़ अपने पैरोके साथ लिये जाता है। उसके दर्शनपर उसके समाजकी छाप अवश्य ही रहती है।' लास्कीके शब्दोंमें 'जो जैसा रहता है, वैसा ही सोचता है।' एमिल वर्नसके शब्दोंमें 'वस्तु अर्थात् वह वास्तविकता, जो अचेतन है, पहले थी। मन जो सचेतन है, बादमें आया। वस्तु अर्थात् बाह्य पदार्थ मनसे स्वतन्त्र है।'।

यद्यपि पाश्चात्य आदर्शवादी दार्शनिकोंने मनस् या सर्वमनस् तत्त्वको ही मूल माना है। उसीसे अचेतनकी उत्पत्ति माना है। काट, फिक्टे, हीगेल आदि इसी विचारके हैं। अद्वैतवादी वेदान्ती भी एक हदतक कहते हैं कि सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च मनका बिस्तार है। यह द्वैत मनोमात्र ही है—'मनोमात्रमिदं द्वैतम्।' मनके

अमनीभाव होनेपर द्वैत कुछ भी नहीं रह जाता—‘मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते’ (माण्डूक्यकारिका ३।३१) बौद्धोका क्षणिक विज्ञान ही बाह्य अर्थके आकारसे परिणत होता है। यह भी इन्हीं मतोंसे मिलता-जुलता मत है। तथापि क्षणिक विज्ञान या व्यावहारिक स्थायीमन या अन्तःकरण तथा उसकी इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख आदि सब विकृतियोंकी स्थिति, गति, अपचिति (लय) जिस नित्य अखण्ड बोधसे भासित होती हैं, वह अनन्त सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन ब्रह्मात्मा ही वेदान्तमतमें सर्वमूल है। मन भी उसी अखण्ड बोधका विवर्त्त है। अन्वय-व्यतिरेकसे जैसे मृत्तिकाके होनेपर ही मृदविकार घटादि उपलब्ध होते हैं, मृत्तिकाके बिना वे उपलब्ध नहीं होते, जैसे जलके रहनेपर ही तरङ्गादि प्रतीत होते हैं, जलके बिना वे प्रतीत नहीं होते, वैसे ही मनके होनेपर ही बाह्य एव आभ्यन्तर भौतिक दृश्यमात्र प्रतीत होते हैं, मनके बिना कुछ भी भासित नहीं होते हैं। इसी प्रकार सर्वान्तर्द्रष्टाका अस्तित्व ही सम्पूर्ण दृश्यके अस्तित्वका मूल है। अखण्ड बोधके बिना तो मन, अन्तःकरण या विज्ञान भी भासित नहीं होते। अतएव मूल पदार्थ अखण्ड बोध सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है। मनसे भिन्न मस्तिष्क भी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। मनको श्रोत्र, त्वक्, चक्षु आदि दस बाह्य इन्द्रियोसे भिन्न ग्यारहवीं आन्तर इन्द्रिय माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं है। उसी मनमें बुद्धि, चित्त, मन, अहकार—ये चार भेद होते हैं। उसमें इच्छा, द्वेष, सुख-दुःखादि गुण व्यक्त हुआ करते हैं। भले ही मस्तिष्कके तन्तुविशेषोंके निघर्षसे इसकी व्यञ्जना होती हो, परतु यह मस्तिष्क एव उसके तन्तु या तन्तुका निघर्षमात्र नहीं है। जैसे ठंडे और गरम दो तार या दो तारोंका सघर्ष ही विद्युत् नहीं है, किंतु उनसे व्यक्त होनेवाली विद्युत् उनसे भिन्न स्वतन्त्र वस्तु है, वैसे ही मन इन मस्तिष्क, तन्तु एव उनके निघर्षसे भिन्न वस्तु है। शुद्ध स्फुरण, अखण्ड बोध तो विचारोंसे भी भिन्न स्वतन्त्र वस्तु है।

मार्क्सवादी कहते हैं कि “विचारोंका जन्म बाह्यजगत्से ही होता है। फिर भी सभी विचार सत्य नहीं होते। वास्तविकताका ठोस अनुभव ही बतलाता है कि विचार सही है या नहीं। विचार करनेपर यह भी असङ्गत ही प्रतीत होता है। फिर भी वास्तविकताके जिस ठोस अनुभवसे ही विचारकी सत्यताका निश्चय होता है, वह अनुभव क्या है? क्या वह भी जड़, बाह्य वस्तु है? अतः हर दृष्टिसे यह मानना पड़ेगा कि विचार हो या अनुभव, ठोस हो या पोला, किसी भी वस्तुका अस्तित्व निर्दोष अनुभव या विचारके बिना सिद्ध नहीं होता।” इससे इतना ही कहा जा सकता है कि पूर्वानुभवका बाधक अनुभवान्तर होनेसे पूर्वानुभवको भ्रम समझा जाता है। बाधक अनुभव न होनेसे पूर्वानुभवको स्वतः ही सत्य माना जाता है। सर्वथा अपि अनुभवके बिना बाह्य पदार्थकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होती है। साधारण विचार, साहित्य आदिपर अवश्य समाजकी छाप होती है। उसमें

भी उच्च श्रेणीके विचारको, लेखकोंके ग्रन्थोंमें उच्च सामाजिक स्थितियोंका अङ्कन होता है। निम्न विचारके ग्रन्थोंपर निम्नश्रेणीका ही प्रभाव अङ्कित होता है। इसी अंशमें लास्कीका कथन सङ्गत है। परन्तु प्रामाणिक दर्शनके लिये तो देश, काल, परिस्थितियोंके आवरणोंको भेदन करनेसे ही तत्त्वानुभूति होती है। बिना रंगीन चश्मा उतारे वस्तुका वास्तविक रूप-ज्ञान सर्वथा ही दुर्घट होता है।

देहके समान ही इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं हैं। यदि सम्मिलित होकर इन्द्रियाँ आत्मा हैं तब तो एक इन्द्रिय नष्ट होनेपर आत्मनाश-प्रसङ्ग होगा, क्योंकि एकके नष्ट होनेपर भी समस्तता विनष्ट हो गयी। यदि प्रत्येक इन्द्रियाँ आत्मा हैं, तो परस्पर विरुद्ध दिक्क्रिया होनेसे शरीर ही उन्मथित हो जायगा। 'योऽहं चक्षुषा घटमद्राक्षं सोऽहं घटं त्वचा स्पृशामि' जिस मैंने चक्षुसे घट देखा था, वही मैं त्वक्से घटका स्पर्श करता हूँ' इस अनुभवसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि नेत्र, श्रोत्र, त्वक्से काम लेनेवाला आत्मा इनसे भिन्न है। चक्षु यदि आत्मा है, तो वह स्पर्शका कर्ता क्यों नहीं हो सकता। त्वक् आत्मा है तो वह दर्शन-क्रियाका कर्ता क्यों नहीं हो सकता? अतः यहाँ कोई इन्द्रियोसे भिन्न ही आत्मा है जो कि दर्शन, घ्राण, स्पर्श, श्रवण आदि सभी क्रियाओंका कर्ता है, उसी एक आत्माकी विभिन्न क्रियाओंके कर्तारूपसे प्रसिद्धि है।

अणिक विज्ञान भी आत्मा नहीं; क्योंकि अनुभव एवं स्मृतिका एक ही कर्ता होता है। अन्यद्वारा अनुभूतका अन्य स्मरण नहीं करता। मैंने उसे देखा था और मैं इसे देख रहा हूँ। इस तरह अनेक काल-सम्बन्धी आत्मा अणिक नहीं हो सकता है। पूर्वोत्तरदर्शी एक प्रत्ययी न हो तो स्मृति नहीं हो सकती है। 'सोऽहं' यह प्रत्यभिज्ञा भी स्थायी आत्माके बिना नहीं बन सकती। यदि स्मरण एवं अनुभवके कर्ता भिन्न हों तो मैंने देखा, अन्यने स्मरण किया, यह व्यवहार होना चाहिये। कुछ लोग कहते हैं कि सादृश्यके कारण एकताकी प्रतीति होती है। जैसे नदी-प्रवाह, दीप, केश आदिमें तत्सदृश होनेसे 'त एवमे केशाः, सैवेयं दीपकलिका' वे ही ये बाल हैं, वही यह दीपशिखा है—यह प्रत्यभिज्ञा होती है, परन्तु यह भी ठीक नहीं है। 'तेनेदं सदृशम्' यह उसके सदृश है, इस प्रकार सादृश्यग्रहणके लिये भी तो पूर्वकालवर्ती तत्का, वर्तमानकालवर्ती इदं तथा तदुत्तरवर्ती सादृश्यका ग्राहक एक स्थायी आत्मा हो तभी सादृश्यबोध भी हो सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि सादृश्यप्रत्यय भी स्वतन्त्र ही है, परन्तु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसी स्थितिमें 'तेनेदं सदृशम्' इत्यादि प्रतीति न होनी चाहिये। बाह्य विषयमें भले ही कभी सादृश्यमूलक-एकत्वका भ्रम भी हो तथापि उलब्धि या अनुभवितामें तो सदेह ही नहीं होता। मैं वही हूँ या तत्सदृश अन्य हूँ, किंतु यहाँ तो स्पष्ट ही निश्चित प्रत्यभिज्ञान होता है; जो मैंने कल देखा था, वही मैं आज स्मरण कर रहा हूँ।

एकादश परिच्छेद

माक्स और आत्मा

शास्त्र-संस्कारवर्जित जनसाधारण तथा भूतसघातवादी चार्वाक और आधुनिक मार्क्सवादी जीवित देहको ही आत्मा कहते हैं, क्योंकि 'मनुष्योऽहं जानामि' मैं मनुष्य हूँ, जानता हूँ, इस रूपसे ही शरीर ही 'अह' प्रत्ययका आलम्बन और ज्ञानके आश्रयरूपसे आत्मा प्रतीत होता है । दूसरे लोग इन्द्रियोंको ही आत्मा कहते हैं । उनके मतसे चक्षु, श्रोत्रादि इन्द्रियोंके बिना रूपादि-ज्ञान नहीं होता, अतः वे ही आत्मा हैं ।' अन्य लोग 'स्वप्नमें चक्षुरादि न होनेपर भी ज्ञान होता है, अतः 'अह' प्रत्यय और विज्ञानका आश्रय होनेसे मनको ही आत्मा मानते हैं ।' विज्ञानवादी क्षणिक विज्ञानको और माध्यमिक शून्यको ही आत्मा कहता है । यहाँ जीवित देहको ही आत्मा माननेवाले मार्क्सवादियोंसे प्रश्न हो सकता है कि क्या भोक्तृत्व और चैतन्य व्यस्त (अर्थात् प्रत्येक) भूतोंका धर्म है अथवा समस्त (सम्मिलित) भूतोंका ? पहले पक्षमें भी क्या सभी भूत समानकालमें ही भोक्ता हैं ? यदि हाँ, तो स्वार्थके लिये प्रवृत्त सभी चैतन्य गुणयुक्त भूतोंका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं हो सकेगा, अङ्गाङ्गिभाव बिना बने सघान नहीं बन सकता । लोकमें देखते ही हैं कि मुझ आदि तृणोंका अङ्गाङ्गी भाव होनेसे रज्जुरूप सघात निष्पन्न होता है । यदि सघातके बिना ही पृथक् पृथक् भूतोंका स्वतन्त्र भोक्तृत्व मान लिया जाय तो देहसे बाहर भी एक एक भूतमें भी भोक्तृताकी उपलब्धि होनी चाहिये जो कि अदृष्ट ही है । यदि व्यस्त भूतोंका समानकालमें ही भोक्तृत्व न होकर क्रमेण भोक्तृत्व हो तो भी सघातकी अनिष्पत्ति बनी ही रहेगी । यदि वर-विवाहादि न्यायसे जैसे प्रतिविवाहमें एक-एक पुरुष प्रधान और अन्य वरयात्रिक अप्रधान होते हैं, उसी तरह एक-एक भोगमें एक-एक भूत प्रधान होगा । दूसरे उसके गुण भूत होंगे, परन्तु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि जैसे एक-एक वरके लिये असाधारणरूपसे एक-एक कन्या भोग्य वस्तु है, वैसे ही भोग करनेवाले पृथिवी, जल, तेज, वायुके लिये एक-एक गन्ध, रस, रूप, स्पर्शादि भोग्यवस्तु व्यवस्थित नहीं हैं, अतएव पृथिवीमें रूप-रसादिकी भी उपलब्धि होती है । यदि किसी तरह व्यवस्था मान भी ली जाय कि तेजका रूप ही, वायुका स्पर्श ही, जलका रस ही भोग्य है तो भी एक कालमें गन्ध-स्पर्शादि सभी विषयोंका सनिधान होनेपर भोगमें क्रीम अर्थात् (अयौगपद्य) उपपन्न नहीं हो सकेगा । जैसे एक ही मुहूर्तमें प्रत्येक भोग्य कन्याके उपस्थित होनेपर वरोका क्रम

विवाह और गुण-प्रधानभावेन सघात नहीं बन सकता, अर्थात् भोग्यकी उपस्थितिमें भोक्ता क्रमकी अपेक्षा न करके ही भोगमें प्रवृत्त होगा। उसी तरह प्रत्येक भोक्ता भूत, भोग्य शब्दादिके उपस्थित होनेपर क्रमकी अपेक्षा न करके ही भोगमें सलग्न होगा। अतः इनका भी अङ्गाङ्गी-भावरूपसे संघात नहीं बन सकेगा।

इसी तरह समस्त (सम्मिलित) भूतोंका भी भोक्तृत्व नहीं बन सकता; क्योंकि यदि प्रत्येक भूतोमें चैतन्य नहीं है तो वह संघातमें भी नहीं हो सकता। अतएव संघातमें भी भोक्तृत्व नहीं बन सकता। यदि कहा जाय कि अग्निमें डाले हुए एक-एक तिल ज्वालाके जनक न होनेपर भी तिलसमूह ज्वालाका जनक होता है, उसी तरह भूतोंका समूह भी चैतन्यका जनक होगा, परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि संघातकी उत्पत्तिमें कोई स्पष्ट हेतु नहीं दिखायी देता। कारण, मार्क्सवादीके मतमें संघातात्मक शरीरसे भिन्न कोई चेतन पदार्थ है ही नहीं, जो कि प्रत्येक अचेतन भूतका चेतनात्मक संघात उत्पन्न कर सके। यदि भावी भोगको ही संघातका कारण कहा जाय तो वह भी ठीक नहीं, कारण यदि भोगको अप्रधान माना जाय तो परस्पर गुणप्रधानभावशून्य भूतोंका संघात कैसे बनेगा? अर्थात् गुणभूत भोगके द्वारा प्रधानभूत भूतोंका संघात सम्पादन असंभव है। यदि भोगको ही प्रधान माना जाय तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि भोग सर्वथा ही भोक्ताका शेष (अङ्ग) हुआ करता है। कहा जा सकता है कि शेषी (अङ्गी) अर्थात् प्रधानभूत भोगके प्रति शेषभूत (अर्थात् अङ्गभूत) स्त्री-पुरुष शरीर भोक्ताओंका संहत (सम्मिलित) होना देखा गया है। पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सिद्धान्तमें वहाँ भी स्त्री-पुरुष शरीरोंमें भोक्तृत्व सम्प्रतिपन्न नहीं, किंतु वहाँ शरीर-भिन्न दोनोंके भोक्ता आत्मा ही भोगके लिये दोनों शरीरोंको सम्मिलित करते हैं। और ज्वालाके प्रति तिलोंकी संघातापत्तिका दृष्टान्त भी जडवादीके मतमें असिद्ध है; क्योंकि उसके मतमें संघात नामकी कोई चीज सिद्ध नहीं होती। वादी-प्रतिवादी उभयसम्मत होनेसे ही कोई दृष्टान्त किसी सिद्धान्तका साधक हो सकता है।

संघात क्या है? यह भी विचारणीय है। 'जैसे अनेक वृक्षोंका एक देशमें आना ही उनका संघातभूत 'वन' कहा जाता है, वैसे ही भोग और भोक्ताका समानाधिकरणत्व अर्थात् एक देशस्थता संघात है,' यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इस तरह तो सर्वव्यापी सभी भूत सर्वत्र हैं। अतएव चैतन्य और भोग भी सार्वत्रिक ठहरेगा तथा शरीरमें ही भोगका नियम बाधित होगा। 'उन भूतोंसे आरब्ध अवयवी संघात है', यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यदि वह अवयवी चार भूतोंसे भिन्न है, तो उसे पाँचवाँ तत्त्व मानना होगा,

जो भौतिकवादियोंको अस्वीकृत ही है। यदि अवयवी अवयवोंमें अभिन्न है तब तो भूतमात्र ही होगा। भेद एव अभेद दोनोंका होना अमङ्गत ही है। यदि कहा जाय कि अवयवी अवयवोंके परतन्त्र है, अतः पञ्चमनन्वापत्ति नहीं होगी, तो यह भी ठीक नहीं, कारण, इस तरह जल आदि भी पृथ्वी आदिके परतन्त्र होनेसे जलादिमें भी स्वतन्त्र तत्त्वका व्यवहार होना है। फिर तो पृथिव्यादि भूतचतुष्टय तत्त्व हैं, यह सिद्धान्त बाधित हो गया। कुछ लोग कहते हैं कि 'एकद्रव्य-बुद्धिका अवलम्बन योग्य होना ही संघात है। देहमें एकबुद्धि-अवलम्बन-योग्यता है ही', परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वस्तुतः अनेकोंमें एकत्वबुद्धि विभ्रम ही है। 'एकार्थक्रियामे युगपत् (एक कालमें) अन्वय ही संघात है, जैसे प्रमातृत्व आदि व्यवहाररूप एक कार्यके लिये पृथिव्यादि चारों भूतोंका अन्वय होता है।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, कारण, ऐसा माननेपर वायुजन्य वेणुसर्प-जनित काष्ठाश्रित वह्निसे सतत जलमें चारों भूतोंका समन्वय है ही, फिर उस जलमें भोक्तृत्व होना चाहिये। परन्तु यह है नहीं। जो कहा जाता है कि 'जैसे अग्निका लोह-पिण्डके साथ सम्बन्ध होता है, वैसे सम्बन्धको ही संघात कहा जाता है', वह भी ठीक नहीं। कारण, शरीरमें वायुका सम्बन्ध उस प्रकारका न होनेसे शरीरमें भोक्तृत्व नहीं बन सकेगा। इसके अतिरिक्त वह्निव्याप्त लोहपिण्डमें उसके ही द्वारा उसमें जल शुष्क होता है और वायुका भी उसमें सम्पर्क रहता है। अतः उस लोहपिण्डमें ही भोक्तृत्व एव चैतन्यका उपलब्ध होना चाहिये। यदि इन सब दोषोंके परिहारके लिये एक-एक भूतको भोक्ता माना जाय तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सब भूतोंका शब्दादि विषय-संनिधान होनेपर फिर किसका भोग या चैतन्य है? इसका निश्चय असम्भव होगा। अतः चारोंको भोक्ता मानना पड़ेगा। और उनका संघात बन नहीं सकता, अतः संघात-भावापन्न भूतोंको भोक्ता या चेतन माननेका पक्ष युक्तिहीन है।

कहा जाता है कि 'शक्तिमहद्व्यान्तरकी कल्पनाकी अपेक्षा उन गोलकोंमें शक्तिमात्रकी कल्पनामें लाघव है', परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो आत्मामें ही क्रमयुक्त सर्वविज्ञानसामर्थ्य माननेमें अत्यन्त लाघव है। कुछ लोग 'रूपादिकी उपलब्धि करणपूर्वक होनी चाहिये, कर्ताका व्यापार होनेसे छिदि क्रियाके तुल्य, अर्थात् जैसे कर्ता कुठारादि करणके द्वारा काष्ठछेदन करता है, उसी तरह आत्मा चक्षुरादि करणोंके द्वारा रूपादिकी उपलब्धि करता है', इस अनुमानसे देहभिन्न इन्द्रियाँ सिद्ध करते हैं। और यह भी कहा जाता है कि 'वे इन्द्रियाँ भौतिक हैं। चक्षु तैजस है, क्योंकि तैजसरूपका ही ग्राहक है। श्रोत्र आकाशीय है, क्योंकि आकाशीय शब्दका ग्राहक है। मन शब्द-स्पर्शादि सभीका व्यञ्जक है, अतः वह पञ्चभूतोंका ही कार्य है। इस तरह इन्द्रियाँ भी भोक्ता नहीं हो सकती।'

बौद्धोंके अनुसार 'दिखायी देनेवाले आँख, नाक, कान आदि गोलक ही इन्द्रियाँ हैं।' 'उन गोलकोंमें देखने-सुनने आदिकी शक्ति ही इन्द्रियाँ हैं' यह मीमांसकोंका मत है। 'गोलक भिन्न द्रव्य ही इन्द्रियाँ हैं' यह अन्य लोग मानते हैं। उनमें बौद्धमत इसलिये ठीक नहीं है कि कानरूपी गोलक न रहनेपर भी सर्पको शब्दका बोध होता है। वृक्षोंमें कोई गोलक नहीं होता, तो भी उन्हें शब्दादिका बोध होता है। यह आगमवेद्य है। आधुनिक वैज्ञानिकोंने भी उनका चेतन होना स्वीकार किया है। शास्त्रोंने भी उनकी हिंसा मना की है। उपर्युक्त दोषोंके कारण ही 'गोलकोंकी शक्ति इन्द्रियाँ हैं' यह पक्ष भी ठीक नहीं। कुछ लोग इन्द्रियोंको आहङ्कारिक एवं सर्वगत मानते हैं, अन्य मध्यम परिमाण ही मानते हैं। बौद्ध अप्राप्यकारी कहते हैं, अर्थात् विषय-देशपर विना गये ही इन्द्रियाँ विषयोंका प्रकाशन करती हैं। परंतु दूरसे स्पर्श, रस, गन्धका उपलम्भ नहीं होता। अतः त्वक्, रसना, घ्राणको अप्राप्यकारी नहीं कहा जा सकता। चक्षु भी दूरदेश जाकर ही दूरस्थ वस्तुका ग्रहण करता है। तेज शीघ्र ही दूरगामी देखा जाता है। शब्द भी वीचि-तरङ्गन्यायसे श्रोत्र-देशपर आता है तभी उसका ग्रहण होता है। रेडियो आदिद्वारा शब्दका विस्तार और अधिक हो जाता है। अतः श्रोत्र भी अप्राप्यकारी नहीं। मनको भी नैयायिक नित्य कहते हैं। परंतु वेदान्त मतमें उसकी उत्पत्ति मान्य है—'तन्मनोऽसृजत्' (ऐतरेय०) नैयायिक मनको अणु-परिमाण और वेदान्ती मध्यम-परिमाण कहते हैं। 'मन, अन्तःकरण, बुद्धि, अहङ्कार एक ही वस्तुकी अवस्थाएँ हैं, आत्मा इन सभी साधनोंके द्वारा भोगके लिये प्रवृत्त होता है। वह सर्वगत एव कर्ता है, यह नैयायिकोंका मत है। वेदान्त-मतमें 'आत्मा स्वप्रकाश है।' निद्राकालमें सुखपूर्वक सोया, इस प्रकार सौषुप्त प्रत्यक्षानुभवके कारण ही प्रबुद्धको स्मरण होता है।

आत्मा स्वप्रकाश है, क्योंकि स्वसत्तामें प्रकाशविहीन नहीं रहता, जैसे प्रदीप और ज्ञान। ये अपनी सत्तामें प्रकाशरहित नहीं होते, अतएव स्वप्रकाश हैं। इसी तरह आत्मा भी स्वसत्तामें प्रकाशशून्य नहीं होता, अतः स्वप्रकाश है। इसी तरह आत्मा प्रदीपके समान विषयका प्रकाशक एव आलोकके तुल्य विषय-प्रकाशका आश्रय है। इसलिये भी स्वप्रकाश है, इसी तरह ज्ञानके समान इन्द्रिय-गोचर न होकर अपरोक्ष होनेसे भी आत्मा स्वप्रकाश है। जैसे ज्ञान चक्षुरादिका विषय न होकर भी अपरोक्ष है, वैसे ही आत्मा भी। इसी तरह आत्मा धर्मा होते हुए भी अजन्य प्रकाश-गुणवाला है; क्योंकि वह प्रकाश-गुण-वाला है जैसे आदित्य। अर्थात् जैसे आदित्य प्रकाश-गुणवाला होनेसे अजन्य प्रकाश गुणवाला है, वैसे ही आत्मा भी प्रकाश-गुणवाला होनेसे अजन्य प्रकाश-गुणवाला है। यह बात दूसरी है कि आदित्यका प्रकाशरूपी प्रकाश है, आत्माका ज्ञान-

रूप नीरूप प्रकाश है । 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' इत्यादि आगम भी आत्माको स्वप्रकाश कहते हैं । नैयायिक एवं पूर्वमीमांसक आत्माको कर्ता मानते हैं, किंतु साख्य निरवयवमें परिस्पन्द एवं परिणामलक्षण क्रियाको असम्भव समझकर उसे असङ्ग एवं अकर्ता ही कहते हैं । वैशेषिक, योगी, नैयायिक आदि भोक्ता जीवसे भिन्न सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् विश्वकर्ता ईश्वर मानते हैं ।

जाग्रत्कालमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयवेद्य हैं । उनमें गो-अश्वादिवत् परस्पर विचित्रताके कारण उनकी भिन्नता भी माननी चाहिये । उन शब्दादिका बोध या सवित् उनसे भिन्न है । वेद्य और वेदिताका भेद प्रसिद्ध ही है । प्रकाश्य, प्रकाशका भेद भी लोकमें प्रसिद्ध है । रूप और उसके प्रकाशक सौरालोकमें भेद स्पष्ट ही है । इसी तरह वेद्य शब्दादि एवं आकाशादिसे उनका भासक बोध और अनुभव भिन्न है । जैसे शब्दादिकी परस्पर विचित्रता होनेसे भिन्नता है, उस तरह उनके बोधोंमें विचित्रता नहीं है । अतः उनका भेद भी नहीं है । अतएव बोध-बोध सब एक ही है । अनुमान भी किया जा सकता है । विवादास्पद शब्दादि-बोध स्वाभाविकभेदशून्य हैं, क्योंकि उपाधिको बिना ग्रहण किये हुए उनका भेद गृहीत नहीं होता, जैसे आकाशमें घटादि उपाधिके बिना भेद नहीं गृहीत होता, अतः वह भी स्वाभाविक भेदशून्य है, तद्वत् प्रकृतमें भी समझना चाहिये ।

सवित् होनेसे शब्दसवित् स्पर्शसवित्से भिन्न नहीं है, जैसे स्पर्शसवित् अपनेसे भिन्न नहीं है । जैसे एक ही आकाशमें घटादि उपाधिके भेदसे भेद-व्यवहार हो जाता है, उसी तरह आकाशवत् व्यापक एक ही सवित्में शब्दादि विषयरूप उपाधिके भेदसे भेद-व्यवहार वन ही जायगा । उसी प्रकार स्वप्नमें भी विषयोंमें भेद और सवित्में अभेद है । स्वप्न और जागरमें भेद इतना ही है कि जागरमें विषय स्थिर है और स्वप्नमें अस्थिर । स्वप्न-जागर अवस्थाएँ और उनके विषय भी विचित्रताके कारण पृथक् पृथक् हो सकते हैं, परंतु दोनों अवस्थाओंके बोध एकरूप होनेसे अभिन्न ही हैं । इसी तरह सुषुप्ति-अवस्थाकी सवित् भी सुषुप्ति-अवस्थासे भिन्न हैं । सुषुप्ति और जाग्रदादि परस्पर विलक्षण होनेसे भिन्न हैं, परंतु उनकी सवित् एकरूप होनेसे परस्पर अभिन्न ही है । सोकर जगनेके पश्चात् सुतोत्थित प्राणीको सुषुप्ति-अवस्थाके अज्ञान या तमका स्मरण होता है, 'मैं सुखपूर्वक सोता था और कुछ भी नहीं जानता था ।' प्रत्यक्ष-साधन विषयेन्द्रिय-सन्निकर्ष एवं अनुमान साधन व्याप्ति-लिङ्गादि न होनेसे ऐसे ज्ञानको स्मृति ही मानना उचित है । स्मृति अनुभवपूर्वक ही होती है, अतः सुषुप्तिकालमें सुख एवं तमोरूप अज्ञानका अनुभव मानना उचित है । यह अज्ञान अन्धकारके नृत्त्य वस्तुतत्त्वको ढक्केवाला भावरूप है । इसीन्दिने इसके द्वारा ज्ञानरूप ब्रह्मका

आवरण होता है। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्' (गीता ५। १५) यह ज्ञानाभाव नहीं है; क्योंकि ज्ञानाभाव जाननेके लिये उसके अनुयोगी (आधार) प्रतियोगी (ज्ञान) का ज्ञान होना चाहिये। जैसे घटाभाव जाननेके लिये अनुयोगी (भूतलादि) और प्रतियोगी (घट) का ज्ञान आवश्यक होता है। परंतु यहाँ यदि इसी तरह अनुयोगी-प्रतियोगीका ज्ञान हो तब ज्ञानाभाव कैसा ? और यदि उनका ज्ञान नहीं तो ज्ञानाभावका ज्ञान ही नहीं हो सकता। अतः भावरूप अज्ञान ही साक्षीके द्वारा प्रकाशित होता है। अज्ञानका उपलम्भ होनेसे ही तद्विरुद्ध ज्ञानका अभाव विदित हो जाता है। इसलिये इस अज्ञानको तम भी कहा जाता है। इसी तरह दिनो, पक्षो, मासो, वर्षो, युगो, कल्पो, अतीतो, अनागतोमें भेद है, परंतु उनके बोधोमें कोई भी भेद नहीं। एक अनन्त आकाशके तुल्य ही यह बोध भी अनन्त एवं एक ही है। अतः इसका न उदय होता है न अन्त। क्योंकि उस बोधका प्रागभाव या उत्पत्ति अथवा विनाश भी बोधके बिना सिद्ध नहीं होता। यदि प्रागभाव-साधक बोध है, तो बोधका प्रागभाव ही कैसे कहा जा सकता है ? यदि बोध नहीं तो प्रागभाव सिद्ध ही कैसे होगा ? बोधोमें भेद नहीं होता, अतः अन्य बोधका प्रागभाव अन्य बोधसे सिद्ध होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता।

इस तरह अत्यन्ताबाध्य होनेके कारण वही बोधस्वरूप भी है। यही सवित् आत्मस्वरूप भी है; क्योंकि नित्य होकर स्वप्रकाश है। जो नित्य स्वप्रकाश नहीं वह आत्मा नहीं, जैसे घटादि। बोध नित्य एवं स्वप्रकाश है, अतः वही बोध, सवित्, अनुभव या ज्ञान आत्मा है। आत्मा परप्रेमास्पद है, अतः आनन्दस्वरूप भी है। ससारमें सर्वत्र ही प्रेम आत्माके लिये होता है, आत्मामें प्रेम अन्यके लिये नहीं होता। जैसे शर्कराके सम्बन्धसे अन्यत्र मिठास होती है, किंतु शर्करामें मिठास स्वतः होती है। उसी तरह आत्मामें प्रेम स्वतः होता है। अन्यत्र प्रेम आत्मसम्बन्धसे होता है। निद्रादि सब जिमसे अनुभूत होते हैं, उस अनुभवका अपलाप नहीं किया जा सकता। अनुभूतिको अनुभाव्य माननेसे अनवस्था-दोष होता है, अतः अनुभूति अनुभाव्य हुए बिना ही स्वप्रकाश है। ज्ञाता और ज्ञानका दूसरा ज्ञान न होनेसे वे ज्ञेय नहीं होते। असत् होनेसे उन्हें अज्ञेय नहीं कहा जा सकता। निद्रा आनन्दादि साक्षी होनेसे उसे असत् नहीं कहा जा सकता। गुडादि अपने सम्पर्कसे अन्यत्र चणक-चूर्णादिमें मधुरतादि समर्पण करते हैं, परंतु स्वयं गुडादिमें मधुरता अर्पण करनेवाले गुडादिकी अपेक्षा नहीं होती। इसी तरह आत्मामें वेद्यता, अनुभाव्यता न होनेपर भी बोधस्वरूप होनेमें कोई सदेह नहीं। जैसे प्रकाश और तमके बिना यद्यपि आकाश उपलब्ध नहीं होता, तथापि निर्जगत् आकाश मान्य होता है। उसी तरह यद्यपि घटादिके बिना सत् या बोध उपलब्ध नहीं होता, फिर भी घटादि प्रपञ्चशून्य बोध या स्वप्रकाश सत् रहता ही है। तूष्णीभावं समाधिकालमें दृश्य निशेषणान्निहित शुद्ध सद्बस्तु

उपलब्ध होती है; शून्य बुद्धि नहीं होती । इसलिये नृणीस्थितिं शून्य नहीं कहा जा सकता । 'उन समय सद्बुद्धि भी न होनेसे सत् भी नहीं रहता', यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सद्बुद्धि होनेपर भी स्वप्रकाश होनेसे सत् सिद्ध होता है । निर्मलस्कताका साक्षी स्वप्रकाश होता ही है, जैसे मनकी चञ्चलता मिटनेपर साक्षी स्वच्छ होता है; उसी प्रकार मायाका त्रिलुम्भण या विकास रुकनेपर स्वप्रकाश सत् भी स्फुट हो जाता है ।

कुछ लोग आकाशादिसे भिन्न सत् नहीं मानते; परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि 'आकाशः सद् घटः सत्' इत्यादि व्यवहारोंमें जैसे घटादि शब्द एवं घटादि बुद्धि होती है उसी तरह सत् शब्द एवं सद्बुद्धि होनेसे आकाश और सत्—दोनों ही पृथक् पदार्थ हैं । जैसे 'मृद् घटः' इस व्यवहारमें शब्द एव बुद्धिके कारण ही मृत्तिका और घट दो पदार्थ मिश्र होते हैं । उनमें मृद्बुद्धिके अनुवृत्त होनेसे और घट-शरावादि बुद्धिके व्यावृत्त होनेसे मृत्तिका कारण और घटादि कार्य समझे जाते हैं । उसी तरह सत् अनुवृत्त होनेसे कारण तथा आकाश घटादि व्यावृत्त होनेसे कार्य सिद्ध होते हैं । अधिक वृत्ति होनेसे सत् धर्मों है; अल्पवृत्ति होनेसे आकाशादि धर्म हैं । बुद्धिसे यदि आकाशसे सत्को पृथक् कर दें तब तो आकाश असत् ही हो जाता है । जैसे जाति-व्यक्ति और देह-देहीका भेद होता है, वैसे ही आकाशादि प्रपञ्च एवं सत्का भी भेद सिद्ध होता है । सावधानी एवं एकाग्रतासे विचार करनेपर भेद-ज्ञान स्थिर हो जाता है । विवेचन करनेपर सत् शून्य अवकाशात्मक आकाश रह जाना है एवं निरवकाशात्मक सत् रह जाता है—

येनेक्षतं शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च ।
स्वादस्वादू विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥

(पञ्चदशा, महावाक्यविवेकप्र० १)

जिस नेत्रजन्यवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यसे पुरुष रूपको देखता है, श्रोत्रजन्य शब्दाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यसे शब्द ग्रहण करता है, गन्धाकारवृत्तिव्यक्त चैतन्यसे गन्ध ग्रहण होता है; वही बोधस्वरूप चैतन्य प्रज्ञान है—'न हि द्रष्टु-र्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते ।' (बृहदा० उप० ४ । ३ । २३) द्रष्टाकी स्वरूपभूत दृष्टिका कभी भी विलोप नहीं होता ।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिकी सभी वस्तुएँ अपने-अपने स्थानपर ही रहती हैं; किन्तु द्रष्टा तीनों ही अवस्थामें रहता है । जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके प्रपञ्चका जो प्रकाशक भान है, वही ब्रह्म है । तीनों अवस्थाओंका भासक साक्षी भोग्य-भोक्ता और भोग—तीनोंसे ही विलक्षण होता है । वह चिन्मात्र ही है । चिदाभास एव अहंका भी सुषुप्तिमें विलय होता है उसका भी साक्षीसे ही प्रकाश होता है ।

जैसे आकाशीय सूर्यद्वारा प्रकाशित घट-कुड्यादि दर्पणादित्यदीप्तिसे प्रकाशित होता है अर्थात् दर्पणप्रतिबिम्बित आदित्यद्वारा प्रकाशित होता है। यदि कुड्यपर अनेक दर्पण-प्रतिबिम्बित आदित्यकी दीप्तियाँ प्रकट हो, तो उनके बीच-बीचमें स्वाभाविक निरुपाधिक आकाशीय आदित्यकी दीप्तियाँ परिलक्षित होती हैं और दर्पणजन्य विशेष प्रभावोंके न होनेपर भी वह सामान्य आदित्य-प्रकाश रहता ही है। ठीक इसी तरह स्वप्रकाश बोध सामान्य चेतनद्वारा प्रकाशित देह भी बुद्धि-प्रतिबिम्बित चिदाभासके द्वारा प्रकाशित होता है। चिदाभासविशिष्ट बुद्धि-वृत्तियोंके बीच-बीचमें सामान्य-चेतन या शुद्ध नित्यबोध परिलक्षित होता है। बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बित चिदाभासके बिना भी वह स्वप्रकाश बोध रहता ही है। घट-ज्ञानादि शब्दवाच्य चिदाभासविशिष्ट बुद्धिवृत्तियोंकी सधियों एवं सुष्ठुसमें उन बुद्धिवृत्तियोंके अभावका प्रकाशक नित्य-बोध रहता है। घटाकार-बुद्धिस्थ चित् घटमात्रका प्रकाश करती है, परंतु घटगत ज्ञातताका प्रबोध नित्य-चैतन्यसे ही होता है। घटाकार-बुद्धिके प्रथम 'घटो मया न ज्ञातः' इस प्रकार घटकी अज्ञातता भी व्यापक अखण्ड बोधसे ही गृहीत होती है। जैसे अज्ञातत्वेन घट ब्रह्मबोधित था, उसी तरह बुद्धि उत्पन्न होनेपर घट ज्ञातत्वेन भी ब्रह्म-चैतन्यसे ही प्रकाशित होना है। कोई भी घटादि विषय चित्प्रतिबिम्बयुक्त बुद्धिवृत्ति एवं अज्ञान दोनोंसे ही व्याप्त होते हैं। जब वह चिदाभासयुक्त वृत्तिसे व्याप्त होता है तब ज्ञात कहलाता है, जब अज्ञानसे व्याप्त होता है तब अज्ञात कहलाता है। अज्ञातरूपसे घटादि ब्रह्म अर्थात् व्यापक नित्य बोधसे प्रकाशित होता है। यह शङ्का हो सकती है कि 'चिदाभासयुक्त वृत्तिसे ही घटका प्रकाश हो सकता है फिर ब्रह्म-प्रकाशकी क्या आवश्यकता ?' परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि जैसे अज्ञानने घटमें अज्ञातता पैदा की है, उसी तरह चिदाभासके द्वारा घटमें ज्ञातता उत्पन्न होती है। कहा जा सकता है कि 'ज्ञातता तो घटमें वृत्तिमात्रसे उत्पन्न हो सकती है,' परंतु यह ठीक नहीं। चिदाभासहीन बुद्धिसे घटादिमें ज्ञातता उत्पन्न नहीं हो सकती; क्योंकि मृत्तिकादिके तुल्य चिदाभासरहित बुद्धि या वृत्ति जड़ ही है। अतः जैसे काली-पीली मिट्टीसे लिप्त घट ज्ञात नहीं कहा जा सकता, उसी तरह बुद्धिवृत्तिव्याप्त घट भी ज्ञात नहीं कहा जा सकता। अतः वृत्ति-व्याप्त घटमें चित्प्रतिबिम्बका उदय होनेसे ही घटमें ज्ञातताका व्यवहार बनता है। कहा जा सकता है कि आकाशीय सौरालोक-तुल्य सामान्य नित्य-बोधरूप ब्रह्मसे ही घटादिकी ज्ञातता बन सकती है फिर दर्पणादित्यदीप्तिके तुल्य वृत्तिपर चित्प्रतिबिम्ब या चिदाभास क्यों माना जाय ? परंतु यह कहना ठीक नहीं। कारण, नित्य बोधरूप ब्रह्म तो प्रमाण-प्रवृत्तिके पहले भी था ही। यहाँ तो प्रमाण-प्रवृत्तिके पश्चात् घटादिमें ज्ञातताका व्यवहार होता है, यह चिदाभासमूलक ही है। अतः वृत्तिपर व्यक्त चित्प्रतिबिम्ब घटमें ज्ञातता उत्पन्न करता है। वह ज्ञातता,

अज्ञातताके तुल्य ही ब्रह्मसे भास्य होती है। बुद्धिवृत्ति, चिदाभास एव घटादि सभी सामान्य सैरालोक-तुल्य नित्यबोधसे भासित होते हैं; फिर भी घटव्याप्त वृत्तिपर ही चिदाभासरूप फल होता है। अतः एक घटका ही स्फुरण होता है। घटादि विषयपर द्विगुणित चैतन्य व्यक्त होता है। जैसे कुल्हपर एक सामान्य सैरालोक फैला होता है, दूसरे दर्पणादित्यदीप्तिके फैलनेसे द्विगुणित प्रकाश हो जाता है; उसी तरह सामान्य नित्यबोधसे व्याप्त घटादिपर चित्प्रतिबिम्बयुक्त वृत्तिकी व्याप्ति हानसे द्विगुणित चैतन्य हो जाता है। इसीलिये घटादिकी ज्ञातताका भासक ब्रह्म-चैतन्य माना जाता है। नैयायिक आदि उमे ही अनुव्यवसाय (ज्ञानविषय ज्ञान) कहते हैं। 'घटोऽयम्' यह घट है—नैयायिकोंके शब्दोंमें यह व्यवसायात्मक ज्ञान है, यह बुद्धिवृत्तिसे होता है। 'मया घटो ज्ञातः' मैंने घट जान लिया; यह अनुव्यवसायात्मक ज्ञान नित्य बोधरूप ब्रह्मसे होता है। इसी तरह अहवृत्ति एवं काम क्रोधादि वृत्तियोंमें चिदाभास, उसी तरह व्याप्त होकर रहता है; जैसे लोहपर अग्नि व्याप्त होती है। जैसे अग्नि-व्याप्त लोह केवल अपने-आपको ही प्रकाशता है अन्यको नहीं; उसी तरह आभाससहित वृत्तियाँ अपनेको ही भासित करती हैं।

ऋषसे विच्छिन्न-विच्छिन्न होकर वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। सुषुप्ति, मूर्छा और समाधिमें सभी वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं। सभी वृत्तियोंकी संधियाँ और अभाव जिस निर्विकार नित्य-बोधसे प्रकाशित होते हैं, उसे ही वेदान्तमतसे कूटस्थ शब्दसे कहा जाता है। जैसे बाहर वृत्ति-व्याप्त घटमें भासक चिदाभास और घटकी ज्ञातताका भासक ब्रह्मचैतन्य द्विगुण चैतन्य होता है; उसी तरह भीतर भी वृत्तियोंपर संधिकी अपेक्षा द्विगुण चैतन्यव्यक्त होता है। इसीलिये संधियोंकी अपेक्षा वृत्तियोंकी स्पष्टता अधिक होती है। भेद इतना अवश्य है कि बाहर घटादिमें ज्ञातता, अज्ञातता—दोनों ही रहती हैं, वैसे वृत्तियोंमें ज्ञातता, अज्ञातता—दोनों नहीं रहतीं। वृत्तियाँ स्वयं अपने-आपको ग्रहण नहीं करतीं, इसलिये ज्ञातता नहीं होती और वृत्तिके उत्पन्न होते ही वृत्तिगोचर अज्ञान नहीं रहता अतः वृत्तियोंकी अज्ञातता भी नहीं होती। वृत्तिगोचर वृत्ति माननेसे अनवस्थादि दोष आते हैं। अतः वृत्तियाँ साक्षिभास्य कही जाती हैं। चित्प्रतिबिम्बरूप ज्ञानकी उत्पत्ति और विनाश प्रतीत होते हैं, अतः उसे विनश्वर कहा जाता है। अन्तःकरण एव तद्वृत्तियोंका साक्षी अखण्ड नित्यबोध निर्विकार होनेसे कूटस्थ कहलाता है। बुद्धिसे परिच्छिन्न कूटस्थ एव चिदाभासयुक्त बुद्धिके मिश्रणसे ही जीव-व्यवहार होता है। बुद्धि स्वच्छ है, इसलिये उसपर चित्प्रतिबिम्ब होता है। प्रतिबिम्ब एव बिम्बमें कुछ तुल्यता और कुछ विलक्षणता होती है, इसी तरह

स्फूर्तिरूपतामें तुल्यता होनेपर भी सङ्गिता विकारितारूप विलक्षणता भी बिम्बकी अपेक्षा प्रतिबिम्बमें रहती है ।

कहा जा सकता है कि जैसे मृत्तिका रहनेपर ही घट रहता है, वैसे ही बुद्धिके रहनेपर ही चिदाभास रहता है, बुद्धिके न रहनेपर नहीं रहता । फिर उसे बुद्धिसे भिन्न क्यों माना जाय ? यदि शास्त्र प्रमाणसे देहके मरनेपर भी बुद्धिका अस्तित्व माना जा सकता है तो बुद्धिसे भिन्न चिदाभास भी शास्त्रोसे सिद्ध होता ही है । बुद्धिकी विभिन्न वृत्तियों एवं अज्ञानके साक्षीरूपसे सर्वावभासक सर्वाधिष्ठान अखण्ड बोधरूप ब्रह्म सिद्ध होता है ।

अखण्ड बोध-स्वरूप ब्रह्म ही अहंवृत्तिसे युक्त होकर कर्ता कहलाता है, हृदयवृत्तियुक्त हो प्रपञ्चाकार प्रतीत होता है, वही आन्तर-बाह्य सभी विषयोको साक्षीरूपसे प्रकाशित करता है । नृत्यशालास्थित दीप जैसे प्रभु, सम्य एवं नर्तकी सभीको प्रकाशित करता है, उसी तरह साक्षी आत्मा ही अहंकार बुद्धि एवं सभी विषयोको प्रकाशित करता है । जैसे प्रभु, सम्य आदिके न रहनेपर दीप सबके अभावका भी भासक होता है, उसी तरह अहंकार बुद्धिके सुषुप्ति दशामें न रहनेपर भी साक्षी ही सबके अभावका भी प्रकाशन करता है । अखण्ड बोधरूप आत्मा नित्य ही स्वप्रकाशरूपसे विराजमान रहता है । उसीके प्रकाशसे प्रकाशित होकर बुद्धि आदि व्यावृत्त होती हैं । जैसे दीप स्वस्थानस्थित रहकर ही आन्तर-बाह्य सभी वस्तुओंको प्रकाशित करता है, उसी तरह कूटस्थसाक्षी आन्तर-बाह्य सभी विषयोको प्रकाशित करता है । देहकी अपेक्षासे ही उसमें आन्तरत्व एवं बाह्यत्व प्रतीत होता है । अन्तःस्थ बुद्धि ही इन्द्रियोंके द्वारा बार-बार बाह्य विषयोकी ओर जाती है । उसीकी चञ्चलतासे तन्नासक साक्षीमें भी चञ्चलता प्रतीत होती है । सर्वदेश, काल, वस्तु बुद्धिकृत ही हैं । सर्वभासक अखण्ड बोधकी दृष्टिसे कुछ भी नहीं है ।

जैसे अग्निमें उष्णता एवं प्रकाश रहता है, वैसे ही आत्माका चैतन्य स्वभाव है । शब्दादि अचेतन होनेसे स्वतः सिद्ध नहीं हो सकते, किंतु शब्दाद्याकार-वृत्तियोंसे ही उनकी सिद्धि होती है । वह वृत्तियों परस्पर भिन्न शब्दादि विषय विशेषणवाली होती हैं, अतः नीलपीताद्याकारवाली वृत्तियों या ज्ञानोंकी भी स्वतः सिद्धि नहीं हो सकती । जबतक नीलपीतादि बाह्याकार न होंगे तबतक बाह्याकार-प्रत्यय उत्पन्न ही नहीं हो सकते । इस तरह प्रत्यय भी संहत होनेसे अचेतन ही ठहरते हैं । इस दृष्टिसे स्वरूपभिन्न ग्राहकसे ही प्रत्यय भी ग्राह्य होंगे । जो असंहत होकर चैतन्यात्मक है, वही स्वार्थ हो सकता है । अन्य संहत अचेतन वस्तु परार्थ ही होते हैं । नील-पीताद्याकार ज्ञानोंका उपलब्धा आत्मा विक्लिशवान् है, ऐसा रुशय होता है । परंतु इसका समाधान यह है कि परिणामी चित्तादि क्रमसे ही स्वविषयोंके ग्राहक होते हैं, परंतु कूटस्थ आत्मा ऋक्रेण सभी प्रत्ययोका

उपलब्ध करता है। अतएव अपरिणामिता सिद्ध होती है। अनेपचित्त प्रचारकी उपलब्धि कूटस्थताका निश्चायक है। यदि कूटस्थ आत्मा परिणामी होता तो अशेष स्वविषयचित्त प्रचारका साक्षी न होता, जैसे चित्र किंवा इन्द्रियाँ अपने विषयोके एक देशका ही उपलब्ध करते हैं, इस तरह आत्मा अपने विषयोके एक देशका उपलब्ध नहीं करता, किंतु अशेष प्रत्ययोकी उपलब्धि आत्मासे होती है, अतः वह अपरिणामी ही है।

कहा जा सकता है कि उपलब्धि धात्वर्थ किया ही है, फिर उपलब्धि-क्रियाका कर्ता निक्रियावान् ही है। उपपूर्वक लभ धातुसे कर्तामें तृच् प्रत्यय करनेपर उपलब्धा शब्द बनता है। धात्वर्थ सर्वत्र क्रिया ही होता है। क्रिया स्वयं उत्पत्ति-विनाशशील होती है, अतः उपलब्धि भी क्रिया ही है, अतः उत्पत्ति विनाश उसका भी मानना ही चाहिये, फिर वह नित्य कैसे कहा जा सकता है। इसका समाधान यह है कि 'धात्वर्थ सर्वत्र क्रिया ही होता है और कर्ता ही प्रत्ययार्थ होता है, यह नियम सार्वत्रिक नहीं, क्योंकि 'गडि वदनेकदेशे' इस गडि धातुसे गण्ड बनता है। जो कि मुखैकदेश कपोलका ही बोधक है। इसी तरह 'सविता प्रकाशते' 'सविता प्रकाशयति' 'सविता प्रकाशमान है या घटादिका प्रकाशक है,' यहाँपर सविता किसी प्रकाश क्रियाका कर्ता नहीं है, क्योंकि प्रकाश उसका स्वरूप ही है। उसके निर्विकार रहते हुए ही उसके सनिधानमात्रसे अन्य वस्तुओंका प्रकाश होता है। बुद्धिजन्य वृत्तिरूप बौद्ध प्रत्यय ही क्रिया या विक्रिया है। वही धात्वर्थ है। आत्माकी स्वरूपभूत नित्य उपलब्धिमें विक्रियाका उपचार होता है। जैसा कि सूर्यके स्वरूपभूत प्रकाशमें भी विक्रियात्वका उपचार होता है।'

कहा जा सकता है कि 'बुद्धि द्रव्य है, उसका परिणाम वृत्ति भी मृत्तिका-परिणाम घटादिके तुल्य द्रव्य ही है। उसे भी क्रिया नहीं कहा जा सकता। परंतु मृत्तिकादि अपने पूर्वरूपको तिरोहित करके घटादिके रूपमें परिणत होते हैं।' पर यहाँ तो तृणजलूका (जोक) एव प्रकाशके तुल्य संकोच-विकासरूप ही क्रिया है। ऐसा परिणाम तो परिणामिकी चेष्टारूप ही है। इसी तरह बुद्धिका परिणाम ही वृत्ति है, वही क्रिया है। उस वृत्तिपर अभिव्यक्त बोध प्रतिबिम्ब नित्य बोधरूप बिम्बके तुल्य ही होता है। इसीलिये चिच्छायापन्न वृत्तिके क्रिया होनेसे नित्यबोधमें भी क्रियात्वका आरोप होता है। लोकमें अर्थ-प्रकाश ही उपलब्धि-शब्दार्थ प्रसिद्ध है। वह अर्थ-प्रकाश अर्थका धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो जड है, स्वतः स्फूर्तिरहित होना ही जडताका लक्षण है। अन्तःकरणका भी धर्म प्रकाश नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह तो प्रकाशकरण (असाधारण कारण) है, अतः वह भी चैतन्यरूप प्रकाशका आश्रय नहीं हो सकता। फिर भी

स्वयं प्रकाशमान चैतन्य आत्मामे अहंरूपसे अन्तःकरणका अभ्यास होता है। वह कभी भी अप्रकाशित होकर नहीं रहता। वही आत्मचैतन्य व्याप्त अन्तःकरण विषयवृत्तिको उत्पन्न करता हुआ उपलब्धा कहलाता है, वही कर्ता और प्रमाता भी कहलाता है। जैसे लोह पिण्डमें दाहकत्व-प्रकाशकत्वका व्यवहार होता है वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिये। अखण्ड बोधस्वरूप आत्माका आकाशवत् अविक्रिय होनेपर भी तादृक् अन्तःकरणगत चिदाभासके अविवेकसे अन्तःकरणके धर्मों एवं उसकी अवस्थाओंसे युक्त होकर प्रतीत होने लगता है। जैसे अग्नि निराकार होनेपर भी काष्ठोंपर प्रकट होती है वैसे ही त्रिकोण-चतुष्कोण मोटा-पतला-सा प्रतीत होता है और अग्निका उत्पन्न होना, नष्ट होना भी उसी काष्ठादि उपाधिसे प्रतीत होता है। इसी तरह विकासी अन्तःकरणमें कर्तृत्व होनेपर भी उपलब्धिमें उत्पद्यमानता नहीं होती। अतः उपलब्धिस्वरूप आत्मा निर्विकार कृतस्थ ही है।

कहा जा सकता है कि 'जैसे छिदिक्रियासाध्य द्वैधीभावरूप फल विक्रिया है, उसी तरह उपलब्धिरूप फल भी सधा ही है, अतः वह भी विक्रिया ही है।' परंतु वस्तुतः स्वरूपसे उपलब्धि फल ही नहीं है, वृत्तिव्याप्त घटादि विषयोपर व्यक्त चित्प्रतिबिम्ब ही फल है। नित्योपलब्धिस्वरूप आत्मामें उसीके अविवेकसे फलत्वका व्यपदेश होता है, अतएव यहाँ उपलब्धि एवं उपलब्धामें भेद नहीं हैं। उपलब्धि-स्वरूप ही आत्मा है। यह उपलब्धि नित्य है, विक्रिया नहीं है। विक्रियारूप उपलब्धि चैतन्यव्याप्त बुद्धिवृत्ति है। उससे अविवेकके कारण ही नित्योपलब्धिमें फलत्वका व्यवहार होता है। इसीलिये उपलब्ध्याभासावसान ही उपलब्धिका धात्वर्थ है। उसी नित्योपलब्धिस्वरूप आत्मामें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों ही अवस्थायाला अन्तःकरण भागित होता है। तीनों ही अवस्थाएँ आगन्तुक हैं। उपलब्धिस्वरूप आत्मा सर्वत्र अव्यभिचरितरूपसे विद्यमान रहता है। सुषुप्तिमें भी कुछ नहीं देखा, इस प्रकार सर्वाभावकी उपलब्धि होती ही है। जागरादिमें भी प्रमाता स्वतःसिद्ध होता है। वही स्वयं प्रमाणद्वारा प्रमेयोंको जानता है। प्रमाताका भी भासक अखण्डबोध आत्मा स्वतःसिद्ध है। लोह-जल आदिमें दाहकत्व-प्रकाशकत्व लानेके लिये अग्निकी अपेक्षा होती है, किंतु अग्निमें दाहकत्व-प्रकाशकत्व लानेके लिये अन्य अग्नि आदिकी अपेक्षा नहीं होती। वही स्वतःसिद्ध सवित् आत्मा है। वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य प्रमाण है, वृत्तिमदन्तःकरण प्रतिबिम्बित चैतन्य प्रमाता है। प्रमेयप्रकाशकालमें वे दोनों ही प्रकाशित रहते हैं। उनका प्रकाशक कोई अन्य प्रमाता या प्रमाणान्तर माननेमें अनवस्था आदि दोष आते हैं, अतः स्वयंज्योतिः आत्माको ही तीनोंका भासक मानना ठीक है।

कहा जा सकता है कि 'सवित् या बोध प्रमाणके फलरूपसे ही प्रसिद्ध है, फिर वह नित्य कैसे हो सकता है ?' परंतु यह ठीक नहीं; कारण, वृत्तिप्रतिबिम्बित

अवगति ही अनित्य है, वही प्रमा है, वही प्रमाणफल है, विग्नभूत अवगति नित्य ही है । यदि अवगति नित्य है, तब तो प्रमाण व्यापार व्यर्थ होगा और अनित्य है तो प्रमाण व्यापार आवश्यक होगा । परंतु प्रमाताकी अवगति तो प्रमाण-निरपेक्ष स्वतःसिद्ध है ही । यदि प्रमाताको आत्मसिद्धिमें प्रमाणकी अपेक्षा हो तो किसे प्रमित्ता होगी, यह भी विचारणीय है । जिसे प्रमित्ता होती है, वही प्रमाता होता है । प्रमित्ता प्रमेयविषयक ही होती है, प्रमातृविषया नहीं । प्रमातृविषयक प्रमित्ता होनेसे अनवस्था-दोष भी होता है । प्रमाताकी प्रमित्ता अव्यवहित होनेसे प्रमातृविषया नहीं हो सकती । लोकमें प्रमाताकी इच्छा, स्मृति, प्रयत्न एवं प्रमाणजन्यके अनन्तर प्रमेय सिद्ध होता है । प्रमेय-विषया-अवगति अभीष्ट होती है । स्वयं प्रमाता अपनेसे या अन्य इच्छादिसे व्यवहित नहीं हो सकता । स्मृति भी स्मर्तव्यविषया होती है, स्मर्तृविषया स्मृति नहीं होती । इसी तरह इच्छा भी इष्टविषया होती है, इच्छावद्विषया इच्छा नहीं होती । यदि स्मृति एवं इच्छा स्मर्ता एवं इच्छावान्को विषय करे तब इसमें भी अनवस्था-दोष आयेगा । स्मृति, इच्छा, प्रयत्न एवं प्रमाण जन्मके अनन्तर ही स्मर्तव्य, इष्ट्यमाण, प्रयतितव्य एव प्रमेयका व्यवहार हो सकता है ।

कहा जा सकता है कि 'प्रमातृविषयक अवगति-उपपत्ति उपपन्न न होनेसे आत्मा अनवगत ही रहेगा', परंतु यह कहना ठीक नहीं । अवगन्ताकी अवगति अवगन्तव्यविषयक होती है, अवगन्तृविषयक अवगति नहीं होती । यदि ऐसा होगा तो अनवस्था-प्रसङ्ग होगा । आत्माकी अवगति स्वरूपभूत ही है अर्थात् अवगन्ताकी अवगति उत्पन्न नहीं होती । अग्निकी उष्णता और प्रकाशके तुल्य ही आत्माका स्वभाव ही अवगति है । 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' 'आत्मैवात्यज्योतिः' 'एषोऽस्य परमो लोकः' 'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्दिपिलोपो विद्यते' (बृहदा० उप० ४ । ३।३०) इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार आत्माकी स्वरूपभूत ज्योति है । चैतन्यात्मज्योतिकी अवगति अनित्य है ही नहीं । असंहत, स्वप्रकाश एव अपरार्थ ही आत्मा है । यदि आत्माकी अवगति अनित्य होगी तो उत्पत्तिसे प्रथम एव प्रध्वंससे ऊर्ध्व उसका अभाव कहना पड़ेगा । फिर आत्माकी अपरार्थता आदि सभी वाचित्त होगे । अवगति प्रमा है, वह स्मृति इच्छादिप्रतिष्ठा अनित्य है, आत्मा स्वरूपभूत नित्य है । जैसे तिष्ठति शब्द अचलत्व-अर्थमें प्रयुक्त होता है, जङ्गम पदार्थ गतिपूर्वक अचल होते हैं; आकाश-पर्वतादि स्थावर पदार्थ सदा ही अचल रहते हैं, दोनोंमें ही तिष्ठति शब्दका प्रयोग होता है । 'तिष्ठन्ति मनुष्याः, तिष्ठन्ति पर्वताः, तिष्ठत्याकाशः' उसी तरह अनित्य अवगति एव नित्य आत्मस्वरूप-अवगतिमें भी प्रमात्व-व्यवहार बन जाता है । फलस्वरूप प्रमामें कोई अन्तर नहीं । प्रमाण फल ही प्रमा है । वह प्रमातृगतचित्स्वरूप प्रकाश ही है । यद्यपि वृत्तिव्याप्त विषयस्थ-चित्प्रतिबिम्ब ही फल है तथापि 'मयेदं विदितम्' मैंने यह जाना, इस तरह प्रमाण-

प्रमेयसम्बन्ध आत्मामें प्रतीत होता है, अतः प्रमातृगतचित्प्रकाशसे सम्बन्ध मानना ही पड़ता है। जड अन्तःकरण यद्यपि व्यापारका आश्रय हो सकता है तथापि वह चित्का आश्रय नहीं हो सकता। चिदात्मा कूटस्थ होता है, अतः वह व्यापारका आश्रय नहीं हो सकता। इसीलिये वह प्रमाके प्रति कर्ता भी नहीं हो सकता और मुख्यवृत्तिसे जड-अजड कोई भी प्रमाता नहीं बन सकता। अतः परस्पराध्याससे ही आत्मा ही बाह्य-विषयका भी प्रमाता बनता है। फिर स्वात्मामें स्वयंप्रकाश होनेसे प्रमातामें कोई गड़्ढा ही नहीं। अतएव अनवगत होने या प्रमाणकी अपेक्षा रखनेकी कोई कल्पना ही नहीं हो सकती। अर्थात् कूटस्थ नित्य आत्मज्योतिमे ही अन्तःकरणादि-उपाधिद्वारा औपाधिक ही प्रमातृत्व होते हैं।

प्रमाणसापेक्ष शब्दादि सभी अचेतन, संहत एवं अनात्मा हैं। अवगति स्वयं अन्यानपेक्ष स्वतःसिद्ध है, वही आत्मा है। उसमें भी सोपाधिक अवगति अनित्य है, निरुपाधिक नित्य है। यद्यपि कहा जा सकता है कि 'मैं मनुष्य हूँ, जानता हूँ' इस व्यवहारमें प्रत्यक्षादि प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रहती है, तथापि मृति, सुषुप्ति आदिमें देहसिद्धिके लिये भी प्रमाणकी अपेक्षा होती ही है। उसकी भी अवगति कूटस्थ, स्वयंसिद्ध आत्मज्योति ही है। अवगतिसे भिन्न देहादि, ग्राह्य, ग्राहक, करणादि रूपसे भूत ही परिणत होते हैं। अवगति यद्यपि स्वयं नित्यसिद्ध है तथापि प्रमाणजन्य प्रत्यक्षादि वृत्तिरूप प्रत्ययकी अनित्यतासे ही तदभिव्यक्त अवगतिमें भी अनित्यता एवं प्रमाणफलताका व्यवहार होता है। सभी वृत्तियाँ परस्पर व्यभिचरित होती हैं। बोध, स्फुरण उनमें एक रूपसे ही समान होता है, अतः वही स्फुरण, बोध या अवगति नित्य एकरस हैं। जैसे स्वप्नके नील-पीतादि प्रत्यय-भेद व्यभिचरित होनेसे असत्य हैं, अवगति ही सत्य है, वैसे ही सर्वत्र प्रत्ययोंमें भिन्नता होनेसे मिथ्यात्व है। बोधमात्र ही अभिन्न एव एक है। उस अवगतिका अवगन्ता अन्य कोई नहीं है। वह स्वयं नित्य है। उसका हान या उपादान नहीं हो सकता। जैसे शब्दादि, लोष्टादि ज्ञेय हैं, ज्ञात नहीं, उसी तरह भूतपरिणाम देहादि भी ज्ञेय ही हैं, ज्ञाता नहीं। जो वस्तु स्वतः-सत्तास्फूर्तिवाली नहीं है वह जड है, उसे सत्तास्फूर्ति देनेवाला ही चेतन है। वही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' है। ज्ञाता आत्मा, ज्ञेय अनात्मा, इदमश अनात्मा है, द्रष्टा अनिदमंश ही आत्मा है। अहमर्थमें भी दृश्य अहं इदमंश ही है, दृक् आत्मा ब्रह्म है। जैसे सौरालोकमें स्फटिकादि मणियोंपर जपाकुसुमादिकी रक्ताद्याकारता प्रतीत होती है, उसी तरह स्वप्रकाशबोधरूप आत्मप्रकाशमें ही बुद्ध्यादिमें विषयाकारताकी प्रतीति होती है। जैसे सौरालोकसे ही स्फटिक एवं रक्ताद्याकारता दोनों ही भासित होती हैं, वैसे ही नित्य-बोधसे ही बुद्ध्यादि एवं विषयाकारता दोनों ही भासित होती हैं।

बुद्धि होनेपर बुद्ध्यालु पदार्थ दृश्य होते हैं । निद्राकालमें बुद्धि विलीन होनेपर दृश्य उपलब्ध नहीं होता; परंतु द्रष्टा तो सदा एक सा ही रहता है । अविवेकसे बुद्धि सर्वसाक्षीका अभाव समझती है । विवेकसे स्वप्नकाग सर्वसाक्षीसे भिन्न बुद्धि अपने आपको भी नहीं समझती । ब्रह्मादिस्वावरान्त प्राणी अखण्ड-बोधस्वरूप आत्माके पुर ही हैं, फिर भी वह आत्मा सर्वभासक भान सर्वभूतोंसे असस्पृष्ट ही रहता है । जैसे निर्विकार आकाशको बालकलोग नील समझते हैं, वैसे ही सर्वभासक भान निष्प्रपञ्च होते हुए भी सप्रपञ्च-सा प्रतीत होता है । सर्व-प्राणि-बुद्धियों भी उम अखण्डभानके पुर ही हैं । जो भी पदार्थ उत्पत्तिमान हैं और ज्ञान विधेय हैं, वह स्वप्नवत् ही हैं । नित्यनिर्विषय ज्ञान सर्वविनाशमाक्षी स्वतन्त्र ही है । ज्ञाताकी स्वरूपभूता जति नित्य है, सुषुप्तिमें जो आत्मा शब्दादि-को नहीं जानता वह जानता हुआ ही नहीं जानता । अन्य जेय नहीं है, इसलिये नहीं जानता है, स्वरूपभूत जति तो रहती है । विज्ञाताकी विज्ञातिका कभी भी विलोप नहीं होता—

‘यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते ।’

(बृहदा० उप० ४ । ३ । २३)

जाग्रदादिकालकी जो घटादि-जति होती है, वह तो भ्रान्ति ही है । फिर भी सभी बुद्धिवृत्तियों स्फुरणसे व्याप्त ही होती हैं, अतः सर्ववृत्तियोंकी उत्पत्ति, स्थिति, विनाशका साक्षीस्फुरण सर्वत्र एकरस ही रहता है । जागर, स्वप्नमें विषय, समकालमें सुप्ति, समाधि आदिमे विषयाभाव सभी कालमें स्फुरण रहता है, अतः वह शुद्ध है । शुद्ध दृशि ही अमर आत्मा है, जैसे दर्पणादिमें मुखका प्रतिबिम्ब होता है, तब दर्पणादिगत दोषोंका मुखमे आरोप किया जाता है, उसी तरह दृशिका अहंकारमें प्रतिबिम्ब होनेसे अहंकारगत दोषोंका दृशिमें आरोप किया जाता है । श्रुत्यादिसे विज्ञाति अर्थात् अनित्य विज्ञातिका विज्ञाता नित्यबोध नित्यदृशिस्वरूप आत्मा विदित होता है । उस दृशिस्वरूपमें ज्ञान-अज्ञान—दोनों ही कल्पित होते हैं । विज्ञातिका विज्ञाता शुद्ध विज्ञाता ही है, वह विज्ञेय नहीं होता । आत्मा अलुप्तदृक् है । अनित्य बुद्धिवृत्तिरूप दृष्टिके कारण इसमे जन्यताकी प्रतीति होती है । जैसे व्यञ्जक आलोक व्यङ्ग्यकी आकारताको प्राप्त होता है, उसी तरह शुद्ध नित्य ज्ञान-स्वरूप ज्ञाता स्वभास्य प्रत्ययोंके आकारका प्रतीत होता है । जैसे दीप बिना यत्नके ही उपस्थित विषयोंको एव विषयाकारवृत्तियोंको भी प्रकाशित करता है, जैसे ज्योति अन्यका द्योतक होनेपर भी अपना प्रकाशक नहीं होता, वैसे ही ज्ञानस्वरूप आत्मा अन्यका भासक होनेपर भी आत्मभासक नहीं होता । जैसे अग्नि अपना दहन-प्रकाशन नहीं करता, वैसे ही आत्मा अपना प्रकाशन नहीं करता । फिर भी जैसे रविके स्वात्म-प्रकाशके लिये अन्य ज्योतिकी अपेक्षा नहीं होती, उसी तरह बोध-स्वरूप आत्माको स्वात्मप्रकाशके लिये अन्यबोधकी अपेक्षा नहीं होती । जो

जिसका स्वरूप होता है, उसे उसकी अपेक्षा नहीं होनी । जैसे प्रकाश प्रकाशान्तरसे दृश्य नहीं होता, प्रकाशके समागमसे अप्रकाश स्वरूपकी व्यक्ति होती है, परंतु प्रकाशस्वरूप सूर्यकी व्यक्ति प्रकाश-समागमकी अपेक्षा नहीं रखती । जैसे प्राणी प्रकाशस्थ देहको सप्रकाश मानता है, उसी तरह चेतन द्रष्टासे प्रकाशित चित्तको सप्रकाश मानकर 'अहं द्रष्टा' ऐसा व्यवहार करने लगता है । प्राणी इसी तरह सभी दृश्य पदार्थोंके साथ अपना अभेद समझकर आत्माको तत्तद्दृश्यविशिष्ट मानने लगता है । जैसे स्वप्न और स्मृतिमें घटादिकका आकार भासित होता है, अतः अनुभवावस्थामें घटाद्याकारका आभास माना जाता है । अतः स्वप्न, स्मृतिमें बाह्यार्थके बिना ही विषयाकारवृत्तिमदन्तःकरण ही प्रतीत होता है । इसी तरह स्वप्नमें मिहासनारूढ देह दृश्य होता है, द्रष्टा स्वयं वह नहीं है । उसी प्रकार जाग्रत्काळमें भी दृश्य देहसे द्रष्टा भिन्न ही है । जैसे मूर्ति आदिके साँचेमें डाला हुआ द्रवीभूत ताम्रादि साँचेके आकारका ही हो जाता है, जैसे व्यञ्जक-आलोक व्यङ्ग्यके आकारका बन जाता है, उसी तरह सर्वार्थव्यञ्जक बुद्धि सर्वार्थाकार हो जाती है । अर्थाकार बुद्धि ही द्रष्टा अखण्डबोधरूप आत्मासे दृष्ट होती है । वही स्वप्नके दृशिस्वरूप आत्मासे दृश्य होती है । अखण्ड दृशिस्वरूप बोधसे ही सर्वदेहोंकी बुद्धियाँ भासित होती हैं । जैसे घटादि प्रकाश सम्पर्कसे 'घट, प्रकाशते' इस रूपसे प्रकाशके कर्ता होते हैं, वैसे ही सूर्यादि प्रकाश प्रकाशान्तर-सम्पर्कके बिना ही 'सूर्यः प्रकाशते' इस तरह सूर्य प्रकाशका कर्ता कहा जाता है । इसी तरह बुद्ध्यादि अखण्डबोधके सम्पर्कसे प्रकाशित होते हैं, परंतु अखण्डबोध स्वतः ही प्रकाशित होता है । जैसे सूर्यमें सत्तामात्रसे प्रकाशकर्तृत्वका व्यवहार होता है, उसी तरह दृशिस्वरूप आत्मामें संनिधानमात्रसे प्रकाशकत्वका व्यवहार होता है । जैसे बिलसे निकलनेपर सूर्यकी सत्तामात्रसे सर्पादि भासित होते हैं, सूर्यमें किसी कर्तृत्वादि विकारकी आवश्यकता नहीं पड़ती, इसी तरह दृश्यके उपस्थित होनेपर दृशिस्वरूप आत्मासे दृश्यका प्रकाश होता है, एतदर्थ उसमें कृत्रिम विकारकी अपेक्षा नहीं होती ।

इसी प्रकार दाह्यका संनिधान होनेपर उष्णस्वरूप अग्निमें दाहकत्वका व्यवहार होता है । इसी तरह प्रयत्न बिना भी बोधस्वरूप आत्मा ज्ञाता, बोद्धा आदि कहा जाता है । वस्तुतः आत्मा विदित-अविदित—दोनोंसे ही अन्य है । जैसे प्रकाशस्वरूप सूर्यमें दिन-रात नहीं होते, वैसे ही बोधस्वरूप आत्मामें बोध, अबोध नहीं होते । अतएव बौद्धों-जैसी इस अखण्डबोधमें स्वसवेद्यता भी नहीं है । साथ ही बोधको शून्य भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जैसे घटादि दृश्य हैं, वैसे ही बुद्धि भी साक्षिभास्यरूपसे स्पष्ट प्रतीत होती है । जैसे घटादि विकल्प कार्य निर्विकल्प-कारणपूर्वक होते हैं, उसी तरह बुद्धि आदि सविकल्प सप्रकाश निर्विकल्प-प्रकाशपूर्वक होने ही चाहिये ।

बौद्ध क्षणिक ज्ञानको ही आत्मा कहते हैं । जैसे दीपमें 'स एवायं दीपः', यह वही दीपक है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा (पहचान) से सादृश्यमूलक एकत्वकी भ्रान्ति होती है । उसी तरह क्षणिक ज्ञानोंकी धारामें ही सादृश्यके कारण 'स एवाहम्' मैं वहीं हूँ, इस प्रकार एकत्वकी भ्रान्ति होती है । बाह्याकार भी क्षणिक ज्ञान ही है, परंतु यह सब कहना ठीक नहीं । कारण कि जेयकी उत्पत्तिके पहले उसका ज्ञान सम्बन्ध कैसे होगा । ज्ञान उत्पन्न होते ही नष्ट होता है तब उसका जेयके साथ सम्बन्ध कैसे होगा ? जेयको प्रत्यक्षताका अनुभव होता है, फिर उसे अनुमेय माननेवाला पक्ष भी असङ्गत ही है । अनुभविता भी यदि क्षणिक ज्ञान ही है तब स्मृति भी कैसे सम्पन्न होगी ? अन्य अनुभूतका अन्य स्मरण कर नहीं सकता । यदि कोई स्थायी आत्मा हो, तभी ज्ञानसे सस्कार उत्पन्न हो तभी स्मृति हो सकेगी । सस्कारका स्थायी आधार न होनेसे ही पूर्वापरकी तुल्यताका ग्रहण सम्भव नहीं होता । अतः सादृश्यमूलक एकत्वकी भ्रान्ति भी नहीं कही जा सकती । क्षणिक विज्ञान व्यक्तियोंसे अतिरिक्त विज्ञान-सतान कुछ भी नहीं होता । अतः सतानको लेकर भी एकत्व व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता । यदि अत्यन्त भिन्नमें भी कार्य कारणभाव सम्पन्न हो सके तब तो जैसे दुग्धसे दधिकी अपेक्षा की जाती है, उसी तरह सिकतासे भी दधिकी अपेक्षा की जानी चाहिये; क्योंकि भिन्नता समान ही है ।

सर्वसम्मतिसे एक स्वयं नामका पदार्थ है । जिसके सम्बन्धमें सभी कहते हैं—'मैं स्वयं जा रहा हूँ, तुम स्वयं जाओ, वह स्वयं आ रहा है' भले उसकी चेतनता, जड़ता, शून्यता आदिमें विवाद हो । उसी सम्पूर्ण भाव-अभावके अभिज्ञ सर्वमाक्षीको स्वयं पदार्थ मानना चाहिये । जिसके द्वारा सबका अभाव विदित होना है उसे सत् ही कहना चाहिये । वही स्वयं निराकर्ताका भी स्वरूप है । सत्, असत् आदि सभी वादोसे प्रथम ही साक्षी सिद्ध है । जैसे ज्योतिः स्वभाव आदित्यमें अप्रकाश नहीं कहा जा सकता । उसी प्रकार नित्य-बोधस्वरूप आत्मामें अज्ञान नहीं कहा जा सकता । जो समझते हैं कि आत्मगत ज्ञानसे ही आत्मगत इच्छादि विदित होते हैं वह ठीक नहीं । जैसे अग्निगत उष्णता अग्निप्रकाशसे नहीं प्रकाशित होती । अतः साक्षीके द्वारा ही सुख दुःखादि वृत्तिका भान होता है । नैयायिकोके मतानुसार सुख एवं ज्ञान दोनोंका एक कालमें आत्म-समवेत होना सम्भव न होगा, क्योंकि आत्ममनःसंयोग दोनोंका ही हेतु है । एक असमवायी-कारण एक ही आत्मगुणके प्रति हेतु होता है । सुखके असमवायी-कारण आत्ममनःसंयोगके नाशसे सुखका नाश होगा । संयोगान्तरसे अन्य ज्ञानद्वारा उसका ग्रहण कथमपि नहीं बन सकेगा । एक आत्म-मनःसंयोगसे युगपत् अनेक कार्योंकी उत्पत्ति मान्य नहीं होती, अतः ज्ञान और सुख दोनों युगपत् नहीं हो सकते । एक आश्रयवालोंका विषय-विषयिभाव नहीं

वन सकता; इसलिये भी सुख ज्ञानग्राह्य नहीं हो सकता । यदि कहा जाय कि सुख-दुःखादि ज्ञानग्राह्य मत हो, तो यह भी ठीक नहीं; कारण, 'सुखं मया ज्ञातम्' 'दुःखं मया ज्ञातम्' इस रूपसे सुख-दुःखकी स्मृति सुख-दुःखके अनुभवको बोधित करती है । जो कहा जाता है कि 'ज्ञान-विशिष्ट आत्मामें समवेत होनेसे सुखादिका भान होगा', यह भी ठीक नहीं । कारण, एक कालमें आत्मा अनेक विशेष गुणोंका समवायी नहीं हो सकता । एक असमवायी-कारण आत्ममनः संयोगसे एक ही कार्य उत्पन्न होनेका नियम मान्य है । यदि ज्ञान-विशिष्ट आत्म-समवेत होनेसे सुखादिका ग्रहण हो तब तो आत्मगत सुखा परिमाणादिका भी ग्रहण होना ही चाहिये । यदि कहा जाय कि 'सुख, दुःख, ज्ञानादिका आत्माके गुण या धर्म होनेसे आत्माद्वारा ही प्रकाशित होना ठीक है', वह भी ठीक नहीं; कारण, नैयायिकोंका आत्मा प्रकाश-स्वरूप नहीं है । फिर उससे सुखादिका प्रकाश कैसे होगा ? नैयायिक आत्माको व्यापक और नित्य भी मानते हैं, अतः ज्ञान, सुखादि उसके विकार नहीं हो सकते । व्यापक, नित्यको विकारी कहना भी असङ्गत ही है । अतः आत्मा न तो ज्ञानादि गुणवाला ही सिद्ध होता है और न गुण-गुणीमें ग्राह्य-ग्राहकभाव ही वन सकता है । फिर सभी अनेक व्यापक आत्मामें आत्ममनः-संयोग समान ही है । अतः एक आत्माके सुखादिसे सभी आत्माओंको सुखादिमान् कहना पड़ेगा । अदृष्टादि भी किस आत्मामें हैं, किसमें नहीं, इसका निर्णय अशक्य होगा । अतः सुख-दुःख एवं वृत्तिरूप ज्ञानादि स्वप्रकाश व्यापक आत्मासे भास्य मानना ही युक्त है । वही आत्मा नित्य-बोध है । ज्ञानको ज्ञेय माननेसे अनवस्थित ज्ञानमाला अनिवार्य होगी । यह भी विचारणीय है कि विषय-प्रकाश-कालमें विषय-प्रकाशक ज्ञान भासमान होता है या नहीं; यदि नहीं तो विषय स्वयं भासित होता है या ज्ञानाधीन होकर भासित होता है, यह निर्णय नहीं हो सकेगा । अतः विषय-प्रकाश-कालमें ही प्रकाशक ज्ञानका भानस्वरूप ज्ञानान्तर मानना चाहिये । यदि वह ज्ञान भी भासमान नहीं है तो उसके द्वारा पूर्व ज्ञानका भान नहीं बनेगा । फिर उस ज्ञानके भानके लिये भी ज्ञानान्तर मानना पड़ेगा ।

'पूर्व-पूर्व ज्ञान उत्तरोत्तर ज्ञानसे भासित होगे', यह पक्ष भी सम्भव नहीं है । क्योंकि प्रथम ज्ञान उत्पन्न होनेके अनन्तर मनमें क्रिया उत्पन्न होगी, उससे विभाग होगा, तब पूर्व संयोग नाश होगा, पुनः दूसरा संयोग उत्पन्न होगा, तब ज्ञानान्तर उत्पन्न होगा । इस तरह बहुक्षणविलम्बसे जब उत्तर ज्ञान उत्पन्न होगा तब पूर्वज्ञान रहेगा ही नहीं, फिर उसका भान कैसे होगा । यदि इन सब दोषोंसे बचनेके लिये एक ही आत्म-मनः-संयोगसे दो ज्ञान या अनेक ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जाय तब तो एक ही आत्म-मनः-संयोगसे युगपत् संनिकृष्ट रूप, रस, गन्धादिका भी समकालमें ही ज्ञान होना चाहिये । संस्कार-उद्बोध होनेपर

उसी समय स्मृतियों भी उत्पन्न होनी चाहिये, परन्तु यह सब सिद्धान्तविरुद्ध होगा। नैयायिकोंके सिद्धान्तमें न तो अनुभव एवं स्मृतियोंकी समकालता मान्य है और न तो विशेष गुणोंकी समकालता ही मान्य है 'युगपज्ज्ञानानुपत्तिर्मानमो लिङ्गम्' (न्यायदर्शन १।१।१६) एक कालमें अनेक जानोंका न उत्पन्न होना अणुपरिमाण मनके होनेमें लिङ्ग है। इसलिये दीर्घशङ्कुली (पापड) खाते समय समकालमें जवद, स्पर्श, रूप रस, गन्धकी अनुभूतिको भी नैयायिक क्रमिक ही मानते हैं।

यदि ज्ञान या चैतन्य आत्माका स्वरूप-लक्षण माना जाय तो जैसे गन्धादि पृथ्वीका लक्षण है, वैसे ही ज्ञान आत्माका लक्षण हुआ, फिर तो जैसे गन्धादि पृथ्वी आदिका स्वरूप ही है, वैसे ही ज्ञान भी आत्माका स्वरूप ही ठहरता है। फिर 'अनित्य ज्ञानवाला आत्मा है', यह कथन व्यर्थ ही है। यदि ज्ञान आत्माका नटस्थ लक्षण है तो आत्माका स्वरूप लक्षण भी बनलाना चाहिये। पर वह चेतनातिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हो सकता। अतः देहादि-जड-विलक्षण ही आत्मा है, यह कहना पड़ेगा। तथा च निर्विशेष चिद्रूप ही आत्मा हुआ। बोधस्वरूप आत्म-ज्योतिसे दीप्त होकर बुद्धि भ्रान्तिसे अपनेमें ही बोध मानती है। 'अन्य सानी बोद्धा नहीं है, मैं ही बोद्धा हूँ', यह बुद्धिका भ्रम ही है। बुद्धि आगन्तुक है, किन्तु बोध तो सुषुप्तिमें बुद्धिके न रहनेपर भी रहता है। अतः अविवेकसे ही बुद्धिमें बोधरूपताकी भ्रान्ति होती है। स्वप्नके सभी वेद्य-प्रपञ्चको इसी बोधमे जाना जाता है। क्योंकि स्वप्नमें आदित्य, चन्द्र, चक्षुः, वाक् आदि सभी ज्योतियाँ लुप्त होती हैं, मन स्वयं वेद्यरूपसे ही परिणत है। भासक ज्योति आत्मासे भिन्न होकर कुछ भी नहीं है। अतएव स्वप्नमें जिसमे रूपदर्शन, शब्दश्रवण, वाग्व्यवहार होता है वह चक्षुः, श्रोत्र, मन एवं वाक् आदि, आत्मज्योति ही हैं,—'सा श्रोतु श्रुतिर्यथा स्वप्ने शृणोति। सा वक्तुर्वक्तिर्यथा स्वप्ने वदति।'।

जैसे एक ही स्फटिक मणिमें नील, पीत, हरित उपाधिके भेदसे अनेक रूप परिलक्षित होते हैं, उसी तरह एक ही नित्य ज्ञान स्वप्नकल्पित शब्दादि अनेक उपाधिभेदसे श्रुति, मति, विजाति आदि रूपमें प्रतीत होता है। इसी चिद्रूप ज्ञानका ही विकटप जाग्रत् भी है। अज्ञानोपाधिक ज्ञानस्वरूप आत्मा बुद्धिकी कल्पना करता है। बुद्धिसे उपहित होकर बुद्धिस्थ अर्थका ही व्याकरण करता हुआ उनका प्रकाशक वही ज्ञानस्वरूप आत्मा सर्वव्यवहार-भागी होता है। जैसे स्वप्नका व्यवहार, ठीक वैसा ही जाग्रत्का भी व्यवहार होता है। फिर भी शुद्धचित्तमें निर्विकटप नित्यज्ञानका साक्षात्कार होता है। बाह्येन्द्रियोसे विषयोपलम्भ जागर है। सस्कारवशात् निद्राकालमें प्रतीत प्रपञ्च-

स्वप्न एक प्रकारकी स्मृति है। दोनोहीका अभाव सुषुप्ति है। तीनोंका ही साक्षी नित्य ज्ञान है। सुषुप्तिका तम ही जागर, स्वप्नका बीज है। स्वात्म-प्रबोधसे बीज दग्ध होनेपर अनन्तज्ञान निष्प्रपञ्चरूपसे भासित होता है। जैसे अदृश्य भी राहु चन्द्रबिम्बपर उपरक्त होकर दृश्य होता है, जैसे जलमें चन्द्रादिका प्रतिबिम्ब लक्षित होता है, वैसे ही शुद्ध बुद्धिपर ही निर्विकल्प-बोध लक्षित होता है। जैसे जलमें भानुका बिम्ब एवं उष्णता प्रतीत होनेपर भी वह जलका धर्म नहीं, किंतु भानुका ही धर्म है, उसी प्रकार बुद्धिमें बोध लक्षित होनेपर भी बोध बुद्धिका धर्म नहीं है। जैसे जलका शैत्य एवं अप्रकाश धर्म निश्चित है, वैसे ही बुद्धिका भी जडत्व धर्म निश्चित है। अतः जैसे जलमें प्रतीत होते हुए भी उष्णता और प्रकाश भानुका ही धर्म है, वैसे ही बुद्धिमें स्फुरण या बोध प्रतीत होनेपर भी आत्माका ही स्वरूप है। चक्षुके द्वारा रूपाकारवृत्तिका अवभासन करता हुआ साक्षी अलुप्तदृक् रहता है। वही दृष्टिका द्रष्टा, श्रुतिका श्रोता है। केवल मानसी वृत्तिका भासन करता हुआ वही सतिका मन्ता कहा जाता है। वह विशातिका विशाता है। उसीके सम्बन्धमें श्रुतिने कहा है—

न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः, न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयाः, न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः ॥

‘सतिका मन्ता है’ यह कहनेपर भी उसमें मन्तृत्वादि विकार नहीं होते। बुद्धि आदिके ही व्यापारसे केवल तद्भासकमें मन्तृत्वादिकी प्रतीति होती है। सुषुप्तिमें भी अस्वरूप बना ही रहता है। केवल दृश्य न होनेसे विशेष दर्शनादिका अभाव रहता है। घटादि बाह्य वस्तु दृष्टिसे व्यवहित होता है अतः परोक्ष है। आत्मा तो दृष्टिका भी आत्मा है, अतः आत्मा अपरोक्ष है। श्रुतिमें भी ब्रह्मात्माको साक्षात् अपरोक्ष कहा गया है—‘यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म’ (बृहदा० उप० २।४।१) जैसे दीपको स्वात्मप्रकाशमें दीपान्तरकी अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही बोधस्वरूप आत्माको भी स्वात्म-प्रकाशमें बोधान्तरकी अपेक्षा नहीं है। उसी स्वयंज्योति उपलब्धिस्वरूप आत्माके संनिधानसे साभास अन्तःकरण ही आत्मा मालूम पड़ता है। स्वतःसिद्ध आत्मामें जाति, गुण, क्रिया आदि न होनेसे कोई भी शब्द उपाधिद्वारा ही उसमें पर्यवसित होते हैं। अहंकारादिमें आत्मचैतन्याभासका उदय होता है, अतः अहंकार आत्मशब्द वाच्य होता है। जैसे ‘उल्मुकं दहति’ अथो दहति’ इत्यादि प्रयोगोंमें उल्मुक या लोहादिमें दाहकत्वका व्यवहार होता है, परंतु केवल उल्मुक या लोहादिमें दाहकत्वका व्यवहार नहीं बन सकता, अतः वह्निमें ही दाहकत्वका पर्यवसान होता है। उसी तरह ‘अहं जानामि’ इत्यादिरूपसे साभास अन्तःकरण या अहंकारमें शातृत्व-आत्मत्वका व्यवहार होता है, परंतु अहंकार जड एवं प्रकाशके-आधीन है। अतः शातृत्व-आत्मत्वका पर्यवसान नित्यबोधमें ही होता है। जैसे दर्पणादि उपाधिवशात् मुखसे अन्य मुखाभास दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब होता

है, फिर भी स्वरूपसे पृथक् नहीं होता; क्योंकि विम्बकी चेष्टा बिना प्रतिविम्बमें चेष्टा नहीं होता। आभाससे मुख भी अन्य होता है; क्योंकि वह आदर्शानुविधायी नहीं होता। ग्रीवास्थ मुख दर्पणादिकी अपेक्षा करके ही स्फुटित होता है। मुखआभासके तुल्य अहंकार आत्माभास है। वैसे ही आत्मा और आत्माभास-बुद्धिमें चैतन्याभास होता है। आत्मामें चैतन्यरूपता होती है। तभी वेदादिशास्त्र ब्रह्मतत्त्वका ज्ञानशब्दसे प्रतिपादन करते हैं। चैतन्याभासयुक्त बुद्धि ज्ञानशब्दका वाच्य है। शुद्ध चैतन्य ज्ञानशब्दका तात्पर्यार्थ है। प्रकाशस्वभाव वस्तु जिसमें प्रतिविम्बित होती है उसके प्रकाशोदयका हेतु होती है। जैसे जलमें प्रतिविम्बित सूर्य जल-प्रकाशका हेतु होता है, वैसे बुद्धिमें प्रतिविम्बित चैतन्यबुद्धिमें चित्प्रकाशके उदयका हेतु होता है। उसी चिदाभासयुक्त बुद्धिमें ज्ञानादि शब्दोंका प्रयोग होता है। लक्षणासे शुद्ध चैतन्यका बोध होता है।

कहा जा सकता है कि 'करोति, गच्छति' इत्यादि स्थानोंमें प्रकृत्यर्थ क्रिया एव प्रत्ययार्थ कर्तृत्व—दोनोंका ही आश्रय एक ही है। कहीं भी क्रिया और कर्तृत्वकी भिन्नाश्रयता नहीं होती, परंतु 'जानाति' में भिन्नाश्रयता क्यों? इसपर वेदान्तियोंका कहना है कि बुद्धिगत आत्माभास (चिदाभास) 'तिङ्' प्रत्ययका अर्थ है और 'ज्ञा'घातुरूप प्रकृतिका अर्थ वृत्तिरूपा क्रिया बुद्धिमें रहती है। बुद्धि एव चिदाभासके अन्योन्य अविवेकसे 'जानाति' का प्रयोग होता है। इस दृष्टिसे चिदाभासव्याप्त सक्रिय बुद्धिके साथ आत्माका ऐक्याध्यास होनेसे ही 'आत्मा जानाति' यह व्यवहार होता है। इस तरह साभास साधिष्ठान बुद्धिमें ही प्रत्ययार्थ कर्तृत्व एवं प्रकृत्यर्थ वृत्ति—दोनों ही बन जाते हैं। बुद्धिमें चित्प्रकाशरूप बोध नहीं होता। बोधस्वरूप आत्मामें क्रिया नहीं बनती है। इसीलिये दोनोंमेंसे किसी एकमें 'जानाति' व्यवहार नहीं बन सकता। अतः बुद्धि एवं बोधस्वरूप आत्माके आरोपित ऐक्यमें ही 'जानाति' व्यवहार होता है। वही प्रकृत्यर्थ क्रिया और प्रत्ययार्थ दोनोंका ही आश्रय है। 'ज्ञसिर्ज्ञानम्' इस प्रकार भाव-व्युत्पत्तिसे भी ज्ञानशब्द आत्मामें नहीं प्रयुक्त हो सकता; क्योंकि नित्य आत्मा भाव अर्थात् घात्वर्थ सामान्य भी नहीं हो सकता; नित्य निर्विकार आत्मामें किसी प्रकारकी विक्रिया नहीं हो सकती। इस तरह 'ज्ञायतेऽनेन' इस कारण व्युत्पत्तिसे ज्ञानशब्द आत्मामें सङ्गत नहीं है। इस व्युत्पत्तिसे तो बुद्धि ही ज्ञान-शब्दार्थ ठहरती है। यदि आत्मा ज्ञानका करण होगा, तब कर्ता उससे कोई अन्य ढूँढना पड़ेगा; जो कि असम्भव है। अतएव चिदाभास और चिदात्माके अन्योन्याध्याससे ही ज्ञातृत्व व्यवहार आत्मामें सम्भव होता है। बुद्धिके कर्तृत्वका आत्मामें अध्यास करके आत्मामें ज्ञातृत्व होता है। आत्माका अचैतन्यबुद्धिमें अध्यास करनेसे बुद्धिमें शत्वका व्यवहार होता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और वही ज्योतिर्योका भी ज्योति कहा जाता है। अतः बुद्धि एव चक्षुरादिसे भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता—

तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् (बृहदा० ४।४।१६)

अन्तः पुरुषे ज्योतिः ।

(छान्दो० ३।१३।७)

जैसे तत्त्वज्ञान बिना अविवेकी देहको ही आत्मा मानता है, वैसे ही अविवेकी बुद्धिको ही ज्ञानकर्ता कहता है । चिदाभासयुक्त बुद्धिवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, यही देखकर ज्ञानकी उत्पत्तिका व्यवहार होता है । जैसे प्रतिबिम्ब दर्पणानुविधायी होता है वैसे ही चिदाभास भी बुद्धिधर्मका अनुविधायी होता है । चिदाभाससे दीपित बुद्धिवृत्तियाँ विषयग्राहिका उसी तरह होती हैं, जैसे उल्मुकका दाहकत्व-व्यवहार । वे ग्राहिका वृत्तियाँ स्वयं भासित होती हैं, इसीलिये बौद्धोंने प्रत्ययोंके भासक साक्षीका अपलाप किया है, तथापि उनका आत्मा भासयुक्तबुद्धि प्रत्ययोंके भाव एवं अभाव जिस साक्षीसे विदित होते हैं वह साक्षी ही उनकी उत्पत्ति-विनाशको जानता है । साक्षीके रहनेपर भी चिदाभास आवश्यक है; क्योंकि वस्तु-स्फुरणके लिये वृत्तिव्याप्त वस्तुपर चिदाभास आवश्यक है । केवल साक्षीद्वारा यदि वस्तुका प्रकाश होता हो, तब तो वृत्तिके समान ही काष्ठ-पाषाणादिका भी स्फुरण होना चाहिये । प्रकाशस्वरूप आत्माके सम्बन्धसे ही अचेतनबुद्धि चेतन-सी प्रतीत होती है । फिर तो उसकी वृत्तियाँ भी चेतन-सी ही प्रतीत होती हैं । जैसे तप्त लौहपिण्डसे निकलनेवाले विस्फुलिङ्ग भी अग्निवत् प्रतीत होते हैं । वृत्ति-तदभाव, आभास तथा आभासाभावका ग्राहक तादृक् प्रत्यय नहीं हो सकता । अतः अत्यन्त विविक्त साक्षीसे ही वे भासित होते हैं । फिर भी जैसे लौहपिण्डमें अग्निकी संक्रान्ति होती है, वैसे बुद्धिमें चित्की विकाररूप संक्रान्ति नहीं होती । दर्पणमें प्रतिबिम्बके तुल्य ही बुद्धिमें चित्की संक्रान्ति होती है ।

जैसे लौहपिण्ड अग्न्याभास होता है, उसी तरह बुद्धि चेतनाभास प्रतीत होती है । चित्त ही चेतन है, यह वैसे ही असङ्गत है, जैसे देहको चेतन कहना । इसी तरह चक्षुरादिमें भी चेतनत्व कहना भ्रममूलक है । अहकारसहित बुद्ध्याखण्ड सभी वस्तु साक्षीसे ही भासित होते हैं । इसलिये अखण्डबोधरूप साक्षी सर्वावभासक कहलाता है । सुषुप्तिमें 'नाद्राक्षम्' इस रूपसे प्रत्ययका ही निषेध है, फिर भी भावरूप अज्ञान एवं प्रत्ययाभावका बोध तो रहता ही है । प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयादिरूप विशेष ग्राह्य नहीं अनुभूत होता । किंतु भाव-अभावका साक्षी चिद्रूप आत्मा एकरस है ।

शास्त्रोंके अनुसार प्रत्यय स्पष्ट ही उत्पत्ति-विनाशशील एवं कूटस्थ चैतन्य-स्वरूप अलुप्तदृक् है । प्रत्यगात्मा-नित्यज्योतिमें ही अहंका पर्यवसान है । अनुभवके आधारपर ही सब कुछ सिद्ध होता है । आत्मा अनुभवस्वरूप है । प्रत्यय और प्रत्ययी अन्तःकरण—दोनों ही जड हैं । नित्य चैतन्यसे ही इन सबका भान होता है । जैसे सेनाका जय राजामें आरोपित होता है, उसी तरह प्रमाणफल कूटस्थ साक्षीमें आरोपित होता है । अविकृत चिदात्माका अन्तःकरणमें प्रतिबिम्ब होता

है। वह प्रतिबिम्ब ही स्वोपाधिबुद्धिके व्यापारद्वारा प्रमाता बनता है। आभास भी परिणाम नहीं है, किंतु जैसे रज्जुके अज्ञानसे सर्पभ्रम होता है, जैसे दर्पणमें मुखाभासत्वकी प्रतीति होती है, उसी तरह बुद्धिमें आत्माभासत्वकी प्रतीति होती है। प्रत्यय और दृष्टिका भेद स्वप्नमें प्रसिद्ध ही है। वहाँ विषयाकाराकारित प्रत्ययका साक्षी आत्मा ही है। जिस चिद्रूप आत्माके आभाससे विषयाकार-प्रत्यय विदित होता है, वही आत्मा है। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय—तीनोंका भासक साक्षी ही ब्रह्म है—‘त्रितयं तत्र यो वेद स भात्मा स्वाश्रयाश्रयः।’ (श्रीमद्भा० २।१०।९) सम्यग्ज्ञान, सशयज्ञान, भ्रान्ति ज्ञानमें अवगति और बोध-आत्मा एक ही ढगका है। इन ज्ञानोंमें भेद केवल प्रत्ययोंका ही है। पुष्पादि उपाधिके वशसे स्फटिकादिमें भेद प्रतीत होता है, उसी तरह प्रत्ययरूप उपाधिके भेदसे अखण्डबोधमें भेद प्रतीत होता है। जाग्रत्काल, स्वप्नकालके प्रत्ययोंका स्फुरण नित्य-अपरोक्षभाव साक्षी आत्मासे ही होता है। जैसे प्रदीपसे घटादिका प्रकाश होता है, परंतु प्रदीपका भी प्रकाश द्रष्टासे ही होता है—

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति, (कठोप० २।२।१५)

अत्रायं पुरुषः खयज्योतिर्भवति। (छान्दोग्योप०)

अन्य निषेधसे भी सर्वनिषेध साक्षी चेतन आत्मा प्रसिद्ध होता है। ‘अज्ञा-सिषमिदं मां च’ मैंने इसे और अपने आपको जाना, इस प्रकारकी स्मृति प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयके स्मरणसे तीनोंका ही प्रकाश निश्चित होता है।

एक प्रमाणज्ञानमें ग्राहक और ग्राह्य दोनोंका स्फुरण नहीं हो सकता। अतः बोधस्वरूप साक्षीसे ही स्फुरण होना उपपन्न होता है। बौद्ध कर्ता कर्म-विहीन प्रत्ययका स्वमहिमासे प्रकाश है ऐसा मानते हैं। परंतु फिर तो अनुभविताकी अपेक्षा ही न रहेगी। वैसे अनुभवितामें ही अनुभव इष्ट होता है। इसके अतिरिक्त अनुभविता भी तो अनुभव ही है। बुद्धि ही भ्रान्तिसे पुरुषोंको ग्राह्य-ग्राहक-भेदवान् होकर प्रतीत होती है। जिसके मतमें अनुभूति क्रिया है, वही कारक भी है। यदि इसका सत्त्व एवं क्षणिकत्व मान्य है तो दृष्टबलात् सकर्तृक भी मानना ठीक है। वस्तुतस्तु ग्राह्य नीलपीतादि वस्तु और वस्तु-प्रत्यय भासक साक्षी मान्य है, जैसे रूपादि ग्राह्य हैं उनके ग्राहक दीपादि हैं उसी तरह प्रत्यय भी ग्राह्य है, अतः उसका ग्राहक साक्षी मान्य होना चाहिये। व्यक्तक होनेसे अवभासक अवभास्यसे अन्य होता है। जैसे घटादिका प्रकाशक दीपक होता है, उसी तरह प्रत्यय ग्राह्य है, उसका भी ग्राहक साक्षी पृथक् है। द्रष्टा और दृश्यका आध्यासिक ही सम्बन्ध होता है। जैसे घटादिपर आलोककी व्याप्ति होती है, वैसे ही घटादिपर बुद्धि-व्याप्ति होती है। जैसे आलोकस्थ घट आलोकारूढ़ कहा जाता है, वैसे ही बुद्धिस्थ घट बुद्ध्यारूढ़, कहा जाता है। बुद्धिव्याप्त घटादिपर, चित्प्रतिबिम्ब होता है, उसीसे घटादि प्रकाश होता है।

कार्यकारणसंघातरूप प्राणीका जाग्रत्कालमें बैठना, चलना, काम करना आदि व्यवहार, आदित्य, चन्द्रमा, अग्निरूप ज्योति या प्रकाशके द्वारा सम्पन्न होता है। यहाँ सर्वत्र कार्यकारणव्यवसंघातव्यतिरिक्त आदित्यादि ज्योतिसे ही व्यवहार चलता है। इसी तरह मेघान्छन्न अमावस्याकी रात्रिमें जहाँ कोई भी ज्योति नहीं होती, अपना हाथ भी नहीं भासित होता, वहाँ भी दूरस्थ श्वान तथा गर्दभ आदिके शब्दको सुनकर मनसे निश्चित करके उसी शब्दके सहारे प्राणी वहाँतक पहुँच जाता है। ऐसे ही गन्धके सहारे भी जिधरसे गन्ध आती है, उधर प्राणी पहुँच जाता है। यहाँ सर्वत्र देहादि-संघातभिन्न ज्योतिसे ही व्यवहार होता है। ठीक इसी तरह स्वप्न एवं सुषुप्तिकालमें स्वाप्निक-वस्तुओं तथा निद्रामें सौषुप्त अज्ञान एवं सुखका प्रकाश भी किसी संघातव्यतिरिक्त संघातप्रकाशक ज्योतिसे ही मानना उचित है। स्वप्नके बन्धु-संगम, देशान्तर-गमनादि व्यवहार देहादि-संघातव्यतिरिक्त देहादिभासक आत्मज्योतिसे मानना उचित है। स्वप्नादि व्यवहार भी संघातव्यतिरिक्त ज्योतिःपूर्वक है। व्यवहार होनेसे जाग्रत्-व्यवहारके तुल्य जैसे जाग्रतका व्यवहार देहातिरिक्त आदित्यादि ज्योतिर्मूलक हैं, वैसे ही स्वाप्निक व्यवहारको भी देहादिभिन्न ज्योतिर्मूलक मानना चाहिये।

स्वप्नव्यवहारमें आदित्यादि ज्योतियोंका सम्बन्ध सम्भव ही नहीं। अतः कोई अन्तःस्थ आदित्यादि ज्योतिसे विलक्षण अभौतिक आत्मज्योति मानना उचित है। उसीसे स्वप्नका व्यवहार सम्भव हो सकता है। आदित्यादि ज्योति चक्षुरादिसे उपलब्ध होती है। परंतु स्वप्न-व्यवहारका हेतुभूत कोई बाह्यज्योति चक्षुरादिसे उपलब्ध नहीं होती, परंतु ज्योतिकी कार्य-व्यवहार स्पष्ट उपलब्ध होता है। अतः संघातभिन्न अदृश्य अन्तःस्थ आदित्यादि विलक्षण अभौतिक ज्योति मानना आवश्यक है। इस सम्बन्धमें यह अनुमान है कि 'धिमत्तं अन्तःस्थमतीन्द्रियत्वाद् व्यतिरेकेणादित्यादिवत्।' विवादास्पद स्वप्नाव्यवहार-हेतु ज्योति अन्तःस्थ है। अतीन्द्रिय या अदृश्य होनेसे जो अदृश्य नहीं, वह अन्तःस्थ नहीं, जैसे आदित्यादि।

इस सम्बन्धमें भौतिकवादीका कहना है कि "उपकारी उपकारकभाव सजातीयमें ही देखा जाता है। जाग्रत्-व्यवहार कारक-हेतुभूत आदित्यादि ज्योति देहादिके समान भौतिक ही है। उसी तरह स्वाप्निकव्यवहारके हेतुभूत संघातव्यतिरिक्त ज्योतिको भी संघातके समान भौतिक ही होना चाहिये। जैसे आदित्यादि उपकारक उपक्रियमाण देहादि-संघातके सजातीय होते हैं, वैसे ही स्वाप्निकव्यवहार हेतुभूत उपकारक ज्योतिको भी उपक्रियमाणका सजातीय ही होना चाहिये। अतः जैसे आदित्यादि उपकारक ज्योति भौतिक हैं, वैसे ही स्वाप्निक व्यवहारका उपकारक ज्योति भी भौतिक ही होना चाहिये।

“जो कहा जाता है कि ‘अतीन्द्रिय एव अदृश्य होनेसे वह ज्योति अभौतिक है’, यह भी ठीक नहीं; क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रिय ज्योति भी अतीन्द्रिय तथा अदृश्य है। तो भी वे जैसे अभौतिक नहीं, भौतिक ही हैं, उसी तरह उस ज्योतिको भी भौतिक ही होना चाहिये। इसके अतिरिक्त देहादि सघातके रहनेपर ही चैतन्यरूप अन्तःस्थ ज्योति रहती है। देहादिके न रहनेपर नहीं रहती। अतः उसे देहादिका ही धर्म मानना उचित है। जैसे रूपादि सघातके रहनेपर ही उपलब्ध होते हैं, अतः वे देहादिके ही धर्म हैं, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये—‘विमतं चैतन्यं शरीरधर्मस्तज्जावभाविष्यात्’ रूपादिवत्। विमतं ज्योतिः संघाताद्भिन्नं तज्जासकत्वादित्यादिवत्। विवादास्पद-चैतन्य सघातसे भिन्न है, सघातके भासक होनेसे आदित्यादिके तुल्य यह सामान्यतो दृष्ट-अनुमान व्यभिचारी होनेसे स्वयं अप्रमाण है। क्योंकि भौतिकवादीके मतानुसार देहका भासक होनेपर भी चक्षु देहसे भिन्न नहीं है, उसी तरह चैतन्य भी देहका भासक होनेपर भी देहसे भिन्न न होकर उससे अभिन्न उसका धर्म ही है। अनुमानके द्वारा प्रत्यक्षका बाध भी नहीं होता। मैं मनुष्य हूँ, मैं देखता, सुनता और जानता हूँ, इस प्रकार प्रत्यक्ष ही देहादि-संघातमें द्रष्टृत्व, ज्ञातृत्वादि विदित होता है। फिर प्रत्यक्षके विरुद्ध अनुमान कैसे आदरणीय हो सकता है ?

“कहा जा सकता है कि ‘यदि देह ही आत्मा है और वही द्रष्टा, ज्ञाता आदि है तो अविकल रहनेपर भी वह क्यों कभी द्रष्टा, ज्ञाता होना है, कभी नहीं होता ?’ किंतु यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि जो वस्तु जिस तरह प्रमाण-सिद्ध हो, उसको वैसी मानना उचित है। खद्योतमें प्रकाश, अप्रकाश दोनों ही देखा जाता है, अतः दोनों ही मान्य हैं। उसमें किसी कारणान्तरकी कल्पना नहीं की जाती। अग्निकी उष्णता, जलकी शीतलता जैसे स्वाभाविक है, वैसे ही देहमें कभी ज्ञातृत्व, द्रष्टृत्वादि होना, कभी न होना स्वाभाविक ही है। यदि प्राणियोंके धर्माधर्मके कारण औष्ण्य, शैत्यादि माना जायगा, तब तो अनवस्था-दोष होगा।”

भौतिकवादीका उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है, कारण कि स्वप्न एव स्मृतिके आधारपर यही सिद्ध होता है कि देहादि-संघातसे भिन्न अभौतिक आत्मा ही द्रष्टा होता है, देहादि नहीं। यह नियम है कि जाग्रत्-कालमें दृष्टका ही स्वप्नमें दर्शन होता है, इस तरह जाग्रत् और स्वप्नका द्रष्टा एक ही होता है। किंतु स्वप्नमें अनेक वस्तुओंका दर्शन होता है, वहाँ देह या नेत्रादि नहीं होते। देहादि निर्व्यापार तथा नेत्र निमीलित ही रहते हैं। अतः स्वप्नके प्रपञ्चका द्रष्टा देह नहीं है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि अन्य दृष्टका स्वप्न-द्रष्टा अन्य नहीं

होता अतः जो स्वप्नका द्रष्टा है, वही जाग्रत्का भी द्रष्टा है। यदि स्वप्नका द्रष्टा देहसे भिन्न सिद्ध हो गया तो जाग्रत्का द्रष्टा भी देहसे भिन्न ही मानना उचित है। जब कभी किसी प्राणीके नेत्र नष्ट हो जाते हैं तो वह अन्धावस्थामें भी पूर्वदृष्ट पदार्थोंको स्वप्नमें देखता है। स्पष्ट है कि स्वप्नके पदार्थोंका द्रष्टा देह नहीं है, क्योंकि देहमें नेत्र हैं ही नहीं। तात्कालिक नवीन देह या नवीन नेत्र उत्पन्न होते हैं, उनसे स्वाप्निक पदार्थ दीखते हैं, यह कल्पना या संस्कारकी कल्पना भी भौतिकवादमें असङ्गत ही है।

जिसने चक्षुके बिना भी स्वप्नमें पूर्वदृष्टका दर्शन किया, चक्षु रहनेपर भी उसीको प्रबोधकालमें द्रष्टा मानना उचित है। कहा जाता है कि स्वप्नमें पूर्वदृष्टके दर्शनका ही नियम नहीं; क्योंकि जन्मान्धोंको भी कभी-कभी स्वप्नमें विविधरूपोंके दर्शन होते हैं। परंतु यह ठीक नहीं, कारण कि जन्मान्धोंको भी जन्मान्तरानुभूतका ही स्वप्नमें दर्शन मानना उचित है, यही जन्मान्तरमें प्रमाण भी है। अतः स्वप्नमें पूर्वदृष्टका ही दर्शन होता है, यह नियम स्थिर है।

इसी तरह स्मृति और द्रष्टाके भी एकत्वका नियम है। जो द्रष्टा होता है वही स्मृति होता है। यह देखा जाता है कि आँख मींचकर मनुष्य पूर्वदृष्टको स्मरण करता हुआ पूर्वदृष्टके समान ही देखता है। यहाँ भी जो नेत्र मीचनेपर पूर्वदृष्टको देख सकता है खुले नेत्र रहनेपर भी उसीको द्रष्टा मानना उचित है। साथ ही यह भी देखा जाता है कि मृत देहमें किसी प्रकारकी विकलता दृष्टिगोचर न होनेपर भी दर्शनादि क्रियाएँ नहीं होती। अतः मानना पड़ेगा कि जिसके न रहनेपर देहमें दर्शन आदि क्रियाएँ नहीं हो सकतीं, जिसके रहनेपर दर्शन आदि क्रियाएँ होती हैं, वही द्रष्टा है, देह नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि 'चक्षुरादि इन्द्रियाँ ही दर्शनादि क्रियाओंकी कर्ता हैं', किंतु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जो मैंने देखा है, वही मैं स्पर्श कर रहा हूँ, इस प्रत्यभिज्ञाके अनुसार मालूम पड़ता है कि दर्शन तथा स्पर्शन क्रियाका कर्ता एक ही है। पर चक्षु स्पर्श नहीं कर सकता, त्वक् दर्शन नहीं कर सकता, अतः यही मानना ठीक है कि इन्द्रियोंसे भिन्न आत्मा ही चक्षुरादि विभिन्न इन्द्रियोसे देखने-सुननेवाला है। कुछ लोग कहते हैं कि मन ही द्रष्टा, श्रोता, मन्ता आदि है, किंतु यह भी ठीक नहीं। मन भी रूपादिके तुल्य विषय ही है, फिर वह द्रष्टा नहीं हो सकता। अतः आदित्यादिके समान अन्तःस्थ ज्योति-सघातसे अतिरिक्त है।

कहा जाता है कि 'वह ज्योति कार्य-करणसघातका सजातीय ही होना चाहिये, क्योंकि जैसे आदित्यादिज्योति सजातीयके ही उपकारक होते हैं, उसी तरह अन्तर-ज्योति भी सजातीयके ही उपकारक होनेसे उपकार्य भौतिक प्रपञ्चके

समान भौतिक ही होना चाहिये', परंतु यह ठीक नहीं है। कारण कि उपकार्योप-कारकभाव सजातीयमें होनेका कोई नियम नहीं है। पार्थिव ईन्धनसे—तृण-काष्ठादिसे, अग्निका प्रज्वलनरूप उपकार होता है, यहाँ अग्निका काष्ठादिसे कोई साजात्य नहीं है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि पार्थिव तृणादिसे प्रज्वलनोपकार देखा गया है, अतः पार्थिवत्वादि जातीयसे ही अग्निका उपकार हो, क्योंकि वैद्युत अग्नि एव जाठर अग्निका उपकार जलसे ही होता है। इस दृष्टिसे उपकार्योपकारक-भावमें सजातीयता-असजातीयताका कोई नियम नहीं है। अनेक बार देखा जाता है कि स्थावरों तथा पशु आदिकोसे मनुष्योका उपकार होता है।

जो कहा जाता है कि 'अदृश्यत्व अतीन्द्रियत्वके कारण कार्य-करण-सघातका भासक तथा उपकारक ज्योतिको अभौतिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चक्षुरादि अतीन्द्रिय एवं अदृश्य होनेपर अभौतिक नहीं, किंतु भौतिक ही हैं। इसी तरह कार्य-करणासघातकी भासक ज्योतिको सघातका ही धर्म मानना उचित है।' किंतु वह ठीक नहीं है। क्योंकि चक्षुरादिकरणभिन्नत्वे सति अतीन्द्रियत्वहेतुसे ही सघातभासक ज्योतिकी अभौतिकता सिद्ध होती है। अर्थात् जो चक्षुरादि करणसे भिन्न होकर अतीन्द्रिय है, वह भासक होनेसे सघातसे विलक्षण तथा अभौतिक ज्योति है। अतीन्द्रियत्व-हेतुके चक्षुरादिमें अनेकान्तिक होनेके कारण अनुमान दूषित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि चक्षुरादि करणभिन्नता चक्षुरादिमें नहीं हो सकती। अतः चक्षुरादिभिन्नताविशिष्ट अतीन्द्रियतारूप हेतु चक्षुरादि इन्द्रियोंमें नहीं जायगा। अतः अनुमान निर्दोष ही है। कार्य-करण-सघातका भासक तथा व्यवहारका हेतुभूत ज्योति ही चक्षुरादिसे भिन्न तथा अतीन्द्रिय होनेसे अभौतिक एव सघातव्यतिरिक्त सिद्ध होती है। चक्षुरादि इस प्रकारके नहीं हैं।

इसी तरह तद्भावभावित्व भी असिद्ध ही है। क्योंकि मृत देहके रहनेपर भी चैतन्यका उपलम्भ नहीं होता। इसपर भी कुछ लोगोका कहना है कि 'भले ही मृतदेहमें चैतन्यका उपलम्भ न हो फिर भी जब कभी चैतन्यका उपलम्भ होता है, देहमें ही उपलम्भ होता है। भले ही कभी मृत्तिका रहनेपर भी घट न रहे, तथापि जब कभी घट होता है, मृत्तिकाके रहनेपर ही होता है।' परंतु यह कहना ठीक नहीं। इससे देह और चैतन्यका धर्म-धर्माभाव या अभेद नहीं सिद्ध होता। ज्यादा-से-ज्यादा इससे इतना ही सिद्ध होता है कि धूमव्यापक वह्निकी तरह भूत चैतन्यका व्यापक है। जैसे जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, उसी तरह जहाँ-जहाँ चैतन्य होता है, वहाँ-वहाँ भूत होता है। परंतु यहाँ भी जहाँ-जहाँ वह्यभाव है वहाँ वहाँ धूमाभाव है,

यहाँके समान व्यतिरेक व्याप्ति नहीं निश्चित होती है; क्योंकि चैतन्य आकाशकी तरह व्यापक होनेसे वह केवलान्वयी है, अतः उसका व्यतिरेक नहीं कहा जा सकता। देहसे अतिरिक्त स्थलमें चैतन्य उपलब्ध न होनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि 'वह नहीं है'। अभिव्यञ्जक न होनेसे भी अनुपलब्धि कही जा सकती है। जैसे गो व्यक्तिरूप अभिव्यञ्जक होनेसे व्यापक गोत्वजातिकी अभिव्यक्ति न होनेपर भी अनुपलब्धि उत्पन्न हो जाती है।

वस्तुतः गोपाल कुटीरमें, हुक्कामें अग्नि बुझ जानेपर भी धूम रहता है। अतः अग्नि एव धूमकी अभिन्नता या धर्म धर्माभाव भी असङ्गत ही है। वस्तुतः 'तद्भावे तद्भावः, तदुपलब्धौ उपलब्धिः।' तद्भावमे तद्भाव एव तदुपलब्धिमें तदुपलब्धि होनेसे ही तदभिन्नता होती है। मृत्तिकाके भावमें ही घटादिका भाव होता है। मृत्तिकाके उपलम्भमें ही घटादिका उपलम्भ होता है। इसलिये मृत्तिकासे घटादिकी अभिन्नता सिद्ध होती है। अग्निके न रहनेपर भी गोपालकुटीर या हुक्कामें धूम रहना है, अग्निके उपलम्भ बिना भी धूमका उपलम्भ होता है। अतः अग्निसे धूमकी भिन्नता ही है। ठीक इस नियमकी कसौटीपर भूत तथा चैतन्यकी अभिन्नता ठीक नहीं उतरती। भूत रहनेपर भी चैतन्य नहीं रहता और भूतके उपलम्भमें चैतन्यका उपलम्भ नहीं होता है।

अग्निकी जल तथा पार्थिव काष्ठादिसे अन्यत्र उपलब्धि न होनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि अग्नि, जल या काष्ठादिका ही धर्म है। किंतु सर्वसम्मतिसे अग्नि स्वतन्त्र वस्तु है, जल काष्ठादिका धर्म नहीं। उसी तरह देह, दिल, दिमाग आदि नित्य सिद्ध व्यापक चैतन्यके अभिव्यञ्जक हैं, अतः उनके बिना चैतन्यका उपलम्भ नहीं। फिर चैतन्य देहादिका धर्म नहीं, किंतु वह उनसे भिन्न स्वतन्त्र ही है। सामान्यतो दृष्टानुमानसे ही प्राणियोंकी भोजन-पानादि प्रवृत्ति होती है। यदि उसकी मान्यता न होगी तब तो अभुक्त अपीत भोजनादिमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी। खद्योत आदिमें पक्षके संकोच-विकाससे प्रकाश-अप्रकाश उपपन्न है। किंतु यदि देहका दृष्टृत्व धर्म है, तो कभी उसका उपलम्भ कभी उसका अनुपलम्भकी व्यवस्था नहीं उपपन्न हो सकेगी। भूत रहनेपर भी चैतन्य नहीं रहता और भूतके उपलम्भमें भी चैतन्यका उपलम्भ नहीं होता। अतः भूत एवं चैतन्यका न अभेद ही सिद्ध होता है न धर्म-धर्माभाव ही सिद्ध होता है।

आत्मतत्त्व-विमर्श

'तमेव भान्तमनुभान्ति सर्वम्' (कठ० २।०।१५) 'विज्ञातारमरे केन विजानी-
यात्', (बृहदा० २।४।१४) यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृहदा० ३।४।१) इत्यादि

श्रुतियोंसे ज्ञात होता है कि व्यष्टि-समष्टि, स्थूल-सूक्ष्म कार्य-कारणान्मक, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डावलि-स्वरूप अखिलप्रपञ्चके भानके पहले ही भासित होनेवाले अखिल निगमा-गमादि सञ्छान्त्रोंके महातात्पर्यविषय अव्यंघ होते हुए भी अपरोक्ष होनेके कारण स्वप्रकाशरूप होनेसे भगवान् साक्षात् अपरोक्ष ही हैं। प्रमाता भी प्रमेयकी अवगतिके लिये ही प्रमाणकी अपेक्षा करता है, अपनी अवगतिके लिये नहीं। यदि कहा जाय कि 'एकहीको कर्म और कर्ता मानना विरुद्ध है, अतः प्रमाताकी अवगतिके लिये भी अन्य प्रमाताकी अपेक्षा है' तो यह ठीक नहीं। ऐसा माननेपर उस प्रमाताकी अवगतिके लिये किसी अन्य प्रमाताकी तथा उसकी अवगतिके किये किसी दूसरे प्रमाताकी अपेक्षा होगी और इस तरह अनवस्था-दोष प्रसक्त होगा। साथ ही उसमें भ्रान्ति, संशय और अज्ञान भी नहीं दिखायी पड़ने हैं। जिसके अनुग्रहसे मातृ, मान और मेयका यथार्थ अवभास होता है, वह मातृ-मानकी अपेक्षा किये बिना सग्य आदिका अविषय होकर साक्षात् अपरोक्ष हो तो क्या आश्चर्य ? फिर भी अनादि, अनिर्वच्य, अचिन्त्य, महामहिमशालिनी भगवच्छ-क्तिभूत मायासे प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, सजातीय-विजातीय स्वगतमेदशून्य, अद्वय आनन्दका अस्तित्व भी जब निरोद्धित हो गया है, तब स्वप्रकाशता आदिका तो कहना ही क्या ? क्योंकि प्रत्यक्ष आदिसे स्फुरद्रूपप्रपञ्च ही सर्वत्र दिखायी पड़ रहा है। मायाके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है कि अर्थके बिना प्रतीत होती हुई भी जो आत्मामें प्रतीत नहीं होती, उसे ही आत्माकी माया समझना चाहिये—'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि । तद् विद्यादात्मनो मायाम्' (श्रीमद्भा० ७ । १ । ३३)।

अनधिगत अबाधित अर्थकी जतिस्वरूप प्रमाकी उत्पत्तिके लिये उसके कारणभूत प्रमाणोंकी अपेक्षा हुआ करती है; क्योंकि प्रमाणोंके अधीन ही प्रमेयकी सिद्धि हुआ करती है। प्रत्यक्षमात्र प्रमाण माननेवाले चार्वाक और तदनुयायी अन.त्माभिमुख साम्यवादी, समाजवादी आदि आधुनिक लोग आमसम्बन्धी बीजसे अङ्कुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पल्लव, पुष्प, फल और रसरूप परिणामकी तरह मस्तिष्क, मन, बुद्धि आदिकी तरह आत्माका भी परिणाम मानते हुए पृथिव्यादि चार भूतोंके अतिरिक्त तत्त्व तथा अर्थ, कामके अतिरिक्त पुरुषार्थ और प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाण नहीं मानते। इनमें कोई देहको, कोई चक्षुरादि इन्द्रियों और कोई प्राणको ही आत्मा मानते हैं।

प्रतिपत्ति (बोध) का फल सशय, विपर्यय तथा अज्ञानकी निवृत्ति है। प्रतिपादयिता (वक्ता) प्रनिपित्सित (ज्ञातव्य) पदार्थकी प्रतिपिपादयिषा (प्रतिपादनेच्छा) से वाणीका प्रयोग किया करता है। अनुमान एवं वाक्यको

प्रमाण न माननेवाले लोग परस्परके संशय, भ्रान्ति, अज्ञानको किस तरह जान सकेंगे, किस तरह उन्हें दूर करनेका प्रयत्न कर सकेंगे और किस तरह परप्रति-पित्सितको जाने बिना प्रेक्षावान् व्यक्ति अप्रतिपित्सित अर्थका उपदेश कर सकेंगे ? अतः अनुमान प्रमाण माने बिना 'अनुमान प्रमाण नहीं है' यह वचनप्रयोग भी अनुपपन्न है । साथ ही परप्रत्यक्षमें अनधिगत अबाधित तथा अनुमानमें उसका अभाव भी बिना अनुमान-प्रमाण माने कैसे जाना जा सकता है ? पशु-पक्षी भी मोदकादिका ग्रास हाथमें लिये हुए पुरुषोको देखकर उधर प्रवृत्त होते तथा दण्डादि देखकर अनिष्टकारणताका अनुमानकर उस ओरसे निवृत्त होते देखे जाते हैं ।

आत्मा इदंकारके आस्पद देह-इन्द्रिय, मन और विषयोंसे पृथक् 'मैं' इस तरह असंदिग्ध अविपर्यस्तरूपसे अपरोक्ष अनुभवसिद्ध ही हैं, क्योंकि 'मैं हूँ या नहीं हूँ' अथवा 'नहीं हूँ' ऐसे संशयका अनुभव नहीं होता । 'मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ, बोलता हूँ, जाता हूँ,' इत्यादि देहधर्मका सामानाधिकरण्य देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि अहंप्रत्यय देहविषयक होता है । यदि ऐसा ही मान ले तो बाल्य, यौवनादिका भेद होनेपर भी अहंप्रत्यालम्बनकी 'मैं वही हूँ, जो बाल्य-यौवन आदिमें था', ऐसी प्रत्यभिज्ञा न हो सकेगी, किंतु वैसी प्रत्यभिज्ञा होती है । अतः व्यावृत्त अनेक पुष्पोंमें अनुवृत्त एक सूत्रके समान बाल-युवा आदि अनेक व्यावृत्त शरीरोंमें अनुवृत्त एक अहंकारास्पद उन शरीरादिसे भिन्न आत्मवस्तु मानना अनिवार्य है ।

समस्त-व्यस्त बाह्य पृथ्वी आदि भूतोमे चैतन्यका उपलम्भ न होनेके कारण चैतन्यको भूतोका धर्म भी नहीं कहा जा सकता । यदि कहा जाय कि 'मद्याकारसे परिणत यवादिकणोंके अनुभूयमान मादक शक्तिके समान देहाकारसे परिणत भूतोंका ही धर्म चैतन्य शक्ति है' तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि देहके रहनेपर भी मृतावस्थामें चैतन्यका उपलम्भ नहीं होता । संयोगादिके समान जबतक देह रहता है, तबतक चैतन्य रहता है—यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि चैतन्यको तब रूपादिके समान विशेष गुण मानना पड़ेगा और ऐसा माननेपर यावद्देहभावित्वेन चैतन्यकी उपपत्ति सङ्गत नहीं हो सकती; क्योंकि भूत जैसे रूपरहित नहीं होता, वैसे ही देहको कभी चैतन्यरहित होकर नहीं रहना चाहिये, यही बात इच्छादिके सम्बन्धमे समझ लेनी चाहिये । मृतावस्थामें प्राणचेष्टादि नहीं दिखायी पड़ते, अतः यह भी मान लेना चाहिये कि उक्त देहधर्म आत्माके अधिष्ठानसे ही व्यक्त होते हैं । रूप आदि देहसम्बन्धी धर्मोंके अन्य व्यक्तिद्वारा प्रत्यक्ष होनेपर भी ज्ञान, इच्छा आदि आत्मधर्म अन्यसे प्रत्यक्ष नहीं किये जाते, अपितु वे स्वप्रत्यक्ष ही हुआ करते हैं ।

यदि समुदायभूत अवयवीको चेतयिता कहे तो एक भी अवयवके कट जानेपर अवयवी-समुदाय ही कट जायगा और इस तरह प्रेतत्वापत्ति होगी । इसे इष्टापत्ति भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अवयव कट जानेपर भी अवयवीमें चैतन्य उपलब्ध होता है । यदि प्रत्येक अवयवको चेतयिता माने तो बहुतोका अन्योन्याभिमुख होकर रहना सदा सम्भव नहीं है । उन परस्परभिमुखोंका स्वातन्त्र्य मानने या परस्पर प्रतिबद्ध सामर्थ्यवालोंका स्वातन्त्र्य अथवा विरुद्धदिशाकी ओर क्रिया करनेमें अभिमुखका स्वातन्त्र्य मानने किंवा परस्परका स्वातन्त्र्यपरस्परसे प्रतिबद्ध माननेपर या तो शरीर नष्ट हो जायगा या निष्क्रिय हो जायगा ।

देहके रहनेपर जीवित दशामें ज्ञान, इच्छा आदिके रहनेपर भी देहाभाव-दशामें उनकी सत्ता नहीं रहती, ऐसा नहीं कहा जा सकता । उनकी अनुपलब्धि होनेसे उनके असत्त्वका निर्णय नहीं किया जा सकता; क्योंकि विद्यमान रहनेपर भी व्यञ्जकके अभावमें उपलब्धि न होना सम्भव है । विभु (व्यापक) होनेके कारण जाति सर्वत्र विद्यमान रहनेपर भी व्यञ्जक व्यक्तिके अभावमें जैसे उसका उपलम्भ नहीं हुआ करता, वैसे ही व्यञ्जक देहके न रहनेपर चैतन्यका अनुपलम्भ उपपन्न हो सकता है । अथवा जैसे काष्ठ आदि अग्निके व्यञ्जक हैं, अतः उनके रहनेपर ही अग्निकी अभिव्यक्ति होती है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि काष्ठके अभावमें अग्निका अभाव होता है अथवा काष्ठ तथा अग्निका धर्म-धर्मिभाव है । धर्म धर्मिभावका निर्णय अन्वय-व्यतिरेक—दोनोंसे होता है, केवल अन्वयसे नहीं । यदि केवल अन्वयसे धर्म-धर्मिभावकी कल्पना करें, तो सबको आकाशका धर्म मानना पड़ेगा । यहाँ व्यतिरेक सदिग्ध है । देहान्तरसंचारसे आत्मामें उसके धर्मका अनुवर्तन सम्भव है, अतः उसके असत्त्वका निर्णय नहीं किया जा सकता ।

फिर दूसरी बात यह है कि भूतचतुष्टयके अतिरिक्त ईश्वर यदि न माना जाय तो विलक्षण देह, इन्द्रिय आदिरूपसे भूतोकी सहति कैसे सङ्गत हो सकती है ? अचेतन प्रकृति, परमाणु या विद्युत्कणोंमेंसे किसीको विविधविचित्रतायुक्त विश्वका रचयिता नही कहा जा सकता । यदि उन्हें विश्वनिर्माता माने तो आज भी वायुयान, बम आदि विविध वस्तुओंको भी अचेतननिर्मित मान लेना पड़ेगा । अदृष्ट या स्वभावको भी विश्वरचयिता नहीं कहा जा सकता; क्योंकि केवल प्रत्यक्ष-प्रमाणसे उनकी सिद्धि ही नहीं की जा सकती । यदि कार्यवैचित्र्यकी अन्यथा-अनुपपत्तिसे कारण वैचित्र्यकी कल्पना की जाय, तब तो कर्मवैचित्र्य और अकृता-यागम-कृतविप्रणाश आदिसे नित्य, सर्वनियामक आत्मा भी मान ही लेना होगा ।

चार्वाकलोग भूतचतुष्टयकी अपेक्षा और किसी तत्त्वका अस्तित्व नहीं मानते, अतएव रूपादि या चैतन्यादिको अन्यका परिणाम-भेद नहीं कहा

जा सकता, अपितु उन्हें भूतपरिणामभेद ही कहना पड़ेगा । तथाच भूतधर्म रूपादि जड़ होनेके कारण जैसे विषय हैं, विषयी नहीं, वैसे ही भूतधर्म । जड़ होनेके कारण चैतन्यको भी विषय मानना पड़ेगा, विषयी नहीं । यदि कहा जाय कि भूतधर्म होनेपर भी किन्हींका विषयित्व भी मान्य है, तो यह उचित नहीं, क्योंकि अपने-आपमें वृत्तिरूप विरोध होगा, जैसा कि अभी कहा गया ।

लोकायतिक पृथिव्यादि चार भूतोंके अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्वका अस्तित्व अङ्गीकार नहीं करते । भूत-भौतिक पदार्थोंके अनुभवको यदि चैतन्य वस्तु कहा जाय, तो वे विषय हैं, अतः अपने-आपमें क्रियाविरोधके कारण चैतन्यको उनका धर्म कहना उचित नहीं है । अग्नि दाहक होनेपर भी अपने-आपको नहीं जला सकता, सुगन्धिन भी नष्ट अपने स्कन्धपर नहीं चढ़ सकता । इसी प्रकार चैतन्य यदि भूत-भौतिकधर्म हो, तो वह भूत-भौतिकोको विषय नहीं कर सकता । रूप आदि अपने और दूसरेके रूपको विषय नहीं कर सकते, किंतु बाह्य, आध्यात्मिक भूत-भौतिकोको चैतन्य विषय करता है । यदि भूतादिविषयक चैतन्यरूप उपलब्धिका अस्तित्व मान लिया जाता है, तो भूतव्यतिरिक्त पदार्थका अस्तित्व भी मान लेना पड़ेगा । तथाच उपलब्धिस्वरूप आत्मा देहादिसे अतिरिक्त सिद्ध हो जाता है । 'मैंने उसे देखा था' जिस प्रकार अवस्थान्तरमें भी उपलब्धारूपसे प्रत्यभिज्ञान होने और स्मृति आदि उत्पन्न होनेके कारण उस स्वरूपात्माकी एकरूपता स्पष्ट है, अतः उसको नित्य माननेमें कोई आपत्ति नहीं । इस प्रकार दीपक आदिके रहनेपर यद्यपि उपलब्धि होती है, उसके अभावमें नहीं, तथापि उपलब्धिको जैसे दीपकका धर्म नहीं कहा जाता, वैसे ही देहके रहनेपर उपलब्धि होती है, उसके न रहनेपर नहीं, फिर भी उपलब्धिको देहका धर्म नहीं कहा जा सकता । दीपककी तरह केवल उपकरणमात्र मान लेनेसे भी देहका उपयोग उपपन्न हो जाता है । स्वप्नावस्थामें इस देहके निश्चेष्ट पड़े रहनेपर भी अनेक प्रकारकी उपलब्धियोंका होना अनुभव सिद्ध है, अतः यह स्पष्ट है कि चैतन्य भूत-भौतिकोका धर्म नहीं है ।

‘एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति’ इत्यादिके अनुसार यह नहीं कहा जा सकता कि देहादिसे व्यतिरिक्त होता हुआ भी आत्मा उन देहादिकोके साथ ही उत्पन्न होता है और उनके साथ ही विनष्ट हो जाता है । जन्मान्तरीय अदृष्टको माने बिना न तो देहादिका वैलक्षण्य उपपन्न हो सकता है और न प्राक्तन संस्कारोंके अभावमें शिशुकी स्तन्यपानमें प्रवृत्ति ही बन सकती है । अतः देहादिसे अतिरिक्त नित्य आत्मा मानना अनिवार्य है ।

इन्द्रियोंको आत्मा माननेवालोंके पक्षमें भी बहुत चेतन माननेवालोंके पक्षमें बतलाये दोष उपस्थित होते हैं । ‘मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, स्वाद लेता हूँ,

सँघता हूँ, स्पर्श करता हूँ, इच्छा करता हूँ' इत्यादि रूपसे एक आत्मविषयक अनुभव होनेके कारण देखने, सुनने, सूँघने, स्पर्श आदि करनेवालोंको परस्पर भिन्न नहीं कहा जा सकता । यदि भिन्न कहे, तो उनका विरोध ध्रुव है । अतः मन तथा इन्द्रियोक्ती अन्तर्वाह्यकरणता ही है, कर्तृत्व नहीं; क्योंकि 'कुठारसे छेदन करता हूँ, घोड़ेसे लॉघता हूँ' इत्यादिके समान 'आँखसे देखता हूँ, कानसे सुनता हूँ' इत्यादि व्यवहार दृष्टिगोचर होते हैं । चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रिय और मन, बुद्धि, अतीन्द्रिय होनेके कारण प्रत्यक्ष नहीं हैं । उलम्ब्यमान नेत्र आदिको इन्द्रिय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे स्वयं इन्द्रिय नहीं, अपितु उनके गोलक हैं । इसलिये गोलकका उपघात न होनेपर भी इन्द्रियका उपघात होनेसे विषयका ग्रहण नहीं होता । दहनकर्ता होता हुआ भी अग्नि जैसे अपना दहन नहीं करता, अपितु काष्ठ आदिका ही दहन करता है, वैसे ही इन्द्रियाँ भी स्ववृत्तिविरोधके कारण अपने अवगममें अक्षम होती हैं । देखना, सुनना, सूँघना, चलना, सोचना, जानना आदि क्रिया होनेसे करणपूर्वक होते हैं, इत्यादि अनुमानसे इन इन्द्रियोक्ता जान होता है । युगपद् जानानुत्पत्तिरूप लिङ्गसे मन आदि भी उसी प्रकार अनुमानगम्य हैं, अतः बिना अनुमान-प्रमाण माने कैसे इन्द्रियादिकी सिद्धि हो सकती है और इन्द्रियादिकी सिद्धि हुए बिना इन्द्रियात्मवाद कैसे सिद्ध हो सकता है ? बल्कि अचेतनोंकी प्रवृत्ति चेतनाधिष्ठित हुआ करती है, जैसे रथ आदिकी प्रवृत्ति अश्व, सारथी आदि चेतनोंसे अधिष्ठित होती है । इस वैज्ञानिकयुगमें भी स्वयंचालित विभिन्न यन्त्रोंमें सयोजक और प्रथमप्रवर्तक चेतन ही अपेक्षित हुआ करता है । इसे चाहे स्वभाव कहा जाय, किंतु इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि स्वभावको यदि असत् कहे तो वह कार्यकरणक्षम नहीं हो सकता । यदि सत् हो तो भी यदि वह अचेतन है तो उसकी भी वही स्थिति रहेगी । यदि स्वभाव चेतन है, तब तो नाममात्रका ही भेद हुआ ।

देहादिसंघात सघात होनेके कारण शय्या, प्रासाद आदिके समान परार्थ होता है । शय्या आदि पदार्थ जैसे अपनेसे विलक्षण किसी देवदत्त आदिके लिये होते हैं, वैसे ही देहादिसंघात भी अपनेसे विलक्षण आत्माके लिये ही हैं । देहादिसंघात जब कि अचेतन अनेकात्मक, अनित्य, दुःखरूप और अपूर्ण होते हैं, तब उनसे विलक्षण चेतन एक, असह्य, नित्य, पूर्ण, आनन्दरूप आत्मा सिद्ध होता है । साथ ही अचेतनोंकी प्रवृत्ति अचेतनके लिये नहीं, अपितु इष्टप्राप्ति तथा अनिष्टपरिहारके इच्छुक किसी चेतनके लिये ही होती है, यह मानना पड़ेगा । किसी भी अचेतन पदार्थमें न तो इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहारकी इच्छा दिखायी पड़ती है, न इष्ट अनिष्ट, सुख-दुःखकी प्राप्ति और परिहार ही ।

वैनाशिक बौद्ध (शून्यवादी) तीन प्रकारके होते हैं—(१) सर्वसत्तावादी, (२) विज्ञानमात्र सत्तावादी (३) और सर्वशून्यवादी। इनमें सर्वसत्तावादियोंके सिद्धान्तमें खरस्वभाव पार्थिव परमाणुओका सङ्घात पृथिवी, स्नेह, स्वभाव जलीय परमाणुओका सङ्घात जल, उष्णस्वभाव परमाणुओका सङ्घात तेज (अग्नि) और गतिस्वभाव वायवीय परमाणुओका सङ्घात वायु ये चार बाह्य पदार्थ हैं। इन्हे भूत भौतिकशब्दसे कहा जाता है। इन्गे प्रकार रूपा, विज्ञान, वेदना, सज्ञा और संस्कार ये पञ्चस्कन्ध अन्तर पदार्थ हैं। विषयसहित इन्द्रियाँ रूपस्कन्ध, विषयोंका ज्ञान-विज्ञान स्कन्ध, सुख-दुःखानुभव वेदनास्कन्ध, सविकल्पज्ञान सज्ञास्कन्ध और राग-द्वेषादि क्लेश संस्कार स्कन्ध हैं। इन्हे चित्त-चैत्तिक कहा जाता है। इन्ही पाँच स्कन्धोंका सङ्घात ही आत्मा है।

यद्यपि बौद्धोंका परम तात्पर्य शून्यवादमें ही है, तथापि हीन, मध्यम और उच्च आदि बुद्धिभेदसे इनके तीन भेद हो जाते हैं। यह बात बोधिचित्तविवरणमें स्पष्ट की गयी है—

देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगा ।
 भिद्यते बहुधा लोक उपायैर्विविधैः पुनः ॥ १ ॥
 गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिन्चोभयलक्षणा ।
 भिन्नाऽपि देशनाऽभिज्ञा शून्यताऽद्वयलक्षणा ॥ २ ॥

बुद्धोंके उपदेश शिष्योंके अभिप्रायके ही अनुसार होते हैं। जैसे-जैसे शिष्य बढ़ते हैं, व्याख्या भी बढ़ती जाती है। कहीं अत्यन्त गम्भीर, कहीं उत्तान इस तरहका उपदेश होता है, परंतु सबका तात्पर्य सर्वशून्यमे ही होता है।

इस तरह बाह्यभूत भौतिक और आध्यात्मिक चित्तचैत्तिक समुदाय ही वैभाषिक और सौत्रान्तिक बौद्धोंके मतमें आत्मा है। बाह्यार्थको केवल अनुमेय मानकर प्रत्यक्ष न माननेवाले बौद्ध—‘सौत्रान्तिक’ कहे जाते हैं। किंतु आन्तर विज्ञानके समान ही बाह्यार्थको भी प्रत्यक्ष सिद्ध माननेवाले बौद्धको वैभाषिक कहते हैं। इससे अतिरिक्त नित्यचेतन आत्मा नहीं है।

विचार करनेपर इन भूतभौतिको चित्तचैत्तिकोंका समुदाय नहीं बन सकता। कारण इनमें समुदाय अचेतन है। चेतन (ज्ञानवान्) कुलालादि ही मृत्तिका, चक्र, चीवर, आदि कारण कलाप एकत्रित कर समुदायी घटका निर्माता देखा गया है। मृत्तिका, चक्र, चीवर आदिके सञ्चालक चेतन कुलालादिके न रहनेपर अचेतन मृत्तिका दण्डादि स्वयं व्यापारवान् होकर घटकी रचना नहीं कर सकते। चेतनके न रहनेपर अचेतन तुरी-वेमा आदि कपड़ा स्वयं नहीं धुन लेते। इसलिये कार्योत्पादन क्षमतावाली सामग्री एकत्रित होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। कार्योत्पादनक्षम सामग्रीका एकत्रीकरण चेतन विचाराधीन है। यदि कहा जाय कि चित्त ही चेतन

है और इन्द्रियादि विषय सम्पर्क होनेपर स्वयं प्रदीप्त होकर यथायोग्य आवश्यकतानुसार कारण चक्रको प्रकाशित करता हुआ अचेतन करणोद्धार कार्य सम्पादन करता है तो यह भी ठीक नहीं; कारण-समुदाय सिद्धिके बाद ही चित्तका अभिज्वलन सिद्ध होगा; और चित्त अभिज्वलनके बाद समुदाय-सिद्धि होगी। इस प्रकार यहाँ इतरेतराश्रय दोष दुष्परिहर हो जायगा।

पहले जन्मकी चिन्ताभिदीप्ति उत्तरकालिक समुदायका सञ्चटन करती है यह भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि सञ्चटनके समयसे चित्तकी दीप्ति बहुत पहले ही बीत चुकी; अतः वह उत्तरकालिक सञ्चटनकी धमता नहीं रख सकती। कारण विन्यास-विशेषका जानकार ही कर्ता होता है। अन्वय-व्यतिरेकके बिना विन्यास-विशेष जाना नहीं जा सकता। अनवस्थायी क्षणिक चेतन अन्वय-व्यतिरेकका विज्ञाता हो नहीं सकता। भूतभौतिक-चित्त-चैत्तिक समुदायसे अतिरिक्त स्थिर सहन्ता-चेतन इस सिद्धान्तमें मान्य नहीं है। यदि माना जाय कि परस्परानपेक्ष असंनिहित कारण चेतन सन्निधापयिताके बिना ही कार्योत्पादन करेंगे, तो फिर सदा ही कार्यप्रसक्ति बनी रहेगी। परन्तु ऐसा है नहीं।

यदि कहा जाय कि अहंकारास्पद आलयविज्ञान ही पूर्वापरका अनुसन्धान करनेवाला है वही प्रतिष्ठाता (संनिहित करनेवाला) हो जायगा, तो यह भी ठीक नहीं। कारण यदि आलय-विज्ञान एक और नित्य माना जाय तो वह नामान्तरसे आत्मा ही सिद्ध होगा और यदि वह क्षणिक विज्ञान रहा तो पूर्वोक्त दोष तदवस्थ रहेगे। यदि कहे कि आलय-विज्ञान नहीं किन्तु उसका संतान (परम्परा) कारणोक्ता सन्निधापयिता होगा, तो वह भी उपेक्षणीय है; क्योंकि सतान यदि विज्ञानसे अभिन्न है तो क्षणिक होनेके कारण पूर्वोक्त दोष दुरुद्धर ही है; यदि भिन्न है तो नित्य-विज्ञान आत्मा ही सिद्ध हो गया तथा सभी पदार्थोंकी क्षणिकता माननेके कारण समुदायियोंकी प्रवृत्ति बन नहीं सकती। प्रवृत्तिके प्रथम क्षणमें तथा प्रवृत्ति-क्षणमें समुदायी रहे तभी उनकी प्रवृत्ति हो सकती है। क्षणिक होनेके कारण वे दो क्षण टिक नहीं सकते। भिन्नकालमें उनकी स्थिति मानी जाय तो आधाराधेयभाव नहीं बन सकता।

इस तरह समुदायकी सिद्धि नहीं हो सकती और समुदायसिद्धि न होनेपर तदाश्रित लोकयात्रा भी न बन सकेगी। इन्हीं दुरुद्धर दोषोंके कारण आजकल बौद्धलोग एक नित्य कूटस्थ आत्मा माननेकी बात करने लगे हैं तथा क्षणिकता अनित्यताको ही मान लेते हैं।

फिर भी बौद्धोंका कहना है कि यद्यपि बौद्धमतमें कोई स्थिरभोक्ता या प्रशासिता चेतन सामग्री सञ्चटन करनेवाला मान्य नहीं है, फिर भी अविद्यादि ही आपसमें एक-दूसरेके कारण होते हैं, अतः लोकयात्रा बन जाती है। लोकयात्रा उपपन्न हो जानेपर फिर और कुछ भी उपेक्षित नहीं है।

यहाँ संक्षेपमें बौद्धप्रक्रिया समझ लेनी आवश्यक है। बुद्धने प्रतीत्य-समुत्पाद-का वर्णन किया है। प्रतीत्य-समुत्पादके सूत्रक बुद्धसूत्र हैं—“उत्पादावा तथा गतानम्, अनुत्पादावा तथागतानं ठिताव सा धातु धम्म द्वितता धम्म (नियामकता इदप्पच्चयता इति रेवो भिक्खवे परिच्च समुत्पादोति संयुत” (कल्पतरु २।१ । २६।)

भामतीकार कल्पतरुकार आदिकोंने इन सूत्रोंकी स्पष्ट व्याख्या की है। सूत्रोंका संस्कृतरूप यह है—

उत्पादा तथागतानामनुत्पादाद्वा स्थितैवैषा धर्माणां धर्मता । धर्मस्थितिता धर्मनियामकता प्रतीत्य समुत्पादानुलोभता ॥”

सार यह है कि प्रत्येक कार्यमें दो प्रकारसे कारण सम्बन्ध होता है, हेतूप-निबन्ध एवं प्रत्येपनिबन्ध। प्रथम एकैककारण सम्बन्ध होता है, दूसरा कारणसमुदाय सम्बन्ध होता है। एक बीजरूपी हेतुका अङ्कुररूपी कार्यसे सम्बन्ध हेतूपनिबन्ध है। पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि अनेक कारणोंका अङ्कुरसे सम्बन्ध प्रत्येपनिबन्ध है। हेतुं हेतु प्रत्यन्ते इति प्रत्यया हेतुस्वन्तराणि मुख्य हेतुके प्रति सम्मिलित होनेवाले सहकारि कारण समूह प्रत्यय है ‘प्रत्ययाः सन्त्यस्मिन्निति प्रत्ययः’ अनेक प्रत्यय (कारण) जिस समवायमें हो वह प्रत्यय हेतुसमुदायका बोधक होता है।

“इदं प्रत्ययफलम्—इदं कार्यं प्रत्ययस्य कारणसमुदायमात्रस्य फलं न चेतनस्य कस्यचिदित्यर्थः” ।

अर्थात् कार्य इतरसहकारियोंसे सम्मिलित मुख्य हेतुरूप प्रत्ययका फल है। सारांश यह है कि अनेक सहकारी कारणोंसे युक्त मुख्य हेतु ही कार्यमात्रका कारण है। कोई चेतन या ईश्वर कारण नहीं है। हेतूपनिबन्धका सूत्रक है—उत्पादाद्वा तथा गतानामित्यादि” ।

“तथागतानां बुद्धानां मते धर्माणां कार्याणां कारणानाञ्च या धर्मता कार्यकारणभावरूपा एषा उत्पादाद्वा अनुत्पादाद्वा स्थिता, धत्ते इति धर्मः कारणम्, ध्रियते धर्मः कार्यम् यस्मिन्सति यदुत्पद्यते असति च नोत्पद्यते तत्तस्य कारणम् कार्यञ्च न कचित्कार्यसिद्धये चेतनोऽपेक्ष्यते ।

अर्थात् बुद्धोंके मतमें कार्य एवं कारणोंकी कार्यकारणभावरूप धर्मता उत्पाद एव अनुत्पादके अन्वय व्यतिरेकसे सिद्ध है। जिसके रहनेपर जो उत्पन्न होता है जिसके न रहनेपर जो नहीं उत्पन्न होता है वही कारण और कार्य है। जो उत्पन्न होता है वह कार्य है जिसके रहनेपर ही उत्पन्न होता है वही कारण है। धारण करनेवाला धर्म कारण है ध्रियमाण धर्म कार्य है।

इस प्रकार यहाँ उत्पादाद्वा अनुत्पादाद्वा इन पदोंका अन्वय-व्यतिरेक अर्थ हुआ। धर्मस्थितिता कार्यता है; क्योंकि कार्यरूप धर्म ही कारणको अतिक्रमण

कियं विना काल विग्रहमे स्थिति होती है। स्थिति गच्छमे स्वार्थमें ही तल प्रत्यय होनेसे स्थिति अर्थमें स्थितिताका प्रयोग है। धर्मनियामकता कारणता है। धर्म अर्थात् कारण कार्यके प्रति नियामक है।

यदि कहा जाय कि इस प्रकारका कार्यकारणभाव विना चेतनके नहीं हो सकता है, तो इसका समाधान है कि 'प्रतीत्य समुत्पादानुलोकता कारणे सति तत्प्रतीत्य प्राप्य समुत्पादानुलोमता प्रतीत्य समुत्पादानुसारिता या सैव धर्मता सा चोत्पादा सा नु व्यादात्मा धर्माणा स्थिता। न चेतनः कश्चिदुपलभ्यते'।

अर्थात् कारणके रहनेपर कारणको प्राप्त करके कार्य समुत्पादका अनुसरण करनेवाली धर्मता होती है। अन्वय-व्यतिरेकानुसारिणी कारण एव कार्यमें स्थित है। यह प्रतीत्य समुत्पाद दो कारणोंसे सिद्ध होता है। हेतूपनिबन्धसे तथा प्रत्ययोपनिबन्धसे। एक मुख्य कारणसे सम्बन्धित हेतूपनिबन्ध होता है, अनेक सहकारी कारणोंसे सम्बन्धित प्रत्ययसमवाय सम्बन्धित प्रत्ययोपनिबन्ध है। उनके भी दो भेद हैं। (१) बाह्य और (२) आध्यात्मिक।

(१) बाह्य—बीजसे अङ्कुर, अङ्कुरसे पत्र, पत्रसे काण्ड, काण्डसे नाल, नालसे गर्भ, गर्भसे शूक, शूकसे पुष्प और पुष्पसे फल होता है। इसमें बीजको ज्ञान नहीं होता कि मैं अङ्कुरको उत्पन्न कर रहा हूँ। इसी तरह अङ्कुर पत्र और पुष्प आदिको भी ज्ञान नहीं होता कि मैं अपनेसे पश्चात् उत्पन्न होनेवालोंको उत्पन्न कर रहा हूँ। इसी प्रकार अङ्कुर पुष्प फलादिको भी यह ज्ञान नहीं होता कि मुझे बीजने उत्पन्न किया है। यह बाह्य हेतूपनिबन्धका उदाहरण है।

छः धातुओंके समवायसे ही बीजसे अङ्कुर हो सकता है अन्यथा नहीं। इसमें पृथिवी धातु बीजका संग्रह करती है। जिससे अङ्कुर कठिन हो जाता है, जलधातु स्नेह व तेजधातु परिपाक करता है। वायुधातु बीजसे अङ्कुरको ऊपर फेकता है, और आकाश धातु बीजका अवयव अलग करता है। ऋतु भी बीजका परिपाक करता है। अविकल छः धातुओंके समुदायसे ही बीज अङ्कुररूपमे परिणत होता है। इनमें न तो पृथिवी धातुको यह ज्ञान रहता है कि हमने बीजका संग्रह-कृत्य किया है और न तो ऋतुको ही ज्ञान होता है कि हमने बीजका परिणाम किया है। साथ ही अङ्कुरको भी यह ज्ञान नहीं होता कि मुझे इन धातुओंने बनाया है। यह बाह्य प्रत्ययोपनिबन्धका उदाहरण है।

(२) आध्यात्मिक—इसी तरह अविद्यासे संस्कार, संस्कारसे जन्म तथा जन्मसे जरा और मृत्यु होती है। अविद्याको ज्ञान नहीं होता कि मैंने संस्कारको बनाया है और न संस्कारको ही ज्ञान होता है कि मुझे अविद्याने बनाया है। यह आध्यात्मिक हेतूपनिबन्धका उदाहरण है।

इसी तरह पृथिवीसे तेज, वायु, आकाश और विज्ञानधातुओके समवायसे शरीर बनता है। पृथिवी धातुसे शरीरकी कठिनता और जलसे शरीरका स्नेह होता है। तेजधातु भुक्त-पीतका परिपाक करता है, वायुधातु श्वास-प्रश्वासादि करता है, आकाश शरीरके भीतर अवकाश प्रदान करता है। विज्ञानधातु पञ्चज्ञानेन्द्रिय युक्त मनोविज्ञानको उत्पन्न करता है। यह आध्यात्मिक प्रत्ययोपनिबन्धका उदाहरण है।

इन छः धातुओकी जो पिण्ड संज्ञा, पुद्गल संज्ञा (परमाणुसंज्ञा) मनुष्य संज्ञा, अहंकार-संज्ञा, ममकार-संज्ञा यह अविद्या है। यही अविद्या संसारका (अनर्थ सामग्रीका) मूल कारण है। अविद्याजन्य राग-द्वेष-मोहात्मक संस्कार विप्रयोमें प्रवृत्ति कराते हैं। वस्तु-विषयज्ञान ही विज्ञान है। इन सबको एक प्रकारसे नामरूप कह सकते हैं। शरीरकी कलल बुद्बुद आदि अवस्था और नामरूप मिश्रित इन्द्रियो षडायतन कही जाती हैं। नामरूप इन्द्रियोका सम्बन्ध ही स्पर्श है। स्पर्शसे सुख-दुःखादि वेदना होती है। वेदनाके अनन्तर मुझे सुखप्राप्तिके लिये यह कार्य फिर करना चाहिये ऐसा निश्चय तृष्णा है।

उसमें वाणी शरीरकी चेष्टा है, उसका नाम उपादान है। उससे धर्माधर्म होते हैं। उसका नाम भव है उसीसे जन्म होता है। जन्मसे ही जरा-मृत्यु होती है, उससे अन्तर्दाह शोक होता है, शोकसे विलाप, दुःख और दौर्मनस्य होता है। यह परस्परहेतुक अविद्यादि सार्वजनिक अनुभवसिद्ध हैं। इनका अपलाप नहीं किया जा सकता। ये जन्मादिहेतुक अविद्यादि और अविद्यादिहेतुक जन्मादि चक्र घटीयन्त्रके समान निरन्तर चलता रहता है, तथा यह सार्वजनिक अनुभवसिद्ध है। अतः इनका अपलाप भी नहीं हो सकता, क्योंकि इनसे सद्भातका अर्थतः आक्षेप हो जायगा।

इस तरह बौद्धमतके अनुसार कोई अनुपपत्ति नहीं, परंतु बौद्धोंका यह कथन भी ठीक नहीं, कारण प्रत्ययोपनिबन्धमें नाना कारणोंका समवधान आवश्यक है। बिना किसी चेतनके अनेक कारणोंका एकत्र होना नहीं बन सकता।

यदि कहा जाय अन्त्यक्षणप्राप्त क्षित्यादि अङ्गुरका उत्पादन करते हैं, उनका उपसर्पण स्वभाव है इसलिये समवधान भी हो जायगा तो फिर किसानको कृषि करनेकी क्या आवश्यकता है ?

भण्डारमें रखे बीज अङ्कुरित हो जायेंगे और सारा कार्य बिना चेतनका ही हो जायगा, किंतु ऐसा होता नहीं। इसलिये बिना कर्ताके सद्भातका बनना असम्भव है। जो कहते हैं कि अविद्यासे सद्भातका अर्थात् आक्षेप हो जायगा इसका क्या तात्पर्य है ? यदि यह तात्पर्य है कि अविद्यादि बिना संघात टिक नहीं सकते—इसलिये उन्हें संघातकी अपेक्षा है; फिर तो संघातका निमित्त बतलाना चाहिये।

यदि यह अभिप्राय हो कि अविद्यादि ही सघातके निमित्त हो जायेंगे तो सघातके ही सहारे टिकनेवाले सघातके निमित्त कैसे होंगे । यदि ऐसा माना जाय कि ससारमे प्रवाहरूपसे सघात चले आ रहे हैं और उनके सहारे ही अविद्यादि रहते हैं, तो फिर यह प्रश्न होगा कि एक सघातसे जो दूसरा सघात उत्पन्न होता है, वह नियमतः उसके सदृश ही होता है, अथवा अनियमित विसदृश ?

यदि नियमतः सदृश होता है तो मनुष्य पुद्गल (मनुष्यपरमाणु) कभी देवयोनि या तिर्यग्योनि नहीं बन सकती, यदि नियम नहीं है तो मनुष्य-पुद्गल कभी क्षणमे हाथी बनकर क्षणमे सिंह और क्षणमें पुन देवता एव क्षणमें फिर मनुष्य बन सकता है, परंतु ऐसा नहीं होता—यह दोनों ही प्रकार लोकसिद्ध न्याय-विरुद्ध है ।

दूसरी बात यह है कि सुगत सिद्धान्तमें सघातका भोक्ता स्थिरजीव तो कोई होता नहीं, फिर तो भोग भोगके लिये, मोक्ष मोक्षके लिये ही होगा । किसी दूसरे पुरुषसे प्रार्थनीय पुरुषार्थ नहीं होगा । यदि भोग और मोक्ष दूसरेमे प्रार्थनीय माने जायें तो भोग मोक्षकालमे उनकी स्थिति रटनी चाहिये । फिर तो क्षणभङ्गवादका सिद्धान्त ही भङ्ग हो जायगा । अतः अविद्यामें भले ही परस्पर कार्य कारणभाव हो, परंतु उनसे सघातसिद्धि नहीं हो सकती ।

सार यह है कि भले ही हेतूपनिवद्ध कार्य अन्यान्यपेक्ष केवल मुख्य हेतुके अधीन उत्पन्न होनेवाला होनेसे कथञ्चित् उत्पन्न हो जाय (यद्यपि चेतनाधिष्ठित ही बीजसे अङ्कुर उत्पन्न होता है जैसे कुलालाधिष्ठित मृत्तिकासे घट) फिर भी पञ्चस्कन्धसमुदाय तो प्रत्ययोपनिवद्ध है, वह एक हेतुमात्रके अधीन उत्पन्न नहीं होता है । किंतु उसमें नाना हेतुओका समवयान अपेक्षित होता है । चेतनके बिना नाना हेतुओका एकत्रीकरण नहीं हो सकता ।

बीजसे अङ्कुरोत्पत्ति भी धरणी अनिल जलादि सहकारी सापेक्ष होनेसे प्रत्ययोपनिवद्ध ही है, अतः वह पक्ष कुक्षिमें निक्षिप्त है । इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि चेतनानधिष्ठित बीजसे अङ्कुरोत्पत्तिके समान चेतनानविष्ठित अचेतन अविद्या आदिसे उत्तरोत्तर कार्य उत्पन्न होंगे, क्योंकि बीजसे अङ्कुरोत्पत्ति भी पक्ष-कोटिमें ही है । वहाँ भी चेतनानविष्ठितत्व सिद्धाधियुक्त है, वह दृष्टान्त नहीं हो सकता ।

कुम्भकाराधिष्ठित मृत्तिकासे घटोत्पत्ति होती है यह दृष्टान्त निर्विवाद तथा वादि-प्रतिवादि उभयसम्मत है । परंतु चेतनानविष्ठित बीजसे अङ्कुरकी उत्पत्ति तो विवादास्पद एव सदिग्ध है । इसीलिये वह सदिग्ध साध्यवान् होनेसे पक्ष है, दृष्टान्त नहीं हो सकता ।

यदि पक्षको लेकर व्यभिचारका उद्भावन किया जाय तो अनुमान माताका उच्छेद हो जायगा । ऐसी स्थितिमे पर्वत पक्षमें ही धूमका वह्नि व्यभिचार

दिखाया जा सकता है। इस तरह अधिष्ठातारूप अर्थात् अनेक कारणोंके सनिधायक रूपसे एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् चेतन कारणका मानना बौद्धोंके लिये अनिवार्य होगा।

यद्यपि बौद्ध कहते हैं कि अनपेक्षित बीज एवं क्षित्यादि अन्त्यक्षणको प्राप्त होकर अङ्कुरका आरम्भ करते हैं। उपसर्पण प्रत्ययवशसे परस्पर समवधान होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि एक ही कारणसे कार्यसिद्धि हो सकती है। यदि एक कारणसे कार्यसिद्धि हो जाय तो अन्य कारणोंकी अपेक्षा ही क्या रह जायगी। अतः कारणचक्रके अनन्तर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। अतः एक कारण कार्योत्पत्तिका साधक नहीं।

जड़कारण स्वयं प्रेक्षावान् नहीं होते अतः वे यह नहीं सोच सकते कि हमसे एक भी कार्य सम्पन्न कर सकता है फिर हम सबके सनिधानसे क्या लाभ किंतु उपसर्पण प्रत्ययवशात् उनमें परस्पर सनिधान उत्पन्न होता है। वे न तो असनिहित रह सकते न अनुत्पादक रह सकते हैं। उन अनपेक्ष कारणोंको प्राप्त करके कार्य भी न उत्पन्न होनेमें असमर्थ ही रहता है। स्वमहिमासे सब कारण कार्योंका उत्पादन करते हुए भी नाना कार्योंका उत्पादन नहीं कर सकते। एक ही कार्यकी उत्पत्तिमें उनका सामर्थ्य होता है। बीजके द्वारा अङ्कुरजननमें ही मृत्तिका जलादिकी सहकारिता होती है। अतः उनके द्वारा भी उस अङ्कुरकी ही उत्पत्ति होती है। कारणभेदसे कार्यभेद आवश्यक नहीं, क्योंकि सामग्री एक होनेसे ही कार्य एक होता है।

परंतु बौद्धोंका यह कथन असंगत है, क्योंकि यदि अन्त्यक्षणप्राप्त कारण स्वयं कार्यजननमें अनपेक्ष ही रहते हैं, अर्थात् किसीकी अपेक्षा नहीं रखते हैं तो इसी क्रमसे पूर्व पूर्वके कारण भी स्वकर्मजननमें अनपेक्ष ही रहेगे।

कुसूलमें अङ्कुरजननोपयोगी बीजसंताननिर्वर्तक बीजक्षण और भक्षणादि उपयोगी बीजक्षण भी हैं। यद्यपि इस सम्बन्धमें यह विरोधी अनुमान नहीं किया जा सकता है कि कुसूलगत विगतबीजक्षण (अर्थात् अङ्कुरोपजननोपयोगी बीजसंताननिर्वर्तकबीजक्षण) अनपेक्ष होकर बीजक्षणका जनन नहीं करता। कुसूलस्थ होनेके कारण “जैसे तत्कालोद्भूतभक्षित बीजक्षण अनपेक्ष होकर बीजक्षण नहीं जनन करता है”। परंतु इस अनुमानमें अङ्कुरोपयोगि सतानानन्तःपातित्व उपाधि है। अनपेक्ष बीजक्षणाजनकत्वरूप साध्य तत्काल भक्षित बीजक्षणमें है। उसमें अङ्कुरोपयोगि सन्तानानन्तः पातित्व है, कुसूलस्थत्वरूप साधन अङ्कुरोपयोगि संताननिर्वर्तक बीजक्षणमें है। परंतु वहाँ उपाधि नहीं है, अपितु अङ्कुरोत्पादनोपयोगि संतानानन्तः पातित्व ही है।

अतः कुसूलस्थताकी समानता होनेपर भी जिस कुसूलस्थ बीजको स्वकार्यक्षण परम्परासे अङ्कुरोत्पत्ति समर्थ बीजक्षण जनन करता है, वह बीजक्षण स्वकार्यजननमें

अनपेक्ष ही रहेगा । फिर इसी तरह तदनन्तरानन्तरवर्ती सभी वीजक्षण अनपेक्ष ही रहेंगे फिर तो कुसूलनिहित बीजोंमें ही किसान कृतकार्य हो जायगा, पुनः दुःख बहुल कृषिकार्य करनेकी उसे क्या आवश्यकता ?

क्योंकि जिस वीजक्षणको स्वक्षण परम्परासे अङ्कुरउत्पन्न करता है उसकी क्षण-परम्परा अनपेक्ष कुसूलमें ही अङ्कुरादि सम्पादन कर देगी, जब यह सर्वथा निरपेक्ष है तो उसे देशकालकी अपेक्षा ही क्यों होगी ?

इसीलिये यह मानना आवश्यक है कि— अन्त्य मध्य या पूर्व क्षण स्वकार्य-जननमें परस्पर सापेक्ष ही रहते हैं । तदर्थ कारणोंका समवधान (एकत्रीकरण) आवश्यक है । वह प्रेक्षावान् चेतन ही हो सकता है ।

बौद्ध कहता है कि अविद्यादिके द्वारा ही सघातका आक्षेप होगा । यहाँपर उससे प्रश्न होता है कि आक्षेपका क्या अर्थ है ? उत्पादन या ज्ञापन ! पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि कारण स्वयं अनुपपन्न होकर कार्यका उत्पादन नहीं कर सकता किंतु वह स्वसामर्थ्यसे ही कार्यका जनन करता है, अतः दूसरा ही पक्ष कहना पड़ेगा कि कारण सघातका आक्षेप करते हैं अर्थात् ज्ञापन करते हैं । तथा च ज्ञापित सघातका उत्पादक तो अन्य ही होना चाहिये । ज्ञापक ही उत्पादक नहीं होता ।

यदि वैशेषिकोंके स्थिर पक्षमें स्थिर भोक्ता आत्माके रहनेपर भी अधिष्ठाता चेतनके बिना सघातोत्पादन नहीं हो सकता तो फिर क्षणिकवादमें सघात कैसे बन सकेगा ? भोक्ताका भोग भी कभी सघातका कल्पक हो सकता है, परंतु क्षणिक विज्ञान आदि तो भोक्ता भी नहीं हो सकते ।

प्रत्ययोपनिबन्ध-पक्षमें अनेक कारण-उपकार्योपकारक भावसे अवस्थित होकर ही कार्यजनन करेंगे यह बौद्धोंको मानना पड़ेगा । परंतु क्षणिक पक्षमें उपकार्योप-कारकभाव हो ही नहीं सकता । कारण इस पक्षमें कोई स्थिर भाव मान्य नहीं है जो उपकारका आस्पद बने ।

क्षण इतना सूक्ष्म एवं अमेद्य होता है कि क्षणिक-पदार्थमें उपकारकता या उपकार्यता कुछ बन ही नहीं सकती । यदि कालभेद मानकर उपकार्योपकारभावका उपपादन किया जाय तो अनेक कालावस्थायी होनेसे फिर वही क्षणभङ्गु भङ्ग होगा ।

बौद्ध कहते हैं कि यदि प्रत्ययोपनिबन्धन प्रतीत्य समुत्पाद माना जाय तो भले ही अधिष्ठाता चेतनकी अपेक्षा हो, परंतु हेतूपनिबन्धन प्रतीत्य समुत्पादमें तो अधिष्ठाताकी कोई आवश्यकता नहीं है तथा च अविद्यादि ही सघातके निमित्त होंगे । हेतुस्वभावमें ही कार्य-सम्पादन कर देंगे । परंतु उनका यह भी कथन विचार सह नहीं है, क्योंकि सघातके ही आवारपर मिद्व होनेवाले अविद्यादि उसी सघातके निमित्त कैसे बन सकेंगे ?

इसके अतिरिक्त हेतूपनिबन्धन कार्यमें भी चेतनाविधित ही अचेतन कारण कार्योत्पादक होता है । यह घटोत्पत्तिके उदाहरणसे कहा जा चुका है ।

बौद्ध कहता है कि प्रत्ययोपनिबन्ध पक्षमें अस्थिरके भाव सदा संहत ही उत्पन्न होते हैं, संहत ही नष्ट होते हैं यह नहीं कि वे इतस्ततः विखरे रहते हैं और किसीके द्वारा संहत किये जाते हैं। इस प्रकार समवघाटकचेतन अधिष्ठाताकी कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु उसका यह भी कथन युक्तिसह नहीं है अतः यहाँ भी प्रश्न होता है कि—संघात संतानमें रहनेवाले धर्माधर्मरूपी संस्कार संतान सुख-दुःखको पैदा करते हुए किसी आगन्तुक हेतुकी अपेक्षा करके सुख-दुःख पैदा करेंगे या निरपेक्ष ही।

यदि आगन्तुक हेतुकी अपेक्षा बिना किये ही सुख-दुःख पैदा करे तो सदा ही उन्हें सुख-दुःख जनन करना चाहिये; क्योंकि जो समर्थ एवं निरपेक्ष है उसके कार्यजननमें विलम्ब क्यों होगा। यदि किसी आगन्तुक हेतुकी अपेक्षा करेगा, तब तो आगन्तुक हेतुका उपस्थापक कोई प्रज्ञवान् चेतन मानना आवश्यक हो जायगा। साथ ही यदि संघातके सदृश ही संघातान्तर उत्पन्न होंगे, तो सदा ही मनुष्य-संघात मनुष्य-संघात ही होगा। फिर कर्मानुसार अनेक योनियोंमें जन्म लेनेकी बात खण्डित होगी।

यदि विसदृश संघातकी उत्पत्ति मान्य होगी तो क्षणमे हस्ती, क्षणमें अश्व होना चाहिये। इत्यादि दोष अनिवार्य होंगे। अविद्यादि उत्पत्तिके निमित्त भी नहीं बन सकते हैं। क्योंकि क्षणभङ्गुवादमे उत्तर क्षणके उत्पद्यमान होनेपर पूर्वक्षण नष्ट हो जाता है।

वैशेषिक तो विनाश कारणके सनिधानसे विनाश मानता है। इसके विपरीत बौद्ध अकारण ही विनाश मानता है। इस स्थितिमें—पूर्वोत्तर क्षणका कार्यभाव कारण कथमपि नहीं बन सकता; क्योंकि विरुध्यमान या विरुद्ध पूर्वक्षण स्वयं अभावग्रस्त होगा। अतः वह उत्तर क्षणका हेतु नहीं हो सकता। कार्योत्पादके प्राक्कालमें कारणकी सत्ता सार्थक होती है। कार्यकालमें कारणकी सत्ताका कोई उपयोग नहीं होता; क्योंकि कार्यकालमे तो कार्यनिष्पन्न ही होता है। भावभूत पूर्व क्षण उत्तर क्षण का हेतु हो तब तो क्षणद्वयसम्बन्ध होनेसे क्षणिकता ही न रहेगी।

लोकमें कोई भी भाव सत्तावान् होकर पुनः व्यावृत्त होकर कार्यसम्पादन करता है। इससे अनेक क्षण सम्बन्ध होनेसे स्थिरता ही सिद्ध होती है।

बौद्ध कहता है कि—भाव ही उसका व्यापार है, जैसा कि कहा है कि :—

‘भूतिर्बेषां क्रिया सैव कारकं सैष चोच्यते।’

अर्थात् पदार्थोंकी जो उत्पत्ति होती है वही उनकी क्रिया, कारक तथा कारण है। परंतु पदार्थोंमें इस प्रकारकी व्यापारवत्ता भले ही बन जाय तथापि वह कारण नहीं हो सकता; क्योंकि लोकमें देखा जाता है कि मृत्तिकाकार्य घटादि मृत्तिकासे एवं सुवर्णका कार्य कटक-कुण्डलादि सुवर्णसे समन्वित होते हैं। यदि कार्यके समय

कारण न रहे तो कार्यमें मृत्तिका सुवर्णादिकी प्रतीति कैसे बन सकती है ? यदि कार्य-क्षणमें कारणकी सत्ता मानी जाती है तो भी क्षणिकत्वकी हानि होगी ।

बौद्ध कहते हैं कि कार्यमें कारणका तादात्म्य नहीं होता किंतु सादृश्य होता है, परंतु कार्यमें जब कारणके किसी रूपका अनुगम हो तभी सादृश्य भी हो सकता है । यदि किसी अनुगमका रूप मान लिया जाय तब तो वही अनुगत रूप ही कारण है फिर तो उसके साथ कार्यका तादात्म्य (अभेद) मानना ही ठीक है । ऐसी स्थितिमें भी क्षणिकत्वकी हानि अग्रहार्य ही है ।

यदि हेतुस्वभावका कार्यमें अनुगमन होनेपर भी कार्यकारणभावं स्वीकार किया जायगा, तब सर्वत्र कार्यकारणभाव ही प्रसक्त रहेगा फिर तन्तु-घटका भी कार्यक्षणभाव मानना पड़ेगा ।

बौद्धोंके सिद्धान्तमें 'तद्भावे तद्भावः' आदि अन्वय-व्यतिरेकद्वारा कार्य-कारण भावका नियम माना जाता है तथा च तन्तु-घटका कार्य-कारणभाव नहीं होगा, क्योंकि उनको अन्वय-व्यतिरेक नहीं है । किंतु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक ग्रह एकक्षणमें नहीं हो सकता, उसके लिये वस्तुको अनेक क्षणस्थायी मानना पड़ेगा । यदि कार्य-कारण सत्तानो या सामान्योका कार्य-कारणभाव माने और उन सत्तानोको स्थायी माने तो यह भी ठीक नहीं । कारण-व्यक्तियोंमें ही कार्य-कारणभाव होता है, सत्तानो या सामान्योमें नहीं । यदि उनमें भी कार्यकारणभाव माना जाय और उन कारणभूत सत्तानो या सामान्योको स्थायी माना जाय तो भी क्षणिकत्वकी हानि हुई ही ।

बौद्धोंसे यह भी प्रश्न होता है कि उत्पाद और विनाश वस्तुस्वरूप ही है या वस्तुके अस्वान्तर अथवा वस्तुसे भिन्न वस्त्वन्तर हैं ?

यदि वस्तुके स्वरूप ही हैं तो वस्तु और उत्पाद-विनाश परस्पर पर्याय हो जायेंगे । यह लोकविरुद्ध हैं । उत्पाद-विनाश और वस्तुको कोई पर्यायवाचक नहीं मानता ।

यदि कोई विशेषता वस्तुकी अपेक्षा उत्पादनरोधमें है, तब तो कहना पड़ेगा कि मध्यवर्त्ति वस्तुकी उत्पाद और निरोध-आदिम एव अन्तिम अवस्था है । तब फिर आद्य मध्य तथा अन्त्यक्षण सम्बन्धी होनेके कारण वस्तुमें स्थिरता हो जायगी फिर क्षणिकत्व समाप्त हो जायगा ।

यदि उत्पाद-निरोध—अध्वमहिषके तुल्य वस्तुसे अत्यन्त भिन्न माने जायें तो वस्तुके उत्पाद-विनाशसे रहित होनेके कारण उसको शाश्वतता सिद्ध हो जायगी । यदि वस्तुका दर्शन उत्पाद एव वस्तुका अदर्शन विरोध माना जाय तो भी दर्शना-दर्शन तो पुरुषके धर्म होंगे, वस्तुधर्म नहीं, इस प्रकार भी वस्तु तो शाश्वत ही ठहरेगी, इस प्रकार विवेचन करनेपर क्षणिकत्ववादमें अविद्यादि हेतुनिबन्धदृष्टिसे भी उत्पत्ति निमित्त नहीं हो सकते ।

यदि बिना हेतुके ही कार्योत्पत्ति मानी जाय तो बौद्धकी प्रतिज्ञा-हासि होगी; क्योंकि—

‘चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्यचित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते’ अर्थात् चतुर्विध हेतुओंके प्राप्त करके चित्त-चैत्त उत्पन्न होते हैं । नीलाभास चित्तमे नीलालम्बन-प्रत्ययसे नीला कारता समनन्तर-प्रत्ययरूप पूर्व विज्ञानसे बोधरूपता, चक्षुरूप अधिगतिप्रत्ययसे रूप-ग्रहणका नियम और आलोकरूप सहकारी प्रत्ययसे स्पष्टार्थता होती है । चित्त-चैत्तोंकी उत्पत्तिमें इस प्रकार चतुर्विध हेतुओंकी प्राप्ति मानी जाती है । सुखादि चैत्तोंमें भी इसी प्रकारका कार्यकारणभाव माना जाना चाहिये । परंतु वहाँ विज्ञानसे अतिरिक्त दूसरे अन्य तीन कारणोंकी सिद्धि नहीं होती । यदि निर्हेतुक उत्पत्ति मानी जायगी तब तो कोई प्रतिबन्ध न होनेके कारण सभी वस्तु सर्वत्र उत्पन्न होती रहेगी ।

बौद्ध यह भी कहते हैं कि उत्तरक्षणकी उत्पत्तितक पूर्वक्षण अवस्थित रहता है । पर ऐसा माननेसे हेतुफल दोनोका यौगपद्य (समकालत्व) होगा । उत्पत्ति उत्पद्यमानसे अभिन्न होती है तथा च एक क्षण दूसरे क्षणतक रह गया फिर तो क्षणिक कैसे ? ऐसी स्थितिमें सभी पदार्थ संस्कृत एवं क्षणिक हैं यह बौद्धोंकी प्रतिज्ञा भंग हो जायगी । बौद्ध यह भी कहते हैं कि प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश इन तीनोंसे अन्य जो कुछ भी है वह सब बुद्धि बौद्ध है, संस्कृत है, क्षणिक है । यह तीनों अवस्तु स्वभाव (निरूपाख्य) है । बुद्धिपूर्वक भावोंका विनाश प्रतिसंख्या-निरोध तद्विपरीत अप्रतिसंख्यानिरोध होता है । एवं आवरण-भावमात्र आकाश है । आकाशपर विचार आगे किया जायगा । ये दोनो निरोध सर्वथा असम्भव हैं । यहाँ प्रश्न उठता है कि ये दोनो निरोध संतानके होंगे या भावरूप संतानीके ?

पहला पक्ष ठीक नहीं । कारण, सभी सतानोंमें सतानियोंका अविच्छिन्न कार्यकारणभाव विद्यमान ही है फिर सतानविच्छेद कैसे होगा ? दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि किसी भी भावोंका निरन्वय नाश नहीं होता, सभी अवस्थाओंमें प्रत्यभिज्ञाबलसे अन्वयीकारणका अविच्छेद ही रहता है । घट, कपाल, कपालिका, चूर्ण, रज आदि सर्वत्र मूल कारण मृत्तिका अन्वित ही रहती है । जहाँ अन्वयीकी पहचान नहीं होती वहाँ भी अन्यत्रकी तरह अनुमान किया जा सकता है । अतः दोनो ही निरोध असम्भव हैं ।

अभिप्राय यह है कि भावप्रतीपा ‘वाधिका’ बुद्धि प्रतिसंख्या कहलाती है, उसके द्वारा निरोध ही प्रतिसंख्यानिरोध है । सत्को असत् बनानेकी बुद्धि ही भावप्रतीप बुद्धि है । तत्कृतनिरोध प्रतिसंख्यानिरोध है । उससे भिन्न निरोधको अप्रतिसंख्यानिरोध कहने हैं । परंतु यहाँ विचार यह करना है कि यह निरोधसंतानका होगा या संतानीक्षणका । सताननिरोध तो हो नहीं सकता, क्योंकि हेतुफलभावसे व्यवथित

सतानी ही उपकव्यय धर्मवाले होते हैं सतान नहीं अतः उसका निरोध अगम्य है। अन्तिम सतानीके निरोधसे ही सताननिरोध हो सकता है। पर क्या वह अन्तिम सतानी किसी कार्यका आरम्भ करता है या नहीं। यदि आरम्भ करता है तो उसमें है। अन्तिमत्व ही कहाँ रहा? तथा च सतान विच्छेद भी नहीं हुआ, यदि वह कार्यका आरम्भ नहीं होता तब वह अन्त्य तो हो सकता है, परतु वह तो अर्थ-क्रियाकारितारहित होनेसे अपत् ही ठहरेगा। अर्थक्रियाकारिता ही बौद्धोकी सत्ता है।

इम तरह जब कार्यानारम्भक अन्त्यक्षण अर्थक्रियाशून्य होनेसे असत् है तब उसका जनक भी असत्का जनक होनेसे असत् ही होगा। इसी क्रमसे सभी सतानी और सतान असत् ही ठहरेंगे, ऐसी स्थितिमें प्रति सख्यासे किसका विनाश होगा?

बौद्ध कहते हैं कि सजातीय सतानियोका कार्यकारण-भाव ही सतान है, केवल कार्यकारण-भाव ही सन्तान नहीं तथाच विशुद्ध जातीयक्षण (यहाँ क्षय शब्दका क्षणवर्ती पदार्थरूप अर्थ विवक्षित है) की उत्पत्ति होनेपर सजातीय हेतुक्षणभाव की निवृत्ति हो जाती है। इस तरह सजातीय कार्यानारम्भक होनेसे सतानका अन्तिम क्षण अन्त्य भी है। विशुद्ध विजातीय क्षणका आरम्भक होने तथा अर्थक्रियाशून्य न होनेसे अपत् भी नहीं हुआ। परतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह तो रूपविज्ञानके प्रवाहमें रसादिविज्ञानकी उत्पत्तिसे भी सतानोच्छेद समझा जायगा। कारण कि यहाँ भी विजातीय क्षणका आरम्भ हुआ है।

यदि कहा जाय कि रूपविज्ञान रसविज्ञानका सजातीय ही है तो विजातीयोंमें भी कुछ-कुछ सारूय रहता ही है। अन्ततः सत्तारूपसे तो साजात्य रहेगा ही जिससे कहीं भी सतानोच्छेद सम्भव नहीं। सतानी ज्ञानोका सादृश्यतुल्य जातीय विषयत्व ही है। विषयोकी तुल्यजातीयता क्या रूतव आदि अरजतिसे माना जाय? या सत्ता सामान्यरूप परजातिसे माना जाय? पहली बात ठीक नहीं, क्योंकि सतानके अनुवर्तमान रहनेपर भी रूपज्ञान सतानके विरत होनेके पश्चात् रसज्ञान उदित होगा, इसके बाद सतानोच्छेदका प्रसङ्ग होगा।

यदि परजातिसे विषयोकी तुल्यजातीयता माने तो सोपपन्न सतानके उपरम होने तथा विशुद्ध सतानोदयमें भी सतानोच्छेद नहीं होगा, क्योंकि परजातीयसत्ता मात्रको लेकर सोपपन्न ज्ञान सन्तान और विशुद्ध ज्ञान सन्तानमें सादृश्य है ही। यदि कहा जाय कि विषय विशेषोपरागतसादृश्य नहीं विवक्षित है, अतः रूपज्ञानप्रवाहमें रसज्ञान उत्पत्ति मात्रसे सतानोच्छेदप्रसङ्ग न होगा सत्तारामान्यकृतसादृश्य भी नहीं विवक्षित है, अतः सोपपन्न चित्तसतान उपरम होनेपर मुक्तिदगामे निरुपपन्न चित्तसतानके उदय होनेपर पूर्वसतानोच्छेदका भी प्रसङ्ग न होगा। किंतु यहाँ विषयोपपन्नकृत-

सादृश्य ही चिबधित है, तथाच निरुपप्लवज्ञान संतानोदय होनेपर सजातीय कार्य-कारणभावरूप सतानावच्छिन्न हो जाता है। फिर भी निरन्वय नाश कही भी सम्भव नहीं है, यह दोष यहाँ भी है ही।

क्षणिकवादमे पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है फिर उसका प्रतिसंख्या निरोध क्या होगा ? उसमें पुरुष-प्रयत्नकी तो अपेक्षा ही नहीं है। पहले तो उत्पन्न होते ही सर्वपदार्थ ज्ञात नहीं हो जाते हैं। कितने ही पदार्थ तो जीवनभर अज्ञात ही रहते हैं। कितने ही अबतक भी जाने नहीं जा सके हैं। अस्तु,

उत्पन्न पदार्थका ज्ञान, फिर उसको नष्ट करनेकी बुद्धि, फिर इच्छा, फिर कृत्तिद्वारा विनाश आदि करनेमे अनेक क्षण आवश्यक होते हैं। तबतक क्षणिक पदार्थ नष्ट ही हो जायगा पुनः प्रतिसंख्या प्रतिरोध कैसे होगा। साथ ही निरन्वय नाश नहीं होता है। अवश्य ही उसमे कारणाश अन्वित रहता है। अतः निरुपाख्या निरोध नहीं हो सकता। नष्ट पदार्थ भी अन्वयीरूपसे उपाख्येय ही होता है। जो अन्वयीरूप होता है, उसका ही परमार्थ सद्भाव होता है। अवस्थाविशेष ही उत्पन्न-विनष्ट होनेवाली होती है। अवस्थाएँ सभी अनिर्वचनीय हैं; उनका स्वतः परमार्थ-सत्त्व ही नहीं होता। अन्वयीरूप ही उनका तत्त्व है, क्योंकि वही सर्वत्र प्रत्यभिज्ञात होता है और उसका विनाश नहीं होता। इस तरह अवस्थाओके भी तत्त्वका अविनाश होनेसे अवस्थाओका निरन्वय नाश नहीं होता; क्योंकि उनके तत्त्व अन्वयीका सर्वत्र ही अविच्छेद है। घट, कपाल, चूर्ण, रज, सबमे मृत्तिका ही अन्वयी है।

कहा जा सकता है कि 'मृत्पिण्डः, मृद्भटः, मृत्कपालः' आदिरूप पिण्डघटादि मृत्तिकाका अन्वय दृष्ट होता है, अतः घटादिमें मृत्तिकाका अन्वय भले ही माना जाय; किंतु तत्पाप्राणतलपर निपातित होकर नष्ट होनेवाले जलबिन्दुका तो कोई भी अन्वयीरूप उपलब्ध नहीं होता है, फिर उसका निरन्वय नाश माननेमें क्या आपत्ति है, परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि अस्पष्ट प्रत्यभिज्ञा वहाँ भी सम्भव है। अर्थात् वहाँ भी जलबिन्दु तेजके द्वारा बादल बनानेके लिये मार्तण्ड-मण्डलमें पहुँचा दिया जाता है। मृत्तिकादि अन्वयीका अविच्छेद देखकर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इसी तरह तप्त लौहपिण्ड या अग्निनिक्षिप्त जलबिन्दु भी तेजोभावापन्न होकर मेघादिभावको प्राप्त हो जाता है, इसके अतिरिक्त तोयत्व-जलत्व सामान्य तो बिन्दुके नष्ट होनेपर भी सिन्धुमें अन्वित रहता ही है फिर निरन्वय नाश कैसे कहा जा सकता है ?

अतएव वाचस्पति मिश्रका भामतीमें कहना है कि—

‘उदबिन्दौ च सिन्धौ च तोयभावो न भिद्यते।

विनष्टेऽपि ततो विन्दावस्ति तस्यान्वयोऽम्बुधौ ॥’

बौद्ध अविद्यादिनिरोधको प्रतिसंख्यानिरोध मानते हैं, इस सम्बन्धमें प्रश्न होता है कि यह निरोध साधनसहित सम्प्रगुज्ञानसे होता है या स्वतः । यदि प्रथम पक्ष मान्य है तो निर्हेतुक विनाश स्वीकारका सिद्धान्त खण्डित हो जाता है । यदि निरोध स्वतः माने तो क्षणिक नैरात्म्यादि भावनादिरूप मार्गोपदेश, धर्मदर्शनादि प्रवर्तन, साधनाभ्यासादि व्यर्थ ही होंगे ।

इसी तरह आकाशको भी निरुपाख्य नहीं कहा जा सकता । वेदादिशास्त्रोंसे आकाशकी उत्पत्ति और वस्तुत्व ज्ञात होता है । शब्दगुणके द्वारा उसका अनुमान भी हो सकता है । जैसे गन्वादिगुण पृथिवी आदिके आश्रित रहते हैं वैसे ही शब्द आकाशके ।

‘शब्द गुण है जातिमान् होकर स्पर्शरहित होकर बाह्य एक इन्द्रियसे ग्राह्य होनेके कारण गन्वके समान’ इस अनुमानके आधारपर सिद्ध होता है कि शब्द गुण है । सामान्यविशेषतया समवायमे शब्दका अन्तर्भाव नहीं है, क्योंकि वे जातिहीन होते हैं । किंतु शब्दके शब्दत्व जाति होनेसे वह जातिमान् है । हेतुका वायुमे व्यभिचार नहीं है । वायु स्पर्शवान् है और यह स्पर्शरहित है । हेतुका दिक्काल आदिसे व्यभिचार नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है । इन्द्रियग्राह्य द्रव्यमे व्यभिचार नहीं है क्योंकि हेतुमें एकेन्द्रियग्राह्यत्व विशेषण है, ऐसा हेतु शब्दमे ही है । इन्द्रियग्राह्य द्रव्यमें नहीं, गन्वत्वजातिमे भी व्यभिचार नहीं है, यतः यह जातिमान् है और गन्वत्वादि जातिहीन है ।

गुणत्वसिद्धिके बाद यह भी विचार ठीक है कि शब्द किस द्रव्यका गुण है । वह आत्माका गुण नहीं हो सकता । कारण बाह्येन्द्रिय ग्राह्य है । आत्मगुण इच्छादि बाह्येन्द्रिय ग्राह्य नहीं होते । वह मनका भी गुण नहीं है, क्योंकि मनके भी गुण प्रत्यक्ष नहीं होते । यद्यपि वेदान्तमतमें सुखादि मनके ही गुण होते हैं तथापि वे साक्षिग्राह्य हैं इन्द्रियग्राह्य नहीं । शब्द पृथिव्यादिका भी गुण नहीं है । क्योंकि गन्वादिसे साथ शब्दका नियत साहचर्य उपलब्ध नहीं होता ।

गन्वादिसे समान असाधारण इन्द्रियग्राह्य शब्दगुण जिस द्रव्यके आश्रित है वह पञ्चमभूत आकाश ही मान्य होना चाहिये ।

बौद्ध कहते हैं कि आवरणभाव आकाश है । परंतु उनका यह कथन ठीक नहीं । एक पक्षीके भी उड़ते समय आवरण हो ही जायगा फिर उड़नेकी इच्छा रखनेवाले दूसरे पक्षीको अवकाश नहीं होना चाहिये । यदि कहा जाय कि जहाँ आवरण नहीं होगा वहाँ दूसरा पक्षी उड़ेगा ? तो यह भी ठीक नहीं, यतः आवरणभावको जिससे विशेषित किया जायगा वह वस्तुभूत ही रहेगा । अतः आवरणभावमात्र आवश्यक नहीं ।

सार यह है कि निषेधके निषेधाधिकरणका निरूपण किये बिना निषेधका

निरूपण हो ही नहीं सकता। इसलिये आवरगाभावाविकरण वस्तु ही आकाश है। साथ ही आकाश वस्तु नहीं है, यह सिद्धान्त बौद्धके स्वसिद्धान्तके विरुद्ध है। 'पृथिवी भगव. किं संनिःश्रया' वे इस प्रकारके प्रश्न प्रतिवचन प्रवाहमें 'वायुः किं संनिःश्रय.' इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है 'वायुराकाशसन्निश्रयः।' अर्थात् वायुका क्या आश्रय है इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है कि वायुका आकाश आश्रय है। इस प्रकार आकाशको अवस्तु मानना अभ्युपगमविरुद्ध होगा।

इसके साथ ही बौद्ध कहते हैं (अपि च निरोधद्वयमाकाशं च त्रयमप्येत-न्निरुपाख्यमवस्तु नित्यं च) अर्थात् दोनो निरोध और आकाश यह तीनों निरुपाख्य अवस्तु एवं नित्य है। यह बात परस्परविरुद्ध है। जो अवस्तु है उसमें नित्यता या अनित्यता कुछ भी नहीं हो सकती। नित्यत्वादि धर्म वस्तुके आश्रित होते हैं। जहाँ धर्म-धर्मिभाव होता है, वहाँ निरुपाख्यता हो ही नहीं सकती।

बौद्ध सब वस्तुको क्षणिक मानता हुआ उपलब्धाको भी क्षणिक ही मानता है। परन्तु यदि उपलब्धा भी क्षणिक हो तो अनुभवसे उत्पन्न होनेवाली स्मृति कैसे बन सकेगी; क्योंकि वह तो तभी बन सकती है जब कि उपलब्धि और स्मृतिका कर्ता एक ही हो। अतएव पुरुषान्तरसे अनुभूत विषयमें पुरुषान्तरको स्मृति नहीं होती है। अनुभव करनेवालेको ही अनुभूतकी स्मृति होती है।

जबतक पूर्वोत्तरदर्शी एक आधार न हो तबतक 'मैंने उसको देखा, अब इसे देख रहा हूँ, यह व्यवहार नहीं बन सकता। कथञ्चित् समान-सततिमें कार्य-कारणभावसे स्मृति बन भी जाय तो भी यह प्रत्यभिज्ञा तो उपलब्धाके अस्थिर होनेपर बन ही नहीं सकती। दर्शन-स्मरणके एक कर्ता होनेपर ही प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यय होता है 'उसे देखा, इसे देख रहा हूँ, यदि यहाँ दर्शन-स्मरणका कर्ता भिन्न-भिन्न हो तो 'देखा अन्यने और स्मरण मैं कर रहा हूँ' ऐसा प्रत्यय होना चाहिये, परन्तु ऐसा अनुभव किसीको भी नहीं होता। जहाँ ऐसा प्रत्यय होता है वहाँ कर्ता अवश्य ही भिन्न-भिन्न होते हैं। मैं स्मरण कर रहा हूँ, अमुकने देखा है'। 'अहं स्मरामि, असावद्राक्षीत्।'।

बौद्ध भी दर्शन स्मरणका एक ही कर्ता समझता है। परन्तु जैसे अग्निको अनुष्ण और अप्रकाश नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार दर्शन-स्मरण-कर्ता आत्मा-को भिन्न नहीं कहा जा सकता। जब उपलब्धामें भिन्नकारणके दर्शन-स्मरणका सम्बन्ध हुआ तो सुतरा क्षणिकत्वकी हानि अपरिहार्य हो जाती है। जन्मसे मरणतककी उत्तरोत्तर प्रतिपत्तियोंकी एककर्तृकता देखता हुआ भी वैनाशिक आत्माको किस प्रकार क्षणिक कह सकता है ?

यदि कहा जाय कि सादृश्यके कारण उपलब्धामें एकताकी प्रतीति होती है, तो यह भी ठीक नहीं, कारण 'तेनेद्रं सदृशम्', 'उसके यह तुल्य है' इस प्रकारकी

सादृश्यबुद्धि तभी हो सकती है जब भिन्नकालवर्ती दो वस्तुका ग्राहक एक हो, यदि पूर्वोत्तर क्षण और सादृश्यका ग्राहक एक स्थिर आत्मा है तो एककी अनेक-क्षणवर्तिता सिद्ध हो गयी फिर क्षणिकत्व-प्रतिज्ञा भङ्ग ही हो गयी ।

बौद्ध कहता है कि 'तेनेद सदृशम्' यह स्वतन्त्र ही एक विकल्प-प्रत्यय है । विकल्प स्वाकारको ही बाह्यरूपसे निश्चित करना है, वह तत्त्वतः पूर्वोत्तरक्षण तथा उसके सादृश्यका ग्रहण नहीं करता । अतः पूर्वोत्तरक्षणग्रहणनिमित्तक 'तेनेद सदृशम्' यह प्रत्यय नहीं है । इस प्रत्ययसे स्थिर आत्मा नहीं सिद्ध होता, परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि 'तेन, इद' इन दोनों पदोंका उपादान होनेके कारण इसे पूर्वोत्तर क्षणग्रहणनिरपेक्ष प्रत्यय नहीं कहा जा सकता । सादृश्य-ज्ञान स्वतन्त्र-ज्ञान होता तो 'सदृशम्' इस ढंगसे उल्लेख होना चाहिये था । 'तेन इद सदृशम्' इस प्रकारका उल्लेख तथा वाक्यका प्रयोग नहीं होना चाहिये ।

यदि बौद्ध नानापदार्थ सम्पृक्त वाक्यार्थबोधक 'तेनेद सदृशम्' इस विकल्पकी प्रथा या प्रतीति मानता है, तो फिर कैसे कह सकता है कि उसमें 'तेनेद सदृशम्' ये नाना पदार्थ नहीं भासित होते हैं । ऐसा कहना तो अपने सवेदनके ही विरुद्ध है । इसके सिवा यदि उसके यह सदृश है, यह एक विकल्प ज्ञान हो तो इसमें 'तेन इदम्' इत्यादि नाना आकार नहीं हो सकते थे । क्योंकि एकका नानात्व व्यावृत्त होता है । जब ज्ञानसे अतिरिक्त आकार नहीं है तो आकारनानात्व-ज्ञान नानात्व ही ठहरेगा । यह भी नहीं कहा जा सकता कि जितने आकार हैं उतने ही ज्ञान हैं, क्योंकि तब तो प्रत्येक आकारमें ज्ञानकी समाप्ति होगी और वे सभी परस्पर वार्तान-भिन्न होंगे, फिर नाना, यह व्यवहार भी न होगा, क्योंकि जब एक ज्ञानसे नाना पदार्थोंकी प्रतीति होती है, तभी नाना यह उल्लेख होता है । इसीलिये ज्ञानसे भिन्न अर्थ मानना चाहिये । तथा च 'तेन इद' इत्यादि नाना आकारवाले ज्ञानकी उपपत्ति स्थायी एक आत्मा माननेसे ही सम्भव है ।

बौद्ध कहता है कि ज्ञानमें अर्थाकार कल्पित है, अर्थ बाह्य नहीं है और प्रतीतिमात्र भी नहीं है, तथा च उसी कल्पित आकारभेदसे व्यवहार भी उपपन्न होगा । पर यहाँ यह प्रश्न होगा कि वह कल्पित अर्थ ज्ञानसे अभिन्न हैं या भिन्न ।

तीसरा पक्ष अनिर्वाच्यताका है वह बौद्धको मान्य ही नहीं । यदि भिन्न है तो जैसे ज्ञानसे भिन्न दूसरा ज्ञान अकल्पित होता है, वैसे ही ज्ञानसे भिन्न अर्थाकार भी अकल्पित ही होगा । यदि आकारोंका ज्ञानसे अभेद माना जाय तो उसके समान ही ('तेन इदम्' इत्यादि पदार्थोंका भी परस्पर अभेद ही हो जायगा । क्योंकि ज्ञानसे अभिन्न सभी आकारोंका परस्पर भी अभेद ही होना है, तथा च इतरेतररूपने प्रसिद्ध पदार्थोंका और ज्ञानसे जेयके प्रसिद्ध भेदका भी अपन्यास हो जायगा । यदि लोकप्रसिद्ध पदार्थोंको परीक्षक स्वीकार न करेंगे तो स्वयं सावन परपक्ष-दूषणके

निरूपण करनेपर भी वे किसीकी बुद्धिमें आरुढ़ न होंगे । अतः जो लोकसिद्ध हो वही कहना चाहिये । अन्यथा कथन अनर्गल प्रलाप ही समझा जायगा ।

एक ही अधिकरणमें परस्पर विरुद्ध दो प्रकारके धर्मोंका अभ्युपगम करनेसे ही विवाद होता है । तभी कोई स्वपक्षका साधन तथा अन्य पक्षको दूषित करता है । यदि विकल्पोके विषय लोकप्रसिद्ध बाह्य पदार्थ न हो तो यह सब नहीं बन सकता । यदि विकल्पमें भासित होनेवाले नित्यत्व-अनित्यत्वादि ज्ञानाकार ही हैं और ज्ञान भी 'इदं नित्यम्, इदमनित्यम्' इस प्रकारसे दो हैं तो एक आश्रय न होनेसे विवाद ही न उठेगा । आत्मा नित्य है और बुद्धि अनित्य, इस तरह कहनेवालोंमें कभी कोई विवाद ही नहीं होता । यदि कोई अनित्य शब्दका लोकप्रसिद्ध अर्थ छोड़कर विभु अर्थ माने विभुत्व अर्थमें ही अनित्य शब्दका प्रयोग आत्मामें करे और अन्य कोई लौकिकार्थ नित्यशब्दका आत्मामें प्रयोग करे तो उनका आपसमें विवाद नहीं हो सकता है । अतः जिसे परपक्ष खण्डन एवं स्वपक्षकी स्थापना करनी है उसे विकल्पोका लोकप्रसिद्ध अर्थ एव बाह्य आलम्बन मानना चाहिये ।

यह प्रासङ्गिक विज्ञानवाद खण्डन आ गया है परंतु वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक बाह्यार्थ मानते हैं ।

उनके अनुसार यद्यपि बाह्यार्थ क्षणिक एवं निर्विकल्पज्ञानमें भासित होता है, सविकल्पक प्रत्यय तो विकल्परूप है । वही सादृश्यादिरूपसे भासित होता है, अतः बाह्यार्थवादमें विप्रतिपत्ति आदि व्यवहार बन जायगा । तथा च विकल्पोके विषय ग्राह्य एव अवसेयरूपसे दो प्रकारके होते हैं । ज्ञानका स्वाकार तो ग्राह्य होता है और बाह्यविषय अवसेय होते हैं । उसी अवसेयरूप विषयको लेकर पक्ष-प्रतिपक्ष-परिग्रह आदि सम्पन्न हो जायेंगे । तथापि यह पक्ष भी ठीक नहीं है ? क्योंकि यहाँ भी विचारणीय यह है कि विकल्प विषयकी अवसेयता क्या है । यदि ग्राह्यता ही है तो विषयकी द्विविधता नहीं हुई । यदि वह अन्य है तो क्या है ?

यदि कहा जाय कि ज्ञानमें उसका स्वाकार ही प्रतिभासित होता है तथापि उसी बाह्यार्थरहित भासमान ज्ञानमें बाह्यार्थ अध्यवसायसे बाह्यार्थ घटादिमें प्रवृत्ति होती है, अतः भासमान ज्ञानमें बाह्यार्थका आरोप ही विषयकी अवसेयता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ भी विचारणीय है कि विकल्पाकारका अर्थाध्यवसाय क्या है अर्थात् आन्तर अनभिधेय ज्ञानाकारका तद्विपरीत बाह्याकाररूपसे अध्यवसाय क्या है ? तद्रूपसे निष्पादन है या सम्बन्ध या उसके आकारसे आरोपण । पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि अन्यका अन्यरूपसे निष्पादन असम्भव है । हजारों शिल्पी भी मिलकर घटको पट नहीं बना सकते, फिर आन्तर ज्ञानाकारका बाह्यरूपमें सम्पादन कैसे होगा । निष्पादनके समान ही आन्तरका बाह्यसे सम्बन्ध या संयोजन भी नहीं हो सकता । यदि ऐसा हो भी तो बाह्य अर्थ

है इस व्यवहारके विपरीत बाह्य आन्तरसे जुड़ा है यह व्यवहार होना चाहिये । आरोग्यपक्षमें भी यह विचारणीय है कि गृह्यमाण बाह्यमें आन्तर जानाकारका आरोप है या अगृह्यमाणमें। यदि गृह्यमाणमें तो भी क्या विकल्पात्मक ज्ञानसे गृह्यमाणमें या उसी समय उत्पन्न अविकल्पक ज्ञानसे गृह्यमाणमें ? यहाँ भी यह प्रश्न उठता है कि उसमें भी गृह्यमाण बाह्य क्या है स्वलक्षण है या सामान्यरूप है ?

विकल्प-प्रत्ययसे स्वलक्षण (जात्यादिरहित स्वरूपमात्र) ग्राह्य होता है, यह इसलिये ठीक नहीं कि विकल्प-प्रत्यय तो अमिलापससर्ग योग्यको ही विषय करता है जिसके साथ शब्दका शक्तिग्रह हो ही नहीं सकता, ऐसे देशकालाननुगत स्वलक्षणको वह विषय नहीं कर सकता । इसीलिये कहा गया है कि—

अशक्यसमयो ह्यात्मा सुखादीनामनन्यभाक् ।

तेषामतः स्वसंवित्तिर्नाभिजल्पानुपद्भिणी ॥

अर्थात् विकल्प-प्रत्यय शब्द ससर्ग ग्रह योग्य जाति विशिष्ट वस्तुको ही विषय करता है । क्योंकि शब्दका शक्तिग्रह सामान्यके ही साथ सम्भव है, स्वलक्षणके साथ नहीं, क्योंकि देशकालाननुगत होनेसे स्वलक्षण अनन्त होता है । अतः उसमें सङ्गतिग्रह सम्भव नहीं । सुखादि क्षणिक भावोंका स्वरूप अननुगत होनेके कारण सङ्गतिग्रहके अयोग्य है । अर्थात् उसमें शब्दका शक्तिग्रह नहीं हो सकता । अतः उनकी असाधारणाकार विषया स्वसंवित्ति अभिजल्पानुपद्भिणी नहीं होती, किंतु निर्विकल्पक ही होती है ।

पहले कही हुई रीतिसे जैसे सविकल्प प्रत्ययसे स्वलक्षण-बाह्य नहीं गृहीत हो सकता, वैसे ही सामान्यात्मक बाह्य भी नहीं गृहीत हो सकता । क्योंकि व्यक्ति-ग्रह बिना जातिरूप-सामान्यका ग्रहण सम्भव है । यदि विकल्पसे अगृहीत तत्समय समुद्भूत निर्विकल्प प्रत्ययसे गृह्यमाण बाह्य पदार्थमें विकल्प-प्रत्यय स्वाकार आरोपित करेगा ऐसा कहे तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जैसे रजतज्ञानमें भासित होनेवाले पुरोवर्तीमें रजत-ज्ञान रजतका आरोप नहीं कर सकता, किंतु 'इदं रजतम्' इस रूपसे रजतज्ञानमें भासित पुरोवर्तीमें ही रजतका आरोप करता है उसी तरह निर्विकल्प प्रत्यय भासित होनेपर भी बाह्य पदार्थ यदि विकल्प-प्रत्ययमें भासित नहीं होता तो उसमें वह स्वाकारका आरोप नहीं कर सकता । अर्थात् विकल्पसे अगृहीत एव विकल्प समयोद्भूत अविकल्पसे गृहीत बाह्यमें विकल्प साकारका आरोप नहीं कर सकता । यदि बाह्य गृह्यमाण नहीं है तो अधिष्ठानके ग्रहण बिना आरोप्यमात्र प्रतीत हो सकता है किंतु आरोप नहीं हो सकता । इस तरह अधिष्ठानका प्रतिभास असम्भव होनेसे बाह्यमें ज्ञानस्वरूपका आरोप नहीं हो सकता है । इसी तरह आरोप्यका स्फुरण भी असम्भव होनेसे आरोप नहीं बन सकेगा ।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि क्या यह विकल्प जब स्वसवेदन सत् विकल्पको बाह्यरूपसे आरोपण करता है तब पहले वस्तु सत्-स्वाकारको ग्रहण करके पश्चात्

आरोप करता है, अथवा जिस समय स्वाकार ग्रहण करता है, उसी समय आरोपण भी करता है ?

बौद्धमतमें ज्ञान क्षणिक है, क्रमरहित है फिर उसमें क्रमवर्ती ग्रहण और आरोपण कैसे सम्भव हो सकता है ? इसलिये दूसरा पक्ष ही सम्भव है कि जिस समय ही अर्थशून्य आकारका ग्रहण करता है उसी समय स्वसंवेदन-स्वाकारको बाह्य अर्थरूपमें आरोपण करता है, परंतु यह भी असंगत है; क्योंकि विकल्पका अपना स्वाकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होनेसे अत्यन्त विशद है, बाह्य अर्थ आरोप्यमाण होनेसे अविशद है। अतः आरोप्य बाह्यको विशद स्वाकारसे भिन्न ही होना चाहिये। अतः विकल्पका स्वाकार ही बाह्यरूपमें आरोपित है यह पक्ष नहीं बन सकता, अर्थात् जब समकालमें ही स्वाकारग्रहण एव बाह्यत्वेन आरोपण माना जाय तो सोचना होगा कि यहाँ आरोप क्या है। स्वाकार और बाह्यका ऐक्यस्फुरण ही आरोप है अथवा—अख्यातिमतके समान विवेकाग्रहमात्र आरोप है। पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि स्वाकार-स्वप्रकाश बाह्यपर प्रकाश है। अतः उनका भेदावभास स्फुट है फिर ऐक्य-स्फुरण किस तरह सम्भव है। अतः बाह्यको ज्ञानाकारसे भिन्न ही होना चाहिये। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं; भेदाग्रहमात्रको भी समारोप नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वैशद्य अवैशद्यरूपसे उनका भेद स्पष्ट ही है।

यदि कहा जाय कि बाह्य अग्रह्यमाण है तो भी ग्रह्यमाण आन्तर स्वलक्षणसे उसका भेद अग्रहीत है, इसीलिये बाह्यमें प्रवृत्ति होती है। फिर तो यह भी कहा जा सकता है कि त्रैलोक्यसे ही ज्ञानके स्वाकारका भेदाग्रहण होनेसे जहाँ कहीं भी प्रवृत्ति हो जायगी। इस तरह परमार्थ ज्ञानाकारका बाह्य वस्तुरूपसे आरोप असम्भव ही है। इसी तरह वासनापरिप्रापित कल्पित ज्ञानाकारका बाह्यरूपमें आरोप होता है यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह भी स्वप्रकाशज्ञानरूप है। अतः उसका भी बाह्यसे भेद प्रसिद्ध ही है।

इस तरह आन्तर एव बाह्य स्थिर पदार्थोंको बिना स्वीकार किये कोई भी व्यवहार नहीं बन सकता। फलतः सादृश्यमूलक भी प्रत्यभिज्ञा आदि व्यवहार नहीं बन सकते। क्योंकि उनमें 'तेनेद सदृशम्' सादृश्यका ऐसा आकार होता है और 'तदेवेद' यह वही है ऐसा प्रत्यभिज्ञाका व्यवहार होता है। यद्यपि यहाँ कहा जाता है कि जैसे दीपज्वाला या नदी प्रवाह आदिमें सादृश्यबुद्धि न होनेपर भी सादृश्यके कारण ही 'सैवेय धारा, सैवेय ज्वाला' यह वही धारा है यह वही ज्वाला है इत्यादि-रूपसे प्रत्यभिज्ञा (पहचान) होती है। वैसे ही विज्ञानधारामें भी सादृश्यके कारण ही 'सोऽहम्' इत्यादिरूपसे प्रत्यभिज्ञा बन जायगी। परंतु यह ठीक नहीं, कारण, कदाचित् बाह्य वस्तुमें विनम्रके कारण यह उसके सदृश अन्य है या वही है इस प्रकारका सदेह हो भी जाय, परंतु स्वप्रकाश-संवेदनरूप आत्मामें 'मैं वही हूँ' या

तत्सदृश अन्य हूँ' इस प्रकारका सशय सर्वथा असम्भव है। जिसे मैंने कल देखा था वही मैं आज स्मरण कर रहा हूँ यहाँ निश्चित ही आत्माकी एकता प्रत्यभिज्ञात होती है। जो अपनेको पहचाननेके लिये अपने आपको विशिष्ट प्रकारके चिह्नोंसे अङ्कित करता है जनसाधारण भी उसकी बुद्धिपर तरस खाते हैं।

बौद्ध स्थिर-अन्वित कारण नहीं मानते सुतरा उनके यहाँ अभावसे ही भावोत्पत्तिका प्रसङ्ग आ जाता है। क्षणिक कारणवादी बौद्धसे यह प्रश्न होता है कि वह कारण सापेक्ष है या निरपेक्ष? पहले पक्षकी असङ्गति पीछे कही जा चुकी, दूसरा पक्ष भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि निरपेक्ष क्षणिक बीजादिसे यदि अङ्कुरादि उत्पन्न हो तब तो किसान आदिका प्रयत्न व्यर्थ ही होगा।

क्षणिक कारणोंमें उत्पत्ति भी सम्भव नहीं होता। निरपेक्षताका निपेक्ष होनेसे सापेक्षता ही आयगी। क्योंकि कोई प्रकारान्तरसम्भव नहीं। अस्थिर भावसे भावकी उत्पत्ति हो नहीं सकती, इसलिये क्षणवादमें अर्थतः—अभावसे ही भावकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग होता है। बौद्ध स्पष्टरूपसे अभावसे भावकी उत्पत्ति सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं। 'नानुयमृद्य प्रादुर्भावात्' बीजका उपमर्द (विनाश) हुए बिना अङ्कुरकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती। किंतु विनष्ट बीजसे ही अङ्कुरकी उत्पत्ति होती है। विनष्ट धीरसे दधि एवं विनष्ट मृत्पिण्डमें घटादिकी उत्पत्ति होती है। यदि कूटस्थ स्थिर कारणसे कार्यकी उत्पत्ति हो तो अविवेकात् सभीसे सबकी उत्पत्ति हानी चाहिये। अन अभावसे ही भावकी उत्पत्ति होती है इस पक्षका खण्डन करते हुए भगवान् व्यासने कहा है 'नामतोऽदृष्टत्वात्' अर्थात् अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि अभावसे भावकी उत्पत्ति हो तो अभावव्याविवेकात् कारणविवेकमें कार्यविवेककी उत्पत्तिका भिन्नान्त व्यर्थ होगा। उपमृदित बीजोंके अभावमें और गन्धविषाणादिमें यदि निःस्वभावता समान ही है तो भेद क्या है? फिर क्या कारण है कि बीजसे ही अङ्कुर उत्पन्न हो, धीरसे ही दधि हो। यदि निर्विशेष अभावसे कार्य उत्पन्न होता तो गन्धविषाण आदिसे भी अङ्कुरादिकी उत्पत्ति होनी चाहिये। पर ऐसा देखा नहीं जाता। यदि कमलादिमें नीलत्वादिके तुल्य अभावमें कोई विशेष माना जाय तो कमलादिके ही तुल्य अभाव भी भाव ही उहरेगा। इस प्रकार अभाव किसी भावकी उत्पत्तिका कारण नहीं सिद्ध होता।

बौद्धोंके अभावकारणवादका सार यह है कि यदि कूटस्थ कारणका कार्योत्पादन स्वभाव है तब तो जितना कार्य करता है उसे सहजा एक क्षणमें ही सब कार्य उत्पन्न कर देना चाहिये। क्योंकि समर्थकालक्षेप नहीं कर सकता है। यदि कहा जाय कि समर्थ भी क्रमयुक्त सहकारियोंकी अपेक्षासे ही क्रमेण कार्य उत्पन्न करता है तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ प्रश्न होगा कि क्या सहकारीमूलकारणमें

किसी उपकारका आधान करते हैं या नहीं । यदि नहीं तो अनुपकारक सहकारियों-की अपेक्षा ही क्यों होगी । यदि आधान करते हैं तो वह उपकार मूल कारणोंसे भिन्न होता है या अभिन्न ?

यदि अभिन्न तो यह सिद्ध हुआ कि सहकारियोंद्वारा अहित उपकार मूल-कारणसे अभिन्न है, अर्था मूलकारणरूप ही है । इस तरह सहकारियोंद्वारा उत्पन्न उपकारस्वरूप मूलकारण टूट्य कैसे रह सकता है । उच्छूनता या उपमर्द आदि ही सहकारियोंद्वारा किया उपकार है । यदि सहकारिकृत उपकार कारणसे भिन्न है तो यह भी मानना पड़ेगा कि उपकारके होनेपर कार्य होता है उसके न होनेपर कार्य नहीं होता । भले ही कूटस्थ विद्यमान रहे तब तो उपकार ही कार्यकारी सिद्ध होता है । कूटस्थ कारण कार्यकारी सिद्ध नहीं होता इसीलिये कहा गया है कि—

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्येव तयोः फलम् ।

चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलम् ॥

अर्थात् वर्षा एव आतपका प्रभाव चर्ममें होता है आकाशमें नहीं । यदि कारण चर्मके तुल्य है तो उसे विकारी और अनित्य मानना ही पड़ेगा । यदि आकाशके तुल्य है तब कार्यकारी ही नहीं होगा । यदि अकिञ्चित्कर कूटस्थ कारणसे कार्य उत्पन्न हो तब तो सभीसे सबकी उत्पत्ति होनी चाहिये । परंतु बौद्धका यह कथन बिना विचारे ही अच्छा जँचता है, विचार करनेपर सर्वथा निःसार है । अभावसे भावोत्पत्तिके सम्बन्धमें दूषण कहे जा चुके हैं । वस्तुतः स्थिर कारण ही सहकारीके समवधानसे क्रमेण कार्यकारी होता है । स्थिरमें ही उपकार हो सकता है । क्षणिकमें न उपकार ही होता न उसका ज्ञान ही हो सकता है ।

यदि क्षणिक पदार्थोंमें उपकार्योपकार्य भाव माना जाय तो प्रश्न होगा कि वह क्षणिक पदार्थ अन्यकृत उपकारका आश्रय होता है या नहीं ? पहला पक्ष असम्भव है क्योंकि जो वस्तु पहले अनुपकृत होकर पीछे उपकारसे सम्बन्धित हो वही उपकृतरूपसे जानी जा सकती है । उपकृत पदार्थ एवं उसका ज्ञाता दोनों ही स्थायी हों तभी वस्तुमें उपकृतत्व एवं ज्ञाताको उसका ज्ञान हो सकता है । यदि प्रथम अनुपकृतत्वका ज्ञान न हो तो उपकार वस्तुका स्वाभाविक धर्म समझा जा सकता है । सहकारियोंद्वारा कारणमें उपकार होता है, किंतु वह उपकार मूलकारणसे न भिन्न होता है न अभिन्न, किंतु अनिर्वाच्य होता है । इसीलिये उससे उत्पन्न कार्य भी अनिर्वाच्य ही होता है । इसीलिये अनिर्वाच्य मायोपहित कूटस्थ ब्रह्म विश्वका कारण माना जाता है ।

घट मृत्तिकासे भिन्न नहीं है, क्योंकि अन्वयव्यतिरेकसे मृत्तिकासे भिन्न घटका उपलम्भ नहीं होता । अभिन्न भी नहीं है क्योंकि मृत्तिकासे जलानयनादि कार्य

नहीं होता, वट्से ही होता है, अतः वह अनिवार्य ही है। फिर भी स्थिरको अकारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनिर्वचनीय शक्ति विविध मृत्तिकादि उपादान रूपसे स्थिर ही कारण होता है। उसीसे अनिर्वचनीय कार्य उत्पन्न होता है। इसीलिये श्रुति भी कारणको ही सत्त्व और कार्यको मिथ्या कहती है (वाचा-रम्भणं विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्) जैसे रज्जु सर्पश्रममें स्थिर रज्जु उपादान है, वैसे ही स्थिर कारण ही कार्यका उपादान होता है। जो लोग सर्वतो विलक्षण स्वलक्षणको ही सत् मानते हैं उनके यहाँ यह विचारणीय है कि क्यों बीज जातियोंसे अङ्कुर जातियोंकी ही उत्पत्ति होती है। क्रमेलक (उद्ग) जातियोंकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? जैसे बीजसे बीजान्तर विलक्षण है, वैसे ही क्रमेलक (उद्ग) भी विलक्षण है, विलक्षणतामें कोई भेद नहीं है। बीजत्व, अङ्कुरत्व, सामान्य जाति भी परमार्थ सत् नहीं है। इसीलिये इनका कार्यकारणभाव भी परमार्थ नहीं है। अतएव काल्पनिक स्वलक्षण बीजजातीय उपादानसे काल्पनिक ही अङ्कुरजातीय कार्यकी उत्पत्तिका नियम है यह मानना पड़ेगा।

बौद्धसे यहाँ प्रश्न हो सकता है कि व्यक्तियोंका ही कार्य-कारणभाव होता है या सामान्य (जाति) का भी अथवा सामान्योपहित व्यक्तियोंका ? यदि व्यक्तियोंका कार्य-कारणभाव हो तो व्यक्ति अनन्त होते हैं सबका ज्ञान असम्भव है। उनमें कार्य-कारणभावकी व्याप्ति गृहीत नहीं हो सकती। फिर कार्यहेतुक अनुमान ही छुट हो जायगा। क्योंकि अनुमान सदा ही सामान्योपाधिमें प्रवृत्त होता है। यदि सामान्योका ही कार्य-कारणभाव माने तो भी प्रश्न होगा कि बीजत्व, अङ्कुरत्व आदि सामान्य वस्तु सत् हैं कि असत् ? पहला पक्ष बौद्धको मान्य नहीं है साथ ही वस्तुओंका कार्य-कारणभाव भी विरुद्ध है। क्योंकि बौद्ध अर्थक्रियाकारिताको ही सत्य मानता है फिर जो कारण है वह असत् कैसा ?

यदि अवस्तुभूत सामान्यसे उपहित सत् स्वलक्षण वस्तुका कार्य-कारणभाव माना जाय तो जैसे काल्पनिक बीजत्व सामान्योपहित स्वलक्षण बीजसे अङ्कुरत्व जातीयकी उत्पत्ति मानी जा सकती है उसी तरह अनिर्वचनीय शक्ति उपहित कूटस्थ कारणसे अनिर्वचनीय कार्यकी उत्पत्ति होनेमें कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती।

उसी तरह काल्पनिक उपकारसे काल्पनिक कार्यकी उत्पत्ति वेदान्त सिद्धान्तमें उपपन्न होती है। यदि अभावसे भावकी उत्पत्ति मानी जाय तो सभी कार्योंको अभावान्वित होना चाहिये। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। सभी कार्य अपने भावरूपसे अन्वित ही देखे जाते हैं। मृत्तिकासे अन्वित घटादिभाव मृत्तिकाके ही विकार माने जाते हैं तन्तुविकार नहीं। उसी प्रकार भावान्वित विकारोंको भी अभावका विकार नहीं माना जा सकता। यह कहना सङ्गत नहीं है कि स्वरूपो-

परमर्द बिना किसी कार्यकी उत्पत्ति ही नहीं होती । अतः कूटस्थ किसी कार्यका कारण नहीं हो सकता । इसलिये अभावसे भावकी उत्पत्तिका सिद्धान्त ही ठीक है क्योंकि स्थिर स्वभाववाले एकरूपसे प्रत्यभिज्ञात सुवर्णादि ही कटकादिके कारण देखे जाते हैं । उपमर्द तो पूर्व अवस्थाका होता है । उपमृदित पूर्वावस्था उत्तरावस्थाका कारण नहीं है । किंतु अनुपमृदित अन्वयी बीजावयव ही अङ्कुरादिके कारण होते हैं । कारणमें युगपत् अनेक अवस्था नहीं रह सकती । इसीलिये अङ्कुरावस्थाको लानेके लिये बीजावस्थाको हटना पड़ता है । घटावस्था लानेमें पिण्डावस्थाको भी हटना पड़ता है । अतएव बीजावस्था या पिण्डावस्था अङ्कुरादिके कारण नहीं है । किंतु बीजादिके अवयव ही कारण हैं । अतएव उन्हींका कार्यमें अन्वय है अवस्थाका अन्वय नहीं । शशविषाणादि असत्से उत्पत्ति नहीं होती । सुवर्णादि सत्से ही उत्पत्ति होती देखी जाती है अतः अभावसे भावोत्पत्तिका सिद्धान्त सर्वथा असङ्गत है ।

यदि अभावसे भावकी उत्पत्ति हो तो प्रयत्नहीन लोगोकी भी अभीष्ट-सिद्धिमें कठिनाई नहीं होनी चाहिये । क्योंकि अभावरूपी साधन तो सबको मुलभ है । कृषकको बिना प्रयत्न ही ग्रीहि-यवादिकी प्राप्ति होनी चाहिये । कुलालको भी प्रयत्न बिना ही घटादिकी निष्पत्ति होनी चाहिये । तन्तुवायके प्रयत्न बिना ही वस्त्रकी प्राप्ति होनी चाहिये । शिल्पियोके प्रयत्न बिना ही विविध प्रकारके यन्त्रोका निर्माण हो जाना चाहिये । स्वर्ग-अपवर्गके लिये भी किसीको कोई चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं होनी चाहिये । पर यह सब सङ्गत नहीं ।

विज्ञानवादी योगाचारका कहना है कि बाह्यार्थवादमें बुद्धका तात्पर्य नहीं था । कुछ शिष्योका बाह्यार्थमें अभिनिवेश देखकर ही उन्होने पञ्चस्कन्धका निरूपण किया है । वस्तुतः विज्ञानमात्र एक ही स्कन्ध बुद्धको अभीष्ट था । कहा जा सकता है कि प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति—ये चार प्रकारके तत्त्व होते हैं । इनमेंसे एकके अभावमें भी तत्त्वका व्यवस्थापन नहीं बन सकता । अतः विज्ञानमात्रको तत्त्वसिद्ध करनेके लिये प्रमात्रादितत्त्व चतुष्टय मानना ही पड़ेगा । फिर जब चार वस्तुएँ माननी ही पड़ीं तो विज्ञानमात्र वस्तु है यह कैसे कहा जा सकता है । परंतु विज्ञानवादीका कथन है कि यद्यपि विज्ञानरूप अनुभवसे भिन्न अनुभाव्य, अनुभविता एव अनुभवन कुछ भी नहीं है । तथापि बुद्धिकल्पितरूपसे विज्ञानमें प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति आदिका व्यवहार बन जाता है । असत्य आकारयुक्त विज्ञानका स्वरूप प्रमेय है । प्रमेय प्रकाशन प्रमाण फल है । प्रकाशन शक्ति ही प्रमाण है ।

बाह्यार्थवादमें भी बुद्धयारोहके बिना प्रमाणादि व्यवहार नहीं बन सकता । यदि प्रमाण और फलके भिन्न अधिकरण हो तो प्रमाण फलभाव हो ही नहीं सकता ।

इसीलिये खदिर गोचर परशु व्यापार होनेसे भी पलायनमें द्वैधीभाव (दुकड़ा) नहीं होता जिसमें व्यापार होता है उसीमें फल होता है । उसी तरह प्रमाण (करण) और प्रमिति फल दोनोंका एक ही अधिकरण होनेपर ही करण फलभाव हो सकता है । यद्यपि परशु स्वावयवोंमें समवेत है और द्वैधीभाव खदिरमें समवेत है तथापि व्यापाराविष्ट करणीभूत परशु संयोग सम्बन्धसे खदिरमें रहता है और द्वैधीभाव भी खदिरमें है ही । इस तरह करणफलका एकाधिकरण्य सामानाधिकरण्य ही है, इसी तरह एक ज्ञानमें ही प्रमाणफलभाव मानना ठीक है ।

अब यहाँ विचार करना होगा कि ज्ञानमें प्रमाण और फल कैसे सम्भव होंगे । जैसे कुण्डमें बदर (वेर) की अवस्थिति होती है, उसी तरह क्या ज्ञानमें प्रमाण और फलका अवस्थान हो सकता है ? कहना होगा कि ज्ञान असंयोगी वस्तु है, अतः उसमें संयोग-सम्बन्धसे प्रमाण और फल नहीं रह सकते, किंतु तादात्म्य या अभेद सम्बन्धसे ही ज्ञानमें उनकी स्थिति कहनी पड़ेगी । यदि वस्तुतः प्रमाण और फल ज्ञानसे भिन्न हों तो उनका ज्ञानके साथ एकता या तादात्म्य असम्भव ही है । अतः ज्ञानमें ही कथित प्रमाण फलभाव मानना ठीक है । यदि प्रमाण और फल दोनों ही ज्ञानके अंग हों तभी प्रमाण और फल ज्ञानस्थ हो सकते हैं । परंतु ज्ञान स्वलक्षण (सर्वविशेषरहित) अनश्व होता है, अतः उसमें वस्तु सत्प्रमाण और फल नहीं रह सकते, वही ज्ञान अज्ञान व्यावृत्ति या अज्ञानपाहुरुपसे फल है वही अशक्ति व्यावृत्तिरूप आत्मस्वरूप अनात्म बाह्यार्थ प्रकाश शक्तिरूपसे प्रमाण है । ज्ञानका ही बाह्याकार बाह्य घटादि पदार्थ है । वैभाषिकोंके यहाँ बाह्य अर्थ प्रत्यक्ष होता है और सौत्रान्तिकोंके यहाँ ज्ञानगत आकारके वैचित्त्यसे बाह्यार्थका अनुमान होता है । ज्ञानमें जो बाह्य नीलादि सारूप्य भासमान होता है वह अनीलाकारका अपोहरूप ही है, वही बाह्यार्थका व्यवस्थापन करता है जैसे कि प्रतिविम्ब विम्बका व्यवस्थापन करता है । इस दृष्टिसे ज्ञान ही बाह्यार्थ व्यवस्थापक होनेके कारण प्रमाण है । अज्ञान (अर्थात् ज्ञानभिन्न अन्य) की व्यावृत्तिरूपसे ज्ञानत्व सामान्य ही प्रमाण फल है क्योंकि वह व्यवस्थाप्य है ।

उस मतमें भी प्रमेय परमार्थतः भिन्न है यही बात सौत्रान्तिकके यहाँ प्रसिद्ध है — 'नहि वित्तिसत्तैव तद्देदनायुक्ता, तस्याः सर्वत्राविशेषात् । तान् तु मारूप्यमाविशत्, स्वरूपं यद्वदयेत्' । अर्थात् ज्ञानकी सत्ता ही अर्थकी वेदना नहीं हो सकती क्योंकि वित्ति (ज्ञान) सत्ता तो सभी अर्थोंमें समान है । ज्ञानमात्र सर्व ज्ञेय साधारण है, अतः उस वित्तिमें प्रविष्ट होकर स्वरूप्यघटित करनेवाला अर्थात् ज्ञानको स्वरूपसे आकारित करनेवाला बाह्यार्थ हाना चाहिये । वही अपने रूपसे वित्तिको स्वरूप बनाता हुआ वित्तिको सविषय बनाता है । परंतु विज्ञानवादके अनुसार वस्तुतः सर्व व्यवहार पूर्वोक्त रीतिसे ज्ञानमें ही हो सकता है, ज्ञानभिन्न बाह्यार्थ नहीं हो

सकता । क्योंकि बाह्यार्थ असम्भव है । यहाँ यह विचारणीय है कि क्या बाह्यार्थ घटादि परमाणुरूप ही हैं या परमाणुसमूह ? परमाणुघटादि प्रत्ययके आलम्बन नहीं हो सकते; क्योंकि व्यवहारमें एक और स्थूल घटाद्याकाराभास ज्ञान होता है परम सूक्ष्म परमाण्वाभास ज्ञान नहीं होता । अन्याभास ज्ञान अन्यको विषय नहीं कर सकता । अतः एक घटाद्याभास ज्ञान अनेक परम सूक्ष्म परमाणुओंको विषय नहीं कर सकता । यदि ऐसा नहीं माने तो घटाभास ज्ञानके सर्वगोचर होनेसे सर्वज्ञतापत्ति हो जायेगी । इसलिये एक-एक परमाणु घटादि प्रत्ययका परिच्छेद्य नहीं हो सकता है । परमाणु समूह भी घटादिप्रत्यय परिच्छेद्य नहीं बन सकते, क्योंकि समूहका समूहियोंसे भिन्न या अभिन्नरूपसे निरूपण नहीं हो सकता । अभिन्न कहे तो पूर्वोक्त दोष ही होगा भिन्न कहे तो समूहियोंके पृथक् हो जानेपर भी उसकी सत्ता रहनी चाहिये, भिन्न होनेपर भी दोनों किसी सम्बन्धसे सम्बन्धित हैं या नहीं ? यदि हैं तो कौन सम्बन्ध है समवाय सम्बन्ध कहे तो वह समवायियोंसे सम्बन्धित हैं या नहीं ? यदि नहीं तो वह स्वयं असंबद्ध दूसरोको कैसे सम्बन्धित करेगा । यदि स्वयं सम्बन्धान्तरसे सम्बन्धित है तो वह सम्बन्ध सम्बन्धान्तर सांपक्ष होगा इस तरह अनवस्था प्रसङ्ग होगा ।

यह भी विचारणीय है कि घटादिगत स्थूलत्वादि प्रतिभासमान ज्ञानका धर्म है अथवा प्रतिभासकालमें प्रतिभासित अर्थका । यदि पहली बात मान्य है तो ज्ञान-स्वांशका ही अवलम्बन करता है । अतः ज्ञानभिन्न अर्थ नहीं है यह पक्ष स्वीकृत हो गया, यदि कहा जाय कि रूपपरमाणु ही निरन्तर (सिलकर) एक विज्ञानके विषय होकर स्थूलरूपसे भासित होते हैं ऐसा माननेमें भ्रान्तिको भी कोई स्थान नहीं । वे परमाणु नहीं हैं यह तो नहीं कहा जा सकता । इसी तरह वे सम्मिलित नहीं हैं यह भी नहीं कहा सकता । एक विज्ञानोपासोही (एक विज्ञानके विषय) नहीं है यह भी नहीं कहा सकता, अतः भले ही नीलत्वादिके तुल्य स्थूलत्व परमाणु-का धर्म न हो क्योंकि नीलत्वादिकी तरह वह प्रत्येक परमाणुमें नहीं है परंतु प्रतिभासदशापन्न परमाणुओका स्थूलत्वादि बहुत्वादिके समान सावृत्तिक (मायिक) धर्म हो सकता है ।

ग्रहेऽनेकस्य चैकेन किञ्चिद्रूपं हि गृह्यते ।

साम्प्रतं प्रतिभासस्थ तदेकात्मन्यसंभवात् ॥ १ ॥

न च तद्दर्शनं भ्रान्तं नानावस्तुग्रहाद्यतः ।

सांवृतं ग्रहणं नान्यत् न च वस्तुग्रहो भ्रमः ॥ २ ॥

अर्थात् एक ज्ञानसे अनेक परमाणुओका ग्रहण होनेपर सावृत स्थूलरूप भासित होता है । विशकलित परमाणुत्वको स्थूल बुद्धि ढक देती है इसीलिये वह सावृत्ति है, एक-एक परमाणुओमें स्थूल बुद्धि असम्भव है, इस तरह स्थूल दर्शनको भ्रान्त नहीं कहा जा सकता । क्योंकि नाना वस्तु परमाणु उसके विषयमें हैं ही । जो

भिन्न बुद्धिसे गृहीत होते हैं वे ही मिलित होकर एक बुद्धि गृहीत होकर स्थूलप्राकारसे प्रतिभासित होते हैं ।

विज्ञानवादी बाह्यार्थवादीके इस पक्षका भी खण्डन करता है और कहता है कि परमाणुओंमें नैरन्तर्यकी प्रतीति भ्रान्ति ही है क्योंकि रूप परमाणु गन्ध, रस, स्पर्श, परमाणुओंसे व्यवहित ही हैं अव्यवहित (निरन्तर) नहीं, जैसे दूरसे देखने-पर व्यवधानयुक्त अनेक वृक्षोंमें भी एक सघन वन प्रत्यय होता है । उसी तरह सान्तर व्यवहित परमाणुओंमें स्थूल प्रत्यय भ्रान्ति ही है । इस घटादि प्रत्यय भीतः गलः, इस ज्ञानके तुल्य भ्रान्ति ही है अतः परमाणु घटादि प्रत्ययके विषय नहीं हो सकते ।

कुछ लोगोका कहना है कि स्थूल प्रत्यय स्वलक्षण विषयक है अतः निर्विकल्पक प्रत्यय होनेसे भ्रान्त नहीं है ।

सविकल्प प्रत्यय अवस्तुभूत सामान्यविषयक होनेसे भ्रान्त होता है । परतु यह ठीक नहीं क्योंकि यद्यपि 'स्थूलम्' यह ज्ञान व्यक्ति ज्ञान है व्यक्तिमें सम्बन्ध ग्राह्य होनेसे वह शब्द वाच्य भी नहीं है तो भी पूर्वोक्त युक्तिसे स्थूल प्रत्यय भ्रान्त है । अतः वह प्रत्यय नहीं 'कल्पनापोढमभ्रान्त प्रत्यक्षम्' यही प्रत्यक्षका लक्षण है अभिलाषादि कल्पनारहित कल्पना पाठ होनेपर भी वह अभ्रान्त नहीं है । इस तरह यदि परमाणुसमूह घटादि परमाणुओंसे अभिन्न है तो परमाणु स्वरूप ही होनेसे वे घटाद्याभास प्रत्ययके गोचर नहीं हो सकते । यदि भेद है तो गवाश्वादिके समान अत्यन्त विलक्षण होनेसे उनमें तादात्म्य नहीं बन सकता । समवायसम्बन्ध भी निराकृत ही है । इसी तरह जाति-गुण-कर्मादिका भी प्रत्याख्यान किया जा सकता है । जो जो प्रतिभासित होता है वह-वह विचारा सह है । अप्रतिभासमानके सद्भावमें कोई प्रमाण नहीं है । अतः कोई भी प्रत्यय बाह्यालम्बन नहीं होते हैं ।

विज्ञानवादीका यह भी कहना है कि यह नहीं कहा जा सकता कि विज्ञान इन्द्रियकी तरह स्वयं विलीन (अज्ञात) रहकर ही अर्थका प्रकाशन करेगा । यह भी नहीं कहा जा सकता कि जैसे इन्द्रिय अर्थ विषयक ज्ञान उत्पन्न करती है वैसे ही ज्ञान भी किसी अन्य ज्ञानको उत्पन्न करेगा क्योंकि इस तरह समान होनेसे वह ज्ञान भी ज्ञानान्तर जनन करेगा तो अनवस्था प्रसङ्ग होगा । यह भी नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान अर्थमें प्राकट्य लक्षण फलका आधान करेगा, क्योंकि अतीत अनागत विषयोंमें अविद्यमानताके कारण प्राक्स्वरूप फलका आधान हो ही नहीं सकता, इसलिये यह मानना चाहिये कि ज्ञानस्वरूपकी प्रत्यक्षता ही अर्थकी प्रत्यक्षता है वह ज्ञान अनाकार होनेसे स्वभावतः भेदरहित है फिर उसके द्वारा अर्थभेद व्यवस्था कैसे हो सकती है ? अतः अर्थभेद व्यवस्थाके लिये ज्ञानमें आकारभेद भी स्वीकार करना आवश्यक है । पीछे कहा जा चुका है कि 'चित्सिद्धा ही अर्थवेदन नहीं हो

सकती इत्यादि, परंतु आकार एक ही अनुभूत होता है। यदि यह विज्ञानका आकार है तो अर्थ सद्भावमें कोई प्रमाण नहीं सिद्ध होता।

एक रूपसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानोंमेंसे घटज्ञान, पटज्ञान आदि रूपसे प्रति-विषयोमे पक्षपात प्रतीत होता है, वह ज्ञानगत विरोधके बिना उपपन्न नहीं हो सकता; अतः ज्ञानमें विषय-सारूप्य मानना चाहिये। यदि ज्ञानमे विषयसारूप्य मान लिया गया तो ज्ञानकी विषयाकारता ज्ञानसे ही अवरुद्ध है फिर बाह्यार्थ सद्भावकी कल्पना व्यर्थ ही है। इसी तरह सहोपलम्भ नियमसे भी विषय और ज्ञानका अभेद मालूम पड़ता है, इनमेंसे एकके उपलम्भ हुए बिना दूसरेका उपलम्भ नहीं होता।

यदि ज्ञान और अर्थका स्वाभाविक भेद हो तो यह नियम नहीं बन सकता घट-पट आदि भिन्न हैं तो उनमें सहोपलम्भका नियम नहीं होता है। मृत्तिका और घटमें सहोपलम्भका नियम होता है अतः मृत्तिकासे भिन्न घटकी सत्ता नहीं होती। यही स्थिति ज्ञान और ज्ञेयके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। जिसका जिसके साथ नियमेन सहोपलम्भ होता है वह उससे भिन्न नहीं होता। जैसे एक चन्द्रसे भ्रान्ति सिद्ध द्वितीय चन्द्रका भेद नहीं होता उसी तरह ज्ञानके साथ अर्थका सहोपलम्भ नियत है।

भिन्न-भिन्न घट-पटको एव दो अश्विनीकुमारोंका भी ऐसा सहोपलम्भ नियम नहीं होता, अपितु पृथक् भी उनका उपलम्भ होता है। बादलसे एकके ढके रहनेपर भी दूसरा दीखता है। इस तरह भेद व्यापक अनियमके विरुद्ध सहोपलम्भ नियम तद् व्याप्यभेदको निवृत्त कर देता है, यही विज्ञानवादियोंका सिद्धान्त निम्नकारिकासे व्यक्त होता है।

सहोपलम्भनियमादभेदो

नीलतद्धियोः ।

भेदश्च

भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्द्राविवाद्भ्ये ॥

अर्थात् सहोपलम्भके नियमसे नीलज्ञेय और नीलज्ञानका अभेद ही है। भ्रान्तिके कारण भेद उसी तरह प्रतीत होता है जैसे अद्वितीय चन्द्रमें चन्द्रका भेद प्रतीत होता है। जैसे स्वप्न, माया, रज्जु, सर्प तथा गन्धर्व नगरादि प्रत्यय बाधार्थके बिना ही ग्राह्य-ग्राह्यकार होते हैं, वैसे ही जागरितकालके घटादि-प्रत्यय भी बाह्यार्थ बिना ही ग्राह्य-ग्राह्यकार होते हैं। क्योंकि सभीमें प्रत्ययत्व समान है। अर्थात् जो-जो प्रत्यय है वह सभी बाह्यार्थशून्य है। किसीका भी बाह्यार्थ आलम्बन (विषय) नहीं होता है।

प्रत्ययत्व स्वभाव ही इसमें हेतु है। जैसे शिंशपात्व निम्बत्वादिमात्रानुबन्धिनी वृक्षता होती है, उसी प्रकार प्रत्ययत्वमात्रानुबन्धिनी बाह्यानालम्बनता रहती है। जैसे शिंशपात्व निम्बत्वादि जहाँ हैं वहाँ वृक्षता होती ही है, उसी तरह प्रत्ययत्व जहाँ है वहाँ निरालम्बनता है ही। इसी तरह प्रत्ययत्व हेतुसे ही स्वप्नादि प्रत्ययोंके समान ही घटादि प्रत्ययकी निरालम्बनता सिद्ध होती है।

उम सम्बन्धमें सौत्रान्तिक कहता है कि बाह्यार्थ न रहनेसे चटादि प्रत्ययोगे विचित्रता किसी तरह उपपन्न नहीं हो सकती है, अतः बाह्यार्थका स्वीकार करना आवश्यक है। उम विषयमें निम्न अनुमान किया जा सकता है जिसके रहनेपर भी जो कादाचित्क होते हैं वे तद्भिन्न हेतुकी अपेक्षा रखते हैं जैसे मुझमें आन्ध-विज्ञान जिगमिषा (गमनेच्छा) विवक्षा (भाषणेच्छा) न रहनेपर भी जब वचन, गमन प्रतिभास प्रत्यय होता है तो उन्हें मेरेसे भिन्न पुरुषान्तर मंतान-सापेक्ष मानना पड़ता है। इसी तरह 'अहं अहम्' उस रूपसे उदीयमान आल्य विज्ञानसे जायमान गच्छ स्वर्श, रूप, रस, गन्ध और सुखादि प्रत्यय कादाचित्क होते हैं, ये छहों अर्थ प्रकृतिके हेतु होनेसे प्रवृत्ति विज्ञान कहे जाते हैं। ये आल्य विज्ञानके रहनेपर भी कभी ही होते हैं, अतः ये भी ज्ञानातिरिक्त हेतुसे उत्पन्न होने चाहिये। जो आल्य-विज्ञान सताना-तिरिक्तका कादाचित्क प्रवृत्ति विज्ञान विशेषका हेतु है वही बाह्यार्थ है। यहाँ विज्ञान-वादी कहता है कि वासनापरिपाक प्रत्ययमें कादाचित्क होनेसे प्रवृत्ति विज्ञानका बाह्यार्थ-निरपेक्ष ही कादाचित्क उत्पाद बन जायगा। क्योंकि विज्ञानवादके अनुसार एक सतानवर्ती आल्य-विज्ञानकी प्रवृत्ति विज्ञानजनन-शक्ति ही वासना है, उम शक्तिका स्वकार्य जननाभिमुखता ही परिपाक है। स्वसतानवर्ती पूर्व क्षण ही उम परिपाकका प्रत्यय हेतु है। अर्थात् प्रवृत्ति-विज्ञानजनक आल्य-विज्ञानसे पूर्व उसी आल्य-विज्ञान संतानमें जब कभी उत्पन्न नीलादि प्रत्यय ही वासना परिपाकका हेतु (प्रत्यय) है।

विज्ञानवादीके अनुसार स्वसंतानपतित नील प्रत्ययक्षण ही उत्तरवर्ती वासना परिपाकका हेतु माना जाता है। सर्वज्ञादि मंतानवर्ती क्षण वासना परिपाकका कारण नहीं होता इसपर सौत्रान्तिकका कहना है कि प्रवृत्ति विज्ञानजनक आत्मा-विज्ञानवर्ति-वासना परिपाकके प्रति आल्य विज्ञान सतानवर्ती सभी क्षणोंको हेतु कहना चाहिये अन्यथा किसी भी क्षणको हेतु नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सभी क्षण सतानान्तःपाती हैं फिर क्या कारण है कि कोई क्षण वासना परिपाकका हेतु बने और कोई न बने। यहाँ विज्ञानवादी कहता है कि क्षणभेदसे शक्तिमें भेद होता है। इस प्रकार आल्य विज्ञान सतानवर्ती क्षणोंमें भेद है तथा प्रति-क्षणोंमें शक्ति भेद भी है। वह शक्तिविशेष कादाचित्क ही होता है। उस शक्त एक क्षणके अनन्तर उसका कार्य आल्य-विज्ञान क्षणवर्तिवासना परिपाक भी कादाचित्क होगा। पुनश्च तज्जनित प्रवृत्ति विज्ञान भी कादाचित्क होगा। विज्ञानवादीके इस पक्षका खण्डन करता हुआ सौत्रान्तिक कहता है कि फिर तो आल्य-विज्ञान सतानसे एक ही आल्य-विज्ञानमें नीलादि प्रवृत्ति विज्ञानजनकता होगी, और उसमें प्राक्तन-आल्य विज्ञानवर्ती एरु नीलादि विज्ञान क्षणमें वासना परिपाक हेतुता होगी। उस तरह एक मंतानमें एक ही आल्य-विज्ञान प्रवृत्ति विज्ञानजनन समर्थ होगा और उससे प्राक्तन-

आलय-विज्ञानवती नील विज्ञान क्षण ही वासना परिपाकका हेतु होगा । इस तरह एक आलय संतानमें दो ही क्षण कारण होंगे और कोई भी क्षण कारण नहीं होगा, परंतु होता है इसके विपरीत । अनेको बार नील विज्ञान होते ही हैं । यदि तदितर पूर्व ज्ञानोंमें परिपाक हेतुता हो और उत्तरोत्तर आलय विज्ञानोंमें प्रवृत्ति विज्ञान जनकता हो तो यह कैसे कहा जा सकता है कि क्षण भेदसे शक्तिभेद मान्य है । ऐसी स्थितिमें यदि विज्ञानवादी आलयविज्ञान संतानवर्ती सभी क्षणोंका प्रवृत्ति विज्ञान जनन समर्थ तथा सभी तत्संतानवर्ती प्राक्तननीलादि ज्ञान क्षणोंको वासना परिपाकका हेतु मानता है तो समर्थमें कालक्षेप होता नहीं । अतः सदा ही नीलज्ञान होते रहना चाहिये साथ नीलज्ञानको कादाचित्क न होना चाहिये ।

इस प्रकार विचार करनेपर स्वसंतान मात्राधीन होनेपर कादाचित्कत्वके विरुद्ध मदा तत्त्वकी प्राप्ति होती है । उससे नीलज्ञानका कादाचित्कत्व निवृत्त होगा, परंतु यह उपलब्धि विरुद्ध है । नीलज्ञानमें कादाचित्कत्व, उपलब्ध होता ही है । इसीलिये आलय विज्ञानसे अन्य बाह्यार्थ सापेक्ष होनेपर भी नीलज्ञानका कादाचित्कत्व बन सकता है और तब जिसके रहनेपर भी जो कादाचित्क होते हैं वे तदतिरिक्त सापेक्ष होते हैं । इस प्रकार सौत्रान्तिकके द्वारा कथित व्याप्य व्यापकका व्याप्ति सम्बन्ध सिद्ध होता है ।

यदि कहा जाय कि नीलविज्ञान हेत्वन्तर अपेक्षा रख सकता है, पर वह हेत्वन्तर अन्य आश्रय-विज्ञान संतान ही हो सकता है बाह्यार्थ नहीं, परंतु यह ठीक नहीं, कारण कि विज्ञानवादी प्रवृत्ति विज्ञानोंको संतानान्तर निबन्धन नहीं मानते । जिस समय चैत्रसंतानमें गमन, वचन प्रतिभासप्रत्यय विच्छिन्न होते हैं उस समय मैत्र संतानमें रहनेवाले वचन, गमन प्रतिभास निमित्तक ही चैत्रमें गमनवचनादि गोचर प्रवृत्ति विज्ञान उत्पन्न होते हैं किंतु विवक्षु, जिगमिषु चैत्रमें होनेवाले गमन-वचन प्रतिभास चैत्र संतान हेतुक ही होते हैं । स्वसंतान हेतुक प्रवृत्ति विज्ञान माननेपर पूर्वोक्तरीतिसे नीलादिज्ञानका कादाचित्क नहीं बन सकता । अतः नीलादि-ज्ञानको बाह्यार्थ सापेक्ष मानना ही ठीक है ।

यदि प्रवृत्तिज्ञानको अन्यसंतान निमित्तक माना जाय तो भी वह सत्त्वान्तर संतान भी तो सदा सान्निहित ही रहता है । अतः प्रवृत्तिविज्ञानोंका कादाचित्कत्व बन नहीं सकता । क्योंकि चैत्रसंतानसे मैत्रसंतानका देश तथा कालद्वारा विप्रकर्ष (दूरी) सम्भव नहीं है । इसमें यह कारण है कि विज्ञानवादीको विज्ञानसे भिन्न देशकालादि अमान्य ही होते हैं ।

अमूर्त होनेसे विज्ञानोंको अदेशात्मक माना जाता है अतः देशकृत विप्रकर्ष नहीं हो सकता । इसी तरह विज्ञान संतानोंका कालकृत विप्रकर्ष भी नहीं हो सकता क्योंकि मादिता दोष प्रसक्तिके डरसे विज्ञानवादी नवीन सत्त्वों (विज्ञानसंतानरूप

आत्मा) का आविर्भाव नहीं मानने हैं। जब देगठन या कालकृत विप्रकर्ष सम्भव ही नहीं तो मतानान्तर सन्निधान भी सर्वदा रहेगा ही, फिर प्रवृत्ति विज्ञानको सदा ही उत्पन्न होते रहना चाहिये किन्तु प्रवृत्ति विज्ञानकी कादाचित्कता ही प्रत्यक्ष है, अतः बाह्यार्थ मानना अत्यावश्यक है उसके बिना कादाचित्क प्रवृत्तिविज्ञान नहीं बन सकता।

सौत्रान्तिकके इस मतका ग्वण्डन करता हुआ विज्ञानवादी कहता है कि वासना वैचित्र्यसे प्रत्ययवैचित्र्य उत्पन्न होही सकता है। उसका अभिप्राय यह है कि स्वसतानसेही प्रवृत्तिविज्ञानोंकी उत्पत्ति मानी जायतो भी उसके कादाचित्कत्वकी उपपत्ति हो जायगी। अतः सौत्रान्तिकके बाह्यार्थसाधक हेतुकी विपक्ष व्यावृत्ति सिद्धि हैं जिनमे वह अनेकान्तक है। नीलादि ज्ञानको बाह्यनिमित्तक मान भी लें तो भी क्यों कभी नीलज्ञान कभी पीतज्ञान होता है यदि बाह्यनील पीतके सन्निधान-अग्निसन्निधानमे यह व्यवस्था कही जाय तो भी प्रश्न होगा कि पीत सन्निधानमें भी नीलज्ञान क्यों नहीं होता, पीत ही ज्ञान क्यों होता है। यदि कहें कि पीतमें नीलज्ञानजननकी सामर्थ्य नहीं है तो भी प्रश्न होगा कि यह सामर्थ्य-असामर्थ्यका भेद कैसे होता है। यदि हेतुभेदसे कहा जाय तो इसी तरह क्षणों (क्षणिक आल्य विज्ञानों) में भी स्वकारण भेदके कारण शक्ति भेद हो ही सकता है संतानीक्षण ही कार्य भेदके हेतु होंगे, वे प्रति कार्य भिन्न ही होते हैं। मतान नामकी कोई एक वस्तु क्षणोंकी उत्पादिका नहीं होती जिसके अभेदसे क्षण भेदमें वाया पड़ सके।

जो यह कहा जाता है कि आल्य-विज्ञान क्षणोंमें स्वस्वहेतु वैचित्र्यसे सामर्थ्य भेद होनेपर भी एक मतानस्थ होनेके कारण सबमें एक ही प्रकारकी सामर्थ्य होगी वह इसलिये ठीक नहीं कि यह कहा ही जा चुका है कि सतानके अभेद होनेपर भी क्षणोंमें सामर्थ्यभेद है। सौत्रान्तिकका कहना है कि क्षणके भेदा-भेदमे शक्तिका भेदा-भेद नहीं हो सकता। क्योंकि भिन्न क्षणोंमें भी एक सामर्थ्यकी उपलब्धि होती है। अन्यथा यदि एक ही क्षण नीलज्ञान जनन समर्थ हो तो पुनः कभी भी नील-ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये। क्योंकि इस दृष्टिमे जो समर्थ क्षण था वह व्यतीत हो चुका और अणान्तरोंमें नीलज्ञानजनन सामर्थ्य है ही नहीं, इसलिये क्षण भेदसे सामर्थ्य भेद होता है यह पक्ष उचित नहीं। एक ज्ञान सतानमें अनेकों बार नीलज्ञान होता ही है किन्तु सतान भेदसे ही सामर्थ्य भेद होता है। अतः आल्य विज्ञान सतानोंसे भिन्न बाह्य नीलादि सतानोंसे नीलादि प्रवृत्तिविज्ञानोंका उत्पन्न होना सगत होता है। इस दृष्टिसे बाह्यार्थ सिद्ध होता है परंतु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि भिन्न संतानोंमें सामर्थ्यभेद मान्य होगा तो यह भी कहना पड़ेगा कि भिन्न सतानोंमें एक सामर्थ्य नहीं है। ऐसी स्थितिमें विभिन्न नीलसंतानोंमें भी नीलकारके

आधानकी एक सामर्थ्य होनी चाहिये । फिर तो अन्यनील सतानोका सन्निधान रहने-पर भी नीलज्ञान न होना चाहिये, परन्तु यह सब अनुभवविरुद्ध है । अतः नील-पीतादि सतानोके समान ही स्वकारणाधीन उत्पन्न होनेवाले क्षणान्तरोमें भी किन्हीमे सामर्थ्य विशेष होता है किन्हीमें नहीं । इस प्रकार एक आल्यविज्ञान सतति-पतित क्षणोमे किसी ही ज्ञानक्षणमें सामर्थ्य विशेष होता है किसीमें नहीं होता । स्वप्रत्यय (पूर्वोत्पन्न नीलज्ञान) से आसादित वही सामर्थ्यातिशय वासना है ।

किन्हीमे नीलाकार ही ज्ञान होता है पीताकार नहीं और किसीसे पीताकार ही ज्ञान होता है इस तरह वासनावैचित्र्यसे ही ज्ञानवैचित्र्य बन सकता है ।

विज्ञानवादीके कहनेका सार यह है कि बाह्यार्थवादमे भी नीलादि अर्थ क्षणिक होते हैं तथाच नीलसतान भी अनेको होते हैं । उनमे भी सतानभेदसे यदि शक्ति-भेद माना जाय तो लीलादि सतानोमें भी एक प्रकारकी शक्ति न सिद्ध होगी । तथा च एक ही नील नीलाकार ज्ञान उत्पन्न कर सकेगा, सतानान्तरवर्ती नील नीलाकार ज्ञानका उत्पादक न हो सकेगा । अतः क्षणभेदसे सामर्थ्यभेद माननेमे जो दोष आते हैं, संतान-भेदसे सामर्थ्यभेद माननेपर भी वे ही दोष हो सकते हैं । अतः कहना पड़ेगा कि जैसे किन्ही सतानोंके परस्परभिन्न रहनेपर भी उनमे समान सामर्थ्य होता है तभी अनेक नीलसतानोंसे समानरूपसे नीलाकारज्ञान उत्पन्न हो सकता है । अतः सौत्रान्तिकको मानना पड़ेगा कि अनेक नीलपीतादि सतानोमे स्वकारणभेदसे ही सामर्थ्यभेद होता है । तथा च कोई नीलज्ञानका जनक होता है कोई पीत ज्ञानका । इसी तरह आल्यविज्ञानपतित क्षणोके सम्बन्ध भी व्यवस्था हो सकती है । किन्ही क्षणोमें ही उस प्रकारो आसादित वासनारूप सामर्थ्यातिशय होता है, जिससे नीलादि प्रवृत्तविज्ञान होते हैं । सबसे वह सामर्थ्य नहीं होता । अतः न तो यही कहा जा सकता है कि हर एक आल्य विज्ञानसे नीलज्ञान होता रहेगा और न यही कहा जा सकता है कि एक ही आल्यविज्ञानसे एक ही नील ज्ञान होगा ।

इस तरह वासनावैचित्र्यसे सज्ञानवैचित्र्य बन सकता है । अतः प्रलयसे अति-रिक्ति बाह्यार्थके सद्भावमे कोई प्रमाण नहीं है । इस तरह आल्यविज्ञान सतान-पतित असविदित पूर्वज्ञान ही वासना है । यद्यपि पहले शक्तिको वासना कहा गया था पर यहाँ शक्ति शक्ति मानकर अभेद समझकर पूर्व विज्ञानको ही वासना कहा गया है । वर्तमान ज्ञानमे विदित होता है, अनागत अमिद्ध ही है । अतः पूर्वविज्ञानको ही असविदित कहा गया है । वासनाके वैचित्र्यसे ही नीलादि अनुभवोमे भी विचित्रता बनती है । पूर्वविज्ञानमे विचित्रता कैसे हुई इस शकाका समाधान यही है कि अनादि संसारमे पूर्व-पूर्व नीलादि अनुभवोंसे ही उत्तरोत्तर विज्ञानोमे वासना-वैचित्र्य सम्पन्न होता है ।

इस प्रकार पूर्व नीलादि अनुभवोंके वैचित्र्यसे वासनावैचित्र्य होता है और वासनावैचित्र्यसे अनुभवोंमें भी विचित्रता आती है। बीजाङ्कुरके समान यह परम्परा भी अनादि ही है। अन्य-व्यतिरेकसे भी यही मान्य पड़ता है कि वासनावैचित्र्य ही ज्ञान-वैचित्र्यका हेतु है, क्योंकि स्वप्नादिमें स्पष्ट है कि बाह्यार्थके बिना भी वासनाके कारण ही विचित्र ज्ञान उत्पन्न होते हैं। यह उभयसम्मत है। परन्तु वासनाके बिना अर्थनिमित्तक ज्ञान-वैचित्र्य उभयसम्मत नहीं है। अतः बाह्यार्थका अस्तित्व नहीं सिद्ध होता। इस प्रकार विज्ञानवादीके बाह्यार्थापलापका श्रद्धासंशङ्कराचार्यादि वैदिक आचार्योंने निराकरण किया है। 'नाभाव उपलब्धे'

अर्थात् बाह्यार्थका अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका उपलम्भ होता है।

यहाँ विज्ञानवादीसे प्रश्न हो सकता है कि क्या उपलम्भ न होनेसे बाह्यार्थका असत्त्व होता है या वह उपलम्भ ही बाह्यविषयक नहीं है। बाह्यार्थविषयक होनेपर भी बाधक प्रमाणके सद्भावसे बाह्यार्थाभाव है। प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं क्योंकि घटादिका उपलम्भ सर्वजनप्रसिद्ध है। खम्भ, कुड्य, घट पटादि बाह्यविषयक प्रत्येक ज्ञानोसे स्पष्टतया बाह्यार्थ भासित होते हैं। यदि कहा जाय कि उपलम्भ तो अवश्य है किन्तु उपलम्भका विषय बाह्य घटादि असत् है तो यह भी ठीक नहीं, कारण कि जैसे कोई भोजन तथा भोजनसाध्य तृप्तिका अनुभव करता हुआ भी कहे कि 'मैं भोजन करता हूँ न तृप्त ही होता हूँ' तो उसका कहना अनर्गल है। इसी तरह इन्द्रिय-सन्निकर्षसे बाह्यार्थका उपलम्भ करते हुए भी विज्ञानवादीका यह कथन कि मैं बाह्यार्थका अनुभव नहीं कर रहा हूँ सर्वथा अनर्गल है। यदि वह कहे कि मैं यह नहीं कहता कि मैं बाह्यार्थका अनुभव नहीं करता हूँ अपितु यह कहता हूँ कि उपलब्धिसे भिन्न बाह्यार्थ नहीं है। परन्तु यह भी उसका कथन ठीक नहीं यतः उपलब्धिवशसे ही बाह्यार्थ स्वीकृत होता है। उपलब्धिग्राहक साक्षीसे जैसे उपलब्धि गृहीत होती है वैसे ही उसकी बाह्यविषयता भी गृहीत होती है। घटादिके ज्ञानके साथ घटादि बाह्यविषय भी गृहीत होते हैं इसीलिये बाह्यार्थका प्रत्याख्यान करने-वाला भी कहता है कि अन्तर्ज्ञेयरूप है। वही बाह्यवत् प्रतीत होता है। वे लोग भी लोकप्रसिद्ध बाह्यार्थविषयिणी सवित्को समझते हुए ही उसके प्रत्याख्यानके लिये बाह्यार्थको बहिर्वत् (बाह्यतुल्य) कहते हैं। अन्यथा बहिर्वत् कहनेका कुछ भी अर्थ नहीं रह जाता।

अत्यन्त असत्के साथ उपमा उपमेयभाव भी नहीं बन सकता कोई यह नहीं कहता है कि विष्णुमित्र बन्ध्यापुत्रके तुल्य भासित होता है। इन सब दृष्टियोंसे अनुभवके अनुसार तत्त्व स्वीकार करनेवाले स्पष्टरूपसे कहते हैं कि घट पटादि बाह्य अर्थ ही भासित होता है बहिर्वत् नहीं।

यदि तीसरा पक्ष कहा जाय अर्थात् बाह्यमें अर्थ असम्भव है अतः बाह्यवत् कहा जाता है। परतु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सम्भवासम्भवका निर्णय प्रमाणकी प्रवृत्ति अप्रवृत्तिसे ही होता है। सम्भवासम्भवके आधारपर प्रमाणकी प्रवृत्ति अप्रवृत्ति नहीं होती। जो वस्तु प्रत्यक्षादि किसी प्रमाणसे उपलब्ध होती है, वह सम्भव है। जो किसी प्रमाणसे भी विदित न हो वह असम्भव है। यहाँ तो यथा-योग्य प्रत्यक्षानुमान आगमादि सभी प्रमाणोंसे बाह्यार्थ उपलब्ध होता है। ऐसी स्थितिमें उसमें सम्भवासम्भव आदि विकल्पोंको स्थान ही नहीं है। जो कहा जाता है कि ज्ञानमें विषय सारूप्य होनेसे बाह्यार्थका भान होता है यह भी ठीक नहीं कारण कि यदि बाह्यार्थ विषय ही न हो तो ज्ञानसे विषय सारूप्य भी क्या होगा? विषय तो इदन्ता एव बाह्यरूपसे ही उपलब्ध होता है फिर उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है।

मार यह है कि यद्यपि घट-पटादि स्थूलरूपमें भासित होते हैं परम सूक्ष्ममें नहीं। नाना दिशाओं एवं देशोंमें व्यापी होना ही अर्थकी स्थूलता है, अर्थात् युगपद्भिन्न देश व्यापित्व या भिन्न दिग्व्यापित्व ही वस्तुकी स्थूलता है। तथाच एकदिग्देशमें अर्थका आवरण और अन्य दिग्देशमें अनावरणरूप विरुद्धधर्मयोगसे एक ही स्थूलवस्तुमें भेदकी प्रसक्ति होती है। परंतु यदि वस्तु ज्ञानाकार ही हो तो उपर्युक्त दोष प्रसक्त नहीं होता। कारण ज्ञानका सदा अनावरण ही रहता है। जिस समय जिस रूपमें जितनी वस्तु दीखती है वह उतनी है ही। क्योंकि विज्ञानसे भिन्न वह है ही नहीं। परतु यदि वस्तु बाह्य है तो वह सर्वात्मना कभी गृहीत हो ही नहीं सकता। हाथमें रखे हुए भी आमलकका अधोभाग नहीं दिखायी पड़ता। इस तरह एक ही वस्तुका कोई अंश दृष्टिगोचर होता है कोई नहीं। इस दर्शन-अदर्शनसे उसे आवृत अनावृत दोनों ही कहना पड़ेगा, तथाच विरुद्ध धर्मके अध्याससे एक ही वस्तुमें भेद प्रसक्त होगा।

विज्ञानवादमें यह दोष नहीं होता कारण कि विज्ञानमें जितना आकार भासित होता है उतनी ही वह वस्तु है। उनके यहाँ अदृष्ट आवृत पदार्थ है ही नहीं, तथापि विज्ञानवादीका उपर्युक्त कथन ठीक नहीं, कारण कि इस प्रकारका दोष तो उसके मतमें भी अपरिहार्य ही होगा। भले ही वस्तुका ज्ञानाकार भान लेनेसे उसमें अवभास-अनवभासरूप विरुद्ध धर्मका प्रसङ्ग न हो। परंतु एक ज्ञानसे प्रकाशित अनेक तन्तु देशोंमें रहनेवाले चित्रपटमें तद्देशत्व अतद्देशत्व रूपविरुद्ध धर्म देखा ही जाता है। प्रदेशभेदसे उसीमें कम्प और अकम्प भी देखते हैं। रक्तत्व-अरक्तत्वकी उपलब्धि भी उसीमें होती है। इस प्रकार पटको ज्ञानाकार भान ले तो भी विरुद्धधर्मवत्ता तथा भेदप्रसक्ति समान ही है उसका निवारण विज्ञानवादीके लिये अशक्य ही है।

अर्थ और ज्ञानका अंश माना जाय तो और भी अनेक दोष प्रसक्त होंगे । जैसे अवयवी अवयवोंसे भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो भी अवयवी समस्त अवयवोंमें रहता है या प्रत्येक अवयवोंमें । यदि प्रत्येक अवयवोंमें तो भी सम्पूर्णरूपसे रहता है या एक देशसे । यदि समस्त अवयवोंमें अवयवी रहता है तो अवयवीकी उपलब्धि न होनी चाहिये । कारण कि समस्त अवयवोंकी उपलब्धिसे ही अवयवोंकी उपलब्धि हो सकती है । सर्वावयव सन्निकर्ष न होनेसे जब सब अवयवोंका उपलब्ध नहीं होता तो अवयवोंकी उपलब्धि कैसे होगी । जैसे अनेक आश्रयोंमें रहनेवाला बहुत्व किसी एक आश्रयके ग्रहणसे नहीं ग्रहीत होता । इसी प्रकार सहस्र तन्तुओंमें रहनेवाला पट कुछ तन्तुओंके ही ग्रहणसे कैसे ग्रहीत होगा । यदि कहा जाय कि पट अपने अवयवोंद्वारा आरम्भक अवयव तन्तुओंमें रहता है तो आरम्भक अवयवोंसे भिन्न पटके पृथक् अवयव मानने पड़ेगे । इस तरह अनवस्था भी होगी । उन अवयवोंमें भी वर्तनेके लिये पटको अन्य और अवयव अपेक्षित होंगे ।

यदि प्रत्येक अवयवमें अवयवी माना जाय तो एक जगह व्यापार होनेपर अन्यत्र अव्यापार प्रसङ्ग होगा । क्योंकि जिस समय देवदत्त काशीमें वर्तमान रहता है उसी समय काश्मीरमें सन्निहित नहीं रहता । कोई परिच्छिन्न वस्तु अगर एक समयमें ही अनेक स्थानोंमें सन्निहित हो तो उसे एक नहीं अपितु अनेक समझना चाहिये । इस स्थितिमें यदि प्रत्येक अवयवोंमें अवयवी माना जाय तो अनेकत्वापत्ति होगी । फिर एक अवयववर्ती पटके व्यापृत होनेपर भी अन्यावयववर्ती पटको अव्यापृत ही रहना चाहिये ।

यदि कहा जाय कि जैसे गोत्व प्रत्येक गो व्यक्तिमें समाप्त होता है वैसे ही प्रत्येक अवयवा-अवयवी परिसमाप्त हो जाता है तो यह ठीक नहीं कारण कि जैसे गोत्व प्रति व्यक्तिमें प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है वैसे ही अवयवी प्रत्येक अवयवोंमें प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं होता । यदि प्रत्येक अवयवमें पूरा अवयवी मान लिया जाय तो शृङ्गसे भी स्तनका कार्य होना चाहिये । परंतु ऐसा होता नहीं । इसी तरह यदि कहा जाय कि एक अंग दूसरे अंगसे सर्वात्मना संयुक्त होता है तो उपचय नहीं होगा यदि एक देशसे उनका मिलना माना जाय तो उनमें सावयवापत्ति होगी । कल्पित प्रदेश तो मिथ्या होनेसे अकिञ्चित्कर ही होंगे । जो रूपादिमान् होते हैं वे परम कारणकी अपेक्षा स्थूल एवं अनित्य होते हैं जैसे तन्तुकी अपेक्षा पट और अशुओंकी अपेक्षा तन्तु स्थूल होते हैं उसी तरह परमाणुओंको स्थूल और अनित्य होना चाहिये । पृथिव्यादि परमाणुओंमें यदि गन्धादि गुणोंका उपचय माना जाय तो परमाणुओंकी मूर्तियोंका उपचय होगा । गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, इन चार गुणोंसे युक्त होनेके कारण पृथिवी परमाणुको स्थूल होना चाहिये साथ ही वायुमें केवल स्पर्श गुण होनेके कारण उसमें सूक्ष्मता प्राप्त होगी इस प्रकार परमाणुओंमें भी तारतम्य होगा ।

यदि परमाणुओंमें गुणोपचय न माना जाय तो परमाणुकार्य पृथिव्यादिमें भी गुणोपचय नहीं दीखना चाहिये । यदि परमाणुको निरश माना जाय तो द्वयणुकादिमें स्थूलता न बन सकेगी । यदि वह सांश हो गया तो उसमें अनित्यता आदि भी होगी इत्यादि जो दोष वैशेषिकोंके मतमें लागू होते हैं वे सब सौत्रान्तिक एव विज्ञानवादी बौद्धोंके यहाँ भी लागू होंगे । जगत्को अनिवर्चनीय माननेवाले वेदान्तीके लिये तो वस्तुओका विचारासहत्व भूषण ही है । किन्तु बौद्धोंके यहाँ यह नहीं कहा जा सकता ।

बाह्य अस्तित्ववादी जैसे पदार्थोंको बाह्य मानता है उसी तरह विज्ञानवादी उन सभी पदार्थोंको अन्तःसत्य मानता है । यदि आन्तर पदार्थ सत्य हैं तो जैसे बाह्यपदार्थोंमें स्थौल्य आदि असम्भव है वैसे ही आन्तर पदार्थोंमें भी स्थौल्य आदि असम्भव ही होंगे ऐसी स्थितिमें वैशेषिकोंके पक्षमें कहे गये सभी दोष विज्ञानवादमें भी लागू होंगे ।

यदि कहा जाय कि ज्ञानसे अभिन्न अर्थ माननेपर एक बुद्धिभासित पटमें तद्देशत्व अतद्देशत्वादि विरुद्धधर्म संसर्ग प्रसक्त न होंगे; क्योंकि ज्ञानके विषय परमाणु ही होंगे उनमें तद्देशत्व-अतद्देशत्वादिका कोई प्रसङ्ग ही नहीं होगा । परंतु यह भी कथन ठीक नहीं है, कारण कि यहाँ विचारना होगा कि ज्ञान-ज्ञेयका अभेद क्या है । ज्ञान ज्ञेयमात्र है या ज्ञेय ज्ञानमात्र है । पहला पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि यदि अनेक नीलपरमाणुओका आलम्बन करनेवाला ज्ञानज्ञेयमात्र है तो ज्ञेय नानात्वके समान ही एक नीलज्ञानमें भी नानात्वापत्ति होगी । यदि ज्ञेय ज्ञानमात्र माना जाय तो आकारोका ज्ञानसे अभेद होनेसे अनेक आकारोंमें एकत्वापत्ति-दोष होगा ।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि जितने आकार हैं उतने ही ज्ञान हैं; क्योंकि इस तरह नानापरमाणुओको आलम्बन करनेवाले अनेक ज्ञानोंके परस्पर वार्तानभिन्न होनेसे उनमें स्थूल वस्तुका अनुभव असम्भव ही होगा । यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक-एक ज्ञानसे सगृहीत नाना परमाणुओका परामर्शरूप एक विकल्प ज्ञान ही स्थूलालम्बन है । क्योंकि वह ज्ञान भी साकार ही होगा । उसके आकार नाना परमाणुओका भी ज्ञानसे अभेद ही होगा । यदि ज्ञान ज्ञेयमात्र होगा तो ज्ञेयभेदसे ज्ञानमें भेदापत्ति होगी । यदि आकार ज्ञानमात्र होगा तो भी आकारोंमें एकत्वापत्ति होगी, इसलिये स्थूलालम्बन एक ज्ञान असम्भव ही होगा । जैसा कि धर्मकीर्तिका कहना है कि—

“तस्माच्चार्थे न च ज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मनः ।

एकत्वं प्रतिषिद्धत्वाद्बहुष्वपि न सम्भवः ॥”

अर्थात् वृत्ति विकल्पादि पूर्वोक्त तर्कासे बाह्य परमाणु समूहात्मक तथा ज्ञानात्मक आन्तरविषय माना जाय तब भी स्थूलाभास प्रत्यय नहीं बन सकता, क्योंकि पूर्ववर्णित पद्धतिसे ही नाना परमाणुओंका आलम्बन करनेवाले एक ज्ञानमें जैसे स्थूलविषयता नहीं बन सकती उसी तरह परमाणुगोचर नाना ज्ञान हो तो परस्पर वार्तानभिन्न होनेके कारण स्थूलाभास प्रत्यय नहीं हो सकता । अतः ज्ञानाकार स्थूलताके समर्थन करनेवाले विज्ञानवादीको भी प्रमाणकी प्रवृत्ति एव अप्रवृत्तिके आधारपर ही सम्भव-असम्भवकी व्यवस्था माननी पड़ेगी । तथाच प्रमाण-प्रवृत्तिनलसे ही ज्ञानभिन्न इदन्तास्पद बाह्यार्थका अपह्नव नहीं किया जा सकता । जो ज्ञानकी प्रतिविषय व्यवस्थाके लिये ज्ञानमें विषयमात्र माना जाता है उससे भी विषयका अपलाप नहीं हो सकता । क्योंकि यदि अर्थ है ही नहीं तो ज्ञानमें किसकी सरूपता होगी ? और विषय न होनेपर प्रतिविषय-ज्ञानव्यवस्थाका भी क्या अर्थ रह जाता है ।

मुस्पष्टरूपसे बाह्यार्थका उपलम्भ होता है अतः उसका अस्तित्व मानना अनिवार्य है । सहोपलम्भ नियमपर भी यह विचारणीय है कि क्या ज्ञान और अर्थका साहित्येन (साथ-साथ) उपलम्भ ही होना सहोपलम्भ है ? यदि हाँ, तो सहोपलम्भ हेतु विरुद्ध हैं इसके द्वारा अभेदकी सिद्धि नहीं हो सकेगी । साहित्येन उपलम्भ तभी बन सकता है जब ज्ञान और अर्थ दो वस्तु हों । अतः भेदगर्भित हेतुमें अभेदसिद्धि असम्भव है । साहित्य अभेदविरुद्ध भेदव्याप्य होता है । जहाँ साहित्य होगा वहाँ भेदका होना अनिवार्य होता है । यदि एकोपलम्भ नियम अर्थात् एक उपलम्भसे ज्ञान और अर्थका ग्रहण होना ही सहोपलम्भ है तो यह भी असंगत है । क्योंकि सहोपलम्भमें सहशब्द एकत्वका वाचक नहीं है फिर सहोपलम्भका एकोपलम्भ कैसे हो जायगा । यदि कहा जाय कि अर्थैकोपलम्भ ही हेतु समझ लेना चाहिये फिर भी यह विचारणीय होगा कि एकत्वेन उपलम्भ एकोपलम्भ है अथवा ज्ञान और अर्थका एक उपलम्भ होना ही एकोपलम्भ है ? पहला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान और अर्थका एकत्वेन ग्रहण नहीं होता, ज्ञान आन्तररूपसे गृहीत होता है और अर्थ बाह्यरूपसे । आगे बताया जायगा कि कहीं ज्ञानका नानात्व होनेपर भी विषयका एकत्व रहता है, कहीं विषय नानात्व रहनेपर भी ज्ञानका एकत्व रहता है, एकत्वेन उपलम्भ कहाँ है ।

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि वह तो उपायोपेयभावके कारण उत्पन्न हो जाता है उससे अभेदकी सिद्धि नहीं हो सकती । अतएव सहोपलम्भ नियम भी ज्ञान और विषयके उपायोपेयभावके कारण उपपन्न है, अभेदके कारण नहीं । जिस प्रकार मनुष्योको सभी बुद्धि बोध्य चाक्षुषरूपादि पदार्थ प्रभाके रूपसे अनुबुद्धि ही गृहीत होते हैं प्रमाके साथ ही नील-पीतादिरूपका उपलम्भ होता है तो भी इस सहोपलम्भसे वह नहीं कहा जा सकता कि प्रमा और रूप अभिन्न हैं किन्तु गृही

कहना पड़ेगा कि प्रभा रूपोपलम्भका उपाय है। इसलिये सहोपलम्भ नियम होता है, इसी तरह अर्थोपलम्भका आत्मसाक्षिक अनुभव ही उपाय है। इसलिये ज्ञेयज्ञात-का सहोपलम्भ नियम होता है इस तरह सहोपलम्भ नियम अभेदका साधक नहीं होता। जहाँपर घट-पटादि अनेक पदार्थ एक ज्ञानगोचर होते हैं वहाँ सभी समझदार समझते हैं कि ज्ञेय अर्थका भेद है और ज्ञानका अभेद होता है। यदि ज्ञान और ज्ञेयका अभेद ही हो तो ज्ञानके एक होनेसे विषयको भी एक होना चाहिये। वैसे भी घटज्ञान, पटज्ञान आदिमें घट-पट आदि विशेषणोका ही भेद है, विशेष ज्ञान तो एक ही है।

जैसे “शुक्ल गौ कृष्ण गौ” इत्यादि स्थलोमें गोत्वका अभेद रहनेपर भी कृष्णता-गौरता आदिका ही भेद रहता है। दोसे एकका एकसे दोका भेद प्रसिद्ध ही है। इस तरह जैसे अनेक शुक्लता कृष्णतासे एक गोत्वका भेद होता है उसी तरह अनेक घट-पटादि विषयोसे एक ज्ञानका भी भेद ही समझना चाहिये। इसलिये ज्ञान और ज्ञेयका भेद ही सम्यक् है। इसी तरह अर्थ अभेद रहनेपर भी ज्ञानमें भेद होता है। घटका दर्शन घट स्मरण आदि स्थलोमें विशेष्य दर्शन एव स्मरणमें भेद है, घट विशेषणका अभेद है। जैसे क्षीरगन्ध क्षीररस यहाँ विशेष्य गन्धरसका भेद है, विशेषण क्षीरका अभेद होता है इस तरह भी ज्ञान-ज्ञेयका भेद सिद्ध होता है।

पूर्वांतरवर्ती दो विज्ञान स्वसवेदनसे ही उपक्षीण हो जाते हैं। उनमें परस्पर ग्राह्य-ग्राहकभाव नहीं बन सकता। फिर भेद ही कैसे सिद्ध होगा अर्थात् स्वरूप-गात्रमें पर्यवसित ज्ञान एक दूसरे ज्ञानको जान ही नहीं सकता फिर जिन दोनोका भेद होता है वे ही जब अगृहीत हैं तो तद्गतभेद सुतरां असिद्ध ही होगा। क्योंकि भेदज्ञानके लिये अनुयोगी—प्रतियोगीका ज्ञान अपेक्षित होता है। इसी तरह सब क्षणिक हैं, सब शून्य हैं तथा सब अनात्मा हैं इत्यादि अनेक प्रतिज्ञाएँ हेतु-दृष्टान्त ये सभी ज्ञानभेदसे ही साध्य हैं।

यही दशा स्वलक्षण, सामान्यलक्षण, वास्य वासक, अविद्योपप्लव, सद-सद्धर्म, बन्ध-मोक्षादि प्रतिज्ञाओका भी है। अन्यसे व्यावृत्त अपना असाधारणरूप ही स्वलक्षण होता है। जो व्यावृत्त होता है और जिनसे व्यावृत्त होता है, उन सबका अनेक जानोंसे ही बोध सम्भव है। इसी तरह विधिरूप या अन्यापोह रूप सामान्य लक्षण भी अनेक ज्ञान गम्य ही होता है। वास्य-वासक भाव भी अनेक ज्ञान साध्य है। उत्तर ज्ञानमें नीलाद्याकार समर्पण करनेकी उपयुक्त शक्ति पूर्वज्ञानमें होती है। अतः पूर्व ज्ञान गमक है और उत्तरज्ञान वास्य होता है। अविद्योपप्लवमें वास्य-वासकत्व हेतु है। अविद्योपप्लव सदसद्धर्मोंमें हेतु होता है। जैसे नीलादिसद्धर्म हैं नर-विप्राणादि असद्धर्म हैं।

अमूर्त सदमद्धर्म है, क्योंकि शगविषाणको भी अमूर्त कह सकते हैं। यही बात बौद्धकारिकामें कही गयी है—

अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठित. ।

शब्दार्थस्त्रिभिधो धर्मो भावाभावोभयाश्रयः ॥

भावात् यह है कि अनादिवासनाजन्य सविकल्प प्रत्यय स्वरूपज्ञानसे परिनिष्ठित अर्थात् विषयीकृत शब्दार्थ तीन प्रकार का होता है। जैसे भाव—नीलत्वादि, अभाव—नर-विषाणत्वादिसाध्या भय, अमूर्तत्वादि। इसी तरह मोक्षप्रतिज्ञा भी भेदसाध्य ही है। जो मुक्त होता है, जिससे मुक्त होता है, जिस साधनसे मुक्त होता है और जो प्रतिपादन करता है, ये सब अनेक ज्ञान-साध्य हैं।

पूर्वोक्त युक्तिसे जब ज्ञानभेद ही असिद्ध है, तब इन सबमें अपेक्षित भेद कैसे सिद्ध होगा? अतः अनेक अर्थोंका प्रति संधान करनेवाले एक प्रतिसन्धाता, प्रत्यभिज्ञाताके बिना यह असम्भव है। विज्ञानसे भिन्न उसका आलम्बन न होकर अगर स्वांश ही विज्ञानका आलम्बन हो तो उक्त व्यवस्था कथमपि न बन सकेगी। कर्म फलभाव एव ज्ञान-ज्ञेयभाव भी भेदमें ही सम्भव होता है। अभिन्न ज्ञानमें ही ग्राह्य-ग्राहक भाव कैसे सम्भव होगा? छिदि क्रियाके द्वारा तद्धिन्न काष्ठ आदि छिन्न होता है, स्वयं छिदि ही छिदिसे छिन्न होती नहीं देखी जाती। इसी तरह पाक क्रिया ही नहीं पकती, अपितु पाक क्रियासे तण्डुल पकते हैं। उसी तरह यहाँ भी ज्ञान ही स्वांशसे ज्ञेय नहीं होता है, क्योंकि अपनेमें ही अपनी वृत्ति विरुद्ध है। जैसे पाकसे अतिरिक्त तण्डुल, छिदिसे पृथक् छेद्य काष्ठ होता है, वैसे ज्ञानसे अतिरिक्त ज्ञेय होता है। अतः ज्ञानज्ञेयका भेद ही है।

इसके अतिरिक्त यह बात भी विचारणीय है कि जब घटविज्ञान, पटविज्ञान आदि अनुभवोंके अनुसार जैसे विज्ञानको स्वीकार किया जाता है वैसे घट-पटादि बाह्यार्थोंको अङ्गीकार क्यों न किया जाय? यदि कहा जाय कि विज्ञानका अनुभव होता है, तो उसी तरह बाह्यार्थ घटादिका भी अनुभव होता ही है। यदि कहा जाय कि विज्ञान प्रकाशात्मक होनेसे प्रदीपवत् स्वय अनुभूत होता है। बाह्यार्थ इस प्रकार नहीं अनुभूत होता तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जैसे 'अग्नि अपनेको जलाता है', यह कहना अत्यन्त विरुद्ध है, वैसे विज्ञान अपनेको जानता है, प्रकाशित करता है। यह कहना भी अत्यन्त विरुद्ध है। यह कहा ही जा चुका है कि पाक अपनेको नहीं पकाता है। फिर बाह्यार्थ स्वव्यतिरिक्त विज्ञानसे प्रकाशित होता है यह लोकप्रसिद्ध तथा अविरुद्ध ही है। अप्रसिद्ध एव विरुद्ध बातको मानना और अविरुद्ध एव लोकप्रसिद्ध बातको न मानना यह विज्ञानवादी बौद्धोंका कैसा पाण्डित्य है? अतः यह कहना सर्वथा निराधार है कि विज्ञेयसे अभिन्न विज्ञान स्वयं ही अनुभूत होता है। क्योंकि स्वसे स्वक्रियाका होना विरुद्ध है।

फिर भी विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं कि 'यदि विज्ञान स्वभिन्न विज्ञानसे ग्राह्य होगा तो वह विज्ञान भी अन्य विज्ञानसे ग्राह्य होगा और इसी तरह अन्य ज्ञान भी इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। साथ ही प्रदीपके समान ही विज्ञान भी अवभासात्मक ही है। जैसे प्रदीपका प्रदीपान्तरसे प्रकाश नहीं होता, क्योंकि दोनों ही समानरूपसे अवभासात्मक हैं, वैसे एक ज्ञानका ज्ञानान्तर मानना भी व्यर्थ होगा। क्योंकि समान होनेसे उनमें ग्राह्य-ग्राहकभाव सम्भव नहीं होगा। इसी दृष्टिसे यदि ज्ञान स्वातिरिक्त अर्थको ग्रहण करेगा तो वह स्वयं अप्रत्यक्ष रहकर अर्थको प्रत्यक्ष न करा सकेगा। चक्षु इन्द्रियके समान स्वयं विलीन, अतएव अप्रत्यक्ष ज्ञान अर्थभेदमें प्राकट्य आदि किसी भी विशेषताका आधान करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। यदि चक्षुके समान अप्रकाशमान ही ज्ञान अर्थका बोधक होगा तो जैसे चक्षु ज्ञानोत्पादन-द्वारा अर्थ प्रकाशक होता है वैसे ही ज्ञान भी ज्ञानान्तरोत्पादनद्वारा वस्तुज्ञापक होगा। फिर इसी तरह ज्ञानजन्य ज्ञानकी भी ज्ञानान्तरोत्पादनद्वारा ही ज्ञापकता माननी होगी तथा च अनवस्था दोष होगा। अतः कहना पड़ेगा कि ज्ञानकी प्रत्यक्षता ही अर्थप्रत्यक्षता है। ज्ञानको ज्ञानान्तरोत्पादनकी आवश्यकता नहीं होती। वह ज्ञान भी यदि अन्य ज्ञानसे प्रत्यक्ष होगा तो अनवस्था दोष होगा। यदि वह स्वयं अप्रत्यक्ष होगा तो उससे अर्थका प्रत्यक्ष कैसे होगा? इसीलिये कहा गया है कि—

“अप्रत्यक्षोपलम्भस्थनार्थदृष्टिः प्रसिद्धयति”

अर्थात् ज्ञानके अप्रत्यक्ष होनेपर अर्थज्ञान ही नहीं हो सकता है। यदि चक्षुके समान अप्रत्यक्ष ज्ञानसे ही अर्थ प्रत्यक्ष माना जायगा तब तो चक्षुके समान ज्ञानको अजन्य कहना पड़ेगा? इसलिये अनावस्था दोषकी अपेक्षा स्वात्मवृत्तिका मान लेना अच्छा है। जैसे प्रदीप प्रदीपान्तरकी अपेक्षा नहीं करता वैसे ही ज्ञान भी ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं करता है”।

उपर्युक्त विज्ञानवादी बौद्धका मत असंगत है। क्योंकि विज्ञानग्राहक साक्षीको स्वीकार कर लेनेपर अनवस्था, आत्मवृत्तिका आदि समस्त दोषोका निराकरण हो जाता है। साक्षी और ज्ञान दोनोंका चेतनत्व और जडत्वरूप स्वभाव विषम है। अतः उनमें उपलब्धत्व तथा उपलभ्यत्व बन सकता है। साक्षी स्वयं सिद्ध होनेसे सर्वथा अप्रत्याख्येय है। ठीक है कि अप्रत्यक्ष ज्ञानसे अर्थप्रकाश नहीं बन सकता, परन्तु अन्तःकरण वृत्तिरूप ज्ञानका साक्षीके द्वारा प्रकाश मान्य है। तथा च आत्मचेतन्य साक्षीके द्वारा प्रकाशित वृत्तिरूप ज्ञानसे विषय प्रकाश सम्भव है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही उपलब्ध होता है। अन्तःकरण और विषयाकार वृत्ति तथा विषय सभी उसीसे प्रकाशित होते हैं। उपलब्धता उपलब्धि के द्वारा विषयका उपलम्भ या प्रकाश करता है। इन्द्रिय सन्निकर्षसे अन्तःकरणविकार विशेष वृत्ति उत्पन्न होती है। वृत्तिके उत्पन्न होते ही वृत्ति और उसका विषय दोनों ही उपलब्धताके ग्रन्थ होते हैं। विषय अप्रकाश स्वभावा होनेके कारण प्रमाताके

प्रति स्वप्रत्यक्षताके लिये अन्तःकरण वृत्तिरूप अनुभवकी अपेक्षा रखता है। परन्तु वह अनुभव स्वयं जड़ होने हुए भी स्वच्छ होनेके कारण चैतन्य प्रतिविम्ब ग्रहण करनेके लिये दूसरे अनुभवकी अपेक्षा नहीं रखता। किन्तु स्वच्छ होनेसे स्वयं चैतन्यके प्रतिविम्बको ग्रहण कर लेता है और उसीसे स्वयं भी प्रकाशित हो जाता है। अतएव अनवस्था भी न होगी। ऐसा कभी नहीं होता कि अनुभव उत्पन्न हो और प्रमाताको उसका प्रत्यक्ष न हो। किन्तु नीलादि अर्थ ऐसे नहीं होने। वे तो रहते हुए भी जबतक वृत्तिरूप अनुभव न हो तबतक प्रमाताके लिये प्रत्यक्ष नहीं होते। अतः जैसे छेत्ता छिदि क्रियाके द्वारा छेद्य वृत्तादिपर व्याप्त होता है। अन्य छिदिद्वारा छिदिपर ही नहीं व्याप्त होता और यह भी नहीं कि छिदि ही छेत्री हो जाती हो, किन्तु देवदत्तादि छेत्ता ही छिदिक्रियाके द्वारा छेद्यवृत्तादिपर व्याप्त होता है। इसी तरह पक्ता (पाचक) पाकके द्वारा पाक्य तण्डुलादिपर व्याप्त होता है, न कि पाकान्तरसे पाकपर व्याप्त होता है और न पाक ही पक्ता होता है। वैसे प्रमाता प्रमेय नीलादि पदार्थोंपर प्रमाद्वारा व्याप्त होता है न कि प्रमान्तरसे प्रमाणपर व्याप्त होता है और न प्रमा प्रमात्री होती है। किन्तु स्वतः ही प्रमाता प्रमापर व्यापक होता है।

कूटस्थ नित्य चैतन्य स्वरूप प्रमाताके लिये दूसरी प्रमा अपेक्षित नहीं होती है, क्योंकि प्रमाताको अपनी प्रमाके लिये यदि अन्य प्रमाताकी अपेक्षा होगी तब तो अनवस्था दोष अनिवार्य ही रहेगा। अतः यही ठीक है कि विज्ञान ग्रहणमात्रके लिये विज्ञान साक्षी प्रमाता आवश्यक है। कूटस्थ नित्य चैतन्यरूप प्रमाताके ग्रहणकी आकाङ्क्षा ही नहीं उठती। क्योंकि उसमें संगम-विपर्यय अज्ञान है ही नहीं, फिर इनके निर्वर्तक ज्ञानान्तरोंकी आवश्यकता ही क्या है? अन्यत्र सशय, विपर्यय करता हुआ भी प्रमाता अपने सम्बन्धमें सशयादि नहीं करता है। जैसे प्रकाशस्वरूप दीपक आदिमें “प्रकाशते” यह व्यवहार स्वतः होता है। अप्रकाशरूप घटादिमें प्रकाश ससर्गसे ‘प्रकाशते’ यह व्यवहार होता है, वैसे नित्य चैतन्य परम प्रकाश-स्वरूप आत्मामें ‘प्रकाशते’ यह व्यवहार स्वतः होता है। तद्विन्न जड़ोंमें आत्माके सम्बन्धसे ‘प्रकाशते’ ऐसा व्यवहार होता है। आत्मा और अनात्माका आध्यात्मिक ही सम्बन्ध होता है। उसी सम्बन्धके लिये वृत्तिकी आवश्यकता होती है। कारण साक्षी और वृत्तिरूप साक्षी सम नहीं।

जो कहा जाता है—ज्ञान-ज्ञान सम होनेसे दो दीयकोंके समान दो ज्ञानोंमें प्रकाश्य-प्रकाशकभाव नहीं बन सकेगा, उसका भी समाधान इसीसे हो जाता है। कारण साक्षी और वृत्तिरूप प्रत्यय सम नहीं है, किन्तु एक जड़ है, दूसरा चित् है। अतः अवभास्य-अवभारक बननेमें कोई बाधा नहीं है। भले ही सम होनेसे ज्ञानोंमें परस्पर ग्राह्य-ग्राहकभाव न बनें परन्तु ज्ञाता और

ज्ञानमें वैषम्य होनेसे ग्राह्य-ग्राहकभाव संभव है ही। हाँ, ज्ञानमें ग्राह्यता इसलिये नहीं है कि वह ग्राहकनिष्ठ क्रियाजन्य फलशाली नहीं है। ऐसी ग्राह्यता तो बाह्यार्थमें ही होती है। वही प्रमाताकी प्रमाक्रियासे जनितफल (प्राकट्य) शाली होता है। क्योंकि बाह्यार्थ जड़ होता है। अतएव वह स्वाकार वृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्यसे प्रकाशित होता है। यद्यपि वृत्ति भी जड़ ही है तथापि वृत्ति तो उत्पन्न होते ही चैतन्य प्रतिबिम्बसे युक्त ही रहती है। अतः वहाँ प्रतिबिम्बरूप फलान्तर व्यर्थ ही है।

यही वार्तिककारका कहना है कि जैसे आकाश वस्तुके स्वभावानुसार कुम्भ उत्पन्न होते ही आकाशसे पूर्ण होता है, वैसे वृत्तिरूप ज्ञान उत्पन्न होते ही स्वाभाविक आकाशकल्प साक्षी चैतन्यसे पूर्ण रहता है। इसीलिये ज्ञानबुद्धि परिणाम भूतज्ञानसे नहीं ज्ञात होता है। किंतु उसमें प्रमाताके प्रति स्वतः सिद्ध चित्प्रतिबिम्बरूप प्राकट्य होता है। इसलिये उनकी ग्राह्यता बन जाती है। इसीलिये कहा गया है—
‘न संविदर्थते फलत्वात्’ अर्थात् संविद् स्वयं फल है, अतः वह अन्तःकरण वृत्तिरूपज्ञानसे नहीं जानी जाती है। यद्यपि बाह्यार्थ भी प्रमाताके प्रतिग्राह्य हैं तथापि वृत्तिरूप संविदके रहनेपर ही बाह्यार्थ प्रकट होता है। साथ ही संविद् भी प्रकट होती है। अर्थात् अविद्यावच्छिन्न जीव ही साक्षी है, वह व्यापक होनेसे विषय प्रदेशमें भी रहता है। अतः साक्षीका जैसे ज्ञानसे सम्बन्ध है वैसे ही विषयसे भी सम्बन्ध है ही। तथापि अन्तःकरणावच्छिन्न साक्षी अनावृत रहता है। परंतु विषयावच्छिन्न साक्षी आवृत रहता है। इसीलिये उसमें आवरण-भङ्गके लिये वृत्तिकी अपेक्षा रहती है। अतएव बाह्यार्थ तभी साक्षिरूप अनुभवसे प्रकट होता है जब कि विषयाकारान्तःकरण वृत्तिरूप संविद् उत्पन्न होती है। क्योंकि उसी वृत्तिसे आवरणभङ्गद्वारा साक्षीका प्राकट्य होता है। परंतु वह वृत्ति तो स्वप्रतिबिम्बित साक्षिस्वरूप अनुभवसे ही प्रकट होती है।

निष्कर्ष यह है कि साक्षिस्वरूप अनुभव यद्यपि सर्वव्यापी है तो भी अविद्यासे आवृत होनेके कारण वह प्रकट नहीं होता। जैसे निर्मल दर्पणमें मुख प्रतिबिम्बित होता है वैसे भास्वर स्वभाववाले अन्तःकरणमें ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। अन्तःकरण वृत्ति भी भास्वर ही है, अतः विषयाकार वृत्तिपर भी स्वभावसे ही अभिव्यक्त होता है।

इसीलिये वृत्ति भी स्वभावतः प्रकट होती है। परंतु बाह्यार्थ अन्तःकरणसे व्यवहित रहता है अतः स्वभावसे ही उसमें चैतन्यके अभिव्यञ्जन करनेकी क्षमता नहीं रहती है। यह देखा ही जाता है कि सम्बन्ध समान रहनेपर भी कोई व्यञ्जक होता है और कोई नहीं होता है। जैसे चाक्षुषी प्रमाके साथ समान सम्बन्ध रहनेपर भी वह रूपादिका प्रकाश करती है, वायु आदिका प्रकाश नहीं करती। घट और दर्पणका मुखसन्निधान समानरूपसे रहनेपर भी घटपर मुखका प्रतिबिम्ब व्यक्त नहीं

होता, दर्पणपर प्रतिबिम्ब व्यक्त होता है। ठीक उसी तरह अन्तःकरण और तत्परिणामभेद वृत्तिपर साक्षि चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है। परन्तु बाह्यार्थ घटादिपर उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। अन्तःकरण और वृत्तिका अभिव्यक्त नित्य साक्षि-चैतन्यसे साक्षात् प्रकाश होता है परन्तु अर्थका स्वाकार वृत्ति व्यङ्ग्य चैतन्यसे प्रकाश होता है। इसी अभिप्रायसे कहा जाता है कि ज्ञान स्वयं ज्ञानान्तरका कर्म हुए बिना ही प्रमाताके प्रति प्रत्यक्ष होता है।

कहा जा सकता है, जो प्रकाशमान होता है वह स्वभिन्न प्रकाशसे ही प्रकाशमान होता है। जैसे ज्ञान और अर्थ अन्य (साक्षी) से प्रकाशित होते हैं इसी तरह साक्षीको भी किसी अन्यसे प्रकाशित होना चाहिये। तथा च साक्षी और ज्ञान दोनोंकी विप्रमता असिद्ध है।

किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि साक्षी स्वयं सिद्ध होता है। उसका अपलाप करना विज्ञके लिये भी सम्भव नहीं है। साक्षीस्वरूप आत्माके सम्बन्धमें मैं हूँ या नहीं हूँ, इस प्रकारका सशय नहीं होता। 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकारकी अभाव प्रमा या भ्रान्ति भी नहीं होती। यह तभी सम्भव है जब कि साक्षी नित्य साक्षात्कार तथा अना-गन्तुक प्रकाशस्वरूप हो। यह सुस्पष्ट है कि प्रमाता अन्य वस्तुओंमें सदेह करता हुआ भी स्वयं असदिग्ध रहता है। अन्य विषयोंमें विपर्यस्त भ्रान्त होते हुए भी स्वयं भ्रमका अविषय विपर्यस्त रहता है, परोक्ष वस्तुओंका अनुमान करता हुआ भी स्वयं अपरोक्ष रहता है, अन्य वस्तुओंका स्मरण करता हुआ भी स्वयं अनुभवरूप होता है। यह सब बातें अन्याधीन प्रकाश होनेपर सम्भव नहीं होती। अन्याधीन प्रकाश होनेसे अनवस्था प्रसङ्ग भी होगा ही।

निष्कर्ष यह है कि साक्षीको ज्ञेय सिद्ध करनेके लिये 'आत्मा ज्ञेय, प्रकाशमानत्वात् घटवत्' (आत्मा ज्ञेय है प्रकाशमान होनेसे घटकी तरह) यह अनुमान उपस्थित किया जाता है। परन्तु इस अनुमानके लिये 'जो प्रकाशमान होता है वह वेद्य होता है' यह व्याप्ति माननी पड़ेगी। इस सम्बन्धमें प्रश्न होगा कि व्याप्तिग्राहिका (व्याप्तिको ग्रहण करनेवाली) संवित् स्वसम्बन्धमें प्रकाशमान होती है या नहीं? यदि प्रकाशमान होती है तो कर्म (विषय) रूपसे अथवा स्वप्रकाशरूप (अन्य संविद्की अपेक्षा न करके स्वव्यवहार हेतुरूप) से पहला पक्ष सगत नहीं हो सकता, क्योंकि स्वात्मवृत्तिका विरोध होता है उसी सविद्का वही सविद् विषय हो यह नहीं बन सकता। अन्तिम पक्ष भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि व्याप्तिग्राहिका सविद् सविदन्तर निरपेक्ष स्वव्यवहारमे हेतु है (स्वप्रकाश है) तो व्याप्तिग्राहिका सविद्में ही व्याप्तिका व्यभिचार होगा। कारण उसमें प्रकाशमानता रहनेपर भी वेधता नहीं।

यदि व्याप्तिग्राहिका सविद् प्रकाशमान नहीं होती तो इसी सविद्के विशेषका अवभास नहीं हुआ, तब तो इस संविद्में सकल विशेषोपसंहारवती व्याप्ति कैसे

स्फुरित होगी ? क्योंकि यावत् हेत्वाश्रयवर्ति साध्य समानाधिकरण ही व्याप्ति होती है । यदि सकलविशेषोपसहारवती व्याप्तिका स्फुरण न होगा तो अनुमान क्या होगा ? यदि संवित्का स्वतः स्फुरण मान्य है तब भी व्याप्ति व्यभिचार होनेसे अनुमानका उदय कैसे होगा ? तथा उक्त अनुमानसे आत्मा या साक्षीकी ज्ञेयता नहीं सिद्ध हो सकती । “अज्ञेयत्वे सति प्रकाशमानता” ही स्वप्रकाशता है (यहाँ ज्ञेयताका तात्पर्य अपरोक्ष ज्ञान विषयतासे है । तथा च अनुमानद्वारा आत्माके ज्ञेय होनेपर भी सिद्ध साधनता नहीं) जो ज्ञानका अगोचर होकर प्रकाशमान हो वह स्वप्रकाश होता है । प्रकाशमानता या भासमानता भी भानविषमता नहीं है । किंतु व्यावहारिक बाधरहित ‘भासते’ इत्याकारक शब्दकी लक्ष्यता ही है । अर्थात् जिसका बाध नहीं होता है ऐसे “प्रकाशते” इस शब्दका जो लक्ष्य है वही भासमानता है ।

वेदान्तसे ज्ञेय होनेपर भी स्वप्रकाशतामें कोई विरोध नहीं होता । क्योंकि निरुपाधिक ब्रह्मवेदान्त महावाक्यजन्मवृत्तिका अविषय होनेपर भी वृत्तिके द्वारा आवरण भङ्ग होनेमात्रसे भासमान होता है । वेदान्तवाक्यजन्य वृत्तिरूप उपाधिके द्वारा ही उसमें ज्ञेयता भी व्यवहृत होती है । अतएव जो कहा जाता है कि स्वप्रकाश ब्रह्म अनुमानज्ञेय होता है यह भी निःसार है । क्योंकि यहाँ भी अनुमितरूप उपाधि रहनेसे ही ब्रह्ममें अनुमान ज्ञेयता होती है ।

नित्य साक्षात्कारता अनागन्तुक प्रकाशत्वमें हेतु है । संविद्से अभिन्नता ही साक्षात्कारता है । यहाँ संविद् शब्दका नित्यबोध अर्थ है, वृत्तिरूप ज्ञान नहीं । इन्द्रियजन्य प्रतीतित्व यहाँ साक्षात्कारता अभिप्रेत है । संविद्में संविदभिन्नता स्वतः होती है । अन्य विषय संविद्में अध्यस्त होनेसे संविदभिन्नता होती है । अधिष्ठानसत्तासे अतिरिक्त अध्यस्तवी सत्ताका न होना ही अव्यस्तका संविद्से अभिन्नता है । इस सम्बन्धमें अनुमान भी है “आत्मा स्वयं प्रकाशः शश्वदपरोक्षत्वात्, यन्नैव तन्नैव यथा घटः” । अर्थात् शश्वत् प्रत्यक्ष होनेसे आत्माको स्वयं प्रकाश मानना चाहिये । घटादि कभी अपरोक्ष होते हैं, शश्वदपरोक्ष नहीं होते । अतः वे स्वप्रकाश नहीं होते हैं । ‘आत्मा शश्वदपरोक्ष, शश्वदसंदिग्धत्वात्, व्यतिरेके घटवत्’ अर्थात् आत्मा सदा अपरोक्ष ही है क्योंकि उसमें सदा ही संशय-विपर्यय, अज्ञान-शून्यता रहती है । घटादि ऐसे नहीं हैं अतः वे अपरोक्ष भी नहीं हैं (भले ही वेदान्तवेद्य अखण्डानन्द आकारसे आत्मा संदिग्ध होता है अतएव वही शास्त्रका विषय होता है, तथापि ज्ञान, सुखादि साक्षिरूपसे आत्मा सदा ही असंदिग्ध रहता है ।)

यहाँ अप्रसिद्ध विशेषता नहीं कही जा सकती है अर्थात् स्वप्रकाशत्वरूप साध्य अप्रसिद्ध है यह नहीं कहा जा सकता । क्योंकि निम्नोक्त अनुमानसे स्वप्रकाशता प्रसिद्ध हो जाती है । “अयं घटः, एतदन्यज्ञेयत्वरहितभासमानान्यः, द्रव्यत्वात् घटवत्” । यहाँ ‘अयं घटः’ पक्ष है । यह यद्यपि ज्ञेय है तथापि यह पक्ष

ही है अतः इसमें पक्षान्यत्व नहीं है। अतएव यह पक्षान्यत्वविशिष्ट ज्ञेयत्व ही है और भासमान भी है। एतदन्यत्व विशिष्ट ज्ञेयत्वज्ञेय भासमान है उगमे अन्य पट है। उस तरह दृष्टान्तमें साव्य प्रसिद्ध हुआ। पक्षमें अन्यत्वेन विशेषित जो ज्ञेयत्व होता है उस ज्ञेयत्वसे रहित एव भासमानसे अन्यता मान्य है, वह पटमें है। पक्षभूत वट ज्ञेय होनेपर भी पक्षान्यत्व विशिष्ट ज्ञेयत्वरहित है और भासमान भी है। उससे अन्य पट है। उसी तरह 'अर्थ वटः' इस पक्षमें भी मान्य-सिद्ध अनुमानके द्वारा करनी है। पक्षमें अनुमान विना साध्यनिष्ठ नहीं कही जा सकती। क्योंकि वह तो पक्षान्यत्वविशिष्ट ज्ञेयत्वज्ञेय भासमान ही है, भासमानसे अन्य नहीं है। किन्तु पक्षसे अन्य ही कोई वस्तु ऐसी होनी चाहिये जो पक्षमें अन्य भी हो, ज्ञेयत्व-रहित भी हो, भासमान भी हो। जब उस भासमानसे अन्य पक्ष होगा तब पक्षान्यत्व विशिष्ट ज्ञेयत्व ज्ञेय भासमानान्यता पक्षमें आ सकेगी। पक्षमें अन्य वटादि प्रसिद्ध पदार्थोंमें ऐसा कोई नहीं है जो पक्षान्यत्वविशिष्ट ज्ञेयत्वरहित भासमान हो। क्योंकि सभी भासमान पक्षान्यवटादि पक्षान्यत्व विशिष्ट ज्ञेयत्वयुक्त ही है। उपर्युक्त अनुमानसे जो इन प्रकारकी एतदन्यत्वविशिष्ट ज्ञेयत्व ज्ञेय भासमान वस्तु सिद्ध होती है वही स्वप्रकाश आत्मा है।

सुखादिका अनुभाविता साक्षी सर्वानुभवसिद्ध है। चार्वाक भी 'अहं' इस अनुभवका अपलाप नहीं करता है। किन्तु शरीरको वह इसका विषय बतलाता है। कहा जा सकता है कि 'स्वसत्ताके समय सुखादिमें भी सन्देह नहीं रहता है फिर सुखादिको भी स्वप्रकाश क्यों न माना जाय'। परन्तु आत्मप्रकाशसे ही मुखका प्रकाश उत्पन्न हो सकता है। अतः आत्माकी स्वप्रकाशतामें भिन्न मुख ही स्वप्रकाशता नहीं मानी जाती है।

यदि आत्मामें नित्य साक्षात्कारता न हंती तो कभी-न-कभी आत्मामें सन्देह होता। किन्तु आत्मामें सन्देह कभी देखा नहीं जाता है, अतः आत्मामें नित्य साक्षात्कारता ही सिद्ध होती है। इसी तरह यह भी कहना सगत नहीं है कि 'आत्मविषयक अन्य प्रत्यक्ष सविद् उत्पन्न होती है।' क्योंकि उक्त रीतिसे अनवस्था प्रसङ्ग होगा। अतः अनिच्छयापि बौद्धको आत्माकी स्वयं सिद्धता माननी पड़ेगी। पीछे कहा जा चुका है कि जिस तरह पाक स्वयं पक्का नहीं होता, छिदिक्रिया स्वयं छेची नहीं होती, उसी तरह ज्ञान स्वयं ज्ञाता नहीं होता है।

विज्ञानवादी बौद्ध प्रमाणाका अस्तित्व नहीं मानता है। कहता है जैसे— प्रदीप प्रदीपान्तर निरपेक्ष स्वयं प्रकाशित होता है वैसे ही विज्ञानान्तर निरपेक्षविज्ञान स्वयं प्रकाशित होता है। विज्ञानवादी बौद्धके इस कथनका निष्कर्ष यह निकलता है कि विज्ञान प्रमाणागम्य है और उसका कोई अवगन्ता या जानकार नहीं है। यह कथन उसी तरहका है जैसे कोई कहे कि ठोस गिलाके मध्यमें महत् दीप प्रकाश

है। यह भी न प्रमाणगम्य है, न किसी 'ज्ञानकारको' इसका अनुभव है। अर्थात् शिलाघनमध्यस्थ सहस्र दीप प्रकाश प्रमाणागम्य तथा ज्ञातृरहित होनेसे अमान्य होता है वैसे ही विज्ञान प्रमाणागम्य तथा ज्ञातृशून्य होनेसे अमान्य ही होगा। यदि विज्ञान किसी ज्ञाताको भासमान नहीं हो तो उस स्वप्रकाशका विज्ञानसे क्या प्रयोजन है ?

बौद्धोंकी ओरसे कहा जाता है कि "विज्ञान ही ज्ञाता है। विज्ञानवादी बौद्धोंका विज्ञान अनुभवरूप ही है। वही साक्षी भी है"। किन्तु यह कथन संगत नहीं है क्योंकि जैसे नेत्ररूपी साधनसे युक्त अन्य ज्ञाताको ही प्रदीपादिका प्रकाश होता है वैसे अन्य ज्ञाताको ही विज्ञानका प्रकाश होना युक्त है। जैसे दीप ग्राह्य है। वैसे ही बौद्ध मतमें विज्ञान भी ग्राह्य है। फिर भी बौद्धका कहना है कि जब वेदान्ती साक्षीको स्वयं सिद्ध मानता है तो स्वयंसिद्ध विज्ञान माननेमें क्या आपत्ति है ?

वस्तुस्थिति यह है कि बौद्धके स्वयंसिद्ध विज्ञानका ही वेदान्तीने साक्षी नाम दे दिया है तथा च नाममें ही विप्रतिपत्ति है, परंतु यह ठीक नहीं है। क्योंकि बौद्ध विज्ञानकी उत्पत्ति और प्रध्वंस मानता है, तथा विज्ञानकी अनेकता मानता है और वेदान्तीका साक्षी नित्य तथा एक, असङ्ग एवं अनन्त है।

बौद्धका विज्ञान बुद्धिवृत्तिरूप ही है। उसकी उत्पत्ति, विनाश तथा अनेकता प्रसिद्ध ही है। घटादिके तुल्य ही उसकी अतिरिक्त साक्षिवेद्यता सिद्ध की जा चुकी है। जिस विज्ञानकी उत्पत्ति होती है वह स्वयं फलरूप है, फिर स्वयं ज्ञाता कैसे बन सकता है ? वही कर्ता, वही फल नहीं हो सकता है, वही पक्ता वही पाक नहीं होता, यह कहा जा चुका है। आजकल भी बौद्ध यही कहते हैं कि 'विज्ञानवादीका विज्ञान नित्य विज्ञानम्वरूप आत्मा ही है, और श्रीशङ्कराचार्यके समयमें भी कुछ बौद्धोंने ऐसा कहा था। किंतु यह सब बौद्धोंका अपासिद्धान्त ही है।

जो कहा गया था कि स्वप्नादि प्रत्ययके तुल्य ही जागरित घटादि प्रत्यय भी बाह्यार्थके बिना ही उपपन्न हो जायेंगे, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि स्वप्नादि प्रत्ययोंका जागरित प्रत्ययसे महान् अन्तर है। स्वप्नादिका बाध होता है परंतु जागरित प्रत्ययका बाध नहीं होता। बौद्ध मतानुसार जागरित प्रपञ्च किसी अधिष्ठान-के अज्ञानका कार्य नहीं है जो कि अधिष्ठान ज्ञानसे शुक्ति रजतके समान बाधित हो जाय। स्वप्नकी वस्तु प्रबोध होते ही बाधित हो जाती है। इसलिये जागनेपर प्रतिबुद्ध प्राणी कहता है 'मैंने स्वप्नमें मिथ्या ही गजर-रथादि देखा था। वस्तुतः गजर-रथादि न थे। मेरा मन निद्रासे म्लान था। उसीसे ऐसी भ्रान्ति हुई थी।' इसी तरह माया प्रत्ययका भी बाध होता है। यदि जागरित प्रत्यय भी बाधित हो तो वह स्वप्न प्रत्ययका बाधक नहीं हो सकता। क्योंकि जो स्वयं बाध्य है वह बाधक कैसे हो जायगा ? फिर तो स्वप्न प्रत्यय दृष्टान्त भी नहीं सिद्ध होगा। अतः स्वप्न प्रत्ययके दृष्टान्तसे जाग्रत् प्रत्ययकी निरालम्बनता नहीं सिद्ध की जा सकती है।

तथा 'घटादिप्रत्ययो, निरालम्बनः, प्रत्ययत्वात् स्वानप्रत्ययवत्'। (घटादि प्रत्यय स्वानज्ञानके तुल्य ही ज्ञानत्व जातिमें होनेसे निरालम्बन (विषयशून्य है) यह अनुमान भी बाध्यत्वरूप उपाधिसे दूषित है। जहाँ निरालम्बनता है वहाँ बाध्यता है जैसे स्वप्नादिमें। प्रत्ययत्व जागरित प्रत्ययमें भी है, परन्तु वहाँ बाध्यत्व नहीं है। इसलिये साध्यव्यापक तथा साधना व्यापकरूप उपाधिमें युक्त होनेके कारण उक्त अनुमान दूषित है। जहाँतक प्रमाता है वहाँतक जाग्रत्प्रत्ययका बाधा-भाव प्रमित ही है। साथ ही प्रमाणाजन्यत्व भी उपाधि है। अर्थात् स्वान प्रत्यय एक प्रकारकी स्मृति ही है जो कि सस्कारमात्रसे उत्पन्न होती है। वह जाग्रत्-प्रत्ययकी तरह प्रमाणजन्य नहीं होती। जाग्रत्प्रत्यय तो वर्तमान विषयेन्द्रिय मन्निकर्ष, लिङ्ग, शब्द, सादृश्य, अन्यथानुपपत्ति, योग्यानुपलब्धिरूप प्रमाणोंसे उत्पन्न होते हैं। निद्राकालमें उपर्युक्त कोई सामग्री नहीं रहती है, केवल सस्कार ही हेतु रहते हैं। अतः सस्कारमात्रजन्य होनेके कारण स्वप्नादि प्रत्यय स्मृति हैं। वह स्मृति भी निद्रादि दोष-परीत होनेके कारण विपरीत हो जाती है। तभी तो अवर्तमान पिता आदिको वर्तमानरूपसे ग्रहण करती है। स्मृति ओर उपलब्धिमें भेद होता है। स्वप्न तो विपरीत स्मृति ही है। अतः जाग्रत् कालके प्रमाणजन्य प्रमारूप प्रत्ययोंसे स्वप्न प्रत्ययमें महान् भेद है। अतः स्वप्नप्रत्ययकी तरह जाग्रत्-प्रत्यय निरालम्बन नहीं हो सकते। प्रमाणोंका स्वतः प्रामाण्य होता है। जाग्रत्-प्रत्ययोंकी यथार्थता अनुभव सिद्ध है। अनुमानके द्वारा उनका अन्यथात्व नहीं सिद्ध किया जा सकता। क्योंकि अनुभव विरुद्ध अनुमान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। यह नहीं कहा सकता कि स्वतः प्राप्त प्रामाण्यका अनुमान द्वारा अशोधन हो जायगा। क्योंकि अबाधित विषय होनेपर ही अनुमानका प्रामाण्य होता है। यहाँ तो प्रत्यक्ष बाध है। अतः अनुमान प्रमाजनक नहीं हो सकेगा। प्रत्यक्षके प्रामाण्यका अपवाद अनुमानसे नहीं हो सकता। अबाधित विषयता भी अनुमानोत्पादक सामग्रीसे ग्राह्य होनेसे प्रमाण होती है। यहाँ तो अनुमान सामग्री प्रत्यक्षसे अनुमानका विषयबाधित ही हो जाता है।

स्मृति और प्रामा में पार्थक्य

स्मृति और प्रमाका यह महान् अन्तर व्यवहारमें भी अनुभूत होता है। लोग कहते हैं कि 'हम पुत्रका स्मरण कर रहे हैं, उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर रहे हैं, प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहते हैं। इस तरह अनुभवमिद्व भेदके रहते यह नहीं कहा जा सकता कि स्वान-प्रत्ययके तुल्य जाग्रत्प्रत्यय निरालम्बन है। स्वानुभवका अपलाप नहीं किया जा सकता। बौद्ध भी स्वानुभवविरोध-प्रसङ्ग उपस्थित होनेके कारण ही जागरित-प्रत्ययको निरालम्बन कहनेमें असमर्थ होकर ही उसे स्वप्न-प्रत्ययके दृष्टान्तसे निरालम्बन कहनेका प्रयत्न करता है। परन्तु जो

जिसका स्वतः धर्म नहीं होता वह अन्यके दृष्टान्तसे नहीं सिद्ध होता । जब अग्नि उष्णरूपसे अनुभूयमान रहता है तो जलके दृष्टान्तसे उसे शीत नहीं कहा जा सकता है । जल एवं अग्निके वैधर्म्यके समान ही स्वप्न एवं जागरितका बाध-अबाध आदि वैधर्म्य कहा ही जा चुका है ।

वस्तुतस्तु स्वप्नादि प्रत्यय भी निरालम्बन नहीं है, अनिर्वचनीय प्रातीतिक पदार्थ स्वप्नादि प्रत्ययोक्त भी आलम्बन है ही । उसी तरह व्यावहारिक सत्य पदार्थ जाग्रत् प्रत्ययके आलम्बन होते हैं । वेदान्ती जैसे पारमार्थिक ब्रह्मके अज्ञानसे व्यावहारिक सत्य प्रपञ्चकी सृष्टि मानते हैं, वैसे ही व्यावहारिक रज्ज्वादिके अज्ञानसे प्रातिभासिक सत्य सर्पादिकी उत्पत्ति मानते हैं । अतएव जब व्यवहारमें बाधित होनेवाले स्वप्नादि प्रत्यय भी निरालम्बन नहीं हैं तब व्यवहारमें कभी बाधित न होनेवाले जाग्रत् प्रपञ्च प्रत्ययको निरालम्बन कैसे कहा जा सकता है ? परंतु बौद्ध ससारको न तो अज्ञानका कार्य ही मानता है और न अधिष्ठान ज्ञानसे उसका बाध ही मानता है ।

बौद्धके यहाँ सम्यग्दृष्टि या प्रज्ञापारमितासे अविद्याकी निवृत्ति होती है । परंतु वह अविद्या विश्वका उपादान आदि नहीं है । किंतु असत्, क्षणिक आदिमें सत्, क्षणिक बुद्धि आदि ही अविद्या उन्हे मान्य है । अतएव वासना-वैचित्र्यसे वे विज्ञान-वैचित्र्यका उपपादन करते हैं । जैसे उनके यहाँ ज्ञान सत्य है वैसे ही वासना भी सत्य ही है । वासनाका अधिष्ठान ज्ञानसे बाध नहीं होता है । किंतु सम्यग्दृष्टि, सम्यक् प्रयत्नसे वासना निरोधसाध्य होता है जब कि वेदान्त मतसे ब्रह्मके सम्यक् ज्ञानमात्रसे निवर्त्य अज्ञान होता है । इस तरह वेदान्त सिद्धान्तसे बौद्धमतका अत्यन्त भेद है ।

जो बौद्धोंने कहा है कि अर्थके बिना ही वासना वैचित्र्यसे ज्ञान-वैचित्र्य उपपन्न हो जायगा, वह भी ठीक नहीं । क्योंकि जब विज्ञानवादी बौद्धके मतमें बाह्यार्थकी उपलब्धि ही नहीं होती तब वासना भी कैसे बनेगी ? विविध अर्थोपलब्धिके अनुसार ही तो नाना प्रकारकी वासनाएँ होती हैं ? जब बाह्यार्थका ज्ञान होता ही नहीं, तब किस आधारपर वासनाएँ बनेंगी ? विज्ञानो और वासनाओको अनादि माननेपर भी अन्ध परम्परान्यायसे वासनाओ और विज्ञानोकी परम्परा अप्रतिष्ठित और अनवस्थित ही रहेगी ।

यहाँ विज्ञानवादीका कहना है कि अर्थोपलब्धिके अभावसे वासनाओका अभाव नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि विज्ञानवादमें अर्थ नहीं मान्य है । अतः बाह्यार्थ एवं अर्थोपलब्धिकी व्याप्ति निश्चित नहीं हो सकती । किंतु यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि विज्ञानवादीको भी लोकसिद्ध अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर ही स्वप्न की अर्थोपलब्धिको वासनाजन्य मानना पड़ेगा । उसीके दृष्टान्तसे जाग्रत्के घटादि जानोके भी वासनाजन्य होनेका अनुमान किया जाता है । तथा च बाह्यार्थरूप-

कारणके रहनेपर ही अर्थोपलब्धि रूप कार्य होता है, बाह्यार्थ न होनेपर अर्थोपलब्धि भी नहीं होती। इस अन्वय-व्यतिरेकके अनुसार अर्थोपलब्धि और बाह्यार्थका ही कार्यकारणभाव मालूम पड़ता है। अर्थानपेक्ष वासना और अर्थोपलब्धिका लोक-सिद्ध अन्वयव्यतिरेक नहीं हैं। स्वप्न प्रत्ययकी हेतुभूत वासना भी जाग्रत्कालकी अर्थोपलब्धिके ही पराधीन होती है। इस तरह कारणका कारण होनेसे स्वप्न प्रत्ययमें भी अर्थोपलब्धि मूल है। अतएव अर्थका उपलब्धिके साथ लोकदर्शनानुसारी अन्वय-व्यतिरेक गृहीत होता है। अर्थानपेक्ष वासनाके साथ उपलब्धिका अन्वय-व्यतिरेक गृहीत नहीं होता। स्वप्नोपलब्धिकी कारणभूत वासनाका भी कारण जागरित अर्थोपलब्धि ही है। अतः अर्थस्वप्नोपलब्धिका भी मूल है ही।

बाह्यार्थोपलपि विज्ञानवादी अन्वय-व्यतिरेकसे जनको वासना निमित्तक मानता है, अर्थनिमित्त ज्ञान नहीं मानता है। परंतु पूर्वोक्त युक्तिमें उसका खण्डन हो जाता है। अर्थोपलब्धि बिना वासनाकी उत्पत्ति होती ही नहीं, कई ऐसी नवीन वस्तुओंकी भी उपलब्धि हो सकती है जिनकी वासना है ही नहीं। इस तरह वासना बिना भी अर्थोपलब्धि होती है किंतु बिना अर्थोपलब्धिके वासना कभी नहीं होती देखी जाती है। इस तरह अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा अर्थका सद्भाव ही सिद्ध होता है, बाह्यार्थका अपलाप नहीं सिद्ध होता है।

वासना एक स्मृति ही है, वह स्मृति आश्रयके बिना नहीं रह सकता है। वासनाका आश्रय बौद्ध विज्ञानवादीके मतमें प्रमाणसिद्ध नहीं है। क्षणिक आलस्य-विज्ञान भी वासनाका आश्रय नहीं बन सकता। क्योंकि विज्ञान और वासना यदि दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं तो जैसे साथ उत्पन्न ढाये-वायें शृङ्गका आधाराधेय भाव नहीं बन सकता है वैसे विज्ञान और वासनाका भी आधाराधेय भाव नहीं बन सकेगा। यदि ज्ञान पहले उत्पन्न हो और वासना पीछे उत्पन्न हो तो भी आधाराधेय भाव नहीं बन सकता। क्योंकि आधेयकी उत्पत्तिके समयतक तो क्षणिक विज्ञान नष्ट हो चुका होता है। यदि विज्ञानवासना उत्पत्तिके समयमें भी रहेगा तो क्षणिकत्वकी हानि होगी। आश्रयके बिना ही एक सन्तति पतित समानाकार विज्ञान ही वासना है, यह विज्ञानवादियोंका स्वगोष्ठीनिष्ठ सिद्धान्त है, प्रामाणिक नहीं। वस्तुतः वासना एक गुण है उसका स्वसमवायी कारण ही आश्रय होता है।

विज्ञानवादी जिस आलस्य विज्ञानको वासनाओंका आधार मानते हैं, आखिर वह भी तो क्षणिक ही होगा ? अतः जैसे प्रवृत्ति विज्ञान वासनाओंका अधिकरण नहीं हो सकता वैसे आलस्यविज्ञान भी वासनाओंका अधिकरण नहीं हो सकता। अतीत, अनागत, वर्तमानमें अन्वयी एक कूटस्थ सर्वार्थदर्शी साक्षी आत्माको स्वीकार किये बिना देश-काल-निमित्तापेक्ष वासना एवं तदधीन स्मृति, प्रत्यभिज्ञा

आदि कुछ भी नहीं बन सकते । यदि आलयविज्ञानको स्थिर माना जायगा तो विज्ञानवादीके सिद्धान्तकी हानि होगी । बाह्यार्थवादीकी तरह विज्ञानवादी भी अणिकवादी है । अतः बाह्यार्थवादके सम्बन्धमें कहे गये दूषण भी उसमें लागू होंगे ही ।

शून्यवादीका कहना है “यदि साकारज्ञान सम्भव नहीं है और बाह्यार्थ भी न सूक्ष्म हो सकता है न स्थूल, तब तो क्या अर्थ, क्या ज्ञान सभी वस्तु विचारासह ठहरते हैं । ज्ञान और अर्थ दोनों ही बाधित हो जाते हैं । अतः वे सत् नहीं कहे जा सकते । असत् भी नहीं हो सकते, क्योंकि असत् होनेपर उनका भान नहीं होना चाहिये । सत्-असत् उभयरूप भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनका परस्पर विरोध होता है । अनुभवरूप भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि सत्-असत् इस प्रकारके होते हैं कि एकका निषेध करेंगे तो दूसरेका विधान अनिवार्य हो जायगा । अतः विचारासहत्व ही वस्तुओका रूप है । अतः शून्यवादियोने कहा है—

इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः ।

यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा ॥

अर्थात् ‘वस्तुओके स्वभावसे ही यह बात आ जाती है कि पदार्थोंका जैसे-जैसे विचार किया जाता है वैसे-वैसे वे पृथक्-पृथक् विशीर्ण होते जाते हैं, सत्-असत् आदि किसी पक्षमें व्यवस्थित नहीं हो पाते । अतः शून्यता ही तत्त्व है ।’

शून्यवादियोका यह पक्ष भी ठीक नहीं है । क्योंकि यह सर्वप्रमाण विरुद्ध है । प्रमाणप्रसिद्ध लोक-व्यवहार अधिष्ठानभूत ब्रह्मतत्त्व साक्षात्कार बिना बाधित नहीं हो सकता । अपवादके बिना उत्सर्गकी स्थिति स्वाभाविक होती है । लौकिक-प्रमाण अपने-अपने विषय-सत्-असत्का बोधन करते हैं । उन्ही प्रमाणोंके आधारपर सत्-रूपसे यथाभूत अविपरीततत्त्वकी व्यवस्थापना होती है । इसी तरह असत्-असत् इस रूपसे यथाभूत अविपरीत तत्त्वकी व्यवस्थापना होती है । सत्-असत्को विचारासह कहनेवाले शून्यवादीका पक्ष सर्वप्रमाण विरुद्ध है ।

कहा जाता है कि ‘इस विचारसे प्रमाणोंके तात्त्विक प्रामाण्यका ही खण्डन किया जाता है साव्यावहारिक प्रामाण्यका खण्डन नहीं किया जाता । तथा च भिन्नविषयक होनेसे प्रमाण विप्रतिषेध नहीं होगा किंतु यह ठीक नहीं । क्योंकि प्रमाण स्वविषयमें प्रवर्तमान होते हुए ‘यह तत्त्व है’ इस रूपसे ही प्रवृत्त होते हैं । बाधकज्ञानसे ही उनके विषयकी विपरीतता दिखाकर अतात्त्विकता सिद्ध की जाती है । जैसे यह शुक्ति है रजत नहीं, सूर्यकिरण है जल नहीं, एक चन्द्र है दो नहीं, इत्यादि स्थलोमें बाधका अधिष्ठान ज्ञानसे यह रजत है यह जल है इत्यादि ज्ञानोंके विषयोंकी विपरीतता दिखलाकर अतात्त्विकता सिद्ध की जाती है । वैसे बाधकज्ञानके

द्वारा समस्त प्रमाण-गोचर पदार्थोंके विपरीत तत्त्वान्तरकी व्यवस्था करना कच्चे ही प्रमाणोंकी अनाधिकता सिद्ध की जा सकती है।

निष्कर्ष यह है कि प्रसङ्गको अनाधिक सिद्ध करनेके लिये अधिष्ठान-भूत वस्तुतत्त्व आवश्यक है परन्तु शून्यवादी तो भ्रमको निरधिष्ठान ही कहता है; क्योंकि उसके अनुसार तो प्रमाणोंके द्वारा तत्त्वकी उग्लब्धि होती ही नहीं। इसी अभिप्रायमें भगवान् व्यासने कहा है—“नाभावोऽनुपलब्धः” अर्थात् अधिष्ठान-भूततत्त्व शून्यवादमें सम्भव नहीं है। क्योंकि उसके अनुसार किसी प्रमाणमें तत्त्वका उपलब्ध होता ही नहीं। जो अप्रामाणिक होगा उसे तत्त्व कैसे कहा जा सकता है ?

आजकालके बौद्ध-बुद्धके मौनके आधारपर कहते हैं कि “बुद्धको मनावचना-नीति एक अधिष्ठानतत्त्व अभिमत था। जैसे वैदिकोंके यहाँ कहा जाता है ‘अवचनेनैव प्रोवाच ह’ अर्थात् आचार्यन अवचनमें ही तत्त्वका उपदेश कर दिया।

चित्रं वदतरोर्मूले वृद्धा. शिष्या. गुरुत्वा ।

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नमंशया. ॥

अर्थात् ‘वटवृक्षके नीचे एक आचार्य देखा गया व वहाँ एक युवा गुरु तथा बहुतसे वृद्ध शिष्य बैठे हैं। गुरुके मौन व्याख्यानमें ही शिष्योंके सब मंश दूर हो गये।’

वस्तुतः वैदिकोंके इस मौनव्याख्यानका ही बुद्धके मौनके साथ जोड़नेका यत्न किया गया है। किन्तु वैदिकोंने स्रष्ट-स्रष्टार अष्टादश, शून्यवादका निरर्थक किया है। विश्वकारणरूपसे एवं सर्वाधिष्ठानरूपमें तत्त्वका प्रतिपादन किया है। उसके सविषयत्व एवं मनोवचनगोचरत्वकी शक्ती दूर करनेके लिये ही कर्ण-भाग-न्याग-लक्षणा, कहीं नेति-नेति, अस्थूळ, ‘अनणु आदि अनद्वयावृत्ति तथा कहीं मौनका अवलम्बन किया गया है। शून्यवादियों एवं बुद्धके उपदेशोंमें तो सबके मूल अधिष्ठान या किसी स्थायी वस्तुका सर्वथा खण्डन ही है। सर्वसाक्षी कोई न्यायी आत्मा भी शून्यवादियोंको मान्य नहीं है। फिर भी अगर बुद्धके मौनसे निर्विशेष-ब्रह्मका बोध हो तो किसी प्रतिवचन-दानाममर्थ पराजितवादीके भी मौनमें, अथवा अजम्बूके भी मौनसे अधिष्ठानब्रह्मका बोध समझा जा सकेगा।

लोकमें भी प्रसङ्गानुसार मौनमें तत्त्वबोध कराया जाता है। जैसे किसी नवोद्भासे उसके सामने स्थितपतिको उसकी सखियाँ पृच्छती हैं। तो विभिन्न व्यक्तियों-पर अंगुलीसे निर्देशकर पृच्छती है कि इनमेंसे तैरे पति कौन हैं ? सखियोंके विभिन्न अंगुली निर्देशपर नवोद्भा ‘नेति नेति’ बोलती जाती है। जब ठीक उसके पतिपर ही अंगुली निर्देश होता है तब वह लज्जित होकर मौन हो जाती है। वगैरे इस मौनमें

ही सखियों समझ लेती हैं कि इसका पति यही है। इसी तरह विश्वकारण विश्वके अधिष्ठानका प्रत्यगभिन्न परमात्माका अनेक श्रुति युक्ति आदि प्रमाणोंसे प्रतिबोधित कर देनेके बाद भागत्याग इतर निषेधके अनन्तर मौनद्वारा सर्वनिषेधावधि, सर्वनिषेधाधिष्ठान तथा सर्वनिषेधसाक्षीका बोध कराया जाता है।

ये सब बातें शून्यवादमें सम्भव नहीं; बुद्धने किसी मूलकारण या मूलतत्त्वका प्रतिपादन नहीं किया प्रत्युत उन्होंने सभी स्थायी पदार्थोंका सर्वथा निषेध किया है। आत्मातत्त्वका निषेध किया है, कारणभूत ईश्वरका ही खण्डन किया है। उन्होंने सभी सत्को क्षणिक माना है। उन्होंने तो अपने मौनका स्पष्ट अर्थ बतलाया भी है कि 'ऐसे विषयोपर विचार करना व्यर्थ है। इनका विचार लाभदायक न होकर हानिकारक ही है। पुनर्जन्म होता है या नहीं, लोक शाश्वत है या नहीं, आत्मा देहसे भिन्न है या नहीं इत्यादि विचार व्यर्थ हैं।' फिर भी बुद्धके मौनसे उनके स्पष्ट कथनके विरुद्ध कूटस्थ अधिष्ठान आत्माको स्वीकार करना शुद्धरूपसे बुद्धिके नामपर उनके साथ बेईमानी करनी है।

इसके अतिरिक्त प्रमाण बिना भी यदि कोई पदार्थ स्वीकार्य हो तो फिर प्रमा-प्रमेय-व्यवस्था ही व्यर्थ होगी। तब तो स्वानुभवके नामपर समाधिके नामपर कोई कुछ भी मनमानी पदार्थ सिद्ध करता फिरेगा ?

घो तो कपिल, वशिष्ठ, व्यास, गौतम, कणाद सभी समाधि सम्पन्न थे। सभी स्वानुभवकी बात कर सकते थे, परंतु प्रमाणविरुद्ध अर्थ कोई माननेको तैयार नहीं हो सकता है। वेदान्ती तो अनादि, अपौरुषेय पुरुषाश्रित भ्रमादि दोष शून्य वेद तथा वेद मूर्धन्य उपनिषद्रूप परम प्रमाणके आधारपर अधिष्ठान ब्रह्मसिद्ध करते हैं। विधिमुख भाग त्याग एव अतन्निषेधके द्वारा वेदान्तोका ही नहीं; अपितु सभी वेदोका पर्यवसान ब्रह्ममें ही कहा गया है। 'सर्वे वेदो यत्पदमा मनन्ति' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।' अर्थात् सभी वेदोका महातात्पर्य ब्रह्ममें ही है। प्रत्यक्ष-अनुमान आदिके द्वारा भी वेदान्ती अधिष्ठान भूत ब्रह्मकी सिद्धि करते हैं। निषेध आदिके द्वारा तो केवल अधिष्ठानकी निर्विशेषता आदि ही सिद्ध की जाती है। अस्तु।

शून्यवादीसे यदि प्रश्न हो कि 'प्रपञ्चकी अतात्त्विकता धर्मिभूत प्रपञ्चग्राहक प्रमाणोंसे ही सिद्ध होती है, अथवा प्रमाणान्तरसे ? पहला पक्ष सगत नहीं है। क्योंकि धर्मिग्राहक प्रमाण तो अपने विषयकी तात्त्विकताका ही प्रतिपादन करते हैं। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि वाधक प्रमाणज्ञान अधिष्ठानका ही ज्ञान हो सकता है। परंतु तात्त्विक अधिष्ठानगोचर कोई प्रमाण शून्यवादीको मान्य नहीं। उसके ज्ञानमें तो जो भी पदार्थ हैं सभी निस्तत्त्व निःस्वभाव है।

शून्यवादी कहता, मले ही अधिष्ठानतत्त्वका बोध न हो, परन्तु प्रत्यक्षादिप्रमित वस्तुगत विचारासहत्व ही बाधक प्रमाण है। इसीके द्वारा प्रपञ्चकी निस्तत्त्वता बोधित हो जायगी। किन्तु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि विचारासहत्व क्या है यह भी विचार आवश्यक है। क्या विचारासहत्वका यह अभिप्राय है कि 'यद्यपि अत्-असत् आदि पक्षोंमें अन्यतमस्वरूप वस्तु धर्म है तथापि वह विचारासह अथवा विचारा सहत्वरूपसे निस्तत्त्व शून्यरूप है ?' पहला पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि सत्-असत् आदिरूप तत्त्व शून्यवादीको मान्य ही नहीं है। फिर जो वस्तु परमार्थतः सत्-असत् आदि पक्षोंमें ही किसी पक्षकी है तो वह सत्-असत् आदि किसी पक्षमें ही निर्दिष्ट होगी, तब वह विचारासह कैसे ? जो सत् या असत् है वह प्रमाणगोचर होनेसे विचारासह तो है ही ? यदि वह विचारसहन नहीं कर सकती तो सत्-असत् आदि पक्षोंमें किसी पक्षकी नहीं हो सकती। यदि किसी पक्षकी है तो विचारासह कैसे ? यदि यह कहा जाय कि निस्तत्त्व ही विचारासहत्व है तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि बिना किसी तत्त्वका व्यवस्थापन किये किसी वस्तुको निस्तत्त्व नहीं कहा जा सकता है। जैसे शुक्तितत्त्वके व्यवस्थापनसे ही रजतकी निस्तत्त्वता कही जाती है वैसे किसी ब्रह्म आदि तत्त्वकी व्यवस्थापनाद्वारा ही प्रपञ्चकी निस्तत्त्वता कही जा सकती है अन्यथा नहीं।

यदि कहा जाय कि निस्तत्त्वता ही भावोका तत्त्व है तो यह भी ठीक नहीं। तब तो तत्त्वाभाव ही निस्तत्त्वता हुई और शून्यवादीके अनुसार तत्त्वाभाव भी तो विचारासह ही होगा ? साथ ही आरोपित पदार्थका ही निषेध होता है और आरोपका अधिष्ठान ही तत्त्व हुआ करता है, यह शुक्ति रजतादिमें दृष्ट है। जब कोई तत्त्व है ही नहीं, तब किसमें किसका आरोप होगा ? इस तरह निष्प्रपञ्चपरमार्थ सद्ब्रह्म ही अनिवार्य प्रपञ्चरूपमें आरोपित होता है, यही मानना उचित है। बाधक प्रमाणद्वारा तत्त्व व्यवस्थापन करके प्रमाणोका अतात्त्विकत्वरूप व्यावहारिक प्रामाण्य व्यवस्थापित हो सकता है।

अतएव भगवान् भाष्यकारका कहना है कि वेनाशिकमत उपपत्तिका दृष्टिमें जितना देखा जाता है उतना ही बालके कूपकी तरह ढहता चला जाता है। नाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि परस्पर विरुद्धवादोंका उपदेश करते हुए बुद्धने असम्बद्ध प्रलापिता ही ख्यापित की है, अथवा प्रजामें व्यामोह फैलानेके दृष्टिमें ही बुद्धने इस प्रकारका तत्त्वोपदेश किया है, ऐसा ही पुराणोंमें प्रसिद्ध है।

इसी तरह नेरात्मवाद स्वीकार करना साथ ही समस्त वासनाओंके आधार भूत आलस्यविज्ञानान्तो अक्षर आत्म्य मानना भी परस्पर विरुद्ध है।

जैनियोंके मतानुसार संसारी और मुक्त—ये दो प्रकारके जीव हैं । संसारी भी समनस्क और अमनस्क-भेदसे दो प्रकारके हैं । कोई लोग जीव, अजीव, आसव, बन्ध, सवर, निर्जर और मोक्षरूप तत्त्व मानते हैं । इस तरह पञ्चास्तिकाय भी इन्हीका विस्तार है । उनमें और भी बहुत प्रकारके भेद हैं । वे लोग प्रत्यक्ष और अनुमान—यही दो प्रमाण मानते हैं । सर्वत्र स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यः, स्यान्नास्ति, चावक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः (सर्वदर्शनस० अहित-दर्शन ४७) इस सप्तभङ्गि न्यायको मानते हैं । इसी प्रकार नित्यत्वादिकमें भी इसी न्यायको प्रयुक्त करते हैं । वे शरीरपरिमाण ही आत्मा मानते हैं । कर्माष्टक जीवको बद्ध करता है । समस्त क्लेश और तद्विप्रयिणी वासनाएँ जिसकी विगलित हो चुकी हैं, जिसका शान आवरणरहित हो गया है और जिसे एकतान सुख प्राप्त हो गया है, ऐसे आत्माके ऊपरके देशमें अवस्थानको कोई मोक्ष कहते हैं । किन्हींके मतानुसार जीव गमनशील है और धर्माधर्मास्तिकायसे वह बद्ध है । उससे छूटनेपर उसका ऊार जाना ही मोक्ष है ।

‘क्षित्यङ्कुरादिकर्तृत्वेन एक ईश्वर सिद्ध नहीं होता’ ऐसा किन्हींका कथन है, क्योंकि प्रपञ्चमें कार्यत्व सिद्ध नहीं है । यदि सावयवत्वेन कार्यत्वकी सिद्धि कही जाय, तो विकल्पासह होनेसे वैसा नहीं कहा जा सकता । जैसे कि वह सावयवत्व क्या है, अवयव-संयोगित्व, अवयवसमवायित्व, अवयवजन्यत्व, समवेतद्रव्यत्व या सावयवबुद्धिविषयत्व ? आकाशमें अनैकान्तिक होनेके कारण अवयवसंयोगित्व नहीं कहा जा सकता । सामान्य (जाति) आदिमें अनैकान्तिक होनेसे अवयव-समवायित्व भी नहीं कहा जा सकता । साध्यसम होनेसे अवयवजन्यत्व भी सावयवत्व नहीं हो सकता । विकल्पासह होनेसे समवेतद्रव्यत्वरूप चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं । जैसे कि समवायसम्बन्धमात्रवत् द्रव्यत्व समवेतद्रव्यत्व है अथवा अन्यत्र समवेत द्रव्यत्व ? आकाशादिमें व्यभिचार होनेसे प्रथम पक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आकाशमें गुणादिसमवायत्व और द्रव्यत्व दोनों सम्भव हैं । साध्यसे अविशिष्ट होनेके कारण दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है । सधीभूत तन्तु ही पट है, अतः तन्तुओंमें पटसे अन्यत्व सिद्ध नहीं है, साथ ही समवाय भी असिद्ध है । आत्मा आदिमें अनैकान्तिक होनेके कारण सावयवबुद्धिविषयत्वरूप पाँचवाँ पक्ष भी ग्राह्य नहीं हो सकता; क्योंकि सावयवत्वबुद्धिके विषय होनेपर भी आत्मामें कार्यत्व नहीं है ।

फिर, एक कर्ताकी सिद्धि की जा रही है या अनेक कर्ताओंकी ? यदि एककी, तो प्रासादादिमें व्यभिचार आता है; क्योंकि प्रासादादिका निर्माण एक कर्ताद्वारा निष्पन्न नहीं होता । अनेक कर्ता भी नहीं कहे जा सकते; क्योंकि

बहुतोंमें कर्तृत्व माननेपर परस्पर मतभेदकी सम्भावना अनिवार्य होनेसे सामञ्जस्य नहीं बन सकता। सभीका सामर्थ्य यदि समान माने, तो एकसे ही कार्यसिद्धि भी हो जायगी; फिर अन्योक्ता वैयर्थ्य सुतरा सिद्ध है; अतः अनेक कर्ता माननेसे भी लाभ क्या ? तथाच आगम-सर्वज्ञपरम्परा अनादि होनेके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्रसे आवरणक्षय होनेसे सर्वज्ञता होती है।

यह सब कथन आपातरमणीय है। सत्त्व और असत्त्वके परस्परविरुद्ध होनेसे उनका समुच्चय न हो सकनेके कारण विकल्प होता है; किंतु वस्तुमें विकल्प सम्भव नहीं है। समस्त वस्तुओंमें निरङ्कुश अनेकान्तत्वकी प्रतिज्ञा करनेवालेके मतमें निर्द्धारण भी एक वस्तु ही तो मानना पड़ेगा। स्यादस्ति और स्यान्नास्ति इन विकल्पोका उपनिपात होनेसे अनिर्धारणात्मकता ही होगी। जीवको शरीर-परिमाण माननेपर उसे परिच्छिन्न मानना पड़ेगा; अतः आत्माकी अनित्यता भी स्वीकृत करनी पड़ेगी। शरीरोका परिमाण भी अनवस्थित होनेसे एक मनुष्यजीव मनुष्यपरिमाणका होकर फिर कर्मवशात् जब उसे हाथीका जन्म प्राप्त होगा, तब वह समूचे हाथीके शरीरमें व्याप्त न हो सकेगा। यदि उसे चीटीका शरीर प्राप्त हुआ, तो वह उस चीटीके शरीरमें सम्पूर्णतया समाविष्ट न हो सकेगा। एक जन्ममें भी कौमार, यौवन, वृद्धावस्थाओंमें भी उक्त दोष अनिवार्य होंगे। जीवको वे अनन्त अवयवयुक्त भी मानते हैं। ऐसी दशामें छोटा शरीर प्राप्त होनेपर उन अवयवोका सङ्कुचित होना और बड़ा देह मिलनेपर विकसित होना भी मानना पड़ेगा। यह भी विचार करनेपर सङ्गत प्रतीत नहीं होता। अनन्त अवयवोकी समानदेशता प्रतिहत होगी या नहीं ? यदि प्रतिहत होगी, तो वे अनन्त अवयव परिच्छिन्नमें समाविष्ट न हो सकेंगे। यदि न होगी तो सबको एक देशमें ही अवस्थित मानना पड़ेगा। ऐसी दशामें उनमें स्थूलताका अभाव होनेसे जीव अणुपरिमाणपरिमित हो जायगा। शरीरमात्रमें परिच्छिन्नकी अनन्तता भी नहीं बन सकती। अवयवोंके आगम-अपगमसे उनकी छोटे-बड़े शरीरकी परिमाणताकी कल्पना भी असङ्गत है; क्योंकि अवयवोंके उपचयअपचयवाला होनेपर उसे विकारवान् मानना पड़ेगा। अवयवोंमें भी प्रत्येक चेतयिता है या उनका समुदाय ? इसपर लोकायतिकमतके निराकरणप्रसङ्गमे कही हुई आपत्तियाँ अनिवार्य हैं। बन्ध-मोक्षव्यवस्था भी उनसे सम्मत प्रत्यक्ष-अनुमानसे अवगत नहीं हो सकती।

वैशेषिक तथा नैयायिक परमेश्वरकी भी सिद्धि करते ही हैं। प्रपञ्चके सावयव होनेसे उसकी कार्यता सिद्ध करके उस प्रपञ्चके कर्ता ईश्वरको सिद्ध करते हैं। 'पूर्वोक्त विकल्पासह होनेके कारण सावयवत्व असिद्ध है' यह नहीं कहा जा सकता;

क्योंकि 'समवेतद्रव्यत्व सावयवत्व है' ऐसा लक्षण करनेपर उक्त दोष प्रसक्त नहीं होते । आकाशके निरवयव होनेसे उसमें व्यभिचार सम्भव नहीं है । अवान्तर महत्त्वरूप हेतुसे भी कार्यत्वका अनुमान सुकर है । शरीरसे जन्य न होनेसे आकाशकी तरह क्षित्यङ्कुरादि अकर्तृक हैं—ऐसा सत्प्रतिपक्ष अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर विशेषण व्यर्थ है । केवल अजन्यत्वकी भी हेतुता नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह असिद्ध है । यदि कहा जाय कि शरीराजन्यत्व रहनेपर भी कर्त्रजन्यता न रहे, तो क्या हानि है, तो इसका कोई उत्तर नहीं हो सकता । सोपाधिकत्वकी शङ्का भी नहीं की जा सकती, क्योंकि यदि अकर्तृक होगा, तो कार्य भी न होगा, ऐसा अनुकूल तर्क हो सकता है । यदि इतरकारकोंसे अप्रयोज्य होते हुए सकल कारकोका जो प्रयोक्ता है, वह कर्ता होता है अथवा ज्ञान-चिकीर्षा प्रयत्नोका जो आधार है, वह कर्ता है—ऐसा कर्तृलक्षण कहा जाय, तो कर्ताकी व्यावृत्ति होनेपर तदुपहित समस्त कारकोकी व्यावृत्ति होनेसे कारणके बिना कार्योत्पत्तिका प्रसङ्ग उपस्थित होगा ।

यदि ईश्वर कर्ता हो, तो वह शरीरी होगा, ऐसा प्रतिकूल तर्क भी न कहा जा सकता, क्योंकि सिद्धि-असिद्धि दोनो अवस्थाओंमें व्याघात होगा । यदि ईश्वर असिद्ध होगा, तो आश्रयासिद्धि होगी और यदि आगमसिद्ध होगा, तो उसीसे उसकी कर्तृत्वसिद्धि भी हो जायगी । अवाप्तसमस्तकाम उस परमेश्वरकी करुणावशात् विश्वसृष्टिमें प्रवृत्ति माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती । वैसी दशामें 'सुखमय ही सृष्टिकी प्रसक्ति होगी' यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सृज्यप्राणिकृत सुकृत-दुष्कृतके परिपाकविशेषसे सृष्टिवैषम्य उपपन्न है । कार्य होते हुए विलक्षण होनेके कारण शय्या, प्रासाद आदिके समान भूत, भौतिक पदार्थ स्वोपादानगोचर अपरोक्षज्ञानवान्से जन्य हैं, इस अनुमानसे तथा प्रपञ्चके निमित्तोपादन होनेके कारण प्रपञ्चाधारत्व, शाशकत्व, प्रकाशकत्व आदिसे परमेश्वर सिद्ध होता है ।

वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव—ये सात पदार्थ मानते हैं । नैयायिक लोग प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान—ये सोलह पदार्थ मानते हैं । वे आत्माको ज्ञानादिगुणवान्, नित्य और व्यापक मानते हैं । जीवात्मा और परमात्मा भेदसे आत्मा दो प्रकारका मानते हैं । जीवात्माओंको अनन्त और परमात्माको एक मानते हैं । नित्यज्ञानादिगुणवान् परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है यह तर्क तथा आगमसे सिद्ध होता है, यह बतलाया जा चुका है । इनके मतानुसार अन्धकार तेजोऽभावरूप है । दुःख, जन्म, प्रवृत्ति;

दोष और मिथ्याज्ञानमें उत्तर-उत्तरका तत्त्वज्ञानसे नाश होनेपर पूर्व-पूर्वका नाश होनेसे अवगर्ग होता है ।

प्रमाणके विषयमें—चार्वाक लग जेमे इन्द्रियजन्य ही ज्ञानको प्रमाण मानते हैं, वैसे ही उनके मनसे श्रोत्रेन्द्रिय शब्दका ही बोधन करता है, शब्दार्थको भी नहीं । शब्दार्थ सत्य है या असत्य—इसका निर्णय नहीं किया जा सकता । अनुमान व्याप्ति-ज्ञानसापेक्ष होता है और व्याप्ति 'जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि होता है' इस प्रकार समस्त जगत्में अतीत, अनागत धूम-अग्नियोंको उपस्थापित करती है । कदाचित्क द्रष्टाको प्रत्यक्षद्वारा समस्त धूम एवं अग्नियोंका ज्ञान सम्भव नहीं है । अनुमानसे भी इनका ज्ञान सम्भव नहीं, क्योंकि अनुमान व्याप्तिज्ञानसापेक्ष हुआ करता है । बारबार सहचारदर्शनसे भी व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि 'अग्निके अभावसे भी कदाचित् धूम हो सकता है' ऐसी व्यभिचार शङ्काका समस्त धूम तथा अग्नियोंका ज्ञान हुए बिना निराकरण नहीं हो सकता । बौद्ध, जैन, वैशेषिक अनुमानको भी मानते हैं । उनका आशय यह है कि अन्वय-व्यतिरेकद्वारा धूम तथा अग्निके कार्य-कारणभावका निश्चय होनेपर व्यभिचार-शङ्काको निवृत्ति हो जानेसे व्याप्तिज्ञान हो जायगा ।

उनके मतमें यद्यपि शब्द समादरणीय है तथापि प्रत्यक्ष, अनुमानसे सिद्ध पदार्थका बोधक होनेसे उसका प्रामाण्य माना जाता है, उसका स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं माना जाता । वैशेषिकके मतानुसार भी शब्द सर्वत्र प्रमाण नहीं है; क्योंकि उन्मत्तप्रलपितादिमें उसका अप्रामाण्य स्पष्ट है । वैशेषिक प्रमाणभूत ईश्वर या अन्य आप्तपुरुषद्वारा उच्चरित शब्दको ही प्रमाण मानते हैं । तथा च वक्ताके प्रामाण्यसे शब्दके प्रामाण्यका अनुमान होता है, अतः शब्दप्रामाण्य अनुमान-प्रामाण्यके अधीन होनेसे अनुमानसे पृथक् उसका प्रामाण्य नहीं है । अनुमान और शब्द—दोनों परोक्षसामान्यविषयक हैं, अतः उनकी प्रवृत्ति सम्बन्धग्रहाधीन है । साथ ही विशेष अनन्त होनेके कारण उनका सम्बन्ध दुरवगम है । अतः धूमको देखकर जैसे अग्निके अनुमान किया जाता है, वैसे ही शब्द सुनकर उसका अर्थ अवगत होता है । यहाँ भी लिङ्गकी ही तरह अन्वयव्यतिरेक होते हैं । जो शब्द जिस अर्थमें प्रयुक्त देखा जाता है, वह उस अर्थका वाचक होता है । धूमके वह्निमत्त्वके समान शब्दका अर्थवत्त्व है, अतः शब्दको अनुमानके अन्तर्गत ही मानना चाहिये । यथेष्ट विनियोज्यता हस्तादि, सज्ञादि लिङ्गमें भी दिखायी पड़ती है । दृष्टान्त-निरपेक्षता भी समन्वय अनुमानमें स्पष्ट है । अनन्वय होनेपर तो अनुमान और शब्द दोनोंमें सम्बन्धस्मृतिकी सापेक्षता होती है ।

कोई प्रत्यक्ष और शब्द—इन्हीं दोको प्रमाण मानते हैं । उनके मतमें अनुमान यद्यपि प्रमाण माना जाता है, तथापि वह यदि प्रमाण भूत शब्दसे प्रतिपादित अर्थका अवबोधक हो, तभी प्रमाण होता है, अन्यथा नहीं । अन्य लोग प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन प्रमाण मानते हैं । उनके मतमें न तो शब्द अनुमानकी अपेक्षा करता है और न अनुमान शब्दकी । वाक्यात्मक शब्द अनवगत सम्बन्धका ही बोधक होता है । नवीन विरचित श्लोकादिका श्रवण होने पर अधिगत पद तथा उनके अर्थोंका वाक्यार्थ अवगत होता देखा जाता है । तथा च सम्बन्धाधिगममूलक प्रवृत्तिवाले अनुमानसे शब्दका साग्य नहीं है । पदात्मक शब्द यद्यपि सम्बन्धाधिगमसापेक्ष होता है, तथापि सामग्रीभेद और विषय-भेदसे उसकी अनुमानसे भिन्नता है । पद 'और लिङ्गका विषय भी भिन्न है । पदार्थमात्र पदका अर्थ होता है और अनुमान 'अग्निमान् पर्वतः' इत्यादि रीतिसे वाक्यार्थविषयक होता है । धर्मविशिष्ट धर्मों साध्य होता है, अतः पर्वतादि-विशेष्यक प्रतिपत्तिपूर्विका पावकादिविशेषणावगति लिङ्गसे उत्पन्न होती है, जब कि पदसे विशेषणावगतिपूर्वक विशेष्यावगति होती है, इस तरह दोनोंका विषय-भेद स्पष्ट है । कहा गया था कि 'अनुमानमें जैसे धर्मविशिष्ट धर्मों साध्य है, वैसे ही अर्थविशिष्ट शब्द साध्य हो' तो यह ठीक नहीं; क्योंकि हेतु होनेके कारण शब्दकी हेतुता अनुपपन्न है । साथ ही अर्थधर्म होनेसे यदि शब्दकी पक्षधर्मता हो, तो अनवगत धूमाग्निसम्बन्ध भी जैसे अर्थधर्मताको ग्रहण करता ही है, वैसे ही अनवगत शब्दार्थ सम्बन्धको भी शब्दकी अर्थधर्मताका ग्रहण करना चाहिये, परंतु ग्रहण नहीं करता, अतः शब्दकी पक्षधर्मता नहीं कही जा सकती । शब्द और अर्थका देश तथा कालसे सामानाधिकरण्याका व्यभिचार भी है, अतः अन्वय-व्यतिरेकका उपपादन दुष्कर है ।

नेयायिक लोग शब्दको स्वतन्त्र प्रमाण मानते हुए ईश्वरचित्त्वेन वेदका प्रामाण्य अङ्गीकार करते हैं । धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको पुरुषार्थ मानते हैं । शब्दप्रमाणके बिना मूक व्यक्तिसे वाग्मी पुरुषकी विशेषता निर्णीत नहीं की जा सकती । शब्दके बिना माता-पिताका ज्ञान भी होना कठिन है । प्रत्यक्ष या अनुमानसे न तो माता-पिताका निर्णय हो सकता है और न उनके धनका पुत्रको अधिकार ही प्राप्त हो सकता है । एवं च शब्दप्रमाण माने बिना लोकव्यवहार समुच्छिन्न हो जायगा । इसीलिये कहा गया है—

‘मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति धानरा ।

गान्ध्यापि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति से नरा ॥’

साख्य, योगी और कुछ नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द—ये तीन प्रमाण मानते हैं । नैयायिक उनके अतिरिक्त उपमान प्रमाण भी मानते हैं । अर्थापत्तिको मिलाकर पाँच प्रमाण प्राग्भक्त मानते हैं । अनुलब्धिसहित छः प्रमाण भाट्टों एवं अद्वैतियोंको सम्मत है । सम्भव और ऐतिह्य मिलाकर आठ प्रमाण पौराणिक मानते हैं । इनमें वैशेषिक लोग शब्दप्रमाणसे साधित अर्थको तो सत्य ही मानते हैं, पर उसे शब्दमूलक नहीं अपितु अनुमानमूलक ही बतलाते हैं । मीमांसक लोग जैसे अर्थापत्तिसे साधित अर्थको अनुमानसे साधित करके उगमें अन्तर्भूत करते हैं, वैसे ही नैयायिक लोग भी मानते हैं उनका कथन है कि परमेश्वरनिर्मित होनेके कारण वेद अपौरुषेय हैं और आप्तोक्त होनेसे उनका प्रामाण्य है । पौरुषेयत्ववादियोंका कहना है कि 'तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद्वेदो यजुर्वेदः' इस श्रुतिसे ही वेदकी उत्पत्ति परमेश्वरसे निःश्वासवत् बतलायी गयी है । जिस प्रकार बिना आयासके निःश्वास उत्पन्न होता है, वैसे ही आयास एवं बुद्धिसे निरपेक्ष ही वेदोकी उत्पत्ति उक्त श्रुतिमें बतलायी गयी है । वेद यद्यपि स्थूल-सूक्ष्म, सनिकृष्ट-विप्रकृष्ट, मूर्त-अमूर्त, चैतन-अचैतन—सर्वविध अर्थोंका अवभासक है, तथापि अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न होनेसे परमेश्वरका अनायास वेदकर्तृत्व तो सम्भव है, किंतु बुद्धिनिरपेक्षता उपपन्न नहीं हो सकती । कुछ लोग बुद्धिनिरपेक्षताकी उपपत्तिके लिये कहते हैं कि वेद परमेश्वरसे केवल प्रकाशित हुए हैं । कोई निःश्वसितन्यायका अनायासमात्रमें तात्पर्य मानते हैं । 'बुद्धिसापेक्ष वाक्य-रचनामें लेशमात्र भी आयास नहीं है,' यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि निःश्वासमें भी प्रयत्नलेखकी आवश्यकता तो रहती ही है ।

अपौरुषेयत्ववादियोंका इसपर यह कथन है कि सुप्त, प्रसन्न, अनवहित एवं अन्यमनस्क व्यक्तियोंका भी निःश्वास देखा जाता है, अतः निःश्वासको अवश्य ही बुद्धिप्रयत्नसे निरपेक्ष मानना चाहिये । एवं च सहज होनेसे निःश्वास जैसे अकृत्रिम होता है, वैसे ही निःश्वासवत् आविर्भूत वेदोकी भी सहज होनेके कारण अकृत्रिमता माननी चाहिये और उस दृष्टांतमें अपौरुषेय होनेके कारण पुरुषाश्रित भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणागत्यादि दूषणोंसे असंस्पृष्ट होनेके कारण समस्त-पुदोषगङ्गाकलङ्कके अशक्त होनेसे वेदका स्वतःप्रामाण्य है । यहाँ अनुमानका स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये—सम्प्रदायाविच्छेद होते हुए कर्ता अस्मर्यमाण होनेसे आत्माके समान वेद अपौरुषेय हैं । व्यतिरेकमें—जो सम्प्रदायाविच्छेदे मति अस्मर्यमाणकर्तृक नहीं होता, वह अपौरुषेय भी नहीं होता, जैसे 'महाभारत' यह अनुमान है ।

पौरुषेयवादियोंका कथन है कि प्रलयमें सम्प्रदायका विच्छेद हो जाता है, अतः लक्षणमें विशेषण असिद्ध है । साथ ही अस्मर्यमाणकर्तृत्वका अर्थ क्या

अप्रमीयमाणकर्तृकत्व समझा जाय या स्मरणागोचरकर्तृत्व ? अप्रमीयमाणकर्तृकत्व नहीं कहा जा सकता; क्योंकि परमेश्वररूप कर्ता प्रमीयमाण है 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचःसामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यज्ञस्तस्मादजायत ॥' (शु० यजु० ३१।७) यह श्रुति परमेश्वरसे वेदोकी उत्पत्ति स्पष्ट बतला रही है । विकल्पासह होनेसे स्मरणागोचरकर्तृकत्व भी नहीं कहा जा सकता । जैसा कि प्रश्न उठता है कि क्या एकसे स्मरण वा सबसे ? निश्चितपुरुषकर्तृकमें भी कर्ताका स्मरण न होनेमात्रसे किसी वस्तुकी अपौरुषेयत्वप्रसक्ति होगी, अतः प्रथम पक्ष सङ्गत नहीं । सबसे अस्मरणको बिना सर्वशेके अन्य कोई जान नहीं सकता; अतः दूसरा पक्ष भी उपपन्न नहीं है । साथ ही—वाक्य होनेके कारण 'रघुवंश' वाक्यकी तरह वेदवाक्य पौरुष हैं और प्रमाणभूत होते हुए वाक्यस्वरूप होनेके कारण मन्वादिवाक्यके समान वेदवाक्य आसप्रणीत हैं; इत्यादि अनुमानोसे वेदोके कर्ताका निश्चय भी प्रमाणित हो रहा है ।

यह नहीं कहा जा सकता कि 'वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा ॥' (सर्वदर्शनमग्रह, जैमिनीय दर्शन १९) इससे उक्त अनुमान सत्प्रतिपक्षित है; क्योंकि 'भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । भारताध्ययनत्वेन साम्प्रताध्ययनं यथा ॥' (सर्वदर्शन सं० १२ । १९) इस प्रकार दोनों ओर समान योग-क्षेम है । 'को ह्यन्यः पुडरीकाक्षान्महाभारदकृद् भवेत्' (सर्व० जैमि० २०) इस वचनसे भारतका तो व्यासकर्तृकत्व समर्थित हो रहा है; यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'ऋचः सामानि जज्ञिरे' (शु० य० ३१ । ७) इत्यादिसे वेदकी भी परमेश्वरकर्तृकता श्रुत है । सामान्यवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियग्राह्य होनेसे घटादिकी तरह शब्द भी अनित्य है । 'वही यह गकार है' इस प्रत्यभिज्ञाबलसे शब्दकी नित्यता नहीं कही जा सकती; क्योंकि 'वही ये वेश हैं' इत्यादिके समान वह प्रत्यभिज्ञा नित्यतानिवन्धन नहीं; किंतु सादृश्यनिवन्धन है । अगरीरी होते हुए भी परमेश्वरकी भक्तानुग्रहार्थ लीलाविग्रह-धारणकी उपपत्तिसे कण्ठतात्वादि सापेक्ष वर्णोच्चारण भी सम्भव है; अतः वेदोको पौरुषेय माननेमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं है । किंतु तात्पर्य न समझ सकनेके कारण उक्त सब बातें कही जाती हैं; अतः वे सब अविचारित-रमणीय हैं ।

उक्त पौरुषेयत्व क्या है ? क्या पुरुषोच्चरितत्वमात्र अथवा प्रमाणान्तरसे अर्थको जानकर विरचितत्व ? पुरुषोच्चरितत्वमात्र ही यदि पौरुषेयत्व है, तो हमें इष्टापत्ति है । नित्य एवं व्यापक वर्णोंकी देश-काल-पौर्वापर्यरूप आनुपूर्वी असम्भव होनेसे वर्णव्यक्तियोंकी ही कालपौर्वापर्यलक्षण आनुपूर्वी कहनी चाहिये । वर्णव्यक्तियाँ कण्ठ-तात्वादि अभिघातजन्य ध्वन्यभिव्यक्तिवाली हैं । तथा च नियत वर्णोंकी नियत

आनुपूर्वीरूप वेदका पुरुषोच्चरितत्व सुतरा इष्ट ही है । प्रतिदिन अत्येताओंद्वारा उच्चार्यमाण वेदका पुरुषोच्चरितत्वमात्ररूप पौरुषेयत्व तो सिद्ध ही है, अतः उन्की सिद्धिका आयास व्यर्थ है । यदि प्रमाणान्तरेण अर्थज्ञानपूर्वक रचितत्वरूप पौरुषेयत्व कहे, तो विरुद्धासह होनेसे वह ठीक नहीं, क्योंकि उसकी निश्चि अनुमानसे की जायगी या आगमसे ? आगमबलसे नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रमाणान्तरसे जिसका अर्थ अनुपलब्ध है, ऐसे कविकल्पित वाक्यमें वाक्यत्वरूप हेतु व्यभिचरित हो जायगा । यदि 'प्रमाणत्वे मति' इस पदका निवेश करके अप्रमाण कविकल्पित वाक्यमें हेतुव्यभिचारका वरण किया जाय, तो भी प्रमाणान्तरके अविषयीभूत अर्थवाले वेदवाक्यमें प्रमाणान्तरेण अर्थका उपलब्ध करके विरचितत्वकी सिद्धि करना 'मेरे मुँहमें जिह्वा नहीं है' इस कथनके समान व्याहत है । प्रमाणान्तरसे उपलब्ध अर्थवाला होनेपर तो अनुवादक हो जायगा, जिससे अनधिगतका बोधक न होनेसे वेदका अप्रामाण्य ही सिद्ध होगा । चक्षुरादि इन्द्रियोंसे अनुपलब्ध शब्दकी अवगतिके लिये ही श्रोत्रप्रमाणकी जैसे सार्थकता है, वैसे ही प्रत्यक्ष, अनुमानसे अनधिगत धर्म आदिके अधिगमक होनेसे ही आगमप्रमाणकी सार्थकता है, अन्यथा व्यर्थ ही है—'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते । एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥' से यह स्पष्ट है ।

लीलाविग्रहधारी परमेश्वरकी भी चक्षुरादि इन्द्रियों अतीन्द्रिय देव, काल, स्वभाव, विप्रकृष्ट-अर्थका ग्रहण नहीं कर सकती, क्योंकि दृष्टानुसार ही कल्पनाका आश्रयण किया जा सकता है, जैसा कि कहा गया है — 'यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् । दूरसूक्ष्मादिदृष्टो स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥' (सर्वदर्शनम् ० १० । २३) सर्वज्ञको भी घ्राणशक्तिसे ही गन्धग्रहणका जैसे नियम है, वैसे ही वेदशक्तिसे ही वेदार्थ ग्रहणका नियम होनेपर सर्वज्ञत्वकी हानि नहीं होती । इसलिये दूसरा पक्ष भी सङ्गत नहीं है । काठक, कालाप, तैत्तिरीय इत्यादि समाख्याएँ अध्ययनसम्प्रदायप्रवर्तकविषयक हैं । 'तेन प्रोक्तम्' में प्रोक्तम् का 'कृतम्' यह अर्थ नहीं होता, क्योंकि वह तो 'कृते ग्रन्थे' से ही गतार्थ है, किंतु स्वयं या अन्यद्वारा कृत अध्यापन या अर्थान्वाख्यानसे प्रकाशित करना ही 'प्रोक्त' का अर्थ है । निःश्वासवत् वेदाधिर्भावका श्रवण परमेशितृकारणकत्वका ही बोधन करता है, प्रमाणान्तरसे अर्थोपलम्भनका भी बोधन नहीं करता ।

जिनका यह कहना है कि प्रत्यक्षद्वारा अर्थको उपलब्ध करके अखिल वेद का ईश्वरने निर्माण किया है, उन्हें भी कहना पड़ेगा कि ईश्वरको सभी पदार्थ प्रत्यक्ष हैं, प्रत्यक्षगम्य ही नहीं, अपितु अनुमानगम्य भी । तथा च लाववात् यही सिद्ध होगा कि अनुमानसिद्ध अर्थमूलक वेदरचना है । अपि च ईश्वरनिर्मित होनेसे

वेदके प्रामाण्यकी सिद्धि और उसके सिद्ध हो जानेपर वेदप्रतिपाद्यत्वेन ईश्वरसिद्धि माननेपर अन्योन्याश्रयदोष अनिवार्य है ।

‘क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटादिवत्’ इस अनुमानसे यदि ईश्वरसिद्धि इष्ट हो, तो भी धूमसे जिस प्रकार वह्निसामान्यका अनुमान होता है, वैसे कार्यत्वहेतुसे ईश्वरसामान्यकी ही सिद्धि होगी, ईश्वरविशेषकी नहीं । वेदकर्ता तो ईश्वरविशेष है, अतः अनुमानसे उसकी सिद्धि किस तरह होगी ? जिन-जिन युक्तियोंसे नैयायिक लोग वेदरचयिताका ईश्वरत्व सिद्ध करना चाहेंगे, उन्हीं-उन्हीं युक्तियोंसे वाङ्मिल, कुरान आदि ग्रन्थोंके निर्माताका भी परमेश्वरत्व—उन-उन ग्रन्थोंके अनुयायी—सिद्ध कर सकते हैं । तथाच इतरग्रन्थ साधारण होनेसे वेदमें पुरुषाश्रित पुदोषस्पर्शकी शङ्का प्राप्त होनेसे उसका प्रामाण्य सिद्ध न हो सकेगा, अतः पूर्वोक्त रीतिसे वेदका अपौरुषेयत्व ही मानना चाहिये ।

यदि कहा जाय कि वेदमें इन्द्र आदि व्यक्तियोंका श्रवण है, अतः उनकी उत्पत्तिके अनन्तर वेदका निर्माण होना युक्त है, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि सृष्टि शब्दपूर्वक ही होती है, जैसा कि ‘वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमिते स ईश्वरः’ (महा० शां० २३२।०६) इत्यादि स्मृतियोंमें बतलाया गया है । ‘शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्’ (वेदान्तदर्शन, १।३।२८) । इत्यादि न्यायमें भी यह सिद्ध किया गया है ।

वाक्यत्व हेतुसे महाभारतादिवत् वेदके पौरुषेयत्वका जो अनुमान किया गया था, वह भी ठीक नहीं; क्योंकि स्मर्यमाणकर्तृकत्वरूप उपाधि विद्यमान है । वेदमें वाक्यत्वरूप हेतुके रहनेपर भी स्मर्यमाणकर्तृकत्व नहीं है, अतः साधनाव्यापकता है । ‘वाचा विरूपनित्यया’, (तैत्ति० स० २।६।११) ‘अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा’, (महा० शां० २३२।२५) । ‘अतएव च नित्यत्वम्’ (वेदान्त दर्शन० १।३।२९) इत्यादि श्रुतिस्मृति-वचनोसे वेदका नित्यत्व अवगत हो रहा है, अतः वेदकी स्मर्यमाणकर्तृकता या प्रमीयमाणकर्तृकता नहीं कही जा सकती । इसीलिये ‘न कदाचिदानीदृशं जगत्’ इत्यादि जरन्मीमासकमतानुसार ‘सम्प्रदाया-विच्छेदे सति’ इस विशेषणकी असिद्धि भी नहीं कही जा सकती । ब्रह्ममीमासकमतानुसार भी नित्यसिद्ध वेदका सम्प्रदायप्रवर्तकत्वेन निःश्वासवत् परमेश्वरसे प्रादुर्भाव होनेपर भी ‘प्रमाणान्तरेण अर्थमुपलभ्य विरचितत्व’ न होनेसे पूर्वकल्पीय ही वेदका आविर्भाव हुआ करता है । एतावता अद्वैतकी व्यावृत्ति नहीं कही जा सकती, क्योंकि जीवोंकी तरह वेदका नित्यत्व आपेक्षिक अभिमत होनेसे अद्वैतका बाध नहीं होता ।

ब्रह्मातिरिक्त समस्त पदार्थोंका अद्वैतसिद्धान्तानुसार मिथ्यात्व मान्य है, अतः वेदमें भी मिथ्यात्व प्रसक्त हो गया, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ‘अत्र वेदा अवेदा भवन्ति’ (मुण्डा० ७५०) । इत्यादि प्रमाणोंसे कारणभावकी अवगति होनेपर पृथक् नाम-

रूपका बाव डष्ट ही है । अनएव वेदप्रामाण्य मानना ही आस्तिकता कहा गया है, वेदकी सत्यता स्वीकार करना आस्तिकता नहीं बतलाया गया । इसीलिये वर्णात्मक वेदकी सत्यता माननेवाले भी चार्वाक आदिको नास्तिक कहा गया है । पूर्वोक्त नित्यत्वबोधक वचनोंका विरोध होनेके कारण 'ऋग्वेदोऽग्निरजायत' इत्यादिसे भी वेदकी उत्पत्ति बोधित नहीं होती, अपितु अधीत पूर्वकल्पीय एव सुप्तप्रतिबुद्ध-न्यायसे सस्मृत वेदका सम्प्रदायप्रवर्तकत्व ही माना जाता है और उगीके अनुसार मन्त्रद्रष्टृत्वात् ऋषित्व भी मान्य है ।

प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे उपपन्नार्थत्वात् जो लोग वेदका प्रामाण्य अङ्गीकार करते हैं, उनके मतसे प्रमाणान्तरसे गतार्थ हो जाने और अनुवादक हो जानेके कारण वेदकी अनावश्यकता और अप्रमाणता स्पष्ट है । जिन प्रमाणोंसे वेदार्थकी उपपन्नार्थता विजात होती है, उन्हींसे वेदार्थका भी ज्ञान हो सकता है, अतः आगमरूप प्रमाणान्तर मानना व्यर्थ ही है । अभिप्राय यह कि प्रथमोच्चरितत्व या पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्ष उच्चरितत्व पौरुषेयत्व है । पुरुषोच्चरित होनेपर भी वेद प्रथमोच्चरित या पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्ष उच्चरित न होनेसे पौरुषेय नहीं है । गुरुच्चारणान्-च्चारण वेदका होता है, अतः पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्ष उच्चरित नहीं होते । एवं च प्रथमोच्चरितत्व भी वेदोंमें न होनेसे प्रमाणान्तरेण अर्थमुपलभ्य विरचितत्व भी उनमें नहीं है, अतः उनकी अपौरुषेयत्व सिद्ध है । 'वाचा विस्तृतिरित्यया' इत्यादि पूर्वोद्धृत श्रुति-स्मृतिवचनोंसे विरोध होनेके कारण 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (शु० यजु० ३।१७) । इत्यादि श्रुतियोंसे वेदोंकी पौरुषेयताका साधन नहीं किया जा सकता । 'अस्य सद्गतो भूतस्य निःशसितम्' (छा० उप०) इस तरह निःश्वामवत् वेदोंका आविर्भाव श्रुत होनेसे उनकी बुद्धि प्रयत्ननिरपेक्षतया अकृत्रिमता भी कही जाती है । 'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्यै' (श्वेता० उप० ६।१८) इस श्रुतिमें ब्रह्माका निर्माण बतलाया गया है, पर वेदोंका तो प्रेषणमात्र ही बतलाया गया है, निर्माण नहीं, क्योंकि 'विदधाति' और 'प्रहिणोति' का अर्थ वैसा ही है । ब्रह्माका विधाता भी वेदका विधाता नहीं है, अपितु ब्रह्माके हृदयमें वह केवल नित्यसिद्ध वेदोंकी प्रेरणा करता है । अतः वेदकी अपौरुषेयता सिद्ध है ।

'मैंने कुछ नहीं जाना' ऐसा जागनेपर लोगोको स्मरण होता है, अतः आत्माकी चिदात्मता और अनुभूतिके बिना स्मृति बन नहीं सकती, अतः आत्माकी चिदात्मता भी ज्ञात होती है । इसलिये प्रकाशाप्रकाशात्मक खग्योत (जुगन्) के समान आत्मा चिज्जडरूप है । नित्य, निरतिशय सुखकी अभिव्यक्ति मुक्ति है ।

और भी अन्य नैयायिकादिसम्मत तथा स्वमतसे अविरुद्ध पदार्थ भाट्टलोगोंको स्वीकृत ही हैं। प्रभाकर और नैयायिक द्रव्यरूप होनेके कारण आकाशवत् आत्माको भी अचित् एव चैतन्यगुणवाला मानते हैं। चैतन्यकी ही तरह इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सुख, दुःख और संस्कारको भी आत्माके गुण ही मानते हैं। अदृष्टवशात् आत्मा और मनका संयोग होनेपर उक्त गुण आत्मामें उत्पन्न होते और उनका वियोग होनेपर नष्ट हो जाते हैं। चैतन्ययुक्त होनेसे ही आत्माको चेतन भी कह दिया जाता है। वही कर्मा-भोक्ता है। कर्मवशात् ही इस लोकके देहके समान लोकान्तरमें भी सुख-दुःखादि होते हैं। इसी प्रकार सर्वगत होनेपर भी आत्माके गमनागमनादिकी व्यवस्था भी बन जाती है। सांख्योंका कहना है कि निरशकी उभयरूपता नहीं बन सकती, अतः आत्मा चिद्रूप ही है। जाड्याश प्रकृतिका है। चित्के भोग तथा अपवर्गके लिये प्रकृतिकी प्रवृत्ति होती है। मूल प्रकृति, सात प्रकृतिके विकार (महत्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ) और सोलह विकार मानते हैं। आत्माको कूटस्थ, असङ्ग, चेतनस्वरूप व्यापक और अनन्त मानते हैं। सत्त्व और पुरुषकी अन्यताख्यातिसे द्रष्टा आत्माका स्वरूपमें अवस्थान मुक्ति है। बछड़ेकी विवृद्धिके लिये पयःप्रवृत्तिके समान अचेतन भी प्रकृतिकी भोगापवर्गरूप पुरुषार्थके सम्पादनार्थ प्रवृत्ति होती है। 'क्लेश, कर्म, विपाक और आगयसे अग्रामृष्ट पुरुषरूप ईश्वरसे प्रेरित हुई प्रकृति प्रवृत्त होती है', ऐसा पातञ्जलो (योगियो) का मत है।

‘अनादिनिधन, शब्दरूप अक्षर ब्रह्म ही प्रपञ्चरूपसे विवर्तित होता है’, ऐसा वैयाकरणोंका सिद्धान्त है। किन्हींके मतानुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विगिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव—ये दस पदार्थ हैं। इनमें परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृताकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, अर्णव, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिविम्बभेदसे बीस द्रव्य, रूप-रसादि अनेक गुण, विहित-निषिद्ध-उदासीनभेदसे तीन प्रकारके कर्म आदि हैं। इस मतमें जीव-ईश्वरका अत्यन्त भेद मान्य है। अभेदवादिनी श्रुतियोंको वे सर्वथा औपचारिक मानते हैं।

कुछ लोग प्रमाण और प्रमेयरूप दो ही तत्त्व मानते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमभेदसे वे तीन प्रमाण तथा द्रव्य, गुण और सामान्यभेदसे तीन प्रमेय मानते हैं। ईश्वर, जीव, नित्यविभूति, ज्ञान, प्रकृति और काल—ये छः द्रव्य हैं।

सत्त्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सयोग और गति—ये दस गुण हैं। द्रव्य और गुण उभयरूप सामान्य है। प्रकृतिका परिणाम प्रपञ्च है। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतारभेदसे परमेश्वरके पाँच प्रकार हैं। उसके परतन्त्र, बद्ध, मुक्त और नित्यभेदसे तीन प्रकारका जीव है। ससारी नद हैं। श्रीमन्नारायणकी उपासनासे वैकुण्ठलोकको प्राप्त जीव मुक्त है। कभी भी जिन्हें संसारका स्पर्श नहीं हुआ, ऐसे अनन्त, गरुड़ आदि नित्यलक्षक हैं। शुद्ध और मिश्रभेदसे सत्त्व दो प्रकारका है। नित्यविभूतिमें शुद्ध और प्रकृतिमें मिश्र सत्त्व है। 'अन्तर्यामिब्राह्मण' द्वारा चिदचिच्छरीरक परब्रह्म ही चिदचिद्विशिष्ट है, जो दूसरा है। आत्मा ज्ञानगुणक होते हुए ज्ञानस्वरूप है। परमेश्वर निभु है, परतु चित् कौण-रूप जीव अणुपरिमाणपरिमित है। प्राकृत और अप्राकृतभेदसे दो प्रकारका अनेकान काल है। चित्-अचिद्रूपसे परमेश्वरका भेदव्यपदेश होनेके कारण भेद है और अभेदव्यपदेशके कारण अभेद भी है। इस तरह भेदाभेदवादी सभी प्रकारके श्रुति-वचन स्वार्थमें अनुपचरितार्थक ही समझते हैं। इन्हींमें कोई सोपाधिक भेदाभेद-वादी हैं। कोई अचिन्त्यभेदाभेदवादी हैं। कोई शुद्धाद्वैत ही तत्त्व बतलाते हैं। यहाँ शुद्धाद्वैत का समास इस प्रकार है—'शुद्धं च तद् अद्वैतं शुद्धाद्वैतम्' और 'शुद्धयोः मायासम्बन्धरहितयोः अद्वैतं शुद्धाद्वैतम्।' इयत्तासे अनवच्छिन्न ब्रह्म ही अनवगाह्य महामहिमशाली होने और सकल विरुद्ध धर्मोंका आश्रय होनेके कारण कामधेनु, कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि आदिके समान स्वयं अविनाशक रहकर ही अवटितवटनापटीयान्, स्वाभाविक स्वात्मयोगसे क्रीडार्थ पूर्णानन्दको तिरोभूत करके जीवरूपको ग्रहण करता है, चिदानन्दाशोंको तिरोहित करके सर्वभवनसमर्थ सदशाश्रित मायाशक्तिसे जगद्रूप धारण करता है, आनन्दाशको किञ्चित्तिरोहित करके अक्षरब्रह्मरूप ग्रहण करता है और पूर्णानन्दाशका तिरोधान बिना बिये ही पुरुषोत्तमरूपसे प्रादुर्भूत होता है। इसी प्रकार कोई कार्य, कारण, योग, विधि और दुःख—ये पाँच पदार्थ मानते हैं। कोई पति, पशु और पाश—ये तीन पदार्थ ही मानते हैं। इनके मतानुसार शिव पति, जीव पशु और मल, कर्म माया तथा रोधशक्ति पाश हैं। प्रत्यभिज्ञावादीके अनुसार जीव तथा परमात्माका एतत्त्व है। जट पूर्ववत् है, किन्तु आत्मामे वद भिन्न भी है और अभिन्न भी और मय पूर्ववत् है।

अहमर्थ और आत्मा

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे आत्मा पृथक् है, प्रायेण यह बात अधिक दार्शनिकोंको मान्य है। परंतु अहमर्थ (मैं) आत्मा है या नहीं, इस विषयमें प्रायः विप्रतिपत्ति है। अधिकाधिक दार्शनिकोंका कहना है कि 'अहमर्थ (मैं)' ही आत्मा है, उसमें ही मैं कर्ता, मैं भोक्ता, मैं दुखी, मैं सुखी, मैं शोक-मोहसे व्याकुल, मैं शान्त, मैं धीर, मैं मूढ़ इत्यादि रूपसे जिसको अनुभव होता है, वही आत्मा है। अहमर्थ ही अनन्त उपद्रवोंसे उपद्रुत बद्ध अज्ञानी होता है। वह कर्म, धर्म, उपासना, ज्ञान आदिद्वारा ज्ञानी होकर मुक्त होता है। जागर, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंसे बन्ध और मोक्षकालमें एकरस अन्वयी अहमर्थ ही आत्मा है। यदि अह अहं इत्याकारेण अनुभूयमान अहमर्थका मोक्षमें उच्छेद हो जाय, तब तो कोई भी मोक्षके लिये प्रयत्नशील न होगा, प्रत्युत मोक्षकी कथाहीसे भागेगा। परंतु अद्वैतवादी वेदान्तीका इसके विपरीत यह कहना है कि अहमर्थ मुख्य आत्मा नहीं है, किंतु चिज्जडकी ग्रन्थि ही 'मैं' या अहरूपसे भासमान होती है। दूसरे शब्दोंमें कहा जाय तो अधिष्ठान, बुद्धि और चिदाभास—ये ही तीनों मिलकर औपाधिक जीव या 'मैं' आदि पदोंसे व्यपदिष्ट होते हैं। बुद्धि-आत्मा, जड-चेतन, अनात्मा-आत्माका अन्योन्याध्यास ही 'मैं' पदार्थ है। जैसे किसी साधारण पुरुषको शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदिमें ही आत्मबुद्धि हो जाती है और वह देहादिके नाशमें ही आत्मनाश मानने लगता है, वैसे ही अनात्मरूप अहमर्थमें भी भ्रान्तिसे ही आत्मबुद्धि होती है। मैं जो कभी कर्ता, कभी भोक्ता, कभी सुखी, कभी दुखी, कभी शान्त, कभी घोर एव कभी मूढ़ है, कभी हृष्टपुष्ट, प्रसन्न, कभी शोक-मोह-परिप्लुत होकर प्रतीत होता है, उसे एकरस शुद्ध स्व-प्रकाश आत्मा कैसे कहा जाय? वस्तुतः इस अनेकरूप अहमर्थका जो एकरस-भासक अखण्ड भानरूप नित्य बोध है, वही आत्मा है। जैसे स्वर्गादि सुख-प्राप्तिके लिये देहद्वारा प्रयत्नशील ही अग्निकुण्डमें देहकी आहुति कर सकता है, वैसे ही अहमर्थद्वारा प्रयत्नशील सोपाधिक आत्मा निरुपाधिक पदप्राप्तिके लिये सोपाधिक स्वरूपके उच्छेदमें प्रयत्नशील होता है।

इसके सिवा यदि अहमर्थ ही आत्मा होता, तो उसका तीनों ही अवस्थाओंमें प्रकाश होना उचित था; क्योंकि आत्मा स्वप्रकाश है। अहंकार, अहंबुद्धिका विषय है। आत्मा अहंबुद्धिका भी भासक साक्षीरूप है। कुछ लोगोंका कहना है कि "सुखमहमस्वाप्सम्, न किंचिदहमवेदिषम्"—'सुखपूर्वक मैं सो रहा था, मैं कुछ भी नहीं जानता था, इस तरह सुषुप्तिसे (सोकर) जागनेपर सौप्त सुखके

अज्ञानका स्मृति होती है, उसीके साथ अहमर्थ (मैं) का भी स्मृति होती है। स्मृति बिना अनुभवके नहीं हो सकती; अतः (मैं) भी सुप्तस्थितिमें अनुभव होता ही है। परन्तु उनका यह कहना उचित नहीं जान पड़ता क्योंकि अहमर्थमग्न ही उच्छादि गुणोंमें विशिष्ट ही उपलब्ध होता है। परन्तु जब कि सुप्तस्थितिमें उच्छादिका उपलब्ध होता ही नहीं; तब केवल अहमर्थका उपलब्ध कैसे माना जाय? गुणरहित केवल गुणीका उपलब्ध असम्भव है। जैसे ल्पादिरहित घटाका ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही उच्छाद्वेपादि गुणरहित अहमर्थका ज्ञान नहीं हो सकता। गुणीका ग्रहण गुणग्रहण बिना नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि एकत्र सगुणान्य गुणमें युक्त ही अहमर्थका सुप्तस्थितिमें अनुभव होता है तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सुप्तस्थितिमें विशिष्ट बुद्धि अङ्गीकार करनेपर उसके सुप्तस्थितिकी ही भङ्ग हो जायगा। इसके सिवा गुणग्रहणमें विशेषगुणग्रहण हेतु होता है। अतः स्वादि विशेष गुणग्रहण बिना घटादिका ग्रहण नहीं होता। यदि कहा जाय कि स्वादिरहित घटादि होने ही नहीं; उपलब्धे स्वादिके बिना घटादिका ग्रहण नहीं होता; तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जिस समय पाकद्वारा पूर्वरूपका नाश हो चुका और अग्रिम रूपकी उत्पत्ति नहीं हुई, उस क्षणमें और घटाद्युत्पत्तिके अनन्तर क्षणमें स्वादिके बिना भी घटादि रहते ही हैं। ऐसी स्थितिमें गुणग्रहण बिना गुणीका ग्रहण कदाँ तक हो सकता है? अतः सुप्तस्थितिमें निर्गुण सर्वसाक्षिरूप आत्माका ही उपलब्ध होता है; अहमर्थका नहीं। अतएव जाग्रदवस्थामें अहमर्थकी स्मृति भी अमान्य ही है। सुप्तस्थितिमें अज्ञानका आश्रय और प्रकाशकरूपमें अनुभूयमान आत्माने अहंकार सर्वथा भिन्न ही है। आत्माने अहंकारकी भिन्नता होती ही उसकी जड़ता सिद्ध हो जाती है। जो यह कहा जाता है कि 'अहमस्वाप्तम्' अर्थात् मैं सोय, इस रूपसे अहमर्थका सोकर जागनेपर स्मरण होता है; वह भी ठीक नहीं; क्योंकि अहमर्थाश्रयमें स्मरण अमान्य है। किन्तु वहीं उसी एक चेतनमें अज्ञान और अहंकारके कल्पित होनेके कारण अहंकारमें अज्ञानाश्रयताकी प्रतीति होती है। अतएव 'अहमस्वाप्तम्' यहाँ जब सुप्तस्थितिमें अहंकारका अनुभव बनता नहीं; तब अर्थात् अज्ञानके आश्रयरूपसे अनुभूत आत्माने 'अहमस्वाप्तम्' इस परामर्शका पर्यवसान होता है। अतएव जब यह कहा जाता है कि यदि अहमर्थ स्थाय्य आश्रय न हो, तो केवल चित् ही हो; तब 'चित्स्वप्न' स्वयमस्वप्न (चित् नोय, स्वप्न नोय) उस तरह सुप्तस्थितिका परामर्श होना चाहिये। यद्यपि अहमर्थाविधानरूप अविद्यारहित चैतन्य ही सुप्तस्थितिका आवार है तथापि परामर्शकालमें अनुभूत अन्तःकरण-समर्गमें अहंकार परामर्श बन सकता है।

जो यह कहा जाता है कि 'मोऽहम्' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञान नहीं बन सकेगा; क्योंकि आत्मा स्वप्रकाश चिद्रूप है; अतः उसका ज्ञान कभी नष्ट न होगा। उनसे बिना संस्कार न होगा और संस्कारके बिना प्रत्यभिज्ञान न बनेगी। अतएव गिरजा-चार्यन कहा है कि अन्तःकरणविशिष्ट आत्माने ही प्रत्यभिज्ञान होती है; निष्कल-ज्जगत् प्रत्यभिज्ञान नहीं होती क्योंकि मोक्षमार्गाधी निष्कल जगत् नो केवल

शास्त्रगम्य है। यह सब कथन पूर्वोक्त पक्षके विरुद्ध नहीं है; क्योंकि मोक्षावस्थायी आत्मा केवल शास्त्रसे ही अवगत होता है। इसलिये वचनसे ही यह कहा गया कि उपाधिमात्रविरही निष्कलङ्क चेतनमे प्रत्यभिज्ञाका निषेध किया गया है। अन्तःकरण पद उपाधिमात्रमें तात्पर्य रखता है। तथा च सुषुप्तिमें अज्ञानोपहित आत्मा भी प्रत्यभिज्ञानार्ह (पहचानने योग्य) है। इसके सिवा अन्तःकरणराहित्य दशामें विवरणवाक्यद्वारा प्रत्यभिज्ञाका ही निषेध है, अभिज्ञाका नहीं। देखी हुई वस्तुके फिर देखनेपर 'यह वही है' ऐसा पहचाननेको 'प्रत्यभिज्ञा' कहा जाता है और केवल ज्ञानको 'अभिज्ञा' कहा जाता है। सुषुप्ति दशामें अन्तःकरण न होनेसे प्रत्यभिज्ञाके न होनेपर भी यहीं अविद्योपहित चेतनकी ज्ञानरूप अभिज्ञामें कोई बाधा नहीं है। अतः सुषुप्तिमें अहंकाररहित आत्माके अनुभवमें कोई भी आपत्ति नहीं उठायी जा सकती। जो यह कहा जाता है कि यदि सुषुप्तिमें अहमर्थका ग्रहण न होता, तब तो इतने समयतक मैं सोता था या अन्य कोई—'एतावन्तं कालं सुप्तोऽहमन्यो वा' ऐसा संशय होना चाहिये, 'मैं ही सोया था' ऐसा निश्चय न होना चाहिये। पर वह भी ठीक नहीं, क्योंकि सुषुप्तिकालमें अनुभूत आत्मामें ही अहंकारका ऐक्याध्यास होनेसे 'मैं ही सोता था' ऐसा निश्चित प्रत्यय होता है। वास्तवमें 'अहमज्ञः' इत्यादि स्थलोमें भी अज्ञान अहमर्थके आश्रित नहीं, किंतु अहंकारके अधिष्ठानभूत चैतन्यमे ही रहता है। इस तरह अज्ञान और अहंकार एक अधिकरणमें रहते हैं, अतः सामानाधिकरण्य या एकाभ्रयाश्रितत्व होनेके कारण अज्ञानमें अहमर्थाश्रयत्वकी प्रतीति होती है, जैसे सामान्य, समवाय आदि और सत्ता—दोनोंहीका समान द्रव्यादि आश्रय होनेके कारण ही 'सामान्यं सत्, समवायः सन्' इत्यादि व्यवहार होता है, वैसे ही 'अहमज्ञः' इत्यादि व्यवहार होते हैं। ऐसी स्थितिमें जैसे कोई पहले दिन चैत्रभिन्न देवदत्तको भ्रान्तिसे चैत्र मानकर, दूसरे दिन 'सोऽयं चैत्रः' ऐसा प्रत्यभिज्ञान (पहचान) करता है, वैसे ही भ्रान्तिसे अज्ञानाश्रय चित्तको भ्रान्तिसे अहमर्थ मानकर दूसरे दिन अज्ञानाश्रयत्वेन अहमर्थका प्रत्यभिज्ञान करता है।

इसके सिवा निश्चय होनेपर संशय न होनेका नियम तो है, किंतु निश्चय न होनेपर संशय होनेका नियम नहीं है। अतएव कहा गया है कि 'सत्यारोपे निमित्तानुसरणं न तु निमित्तमस्तीत्यारोपः' अर्थात् आरोप होनेपर उसके निमित्तका अन्वेषण होता है, यह नहीं कि निमित्तवशात् आरोप हो। जैसे कहीं जल-दर्पणादि प्रतिबिम्ब-निमित्तके रहनेपर भी प्रतिबिम्ब नहीं होता, वैसे ही निश्चयाभाव रहनेपर भी संशय नहीं होता। इसीलिये 'अहमन्यो वा' ऐसा सदेह नहीं होता। फिर भी यह सदेह होता है कि 'जब इतने समयतक मैं स्वप्न देखता था, इतने समयतक मैं जागता था—'एतावन्तं कालमहं स्वप्नं पश्यन्नासमहं जाग्रदासम्' इत्यादि प्रतीतियोंके समान ही 'अहमस्वाप्सम्' मैं सोता था, ऐसी प्रतीति भी होती है, तब फिर क्या कारण है कि पहली दो प्रतीतियोंमें अहमर्थकी स्मृति मानी जाय और

‘अहमस्वाप्सम्’ इस प्रतीतिमें उसकी स्मृति न मानी जाय ।’ पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सर्वत्र स्मर्यमाण आत्माके साथ अभेदारोप होनेके कारण ही अहमयागमें स्मृतित्वका अभिमान होता है । अतः सुषुप्तिमें अहमर्थका अनुभव माननेका कोई भी स्थिर आधार नहीं ।

यदि कहा जाय कि अपरासर्श—परामर्शभिन्नमें परामर्शत्वका आरोप नहीं देखा जाता अर्थात् स्मृतिसे भिन्नमें स्मृतित्वका आरोप नहीं देखा जाता तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि स्मर्यमाणरूपसे अनुभूयमान स्मर्यमाणभिन्नमें परामर्शत्वका आरोप होता ही है । अतएव इस कथनका भी कोई महत्त्व नहीं रह जाता कि यदि अहमर्थ आत्मासे भिन्न हो तब तो ‘जो पहले दुखी था, वही अब सुखी हुआ’ इस प्रतीतिके समान ‘जो पहले मेरेसे भिन्न सोता था, वही अब मैं उत्पन्न हुआ हूँ’ ऐसा अनुभव होना चाहिये । क्योंकि जैसे दुःखीरूपसे आत्माका पहले ज्ञान होता है, वैसे ‘मुझसे अन्य पहले सोया था’, ऐसा प्रथम विज्ञान ही नहीं होता । सुषुप्तिमें जैसे अहमर्थका प्रकाश नहीं होता, वैसे ही मदन्वता (मेरेसे भिन्नता) का भी प्रकाश नहीं होता । सुषुप्तिमें अहमर्थके असत्त्वका ज्ञान नहीं होता । जागनेपर अनुभूयमान अहकारमें सोनेके पहले कालमें गृहीत अहकारसे अभिन्नता ही गृह्यमाण होती है । अतः अहकारकी उत्पत्तिका बोध नहीं होता । यदि विधक्तियों को ऐसी बुद्धि होती हो, तो इष्ट ही है । उन्हें तो यह ज्ञान होना ही चाहिये कि सुषुप्तिमें अहमर्थ नहीं था । प्रबोध होनेपर सुषुप्तिके अधिष्ठान चैतन्यमें ही अहमर्थका अव्यास होता है । उसीमें सोनेसे पहलेके अहमर्थका अभेद प्रतीत होता है । इसपर कुछ लोगोका कहना है कि ‘जब अहमर्थमें आत्मासे भिन्न सिद्ध हो जाय, तभी स्मर्यमाण आत्मामें अहमर्थके ऐक्यका आरोप होगा और जब वैसा आरोप सिद्ध हो जायगा, तब सुषुप्तिमें अहमर्थके अप्रकाश होनेसे उसकी आत्मासे भिन्नता सिद्ध होगी । इस तरह अन्योन्याश्रय-दोष अनिवार्य होगा ।’ पर यह ठीक नहीं, क्योंकि आत्मासे भिन्नता-सिद्धिके पहले ही सुषुप्तिमें अहमर्थका अप्रकाश सिद्ध हो जाता है । ‘अमहस्वाप्सम्’ इसीको आत्मपरामर्श मान लेनेसे दृष्टान और अदृष्टकी कल्पना भी नहीं करनी पड़ेगी । अह शब्दका गौणार्थ देहादि है । मुख्यार्थ अन्तःकरण और आत्माका अन्योन्याध्यासरूप चिज्जडग्रन्थि है और लक्ष्यार्थ आत्मा है । यदि सुषुप्तिमें अहमर्थका ग्रहण होता तब तो उसका भी उसी तरह स्मरण होता, जैसे गतदिनके अहमर्थका स्मरण होता है । इसे इष्टापत्ति नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पूर्व दिनमें जैसे इच्छादिविशिष्ट आत्मा गृहीत हुआ है, वैसे ही सौषुप्त आत्माका भी परामर्श होना चाहिये था । यदि सुषुप्तिमें अहमर्थका प्रकाश होता तो ‘तबने समयतक मैं अभिमन्यमान था’ इस तरह परामर्श अवश्य होता ।

यहाँ ज्ञाता है कि अहमर्थके प्रत्यक्षमें अभिमानका अभाव तो सर्वत्र

में कटि-चालनके समान है; परंतु वह ठीक नहीं; क्योंकि अहमर्थकी अपेक्षासे ही प्रकाश और अभिमान—दोनों ही होते हैं, अतः एकके प्रकाशसे दूसरेका आपादन युक्त ही है । यदि कहा जाय कि सुषुप्तिमें आत्माके प्रकाशमान होनेपर भी 'आत्मेऽभिमन्यमान आसम्' इतने कालतक आत्मा ऐसा अभिमन्यमान था—ऐसा अभिमान होना चाहिये, वह भी अनुचित है, क्योंकि अभिमानमें अहमर्थ ही कारण है, आत्मा नहीं । सनकी स्थूलावस्थासे उपहित चिद्रूप अहमर्थकी अपेक्षासे ही अहमाकारवृत्तिरूप अभिमान व्यक्त हो जाता है । वृत्तिरूप होनेपर भी उसके लिये प्रमाण व्यापारकी आवश्यकता नहीं होती । अहमर्थका प्रकाश भी अहमर्थावच्छिन्न साक्षीरूप ही है, अतः उसे भी अहमर्थसे भिन्न किसीकी अपेक्षा नहीं है । यदि अभिमान साक्षिमात्रसे ही प्रकाशित होता है । यदि सुषुप्तिमें अहमर्थ हो- तब तो अवश्य ही उसका प्रकाश और अभिमान होना चाहिये । कुछ लोग कहते हैं कि 'सुषुप्तिमें अहमर्थका प्रकाश होता ही है । ' न किंचिद्अहमवेदिषम्'—'मैंने कुछ भी नहीं जाना' इस अज्ञानपरामर्शका विषय अहमर्थके अज्ञानसे भिन्न ही विषय है । जैसे वेदान्तीके मतमें चिद्रूपाशमें अज्ञान अमान्य है; क्योंकि वह भासमान है, अतः पूर्णानन्दांशमें ही अज्ञान मान्य है, वैसे ही अहमर्थाशमें भी अज्ञान अमान्य है, अन्यथा अहमर्थके भानका विरोध स्पष्ट ही होगा ।' परंतु यह कथन असंगत ही है; क्योंकि साक्षिरूप ज्ञान-अज्ञानका विरोधी नहीं हुआ करता । अतएव अज्ञानका भी साक्षीसे प्रकाश होता है । जैसे मेघसे आच्छादित सूर्यद्वारा ही मेघका प्रकाश होता है, वैसे ही अज्ञानोपहित चैतन्यरूप साक्षीसे ही अज्ञानका प्रकाश होता है । विरोध होनेपर प्रकाश्यप्रकाशकभाव कथमपि उपपन्न नहीं हो सकता था । इसके सिवा यह कहा ही जा चुका कि सुषुप्तिमें अहमर्थ (मैं) का प्रकाश नहीं होता । अतएव सुषुप्तिका वर्णन करनेवाली श्रुति भी सुषुप्तिमें अहमर्थके अज्ञानको सिद्ध करती है । 'न विजानात्ययमहमस्मि' अर्थात् सुषुप्तिमें 'मैं यह हूँ' इस तरह जीवको ज्ञान नहीं होता । कुछ लोग कहते हैं कि 'नात्मान न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम् । प्राज्ञः किंचन संवेत्ति तुरीय सर्वदृक् सदा ॥' सुषुप्ति-अवस्था-भिमानी प्राज्ञ अपनेको, न दूसरेको, न सत्यको, न अनृतको—किसी भी तत्त्वको नहीं जानता; इत्यादि श्रुतिवचनके समान आत्मादिके विशेषाज्ञान प्रतिपादनमें ही उक्त श्रुति भी तात्पर्य रखती है, परंतु यह कथन ठीक नहीं है । 'अहरहर्ब्रह्म गच्छान्त सम्पद्य न विदुरमृतेन प्रत्यूढाः', इस आत्मबोधक श्रुतिविरोधके कारण उपर्युक्त श्रुतिका विशेषाज्ञान प्रतिपादनम तात्पर्य माना जाता है । परंतु 'न विजानात्ययमहमस्मि' इस श्रुतिके साथ किसी श्रुतिका विरोध नहीं है, अतः यह श्रुति तो अहमर्थके अज्ञानमें भी पर्यवसित होती है । जो कहा जाता है कि 'अहमर्थ स्पर्ता (स्पर्ण करनेवाला) है यह तो अवश्य ही मान्य है', इसपर अब विचारना यह है कि वह अविद्यावच्छिन्न चैतन्य है अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य । यदि प्रथम

भाक्स और आत्मा

पक्ष मान्य हो; तब तो 'योऽहमकार्षं सोऽहं सौपुसिकाज्ञानादि स्मरामि' अर्थात् जो मैं कर्मोंका कर्ता था; वही मैं सुपुसिके अज्ञानका स्मरण करता हूँ, इस अनुभवसे विरोध होगा; क्योंकि कर्तृत्व अविद्यावच्छिन्न चैतन्यमें कथमपि नहीं बन सकता। यदि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको ही स्मर्ता माना जाय, तब तो अहमर्थको ही अनुभव करनेवाला भी मानना होगा; क्योंकि एकाग्र्यमें रहनेसे ही स्मृति, सस्कार एवं अनुभवमें कार्यकारणभाव बनता है। इसीसे जो मैं अनुभव करनेवाला था, वही मैं स्मरण कर रहा हूँ, इस तरह प्रत्यभिज्ञा (पहचान) होती है। परंतु यह सब कथन निरर्थक है; क्योंकि यह कहा जा चुका कि अविद्यावच्छिन्न चैतन्य अज्ञानका अनुभव करनेवाला है और वही जाग्रत्-कालमें अन्तःकरणावच्छिन्न होकर स्मर्ता होता है। इसलिये चैतन्यके अमेदसे अनुभव और स्मरणकी एकाग्र्यतामें कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। कहा जाता है कि अन्तःकरणरूप उपाधिके भेदसे अविद्यावच्छिन्न चैतन्यके साथ ऐक्य नहीं हो सकता; यह भी ठीक नहीं है। अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ही अन्तःकरणवच्छिन्न होता है; अतः भेदकल्पना असंभव है। फिर भी कहा जाता है कि अविद्या और अन्तःकरणरूप उपाधिका भेद होनेसे मठाकाश और मठाकाशान्तर्गत घटाकाशके समान दोनों उपहितोंका अर्थात् अविद्योपहित और अन्तःकरणोपहितका भेद अवश्य होना चाहिये। परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ दृष्टान्त ही अयम्प्रतिपन्न है। वही उपाधियाँ परस्पर उपहितकी भेदक होती हैं, जो एक दूसरीसे अनुपहितकी उपाधायक होती हैं। अन्यथा कम्बु-अवच्छिन्न आकाश, ग्रीवावच्छिन्न आकाशसे पृथक् ही समझा जाना चाहिये। इस दृष्टिसे यद्यपि मठवर्हिर्भूत घटसे अवच्छिन्न आकाश मठावच्छिन्न आकाशसे भिन्न कहा जा सकता है; क्योंकि वे दोनों उपाधियाँ एक दूसरेसे अनुपहित आकाशको ही उपहित बनाती हैं; तथापि मठान्तर्गत घट तो मठोपहित मठाकाशको ही घटोपहित घटाकाश बनाता है; अतः इन दोनोंका परस्पर भेद नहीं कहा जा सकता। इस तरह अविद्यान्तर्गत अन्तःकरण, अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको अविद्यावच्छिन्न चैतन्यसे भिन्न नहीं बन सकता।

कहा जाता है कि यदि सुपुसिके अहमर्थ न होता तो 'मी निर्दुःख होऊँ' इस इच्छासे प्राणियोंकी सुपुसिके लिये प्रवृत्ति न होनी चाहिये। परंतु यह भी ठीक नहीं। जैसे 'मैं दुबला हूँ, मोटा हो जाऊँ' इस बुद्धिमें इच्छासे स्थूल-सम्पादनमें प्रवृत्ति होती है, यहाँ स्थूल-दशामें कार्यके न रहनेपर भी क्रमशः स्थूल-सम्पादनार्थ प्रवृत्ति होती है। वैसे ही निर्दुःख सुपुसिके अहमर्थके न होनेपर भी अहमर्थकी निर्दुःख होनेकी इच्छासे सुपुसिके प्रवृत्ति हो सकती है। यदि कहा जाय कि कार्श्यादसे त्रिविक (पृथक्) शरीरमें ही स्थूलताकी इच्छा होती है तब प्रकृतमें भी यही कहा जा सकता है कि अन्तःकरणमें निर्दुःख काय प्राप्ति

मात्रकी निर्दुःखताके लिये ही सुषुप्तिमें प्रवृत्ति होती है। 'मैं निर्दुःख होऊँ' इस अनुभवमें अहमंश तो अवर्जनीयतया उपस्थित होता है, जैसे दूसरेका ग्राम मेरा हो जाय, यहाँपर सम्बन्धाशको इच्छाविषयता होती है। यदि कहा जाय कि चिन्मात्र निर्दुःख हो ऐसी इच्छा होनी चाहिये, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि चिन्मात्ररूपसे विज्ञान न होनेसे ही ऐसा अनुभव नहीं होता। निर्दुःखका अनुभव है, ऐसी इच्छा होती ही है। कहा जाता है कि जो 'मैं' सोया था, वही मैं जागता हूँ, जो 'मैं' पूर्व दिवसमें करता था, वही मैं आज कर रहा हूँ, इस तरहके प्रत्यभिज्ञान अहमर्थके भेदमें नहीं हो सकते। इसके सिवा कृतहानि (किये हुए कर्मोंका बिना फल दिये हीनाश) और अकृताभ्यागम (बिना कर्म किये ही फलका आगम) मानना पड़ेगा। जब प्रतिदिन सुषुप्तिमें अहमर्थका नाश और जागरमें फिर उसकी उत्पत्ति मानी जायगी, तब पूर्वोक्त दूषण अनिवार्य हो जायेंगे। कर्ता अहमर्थ और भोक्ता अहमर्थमें भेद होनेसे कर्म और फलभोगमें भी वैयधिकरण्यापत्ति होगी। चैतन्य यद्यपि एक है, तथापि उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। जिस अहमर्थमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि होते हैं, वह एक नहीं है। 'अहं करोमि' ऐसी प्रतीतिके अनुसार अहंकारमें ही कर्तृत्वका आरोप मान्य है। अतएव चैतन्यमें कर्तृत्वादिका आरोप भी निरवकाश है। यदि आरोपसे ही कर्तृत्व मान्य हो, तब तो देहादिमें ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व मान लिया जाय। परंतु विचार करनेसे विदित होता है कि उपर्युक्त शङ्काएँ निराधार हैं; क्योंकि सुषुप्तिमें नष्ट होकर भी अहंकार कारण रूपसे स्थित ही रहता है। उसीकी जाग्रदवस्थामें फिर उत्पत्ति होती है। इस तरह अहमर्थ एक ही रहता है। अतः अकृताभ्यागम, कृतविप्रणाश आदि कोई दोष न होंगे।

यहाँ कुछ लोग यह शङ्का करते हैं कि 'अथैतत्पुरुषः स्वपिति' यहाँसे लेकर 'गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः' इत्यादि श्रुतिमें मन आदिका ही उपराम—लय कहा गया है, अहंकारका लय नहीं बतलाया गया।' परंतु इसका समाधान यह है कि मनके उपरममें ही अहंकारका भी उपरम समझ लेना चाहिये, क्योंकि मनमें ही बुद्धि, चित्त, अहंकारका भी अन्तर्भाव होता है। यद्यपि अहमर्थ—चित्, चैतन्यसे अघटित—अयुक्त ही है। फिर भी जैसे 'घटः स्फुरति' इस व्यवहारमें जड घटमें भी स्फुरणकी आश्रयता भासित होती है। वैसे ही जड अहमर्थमें भी अनुभवकी आश्रयता भासित होती है। तथापि 'अहम्' इत्याकारक प्रत्ययमें अवच्छिन्न अनुभवरूपसे अहमर्थका भान होता है। जैसे घटावच्छिन्न आकाश अनवच्छिन्न आकाशमें अन्तर्भूत होता है, वैसे ही अवच्छिन्न अनुभव अनवच्छिन्न आत्मामें ही अनुगत है। इस तरह आत्मासे अभिन्न अनुभवका अवच्छेदक मन अनुभवका आश्रय कहा जाता है। सारांश यह है किचित् (चैतन्य), अचित् (जड) का यमिश्रणरूप अहंकार अध्यस्त होता है। जड-चेतनकी अग्योन्याध्यासरूप

ग्रन्थि ही अहकार है। वही 'अनुभवामि' (मैं अनुभव करता हूँ) इस तरह आत्मा-भिन्न आत्मस्वरूप अनुभवका आश्रय होनेसे चिदात्मक कहलाता है। 'अहं कर्ता' (मैं करता हूँ) इस तरह जडरूप कर्तृत्वका आश्रय होनेसे अचिदात्मक है। ऐसी स्थितिमें अचित् अन्तःकरणके उपरम होनेपर चिदचित्सवलित (चिजडग्रन्थिरूप) अन्तःकरणका भी उपरम हो जाता है। अन्तःकरण, उसका अधिष्ठान और अन्तःकरणगत चिदाभास—यह तीनों मिलकर अहमर्थ कहलाते हैं। अन्तःकरणका आत्मामें स्वरूपसे ही अध्यास होता है। परंतु अन्तःकरणमें आत्माका स्वरूप नहीं अध्यस्त होता; किंतु उसका संसर्ग ही अध्यस्त होता है। इसीलिये अन्योन्याध्यास होनेपर भी उभयके साक्षात्कारसे उभयकी निवृत्ति नहीं होती। अतएव शून्यवादापत्ति नहीं होती; क्योंकि आत्मस्वरूप अधिष्ठानके साक्षात्कार होनेपर स्वरूपसे अध्यस्त अन्तःकरणकी निवृत्ति होती है। परंतु आत्माका तो संसर्ग ही अन्तःकरणमें अध्यस्त है, अतः उसीकी निवृत्ति होती है। स्वरूप अध्यस्त नहीं है, अतः उसकी निवृत्ति नहीं होती। इस अन्योन्याध्यास—चिजडग्रन्थिको ही अहमर्थ कहा जाता है, फिर अन्तःकरणकी उपरतिसे उसकी उपरति होनी युक्त ही है।

यह उपरति या निवृत्ति भी निरन्वय नाश नहीं है, किंतु कारणरूपसे अवस्थान ही है। अतएव पूर्वापरके अहमर्थमें भेद नहीं है। जैसे एक ही घृतमें कोई भेद न हो होता, ठीक वैसे ही वही अन्तःकरण सुषुप्तिकालमें अविद्यात्मना परिणत होता है और जाग्रतमें फिर वही अन्तःकरणरूपमें व्यक्त होता है। इस तरह प्रत्यभिज्ञा और अनुभव-स्मरणका सामानाधिकरण्य, कर्मफलभोग वैयधिकरण्याभाव, अकृताभ्यागम, कुनविप्रणाशादि दोष भी नहीं होंगे, 'अथातोऽहंकारादेशः, अथात आत्मादेशः' यह श्रुति भी अहकारसे पृथक् आत्माके होनेमें प्रमाण है। पूर्वपक्षीकी ओरसे कहा जाता है कि वेदान्तोंके मतसे तो जैसे 'स एवाधस्तात् स एवोपरिष्ठात्' इत्यादि वचनोसे भूमा ब्रह्मके साथ आत्माका अभेद बतलाया गया है, वैसे ही आत्माका अहमर्थके साथ भी अभेद बतलाया जा सकता है। अतः जैसे आत्मस्वरूप होनेपर भी भूमाका पृथक् उपदेश है, वैसे ही 'अहमेवाधस्तादहमेवोपरिष्ठात्' इत्यादि वचनोसे अहमर्थका पृथक् उपदेश होना सम्भव हो सकता है। तब फिर भेदबोधन कैसा? यदि कहा जाय कि 'भूमा और आत्मा तो भिन्नत्वेन प्रत्यक्षसे प्रसिद्ध हैं, अतः उनका पृथक् उपदेश एकना प्रतिपादनके लिये ही उपयुक्त है। जब कि दो सर्वात्मा नहीं हो सकते और भूमा तथा आत्मा-दोनोंको सर्वात्मता कही गयी है, तब दोनोंकी एकता अर्थात् अभिन्नता सिद्ध हो जाती है। अहकारकी तो आत्माके साथ एकता प्रत्यक्ष सिद्ध है। अतः आत्मासे पृथक् अहकारका उपदेश आत्मासे भेद ही सिद्ध करनेके लिये है।' पर यह असंगत है, क्योंकि यदि अहमर्थसे अन्य आत्माकी भूमा ब्रह्मसे भिन्नता प्रत्यक्षद्वारा असिद्ध

है तो भेदार्थ ही दोनोका उपदेश क्यों न माना जाय ? इसके सिवा, जब अहमर्थ तो ब्रह्मभिन्नत्वेन रूपेण सिद्ध है, तब उसका उपदेश अभेद-सिद्धि के लिये ही क्यों न मान लिया जाय ? इसी तरह 'अज्ञातज्ञापकत्वेन श्रुतिका प्रामाण्य सिद्ध होगा।' आदि पूर्वपक्ष भी असङ्गत है; क्योंकि अहंकारसे भिन्न आत्माकी भूमारूप ब्रह्मसे भिन्नता प्रत्यक्षद्वारा असिद्ध होनेपर भी अभिन्नता भी उसी तरह असिद्ध ही है। परंतु फिर भी दोकी सर्वात्मता बन नहीं सकती, अतः सार्वार्थ्योपदेशान्यथानुपपत्तिकी सहायतासे अभेदमे ही श्रुतिका तात्पर्य मानना युक्त है। परंतु अहमर्थ और आत्माका अभेद असम्भव है; क्योंकि जड़, चेतनकी एकता नहीं हो सकती, अतः अहमर्थका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका आत्मासे अभेद-प्रतिपादनमे तात्पर्य नहीं हो सकता। सारांश यह है कि भूमा ब्रह्म ही ऊपर-नीचे, पूर्व-पश्चिम-सर्वत्र है, वही सब कुछ है, यह कथन अधिष्ठान बुद्धिसे ही सम्भव है। सर्वाधिष्ठान जो है, वही सब कुछ है। अतः यदि भूमा ब्रह्म ही सर्वदेश, काल, वस्तुका अधिष्ठान है, तब तो वही सब कुछ है, ऐसा कहना सम्भव है, अन्यथा असम्भव है; परंतु, जब कि उसी तरह आत्माके लिये भी कहा जा रहा है कि आत्मा ही नीचे-ऊपर, पूर्व-पश्चिम, वही सर्वत्र और वही सब कुछ है, तभी अधिष्ठान होनेसे ही आत्माकी भी सर्वात्मकता बन सकती है। परंतु सर्वप्रपञ्च का दो अधिष्ठान होना असङ्गत है, अतः जबतक आत्मा और भूमा ब्रह्मका अत्यन्त अभेद न ज्ञात हो, तबतक दोनोकी ही सर्वात्मकताका उपदेश नहीं सङ्गत हो सकता। इसलिये आत्मा और भूमा ब्रह्मकी एकता स्वीकार्य है।

यद्यपि इसी तरह 'अहमेव अधस्तात्' मैं ही सब कुछ हूँ। इस तरह अहंकारकी भी सर्वरूपता सुनकर पूर्वन्यायसे आत्मा और भूमाके समान ही अहंकार और आत्माका भी अत्यन्त अभेद मानना चाहिये, तथापि अहंकारकी जड़ता, दृश्यता, प्रत्यक्षता स्पष्ट ही सिद्ध है। अतः चेतन आत्माका उसके साथ अभेद नहीं हो सकता। इसीलिये अहंकारादेशके पश्चात् आत्मादेशका प्रसङ्ग आता है, जिसका आशय यह होता है कि चिदात्मसंवर्लित (व्यापक अधिष्ठान चैतन्य-मिश्रित) होनेसे ही अहंकारकी सर्वात्मता कही गयी है। वास्तवमे परिच्छिन्न अहंकार सर्वस्वरूप नहीं है, किंतु आत्मा ही सर्वस्वरूप है। कहा जाता है कि 'ऐसी ही स्थिति है तो अहंकारकी सर्वात्मता न कहकर आत्माकी ही सर्वात्मता कहनी थी, इतनेसे भी आत्मा और ब्रह्मकी एकता सिद्ध हो ही सकती थी, परंतु, यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि लोकमें आत्मशब्दका प्रयोग अहमर्थमे ही होता है, अतः 'आत्मा' पदसे शुद्ध आत्माकी सर्वात्मता नहीं बतलाई जा सकती थी।' परंतु, यदि अहंकारकी सर्वात्मताके अनन्तर आत्माकी सर्वात्मता कही जायगी, तब तो इसपर अवश्य ही ध्यान जायगा कि अहंकार और आत्मा इन रम्यान्वर्थक दो शब्दोंका प्रयोग क्यों किया गया ? इस तरह

ध्यानसे विवेचन करनेपर निश्चय होगा कि आत्मशब्दसे शुद्ध आत्मा विवक्षित है। अतः उमीकी मुख्य सर्वात्मता है। अहंकारकी तो आत्मयुक्त होनेसे ही सर्वात्मता है। इस तरह आत्मशब्दका अहंकारसे अतिरिक्त शुद्ध आत्मामें पार्थक्य निर्णय करानेके लिये ही अहंकारका पृथक् उपदेश आवश्यक है। अर्थात् अहंकार-का पृथक् उपदेश आत्मासे भेद ही सिद्ध करनेके लिये है।

कुछ महानुभावोंका तो ऐसा कहना है कि यहाँ संचारिभावका वर्णन है। प्रेमके उद्रेकमें भातुक सभी विष्वको भूमा ब्रह्मरूपसे देखता है, उसीमें स्व-पर-विस्मृतिसे वह अपने-आपको ही भगवान् समझने लगता है। 'असावहं त्वित्यबला-स्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः।' (श्रीमद्भा० १०।३०।३) अर्थात् जैसे गोपाङ्गनाएँ कृष्ण प्रेमोन्मादमें विह्वल होकर अग्ने-आपको कृष्ण समझने लगी थीं, वैसे ही साधक अपने-आपको ही भूमा मानकर 'मैं ही सब कुछ हूँ' ऐसा कहता है। परंतु यह वस्तुस्थिति नहीं, संचारिभाव है, स्थायी नहीं है। अतएव फिर इस भावके मिटनेपर भूमारूप आत्माकी ही सर्वात्मताका अनुभव होता है। 'इन मतमें भी अहमर्थसे आत्मशब्दार्थ भिन्न ही माना जाता है। यह दूसरी बात है कि इस मतमें आत्मा और भूमा—इन दोनों शब्दोंका परमेश्वर ही अर्थ है और अहंका अर्थ जीवात्मा है। परंतु यहाँ वस्तुके याथात्म्यका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति संचारि-भावका वर्णन कर रही है या तत्त्वके भेद-अभेद आदिका, यह चिन्त्य है।' कुछ लोगोंका यह भी कहना है कि 'वेदान्तीके मतमें भूमा, अहंकार और आत्मा—यह तीनों विम्ब, प्रतिविम्ब और मुखके समान हैं, अतः औपाधिक ब्रह्म भूमा है, जीव अहमर्थ है और निरुपाधिक चिन्मात्र ब्रह्म आत्मा है। इस दृष्टिसे तो जब वेदान्तीके मतमें भी जीवात्मासे अहंकारकी भिन्नता नहीं सिद्ध होती, तब अहमर्थ-की अनात्मता कैसे सिद्ध हो सकती है?' परंतु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसका तात्पर्य यह है कि पहले भूमाका स्वरूप इस तरह बतलाया गया कि 'यत्र नान्यत्पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति' (छा० ३०) जहाँ न दूसरेको देखता है, न सुनता है, न जानता है, वही भूमा है। 'स एवाधस्तात्' वही ऊपर-नीचे, वही सब कुछ है। इस उक्तिमें 'यत्र' शब्दसे आधार-आधेयभावकी प्रतीति और 'सः' इस शब्दसे उसकी परोक्षता, अप्रत्यक्षता प्रतीत होती थी और इसीसे भूमामें आत्मासे भिन्नता भी प्रसक्त थी। ऐसी स्थितिमें सर्वभेदशून्य, अपरोक्ष, स्वप्रकाश, ब्रह्मके ज्ञानमें वाधा उपस्थित हो जाती, इसीलिये 'अहमेवाधस्तात्' 'मैं ही ऊपर-नीचे सब कुछ हूँ' इस उक्तिकी आवश्यकता हुई। इससे सिद्ध किया गया कि पूर्वोक्त भूमा, जिसकी सर्वात्मता बतलायी गयी, वह अहमर्थरूप है, जीवसे अभिन्न ही है। एतावता 'सः' शब्दसे प्रतीत भूमाकी परोक्षताका वारण हुआ और जीवात्मा परमात्माका भेद एव आधाराधेयभाव आदि भी वारित हुआ। जैसे भूमा सर्वात्मा है, वैसे ही अहमर्थ या जीवात्मा भी सर्वात्मा है। जब दो

सर्वात्मा नहीं हो सकते, तब अर्थात् ही दोनोंकी एकता समझी जाती है, जिससे अपरोक्ष जीवात्मासे अभिन्न भूमाकी अपरोक्षता एवं आधाराधेय भावादिसे विवर्जितता सिद्ध हो जाती है। परंतु इतनेपर भी यह गड़बड़ी पड़ती थी कि अविवेकी लोग 'मै' या 'अहं' का प्रयोग व्यापक शुद्ध चिदात्मामें न करके चिजङ्ग्रन्थि या कार्यकरण-संघातमें ही करते हैं। इससे कहीं यह न समझ लिया जाय कि परिच्छिन्न, जङ्ग कार्यकरणसंघात ही भूमा ब्रह्म है, अतः अहंकाररहित शुद्ध आत्माकी सर्वात्मता बतलाकर सर्वोपद्रव-पर्वभेदशून्य, स्वप्रकाश भूमा ब्रह्मकी सर्वात्मताका समर्थन किया गया और अहंशब्द-वाच्यार्थ जङ्ग अहमर्थसे भिन्न अहंशब्दके लक्ष्यभूत अहमर्थ-साक्षीको मुख्य आत्मा कहा गया है। इसी अर्थको सिद्ध करनेमें भूमादेश, अहंकारादेश, आत्मादेश करनेवाली श्रुतियोंका तात्पर्य है। अतः यहाँ विम्ब-प्रतिविम्ब आदि कल्पनाका अवकाश नहीं था। यदि अविद्यामें प्रति-बिम्बित जीवको अहंकारशब्दसे कहनेपर भी प्रसक्त-भेदका वारण और आत्मा-देशद्वारा शुद्ध-आत्मासे अहंकारका भेद कहना सङ्गत हो, तो भी अविद्योपाधिक जीवको अहंकार-शब्दसे 'स्थूलारुन्धतीन्याय' से कहा जाता। जैसे अरुन्धतीके निकट रहनेवाले स्थूलताराको ही पहले दिखलाकर बादमें तन्निकटस्थ अरुन्धतीको दिखलाकर पूर्ववाक्यका भी तात्पर्य अरुन्धतीके प्रदर्शनमें ही माना जाता है, साथ ही स्थूल, सूक्ष्म, दोनों ही ताराओमें भेद स्वतः सिद्ध हो जाता है, वैसे ही 'अहंकार' शब्दसे पहले अविद्याप्रतिविम्ब अहंकाराश्रय चैतन्य कहा जा सकता है। लोकमें अपरोक्ष चैतन्यका 'मै' या 'अहं' शब्दसे ही व्यवहार होता है, 'अविद्याप्रतिविम्ब' आदि शब्द अलौकिक है, अतः उनसे व्यवहार नहीं होता। पश्चात् 'आत्मादेशवाक्य' से 'अहंकारादेशवाक्य' का भी शुद्ध आत्माके ही सार्वत्रिक-निश्चयमें तात्पर्य विदित होता है। फिर अहं शब्दवाच्यका और शुद्ध-आत्माका भेद सुतरा सिद्ध हो जाता है।

अहमर्थको आत्मा माननेवाले बहुत से महानुभाव आत्माको अणु मानते हैं फिर अणु आत्माकी 'सर्वात्मता' कैसे हो सकती है? जब अणु आत्मा ही अनन्त है और जगत्, ईश्वर आदि सब सत्य ही है तब एक अणुरूप जीव ही सब कुछ है यह कथन सङ्गत ही कैसे हो सकता है? कुछ लोगोका कहना है कि 'स एवाधस्तादहमेवाधस्तादात्मैवाधस्तात्' इत्यादि उपक्रम वाक्यो और 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' इत्यादि स्मृतियोंसे 'स एवेदं सर्वम्, अहमेवेदं सर्वम्, आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि उपसंहार वाक्योंका तात्पर्य सर्वात्मता (सर्वस्वरूपता) के प्रतिपादनमें नहीं, किंतु सर्वगतत्व या व्यापकत्वके प्रतिपादनमें ही है। अतएव 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' यह स्मृति स्पष्ट कहती है कि आप सर्वव्यापक हैं अतः सर्वस्वरूप हैं। इसी तरह भूमा, अहमर्थ और आत्मा सभी सर्वगत, सर्वव्यापक हैं, अतः उनकी

सर्वस्वरूपताका उपचार कहा जाता है। यदि अविद्यान या उपादान होनेसे वास्तविक सर्वस्वरूपता होती, तब तो कथंचित् अहंकाररहित केवल चैतन्यमें अहंशब्दका भी तात्पर्य समझा जाता। वाच्यत्व, ज्ञेयत्व आदिके समान सर्वगतत्व भी अनेकोंमें हो सकता है। यदि जीव और ब्रह्मकी एकता ही श्रुतियोंका तात्पर्य हो, तब तो भूमा और आत्माके उपदेशसे ही अभीष्ट सिद्ध हो जाता, फिर अहंकारादेशकी व्यर्थता स्पष्ट ही है। परंतु, यह सब कथन अयुक्त है, क्योंकि उपर्युक्त युक्तियोंके अनुसार 'स एवाधस्तात्' इत्यादि वाक्योंका तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्यमें ही है, सर्वगतत्व प्रतिपादनमें नहीं। वस्तुतः जो उपादान या अधिष्ठान होता है, उसीकी सर्वगतता भी सम्पन्न होती है। पृथिव्यादि सर्वप्रपञ्चका कारण होनेसे ही आकाश आदिकी भी व्यापकता है। अतएव 'सर्वकारणरूपसे आप सर्वत्र व्यापक हैं, इसीलिये आप सर्वरूप हैं,' इस तरह 'सर्वं समामोषि ततोऽसि सर्वं' इस स्मृतिका भी तात्पर्य सर्वात्मतामें ही है। परिभूः, स्वयम्भूः—इन दो पदोंसे व्यापकता और सर्वरूपता सिद्ध की जाती है। 'परि-उपरि-सर्वतो वा भवतीति परिभूः' ऊपर या चारों ओर होनेवालेको 'परिभूः' कहा जाता है। 'यस्योपरि भवति यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः' जिसके ऊपर और जो ऊपर होता है, उस सब कुछ अपने-आप होनेवालेको 'स्वयम्भूः' कहा जाता है। ठीक उसी तरह 'स एवाधस्तात्' इत्यादि वचनोंसे सर्वव्यापकता कहकर 'स एवेदं सर्वं' इत्यादि वचनोंसे उसीकी सर्वरूपता प्रतिपादित की गयी है। अतः उपक्रम-उपसंहारमें ऐक्यरूप्य ही है।

इसके सिवा यह भी विचार करना चाहिये कि 'स भगव, कस्मिन् प्रतिष्ठितः'—भगवन् ! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्नमें क्या भूमाका कहीं अवस्थानमात्र पूछा गया है अथवा भूमा परमार्थतः किममें प्रतिष्ठित है, यह पूछा गया है ? यदि पहला पक्ष है तब तो उसका यह उत्तर है कि 'स्वे महिम्नि' अर्थात् अपने प्रपञ्चरूप महिमामें ही स्थित है। यद्यपि कहा जा सकता है कि 'यदि भूमा अपनी महिमामें स्थित है, तब तो जैसे राजा अपनी महिमासे गज, अश्व आदिमें स्थित होता है, यहाँ 'भोग-साधन' में 'महिम' शब्दका प्रयोग हुआ है और वह भी राजाकी समान सत्तावाला है, अर्थात् जैसे राजा सत्य है, वैसे ही उसके भोग-साधन गजादि भी सत्य हैं, वैसे ही प्रपञ्चको भी ब्रह्मके समान ही सत्य होना चाहिये। ऐसी स्थितिमें वस्तुपरिच्छेद होनेसे भूमामें परिच्छिन्नता अनिवार्य होगी, तथापि यहाँ महिमाशब्दका अर्थ अपनी समान सत्तावाला भोगसाधन नहीं विवक्षित है, किंतु 'स्व' शब्द अपनेमें अध्यस्तरूप 'स्वीय' या 'आत्मीय' का बोधक है। कोई सकोचक प्रमाण न होनेसे सभी अध्यस्त दृश्य-प्रपञ्च 'स्वे महिम्नि' के 'स्व' शब्दका अर्थ है और महिमाशब्द उत्कर्षका बोधक है। राजसम्बन्धी होनेसे राजकीय गो, गजादिमें जैसे उत्कर्ष है,

वैसे ही प्रकाशक ब्रह्म-सम्बन्धसे अध्यस्त दृश्यमात्रमें उत्कर्ष है। अतः उसके परमार्थ सत्य होनेकी कोई अपेक्षा नहीं है। अतएव ब्रह्ममें परिच्छिन्नता आदि न आ सकेगी।

यदि दूसरे अभिप्रायसे प्रश्न हो कि भूमा परमार्थतः किसमें प्रतिष्ठित है, तब तो 'यदि वा नो महिम्नि'—वह महिमामें प्रतिष्ठित नहीं है, यही उत्तर है; क्योंकि 'अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठितः'—दूसरा ही दूसरेमें प्रतिष्ठित होता है। जब भूमासे भिन्न परमार्थ सत्य कोई पदार्थ ही नहीं है, तब भूमाकी किसमें प्रतिष्ठा कही जाय? 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादि वाक्यसे अद्वैत ब्रह्म ही भूमा कहा गया है। इस तरह जब पूर्व वाक्यसे ही अद्वितीय ब्रह्मका निश्चय हो गया, तब तो फिर उसके अनुसार ही 'स एवाधस्तात्' इत्यादि वाक्योंका भी सर्वात्मता-प्रतिपादनमें ही तात्पर्य होगा। दो वाक्योंका पृथक् अर्थकल्पना करना निरर्थक है। अतः 'स एवाधस्तात्' इत्यादि वाक्योंका यही तात्पर्य है कि अधर्-ऊर्ध्व, देशकाल आदि सब कुछ भूमा ही है। 'जाति सर्वगता होती है' इस सिद्धान्तके अनुसार व्यापक जातिके समान भूमा अन्यमें अधिष्ठित भी हो सकता है। जैसे घटत्वादि जाति घटादिमें तादात्म्यसम्बन्धसे एव अन्यत्र स्वरूप-सम्बन्धसे रहती है, वैसे ही भूमा अपने कार्योंमें तादात्म्यसम्बन्धसे और अनादि पदार्थोंमें स्वज्ञान-विषयत्वादिसम्बन्धसे प्रतिष्ठित होता है। 'अहमेवाधस्तात्' इत्यादिके मध्यमें अहंकारोपदेश भी व्यर्थ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ब्रह्ममें अपरोक्षता, प्रत्यक्चैतन्या-भिन्नता आदिके प्रतिपादनके लिये उसकी सार्थकता पहले ही कह चुके हैं।

कहा जाता है कि 'वेदान्त-मतानुसार प्रत्यक्चैतन्य आत्मा ही मुख्यरूपसे अपरोक्ष है। उसके साथ ब्रह्मकी एकता कहनेसे भूमा ब्रह्मकी अपरोक्षता (प्रत्यक्षता) सिद्ध हो ही जानी, फिर अहंकारकी, जो वस्तुतः सर्वरूप नहीं है सर्वात्मता क्यों कही गयी?' परतु इसका उत्तर यही है कि यद्यपि आत्माके सम्बन्धसे ही अहंकारकी भी अपरोक्षता है, अतः आत्माकी एकतासे ही भूमाकी अपरोक्षता सिद्ध हो सकती थी तथापि अहंकार (मैं) में अपरोक्षता लोकमें बहुत प्रसिद्ध है, इसलिये उसकी उक्ति सार्थक है। इसके सिवा यदि 'अहं' का अर्थ अणुपरिणाम आत्मा ही मान लिया जाय, तब तो उसमें व्यापकता, सर्वरूपता आदि कुछ भी नहीं बन सकती। कुछ लोग कहते हैं कि 'भूमा नारायणाख्यः स्यात् स एवाहंकृतिः स्मृतः। जीवस्थस्त्वनिरुद्धो यः सोऽहंकार इतीरितः ॥ अणुरूपोऽपि भगवान् वासुदेवः परो विभुः। आत्मेत्युक्तः स च व्यापी' इस स्मृतिमें भूमारूप नारायणहीको अहंकृति कहा गया है। एवं जीवमें रहनेवाले अनिरुद्धको ही अहंकार कहा गया है और 'अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः। योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम् ॥ सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः' इत्यादि स्मृतियोंसे व्यक्त-भावको प्राप्त होकर पितामहको रचनेवाला ही अहंकार कहा गया है।

अतः इन स्मृतियोंके अनुसार ही श्रुतिका अर्थ होना चाहिये ।' परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि सर्वात्मता-प्रतिपादक श्रुति-वचनोंके अनुसार ही स्मृतियोंका अर्थ करना युक्त है । इस दृष्टिसे इन स्मृतियोंका यही अर्थ होता है कि 'नारायण ही भूमा है और वही अहकृति है' अर्थात् अहकारोपलब्धित चित्तसे अभिन्न होनेके कारण वही अहकृति भी कहलाता है । अविद्याप्रतिबिम्बरूप जीवके आश्रित अविद्या, काम, कर्मके अनुसार इहलोक-परलोकमें—कहींपर न रुकनेवाला अहकार ही 'अनिरुद्ध' है । इसमें और शुद्ध आत्मामें अवश्य ही भेद है । मोक्षधर्मके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है 'परमात्मेति यं प्राहुः सांख्ययोगविशारदा । तस्मात्प्रसूतमव्यक्तं प्रधानं तद्विदुर्जना' ॥' अर्थात् सांख्ययोगविशारद जिसे परमात्मा कहते हैं उसीमें प्रधान या अव्यक्त उत्पन्न होता है ।

‘अव्यक्ताद् व्यक्तमुत्पन्नं लोकसृष्ट्यर्थमीश्वरात् ।

अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः ॥

योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम् ।

सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः ॥

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।

अहंकारप्रसूतानि महाभूतानि पञ्च च ॥’

(सर्वदर्शनस०)

लोकसृष्ट्यर्थ अव्यक्त (अव्यक्तभावापन्न ईश्वर) से अनिरुद्ध या महान् आत्मा (महत्तत्त्व, समष्टिबुद्धि, सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ) का प्रादुर्भाव हुआ । जिस महान्ने व्यक्तभावापन्न होकर पितामह (विराट्) को रचा है, वही महान् आत्मा (हिरण्यगर्भ) आगे चलकर अहकार कहलाता है । वह बुद्धिस्वरूप या तेज —(सत्त्व) प्रधान सूक्ष्म शरीरका अभिमानी होनेसे ही तेजोमय है । उसी अहकारसे फिर पञ्चभूतोंकी रचना हुई । मोक्षधर्मके इन वाक्योंमें सांख्यमतानुसार महत्तत्त्व और अहकारमें ही 'महान्' और 'अहकार' शब्दका प्रयोग हुआ है । वेदान्त-मतानुसार वीक्षण और विचिकीर्षा (प्रपञ्चरूपसे आविर्भावकी इच्छा) ही उनके अर्थ हैं । 'तद्वैक्षत' इस श्रुतिसे जो ईक्षण कहा गया है, उसे ही महान् कहा जा सकता है । 'एकोऽहं बहु स्याम्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार अनेक होनेकी इच्छा ही अहंकार है, अतएव ईक्षणके पश्चात् ही 'अह' पदका उल्लेख हुआ है । 'अहंकारश्चाहकर्तव्यश्च' 'महाभूतान्यहंकार' इत्यादि श्रुति-स्मृतिमें अहकारकी उत्पत्ति और लय बतलाया गया है । अतः उसमें व्यापकता कभी नहीं बन सकती । जहाँ भी कहीं अहमर्थकी व्यापकता कही गयी है सर्वत्र ही अहकारसे रहित, अहकारके अविष्टानभूत व्यापक चैतन्यमें ही लक्षणासे अहपदका प्रयोग हुआ है । जैसे 'अहं मनुरभवं सूर्यध्व' इम वामदेवकी उक्तिमें यद्यपि आपाततः प्रतीत होता है कि परिच्छिन्न जीवकी ही सर्वरूपता कही जा रही है तथापि सिद्धान्ततः वहाँ लक्षणासे अहकाररहित व्यापक

शुद्ध चैतन्यमें 'अहं' का प्रयोग निर्णय किया गया है। वैसे ही जहाँ भी अहमर्थकी व्यापकता सुनायी दे, वहाँ व्यापक चैतन्य ही 'अह' का अर्थ समझना चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं कि 'अहंकारश्चाहं कर्तव्यश्च' इत्यादि स्थलोंमें महत्तत्त्वका कार्य और मन आदिका कारण अहत्तत्त्व लिया गया है। 'महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्गवद्वीर्यसंभवात्। क्रियाशक्तिरहंकारस्त्रिविधः समपद्यत' (श्रीमद्भा० ३।२६।२३) इत्यादि वचनोके अनुसार यह सात्त्विक, राजस, तामस—त्रिविध अहकार आत्मस्वरूप अहमर्थसे सर्वथा भिन्न है। यदि अहमर्थ और अहंकारमें भेद न माना जायगा, तब तो इसी तरह 'बुद्धिरव्यक्तमेव च' (गीता १३।५) इस वचनमें भी विवाद खड़ा हो सकेगा। यहाँ 'बुद्धि' पद क्षेत्रान्तर्गत हृदयविशेषके लिये आया है। परंतु यदि 'बुद्धि' शब्दसे सवित् (स्वप्रकाश ज्ञानरूप आत्मा) का बोध हो, तब तो सवित्का भी क्षेत्रकोटिमें ही परिगणन होगा। अतः कहना होगा कि भले ही कहीं 'बुद्धि' और 'ज्ञान' पदसे सवित् या आत्मा कहा जाय, पर 'बुद्धिरव्यक्तमेव च' इस क्षेत्रस्वरूपके निरूपण-प्रसङ्गका 'बुद्धि' शब्द सवित्का बोधक नहीं है। ठीक इसी तरह क्षेत्रमें प्रयुक्त अहंकार शब्दका अर्थ आत्मा नहीं है; किंतु 'अहमात्मा गुडाकेश' (गीता १०।२०) इत्यादि स्थलोंका ही 'अह' पद आत्माका बोधक है। 'दम्भाहंकारसंयुक्ताः' (गीता १७।५) इत्यादि स्थलोंमें 'अह' पदका प्रयोग देहमें, अहंबुद्धि और गर्वमें होता है। 'गर्वोऽभिमानोऽहंकारः' (अमर० १।७।२१) इस कोषसे भी मालूम होता है कि अहंकार शब्द केवल अहमर्थ (आत्मा) का ही वाचक नहीं है। आत्माका बोधक 'अह' शब्द 'अस्मद्' शब्दसे बना है और अहकार शब्द अनात्माका बोधक है। उमका पर्यायभूत 'अह' शब्द मान्त (मकारान्त) अव्यय है। परंतु यह सब कथन असंगत है। मान्त एव दान्तभेदसे अर्थभेद कल्पनामें कोई भी प्रमाण नहीं है। अहरूपसे प्रतीयमान अहकारहीके बोधक सभी 'अहं' शब्द हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि स्थलोमे लक्षणाद्वारा ही अहंकारसे अतिरिक्त आत्माका बोध होता है। कौन 'मान्त' है, कौन 'दान्त' इस तरह जिसका निर्धारण नहीं है, ऐसे 'अहं' शब्दका अधिक प्रयोग अहंकारहीमें होता है। जब अहंकार शब्दको आप भी अनात्माका वाची मानते हैं; तब 'सोऽहंकार इति प्रोक्तः' (सर्वद० स०) इत्यादि पूर्व वचनोंमें, आत्मामें अहंकार पदका प्रयोग लाक्षणिक ही होगा। बस, फिर तो 'मान्त' 'दान्त' साधारण अहशब्द भी मुख्य वृत्तिसे अहकारका वाची होकर लक्षणासे आत्माका वाचक होगा। जैसे 'अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः। योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम् ॥ सोऽहंकार इति प्रोक्तः' (सर्वदर्शनसं० ४) यहाँ लक्षणासे आत्मामें अहंकारका प्रयोग अन्योको मान्य है, वैसे ही अह शब्दका भी लक्षणासे ही आत्मामें प्रयोग मानना उचित है।

कुछ लोग अहमर्थमें आत्मा-अनात्मा—दोनोंका मिश्रण नहीं मानते और कर्तृत्व आदिको मुख्य आत्माका ही धर्म मानते हैं। परतु यह असगत है; क्योंकि असङ्ग, अनन्त आत्मामे कर्तृत्व माननेसे मुक्तिका होना अत्यन्त असम्भव हो जायगा। कहा जाता है कि 'यदि अहंकार या अहङ्गद चिज्जड-ग्रन्थिका वाचक हो तब तो दूसरोकी ग्रन्थिमें भी 'अह' का प्रयोग होना चाहिये।' परतु उन्हें यह भी देखना चाहिये कि उनके ही मतमें अहंकार और मान्त अहम्का प्रयोग दूसरोंके अन्तःकरण या क्षेत्रमे क्यों नहीं होता? यदि उन्हें ऐसा इष्ट हो तो हमें भी इष्ट ही है। भेद यही है कि हमारे यहाँ इन पदोंकी अपने उच्चारयितामें शक्ति है। शुद्ध आत्मा उच्चारयिता है नहीं; अतः जैसे वहाँ लक्षणासे प्रयोग होता है, वैसे ही दूसरी ग्रन्थिमें भी होगा। कहा जाता है कि कर्तृत्व आदिके अनात्म-धर्म होनेपर भी उसे अपने आश्रय प्रतीतिके बिना भी आत्मामें वैसे ही प्रतीति होनी चाहिये, जैसे 'गौरोऽहम्' यहाँ गौरत्वके आश्रय देहकी प्रतीति न होनेपर भी गौरत्वकी आत्मामें प्रतीति होती है। परतु ध्यान देनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि दृष्टान्तमें भी देहत्वरूपसे देहका भान न होनेपर भी गौरत्व मनुष्यत्वरूपसे देहका भान अवश्य रहता है। फिर दार्ष्टान्तिक कर्तृत्व आदि आश्रयभूत अहमर्थकी प्रतीतिके बिना कैसे प्रतीत होंगे? सार यह है कि जहाँ आरोप अनुभूयमान होता है, वहाँ या तो प्रतिविम्बरूपता होती है अथवा धर्मीका अभ्यास अवश्य होता है। जब कर्तृत्वादि प्रतिविम्बरूप नहीं हैं, तब अवश्य ही धर्मीका अभ्यास मानना चाहिये।

अहं प्रत्ययका विषय होनेसे शरीरके समान अहमर्थ अनात्मा है इत्यादि अनुमानसे भी अहमर्थकी अनात्मता सिद्ध होती है। कहा जाता है कि इस तरह तो अहमर्थके भीतर अधिष्ठानभूत चैतन्य भी अह प्रत्ययका विषय है, फिर उसे भी अनात्मा कहना पड़ेगा। परतु इसका उत्तर स्पष्ट है। जिस रूपसे उसे अहप्रत्यय-विषयता है, उस रूपसे उसकी अनात्मता इष्ट ही है और स्वरूपसे वह सर्वथा अविषय है अतः उसमें अनात्मताकी प्रसक्ति नहीं है। अहमर्थ आत्मासे अन्य है। 'अह' शब्दका अभिधेय (वाच्य) होनेसे अहंकारगद-वाच्यके समान पर्यायता दिखलायी जा चुकी, अतः असिद्धिकी कल्पना नहीं की जा सकती। कहा जाता है कि वेदान्ती भी तो 'गौरोऽहम्' इस तरह आत्माको गौरत्वकी कल्पनाका अधिष्ठान मानता है और 'मा न भूवम्, भूयासम्' इत्यादि रूपसे आत्माको ही परप्रेमास्पद मानता है। साथ ही अहमर्थ अपनी सत्तामें प्रकाश (बोध) से रहित नहीं होता; अतः आत्माकी स्वप्रकाशता भी कही जाती है। यदि अहमर्थ अनात्मा ही हो, तब तो यह सब उपर्युक्त कथन कथमपि सङ्गत न हो सकेगा, क्योंकि 'गौरोऽहम्', 'मा न भूवम्' अहमर्थकी प्रकाशाव्यभिचारिता यह सभी अहमर्थसे ही सम्बन्धित है। अतः यदि वह अनात्मा है, तब तो यह अहमर्थसे सम्बन्धित स्वप्रकाशत्वादि अनात्मामें ही

पर्यवसित होंगे। परंतु यह कथन ठीक नहीं है। गौरवादि अनात्माके आरोपका अधिष्ठान अहमर्थ नहीं है, अपितु आत्मा ही है। किंतु जैसे 'इदम्' (पुरोवर्ती शुक्तिकादि) अधिष्ठानका अवच्छेदक होनेसे अधिष्ठान कहलाता है, वैसे ही अहमर्थ भी अधिष्ठानका अवच्छेदक होनेसे अधिष्ठान कहलाता है। वास्तवमें अहमर्थ अनात्माके आरोपका अधिष्ठान नहीं है। आत्मामें अहंकारका ऐक्यारोप (भ्रम) होनेसे ही अहमर्थमें प्रेमास्पदत्वकी प्रतीति होती है। जो कहा जाता है कि 'ऐसा माननेसे अन्योन्याश्रय-दोष होगा', वह भी ठीक नहीं। सुषुप्तिकालमें आत्माका प्रकाश होता है, अहमर्थका प्रकाश नहीं होता। इसीसे उन दोनोंका भेद सिद्ध हो जाता है।

कहा जाता है कि 'अहमर्थके प्रेमसे भिन्न अन्य प्रेमका अनुभव ही नहीं होता, अतः अहमर्थको ही प्रेमास्पद मानना चाहिये, परंतु यह ठीक नहीं। परामर्शसे सिद्ध सुषुप्तिमें अहमर्थशून्य आत्माके प्रेमका अनुभव स्पष्ट है, अतः अहमर्थ-प्रेमसे भिन्न भी आत्मप्रेम है ही। यहाँ सदेह होता है कि यद्यपि अहितमें हितबुद्धिसे प्रेम उत्पन्न होता है तथापि जो प्रेमका आस्पद नहीं है, उसमें प्रेमास्पदताका आरोप कहीं भी नहीं देखा गया। अतः यदि अहमर्थ-प्रेमास्पद आत्मा नहीं है, तब इसमें प्रेमास्पदताका आरोप कैसे हो सकता है?' परंतु इसका समाधान यह है कि अहमर्थमें प्रेमास्पदत्वका आरोप होता है, ऐसा नहीं; किंतु यह कहा जा रहा है कि अहमर्थमें आत्माके ऐक्यका आरोप होनेसे प्रेमास्पदता है, स्वाभाविक नहीं। स्वाभाविक प्रेमका आस्पद आत्मा ही है। इच्छा और प्रेममें भेद है, अतएव सिद्ध वस्तुमें भी स्नेहात्मक-वृत्तिरूप प्रेम होता है। रहा यह कि 'अहमर्थका प्रकाशके साथ व्यभिचार न होनेसे उसे ही आत्मा माना जाय', यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वह तो अहमर्थ और आत्माके भेदमें भी बन सकता है। परंतु स्वप्रकाश आत्मसम्बन्धके बिना जड अहमर्थका प्रकाशाव्यभिचार नहीं हो सकता। अतएव वह भी अहमर्थ भिन्न आत्मामें प्रमाण है, अर्थात् अहमर्थके प्रकाशाव्यभिचारसे उसकी स्वप्रकाशता नहीं मानी जा सकती, अपितु इससे स्वप्रकाश आत्माका सम्बन्ध ही निश्चित होता है। कहा जाता है कि 'समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत्। विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत् ॥' अर्थान् आरोपितके रूपसे विषय रूपवान् होता है, विषय (अधिष्ठान)के रूपसे समारोपित पदार्थ रूपवान् नहीं होता। इस युक्तिसे आरोपित अहमर्थके अप्रेमास्पदत्वसे ही आत्मामें अप्रेमास्पदत्वकी प्रतीति होनी चाहिये। परंतु यहाँ विचार करना चाहिये कि क्या अधिष्ठानका धर्म आरोपितमें प्रतीत होना चाहिये अथवा आरोप्यगत धर्मका अधिष्ठानमें भान होना चाहिये? पहला पक्ष तो इसलिये ठीक नहीं है कि अधिष्ठानके जिस धर्मसे विशिष्ट स्वरूपज्ञानसे आरोपितकी निवृत्ति हो जाती है, वह धर्म आरोप्यमें कदापि नहीं प्रतीत होता—ऐसा नियम है। जैसे शुक्तिरजतमें शुक्तिगत इदन्ताकी प्रतीति होनेपर भी शुक्तिगत नीलपृष्ठत्व, त्रिकोणत्व,

शुक्तित्वादि धर्मका मान नहीं होता, क्योंकि शुक्तित्वादिविशिष्ट शुक्तिकाके ज्ञान होनेसे आरोपित रजतकी निवृत्ति हो ही जाती है। अतः अधिष्ठानके उभी रूपसे समारोप्य रूपवान् नहीं होना, जिसके ज्ञानसे आरोपित मिट जाय। प्रेमास्पदत्व वैसा धर्म नहीं है। अतः जैसे शुक्तिरजतमें शुक्तिकी इदन्ता भासित होती है, वैसे ही आत्मगत प्रेमास्पदताके अहमर्थमें अभानका नियम नहीं कहा जा सकता।

दूसरा पक्ष भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि आरोग्यगत वे ही धर्म अधिष्ठानमें प्रतीत हो सकते हैं जो अधिष्ठानगत धर्म-प्रतीतिके विरोधी न हो। अतएव सर्पगत भीषणता, अधिष्ठानगत इदन्ता-प्रतीतिके विरुद्ध होनेके कारण अधिष्ठानमें भासित होती है। परन्तु अधिष्ठानगत धर्म इदन्ताकी प्रतीतिके विरुद्ध देशान्तरस्थत्वादि अन्य धर्मकी प्रतीति नहीं होती। ठीक उसी तरह आत्मामें भी आरोग्य अहमर्थके वे ही धर्म प्रतीत हो सकेंगे, जो आत्मधर्म-प्रतीतिके बाधक न हो। परन्तु यहाँ तो अप्रेमास्पदत्वरूप आरोग्यधर्म प्रेमास्पदत्वरूप अधिष्ठानभूत आत्मधर्म-प्रतीतिसे विरुद्ध है, अतः आत्मामें उसका आरोप नहीं हो सकेगा। जिस समय ही अहमर्थसे आत्मैक्यका अभ्यास होगा, उसी समय आरोग्यमें भी प्रेमास्पदत्व प्रतीत होगा। फिर तो आरोग्यमें अप्रेमास्पदत्व नहीं प्रतीत होगा। ऐसी स्थितिमें अधिष्ठानभूत आत्मामें उसके अप्रेमास्पदत्वकी प्रतीति कैसे हो सकती है? कुछ लोग परिहार करते हैं कि आत्मा सुख एव अनुभवरूप है, इसीलिये 'अहं सुखमनुभवामि'—मैं सुखका अनुभव करता हूँ, इस तरह अहमर्थसे भिन्न सुख और अनुभवकी प्रतीति होती है। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि वैषयिक सुख और अनुभव आत्मासे पृथक् वस्तु है और वही विषयोपपन्नविवर्जित स्वप्रकाश अनन्त आनन्दरूप ही है।

कहा जाता है कि मोक्षमें यदि अहमर्थ न रहेगा, तब तो 'आत्मनाश ही मोक्ष है' यह बाह्य (शून्यवादी) मत आ जायगा; क्योंकि उस मतके समान ही तुम्हारे मतमें भी प्रेमास्पद अहमर्थका नाश स्वीकार्य है। अहमर्थसे भिन्न अन्य किसीकी तरह तो शून्यवादीके यहाँ भी शून्य नाना ही रहता है। परन्तु यह सब निरर्थक है। औपाधिक प्रेमास्पद अहमर्थके नाशसे यदि आत्मनाशपत्ति हो तो औपाधिक प्रेमास्पद देहनाशमें भी आत्मनाशकी प्रसक्ति होगी। अतएव जो यह कहा जाता है कि 'मामृतं कृधि ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासम्' इत्यादि श्रुतियोंसे अहमर्थके ही अमृतत्व, विरजत्व, विपाप्मत्वादिकी आकाङ्क्षा होती है, अतः शुक्तिमें अहमर्थका होना अनिवार्य है। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ सर्वत्र 'अहम्' के लक्ष्यार्थ चैतन्यके ही अमृतत्वादिकी आकाङ्क्षा है। जैसे 'अहं पुष्ट स्याम्'—मैं पुष्ट होऊँ, यहाँ स्वसमयविद्यमान शरीरकी ही पुष्टता अभीष्ट है; वैसे ही उपर्युक्त विषयमें भी समझना चाहिये। यद्यपि 'शरीरं पुष्टं स्यात्—शरीरं पुष्टं हो इस इदन्ताके भगवान् 'आत्मगात्रं मुक्तां व्यान'—आत्मका वयन नो, ऐसी इदन्ता

नहीं दिखायी देती, अतः मुक्तिकी अनिष्टतापत्ति कही जा सकती है, तथापि विचार करनेसे विदित होगा कि इच्छाके समय अन्तःकरणका अध्यास होता है। अतएव यद्यपि आत्ममात्रकी मुक्तिकी इच्छा नहीं अनुभूत होती; तथापि विशिष्टगत मुक्तिकी इच्छाका ही शुद्धात्मगतत्वेन पर्यवसान होता है। आशय यह है कि इच्छाके भासक साक्षीसे ही अहमर्थका भान होता है, अतः इच्छाके उल्लेखकालमें अहमर्थका उल्लेख होनेपर भी विवेकियोको अहमर्थके विविक्त आत्मगतरूपसे ही मुक्तिकी इच्छा होती है। अविवेकीको भी, जो दुःखमूलवाला हो उसमें दुःखमूलका उच्छेद हो, ऐसी इच्छा होती है। इस तरह शुद्धात्मामें दुःखमूलोच्छेदरूप मुक्तिकी इच्छा पर्यवसित होती है; क्योंकि दुःखमूल अज्ञानवाला नहीं है।

कहा जाता है कि यदि अहमर्थ अन्तःकरण ग्रन्थिरूप ही है तब तो 'मम मनः'—मेरा मन, मेरा अन्तःकरण—ऐसी बुद्धि नहीं होनी चाहिये; क्योंकि अन्तःकरण और मन दोनों एक ही वस्तु हैं। परंतु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अन्तःकरण जडमात्र है। परंतु चेतन आत्मा और अन्तःकरण—इन दोनोंकी ग्रन्थि अहमर्थ है। इस भेदसे मेरा मन इस तरह षष्ठी (सम्बन्ध) बन सकती है। फिर भी कहा जाता है कि 'मनः स्फुरति, मनोऽस्ति' इस ज्ञानमें भी मनकी सत्ता और स्फूर्तिरूप आत्मासे सम्बन्ध है अतः इसे भी चिदचिद् ग्रन्थि कहा जा सकता है। फिर अह इस ज्ञान और 'मनःस्फुरति' इस ज्ञानमें समता क्यों नहीं प्रतीत होती? यह ठीक नहीं है; क्योंकि सम्बन्धमात्र ही ग्रन्थि या संवलन नहीं कहा जाता, किंतु तादात्म्येन प्रतिभास (अभेदरूपसे प्रतीति) ही संवलन या ग्रन्थि है। 'मनः स्फुरति, मनोऽस्ति' इत्यादि स्थलोंमें आख्यातसे मनमें स्फुरण एवं सत्ताकी आश्रयता ही प्रतीत होती है, मनमें स्फुरणादिका तादात्म्य नहीं प्रतीत होता। अह इस स्थानमें तो अन्तःकरणका चेतनमें तादात्म्याध्यास है।

कहा जाता है कि सभी भ्रान्तियोंमें अधिष्ठानांश और आरोप्य—इन दो अंशोंकी अवश्य प्रतीति होती है। यदि 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रान्तियोंमें अधिष्ठानांश इदन्ताकी प्रतीति न अपेक्षित हो, तब तो बिना अधिष्ठानका भ्रम मानना पड़ेगा, जिससे शून्यवादकी प्रसक्ति अवश्य होगी। परंतु 'अह इस भ्रान्तिमें तो दो अंशकी प्रतीति ही नहीं होती। यदि कहा जाय कि वहाँ भी दो अंशकी कल्पना कर लेनी चाहिये, तब तो फिर 'आत्मा' इस बुद्धिमें भी दो अंशकी कल्पनासे भ्रान्तिता-सिद्धि माननी होगी। यदि दो अंशकी प्रतीति न होनेसे 'आत्मा' इस प्रतीतिकी भ्रान्ति न माने, तब तो 'अह' इस प्रतीतिको भी भ्रान्ति मानना व्यर्थ है। इन सदेहोका समाधान यह है कि यदि भ्रान्तिमें अधिष्ठान और आरोप्य—इन दो अंशकी प्रतीतिका आपादन करना है तो वह तो मान्य ही है। अहमर्थका मिथ्यात्व ही उसके द्वितीय अंशके होनेमें प्रमाण है। परंतु 'आत्मा' इस बुद्धिके विषयमें भी दो अंश है; इसमें तो कुछ भी प्रमाण नहीं है। अतः 'आत्मा' इस बुद्धिमें भी दो

अशक्ती कल्पनाका अवकाश नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि भिन्न-भिन्न दो प्रकारोंसे अवच्छिन्न, अधिष्ठान और आरोप्यका विषय करना ही भ्रान्तिके दो अंग हैं, क्योंकि जहाँ रजतत्वसमर्पक आरोपसे ही ‘इदं रजतम्’ ऐसी प्रतीति होती है वहाँ दो प्रकारका भान नहीं होता है। रजतत्वमें कोई भी दूसरा प्रकार (विशेषण) नहीं है। रजतादिको रजतत्वका प्रकार माननेमें भी कोई प्रमाण नहीं है।

कुछ महानुभाव यह भी कहते हैं कि अहमर्थाव्याप्त्यमें भी ‘अज्ञोऽहं स्फुराम्यहम्’ इस तरह स्फुरण और अह—इन दो अशक्तोंकी प्रतीति होती ही है। जैसे कभी ‘रजतम्’ इतनेहीका उल्लेख होता है, वैसे ही ‘अह’ इतनेका भी उल्लेख बन सकता है। अतः ‘रूप्यं स्फुरति’ की तरह ‘अहमस्मि, अह स्फुरामि’ वहाँ-पर स्पष्ट दोनों ही अशक्तोंकी प्रतीति होती है। इतना भेद अवश्य है कि जहाँ इन्द्रत्वावच्छिन्न स्फुरण अधिष्ठान है, वहाँ ‘इदं रूप्यम्’ इत्यादि प्रकारसे बुद्धि होती है, जहाँ केवल स्फुरणभाव ही अधिष्ठान है, वहाँ ‘स्फुरामि’ ऐसी ही बुद्धि होती है। फिर भी ‘मनःस्फुरति, अहं स्फुरामि’ इन दोनों प्रतीतियोंमें विलक्षणता इसलिये है कि ‘मन’ शब्दसे मनस्वमात्र विवक्षित है और ‘अह’ शब्दसे मन और देहसे अवच्छिन्न चित्स्वरूप उच्चारयितृत्वका उल्लेख होता है। यहाँ सदेह होता है कि ‘अह स्फुरामि’ यह भ्रम तो अव्यक्त है, अतः वह अधिष्ठान कैसे होगा ? परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि वहाँ स्फुरणरूप चैतन्यको ही अधिष्ठान कहा जाता है, अविद्यावृत्तिको नहीं। इस तरह ‘अहमर्थ आत्मा है’ इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। मोक्षसाधन कृतिका आश्रय होनेसे अहमर्थ मोक्षमें अन्ययी है, यह अनुमान भी प्रमाण नहीं है। क्योंकि कृत्याश्रयमें मोक्षान्वयित्वको व्याप्तिका कहीं दृष्टान्त ही नहीं है। सामान्य व्याप्तिमें भी व्यभिचार है। ऋत्विज लोग स्वर्गसाधन कृतिके आश्रय तो होते हैं, परन्तु स्वर्गान्वयी नहीं होते। अहमर्थ अनर्थका आश्रय होनेसे सम्प्रतिपन्नकी तरह अनर्थ-निवृत्तिका आश्रय है, इस अनुमानमें भी अहमर्थकी आत्मता नहीं सिद्ध होती; क्योंकि यह अनुमान शरीरमें व्यभिचारी है। ‘अहमज्ञः’ इस प्रतीतिसे जैसे अहमर्थमें अनर्थाश्रयताकी प्रतीति हाती है, वैसे ही ‘स्थूलोऽहमज्ञः’ इस प्रतीतिसे शरीरमें भी अनर्थाश्रयता सिद्ध होती है।

कहा जाता है कि ‘कस्मिन्वहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि, कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि,’ ‘स प्राणमसृजत, ‘दन्ताहमिगान्तिनो देवता’ इत्यादि श्रुतियोंमें प्राण और मनके पहले ही अहका श्रवण है। ‘तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि’ इस श्रुतिमें भी शुद्धात्मामें ‘अह’पदका प्रयोग है। ‘अहमित्येव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः। स ह्यसौ स सुम्नी चैव स पात्र बन्धमोक्षयोः’ इत्यादि श्रुतियोंमें भी अहमर्थसे ही बन्ध-मोक्षका होना सिद्ध होता है। ‘तद्योऽहं सोऽसौ,’ ‘मामेव ये प्रपद्यन्ते’ (गीता ७।१४) इनसे भी मालूम होता है कि अहमर्थ ही आत्मा है, परन्तु यह सब विचार अमूल्य है। उपर्युक्त सभी शान्तिमें लक्षणासे ही त्रिगुण-बान्धव अहं गुण्यका शुद्ध आनन्द

प्रयोग मानना चाहिये, यह बात पहले ही कही जा चुकी है । जैसे 'युष्मद्' शब्द सम्बोध्य चेतनका बोधक होता हुआ भी लक्षणया अचेतनमात्रका बोधक होता है, वैसे ही 'अस्मद्' शब्द अहंकारविशिष्ट चेतनका बोधक होता हुआ भी लक्षणासे केवल शुद्ध चेतनमें ही प्रयुक्त होता है ।

आन्तर-बाह्य सभी प्रपञ्चका अधिष्ठान (आधार) सत् ही है, इसलिये घट, पट, मट, पृथ्वी, जल, तेज, आकाश सबके साथ 'सत्' (है) लगता है; जैसे आकाश सत् (है), वायु सत् (है), घट सत् (है) आदि । जैसे मिट्टीके घट-उदंचन आदि हर एक कार्यमें मिट्टी है, जलके तरंग बुलबुले आदि हर एक कार्यमें जल है, वैसे ही एक कार्यमें सत्, सत्ता या हस्ती है, अतः वही सत् कारण है । आकाशका कारण 'अह तत्त्व' है और उसका कारण 'महत्तत्त्व' और उसका भी 'अव्यक्त तत्त्व' है । जैसे सुषुप्तिमें अज्ञान या निद्रासे आवृत स्वप्रकाश सत् द्वारा ही मेघसे ढँके हुए सूर्यमें बादलकी तरह अज्ञान या निद्राका प्रकाश होता है, वैसे ही समष्टि अज्ञान या निद्रासे आवृत व्यापक स्वप्रकाश सत् ही उसका प्रकाशक होता है । आवृत सत्से भासित समष्टि अज्ञानको ही 'अव्यक्त' कहा जाता है । उस अव्यक्तसे उत्पन्न होनेवाली समष्टि बुद्धि या ज्ञानको ही 'महत्तत्त्व' कहा जाता है । जैसे घोर नींदसे अकस्मात् जगाये जानेपर पहले अहंकार-ममकारसे शून्य केवल कुछ ज्ञान होता है, वैसे ही समष्टि सुषुप्तिके पश्चात् अज्ञानावृत सत्को अहंकार-ममकारशून्य समष्टि ज्ञान उत्पन्न होता है । यह ज्ञान अज्ञानरूप अव्यक्तका परिणाम है । जैसे अप्रकाशरूप पर्वतकी खानसे प्रकाशमय मणिका प्रादुर्भाव होता है, किंवा जैसे सूर्यके प्रकाशको न व्यक्त करनेवाली मिट्टीसे ही उत्पन्न होकर काच सूर्यप्रतिबिम्बका ग्राहक होता है, वैसे ही निखिल शक्तियोंके आश्रय केन्द्र अज्ञान (अचित्तत्त्वसे) चैतन्य-प्रतिबिम्बग्राहकज्ञान उत्पन्न होता है (यहाँ चित्स्वरूप परमात्मासे विलक्षण अचित् या जड-शक्ति ही अज्ञान पदसे विवक्षित है, इसीका परिणाम वृत्तिरूप ज्ञान है) । यह स्वप्रकाश परमात्मरूप नित्यबोध या ज्ञानसे भिन्न है, अतः उसीके प्रतिबिम्ब या आभाससे युक्त होनेके कारण अचित्परिणाममें औपचारिक 'ज्ञान' पदका प्रयोग होता है । जाग्रत् एव स्वप्नके ज्ञानोंका सुषुप्तिमें लय हो जाता है और सुषुप्तिके पश्चात् ही इनका पुनः प्रादुर्भाव होता है । अतः जैसे मिट्टीसे उत्पन्न और उसमें लीन होनेवाले विकारोंका मिट्टी कारण समझी जाती है, वैसे ही जाग्रदादि ज्ञानोंका सौषुप्त अज्ञान कारण समझा जाता है । सोकर जागनेवालेके अहंकार-ममकारसे शून्य प्राथमिक ईक्षण (ज्ञान) के समान ही अज्ञानोपहित सत्का अहंकार-शून्य केवल ईक्षण (ज्ञान) ही महत्तत्त्व है ।

पुनश्च जैसे सामान्य ईक्षणके अनन्तर 'मैं अमुक हूँ' इत्यादि रूपसे अहंकारका उल्लेख होता है । वैसे ही सत्के ईक्षणके बाद उसमें 'एकोऽहं' बहु

साम्'—मैं एक हूँ, अनेक होऊँ, इस रूपसे अहंकारका उल्लेख होता है वही 'अह-तत्त्व' है। सुषुप्ति की ओर जाते हुए भी 'मैं कहाँ और कौन हूँ' इत्यादि अहंकारका पहले लय होता है। केवल कुछ चेत (ज्ञानसामान्य) रह जाता है। अन्तमें वह भी अज्ञान या सुषुप्तिमें लीन हो जाता है। परंतु आत्मा या परमात्मस्वरूप नित्यबोध या ज्ञान तो इन तीनोंका भासक है, स्वप्रकाश सत्त्व है। जैसे बादलकी टुकड़ी देखकर आकाशव्यापी मेघमण्डल बुद्धिमें आलूट हो सकता है, वैसे ही व्यष्टि (जीवगत) अहंकार, बुद्धि (ज्ञान), अज्ञान (सुषुप्ति) से ईश्वरगत समष्टि अहंतत्त्व, महत्तत्त्व और अव्यक्ततत्त्वका बोध हो जाता है। जैसे अहंकारपूर्वक ही जीवका कार्य होता है, वैसे ही अहंकारपूर्वक ही परमात्मासे आकाशादि समस्त प्रपञ्च उत्पन्न होते हैं। तभी अहंतत्त्वसे शब्दतन्मात्रा या अपञ्चीकृत सूक्ष्म आकाशकी उत्पत्ति मानी गयी है। सर्वप्रथम अज्ञान या अचित् भी स्वप्रकाश सत्की ही शक्ति है। अतः वह भी सत्से स्वतन्त्र होकर स्वतः सत् नहीं है। जैसे सिता (शर्करा)के सम्बन्धसे अमधुर वस्तु भी मधुर प्रतीत होती वैसे ही स्वप्रकाश सत्के सम्बन्धसे ही अव्यक्तादि सभी प्रपञ्चमें सत्ता और स्फूर्ति प्रतीत होती है। अतएव जैसे लहरोंमें भीतर-बाहर जल ही रहता है, वैसे ही अव्यक्तसे लेकर सभी प्रपञ्चके भीतर-बाहर सत् ही है, स्फूर्ति ही है। जैसे जलके बिना लहर कोई वस्तु ही नहीं, वैसे ही सत्के बिना—स्फूर्तिके बिना अव्यक्त, अचित्, महत्तत्त्व, अहंतत्त्व आकाशादि सब असत् हो जाते हैं। जबतक उनमें सत्का योग है तबतक उनका होना, उनकी सत्ता या स्फूर्ति है। सत्के बिना सबके सब असत् हो जाते हैं। इसीलिये कहा है—'जामु सत्यता ते जड माया। भास सत्य इव मोह सहाया ॥ अतः अचित् आदि सभी मिथ्या हैं। अधिष्ठानका साक्षात् बोध होते ही सब मिट जाते हैं।

आकाशसे वायु, तेज, जल, पृथ्वी, घटादि सब उत्पन्न होते हैं और क्रमेण सब उसीमें लीन हो जाते हैं, तथापि घटाकाश, जरावाकाश, महाकाश आदि अनेक कल्पनाएँ हो जानी हैं। आकाशसे ही सूर्य, उससे ही घट और जल उमका ही आकाश और सूर्यरूपसे विम्ब-प्रतिविम्ब होना सद्गत है और पार्थिव प्रपञ्च पृथ्वीमें, पृथ्वी जलमें, जल तेजमें, तेज वायुमें और वायुके आकाशमें मिलते ही सब कुछ केवल आकाश ही रह जाता है। उसी तरह स्वप्रकाश सत्से ही उत्पन्न अनेक उपाधियोंसे विम्ब-प्रतिविम्ब जीव, जगत् आदि अनेक भेद बनते हैं। परंतु उत्पत्तिके विपरीत क्रमसे जब सब कुछ परमात्मामें लीन हो जाता है तब एक ही परमात्मा रह जाता है। जैसे आकाशसे ही क्रमेण घट उसीसे जल, उसीसे प्रतिविम्ब और वही विम्ब होता है, अन्तमें आकाश कार्य होनेसे सबका उसीमें लय हो जाता है, वैसे ही सर्व प्रपञ्च अनन्त, अप्रणुत स्वप्रकाश चित्तमें ही उत्पन्न होता है, उसीमें लीन हो जाता है। 'अहमेवासमेवाग्रे नान्यत्तन्मदसत्परम्।

पश्चादहं यदेतच्च योऽवगम्येत सोऽस्म्यहम् ॥' (श्रीमद्भा० २ । १० । ३२) भगवान्की उक्ति है कि सृष्टिके पहले एक मैं ही था, मुझसे भिन्न कार्यकारण कुछ भी नहीं था, सृष्टि होनेपर भी जो प्रपञ्च उपलब्ध होता है, वह भी मैं ही हूँ और अन्तमें जो अवशिष्ट रहता है वह भी मैं हूँ । 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा । वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥' (माण्डूक्यकारिका ४ । ३१) अर्थात् जो आदिमें नहीं, अन्तमें नहीं, वह मध्यमें भी नहीं ही है । यद्यपि मध्यमें सत्-सा प्रतीत होता है, तथापि है असत् ही । घटादि कार्य अपनी उत्पत्तिके पहले नहीं थे, अन्तमें नष्ट होनेके बाद भी नहीं रहते हैं । अतः मध्यमें सत्से प्रतीत होनेवालोंको भी असत् ही समझना चाहिये । जलकी लहरे, पानीके बुलबुले और स्वप्न-के पदार्थ, उत्पत्ति या प्रतीतिके पहले भी नहीं रहते, अन्तमें भी नहीं रहते, केवल मध्यमें प्रतीत होते हैं, तो भी उन्हें असत् ही समझना उचित है । 'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत । अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥' (गीता २ । २८) सभी प्रपञ्च उत्पत्तिके पहले अव्यक्त ही था, अन्तमें भी सब अव्यक्त हो जाता है, केवल मध्यमें व्यक्त है, फिर उसके लिये क्या रोना ? कोई अत्यन्त प्रिय वस्तु या व्यक्ति अदर्शन—अज्ञानसे ही आया, अन्तमें पुनः अदर्शनमें ही चला गया । फिर जो न अपना है, न जिसके हम हैं, उसके लिये क्या रोना ? 'अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः । नैते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना ॥' (महा० स्त्रीपर्व २ । १३)

जैसे मिट्टी या जलके भीतर ही तरह-तरहके पात्र और तरङ्ग आ जाते हैं, वैसे ही मनके भीतर ही सब दृश्य आ जाते हैं । मनकी हलचलमें ही दृश्य दिखायी पड़ता है और उसके मिटनेमें मिट जाता है, अतः सब कुछ मन ही है । वह मन स्वप्रकाश सत् या भानके भीतर आ जाता है, अतः स्वप्रकाश सत् या अबाध्य अनन्त भान ही सब कुछ है । जैसे दर्पणके भीतर भूधर-सागर, गगन-मेघमाला, सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र, वन-उपवन, नगर आदि प्रतिबिम्बरूपमें दिखायी देते हैं, वैसे ही अव्यक्तादि स्थावरान्त सदसत् सकल प्रपञ्च कूटस्थ स्वप्रकाश सत् या भानमें दिखायी देता है । जाग्रत्-स्वप्नके द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, सुषुप्तिकी निद्रा या अज्ञान जिससे प्रकाशित होते हैं, वही शुद्ध भानरूप आत्मा है । ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, प्रकाश-प्रवृत्ति मोह (रज तम-सत्त्व) इन सबका प्रकाशक सबका अधिष्ठान, सबका कारण, सबसे अतीत सत् ही आत्मा है । वह प्रतिबिम्बके समान है, प्रतिबिम्ब नहीं । अतः उससे पृथक् बिम्बकी सत्ता नहीं अपेक्षित है । जैसे शुद्ध दर्पण देखनेसे प्रतिबिम्ब दृष्टि मिट जाती है, वैसे शुद्ध सत् देखनेसे प्रपञ्च-बुद्धि मिटती है । बोध होनेके उपरान्त यद्यपि प्रपञ्चका मूल अज्ञान मिट जाता है, तथापि प्रारब्धदोषसे प्रारब्ध-स्थितिक प्रपञ्चकी प्रतीति होती है । भोगसे प्रारब्ध मिटनेपर अवश्य ही प्रपञ्चप्रतीति भी मिट जानी है—'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षये अथ संपत्त्ये' (उ० ३० ६ । १४ । २) 'ओमेन न्वितरे क्षण्यित्वाय सस्पृष्टे ।'

फिर भी मनको निर्गुण, निराकार, निर्विकार परब्रह्ममें प्रतिष्ठित करनेके लिये प्रथम वाक्, चक्षु आदि कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंको रोक देना चाहिये, अर्थात् भाषण, दर्शन आदि इन्द्रियोंके व्यापारोंको रोककर केवल मनमें चय या ध्यान करते रहना चाहिये। जब कुछ कालके अभ्यासमें दर्शनादि व्यापाररहित होकर मानस ध्यान, जपादि स्थिर हो जाय, तब मनको बुद्धिमें लय कर देना चाहिये। अर्थात् सकल-विकल्पात्मक मनके व्यापारको निश्चयात्मिका बुद्धिमें लीन कर देना चाहिये। केवल ध्येय लक्ष्यके दृढ़ निश्चयमें संकल्प समाप्त कर देना चाहिये। पश्चात् स्पष्टि-बुद्धिको समष्टि-बुद्धि अर्थात् महत्त्वमें लीन करना चाहिये और उमें फिर समष्टिबुद्धिके भी भासक शान्त आत्मामें लय करना चाहिये। अथवा वागादिव्यापारोंका मनमें लय करके मनको निश्चयात्मिका बुद्धिमें, फिर उमें समष्टि-बुद्धिमें और उसे शान्त आत्मामें नियन्त्रित या लीन करना चाहिये। बुद्धिके भासक शुद्ध भानका ही चिन्तन करना तदभिन्नवस्तुका चिन्तन न करना ही उसका लय है। 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि सहति नियच्छेत्तच्छेच्छान्त आत्मनि॥' (कठोप० १।३।१३) कुछ महानुभावोंने और तरहने भी इस मन्त्रका आशय कहा है। वागादि व्यापारोंका चिन्तन न करके केवल मनोव्यापारको देखना चाहिये। पश्चात् मनका चिन्तन करके ज्ञान आत्मा अर्थात् अहमर्थ (मैं) का ध्यान करना चाहिये। अर्थात् पहले वागादि व्यापारोंकी उपेक्षा करके मनोव्यापारको देखे, फिर मनोव्यापारका उसके प्रेरक 'मैं'में लय करना चाहिये। यहाँ 'जानातीति ज्ञानम्' इस व्युत्पत्तिसे ज्ञानका जाननेवाला 'अह' (मैं) अर्थ होता है और फिर उस अहंका भी सूक्ष्म, अह (अस्मिता) में लय करना चाहिये। अर्थात् स्थूल अह (मैं) को छोड़कर अस्मिताका ध्यान करना चाहिये। 'अहं'का मैं कर्ता भोक्ता, सुखी-दुखी यह स्थूल रूप है। अस्मि (केवल हूँ) यह उमका सूक्ष्मरूप है। यही महान् आत्मा है, उसे भी उसके भासक शुद्ध भानरूप आत्मामें लय करना चाहिये। अर्थात् 'अस्मि' (हूँ) ऐसा भी चिन्तन छोड़कर उसके भासक अनन्त सत् और भानरूप-आत्माका ध्यान करना चाहिये।

महाविश्वेयकालमें भी सब कुछ भगवान् ही है, इस बुद्धिसे ज्ञान्ति मिलती है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।' (छा० उ० ३।१८।१) अर्थात् जैसे तरङ्ग, लहर, बुद्बुद आदि जलराशिसे उत्पन्न, उसीमें स्थित और उन्हींमें लीन होते हैं, अतः जलस्वरूप ही है, वैसे ही सर्व दृश्यादृश्य जगत् तज्ज, तत्त्वं, तदन है अर्थात् स्वप्रकाश सत्स्वरूप ब्रह्म भगवान्मे ही उत्पन्न, उन्हींमें स्थित और उन्हींमें लीन होता है, अतः सब कुछ भगवान् ही है। ऐसी भावना आने ही राग-द्वेष, क्रूर वैमनस्य, उद्वेग मिटकर भुव गान्नि मिलती है।

द्वादश परिच्छेद

माक्स और ईश्वर

माकर्मवादी विद्वान् धर्मके समान ही ईश्वरको भी अनावश्यक समझते हैं। उनकी दृष्टिमें 'भीरता या भ्रान्तिके कारण कल्पनाप्रसूत भूत प्रेत ही सभ्यताके साबुनसे धुलते-धुलते देवता बन गया, और फिर वह कल्पित देवता ही विज्ञानकी चमत्कृतिसे चमत्कृत होकर ईश्वर या निर्गुण ब्रह्म बन गया। ईश्वर या ब्रह्म न तो कोई वास्तविक वस्तु है, न उसकी आवश्यकता ही है। ईश्वरकी कल्पनासे लाभके बदले हानि अधिक हो सकती है। कारण, ईश्वरीय शास्त्र या ईश्वरीय नियमका नाम लेकर अन्धविश्वासी लोग प्रगतिके मार्गमें बार-बार रोड़ा अटकाते रहते हैं।' एक कम्युनिस्टका कहना है कि 'जो ईश्वर या धर्मको मानते हुए भी माक्सकी अर्थनीति कार्यान्वित करनेकी बात करता है, या तो वह धूर्त मक्कार है अथवा महामूर्ख। ईश्वर दिखावटी हुंडी नहीं है। ईश्वर माना जायगा तो उसके नियम भी मानने पड़ेंगे। फिर व्यक्तिगत भूमि-सम्पत्ति आदिका राष्ट्रीकरण भी ईश्वरीय नियमके विरुद्ध ठहरेगा।'

परंतु ईश्वर यदि सत्य वस्तु है तो किसीके चाहने या न चाहनेसे उसका कुछ भी विगड नहीं सकता। भले ही चमगादड़ोंको सूर्यका प्रखर प्रकाश असत्, अनावश्यक एवं हानिकारक प्रतीत होता हो, परंतु एतावता सूर्य असत्, अनावश्यक एवं हानिकारक नहीं सिद्ध होते। वैसे किसीको ईश्वर भी भले ही असत्, अनावश्यक एवं हानिकारक प्रतीत हो, फिर भी उसकी प्रचण्ड सत्ताका अपलाप होना असम्भव है। वस्तुतः सूर्यनारायणसे भी अधिक सूर्यचन्द्रका भी भासक ईश्वर एक स्वतःसिद्ध सर्वमान्य वस्तु है। यह बात आधुनिक अन्वेषण, न्याय-सांख्य-वेदान्त-दर्शन, आस्तिक सिद्धान्तों तथा आस्तिकवादोंसे स्पष्ट सिद्ध है। धर्म एवं ईश्वर परम सत्य वस्तु है, इसीलिये सर्वकाल एवं सर्वदेशमें इसकी मान्यता रही है। कहा जाता है कि द्वितीय युद्धके प्रसङ्गमें अमेरिका एवं अफ्रीकाके कई ऐसे प्रदेशोंमें वैज्ञानिकोंने अनुसंधान किया तो वहाँ यही पता चला कि वहाँके जंगली लोगोंमें धर्म एवं ईश्वरके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी धारणा नहीं है। परंतु ठीक इसके विपरीत यह भी कहा जाता है कि जब उन प्रदेशोंमें जाकर कई आस्तिकोंने वहाँके लोगोंसे बात की तो पता चला कि वे लोग आत्मानी पिता एवं स्वर्गीय लोकपर विश्वास रखते हैं, परंतु विदेशी सभ्य कहे जानेवाले लोगोंकी पहले तो वे बात ही नहीं समझते और समझनेपर भी डरकर अपना भाव नहीं व्यक्त कर सकते। प्रोफेसर यैक्समूलरके अनुसार पादरी

डाक्टर कौल, जुलूजातिके मध्यमें बहुत दिनोंतक रहे। जब वे उनकी भाषा भली प्रकार बोलने और समझने लगे तो उन्हें मार्क्स पडा कि जुलूजातिमें भी धर्म है। उनके विश्वासानुसार प्रत्येक घरानेका एक पूर्वज था और फिर समस्त मानवजातिका भी एक पूर्वज था, जिसका नाम उन्होंने 'उनकुलंकुल्' (प्रपितामह) रखा है। जब उनसे पूछा गया कि उनकुलंकुल्का पिता कौन है ? तो उन्होंने उत्तर दिया कि वह बॉससे निकला था। जुल्-भाषामें बॉसको उथलङ्ग कहते हैं। बाप संतानका उथलङ्ग कहलाता है। जैसे बॉससे कुल्ले फूटते हैं, उसी प्रकार बापसे संतानकी उत्पत्ति होती है। डाक्टर कौलसे एक जुलूने कहा कि 'यह ठीक नहीं कि स्वर्गाय राजाको हमने गोरे आदमियोंसे सुना है। गर्मियोंमें जब बादल गरजते हैं, तो हम कहते हैं - राजा (ईश्वर) खेल रहा है।' एक बुढ़ेने कहा कि 'हम बचपनमें यही सुना करते थे कि राजा ऊपर है, हम उसका नाम नहीं जानते। ससारको पैदा करनेवाला उम्दबूको (राजा) है, जो कि ऊपर है।' एक बुढ़ीने कहा कि जिमने सब ससार बनाया, उसीने अन्न भी बनाया। 'ईश्वर कहाँ है ?' यह पूछनेपर वृद्ध लोग कहते हैं कि वह स्वर्गमें है, राजाओंका भी राजा है। मैडम ब्लेवैट्स्कीका कहना है कि जिस प्रकार मछली पानीके बाहर नहीं रह सकती, उसी प्रकार साधारण मनुष्य भी किसी प्रकारके धर्मके बाहर नहीं रह सकता।'

ससारमें चेतन-अचेतन दो प्रकारके पदार्थ मिलते हैं, उनमें अचेतनसे चेतन प्रबल होता है। एक चींटी बड़े-बड़े मिट्टीके चट्टानोको काट देती है। छोटे छोटे कीड़े पहाड़ोको तोड़ देते हैं। छोटा पक्षी बड़े से-बड़े वृक्षोको हिला देता है। वस्तुतः जहाँ चेतनता है, वही बल होता है। जड़ वस्तुएँ निर्बल होती हैं। घोड़ा गाड़ी खींचता है, गाड़ीकी अपेक्षा घोड़ा बलवान् है। जड़शरीर भी चेतनके सहारे चलता है। मरे हुए हाथीसे जीवित चींटी भी बलवान् है। चेतनोंमें भी मनुष्यकी शक्ति बहुत ही प्रबल है। एक शिशु भी हाथीका नियन्त्रण करता है। सिंह-जैसा क्रूर जन्तु भी मनुष्यकी इच्छाका अनुसरण करता है। जल, वायु, बिजली आदि भूतोंपर मनुष्यका अधिकार है। रेल, तार, वायुयान आदि मनुष्य-शक्तिके ही परिचायक हैं। मनुष्य सृष्टिमें भी रद्दोवदल करता रहता है। वद समुद्रको पार कर, पहाड़-जगलको काटकर शहर बसा देता है, नदियोंपर बड़े-बड़े पुल बाँध देता है, उनके प्रवाहको बदल देता है, स्थलोंमें जल एवं जलमें स्थल बना देता है। फिर भी त्रिचिन्न सृष्टिमें कितने ही प्राणी मनुष्यसे भी कहीं अधिक बलवान् होते हैं। गृध्रकी दृष्टि और हिरणोंके दौड़के सामने मनुष्यकी शक्ति कमजोर है। बड़े बड़े वैज्ञानिक, बलवान्, बुद्धिमान् भी महाशक्तिमान् सर्वजके सामने कुछ नहीं हैं। बड़े-बड़े बलवान् अन्तमें अपने-आपको प्राकृतिक शक्तियोंके सामने नगण्य पाते हैं। वस्तुतः निश्चयके आधारपर आशा होती है और आशाके आधारपर ही प्राणीकी प्रवृत्ति होती है।

कहा जाता है, 'ज्यालोजी (भूगर्भशास्त्र) ने पता लगाया है कि अमुक चट्टाने किस प्रकार और कब बनीं ? हिमालय-जैसा महान् पर्वत भी कभी-न-कभी उत्पन्न हुआ है। एक-एक वस्तु दूसरेकी अपेक्षानयी है। वृक्षका फूल पत्तेसे नया है। पत्ता भी जड़से नया और जड़ भी उस मिट्टीकी अपेक्षा नयी है, जिसपर जड़ उत्पन्न हुई। कहा जाता है 'पृथ्वी' एक आगका गोला थी। जैसे अङ्गारोंपर ठंडा होनेके समय सिकुड़न पड़ जाती है, उसी प्रकार पृथ्वीका गोला जब ठंडा होने लगा तो उसमें सिकुड़न पड़ गयी। ऊँचे स्थान पहाड़ हो गये, नीचे समुद्र बन गये। बहुत पदार्थोंकी उत्पत्ति हम देखते हैं। बहुतोका हम विश्लेषण कर सकते हैं। वे इन्द्रियों जिनसे ज्ञान प्राप्त किया जाता है और वे पदार्थ जिनका ज्ञान प्राप्त किया जाता है, दोनों ही कार्य हैं। जिन-जिन वस्तुओका विश्लेषण हो सकता है, वह कार्य समझा जाता है। जिनका विश्लेषण या विभाजन नहीं हो सकता वे ही परमाणु हैं। आजकल यद्यपि कहा जाता है कि परमाणुका विभाजन वैज्ञानिक कर लेते हैं। परंतु जब परमाणुकी यही परिभाषा है, तब तो जिसका विश्लेषण हो सकता है, वह परमाणु है ही नहीं। जो लोग परमाणु न मानकर केवल शक्ति ही मानते हैं, उन्हें भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि शक्ति कभी वर्तमान जगत्के रूपमें परिणत हुई है। चाहे परमाणुओसे, चाहे शक्तिसे, चाहे प्रकृतिसे, चाहे ब्रह्मसे जगत्की सृष्टि हुई और उस सृष्टिमें क्रम भी मान्य होने चाहिये। यह नहीं कि पहले फल हुआ फिर फूल हुआ। मालीको यह नियम मालूम होता है कि पहले अङ्कुर, फिर नाल, स्कन्ध, गाखा, उपगाखा, पल्लव, पुष्प, फलका आविर्भाव होता है। इसी तरह निम्बके बीज एव आमकी गुठलीसे तथा अन्यान्य विभिन्न बीजोसे विभिन्न ढगके अङ्कुरादि उत्पन्न होते हैं। निम्बका बीज बोनेसे आमका फल नहीं लगता, यह नियम भी लोगोंको ज्ञात है। इसी तरह गेहूँ बोनेसे चनेकी उत्पत्ति नहीं होती। मनुष्य तथा प्राणियोंकी भी वृद्धिका नियम है। जैशव, यौवन, वार्धक्य अवस्थाएँ क्रमेण आती हैं। चिकित्सक चिकित्सालयोमें शारीरिक नियमोके आधारपर ही चिकित्सा करते हैं। पहाड़ एवं पहाड़ी नदियोका निर्माण कैसे होता है, इनका किस ओर क्यों प्रवाह है, आदिके सम्बन्धमें भूगर्भके विद्वानोका भी भूगर्भ-सम्बन्धी नियम प्रसिद्ध है। मनोविज्ञानकी जटिलता और भी विलक्षण है। यद्यपि मनकी गति बड़ी विलक्षण होती है, फिर भी मनोविज्ञानके नियम हैं ही। इसी तरह सभी शास्त्रोंके नियम हैं। इस तरह सृष्टिकी नियमबद्धता दिखायी देती है। इन नियमोका विधायक और पालक कोई मान्य होना चाहिये। नियमकी दृष्टिसे सृष्टिमें एकता है।

हर एक नियमका प्रयोजन भी होता है। लड़कोका प्रतिदिन एक साथ विद्यालयमें जानेका नियम व्यर्थ नहीं होता। प्रयोजन ही कार्यको सार्थक बनाता है। संसारकी सभी वस्तुओ एवं घटनाओसे किसी विशेष प्रयोजनकी सूचना मिलती

मार्क्स और ईश्वर

है। भले ही प्रयोजन समयमें न आये, परंतु है अवश्य। एक मशीनमें हजारों पुर्जे होते हैं, कोई छोटा, कोई बड़ा, कोई गोला, कोई टेंटा—इनमें परस्पर पर्याप्त भिन्नता है, परंतु बनानेवालेका उद्देश्य कार्यसिद्धि ही है। कपड़ा बुनना, आटा पीसना, पुस्तक छापना आदि इसी प्रयोजनसे प्रेरित होकर वैज्ञानिकोंने भिन्न-भिन्न पुर्जोंको बनाकर फिर सबको इस प्रकार मिलाया कि जिससे कार्यकी सिद्धि हो। पुर्जे न तो सब बराबर हैं, न एक से हैं, न सबके साथ एक से जुड़े हुए हैं। सब असमान होते हुए भी एक उद्देश्यपूर्तिके लिये जुड़े हुए हैं। उनमें बहुत-से कल-पुर्जे छोटे एवं भटे हैं। उनके स्थानपर अच्छे एवं सुन्दर पुर्जे हो सकते हैं, परंतु कल चलानेमें जिसका उपयोग नहीं, वह कितना भी सुन्दर हो, व्यर्थ ही है। इसी तरह जगत् एक महाप्रयोजनके लिये निर्मित है। इसकी छोटी-से-छोटी वस्तुएँ एवं घटनाएँ भी निष्प्रयोजन नहीं हैं। राबर्ट फ्रिस्के अनुसार जिस मण्डलका हमारी पृथ्वी एक अवयवमात्र है, वह अति विगल, विचित्र तथा नियमित है। जिन ग्रहों, उपग्रहोंसे इसका निर्माण है उनका भी परिमाण बहुत विस्तृत है। हमारी पृथ्वी ही सूर्य-चन्द्र आदिसे इस प्रकार सम्बन्धित है कि बीज बोने, खेत काटनेके समयोंमें बाधा नहीं पड़ती। समुद्रके ज्वारभाटे कभी हमें घोखा नहीं देते। करोड़ों मण्डलोंमेंसे सूर्यमण्डल एक है। बहुत-से तो इससे असंख्यगुने बड़े हैं। फिर ये करोड़ों, अरबों सूर्य एवं तारागण जो आकाशमें बिखरे हैं, परस्पर एक-दूसरेसे ऐसे सम्बद्ध तथा गणितके गूढ़तम नियमोंके इतने अनुकूल हैं कि उनसे प्रत्येककी रक्षा होती है और प्रत्येक स्थानमें साम्य तथा सौन्दर्य दिखायी देता है। प्रत्येक ग्रह दूसरेके मार्गपर प्रभाव डालना है। प्रत्येक कोई-न-कोई ऐसा कार्य कर रहा है, जिसके बिना न केवल वही किंतु समस्त मण्डल नष्ट हो सकना था। यह समस्त मण्डल बड़ी विलक्षणतासे बना हुआ है। जो घटनाएँ देखनेमें भयानक और विघ्नरूप प्रतीत होती हैं, वे वस्तुतः उसे नष्ट होनेसे रोकती एवं विश्वकी दृढ़ताका साधक होती हैं। क्योंकि वे परस्पर अपनी शक्तियोंका इस प्रकार व्यय करती हैं कि एक नियत समयमें उनमें सहयोग हो जाता है। यह सहयोग ही विशाल जगत्के विशाल प्रयोजनका परिचायक है।

एक छोटा-सा पुष्प जहाँ मनुष्योंकी आँखोंको तृप्त करता है, उसका सुगन्ध प्राणोंको आनन्द देता है, वैद्य लोग उसका औषधमें भी प्रयोग करते हैं, चित्रकार उससे चित्रकारी सीखते हैं, रंगरेज रंग निकालते हैं, कवि काव्यमें उससे सहायता लेते हैं। भ्रमर उसका रसास्वादन करता है, गृहदकी मक्खियाँ उसमें शहद निकालती हैं, तितलियाँ उन फूलोंपर बैठकर अलग आनन्द लेती हैं। उसके बहुत-से ऐसे भी प्रयोजन हैं, जिन्हें मनुष्य नहीं जानता। इतना प्रयोजन मित्र करके भी ऋक्षकी सततिरक्षाके लिये वह बीज उगाता है। यह एक छोटे-से फूलका कार्य है।

इसी प्रकार ससारकी सभी वस्तुओंके अनेक विशाल प्रयोजन हैं। संसार कितना विशाल है ? समुद्र, पहाड़, पृथ्वी—पृथ्वीसे बहुत बड़ा सूर्य, और फिर करोड़ों सूर्य, अरबों तारे वेदान्तमतानुसार पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशादि—सब उत्तरोत्तर एक दूसरेसे दस-दस गुने बड़े हैं। फिर ऐसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड मायाके एक अंशमें हैं। वह माया भगवान्के एक अंशमें ऐसी प्रतीत होती है, जैसे महाकागके एक प्रदेशमें बादलका छोटा-सा टुकड़ा।

स्थूलताके साथ ही ससारमे सूक्ष्मताका भी अत्यन्त महत्त्व है। जो जल आज बर्फ या नीलमणिके रूपमें स्थूलरूपसे उपलब्ध हो रहा है, वही कभी बादल और उससे भी पहले सूर्यकी रश्मियोमे था। सूर्य-रश्मिका वह नगण्य कण जिसे परमाणु कहा जा सकता है, उसका एक पॉंचवॉ हिस्सा स्पर्शतन्मात्रा था। उसके अल्पांशमें वायु और वायुके अल्पांशमें प्राण, प्राणके अल्पांशमें मन और मनमे ब्रह्माण्ड था। फिर ब्रह्माण्डके भीतर अनन्तकोटि प्राणी और मन थे, उन मनोमें फिर भी उसी तरह ब्रह्माण्डकी सत्ता थी। इस तरह एक सूक्ष्म वटबीज-कणिकामे महान् वटवृक्षका अस्तित्व और उस वटवृक्षमें अपरिगणित बीज-कणिका और उन कणिकाओमे अनन्त वटवृक्षका अस्तित्व एक साधारणसी बात जँचने लगती है।

इसी तरह विश्वके छोटे-छोटे नियमोंको देखते हैं, तो नियमोंका समूह उसी ढंगसे एक विशाल नियम बन जाते हैं, जैसे छोटे-छोटे कणोंका समूह एक पहाड़। समुद्र भी जलकणोंका समुदाय ही है। यद्यपि मनुष्यकृत वस्तुओंमें भी बड़ी-बड़ी विलक्षणता दिखायी देती है। बड़े-बड़े विशालकाय पुल, दुर्ग, बाँध चकित कर देते हैं। विद्युत्के विचित्र चाकचिक्य चन्द्र-सूर्यसे होड करते हैं। वायुयानका चमत्कार भी कुछ ऐसा ही है। फिर भी यह सब स्वाभाविक ईश्वरीय वस्तुओंका एक छोटा-सा अनुकरणमात्र है। कितना भी बड़ा विशाल एवं नियमबद्ध ससार कार्य ही है, इसकी कभी-न-कभी सृष्टि हुई है, यह मानना पड़ता है। किसी भी कार्यके लिये उपादान, निमित्त एवं साधारण कारण अवश्य होते हैं। जैसे एक घटका मिट्टी उपादान, कुलाल निमित्त एवं देशकाल आदि साधारण कारण होते हैं। साधारण भी क्रिया छोटी-छोटी अनेक क्रियाओंका समुदाय ही होती है। एक घट-निर्माणरूप क्रियामें कितनी ही चेष्टाओंका समुदाय है। संसारके अनन्त क्रिया-जालोंमें बहुत-सी क्रियाएँ मनुष्यकृत होती हैं, जैसे घट, पट, मठ आदिका बनाना, रोना, हँसना, चलना आदि। जब घटका निर्माण मनुष्यद्वारा प्रत्यक्ष देखते हैं, तो किसी भी घटको देखकर उसका निर्माता कोई मनुष्य होगा, यह अनुमान कर लिया जाता है। इसी तरह किसी भी कार्यको देखकर उसके कर्ताका अनुमान होना स्वाभाविक है। बहुत-से कार्य हैं जिनका मनुष्यद्वारा निर्माण सम्भव नहीं,

जैसे वृक्षका उगना, सूर्यका निकलना, भूकम्पका आना आदि। यह सभी क्रियाएँ हैं, इनका भी कोई कर्ता होना आवश्यक है। नास्तिक मेजका बनाने-वाला बढई तो अवश्य मानता है, परंतु वृक्षो, पहाड़ोंको बनानेवाला कर्ता आवश्यक नहीं मानता। लोटेका बनानेवाला ठठेरा जरूरी है परंतु नदी, समुद्रके लिये कर्ता आवश्यक नहीं। ससारकी सभी क्रियाएँ दो ही प्रकारकी हैं। एक प्राणिकृत, दूसरी अप्राणिकृत। सिद्धकोटिकी वस्तुएँ दृष्टान्तकोटिमें आती हैं, साध्यकोटिकी नहीं। दृष्टान्त वही होता है, जो दोनो पक्षोंको मान्य होता है। सूर्य, चन्द्र, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी आदि साव्यव होनेसे कार्य हैं। आस्तिक कह सकता है कि जैसे मेज आदि कर्तासे निर्मित होते हैं, वैसे ही कार्य होनेसे सूर्य आदि भी किसी (ईश्वर) कर्तासे निर्मित हैं। यहाँ मेजका दृष्टान्त आस्तिक-नास्तिक दोनोको ही मान्य है। नास्तिक कहता है कि चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी आदिके कर्ता आवश्यक नहीं हैं, जैसे नदी बहनेके लिये कोई कर्ता आवश्यक नहीं होता। परंतु नास्तिकका दृष्टान्त सिद्धकोटिमें नहीं है; किंतु साध्यकोटिमें है। आस्तिकके लिये नदीका बहना, सूर्यका निकलना — दोनों ही एक कोटिमें हैं। जैसे सूर्य, चन्द्र आदिका उगना ईश्वरप्रेरणापूर्वक होता है, उसी तरह नदीका बहना भी ईश्वरकृत ही है। चार्वाकमतानुयायी कहते हैं कि 'अविनाभावसम्बन्ध दुर्जेय होता है' अतः अनुमानादि प्रमाण मान्य नहीं हैं। धूमादि ज्ञानके अनन्तर जो अग्न्यादिमें प्रवृत्ति होती है, वह प्रत्यक्षमूलक है अथवा भ्रान्तिसे ही समझनी चाहिये। क्योंकि जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है—यह जानना दुष्कर है, क्योंकि सर्वदेश, सर्वकालके धूम-वह्निका जिसे ज्ञान हो, वही ऐसी बात कह सकता है। परंतु किसी भी मनुष्यको सर्वदेश-कालके धूम और वह्निका ज्ञान होता ही नहीं। फिर वह कैसे कह सकता है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ वह्नि होता है। कतिपय स्थलमें तो यह देखा गया है कि जहाँ-जहाँ वह्नि है, वहाँ-वहाँ धूम होता है, पर अग्नितप्त लौहपिण्डमें व्यभिचार दीखनेसे व्यभिचार निश्चित हो जाता है। परंतु चार्वाकका यह कहना भी तभी सम्भव होता है जब कि अनुमानादि प्रमाण मान्य हो, क्योंकि प्रत्यक्षसे भिन्न अनुमानादि प्रमाण नहीं हैं, यह कहना भी अज्ञ, सदिग्ध, विपर्यस्त तथा जिज्ञासुके प्रति ही उचित है। जिस किसीके प्रति वचन प्रयोगको पागलपनका ही परिणाम समझा जाता है। दूसरोका अज्ञान, संशय, भ्रान्ति या जिज्ञासा दूसरेको प्रत्यक्ष प्रमाणसे कभी भी विदित नहीं हो सकती। अतः उनके वचनों, मुत्ताकृति या व्यवहारसे अन्यके संशय अज्ञान आदिका अनुमानादिसे बोध होता है तथा अज्ञान-संशयादि मिटानेके लिये वचनप्रयोग सार्थक होता है।

चार्वाक अङ्गनालिङ्गनजन्य सुखको पुरुषार्थ कहता है। इससे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सुख और स्तीगमनका अविनाभाव सम्बन्ध है। यदि स्तीगमन

और सुखका अविनाभाव सम्बन्ध न हो तो उस सुखको पुरुषार्थ कैसे कहा जा सकता है ? इसी प्रकार क्षुधा-निवृत्तिके लिये नियमतः भोजनमें प्रवृत्ति भी सिद्ध करती है कि प्राणी अनुमान-प्रमाण मानकर ही क्षुधा-निवृत्तिके लिये भोजन-निर्माणमें संलग्न होता है । उसी प्रकार कृषि, व्यापार आदि सभी कार्योंमें अनुमानिक कार्यकारणभावका निश्चय करके ही प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है । बिना अनुमान-प्रमाण अङ्गीकार किये आस्तिक, नास्तिक, चार्वाक ही क्या—पशुतककी भी कोई प्रवृत्ति नहीं हो सकती । पूर्वकी प्रवृत्तियोंसे लाभ देखकर तादृश प्रवृत्तियोंसे लाभका अनुमान करके ही प्राणी प्रवृत्त होता है । अनुमान बिना माने प्रत्यक्ष भी व्यर्थ हो जाता है । अनुमानके आधारपर अप्राणिकृत कार्योंका भी कोई कर्ता अवश्य सिद्ध होता है । कारण, सिद्धकोटिके जितने भी दृष्टान्त हैं, सभी कर्तापूर्वक ही हैं । अतः जैसे प्राणिकृत क्रिया कर्तासे होती है, वैसे ही अप्राणिकृत क्रिया भी कर्तासे ही सिद्ध होती है । प्राणिकृत, अप्राणिकृत क्रियासे भिन्न कोई क्रिया है ही नहीं । यदि बिना घड़ीसाजके घड़ी नहीं बन सकती, बिना बढईके मेज नहीं बन सकती तो यह भी मानना ही चाहिये कि बिना चेतनसत्ताके चन्द्र, सूर्य, पहाड़, नदियाँ आदि भी नहीं बन सकतीं ।

कई लोग 'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्'—पृथ्वी, वृक्ष आदि सकर्तृक हैं, कार्य होनेसे घटादिके तुल्य—इस अनुमानमें शरीरजन्यत्वरूप उपाधि दोष बतलाते हैं । अर्थात् जहाँ-जहाँ शरीरजन्यता होती है, वहाँ-वहाँ सकर्तृकता होती है । घटादि शरीरजन्य हैं, अतः सकर्तृक हैं; परन्तु कार्यत्व तो पृथ्वी-अङ्कुरादिमें भी होता है, पर वहाँ शरीरजन्यता नहीं है । साध्य-व्यापक, साधनाव्यापक धर्मको ही उपाधि कहा जाता है । इस तरह उनके मतानुसार कार्यत्वेहेतु सोपाधिक होनेसे साध्यसिद्धिमें समर्थ नहीं होगा । परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि उपाधिके द्वारा या तो व्याप्ति-व्यभिचारका अनुमान होता है या पक्षमें उपाध्यभावसे साध्याभावका अनुमान होता है । तभी प्रकृत अनुमान दूषित समझा जाता है । इस तरह यहाँपर शरीराजन्यत्वरूप उपाध्यभावसे सकर्तृकत्वाभावका अनुमान करना पड़ेगा । परन्तु उसमें गरीर विशेषण व्यर्थ होगा । जब अजन्यत्वमात्रसे सकर्तृकत्वाभाव सिद्ध होता है तो शरीर विशेषण व्यर्थ ही है । पृथ्वी, वृक्ष आदिमें शरीराजन्यता होनेपर भी अजन्यता नहीं है । अतः अजन्यता न होनेसे सकर्तृकत्वाभाव नहीं सिद्ध हो सकता । सुतरां कार्यत्वरूप हेतुसे पृथ्वी-वृक्षादिमें सकर्तृकत्व-सिद्धि निर्वाध है ।

कई लोग पौर्वापर्यको ही कार्य-कारणभावके स्थानपर बिठलाते हैं । उनके अनुसार सदा पूर्वमें रहनेवाला कारण और सदा पश्चात् होनेवाला कार्य है; परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि अन्धकार सदा सूर्योदयके पूर्व होता है, तो भी अन्धकार सूर्योदयका

कारण नहीं माना जाता, रविवारसे पूर्व सदा शनिवार रहता है, फिर भी वह रविवारका कारण नहीं होता । कार्य कारणसे पीछे होता है, इतना ही नहीं, किंतु कारणके द्वारा होता है । तर्कसंग्रहकारकी दृष्टिसे उपादानगोचरापरोक्ष ज्ञान, चिकीर्षा एव कृतिवाला चेतन ही कर्ता होता है, जैसे घटका निमित्तकारण कुलाल है, वही घटका कर्ता है । उसे घटके उपादानकारण मृत्तिकाका अपरोक्षनिवृत्तम ज्ञान है, उसकी चिकीर्षा है, घटनिर्माणकी इच्छा है और उसमें घट बनानेका प्रयत्न है । बिना ज्ञानके इच्छा और बिना इच्छाके कृति नहीं हो सकती । इस तरह 'जानाति इच्छति अथ करोति' किसी चीजको प्राणी पहले जानता है, फिर इच्छा करता है और फिर तद्विषयक प्रयत्न करता है । इस तरह ज्ञान, इच्छा और कृति जहाँ होती है, वही कर्ता होता है । अतः भले ही घटसे मिट्टी गिरती हो फिर भी वह मिट्टी गिरनेका कारण नहीं समझा जाता । प्रत्येक कार्यको कर्ताकी अपेक्षा होती है, ये नियम सभीके मस्तिष्कपर शासन करते हैं । अतः जहाँ किसी कार्यमें प्रत्यक्ष ज्ञान एव इच्छाका सम्बन्ध नहीं दिखायी पड़ता वहाँ प्राणी अदृष्ट इच्छाशक्तिकी कल्पना करता है । किसी पुल या किलाको देखकर प्राणी यह अवश्य सोचता है कि किसीने अपनी ज्ञानेच्छा तथा कृतिसे इसे बनाया है । इसी तरह एक प्रफुल्लित कमलको भी देखकर बुद्धिमान् अवश्य सोचता है कि यह इतनी सुन्दर वस्तु बिना किसीकी इच्छा-कृतिके कैसे सम्पन्न हो सकती है ? बिना कारणके कोई कार्य नहीं होता, इस दृष्टिका सृष्टिसे भी कारण होना अनिवार्य है । अतः सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी ज्ञानेच्छा-कृतिसे ही सृष्टिभी रचना उचित है । कई लोग सृष्टिको आकस्मिक कहते हैं, परंतु वस्तुतः बिना हेतुके कोई भी घटना कभी हो ही नहीं सकती । यदि विभिन्न शक्तियोंद्वारा होनेवाले कार्योंके आकस्मिक सम्बन्धमात्रको आकस्मिक कहा जाय, जैसा कि काकतालीयन्याय कहलाता है (काकका घृक्षपर बैठना—काकके प्रयत्नका फल है, तालफलका पतन अपने कारणोंसे सम्पन्न हुआ, परंतु दोनोंका मेल आकस्मिक हो गया) तो इस पक्षमें निहंतुक कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता, भले सृष्टिकी विभिन्न घटनाओंका मेल कभी आकस्मिक भी हो तो भी सृष्टिका कोई कार्य निहंतुक नहीं सिद्ध होता ।

वस्तुतस्तु मनसे भी अचिन्त्य रत्नारूप संसारका निर्माण सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् चेतन कर्ताके बिना उपपन्न नहीं हो सकता और उस सर्वज्ञका कोई भी कार्य असम्बद्ध नहीं कहा जा सकता । कुछ लोग स्वयम्भू प्रकृति या उसके परमाणुओंके ही विश्वका निर्माण मानते हैं, किंतु सर्वज्ञ ईश्वरकी शक्ति, इच्छा एव कृतिके बिना प्रकृति या परमाणुसे संसारका निर्माण कैसे हो सकता है ? बिना बुद्धि-प्रबन्धके परमाणु अपने-आप इतने विलक्षण संसारको बना सकते हैं, इससे बटकर युक्तिशून्य कोई बात हो नहीं सकती । किसी नास्तिक पितासे जन्म आन्तिक पुत्रने

कहा कि जो ससारको बनानेवाला है, वही परमेश्वर है । तो पिताने कहा कि परमाणुओके अपने आप ही एकत्रित हो जानेसे संसार बन जाता है । इसके लिये कोई सर्वज्ञ ईश्वर क्यों माना जाय ? दूसरे दिन पुत्रने बहुत सुन्दर हस्ती, अश्व, शुक, पिक, मयूरोके चित्र बनाकर उसके सामने कुछ विभिन्न रङ्गकी पेन्सिले रख दी । जब पिताने चित्रोका निर्माता पूछा तो पुत्रने कहा कि इन्हीं पेन्सिलोके परमाणु उड़-उड़कर कागजपर एकत्रित हो गये, उन्हींसे ये चित्र बन गये । पर पिताने इसे स्वीकार नहीं किया । तब पितासे पुत्रने कहा कि यदि परमाणुओके उड़-उड़कर एकत्रित हो जानेपर ऐसे चित्र भी नहीं बन सकते तो चन्द्रमण्डल और सूर्य-मण्डल, भूधर, सागर, मनुष्य, पशु आदि विलक्षण वस्तुएँ बुद्धिके सहयोग बिना केवल परमाणुओसे कैसे बन सकती है ? अतएव ऐसे-ऐसे अनुमान ईश्वर-सिद्धिमें उपस्थित किये जा सकते हैं ।

(१) ससारका व्यवस्थित रूप देखकर अनुमान किया जा सकता है कि जगत्की व्यवस्था प्रशास्तृपूर्विका है, व्यवस्था होनेके कारण, राज्य-व्यवस्थाके समान ।

(२) लोकोपकारी सूर्य-चन्द्रादिका निर्माण किसी विशिष्ट विज्ञानवान्के द्वारा ही हो सकता है । यद्यपि आजकल लोग सूर्य-चन्द्रादिको ईश्वरनिर्मित न मानकर स्वतःसिद्ध या प्रकृतिनिर्मित मानते हैं; परंतु यह असङ्गत है, क्योंकि दीपकादि बुद्धिमान् चेतनद्वारा ही बनाये जाते हैं । यह दृष्टान्त वादी-प्रतिवादी उभय-सम्मत है, परंतु कोई वस्तु स्वतःसिद्ध है—इसमें उभय-सम्मत कोई दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि ईश्वरवादी सभी पदार्थोंको ईश्वरकर्तृक मानता है । प्रकृति भी जड़ होनेसे स्वतन्त्रकर्त्री नहीं हो सकती । अतः सूर्य, चन्द्र किसी विशिष्ट विज्ञानवान्के द्वारा निर्मित हैं, प्रकाश होनेके कारण, प्रदीपके समान । जैसे व्यवहारके लिये दीपक होता है, वैसे ही सूर्य-चन्द्रादि भी व्यवहारोपयोगी हैं ।

(३) सूर्य-चन्द्रकी विशिष्ट चेष्टा देखकर भी इसी तरह उनके नियन्ताका अनुमान होता है—‘सूर्य-चन्द्र नियन्तृपूर्वक हैं, विशिष्ट चेष्टावाले होनेके कारण, भृत्यादिके समान । जैसे भृत्यकी नियमित प्रवृत्ति होती है, वैसे ही सूर्य-चन्द्रादिकी भी नियमित प्रवृत्ति होती है ।’ उपर्युक्त अनुमानसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरसे नियन्त्रित होनेके कारण ही सूर्य-चन्द्र स्वयं ईश्वर और स्वतन्त्र होते हुए भी उदयास्तमय एव वृद्धि-क्षयसे युक्त होकर प्रकाशादिकार्यमें संलग्न रहते हैं ।

(४) पृथिवीके विधारकके रूपमें भी प्रयत्नवान् ईश्वरकी सिद्धि होती है । विवादास्पद पृथिवी प्रयत्नवान्के द्वारा विधृत है, सावयव, गुरु, संयुक्त होनेपर भी अस्फुटित, अपतित, अवियुक्त होनेके कारण, हस्तन्यस्त पापाणादिके समान ।

यदि किसी चेतनमे धारण न हो तो उसमें पतन स्फुटन होना अनिवार्य होता, बिना किसी धारकके कोई भी गुरु पदार्थ टिक नहीं सकता। परन्तु सार्वभौमिकता भी स्थिति असम्भव है, क्योंकि स्थिति और जति अन्वोन्वाश्रित नहीं होती।

कहा जाता है, मानवी मन्त्रिष्कर्ता सहायता बिना भी यदि कोई अग्रेजी भाषाके अक्षरोंको उछालता रहे तो कभी श्रेयस्पीयरका नाटक निमित्त हो सकता है। यदि थोड़ी देरके लिये यह मान भी लिया जाय तो भी मन्त्राके विवक्षित प्रश्नका विधान बिना सर्वज्ञ बुद्धिके नहीं हो सकता। भले ही किन्हीं अक्षरोंको अनन्त बार उछालो, परन्तु उनके द्वारा विचार व्यक्त हो सकता असम्भव ही है। विचार व्यक्त करनेकी बात तो दूर रही, सही सही एक पक्षिका भी निर्माण असम्भव है। फिर अक्षरोंको उछालनेवाला भी कोई चेतन ही होता है। फिर बिना चेतनके जड़-परमाणुओंसे विश्वका निर्माण कर्तव्य सम्भव है? फिर क्या आज तक कोई अक्षरोंको उछाल-उछालकर किसी छोट-मे ग्रन्थका भी निर्माण कर सका? मन्त्रमें रोंटी बनानेसे लेकर मकान, पुल, दुर्ग आदिका निर्माण बिना बुद्धिके अपने-आप ही डंट, चूना, पत्थर, लोहा-लकड़ आदि कर लेते हैं, यह नहीं देखा जाता। फिर अकस्मात् ही परमाणुओंके द्वारा मन्त्राका निर्माण और अकस्मात् ही परमाणुओंका निष्क्रिय हो जाना या ससारका नष्ट हो जाना आदि कैसे नग्न होगा? फिर यदि परमाणुके बिना सर्वज्ञ चेतनके प्रयत्नसे अपने आप ही सूर्य, समुद्र, नदी, पर्वत बन सकते हैं, तब अन्य उपयोगके दुर्ग, पुल, गृहादिका निर्माण भी उसी तरह क्यों नहीं होता? तदर्थ मनुष्योंको प्रयत्न क्यों करना पड़ता है? यदि पहाड़ अकस्मात् बन सकता है, तब कोई पुल या किला अपने-आप क्यों नहीं बन सकता? स्वभाववादी स्वभावसे ही सृष्टिका निर्माण मानता है, परन्तु स्वभाव यदि शक्तिशाली कोई चेतन है तब तो नाममात्रका ही भेद हुआ। यदि सृष्टि नियममे ही ससारका निर्माण माना जाय तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि नियमके निर्माता प्रयोक्ता बिना नियम अकिञ्चित्कर ही होता है। भृगुर्भूतस्ववेत्ता पुरानी वस्तुओंको देखकर बुद्धिमानोंकी कारीगरीका अनुमान करते हैं। महेन्द्रोदयो, हरपाकी खुदाईमें मिलनेवाली वस्तुओंके आधारपर सभ्यताकी कल्पना की जाती है। यदि सब वस्तुएँ स्वभावमे ही बनती हैं, तब उन कल्पनाओंका कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

वस्तुतः किसी प्रकारके नियम ही सिद्ध करते हैं कि कोई समझदार पूर्वा परदर्शी बुद्धिमान् ही नियम बनाता है और वही नियामक भी है। नियामक बिना नियमोंका कुछ मूल्य भी नहीं होता। अतः नियमोंके रहते हुए भी भानयुक्त उपयुक्त चुनावमे ही सुप्रबन्ध होता है। मिट्टी जलारिमे घट बननेका नियम है मर्यादा पर नियम जो कि कुम्भकार नियमोंके अनुसार कार्य नहीं करता तब तब घट-निर्माण

असम्भव ही है। धरणि, अनिल, जलके संयोगसे बीजोके अङ्कुरित होनेका नियम है तथापि जबतक किसान उन नियमोंका प्रयोग करके काम नहीं करेगा तबतक गेहूँ-यवादिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। पृथ्वीकी आकर्षणशक्ति भले ही प्रत्येक परमाणुपर शासन करती रहे तथापि सहयोग एवं सुदृढताके साथ प्रबन्ध बिना उसका कोई भी सदुपयोग नहीं हो सकता।

आस्तिकोंका कहना है कि जिसने हंसके अङ्गमें शुक्लरङ्गका निर्माण किया, शुक्लके अङ्गका हरा रंग बनाया, मयूरोको चित्रित किया और फूलोंपर बैठनेवाली तितलियो-को चमकीली साड़ी बनाकर पहनाया—वही ईश्वर है। वही सबको वृत्ति देता है—

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः ।

मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्ति विधास्यति ॥

(हितोपदेश १ । १७९)

परंतु स्वभाववादियोका कहना है कि—

शिखिनश्चित्रयेत्को वा कोकिलान् कः प्रकूजयेत् ।

स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम् ॥ (चार्वाकदर्शन)

‘मयूरोको कौन चित्रित करता है ? कोकिलोको कौन मधुरालाप सिखाता है ? जैसे अग्निमें उष्णता, जलमें शीतलता, वायुमें वहनशीलता स्वभावसे ही होती है, उसी तरह स्वभावसे ही शुक्ल, हंसादिके रंग तथा मयूरादिका चित्रण होता है।’ परंतु यह कहना ठीक नहीं कि यदि परमाणुओंका स्वभाव सृष्टिरचना है, तब कभी सृष्टि-विघटन नहीं होना चाहिये। यदि कहा जाय कि किन्हींका स्वभाव मिलनेका है, किन्हींका विघटनका है, तो भी जैसे परमाणुओका बाहुल्य होगा, तदनुकूल ही काम भी होगा। परंतु जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय भी यथा-समय होता है। यह सब बिना सर्वश सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके नहीं हो सकता। स्वभाव यदि असत् है, तो उसमें कार्यकरणश्रमता नहीं हो सकती। यदि सत् है तो भी चेतन है या अचेतन। यदि चेतन है तो नामान्तरसे ईश्वर ही हुआ। यदि अचेतन है तो उसमें भी विलक्षण कार्यकारिता नहीं हो सकती। अचेतन वस्तु स्वतः कोई कार्य नहीं कर सकती। यदि चेतनके सहारे कोई कार्य कर सके तो भी एक ही प्रकारका कार्य कर सकेगी। चेतनमें ही यह स्वतन्त्रता होती है कि वह कार्य करे, न करे, अन्यथा करे। कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु जो समर्थ होता है वही कर्ता होता है। घड़ीकी सूई स्वयं नहीं चल सकती। जब चेतन घड़ीसाजके प्रयत्नसे सूई चलती है तो वैसे ही चलनी रहती है। सूइयोंको यदि पीछे चलाना होता है तो फिर किसी मनुष्यकी अपेक्षा पड़ती है। घड़ी या सूई स्वयं आगे-पीछे चलने, न चलने, दब होने और फिर चल पड़नेमें स्वतन्त्र नहीं। संसारमें भिन्न-भिन्न स्त्रभात्रकी भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। परंतु वे सब अपने-आप स्वभावतः भिन्न

पदार्थोंका निर्माण नहीं करते। अग्नि, लकड़ी, पानी, चीनी, आटा, घी-मिर्च आदि भिन्न-भिन्न पदार्थ भिन्न स्वभावके हैं। सब मिलकर स्वयं पकान्न नहीं बना सकते। वहाँ किसी चेतनकी अपेक्षा होती है। इसी तरह बिना किसी सर्वज्ञ चेतनके नारंगी, सतरे तथा आम्रका फल, गुलाबका मनोरम पुष्प अवश्य पञ्च-भूतोंका ही परिणाम है। फिर भी अपने आप पृथ्वी, जल, तेज मिलकर ऊँचे पुष्प या फलके रूपमें स्वयं परिणत हो जाते हों, यह न देखा ही जाता है न सम्भव ही है। किंतु कोई कार्य प्राणियोंद्वारा सम्पन्न होते हैं तो कोई सर्वज्ञ चेतन ईश्वरके द्वारा। विज्ञानके अनुसार 'स्वाभाविक शक्तियोंके द्वारा प्रपञ्च-निर्माणका आरम्भ या द्रव द्रव्यका गाढ़ा होकर पृथ्वी बनना आदि बिना किसी चेतनकी इच्छा और कृतिसे सम्भव नहीं हो सकता।' मान लिया, अग्नि और जल इजिनमें पहुँचकर अद्भुत काम करने लगते हैं, परंतु इजिन बनाकर उनमें डालकर भापद्वारा विभिन्न कार्य करनेका प्रवन्ध बिना चेतनके सम्भव नहीं होता। डार्विन, हक्सले, हेकल, लेमार्क आदिके विकाससम्बन्धी विचारपर इसकी पहलू पर्याप्त समालोचना हो चुकी है। आल्फ्रेड रसेलवालेस वैज्ञानिक डार्विनका एक मुख्य सहयोगी था। डार्विनके पश्चात् भी वह विकासवादका ही पोषक रहा। उसने अपने अर्ध शताब्दीके अन्वेषणके पश्चात् 'दि वर्ल्ड आफ लाइफ' पुस्तककी भूमिकामें लिखा है कि मैंने उन मौलिक नियमोंकी सरल तथा गम्भीर परीक्षा की है, जिनको डार्विनने अपने अधिकारके बाहर समझकर जान बूझकर अपने ग्रन्थोंमें नहीं लिखा। जीवन क्या है, उसके कौन-कौन कारण हैं और विशेषकर जीवनमें वृद्धि और सतानोत्पत्तिकी जो विचित्र शक्तियाँ हैं, उनका क्या कारण है? मैं यह परिणाम निकालता हूँ कि इन पक्षियों, कीड़ोंके रंग आदिसे पहले तो एक उत्पादक शक्तिका परिचय होता है, जिसने प्रकृतिको इस प्रकार बनाया कि जिससे आश्चर्यजनक घटनाएँ सम्भव होती हैं। दूसरे एक संचालक बुद्धि भी माटूम पड़ती है जो वृद्धिकी प्रत्येक अवस्थामें आवश्यक होती है। विकासवादी ग्रन्थोंसे भिन्न भिन्न पौदों और कीट पतंग आदिके शरीरोंकी बनावट उनके स्वभाव, उनकी रीतियों की जानकारी होती है। डार्विनके पुत्र प्रोफेसर जार्ज डार्विनने १६ अगस्त सन् १९०५ में कहा था कि जीवनका रहस्य अब भी उतना ही निगूढ़ है जितना कि पहले था। प्रो० पैट्रिक गेडीसने कहा है कि हम नहीं जानते कि मनुष्य कहाँसे आया, कैसे आया? यह मान लेना चाहिये कि मनुष्य-विकासके प्रमाण सदिग्ध हैं, साइंसमें उनके लिये कोई स्थान नहीं है। ९ जून १९०५ में विकासवादियोंके बाट विवादके सम्बन्धमें 'टाइम्स'ने लिखा था कि 'ऐसी गड़बड़ पहले कभी नहीं देखी गयी।' तमाशा यह कि लोग अपनेको विज्ञानका प्रतिनिधि बताते हैं। यद्यपि उन

कुछ भी शेष नहीं रहा । केवल युद्धक्षेत्रमें कुछ टुकड़े इधर-उधर बिखरे पड़े हैं ।

मनुष्यकी बदरसे उत्पत्तिके सम्बन्धमें सर जे० डबल्यू० डौसन कहते हैं—‘बदर और मनुष्यके बीचकी आकृतिका विज्ञानको कुछ पता नहीं है । मनुष्यकी प्राचीनतम अस्थियाँ भी मनुष्यकी सी हैं । इनसे उस विकासका कुछ भी पता नहीं लगता, जो मनुष्यशरीरके पहले हुआ है । प्रोफेसर औवेनका कहना है कि मनुष्य अपने प्रकारकी एकमात्र जाति है और अपनी जातिका एकमात्र प्रतिनिधि है । सिडनी कौलेटने अपनी पुस्तकमें लिखा है कि मनुष्य उन्नतिके बदले अवनतिकी ओर जा रहा है । सर जे० डबल्यू० डौसनने लिखा है कि ‘मनुष्यकी आदिम अवस्था सबसे उच्च थी’ । कुछ भी हो, साइंसके आधारपर एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी सत्ताका अपलाप नहीं हो सकता । संसारमें अनेक प्रकारके नियम उपलब्ध होते हैं । उन्हीका अनुसरण करके प्राणी अपना-अपना काम चलाते हैं । नियमोका निर्माता एवं पालक ईश्वर है । अन्य प्राणी नियमोके अनुचर हैं । जो वस्तुएँ बिना विज्ञानके ही नियमपराधीन हैं । परंतु चेतन उन नियमोको चुनकर उनके अनुसार काम करता है । जैसे खेतीका नियम पालन करनेसे गेहूँ, जौ पैदा किया जा सकता है । वायु-यान बनानेका नियम पालन करनेसे वायुयान बनाया जा सकता है; परंतु काष्ठादि नियमोका चुनाव नहीं कर सकते । नियमोका संचालन करनेवाली शक्ति ईश्वर ही है, उसका प्रभाव सृष्टिमें व्यापक है ।

नैयायिक, वैशेषिक आदि ईश्वरको निमित्तकारण मानते हैं । परंतु नैयायिक आदि तो जीवात्माओको भी व्यापक ही मानते हैं । आधुनिक कुछ लोग शङ्का करते हैं कि निमित्तकारण या कर्ता किसी कार्यमें व्यापक नहीं रहता । घड़ीसाज घड़ीमें व्यापक नहीं होता, मकान बनानेवाला मकानमें और कोट-पतलून बनानेवाला दर्जा कोट-पतलूनमें भी व्यापक नहीं होता; फिर यदि परमात्मा संसारका निमित्तकारण है तो वह सम्पूर्ण कार्यमें कैसे व्यापक हो सकता है ? उसका आधुनिक ढंगके लोग समाधान करते हैं कि लौकिक क्रियाओका कुलाल आदि निमित्त कारण अवश्य हैं, परंतु वह एक हदतक ही हैं, जैसे घड़ीसाजने घड़ी अवश्य बनाया, परंतु लोहेके परमाणुओंको जोड़कर रखना घड़ीसाजके हाथकी बात नहीं है । उसका निमित्तकारण ईश्वर ही होता है । संसारमें व्यापक अणु-अणु, परमाणु-परमाणु-की जो क्रियाएँ हैं, वे बहुत सूक्ष्म हैं । वे व्यापक ईश्वरके बिना उत्पन्न नहीं हो सकती । अतः ईश्वरको व्यापक मानना उचित ही है, परंतु वेदान्ती तो ईश्वरको ही अभिन्ननिमित्तोपादानकारण मानते हैं । सचमुच निमित्तकारणका कार्यमें व्यापक होना तर्कसंगत नहीं है । यदि निमित्तत्व व्यापकताका प्रयोजक हो तो कुलालादिमें भी व्यापकता होनी ही चाहिये, परंतु यह दृष्टविरुद्ध है । भले ही परमाणु, संयोग आदिमें कुलाल, घड़ीसाज आदि निमित्तकारण न हों फिर भी जिस कार्यमें जितने

अशमें जो निमित्तकारण हो उतने अगमें तो उसे उस कार्यमें व्यापक होना ही चाहिये । इसके अतिरिक्त निरवयव एव व्यापकमें क्या इलचल रूप क्रिया सम्भव हो सकती है ? यदि नहीं तो व्यापक ईश्वर किस तरह क्रियावान् हो सकेगा ? इस दृष्टिसे वेदान्तीका ही मत श्रेष्ठ है । मायाशक्तिद्वारा ही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर माया, परिणाम-संकल्पके द्वारा ही विश्वका निर्माता होता है । वही तमःप्रधाना प्रकृतिसे विशिष्ट होकर उपादान कारण भी है, अतः व्यापक है । यह भी कहा जाता है कि यदि ईश्वर व्यापक न होता तो उसे सम्राट् आदिके समान अन्य सत्ताओंसे काम लेना पड़ता और जैसे सम्राट्का कर्मचारियोंके मस्तिष्कपर जब नियन्त्रण नहीं होता तो वे कभी गड़बड़ भी करते हैं, इसी तरह ईश्वरके कर्मचारी भी ईश्वरकी इच्छाके विरुद्ध कार्य कर सकते हैं; किंतु ऐसा होता नहीं, अतः ईश्वर व्यापक है । सबपर उसका नियन्त्रण है । सब कार्य उसकी इच्छाके अनुसार ही होते हैं । परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि ईश्वरकी सत्तासे भिन्न जीवोंद्वारा अनेक कार्य होते हैं । भले ही ईश्वर सर्वान्तर्यामी हैं; फिर भी जीवोंको अपनी इच्छानुसार शुभाशुभ कर्म करनेकी स्वतन्त्रता है । तभी उन्हें अपने किये कर्मोंका फल भोगना पड़ता है । यदि जीव किसी अन्यके परवश होकर ही कर्म करते होते तो उन्हें उन कर्मोंका फल भोगनेके लिये बाध्य नहीं होना पड़ता । व्यापकताका मूल उपादानत्व ही है निमित्तत्व नहीं । जैसे मकड़ी जालका उपादान और निमित्त दोनों ही ही कारण है, उसी तरह ईश्वर ही प्रपञ्च-सृष्टिका उपादान और निमित्त दोनों ही कारण है ।

कुछ लोग कहते हैं कि 'वह ईश्वर निराकार ही हो सकता है, साकार नहीं । उनके अनुसार 'जिसे आँखसे देख सकते हैं, हाथसे छू सकते हैं, वह साकार है, जो ऐसा नहीं वह निराकार है ।' वे कहते हैं कि 'सृष्टिमें दोनो प्रकारकी वस्तुएँ होती हैं, 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च'—सृष्टिके दो रूप हैं—एक साकार, दूसरा निराकार ।' परंतु यह ठीक नहीं, क्योंकि उपर्युक्त श्रुति यही कहती है कि ब्रह्मके दो रूप हैं । एक मूर्त अर्थात् साकार और दूसरा अमूर्त अर्थात् निराकार । कहा जाता है कि 'यदि ईश्वर आकाशकी तरह निराकार है, तब तो वह व्यापक हो सकता है, किंतु यदि वह साकार (स्थूल) है तो सूक्ष्ममें कैसे व्यापक होगा ? सर्वव्यापक न होनेसे सर्वकारण भी नहीं हो सकेगा । फिर ईश्वर ही नहीं सिद्ध हो सकेगा । ईश्वर साकार होता तो अवश्य दीखता । ईश्वरकी अति सूक्ष्म सत्ता हो तभी उसका नियन्त्रण सूक्ष्म नियमोंपर हो सकता है ।' परंतु यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जैसे जीव सूक्ष्म होते हुए भी आकार ग्रहणकर साकार हो जाता है, इसी तरह ईश्वर सूक्ष्म निराकार होते हुए भी मायासे दिव्य गुणगम्भिर ज्योतिर्गम्य आभा बनकर साकार हो सकता है । सूक्ष्मरूपसे सर्वकारण सर्वव्यापक होनेपर भी साकार

शक्तिसे ईश्वर साकार भी होता है। उसीका हिरण्यमय, ज्योतिर्मय आदि रूप उपनिषदोंमें वर्णित है। ईश्वरका ज्योतिर्मय आकार होनेपर भी वह आकार दिव्य है। अतः सामान्य चर्मचक्षुको उसका दर्शन भले ही न हो, परंतु उपासना और तपस्याके द्वारा दिव्य दृष्टिसम्पन्न लोगोको उसका दर्शन आज भी होता है और हो सकता है। विष्णु, शिव आदि उसीके रूप हैं। जो ईश्वर अनन्त ब्रह्माण्डका निर्माण कर सकता है, अनन्त निराकार एवं सूक्ष्मजीवोको अनन्त देह देकर साकार बना देता है, वह क्या अपने लिये दिव्य देहका निर्माण नहीं कर सकता? और साकार नहीं बन सकता? वस्तुतः जैसे निराकार अग्नि भी साकार हो सकती है, जैसे स्पर्शादिविहीन आकाश ही स्पर्शादियुक्त तेज-जलादि रूपमें प्रकट हो सकता है, वैसे ही निराकार परमेश्वर आकार ग्रहणकर साकार हो सकता है। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी मायाकृत साकारता होनेपर भी उसकी निराकारता, सूक्ष्मता, व्यापकता एवं सर्वकारणतामें कोई अन्तर नहीं आता।

कहा जाता है, संसारमें जितनी साकार वस्तुएँ हैं, वे सब परमाणुओके संयोगसे ही बनती हैं; किंतु यह बात केवल आरम्भवादमें ही है, परिणामवादके लिये यह आवश्यक नहीं। परिणामवादमें जैसे दुग्धका ही दधिभाव होता है, मृत्तिकाका घटभाव होता है, वैसे ही प्रकृतिका ही अन्यथाभाव परिणाम होता है। वहाँ तो यही कहा जा सकता है कि सूक्ष्म एव व्यापक वस्तु ही स्थूल एवं व्याप्य भिन्न-भिन्न पदार्थोंके रूपमें परिणत होती है। विवर्तवादमें सूक्ष्मतम ब्रह्मका ही अतात्त्विक अन्यथाभावरूप विवर्त सम्पूर्ण प्रपञ्च है। किंतु किसी भी पक्षमें ईश्वरके साकार होनेमें कोई आपत्ति नहीं होती। सर्वसम्मतिसे जीवात्मा व्यापक हो या अणु, पर है निराकार ही। साकार रूप धारण करनेसे वह साकार होता है। यही बात ज्यो-की-त्यो ईश्वरके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। भेद इतना ही है कि जीव इन सब बातोंमें कर्मपरतन्त्र है, ईश्वर स्वतन्त्र है। साकार होनेका यह कदापि अर्थ नहीं कि कूटस्थ ईश्वर विकृत होकर अपनी निराकारता, सूक्ष्मता, व्यापकताको खोकर साकाररूपमें परिणत हो जाता है। इसीलिये भापका परमाणु बादल बन जाय या बादलका परमाणु जल बन जाय इत्यादि दृष्टान्तोंके लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है। संसारमें विभिन्न वस्तुएँ विभिन्न शक्तिवाली होती हैं। चीटी, सिंह, हाथी, विभिन्न प्राणी भिन्न-भिन्न शक्ति रखते हैं। जो सबपर नियन्त्रण रखता है तथा सर्वशक्तिवाला है, वही ईश्वर है। भिन्न कारणोंमें अपने-अपने कार्योंके उत्पादनानुकूल शक्तियाँ होती हैं। ईश्वर सर्वकारण है, अतः उसमें सर्वकार्योत्पादनानुकूल शक्तियाँ हैं; इसीलिये वह सर्वशक्तिमान् है। बहुत लोग कुतर्क करते हैं कि यदि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, तो क्या वह अपने आपको नष्ट कर सकता है? दूसरा ईश्वर बना सकता है? वेद्योंको कुम्हरी बना सकता है? परंतु

यह सर्वशक्तिमत्ताका अभिप्राय कदापि नहीं है। शक्ति शक्यमें ही होती है। स्वरूप-के अविरुद्ध ही शक्तियाँ होती हैं। वहिमें दाहिका शक्ति होती है, परतु वह शक्ति काष्ठदि दाहिका ही दहन करती है। अदाह्य आभागादिका दहन नहीं कर सकनी। इतनेपर भी अग्निके सर्वदाहकत्वमें कोई बाधा नहीं आती। इसी तरह यदि नित्यस्वरूपको नष्ट न कर सके तो इतनेसे ही ईश्वरके सर्वशक्तिमत्त्वमें बाधा नहीं पड़ सकती। इसी तरह नित्य अनाद्यनन्त सर्वशक्तिमान् अन्य ईश्वर-का निर्माण भी अशक्य है। वेश्याको उस जन्ममें नहीं तो जन्मान्तरमें कुमारी बना ही सकता है।

अद्वैत वेदान्तकी दृष्टिसे परमेश्वर सर्वप्रपञ्चका उपादानकारण है, अतः एव वह सर्वशक्तिमान् है। उपादानकारणमें कार्यानुकूल शक्तियाँ होती हैं। मृत्तिकामें घटोत्पादनानुकूलशक्ति, तन्तुमें घटोत्पादनानुकूल शक्ति, दुग्धमें नवनीतोत्पादनानुकूल शक्ति होती है—इस दृष्टिसे सर्वकारणमें सर्वोत्पादनानुकूल शक्ति होती है। जो वस्तु प्रमाणमिद्ध है, उसीके उत्पादनानुकूल शक्ति कारणमें हो सकती है। खपुष्प, शशशृङ्ग आदि अमृत्युदार्थ प्रमाणसिद्ध ही नहीं हैं, अतः तदुत्पादनानुकूल शक्तिकी कल्पना ईश्वरमें नहीं की जा सकती। सर्वकारण एव सर्वाधिष्ठान होनेके कारण चेतन ब्रह्मा ईश्वर ही निरावरण होकर अपनेमें अध्यस्त सब प्रपञ्चका भासक होता है, इसीलिये वह सर्वज्ञ है। सर्वका चेतनके साथ आध्यासिक ही सम्बन्ध है। इसी सम्बन्धसे चेतनद्वारा सर्वप्रपञ्चका भान हो सकता है। इसीलिये सामान्य रूपसे, विशेषरूपसे सर्वप्रपञ्चको जाननेवाला ईश्वर सर्वज्ञ एव सर्ववित् है, अनन्त ब्रह्माण्ड एव एक-एक ब्रह्माण्डके अनन्त जीव तथा एक-एक जीवके अनन्त जन्म, एक-एक जन्मके अनन्तानन्त कर्म एव अपरिगणित कर्मफलोको जाननेवाला और विभिन्न ब्रह्माण्डोंके जीवोंके कर्मफलोंको दे सकनेकी क्षमता रखनेवाला ही ईश्वर है। इसीलिये ईश्वर सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान् है। अनादि जीवोंके कल्याणके लिये ही उसकी सृष्टिनिर्माणमें प्रवृत्ति होती है। इसीलिये वह हितकारी भी कहा जाता है। समस्त प्राणियोंके लौकिक-पारलौकिक कल्याणके लिये उसके निश्वासभूत वेदोंके द्वारा सबको उपदेश मिलता है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषम् कृणोमि व.।

अन्यो अन्यमभिहृत्य तत्सं जातमिवाध्या ॥ (अथर्ववेद ३।३०।१)

जैसे गौ उत्पन्न बछड़ोंमें प्रेम करती तथा उनका हित चाहती है, वैसे ही ईश्वर भी सबको समान हृदय एवं शोभन हृदय तथा विद्वेषरहित अन्योन्य उपकारक बनाना चाहता है।

ईश्वरके सम्बन्धमें भारतीय दर्शनोंके आधारपर मार्क्सवादियोंके विचार

मार्क्सवादी हिंदू-दर्शन एवं भौतिकवादकी तुलना करते हुए कहते हैं कि 'हिंदू दर्शन ग्रन्थादि किसी एक ही मतके परिपोषक नहीं हैं। भौतिकवादके उल्लेखमात्रसे चार्वाकका नाम याद आता है। लेकिन चार्वाकसे बहुत पहले इसका वर्णन उपनिषदोंमें मिलता है कि सृष्टिका मूल क्या है? आकाश। सब सृष्ट पदार्थ आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं तथा इसीमें विलीन होते हैं—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्।' (छान्दो० उप० १। ९। १)

‘जिसको आकाश कहते हैं, वह सब नाम-रूपोंका द्योतक है।’—

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता । (छान्दोग्य उपनिषद् ८। १४। १)

इसी उपनिषद्में ब्रह्मका भी उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि आकाश ब्रह्म नहीं है और यही सृष्टिका भौतिक कारण है। श्वेताश्वतर उपनिषद्की अग्नि वह स्वयम्भू है, जिससे भूतमात्रकी उत्पत्ति है। वह अग्नि भी ब्रह्म नहीं है।

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सनिविष्टः ।

स विश्वकुब्जं विश्वविदात्मयोनिर्जः कालकारो गुणी सर्वविद्यः ।

(छ। १५-१६)

कहना न होगा कि कई मार्क्सवादियोंने भारतीय दर्शनोका भौतिकवादसे मेल मिलाया है; किंतु अधूरे ज्ञानके कारण वे सदा ही अर्थका अनर्थ ही करते हैं। वस्तुतः उपनिषदोंमें जहाँ सृष्टिका मूल आकाश कहा गया है वहाँ 'आकाश' शब्दका अर्थ है 'ब्रह्म'। 'आ समन्तात् काशते—प्रकाशते इत्याकाशः' प्रकाशमान अखण्ड बोधरूप परब्रह्म ही आकाश शब्दार्थ है। अतएव ब्रह्मसूत्रमें कहा गया है—'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (वेदान्तद० १। १। २२)—आकाश पदार्थ परमात्मा है, क्योंकि जगदुत्पत्ति, स्थिति, प्रलय-कारणत्वरूप लक्षण उस ब्रह्ममें ही घटता है, भूताकाशमें नहीं। क्योंकि उन्हीं उपनिषदोंमें आकाशादि भूतोकी उत्पत्ति ब्रह्मसे कही गयी है, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० उ० २। १) उस अपरोक्ष आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति होती है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते तद् ब्रह्म।' (तै० उ० ३। १) जिस परमात्मासे सब भूत उत्पन्न होते हैं, वह ब्रह्म है। जो आकाश नाम-रूपका निर्वाहक है, वह आकाश भी नहीं ब्रह्म है। (देखिये, छान्दोग्य उप० ८। १४। १ आकाशप्रमाण) श्वेताश्वतरका

अग्नि हिरण्यगर्भ है, साधारण जड़ अग्नि नहीं—‘एतमकं पञ्चम्यां मनुमन्यं प्रजापतिम् हन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ (मनु० १० । १०३) इमी हिरण्यगर्भको कोई अग्नि कहते हैं, कोई मनु कहते हैं, कोई उन्द्र, कोई प्राण, कोई सनातन ब्रह्म और कोई प्रजापति कहते हैं ।

‘इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान् ।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥’

(ऋ० स० ० । ३ । २० । ६, अथर्व० ९ । १० । २८, निरुक्त० । ४।५।१८)

आदिस्थलोंमें एक परमात्माको ही भिन्न-भिन्न नामोंमें पुकारा गया है ।

मार्क्सवादी कहते हैं—‘वर्तमानकालमें वेदान्त-दर्शनका मायावाद ही जनप्रिय है । यह एक आदर्शवादी दर्शन है, जिसके अनुसार निर्विकार, निराकार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है । यह ब्रह्म हीगेलके निर्विशेष मानस (Absolute Idea) से मिलता-जुलता है । निर्विशेष मानस जैसे विशेषके भीतर ही विकसित होता है । वेदान्तके ब्रह्मकी कल्पना भी वैसी ही है । ब्रह्म अपनेको विभक्त कर मायाके रूपमें प्रदर्शित करता है । ब्रह्म शब्दकी उत्पत्ति है ‘बृह’ धातु से, जिसका अर्थ है वर्द्धित होना । इस वर्द्धित होने और हीगेलके स्वयंगतिविवर्तन (Becoming) का सादृश्य स्पष्ट है । मायावादी दर्शनकी अगङ्गतिको दूर करनेके लिये गौडपाद आदि दार्शनिकोंने ब्रह्म या आत्माको मूलमें रखकर भूत जगत्को उसका फलस्वरूप बतलाया और इस प्रकार सत्यकी मर्यादाको अधुण रखा । वेदान्त-दर्शनका बहुल प्रचार होनेपर भी हिंदू-दर्शन केवल मात्र वेदान्त ही नहीं है । न्याय और मीमांसा-दर्शन भी चार्वाकदर्शनकी तरह प्रमाण एव सापेक्ष ज्ञानमें विश्वास रखते हैं । बौद्ध सौत्रान्तिक और वैभाषिक दर्शन भी इसीके अनुरूप हैं ।

“बौद्धमत स्वयं भारतीय भौतिकवादियोंका वैदिकधर्मके विरुद्ध एक विद्रोह है । यह कणाद तथा कपिलकी धाराओंको कायम रखता है । कणादका परमाणुवाद डिमोक्रिट्मके परमाणुवादसे बहुत मिलता-जुलता है । कपिलकी युक्ति है—‘केवल विचारका ही अस्तित्व नहीं है, क्योंकि वहिर्जगत्का भी हमको सहज प्रत्यय है ।’ इसलिये यदि एकका अस्तित्व नहीं है तो दूसरेका भी अस्तित्व नहीं । फिर केवल शून्य ही रह जाता है ।’ (सांख्यदर्शन प्रथम खण्ड, सूत्र ४२-४३) इसके ऊपर विज्ञानभिक्षुकी टीका और भी स्पष्ट है । विचार ही केवलमात्र वास्तविकता नहीं है, क्योंकि भूत और विचार दोनोंका प्रमाण सहज प्रत्यय है । यदि इस प्रमाणसे भूत सिद्ध नहीं है, तो विचार भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि दोनोंका प्रमाण सहज प्रत्यय है । इस प्रकार केवल शून्य ही रह जाता है । बौद्ध-दर्शनमें सर्वास्तित्ववादी तथा शून्यवादी—दोनोंही भौतिकवादी मतकी पुष्टि करते हैं । लेकिन निर्वाणको मान लेनेके कारण उनका भौतिकवाद अपरिणत रह जाता है । तत्कालीन समाजका अन्तर्विरोध ही इस दार्शनिक अन्तर्विरोधके रूपमें प्रकाश पाता है ।

“योगबल और अलौकिक शक्ति—यहाँ योगादिके विषयमें एक बात कहना असंभव न होगा। क्या तपस्या, योग, क्रिया आदिसे मनुष्य अलौकिक कार्य सम्पन्न कर सकता है? जो कुछ पहले कहा जा चुका है, उससे उत्तर स्पष्ट है—कदापि नहीं योगकी शास्त्रीय परिभाषाओंसे भी उसके ऊपर प्रकाश पड़ता है। पातञ्जलसूत्रकी परिभाषा है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (१।२) पर चित्तकी वृत्तियोंका निरोध—यह स्वयं ही एक असम्भव क्रिया है; इसलिये एक असम्भव क्रियासे असम्भव फल प्राप्त होता है या नहीं यह प्रश्न स्वयं ही अपना उत्तर है। गीताकी परिभाषा है—‘योगः कर्मसु कौशलम्’ (२।५०)। तिलकने इसी परिभाषापर जोर दिया है। स्पष्ट ही यह परिभाषा योगको अलौकिक क्षेत्रसे उतारकर व्यवहार-क्षेत्रमें लानेका प्रयत्न है। व्यावहारिक अर्थमें ही एक मार्क्सवादी गीताके उस श्लोककी प्रशंसा कर सकता है—जिसमें मनुष्यको समदर्शी होनेका उपदेश दिया गया है। लाभ और हानि, जय और पराजय, दोनोंमें ही उसको अविचलित रहनेको कहा गया है, लेकिन मार्क्सवाद और गीताकी प्रेरणाएँ भिन्न हैं। गीताकी प्रेरणा है—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।’ (२।४७) लेकिन मार्क्सके दर्शनमें ईश्वरको फल सौंपनेकी बात नहीं आती, क्योंकि यह एक निरीश्वरवादी दर्शन है। ईश्वरमें विश्वाससे ही अलौकिक शक्तिकी कल्पना आती है। जन्मान्तर-रहस्य इसीका एक अङ्ग है। ऐसे प्रश्नोंका उत्तर ‘Dialectics of nature’ नामक पुस्तकके एक अध्यायमें एजित्सने दिया है। प्रेतात्मा बुझनेवालोंको कारस्तानियों अदालतोंमें कैसे खुलीं, उन घटनाओंका उल्लेख करते हुए एजित्सने अलौकिक शक्तिकी असम्भावनाओंको प्रमाणित किया है।”

मार्क्सवादी आदर्शवादके रूपमें अद्वैतवादको ही क्यों देखना चाहता है? अनेक अव्यात्मवादी चेतनके समान ही अचेतनको भी वास्तव ही मानते हैं। अद्वैतवादी वृत्तिविशिष्ट चैतन्यरूप दृष्टिको व्यावहारिक सत्य मानते हैं और विषयको भी उसी कोटिका मानते हैं। बिना चेतन-सत्ता स्वीकार किये क्रियाशीलता ही नहीं बन सकती, फिर क्रान्तिकारी क्रियाशीलताकी बात तो दूरकी है। क्रियात्मक सत्यता अवश्य प्रयोगसापेक्ष है; परंतु वस्तुसत्ता प्रयोगकी अपेक्षा नहीं रखती। जैसे अगर कूटस्थ सत्, परमार्थ आत्मा सत्य है, तो उनके लिये प्रयोग अपेक्षित नहीं वहाँ तो अज्ञान-निवृत्त्यर्थ ज्ञानमात्र अपेक्षित है। क्रिया पुरुषतन्त्र हो सकती है, परंतु ज्ञान तो पुरुषतन्त्र न होकर वस्तुतन्त्र ही होता है। जो विभाज्य एवं विपरीत होता है, वह परमार्थ सत्य होता ही नहीं। सत्यताकी मुख्य परीक्षा प्रमाणसे होती है। प्रयोग भी प्रमाणका अङ्ग होकर ही परीक्षामें उपयुक्त हो सकता है। विचार, क्रिया—दोनों ही एक कर्ता-प्रयोक्ताद्वारा सम्पन्न होते हैं—यह तो ठीक है, परंतु ‘एक ही सत्यकी विपरीत दिशाएँ हैं’, यह निरर्थक वागाडम्बरमात्र है।

‘परिस्थितियाँ की उपज मनुष्य है या मनुष्य की उपज परिस्थितियाँ ?’ यह विषय सदासे ही विचारणीय रहा है फिर भी मिथ्यान्तन मनुष्य चेतन है । परिस्थितियाँ जड़ हैं । मनुष्य ही परिस्थितियों का निर्माता है और भीष्मजीने कहा है काल या परिस्थितियों राजा का कारण हैं या राजा काल का कारण है— यह सग्य न होना चाहिये, क्योंकि राजा ही काल का कारण होता है—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।

इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ।’

(महा० उद्योगपर्व १३० । १६)

अस्तु, हीगेलके निर्विशेष मानस और वेदान्तके ब्रह्ममें महान् अन्तर है । मन एक भौतिक वस्तु है, किंतु ब्रह्म नित्य कूटस्थ अनुभवस्वरूप है । वृद्धि धातुसे ब्रह्मकी निष्पत्ति अवश्य होती है, परंतु वर्धित होना ‘ब्रह्म’ शब्दका अर्थ नहीं है । निरतिशय बृहत् तत्त्व ही ब्रह्म है । वह देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है । निरतिशय पदार्थ ही बृहत् कहा जा सकता है । भौतिक जड़ अनृत मर्त्यको निरतिशय बृहत् नहीं कहा जा सकता, अतएव सत्य चैतन्य त्रिकालाबाध्य अमृत कूटस्थ अरिच्छिन्न अनन्त अखण्ड ज्ञान ही ब्रह्म-शब्दार्थ ठहरता है । वर्धन-हेतु होनेसे प्राणमें भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग होता है; क्योंकि प्राण रहनेपर ही शरीरकी वृद्धि आदि होती है । औपनिषद् परब्रह्ममें तो ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’ इत्यादि श्रुतियोंके अनुरोधसे निरतिशय बृहत्तत्त्वके अर्थमें ही ब्रह्म-शब्द का प्रयोग होता है ।

यह भी कहा जा चुका है कि जिसमें वास्तविक विभाजन होता है, वह ब्रह्म नहीं होता । अनिर्वचनीय मायाके अध्यासे ही उसमें अनेक प्रकारके विभागों का अध्यारोप होता है । इसी तरह यह भी कहना गलत है कि मायावादी दर्शनकी असन्नतियोंको दूर करनेके लिये गौडपादने ब्रह्म या आत्माको मूलमें रखकर भूत-जगत्को उसका फलस्वरूप बतलाकर सत्यकी मर्यादा रखी है । क्योंकि अनादि-अपौरुषेय वेद, उपनिषद् आदिके द्वारा ही ब्रह्मवाद का प्रतिपादन किया जाता है । अद्वैतवादी शंकरने तो गौडपादके ही मत का अनुसरण करके प्रस्थानत्रयीपर भाष्य किया है । गौडपाद का सिद्धान्त तो ‘अजातवाद’ है । उनके यहाँ तो भूत-जगत् कभी हुआ ही नहीं । ‘आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा । वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा ह्य लक्षिताः ॥ (माण्डूक्यकारिका ४ । ३१) जो आदिमें नहीं और अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी वैसा ही होता है । भूत, जगत्, वितथ, स्वप्न, माया आदि वितथ पदार्थों-के सदृश अवितथ से प्रतीत होते हैं, इस दृष्टिसे ब्रह्म-तत्त्व ही त्रिकालाबाधित सत्य है ।

न्याय मीमांसा आदि दर्शनोंने भूत रक्षा अवश्य स्वीकार की है, परंतु चेतन आत्मा एव अनादि-अपौरुषेय वेदादि शास्त्रों का प्रामाण्य तथा शास्त्रोक्त धर्म अधर्म आदिका अस्तित्व भी उन्हें स्वीकृत है । फिर उन आग्निर्क दर्शनोंने जड़वादी

भौतिक दर्शनोंकी सिद्धि कैसे हो सकेगी? वृत्तिरूप ज्ञान प्रमाणसापेक्ष होता है— यह वेदान्तदर्शनको भी मान्य है। सौत्रान्तिक, योगाचार, वैभाषिक, माध्यमिक— चारों प्रकारके बौद्ध कम-से-कम प्रत्यक्षप्रमाणके अतिरिक्त अनुमानप्रमाण भी मानते हैं; किंतु भौतिकवादी चार्वाक आदि तो अनुमानप्रमाण भी नहीं मानते। बौद्ध भी देहभिन्न क्षणिक विज्ञानकी आल्यधाराको आत्मा मानते हैं; किंतु चार्वाक एव मार्क्स आदि तो जीवित देहको ही आत्मा मानते हैं।

बौद्ध भले ही वैदिक-धर्मके विरोधी हो फिर भी उनके यहाँ आत्मा तथा पुण्य, पाप, सत्य, तपस्या तथा प्रमाण आदि मान्य हैं। जडवादी तो सबसे गये-बीते हैं। कणाद एव गौतम परमाणु, ईश्वर तथा जीवात्माओंके पुण्यापुण्यरूप अदृष्टोको जगत्-कारण मानते हैं, अतः इनका भी भौतिकवादियोंसे कोई मेल नहीं है। कपिल, पतञ्जलि भी प्रत्यक्ष, अनुमान एव आगमको प्रमाण मानते हैं, तदनुसार असङ्ग अनन्त नित्य चेतन आत्मा तथा महदादि प्रपञ्चका कारण प्रकृति एवं धर्माधर्म उन्हें मान्य हैं। ये लोग ईश्वर भी स्वीकार करते हैं। अवश्य कपिल आदि बाह्यार्थवादी हैं, परंतु उनके असङ्ग चेतन आत्माकी सिद्धि बाह्यार्थपर अवलम्बित नहीं है; क्योंकि कपिल, पतञ्जलि, गौतम, कणाद आदि सभीका आत्मा नित्य है। जो नित्य होता है उसकी सिद्धि अन्यसापेक्ष नहीं होती। यहाँतक कि चारों प्रकारके बौद्ध एवं जैन आत्माको बाह्यार्थ-सापेक्ष नहीं मानते, बल्कि बौद्धोंकी दृष्टिसे तो बाह्यार्थ विज्ञानका परिणाम है। उनका स्पष्ट कहना है कि जैसे मृत्तिका के रहनेपर ही घटादिका उपरम्भ होता है, अन्यथा नहीं— 'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्विधोः' अतः विज्ञान एवं बाह्यार्थका अभेद ही होता है। सौत्रान्तिक, वैभाषिककी दृष्टिमें बाह्यार्थ भी मान्य है। वैसे वेदान्ती भी व्यावहारिक, प्रातिभासिक—दो प्रकारका बाह्यार्थ मानते ही हैं। जिस कोटिका प्रमाण एवं प्रमाता है, उसी कोटिका बाह्यार्थ भी है, परंतु भौतिकवाद-मतकी पुष्टि इन किन्हीं दर्शनोंसे नहीं होती। इन मतोंमें मन, ज्ञान, भूत अथवा देहके परिणाम नहीं मान्य हैं।

इसी तरह योग आदिके सम्बन्धमें मार्क्सवादियोंका टोंग अड़ाना भी अनधिकारपूर्ण चेष्टा है। जैसे बदरको अदरकका स्वाद अज्ञेय होता है, शाकवणिकूलोगों को बहुमूल्य रत्नोंका माहात्म्यज्ञान दुःशक है, वही स्थिति योगके सम्बन्धमें मार्क्सवादियोंकी है। जो सत्य, अहिंसा, संयम, न्यायको भी स्वीकार करनेमें समर्थ नहीं होता है, जो वर्ग-संघर्ष, वर्ग विभ्रंसके मार्गपर चलकर केवल धनको ही सर्वस्व मानकर उसे ही अपना ध्येय मानता है, उसके यहाँ त्याग, संयम, अपरिग्रह, तपस्यादिमूलक योगकी बातोंका क्या महत्त्व हो सकता है?

मार्क्स और ईश्वर

चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको मार्क्सवादी एक असम्भव चीज मानते हैं। अतएव असम्भव चीजसे होनेवाले फलोंको भी असम्भव मानते हैं। परतु यदि योग या वेदान्तानुसार पाञ्चभौतिक मन या चित्त एक परिणामी वस्तु है और उसका परिणाम सहेतुक है तो परिणाम-निरोध भी क्यों नहीं हो सकता? सुषुप्तिमें चित्तका शब्दाद्याकार परिणाम निरोध मान्य है, तब फिर समाधिमें भी चित्तके वृत्ति-परिणामराहित्य होनेमें क्या आपत्ति है? वृत्तिद्वयकी मधिमें चित्त-का निर्वृत्तिक होना तर्कसङ्गत भी है। चित्तके एक व्यापारसे एक वृत्ति होती है। एक व्यापारके अनन्तर अन्य व्यापार-प्रारम्भसे पूर्व धनमें चित्तके निर्व्यापार एव निर्वृत्तिक माननेमें कोई भी अड़चन नहीं हो सकती, जैसे अलातचक्रकी तीव्र गति होती है, वैसे ही मन्द गति भी होती है।

साथ ही गति-राहित्यका भी कोई समय हो ही सकता है, उसी तरह चित्तकी गीम, मन्द गति एव गति-राहित्य भी सम्भव है। इस तरह जब योग असम्भव वस्तु नहीं है तो उसका फल भी असम्भव वस्तु नहीं है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' (गी० २।५०) का तिलकद्वारा वर्णित अर्थ गलत है। वस्तुतः कर्म-कौशलको योग नहीं कहा जाता है, किंतु योग ही कर्मोंमें दक्षता है। योगकी परिभाषा स्पष्ट की गयी है—'समत्वं योग उच्यते' (गी० २।४८) सिद्धि-असिद्धिमें समता योग है। इस तरह समत्वबुद्धिसे युक्त कर्म भी गीतामें योग कहा गया है। तिलकने भी भले ही कर्मोंमें कौशलको योग कहा हो, तो भी उन्होंने पातञ्जलयोग एवं उसके फलका अपलाप नहीं किया है। मार्क्सवादीके लिये गीताकी प्रगसाका कोई अर्थ ही नहीं; क्योंकि गीतामें तो स्वयं ही निर्वातस्थित निश्चल दीपके तुल्य योगीके यत चित्तका निश्चल होना बतलाया है—

‘यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युजतो योगमात्मनः॥’ (गी० ६।१९)

मार्क्स स्पष्ट ही निरीश्वरवादी है, फिर उसकी दृष्टिसे कर्मोंका ईश्वरमें समर्पण करना, फलकी आकाङ्क्षा विना ईश्वराधन बुद्धिसे शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करना आदि सब बातें व्यर्थ हैं। धनको ही सर्वस्व माननेवाले भौतिकवादीके लिये हानि-लाभ, जय-पराजयको समान समझना कहोतक सम्भव है। किसी दाम्भिकके दम्भके भण्डाफोड़ होनेसे किसी युक्ति-शास्त्रसम्मत सिद्धान्तका अपलाप नहीं किया जा सकता।

एजिल्सके 'डायलेक्टस आफ नेचर' पुस्तककी बातें भी पुरानी पड़ गयी हैं। वस्तुतः वैज्ञानिकोंने ही प्रचलित जड़वाद एव विकासवादकी युक्तियोंका सण्डन-करके एक अलौकिक शक्तिका महत्त्व सिद्ध किया है, जिसे हम विकासवादके सण्डन-के प्रसङ्गमें विस्तारसे दिखला चुके हैं।

त्रयोदश परिच्छेद

उपसंहार

भारतीय राजनीतिक दर्शन

पाश्चात्य देशोंमें दर्शन एव शास्त्र शब्द बड़ा ही सस्ता बन गया है। किसी भी विचारको, जैसे गर्भशास्त्र, प्राणिशास्त्र, मार्क्सदर्शन आदिकी वे शास्त्र सजा देते हैं। किंतु विश्वविख्यात भारतीय विद्वानोंने तो शास्त्र शब्दका प्रयोग मुख्य रूपसे अनादि अपौरुषेय वेदमें ही किया है। उन्हींमें प्रत्यक्षानुमानसे अनधिगत धर्म, ब्रह्मादि तत्त्वबोधन क्षमता है—‘प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥’, ‘शास्त्रयोनित्वात्’ (ब्र० सू० १।१।३) में शास्त्र शब्दका ऋग्वेदादि अर्थ ही उक्त है। जैसे रूप आदिके सम्बन्धमें चक्षु आदि स्वतन्त्र प्रमाण हैं, वैसे ही धर्म, ब्रह्म आदि अतीन्द्रिय-अचिन्त्य विषयोंमें स्वतन्त्ररूपसे अपौरुषेय वेद ही प्रमाण हैं। अन्य तदाश्रित तदुपबृंहित आर्ष धर्मग्रन्थोंमें तो प्रत्यक्षानुमानागमादि मूलकत्वेनैव प्रामाण्य है। अतएव शास्त्रत्व भी वेद-मूलक होनेसे ही उनमें सिद्ध होता है। प्रमाण, प्रमेय, साधन फलका प्रामाणिक निर्देश दर्शनका स्वरूप होता है। औत्सुक्यनिवृत्ति-जिज्ञासोपशान्तिमात्र पाश्चात्य दर्शनोंका उद्देश्य है। तद्विज्ञपरस्पराविरोधेन धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्ति एव अव्यभिचरित तत्साधनोंका सम्यक् ज्ञान भारतीय दर्शनोंका उद्देश्य है।

आजकलके कुछ समालोचकोंका कहना है कि ‘पाश्चात्य देशोंके राजनीतिक दर्शन हैं, किंतु भारतमें कोई राजनीतिक दर्शन नहीं है। कारण, ‘पाश्चात्य देशोंके विद्वान् राजनीतिक एवं दार्शनिक दोनों ही थे; किंतु भारतके राजनीतिज्ञ दार्शनिक नहीं थे।’ परंतु उनका यह कहना सर्वथा निराधार है। सबसे पहली बात तो यह है कि सर्वदर्शनोंका शिरोमणि वेदान्त है। वेदोंमें वेदान्त भी है, राजनीति भी है। मनु, याज्ञवल्क्यादि धर्मशास्त्रोंमें दर्शन भी है, राजनीति भी है। व्यास सबसे बड़े दार्शनिक और सबसे बड़े राजनीतिज्ञ हैं। वेदान्तदर्शनके रचयिता व्यास ही महाभारतके रचयिता हैं। महाभारतका मोक्षधर्म, गीताका दर्शन और गान्तिपर्वका राजधर्म पढ़ें तो उक्त मत सर्वथा निर्मूल सिद्ध हो जायगा। बृहस्पति, कणिक, कौटिल्य, कामन्दक आदि सभी राजनीतिक दार्शनिक थे। योगवासिष्ठके वशिष्ठ महादार्शनिक एवं महाराजनीतिज्ञ थे। सूर्यवंशकी राजनीतिके वे ही कर्णधार थे। वस्तुस्थिति यह है कि पदवाक्यप्रमाणपारावारीण विद्वान् शब्द-शुद्धि आदिका कार्य पाणिन्यादि व्याकरणसे चलाते हैं, वाक्यार्थ निर्णयके लिये पूर्वोत्तर-मीमांसाका उपयोग करते हैं, अनुमान आदिके सम्बन्धमें न्याय वैशेषिकका उपयोग करते हैं तथा वे ही तत्त्व-संख्यान, चित्त-निरोध आदिमें सांख्य एवं योगका उपयोग कर लेते हैं। वे अगतार्थ अपूर्व वस्तुका ही प्रतिपादन करते हैं। पाश्चात्य लोग गतार्थ वस्तुओंका भी निरूपण करके स्वतन्त्र दार्शनिक बननेकी चेष्टा करते हैं।

राजनीतिक शास्त्र या दर्शनका कार्य राजाओं, शासकों एवं तत्कालीन भूखण्ड या अखण्ड भूमण्डल या प्रपञ्चमण्डलके प्राणियोंके लिये ऐहिक आमुष्मिक अभ्युदय एवं परम निःश्रेयस-प्राप्तिका प्रशस्त मार्ग और अनुष्ठान-सुविधा-प्रत्युपस्थापन करना है। तत्प्रयोजक अपौरुषेय वेद एवं तन्मूलक आर्षग्रन्थ-मनु, नारद, शुक्र-वृहस्पति, अग्नि-मत्स्य-विष्णुधर्मादि पुराण, रामायण, महाभारत आदि राजनीतिक शास्त्र या दर्शन हैं। इस शास्त्रके अभिमत प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि-ये छः प्रमाण हैं। मूलरूपमें मत्स्य-अनृत, चेतन अचेतन दोही तत्त्व हैं। चेतनमें भी ब्रह्म, ईश्वर, जीव—तीन भेद हैं। अचेतनमें प्रकृति महान्, अहंकार आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी; श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण—पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ—पञ्च वर्गेन्द्रियाँ, प्राण, अपान, उदान व्यान, समान—पञ्चप्राण, मनोबुद्धिचित्ताद्यात्मक अन्तःकरण—ये २४ भेद हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चतुर्वर्ग-प्राप्ति फल है। आचार्यपरम्परासे पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र तथा पड़ङ्ग वेदों एवं अन्य आर्षग्रन्थोंके आधारसे कर्तव्या-कर्तव्य-ज्ञानपूर्वक कर्तव्यपालन, अकर्तव्य-परिवर्जनसे धर्मकी प्राप्ति होती है। धर्माविरुद्ध अर्थशास्त्रोक्त उद्योगपरायण होनेसे अर्थकी प्राप्ति होती है, धर्मार्थाविरुद्ध कामशास्त्रोक्त मार्गसे श्रद्धादि साधनसामग्रीद्वारा काम-प्राप्ति होती है। औपनिषद परब्रह्मके तत्त्वविज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

आन्वीक्षिकी, न्यायोपवृद्धित वेदान्तविद्या—ब्रह्मविद्या, त्रयी वेदोक्त धर्मविद्या, वार्त्ता, अर्थविद्या आदि सर्वपुरुषार्थोपयोगिनी विद्याओंका रक्षण एकमात्र राजनीतिसे ही सम्भव होता है। उसके बिना सभी विद्याएँ नष्ट हो जानी हैं। राजनीतिकी स्वरूपभूता दण्डनीतिके विप्लुत होनेसे सभी विद्याएँ विप्लुत हो जाती हैं। 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता सतीविद्याः प्रचक्षते। सत्योऽपि हि न गत्यन्तादण्डनीतिस्तु विभ्रमे।' (काम० नी० २।८) 'मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्।' (मटा० शा० ६३।८)

आर्यमर्यादाकी रक्षा, वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा त्रयीके प्रोत्साहनसे लोक-प्रसाद होता है अन्यथा लोकावसाद होता है। व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रम-स्थितिः। त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥ (कौटलीय अर्थ० १।३।१७) देहेन्द्रिय मनबुद्धि आदिसे भिन्न परलोकगामी कर्त्ता भोक्ता, आत्मा तथा परलोकमें विश्रामके अनन्तर ही धर्ममें प्रवृत्ति होती है कर्तृत्व-भोक्तृत्वशून्य, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ब्रह्मात्मविज्ञानसे परम कैवल्यमोक्ष तथा जीवनमुक्ति प्राप्त होती है तथा निस्सदेह एवं निर्भय होकर समष्टि विश्वहितसाधनार्थ राजनीतिक सवि-विग्रहादिमें सफल प्रवृत्ति हो सकती है। इसीलिये गीतामें 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' आदिसे नित्य, शुद्ध, बुद्ध, आत्मस्वरूपका वर्णन है और राजर्षियोंको इस ब्रह्मविद्याका वेत्ता-वेदयिता बतलाया गया है।

विश्व, विराट्, तैजस, हिरण्यगर्भ, प्राज्ञ, ईश्वर, कूटस्थ, ब्रह्मण्य व्यष्टि समष्टिके अभेद-बोधसे ही आत्महित एवं विश्वहितमें एकता होती है। व्यष्टि

अभिमानरूप सकीर्णताको बाधित करने तथा समष्टि-अभिमान उपोद्वलित होनेसे ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव उदित होता है। आत्मीयताके अभिमानके परिपाकसे आत्मत्वाभिमान या समष्टिमें अहग्रहोपासना सम्पन्न होती है। व्यष्टि समष्टि, स्थूल-सूक्ष्म कारणकी अभेदभावना उपासना-कोटिमें परिगणित है। कुटुम्ब ब्रह्मकी अभेदभावना तत्त्वसाक्षात्कार-पर्यवसायिनी ही होती है। व्यवहारदशामें भी इन भावनाओके फलस्वरूप कुल, गोत्र, जाति, ग्राम, नगर, राष्ट्र, विश्व आदि समष्टि जगत्के सम्बन्धमें आत्मीय हित तथा आत्महितके समान ही हिताचरण एवं अहितनिवारणार्थ निरासङ्ग प्रवृत्ति होती है।

शास्त्रीय शासनविधान

सभी प्राणी अमृतस्वरूप परमेश्वरके ही पुत्र हैं—'अमृतस्य पुत्राः' (श्वेता० उ० २।५) अर्थात् सभी देहादिभिन्न चेतन, अमल, सहज, सुखस्वरूप जीवात्मा स्वप्रकाश सच्चिदानन्द परमेश्वरके ही अंश हैं। जैसे महाकाशके अश घटाकाश, अग्निके विस्फुल्लिङ्ग, गङ्गाजलके तरङ्ग आदि अंश हैं, वैसे ही अखण्डबोधस्वरूप परमेश्वरका बोधस्वरूप जीवात्मा अंश है। अतः सबकी सद्भज समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृता ही माननीय है। जैसे मलिन भूमिके सम्पर्कसे निर्मल जल मलिन हो जाता है, कतक, निर्मली आदि औषधके सम्पर्कसे पुनः शुद्ध हो जाता है, वैसे ही अविद्याश्रयकर्मके सम्पर्कसे जीवात्मा मलिन होता है तथा कर्मोपासना, ज्ञान आदिसे पुनः प्रसन्न-निर्मल-निष्कलङ्क हो जाता है। भ्रातृता, आत्मीयता तथा आत्मैक्यताके कारण सर्वजनहिताय-सर्वजनसुखाय राजनीति आवश्यक है।

न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च टाण्डिकः ।

धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥ (म० शां० ५९)

कृतयुगमें सभी तत्त्ववित्, धर्मनिष्ठ, विवेकी तथा सात्त्विक होते हैं। सब एक दूसरेके पोषक, रक्षक, हितचिन्तक होते हैं। कोई किसीका शोषक नहीं होता। सब धर्मनियन्त्रित होकर परस्पर एक दूसरेके पूरक बनते हैं। तामस, राजस-भावकी वृद्धि, अधर्म-अनाचारके विस्तारसे सत्त्व एवं धर्मका हास होता है। अतः मोहके प्रभावसे ब्रह्मात्मविज्ञान संकुचित होता है, काम-क्रोधका विस्तार होता है, तभी मात्स्यन्याय फैलता है। उस मात्स्यन्यायको रोककर सर्वसामञ्जस्य सर्वहित-सम्पादनार्थ राज्य-व्यवस्था होती है। अहिंसा, सत्यादि धर्मका प्रतिष्ठापन, ब्रह्मविज्ञान-विस्तार और दण्डविधान—ये ही मात्स्यन्याय निरोधके मूल उपाय हैं, यह कहा जा चुका है। चाणक्यके अनुसार 'सुखस्य मूलं धर्मः, धर्मस्य मूलमर्थः, अर्थस्य मूलं राज्यम्, राज्यमूलमिन्द्रियजयः, इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः, विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा' (चाणक्य-सूत्र १-६)। सातिशय, निरतिशय—सर्वविधसुखका मूल धर्म है, परंतु धर्मका मूल अर्थ है। अर्थ रहनेपर ही धर्मानुष्ठान सम्भव होता है। अर्थका मूल राज्य है, राज्यका मूल इन्द्रियजय है, इन्द्रियजयका मूल विनय है, विनयका मूल वृद्धसेवा

है । वृद्धोंकी सेवाका भी मूल विज्ञान है; इसलिये विज्ञानमग्न होकर, जिनाया होकर सर्वसुखार्थ प्रवृत्त होना आवश्यक है ।

मनुके अनुसार—

आसीदित् तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतानि वृत्तौजाः प्रादुरासीन् तमोनुदः ॥

(मनु० १ । ५-६)

सम्पूर्ण जगत् सृष्टिके प्रथम नाम-रूपरहित, कल्पनातीत, अलक्षण, सर्वतः प्रसुप्त, तमोमय अर्थात् अनिर्वचनीय अज्ञान-विशिष्ट चिन्मात्र था । सर्वकारण परब्रह्मा परमेश्वर स्वयम्भू भगवान् ही तमको अभिभूत करके इस अव्यक्त जगत्को व्यक्त करते हुए प्रादुर्भूत होते हैं । जैसे वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओंके बदलनेपर ऋतुलिङ्ग प्रकट होते हैं, उसी तरह प्राणी समयानुसार अपने-अपने कर्मोंको प्राप्त होते हैं । कर्मानुसार ही चराचर विश्वका उत्पादन भगवान् करते हैं—‘यथाकर्म तपोयोगात् सृष्टं स्थावरजङ्गमम्’ (मनु० १ । ४८) । कर्मानुसार ही विविध योनियोंमें प्राणियोंके जन्म होते हैं । कर्ममूलक सृष्टिका विस्तार वर्णाश्रम-व्यवस्थाका प्रतिपादन करके मनु कहते हैं कि समागमे अराजकता होनेपर सारी प्रजा घबड़ाकर भयसे इधर-उधर भागने लगी, तब उसकी (प्रजापति) रक्षाके लिये प्रजापतिने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर—उन आठ लोकपालोंके अंशसे राजाका निर्माण किया—

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती ॥

(मनु० ७ । ३-४)

देवताओंके अशसे उत्पन्न होनेके कारण ही राजा अपने तेजसे सब प्राणियोंको दबा लेता है । राजा बालक हो तो भी मनुष्य समझकर उसका अपमान नहीं करना चाहिये । उस राजाके लिये भगवान् ने सब प्राणियोंकी रक्षा करनेवाले धर्मस्वरूप ब्रह्मतेजोमय दण्डका निर्माण किया । उस दण्डके भयसे ही स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी अपने पदार्थोंका उचित उपभोग कर पाते हैं तथा अपने वर्तव्यसे विचलित भी नहीं होते—

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद् भोगाय कल्पन्ते न्वधर्मान् चलन्ति च ॥

(मनु० ७ । १५)

दण्ड ही राजा, पुरुष, नेता, शासक और चारों आश्रमोंके धर्मका साक्षी है—

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च नः ।
चतुर्णामाश्रमाणा च धर्मस्य प्रतिभ रमृतः ॥

(मनु० ७ । १८)

दण्ड ही सब प्रजाका शासक एव रक्षक है। सबके सोनेपर दण्ड ही जागता है। विद्वानोंने दण्डको ही धर्म कहा है। विचारपूर्वक प्रयुक्त हुआ दण्ड प्रजाका अनुरञ्जन करनेवाला और अविचारित दण्ड प्रजाका विनाशक होता है। यदि राजा आलस्य छोड़कर दण्डका विधान न करे तो बलवान् प्राणी दुर्बलोंको वैसे-ही पकाकर खा जायँ, जैसे लोग मछलियोंको भूनकर खा जाते हैं। कौवा पुरोडाश खाने लग जाय, कुत्ता हवि चाटने लग जाय—किसी पदार्थपर किसीका स्वत्व न रहे और छोटे-बड़े तथा बड़े-छोटे हो जायँ। सभी वर्ण दूषित हो जायँ, मर्यादाएँ भङ्ग हो जायँ और सारे ससारमें उथल-पुथल मच जाय—

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।

दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रक्षयति प्रजाः ।

असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥

यदि न प्रणयेद् राजा दण्डं दण्डयेष्वतन्द्रितः ।

शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥

भद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद् हविस्तथा ।

स्वाम्यं च न स्यात् कस्मिंश्चित् प्रवर्तेताधरोत्तरम् ॥

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिन्धेरन् सर्वसेतवः ।

सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद् दण्डस्य विभ्रमात् ॥

(मनु ७ । १८-२१; २४)

राजा दण्डका ठीक-ठीक विधान करनेवाला, सत्यवादी, विचारपूर्वक काम करनेवाला, बुद्धिमान् धर्म, अर्थ, और कामका ज्ञाता होना चाहिये, ऐसा मनु आदि धर्मशास्त्रकारोका मत है—

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।

समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥

(मनु ७ । २६)

दण्ड बड़ा तेजस्वी है। अजितेन्द्रिय लोग ठीक-ठीक उसका विधान नहीं कर सकते। वह धर्मविचलित राजाको बन्धु-बान्धवोर्साहत नष्ट कर देता है। तथा दुर्ग, राज्य, स्थावर-जङ्गम जगत्, आकाशचारी देवगण और ऋषिगणको भी पीड़ित करता है। राजा या शासकको न्यायपूर्वक अपने राज्यकी प्रजाका पालन करना चाहिये। शत्रुओंको उग्र दण्ड देना चाहिये। मित्रोंके साथ छल-कपटका व्यवहार नहीं करना चाहिये। प्रेमीजनो और सज्जनोंके साथ सहिष्णुता रखनी चाहिये। ऐसा व्यवहार करनेवाला राजा भले ही कोपग्रहित हो, उसका यज्ञ ऐसा फैलता है, जैसे जलपर तैल-विन्दु। राजाको चाहिये कि वह पवित्र विद्वान्, ग्राहण एवं वृद्धोंकी नित्य सेवा करे। ऐसा करनेसे राक्षस भी राजाका

सम्मान करते हैं तथा विनय (जितेन्द्रियता, नम्रता) भी प्राप्त होती है । अविनय (उदण्डता) से सुसमृद्ध राजा भी सपरिवार नष्ट हो जाते हैं और विनय-से जगलमें रहनेवाले कोपविहीन राजा भी राज्य पा लेते हैं । शिकार, वृत, दिवारवप्र, निन्दा, स्त्री, मद (नशा), मृत्यु, गीत, वादित्र और व्यर्थ घूमना (हवाखोरी), इन दश कामज व्यसनो तथा चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, अमृया (गुणोंमें भी दोषदृष्टि), दूसरेका धन छीन लेना, गाली-गलौज और मार-पीट—इन आठ क्रोधज व्यसनोसे तथा इन दोनोंके मूल लोभसे राजाको अत्यन्त बचना चाहिये । कामज व्यसनमें मदिरापान, द्यूत, स्त्री और मृगया—ये चार तथा क्रोधज व्यसनमें गाली-गलौज, मारपीट और दूसरेका धन छीन लेना ये तीन बहुत ही भयकर हैं । इनसे तो सर्वथा बचना चाहिये ।

अत्यन्त सुकर कर्म भी एक असहाय पुरुषद्वारा दुष्कर होता है । अतः राजाको शास्त्रज्ञानी शूर, लब्धप्रतिष्ठ, कुलीन, सुपरीक्षित सात या आठ मन्त्री रखने चाहिये । सधि, विग्रह, सेना, खजाना, खेती, खान, रक्षा (बन्दोबस्त) आदिके विषयमें पृथक्-पृथक् प्रत्येककी राय जानकर विद्वान् ब्राह्मणके साथ विचारकर निर्णय करना चाहिये । राज्यका काम जितने लोगोसे अच्छी तरहसे चल सके, उतने लोगोको परीक्षा करके उपमन्त्री बनाना चाहिये । खान, चुगी और कर वसूल करनेके लिये शूर पवित्र निलोभ लोगोको और पापभीरु लोगोको घर आदिके प्रबन्ध-सम्बन्धी काममें लगाना चाहिये । इसी तरह सर्वशास्त्र विशारद इङ्गित आकार और चेष्टा जाननेवाला पवित्र कुशल कुलीनको दूत बनाना चाहिये । दूत-अनुरक्त, पवित्र, चतुर, स्मृतिशाली, प्रतिभासम्पन्न, देश-काल—परिस्थितिका ज्ञाता, सुन्दर, निर्भीक और वाग्मी होना चाहिये ।

सेनापतिके अधीन चतुरङ्गिणी सेना, सेनाके अधीन युद्ध तथा विनय सिखाना, राजाके अधीन खजाना और राज्य तथा दूतके अधीन संवि विग्रह होते हैं । दो राजाओंमें मेल कराना या मिले हुए राजाओंको परस्पर लडा देना, यह दूतका काम है । कृपक जैसे खेतमेंसे घासको निकालकर धान्यकी रक्षा करता है, उसी तरह राजा दुष्टोका निग्रहकर प्रजाकी रक्षा करे । जैसे शरीरको कष्ट देनेसे प्राणोंका क्षय होता है, उसी तरह राष्ट्रको पीड़ा पहुँचानेसे राजाके प्राणोंका क्षय होता है । जो राजा अज्ञानवश राष्ट्रको पीड़ा पहुँचाता है, वह अपने बन्धु-बान्धवोंसेमेत जीवनसे भ्रष्ट हो जाता है ।

राजाको लगानवसूली, नौकरोंका मासिक वेतन, मन्त्री आदिको बाहर भजना, किसीको हानिकर काम करनेसे रोकना, किसी कामको बनाना, मुन्दमो-का निर्णय, अपराधियोंको ठण्ड, पाणियोंका प्रायश्चित्त, पाँच गजानके सुमन्त्र,

प्रजाका प्रेम या असतोष और अन्य राजाओके व्यवहार, इन बातोंपर भलीभाँति विचार करना चाहिये। मध्यम (अपने और शत्रुदेशके बीचका राजा) का व्यवहार, विजिगीषु (अपनेको जीतनेके लिये आनेवाले राजा) का कर्म तथा उदासीन और शत्रुकी कार्यवाहियोंपर पूरी दृष्टि रखनी चाहिये।

द्वादश राजन्य-मण्डलकी चार मूल-प्रकृतियाँ हैं—(१) मध्यस्थ, (२) विजिगीषु, (३) उदासीन और (४) शत्रु। अर्थात् इनके वशमें रहनेसे सभी राष्ट्र वशमें रहते हैं। आठ और प्रकृतियाँ हैं—मित्र, शत्रु-मित्र, मित्र-मित्र, अरि-मित्र, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्दासार और पार्ष्णिग्राहासार। इन प्रत्येककी मन्त्री, राष्ट्र (प्रजा), दुर्ग, खजाना और शासन-विभाग—ये पाँच-पाँच प्रकृतियाँ होती हैं, इस तरह ६० प्रकृतियाँ हुईं। और मूल १२ मिलकर सब ७२ हो गयीं। अपनी चारों ओरकी सीमाके राजा तथा उनके मित्रोंको शत्रु समझना चाहिये। उनसे आगेके राजाओको अपना मित्र और उनसे भी आगेके राजाओको उदासीन समझना चाहिये। इन सबको साम, दान, भेद और दण्ड—इन प्रत्येक उपायोसे अथवा सभी उपायोसे सबको अथवा अधिक-से-अधिक जितने बने रह सके, उनको मित्र बनाये रखना चाहिये। यद्यपि आज परिस्थिति बदली हुई है, तथापि रूपान्तरसे यह शत्रु-मित्रकी व्यवस्था आज भी अक्षुण्ण ही है।

संधि, विग्रह (लड़ाई), यान (चढ़ाई), आसन (किलेके अंदर ही बंद रहना), द्वैधीभाव (भेद) और संश्रय (किसी बलवान्का आश्रय)—इन छः गुणोंका बराबर विचार करना चाहिये। एक साथ काम करनेसे भूतमें हुए या भविष्यमें होनेवाले हानि-लाभको बाँट लेनेकी प्रतिज्ञा करना तथा पृथक्-पृथक् काम करनेसे भूतमें हुए या भविष्यमें होनेवाले हानि-लाभको बाँट लेनेकी प्रतिज्ञा करना—ये संधिके दो भेद हैं। शुद्ध संधिमूलक ही शान्ति होती है। आस्तिकता तथा धर्म-प्रधानताके बिना संधियाँ अनेक हेतुओंसे अव्यवस्थित रहती हैं, इसीलिये शान्ति भी अव्यवस्थित रहती है। अतः धर्मनिष्ठा तथा आस्तिकता ही शुद्ध संधि एवं स्थिर शान्तिका मूल मन्त्र है।

अपने विजयके लिये लड़ना और मित्रकी हानिके निमित्त मित्रके शत्रुसे लड़ना—ये विग्रहके दो भेद हैं। आपद्ग्रस्तशत्रुको देखकर उसपर अकेले चढ़ाई करना अथवा मित्रकी सहायतासे चढ़ाई करना—ये यानके दो भेद हैं। सैन्य-बल कमजोर देखकर किलामें रह जाना अथवा मित्रके अनुरोधसे किलामें रह जाना—ये आसनके दो भेद हैं। सेनामें फूट डाल देना अथवा दो मित्र राजाओंमें फूट डाल देना—ये भेदनीतिके दो प्रभेद हैं। शत्रुसे पीड़ित होकर किसी बलवान्का आश्रय लेना अथवा शत्रु पीड़ा न पहुँचाये इसलिये किसी बलवान्का आश्रय लेना—यह दो प्रकारका संश्रय है।

मवि करनेसे भले ही थोड़ी तात्कालिक पीड़ा हो, किंतु भविष्यमें लाभ हो तो मवि अवश्य कर लेनी चाहिये। जब सारी प्रकृति मनुष्य हो और कोप तथा युद्धके साधन पथान हो, तब युद्ध करना चाहिये। जब अपनी सेना दृष्ट मनुष्य हो और शत्रुसेना दुर्बल तथा असुष्ट हो, तब भी युद्ध करना चाहिये। जब सेना, वाहन और कोप क्षीण हो तो शत्रुसे ममझौताकी बातचीत करते हुए अपने दुर्गमें ही रहना चाहिये। जब राजा देखे कि शत्रु बलवान् है तब अपनी सेनाका दो विभागकर एक विभाग लड़ाईपर भेजे और एक विभागको शत्रुकी सेनामें भेजकर शत्रु सेनाके लोगोंको अपनी ओर मिला लेना चाहिये। यदि राजा देखे कि शत्रु अब हमें जीत लेगा, तो दृष्ट किसी ऐसे बलवान् वर्मात्मा राजाका आश्रय ले ले जो अपनी दुष्ट प्रजा और शत्रुको भी दण्ड दे सकता हो तथा गुरुके समान प्रत्येक प्रकारसे उसकी सेवा करनी चाहिये। यदि उसका आश्रय लेनेपर भी कोई लाभ न हो, अपितु हानि होनेकी ही सम्भावना हो, तो बेखटके युद्ध ही करना चाहिये। गुण-दोष विचारकर भविष्यका निर्णय करनेवाले, वर्तमान-निर्णयमें विलम्ब न करनेवाले तथा भूतकालिक शेष कार्यको शीघ्र पूर्ण करनेवाले राजाको शत्रु-मित्र या उदासीन अभिभूत नहीं कर सकते।

मनुने राजाका यद्यपि बहुत महत्त्व माना है, फिर भी उसे निरङ्कुश नहीं बतलाया। सर्वप्रथम राजापर ही धर्मका नियन्त्रण आवश्यक है। राजाके हाथमें जो दण्ड होता है, वह दूसरोंपर ही नियन्त्रण नहीं करता वरन् धर्मविरुद्ध राजाको भी नष्ट कर डालता है, यह पीछे कहा जा चुका है। शुकके अनुसार भी राजाके लिये अमात्योकी अत्यन्त आवश्यकता कही गयी है। जो राजा मन्त्रियोंके मुखसे हिताहितकी बात नहीं सुनता, वह राजाके रूपमें प्रजाका धनहरण करने-वाला डाकू होता है—

हिताहितं न शृणुते राजा मन्त्रिसुखाद्य यः ।

स दस्यू राजरूपेण प्रजानां धनहारकः ॥ (शुकनीति ० । ४८)

शुकके अनुसार राजाको राज्यका कार्य चला देनेके लिये पुरोवा, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मन्त्री, प्रतिनिधि, पण्डित, सुमन्त्र, अमात्य, दूत—इन दस प्रकृतियोंका सग्रह आवश्यक है। इनकी योग्यता एवं कार्योंका वस्तुतः वर्णन शुकनीतिमें है। किसी भी शासन-लेखपर मन्त्री आदिकी न्यौकति होनी चाहिये। उसपर मन्त्री, प्राड्विवाक, पण्डित और दूतको यह लिखना चाहिये कि यह हमारी सम्मतिसे लिखा गया है, अमात्यको लिखना चाहिये कि यह ठीक लिखा गया है, सुमन्त्रको लिखना चाहिये कि इसपर पूर्ण विचार कर लिया गया है, प्रधानको लिखना चाहिये कि यह यथार्थ सत्य है, प्रतिनिधिका लिखना चाहिये कि यह अङ्गीकार करने योग्य है, युवराज लिखे कि यह स्वीकृत किया गया है, पुरोहित अपना मत लिखे कि यह मुझे सम्मत है। मनुके अन्तमें राजा लिखे कि यह स्वीकृत हुआ। आगे लेखके अन्तमें सबकी मुद्र लगनी चाहिये—

मन्त्री च प्राड्विवाकश्च पण्डितो दूतसञ्जकः ।
 स्वाविरुद्ध लेख्यमिदं लिखेयुः प्रथमं त्विमे ॥
 अमात्य. साधु लिखितमस्त्येतद् प्राग् लिखेदयम् ।
 सम्यग् विचारितमिति सुनन्त्रो विलिखेत्ततः ॥
 सत्यं यथार्थमिति च प्रधानश्च लिखेत् स्वयम् ।
 अङ्गीकर्तुं योग्यमिति ततः प्रतिनिधिर्लिखेत् ॥
 अङ्गीकर्तव्यमिति च युवराजो लिखेत् स्वयम् ।
 लेख्यं स्वाभिमतं चैतद् विलिखेच्च पुरोहितः ।
 स्वस्वमुद्राचिह्नितं च लेख्यान्ते कुर्युरेव हि ॥

(शुक्रनीति २ । ३५५—३५९)

मन्त्रिमण्डलके लेखवद्ध युक्तिसहित पृथक् मतोको लेकर विचार करना चाहिये । फिर जो बहुमत हो उसे स्वीकार करना चाहिये—

पृथक्पृथक् मतं तेषां लेखयित्वा ससाधनम् ।

विमृशेत् स्वमतेनैव कुर्याद् यद् बहुसम्मतम् ॥

जो राजा प्रकृतिकी बात नहीं सुनता, वह अन्यायी है । जो प्रजाका रक्षक बनकर भी रक्षा नहीं करता, उस राजाको पागल कुत्तेके समान मार देना चाहिये—

अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः ।

स संहत्या निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद् आतुरः ॥ (शुक्रनीति)

इस तरह भारतीय राजनीतिशास्त्रानुसारी शासक उच्छृङ्खल नहीं होता था ।

आजके लोकतन्त्र-शासनका आधार मुण्ड-गणना है । इसके अनुसार योग्य शासकोंका संग्रह कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव भी हो जाता है । बहुमत जिसे प्राप्त हो, उसीके हाथमें शासनसूत्र आ जाता है । विधान-सभा एव लोक-सभाका काम है विधान या कानूनका निर्माण करना । पर स्थिति यह है कि भारतमें सैकड़ों नहीं हजारों विधानसभायी मेम्बर इस प्रकारके हैं जो कानूनसे सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं । उनका अपना मुकदमा होता है तो वे रुपया खर्चकर अन्य वकीलोंका सहारा लेते हैं; परंतु वे ही राष्ट्रके लिये कानून बनाते हैं ।

साधारण तौरपर भारतीय राजनीतिशास्त्र वेदो एव मन्वादि धर्मशास्त्रोको ही राष्ट्रका संविधान एव कानून मानते हैं । उनकी दृष्टिमें शास्त्रज्ञो एवं सदाचारी धर्मनिष्ठ विद्वानोंकी परिषद् विधान-निर्णेत्री है, विधान-निर्मात्री नहीं । शासन-परिषद्की सहायतासे राजा शास्त्रानुसारी विधानद्वारा शासन करता है । राजा या शासक, वह चाहे जन-प्रतिनिधि हो या कुल-परम्परागत राजा, उसका परम कर्तव्य है कि वह पहले अपने-आपको शास्त्र एव आचार्योंकी श्रृंखलाद्वारा बिनयसे युक्त बनाये । पुनः अपने पुत्रो, मन्त्रियोको बिनययुक्त बनाये, पश्चात् शूद्रो एव प्रजाको बिनययुक्त बनाये—

आत्मानं प्रथमं राजा प्रितयेनोपपादयेत् ।

ततः पुत्रास्ततोऽमान्मानं ततो भृत्यान् ततः प्रजा ॥

(शुर्न० ४ । १०)

राजाको व्यसनमुक्त होना चाहिये । कठोर भाषण, उग्र दण्ड, अर्थ-
दूषण, मुरापान, स्त्री, मृगया और द्यूत—ये राजाके लिये भीषण व्यसन हैं ।
पीछे अष्टादश व्यसनोकी चर्चा आयी ही है—

वारुण्डयोश्च पारुष्यमर्थदूषणमेव च ।

पानं स्त्री मृगया द्यूतं व्यसनानि महीपतेः ॥

(कामन्दकीयनीतिसार १४ । ६)

मन्त्रीके लिये भी ये सब दूषण हैं । आलस्य, स्तब्धता, घमण्ड, प्रमाद,
वैरकारिता आदि ये और भी मन्त्रीके व्यसन हैं । दक्षता, ग्रीवता, अमर्ष, शौर्य एवं
उत्साह आदि गुणोंसे युक्त ही राजा होना चाहिये—

दृष्ट्यं ज्ञेयं तयामर्षं शौर्यं चोत्साहलक्षणम् ।

गुणैरेतैरुपेत सन् राजा भवितुमर्हति ॥

(कामन्दकीयनीति० ४ । २३)

मन्त्रियोंके उपयोगी और भी बहुत-से गुण कहे गये हैं । जिनके बिना
शासन करनेकी योग्यता ही नहीं हो सकती है ।

रवावग्रहो जानपद कुलशीलग्रलान्वितः ।

वाग्मी प्रगल्भश्चक्षुष्मानुत्साही प्रतिपत्तिमान् ॥

सम्भवापलहीनश्च मैत्रः क्लेशसहः शुचिः ।

सत्यसखधृतिस्थैर्यप्रभावारोग्यसंयुतः ॥

कृतशिल्पश्च दक्षश्च प्रज्ञावान् धारणान्वितः ।

दृढभक्तिरकर्ता च वैराणा मन्त्रिणो भवेत् ॥

स्मृतिस्तत्परतार्थेषु चित्तर्को ज्ञाननिश्चयः ।

दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रियसम्पत्प्रकीर्तिता ॥

(कामन्दकीयनीति० ४ । २८—३१)

आत्मनियन्त्रित, स्वदेशस्थ, कुलीन, शीलवान्, बलवान्, वाग्मी, निर्भाक,
शास्त्रज्ञ, उत्साही, प्रत्युत्पन्नमति, निरभिमान, अचञ्चल, मैत्रीवर्धक, सहिष्णु,
पवित्र, धैर्य-स्थैर्य-सत्य एवं सत्त्वसे युक्त, प्रतापी, नीरोग, शिल्पज्ञ, दक्ष,
बुद्धिमान्, धारणावान्, स्वामिभक्त तथा उससे कभी वैर-विद्वेष न करनेवाला सचिन
होता है । स्मृतिमान्, पुरुषार्थ-तत्पर, विचारशील, निश्चित ज्ञानवाला, दृढता,
मन्त्रगुप्ति, क्षमता आदि गुणोंसे युक्त मन्त्री हो । मन्त्रियोंकी योग्यता राजाके
स्वयं प्रत्यक्ष देखकर, परोक्ष (परोपदेश) से तथा अनुमानसे (कार्य देखकर व
ज्ञान केना कि जिनका कार्य नहीं किया) जाननी चाहिये—

प्रत्यक्षपरोक्षानुमेया राजवृत्तिः । स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षम् । परोपदिष्टं परोक्षम् । कर्मसु कृतेनाकृतावेक्षणमनुमेयम् ।' (कौ० अर्थ० १ । ९ । ११—१३)

वाद, जल्प, वितण्डा, रूप कथाके प्रसङ्गसे मन्त्रीकी प्रगल्भता, निर्भीकता, प्रतिभा एवं वाक्कुशलताको जाना जाता है । उसी प्रसङ्गसे सत्यवादिताका भी पता लग जाता है । अवैरकारिता, भद्रता, क्षुद्रताका ज्ञान भी प्रसङ्गवशात् प्रत्यक्षसे ही जाना जा सकता है । आपत्तिके समय उत्साह, प्रभाव तथा क्लेश, सहिष्णुता, धैर्य, अनुराग, स्थिरताका परिज्ञान होता है । भक्ति, मैत्री तथा स्थिरताका परिज्ञान व्यवहारसे करना चाहिये—

उत्साहं च प्रभावं च तथा क्लेशसहिष्णुताम् ।

धृतिं चैवानुरागं च स्थैर्यं चापदि लक्षयेत् ॥

भक्तिं मैत्री च शौचं च जानीयाद् व्यवहारतः ।

(काम० नीतिसार ४ । ३७-३८)

मन्त्रीकी शास्त्रज्ञता एव शिल्पज्ञता तत्-तद् विद्याओके विद्वानोसे जानना चाहिये । उसके स्वजनोसे कुल, स्थान एव संयमका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । कर्ममें प्रयुक्तकर दक्षता, विज्ञान एवं धारयिष्णुताकी परीक्षा होती है । सहवासियो, पड़ोसियोंसे उसके बल, सत्त्व (शक्ति), आरोग्य, शील, अस्तब्धता एवं अचापलका ज्ञान हो सकता है । दारुण कृच्छ्र उत्पन्न होनेपर उसकी कुलीनताका ज्ञान हो सकता है, क्योंकि दारुण अवसरपर ही स्वच्छहृदय कुलीन अपनी विशेषताको दिखलाता है—

साधुतैषाममात्यानां तद्विद्येभ्यस्तु बुद्धिमान् ।

चक्षुष्मत्तां च शिल्पं च परीक्षेत गुणद्वयम् ॥

स्वजनेभ्यो विजानीयात् कुलं स्थानमवग्रहम् ।

परिकर्मसु दाक्ष्यं च विज्ञानं धारयिष्णुताम् ॥

गुणत्रयं परीक्षेत प्रागल्भ्यं प्रतिभां तथा ।

संवासिभ्यो बलं सत्त्वमारोग्यं शीलमेव च ।

अस्तब्धतामचापल्यं वैरिणां चापि कर्तृताम् ॥

समुत्पन्नेषु कृच्छ्रेषु दारुणेष्वप्यसंशयम् ।

दर्शयत्यच्छहृदयः कुलीनश्चतुरस्त्रताम् ॥

(काम० नी० ४ । ३४—३६; ३९, ६९)

आचार्य, संत, महात्मा और विद्वान् ही विद्याओके प्रकाशक, प्रवर्तक तथा सचालक होते हैं । राजा भी विद्वानोसे ही राजनीतिका विज्ञान प्राप्त करता है । इसीलिधे स्वराज्यकी स्थापनामें मित्र-लाभादिसे भी प्रथम विद्या-चिन्तनका ही निर्देश किया गया है; क्योंकि सम्पूर्ण लोकस्थिति ही विद्यापर निर्भर होती है ।

तत्रायं प्रथमोपायः यद् विद्यावृद्धैः सार्धं विद्याचिन्ता । विद्याप्रति-
बद्धत्वाल्लोकस्थितेः ॥

(नागिकाव्यासः)

उपसंहार

राजाको सक्रिय विद्वानोंके साथ नेठकर विनययुक्त होकर आन्वीक्षी, नगी
वार्ता एवं दण्डनीतिका विचार करना चाहिये—
आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीति च पार्थिवः ।
तद्विद्यैन्मत्क्रियोपेतैश्चिन्तयेत् (का० नी० २।१)
विनयान्वितः ॥

वास्त्यायनने भी भूमि, हिरण्य, पशु, धान्य, भाण्डोपस्कर मित्रादिके पहले
विद्याके ही उपार्जन एवं वर्धनको अर्थ माना है—विद्याभूमिहिरण्यपशुधान्य-
भाण्डोपस्करमित्रादीनामर्जितस्य विवर्धनमर्थः । (वात्स्या० कामसूत्र १।२।०)
मधुकरकी वृत्तिसे राजाका सगृहीत कोप भी अपने उपभोगार्थ न होकर
प्रजहितार्थ ही होना चाहिये । शास्त्रधर्मनियन्त्रित शासन ही रामराज्य है । इसमें प्रजाकी
रुचि तथा सम्मतिका पूरा ध्यान रखा जाता है, तथापि शास्त्र एवं धर्मविरुद्ध बहुमतके
आधारपर कोई अनर्थ नहीं किया जाता । फिर भी जहाँ अनेक जाति उपजाति
तथा सम्प्रदायके लोग बसते हों, वहाँ उनके धर्म, संस्कृतिकी रक्षा होनी
चाहिये । किसीके देवस्थान, धर्मग्रन्थ, आचार्य एवं आचार व्यवहारकी अव-
हेलना कदापि न होनी चाहिये । सभीके धर्मका निर्णय उन-उन सम्प्रदायोंके
धर्मग्रन्थों तथा धर्माचार्योंपर ही छोड़ा जाना चाहिये । शासनका उसमें हस्तक्षेप
न होना चाहिये । उसका वध सर्वथा अवरुद्ध होना रामराज्यकी विशेषता है ।
चाहिये । उसका वध सर्वथा अवरुद्ध होना रामराज्यकी विशेषता है ।
देशको सर्वथा अखण्ड रखना चाहिये । प्रान्तों या राज्योंको अपने घरेलू
मामलोमें स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये । पर राष्ट्रहितके व्यापक कार्यमें
सम्पूर्ण देशकी एक नीति रहनी चाहिये । राजा या राष्ट्रपति किंवा
शासनपरिपदके नीचे आठ विद्वानोंकी एक परिपद होनी चाहिये ।
ये विद्वान् वेद, धर्मशास्त्र, राजनीति, समाजनीति, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद आदि
विद्याओं तथा विविध भाषाओं एवं देशविदेशकी नीतिके वेत्ता हों । यदि
सभी सब विषयोंके ज्ञाता न भी हों तथापि पूरी परिपद मिलकर उद्युक्त
विषयोंकी पूरी जानकारी अवश्य रखे । परिपदके सदस्य अपनी सहायताके
लिये पृथक्-पृथक् परामर्शसमिति भी रख सकते हैं । प्रजाकी सम्मति, रुचि
तथा आन्तरिक स्थिति एवं शासनप्रणालीके सुपरिणाम, दुष्परिणाम जाननेके
लिये एक लोकरुसभा होनी चाहिये । उसके सदस्य प्रजाप्रिय हों । उन्हें
प्रजाकी सम्मतिसे उपर्युक्त अमात्य परिपद ही नियुक्त करेगी । गुण्डगणनाके
आधारपर यह कार्य न होना चाहिये ।

राजा, प्रजा, अमात्यमण्डल सभीमें ईश्वरपरायणता और धर्मनिष्ठा होनेसे
शासनव्यवस्था ठीक चल सकेगी । वैसा न होनेसे छल, ऋषट तथा मिथ्या
आचरणका ही बोलबाला रहेगा । धर्मनिष्ठाके बिना कानूनकी वज्रना की

जाती है। परंतु यदि धर्मनिष्ठा है, तो अपराधी स्वयं अनराध व्यक्त करके शुद्धिके लिये दण्ड माँगता है। भारतमें आज भी गोहत्या आदि होनेपर अपराधी 'मिताक्षरासे' व्यवस्था माँगने स्वयं जाता है। वैसे तो सभीको धर्मात्मा तथा ईश्वरविश्वासी होना चाहिये। विशेषकर अमात्यमण्डल और उससे भी अधिक राजाको वैसा अवश्य होना चाहिये। गुणवान् पुरुष थोड़े होनेसे दुर्लभ होते हैं। अतः जहाँतक हो सके, अधिकार थोड़े ही लोगोंके हाथमें होने चाहिये। इसीलिये राजा और अमात्योका हर समय बदलते रहना ठीक नहीं, यही राजतन्त्रका अभिप्राय है। युद्ध आदिके समय लोकतन्त्रमें भी एकहीके हाथमें अधिकार देने पड़ते हैं। अधिक लोगोंकी अपेक्षा थोड़े लोगोंको साधु-सजन बनानेमें सरलता होती है। यदि वंगपरम्पराका राजा हो, तो वह अपने ऊपर अधिक जिम्मेदारीका अनुभव करता है। अतः यथासम्भव वैसा ही राजा होना चाहिये। यदि वैसा न मिले, तो किसी योग्य व्यक्तिको राष्ट्रपति बनाना चाहिये। शीघ्र बदलते रहनेसे किसी योग्य व्यक्तिको भी अपनी नीति कार्यान्वित करनेका पूरा समय नहीं मिल पाता। इसके अतिरिक्त सामान्य व्यक्तिको थोड़े ही दिनोंमें स्वार्थसिद्धिकी चिन्ता लग जाती है, जिससे प्रजाके कल्याणमें बाधा पड़ती है। अतः यह आवश्यक है कि राजा या राष्ट्रपतिको जीवनपर्यन्त या दीर्घकालके लिये नियुक्त किया जाय। किंतु कर्तव्यच्युत होनेपर उसको हटाना आवश्यक है। राजाके स्थानकी पूर्ति उसका योग्य उत्तराधिकारी न होनेपर मन्त्रियोंद्वारा होनी चाहिये। मन्त्रिमण्डलमें किसीकी मृत्यु होने अथवा किसीके हटानेपर शेष मन्त्रियोंके परामर्शसे राजाको नयी नियुक्ति करनी चाहिये।

राजा, अमात्य, कोष, सेना और न्याय—ये राज्यके पाँच मुख्य विषय हैं। ग्राम, मण्डल, प्रान्तके भेदसे उत्तरोत्तर अधिक शक्तिशाली अधिकारियोंकी नियुक्ति होनी चाहिये। कोषके लिये सर्वत्र कर-संग्रह विभाग रहने चाहिये। रक्षा-विभाग तथा न्यायविभागकी भी उचित व्यवस्था होनी चाहिये। रक्षाके लिये सेना दो प्रकारकी होनी चाहिये—एक वह जो प्रतिदिनकी शान्ति स्थापित रखे अर्थात् पुलिस और दूसरी वह, जो विशेष अवसरपर शत्रुके साथ युद्ध करे। न्यायालय प्रत्येक विभागके लिये पृथक्-पृथक् होना चाहिये। मण्डल और प्रान्तमें बड़े-बड़े न्यायालय और सम्पूर्ण राष्ट्रका एक सर्वोच्च न्यायालय होना चाहिये। अन्तिम न्यायालयमें अमात्यमण्डल तथा राजाको न्याय करनेका अधिकार होना चाहिये। न्यायाध्यक्षके पदपर धर्मात्मा, विद्वान् तथा सदाचारी व्यक्तियोंकी ही नियुक्ति होनी चाहिये। सम्पूर्ण स्थितिका पूर्ण परिचय रखनेके लिये गुप्तचरविभाग होना चाहिये। उसका कार्य केवल अपराधी या

राजाके विरोधियाका पता लगाना ही नहीं, किंतु लोपगंवी, परोपकारी, ॥१॥ चारी विद्वानों तथा दुखी आतोंके सम्बन्धों भी सरकारको सूचित करने रहना चाहिये, जिससे निग्रहानुग्रह आदिमें पूरी सहायता मिल सके । कोषका उपयोग उपर्युक्त विभागोंके संचालन, मन्त्रालयनिर्माण तथा सग्रह, यातायात-साधनोंका निर्माण तथा व्यवस्था और राष्ट्रके स्वास्थ्य तथा शिक्षा आदिमें होना चाहिये प्रचार, यातायात, परराष्ट्रसम्बन्ध एक विभागमें, डाक, तार, शिक्षा, स्वास्थ्य दूसरेसे और उद्योग, खाद्य आदि तीसरे विभागसे सम्भ्रष्ट हों तो अच्छा है । इसी तरह कोष, न्याय एवं सेनाकी व्यवस्था होनी चाहिये । आजकल एक सबसे बड़ा विभाग व्यवस्थापनका अर्थात् कानून बनानेका है, जिसके लिये धारासभाओंका निर्वाचन होता है । परन्तु अपने यहाँ तो इसकी आवश्यकता ही नहीं । केवल विभिन्न विद्वानोंकी एक निर्णेत्री परिषद् होनी चाहिये, जो मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, नारद, अङ्गिरा, पराशर आदिके मतानुसार ठीक-ठीक व्यवस्था दे सके । अहिंदुओंके लिये उनके धर्मशास्त्रानुसार उनके आचार्योंकी व्यवस्था होनी चाहिये । भारतीय धर्मशास्त्र और राजनीतिके सम्यक् विद्वान् ही व्यवहारमें शास्त्रार्थके अधिकारी होंगे । व्यवहार-निर्णायक न्यायाध्यक्ष स्वधर्मनिष्ठ एवं ईश्वर-विश्वासी होना चाहिये । अमात्य-मण्डलको राजाके आज्ञानुसार सभी कर्मचारियोंके नियोजन, पृथक्करण, सशोधन आदिका अधिकार होना चाहिये । गुप्तचरोंके अतिरिक्त विभिन्न व्यक्तियोंकी एक अन्वेषण-समितिद्वारा जटिल विषयोंकी जानकारी प्राप्त करनेका प्रयत्न होना चाहिये । अमात्यमण्डलके सदस्य और राजा सर्वसाधारणके लिये दुर्दर्श, दुर्लभ न होकर सुदर्श और सुलभ रहे, जिसमें प्रजा उनसे अपनी स्थिति निवेदन कर सके । ऐसे अनेक स्थान होने चाहिये, जहाँ नियतसमयपर अर्थी आकर अमात्यों या राजासे मिल सकें । मन्त्री तथा राजाओंको भी गुप्त वेपसे प्रजाकी स्थिति तथा राजकर्मचारियोंका व्यवहार जानना चाहिये । इस मार्गसे गुप्त तथा जटिल रहस्योंका भी पता लग सकता है । हिमा मद्यपान, व्यभिचार, द्यूत आदिपर कड़ा नियन्त्रण होना चाहिये । प्रत्येक पदपर सच्चे और शुद्ध अधिकारियोंकी नियुक्ति होनी चाहिये । पुलिस प्रजाकी सेवक बनकर नम्रतापूर्वक काम करे, पर साथ ही दुष्टदमनार्थ आवश्यक उग्रताका निषेध न होना चाहिये । प्राचीन ढंगपर ग्रामपचायतें विविक्त स्थापित होनी चाहिये । आपसी झगड़े वही तय हुआ करे, जिसमें न्यायालय जानेकी आवश्यकता ही न पड़े । पचायतोंका काम ठीक होता है या नहीं, इसकी देख-रेखके लिये एक निरीक्षक-विभाग होना चाहिये । ऋष विष्णुके सम्बन्धमें यथासम्भव ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये कि अन्नवाले अन्न, तेलवाले तेल, गुड़वाले गुड़ दें । नाई, धोबी आदि अपना काम करें जिसके बदलेमें

उन्हे अन्न मिले । यथासम्भव नकद क्रय-विक्रयके स्थानपर वस्तु-विनिमय होना चाहिये और जिसका जो परम्पराप्राप्त व्यवसाय है, उसे वही करना चाहिये । इस तरह परस्पर सम्बन्ध स्थापित रखनेमें सुविधा होगी । जहाँतक हो प्रजाको विशुद्ध क्षत्रियवशका राजा, विद्वान् ब्राह्मण पुरोहित तथा महामात्य बनाना चाहिये । न्यायाध्यक्ष तथा अध्यापकके पदपर भी ब्राह्मणोंकी ही नियुक्ति होनी चाहिये । सेनापतिके पदपर पवित्र वीर क्षत्रिय तथा सैनिक भी अधिकतर कुलीन क्षत्रिय ही होने चाहिये । कोषाध्यक्ष वैश्य तथा सेवाध्यक्ष शूद्र होने चाहिये । चर्मके व्यापारो तथा यन्त्रोंके अध्यक्ष चर्मकार होने चाहिये । शुचिता (सफाई) विभागका अध्यक्ष अन्त्यज होना चाहिये । इसी तरह प्रायः सभी यन्त्र, गिल्फ, कल-कारवाने आदिपर शूद्रोंका ही प्राधान्य रहना चाहिये । सर्वसाधारणके व्यवहारमें आनेवाली राष्ट्रकी भाषा हिंदी होनी चाहिये । पर विभिन्न विवरणोंमें संस्कृतका प्रयोग आवश्यक है ।

राजाको उदार, सौम्य, धार्मिक, निर्व्यसन, विद्वान्, शुद्ध तथा रहस्यज्ञ होना चाहिये । उसे वेदान्त, न्याय तथा दण्डनीतिका विद्वान् और अपने दोषोंका ज्ञाता होना चाहिये । कोई काम करनेके पहले उसपर उसे स्वयं तथा मन्त्रियोंके साथ एकान्तमें अच्छी तरह विचार करना चाहिये । किसी भी महत्वपूर्ण कार्यमें शुभ मुहूर्त्त, नीति और आथर्वणिक प्रयोगोंका उपयोग किया जा सकता है । अच्छा तो यह है कि राजा योग्य व्यक्तियोंद्वारा श्रौत-स्मार्त्त-कर्मोंका अनुष्ठान करता रहे । राजाका कर्तव्य है कि वह अप्राप्त धन, भूमि आदि वस्तु धर्ममार्गसे प्राप्त करे, प्राप्तकी रक्षा करे तथा उन्हे बढ़ाये और फिर उन्हे पात्रोंमें प्रदान भी करे । दत्त वस्तुओंका आगामी राजाओंद्वारा भी पालन होता रहे, इसलिये दानपत्र आदिका उचित उल्लेख होना चाहिये । राजधानी ऐसे प्रदेशमें होनी चाहिये जो रम्य हो और जहाँ मनुष्योंके लिये अन्न तथा पशुओंके लिये चारा पर्याप्त मिल सके । वहाँ विस्तृत दुर्ग (किला) बनवाना चाहिये, जिसमें जन, धनकी पूर्ण रक्षा हो सके । राजाको चाहिये कि वह विद्वान् ब्राह्मणोंके प्रति क्षमाशील, शत्रुओंके प्रति क्रोधयुक्त और भृत्यवर्ग तथा प्रजाओंके प्रति पिताके समान हो । प्रजाके पुण्यका छठा भाग राजाको मिलता है, अतः न्यायसे प्रजाका पालन ही राजाके लिये सबसे बड़ा धर्म और दान है । अन्यायियोंसे ठीक रक्षा न कर सकनेके कारण प्रजाके पापोंका आधा भाग राजाको मिलता है, अतः उसे सदा सावधान रहना चाहिये ।

राजनीतिके अयोग्यों, नास्तिकोंके हाथमें जाते ही विद्वानोंके भी मुँह बंद हो जाते हैं । शुक्राचार्यके पुत्र गण्डामर्क-जैसे योग्य विद्वान् भी हिरण्यकशिपु-जैसीको ही ईश्वर बतलाने लगते हैं । वे किसी अयोग्य शासकको भी 'त्वमर्कस्त्वं सोमः' (शिवमहिम्न०) कहने लगते हैं । शासकोसे भयभीत विद्वान् स्पष्ट सत्य कहनेमें हिचकने लगते हैं ।

आचार्य, साधु-मंत भी था तो चुप साध लेते हैं, या सरकारी साधुसमाजमें प्रविष्ट होकर ईश्वर गुणगानके बढले सरकारका गुणगान करने लगते हैं। गोहत्या, धर्म-हत्या, शास्त्रहत्या जैसे जघन्य कृत्योंको होते देखकर भी वे मौन रह जाते हैं और इन सबके प्रवर्तक, प्रेरक सरकारका गुणगान करते हैं। रावणकी मायासे बने अनेकों हनुमान् देखकर जैसे बन्दर भ्रममें पड़ गये कि इनमेंसे कौन रामके हनुमान् हैं, कौन रावणके हनुमान्, उसी तरह जनता भी भ्रममें पड़ जाती है कि कौन रामके साधुसंत हैं और कौन सरकारी साधुसंत? शास्त्र एवं धर्मके नियन्त्रण शून्य उच्छृङ्खल शासक जनताके धर्मके साथ धनका भी अपहरण कर लेते हैं। राष्ट्रियकरण, समाजीकरण आदि नामोंसे जनताकी व्यक्तिगत भूमि-सम्पत्ति आदि छीन लेते हैं। जनताके व्यक्ति शासनयन्त्रके नगण्य पुर्जे बन जाते हैं। शासन-यन्त्र तानाशाह शासकोंके हाथका खिलौना बन जाता है। उच्छृङ्खल शासकोंकी इच्छा ही कानून-कायदा बन जाती है। मनातन सत्य, न्याय, विवेक, शास्त्र-मन छुत हो जाते हैं। धनहीन होनेके कारण जनतामें ऐसे शासनके विरोधकी भी शक्ति नहीं रह जाती। आजके सरकारी साधुसमाजका यह प्रस्ताव कि 'साधुसमाज गोहत्या-बन्दी आन्दोलनका समर्थन नहीं कर सकता, क्योंकि वह ऐसे अपराधी साधुओंद्वारा चलाया गया है जिनसे साधु-समाजकी सत्ताको बहुत ठेस पहुँची है' ओख खोल देनेवाला है। विश्वनाथमन्दिर-हरिजनप्रवेश, हिंदू-विवाह, तलाक आदि प्रदनोंपर सरकारी साधुओं एवं सरकारी पण्डितोंका चुप रहना भी एक विचित्र बात है। आचार्य कहे जानेवाले लोगोकी भीषण निद्रा या जान-बूझकर ओख मीचनेकी बात भी इसी ओर संकेत करती है कि राजनीतिके विप्लुत होनेके बाद सब विद्याएँ ध्वंसी हो जाती हैं।

राजनीतिमें किसका अधिकार

कई लोग कहते हैं कि विद्वानों, महात्माओंको राजनीतिमें नहीं पड़ना चाहिये, परंतु राजनीतिका विद्वान् होना चाहिये। वे समारोहके साथ सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं कि राजनीतिका विद्वान् होना ही विद्वान्का अन्तिम कृत्य है, पर प्रत्यक्ष राजनीतिमें भाग लेना नहीं। वे समर्थ रामदास और चाणक्यकी प्रशंसा करते हुए भी उनके कर्तृत्वको दुर्लक्ष्य करते हैं। वे लोग 'मञ्जेन् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्' (म० शा० ६३। २८) का भी यही अर्थ करते हैं कि 'राजनीतिके जाने बिना त्रयी दूब जाती है'। पर 'दण्डनीति'का 'दण्डनीतिज्ञान' अर्थ करना असङ्गन है। वे इस बातपर ध्यान नहीं देते कि ब्रह्मज्ञानमें भिन्न सभी ज्ञान पराङ्ग ही होते हैं, स्वतन्त्र नहीं। भट्टपादकुमारिलका स्पष्ट कहना है कि 'सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते। पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यमित्यवधार्यताम्॥' (न प्रबान्कि)

पीछे कहा गया है कि सक्रिय विद्वानोंसे ही राजाको आन्वीक्षिकी, जयी, चार्ता एवं दण्डनीतिका विचार करना चाहिये—'तद्विद्यैस्तद्विद्योपेनैश्चिन्तयेत्' का० शा० = १।१)

ब्रह्मात्मविज्ञान तो स्वसत्तामात्रसे अविषा, तत्कार्यका निर्वर्तक होनेसे पुरुषार्थरूप है। ऐसे कतिपय स्थलोको छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र ही ज्ञान वर्तमान है।

बिना सफल नहीं होता । 'जानाति हृच्छति अथ करोति' यह क्रम प्रसिद्ध है । जाननेसे इच्छा होती है, इच्छासे क्रिया होती है । 'यः क्रियावान् स पण्डितः' (सुभा० भं०) की कहावत प्रसिद्ध ही है । प्रयोगहीन शिल्पविज्ञान एव शस्त्रादि-विज्ञानके तुल्य प्रयोगहीन राजनीति-विज्ञान भी व्यर्थ ही रहता है । क्रियाहीन तर्क-वितर्क एव ज्ञान-विज्ञान, बुद्धि-व्यायाममात्र ही रह जाता है ।

रावणके समयमें ज्ञान-विज्ञानवाले ऋषियोकी कमी न थी । फिर भी ऋषियोका वध चालू था । रक्तघटका उपहार देनेपर भी रावणको संतोष नहीं हुआ था । ऋषियोकी अस्थियोका पहाड़ लग गया था ।

अस्थि समूह देखि रघुराया । पूछा मुनिन्ह लागि अति दाया ॥

नितिचर निकर सकल मुनिखाण्ड । सुनि रघुबीर नयन जल छाए ॥

(रामचरितमानस अरण्यकाण्ड)

उस समय विश्वामित्रकी सक्रिय राजनीति ही सफल हुई । उसीके द्वारा राम मैदानमें आये और दुष्टोका दर्प-दलन करके त्रयी-धर्मकी रक्षा एवं साधु-सत्पुरुषोका पोषण किया । हाँ, जहाँ राजनीतिके योग्य प्रयोक्ता एवं प्रयोग-साधन ठीक उपलब्ध हों, वहाँ विद्वान् केवल उपदेशमात्र कर सकता है, परंतु जहाँ प्रयोक्ता, प्रयोग-साधन नहीं, वहाँ उनका अन्वेषण एव निर्माण भी विद्वान्का ही काम है । राजाके अभावमें यह सब उत्तरदायित्व विद्वान्पर ही आता है । 'चाणक्य' ने यही सब किया था, समर्थ रामदासने भी यही किया । शुक, बृहस्पति आदि भी अनेक ढंगसे सक्रिय राजनीतिका प्रवर्तन करते थे । हाँ, विद्वान् राज्याधिकारके प्रलोभनमें न पड़े, यह अवश्य ठीक है । अतः ठीक राजनीति बिना त्रयी एव तत्प्रोक्त धर्म संकटग्रस्त हो जाता है ।

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून् ।

ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वा परिददे प्रजाः ॥

(मनुस्मृ० ९ । ३२७)

प्रजापतिने सृष्टि रचकर वैश्योको पशु दिया, ब्राह्मण एव राजाको सारी प्रजा दी । अतः राजाके अभावमें विद्वानोपर सर्वाधिक भार आ जाता है । विद्वान् आस्तिक, सद्गृहस्थ एव साधु-सत्पुरुषोके बिना राजनीति सर्वथा उच्छृङ्खल लोगोके हाथमे चली जाती है, फिर तो गुडागर्दीका ही शासन होने लगता है । अतः धार्मिक लोगोके प्रवेशसे ही समस्या हल हो सकती है । यह ठीक है कि 'सन्निष्ठा' एव सद्बुद्धि के प्रचारसे सद्बुद्धि होती है, सद्बुद्धिसे सदिच्छा एवं सदिच्छासे सत्प्रयत्न होता है और सत्प्रयत्न ही सब प्रकारके सत्फलोका स्रोत होता है । परंतु आज तो शिक्षा भी स्वतन्त्र विद्वानोके हाथमे नहीं है । जिस विचारके शासक हैं, उसी विचारका समर्थन करनेवाली आजकी शिक्षा बनती जा रही है । स्वतन्त्र विद्वान्, स्वतन्त्र विद्यालय एवं उनके छात्र भी सरकारी-शिक्षाके प्रभावसे स्पष्ट ही प्रभावित हैं । कथावाचक, मण्डलेश्वर आदि भी उसी ढंगकी कथा कहनेमें लाभका अनुभव करते हैं । घोर नास्तिक उच्छृङ्खल मिनिस्टरो, सरकारी पदाधिकार-

रियोकी भी विद्वान्, महन्त, मण्डलेश्वर प्रशंसा करते फिरते हैं। इस दृष्टिसे नास्तिकोंके हाथसे राजनीतिका उद्धार करना योग्य धार्मिक, सुशील लोगोंके हाथमें राजनीति लानेके लिये विद्वान्का प्रयत्न अत्यावश्यक है ही। महाभारतका स्पष्ट वचन है—

क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्त
पश्चादन्ये श्रेयभूताश्च धर्माः ॥

(महा० शं० ६४ । २१)

परमेश्वरसे सर्वप्रथम राजधर्मका ही आविर्भाव हुआ। उसके पीछे राजधर्मके अङ्गभूत अन्य धर्मोंका प्रादुर्भाव हुआ। अतः राजधर्म—राजनीतिके नष्ट होनेपर त्रयीधर्मके डूब जानेकी बात आती है। अराजकता या उन्मूलन राजाके धर्महीन अधार्मिक राज्यमें कोई धर्म पनप ही नहीं सकता। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्वके लौकिक-पारलौकिक, अभ्युदय एव निःश्रेयसके सम्पादनमें होनेवाले सब प्रकारके विघ्नोंको रोककर सब प्रकारकी सुविधा उपस्थित करना भारतीय राजधर्म, राजनीति या क्षात्र-धर्मका मूलमन्त्र है।

भले ही कभी राजनीति राजाओ, राजमन्त्रियों एव राजकीय पुरुषोत्तक ही सीमित रहे, उसमें सर्वसाधारणका प्रवेश आवश्यक भी ठहरे, तब भी विशिष्ट विद्वानोंके लिये तो कभी भी राजनीति उपेक्ष्य नहीं रही है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्वको लौकिक पारलौकिकविनाशसे बचाना, उनको अभ्युदय, निःश्रेयस-प्राप्तिसे वञ्चित होनेसे बचाना क्षात्र या राजाका धर्म है। वही क्षात्रधर्म है, वही राजनीति है। इसीलिये राजाकी प्रशंसा है—

‘नराणां च नराधिपम्’ (गी० १०। २७) ‘नाविष्णु, पृथिवीपति’ । (दे० भा०)

‘महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ।’ (मनु० ७। ८)

‘राजा ईश्वररूप है, नरोंमें नराधिप ईश्वरीय विभूति है, विष्णुमे अतिगिक्त पृथ्वीपति नहीं हो सकता, वह कोई मनुष्यरूपमे विशेष दिव्य शक्ति है उत्थादि’। उस प्रकारके राजधर्मका पालन श्रुताध्ययनसम्पन्न धर्मज्ञ, सत्यवादी, रागद्वेषविहीन, विद्वानोंकी सहायता विना राजा भी नहीं कर सकता। इसीलिये राजाके लिये आवश्यक है कि वह ऐसे विद्वानोंको अपना सभासद बनाये—

श्रुताध्ययनसम्पन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ।

राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः ॥

(याशवल्क्यस्मृति २ । २)

शासनारूढ शासककी भूल या प्रमादको रोकनेके लिये परम निरपेक्ष विरक्त विद्वान् भी लोककल्याण-कामनासे राजनीतिमें हस्तक्षेप करते थे। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो वेन-जैसे अन्यायी राजाको, जो समझाने बुझाने भी न माने, शासनाधिकारसे च्युत या नष्ट भी कर देते थे एवं उनके स्थानमें पृथ-जने योग्य शासकको प्रतिष्ठित करते थे। यह भी लोक-कल्याणार्थ विद्वानोंके राजनीतिमें हस्तक्षेपका उदाहरण है। ‘इतिहास’ बतलाता है कि मगरजे प्रसूत राजनीतिज्ञ

शासकोंने अपनी राजनीतिका बागडोर तपःपूत, लोक-हितैषी, राज-द्वेषविहीन ऋषियोंके ही हाथमें दे रक्खा था। देवराज इन्द्रकी राजनीति देवगुरु बृहस्पतिके हाथमें थी, दैत्यराज बलिकी राजनीति महर्षि शुक्राचार्यके हाथमें थी तथा रामचन्द्रकी राजनीति वसिष्ठके हाथमें थी। धर्मराज युधिष्ठिरकी राजनीति धौम्य, व्यास, कृष्ण, विदुर आदिके हाथमें थी। चन्द्रगुप्तकी राजनीति महर्षि चाणक्यके हाथमें थी तथा शिवाकी राजनीति भी समर्थ रामदासके हाथमें थी। वस्तुतः जैसे बिना अङ्गुशके हस्ती, बिना लगामके घोडा आदि हानिकारक होते हैं, वैसे ही अङ्गुश एवं नियन्त्रणके बिना शासन भी हानिकारक होता है। राज्यश्रीसम्पन्न राजापर भी अङ्गुश होना ही चाहिये। इसी अर्थमें राजापर धर्मका नियन्त्रण होना चाहिये। यही बृहदारण्यक 'क्षत्रस्य क्षत्रम्' (१।४।१४) के अनुसार धर्मनियन्त्रित राजतन्त्रका सिद्धान्त है। धर्म-कर्म, संस्कृति, धर्मसंस्थाकी रक्षा तभी हो सकती है, जब धर्म-नियन्त्रित शासक हो। अन्यथा उच्छृङ्खल शासक सबको ही चौपट कर देता है।

सत्पुरुषोंसे एक निवेदन

कुछ लोग कहते हैं कि उपासना या ज्ञान तो मनकी चीज है। सब कुछ गड़बड़ होनेपर भी महात्मा या विद्वान्को इन टटोसे दूर रहकर भजन ही करना चाहिये। ठीक है, परतु शास्त्र एवं धर्म-स्थान नष्ट हो जानेपर विद्वानो या महात्माओका शण्डामर्कके तुल्य सरकारीकरण हो जानेपर भजन करनेका, धार्मिक होनेका मन भी कैसे बन सकेगा? आखिर धार्मिक, आध्यात्मिक भावनाओसे ओत-प्रोत मन भी तो शास्त्रो एव सत्पुरुषोंकी कृपासे ही बनता है, बिना शास्त्रादिके वैसा मन भी नहीं बन सकता है। यदि प्रह्लादने भी यही सोचा होता कि चलो पितासे विवाद कौन करे? मनमें ही रामनाम जपते रहेंगे, ऊपरसे पिताकी ही बात मान ले तो आज कोई राम-नाम लेनेवाला रह सकता था? परंतु जब सच्चाईके साथ प्रह्लादने अपने जीवनको संकटमें डालकर भी सिद्धान्तकी रक्षा की, तभी संसारमें सिद्धान्तकी स्थिरता रह सकी है। इस तरह विद्वान् एवं महात्मा राजतन्त्र शासनमें भी राजनीतिमें हस्तक्षेप करते थे, फिर अब तो जनतन्त्र-शासन है। इस सिद्धान्तके अनुसार तो शासनकी सर्वोच्चता जनतामें ही निहित होती है। अतः वास्तविक राजा जनता ही होती है, अतः राजनीतिक दक्षता सम्पादन करना प्रत्येक व्यक्तिका परम कर्तव्य है, फिर तो जनताके धन एवं धर्मकी रक्षाका उत्तरदायित्व जनतापर ही होता है। इसलिये जनताके प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य होता है कि वह उदारता, गम्भीरता और दक्षताके साथ राष्ट्र एवं धर्मका हिताहित देखकर कर्तव्यका निर्धारण एवं पालन करे। जहाँ न राजतन्त्र हो, न जनतन्त्र हो; किंतु अधिनायकतन्त्र डिक्टेटरशिप हो, वहाँपर तो विशिष्ट दक्ष राजनीतिज्ञ विद्वानो एव महात्माओके सिवा दूसरा कोई कुछ कर ही नहीं सकता है। जनताका मग्नह, उसे प्रोत्साहन देना एवं क्रान्तिके लिये उसे तैयार करना भी राजनीतिज्ञोंके ही वशकी बात है। ऐसे समयमें धर्म एव धर्मशास्त्रोंकी रक्षाके लिये विद्वानोको सामने आना पड़ता है। इसी अभिप्रायसे कहा गया है कि—

स्थापयध्वमिमं मार्गं प्रयत्नेनापि हे तृजा ।
स्थापिते वैदिके मार्गे सकल सुखिर भवेन ॥

(सुतसंहिता, ज्ञानयोगसू २०।५४)

विद्वानोको वेदिक धर्मकी स्थापनाके लिये मुट्ट प्रयत्न करना चाहिये ।
वैदिक-धर्मके स्थिर होनेपर सब कुछ स्थिर हो जायगा । यही यह भी कहा
गया है कि जो समर्थ होनेपर भी सर्व प्रकारसे धर्मरक्षार्थ प्रयत्नशील नहीं
होता, वह पापका भागी होता है । माता-पिताकी, गुरुजनोकी या जनसमूहके धन
धर्म एवं प्राणोंका विनाश हो रहा हो, कोई समर्थ पुरुष बैठे-बैठे तमाशा देखे, कुछ
प्रयत्न न करे, यह प्रत्यक्ष ही पाप है—

यश्च स्थापयितुं शक्नो नैव कुर्याद् विमोहितः ।

तस्य हन्ता न पापीयानिति वेदान्तनिर्णयः ॥

(सुतसंहिता, २।२०।५५)

किंतु जो समर्थ न होनेपर भी यथाशक्ति धर्मशास्त्र मर्यादाकी रक्षाके
लिये प्रयत्न करता है, वह उसी पुण्यके प्रभावसे सब पापोंसे मुक्त होकर सम्यक्
ज्ञानका भागी होता है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि यम कहे
जाते हैं । यह निवृत्तिमार्गानुसारियोंके लिये बड़े ही महत्त्वके हैं । शौच, सतोष,
स्वाध्याय आदिमें कुछ गड़बड़ी क्षम्य भी हो सकती है, परंतु यमके मेहनतों तो
पूर्ण तत्परता होनी चाहिये । इसीलिये कहा गया है—‘यमान् सेवेत सतत नियमान्
मत्परः क्वचित्’ (श्रीमद्भा०) यमोंका सेवन सर्वदा ही करना चाहिये । नियमोंमें सातत्य
न होनेपर भी काम चल सकता है । अहिंसा आदिका अभिप्राय है—मनसा, वाचा,
कर्मणा, प्राणिरक्षण करना, प्राणियोंको पीड़ा न पहुँचाना । यही लोकरक्षण, प्राणिरक्षण,
धर्मरक्षण राजनीतिका मुख्य लक्ष्य है, यही धर्म-त्राण है । इसी कारण महात्माओंकी
इन कार्योंमें प्रवृत्ति होती थी । कालकृतक्षीय-जैसे अरण्यवासी, चाणक्य-जैसे
बालब्रह्मचारी, समर्थ स्वामी-जैसे निवृत्तिनिष्ठ लोग भी उस काममें सलग्न हुए ।
फिर भले ही इस काममें सफलता मिले अथवा न मिले, समुचित प्रयत्न कभी
निष्फल नहीं होता । उसका अदृष्ट फल तो अवश्य ही प्राप्त हो जाना है, तभी
तो भगवान् कृष्णने कहा था—

यः स्थापयितुमुद्युक्तः श्रद्धयैवाक्षमोऽपि सन् ।

सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग् ज्ञानमवाप्नुयात् ॥

धर्मकार्यं यत्तच्छक्यं नो चेत् प्राप्नोति मानवः ।

प्राप्तो भवति ततः पुण्यमिदं येनास्ति संशयः ॥

इन सब बातोंसे स्पष्ट हो जाना है कि धर्ममार्ग केवल धर्मपर जव कि जनताके
भी राजनीतिसे न बड़ा काम भागे-मुझसे चाहिये और धर्मरक्षण के लिये जो भी
आवश्यक कार्य हो जाता चाहिये । परिणाम निश्चयेन धर्ममार्ग ही होगा ।
निवृत्तिमार्ग ।

श्रीहरिः

श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाद्वारा अनुवादित संस्कृत पुस्तकें

१-श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य-[हिंदी-अनुवादसहित] इसमें मूल श्लोक, भाष्य, हिंदीमें भाष्यार्थ, टिप्पणी तथा अन्तमें शब्दानुक्रमणिका भी दी गयी है । साइज २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ ५२०, तिरंगे चित्र ३, मूल्य २.७५

२-श्रीमद्भगवद्गीता रामानुजभाष्य-[हिंदी-अनुवादसहित] आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ६०८, तीन वहु-रंगे चित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य २.५०

इसमें भी शांकरभाष्यकी तरह ही श्लोक, श्लोकार्थ, मूल भाष्य तथा उसके सामने ही हिंदी अर्थ दिया है । कई जगह टिप्पणी भी दी गयी है ।

३-बैदान्त-दर्शन-[हिंदी-व्याख्यासहित] इसमें ब्रह्मसूत्रका सरल भाषामें अनुवाद तथा व्याख्या दी गयी है । साइज डिमाई आठपेजी, पृष्ठ ४१६, तिरंगा चित्र, सजिल्द मूल्य २.००

४-पातञ्जलयोगदर्शन-[हिंदी-व्याख्यासहित] इसमें महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन सम्पूर्ण मूल, उसका शब्दार्थ एवं प्रत्येक सूत्रका दूसरे सूत्रसे सम्बन्ध दिखाते हुए उन सूत्रोंकी सरल भाषामें व्याख्या की गयी है । अकारादि-क्रमसे सूत्रोंकी वर्णानुक्रमणिका भी दी गयी है ।

आकार २०×३०-१६ पेजी, पृष्ठ १९२, मूल्य .७५

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

मूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये ।

गीताप्रेस, गोरखपुरकी गीताएँ

- श्रीमद्भगवद्गीता—तत्त्वविवेचनी—‘कल्याण’के गीता-तत्त्वाङ्कमें प्रकाशित गीता
विषयक २५, १५ प्रश्न और उनके उत्तरके रूपमें विवेचनात्मक टंगरी
हिंदी-टीकाका संगोषित संस्करण, टीकाकार—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, ४.००
- पृष्ठ ६८४, रगीन चित्र ४, मूल्य
- श्रीमद्भगवद्गीता—[श्रीजाकरभाष्यका सरल हिंदी-अनुवाद] इसमें मूल भाष्य
तथा भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता
कर दी गयी है। पृष्ठ ५२०, चित्र ३, मूल्य २.३५
- श्रीमद्भगवद्गीता—[श्रीरामानुजभाष्यका सरल हिंदी अनुवाद] आकार डिमाई
आठपेजी, पृष्ठ ६०८, तीन तिरगे चित्र, सजिल्द मूल्य २.५०
- श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान
और सूक्ष्म विषय एवं ‘स्वागसे भगवत्प्राप्ति’ लेखसहित, मोटा टाइप, १.२५
- कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७२, रगीन चित्र ४, मूल्य
- श्रीमद्भगवद्गीता—[मञ्जली] प्रायः सभी विषय १।) वाली न० ४ के समान,
विशेषता यह है कि श्लोकोके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और ३.००
- टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, रगीन चित्र ४, मूल्य
- श्रीमद्भगवद्गीता—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, सटीक, मोटे अक्षरोंमें, लाहरी
ढंगकी, तिरगा चित्र, पृष्ठ ४२४, मूल्य १.८३
- श्रीमद्भगवद्गीता—श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, मोटा
टाइप, पृष्ठ ३१६, मूल्य १.५०
- श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, पृष्ठ २१६, मूल्य अजिल्द ३.१
- श्रीमद्भगवद्गीता—केवल भाषा, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र, पृष्ठ १९२, मूल्य २.५
- श्रीमद्भगवद्गीता—पत्ररत्न, मूल, सचित्र, मोटे टाइप, गुटका साइज, पृष्ठ १८४, मूल्य २.०
- श्रीमद्भगवद्गीता—साधारण भाषाटीका, पाकेट साइज, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य १.६
- श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, तावीजी साइज २४x२॥ इंच, पृष्ठ २९६, सजिल्द मूल्य १.२२
- श्रीमद्भगवद्गीता—विष्णुमहत्तनामसहित, पृष्ठ ६२८, सचित्र, मूल्य १.००

संस्कृतकी कुछ मूल तथा सानुवाद पुस्तकें

श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी-पृष्ठ ६८४, चित्र ४, सजिल्द, मूल्य ...	४.००
श्रीमद्भगवद्गीता [वड़ी]-पृष्ठ ५७२, चित्र ४ सजिल्द, मूल्य	१.२५
ईशावास्योपनिषद्-सानुवाद, शाकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५२, मूल्य	.२०
केनोपनिषद्-सानुवाद, शाकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४२, मूल्य	.५०
कठोपनिषद्-सानुवाद, शाकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७८, मूल्य	.५६
प्रश्नोपनिषद्-सानुवाद, शाकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२८, मूल्य	.४५
मुण्डकोपनिषद्-सानुवाद, शाकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२२, मूल्य	.४५
माण्डूक्योपनिषद्-सानुवाद, शाकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २८४, मूल्य	१.००
ऐतरेयोपनिषद्-सानुवाद, शाकरभाष्यसहित, पृष्ठ १०४, मूल्य	.३७
तैत्तिरीयोपनिषद्-सानुवाद, शाकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २५२, मूल्य	.८१
श्वेताश्वतरोपनिषद्-सानुवाद, शाकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २६८, मूल्य	.८७
ईशावास्योपनिषद्-अन्वय तथा सरल हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ १६, मूल्य	.०६
श्रीमद्भागवतमहापुराण-दो खण्डोमे, सटीक, पृष्ठ २०३२, चित्र रंगीन २६, १५.००	
श्रीमद्भागवतमहापुराण-मूल मोटा टाइप, पृष्ठ ६९२, चित्र १, सजिल्द मू०	६.००
श्रीमद्भागवतमहापुराण-मूल, गुटका, सजिल्द, पृष्ठ ७६८, सचित्र, मूल्य	३.००
श्रीविष्णुपुराण-सानुवाद, पृष्ठ ६२४, चित्र ८, सजिल्द, मूल्य	४.००
अध्यात्मरामायण-सानुवाद, पृष्ठ ४००, सचित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य	३.००
पातञ्जलयोगदर्शन-मूल, पृष्ठ २०, मूल्य	.०२
श्रीदुर्गासप्तशती-सानुवाद, पृष्ठ २४०, सचित्र, मूल्य	.७५
श्रीदुर्गासप्तशती-मूल, पृष्ठ १५२, सचित्र, मूल्य	.५०
लघुसिद्धान्तकौमुदी-(संस्कृतके विद्यार्थियोंके लिये) पृष्ठ ३६८, मूल्य	.७५
सूक्ति-सुधाकर-सुन्दर श्लोक-संग्रह, सानुवाद, पृष्ठ २६६, मूल्य	.६२
स्तोत्ररत्नावली-चुने हुए स्तोत्र, सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ ३२०, मूल्य	.५०
प्रेमदर्शन-नारद-भक्ति-सूत्रोकी विस्तृत टीका, सचित्र, पृष्ठ १९२, मूल्य	.३१
विवेक-चूडामणि-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १८४, मूल्य	.३१
अपरोक्षानुभूति-शङ्करस्वामिकृत सानुवाद, पृष्ठ ४०, सचित्र, मूल्य	.१६
मनुस्मृति-द्वितीय अध्याय, सार्थ, .१०	
श्रीविष्णुसहस्रनाम-सटीक .१०	
श्रीविष्णुसहस्रनाम-मूल, पृष्ठ ४८, .०५	
शाण्डिल्यभक्तिसूत्र-सटीक, .१०	
मूलरामायण-सानुवाद, पृष्ठ २४ .०८	
गोविन्द-दामोदर-स्तोत्र-सटीक, .०६	
संध्योपासनविधि-अर्थसहित, .०६	
संध्या-विधिसहित, पृष्ठ १६, मूल्य .०३	
शारीरकमीमांसादर्शन-मूल, .०५	
श्रीरामगीता-सटीक, पृष्ठ ४०, .०५	
प्रश्नोत्तरी-सटीक, पृष्ठ ३२, .०३	
नारद-भक्ति-सूत्र-सटीक, पृष्ठ २४, .०२	
सप्तश्लोकी गीता-सटीक .०१	

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

कुटुम्बमें विघटन, वैमनस्यसे नैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक सभी प्रकारका पतन और पातक हो सकता है। पर उपर्युक्त लोगोसे झगड़ा टालनेमें ये विषय उपस्थित ही नहीं होते। अतः समाजके संघटन, धारण-पोषणमें कोई बाधा नहीं पड़ती। धर्मके ही सम्बन्धसे बालक, बूढ़े, दुर्बल, रोगियोंके आग्रह, बातों और चिडचिडापनको सहना पड़ता है, जो भौतिक और स्वार्थ-दृष्टिके संघटनमें असम्भव है। ज्येष्ठ भ्राताको पिताके समान और भार्या तथा पुत्रको अपना गरीर समझकर उनसे विवाद बचाना चाहिये। दासवर्गको अपनी छायामें और कन्याको परम दयाका पात्र जानकर उन सबका सहन करना चाहिये।

भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ॥

छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ।

तस्मादेतैरधिक्क्षितः सहेतासंज्वरः सदा ॥ (मनु० ४। १८५)

वास्तवमें इस तरह जो अपने सहवासियोंद्वारा अपनी निन्दा सह लेगा, वही व्यापक संघटनका अधिकारी होगा। किसी भी समाज या राष्ट्रको वशमें लानेके लिये बड़ी सहिष्णुता तथा स्वार्थ त्यागकी अपेक्षा है। अपने कुटुम्बको कुटुम्ब बनानेके बाद ही प्राणी वसुधाको कुटुम्ब बना सकता है। जिसका अपने कुटुम्बमें ही सहयोग नहीं, जो अपने कुटुम्बके ही अधिक्षेपोको नहीं सह सकता, वह दूसरोंके अधिक्षेपोको कैसे सहेगा और कैसे उनके लिये स्वार्थ त्याग करेगा ?

अधिक क्या ? दैहिक संघटन भी कम चमत्कारपूर्ण नहीं है। हस्त, पाद, मुख, नेत्रादि एकदूसरेकी विपत्तियोंमें कैसे भाग लेते हैं ? पलके, हाथ आदि नेत्रकी सारी विपत्तिको स्वयं लेना चाहती हैं। पैरमें काँटा लगनेपर नेत्र देखनेको उतावले हो उठते हैं; हाथ निकालनेको और मुँह फूँकनेको प्रस्तुत हो उठता है। देहीकी तो बात ही निराली है। यदि कहीं अपने दाँतोसे जीभ कट जाय तो क्या दाँत पत्थरसे तोड़ डाले जाय ? एक अङ्गसे दूसरे अङ्गपर आघात हो तो क्या देही उसे काट दे ? वह तो यही समझता है कि सब मेरे ही हैं। इस दृष्टिसे सर्वत्र व्यापक अनन्त एक आत्माको देखनेवाला पुरुष तो सब देहोको अपना ही अङ्ग समझता है, फिर अपनी देहपर प्रहार करनेवालेको क्या करे, क्योंकि वह भी तो अपना ही है—

जिहां क्वचित् संदशति स्वदृष्टिस्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ।

(श्रीमद्भा० ११। २३। ५१)

‘सब अपना ही कुटुम्ब है या अपना ही अङ्ग या स्वरूप है’, इस दृष्टिसे समाज और राष्ट्र एव विश्वका हित चाहना बड़ी ऊँची बात है। बिना ऐसे भावोंके क्या संघटन सम्भव है ?

राष्ट्रका वशीकरण

यद्यपि समाजका आधार व्यक्ति है, तथापि बिना संघटनके समाज नहीं बनता।

संगठित व्यक्तियोंका प्रथम समाज कुटुम्ब ही है। उसके संचालनमें जिन गुणोंकी आवश्यकता होती है, वास्तवमें राष्ट्रके संचालनमें भी उन्हीं गुणोंकी आवश्यकता है। कुटुम्बमें भी भिन्न स्वार्थोंका संघर्ष है। किसी-न-किसी तरह उसमें सामंजस्य स्थापित करना छोटे, बड़े, बूढ़े, स्त्री, पुत्र, कलत्र सबको मनुष्य रखना, नीतिद्वारा काम निकालना, किसीके साथ अन्याय न होने देना, अनुशासन और स्वतन्त्रताका उचित अनुपातमें मेल मिलाये रखना, सबको स्नेहके सूत्रमें बाँध रखना और घरके भीतर-बाहर शान्ति बनाये रखना जटिल समस्या है। राष्ट्रके संचालनमें भी ऐसी ही समस्याओंका पग-पगपर सामना करना पड़ता है। अतः जिनने कुटुम्ब-संचालनमें सफलता पा ली, वही राष्ट्र-संघटनमें भी सफल हो सकता है। इसीलिये गान्धियोंमें कुटुम्बकी रक्षापर बड़ा जोर दिया गया है और सहिष्णुता, उदारता, क्षमा, आशापालन, सौहार्द, सौमनस्य आदि गुणोंकी बड़ी आवश्यकता बतलायी गयी है। कुटुम्बमें जो वास्तवमें एक छोटा मोटा राष्ट्र ही है, जबतक समान-मन, समान-उद्देश्य नहीं बनता एवं जबतक स्नेहसूत्रमें सब बंधनहीं जाते तबतक किसी प्रकारका अभ्युदय असंभव है। इन सबको सम्पादन करनेके लिये अथर्ववेदके सामनस्य मन्त्रमें (३ । ६ । ३०) एक अनुष्ठान बतलाया गया है। उसके मन्त्रोंका विधिवत् जप, हवन, अभिषेकद्वारा इस लक्ष्यकी सिद्धि होती है।

इन मन्त्रोंके कुछ अंश एवं आगत्य इस प्रकार हैं—‘सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः’। (३ । ६ । ३० । १) अर्थात्—हे विवाद करनेवाले मनुष्यो! मैं तुमलोगोंका वैमनस्य मिटाकर सौमनस्य करता हूँ। (यह उक्ति जापक, होता या अभिषेक करनेवालेकी है।) मैं तुम्हें समान हृदय, समान चित्तवृत्ति एवं सम्यक् प्रीतिसे सख्य भावसे युक्त बनाना चाहता हूँ। जैसे गौ अपने बत्सको चाहती है, वैसे तुमलोग भी एक दूसरेसे प्रेम करो—‘अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमना’। जाया पत्ये मद्रुमती वाचं वदतु शंतिवाम्।’ (२) पुत्र पिताका अनुगामी हो, माता पुत्रादिकोंके समान मनवाली और भार्या पतिसे सुखयुक्त मधुर वचन बोलनेवाली हो—‘मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसागमुत स्वसा । सम्यजः सप्रता भूत्वा वाचं वदतु भद्रया ।’ (३) एक भाई दूसरेसे द्वेष न करे, एक बहन दूसरेसे द्वेष न करे। सब लोग समान रहन-सहन, ज्ञान, कर्मसम्पन्न होकर कल्याणमयी वाणी बोले—‘येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः । तत्कृणोमो घ्राह वो गृहे । संज्ञातं पुरुषेभ्यः’ (४) जिस मन्त्रके प्रभावसे इन्द्रादि देवताओंका परस्पर विवाद, विद्वेष नहीं होता, उसी एक मत्पापादक सामनस्य मन्त्रको तुम्हारे गृहमें प्रयुक्त करता हूँ—‘ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट सराधयन्तः सधुराश्चरन्तः । अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्व संमनसस्कृणोमि ।’ (५) तुमलोग ज्येष्ठ, कनिष्ठभावसे परस्पर अनुरक्त हो। समान चित्त होकर समान कार्यके लिये समान प्रयत्नशील हो। परस्पर वियुक्त न हो, एक दूसरेमें प्रियवात् बोलते हुए परस्पर मिलो। मैं तुमलोगोंको समान कर्ममें समान मन होकर प्रयत्न

करता हूँ—‘समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनजिम् ।’ (६) तुमलोगोंकी एक पानीयशाला हो, साथ ही अन्नभाग हो, (एक जगह ही बैठकर अन्नपानादिका भोग करो,) मैं तुमलोगोको एक स्नेहपाशमे बाँधता हूँ । जैसे चारो ओरसे घेरकर अरा नाभी (चक्र) का आश्रयण करते हैं, वैसे ही समान फलकी आकांक्षासे तुम एक ही अग्निदेवकी उपासना करो—‘सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोस्येकश्नुष्टीन्संवनेन सर्वांन् । देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वोऽस्तु ।’ (३ । ६ । ३० । ७) मैं तुम्हे एक कार्यके लिये एक चित्तसे सहोद्युक्त बनाता हूँ और एक प्रकार ही तुम्हारी व्याप्ति या मुक्ति हो। इस सांमनस्य वशीकरणसे मैं तुम सबको वश करता हूँ । जैसे देवता एक मत होकर अजरामरत्व-प्राप्त अमृतकी रक्षा करते हुए शोभनमनस्क होते हैं, वैसे ही आपलोग भी सदा शोभनमनस्क हों ।’

कितनी उच्च और उदार कामनाएँ हैं । जो लोग अथर्ववेदको जादूगरी, टोनाटामरका पिटारा समझते हैं, उनका ध्यान क्या कभी इस ओर भी जाता है ? कुटुम्बियो एव कुटुम्बोके सौमनस्य, सामनस्यमें सारा राष्ट्र ही नहीं—सारा विश्व स्नेहपाशमें बँधकर एकमत होकर अपने अभीष्टको प्राप्त कर सकता है । सभा, सोसाइटियोंमें केवल प्रस्ताव पास करनेकी वीरता दिखलानेसे कुछ नहीं होता । मनुष्य कितनी ही दृष्टादृष्ट शक्तियोंसे घिरा रहता है, सब बातें उसके वशकी नहीं । इसीलिये लौकिक प्रयत्नोंके साथ पारलौकिक प्रयत्नोंकी भी आवश्यकता रहती है । सकल्पकी शक्ति बड़ी प्रबल होती है । उनका प्रभाव लौकिक स्थितियोंपर भी पड़ता है । आज कुटुम्ब, राष्ट्र तथा विश्वमें विघटन-ही-विघटन है । ‘अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग’ सर्वत्र आज यही दिखलायी दे रहा है । जहाँ देखो, वहीं ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, कलह, संघर्षका साम्राज्य है । इनके प्रशमनके आधुनिक सभी उपाय विफल हो रहे हैं । आज वैज्ञानिक अनुसंधानोके पीछे लाखों रुपये उड़ते हैं । असफलता होनेपर भी कुछ नवीन बातोंके अनुभव होनेका संतोष कर लिया जाता है । फिर क्यों न कभी कुछ दैवी प्रयत्न करके भी देख लिया जाय ? यदि हमसे कठिन अनुष्ठान नहीं होते तो क्या इतना भी नहीं बन पड़ता कि प्रतिदिन अपनी श्रद्धानुसार कुछ जप, भजन, प्रार्थना विश्वकल्याणार्थ करके देख ले कि उसका फल क्या होता है ?

समाजवादमें लोकतन्त्र

‘सोवियट कम्युनिज्म’ (रूसी साम्यवाद) नामक पुस्तकमें फेबियन वेव दम्पतिने लिखा है कि ‘जहाँ अमेरिका, ब्रिटेनमें ६० प्रतिशत जनता चुनावमें भाग लेती है, वहाँ सोवियट रूसमें ८० प्रतिशत जनता भाग लेती है । इस आधार-पर मार्क्सवादी सर्वहाराका अधिनायकत्व ही वास्तविक जनतन्त्र है । ब्रिटेन, अमेरिकाका जनतन्त्र तो ढोंगमात्र है ।’ परंतु दूसरी पार्टीको प्रेस, पत्र, प्रचार

आदिका जहाँ अवकाश ही न हो, दूसरे दलको स्वतन्त्रपक्षे निर्वाचनमें भाग लेने का अवकाश ही न हो, जहाँ अविनायकके आदेशानुसार जनताको चोट देना ही पड़े। वहाँ असी प्रतिजन ही क्या जन प्रतिजन चोट पड़े तो भी क्या आश्चर्य है ? परन्तु क्या उसे स्वतन्त्र जनमत कहा जा सकता है ? यह तो केवल दूसरेके आँखोंमें धूल ओंकनेके लिये शुद्ध नाटकमात्र है ।

कहा जाता है कि 'रूसमें मजदूर वर्गको छोड़कर दूसरा कोई वर्ग ही नहीं। अतः दूसरी पार्टीकी वहाँ आवश्यकता नहीं । प्रेजीवादी राष्ट्रोंमें विभिन्न वर्ग हैं, अतः उन वर्गोंका प्रतिनिधित्व करनेवाली पार्टियाँ वहाँ आवश्यक होती हैं । इसलिये रूसमें दूसरी पार्टियोंका न होना गुण ही है, दोष नहीं ।' परन्तु दूसरा वर्ग है या नहीं, इसका पता तो तब चले, जब कि दूसरोंको मुँह खोलने दिया जाय । दूसरे लोगोंको लेखन, भाषण एवं प्रेस-पत्रकी, सम्पत्ति रखनेकी, निर्वाचन लड़नेकी स्वाधीनता मिल जाय—तभी माट्रम हो सकता है कि लोग क्या चाहते हैं ? यों तो लक्ष्मी पत्रोंद्वारा सरकारी मतको ही जनताका मत बतलाया जाता है । सरकारी मतके विपरीत मतको राष्ट्रविरोधी, जनविरोधी, मानवताविरोधी और न जाने क्या-क्या कहा जाता है । जहाँ कुछ अंगोंमें भी विचार-स्वातन्त्र्य है, वहाँ तो समाजवादी-विचारधारावालोंमें भी पार्टीभेद होता है । जैसे भारतमें ही कम्युनिष्ट पार्टी, सोशलिस्ट पार्टी, क्रान्तिकारी कम्युनिष्ट पार्टी आदिका भेद है । फिर यदि रूसमें मतभेद नहीं है, वर्गभेद नहीं है, तो प्रबल पुलिस एवं प्रबलतम गुप्तचर विभाग किसलिये है ।

श्रमिकोंका एकाधिपत्य

मार्क्सका कहना है कि, 'श्रमजीवियोंके एकाधिपत्यके सिद्धान्तका उन्म-
दाता वह स्वयं ही है । उसने १८५२ में अपने एक अमेरिकन मित्रको पत्रमें लिखा था कि वर्ग-कलहका सिद्धान्त यद्यपि पहलेसे ही हुआ था तथापि वर्गोंके अस्तित्वका सम्बन्ध भौतिक उत्पत्तिकी किसी विशेष अवस्थाने होता है और वर्ग-कलहका अन्तिम परिणाम श्रमजीवियोंका एकाधिपत्य स्थापित होना है । यह श्रमजीवियोंका एकाधिपत्य समस्त वर्गोंके लोप होने और एक स्वाधीनतामूलक समानाधिकारसम्पन्न समाजकी स्थापनाके लिये बीचकी सीढ़ी है । उन बातोंका आविष्कारक मैं ही हूँ ।' उसने यह भी कहा है कि 'आरम्भमें नये कानूनोंद्वारा जायदादके अधिकार और प्रेजीवादियोंके उत्पादनपर जबरदस्ती आक्रमण करना पड़ेगा । तत्पश्चात् सभी प्राचीन प्रणालियोंपर भी आक्रमण करना पड़ेगा ।' प्रवोक्त युक्तियोंमें सिद्ध है कि कम्युनिष्ट आन्दोलन शुद्ध द्वेष एवं ईर्ष्याका ही अवलम्बित है । उसमें मानविकताका लेज भी नहीं है । इसके मतानुसार रूसी लोकतन्त्र या लोककी इच्छाका भी कुछ मूल्य नहीं है । प्रेजीपतितन्त्रके विपरीत

मजदूरतन्त्रकी स्थापना ही इन्हें मान्य है । सहिष्णुता, उदारता, असकीर्णता, समष्टिलोककल्याणकी कल्पनाका भी इस वादमें कोई स्थान नहीं है ।

किंतु सभी आकाङ्क्षाएँ आदरणीय नहीं होतीं, वैध आकाङ्क्षाओंका ही समाजमें आदर होता है । किसीके भी सुन्दर भवन, कलत्र, मोटर आदिकी इथियानेकी आकाङ्क्षा शास्त्रीय, धार्मिक, आध्यात्मिक संस्कारशून्य लोगोंको होती ही है । वैधमार्गसे कोई कोटिपति, अर्बुदपति, सर्वभूमिपति बननेकी आकाङ्क्षा और तदनुकूल प्रयत्न करने तथा सफलता पाने आदिमें किसीको कोई आपत्ति नहीं । पर अवैधमार्गसे वैसा प्रयत्न या आकाङ्क्षा सर्वथा अक्षम्य है । अवैधमार्गसे कोई व्यक्ति या समूह साम्यवादी सरकारकी सम्पत्तिपर अधिकार करना चाहे तो क्या साम्यवादी सरकार ही उसे सहन करेगी । वस्तुतस्तु कम्युनिष्टोंकी कोई भी योजना या सिद्धान्त ऐसा नहीं है, जिसका औचित्य सर्वसम्मत युक्तिसे सिद्ध किया जा सके । अविप्रतिपन्न युक्तियोंसे विप्रतिपन्न वस्तुओंकी सिद्धि की जा सकती है; परंतु कम्युनिष्ट जब किसी भी पुराने सिद्धान्त, पुराने न्याय, पुराने सत्य या पुराने नियमको स्थिर नहीं मानते, तब वे किस सर्वसम्मत आधारपर अपनी बातोंको सिद्ध करेंगे ।

अद्वैतवादी वेदान्ती यद्यपि ब्रह्मातिरिक्त सभी वस्तुओंका पारमार्थिक नाश करते हैं, तथापि स्वपक्ष-साधन, परपक्ष-नाशनाश व्यावहारिक प्रमाण-प्रमेयादि सभी व्यवस्था मानते हैं । परंतु जो कम्युनिष्ट सत्य एवं न्यायको एकरस माननेको तैयार नहीं हैं, उनके औचित्यानौचित्य निर्णयका आधार ही क्या हो सकता है । यह कहा ही जा चुका है कि प्रत्यक्षानुमानागमादि प्रमाणोंके बिना किसी पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती । इतिहास भी यदि किसी शिष्ट एवं सत्यवादी आसन्नद्वारा लिखित होगा, तब तो वह आगमप्रमाण ही ठहरेगा, तद्धिन्न होनेसे सर्वथा प्रलाप ही होगा । इतिहासलेखकोंकी भी शिष्टता, सत्यवादिताका निर्णय किसी प्रमाणसे ही करना होगा । इसके अतिरिक्त अर्वाचीन, प्राचीन सत्यमें भी यदि भेद हो गया है तब प्राचीन सत्यवादियोंका आधुनिक सत्यके साथ सम्बन्ध भी क्या होगा ।

सिद्धान्तरूपसे यह भी कहा जा चुका है कि सत्त्वगुण एवं धर्मके संस्कार दृढ होनेसे ही समन्वय एवं सामजस्यकी भावना सफल होती है । रजोगुण, तमोगुण बढ़नेसे अधर्म, असहिष्णुता आदिकी वृद्धि होती है । वर्गभेद, वर्गकलह ही क्यों, एक वर्गके भीतर भी वर्गभेद उत्पन्न हो जाता है और अन्तमें तो व्यक्ति-व्यक्तिमें भेद, संघर्ष एवं कलहका विकराल रूप प्रकट हो जाता है और फिर उनमें जो प्रबल होता है, उसका आधिपत्य होता है, जो हारता है वह पिसता है । अनेक बार साधनसम्पन्न साधनविहीनोंपर नियन्त्रण करते हैं, तो कई बार साधनविहीन साधनसम्पन्नोंको नष्ट करनेका प्रयत्न करते हैं । कभी-कभी सफल भी हो जाते

हैं, अतः श्रेणी, चेतना तथा मजदूरोंका एकाधिपत्य आदि सिद्धान्त कोई महत्त्व नहीं रखते ।

वर्गभेद, वर्गकलह आदि सब प्रचारमूलक ही हैं । चार-पाँच धूर्तोंने एक बार एक ब्राह्मणसे, जो बकरा लिये जा रहा था, ले लेनेका निश्चय किया । फिर क्या था, एकने कहा—‘पण्डितजी ! आप इस श्वानको कहीं लिये जा रहें हैं ।’ ब्राह्मणने कहा, ‘यह तो बकरा है ।’ धूर्तने कहा—‘आपने कोई नगा खा लिखा है क्या ! महाराज ! यह तो कुत्ता है ।’ ब्राह्मण कई प्रकारकी बातें सोचता चला जा रहा था, तबतक दूसरा धूर्त मिला । वह बोला, ‘अरे महाराज ! कहीं तो आप कुत्ता छूते भी न थे, आज न जाने क्यों, उसे कन्वोंपर ही चटा लिया ।’ ब्राह्मण बोला, ‘अरे भाई ! यह कुत्ता नहीं, बकरा है ।’ धूर्त बोला—‘अरे ! आज आपके दिमागमें यह क्या हो गया है, जो कुत्तेको बकरा कह रहे हैं ? क्रमशः तीसरे और चौथे धूर्तोंने भी इसी प्रकारकी बातें कहीं और ब्राह्मण शक होकर कुत्तेके भ्रममें बकरेका छोड़कर चलता बना । इसी प्रकार वर्गवादियोंके मिथ्या प्रचारसे वर्गभेद, वर्गकलहका सिद्धान्त भी फैलता जा रहा है । असलमें तो यह न कोई सिद्धान्त है और न इसका कोई आधार ही है ।

साथ ही समस्त वर्गोंका लोप करके मजदूरोंका एकाधिपत्य स्थापित करना तथा समानाधिकारसम्पन्न समाज स्थापित करनेकी जो बात करते हैं, उन्हें इस बातपर भी विचार करना चाहिये कि भले ही प्रचारकी महिमासे किसी वर्गके प्रति विद्वेष उत्पन्न करके, किसी समूहको उत्तेजित करके एक वर्गका विभव होना सम्भव हो सकता है, पर विरोधीवर्ग समाप्त होते ही विजयीवर्गमें ही वर्गभेद उत्पन्न होते हैं । उदाहरणार्थ भारतीय कांग्रेसका अंग्रेजोंके साथ संघर्ष हुआ । संघर्ष समाप्त होनेपर स्वयं कांग्रेसमें ही फूट पड़ गयी । फलतः समाजवादी, प्रजासमाजवादी, नवीन समाजवादी, कम्युनिष्टपाटी आदि अनेकों पार्टियाँ बन गयीं । रूसमें भी जारशाही समाप्त होते-न-होते कितनी ही पार्टियोंका जन्म हो गया । ट्राट्स्की-जैसे लोगोंकी हत्या साधारण बात बन गयी । आधिकारालु दलद्वारा अनेक बार ‘सफाया’ किये जानेपर भी वहाँ तद्भिन्न वर्गका अभाव नहीं है, फिर केवल सामूहिक संघटन, हड़ताल, जुलूस या मार-काटके बलसे बहुत बड़े किसान आदि श्रेणीवर्गको समाप्त करना भी यदि उचित हो सकता है, तब तो शस्त्रबल, धनबल या छलछद्मके बलसे मजदूर-किसान वर्गको पद-दलित बनाये रखनेको भी उचित कहनेका कोई साहस कर ही सकता है । अन्यायको रोकना उचित ही है, वह चाहे गरीबोंका हो या अमीरोंका—अन्याय तो अन्याय ही ठहरा । गरीबोंका अन्याय भी न्याय है तथा अमीरोंका न्याय भी अन्याय है, यह बात सभ्य सभ्यत्वमें नहीं चमक सकती । गरीबोंका हक

वाले अन्यायोको रोकना परम धर्म है तो किसान आदि श्रेणीके लोग आज सर्वाधिक दयनीय हैं। पूँजीपति पूँजीसे काम चला लेता है, मजदूर आन्दोलनोसे वेतन बढ़ाकर काम चला लेता है, परंतु किसान आदि साधारण श्रेणीका व्यक्ति दोनोंके बीचमे पड़ा हुआ पिसता है। देशमे गरीब, किसानो तथा नमक, तेल, कपड़ा, दाल, चावल आदिकी दुकानोके द्वारा काम चलानेवाले व्यापारियोंकी संख्या बहुत बड़ी है। गरीबी भी उनकी भीषण है। अपनी उसी गरीबीमे उन्हें दान-पुण्य, श्राद्ध-तर्पण, शादी-व्याह भी करना पड़ता है। फिर तो उस वर्गकी सहायता करना आवश्यक है। फिर ऐसे वर्गको मिटा देना कहाँतक उचित है? यो तो डाकू भी लूट-खसोटकर दूसरोको मिटाकर अपने गिरोहमें स्वाधीनतामूलक समानाधिकारसम्पन्न समूह बनाते ही हैं, परंतु क्या यह कभी उचित कहा जा सकता है। या उनकी समानता भी अन्ततक चलती है। धर्म-नियन्त्रित शासनतन्त्रमें सत्य या न्यायके आधारपर सबका ही हित करना अभीष्ट है। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक वर्गको विकासकी सुविधा होती है। समष्टिके अविरोधेन, वैध मार्गसे विकसित होनेका सभीको अधिकार रहता है।

विकासके मार्गमें होनेवाली असुविधा दूरकर विकासकी विविध सुविधाओका उपस्थापन करना राज्यका कर्तव्य है। छीना-झपटी, लूट खसोटद्वारा समानताकी स्थापना व्यर्थ है। आलस्य, प्रमाद त्याग कर स्वयं पुरुषार्थ न कर, केवल छीना-झपटीद्वारा स्थापित समानता टिकाऊ नहीं हो सकती। विशेषतः गतिशील लोगोका गन्तव्य स्थानपर पहुँचकर सम्पादित समानता ही वास्तविक समानता है। मार्गमें किसी जगह अग्रगामी, पृष्ठगामी लोगोको रोककर स्थापित समानता निरर्थक होती है। इसमे तो उलटे राष्ट्रकी प्रगति ही रुक जाती है। निर्बल, निर्बुद्धि, निर्धनको बुद्धिमान्, बलवान्, धनवान् बनाकर ही समानताकी स्थापना की जा सकती है। बलवानो, धनवानो, बुद्धिमानोंको निर्धन, निर्बल एवं निर्बुद्धि बनाकर समानताकी स्थापना वैसी ही है, जैसा कि आँखवालोंकी एक या दोनो आँखोको फोड़कर एकाक्षो या अन्धोंके बराबर बनाकर समानताकी स्थापना करना। जैसे किसीकी आँख फोड़ना सरल है, पर अघेको नेत्रवान् बनाना कठिन है, वैसे ही किसी धनीके धनको छीनकर निर्धन बनाना, बलवान्को फाका कराकर निर्बल बनाना, किसी बुद्धिमान्को मूर्खताकी इलाज खिलाकर या क्लोरोफार्म आदि सुँघाकर निर्बुद्धि बनाना सरल है, पर आलस्य-प्रमाद त्याग कर स्वतः प्रयत्नशील हुए बिना, बलवान्, बुद्धिमान्, धनवान् बना सकना या बने रहना सम्भव नहीं है। प्रमाद या आलस्यसे कोई समुन्नत नहीं होता। दूसरे लोगोको भी उसी स्थितिमे बनाये रखनेके लिये प्रयत्नकी अपेक्षा यह कहीं श्रेष्ठ है कि प्रमाद,

आलस्य छुड़ाकर अनुन्नत लोगोंको उन्नत बनानेका प्रयत्न किया जाय। अन-
वर्ग-लोप करके समानता स्थापनाकी बात व्यर्थ है। कम्युनिष्टोंने किसीने
जायदादपर बलात् आक्रमण तथा प्राचीन प्रणालियोंपर आक्रमण मित्र करत
हैं कि लोकमित्र न्याय एवं सत्यके आधारपर वे अभीष्ट-मित्रि नहीं कर
सकते।

कम्युनिष्टोंकी कूटनीति

‘कम्युनिष्टोंके हाथ शासनसूत्र न जाकर प्रजातन्त्रवादियोंके हाथमें आने-
पर’ मार्क्सकी रायमें ‘कम्युनिष्टोंको उससे अलग ही रहकर उनके कामोंमें
अड़गा डालते रहना चाहिये। उनके सामने ऐसी शक्त पेश करनी चाहिये
जिनका मानना असम्भव हो। क्रान्तिके अवसरपर श्रमजीवियोंको चाहिये कि
मध्यम श्रेणीवालोंके साथ किसी प्रकारके समझौतेका विरोध करें। प्रजातन्त्र-
वादियोंको अत्याचार करनेके लिये बाध्य कर दें। उनके अत्याचारोंका उदाहरण
देकर लोगोंमें जोश बढ़ाना चाहिये। क्रान्तिके आरम्भ और मध्यमें प्रजातन्त्र-
वादियोंके साथ अपनी मॉग भी पेश करते रहना चाहिये। यदि प्रजातन्त्र-
वादियोंको सफलता मिली तो श्रमजीवियोंकी सुरक्षाकी गारण्टी मांगनी चाहिये।
अधिकाधिक सुधारों और अधिकारोंकी मांग करनी चाहिये। सरकारपर खुले
आम अविश्वास प्रकट करना चाहिये, जिससे उनका विजयका गर्व टटा हो
जाय। शासनके मुकाबिले अपने मजदूर पञ्चायतोंकी स्थापना करनी चाहिये।
शासनके सामने कई अड़चने खड़ी होगी और सम्पूर्ण मजदूर-शक्तिके साथ
सरकारको लोहा लेना पड़ेगा। क्रान्तिके अनन्तर श्रमजीवियोंको पराजित शत्रुकी
निन्दा न करके पुराने साथी, प्रजातन्त्रवादियोंके प्रति अविश्वास प्रकट करें।
श्रमजीवियोंको सशस्त्र और सघटित रहना चाहिये। इससे मजदूरोंका विश्वास
जागरूक होता है। वन सके तो सरकारी सेना सघटनमें बाधा डाली जाय।
यदि यह न हो सके तो अपनी सेना बनानी चाहिये। सेनापति, अफसर आदि
ऐसे ही लोग हो जो मजदूर-कमेटीकी आज्ञा पालन कर सकें। सरकारी
सेनाके भी सशस्त्र श्रमजीवियोंको अपने पक्षमें कर लेना चाहिये। मध्यम श्रेणीके
प्रजातन्त्रवादियोंके प्रभावसे श्रमजीवियोंको मुक्त करना और उनका स्वतन्त्र
सशस्त्र सघटन करना परमावश्यक होता है। तरह-तरहके अड़गे डालकर शासन
चलाना असम्भव करना श्रमजीवियोंका प्रोग्राम होना चाहिये।’

उपर्युक्त कम्युनिष्ट-नीतिसे उनकी ईमानदारी एवं सद्भावनाका भड़ा-
फोड़ होता है। इससे स्पष्ट है कि कम्युनिष्ट अपने न्यायपूर्ण तर्क, युक्ति एवं
सिद्धान्तोंके द्वारा लोकको प्रभावित कर बहुमत प्राप्त करनेकी आज्ञा नहीं रखते।
साथ ही जाल फरेग बिना किये अपने पुराने साथियों तथा उपजानियों के

धोखा दिये, उनको बिना समाप्त किये भी सफलताकी आशा नहीं रखते । यह सामान्य न्याय है कि अत्याचार करनेवाला उतना अपराधी नहीं माना जाता, जितना कि अत्याचार करनेके लिये किसीको बाध्य करनेवाला । किसी सुशासनमें अड़ंगा डालना या उसके सामने ऐसी शर्तें उपस्थित करना जिनका मानना असम्भव हो, स्पष्ट ही बेईमानी है । यहाँ लोकहितकी तो कोई भावना ही नहीं है । केवल जिस किसी तरह शासनसत्ता हथियानेके लिये ही सब प्रकारका अत्याचार करना, बेईमानी अपनाना उन्हे मजूर है । इसी तरह उत्तेजना फैलाकर उत्तेजित करके युद्ध कराना अलग बात है और उत्तेजित करके न्यायको अन्याय एवं उचितको अनुचित समझनेके लिये बाध्य करना अलग बात है । यह सर्वसम्मत है कि वस्तुस्थिति समझनेमें किसी प्रकारकी भावुकता या उत्तेजना बाधक होती है । इसी तरह मध्यम श्रेणीके लोगोंसे किसी प्रकारके समझौतेका विरोध करना भी विचित्र बात है । यदि उचित आधारपर समझौता सम्भव हो और समझौता लोक-कल्याणकारी हो, तो भी उसका विरोध क्यों करना ? क्या अपना उल्टू सीधा करनेके लिये ? यदि ऐसा ही तो फिर कम्युनिष्ट दूसरोंकी ऐसी भावनाओंका किस सुँहसे विरोध कर सकता है ? इसी तरह पुराने निन्दनीय साथियोंकी निन्दा न कर प्रशंसा करना वर्तमान योग्य एवं उचित शासनके प्रति अविश्वास प्रकट करना भी सद्भावनाका सूचक नहीं ।

कम्युनिष्टोंके प्रोग्रामोंको समझकर यदि शासनारूढ़ प्रजातन्त्रवादी भी उनके अनुसार ही सत्य, न्यायकी चिन्ता न कर बदला चुकानेपर उतर आये तो फिर कम्युनिष्ट तथा उनके छिट-फुट सैनिक संघटनको अन्त करनेमें कितना विलम्ब होगा ? बल्कि लोक हितकर तथा शास्त्रसम्मत तो यही है—

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिन् तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।

मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥

(महा० शां० प० १०९ । ३०)

मायावीके साथ मायासे तथा साधुके साथ साधुतासे व्यवहार करना उचित ही है ।

माक्स आगे कहता है—‘प्रजातन्त्रवादियोंको प्राचीन सामाजिक प्रणालीपर जितना हो आक्रमण करनेके लिये लाचार किया जाय, निश्चित कार्यक्रममें बाधा डाली जाय तथा पैदावार और माल ढोनेके साधनोंको राज्यके अधिकारमें लानेका आग्रह किया जाय । निजी जायदादपर आक्रमण करनेवाले प्रस्तावोंको बार-बार लाना चाहिये । यदि सरकार रेलों, कारखानोंको खरीदनेका प्रस्ताव करे तो बिना हरजाना, बिना मुआवजा दिये ही उसे राज्यकी सम्पत्ति बना लेनेका प्रस्ताव होना चाहिये । सम्पत्ति-वृद्धिपर इतना बड़ा टैक्स लगानेका प्रस्ताव पेश होना चाहिये जिससे बड़ी जायदादवालोंका दिवाला ही निकल जाय । प्रजातन्त्र-

वादियोंद्वारा लाये गये राज्यके कर्ज चुकाने आदि प्रस्ताव आनेपर राज्यके दिवालिया होनेका प्रस्ताव लाना चाहिये। प्रजातन्त्रवादी स्थानीय, स्वाधीनता, स्वभाग्य-निर्णय आदिके नामपर देशको अनेक भागोमें बाँटनेका प्रयत्न कर सकते हैं। श्रमजीवियोंको इन सब बातोंका विरोध कर संयुक्त शासनपर ही जोर देना चाहिये।

उपर्युक्त मार्क्सवादी कार्यक्रमोंके अनुसार ही कम्युनिष्टोंकी अटगोवाजी चलती रहती है। उन्हें केवल विरोधके लिये विरोध करना है, अन्य किसी सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे नहीं। अनैतिकता तथा उन्मूलनताका स्वयं विस्तार करना अथवा सरकारको बर्सा करनेके लिये बाध्य करना वर अराजकता एवं उद्दण्डताका विस्तार करना है। व्यक्तिगत छोटे-बड़े किसी भी व्यापार या उद्योग-धन्धों, पैदावार या माल ढोनेवाले साधनोंका अपहरण चौर्य ही हो सकती है। कभी चोर भले बिना दण्ड पाये ही छूट जायें, परंतु ऐसे लोगोंको तो चोरसे भी उग्र दण्ड मिलना ही चाहिये।

उत्पादन और समाज

कम्युनिष्टोंकी प्रणालीके अनुसार “साधनोंपर समाजका अधिकार होनेसे सहयोगपूर्वक पैदावार तथा व्यावहारिक शिक्षाका विस्तार होगा। तभी हर व्यक्तिसे उसकी शक्तिके अनुसार काम लेने तथा उसकी आवश्यकताके अनुसार वस्तु देनेका सिद्धान्त चल सकेगा। जबतक आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी प्राचीन प्रणाली कायम रहेगी, जबतक वैसी व्यवस्था नहीं हो सकती। जबतक जो जितना काम करेगा, उतना ही उसे फल दिया जायगा। केवल शासनका कारवार चलाने एवं शिक्षा तथा अन्य कार्योंके लिये कुछ अंग काट लिया जायगा। काम करनेके घंटे नियत होंगे। जो जितनी देर काम करेगा, उसको एक प्रमाणपत्र दिया जायगा, जिसे दिखाकर वह उतना सामान ले सकेगा। वह जितना श्रम करेगा, उतना ही वह दूसरे रूपमें पा जायगा। व्यक्तिमें समानरूपसे योग्यता और शक्ति नहीं होती, इसीलिये वस्तुओंका बँटवारा असमान रूपसे होगा। जब सर्वाङ्गपूर्ण कम्युनिष्ट समाजमें शारीरिक एवं बौद्धिकश्रमका अन्तर मिट जायगा, जब उत्पादन क्रिया ही जीवनका सर्वप्रधान आवश्यकता हो जायगी, जब व्यक्तियों एवं उत्पादक-शक्तियोंका पूर्णरूपसे विकास हो जायगा—समाजके सभी सदस्योंके पूर्ण सहयोगसे चीजोंकी पैदावार खूब बढ़ जायगी, तभी पूँजीवादी समाजका स्वत्वसम्बन्धी विचार त्यागा जा सकता है और उसके स्थानपर समानताका सिद्धान्त लाया जा सकता है। यद्यपि श्रमजीवी आन्दोलनका अन्ताराष्ट्रिय होना आवश्यक है, तथापि राष्ट्रियताके आर्थिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक महत्त्वों की भुलाहट नहीं

जा सकता। साधनोपर समाजका अधिकार होनेसे सहयोगपूर्वक पैदावार तथा व्यावहारिक शिक्षाका विस्तार होगा। तब हर व्यक्तिसे उसकी शक्तिके अनुसार काम लेने और उसकी आवश्यकतानुसार वस्तु देनेका सिद्धान्त चल सकेगा। पर यह केवल व्यामोहक वाग्जाल है। व्यक्तिगत सम्पत्तियों तथा साधनोपर कुछ मुट्ठीभर लोगोका अधिकार-सम्पादनके लिये ही समाजका नाम लिया जाता है। वस्तुतः व्यक्तियोंके समुदायका ही नाम तो समाज है। यदि व्यक्ति निर्धन, निःसत्त्व, निःसाधन हो जाते हैं तो समाज भी सुतरा निःसत्त्व, निःसाधन हो जाता है। हाँ, समाजके नामपर मुट्ठीभर लोगोको यह अवसर अवश्य मिल जाता है कि वे संसारको धोखा दे सके। जो लोग सिवा मजदूरोके बहुसंख्यक मध्यमश्रेणी तथा गरीब किसानोको भी मिटा देना आवश्यक समझते हैं, वे भी समानताकी बात करे तो 'किमाश्चर्यमत. परम्।' कौन नहीं जानता कि मिलमालिको, पूँजीपतियों एवं मजदूरों सबको भी भोजन-प्राप्ति किसानके श्रमका ही फल है। किसानके नष्ट हो जानेपर सभी भूखों मर जायँगे। यन्त्रीकरण या राष्ट्रियकरणके नामपर सबकी समानताकी बात उपहासास्पद है। जैसे रोगियोंको मारकर राष्ट्रको निरोग करनेका फारमूला मूर्खतापूर्ण है, वैसे ही मजदूरोंसे भिन्न लोगोको समाप्त कर समानताकी स्थापना भी मूर्खतापूर्ण मक्कारी है।

अन्तमें मालिक बन जानेपर मजदूर भी मजदूर न रह जायँगे। उनमें भी वही विषमता परिलक्षित होने लगेगी। कौन कह सकता है कि रूसी प्रधान मन्त्री, गृहमन्त्री या पार्टीके संचालक मजदूर होते हैं और उनका जीवनस्तर पदप्राप्तिके बाद मजदूरोंके तुल्य ही होता है? व्यक्तिको हानि-लाभका डर न होनेसे, पैदावार एवं शिक्षामे उन्नति होना असम्भव है। प्रायः इसके उदाहरणके रूपमें रूसका नाम लिया जाता है। परतु वहाँकी वस्तुस्थिति कुछ और है, अतिरजित वर्णन कुछ और ही। वहाँ भी व्यक्तिगत रुपयोंका कारखाना, सूद लेना गैर कानूनी नहीं है। प्रतियोगिताएँ भी चलती हैं। शक्ति एवं योग्यता रहते हुए भी ईमानदारी न होनेसे उनका उचित प्रयोग नहीं किया जाता, अतः शक्तिचौर्य भी चलता है। चेतन मनुष्य, जडयन्त्रोंके तुल्य सर्वथा परेच्छया काम नहीं कर सकता। उसकी अपनी इच्छा, अपनी रुचि, अपना उत्साह जबतक न होगा, तबतक सुचारुरूपमें कार्य चलना सम्भव नहीं होता। मुट्ठीभर तानाशाहोंद्वारा संचालित शासन-यन्त्रके नगण्य कल-पुर्जे बनकर व्यक्तियोंमें इच्छा, रुचि, उत्साह आदिका सर्वथा अन्त हो जाता है।

वर्ष-नियन्त्रित शासन-तन्त्र रामराज्यमें, प्रत्येक व्यक्तिको अपनी शक्ति, एवं योग्यताका निश्चित फल मिलता है। इष्टीष्टिये वह शक्ति एवं योग्यतामें

विशेषता लानेका यत्न भी करता है। वह अपनी कमाई अपनी पत्नी एवं पुत्र-पौत्रोंको छोड़ जाता है या अपने बूटे मॉ-बापकी मेजामें लगा सकता है। अग्ना और अग्ने पूर्वजोंके नाम अमर करनेके लिये अनेक प्रकारका सामाजिक उपकारका काम करता है। यज्ञ, तप, दानके द्वारा अपना लोक परलोक बनानेके लिये अपनी कमाईका उपयोग कर सकता है। इस दृष्टिमें उत्साहका और ही रूप रहता है। जो शुद्ध जडवादी, धार्मिक, आध्यात्मिक संस्कारोंसे शून्य होते हैं, वे ही चार्वाकप्राय मार्क्सवादियोंकी योजनाओंमें मनुष्ट रह सकते हैं। वे ही कह सकते हैं—

यावज्जीव सुख जीवेदणं कृत्वा घृत पिबेत् ।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ (त्वंदर्शननग्रह १)

अर्थात् जवतक जीवन रहे सुखपूर्वकरहे, किसीको मार, धमका, कानून बनाकर उसका वित्त, कलत्र, गृहभूमि छीनकर सुरापान करना चाहिये। शरीर मरकर भस्म हो जायगा। लोक-परलोक—कुछ भी सत्य नहीं, फिर धर्माधर्मके चक्करमें क्यों पड़ा जाय ? कुरान, पुराण, वेद, बाइबिल, गिर्जा, गुरुद्वारा, मन्दिर, मसजिद, राम, रहीम, गाड, अहुरमज्द, ढोजख, बहिश्न, म्वर्ग, नरक कुछ भी नहीं। फिर किसी भी नियन्त्रण, सदाचार, दान, पुण्यकी क्या आवश्यकता रह जाती है ? घटेकी आवाजपर सामाजिक या सामूहिक कल कारखानों या सरकारी खेतोंमें काम करना, भोजनालयोंमें भोजन कर लेना, सरकारी औरतोंमें सरकारी बच्चे पैदा करना, सरकारी शिशु पोषणालयोंमें उन्हें भेज देना, सरकारी अस्पतालोंमें बीमार होकर मर जाना, ऐसे यान्त्रिक जीवनमें न तो कोई उल्लास है, न उत्साह। न तो इसमें लौकिक ही सुख है, न परलोककी ही आशा। ऐसा नीरस, निरुत्साह जीवन उन्हें कथमपि पसंद न होगा, जो कुछ भी दीन या ईमान मानते हैं, जिन्हें कुरान-पुराणादि उपर्युक्त वस्तुओंपर तनिक भी विश्वास है, ऐसा निराशापूर्ण जीवन वे कथमपि नहीं पसंद कर सकते। ऐसे दीनदार, ईमानदार लोगोंके लिये धर्मसापेक्ष, पक्षपातहीन राज्य, रामराज्य ही श्रेष्ठ है, जहाँ लोक-परलोक सभी आशापूर्ण एवं उत्साहप्रद होते हैं।

उसी प्रकार आवश्यकताका भी निर्णय भोक्ता ही करे या सरकार ? यह स्पष्ट है कि सरकारद्वारा भोक्ताके आन्तरिक आवश्यकताका ध्यान रखे बिना किया हुआ निर्णय संतोषकारक नहीं होगा। भोक्ताओंकी दृष्टिसे ही यदि आवश्यकताका निर्णय होगा, तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी शक्ति और आवश्यकताका समतुलन रहेगा। शक्ति एवं योग्यता कम होनेपर भी, काम न करनेपर भी आवश्यकता अधिक हो सकती है। फिर राज्य उसकी प्रति कैसे कर सकेगा ? 'काम करनेमें आलसी भोजनको तोनियाय।' (अल्फ्रेड स्पार्क)

कामाश्च ।' आलसी किंतु अच्छे भोजन-वस्त्र, वाहन, मकानकी कामनावाले लोगोकी कमी किसी देशमें नहीं है । पर यह सम्भव नहीं । अतः—

कर्म प्रधान विस्व करि राखा । जो जस करै सो तस फल चाखा ॥

यह भारतीय सिद्धान्त ही श्रेष्ठ है । जो जैसा करता है, वैसा ही फल पाता है । विश्वस्रष्टा परमेश्वर एवं विश्वहितैषी निष्काम महर्षियो या उनके भी सम्मान्य अनादि अपौरुषेय शास्त्रोंद्वारा ही कर्मफलका साध्य-साधनभाव जानना ठीक है । पारलौकिक कर्मों एवं फलोंका साध्य-साधनभाव जिस प्रकार शास्त्रों एवं शिष्टोंद्वारा जाना जाता है, वैसे ही शास्त्रों एवं शिष्टोंके आधारपर ही लौकिक कर्मों एवं उनके फलोंका भी साध्य साधनभाव निर्णीत होना श्रेष्ठ है । कम-से-कम निर्धारित, संतुलित जीवनस्तर एवं तदनुसार ही काम-दामके अतिरिक्त कर्मोंकी विशेषताके अनुसार ही फलोंमें विशेषताकी बात उपयुक्त होती है । इस पक्षमें आवश्यकताके अनुसार फलकाङ्क्षा होगी । फलकाङ्क्षाके अनुसार कर्ममें प्रवृत्ति होगी । परंतु शक्ति एवं योग्यता वहाँ नियामिका होगी । अतः शक्ति एवं योग्यतानुसार ही प्राणी कर्म कर सकेगा । तदनुसार ही फल पा सकेगा । अतः तदनुसार ही आवश्यकता भी बनानेका प्रयत्न करेगा । आवश्यकताका घटाना-बढ़ाना जितना सम्भव हो सकता है, शक्तिका घटाना-बढ़ाना उतना आसान नहीं है ।

फिर प्रतिदिन मजदूरी करना, सर्टिफिकेट दिखाकर भोजन लेना, यह कोई सम्मानकी बात नहीं । जब वॉटवारेमें असमानता स्वीकार है, तो फिर समानताकी बात केवल प्रलोभन नहीं तो और क्या है ? फिर वहाँ भी ईमानदारीका प्रश्न खड़ा हो सकता है । अगर व्यवस्थापक ईमानदार हो तब तो ईमानदारीसे कर्मानुसार वितरण कर सकेगा । यह भी तभी सम्भव है जब कि व्यक्तिके ईमानदारीपर विश्वास भी हो । पर यदि ऐसा विश्वास सम्भव ही है तब तो व्यक्तिगत काम लेनेवाला भी ईमानदारीसे फल वितरण कर सकता है । यदि व्याक्तियोंकी ईमानदारीका विश्वास नहीं हो सकता तो व्यवस्थापकोंकी ईमानदारीपर भी कैसे विश्वास होगा ? जो कहते हैं कि 'वेईमान व्यवस्थापक हटा दिया जायगा,' वह भी ठीक नहीं; क्योंकि सभी शक्तियोंके केन्द्रीकरण हो जानेसे, व्यक्तियोंके पास व्यवस्थापकोंको हटानेकी कोई शक्ति नहीं रहती ।

सभी कम्युनिष्ट कभी समानरूपसे बौद्धिक, शारीरिक क्षमतायुक्त हो सकें तो उनका अन्तर मिट सकेगा । सभी समानरूपसे ईमानदार हो जायें, शक्तिभर काम करें और अनिवार्य आवश्यकतासे कोई अधिक दाम या सामान न ले, यह

सुख-स्वप्न जडवादियोंकी अपेक्षा अध्यात्मवादियोंके यहाँ नहीं अनिक मग्न होता है। रामराज्यमें तो इस तरहके स्वप्न साकार भी हो चुके हैं—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहिं कोउ अनुन न मन्तन तीना ॥

नाधिज्याधिजराग्लानिदुःखशोकभयहृमा ।

मृत्युश्चानिच्छतां चासीद् रामे राजन्यधोक्षजे ॥ (श्रीमद्भाग० १० । १० । ५४)

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मयपः ।

नानाहिताग्निर्नायज्वा न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥ (छान्दोग्योप० ५ । १० । ५)

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन । चरहिं एक संग गज पचानन ॥

सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥

जहाँ कोई किसीका शोषक न हो, दूसरेके पोषक तथा हितैषी ही हों, सभी सुखी, सम्पन्न, स्वधर्मनिष्ठ, ईश्वरपरायण, शिक्षित उदार हों, जहाँ कोई चोर, सुरापी, कायर, स्वैरी, स्वैरिणी न हो, सभी आहिताग्नि, यज्वा, स्वधर्मनिष्ठ हों, ऐसा शासनतन्त्र तो अध्यात्मवादमें ही सम्भव होता है। जडवादमें तो इस सुखके पूरा होनेका स्वप्न दुराग्रामात्र ही है।

शासनके कारवारको चलानेके लिये तथा शिक्षा एवं अन्य कार्योंके लिये कोई भी सम्य शासन कुछ अश ही काटता है। अंग्रेज भारतपर शासन करते थे, वे भी आमदनी तथा खर्चका लेखा जोखा बराबर दिखाते रहते थे। पर आजकल शासन, राष्ट्ररक्षणके नामपर, कितने गुप्तचर, पुलिस, पलटन एवं शस्त्रास्त्र अपेक्षित होते हैं, यह विशेषसे तिरोहित नहीं है। प्राचीन भारतीय ढंगके धर्मनियन्त्रित शासनोंमें तो नियम यह था कि जैसे सूर्य तिग्मरश्मियोंसे पृथ्वीका जल खींचते हैं और समय आते ही उसे बरसाकर विश्व-कल्याण एवं रक्षण करते हैं, वैसे ही शासक भी प्रजाका कर उसके कुसमयमें वितरण कर देता था, उसे अपने उपभोगमें वह नहीं लाता था। कितने मुसल्मान बादशाह भी अपना निर्वाह टोपी सीकर, कुरान लिखकर, किताबें लिखकर, उन्हें बेंचकर कर लेते थे। ऐसे ही दूसरे राजा भी अपनी जीवन-यात्रा चलाते रहे हैं।

यदि लाखोंका सालाना वेतन पानेवाले भी शोषित हैं और उनका राज्य भी कल्याणकारी राज्य है, तो फिर जमींदारोंका ही राज्य क्या बुरा है? व्यावहारिक अनुभव तो यह है कि सूर्य भी उतना तापक नहीं होता जितना तत्सृष्ट वायुका-निकर (कण) तापक होता है।

कहा जाता है मजदूरोंको भूखे मरते हुए लाचारीसे अल्प मूल्यमें बहुत काम करना पड़ता है, परंतु उसी तरह किसी अवसरपर मजदूर भी अवसरका अनुचित लाभ उठाते ही हैं। रिकशे, ताँगे तथा नाववाले कभी-कभी चार आनेके बदले

आठ रुपये ले लेते हैं। किसी गरीबका लडका बीमार है, अस्पताल जाना है, यदि मौके-बेमौके अन्य रिक्शे आदि तैयार नहीं तो वह बिना रहम किये गरीबसे मनमाना पैसा लेता है। लाचार होकर गरीबको देना ही पड़ता है। ऐसे अवसरसे डाक्टर, इंजीनियर—सभी नाजायज फायदा उठाते हैं। इसी तरह दूटते हुए बॉच, वर्षाके समय गिरते हुए मकान, अचानक बिगड़े हुए कारखानोंको सुधारनेके लिये श्रमजीवी मनमानी दाम लेते हैं। मार्गमें बिगड़ी हुई मोटरको सुधारनेमें अति शीघ्र सुधारनेकी आवश्यकता जानकर श्रमजीवी मनमाना दाम लेता है। कुम्भादिके अवसरपर मल्लाह दो पैसेके बदले गरीबों, घर्म-भीरुओंसे बीस-बीस ले लेते हैं। फिर कम्युनिष्ट इनको शोषित ही कहेंगे और उनके इन कार्योंको उचित ही। इतना ही क्यों? वे चोरी और हत्या-जैसी चीजको भी उनकी गरीबी और लाचारीकी दुहाई देकर उचित कहनेका प्रयत्न करते हैं, फिर तो किसीके बलात्कार व्यभिचारका भी यह कहकर समर्थन किया जा सकता है कि उसके पास स्त्री नहीं थी, कामातुर होकर उसने लाचारीसे बलात्कार किया है। वस्तुतः सर्वमान्य परम्परा-सिद्ध किसी भी शास्त्रीय नियमको मानकर कम्युनिष्ट अपने किसी भी सिद्धान्तको सिद्ध नहीं कर सकता। इसीलिये वह प्राचीन नियमोंका समूल परिवर्तन चाहता है। पुराने सत्य, न्याय, सिद्धान्त, नियम—सबका ही परिवर्तन चाहता है। यद्यपि यह स्वाभाविक बात है कि जिस चीजकी बहुलता हो और माँग कम हो वह मस्ती हो जाती है, जिसकी माँग बहुत और मात्रा कम हो वह महँगी हो जाती है। यही स्थिति श्रम एवं मजदूरीके सम्बन्धमें भी लागू होती है, तथापि राज्यके द्वारा समय-समयपर जैसे योग्यता, आवश्यकता एवं उत्पादनके अनुसार काम, दाम, आरामका एक स्तर निर्धारण करना आवश्यक होता है, वैसे ही मजदूरीका भी एक स्तर निर्धारण करना पड़ता है। सस्ती, मन्दीके भावोंपर भी नियन्त्रण करना पड़ता है। अन्यथा आन्दोलनोंसे मजदूर वेतन बढ़ायेगा, पूँजीपति दाम बढ़ायेगा। फिर किसानको कपड़े आदिके लिये ज्यादा पैसा चाहिये। अतः वह गेहूँ, चावल आदिका भी दाम बढ़ायेगा। तब मजदूरका वह बढ़ा हुआ वेतन इसी आँटा, दाल, चावल, कपड़ा खरीदनेमें खतम हो जायगा और फिर वेतन बढ़ानेका आन्दोलन करेगा। फिर महँगी बढ़ेगी,

वितरण

अतिरिक्त आयका पञ्चधा विभाजन करके भारतीय शास्त्रोंमें यद्यपि राष्ट्र-हितार्थ उसका विनियोग बतलाया है, फिर भी अतिरिक्त आयको अवैध या अनुचित नहीं कहा जा सकता। कोई भी उद्योग यदि लागत खर्च, सरकारी टैक्सभरके लिये ही आमदनी पैदा करता है तो उससे उद्योगपतिका जीवन भी चलाना कठिन होगा और बड़ी-बड़ी मशीनोंके खरीदने आदिका काम भी न

चल सकेगा । इसी तरह यदि उद्योगपति अतिरिक्त आयका भागी होता है, तभी उसपर मर्दानोंको खरीदने, अन्वेषकोंको सहायता देने आदि का उत्तरदायित्व रहता है । यदि लाभके बदले नुकसान भी हुआ तो उसका भार उसीपर होता है । मजदूर न नुकसानका ही जिम्मेदार होता है और न मजनीन खरीदने आदि का ही । लौकिक, पारलौकिक सभी कर्म अतिरिक्त लाभके लिये ही होते हैं । गेहूँ, यव, आम आदिके एक-एक बीजसे लाखों गेहूँ, यव, आम आदि मिलते हैं, तभी प्राणी खेती बारीमें प्रवृत्त होता है । धार्मिक यज्ञ, दान आदिमें ही लागत खर्चने लाखों गुना अधिक फल पाना सम्मत है । जैसे साधारण मजदूर अपने श्रमका साधारण मजदूरी पाता है, पर बुद्धिजीवी, इंजीनियर आदि अपनी विशेषताके कारण उनसे लाखों गुना ज्यादा मजदूरी पाते हैं, उसी तरह भूमि, सम्पत्तिवाले अपनी भूमि-सम्पत्तिका फल सबकी अपेक्षा ज्यादा पाते हैं । सबमें सब विशेषता नहीं रहती । इसमें भी प्राक्तन सुकृत, दुष्कृत आदि हेतु हैं । बोड़ा, गदहा, ऊँट आदिने काम लिया जाता है, पर उत्पन्न मालमें उन्हें हिस्सा नहीं दिया जाता । केवल भोजनका प्रबन्ध किया जाता है । कम्युनिष्ट सरकारें भी ऐसा ही करती हैं । फिर तो सबसे अधिक शोषक वे ही हुई । यदि मनुष्यकी विशेषताके कारण उसे मालिक बनना उचित है तो भी यह सोचना चाहिये कि यह विशेषता सहेतुक है या निहेतुक । निहेतुक कार्यका होना सम्भव नहीं । अतः सहेतुक ही कहना पड़ेगा । इस जन्मके कोई हेतु विशेष उपलब्ध नहीं होते, अतः जन्मान्तरीय सुकृत-दुष्कृतके कारण ही मनुष्य और गर्दभमें भेद होता है ।

लाभ और श्रमिक

माकर्मके पहले रिकार्डों आदिने भी इसी ढंगका कुछ विरोध प्रकट किया था । उसके अनुसार 'वस्तुके मूल्यमें दो भाग होते हैं--एक मजदूरी दूसरा नफा । दोनों परस्पर विरुद्ध हैं । मजदूरी बढ़ती है तो नफा घटता है, नफा बढ़ता है तो मजदूरी घटती है । जीवन-निर्वाहार्थ जिससे निश्चित परिमाणमें सामग्री मिले वही मजदूरी है । जब जीवन-निर्वाहकी सामग्रीका दाम बढ़ जाता है तो मजदूरी भी बढ़ जाती है । पूँजीके द्वारा सभ्यताकी वृद्धि हो रही है । उससे कारखाने और जन-संख्याकी वृद्धि होती है । इससे जीवन-निर्वाहकी सामग्रीकी माँग बढ़ती है । इसके लिये खेतीकी आवश्यकता बढ़ जाती है । खेतीकी जमीन नयी तुली है । सब जमीनमें एक-सी पैदावार भी नहीं होती । घटिया जमीनमें श्रम बहुत अपेक्षित है, उत्पत्ति बहुत कम होती है । लगान भी बढ़ जाता है, मजदूरी भी बढ़ जाती है । फलतः व्यापारियों

नफा घट जाता है। खेतीसे उत्पन्न चीजोंका दाम बढ़ता है। तब कारीगरीसे पैदा होनेवाली चीजोंका दाम घटता रहता है; क्योंकि नयी मशीनोंके आविष्कार तथा मजदूरोंके उत्तम प्रबन्धसे चीजोंके बननेमें लागत कम बैठती है। इस स्थितिका फल यह होता है कि पूँजीपर नफा घटता है, पूँजी कम होती जाती है, मजदूरी बढ़ती जाती है। पर मजदूरोंको उससे कोई लाभ नहीं; क्योंकि भोजन-सामग्रीका मूल्य बढ़ता जाता है। उस समय नफा जमींदारों, जमीन तथा मकानमालिकोंके हिस्सेमें ही आता है, जो कि समाजकी उन्नतिके लिये कुछ भी नहीं करते।'

मॉग और पूर्तिका नैसर्गिक नियम जिस प्रकार व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रियोंने उपस्थित किया है, वह सामान्य स्थितिमें उपयुक्त होते हुए भी जब शोषणका कारण बनने लगे तो उसपर राज्यका नियन्त्रण अनिवार्य है। पक्षपातविहीन ईमानदार शासनका यही काम है कि वह उत्पन्न विरोधको दूरकर समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित करे। दण्डको दण्ड दे, अनुग्राह्यपर अनुग्रह करे, मात्स्य-न्याय मिटाये; यही राज्यका लक्ष्य होना चाहिये। विरोध बढ़ाना, उत्तेजना फैलाना, विनाशके दृश्यकी उत्सुकतासे प्रतीक्षा करना, किसी सरकार या दलके लिये शोभाकी बात नहीं है। विरोध या संघर्ष कोई मिद्धान्त नहीं है। काम, क्रोध, लोभ, मार-काट, छीना-झपटी स्वाभाविकतया ही अधिक होते हैं। निग्रहानुग्रहद्वारा मात्स्य-न्याय दूर करना एक बात है और सबका स्वामी स्वयं बन जाना दूसरी बात। कल-कारखानोंद्वारा उत्पादन बढ़नेसे जो दोष बढ़ते हैं, वे केवल मालिक बदल जानेसे घट न जायेंगे और न गुण ही हो जायेंगे। दूसरा मालिक जिस प्रकार उन दोषोंको मिटा सकता है, उसी प्रकार पहला मालिक भी। केवल अपेक्षित है—ईमानदारीसे राष्ट्र-हितकी भावना। इसके बिना मजदूर सरकार भी कभी दोष नहीं मिटा सकती। उसीके सहारे कोई भी सरकार इन दोषोंको मिटा सकती है। वस्तुतः यह संघर्ष भी मुद्दीभर लोगोका ही है। मिल-मालिक, पूँजीपतियोंकी संख्या नगण्य है। मजदूरोंकी संख्या भी सीमित ही है। भारत-जैसे देशमें मिल-मालिक मजदूरोंसे आठगुणी अधिक संख्या उन लोगोकी है, जो न मजदूर हैं, न पूँजीपति और न जिनका इन संघर्षोंसे कोई प्रयोजन ही है। वे खेती करनेवाले, साधारणरूपमें व्यापार करनेवाले, पलटन, पुलिस, क्लर्क या अन्य ढगके पेशेवाले हैं। उन सबके हितों तथा मतोंकी उपेक्षा करके मजदूरतन्त्र शासन स्थापित करनेका प्रयत्न सर्वथा अलोकतान्त्रिक है। जो कहते हैं कि कई उद्योगप्रधान देशोंमें ५० प्रतिशतसे भी अधिक मजदूरोंकी संख्या है, वे मतगणनाके मार्गसे मजदूरोंकी सरकार स्थापित क्यों नहीं कर लेते? फिर

वर्ग-संघर्ष, वर्गविद्वेष, वर्ग-विध्वंसके मार्ग अपनायेकी क्या आवश्यकता ? किंचित्प्रकार कहा जाता है कि 'पूँजीवादी-प्रणालीमें ही पूँजीवादके विनाशका बीज उत्पन्न होता है, क्या यही बात मजदूरोंके सम्बन्धमें नहीं कही जा सकती ? उन्हें पूँजीपतियोंने अपने ही प्रयत्नसे अपनेको सकटमें डाल लिया, उत्पादन बढ़ाकर मजदूरोंको एक स्थानमें एकत्र होनेका अवसर उपस्थित कर अपना मार्ग अवरुद्ध कर लिया, ठीक वैसी ही बात मजदूरोंके लिये भी है। अमलमें मार्क्सके मतानुसार वैज्ञानिक आविष्कारक भी बुद्धिजीवी श्रमिक ही हैं। उन्होंने नये-नये यन्त्र, कारखानोंका आविष्कार किया है। उन्होंने लोगोंने उत्पादन बढ़ाया। उत्पादन बढ़नेसे ही मौदेमें मदी आयी। मदी आनेसे वेतनोंमें कमी हुई। उत्तरोत्तर अच्छी मशीनोंकी पैदाइससे मजदूरोंकी आवश्यकता बढ़ी, जिसने मजदूरोंकी बेकारी बढ़ी। फलतः तत्काल मजदूरोंकी बेकारीमें श्रमजीवी वैज्ञानिकही कारण हुए।

इस तरह भलाईके साथ-साथ सर्वत्र बुराई भी लगी रहती है। विजयीने प्रकाशादि भी होता है, मृत्यु भी हो सकती है। इसलिये उपाय अपाय दोनोंपर ध्यान रखना बुद्धिमाननी है। हर जगह बेकार लोग असन्तुष्ट होकर संचलित हो वर्ग-संघर्ष, वर्ग-विध्वंसद्वारा राज्यकी स्थापना नहीं कर पाते।

हर स्थानोंमें यह वर्ग-संघर्ष भी नहीं होता। मार्क्सकी भविष्य-वाणीके अनुसार औद्योगी-देश ब्रिटेनमें क्रान्ति होनी चाटिये थी; किंतु कृषि-अधीन रुस तथा चीनमें क्रान्ति हुई वह भी किसानोंके द्वारा। उगलैंड, फ्रांस, अमेरिका आदिमें कल-कारखाने कम नहीं हैं। फिर भी वहाँ वर्ग-संघर्ष नहीं हुआ। विशेषतया अमेरिकामें मजदूरोंकी संख्या अधिक है और वहाँ मतगणनाके आधारपर सरकारें भी बनती हैं। कम्युनिष्ट कहते हैं कि प्रत्येक देश-में ९५ प्रतिशत मजदूर हैं फिर भी वहाँ मजदूरोंकी सरकार न बन पायी। इससे स्पष्ट है कि वहाँके मजदूरोंको वर्ग-विध्वंसदिमें कोई रुचि नहीं है। बेकारोंको अपने जीवन चलानेकी पड़ी रहती है। राज्यस्थापनाके लिये उनमें प्रेरणा उत्पन्न होना सरल नहीं है।

प्राचीन राम-राज्यमें समृद्धि पराकाष्ठाको पहुँची हुई थी। फिर भी उस समयके वर्ग-संघर्षका कोई इतिहास नहीं मिलता। अतः 'पूँजीवादी शोषक होते हैं, सबके सर्वस्वका अपहरण करनेवाले होते हैं, एक दिन उनका भी सर्वस्व ग्राहने लिये छिन जाता है आदि' सब अतिरिक्त कल्पना है। वह वह लुके ईजिप्शनी सम्पत्ति, शक्ति दूसरोंके सतानेके काममें आती है तथा सज्जनोंकी सम्पत्ति, शक्ति विभिन्न

हितार्थ ही होती है। शिबि, दिलीप, रन्तिदेव आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। न सब पूँजीपति दूसरेका ही सर्वस्व हरण करते हैं, न सब पूँजीपतियोंका सदाके लिये सर्वस्व ही अपहृत होता है। अनेक स्थानोंमें दुष्प्रचारकोके दुष्प्रचार व्यर्थ होते हैं और वहाँसे मार खाकर सर्वस्व गँवाकर भागना पड़ता है, जैसा जर्मनी आदि देशोंमें हुआ।

उपर्युक्त वर्णनसे भी इसी निष्कर्षपर पहुँचना पड़ता है कि व्यक्ति-समष्टिके सामंजस्य-सम्पादनसे ही काम चलेगा। पहले लिख आये हैं कि मजदूर वेतन, वोनस, भत्ता बढ़ानेका आन्दोलन करके सफल भी हो जायँ, तो भी पूँजीपति उसके बदले सौदेपर दाम बढ़ायेगा। फिर उसे खरीदनेके लिये किसानको अधिक रूपयेकी जरूरत होगी। तदर्थ वह भी गेहूँ-चावलका दाम बढ़ायेगा। मजदूर भी बढ़ायी हुई मजदूरी महँगे गेहूँ, चावल, कपड़े खरीदनेमें खर्च कर देगा। अतः उत्पादन-साधनों, उत्पादकों एवं उत्पन्न होनेवाली सामग्रियोंको ध्यानमें रखते हुए ही उपयोगी नियम आवश्यक हैं। उसके बिना मजदूर राज्यके छू-मंतरसे भी समस्याका हल होना असम्भव है।

वस्तुतः सभी विचारक इस बातको मान गये हैं कि मार्क्सवादमें बुद्धिजीवियोंका महत्त्व नहीं-जैसा ही है। सन् १९३६ के पूर्वतक साम्यवादी रुसमें उन्हें मत देनेका भी अधिकार नहीं था। अन्वेषक, आविष्कारक, वैज्ञानिकोंका वर्तमान विकासमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी तरह लाखों मजदूरोंसे काम लेनेवाले प्रबन्धकोंका भी (जिनके बिना लाखों मजदूर अकिंचित्कर हो जाता है) महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी तरह टूटे-फूटे, रद्दी टीन, लोहा आदि संगृहीत करके उनका सदुपयोग करके उनका करोड़ोंकी आमदनी कर लेनेवाले विशेषज्ञोंका भी स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन सबोंको मजदूरोंके तुल्य शोषित भी नहीं कहा जा सकता और न पूँजीपतियोंके तुल्य शोषक ही कहा जा सकता है। इसी तरह किसानों एवं साधारण कामचलाऊ व्यापारियोंको अबके समाजवादी शोषित मजदूरकोटिमें गिनने लगे हैं। पहले किसान आदिकोंका मजदूरश्रेणीमें बिल्कुल स्थान न था। वलिक प्राकृतिक साधनोंसे उपार्जित करके जीविका चलानेवालोंको शोषककोटिमें ही गिना जाता रहा है। उनकी संख्याकी वृद्धताका ध्यान न देकर बड़े घमण्डके साथ लेनिनने मजदूरोंकी तानाशाहीकी घोषणा की थी।

सन् १९१७ की किसान-मजदूर-क्रान्तिके बाद रूसी-क्रान्तिके नेता लेनिनने (जो कि मार्क्सवादका सबसे बड़ा ज्ञाता समझा जाता था) मजदूरोंकी तानाशाहीका

समर्थन किया था। उस समयके स्थापित समाजवादी शासनको अधिमानपूर्ण तानाशाहीका नाम दिया गया था। उस सम्बन्धमें यद्यपि कई आधुनिक समाजवादी लीपा-पोती करते हुए कहते हैं कि 'यदि स्वयं मिहनत करनेवाले मजदूरोंका शासन करेगा तो मिहनत करनेवालोंका जोपण हो ही नहीं सकता। जो लोग पैदा नहीं करते, उनका जोपण किया जा सकता है? हाँ, मजदूर-शासनमें कुछ लोगोंका दमन हो सकता है, उन्हें नागरिक अधिकारोंसे वञ्चित किया जा सकता है।' पर ये लोग कौन हैं, इनकी संख्या कितनी है, इनका भी दमन क्यों होगा?

‘मजदूर-राज्यमें प्रत्येक व्यक्ति मजदूर भी होगा और शासक भी। जब पूँजीवादी देशोंमें भी उनकी संख्या ९२ प्रतिशत या ९९ है। फिर मजदूर-राज्यमें तो उनकी संख्या शत-प्रतिशत होगी। काम न करनेवालोंकी संख्या हजारोंमें एक होगी। ऐसे लोग यदि समाजकी रायसे स्थापित शासनको उखाड़कर स्वार्थानुकूल शासन करना चाहें तो ऐसा करनेकी उन्हें स्वतन्त्रता देना प्रजातन्त्रके कर्तव्य अन्तर्गुह्य होगा? हाँ, मजदूर शासनमें यदि कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, जो सम्पूर्ण जनताके लाभार्थ समाजकी व्यवस्थामें परिवर्तन लाना चाहते हैं तो एक मजदूर होनेके नाते अपने विचार प्रकट करनेकी उन्हें उतनी ही स्वतन्त्रता है जितनी किसी दूसरे मजदूरको; क्योंकि मजदूरतन्त्रमें नागरिकोंके साधन और अधिकार समान होते हैं।’

उपर्युक्त कथन सर्वथा सत्यका अपलापमात्र है। क्या किसानोंकी भूमि-सम्पत्ति गरीब व्यापारियोंके व्यापार-साधनोंको छीन लेना जोपण नहीं है? भारतके काश्तकार आज भी अपनी काश्तकारी बचानेका आन्दोलन कर रहे हैं। यत्र-तत्र भू-स्वामी-सङ्घ, काश्तकार-सङ्घ बन रहे हैं। वे भूमि एवं सम्पत्तिके अपहरणको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं और समष्टि या समाजके नामपर मुट्ठीभर तानाशाहोंके हाथमें अपनी भूमि-सम्पत्ति देकर, शासनयन्त्रका नगण्य कल-पुर्जा नहीं बनना चाहते। वस्तुतः मजदूरोंपर भी बलात्कारसे जडवादी तानाशाही शासन लादा ही जाता है। प्रायः गरीब मजदूर ईश्वरवादी धार्मिक होते हैं। भारतके शत-प्रतिशत मजदूर आस्तिक और धार्मिक हैं। वे रामायण, भागवत, गीताका सम्मान करते हैं, सत्यनारायणकी कथा सुनते, कीर्तन करते हैं केवल योनिस, वेतन, भत्ताका प्रलोभन देकर कम्युनिष्ट उन्हें अपने आन्दोलनोंमें शामिल करते हैं। यदि वे समझ जायें कि कम्युनिष्ट ईश्वर, धर्म एवं शास्त्र नहीं मानते तो वे भूलकर भी उनके डाँड़े न जायें। हाँ, उनकी अपेक्षित माँगमें कोई ईश्वरवादी-दल नष्टाय हो तो वे सोलह आने उसीका साथ देंगे। हरेक मजदूर भी स्वतन्त्रता चाहता है।

दान-पुण्य करना चाहता है । अपनी सम्पत्ति अपने बेटे-पोतेके लिये छोड़ना चाहता है । यदि वह जान ले कि कम्युनिष्ट-राज्यमें बाप-दादेकी कमाई बेटे-पोतेकी वपौती मिलकियत नहीं समझी जाती तो वह कभी भी कम्युनिष्टोंमें शामिल न होगा । यदि वह जान ले कि काम न करनेवाले वृद्ध माता, पिताको एवं वृद्ध होनेपर उसे भी कम्युनिष्ट-राज्यमें कोई स्थान नहीं है, तो अवश्य ही उसे घबड़ाहट होगी । इसके अतिरिक्त यह भी हम कह आये हैं कि यदि पूँजीवादी शासनमें ९९ मजदूर हैं, तो वहाँ मजदूर-सरकार क्यों नहीं बन जाती ? क्योंकि वहाँ तो मतगणना-के आधारपर सरकारें बनती हैं । अतः मजदूरोंकी उक्त संख्या मिथ्या एवं भ्रामक है । इसी तरह यह भी झूठ है कि किसी भी श्रम करनेवाले मजदूरको अपने विचार व्यक्त करनेकी स्वतन्त्रता है । जहाँ कोई स्वतन्त्र प्रेस या पत्र नहीं हो सकता, नागरिक स्वतन्त्रतापूर्वक किसी दूसरे देशके विचार नहीं पढ़ सकते, रेडियो सुन नहीं सकते, अपने देशमें भी स्वतन्त्रतासे अपने मतका प्रचार नहीं कर सकते, वहाँ भी प्रजातन्त्र एवं प्रजाहितकी बात करना सर्वथा उपहासास्पद है ।

वस्तुतः जो सम्पूर्ण जड़ प्रपञ्चको निरीश्वर मानते हैं, कोई शाश्वत नियम नहीं मानते, व्यक्तिगत शासन नहीं मानते, उन्हें कोई शासन बनानेका अधिकार भी कैसे है ? व्यक्तिका समुदाय ही समष्टि है । व्यक्तिमें जो गुण नहीं, वह समष्टिमें भी न आयेगा । लाल सूतोंसे ही लाल कपड़ा बनता है । सफेद सूतोंमें लालिमा नहीं है, अतः उनसे लाल कपड़ा नहीं बन सकता । यदि व्यक्ति शासन अमान्य है तो समष्टिके नामपर भी शासन नहीं बन सकता, फिर तो अराजकताका ही समर्थन श्रेष्ठ है । कोई भी व्यक्ति किसी दूसरेका शासन क्यों मानेगा ? जो कोई सत्य, नियम या सिद्धान्त नहीं मानता, वह किस आधारपर नये सिद्धान्तोंकी स्थापना कर सकेगा ? गत दिनों (१९५४ में) किसी ब्रिटिश मन्त्रीने विचार-स्वातन्त्र्यके सम्बन्धमें एक लेख 'प्रवदा' (रूसी-पत्र) में भेजा था । जिसमें उन्होंने अखबारों, रेडियो तथा साम्यवादी विचारोंके विरुद्ध रूसी प्रतिबन्धकी चर्चा करते हुए रूसमें विचार-स्वातन्त्र्यका अभाव बनलानेका प्रयत्न किया था । 'प्रवदा'ने उसी अङ्कमें उसका उत्तर भी छापा था । उत्तरका सार यही था कि राष्ट्रियता-विरोधी भावोंको न पनपने देना भूषण है, दूषण नहीं । पर क्या कोई पूछ सकता है कि राष्ट्रिय विचार क्या शापनारूढ दलका विचार है ? वस्तुतः यदि स्वतन्त्रताके साथ विश्वकी मत-गणना हो, तभी राष्ट्रिय विचारका पता लग सकता है ।

षष्ठ परिच्छेद

मार्क्सीय अर्थ-व्यवस्था

मूल्यका आधार

कहा जाता है, 'पूँजीवादी समाजके जीवन और गतिका आधार होता है खरीदना, बेचना तथा वस्तुओं एवं श्रमका विनिमय ही परस्पर सम्बन्धका सार है। मार्क्सके मतानुसार 'पूँजीवादके अन्तर्गत जो माल तैयार होकर बाजारमें जाता है उनके दो तरहके मूल्य होते हैं—एक उपयोग सम्बन्धी, दूसरा विनिमय-सम्बन्धी। पहलेका अभिप्राय उस वस्तुके गुणसे है, जिससे खरीदनेवालेकी शारीरिक या मानसिक आवश्यकताकी पूर्ति होती है। जिसका उपयोग मूल्य नहीं होता, उसका विनिमय या विक्रय नहीं होता। उपयोग मूल्यकी दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु दूसरीसे भिन्न होना चाहिये। कोई आदमी एक मन गेहूँका परिवर्तन उमी ढंगके गेहूँसे नहीं करता; हाँ, उसका परिवर्तन २० गज कपड़ेमें कर सकता है। अब यह प्रश्न होता है कि एक वस्तुका विनिमय दूसरी वस्तुसे कैसे और किस नियमने हो। इसी नियम या कायदेका नाम विनिमय मूल्य है। इसका आधार श्रमके उम परिमाण और कठोरतापर निर्भर होता है, जो किसी वस्तुके बनाने या पैदा करनेमें आवश्यक होता है। बाजारमें श्रमके समान परिणामका परस्पर बदला किया जाता है। श्रमका परिमाण इस दृष्टिसे नहीं नापा जाता कि अमुक व्याक्तको एक वस्तु बनानेमें कितनी देर लगती है। किंतु समाजमें आमतौरसे प्रचलित प्रणालीसे जितना समय लगता है उसी हिसाबसे श्रमका परिमाण नापा जाता है। जैसे हाथमें कपड़ा बुननेवाले जुलाहेको २० गजके थान बनानेमें २० घंटे काम करना पड़ता है, जो कि आधुनिक मशीनोंद्वारा ५ घंटे या उससे भी कम समयमें बनाया जा सकता है। पर हाथसे कपड़ा बुननेवालेको—चौगुना-पाँचगुना मूल्य नहीं दिया जा सकता। अतः मार्क्सके मतानुसार वस्तुके विनिमय मूल्यका आधार यह परिमाण है, जो उस वस्तुके तैयार करनेमें लगता है। परंतु श्रमका यह परिमाण सदा एक सा नहीं रहता। नये आविष्कारोंसे माल तैयार करनेके ढंगमें उन्नति और श्रमजीवियोंकी उत्पादनबृद्धि आदि कारणोंसे किसी वस्तुके बनानेके लिये आवश्यक श्रमका परिमाण घट सकता है। उन अवस्थामें यदि दूसरी बातें (जैसे उमकी वस्तुकी माँग सिफ़ा आदि) ज़मीनी तैसी बनी रहें, तो विनिमय मूल्य भी कम हो जाता है। अतः श्रम ही विनिमय मूल्यका आधार है। विनिमय मूल्य

ही किसी समाज या देशकी सम्पत्तिका निर्णय किया जा सकता है। वस्तुओंके तैयार करनेमें जितना श्रम अपेक्षित होता है, अगर वे उससे कममे तैयार होने लगे, तो किसी देशकी सम्पत्ति आकारमें भले ही बड़ी हों, पर मूल्यकी दृष्टिसे नगण्य हो सकती हैं। उद्योग-धंधोंकी दृष्टिसे जो देश जितना अधिक अग्रसर होता है, उसकी सम्यताका दर्जा जितना ऊँचा होता है, उतनी उसकी सम्पत्ति भी अधिक होती है। सम्पत्तिकी उत्पत्तिपर श्रम भी कम खर्च होता है। वर्तमान व्यावहारिक राजनीतिमें यह अधिक मजदूरी और कम घंटेके कामके रूपमें दृष्टिगोचर होती है। विनिमय मूल्यका आधार उपयोग-मूल्य ही होता है। यदि कोई चीज इतनी अधिक बन जाय, जिसकी लोगोको आवश्यकता न हो, तो शेष वस्तुका कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता, भले ही उसके तैयार करनेमें श्रम किया गया है। इसलिये विनिमय मूल्य या समाजद्वारा किये गये श्रमका पूरा फल तभी प्राप्त हो सकता है, जब कि वस्तुओकी पैदावार और उनकी माँगमें समानता बनी रहे। इसके लिये संघटन और समाजके मार्गदर्शनकी आवश्यकता होती है।'

कहा जाता है, 'प्राचीन अर्थशास्त्रोंके मतानुसार पूँजीपति जो कि उत्पत्तिका नियन्त्रण करता है, अपनी पूँजीद्वारा मजदूरोंको औजार और कच्चा माल पहुँचाता है। वह तैयार मालको बिकवाता है, माल तैयार होनेके क्रमको जारी रखता है, अतः वही मूल्यका उत्पादक माना जाता है। वह श्रमजीवियोंकी भी उत्पत्तिका एक साधन गिना जाता है। पर मार्क्सके मतानुसार श्रमजीवी ही जो कच्चे मालसे वस्तु तैयार करते तथा कच्चा माल उत्पन्न करके वस्तु-निर्माणके स्थानतक पहुँचाते हैं, मूल्यके एकमात्र उत्पादक हैं।'

वस्तुतः यह कोई अनहोनी बात नहीं है। व्यवहारमें सुगमता लानेके लिये मुद्रा या रुपयोका प्रचलन ठीक ही है। मनभर गेहूँका दाम दो बकरी या एक जोड़े जूनेका दाम एक मेज है, इस व्यवहारमें झंझट अधिक है। व्यवहारमें सुविधाके लिये रुपयाके द्वारा पदार्थोंके दाम ओँके जाते हैं ! कोई सौदा देकर रुपया ले लेनेपर इस बातका सतोष रखता है कि आवश्यक होनेसे उस रुपयेसे कोई भी चीज खरीदी जा सकती है। पदार्थोंके संग्रह करने या ले जाने, ले आनेमें अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। रुपयोंसे ऐसी कठिनाइयाँ दूर होती हैं। रहा यह कि पूँजीपतिको उसके द्वारा मुनाफ़ा खींचने या जमा करनेका अवसर मिलता है। पर सदुपयोग-दुरुपयोग प्रत्येक वस्तुका किया जा सकता है। मशीन चलानेवाली, प्रकाश फैलानेवाली बिजलीसे प्राणी आत्महत्या भी कर सकता है। रुपयेसे व्यवहारमें हर प्रकारकी सुविधा हो होती है। उधार या कर्ज़के रूपमें लेना देना, उगाहना

आदि रुपयेके व्यवहारमें सुगमता होती है। किसीको रुपयेमें लाभ होता है, एतावता वह बुरा नहीं कहा जा सकता।

क्रय-विक्रयके काममें आनेवाली वस्तुओंके दामका आधार भी केवल श्रम नहीं है, किंतु उपयोगिता एवं माँग दामका आधार है। और उसका भी परम आधार है उपकार्य-उपकारकभाव। विकासवादियोंके अनुसार अन्वात्मवादी नया आविष्कार नहीं मानते, किंतु वेदादिशास्त्रोंद्वारा निहित वर्णाश्रमानुमारी प्रीतस्मार्त धर्माद्वारा देवार्चन करना और उनके द्वारा प्रदत्त वृष्टि अन्न, प्रजा आदिरूपमें फल प्राप्त करना—यह सब भी विनिमय ही है। परम दार्शनिक भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि—तुम यज्ञसे देवताओंका अर्चनकर सर्वर्द्धन करो। देवता भी विविध फल प्रदानकर तुम्हारा सर्वर्द्धन करेंगे। इस तरह परस्पर एक दूसरेका पोषण करते हुए आप सब परम श्रेयके भागी होंगे।

देवान् भावयन्तानेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्पर भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

(गीता ३।११)

निःसीम, ज्ञान, शक्ति-सम्पन्न ईश्वर ही है। जीवकी क्रिया, शक्ति, ज्ञान सब सीमित होता है। यज्ञ, तप, दान आदि बौद्धिक, शारीरिक श्रमद्वारा जीव ईश्वरसे बहुमूल्य सम्पत्ति प्राप्त करता है। कोई भी प्राणी लाभके ही उद्देश्यसे कर्म करता है। यह व्यापक सिद्धान्त है कि मन्दमति प्राणी भी विना किसी प्रयोजनके किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता—‘प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।’ खेती करनेवाला किसान खेत जोतता है। अपना और अपने घरवालोंका पेट काटकर मनो गेहूँ, धान खेतमें डालता है, इसी आशासे कि उसे एक-एक गेहूँके बदले हजार हजार गेहूँ मिलेगा। लौकिक परस्पर व्यवहारमें भी परस्पर सहयोग अपेक्षित होता है। सभी सब काम करनेकी क्षमता नहीं रखते। जैसे सबको सब बातोंका ज्ञान नहीं होता, वैसे सबमें सब कार्य करनेकी क्षमता भी नहीं होती। अतएव सभी लोग अपने जन्मानुकूल स्वभावानुसार शिक्षित होकर यथायोग्य ज्ञानकर्ममें सलग्न होते हैं। किसीने ज्ञानप्रधान, किसीने बलप्रधान, किसीने धनप्रधान, किसीने सेवाप्रधान कर्म अपनाया। यही वर्णाश्रम धर्मकी बात आ जाती है। विविध पशु, पक्षी, वृक्षोंके जन्मजात गुणकर्म वैचित्र्य होते हैं। इसी प्रकार जन्मजात गुणकर्म वैचित्र्य वर्णोंमें भी अङ्गीकृत होते हैं।

अस्तु। परस्परके लौकिक व्यवहारोंमें भी गृहस्थ किसान ब्राह्मण (पुरोहित) शायक, कर्मचारी (नोकर) तथा नाई, घोड़ी आदिको उनके धर्मके साथ अन्न ही देता था। परस्पर सम्भावना, सहयोग एतत्सर्वम् ।

बौद्धश्रमका महत्त्व अधिक होता था। शारीरिक, बौद्धिक सभी कामोंमें अभ्याससे योग्यता बढ़ती है। साथ ही कुछ जन्मजात, जन्मान्तरीय विशेषताएँ भी होती हैं। कभी-कभी समान पिताके पुत्रोंको समान सुविधा तथा शिक्षाका प्रबन्ध रहनेपर भी कोई किसी कार्यमें दक्ष होता है; कोई किसी दूसरे कार्यमें और कोई किसी भी कार्यमें दक्ष नहीं होता। उस दक्षताके तारतम्यसे भी श्रमके मूलका भेद हो जाता है। आधुनिक लोग भी फावड़ा चलानेवाले श्रमिककी अपेक्षा इंजीनियरके श्रमका बहुत ज्यादा मूल्य समझते हैं। यद्यपि फावड़ा चलानेवालेके श्रममें बहुत कठोरता है। इंजीनियरके श्रममें कठोरता नगण्य ही है। कभी श्रमद्वारा निर्मित उपयोगी वस्तुका श्रमनिर्मित दूसरी उपयोगी वस्तुके साथ विनिमय होता है, परंतु कभी श्रमका ही वस्तुके साथ विनिमय होता है। जैसे किसीसे अमुक परिमाणमें कोई उपयोगी वस्तु या रुपया देकर अमुक मात्रामें शारीरिक या बौद्धिक श्रम लिया जाता है। कभी-कभी श्रम-निर्मित उपयोगी वस्तु देकर गाय या बकरी आदि ऐसी वस्तु खरीदते हैं, जिसके बनानेमें श्रम कुछ भी नहीं खर्च होता। श्रमकी बराबरीके अनुसार दामकी बराबरीकी बात सर्वथा असंगत एवं अव्यावहारिक है।

सीसम एवं चन्दनके सिंहासन बनानेमें श्रम समान ही होगा; पर दोनोंके मूल्यमें पर्याप्त अन्तर होता है। लोहेकी थाली एवं सोनेकी थालीमें श्रमक विपरीत मूल्य मिश्रणका व्यवहार आज भी प्रचलित है। पहाड़से निकले हुए अपरिष्कृत हीरेमें कुछ भी श्रम नहीं लगा; किंतु लाखों गज कपड़ेके बनानेमें अपेक्षित महान् श्रम भी उसके बराबरका नहीं ठहरता। अतः कहना पड़ेगा कि उपयोग तथा माँगके अनुसार ही वस्तुका मूल्य होता है। यह बात श्रम एवं श्रम-निर्मित पदार्थ दोनोंहीके सम्बन्धमें समानरूपसे लागू होती है। जल, वायु आदि अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी जहाँ पर्याप्त मात्रामें सुलभ होते हैं, वहाँ उनका कोई दाम नहीं है। पर जहाँ कमो होनेके कारण उनकी माँग होती है, वहाँ उनका भी दाम बढ़ जाता है। यदि हीरा भी पानी या बालूके तुल्य पर्याप्त होता और उसकी माँग न होती, तो इतने मूल्यका वह न होता। अथवा यदि वह शौकीन घनिकोंकी मानसिक आवश्यकताका पूरक न होता तो भी उसकी कीमत नगण्य ही होती। पहाड़में उत्पन्न होनेवाली विभिन्न वस्तुओंके मूल्यमें जो कच्चे मालके रूपमें है; पर्याप्त अन्तर है। इसी प्रकार जंगलमें स्वतः उत्पन्न विभिन्न प्रकारकी ओषधियो, लकड़ियो तथा हिरण, गाय, हाथी, बाघ, बकरे आदि पशुओंके, जिनमें मनुष्यका कुछ भी श्रम खर्च नहीं हुआ है, दामोंमें पर्याप्त अन्तर है, परस्पर विनिमय भी हो सकता है। यह विनिमय श्रमकी बराबरीके आधारपर नहीं; किंतु उपयोगिता एवं माँगके आधारपर ही है, ऐसा कहना पड़ेगा। वस्तुके महत्त्व, अल्पता, बहुलताके साथ, उपयोग एवं माँगका सम्बन्ध रहता है। एक ज्ञानशून्य मनुष्य और बकरेके लिये

रोटी या नीमकी पत्तीका जो महत्त्व है, वह हीरेका नहीं । जो वस्तु जिसके वाह्य या आन्तरिक आवश्यकताओं, इच्छाओंकी पूरक होती है, उसके प्रति ही उसकी कीमन होती है । कभी-कभी एक गिलास पानी या एक टुकड़ा रोटी भी सैकड़ों हीरेके बराबर ठहरती है । गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—‘सपति सगरे जगतकी, स्वासा सम नहीं होइ ।’ सारे संसारकी सम्पत्ति एक श्वासके बराबर नहीं होती । यदि कोई गुणी करोड़ों हीरा लेकर भी मरणकालमें श्वास लौटा दे, तो यह सौदा मँहगा नहीं समझा जाता ।

वस्तुतः मार्क्स श्रमको ही आमदनी या मूल्यका आवार मानकर, प्राकृतिक वस्तु या कच्चे मालके उत्पादनका महत्त्व घटाकर मजदूर-राज्यका औचित्य सिद्ध करना चाहता है, परंतु उपर्युक्त कथनानुसार यही कहा जा सकता है कि मूल्यमें श्रम भी कारण है । जैसे श्रम बिना कभी मशीन एवं कच्चे माल तथा भूमि-खान आदि अन्य प्राकृतिक साधन मुर्दे पड़े रहते हैं, वैसे ही श्रम भी उपयुक्त साधनों बिना निरर्थक ही रह जाता है । काम लेनेवाला न हो तो कामका कुछ भी फल नहीं होता । काम लेनेवाला तथा दाम देनेवाला न मिलनेसे ही बेकारीका प्रश्न उठता है । यह ऊपर कहा ही जा चुका है कि अनेकों ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनके उत्पादनमें श्रम कुछ नहीं हुआ और उनका उपयोग-मूल्य एवं विनिमय-मूल्य दोनों ही होता है । कोई भी कार्य लाभके लिये ही किया जाता है, तभी अति समान वस्तुका विनिमय नही होता । अर्थात् एक मन गेहूँका उसी ढगके एक मन गेहूँके साथ विनिमय नहीं किया जाता । यातायातके द्वारा देशान्तर, कालान्तरके सम्बन्धसे क्रय-विक्रय या विनिमय लाभके लिये ही होते हैं । जैसे भारतका जूट विदेशोंमें विशेष मूल्य देता है; मार्गशीर्षका चावल श्रावणमें अधिक मूल्यवान् हो जाता है । अपनी आवश्यकतासे अधिक उत्पादन होने एवं अन्य वस्तुओंकी अपेक्षा होनेसे ही विनिमय या क्रय-विक्रयकी बात चलती है । अतएव खेती, मजदूरी और नौकरीके धधेके समान ही क्रय-विक्रयका एक धधा है । यदि उससे लाभकी सम्भावना न हो तो उसमें कोई प्रवृत्त ही क्यों हो ?

मूल्य और श्रम

कहा जाता है, ‘मशीनोंके नये आविष्कारों एवं उत्पादनके कामोंमें दक्षता आनेसे कम श्रममें वस्तु उत्पन्न होने लगती है । इसीलिये वस्तुका दाम कम हो जाता है । अतः सिद्ध है कि श्रम ही विनिमय-मूल्यका आधार है ।’ पर यह बात ठीक नहीं जँचती । कारण, दूसरा पक्ष यह कह सकता है कि मालकी अधिकताके कारण ही माँग घटी और माँग घटनेसे विनिमय-मूल्य घटा । माल बढ़ानेके कारण मशीनें भी हैं ही । आवश्यकतासे अधिक सौदा तैयार हो जानेपर मार्क्सवादी श्रमको

निरर्थक मानते हैं। वस्तुतः उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य, यह विभाजन ही व्यर्थ है। उद्देश्यभेदसे वस्तुभेद नहीं होता। अग्नि अपने लिये जलायी जाती है, वह दूसरोके काममें भी आती है। अग्निहोत्रके उद्देश्यसे अग्नि-मन्थन करके अग्नि प्रकट की जाती है, फिर वही भोजन बनानेके काममें आती है। कभी उसीसे यज्ञशाला भी जल जाती है। पर इतनेसे ही अग्नि दो नहीं हो जाती। भारतीय दृष्टिसे तो कोई वस्तु केवल अपने लिये पैदा ही नहीं की जाती। यज्ञ, दान, देवता, पितर तथा पड़ोसीका हित भी उद्देश्य रहता है। फिर जब अन्य वस्तुएँ तथा रुपये भी अपने काममें आते हैं, तब बेचनेके लिये तैयार किया हुआ माल भी तो प्रकारान्तरसे आत्मार्थ ही हुआ। यदि वस्त्रादि पदार्थ या रुपयादि अपेक्षित न हों तो क्यों श्रमसे वस्तु-निर्माण करे और निर्मित वस्तुको दूसरोको क्यों दे? अतः निष्पक्षरूपसे सर्व-हितकारी रामराज्य है।

यह ठीक है कि श्रम बिना कच्चा माल तथा मशीने व्यर्थ हैं, पर श्रम भी प्राकृतिक साधनों (कच्चे माल) के अभावमें निरर्थक ही है। अतएव श्रमको केवल सहकारी कारण माना जा सकता है। जैसे घटका कारण मृत्तिका है, पर जल सहकारी कारण है; क्योंकि जलके बिना घटका निर्माण नहीं हो सकता। तो भी घटके कारणोंमें मृत्तिकाकी प्रधानताका खण्डन नहीं हो सकता, पर सहकारी कारण होनेसे जलकी तरह श्रम भी अवश्य महत्त्वपूर्ण है। साथ ही प्राकृतिक साधन तो श्रमानपेक्ष भी कुछ मूल्य रखते हैं, पर अन्य साधनोंके अभावमें श्रमकी कोई कीमत नहीं।

मजदूरी

कहा जाता है, 'यद्यपि मालूम पड़ता है, मजदूरको उसके श्रमके बदले पूरी मजदूरी मिल रही है, परंतु उसको घोड़ाको दाना देनेके तुल्य केवल उतनी ही मजदूरी दी जाती है, जितनेमे वह जीवन-निर्वाह कर सके और उसमें काम करनेकी शक्ति बनी रहे। जब कभी वस्तुओकी दर घट जाती है, तो मजदूरीका परिमाण ज्यो-का-त्यो बना रहनेपर भी मजदूर जीवन-निर्वाहकी अधिक सामग्री पा सकते हैं। वस्तुओके दर बढ़नेपर कम सामग्री मिलने लगती है। इस दृष्टिसे मजदूरोंके वेतनके रुपयोकी संख्या ज्यो की-त्यो बनी रहनेपर भी वास्तवमे उनकी मजदूरी घटती-बढ़ती रहती है। पूँजीवादी अर्थशास्त्रकार इस नियमको स्पष्ट और न्याययुक्त मानते हैं। पर मार्क्स इससे सतुष्ट नहीं। उसका कहना है कि कोई पूँजीपति उसी नौकरको रखता है, जो उसे दी जानेवाली मजदूरीसे अधिक माल तैयार करता है। यदि अपने जीवन-निर्वाहके लायक सामग्री पानेके लिये मजदूरको प्रतिदिन ५ घंटा काम करना पर्याप्त हो, तो उसे ५ घंटे पूँजीपतिके लिये भी काम करना आवश्यक होना है। अतः मार्क्सके मतानुसार मजदूरके अपने लिये किये गये श्रमको

आवश्यक श्रम और पूँजीपतिके लिये किये गये श्रमको अतिरिक्त श्रम कहा जाता है। मार्क्स अतिरिक्त श्रमको बिना मूल्यका श्रम कहता है। इस तरह बदलेमें बिना कुछ दिये ही पूँजीपति मजदूरकी कमाई हजम करता रहता है।'

मजदूरको उनके कामके अनुसार मजदूरी मिलनी परमावश्यक है। निष्पक्ष सरकार, जनता अथवा उभयपक्षीय विशेषज्ञ विद्वान् उचित मजदूरीकी दर निश्चित कर सकते हैं। समष्टि-हितकी दृष्टिसे सरकारको उस निश्चयकी मान्यता देनी चाहिये। उचित भोजन-वस्त्र, औषध, आवास-स्थान एवं शिक्षाकी व्यवस्था सबके लिये होनी परमावश्यक है। उसके ऊपर भी योग्यता एवं कामके अनुसार मजदूरको अधिकाधिक विकसित सुखी तथा साधनसम्पन्न होने, अपने श्रम न करने लायक माता पिता तथा बालक एवं अपनी अगली पीढ़ीके लिये धन-संग्रह करनेका अधिकार होना चाहिये। यह सामान्य बात है कि दूसरोंकी वस्तु छिनना किसीको बुरा नहीं लगता, परंतु जब अपनी वस्तु छिनने लगती है, तब अवश्य पीड़ा प्रतीत होती है। मजदूरोंके भी कुटुम्ब होते हैं। वे भी अपने कुटुम्बके भविष्यकी दृष्टिसे अनेक वस्तुओंका संग्रह करते हैं। जब उनका संग्रह छिनने लगता है, तब उन्हें भी यह नहीं जँचता। कोई भी व्यापार, धंधा, उद्योग अपने फायदेके लिये ही किया जाता है। मजदूर भी फायदेके लिये नौकरी करता है। कोई आदमी अपनी खेती करके भी जीवन चला सकता है। फिर भी वह नौकरी करनेके लिये शहरोंमें जाता है, वहाँ देहातोकी अपेक्षा कम परिश्रममें ही अधिक लाभ दिखायी देता है। तब फिर यह स्वाभाविक है कि पूँजीपति भी मजदूरी देकर मजदूरोंसे लाभ उठाये। शास्त्रोंके अनुसार भी ऋत्विक् आदिको जितनी दक्षिणा देकर यज्ञ किया जाता है, उमसे लाखों गुणा अधिक फल यजमानको मिलता है। इसी तरह मजदूरोंको उचित वेतन दे देनेपर उनके द्वारा मालिकको अधिक लाभ होता हो तो उससे मजदूरका कुछ भी नुकसान नहीं होता। यदि उत्पादनमें श्रम ही सब कुछ होता, प्राकृतिक साधनों, मशीनोंका महत्त्व न होता, मजदूर मजदूरी न लेता; तब अवश्य ही सब कुछ मजदूरका ही होना चाहिये था। परंतु जब अन्य साधन भी प्रधान-रूपसे अपेक्षित होते हैं, मजदूर मजदूरी लेता है, तो उत्पादनसे पूँजीपतिका लाभ अनुचित नहीं कहा जा सकता। अपने निर्वाहलायक ही काम करना तब उचित होता, जब दूसरेसे कोई प्रयोजन नहीं होता। अर्थात् जब वह अपनी पूँजीसे कच्चा माल लेकर उसे स्वयं पक्का बनाकर बाजारमें ले जाता है और पूँजीसे अधिक मूल्य प्राप्त करता है, तब वह अधिक मूल्यको श्रम-फल मानता है। लेकिन जब कोई दूसरा पूँजी देता है तब उस लाभमें पूँजीवाला भी भागीदार बनेगा। इस अवस्थामें श्रमसे ही लाभ हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। बिना लाभमें भाग पाये पूँजीवाला पूँजी देना स्वीकार भी न करेगा। दूसरा जब दाम देकर काम लेता है तो वह

अवश्य चाहिये कि इस कमाईसे मजदूरकी मजदूरी निकल आये और हमे भी कुछ मिल जाय । मजदूर सरकारको भी सरकारी काम चलानेके लिये लाभ चाहिये । यदि मजदूर अपने ही निर्वाह या लाभके लिये काम करे, संचालक सरकारके लिये कुछ न करे तो सरकारी खर्च कैसे चलेगा ? गुप्तचर, पुलिस, पलटन, शस्त्रास्त्र तथा वैज्ञानिको, अन्वेषको और विभिन्न आविष्कारोके लिये अरबोका लाभ आवश्यक है । लाभ बिना पूँजीपति दिवालिया हो जायगा । अकाल, दुष्काल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, शलभ, मूषक, भूकम्प तथा अन्य उत्पातोके कारण नुकसान या घाटा होनेपर पूँजीपतिको कारखानो, मजदूरो एव अपना भी काम चलाना ही पड़ेगा । यदि लाभ न हो तो यह सब काम कैसे चलेगा ? पूँजी या लाभ बिना किसी भी राष्ट्र या सरकारका काम ही नहीं चल सकता । यह बात अलग है कि पूँजी एवं लाभ व्यक्तिके पास न जाकर मजदूर-सरकारके पास जाय जो पूँजी एवं लाभ एक जगह दोष था, वही दूसरी जगह जाकर गुण हो जाय, यह भी कम्युनिस्टोकी विचित्र बात है । अतएव मालिक सीधे-सीधे घंटो और मशीनोके हिसाबसे श्रमको खरीदते हैं । कभी-कभी उससे लाभ न होनेपर भी उन्हे दाम देना पड़ता है । कभी कुछ लाभ मिलता है, कभी ज्यादा लाभ भी मिलता है । कोई सौदा भी खरीदनेमे यही बात होती है । कभी घाटा, कभी लाभ प्राप्त होता है । इसमें बिना कुछ दिये हजम कर जानेका प्रश्न ही नहीं उठता । अतः अतिरिक्त श्रम और अतिरिक्त मूल्यकी कल्पना इस दृष्टिसे सर्वथा व्यर्थ हो जाती है ।

अतिरिक्त-लाभ

मशीनोके आविष्कार होनेपर मशीनोंद्वारा लाखो मजदूरोका काम हो जाता है । फिर तो मशीनकी कमाईका फल मशीन-मालिकको मिलना ठीक ही है । कहा जाता है कि 'जमीन खोदनेवाले मजदूरको एक घंटेके परिश्रमका फल उतना नही मिलता, जितना कि एक इंजीनियरके परिश्रमका होता है ।' इसका कारण मार्क्सवादियोकी दृष्टिसे यह है कि 'जमीन खोदनेका काम मनुष्य एक या दो दिनमें सीख सकता है, परंतु इंजीनियरका काम सीखनेके लिये १० वर्षका परिश्रम अपेक्षित होता है । १० वर्षकी मेहनतका दाम इंजीनियर अपने मेहनतके प्रत्येक घंटे और दिनमें वसूल करता है । इसीलिये उसके परिश्रमके एक घंटेका दाम मामूली मजदूरके एक घंटेके परिश्रमके दामसे दसगुना अधिक होता है ।'

उपर्युक्त तर्क अविचारितरमणीय है । वस्तुतः यहाँ श्रमवैचित्र्यसे ही उसके मूल्यका वैचित्र्य मानना उचित है । किस ढंगके परिश्रमका फल कितना और कैसा होता है, इसी आधारपर उसका दाम आँका जाना ठीक है । अन्यथा जबसे ही इंजीनियर काम सीखना आरम्भ करता है तबसे ही गरीब किसान जमीन

खोदने, हल जोतने, बोझा टोनेका काम करता रहता है। इस तरह हर दृष्टिमें इंजीनियरके परिश्रममे मजदूरोंका परिश्रम अधिक ही होता है। अव्यात्मवादीही दृष्टिमें इसी तरह कालान्तर एव जन्मान्तरके कर्मों एवं उनके विचित्रतासे ही फलोंमें भेद होता है। समष्टि जगत्के परमहितकी दृष्टिसे विचारपूर्ण सूक्ष्म कर्मों के फलस्वरूप ही उच्चकोटिके ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न जन्म होते हैं। जन्मान्तरीय मुकुत-दुष्कृत कर्मोंके अनुसार ही प्राणियोंको विविध प्रकारके वेध भूमिधन आदि दान, क्रय, दान, पुरस्कार आदिरूपमें प्राप्त होते हैं। जन्मान्तरीय मुकुत-दुष्कृत वैचित्र्य विना मनुष्य-पशु आदिके जन्म-वैचित्र्यका हेतु जड़वादी कुछ भी नहीं कह सकते। हेतु विचित्रता विना कार्यमें विचित्रता अमम्भव ही होती है। अतः धर्माधर्म-वैचित्र्यमें ही फल वैचित्र्य मानना पड़ेगा।

वस्तुतः मार्क्स आदि भौतिकवादी विष्वको निरीश्वर ही मानते हैं। उनकी दृष्टिमें न ईश्वर है, न जड़-देहादि संघातसे भिन्न आत्मा और न जन्मान्तर। अतएव जन्मान्तरीय कर्मों तथा जन्मान्तरीय कर्मफल भोग भी उन्हें मान्य नहीं हैं। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, उनके सभी विचार विकासवादकी दृष्टिसे चलते हैं। इनके मतानुसार पक्षी, पशु, वानर, वनमानुष आदि क्रमसे मनुष्यका विकास हुआ है। ससार अल्पशक्तिसे बहुशक्तिमत्ताकी ओर, अज्ञतासे विज्ञताकी ओर, असभ्यतासे सभ्यताकी ओर तथा जगलीपनसे नागरिकताकी ओर जा रहा है। फलतः सभीके पूर्वज पिता-पितामहादि अपने पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदिकी अपेक्षा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, असभ्य तथा जगली थे। इस दृष्टिसे ऋषि, महर्षि अज्ञानी एव जगली ही थे। अनएव व्यास, वसिष्ठ, अत्रि, बृहस्पति, शंकर आदि ऋषि-महर्षियोंकी शास्त्रीय व्यवस्थाओंको भी ये लोग अवैज्ञानिक, असगत, नकीर्ण एव शोषणमूलक मानते हैं। बृहस्पति आदि ऋषियोंने व्यापारको मालिक एव मजदूरकी सम्मितसे निश्चित लाभके लिये ही बनाया है। वेतन मजदूरी आदिको परिमित ही माना है। लाभार्थ प्रेक्षीपतिका ही माना है। भूमिका लगान भी इन ऋषियोंने मान रखा है, परंतु मार्क्सवादी इसे स्वीकार नहीं करते। वे आर्प इतिहासको प्रमाण नहीं मानते—भले ही आधुनिक मिथ्या मनगढत इतिहासोंको ही सत्य मान लें।

उनके अनुसार पहले सब मनुष्य जगली थे, असभ्य थे, परिवार आदि नहीं बसाते थे। हजारों वर्ष बाद परिवारकी प्रथा चली, फिर खेती करना सीखा। अनेक वस्तुओंका बनाना और उनका उपयोग करना सीखा। आवश्यकतासे अधिक अन्न तथा अन्य वस्तुएँ पैदा होने लगीं। तब दूसरे पड़ोसियोंसे विनिमयकी बात भी सीखी। भूमि पहले किसीकी नहीं थी, खेती करनेसे लाभ होते देखकर प्रबल लोगोंने दुर्बलोंसे भूमि छीनी। दुर्बलोंसे धन भी छीन लिया तथा

उनसे जबरदस्ती काम लेकर उनकी कमाईको हड़प कर राजा, जमींदार, धनवान्, या पूँजीपति बन गये। दुर्बलोको साधनहीन बनाकर युगोंसे उनका शोषण चल रहा है। उन्हीके परिश्रम एवं कमाईका सब वैभव है, जिससे पूँजीपति और जमींदार, सामन्त लोग मौज ले रहे हैं। इसीलिये आजके यान्त्रिक महान् औद्योगिक विकास युगका जो कुछ भी भूमि, पूँजी या मुनाफा है, सब मजदूरोका ही है, सब उन्हींकी कमाई है। लागत खर्चसे अधिक जो भी दाम सौदा बेचनेसे मिलता है, सब मजदूरोकी मेहनतका ही फल है। वह सब मजदूरोको न मिलकर उसका स्वल्पांश मिलता है, यह अन्याय है। अतः अब सब भूमि, पूँजी, कल-कारखाने, मशीन, पूँजीपतियोके हाथसे छीनकर सम्पूर्ण राष्ट्रोका मालिक मजदूरको ही बनाना चाहिये। मजदूरका अधिनायकत्व सम्पादित कर पूँजीपति सेठ आदिकोको इतना कुचल देना चाहिये, जिसमें कभी भी सिर उठाने लायक न रह जायँ। इसके लिये न्याय-अन्याय, हिमा-अहिंसा, अपहरण आदि जो भी करना पड़े वही धर्म है, वही न्याय है, वही शास्त्र है। किसी भी पुराने न्याय, धर्म, सत्य, अहिंसा, या शास्त्र और तदनुकूल नियम व्यवस्थाओंको एकदम नष्ट कर देना चाहिये।

इस तरह अध्यात्मवादी धर्मनियन्त्रित शास्त्र 'रामराज्य धर्मसापेक्ष पक्षपातहीन राज्यका भौतिकवादी समाजवाद, साम्यवादके साथ किसी तरह भी कोई समन्वय हो सकना असम्भव है। पूर्व-पश्चिम या अन्धकार-प्रकाशके समान इनका परस्पर आधारमें, साधनमें, साध्यमें, व्यवहारमें महान् मतविरोध है। अध्यात्मवादीके मतानुसार जगत्पञ्च चेतन सर्वश ईश्वरका कार्य है, देहभिन्न अनादि, अनन्त जीवोंके शुभाशुभ जन्मान्तरीय कर्मोंकी विचित्रतासे ही जगत्की विचित्रता होती है। जडवादी कहते हैं कि ईश्वर नहीं है, परन्तु ईश्वरका अभाव भी उन्होने कैसे जाना? यदि कहे कि उपलब्ध नहीं होता—इसलिये ईश्वर नहीं है, तो यह असंगत है। क्योंकि कितनी वस्तुएँ विद्यमान रहनेपर भी सूक्ष्म रहनेसे उपलब्ध नहीं होतीं। अति दूर होनेपर पर्वत आदि तथा आकाशमें उड़ते हुए पक्षी नहीं दीखते। अति सामीप्यके कारण नेत्रस्थ अञ्जन भी अपने ही नेत्रोंसे नहीं दीखता। इन्द्रियघात अन्धत्व, बहिरत्वसे भी रूप-शब्द आदि नहीं गृहीत होते। मनकी अनवस्थितिसे, कामादिसे उपहतमनस्क स्फीतालोक-मध्यवर्ती घटको भी नहीं देख सकता। अति सूक्ष्म होनेसे समाहितमनस्क प्राणी भी परमाणु आदिको नहीं देख सकता। व्यवधानसे वस्तु अन्तर तिरोहित वस्तुका दर्शन नहीं होता, जैसे कुड्यादि व्यवहित वस्तुका अदर्शन। तारों आदिका अदर्शन अभिभवके कारण ही नहीं होता, जैसे सूर्यकी प्रभासे अभिभूत होनेके कारण दिनमें रहते हुए भी तारागण नहीं दीखते। समानाभिहारसे भी वस्तुका उपालम्भ नहीं होता, जैसे जलाशयमें निपतित तोय-विन्दुका भेद अनुभूत नहीं होता। क्षीर

आदि अवस्थामें दधि, घृत आदि अनुद्भूत होनेसे भी अनुपलब्ध होते हैं, वैसे ही परमाणु, प्रकृति, परमेश्वरकी भी अनुपलब्धि होती है। अभावके कारण अनुपलब्धि नहीं कही जा सकती। 'अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्। सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः' (सांख्यकारि० ७, सां० द० १। १०८, महाभाष्य ४। १। ३, चरकसूत्र० १०। ८) कहा जा सकता है कि 'फिर तो उपलब्ध न होनेपर भी जैसे ईश्वर, आत्मा आदिकी सत्ता मान लेते हैं, उसी तरह अनुपलब्ध होनेपर भी सतम रस एव खपुष्पादि भी मान लेना पड़ेगा।' परंतु इसका उत्तर यह है कि प्रकृति, आत्मा, परमात्मा आदि प्रमाणसिद्ध हैं, सतम रस खपुष्पादि प्रमाणसिद्ध नहीं हैं।

प्रमाणसे ही प्रमेयकी सिद्धि होती है। जैसे रूपोपलब्धि रूप-क्रियाके द्वारा नेत्ररूप सूक्ष्म इन्द्रियकी सत्ता सिद्ध होती है, वृक्षके द्वारा बीजका अनुमान होता है, वैसे ही प्रपञ्चरूपी कार्यके द्वारा उसका उपादान कारण एव कर्तारूपी निमित्त कारणका अनुमान होता है। वही उपादान एव निमित्तकारण प्रकृतिविशिष्ट ईश्वर है। गत्या, प्रासाद आदि संघात-विलक्षण चेतन देवदत्त आदिके लिये होते हैं। इसी तरह देहेन्द्रियादि संघात भी स्वविलक्षण किसी असंहत चेतनके लिये अवश्य होने चाहिये। इन युक्तियोंसे तर्क-अनुमानोंसे चेतनात्मा तथा परमेश्वरकी सिद्धि होती है। यदि प्रत्यक्षद्वारा अनुपलब्ध होनेसे ही वस्तुका अभाव निर्णय किया जाय, तब तो गृहसे विनिर्गत जनको न देखकर उनका भी अभाव समझ लिया जायगा। अतः प्रत्यक्षयोग्यकी प्रत्यक्षानुपलब्धिसे ही अभावका निर्णय किया जा सकता है। प्राणातिरिक्त श्रोत्रादि अन्य इन्द्रियोंसे अग्राह्य होनेपर भी केवल घ्राणद्वारा उपलब्ध होनेसे गन्धकी सत्ता मान्य है। अतः गन्धका अभाव नहीं कहा जा सकता। चित्तकी एकाग्रतारूपी योगसे उद्भूत सामर्थ्ययुक्त ऋतुभरा प्रज्ञाद्वारा तथा अपौरुषेय आगमद्वारा आत्मा, परमात्माका दृढ निर्णय होता है। विवेक-विज्ञान-द्वारा सर्वभासक अखण्ड बोध, अखण्ड सत्ताका, जो कि सभी परिच्छिन्न बोधो एवं सत्ताओंका उद्गमस्थान है, स्वप्रकाशरूपसे स्पष्ट साक्षात्कार होता है।

चक्षुरादि स्थूल प्रत्यक्ष साधन एवं कौंच, यन्त्र या यान्त्रिक विश्लेषणसे वैज्ञानिकोंको उपलब्ध न होनेमात्रसे प्रकृति, परमेश्वरादिका अभाव नहीं कहा जा सकता। अनेक चीजोंको वैज्ञानिक पहले नहीं जानते थे, अब जानने लगे हैं। प्रथम जिन परमाणु हाइड्रोजन शक्तियोंका जान उन्हें नहीं था, उन्हींका आज प्रत्यक्ष हो रहा है। एतावता वे शक्तियाँ पहले नहीं थीं—यह कैसे कहा जा सकता है? वायुयानका जब आविष्कार नहीं हुआ था, तब यह भी असम्भव-जैसी चीज थी; परंतु अब सम्भव हो गयी। पहले सूर्यमण्डलसे भूमण्डलकी उत्पत्ति मानकर

ही विकासवादी संतुष्ट हो गये थे, परंतु फिर बादमें पृथ्वी आदि भूत-चतुष्टयको सूर्यका भी कारण समझा। फिर कई लोगोंने आकाशको भी स्वीकार कर लिया। अब बहुतोको प्रकृतिमें भी विश्वास होने लगा है। सम्भव है आगे चलकर आत्मा, परमात्मा आदिका भी कुछ आभास उपलब्ध हो। जो विज्ञान स्वयं अभी अपनेको प्रकृतिके अनन्त भण्डारमेंसे अतिक्षुद्र कणके भी सम्पूर्णतया जानकार होनेका दावा नहीं करता, उस विज्ञान एवं वैज्ञानिक यन्त्र-बलपर ईश्वर, धर्मशास्त्र तथा सर्वज्ञकल्प ऋषियों, महर्षियों तथा योग्य सामर्थ्यका खण्डन करना एक दुस्साहसपूर्ण मूर्खता है।

अध्यात्मवादी प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आर्ष एवं अपौरुषेय आगमोके आधारपर परमेश्वरसे सृष्टि मानते हैं, शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार जगत्की विचित्रता मानते हैं। जैसे शास्त्रानुसार ही निकृष्ट कर्मोंके फलस्वरूप श्वान, शूकर, गर्दभ आदि योनियोंमें जन्म होता है, उन्हें मनुष्योचित शय्या, प्रासाद, भोजन आदि नहीं प्राप्त होता, वैसे ही पशु आदिकी अपेक्षा उत्कृष्ट, परंतु निकृष्ट कर्मोंके कारण ही कुछ ऐसे मनुष्योंका भी जन्म होता है, जिनके पास पर्याप्त भूमि, सम्पत्ति आदि नहीं होती। इसी तरह कर्मोंके उत्कर्षापकर्षके कारण ही भूमि, धन, उच्च मस्तिष्क विद्यादिसम्पन्न मनुष्य तथा देवादि जन्म होते हैं। इस दृष्टिसे कुछ लोग उत्पादन, साधन एवं श्रम दोनोंहीसे सम्पन्न होते हैं। कुछ लोग श्रमसे ही जीविका उपार्जन करते हैं। उन्हींके सम्बन्धमें वेतन, मजदूरी आदिका विवेचन शास्त्रोंमें है। यद्यपि काम करनेवाले और काम करानेवालोंके ही आपसी समझौतेसे मजदूरी या वेतन आदिका दर निश्चित होता है, तथापि राष्ट्रकी आर्थिक स्थिति लाभ और कामकी स्थितिको देखकर समाज या सरकार भी औचित्यके आधारपर मजदूरीका दर निर्णय कर सकते हैं। शास्त्रोंमें साझेकी खेतीकी एवं साझेके व्यापारोंकी भी पर्याप्त चर्चा है, परंतु लाभमें साझेदारोंका हिस्सा मान्य होता है, नौकरोंका नहीं। क्योंकि उन्हें नौकरी मिलती ही है। मालिक इसी लाभके लिये रुपया, कच्चा माल, मशीन और बुद्धि-परिश्रमका उपयोग करता है। कभी-कभी घाटा भी उठाता है, जिसमें साझेदार ही द्विस्तेदार होते हैं, मजदूर नहीं।

कहा जाता है कि 'पूँजी, मशीन आदि साधन' भी मजदूरोंके ही श्रमका फल है; क्योंकि छोटे व्यापार एवं छोटी मात्रामें होनेवाली खेतीसे जो क्रमशः धन-राशि सगृहीत हुई है, वह भी मजदूरों एवं मालिकों (हलवाहों) के अतिरिक्त परिश्रमके फलस्वरूप अतिरिक्त आयका ही संग्रह है। परंतु यह भी तो हो सकता है कि कोई स्वयं खेती करनेवाला किसान अपने ही खेतसे अन्न या तेलहन आदि उत्पन्न करता है और स्वयं ही कोल्हूमें तेल पेरता है। अन्य तेल बेचकर पूँजी इकट्ठा

करता है, या बकालत, डाक्टरीके पेगसे जिससे कि सैकड़ों, हजारोंकी प्रतिदिन आमदनी होती है, या इंजिनियरीके पेगसे पर्याप्त धन कमाता है। वह अपने ही परिश्रमसे कमाया हुआ धन है, उस पूँजीसे व्यापार करनेवालेके व्यापारमें या औद्योगिक कार्यमें होनेवाला लाभ तो पूँजीपतिका मानना ही पड़ेगा।

कहा जाता है कि 'मशीनोंके अधिकाधिक विकाससे मशीनोंकी सहायतासे पैदावार बढ़ जाती है, परंतु मेहनतकी शक्ति घट जाती है, अर्थात् बहुत मजदूरोंकी जरूरत नहीं पड़ती, अतः उसका दाम भी कम पड़ता है। इससे पूँजीपतिका लाभ खूब बढ़ जाता है।' परंतु यह अनुचित भी तो नहीं है, जब वैज्ञानिकों और मशीनों-पर पर्याप्त पैसा लगाया गया है, तभी तो मशीनें बनी हैं। फिर उनका फायदा उठाना क्यों अनुचित है? जैसे मार्क्सवादी इंजिनियरके इंजिनियरी सीखनेके समयके श्रमके दामका भी कामके बटोंके दाममें वसूल करना उचित मानते हैं, वैसे ही वैज्ञानिकोंके शिक्षाका खर्च, अन्वेषणका व्यय, मशीन बनानेका व्यय, मशीन खरीदनेका खर्च आदिका भी तो दाम और उसका मुनाफा वसूल करना उचित है। पैसेका सूद रूसी मार्क्सवादी भी देते हैं, अतः पैसेका भी लाभ होना उचित है। जैसे कोई कच्चे मालसे पक्का माल पैदा करनेवाला उपयोगी सौदा बनाकर कच्चे मालके दामसे अधिक दाम वसूल करता है, वैसे ही पैसेके दामसे कहीं अधिक दाम पैसेको काममें लगाकर वसूल किया जाना उचित ही है।

मार्क्सके मतसे मशीनोंके द्वारा पैदावार बढ़ जानेसे एव मजदूरोंकी कम अपेक्षासे मजदूरोंकी बेकारी बढ़ती है। मजदूरोंकी बेकारीसे पचानवे प्रतिशत मजदूरवाले समाजमें क्रय (खरीदने) की शक्ति घट जाती है। इसलिये बाजारमें मालकी खपत कम होती है। तदर्थ माल कम पैदा करनेकी चेष्टामें और मजदूर कम करने पड़ते हैं। इससे और बेकारी बढ़ती है। फलस्वरूप खपत और कम हो जाती है।' इस तरह पूँजीवादी प्रणालीमें उत्पन्न हुए गतिरोधको समाप्त करनेका मार्क्सवादी उपाय यह है कि 'समाजकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये जितने आवश्यक सामाजिक श्रमकी जरूरत हो, उसे सम्पूर्ण समाज सहयोगसे करे, कोई भी व्यक्ति बेकार न रहे। पैदावारके उन्नतिके साधनोंकी सहायतासे प्रत्येक व्यक्तिको कम परिश्रम करना पड़े और साथ ही पैदावारको भी बढ़ाया जाय। अपने परिश्रमके अनुसार सब फल पाये। इससे प्रत्येक श्रमिकको परिश्रम कम करना पड़ेगा, परंतु खरीदनेकी शक्ति सबके पास बनी रहेगी, अतः मालके खपतमें कमी न होगी।'

अध्यात्मवादी रामराज्यमें यद्यपि लाभका अधिकारी उद्योगपति ही है तथापि लाभका पञ्चधा विभाजन करके एक हिस्सा मालिकके काम आता है। अवशिष्ट धर्म, यश आदिके नामपर राष्ट्रके काममें खर्च कर दिया जाता है। लाभ एव कामके अनुसार ही मजदूरोंकी मजदूरीका भी दर निश्चित किया जाता है।

या मुनाफा कहलाता है, वह शुद्धरूपसे मेहनतका ही फल है। इसी प्रकार जब पूँजीपति बड़े पैमानेपर सौदा तैयार कराता है, तब भी लागत खर्चसे अधिक जो भी दाम मिलता है, वह लाभ या मुनाफा मजदूरोंकी मेहनतका ही फल है। सौदेके मूल्यमेंसे कच्चे मालका मूल्य निकाल लेनेपर केवल सौदेका खर्च और मेहनतका ही मूल्य बच जाता है, पर पूँजीपति मेहनतका पूरा फल मजदूरको दे देता है तो मुनाफेकी कोई गुजाइश ही नहीं रहती। अतः मजदूरके मेहनतका जितना फल उसको मिलता है उतना ही पूँजीपतिको अधिक लाभ होता है।'

पर यह विचार एकाङ्गी दृष्टिकोणसे ही है। लाभ या मुनाफा केवल मेहनतका फल नहीं हो सकता, किंतु वह कच्चे माल एवं मेहनत दोनोंका ही फल है। यदि मेहनत बिना कच्चा माल अल्प मूल्यका था, तो कच्चे माल बिना मेहनत भी व्यर्थ थी। फिर तो जैसे पूँजीपतिने दाम देकर कच्चा माल खरीदा वैसे ही दाम देकर श्रम भी खरीदा। दोनोंके खरीदनेमें खर्च हुए। दामसे अधिक दाम जो मुनाफाके रूपमें मिला, वह पूँजीपतिका ही होता है। जैसे श्रमवाला अपने श्रमका फल चाहता है, वैसे ही कच्चा मालवाला अपने कच्चे मालका फल चाहता है। जैसे किसी-किसी अवसरपर कच्चे मालमें तेजी-मंदी आती रहती है, वैसे ही श्रममें भी सस्तापन और महंगापन आता रहता है। दुर्लभता एवं माँगकी अधिकता होनेपर कच्चा माल महंगा हो जाता है, वैसे ही दुर्लभता एवं माँगके अनुसार ही श्रम भी महंगा हो जाता है। कभी बाजारमें सस्ते दाममें कच्चा माल भी मिलता है, कभी सस्ते दाममें श्रम मिलता है। कहा जा सकता है कि 'कच्चे मालका जो दाम मिल गया, वह उसका दाम है', परंतु इसी तरह यह भी तो कहा जा सकता है कि मजदूरोंको भी श्रमका वेतन उन्हें मिल गया। इसी तरह श्रम और कच्चा माल दोनों ही श्रमिकका होता तो दोनोंका ही फल उसे ही मिलता या कच्चा माल खरीदनेका दाम और श्रम दोनों ही श्रमिकके होते तो भी सब फल उसीको मिलता। किंतु जब श्रम श्रमिकका है, कच्चा माल और उसका दाम दूसरेका है, तब तो जैसे श्रमका फल श्रमिकको मिलना चाहिये, वैसे ही कच्चे मालका भी फल उसके मालिकको मिलना ही चाहिये। जैसे श्रमिक मिलनेवाली मजदूरीको कम कहता है वैसे ही कच्चे मालका विक्रेता भी अपने मालके मिलनेवाले दामको कम कहता है। इन दोनोंको जो अपने-पैसेसे इकट्ठा करता है, दोनोंका प्रबन्ध करता है, यद्यपि लाभकी आशा ही करता है, तथापि कभी-कभी अनुमानके विपरीत उसे नुकसान भी होता है। जो इन सब खतरोको अपने सिरपर झेलता है, उसे उसके पैसे, परिश्रम, साहस, हानि एवं खतरा उठानेका आखिर क्या फल होगा? अतः कच्चे मालके दाम निकालकर बचे हुए सौदेका दाम श्रमका ही फल है, यह कहना गलत है।

हाँ, कच्चे माल एवं श्रमके उचित मूल्यका निर्धारण करना आवश्यक है । इसपर भारतीय शास्त्रोने पर्याप्त प्रकाश डाला है । इससे पूँजीपतिके आयपर भी नियन्त्रण हो जाता है । शास्त्रोने मजदूरी या वेतनके सम्बन्धमें मुख्यरूपसे यही नियम माना है कि मालिक और नौकरका जो आपसी सम्मतिसे तय हुआ हो, वही उसकी मजदूरी है । भृत्यकी मिताक्षरामें इस प्रकार व्याख्या की है—

मूल्येन यः कर्म करोति स भृतकः । (याज्ञ० स्मृति, मिता० व्यव० १८३)

मजदूरी या नौकरीको भृति शब्दसे कहा गया है । भृतिकी परिभाषा यों है—
यत्र यादृशी भृतिः परिभाषिता स्वामिभृत्याभ्यां तादृशी तत्र भृतिर्भृत्येन लभ्यते ।

(याज्ञ० स्मृ० वीरमित्रोदय टीका १९३)

वहाँ 'मिताक्षरा' में नारद-स्मृतिका यह वचन उद्धृत किया है—

भृत्याय वेतनं दद्यात् कर्मस्वामी यथाकृतम् ।

आदौ मध्येऽवसाने वा कर्मणो यद्विनिश्चितम् ॥

(नारद स्मृ० ६ । २)

भृत्य एवं स्वामीद्वारा निश्चित मूल्य ही वेतन है । हाँ, जहाँ वेतन बिना निश्चित किये ही मालिक श्रम कराता है, वहाँ वाणिज्य, पशु तथा सस्य (फसल) से होनेवाले लाभका दसवाँ भाग नौकरको राजाद्वारा दिलाया जाना चाहिये—

भृतिमपरिच्छिद्य यः कर्म कारयति त प्रत्याह—

(मिता०)

द्राप्यस्तु दशमं भागं वाणिज्यपशुसस्यतः ।

अनिश्चित्य भृतिं यस्तु कारयेत् स महीक्षिता ॥

(याज्ञ० स्मृ० २ । १९४)

खाली हल चलानेवाला उससे होनेवाली आमदनीसे तीसरा भाग पा सकता है । यदि उसे भोजन-वस्त्र भी मिलता हो, तो उसे लाभका पाँचवाँ भाग मिलना चाहिये—

त्रिभागं पञ्चभागं वा गृह्णीयात् सीरवाहकः ।

भक्ताच्छादभृतः सीराद् भागं भुञ्जीत पञ्चमम् ॥

(बृहस्पतिस्मृ०)

परंतु जो नौकर देशकालानुसार विक्रय, कर्षण आदि कार्य ठीक ठीक नहीं करता और प्रकारान्तरसे लाभ उठाता है, वहाँ स्वामीकी इच्छा ही मुख्य है । अर्थात् उसे सम्पूर्ण वेतन नहीं देना चाहिये । अधिक लाभ करता है, तो दशमांश-से अधिक देना चाहिये—

देशं कालं च योऽस्तीयाल्लभं कुर्याच्च योऽन्यथा ।

तत्र स्यात् स्वामिनश्छन्दोऽधिकं देयं कृतेऽधिके ॥

(याज्ञ० स्मृ० २ । १९५)

अनेक मजदूर जहाँ मिलकर काम करते हैं, वहाँ उनके कामके अनुसार वेतन मिलना चाहिये। कोई नौकर दो आदमीका काम करे तो उसे दुगुना तथा कोई यदि एक आदमीसे भी कम करे तो उसे कुछ कम वेतन भी मिलना चाहिये। यथा निश्चय अथवा मध्यस्थद्वारा निर्णीत वेतन मिलना उचित है, सभीको समान नहीं—

यो यावत् कुरुते कर्म तावत्तस्य तु वेतनम् ।

उभयोरप्यसाध्यं चेत् साध्यं कुर्याद्यथाश्रुतम् ॥ (याज्ञ० स्मृ० २ । १९६)

गोपालन करनेवाले गोपालकी मजदूरीका रूप मनुने लिखा है कि 'जो भोजन-वस्त्र नहीं पाता, ऐसा गोपाल यदि दस गौओंका पालन करता हो, तो एक गायका दूध उसे मजदूरीके रूपमें मिलना चाहिये—

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद् दशतो वराम् ।

गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात् पालेऽभृते भृतिः ॥ (मनु० ८ । २३१)

राजकीय कर्मचारियोंके लिये दूसरे ढंगका भी वेतन है। दस ग्रामपर शासन करनेवालेके लिये एक कुलका लाभ मिलना चाहिये। बीस गाँवोंपर शासन करनेवालेको पाँच कुलका, शताध्यक्षको एक ग्राम एवं सहस्राध्यक्षको पुरका लाभ मिलना चाहिये। ग्रामवासी जो अन्न-पान, ईंधन आदि राजाको देते हैं, वह उस कर्मचारीको मिलना चाहिये। यह सब अधिकार, शिक्षा, योग्यता आदिके आधारपर समझना चाहिये—

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्चकुलानि च ।

ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥ (मनु० ७ । ८१९)

कौटिल्यने वेतन-निर्णयके प्रसंगमें सूत्र कातनेके लिये कहा है कि 'सूतकी चिक्रणता, स्थूलता, मध्यता आदि जानकर वेतन निर्धारण करे—

श्लक्ष्णस्थूलमध्यतां च सूत्रस्य विदित्वा वेतनं कल्पयेत् ।

(कौटिल्य अर्थशास्त्र २ । २३ । ३)

अच्छा काम देखकर वेतनसे अतिरिक्त तेल, उबटन आदि देकर मजदूरोंको सम्मानित करे—'सूत्रप्रमाणं ज्ञात्वा तैलामलकोद्वर्तनैरेता अनुगृह्णीयात्' (कौट० अर्थ० ० । २३ । ५) काममें कमी हो, तो वेतनमें कमी होनी चाहिये—'सूत्रहासे वेतनहासः' (वही ७)। वेतनका समय बीत जानेपर मध्यम वेतन देना चाहिये—'वेतनकालातिपाते मध्यमः' (वही १६)।

तीसरे अधिकरणके १४ वे अध्यायमें कौटिल्यने मजदूरोंके सम्बन्धमें बहुत कुछ कहा है। उससे भी प्रायः मालिक एवं नौकरद्वारा वेतन और कामका परिणाम निश्चित होता है। इसीलिये कहा गया है कि मालिकद्वारा निर्धारित कामसे अधिक करनेपर उतनी मिहनत व्यर्थ ही समझनी चाहिये—'सम्भाषितादधिकक्रियायां प्रयासं मोघं कुर्यात्' (३ । १४ । १३) इस प्रकरणमें याजकों तथा ऋत्विजोंके वेतनपर भी विचार किया गया है।

अतिरिक्त श्रम और मुनाफा

मानववादियोंका कहना है कि 'मजदूरको मेहनतके फलका वह भाग जिसका दाम मजदूरको नहीं मिला मालिकका मुनाफा है।' मजदूर जितने समयतक मेहनत कर परिश्रमकी शक्तिका दाम पैदा करता है, उससे जितना भी वह अधिक करेगा, वह सब मालिकका मुनाफा होगा। यदि वह पाँच घंटे काम करके अपने परिश्रमकी शक्तिका दाम पूरा कर लेता है तो दिनभरके मेहनतके जोष घंटे मालिकके मुनाफेमें जाते हैं, वही अतिरिक्त श्रम है। अपनी श्रम-शक्तिको कायम रखनेके लिये मजदूरको जितना श्रम करना जरूरी है, उसमें जितना भी अधिक मजदूरको करना पड़ता है, वह आवश्यक या अतिरिक्त श्रम है। उसका दाम अतिरिक्त मूल्य है। वह अतिरिक्त श्रम एव अतिरिक्त मूल्य ही मालिकका मुनाफा है।'

मार्क्सके आर्थिक सिद्धान्तोंकी वही आधारशिला है। उसके मतानुसार 'इस अतिरिक्त श्रम एवं अतिरिक्त दामको पानेका आन्दोलन ही मजदूर आन्दोलन है। इसके फलस्वरूप समष्टिवाद या समाजवाद स्थापित होगा। जिसमें प्रत्येक व्यक्ति शक्तिपर परिश्रम करे और अपनी आवश्यकताके अनुसार पदार्थको प्राप्त करे। इससे शोषणका अन्त होगा, किसीको अपनी इच्छा-विरुद्ध जीवन-निर्वाहके लिये विवश न होना पड़ेगा। फिर न उसके लिये नियन्त्रणकी जरूरत होगी, न शासन रहेगा और न सरकार रहेगी।'

अतिरिक्त दामके सम्बन्धमें लेनिनका कहना है कि सौदेके विनिमयसे अतिरिक्त दाम (मुनाफा) प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि उसे तो समान लागतके सौदोंको एक दूसरेसे बदला जाता है। सौदेका दाम न बढ़ने या घटनेसे भी अतिरिक्त दाम पैदा नहीं हो सकता। क्योंकि उसका तो इतना ही अर्थ होगा कि समाजके कुछ आदमियोंके हाथसे दाम निकलकर दूसरोंके हाथमें चला जायगा। समाजमें जो आज खरीदनेवाला है, वही कल बेचनेवाला और जो आज बेचनेवाला है, वही कल खरीदनेवाला बन जाता है। अतः अतिरिक्त दाम प्राप्त करनेके लिये पूँजीपतिको बाजारमें एक ऐसे सौदेकी खोज करनी पड़ती है, जिसे व्यवहारमें लाकर उसपर खर्च किये गये दामसे अधिक दाम प्राप्त किया जा सके। बाजारमें ऐसा सौदा मनुष्यकी श्रम-शक्ति ही है। मनुष्यकी श्रम-शक्तिका उपयोग है परिश्रम। परिश्रमका मूल है दाम। पूँजीपति मनुष्यकी मेहनतकी शक्तिको बाजारदामपर खरीद लेता है। दूसरे सब सौदोंकी तरह मनुष्यकी परिश्रम करनेकी शक्तिका दाम भी उसे पैदा करनेके लिये आवश्यक सामाजिक श्रममें निश्चिन करना पड़ता है। मनुष्यकी मेहनत-शक्तिको दम

घंटेके लिये पूँजीपति उसे कामपर लगा देता है। मजदूर पाँच घंटे काम करके ही उतने दामका सौदा पैदा कर लेता है, जितना उसे दस घंटे काम करनेके बाद मिलता है। शेष पाँच घंटोंमें मजदूर अतिरिक्त दाम या सौदा पैदा करता है, जो पूँजीपतिकी जेबमें जाता है। मार्क्सके मतानुसार अतिरिक्त श्रम या अतिरिक्त दाम ले सकना ही शोषणकी शक्ति और अधिकार है। समाजमें जहाँ कहीं शोषण होगा, इसी शक्ति एवं अधिकारके बलपर होगा। मनुष्यकी आदिम अवस्थामें पैदावारके साधन बहुत कमजोर थे; अतः दिनभर कठिन परिश्रमके बाद निर्वाहके लायक पदार्थ प्राप्त होते थे। उस समय मनुष्यद्वारा मनुष्यके शोषणकी गुंजाइश न थी। ज्यो-ज्यो पैदावारके साधनोंमें उन्नति होने लगी, मनुष्य पैदावार आसानीसे करने लगा और जितना उसके निर्वाहके लिये नितान्त आवश्यक था, उससे अधिक पैदा करने लगा; अर्थात् परिश्रमकी शक्तिको कायम रखनेके लिये जितना बिल्कुल ही जरूरी था, उससे अधिक पैदा करने लगा तो यह पैदावार जमा होने लगी। यही धन हो गया और यही पैदावारका सबसे बड़ा साधन है।

इस कथनसे स्पष्ट है कि 'पैदावारके सबसे बड़ा साधन धनको उन्नत साधनके द्वारा व्यक्तिने स्वयं कमाया। ऐसा विकास होनेके बाद कुछ आदमियोंके परिश्रमका अतिरिक्त भाग दूसरोंके पास जमा होने लगा। वे अधिक साधन-सम्पन्न और बलवान् श्रेणीके बन गये।' परंतु पूर्वोक्त युक्तिसे तो सिद्ध हो गया कि वस्तुके मूल्यका आधार श्रम ही नहीं; कच्चा माल, मशीन आदि भी है, और कच्चे मालके समान ही श्रम भी खरीदा जाता है। श्रमका मूल्य माँग और पूर्तिके आधारपर अथवा पंचायत या न्यायालयद्वारा निर्धारित किया जाना उचित है, और ऐसा होता भी था। भारतीय धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा आधुनिक भारतीय शासकोके इतिहाससे भी यह सिद्ध है। ऐसी स्थितिमें अतिरिक्त श्रम, अतिरिक्त मूल्यका कोई अस्तित्व ही नहीं ठहरता। अतएव शोषणकी कहानी भी अतिरंजित ही है। हाँ, यह अवश्य है कि भारतीय दृष्टिकोणसे यदि ८ घंटे काम करनेके लिये ८ हफ्ता-पुष्ट बैल आवश्यक होते हैं तो अवश्य ही एक मजदूरसे बराबर दस घंटे काम लेना अनुचित है। साथ ही पूँजी और मुनाफाको ध्यानमें रखते हुए मजदूरका वेतन कम-से-कम इतना तो अवश्य ही होना चाहिये, जिससे मजदूरको उचित शिक्षा एवं स्वास्थ्यकी उन्नति हो सके। अर्थात् भारतीय दृष्टिकोणसे यदि पशुके सम्बन्धमें उसके स्वास्थ्य और कामके घंटोका इतना ध्यान रखा जाता है, तो मनुष्यके लिये जो सर्वोच्च कोटिका प्राणी है, शिक्षा-स्वास्थ्यका ध्यान रखते हुए कामके घंटोंकी कमी और परिश्रमिककी अधिकताका ध्यान होना स्वाभाविक ही है।

अतः कामके घटे ओर मजदूरीका निष्पन्न न्यायालयद्वारा तय होना उचित है । पैदावारके साधनोंकी उन्नति यदि नोप नहीं है तो उसका होना उचित ही है । और जो पैदावारके साधनोंकी उन्नति कराता है, उसे उसका फल भी मिलना उचित ही है । फिर दूसरेकी उन्नतिसे दूसरेके पेटमें दर्द हो, इसे मित्रा ईर्ष्याके और दूसरा क्या कहा जा सकता है ?

कामके घटोमें कमी होनेसे अधिकाधिक लोगोंको काम मिलेगा, बेकारी घटेगी, इससे जनतामें क्रय-शक्ति बनी रहेगी, मालकी खपत बढ़ेगी, जिससे उत्पादनमें बाधा न पड़ेगी । जिन वस्तुओंका उत्पादन उपभोक्ताओंकी आवश्यकतासे अधिक होने लगे, उनपर प्रतिबन्ध लगाकर अन्य उपयोगी वस्तुओंके उत्पादन एवं तदुपयोगी उत्पादन-साधनोंके निर्माणका प्रयत्न होना चाहिये । इससे सभीका हित है । अतः इसके अनुकूल सरकारी प्रोत्साहन, प्रेरणा तथा आवश्यक आदेश भी होना चाहिये । इस तरह बेकारी भी रुकेगी, मालके खपतमें भी बाधा नहीं पड़ेगी और उपभोक्ताओंको आवश्यक उपभोग-सामग्री भी मिल सकेगी । यान्त्रिक विकासमें भी बाधा नहीं पड़ेगी और किसीकी व्यक्तिगत भूमि, संपत्ति भी नहीं छीननी पड़ेगी । इसके अतिरिक्त भी अधिक असंतुलन दूर करनेके लिये दान, यज्ञ, सहायता आदिका प्रयोग किया जा सकता है । स्वकर्तव्य-पालन-विमुख लोगोंकी सम्पत्तिका अपहरण करके भी बेरोजगारों, बेकारोंकी बेरोजगारी और बेकारी दूर करनेका प्रयत्न करना उचित है । ,

इसी तरह आजकल बकीलो, बैरिष्ठोंकी भी फीस, इंजीनियरोंके बढ़े पमानेके वेतन, डाक्टरोंकी लबी फीस, विद्यार्थियोंकी पढ़ाईपर लबी फीस, हर व्यापार, हर धंधेपर बंद हुए सरकारी टैक्स, मेलोंके टैक्स, चुगी-टैक्स, विक्रय टैक्स आदि भी समाप्त होने चाहिये । इससे भी जनताकी गरीबी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है । मकान भाड़ोंमें भी कमी होनी चाहिये । कई लोग ऐसे हैं, जिनके पास हजारों मकान तथा दुकानें हैं । वे ज्यादा भाड़ाके साथ-साथ एक लबी रकम घूम या पगड़ीकी लेते हैं, जो खुले आम चोरी है । उसपर भी नियन्त्रण होना आवश्यक है । ऐसी अधिक आमदनियोंपर सरकारी टैक्स आदि देनेके बाद अतिरिक्त आमदनीमें पाँच भाग करके क्रमेण धर्मार्थ, यशोऽर्थ मूल संपत्तिकी रक्षार्थ एवं वृद्धयर्थ, भोगार्थ तथा स्वजनार्थ उपयोग किये जानेसे आर्थिक असंतुलन मिटता है । आधुनिक लोग दूसरोंकी सहायताके नामपर दूसरोंकी बपौती मिलकियत छीन लेते हैं; परंतु यह सहायता नहीं है । एक अगकी सहायताके लिये कभी कभी दूसरे अगके मास एवं हड्डीकी भी सहायता ली जाती है, परंतु जिसने सहायता ली जाती है, उसे स्वस्थ बनानेका यत्न किया जाता है । किसी व्यक्तिसे खूनकी सहायता लेकर उसे दूध-घी पिलाकर स्वस्थ

बनानेका प्रयत्न किया जाता है। जिस गायसे दूध लिया जाता है, उसको इस लायक रखा जाता है कि वह कल भी सहायता देने योग्य रहे। यह नहीं कि एक दिन दूध लेकर उसे सदा के लिये मिटा दिया जाय। वस्तुस्थिति तो यह है कि आधुनिक मार्क्सवादियों ने यह स्थिति उत्पन्न कर दी है कि छोनाझपटी करनेवाले लोगो की बहुतायत हो गयी है। वे कहते हैं कि लेगे, मरकर लेगे, मारकर लेगे, जहन्नुम में जाकर, जहन्नुम में भेजकर लेगे, लूटकर-मारकर हर तरहसे लेगे, लेंगे, किन्तु फलस्वरूप देनेवाले कहते हैं कि मर जायेंगे, मिट जायेंगे, परंतु नहीं देगे, नहीं देगे। ठीक इसके विपरीत रामराज्य की स्थिति यह है कि देनेवाला हर तरहसे देने की चेष्टा करता है। शास्त्र कहते हैं कि श्रद्धासे, प्रेमसे, लज्जासे, भयसे, हर तरहसे देना चाहिये। लेनेवाले को हर तरहसे बचना चाहिये। मुफ्त खोरी का माल हरा-मुफ्त खोरी का माल है। उससे वशवृद्धि, समृद्धि तथा वरकृत रुक जाती है। इस दृष्टिसे देनेवाला हर तरहसे देना चाहता है और लेनेवाला हर तरहसे बचना चाहता है। मार्क्सवाद में 'दो दो', 'नहीं नहीं' का उद्घोष होता है। रामराज्य में 'लो लो' 'नहीं नहीं' का उद्घोष होता है। मार्क्सवाद में सब वस्तुएँ सरकारी हो जाती हैं, व्यक्तिकी कोई मिलकियत नहीं रहती है; किंतु रामराज्य में व्यक्तियों की बपौती संपत्ति सुरक्षित रहती है, और उसपर उचित धर्मनियन्त्रण रहता है। इस पक्ष में धन, धर्म या जान-माल की रक्षा जो कि राज्य-स्थापना का प्रमुख उद्देश्य है, सुरक्षित रहती है। मार्क्स को छोड़कर प्राच्य, प्रतीच्य सभी राजनीतिज्ञों ने धर्म एवं धन की रक्षा या जान-माल की रक्षा ही सभ्य व्यवस्था का उद्देश्य माना है। इसी लिये व्यक्तियों ने अपने अधिकार ग्रासन को सौंपा था, जिसके पूरा न होने पर राज्य-सत्ता को उलट देना जनता का जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता है। मार्क्सवादी व्यवस्था में धर्म, धन एवं जान-माल का प्रत्यक्ष अपहरण होता है। वैध संपत्ति, बपौती आदिका कुछ भी महत्त्व मार्क्स के मत में नहीं है।

अतिरिक्त मूल्य और शोषण

कहा जाता है कि 'कला-कौशल, उद्योग-धंधों के विकास के पहले जब दास-प्रथा थी, तब दासों का भी शोषण अतिरिक्त श्रम के रूप में होता था। दास एवं गुलाम को केवल अन्न और वस्त्र दिया जाता था। वह भी उतना ही जितना कि उसके शरीर में परिश्रम करने की शक्ति कायम रखने के लिये पर्याप्त था। दास द्वारा कराये गये परिश्रम के सम्पूर्ण फल को मालिक लोग भोगते थे। यही बात सामन्तशाही एवं जागीरदारी के जमाने में थी। सामन्तों एवं जागीरदारों की प्रजा कठिन परिश्रम से जो पैदावार आदि उपज भूमि या भूमिकी पैदावार से सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे कामों से करती थी, उसमें से इन लोगो के शरीर में परिश्रम-शक्ति बनाये रखने के लिये अत्यन्त आवश्यक भाग को छोड़कर शेष भाग दास, कर,

लगान या नजरानाके रूपमें मालिकके पास चला जाता था । परन्तु उस समय शोषण होता था मालिकोंके उपयोग और उपभोगके लिये । उस समय व्यवहारमें लाना ही वनका उपयोग होता था । इसलिये शोषण भी उतना ही होता था जितनेमें मालिकोन्नी आवश्यकता पूरी हो जाती थी । मालिक भी शोषणद्वारा प्राप्त धनको अपने व्यवहारमें खर्च कर देते थे, जिससे वह धन दूसरी श्रेणियोंके पास पहुँचकर फिर बाजारमें पहुँच जाता था और दूसरेके उपयोगमें आता रहता था । परन्तु पूँजीवादके युगमें धनको पूँजी बनाकर उसका उपयोग खर्चके लिये नहीं, बल्कि अधिक धन पैदा करनेके लिये किया जाता है । उसके पैदावारके साधन बढ़ाये जाते हैं । पूँजीपतियोंके लिये मुनाफ़ेका क्षेत्र बढ़ाया जाता है । मुनाफ़ेका बहुत छोटा भाग पूँजीपतियोंके खर्चमें आता है । शेष पूँजी बनकर मुनाफ़ा कमानेके ही काममें आता है । जितना जितना अधिक मुनाफ़ा होता है, उममें और अधिक मुनाफ़ा कमानेका यत्न किया जाता है । इस तरह पूँजीपतिके मुनाफ़ा कमानेसे सन्तुष्ट होनेकी कोई सीमा नहीं रहती ।'

वस्तुतः अन्न अङ्गीभाव तथा शेष-शेषी-भावसे ही सेव्य सेवक-भाव है । सेवक, दास आदि शब्द लगभग समानार्थ हैं । ससारमें ये भाव किसी-न-किसी रूपमें सदा ही बने रहते हैं । भले ही कहा जाय कि आज राजा-प्रजाका भाव मिट गया, आज प्रजा ही राजा है, सरकार या सरकारी आदमी सेवक हैं । फिर भी सिवा शब्दोंके व्यवहारके कोई भी अन्तर नहीं आया । आज केवल वोट डालनेके समयतक भले ही कुछ अशोक्त जनताका सम्मान किया जाय, परन्तु व्यवहारतः जिन लोगोंके हाथमें शासनमूत्र आता है, भले ही अपना नाम वे सेवक रखे; किन्तु वे सत्ताधारी राजेका भी कान काटते हैं । वस्तुतः आज सेवको (शूद्रो) का ही राज्य है । मालिक कही जानेवाली जनता जो चाहती है, उसीकी पूर्ण उपेक्षा की जाती है । आज भारतीय जनता गोहत्या-वन्दी चाहती है, धर्महत्या, शास्त्रहत्याका विरोध करती है, परन्तु सेवक कहे जानेवाले सरकारी अधिकारी उसकी कुछ भी परवा नहीं करते । कहनेके लिये आज दाम या गुलामी-प्रथा समाप्त हो गयी, परन्तु खास साम्यवादी देश रूसमें ही विरोधियोंके साथ दासो एव गुलामोसे भी अधिक बुरा व्यवहार किया जाता है । कहनेके लिये भारतमें बेगारी-प्रथा समाप्त हो गयी, किन्तु वही श्रमदानके रूपमें जोरोंसे प्रचलित है, जिसे इच्छा न होनेपर भी करना पड़ता है । बड़े-बड़े अध्यापक, प्रिन्सिपल तथा उच्च श्रेणीके लोग इच्छा न रहनेपर भी सरकारी आजानुसार श्रमदानमें लगते हैं । इतना ही नहीं, कहीं तो झूठे तौरपर ही रजिस्ट्रारोंकी खाना पूरी की जाती है । प्राचीनकालमें बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी अपने आपको ईश्वरका, महापुरुषोका, भगवद्भक्तोका दास बननेमें गौरव अनुभव करते थे । धर्मराज

युधिष्ठिरको हरिदासवर्य कहा जाता था—‘हरिदासस्य राजर्षेः’ (श्रीमद्भा० १०।७५।२७)। वैष्णवोंमें बड़े-बड़े महापुरुष अपनेको दासानुदास कहते हैं। तथापि यहाँ स्वामी भगवान्, गुरुजन दासोंके गोपक नहीं होते। वे दासोंको कृतकृत्य करनेवाले होते थे। साक्षात् भगवान् विष्णु कहते हैं कि मैं भक्तोंके परतन्त्र हूँ—‘अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज’ (श्रीमद्भा० ९।४।६३)। आजका दासत्वसे मुक्त कहा जानेवाला नागरिक अब एवं वस्त्रके लिये तड़पता हुआ मरता है। जब वह काम करने लायक नहीं रहता तो उसका बेटा-पोता भी उसे नहीं पूछता। पर दासत्व-प्रथा-कालमें भी दास भले काम करने लायक न हो, उसके और उसके कुटुम्बका उत्तरदायित्व उसके स्वामीपर रहता था। रहा यह कि उत्पादन साधन-पूँजी बढ़ानेका उत्तरोत्तर प्रयत्न बढ़ता है, तो अगर वह औद्योगिक विकास गुण है, तब तो भला ही है। आज भी ऐश-आरामसे धन बचाकर उत्पादन-वृद्धिके काममें लगाना गुण समझा जाता है। रामराज्यवादी तो फिर भी महायन्त्रोंके निर्माणपर प्रतिबन्ध लगाना उचित समझता है, परन्तु मार्क्सवादी तो महायन्त्रोंका उत्तरोत्तर विकास ही चाहता है।

यदि मुनाफाका विस्तार एवं विकास न होता तो आजकी वैज्ञानिक उन्नति भी असंभव हो जाती। फिर रामराज्यकी दृष्टिमें तो सदा ही काम-दाम-आरामका उचित वितरण आवश्यक है। श्रमके अनुसार दाम-आरामकी व्यवस्था तो होनी ही चाहिये, किंतु कभी यदि व्यक्ति श्रमके लायक न रहे तो भी मनुष्यताके नाते उसके भी दाम-आरामकी व्यवस्था होनी चाहिये और वह दास-प्रथाके समय भी थी। वस्तुतः उस समयके ये दास नाममात्रके ही दास थे। वे तो कुटुम्बके एक प्रकार सदस्य समझे जाते थे। इसीलिये कुटुम्बपति ऐसे दासोंकी भोजन-व्यवस्थाके अनन्तर ही अपने भोजन-वस्त्रकी व्यवस्था करता था। उसके भोजन करनेपर ही कुटुम्बपति भोजन करता था।

पूँजीवादके समाजमें पैदावारका काम पूँजीके आधारपर होता है। पूँजीपतिके पास पैदावारके जितने साधन हैं, वे सब उसकी पूँजी हैं। पूँजीवादके समर्थक कहते हैं—‘यदि पूँजीवादी प्रणालीको समाजसे हटा दिया जायगा, पूँजी न रहेगी, मुनाफा कमानेकी प्रणाली न रहेगी तो समाजमें पैदावार बढ़ानेके लिये साधनोंको किस प्रकार बढ़ाया जायगा?’ परन्तु मार्क्सवादके अनुसार वही धन पैदावारका साधन, पूँजी है, जिससे मुनाफा कमाया जाता है। जिससे उपयोगके पदार्थ तैयार किये जाते हैं, वह धन पूँजी नहीं है। जो भेद पदार्थ एवं सौदेमें है, वही भेद पैदावारके साधनों और पूँजीमें है। गेहूँकी बोरी यदि परिवारके व्यवहारके उपयोगके लिये है तो वह उपयोग पदार्थ है और यदि वह बिक्रीके लिये है तो वह सौदा है। कोई भी वस्तु सौदा

है या पदार्थ वह डम वातसर निर्भर करना है कि वह वस्तु किस प्रयोजन या उपयोगमें आयगी ? इसी प्रकार पैदावारके साधनोंके बारेमें भी उनका प्रयोजन यह निश्चय करता है कि वह जरूरत पूरी करनेका साधन है या मुनाफा कमानेका साधन ? किसी मशीनमें यदि उपयोग पदार्थ बनाये जाने हैं, तो वह पैदावार साधन तो अवश्य है, पर मुनाफा कमानेका साधन नहीं । अतः मार्क्स उसे पूँजी नहीं कहता । परंतु यदि उस मशीनपर दूसरे लोगसे श्रम कमाकर मुनाफा कमाया जायगा तो वह पूँजी कहलायेगा । समाजवादी समाजमें बड़ी-बड़ी मिलें रहेंगी, पैदावार और नये साधन जारी करनेके लिये बड़ी मात्रामे धन इकट्ठा किया जायगा । परंतु उसका उद्देश्य व्यक्तियों या श्रेणियोंके लिये मुनाफा कमाना न होकर जनताके उपयोगके लिये उपयोगी पदार्थ और साधन पैदा करना होगा । इसीलिये वह पूँजी न कहलायेगा । वह होगा समाजकी आवश्यकताओंको पूरा करनेका साधन-धन ।

वस्तुतः उपयोग पदार्थ एवं मौद्रिक भी पारमार्थिक भेद नहीं है । उपयोग, उद्देश्य या प्रयोजनके भेदसे पदार्थमें भेद नहीं हो सकता । वही विप चन्द्रोदय आदि औषध बनानेके काम आता है, वही मृत्युके काममें आता है । यह सदुपयोग-दुरुपयोगका भेद है । विजलीमें प्रकाश भी होता है, दूग्ध भी कितने काम होते हैं, मृत्यु भी हो जाती है । फिर भी विजली विजली ही रहती है, उसमें मौलिक अन्तर नहीं होता । गेहूँकी बोरी स्वार्थ भी हो सकती है, परार्थ भी, किंतु इससे गेहूँकी बोरीमें अन्तर नहीं आता । इसी तरह उपयोग या मुनाफेके लिये गेहूँकी बोरीमें प्रयोग-भेद होनेपर भी उसमें कोई अन्तर नहीं होता ।

बड़े-बड़े साधनोंके लिये बड़ी मात्रामे धन जुटाना आवश्यक ही होगा । फिर ढाका डालकर, छीना-जपटीकर, जबरदस्ती टैक्स लगाकर, डगालवृत्तिसे धन नहीं बटोरना है तो उचित मुनाफाद्वारा ही साम्यवादी सरकारको भी धन जुटाना होगा । नीतिशास्त्रोंका मत है कि डगालकार (कोयला बनानेवाले) की वृत्तिसे (अर्थात् जैसे वह वृक्षको जड़-मूलसे काटकर उसे जलाकर कोयला बनाता है उसी तरह) प्रजाको छूटकर, उसकी भूमि सम्पत्ति छीनकर धन-संग्रहकी नीति न अपनायी जाय, मधुकर-वृत्तिसे ही धनसंग्रह उचित है । जैसे मधुमक्खी वृक्षों, पौधों, पुष्पों, स्तवकों, फलोंको बिना नष्ट किये ही उनमेंसे रस-संग्रहकर मधु बना लेती है, उसी तरह प्रजाको बिना नष्ट किये ही उसकी सम्पत्तिको बिना छीने ही आवश्यक धन-संग्रह करना उचित है ।

व्यापार-कौशलसे प्राणी मृतमृषिकामात्रके आधारपर धनवान् बन सकता है (देखिये पृष्ठ ३४७) । इसमें किमीका नुकसान भी नहीं होता

और धनसंग्रह भी हो जाता है। कई स्थानोंमें मूर्खतावश सरकारें गरीबोंकी गादी कमाईका लाखों रुपया खर्च करके भी कोई लाभ नहीं उठा पाती। भाखरा आदि बौधोंके भ्रष्टाचारोंकी कहानियाँ अभी ताजी ही हैं। ऐसे उदाहरण कितने हैं।

जैसे कोई मतवादी या सरकारें धनसंग्रहका उद्देश्य प्रजाका उपयोग बताकर पूँजी एवं पैदावारके साधनोंके भेद सिद्ध करनेका प्रयत्न करती हैं, उसी तरह मुसोलिनी तथा हिटलर सम्पत्ति बढ़ानेके नामपर दूसरे राष्ट्रोंको कुचलकर उनपर अधिकार जमाना उचित समझते थे। वैसे ही माक्सवादी पैदावारके साधन संग्रहके नामपर प्रजाकी वैधसम्पत्तियोंका भी अपहरण करते हैं। दान, इनाम तथा क्रयद्वारा मिली, दायमें मिली वपौती सम्पत्तियोंको भी छीन लेते हैं। कई सदृशस्थ अपनी सम्पूर्ण कमाईको धर्मार्थ, परोपकारार्थ ही लगाते हैं। रामराज्यकी दृष्टिसे कमाईका यही सदुपयोग है। सत्पुरुषोंकी विद्या ज्ञानके लिये, धन दान तथा परोपकारके लिये होता है। खलकी विद्या विवाद, धन घमण्ड एवं शक्ति परोत्पीड़नके लिये होती है—

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।

खलस्य साधोर्विपरीतमेतज् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥ (गुणरत्नम् ७)

ऐसी स्थितिमें रामराज्यके अनुसार वैध धनोपार्जन प्रथम दानार्थ, परोपकारार्थ, यज्ञार्थ है, पश्चात् भोगार्थ। मुनाफा कमानेका भी उद्देश्य यज्ञार्थ-परोपकारार्थ ही है। अतः समाजवादी अर्थ-व्यवस्था सिवा अपहरण और लूट-पाटके और कोई व्यवस्था नहीं है। इसके अनुसार जनता धनहीन, धर्महीन, शक्तिहीन होकर मुट्ठीभर तानागाहोंकी गुलाम बन जाती है। दासोंकी-जैसी भी स्वतन्त्रता उसे नहीं मिलती। बोलने, विचार व्यक्त करने, अपनी कमाईका सदुपयोग करनेके अधिकार भी जनतासे छिन जाते हैं। मनु, शुक, बृहस्पति, कामन्दक, कौटल्य, मुकरात, अरस्तू, अफलातून सभी जान-मालकी रक्षा राज्यविधानका उद्देश्य मानते हैं, किंतु माक्सवादी व्यवस्थामें राज्य ही जान-मालका विध्वंसक बन जाता है। जनताकी स्वतन्त्रता सर्वथा नष्ट हो जाती है।

लेनिन एवं स्तालिन बड़े गर्वके साथ कहा करते थे कि 'रूसमें गैरसरकारी पार्टीका न होना दूषण नहीं भूषण है। जिन देशोंमें वर्गभेद विद्यमान होते हैं, उनमें विभिन्न वर्गोंकी प्रतिनिधित्व करनेवाली अनेक राजनीतिक पार्टियाँ अपेक्षित हो सकती हैं, किंतु रूसमें तो वर्गभेद समाप्त हो चुके हैं, फिर तो यहाँ किसी अन्य राजनीतिक पार्टीका न होना गुण ही है। पर उनका यह गर्व सिवा दम्भके और कुछ नहीं था। वस्तुतः पुलिस-पल्टन तथा गुप्तचर विभागका जाल बिछाकर, मतभेद रखनेवाले लोगोंकी जवानपर ताल लगाकर उसे दबा रखा गया था। यदि वहाँ वर्गोंका अवशेष न होता, तो लेखन-भाषण एवं प्रेसों तथा

पत्रोंकी स्वतन्त्रतापर प्रतिबन्ध क्यों लगा रखा जाता ? यदि विरोधीवर्ग नहीं थे तो मगरा किनसे था ? प्रेसों, पत्रोंकी स्वतन्त्रता आज मगराके सभी देशोंमें मान्य है, पर रूसमें उसकी भी स्वतन्त्रता नहीं। वहाँ कोई व्यक्ति सरकारके विरुद्ध न भाषण दे सकता है, न लेख ही लिख सकता है और न कोई सरकारके विरुद्ध नोटिस-पोस्टर निकाल सकता है। फिर स्वतन्त्र अखबार निकालना, सरकारी पार्टीके विरुद्ध चुनाव आदि लड़ना तो दूरकी बात है। नाटकके लिये मतगणनाके समय सरकारी प्रेरणासे कुछ स्वतन्त्र व्यक्ति खड़े हो जायें, यह अलग बात है। ऐसी स्थितिमें यह कहना कि 'रूसमें वर्गभेद समाप्त हो गया है और वहाँ दूसरी राजनीतिक पार्टीका न होना भूषण है', मित्रा दम्भके और क्या है ?

लेनिन तथा स्तालिनने सक्रमणकालके नामपर रूसी समाजवादी शासनमें सर्वहाराके डिक्टेटरशिपका जोरदार समर्थन किया था। इन डिक्टेटरोंके भीषण डिक्टेटरशिपमें कटकजोधनके नाम एक-एक विरोधीको चुनकर समाप्त कर दिया गया था। ट्रॉट्स्की, बुखारिन आदि हजारों कामरेड तथा उनके लाखों अनुयायियोंके मौतके घाट उतार दिया गया था। स्तालिनके विरोधियोंकी इन बातोंको मिथ्या प्रचार कहकर उन काले कारनामोंको छिपानेका प्रयत्न किया जाता था। परन्तु अब खुश्चेव तथा बुल्गानिन जो इस्तालिनके पक्के अनुयायी थे, उसके भीषण डिक्टेटरशिपकी निन्दा कर रहे हैं। कहा जा रहा है कि १९३६ से १९३८ तक पाँच हजारसे अधिक उच्च सोवियत अधिकारियोंको नष्ट कर दिया गया था। स्तालिनके चित्रोंको हटाने और उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति मिटानेका यत्न कर रहे हैं। वस्तुतः यह तो मार्क्सवादी व्यवस्थाका ही दोष है। जहाँ ईश्वर और धर्मका सम्मान नहीं होगा, लोगोंको लिखने, बोलनेकी आजादी न होगी, वहाँ भीषण डिक्टेटरशिपका होना अनिवार्य है। स्वयं बुल्गानिन तथा खुश्चेव भी डिक्टेटर ही हैं। बेरियाको गोली मारकर मालेनकोवको पार्टी एवं शासनसमितिके प्रधान पदसे हटाकर मोलोटोवको द्वाकर अपने अधिकारोंको दृढ़ रखना ही उनका लक्ष्य था। इसके लिये अभी भीषण उलट-फेर एवं हत्याओंकी आवश्यकता पड़ सकती है। जैसे स्तालिनने लेनिनके अनुयायियोंको नष्ट किया था, अब उसी प्रकार स्तालिनके साधियोंका सफाया करनेका प्रयत्न चल रहा है।

अधिकार-प्राप्तिके लिये चलनेवाले इन सघर्षोंका कभी भी अन्त नहीं हो सकता। जर्मनीके हिटलरका नात्सीवाद, इटलीके मुसोलिनीका फासिस्टवाद, रूसी समाजवादियोंका डिक्टेटरवाद सब एक-ही-जैसा है। भारतमें भी समाजवादी द्वाकी समाज-रचनाका प्रयत्न चल रहा है, जिसका अन्तिम रूप यही डिक्टेटरशिप होनेवाला है। व्यक्तियोंकी भूमि, सम्पत्ति, उद्योग छीनकर उन्हें विरोधी शक्तिरहित बनानेका भीषण पड़्यन्त्र चल रहा है। अध्यादेशी आर्टिनेन्सो-

द्वारा जीवन-बीमा-कम्पनी-जैसी एक-एक वस्तुका सरकारीकरण हो रहा है । एक ससद्-सदस्यने बताया कि यदि अधिवेशनोके दिन निकाल दिये जायें तो प्रतिदिन एक अध्यादेशका औसत पड़ता है । इस तरह भारतका वर्तमान कांग्रेसी शासन भी डिक्टेटरशिपकी ओर ही बढ़ रहा है । विरोधियोंके दमन करनेकी नीतिमें यहाँ भी तेजी आ रही है ।

भारतमें उस मार्क्सवादका विस्तार होने जा रहा है जिसमें आत्मा-परमात्माका खण्डन किया जाता है । शून्यवादी तो जड़-चेतन सभीका खण्डन करके शून्यताका ही प्रतिपादन करते थे । आस्तिकोंने उनका खण्डन कर आत्मा और परमात्माका अस्तित्व प्रतिपादित किया । आज भी दृढ़ अध्वसायके साथ विचार करनेसे मार्क्सवादकी निस्सारता स्पष्ट हो जाती है । अर्थपरायण प्राणी अर्थको ही सबका मूल समझता है । जहाँ धार्मिक, आस्तिक लोग धर्मको ही सम्पूर्ण जगत्की प्रतिष्ठा कहते हैं, वहाँ चार्वाकोंका अनुसरण करते हुए मार्क्सवादी अर्थको ही सम्पूर्ण जगत्की प्रतिष्ठा कहते हैं । 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' के मुक्ताविलेमें 'अर्थो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' कहते हैं । अर्थका माहात्म्य महाभारतादि ग्रन्थोंमें पर्याप्त रूपसे वर्णित है । तथापि आस्तिकजन अर्थका भी मूल धर्मको ही मानते हैं । इसी अभिप्रायसे कहा गया है '—धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।' धर्मसे ही अर्थ एवम् कामकी भी प्राप्ति होती है । देखते ही हैं बड़े-बड़े अर्थशास्त्री हजारों प्रकारके प्रयत्न करते हुए भी भाग्यहीन होनेसे दरिद्र ही बने रहते हैं । स्वयं मार्क्स ही इसका उदाहरण है । मार्क्स जितना अर्थ-शास्त्रका विचार कर सका उतना अर्थार्जन नहीं कर पाया । जैसे निपुण चिकित्सकके लिये रोगी रहना एक विडम्बना ही है, वैसे ही एक अर्थनिष्णातका अर्थविहीन दशामें पड़े रहना भी विडम्बना ही है । अतः धर्ममूलक ही अर्थ काम भी होते हैं ।

श्रम और मुनाफा

कहा जाता है कि 'पूँजीपतिके हाथमें पूँजी होनेके कारण पैदावारके साधन उसके हाथमें चले जाते हैं । पूँजीसे पूँजी ही पैदा होती है । यह पूँजी भी शोषणसे इकट्ठी होती है । बड़े परिमाणमें मुनाफेके लिये पैदावार आरम्भ होनेसे पहले मामूलिरूपसे व्यापार चलता है, उपयोगकी वस्तुओंको सस्ते दामसे खरीदकर अधिक दाममें बेचकर मुनाफा कमाया जाता है, उन्हीं व्यापारोंसे पूँजी एकत्रित होती है । सस्ता खरीदकर महंगा बेचनेका अर्थ होता है या तो सौदेका दाम उचित नहीं दिया गया या उचित मूल्यसे अधिक मूल्य लिया गया । इस तरह मुनाफेकी अधिक ३० जाड़ग नहीं रहती, परन्तु परिश्रम करनेकी शक्ति ही ऐसी वस्तु है जिसके

खरीदनेके बाद ओर बेचनेमें पहले बर बर जानी है अथवा अधिक उपयोगी पदार्थ पैदा करती है।

बाजारमें बिकनेवाली हर वस्तुका दाम होता है और वह उस वस्तुकी तैयारीमें खर्च किये गये परिश्रमके समयसे निश्चित होता है। इसी आधारपर बाजारमें बिकनेवाली मजदूरी या परिश्रम-शक्तिका भी दाम निश्चित होता है। मजदूरको उस श्रमशक्तिको प्राप्त करनेके लिये अन्न, वस्त्र, सौदा—खरीदना पड़ता है, जिसके बिना परिश्रम सम्भव नहीं होता। यद्यपि मजदूर अपने जीवनके लिये अधिक भी खर्च कर सकता है, परन्तु उसे अधिक खर्च करनेको मिलता ही नहीं। मालिक लोग कम-से-कम दाममें उसे खरीदनेका प्रयत्न करते हैं। इस तरह मालिक लोग मजदूरको कम देकर उससे ज्यादा-से-ज्यादा काम लेने हैं। मजदूरद्वारा खर्च किये गये सौदे और मजदूरद्वारा पैदा किये गये सौदेके दाममें जो अन्तर है, वही पूँजीपतिका मुनाफा बन जाता है।

शक्ति एवं उसके परिणाममें भेद है। मजदूरकी जीवनरक्षाके लिये कम-से-कम जरूरी सौदेका दाम ही परिश्रम-शक्तिका दाम होता है। मालिक जितने दिनतक मजदूरकी परिश्रम-शक्तिको अपने काममें लाना चाहता है, उतने दिनतक जीवित रखनेके लिये सौदेका मूल्य देनेके लिये विवश है। वह कहीं एक रुपया रोज, कहीं पाँच रुपया रोज मजदूरी पाता है। वही परिश्रमशक्तिका मूल्य है। वेतनमें दिया हुआ धन ही दत्त समझा जाता है। दवाव या बलात्कारसे वाध्य होकर देनेपर भी वह अदत्त ही समझा जाता है। उसे न्यायालयद्वारा लौटाया जा सकता है—

भृतिस्तुष्ट्या पण्यमूलं स्त्रीशुल्कमुपकारिणे ।

श्रद्धानुग्रहसम्प्रीत्या दत्तमष्टविधं स्मृतम् ॥

(या० स्मृ० ० । १७६ को वीरनिबोध दीकामें उद्धृत बृहस्पतिका वचन)

दत्तबन आठ प्रकारका होता है, भृति अर्थात् वेतनके रूपमें मिला हुआ, तुष्टिमें मिला हुआ, सौदेके दामरूपसे मिला हुआ, स्त्रीशुल्करूपमें दिया हुआ, उपकारीको दिया हुआ, श्रद्धासे दिया हुआ, अनुग्रहमें दिया हुआ और प्रयत्नतासे दिया हुआ। इन्हें लौटाया नहीं जा सकता। कहीं-कहीं सात प्रकारके दान अप्रत्यावर्तनीय कहे गये हैं और सोलह प्रकारके दान प्रत्यावर्तनीय—

दत्तं सप्तविधं प्रोक्तमदत्तं षोडशात्मकम् ।

पण्यमूल्यं भृतिस्तुष्ट्या स्नेहात्प्रत्युपकारितम् ।

स्त्रीशुल्कानुग्रहार्थं च दत्तं दानविदो विदुः ॥

अदत्तं तु भयक्रोधशोकवेगस्त्रान्वितैः ।

तथोत्कोचपरीहासव्यत्यासच्छलयोगतः ॥

वालमूढास्वतन्त्रार्तमत्तोन्मत्तापवर्जितम् ।

कर्ता ममायं कर्मेति प्रतिलाभेच्छया च यत् ॥

अपात्रे पात्रमित्युक्ते कार्ये चाधर्मसंहिते ।

यदत्तं स्यादविज्ञानाददत्तं तत् प्रकीर्तितम् ॥

(नारदस्मृति ४ । ३, ७—१०)

खरीदी हुई वस्तुका दिया हुआ मूल्य दत्त है, अप्रत्यावर्तनीय है। काम करनेवाले नौकरको दिया हुआ वेतन, बंदी-मागधादिको प्रसन्नतासे दिया हुआ, पिता-पुत्रादिको स्नेहसे दिया हुआ तथा उपकार करनेवालेको जो प्रत्युपकाररूपसे दिया जाता है, विवाहके लिये जो कन्यापक्षवालोको दिया जाता है, जो किसी-पर कृपा करके दिया जाता है—ये सभी दान दत्त ही हैं, लौटाये नहीं जा सकते। भयसे, क्रोधसे, शोकावेशसे तथा असाध्यरोगादिसे पीड़ित दशामे, परिहासवश, व्यत्यास (उल्टा-पल्टा) से, छलयोगसे, बाल (नाबालिक) सोलह वर्षसे कम उमरवालेद्वारा, मूढ़ (लोकव्यवहारानभिज्ञ), अस्वतन्त्र (पुत्र दासादि), आर्त्त (रोगाभिभूत), मत्त (मादक द्रव्यसे, मतवाला), उन्मत्त (वातिक, उन्माद-ग्रस्त) द्वारा दिया हुआ, किसी कार्य करानेके प्रतिलामकी इच्छासे, अपात्रको पात्र बतला देनेसे, अवेदविदको वेदविद कहनेसे, यज्ञके नामसे धन लेकर जुए आदिमें खर्च करनेवालेको जो दिया गया हो—ये सोलह प्रकारके दान दत्त भी अदत्त ही समझे जाने चाहिये। जो अदत्तको लेता है और जो अदेय वस्तुको देता है—ये दोनों ही दण्ड्य हैं।

भूमिपर भूमिपतिका अधिकार भी शास्त्रोंने माना है। किसीकी भूमिपर मकान बनाकर जो भाड़ा देकर रहता है, वह यदि वहाँसे हटे तो अपना 'तृण, काष्ठ, इष्टिका (ईंट) आदि ले जा सकता है। परंतु जो भाड़ा बिना दिये किसीकी भूमिमें घर बनाकर रहता है, वह हटनेके समय घास, लकड़ी या ईंटोको नहीं ले सकता।

परभूमौ गृहं कृत्वा स्तोमं दत्त्वा वसेत्ततः ।

स तद् गृहीत्वा निर्गच्छेत्तृणकाष्ठानि चेष्टकाम् ॥

स्तोमाद् विना वसित्वा तु परभूमावनिश्चितः ।

निर्गच्छंस्तृणकाष्ठादि न गृह्णीयात् कथंचन ॥

(कात्यायनस्मृ० सारोद्धार)

मार्क्सके अनुसार 'परिश्रमका दाम मालिकका मुनाफा ही है। पूँजीपति इमारत बनाकर, मशीन लगाकर, कच्चा माल खरीद लेता है, फिर भी जबतक मजदूरकी परिश्रमशक्ति उसमें नहीं लगती तबतक काम आरम्भ नहीं होता। अतः वह मजदूरके शरीरको किरायेपर लेकर उससे सौदा बनवाता है। यदि पाँच दिनतक सौदा बनानेका काम हुआ और उतने समयमें इमारत और मशीनका किराया, कच्चे मालका दाम तथा अन्य कामोंमें जो खर्च हुआ है, वह तीन हजार घंटेके बराबर था। पूँजीपतिने बीस मजदूरोंको प्रतिदिन दस घंटे कामपर लगाया और सौदा तैयार होनेपर सौदेका दाम बाजारमें चार हजार घंटे परिश्रमके दामक बराबर पड़ा, तो तीन हजार घंटेके परिश्रमका दाम पूँजीपतिने खर्च किया ही है। मकान, मशीन आदिके किराये आदिपर और एक हजार घंटेके परिश्रमके दामकी वचत होती है, यह वचत ही परिश्रमका दाम है। उसमेंसे मालिक मजदूरको एक हजार घंटे जीनेके लायक ही नौकरी देता है। यह एक हजार

घंटेतक परिश्रम करनेकी शक्तिका दाम होगा और उसे जो बाजारमें मिला वह एक हजार घंटे परिश्रमका दाम है ।

‘यदि प्रजीवति मजदूरको पाँच दिनतक दस घंटे परिश्रम करनेकी शक्तिका दाम द्वाद्वे दिनके परिश्रमके बराबर देना है तो उसे प्रति मजदूर द्वाद्वे दिनका परिश्रम मुनाफ़में बच जाता है । उसका कुछ मुनाफ़ा चार दिनके परिश्रमका परिणाम हो जाता है । अर्थात् प्रजीवितने अपने बीस मजदूरोंको उतना कमाया दिया निम्नमें वे पाँच दिन जीवित रहें और मजदूरोंने मालिकको उतना कमाया दिया जितना कि बीस आदमियोंकी पाँच दिनकी मेहनतमें पैदा होता है ।

‘‘जैसे घोड़ेके दिनभर परिश्रम करनेके योग्य बनाये रखनेके लिये घास-दाना-में जो खर्च होता है, वह उनकी परिश्रमशक्तिका दाम है । घोड़ेकी दिनभरके परिश्रममें जो कमायी होती है, वह उसके परिश्रमका दाम होता है । दोनोंमें जो अन्तर है, वही मुनाफ़ा है । परिश्रमशक्तिको बनाये रखनेमें जो खर्च होगा, वह परिश्रम के दाममें कदां कम होता है । इसी तरह मजदूरकी परिश्रमशक्तिका पूरा दाम मिलनेपर भी परिश्रमके दाममें वह बहुत कम होता है । परन्तु मजदूरकी संख्या बाजारमें अधिक होती है । आधा पेट खाकर परिश्रमशक्तिका दाम भी उचित (मुनाफ़ा) से कम लेकर मजदूरी करते हैं । घोड़ेकी पैदावारसे मजदूरों जितना ही कम मिलना है, उतना ही मालिकका मुनाफ़ा बढ़ता है ।’’

देशकालके भेदसे भावोंमें भेद हो जाता है । जिस देशमें जिन वस्तुकी अधिक आवश्यकता या माँग होती है, अन्यत्र कम दाममें खरीदी वस्तु वहाँ अधिक दाममें बिकती है । दिग्वाया जा चुका है कि किसी देशकालमें पानी भी कीमती हो जाता है, इसीलिये कालान्तरमें खरीदी वस्तु कालान्तरमें और देशान्तरमें खरीदी वस्तु देशान्तरमें बेचनेकी लागत ही लिये पड़ती चरती है । बुद्धिकी विशेषताएँ भी लाभमें विशेषता होती है ।

कथामरिन्सागरकी कथा है कि एक व्यक्तिने एक मृतमृषिकाको, जो सामान्य दृष्टिसे व्यर्थ ही कही जाती है, लेकर व्यापार करनेका निश्चय किया । किसीने एक आना पेसा देकर उसे अपनी बीमार बिल्किके लिये खरीद लिया । वह उसी पैसामें भूना चना खरीदकर शीतल जल लेकर मार्गके किसी वृक्षकी टटी छायामें बैठ गया । लकड़ीका बोझ लेकर आते हुए भूख-प्यासे लकड़हारोंने वहाँ रुककर ओर चना खाकर जलपान किया तथा बटलेमें वे उसे थोड़ी-थोड़ी लकड़ियों देने लगे । उन लकड़ियोंके बेचनेमें उसे पाँच रुपये प्राप्त हो गये । उसमें उसने कुछ तो अपने भोजनमें व्यय किया और शेषका पुनः चना खरीद लिया । इसी प्रकार उसने उसे पुनः लकड़ियों मिलीं और शनैः-शनैः वह महाधनवान् हो गया । फिर जिसके पास पूँजी हो उसमें तो वह बहुत कमा सकता है ।

जब कोई व्यापार न कर अपना धन बँकमें जमा करता है तो वहाँ भी मृदके रूपमें कुछ-न-कुछ आमदनी होती है। फिर श्रमपूर्वक व्यापार तो कुछ अधिक लाभके लिये किया ही जाता है। देग-विगेय तथा काल-विशेषमें मँग बढ़ जानेसे दाम बढ़ जाता है। इसमें श्रमका सनिवेश नहीं होता। पूर्वोक्त कथामें मृतमृषिकाके व्यापारमें श्रमकी कोई बात नहीं आयी, पर अवसर-विशेषपर ऐसी वस्तुओंका भी दाम मिल जाता है। इसी तरह खेतीसे तथा अन्य उपयोगी वस्तुओंको बनाकर बेचनेसे भी लाभ होता है। यहाँ सौदेका दाम कम देने अथवा उचितसे ज्यादा दाममें बेचनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि देग तथा कालकी महिमासे दाममें चढ़ाव-उतार होता ही रहता है।

इसी तरह प्रत्येक वस्तुका दाम वस्तुकी तैयारीमें खर्च किये गये परिश्रमके समयमें निश्चित होता है, यह कथन भी असंगत है। क्योंकि आम्रादि फलोंका दाम उनकी मधुरता, हृद्यता आदि गुणोंपर तथा दुर्लभता, सुलभता आदि एव मँगके आधारपर ही निश्चित होता है। परिश्रम समान होनेपर भी घटिया आमोंका उतना दाम नहीं होता। अतः उपकारकता तथा दुर्लभताके तारतम्यका ज्ञान ही वस्तुके मूल्यमें कारण होता है। हीरा-जैसी वस्तुमें भी उपकारकत्व दुर्लभत्वका ज्ञान न होनेसे अल्पमूल्यता या हेयताका व्यवहार हो सकता है। बकरी एव गर्दभ, उष्ट्रके पालनमें श्रम एक-सा होनेपर भी वस्तुओंकी विशेषतासे ही दाममें विशेषता कहनी पड़ती है। इसी तरह परिश्रमके समयके आधारपर भी दामका निर्णय असंगत है। एक मजदूर अधिक समयतक कठोर-से-कठोर काम करता है, तब भी उसे थोड़ा ही पैसा मिलता है। परन्तु एक इंजीनियर, डाक्टर, वकील 'मिनटोंमें हजारों रुपया प्राप्त कर लेता है। अतः यहाँ भी परिश्रमकी विशेषता तथा दुर्लभताके आधारपर ही दाममें विशेषता मान्य होनी चाहिये।

वस्तुतः सफल कर्म ही श्रम है। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारकी हलचल ही कर्म है। तथा च फल्लोत्पादनानुक्रम उपयोगी हलचल ही श्रम है। यह स्वयं ही अनेक प्रकारकी होती है, एक रूप नहीं है। एक विशिष्ट वकीलकी वाणीकी हलचल बहुत लाभदायक होती है, अतः उसका दाम बहुत ज्यादा होता है। एक साधारण वकील या वक्ताकी वाणीसे उतना लाभ नहीं होता, अतः उसका साधारण ही दाम मिलता है। इसी तरह इंजीनियर, डाक्टर आदिके सम्बन्धमें भी कहा जा सकता है। विशिष्ट बुद्धि, विशिष्टवाणी, विशिष्ट हस्तपादादि क्रियाओंमें होनेवाले फलोंके आधारपर उनके दामोंमें भी कमी-बेगी होती रहती है। दुर्लभता एव मँगकी विशेषता ही सर्वत्र दामका कारण हुआ करती है। जैसे विशिष्टबुद्धियुक्त शारीरिक हलचल अधिक लाभदायक होती है उसी तरह

मशीन कच्चा माल तथा विविष्टबुद्धियुक्त शारीरिक हलन्त्र (श्रम) और लाभ-दायक होती है । जिसके पास उभयुक्त भावनोंमें जितनी कर्मा है उतना ही उसे कम लाभ होता है । जैसे डूब जन्म या जन्मान्तरके शुभकर्ममें जिसके पास उत्तम बुद्धि एवं कायिक, वाचिक उत्तम कर्म होते हैं, उसको केवल कायिक कर्मवालेकी अपेक्षा अधिक फल मिलता है । इस तरह डूब जन्म या जन्मान्तरके शुभकर्ममें भूमि, मशीन, कच्चा माल आदि जिसके पास है, उसे और भी बड़ा फल प्राप्त होता है । किसीके पास बुद्धि नहीं है, केवल मूल्य श्रम है उसे थोड़ा ही फल मिलता है । किसी वकील, डाक्टर, इंजीनियर आदिमें बाह्य श्रम अन्यत्र है, केवल बुद्धिके ही बलपर उन्हें पर्याप्त धन मिलता है । किसीके पास मशीन, भूमि आदि बाह्य साधनोंकी प्रधानता है, वे उसके सहारे साधारण बुद्धि, वाणी एवं शरीरके कर्ममें ही बड़ा फल पा लेते हैं । इसमें भी अवसरका महत्त्व होता है । किसी अवसर-पर कोई वाणी, कोई औपचरिक कोई क्रिया लाभदायक होती है । किसी अवसर-पर वही हानिकारक भी हो जाती है । ज्ञानार्थ कर्मोंमें भी अथवा तथा जानकारी-का विशेष महत्त्व है । डाक्टर, इंजीनियर, गणक, वकील आदिके भी जानकारी तथा कर्मोंकी विलक्षणताके समान ही वैदिक, तान्त्रिक, ज्योतिष, अश्वमेध, पशुधनोपनादिके कर्मोंमें भी ज्ञानक्रिया आदिकी विलक्षणता होती है । पाठ, जपमें श्रम समान होनेपर भी किसी मन्त्र-मन्त्रिकके जप, पाठमें सामान्य फल होता है, किसी मन्त्र-स्तोत्रिकके जप-पाठमें विशेष फल होता है । यहाँ श्रमकी विशेषता न होकर वस्तुकी विशेषता ही फलमें विशेषता-साम्य होती है ।

परिश्रम, शक्ति एवं परिश्रमका भेद भी अवागम्य तथा अनुपयुक्त है । वस्तुतः खरीदगार फलके आधारपर ही दाम देता है । फलके आधार पर शक्तिको कुछ भी दाम नहीं होता । काम न करनेवाले या अन्यका काम करनेवाले श्रमिकके पास भी शक्ति है, परन्तु जिसके लिये उसका फल नहीं है उसके लिये वह व्यर्थ है । अतः उसका कुछ भी दाम नहीं देता । अतः परिश्रमशक्ति एवं परिश्रमके पृथक् फलकी कल्पना निराधार है । जितनेसे परिश्रमशक्ति बनी रहे, उतना दाम परिश्रमशक्तिको दाम है, वह नियम भी व्यभिचरित है । क्योंकि वकील, डाक्टर आदिके श्रमशक्ति बनाये रखनेसे कहीं बहुत अधिक दाम मिलता है, अतः उस दामको परिश्रमशक्तिको दाम नहीं कहा जा सकता । ऐसे स्थानोंमें परिश्रमका दाम दूसरा क्या हो सकता है ? क्योंकि यहाँ तो कोई वस्तु बाजारमें जानेवाली नहीं है, जिससे लागत खर्च निकालकर सौदेके दामको परिश्रमका फल कहा जा सके । वकीलके परिश्रमका परिणाम न्याय-प्राप्ति कहा जा सकता है, उसके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले भूमि, हिरण्य आदिमें भले वकीलके परिश्रमको भी हेतु कहा जाय, परन्तु वह वादी आदिकी निजी वस्तु ही है । उसे प्राप्त होनी ही चाहिये । तभी

उसके पश्चिम न्याय हुआ है । 'अतः वह सब वकीलके श्रमका फल है, उसे ही मिलना चाहिये', यह नहीं कहा जा सकता । बहुत-सी ऐसी भी मजदूरी होती है जिसके द्वारा बाजारमें जानेवाला कोई सौदा नहीं बनता । उदाहरणार्थ अपने ही कुटुम्बके काम चलानेके लिये लोहार, दर्जी, बढई, मकान बनानेवाले कारीगरसे उपयोगके लिये काम कराये जाते हैं, वहाँ धोबी, नाई, भगीके श्रमका क्या दाम होगा ? यहाँ कोई बाजारमें बिकनेका सौदा नहीं बनता । अतः वहाँ बाजार भावके आधारपर श्रमका दाम निश्चित करना पड़ेगा । अवश्य ही वह दाम कामके अनुरूप तथा राष्ट्रीय नागरिकोंके जीवनस्तरके अनुरूप होना चाहिये । इसके विपरीत जहाँ कथञ्चित् मजदूरीका जीवन चलानेके लिये नितान्त आवश्यक जो कम-से-कम मजदूरी देते हैं, वे अन्याय करते हैं । उनपर नियन्त्रण आवश्यक है । फिर भी सौदा बनानेवाले मजदूरोंकी उचित मजदूरी या नौकरीसे अतिरिक्त लागत खर्च निकालकर सौदेके सब दाममें भी मजदूरोंका अधिकार है, यह नहीं सिद्ध हो सकता । कोई कारण नहीं कि उपयोगार्थ काम करनेवाले मजदूरोंके परिश्रमका दूसरा दाम हो और सौदा बनानेवाले मजदूरोंके परिश्रमका दूसरा । बाजारमें गेहूँ खानेके लिये खरीदे या दानके लिये खरीदे अथवा बेचनेके लिये खरीदे, पर दाममें कोई अन्तर नहीं आता ।

कच्चा माल, मशीन और पूँजी तथा पूँजीपतिकी बुद्धि, साहस, चेष्टा आदि सब मिलकर लाभमें हेतु हैं । यदि मजदूरोंके परिश्रमका भेद मानकर परिश्रमका दाम भी पृथक्-पृथक् माना जाय तो मशीनोंके सम्बन्धमें भी कहा जा सकता है कि जितनेसे मशीन कामलायक बनीं रहे, वह उनकी कार्यक्षमताका दाम होगा । मजदूरकी नौकरी आदि लागत खर्च निकालकर अवशिष्ट सौदेका दाम मशीनकी क्रियाका परिणाम है । लाखों मजदूरोंका काम करनेवाली मशीनके सम्बन्धमें वे सभी न्याय लागू होने चाहिये, जो मजदूरके सम्बन्धमें लागू होते हैं । अतः लाखों मजदूरोंकी श्रमशक्ति एवं श्रमका जो भी फल है, वह सब मशीनके मालिकको मिलना चाहिये । कच्चा माल तो सौदेका उपादान-कारण ही होता है । रूई ही सूत बनती है, सूत ही कम्डा बनता है, अतः रूई तथा सूतके मालिकको जो दाम दिया गया है, उसे भी अपूर्ण ही कहा जा सकता है । रुपया निश्चल पड़ा रहे तो उसका कुछ भी फल नहीं होता । परन्तु बैंकमें जाता है तो व्याजरूपसे उससे कुछ आमदनी होती है । व्यापार-उद्योगमें लगानेसे उससे और बड़ी आमदनी होती है । इसलिये व्यापारमें पूँजी लगायी जाती है । यदि लागत खर्चके अतिरिक्त सौदेका दाम मजदूरके परिश्रमका ही फल है और वह सब मजदूरको ही मिलना चाहिये, तब तो कच्चे माल खरीदने, मकान, मशीन बनाने, मजदूरोंको बटोरकर काम कराने, मजदूरी देनेमें पूँजी लगाकर उसे खतरेमें डालना व्यर्थ ही होगा । उसकी अपेक्षा तो

बिना खतरा उठाये ही बैंकमें रुपया रखकर लाभ उठाया जा सकता है । अतः जैसे श्रमिकको श्रम लगानेका फल मजदूरी मिलती है, वैसे ही पूँजीपतिके पूँजी लगानेका फल मुनाफा मिलना चाहिये । हाँ, वह भीमित होना चाहिये । समाज तथा मजदूरीको नुकसान पहुँचानेवाला न होना चाहिये ।

पूँजी और श्रम

अतिरिक्त श्रमके द्रुके सम्बन्धमें माक्सवादी कहते हैं कि “पूँजी या पैदावारके साधनोको हम इस प्रकार बाँट सकते हैं । एक वे साधन, जो एक हृदयक स्थायी हैं, उदाहरणतः इमारतें और मशीनें, दूसरा कच्चा माल, तीसरे मजदूरोंको मजदूरी देनेके लिये पूँजी । पूँजीका जो भाग पैदावारके स्थायी साधनोपर खर्च होता है, वह एक निश्चित समयमें पंद्रह या बीस वर्षमें वसूल हो सकता है । इन साधनोके दामपर सूद और ब्रिसाई पूँजीपति आमदनीमेंसे लगातार निकालता जाता है । कच्चे मालपर जो पूँजी खर्च होती है, वह भी तैयार किये गये सौदेके विक्रते ही वसूल हो जाती है । पैदावारके इन साधनोपर जो रुपया लगता है, पूँजीपति उसे सौदेके मूल्यसे वसूल कर लेता है, परंतु उसपर मुनाफा वसूल नहीं किया जा सकता, वह घटता-बढ़ता नहीं । परिश्रमकी शक्ति इन साधनोपर लगाये बिना कुछ लाभ नहीं हो सकता । पैदावारमें लगाये गये पूँजीपतिके धनका तीसरा भाग परिश्रमके शक्तिके खरीदनेमें लगता है । पूँजीपति मुनाफा उसकी पूँजीके इस भागसे आता है ।

“परिश्रम करनेकी शक्ति-जिस दामपर खरीदी जाती है, परिश्रमके फलका दाम उससे अधिक होता है । सौदेके दाममेंसे परिश्रमकी शक्ति या दाम निकाल देनेपर ‘अतिरिक्त दाम’ बच जाता है । अतिरिक्त दाम बढ़ानेका सीधा तरीका यह है कि परिश्रमकी शक्तिके दाम मजदूरीको बढ़ाया जाय, उदाहरणतः यदि मजदूर द्वारा कराये गये दस घंटे परिश्रमका दाम एक रुपया है और उसमेंसे मजदूरको उसकी परिश्रमकी शक्तिका मूल्य आठ आने दे दिया जाता है तो अतिरिक्त मूल्य आठ आने प्रति मजदूर बच जाता है । परिश्रमके मूल्य एक रुपयेमेंसे यदि मजदूरी घटा दी जाय तो अतिरिक्त मूल्यका मुनाफा बढ़ जायगा । दूसरा उपाय मशीनोंका प्रयोग बढ़ाकर पैदावार बढ़ाना है । जिसमें परिश्रमके शक्तिके कम खर्च होनेसे उसके लिये कम दाम देना पड़े और मालिकके पास अतिरिक्त दाम या मुनाफा अधिक बच जाय । अतिरिक्त श्रमको बढ़ानेका तीसरा उपाय यह है कि परिश्रमकी शक्तिका मूल्य तो न बढ़े, परंतु परिश्रम अधिक दामका अधिक समयतक कराया जाय ताकि अतिरिक्त मूल्यका भाग बढ़ जाय । इसके लिये मजदूरोंसे बजाय दस घंटेके बरह घंटे काम कराया जाय । दस घंटे काम करानेसे पाँच घंटोंमें तो मजदूर अपने परिश्रमकी शक्तिका दाम पैदा करता है, जो उसे मालिकसे मिलता है और पाँच घंटोंमें मालिकके लिये अतिरिक्त दाम । अब काम बरह

घटे कराये जानेपर और परिश्रमकी शक्तिका दाम मजदूरी न बढ़ानेपर अतिरिक्त श्रम बजाय पॉच घंटेके सात घंटे होने लगेगा। इसीलिये जब मशीनोद्वारा थोड़े समयमें अधिक काम हो सकता है, तब भी मालिक लोग कामके घटे घटानेके लिये तैयार नहीं होते।

“इस प्रकार हम देखते हैं कि मुनाफा कमानेकी पूँजीवादी प्रणालीमें मशीनोका प्रयोग बढ़ने, पैदावार बढ़ने आदि सभी प्रकारकी उन्नतिसे मजदूरोंको नुकसान और पूँजीपतियोंको लाभ होता है, क्योंकि इन सब वस्तुओंका व्यवहार समाजकी आवश्यकताओंको पूरा न कर मुनाफा कमानेके उद्देश्यसे किया जाता है। पैदावारके सब साधनोंके मौजूद होते हुए भी पैदावार उस समयतक नहीं हो सकती जबकि मेहनतकी शक्तको व्यवहारमें न लाया जाय। पूँजीवादी समाजमें मजदूरोंसे मेहनतकी शक्ति आती है। मजदूरोंकी मेहनतकी शक्तको मजदूरी या वेतनद्वारा खरीदकर पैदावारके साधनोंको चलाया जाता है। मजदूरी पूँजीवादी समाजका विशेष महत्वपूर्ण अङ्ग है, क्योंकि मजदूरीद्वारा ही पूँजीपति मजदूरकी मेहनतसे मुनाफा उठाता है।

“अपने लाभके विचारसे पूँजीपति मजदूरोंकी मजदूरी अर्थात् परिश्रम करनेकी शक्तिका दाम सदा ही घटानेकी कोशिश करते रहते हैं। परिश्रमकी शक्तिके मूल्य और परिश्रमके मूल्यपर विचार करते समय यह कहा गया है कि पूँजीपतिके व्यवसायमें परिश्रम करनेवाले मजदूरके परिश्रमके दो भाग होते हैं। मजदूरके परिश्रमका एक वह भाग होता है, जो उसकी परिश्रमकी शक्तिके मूल्यमें उसे दे दिया जाता है और उसके परिश्रमका दूसरा भाग वह होता है, जिसका उसे कोई फल नहीं मिलता, अर्थात् अतिरिक्त श्रम। मजदूर इस रहस्यको नहीं जानता। उसे यही समझाया जाता है कि ‘जितने दामका परिश्रम उसने किया है, उतना दाम उसे मिल गया है’ मजदूरको कहा जाता है कि ‘तुम्हारे परिश्रमका जो दाम एक पूँजीपति तुम्हे देता है, उसे यदि तुम कम समझते हो तो दूसरी जगह मजदूरी तलाश कर सकते हो।’ मजदूरीका दर समाज भरमें एक ही रहता है, क्योंकि सभी पूँजीपति अतिरिक्त श्रमसे लाभ उठाना चाहते हैं।

“यदि मजदूरकी मजदूरी उसी पदार्थके रूपमें दी जाय जिसे वह अपन परिश्रमसे तैयार करता है, तो उसे इस बातका अनुमान हो सकता है कि उसके परिश्रमके फलका कितना भाग उसे मिलता है, और कितना भाग मालिककी जेबमें चला जाता है। परन्तु मजदूरी या वेतनका पर्दा मजदूरसे उसके शोषणकी वास्तविकताको छिपाये रहता है। पूँजीवादी समाजमें मेहनत करनेवाली साधनहीन श्रेणी पैदावार तो बहुत अधिक करती है, परन्तु खर्च करनेके लिये बहुत कम पाती है। पैदावारकी शक्ति और साधन तो खूब बढ़ते जाते हैं, किन्तु जनताकी

पैदावार, खर्च करनेकी शक्ति घटती जाती है। इन सबका कारण है, अतिरिक्त मूल्यके रहस्यमय मार्गद्वारा जनताके परिश्रमका मुनाफेके रूपमें पूँजीपति श्रेणीके खजानोमें जमा होते जाना। इस व्यवस्थासे मेहनत करनेवाली साधनहीन श्रेणी तो सकट भोगती ही है, परंतु पूँजीपति श्रेणीको भी कम उलझनका सामना नहीं करना पड़ता। समाजमें हो सकनेवाली पैदावारको जनता खपा नहीं सकती। पूँजीपतियोंके पैदावारके विनाश साधन निष्प्रयोजन खड़े रहते हैं। उन साधनोंमें लगी उनकी पूँजी उन्हें कोई लाभ नहीं पहुँचा सकती और वे भयंकर आर्थिक सकट अनुभव करने लगते हैं।

‘यद्यपि पूँजीवादी व्यवस्थामें मेहनत करनेवाली श्रेणीका शोषण उन्हें दी जानेवाली मजदूरीके पदमें छिपा रहता है, जिसके द्वारा उन्हें सदा यह विश्वास दिलाया जाता है कि उनकी मेहनतका पूरा फल मेहनत करनेवालोंको मिल जाता है, परंतु मजदूरोंको उनकी मेहनतसे मिलनेवाले फलमें नित्य कमी आते जानेसे उनका जीवन दिन प्रतिदिन सकटमय होता जाता है, इसलिये मजदूरश्रेणी अपनी मजदूरीको बढ़ानेकी पुकार उठाये बिना नहीं रह सकती।’

मार्क्सने उसी बातको बार-बार दोहराया है। कहा जा चुका है कि मजदूरीका दर उचित होना चाहिये, परंतु मार्क्सवादी तो किसी न्यायालय या पंचायतकी बात माननेको प्रस्तुत ही नहीं होते। समझौता उन्हें अभीष्ट नहीं होता। उनका उद्देश्य तो सम्पूर्ण पूँजीको हथियाना है। जो पहले बेकारीके कारण परेशान होकर नौकरी ढूँढता था उसे काम मिला। नौकरी मिलनेसे जब बैठनेको जगह मिल गयी तो अब वह मालिकको समाप्त करके स्वयं मालिक बनना चाहता है। ऐसी दृष्टिवाला व्यक्ति या समाज समझौता भला कब चाहेगा? शोषण, उत्पीड़नका अतिरजित वीभत्स वर्णन केवल उत्तेजना और विद्वेष फैलानेकी दृष्टिसे मार्क्सवादी करते हैं। उनके वर्णनमें तथ्याग नगण्य ही होता है।

मार्क्सका अतिरिक्त श्रम, अतिरिक्त मूल्य सर्वथा निराधार है। मजदूरीका मार्ग बिल्कुल स्पष्ट है। इसमें कोई भी रहस्य नहीं। जैसे आपसी समझौते या पंचायत अथवा निष्पक्ष सरकारद्वारा कच्चे मालकी दर निर्धारित होती है वैसे ही श्रमकी भी दर निर्धारित होती है और हो सकती है। यह प्रत्यक्ष ही ससारकी आँखमें धूलि-प्रक्षेप है कि ‘व्यापार या उद्योगमें होनेवाले लाभका मूल कारण उस श्रमिकका श्रम ही है, जो वेतनसे काम करता है। पूँजीका लाभमें कोई हाथ नहीं है।’ जब सूदपर रुखा लेने या बैंकमें जमा कर देनेसे भी रुपयेका सूद मिलता है, तो फिर यदि अधिक लाभका लोभ न हो तो कौन बुद्धिमान् उद्योगमें रुपया लायेगा और क्यों रुपयेको व्यर्थ खतरेमें डालेगा? क्योंकि उद्योग या व्यापारमें हानिकी भी तो सम्भावना रहती है और झझटमें ऊपरसे पड़ना। लाभमें रुपयेका कोई हाथ भी

नहीं समझा जाता। यदि लाभ सब मजदूरका ही है पूँजीपतिका कुछ नहीं तब क्या पूँजीपति पागल है, जो निरर्थक अपना रुपया खतरेमें डालेगा? और झझट मोल लेगा? हर्गिज नहीं, फिर तो अच्छा होता कि वह अपनी पूँजी बैठकर खाये और दूरसे तमाशा देखे कि साधनोके बिना मजदूर श्रममात्रसे क्या कमाता है?

पैदावारके साधनोको बढ़ाना, औद्योगिक नगरोमें श्रमिकोको इकट्ठा करके उचित नौकरी देकर योग्य कामपर लगाकर उन्हें शिक्षित तथा अनुभवी बनाना अपराध नहीं है। वस्तुतः रामराज्यवादीके मतानुसार महायन्त्रका निर्माण अपराध है और उसपर प्रतिबन्ध लगाना चाहिये। मार्क्सवादमें तो पूँजीवाद, साम्यवादका उपकारक है, क्योंकि मार्क्सवादका यन्त्रवाद ही प्राण है। मनुष्योको भूखा-नगा बनानेवाला पूँजीवाद अवश्य अपराधी है, उसका मिटना आवश्यक है। परंतु विचारणीय बात यह है कि कहीं भूखा नगा बना देनेका लाछन लगाकर उसके विनाशका बहानामात्र तो नहीं ढूँढा जा रहा है? जैसे हिटलर, मुसोलिनी दूसरोको सभ्य बनानेके लिये उनपर हमला करनेके लिये अपनेको बाध्य समझते थे। एक भेड़िया नीचेकी ओर पानी पीनेवाली बकरीको अपराधिनी घोषित कर उसे खानेको अपनेको बाध्य मानता है। उसी तरह देशका सर्वस्व हरण करके अपना अधिनायकत्व स्थापित करनेके लिये पानी पी-पीकर मार्क्सवादी पूँजीवादको कोसते हैं। अतः न तो सब व्यवस्थाओसे दूसरी व्यवस्थाओका जन्म ही होता है न आवश्यक ही है।

यह स्पष्ट है कि पूँजी, मशीन, कल, कारखाने, कच्चा माल और श्रमिकोंका श्रम सब मिलकर उत्पादनके हेतु होते हैं। जैसे श्रमिक बिना सब चीजें व्यर्थ होती हैं, वैसे ही कच्चे माल आदि बिना श्रमिकोंका श्रम भी व्यर्थ रहता है, तभी बेकारीका प्रश्न उठता है, बल्कि गन्ने आदि कई ढंगसे कच्चे माल, कारखानोंमें बिना गये भी उपयोगी होनेसे कीमती होते हैं। पर श्रम इन वस्तुओंके बिना सर्वथा व्यर्थ रहता है। पूँजीपति जैसे दामसे मशीन खरीदता है, मकान बनाता है, दामसे कच्चा माल खरीदता है, वैसे ही दामसे श्रमिकोंका श्रम भी खरीदता है। जैसे श्रमिकोंके श्रमके दाममें घटाव-बढ़ाव होता रहता है, वैसे ही कच्चे माल और मशीनोंके दाममें भी घटाव-बढ़ाव होता रहता है। काम, कामके घंटे तथा वेतन पारस्परिक समझौतेसे ही तय होता है। यदि आपसी समझौतासे तय न हुआ हो तब धर्मशास्त्रद्वारा निर्धारित वेतन श्रमिकोंको प्राप्त हो सकता है। राष्ट्र हितके लिये बेरोजगारी दूर करनेके लिये, कामके घंटे और वेतनकी दरका निर्धारण सरकार भी कर सकती है। सर्वथापि आयका जरिया केवल श्रम नहीं, किंतु श्रम मशीन, कच्चा माल सब मिलकर ही आयके हेतु हैं। कच्चा माल, मशीन, श्रम सबका दाम पूँजीपतिने चुकाया है, अतः न्यायतः आयका हिस्सेदार

पूँजीपति ही है, अतिरिक्त श्रम और अतिरिक्त मूल्यकी कल्पना सर्वथा निराधार है। धर्मशास्त्रोने स्पष्ट ही आयमें पूँजी लगानेवालोका हिस्सा बतलाया है। वेतनके सम्बन्धमें आपसी समझौते तथा न्यायालयके मतका उल्लेख बृहस्पति-स्मृतिमें इस प्रकार है—

कुलीनदक्षानलसैः प्राज्ञैर्नाणकवेदिभिः ।
 आयव्ययज्ञैः शुचिभिः शूरैः कुर्यात्सह क्रिया ॥
 समोऽतिरिक्तो हीनो वा यत्रांशो यस्य यादृशः ।
 क्षयव्ययौ तथा वृद्धिस्तस्य तत्र तथाविधा ॥
 प्रयोगं कुर्वते ये तु हेमधान्यरसादिना ।
 समन्यूनाधिकैरंशैर्लाभस्तेषां तथाविधः ॥

(बृहस्प० स्मृति० गायक० १३ । १-२, ४)

अर्थात् कुलीन, दक्ष, निरालस्य, विद्वान्, व्यापारविशेषज्ञ, आय-व्ययके ज्ञाता साहसी लोग मिलकर व्यापार करे। मूलधनमें जिनका जितना कम या अधिक अंश होता है, उसके अनुसार ही उनका हानि-लाभमें भी भाग रहता है।

सुवर्ण, अन्न, रसादिका व्यापार करनेवालोका मूलधनके भागके अनुसार ही लाभमें भी भाग होता है। यहाँ स्पष्ट ही व्यापारमें धन लगानेवालोका ही लाभमें हिस्सा कहा गया है। लाभको श्रममात्रका फल नहीं माना गया।

समो न्यूनाधिको वांशो येन क्षिप्तस्तथैव सः ।
 व्ययं दद्यात्कर्म कुर्यात्लाभं गृहीत चैव हि ॥
 क्षयहानिर्यदा तत्र दैवराजकृताद् भवेत् ।
 सर्वेषामेव सा प्रोक्ता कल्पनीया तथांशतः ॥

(बृहस्प० स्मृति० गायकवाड सस्क० १३ । ५, ८)

बराबर या कम-अधिक मूल धनमें जिसका जैसा भाग होता है तदनुसार ही उसका वेतन आदि सम्बन्धसे व्यापारिक व्ययमें खर्च होगा, तदनुसार ही लाभमें हिस्सा मिलेगा। उसी तरह यदि राजकृत या दैवकृत हानि हो तो भी मूलधनके भागानुसार ही हानि भी सबको ही सहनी पड़ेगी।

अनिर्दिष्टो वार्यमाणः प्रमादाद्यस्तु नाशयेत् ।
 तेनैव तद्भवेद्देयं सर्वेषां समवायिनाम् ॥
 राज्ञे दत्त्वा तु पङ्भागं लभेरंस्ते यथांशतः ॥
 दैवराजभयाद्यस्तु स्वशक्त्या परिपालयेत् ।
 तस्यांशं दशमं दत्त्वा गृहीयुर्तेऽंशतो परम् ॥

(बृह० स्मृ० १३ । ९—११)

समुदायकी सम्मति बिना एवं मना करनेपर भी अगर किसीने प्रमादवश धन नष्ट किया है, तो उसे सबको धन देना पड़ेगा । राजाका षष्ठांश देकर शेष आय मूल-धनके भागानुसार सबको मिलना चाहिये । जिसने विशेषरूपसे दैवभय या राजभयसे धनको नाश होनेसे बचाया है उसे दशांश देकर शेषका अंशानुसार समुदायके लोग ग्रहण करे—

बहूनां सम्मतो यस्तु दद्यादेको धनं नरः ।
 करणं कारयेद्वापि सर्वैरेव कृतं भवेत् ॥
 समवेतैस्तु यद्वत्तं प्रार्थनीयं तथैव तत् ।
 न याचते च यः कश्चिद्वाभात्स परिहीयते ॥
 श्रूयतां कर्षकादीनां विधानमिदमुच्यते ।
 बाह्यबाहकबीजाद्यैः क्षेत्रोपकरणेन च ।
 ये समाः स्युस्तु तैः सार्धं कृषिः कार्या विजानता ॥

(वही २२; २५—२७)

बहुतोंकी सम्मति किसी उद्योगके लिये, एक व्यक्ति जो धन देकर उद्योग प्रारम्भ करता है, वह सभीद्वारा दिया गया समझा जाना चाहिये । जिन संयुक्त लोगोंने जो धन दिया है सभीको मिलकर ही उसे मॉगना चाहिये । जो उनसे नहीं मॉगता उसे लाभमें वचित रहना पड़ेगा । संयुक्तरूपसे कृषिकर्म करनेवालोंमें भी जिनका हल, बैल, मजदूर, बीज, खाद, खेत आदिका सामान या क्रम, अधिक जिनके जैसे हैं, तदनुसार ही उनको लाभमें हिस्सा मिलना चाहिये ।

बाह्यबीजात्ययाद्यत्र क्षेत्रहानिः प्रजायते ।
 तेनैव सा प्रदातव्या सर्वेषां कृषिजीविनाम् ॥
 हेमकारादयो यत्र शिल्पं सम्भूय कुर्वते ।
 कर्मानुरूपं निर्वेशं लभेरंस्ते यथांशतः ॥
 शिक्षकाभिज्ञकुशला आचार्याश्चेति शिल्पिनः ।
 एकद्वित्रिचतुर्भागान् लभेयुस्ते यथोत्तरम् ॥
 हर्म्यं देवगृहं वापि धार्मिकोपस्कराणि च ।
 सम्भूय कुर्वतां चैषां प्रमुखो द्वयंशमर्हति ॥
 नर्तकानामेष एव धर्मः सद्भिरुदाहृतः ।
 तालज्ञो लभते ह्यर्धं गायनास्तु समांशिनः ॥

(वही २८, ३४—३७)

जिसके हल-बैल या बीजकी कमीसे जो खेतकी हानि हो उसीको वह हानि सहनी पड़ेगी । हेमकार आदि शिल्पी जहाँ मिलकर काम करते हों, वहाँ कर्मानुरूप प्रत्येकको वेतन मिलना चाहिये । शिक्षक, अभिज्ञ, कुशल आचार्यको एक, दो, तीव तथा चार भाग क्रमेण मिलना चाहिये । प्रासाद, देव, गृह धार्मिक उपस्करण

बनानेमें प्रमुखको दो अंग मिलना चाहिये । नर्तकोंमें वही विधि है । तालशको भाषा मिलने चाहिये और गायकोंको समान अंग मिलना चाहिये ।

इन प्रसंगोंमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि व्यापार, उद्योग तथा अन्य कृष्यादि कर्मोंमें होनेवाले लाभ एवं हानिके भागी बनादि साधन लगानेवालोंको ही मिलता है । श्रमिकोंको उनके श्रमका फल वेतन होता है ।

अतिरिक्त आय और अन्तर्विरोध

माकर्सवादियोंका कहना है कि 'समाजकी कोई भी व्यवस्था जब पूर्ण विकासको प्राप्त हो चुकती है और उस व्यवस्थामें समाजके लिये आगे विकास करनेका अवसर नहीं रहता तो उस व्यवस्थाको तोड़नेके लिये स्वयं ही विरोधी शक्ति पैदा हो जाती है, जो उसे तोड़कर नयी व्यवस्थाका मार्ग तैयार कर देती है ।'

माकर्सवादके विचारसे 'पूँजीवाद ऐसी अवस्थामें पहुँच चुका है कि उसकी व्यवस्थाको बदले बिना समाजका विकास आगे नहीं हो सकता, समाजकी पैदावारकी शक्तियाँ आगे उन्नति नहीं कर सकती । ऐतिहासिक नियमके अनुसार पूँजीवादी समाजने अपनी व्यवस्थाका अन्त कर देनेके लिये शक्तिको जन्म दे दिया है । यह शक्ति है, पूँजीवादके शोषणद्वारा उत्पन्न साधनहीन श्रेणी ।'

माकर्सवादी कहते हैं कि 'साधनहीन श्रेणीकी संख्या समाजमें प्रति हजार ९९८ से भी अधिक है । पैदावारका केन्द्रीकरणकर पूँजीवादने इस साधनहीन श्रेणीको औद्योगिक नगरोंमें जमाकर सगठित होनेका अवसर दिया है । पूँजीवादने मशीनोंके विकासमें सहायता देकर और मशीनोंका उपयोग बढ़ाकर समाजद्वारा की जानेवाली पैदावारमें मेहनत करनेवाली श्रेणीका भाग बढ़ाकर उसे भूखा और नंगा छोड़कर उन्हें अपने जीवनकी रक्षाके लिये लड़नेको विवश कर दिया है । इसकी जीवन-रक्षा तब हो सकेगी जब यह श्रेणी जीवन-रक्षाके साधनोंको प्राप्त करनेकी राहपर चलेगी । इस श्रेणीका पहला सगठित प्रयत्न इस बातके लिये है कि समाजमें यह जितनी पैदावार करती है, उसमेंसे कम-से-कम निर्वाहयोग्य पदार्थ तो उसे मजदूरीके रूपमें मिल जाय ।'

माकर्सका यह सिद्धान्त काकतालीय न्यायमें भले ही घट जाय, किंतु सत्य नहीं है । अन्तर्विरोध, पिछली व्यवस्थाका विनाश, दूसरी व्यवस्थाका जन्म होनेका सिद्धान्त व्यापक नहीं है, क्योंकि माकर्सके अभिमत 'वर्गहीन समाज-व्यवस्थामें' ही यह नियम व्यभिचरित है । वह भी एक व्यवस्था है ही । परन्तु उन्हें उसका 'विनाश और उसमें अन्तर्विरोध नहीं मान्य' है । इस तरह गमराज्यवादी

रामराज्यको ही अन्तिम व्यवस्था मान सकता है। मार्क्सके गुरु हीगेलका आदर्श राज्य भी ऐसा ही है, जिसमें अन्तर्विरोध नहीं होता। चीनी गणतन्त्रमे भी पूँजीवादका विनाश आवश्यक नहीं समझा गया। रामराज्य-प्रणालीसे बेकारी, भूखमरी नहीं व्यापेगी। आर्थिक संकट भी नहीं आयेगा। इसीलिये मालके खपतकी भी कमी नहीं होगी। जैसे पूँजीपति सरकार नये-नये कामोंके लिये नयी-नयी मशीनोंका आविष्कार तथा प्रयोग कर सकती है, उसी तरह पूँजीपति व्यक्ति भी। जब एक वस्तुका उत्पादन माँगसे अधिक होने लगेगा तो दूसरी वस्तुके उत्पादनमे लग जायगा। जब दूसरे बाजार हैं नहीं, मालका उत्पादन आवश्यकतासे अधिक होता है, तब काम ठप रखनेकी अपेक्षा दूसरे कामका आरम्भ लाभदायक भी होगा। समय-समयपर व्यापारों एवं उद्योगोंमे उद्योगपति रद्दोबदल करते ही हैं, यह कोई नयी बात नहीं है।

सर्वहारा और क्रान्ति

मार्क्सवादियोंके अनुसार 'साधनहीन श्रेणी अपनी परिस्थितियोंके कारण मुख्यतः तीन भागोंमे बँटी हुई है, जिनमें किसान, मजदूर और निम्न, मध्यम श्रेणीके नौकरी पेगाके लोग हैं। साधनहीन श्रेणीके इन तीनों भागोंमेसे औद्योगिक देशोंमें मजदूर लोग संख्यामें सबसे अधिक हैं। संख्यामे सबसे अधिक होनेके अलावा उनका घरबार आदि कुछ भी शेष न रहनेसे समाजकी मौजूदा व्यवस्थासे उन्हें कुछ मोह नहीं। इनकी अवस्थामे परिवर्तन आनेसे इन्हें किसी प्रकारकी हानिका डर नहीं। औद्योगिक केन्द्रोंमें मजदूरोंके बहुत बड़ी संख्यामे एकत्र हो जानेसे उनमें संगठितरूपसे एक साथ काम करनेका भाव भी पैदा हो जाता है और नगरोंमे रहनेके कारण राजनैतिक परिस्थितियोंको भी वे बहुत शीघ्र अनुभव करने लगते हैं। पूँजीवादके विरुद्ध आनेवाली साधनहीन श्रेणीकी क्रान्तिमे ये मजदूर लोग ही अगुआ होंगे। किसान भी यद्यपि मजदूरकी तरह ही साधनहीन हैं, परंतु उनकी परिस्थिति उनके सच्चे और संगठित होनेके मार्गमे रुकावट डालती है। किसान प्रायः भूमिके एक छोटेसे टुकड़ेसे बँधा रहता है, जिसपर मेहनत करके वह जो पैदा करता है उसका केवल वही भाग उसके पास रह जाता है, जिसके बिना किसानमे परिश्रमकी शक्ति कायम नहीं रह सकती। शेष चला जाता है भूमिको मालिक कहलानेवाली श्रेणीके लिये। किसानका श्रम भी मजदूरको भौति होता है। और वह भी वास्तवमे मजदूर ही है, जो मिलोंमे काम न कर भूमिके टुकड़ेपर मेहनत करता है और अपने आपको साधनहीन न समझकर एक प्रकारसे भूमिके छोटेसे टुकड़ेका मालिक समझता है। भूमिके इस टुकड़ेके मोहके कारण उसे क्रान्तिसे भय लगता है। किसानोंका काम करनेका तरीका ऐसा है कि अलग-अलग काम करनेसे उनमें संगठनका भाव भी जल्दी पैदा नहीं हो पाता। नगरोंसे दूर रहनेके कारण वे

बढ़ती हुई परिस्थितियों को बहुत देरमें समझ पाते हैं। सामाजिक क्रान्तिद्वारा भूमिको समाजकी सम्पत्ति बनाये बिना उनका निर्वाह नहीं। उमे इन्में लाभ ही होगा, परन्तु वह इस क्रान्तिमें आगे न आकर क्रान्तिकारी मजदूरोंका सहायक ही बन सकता है। बहुत सम्भव है अपने अज्ञानके कारण वह क्रान्तिक विरोध भी करने लगे, परन्तु उसके हितको ध्यानमें रखकर सामाजिक क्रान्तिक मार्गपर उमे चलाना मजदूरश्रेणीका काम है।

निम्नश्रेणीके साधनहीन, नौकरी-पेगावाले लोगोंका इस आन्दोलनमें विशेष महत्त्व है। ये लोग यद्यपि शिक्षाकी दृष्टिसे साधनहीन श्रेणीके नेता होने लायक हैं, परन्तु अपने संस्कारोंके कारण वह अपने-आपको मजदूरश्रेणीमें ऊँचा तथा पृथक् समझते हैं। ये लोग अपने शक्तिको श्रेणीके रूपमें संगठित करनेमें न लगाकर अपनी वैयक्तिक उन्नतिद्वारा अपने-आपको ऊँचा उठानेका यत्न करते हैं। ये लोग पूँजीपतियोंद्वारा साधनहीन श्रेणी किसान, मजदूरोंके जोषणमें पूँजीपतियोंका शासन कायम रखनेमें ही अपना हित समझते हैं। क्रान्ति-विरोधी और प्रतिक्रियावादी होनेका कारण इस श्रेणीका विश्वास है कि साधनहीन श्रेणीका शासन हो जानेपर इन्हें भी मजदूर बन जाना पड़ेगा। इनके जीवन-निर्वाहका दर्जा गिर जायगा। ये लोग समझते हैं कि समाजवादमें सभी लोग गरीब हो जायेंगे, परन्तु मार्क्सवादका विचार इसमें ठीक उल्टा है। उनका कहना है कि पूँजीवादमें पूँजीपतियोंके मुनाफा कमा सकने और समाजको उपयोगके पदार्थ मिल सकनेके उद्देश्योंमें अन्तर्विरोध होनेके कारण समाजमें पैदावारके गायनोपर रुकावट न रहेगी। समाजमें इतनी पैदावार हो सकेगी कि साधारण परिश्रमसे ही सब लोगोंकी अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करनेका अवसर रहेगा और ९९ प्रतिशत जनताकी अवस्था समाजवादमें पूँजीवादकी अपेक्षा बहुत बेहतर हो जायगी। निम्न, मध्यम श्रेणीके वे भाग जो सचेत होकर इस बातको समझ जाते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्थामें अपने परिश्रमका फल उचितरूपसे न पा सकनेके कारण वे मजदूरश्रेणीमें मिलते जा रहे हैं और साधनहीन होनेके नाते उनके हित मजदूरों तथा दूसरे साधनहीनोंके ही समान हैं, वे साधनहीन श्रेणीके आन्दोलनमें आगे बढ़कर अगुआका काम करते हैं।

साधनहीन श्रेणियोंके आन्दोलनोंकी गतिके बारेमें मार्क्सने लिखा है, 'साधनहीन मजदूरश्रेणीको मजदूरी और वेतनकी गुलामीमें फँसाकर उसका भयकर जोषण हो रहा है और वह जीवनके कुछ अधिकार पा सकनेके लिये छटपटा रही है। परन्तु इस श्रेणीको इन छोटे-मोटे सुधारोंके मोहमें नहीं फँसना चाहिये। उन्हें याद रखना चाहिये कि इस आन्दोलनद्वारा वे केवल पूँजीवादके परिणामोंको ही दूर करनेका यत्न कर रहे हैं। वे पूँजीवादको जो उनकी सुखीबताका कारण है, दूर

करनेका यत्न नहीं कर रहे हैं। वे अपनी गिरती हुई अवस्थामें केवल रोक लगानेका यत्न कर रहे हैं। वे समाजकी इमारतको नये सिरेसे बनानेका यत्न न कर गिरती हुई इमारतमें टेक देनेका यत्न कर रहे हैं *...* मुनासिब कामके लिये मुनासिब मजदूरीकी जगह अब उन्हें अपना यह नारा बुलंद करना चाहिये *...* *
‘मजदूरी और पूँजीवादी व्यवस्थाका खात्मा हो।’

मार्क्सवाद इतिहासके जिस क्रम और विचारधारामें विश्वास करता है उसके अनुसार पूँजीवादी प्रणालीमें सुधार और लीपापोतीकी गुंजाइश बाकी नहीं। वह अपना उद्देश समझता है एक नवीन समाजका निर्माण। असलमें चीनके अनुभवोंसे ही मार्क्सवादियोंको मजदूरोंसे भिन्न किसान और निम्न मध्यम-श्रेणीको भी साधनहीन श्रेणीमें मिलाना पड़ा। चीनकी क्रान्तिसे पहले मार्क्सवादी कहते थे—‘सर्वहाराके ही अधिनायकत्वमें क्रान्ति होगी। उसीसे समाजवादकी स्थापना होगी। भले ही किसानोंकी संख्या बड़ी है तथापि वह उदीयमान नहीं है। मजदूरदल ही उदीयमान है।’ पर चीनमें कुपकोद्वारा ही क्रान्ति हुई। सम्भवतः आगे चलकर परिस्थितियोंके थपेड़ेसे मार्क्सवादियोंको अन्य आस्तिकोंके भी सिद्धान्त मानने पड़ जायें। कुञ्चेव तथा बुल्गानिनने भारत आकर बहुत-से भारतीय परम्पराओंका अनुगमन किया ही। यह कहा जा चुका है कि विशेषतः भारत-जैसे सांस्कृतिक देशोंमें उच्च खानदानके लोग ही परिस्थितिवश मजदूर बनकर मजदूरी करते हैं। उनमें धर्म, सभ्यता, संस्कृति तथा अपनी मर्यादाकी रक्षाका भाव रहता है। वे मजदूरी करके कुछ पैसा पाकर अपने धर्म, संस्कृति तथा माता, पिता, पुत्र, पत्नी आदि कुटुम्ब एवं कुलपरम्पराका रक्षण चाहते हैं। वे क्रमागत (वपौती) सभ्यता, संस्कृति अपनी सम्पत्ति एवं मिलिक्रियतमें अपना जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं। भारतमें मिताक्षराके अनुसार पूर्वजोंकी सम्पत्तिमें पुत्र-पौत्रोंका स्वत्व मान्य है। गर्भस्थ बालककी ओरसे भी न्यायालयमें उठायी जानेवाली स्वत्व-रक्षणकी माँग मान्य होती है। सभी लोकमान्य कह सके थे कि स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। मजदूर भी चाहता है कि मेरी कमाई मेरे पुत्र-पौत्रोंको प्राप्त हो। मैं अपनी कमाईसे दान-पुण्य कर अपना लोक-परलोक बना सकूँ। केवल फौकेमस्तीकी बात करना, होटलमें खाना तथा अस्पतालमें मरना उसे पसन्द नहीं है। किसान तथा मध्यम श्रेणीके लोग भी अपनी भूमि, सम्पत्ति, संस्कृति छोड़कर कम्युनिज्मका परतन्त्रतापूर्ण जीवन व्यतीत करना नहीं चाहते। यह उनकी समझदारी है, बेसमझी नहीं। वे कहते हैं कि यह घरफूँककी समझदारी कम्युनिश्चोंकी ही मुवारक हो। व्यक्तिगत भूमि-सम्पत्ति आदिका राष्ट्रीकरण हो जानेसे सभीको सदाके लिये परतन्त्रताके बन्धनमें जकड़ जाना पड़ेगा। अपनी संस्कृति, सभ्यता एवं धर्मके विकास तथा रक्षणके लिये कोई कुछ

भी न कर सकेगा। मुट्ठीभर तानाशाह कम्युनिस्टोंका निर्णय ही उनकी धर्म, सभ्यताका निर्णय समझा जायगा। मध्यम श्रेणीको यह समझानेकी आवश्यकता नहीं है कि मजदूर लोग गरीब नहीं रहेंगे। यह तो कोई भी समझ सकता है कि जिसका शासन रहता है वह गरीब नहीं रहता।

‘मजदूरों, गरीबोंका राज्य’, होगा यह नारा तो बहुसंख्यक गरीबोंके आकर्षणके लिये ही है। और इसीके द्वारा मनुष्यकी स्वाभाविक दुर्बलताओंका लाभ उठाकर ईर्ष्या-द्वेषकी वृत्ति उभाड़कर वि-वस तथा अपहरणमें गरीबोंको प्रवृत्त करनेके लिये चेष्टा की जाती है। फिर भी समझदार गरीब मजदूर सब समझते हैं कि छीना-झपटी तथा अपहरणादिके द्वारा किसीका स्थायी उपकार एव कल्याण नहीं हो सकता। दूसरोंको बिना बताये धर्मको बिना उल्लङ्घन किये थोड़ा भी धन वरकृत और शान्तिका कारण होता है। वेईमान, विधर्म लोगोंके बड़े ऊँचे-ऊँचे मनसूबे सुख-स्वप्नके मनोराज्य होते हैं। उनकी प्रीति कभी नहीं होती। यदि धर्मनियन्त्रित रामराज्यकी नीतिके अनुसार ईमानदारीसे धार्मिक सामाजिक सगठन हो तो सभी उत्पादनकी असुविधाएँ दूर हो सकती हैं। बेकारी, बेरोजगारी, भूखमरीकी चर्चा स्वप्नमें भी न दीखेगी। रामराज्यमें ऐसा ही था।

नहिं दारेद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अघुष न लच्छनहीना ॥

समुचित प्रयत्न बिना कम्युनिज्मरूपी जादूकी छड़ीसे समस्त समस्याओंका समाधान नहीं हो सकता। जीवनमें रोटी ही सब कुछ नहीं है; धर्म तथा ईमानका भी मानव-जीवनमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। ईमानदार व्यक्तिको मुनासिब कामके लिये मुनासिब मजदूरीकी बात तो समझमें आ सकती है, लेकिन मजदूरी भी खत्म हो, मजदूरी देनेवाला भी खत्म हो, मजदूरी ही नहीं, मजदूरी देनेवालेकी सारी सम्पत्तिके ही हम मालिक बन जायें, यह भावना दगावाज डाकूकी दानवी मनो-वृत्ति है, सद्विचार नहीं। एक खूँखार भेडिया या कुत्ता भी यह नहीं सोचता कि मुझे टुकड़ा देनेवाला खतम हो जाय, उसकी सारी रोटी मुझे मिल जाय। सब जगह इमारत तोड़कर नयी इमारत ही नहीं बनायी जाती, किंतु बिना तोड़े हुए सुधारका प्रयत्न भी कर्तव्य है। कम्युनिष्टको अपने गरीर, दिल-दिमागमें फिन्नूर है तो इसीलिये सबको खतम नहीं किया जा सकता। किंतु विविध चिकित्सा-प्रणालियोंके सहारे उनके सुधारका प्रयत्न ही उचित है। इसी तरह जो व्यवस्था अच्छी है, किंतु उसमें कुछ आगन्तुक दोषोंका ससर्ग लग गया हो, वहाँ उस दोषको ही मिटानेका प्रयत्न किया जाता है। उस व्यवस्थाको ही मिटानेका प्रयत्न तो उस ढगका है, जैसे सिरमें दर्द होनेपर दर्द दूर करनेका प्रयत्न न कर सिर काट डालनेका प्रयत्न करना। ऐसे तो सभी श्रेणियाँ राज्याधिकार पानेको छटपटा सकती हैं, छटपटाती रहेगी, पर इसमें सिवा सघर्ष तथा अशान्तिके कुछ लाभ नहीं हो सकता। वस्तुतस्तु

अधिकार तथा मोहमे न फँसकर कर्तव्य-मार्गपर प्रवृत्त होनेसे अधिकार बिना बुलाये ही पीछे-पीछे दौड़ता है ।

यहाँ यह स्पष्ट समझना चाहिये कि धर्महीन वस्तुतः शोषक अन्यायी चाहे पूँजीवाद हो, चाहे सर्वहाराके नामसे कुछ कम्युनिष्टोंका अधिनायकत्व हो, रामराज्यवादी दोनोंके ही विरोधी हैं । परंतु इसीलिये किसी व्यक्ति या समूहको मिटा देना कथमपि उचित नहीं है । और कोयलेमे कालिमाके तुल्य बुराई या शोषण व्यक्ति या समूहका अनिवार्य स्वाभाविक धर्म नहीं है, तो कोई कारण नहीं कि बुराई या शोषण व्यक्ति या समूहके बिना मिटाये न मिट सकती हो । कोयलेसे तो मनो साबुन खर्च करनेपर भी कालिमा नहीं मिटती, परंतु जिस स्वच्छ वस्त्रमे कोयलेकी कालिमा लगी होती है, वह तो साबुन आदिसे धो लिया जा सकता है । प्राचीन वस्तु सब बुरी, नवीन अच्छी; पुराना समाज निकम्मा, नया अच्छा होगा, यह कोई नियम नहीं । कई बार नयी वस्तु पुरानीसे भी बुरी होती है । रामराज्यके विपरीत नयी व्यवस्था वैसे ही भीषण होगी जैसे स्वस्थताके विपरीत प्लेग और कालरा । यदि रामराज्यकी कल्पना अन्धविश्वास है, तो सम्पूर्ण संसारमे सर्वहाराके नामपर कम्युनिष्टोंका अधिनायकत्व भी उनका दिमागी फितूर ही है । विश्वभरमे वर्गराज्य या शासनहीन समाजकी कल्पना तथा इच्छानुसार काम करना, इच्छानुसार वस्तु लेना इत्यादि कल्पना तो अन्धविश्वाससे भी अधिक अन्धतम विश्वास है । जैसे रूसोकी सामान्येच्छा, फ्रिक्टेकी आदर्श विश्व सरकार, हीगेलका आदर्श राज्य केवल दिमागी चीज ठहरती है, वैसे ही मार्क्सकी वर्गहीन स्वच्छन्द राज्यकी कल्पना भी दिमागी फितूर ही है । रामराज्यकी दृष्टिमे तो कर्मानुसार फलके सिद्धान्तमे राजमार्ग निर्विवाद है । जब व्यक्ति, समष्टि जगत, दीनदार, ईमानदार विद्वान् सत्प्रयत्नशील होगा, तब कभी भी सुख-समृद्धिका रामराज्य हो ही सकेगा ।

पूँजीवाद और कृषि

कृषिके सम्बन्धमे मार्क्सवादियोंका कहना है कि उद्योग-धंधोमे पूँजीवादी ढंगपर सगठित हो जानेसे पहले भी खेती और खेतीसे सम्बन्ध रखनेवाले कारोबार पशुपालन, फागको उत्पन्न करना आदि जारी थे और आजतक वे सब काम कहीं उसी रूपमें और कहीं परिवर्तित रूपमे चले जा रहे हैं ।

“पूँजीवादका पहला प्रभाव खेतीपर यह पड़ा कि उद्योग-धंधोके कारखाने-के रूपमे जारी होनेके कारण उनका खेतीसे कोई सम्बन्ध न रह गया । पूँजीवादी व्यवस्थाका आरम्भ होनेसे पहले प्रायः उद्योग धंधो और खेतीका काम एक साथ ही होता था । किसान या तो खेतीके काममें वचे हुए समयसे कपड़ा, जूता

और उपयोगके दूसरे सामान तैयार कर लेता था या किसानके परिवारका कोई एक आदमी परिवारभरके लिये इन पदार्थोंको तैयार कर लेता था । परतु कारखानोंमें यह पदार्थ अधिक सस्ते और अच्छे तैयार हो सकनेके कारण किसानोका इन पदार्थोंका स्वयं तैयार करना लाभदायक न रहा । उद्योग-वधे सिमटकर शहरोमें चले गये और गाँवोंमें केवल खेतीका ही काम रह गया ।

“समाजमे पूँजीवादी व्यवस्था आरम्भ हो जानेका प्रभाव खेतीपर भी काफी पडा । पूँजीवादने कला-कौशलकी उन्नति कर और मजदूरोकी माँग पैदा कर खेतीको पुरानी जागीरदारी व्यवस्थामें काफी परिवर्तन किया । पहले तो इसका प्रभाव यह हुआ कि जागीरोसे किसान लोग दौडकर औद्योगिक नगरोकी ओर आने लगे और जागीरे टूटने लगीं । परतु जब पूँजीपतियोके पास पूँजीकी बडी मात्रा इकट्ठी हो गयी, तो इसका प्रभाव यह हुआ कि पूँजीपतियोने जागीरे चनाना शुरू किया । खासकर बड़े-बड़े फार्मोंके रूपमे जागीरे, जिनमे खेती किसानोकी बडी सख्याद्वारा न होकर मशीनोंद्वारा होने लगी ।

“उद्योग-धधोकी पैदावारमे पूँजीवादी व्यवस्थाके आरम्भ हो जानेसे उद्योग-धधोके केन्द्र और खेतीकी जगह गाँवोंकी अवस्थामे बहुत बडा अन्तर आ गया । विज्ञानके विकाससे औद्योगिक क्षेत्रमें आये दिन परिवर्तन होता रहता है । मनुष्योंका स्थान मशीने ले लेती हैं, रफ्तार और चालोमे उन्नति हो जाती है, परंतु खेतीकी अवस्थापर इन सब बातोंका प्रभाव बहुत कम पडता है । समाजकी आवश्यकताको उद्योग-धधे और खेती मिलाकर पूरा करते हैं । उनमेसे एकके बहुत आगे बढ जाने और दूसरेके बहुत पीछे रह जानेसे विपमता आ जाना स्वाभाविक हो जाता है । पूँजीवादद्वारा धनके केवल एक छोटी ही श्रेणीके हाथोमे एकत्र हो जानेका प्रभाव खेती करनेवालोपर भी बहुत गहरा पडता है । कृषिके क्षेत्रमें होनेवाला शोषण न केवल अधिक पुराना है, बल्कि मजदूरकी अपेक्षा किसानके अधिक असहाय होनेके कारण वह अधिक गहरा भी है ।

“खेतीद्वारा आवश्यक पदार्थोंकी पैदावार करनेके लिये सबसे पहले जरूरत पडती है भूमिकी । पूँजीवादी देशोमे भूमि कुछ बड़े-बड़े जमींदारोंकी सम्पत्ति होती है । ये जमींदार स्वयं भूमिसे कुछ पैदावार नहीं करते । किसानोको खेती करनेके लिये भूमि देकर ये उनसे लगान वसूल लेते हैं । खेतीके लिये कुछ परिश्रम न करके ये खेतीके उपजका भाग इसलिये ले सकते हैं, क्योंकि ये लोग भूमिके मालिक समझे जाते हैं । भूमि जागीरदारोंके अधिकारमे प्रायः तीन तरह जाती है । मध्यकालमे जब सामन्तशाही और सरदारशाहीका जोर था, भूमिको राजा लोग दूसरे राजाओंसे जीत करके अपने सरदारोमे उसे बाँट देते थे । जिस सरदारकी जितनी शक्ति होती थी या जितनी सहायताकी आशा राजा किंगी सरदारसे

कर सकता था उतनी ही भूमि उस सरदारको दी जाती थी। भारतवर्षमें जागीर, जमींदारी और ताल्लुकदारी कुछ तो मुगलो, मराठो और सिखोके समयसे चली आ रही है। ये वही जमींदार और जागीरदार हैं, जिन्होंने अंग्रेजी राज्य आनेपर मौजूदा सरकारकी राजभक्ति स्वीकार कर ली। कुछ जागीरदारियाँ अंग्रेजी सरकारने भूमिका कर किसानोंसे सुविधापूर्वक वसूल करनेके लिये कायम कर दीं। सरकारने कुछ लोगोको भूमिके बड़े-बड़े भाग मालगुजारीकी एक निश्चित रकम-पर सौंप दिये और उन्हें किसानोंसे लगान वसूल करनेका अधिकार दे दिया। सरकारकी शक्तिके बलपर ये लोग किसानोंसे लगान वसूल करते हैं और मालगुजारीके बीचका अन्तर इन लोगोकी आमदनी बन जाती है।”

वस्तुतः भूमि या कृषिवाणिज्य आदि ही कौटल्यकी दृष्टिसे मुख्य अर्थ है।
मनुष्याणां वृत्तिरर्थः। मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः। (कौटिली० अर्थ० १५।१।१-२)

मनुष्योकी जीविका कृषिवाणिज्य आदि अर्थ है। मनुष्योसे युक्त भूमिका भी नाम अर्थ है। इसीमें विविध उद्योग-धंधा भी आ जाता है। यह सही है कि उद्योग-धंधो, कल-कारखानोका अधिक विकास होनेसे खेतीका काम पिछड़ गया, परंतु यह सभी समझते हैं कि पेट भरनेके लिये अन्न परमावश्यक है, जो खेतीके बिना नहीं मिल सकता। जूट और कपासके लिये भी खेती आवश्यक है, कितने कल-कारखाने खेती बिना नहीं चल सकते। चावल निकालने, तेल बनाने, कपड़ा, वोरे तथा चीनी बनानेवाले बड़े-बड़े कारखाने भी खेती बिना चौपट हो सकते हैं। अन्न गन्ना, तेलहन, जूट, कपास आदिके लिये भी खेत आवश्यक है। सिचाई-के लिये बहुत प्राचीन कालसे तालाब, कुँआँ बनवाने, नहर बनवानेकी प्रथा चालू है। अन्यान्य यन्त्रोके विकासके साथ खेत जोतनेके लिये तथा कुँओसे पानी निकालने और नये ढंगके नलकूपोकी व्यवस्था सर्वत्र चल रही है। अमेरिका, जापान, इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशोमें खेतीको उपजाऊ बनाने-के लिये नयी-नयी खाद और नये-नये दूसरे आविष्कार भी हो रहे हैं। वैज्ञानिक ढंगसे खेतोको गरमी या ठण्ड पहुँचाने, अच्छे ढंगका पौदा तथा विभिन्न फलों-को बढ़ानेमें मीठा या स्वादिष्ट बनानेका भारतीय प्राचीन शास्त्रोमें भी बहुत चर्चा है। यह अवश्य है कि अभीतक यह व्यवस्था ग्राम-ग्राममें व्यापक नहीं हो सकी है, परंतु कल-कारखाने भी तो गाँव-गाँव नहीं पहुँच पाये हैं। मकान बनाने, खेती करने, बोझ ढोने आदिका लाखो काम मजदूर भी अभीतक पुराने ढंगसे ही करते हैं। किसी भी देशमें अभीतक सर्वत्र समानता नहीं है। यह दूसरी बात है कि नमूनेके तौरपर कुछ फर्म, कुछ ग्राम सब देशोने बना रखे हैं। बाहरसे आनेवालोको वही दिखाया जाता है, जैसे श्रीबुल्लानिन आदि सभी नेताओंको भारतमें नमूनेके ग्राम, नमूनेके फर्म तथा उद्योग-धंधे दिखलाये

गये, नमूनेकी खुगहाली दिखायी गयी। ठीक वैसे ही रूस आदिमें भी नमूनेके ग्राम, नमूनेकी सुव्यवस्थाएँ ही अधिक दिखायी जाती हैं। पूँजीवादी ढंग-से कल, कारखानोंकी कम्युनिष्ट भरपेट निन्दा करते हैं, परतु उनका बहिष्कार नहीं करना चाहते। वे ही चीजें गैर कम्युनिष्टोंके हाथोंमें रहती हैं तो दूषण समझी जाती हैं, कम्युनिष्टोंके हाथ पहुँचते ही वे निर्दोष हो जाती हैं।

रामराज्यवादी तो महायन्त्रोंके निर्माणपर प्रतिबन्ध ही उचित समझता है अन्यथा उसकी सीमा तो होनी ही चाहिये। आखिर पूँजीवादी कल-कारखानोंमें कम्युनिष्ट जो-जो दोष दिखाते हैं, वह सब कम्युनिष्टोंके हाथ आनेसे कैसे दूर हो जायेंगे? कल-कारखानोंका बढ़ना, मशीनोंके रस्तारका बढ़ना, मजदूरोंकी माँग-वृद्धि, ग्रामीणोंका शहरोंकी ओर दौडना आदि तो कम्युनिष्टोंके कल-कारखानोंसे भी होगा ही। इसी तरह बड़े-बड़े फाँकोंका विस्तार कम्युनिष्ट राज्योंमें भी हो ही रहा है। वस्तुतः यह तो मार्क्सवादी भी मानता है कि कल-कारखानोंका विकास पूँजीवादकी सर्वोत्तम देन है और कम्युनिष्ट उसे और भी बढ़ाना चाहता है। क्या जिससे इतना बड़ा लाभ हुआ, इतनी बड़ी प्रगति हुई उसे समाप्त कर देना मानवता है? क्या इस विषयमें—

जेहि ते नीच बडाई पावा। सो प्रथमहि हठि ताहि नसावा ॥

—की उक्ति नहीं चरितार्थ होती? किसीके द्वारा सम्पादित अभ्युदयको हडप लेना और उसे समाप्त कर देना एक खूँखार डाकूका ही काम है। रहा यह कि धन थोड़ेसे लोगोंके हाथमें आ जाता है, तो इसका समाधान रामराज्य-प्रणालीमें सर्वोत्तम है। आयका पञ्चधा विभाजन करने, उद्योगधंधोंका विकेन्द्रीकरण करने तथा बहुत बड़े-बड़े उद्योगधंधोंके स्थानमें छोटे-छोटे उद्योगोंके प्रचलित करनेसे आर्थिक असंतुलन दूर हो सकता है, यह पीछे कहा जा चुका है। वस्तुतः अधिनायकत्ववादी, कम्युनिष्टोंकी किसानोंके प्रति कोई सहानुभूति नहीं है। जिनके हाथमें उत्पादनके साधन हों, उन्हें यह पूँजीवादी ही कहते हैं। बहुसंख्यक किसानोंको भी अनुदीयमान कहकर उदीयमान अल्पसंख्यक मजदूरोंका ही ये अधिनायकत्व चाहते हैं। अर्थात् मजदूरोंके नामपर अपना आधिपत्य चाहते हैं। परतु किसानोंकी तथा मध्य श्रेणीकी बृहत् संख्या और जनमत-विरोध देखकर ये मार्क्सवादी मतको छोड़कर किमान और मध्यश्रेणीके नामपर भी आँसू गिराने लगे हैं, किंतु सर्वहाराका अधिनायकत्व सिद्धान्त छोड़नेको अब भी प्रस्तुत नहीं हैं। फिर भी किसान तथा मध्यश्रेणीके लोग अपनी सभ्यता, संस्कृति तथा धार्मिक भावनाओं एवं व्यक्तिगत स्वाधीनताके विरुद्ध समझकर कम्युनिज्मसे घृणा ही करते हैं। वे भूमिपति या राजाको षष्ठांग या दशांग देना अनुचित

नहीं समझते । भारतके ऋषि, महर्षि कन्द-मूल-फलादिका भी कुछ अंश राजा-को देना उचित समझते थे ।

व्यक्तिगत वैध भूमि

किसीकी भूमिपर यज्ञ या पितृश्राद्ध करनेपर भी भूमिपतिको कुछ देना आवश्यक समझा जाता है, अन्यथा भूमिपति उनके फलमें हिस्सेदार होगा । जिन्हें जड़ भौतिक प्रपञ्चसे पृथक् धर्म, परलोक अदृष्टपर भी विश्वास है, वे तो धर्मबुद्धिसे ही कर देना उचित समझते हैं । उसे वे शोषण नहीं समझते । जमींदारी, जागीरदारीके सम्बन्धमें कम्प्युनिष्ट आदिकी धारणाएँ सर्वथा मिथ्या हैं । राजतन्त्रके अनुसार राजाका ज्येष्ठ पुत्र राजा होता था, शेष पुत्रोंको गुजारे-के रूपमें जागीरे मिलती थी । इस क्रममें बहुत-सी जमींदारियाँ बनी, संग्राम जीतनेसे पुरस्कारके रूपमें कुछ मन्दिरो, आचार्यों, विद्वानोंको दानके रूपमें जागीरे मिली । बहुतोने गाढ़े पसीनेकी कमाईसे खरीदकर जमींदारियाँ बनायी हैं । यह सब भूमि भारतीय शास्त्रोंके अनुसार वैध हैं । बहुत-से कर देनेवाले राजा भी जमींदार, ताल्लुकेदार हो गये हैं ।

शुक्रनीतिका मत है कि 'वैध' स्वामित्व, दातृत्व और धनिकत्व तपस्याका ही फल है । पर-पीड़न एवं शोषणसे होनेवाली धनिकता आदि तो नवीन पाप है, वह तपका फल नहीं । अर्थिता, दासता, दरिद्रता आदि पापका फल है । गुरुजनोके प्रति दासता और त्यागमूलक दरिद्रता पापका फल नहीं, क्योंकि यह एक नयी तपस्या है—

स्वामित्वं चैव दातृत्वं धनिकत्वं तपःफलम् ।

एनसः फलमर्थित्वं दास्यत्वं च दरिद्रता ॥

(शुक्रनीतिसार १ । १२१)

शुक्रने लिखा है कि प्रतिवर्ष जिसे एक लक्ष मुद्रासे लेकर तीन लक्षतक बिना प्रजापीडनके वैध ढंगसे आमदनी होती है, वह सामन्त कहलाता है—

लक्षकर्षमितो भागो राज्यतो यस्य जायते ।

वत्सरे वत्सरे नित्यं प्रजानां त्वविपीडनैः ॥

सामन्तः स नृपः प्रोक्तो यावल्लक्षत्रयावधि ॥

(शुक्रनीतिसार १ । १८२-१८३)

उससे ऊपर दस लक्ष मुद्रातक जिसकी आय हो वह माण्डलिक राजा है, बीस लाखतक आयवाला राजा और पचास लाख आयवाला महाराजा होता है । करोड़ लाभवाला स्वराट् और दस करोड़वाला सम्राट् कहलाता है । यह सम्राट् राजसूययाजी राजराजसे भिन्न है । पचास करोड़वाला विराट् एवं सप्तद्वीपा मेदिनी जिसके नियन्त्रणमें हो वह सार्वभौम कहलाता है—

तदूर्ध्वं दशलक्षान्तो नृपो माण्डलिकः स्मृतः ।
 तदूर्ध्वं तु भवेद् राजा यावद्विंशतिलक्षकम् ॥
 पञ्चाशलक्षपर्यन्तो महाराजः प्रकीर्तितः ।
 ततस्तु कोटिपर्यन्तः स्वराट् सम्राट् ततः परम् ॥
 दशकोटिमितो यावद् विराट् तु तदनन्तरम् ।
 पञ्चाशत्कोटिपर्यन्तः सार्वभौमस्ततः परम् ॥
 सप्तद्वीपा च पृथिवी यस्य वश्या भवेत् सदा ।

(शुक्रनीतिसार १ । १८३-१८६)

इनका उपर्युक्त सभी लाभ प्रजाके रक्षण-पोषणके ही काम आता है । जैसे ग्रीष्ममें अशुमाली सूर्य भूमिसे जलका शोषण करता है, अपने यहाँ जमा रखनेके लिये नहीं बल्कि वर्षामें मेघद्वारा वर्षणके लिये ही, ठीक वैसे ही प्रजापोषणार्थ ही राजाद्वारा कर-संग्रह है । शुक्रने तो सार्वभौम राजाको भी प्रजाका दास कहा है—

स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः ।

ब्रह्मणः स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा ॥

(शुक्र नी० १ । १८७)

अर्थात् प्रजाके लाभसे पट्टाश या अष्टमाश यथायोग्य राजाको दिलाकर ब्रह्माने उसे प्रजाके दासत्वमें नियुक्त किया है । सर्वदा प्रजाका सेवन-पालन करना ही राजाका परम कर्तव्य है । अरक्षिता राजा अतपस्वी ब्राह्मण अप्रदाता धनवान्-को देवता नष्ट करके नीचे गिरा देते हैं ।

अपनी आयुको नियन्त्रित करके राजा अपना व्यवहार शास्त्रानुसार ऐसा बनाये जिससे इहलोक-परलोकमें सुख मिले । यौवन, जीवन, लक्ष्मी, छाया तथा राज्य—ये छः वस्तुएँ अत्यन्त चञ्चल होती हैं । अतः इनसे प्रमत्त न होकर सदा धर्मनिष्ठ होना आवश्यक है । आन्वीक्षिकी वेदान्त-विचारसे आत्मसाक्षात्कार करके हर्ष-ओकसे मुक्त होकर त्रयीवेदादि शास्त्रोंके अनुसार आचरण करता हुआ राजा इहलोक-परलोकके सुखका भागी होता है । अनृशसता प्राणीका परम धर्म है । अतः राजाको चाहिये कि अनृशसता, मृदुता तथा सरलतासे दीन जनोका पालन करे । राजाको चाहिये कि वह सदा ही आन्वीक्षिकी वेदादि शास्त्र तथा वार्ता एव दण्डनीतिका अभ्यास करता रहे । कुसीद, कृपि, गोरक्षा, वाणिज्य ये वार्ता शब्दसे व्यवहृत होते हैं । सबके प्रति दया, मैत्री और दान एव मधुर वाणी तीनों लोकमें सर्वोत्कृष्ट आकर्षक गुण हैं । बलवान्, बुद्धिमान्, शूर, सावधान एव पराक्रमी राजा वित्तपूर्ण महीमण्डलका भोक्ता होता है, और वही भूप वास्तवमें भूपति होता है ।

कौटल्यने धर्मको ही सुखका मूल माना है और धर्मका मूल अर्थको माना

१ सुखस्य मूल धर्म । धर्मस्य मूलमर्थः । अर्थस्य मूलं राज्यम् । राज्यमूलम् इन्द्रियजयः ।

है। एतावता अर्थका मुख्य फल कामोपभोग नहीं, किंतु धर्म ही अर्थका फल है—
नार्थस्य धर्मेकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।

(श्रीमद्भा० १ । २ । ९)

अर्थका मूल राज्य है, परंतु उसका भी मूल इन्द्रिय-जय ही है। उसका भी मूल विनय, विनयके लिये वृद्ध-सेवा और उसके लिये भी ज्ञान-सम्पादन आवश्यक समझा जाता है। प्रत्येक कार्यके लिये उन्होंने समकक्ष विचारकका ही सम्मान आवश्यक समझा है। निर्मत्सर होकर ही विचार करना आवश्यक बताया है।

हर कार्यमें लौकिक प्रयत्नके अतिरिक्त दैवका भी हाथ रहता है, अतः दैवकी अनुकूलता बिना सब प्रयत्न व्यर्थ होते हैं। दैव बिना सुसाध्य कार्य भी दुःसाध्य होते हैं। देवताराधनसे दैवप्रतिकूलता दूर की जाती है। सत्पुरुषोका मत अतिक्रमणीय नहीं होता। सुवृत्तता शत्रुको भी जीत लेती है, किसीका अपमान नहीं करना चाहिये। फलद्वारा प्रजानुराग सूचित होता है*। सारा ऐश्वर्य प्रज्ञाका ही फल है, धैर्यहीन प्राणी महान् ऐश्वर्यको प्राप्त करके भी नष्ट हो जाता है। दया धर्मकी जन्मभूमि है, अधर्मबुद्धि आत्मनाशकी सूचना है। भले ही वस्तु सब अनित्य ही हो तथापि अग्नेको अमर ही मानकर अर्थार्जन करना चाहिये†। पर-द्रव्यमें राग और उसका अपहरण आत्मनाशका मूल है। व्यवहारमें पक्षपात न करना चाहिये। परायत्त वस्तुमें उत्कण्ठा न करनी चाहिये। विश्वासघातीका कोई प्रायश्चित्त नहीं। सभी अनित्य हैं।

भूमि-कर

निष्कर्ष यह है कि धर्मनियन्त्रित राज्यतन्त्र एक शुद्ध शास्त्रीय सुव्यवस्था है। उसी व्यवस्थामें रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र, दिलीप, शिवि, रन्तिदेव आदि लोकप्रिय

तन्मूलं विनय । तन्मूल वृद्धोपसेवा । तन्मूल विज्ञानम् । तस्माद् विज्ञानेनात्मानं सम्पादयेत् । धर्मेण धार्यते लोकः । मानी प्रतिमानिनामात्मनि द्वितीयं मन्त्रमुत्पादयेत् । मन्त्रकाले मत्सरं न कुर्वीत । (चाणक्यसूत्र १ । ३१)

* दैवः विनातिप्रयत्नमपि करोति यत्तद्विफलम् । दैवहीनं कार्यं सुसाध्यमपि दुस्साध्यं भवति । दैवकर्मणा तत्समाधानम् । सतां मतं नातिक्रमेत् । शत्रुं जयति सुवृत्तता । कदापि पुरुषं नावमन्येत । अनुरागस्तु फलेन सूच्यते ।

† प्रज्ञाफलमैश्वर्यम् । महदैश्वर्यं प्राप्य अधृतिमान् विनश्यति । दया धर्मस्य जन्मभूमिः । आत्मनाशं सूचयति अधर्मबुद्धिः । अमरवदर्थं जातमर्जयेत् । परविभवेष्वादरोऽपि नाशमूलम् । परद्रव्यापहरणमात्मद्रव्यनाशहेतुः । अधनस्य बुद्धिर्न विद्यते । यथाकुलं तथाचारः । व्यवहारे पक्षपातो न कार्यः । परायत्तेषु उत्कण्ठा न कुर्यात् । विश्वासघातिनो न निष्कृतिः । सर्वमनित्यं भवति ।

आदर्श राजर्षि हुए हैं । वे भी योग्य मन्त्रियो, निःस्पृह सभ्योंकी सभामें कार्याकार्यका विचार करके प्रजाहितार्थ स्वसर्वस्वकी बाजी लगानेके लिये हर समय प्रस्तुत रहते थे । पर लोलुपलोग उनकी शासन-सभाओंके सभ्य भी नहीं हो सकते थे । व्यवहार-वेत्ता, प्राज्ञ, वृत्तशील, गुणान्वित, शत्रु-मित्रमें समान बुद्धि रखनेवाले, निरालस्य, धर्मज्ञ एवं सत्यवादी, काम, क्रोध, लोभको जीतनेवाले, प्रियवद, वृद्ध सभ्य ही उन शासन-सभाओंके सभ्य होते थे और वे विभिन्न जातिके होते थे—

व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तशीलगुणान्विताः ।

रिपौ मित्रे समा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ॥

निरालसा जितक्रोधकामलोभाः प्रियंवदाः ।

राज्ञा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु ॥

(शुक्नी० ४ । ५३९-४०)

उन्हें वगैरें तथा जातियोंका मिटाना अभीष्ट न था; किंतु योग्य एव एक दूसरेका पूरक—पोषक बनानेका ही प्रयत्न होता था । वेदमन्त्रके आधारपर राष्ट्रमें ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण, शूर, धनुर्धर, महारथी एवं लक्ष्यवेधी क्षत्रिय, दोग्ध्री गौ तथा भारवहन-समर्थ बलवान् वृषभ, शीघ्रगामी अश्वोंकी कामना की जाती थी । प्रतिगृहमे कुलपालिनी पतिव्रता स्त्री, विजयी प्रियदर्शी सभ्य युवक, यथेष्ट वृष्टि, फलयुक्त ओषधियो तथा योगक्षेमकी कामना की जाती थी—

आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामारण्ड्रे राजन्यः शूर इषव्यो अतिव्याधी महारथो जायताम् । दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्ति पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्टाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् । निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो न कल्पताम् । (शु० यजु० २२।२२)

राज्य-कर न केवल भूमिपर किंतु किसी प्रकारके आयपर भी लगानेका नियम अति प्राचीन है । क्रय विक्रयके करको शुल्क नामसे कहा जाता है—

विक्रेतृक्रेतृतो राजभागः शुल्कमुदाहृतम् ।

शुल्कदेशा हट्टमार्गाः करसीमाः प्रकीर्तिताः ॥

वस्तुजातस्यैकवारं शुल्कं ग्राह्यं प्रयत्नतः ।

क्वचिन्नैवासकृच्छुल्कं राष्ट्रे ग्राह्यं नृपैश्छलात् ॥

द्वात्रिंशंशं हरेद्राजा विक्रेतुः क्रेतुरेव वा ।

विंशंशं वा षोडशंशं शुल्कं मूलाविरोधकम् ॥

न हीनसममूल्याद्धि शुल्कं विक्रेतृतो हरेत् ।

लाभं दृष्ट्वा हरेच्छुल्कं क्रेतृतश्च सदा नृपः ॥

(शुक्नीति, अध्याय ४ । २१८-२२१)

वेचने-खरीदनेवालोंद्वारा देय राजभाग ही चुंगी या शुल्क है । बाजारों या देशोंकी सीमापर चुंगीघर होना चाहिये । एक वस्तुकी एक ही बार

चुंगी या कर लेना उचित है। छल-छद्मसे अनेक बार चुंगी लेना अनुचित है। विक्रेता या क्रेतासे वस्तुका ३२ वॉ भाग शुल्करूपमें ग्रहण करे। अथवा लाभांशसे बीसवॉ या सोलहवॉ भाग ले। घाटावालेसे कुछ भी कर नहीं लेना चाहिये। खेतीके करोंके सम्बन्धमें भी शुक्रने लिखा है कि राजभाग एवं व्यय आदिकी अपेक्षा कम-से-कम दुगुना लाभ खेतीसे होना चाहिये। अन्यथा खेती दुःख ही है—

राजभागादिव्ययतो द्विगुणं लभ्यते यतः ।

कृपिकृत्यं तु तच्छ्रेष्ठं तन्न्यूनं दुःखदं नृणाम् ॥ (शुक० ४।२२४)

मालाकार अथवा मधुमक्षिका जैसे पुष्पस्तवक आदिको नुकसान पहुँचाये बिना सार-सग्रह करके पुष्पमाला और मधु निर्मित कर लेती है, वैसे ही प्रजाको नुकसान पहुँचाये बिना राजाको कर ग्रहण करना चाहिये। अङ्गारकार जैसे वृक्षोको काटकर कोयला बनाता है, उस प्रकार प्रजाको नष्ट करके शुल्क-संग्रह नहीं करना चाहिये—

मालाकार इव ग्राह्यो भागो नाङ्गारकारवत् ।

बहुमध्याल्पफलतः तारतम्यं विमृश्य च ॥ (शुकनी० ४।२२३)

तड़ाग, वापी, कूपसे तथा मेघजलसे, नदीजलसे जहाँ खेतकी सिंचाई हो, वहाँ-वहाँ लाभका तृतीय-चतुर्थ तथा आधा भाग क्रमसे लेना चाहिये। ऊपर या पत्थरवानी भूमिसे षष्ठांश ग्रहण करना चाहिये। राजाको ज़िम किसानसे १०० मुद्रा मिलती हो, उसमेंसे किसानके लिये राजा बीसवॉ भाग छोड़ दे—

तडागवापिकाकूपमातृकादेवमातृकात् । देशान्नदीमातृकान्तु राजानुक्रमतः सदा ॥
तृतीयांशं चतुर्थांशमर्धांशं तु हरेत्फलम् । षष्ठांशसूपरात्तद्वत् पाषाणादिसमाकुलात् ॥
राजभागस्तु रजतशतकर्षमितो यतः । कर्षकाल्लभ्यते तस्मै विंशांशमुत्सृजेन्नृपः ॥

(शुक० ४।२२५—२२७)

गौतमने लाभका दसवॉ, आठवॉ या छठा भाग राज्यांश माना है। खेतोकी भिन्नता-से यह भेद मान्य है। पशु एवं हिरण्यकी वृद्धिमें पचासवॉ भाग राजाको मिलना चाहिये—

राज्ञे बलिदानं कर्षकैर्दशममष्टमं षष्ठं वा । पशुहिरण्ययोरप्येके पञ्चाशन्नागम् ॥

(गौ० सू० १०।१४-१५)

‘ये पशुभिर्जीवन्ति ये वा हिरण्यप्रयोक्तारो वार्धुषिकाः तैः पञ्चाशत्तमो भागो राज्ञे देयः इत्येके । तद्यथा—यस्य पञ्चाशत्पशवः सन्ति स प्रतिसंवत्सरमेकं पशुं राज्ञे दद्यात् । यस्य वा पञ्चाशन्निष्कैर्वृद्धिप्रयोगः स प्रतिवत्सरमेकैकं निष्कं राज्ञे बलिरूपेण दद्यादिति ।’

(गौ० ध० सू० मस्करी भाष्य)

विक्रय-लाभमें बीसवॉ भाग राजाका है—

‘विंशतिभागः शुल्कः पण्ये’

(गौ० १०।१६)

‘यद् वणिग्भिर्विक्रियते तत्पण्यम्, तत्र विंशतिसमो भागो राज्ञे देयस्तस्यैव दीयमानस्य शुल्क इति संज्ञा । शुल्कप्रदेशाः प्रतिभाव्यं वणिकशुल्कमित्यादयः’ (मस्क० भा०)

मूल, फल, फूल, औषध, मधु, मांस, तृण, ईधनोके लानेका छठा भाग राजाको देना चाहिये—

‘मूलफलपुष्पाषधमधुमांसतृणेन्धनानां षष्ठः’

(गौ० १०।१७)

‘मूलं हरिद्रादि, फलम् आम्रादि, पुष्पम् उत्पलादि, औषधं दित्वादि, शिष्टानि प्रसिद्धानि प्लुतेषु पाण्येषु पष्ठो भागो राज्ञे देयः विक्रेत्रा ।’ (मस्क० भा०)

करग्रहणमें तत्परता आवश्यक है—‘तेषु तु नित्ययुक्तः स्यात् ।’

(गौ० सू० १० । १८)

‘वल्यादानेषु सर्वदा सत्यपि कार्यव्यग्रत्वे तत्परो भवेत् । तु शब्दो विशेष-वाची । धर्मादनपेतेष्वन्येष्वपि द्रव्यार्जनोपायेषु तत्परो भवेत् । अत्र विशेषत इति ।’

(नस्क० भा०)

शिल्पीयोग महीनेमें एक दिन काम कर दें, वही उनका कर है—‘शिल्पिनो मामि मासि एकैकं कर्म कुर्युः ।’ (१० । २०)

‘शिल्पिनो लोहकारादयो मामि मासि एकैकम् अह आत्मानुरूपं राज्ञः कर्म कुर्युः । तदेव तेषां शुल्कम् । नान्यत् किञ्चित् ।’ (नस्क० भा०)

नट-नर्तकादि भी महीनेमें एक दिन राज्यकर्म करें-अन्यथा महीनेमें एक रजत मुद्रा दें—‘पुतेनात्मोपजीविनो व्याख्याता ।’ (गौ० सू० १० । २१)

‘आत्मोपजीविनो नटनर्तकादयः । तेष्वेकमह राज्ञः कर्म कुर्युरिति उच्यते । शिल्पिनो मासि मासि कर्मकं प्रोक्तम् । तदभावे कार्षापणं वा दद्यात् ।’ (म० भा०)

सोना-चौदीमें उपर्युक्त क्रम ही समझना चाहिये । ताम्रमें तृतीयाद्य छोड़े । लोह, वग एव सीसेकी उत्पत्तिमें चतुर्थांश एव छटा भाग छोड़ना चाहिये—

स्वर्णाद्य च रजतात्तृतीयांशं च ताम्रतः ।

चतुर्थांशं तु पष्ठांशं लोहाद् वंगाच्च सीसकात् ॥

(शु० नी० ४ । २२८)

नाविक, कुम्भकार, बढई, नाई, व्याध आदि महीनेमें एक दिन काम करें, अथवा उन्हें भी एक रजत मुद्रा देना चाहिये—‘नौचक्रीवन्तश्च’ (गौ० १० । २२)

‘चक्रं शकटम्, नौचक्राभ्यां य उपजीवन्ति बहुवचनाद् वर्धकिनापितादयो आद्या । चकाराद् वन्यमृगवानकादयः ।’ (मस्क० भा०)

परतु काम करनेवालोंको भत्ता राज्यसे मिलना चाहिये—‘भक्तं तेभ्यो दद्यात्’

(गौ० १० । २३)

तेभ्यः शिल्पिप्रभृतिभ्यो राजा भक्तं दिवा भोजनं दद्यात् । (म० भा०)

राजाको अरिपङ्चवर्गको जीतकर इन्द्रियजय करके परस्त्री, परद्रव्य एवं हिंसाका वर्जन करना चाहिये तथा अर्थके अविरोधेन काम-सेवन करना चाहिये । जहाँ सस्था या धर्मशास्त्रसे शास्त्र तथा व्यवहारका विरोध हो वहाँ धर्मशास्त्रके अनुसार अर्थशास्त्रका निर्णय करना चाहिये—

तस्मादरिषड्वर्गत्यागेनेन्द्रियजयं कुर्वीत । एवं वश्येन्द्रियः परस्त्रीद्रव्य-
हिंसाश्च वर्जयेत् । धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत ।

संस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम् ।

यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत् ॥

(कौट० अर्थ० १ । ७ । १, ३, ६; ३ । १५६)

इसी प्रकार रत्न, लवणकी उत्पत्तिपर खानका खर्च काटकर आधा छोड़ना चाहिये । कर्पकको अधिक लाभ हो तो उसके अनुसार यथायोग्य तृतीय, पञ्चम, सप्तम या दशम भाग ग्रहण करना चाहिये । बकरी, भेड़, भैस, घोड़ाकी वृद्धिमें अष्टमांश ग्रहण करना चाहिये । भैस, बकरीके दूधका सोलहवाँ भाग ग्रहण करना चाहिये । गाय आदिका दूध, अन्न, फल जो कुटुम्बके खाने-पीने लायक ही हो, उससे कर नहीं लेना चाहिये । उपभोगके लिये खरीदे गये अन्न-वस्त्रोंपर भी कर नहीं होना चाहिये—‘गवादिदुग्धान्नफलात् कुटुम्बार्थाद्धरेन्नृपः । उपभोगो धान्यवस्त्रक्रेतुतो नाहरेत्फलम् ॥’ जहाँ राजतन्त्र शासन नहीं है वहाँ भी संसद्, कार्यपालिका, राष्ट्रपति या प्रधान मन्त्रियोंको भी धर्मनियन्त्रित होकर ही शास्त्रों तथा परम्पराके अनुसार कार्य करना चाहिये । प्रजा-पोषणके अनुकूल कार्य करना चाहिये । शास्त्रोंकी दृष्टिमें भौतिक भावनाओंद्वारा युगप्रवर्तन नहीं होता, किंतु धर्मात्मा, पराक्रमी, बुद्धिमान् राजासे ही युगप्रवर्तन होता है । राजा ही कालका कारण होता है, सत् तथा असत् गुणोंका भी प्रवर्तक राजा होता है । कठोरता एवं दण्डके द्वारा राजा ही प्रजाको धर्ममें प्रतिष्ठित करता है । अधर्मके कारण केन आदि राजा नष्ट हो गये । धर्मसे पृथुकी वृद्धि हुई, अतः धर्मको पुरस्कृत करके ही राजाको काम करना चाहिये—

कालस्य कारणं राजा सदसत्कर्मणस्त्वतः ।

स्वकौर्योद्यतदण्डाभ्यां स्वधर्मे स्थापयेत्प्रजाः ॥

वेनो नष्टस्वधर्मेण पृथुर्वृद्धस्तु धर्मतः ।

तस्माद्धर्मं पुरस्कृत्य यतेतार्थाय पार्थिवः ॥

(शुक्र० १ । ६०, ६९)

राजाका कर्तव्य है कि दण्ड, विष्टि करके बोझसे सक्कटग्रस्त कृषिकी रक्षा करे । डाकू, सर्प तथा दूसरी विषैली वस्तुओं तथा व्याधियोंसे पशुओंको बचाये । अपने प्रिय कर्मचारियों, सीमारक्षकों, डाकू तथा बनैले पशुओंसे क्षीयमाण व्यापारियोंकी रक्षा करे । कौ० अर्थ० (२ । १ । ४५) मात्स्यन्यायसे पीड़ित प्रजाने सर्वप्रथम वैवस्वत मनुको राजा बनाया तथा धान्यका छठा एवं पुण्यका बीसवाँ भाग उस राजाको देना निश्चित किया था ।

मार्क्सवादी कहते हैं कि ‘भूमिपर वसूल किये जानेवाले करद्वारा ही भूमिके मालिककी आमदनी होती है और इसी करद्वारा खेतीके लिये मेहनत करनेवाले किसानका शोषण होता है । इसलिये करके अनेक रूपों और भेदोंको समझ लेना जरूरी है ।

“खेतीकी सम्पूर्ण भूमिपर कर होता है। यह कर या लगान कहीं अधिक होता है कहीं कम। यदि भूमिके सम्यक् करको ‘आवश्यक कर’ (एक्सेल्यूट रेन्ट) मान लिया जाय तो अधिक उपजाऊ या ‘शहरके समीपकी भूमिपर जो अधिक कर वसूल किया जाता है, उसे ‘विशेष कर’ (डिफरेंसल रेन्ट) कहा जायगा। भूमिके प्रत्येक टुकड़ेपर कुछ-न-कुछ कर होनेका कारण यह है कि पैदावारके औद्योगिक मावनोंको जिस प्रकार शहरमें दूर आवश्यकतानुसार बढ़ाया जा सकता है, नजदीक इस प्रकार नहीं बढ़ाया जा सकता। उन उपजाऊ या शहरमें दूरकी भूमिको छोड़कर उपजाऊ और शहरकी भूमि आवश्यकतानुसार तैयार नहीं की जा सकती। इसलिए भूमिके किसी भी टुकड़ेको जीतनेकी आवश्यकता होनेपर उसपर कर देना ही पड़ेगा। जो भूमि अधिक उपजाऊ होगी या शहरके अधिक समीप होगी, जहाँ भिन्नाई आसानीसे हो सके, ऐसी भूमिपर विशेष लगान या कर वसूल किया जाता है। इस प्रकारकी अच्छी जमीनपर जो विशेष कर या लगान वसूल किया जाता है, वह भूमिके मालिकके जेबमें ही चला जाता है। परन्तु भूमिको अच्छी बनाने या भूमिके शहर या जलके समीप होनेसे भूमिके मालिकको कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ता।

“सभी प्रेजीदादी देशोंमें भूमिके दो मालिक होने हैं। प्रथम तो सरकार, जो खेतीके काम आनेवाले भूमिके प्रत्येक टुकड़ेपर कर या मालगुजारी लगाती है। दूसरा मालिक होता है भूमिका मालिक नमस्त्रा जानेवाला व्यक्ति, जो भूमिका कर सरकारको अदा कर उसे क्रियानाम जुतवाता है और अपना लगान किसानमें वसूल करता है। सरकारी कर और जमींदारी लगान अदा किये जाते हैं खेतीकी उपजसे, परन्तु खेतीकी उपजमें न तो जमींदार न सरकार ही कुछ परिश्रम करती है। परिश्रम सब करना है क्रियान और क्रियानके परिश्रमसे ही गयी पैदावारमें जमींदार और सरकारका भाग निकाला जाता है। यदि क्रियानके परिश्रमको बाँटकर देखा जाय तो उसके दो भाग हो जाते हैं। एक भाग वह जिसे वह स्वयं खर्च करना है ताकि उसके शरीरमें परिश्रमकी शक्ति कायम रह सके और दूसरा भाग वह, जिसे भूमिका मालिक क्रियानमें ले लेता है और आगे सरकारको कर देता है। क्रियान अपनी सम्पूर्ण उपज अपने लिये पैदा करता है। यदि क्रियान जितना अपने और अपने परिवारके लिये खर्च करना है उतना ही पैदा करे तो उसे बहुत कम स्थानपर खेती करनी होगी और बहुत कम परिश्रम करना होगा। वर्तमान व्यवस्थामें क्रियानको जितना वह खर्च करता है, उसमें बहुत अधिक पैदा करना पड़ता है। मजदूरकी अवस्थानके साथ तुलना करनेपर हम कहेंगे कि क्रियानको काफ़ी मात्रामें आतिरिक्त या फालतू पैदावार करना पड़ती है, जो जमींदार और सरकारके व्यवहारमें आती है।”

पूर्वोक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि शासनसार राजा, करद राजा, गुजारेदार, इमानदार या दानदार आदि भूमिके अधिकारी कई ढगके होते हैं। करद राजा तथा सामन्त आदि प्रजासे कर लेते हैं और स्वयं भी राजाको कर देते हैं। यही लगान मालगुजारी आदि रूपसे प्रसिद्ध होता है। जैसे मनुष्य अपनी कमाईका हकदार होता है, वैसे ही पिता-पितामह आदिकी कमाईका भी हकदार होता है। पिता-पितामह आदिकी सम्पत्ति पुत्रादिको दायके रूपमें प्राप्त होती है—‘दीयते पित्रा पुत्रेभ्यः स्वस्य यद्धनं तदायम्’—पिताद्वारा अपने पुत्रको जो धन दिया जाता है वह दाय कहलाता है। उसमें ज्येष्ठ-कनिष्ठ आदि भेदसे पुत्रको भिन्न-भिन्नरूपसे दाय मिलता है। विद्या एवं कर्ममें सलग्नको अन्य पुत्रोंसे अधिक मिलना चाहिये—‘विद्याकर्मरतस्तेषामधिकं लब्धुमर्हति’ (बृह० सू० गा० २६। १९)। यह भी एक पक्ष है कि ज्येष्ठ ही पिताके धनका मालिक हो, शेष भ्राता पितृतुल्य मानकर उसीका अनुसरण करे—

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः ।

शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितर तथा ॥

(मनु० ९। १०५)

कम्युनिष्टोंके सम्पूर्ण तर्कोंका एकमात्र आधार है—बाप दादाकी सम्पत्तिमें पुत्रादिकोंका वपौती अधिकार न मानना। परंतु यह तर्कों, शास्त्रों तथा व्यवहार एवं परम्पराओंसे सर्वथा विरुद्ध है। व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति, खानों-कारखानोंको न माननेसे सब कामोंका अधिकारी काम करनेवाला ही हो सकता है। परंतु दूसरोंके खेतमें खेती करने, दूसरोंकी पूँजीसे वस्तु बनाने, दूसरोंके वृक्षोंसे फल तोड़ने वा सग्रह करनेपर भी फललाभका भागी केवल काम करनेवाला नहीं हो सकता। उसे परिश्रमका फल कुछ वेतन अवश्य मिल सकता है। हाँ, यदि वह खेतको खरीदकर या पूँजी उधार लेकर वस्तु बनाता है, वृक्षोंको खरीदकर या ठेकापर ले लेता है, तब अवश्य वह लाभका भागी हो सकता है।

पिछले प्रकरणोंमें भूमि-सम्पत्ति आदिपर व्यक्तिगत वैध अधिकार दिखलाया जा चुका है। मजदूरोंके श्रममें जैसे दो भेद निरर्थक एवं निराधार हैं, वैसे ही किसानोंकी भी दो प्रकार श्रमकल्पना निरर्थक एवं निराधार है। खेती करके अन्न आदि पैदा करनेका परिश्रम अभिन्न ही है। वह उसमेंसे ही कुछ अंगसे कर चुकाता है, कुछ अंगसे अपनी जीविका चलाता है। हाँ, कर अधिक होनेकी शिकायत हो सकती है। उसके औचित्यका निर्णय निष्पक्ष सरकार या न्यायालय अथवा पञ्चायतद्वारा किया जाना उचित हो सकता है। पैदावार किसानसे छीनी नहीं जाती, किंतु भूमि-मालिक और किसानके समझौतेसे स्वयं किमान ही करके रूपमें देता है। किसानने कर देना

स्वीकार करके ही खेती करना आरम्भ किया है। जैसे कोई कम्युनिष्ट राज्य ही किसी राज्यसे कोई भूमि या कारखाना अमुक वस्तु देनेके शर्तपर लिया हो तो वह अपनी शर्तके अनुसार देगा ही, उस देनेको लेनेवालेद्वारा छिनना नहीं कहा जायगा। इसी तरह यह भी समझ लेना चाहिये कि खेतीमें उत्पन्न होनेवाली वस्तु भी केवल श्रमका फल नहीं है, किंतु श्रमविशिष्ट भूमिका ही फल है। अतः कुछ फल श्रमवालेको मिलना चाहिये और कुछ भूमिपतिको भी अवश्य मिलना चाहिये। यदि किसानोको व्यक्तिगत खेती करनेकी छूट होगी, तब तो कम्युनिष्ट राज्योंको भी राज्य-व्यवस्थाके लिये भूमिसे कुछ-न-कुछ कर लेना ही पड़ेगा। यदि वहाँ व्यक्तिगत खेती न होकर सरकारी ही खेती होगी, तब भी राज्यव्यवस्थाके लिये कुछ-न-कुछ अग निकालना ही पड़ेगा। परिश्रमवालोंको ही सब फल दे देना सम्भव नहीं, क्योंकि फलमें परिश्रमकी अपेक्षा भूमि और बीजका प्रमुख हाथ है। परिश्रम और भूमिकी अपेक्षा भी भूमिका अधिक महत्त्व है। एक एक बीजके बढ़ले सैकड़ों-सैकड़ों बीज भूमिके अंशसे बनते हैं। कहीं-कहीं जल और खाद आदिका भी दाम देना पड़ता है, क्योंकि उनका भी उत्पादनमें हाथ होता है। इन वस्तुस्थितियोंको समझकर ही किसान सहर्ष कर देता है और वह छीना-झपटीके कम्युनिष्ट आन्दोलनसे पिण्ड छुड़ानेके लिये भी प्रयत्न करता है।

अपने देश या विदेशके लिये कच्चा माल दाम लेकर ही किसान देता है। दामके औचित्य-अनौचित्यका निष्पक्षसे विचार करनेके लिये तो सदा ही द्वार खुला रहना चाहिये। भूमिपर कर घटने-बढ़नेकी व्यवस्था लाभपर ही निर्भर करती है। यदि कल-कारखानोके लिये किसी वस्तुकी अधिक माँग हुई तो उस वस्तुका दाम भी अधिक बढ़ेगा। तब जैसे श्रमका दाम बढ़ जायगा वैसे ही भूमिका भी दाम बढ़ जाना उचित ही है। हाँ, जहाँ श्रमकी अधिकतासे ही उत्पादन बढ़ा है, जैसे उसी पड़ोसकी, उसी ढगकी भूमिसे परिश्रम कम होनेसे कम फल हुआ, परिश्रम अधिक होनेसे प्रकृत भूमिमें उत्पादन अधिक हुआ है, तो उस अधिक फलको परिश्रमका ही फल मानना चाहिये।

यदि सिचाईका प्रबन्ध भूमिके मालिकने किया है तो अवश्य ही उसके अनुपातसे भूमिका कर बढ़ना उचित है। यदि किसानने ही कूप आदि बनाये हैं तो उसका फल किसानको ही प्रधानरूपसे मिलना चाहिये। सरकारी विभागमें या किसी अन्य ठेकेदारने अगर नहर आदिका प्रबन्ध किया है तो वह सिचाई, कर आदि भी लेगा। फिर भी कर देनेवालेको ही उसका फल भोगना उचित है। धर्मनियन्त्रित शासनका यह कर्तव्य है कि भूमिपतिकी आयेके पाँचवे अंशसे, जो कि अर्थके ही लिये है, तथा अन्य सहायताओंसे

खेतीके सुधारकी व्यवस्था करे । अज्ञात, कर्तव्यविमुख लोगोकी अधिक सम्पत्तिका अपहरण कर तथा कर्ज लेकर भी खेती-सुधारकी व्यवस्था हो सकती है । बढ़नेवाली आमदनीके आधारपर कर्ज चुकाया जा सकता है ।

कृषकका अतिरिक्त श्रम और भूमि-कर

मार्क्सवादी कहते हैं—“किसानसे छीन ली जानेवाली यह अतिरिक्त पैदावार किसानको इस योग्य नहीं रहने देती कि जितने दामकी फसल वह बाजारमें बेजता है, उतने दामका दूसरा सौदा बाजारसे लेकर खर्च कर सके । किसानके श्रमका यह फल या धन भूमिके मालिकोकी जेबमें चला जाता है और वहाँसे पूँजीपतियोके जेबमें । अथवा भूमिके मालिक स्वयं ही पूँजी इकट्ठी हो जानेपर उसे पूँजीवादियोके व्यवसायोमें सूदपर या पत्ती (साझेदारी हिस्सा) के रूपमें लगा देते हैं । अतिरिक्त श्रमके रूपमें किसानका यह शोषण जिसे भूमि-कर या लगान कहा जाता है, किसानद्वारा की जानेवाली पैदावारमें लगा हुआ एक पम्प है, जो किसानके पास सिवा उसके परिश्रमकी शक्तिको कायम रखनेके और कुछ नहीं छोड़ता । किसानके संगठित न होने और अपने अधिकारके लिये आवाज न उठा सकनेके कारण उसके पास अपने परिश्रमका उतना भाग भी नहीं रह पाता, जितनेसे वह परिश्रम करने लायक स्वस्थ अवस्थामें रह सके । यह प्रत्यक्ष बात है कि इस देशका किसान न केवल इस देशके लिये बल्कि अनेक देशोके उद्योग-धंधोके लिये कच्चा माल पैदा करनेके बावजूद स्वयं आधा पेट खाकर और शरीरसे प्रायः नगा रहकर निर्वाह करता है । उसकी सम्पूर्ण पैदावार अतिरिक्त श्रम या पैदावारका रूप धारणकर इस देश तथा दूसरे देशके पूँजीपतियोकी जेबमें चली जाती है । प्रत्यक्षमें किसानकी अतिरिक्त पैदावार उससे छीन लेनेको ही भूमि-करका नाम दिया जाता है ।

“पूँजीवादके विकाससे भूमि-कर बहुत तेजीसे बढ़ता है, क्योंकि नये-नये उद्योगधंधे जारी होनेसे नयी-नयी किस्मकी वस्तुएँ पैदा करनी पड़ती हैं, इसके लिये नयी भूमि तोड़ी जाती है । जो नयी भूमि तोड़ी जायगी, उसपर भी कर लगेगा । पूँजीपति या भूमिका मालिक नयी भूमि उसी समय तोड़ेगा, जब वह पहलेसे उपयोगमें आनेवाली भूमिपर लगनेवाले लगानको अधिक समझेगा । नयी भूमि तोड़नेसे पहले खेतीके काममें आनेवाली भूमिके लगानका दर बढ़ेगा और जब बढ़ा हुआ दर देनेकी अपेक्षा कोई व्यक्ति नयी भूमि तोड़ना ही पसन्द करेगा, तभी नयी भूमि तोड़ी जायगी । इस प्रकार भूमिके प्रत्येक नये भागको तोड़नेसे पहले, जोती जानेवाली पुरानी और अच्छी भूमिपर लगान बढ़ता चला जायगा और वह इस हदतक बढ़ेगा कि किसानके पास कठिनतासे निर्वाहमात्रके लिये उसके परिश्रमका एक बहुत छोटा-सा भाग रह जायगा ।

“यदि भूमिके किसी भागकी पैदावारकी शक्ति सिंचाई आदिका प्रबन्ध करके बढ़ायी जाती है तो उसका लगान भी साथ ही बढ़ जाना है और पैदावारमें होनेवाली बढ़ती सब मालिकके पास पहुँच जाती है । किसानके परिश्रमका बहुत बड़ा भाग अतिरिक्त श्रम या भूमिके लगानकी मूल्यमें उससे छीन लिया जानेके कारण ये किसानके पास अपनी भूमिकी अवस्था सुधारने या खेतीके नये वैज्ञानिक साधन व्यवहारमें लाने योग्य सामर्थ्य नहीं रहती और भूमिकी उपज घटने लगती है । परन्तु लगान तथा करके पूँजीवादके साथ बढ़ते जानेके कारण भूमिकी कीमत बढ़ती जाती है । खेतीकी अवस्थामें यह अन्तर्विरोध सकट पैदा कर देता है । ऐसी अवस्थामें किसानोंके लिये भूमिके मालिकके सतोषके लायक लगान देना कठिन हो जाता है और किसान खेती करनेका काम छोड़ निर्वाहका कोई साधन और न देख मजदूर बननेके लिये चल देता है । उसकी ‘जोत’ की भूमि विकने लगती है, परन्तु भूमिका दाम तो लगानके बढ़नेके साथ बढ़ चुका है, इसलिये मामूली साधनोंके मालिकके लिये उसे खरीदना सम्भव नहीं होता । वह विकती है बड़े-बड़े पूँजीपतियोंके हाथ । इस प्रकार पैदावारके दूसरे साधनोंकी ही तरह भूमि भी पूँजीपतियोंके हाथ चली जाती है ।”

खेतीकी पैदावार बड़े परिमाणमें खेती करनेसे अवश्य अधिक बढ़ सकती है और तदर्थ सहकारिताके आधारपर सम्मिलित खेती होनी अनुचित नहीं । यह पीछे कहा जा चुका है कि लगान या करकी दर मनमानी ढंगसे नहीं होनी चाहिये । यदि किसान और जमींदारके आपसी समझौतेसे उचित दरका निश्चय न हो तो निष्पक्ष पञ्चायत या अदालतोंद्वारा दरका निश्चय होना उचित है । किसी भी अनुचित कार्यको रोकनेके लिये सरकारी हस्तक्षेप भी अनिवार्यरूपसे मान्य है । कच्चे मालका भी उचित दाम किसानोंको मिलना चाहिये । सक्षेपमें राष्ट्रद्वारा निर्धारित नागरिक जीवनस्तरके अनुकूल प्रत्येक नागरिककी आयकी व्यवस्था होनी चाहिये । जीविकाके सभी साधनोंमें खेती, वाणिज्य, मजदूरी आदिके उक्त दृष्टिकोणको ध्यानमें रखना आवश्यक है । साथ ही इसे भी भूलना न चाहिये कि व्यक्तिगत हानिका भय तथा लाभका लोभ जितना प्राणीको प्रमाद एवं आलस्यसे बचाकर कार्यपरायण बनाता है, उतना दूसरे हेतु नहीं । जहाँ सरकारी तोरपर दैनिकी कार्याचार्योंद्वारा काम होते हैं, वहाँकी लापरवाही तथा भ्रष्टाचार अवर्णनीय होता है । भारतके प्रथम पञ्चवर्षीय योजनानुगारी बोंबे आदिमें भीषण भ्रष्टाचारके उदाहरण विद्यमान हैं । फिर जहाँ दैनिकी व्यवस्था नहीं है, केवल निर्वाह-मामूरी ही मिलनेकी बात होती है, वहाँ तो और भी अधिक लापरवाही होती है ।

सामूहिक कामोके प्रति ईमानदारोकी भी सामान्य ही प्रवृत्ति होती है । शक्तिचोरोका तो कहना ही क्या है ? प्रसिद्ध है—‘न गणस्याग्रतो गच्छेत् सिद्धे कार्ये समं फलम् । यदि कार्यविपत्तिः स्यान्सुखरस्तत्रहन्यते ॥’ (हितो० १ । २९) कल्याण चाहनेवालेको गणका अप्रगामी नहीं बनना चाहिये, क्योंकि कार्य सिद्ध होगा तो समान ही फल मिलेगा और यदि कार्यमे बाधा पड़ी तो मुखियाको ही सकटमें पड़ना होगा । इन्ही कारणोसे अक्टूबर (१९५५) के किसी अङ्कमें ‘प्रवदा’ ने कुछ रूसी मन्त्रियोकी लापरवाहीकी शिकायत की थी । इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता भी कोई वस्तु है । अपने इच्छानुसार अन्न, गन्ना, विविध फल आदि पैदा करना, फिर उसका अपने इच्छानुसार उपयोग करना सरकारी खेतीमें सम्भव नहीं । अतः कोई भी किसान उसे पसद नहीं कर सकता । अधिक क्या, पक्षी भी स्वतन्त्रता-पूर्वक खट्टे फल खाना, खारा पानी पीकर जीवन व्यतीत करना ही ठीक मानता है । वह सुवर्ण-पिजरमे रहकर मधुर फल खाकर भी पराधीनता पसद नहीं करता, इसी तरह जमीदारो, किसानोकी भूमिका अपहरण भी व्यक्तिगत वैध-स्वत्वके विपरीत ही है । व्यक्तिगत उत्पादनमे भी प्रतियोगिता आदिद्वारा विकासमे सुविधा होती है । रामराज्यवादी तो बड़े-बड़े उद्योग-धधोको भी विकेन्द्रित करनेके ही पक्षमे हैं । खेतीका विकेन्द्रीकरण उद्योग स्वावलम्बनका प्रतीक है ।

बड़े परिमाणमें खेती

मार्क्सके अनुसार पूँजीवादद्वारा उद्योग-धधोके विकास और पैदावारकी अन्य वृद्धिका एक रहस्य है । पैदावारको एक स्थानपर बड़े परिमाणमे करनेपर ही उसमें आधुनिक ढंगकी बड़ी मशीनोंका व्यवहार हो सकता है, खर्च घट सकता है और मनुष्यकी पैदावारकी शक्ति बढ़ सकती है । मनुष्य जितनी ही विकसित और बड़ी मशीनपर काम करेगा, उसी परिमाणमें उसकी पैदावारकी शक्ति बढ़ सकेगी । उद्योग-धधोके क्षेत्रमे बड़े परिमाणमे पैदावार समाजकी पैदावार-शक्तिको बढ़ाती है, इस विषयमें किसीको भी सदेह नहीं । परंतु खेतीके विषयमे पूँजीपतियोकी राय इससे भिन्न है । पूँजीवादी-प्रणालीमें विश्वास रखनेवालोका कहना है कि बड़े परिमाणमे खेती पैदावारको बढ़ानेकी अपेक्षा घटायेगी । उसके लिये दलीलके तौरपर कहा जाता है कि खेतीको बड़े परिमाणमे करनेसे किसानकी भूमिके प्रति वह सहानुभूति और प्रेम नहीं रहेगा, जो छोटे परिमाणमे खेती करनेपर होता है ।’ परंतु मार्क्सवादियोका विश्वास है कि ‘और दूसरे उद्योगोकी तरह खेती भी बड़े परिमाणमें ही होनी चाहिये । इसके बिना न तो खेतीकी पैदावार ही उचित मात्रामे बढ़ सकती है, न समाजमें ही खेतीकी और उद्योग-धधोकी पैदावारका बटवारा समान रूपसे हो सकता है और न किसानोकी ही आर्थिक अवस्था सुधर सकती है ।

“यदि उद्योग-धधोसे काम करनेवाली श्रेणी मशीनसे पैदावार करेगी तो

उसकी पैदावारकी शक्ति बढ जायगी । उसे अपनी मेहनतका अधिक फल मिलेगा, परंतु किसानोके मशीनसे मेहनत न करनेपर उनकी पैदावारकी शक्ति न बढेगी और उन्हें उनकी मेहनतका फल कम मिलेगा । इस प्रकार खेती और उद्योग-धंधाकी पैदावारका विनिमय समानरूपमें न हो सकेगा ।

“पूँजीवादी लोग खेतीको बड़े परिमाणमें बड़ी मशीनसे करनेके पक्षमें इमी-लिये नहीं हैं कि भूमिके छोटे-छोटे टुकडोपर मशीनोका व्यवहार नहीं हो सकता । उमके लिये मीलों लंबे खेत चाहिये । ऐसे खेत बनानेमें अनेक जमींदारोकी मिलिक्रयत मिट जायगी । उद्योग-धंधोमें जिस प्रकार पूँजीपति निजी पूँजीको बढा सकता है, जमींदार अपनी भूमिको नहीं बढा सकता । बड़े परिमाणपर खेती करनेके लिये या तो जमींदारोका अधिकार भूमिपर अस्वीकार करना होगा या सैकडो जमींदारोकी भूमिको एकमे मिलाकर उसे समाजके नियन्त्रणमें रखना होगा । मार्क्सवादियोका कहना है कि खेतीको बड़े परिमाणपर करनेके सम्बन्धमें जितने भी एतराज किये जाते हैं, रूसके अनुभवसे वे सब निराधार प्रमाणित हो गये हैं ।

“खेतीको सयुक्त रूपसे बड़े परिमाणपर करनेसे ही उसमें ट्रैक्टर आदि बड़ी-बड़ी मशीनो और सिंचाईका प्रबन्ध हो सकेगा । खेतीके सुधारके लिये बड़े परिमाणपर कर्जा मिल सकेगा और खेतीकी पैदावारको बेचनेवालोमे परस्पर मुकाबिला न होनेपर उसे ठीक समय और पूरे मूल्यमें बेचा जा सकेगा । खेतीकी पैदावारके विनिमयका काम सयुक्तरूपमे और बड़े परिमाणमें होनेपर उसे व्यवहारमें लानेवाली जनतातक पहुँचानेका काम व्यापारियो और साहूकारोके हाथ न रह सकेगा । किसान अपने प्रतिनिधि सगठनद्वारा उसे स्वयं कर लेगा, इस तरह किसानके श्रमका वह बड़ा भाग, जो इन व्यापारियोकी जेबमें जाता है, किसानके उपयोगमें आयेगा । खेतीके बड़े परिमाणपर और सयुक्तरूपमे करनेपर किसानकी मानसिक उन्नतिका भी अवसर रहेगा । मशीनका व्यवहार करनेसे वह आज दिनकी तरह दिन-रात भूमिसे सिर मारनेके लिये विवश न होगा, बल्कि उसे शिक्षा और सस्कृति प्राप्त करनेके लिये समय मिल सकेगा और किसानोके परस्पर सहयोगसे काम करनेपर उनमे श्रेणी-भावना और श्रेणी-चेतना भी उत्पन्न हो सकेगी, जिसका उनमे न होना उनके शोषणको पशुनाकी सीमातक पहुँचा देता है । मशीनोका व्यवहार खेतीमें होनेसे ही किसान, जो वास्तवमें मिल-मजदूरकी तरह खेत-मजदूर है, औद्योगिक धंधोमे काम करनेवाले मजदूरके समान उन्नति कर सकेगा ।”

मार्क्सवादियोका अन्तर्विरोधका रोग सर्वत्र दिखायी देता है । इसीसे उन्हें खेतीमे भी अन्तर्विरोध दिखायी देता है । धर्मनियन्त्रित र मराज्यवादी शासन आर्थिक सतुलनकी दृष्टिसे करोमें सशोधन कर सकेगा । अतः न किसानको भूमि

छोड़नेकी आवश्यकता पड़ेगी और न भूमि पूँजीपतियोंके ही हाथ जायगी । विकेन्द्रीकरण सरकारी लक्ष्य होनेपर पूँजी और भूमि सभीके केन्द्रीकरणपर प्रतिबन्ध रहेगा । सरकारीकरणके यन्त्रमे सबका खात्मा हो जानेके खतरेकी अपेक्षा सापेक्ष एवं सीमित नियन्त्रण सबको ही सुखकर होगा । रूसका अनुभव प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता । रूसी प्रचारद्वारा भले ही रूस स्वर्ग बन गया हो, परंतु वस्तुस्थिति इसके सर्वथा विपरीत है ।

मशीनोके अधिक व्यवहार करनेसे चेतन प्राणी भी स्वयं एक जड़ मशीन बन जाता है । पराधीनता भी बढ़ती जाती है—‘सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्’ (मनु) —पराधीनता ही सब दुःख है, स्वाधीनता ही सब सुख है । मशीनोद्वारा सब कामसे छुड़ी पाकर मनुष्य शिक्षा आदि प्राप्त करनेमें समय लगायेगा । पर वह भोग-विलासमें समय न गँवायेगा—यह कौन कह सकता है ? फिर शिक्षा-संस्कृतिके लिये भी तो कोई मशीन निकाली ही जाती है और तब बेकारी भी और अधिक बढ़ सकती है । श्रेणी-चेतना यदि सघर्षके लिये ही अपेक्षित होगी तो कोई भी बुद्धिमान् सघर्षको हानिकारक ही समझेगा । समझौता, सामञ्जस्य, समन्वय ही समाजके लिये अपेक्षित है । धर्मनियन्त्रित रामराज्य तो मुख्य रूपसे महायन्त्रोपर प्रतिबन्ध लगानेके पक्षमें ही है । जबतक इसमें विलम्ब है तबतक अन्य औद्योगिक विकास एवं खेतीके विकासका संतुलन रखा जायगा ।

सरकारीकरण होनेके पहले किसान अपनी जमीनमें खेती करनेमें स्वतन्त्र है । मजदूर तो वह तब बनेगा जब सब खेतोका सरकारीकरण हो जायगा । इसीलिये भारतका वर्तमान किसान-मण्डल भूमि-सम्बन्धी सरकारी नीतिसे चिन्तित है । वह सरकारीकरण नीतिका विरोध करनेके लिये प्रस्तुत है । कम्युनिष्टोंके तर्क वस्तुस्थितिके विरुद्ध हैं । किसानोका प्रतिनिधि-संघटन भी कम्युनिज्ममें वास्तविक नहीं हो पाता; क्योंकि वहाँ स्वतन्त्र मत व्यक्त करना, स्वतन्त्र लेख प्रकाश करने आदिकी किसी प्रकारकी सुविधा नहीं है । कम्युनिष्ट सरकार जैसा चाहती है, वैसे ही प्रतिनिधि-संघटनका नाटक किसानोको भी करना पड़ेगा । फिर भी अधिनायकत्व मजदूरोंका ही होगा, किसानोका नहीं ।

मार्क्सवादी पूँजीवादके दोषोंका वर्णन करते हुए मशीनोपर लाञ्छन लगाते हैं कि ‘मशीनोके कारण ही अनेक प्रकारकी बेकारी फैली, स्वाधीन उद्योग-धधे नष्ट हो गये । कारीगरोको मजदूर बना डाला गया’, किंतु स्वयं कम्युनिष्ट उन मशीनोका मोह नहीं छोड़ सकते । समान वितरणके नामपर मशीनोके दोष छिपानेका प्रयत्न करते हैं, रही-सही स्वाधीनताको समाप्त करके व्यक्तियोंको तानाशाही शासनका नगण्य कल-पुर्जा बना देना चाहते हैं ।

आर्थिक संकट

माकर्सॉयवादके दृष्टिकोणसे 'पूँजीवादी समाजमें पैदावारका काम समाजके सभी लोग मिलकर करते हैं, परंतु प्रत्येक पूँजीवादी अपने ही लाभको सामने रखता है। इसलिये सम्मिलित तौरपर समाजकी आवश्यकताओंका न तो सही अनुमान ही हो सकता है और न उसके उपयुक्त पैदावार ही। पूँजीवादी समाजमें उत्पादक अपने व्यवहारके लिये नहीं, बल्कि उसे बेचकर मुनाफा कमानेके लिये पैदावार करते हैं। पैदावार करनेवालोंको समाजकी आवश्यकताओं और खपतकी शक्तिका अंदाजा ठीक नहीं हो सकता, इसलिये समाजमें पैदावारके बड़े-बड़े सावनोंसे जो पैदावार की जाती है, उसकी खपत नहीं हो पाती। इसका अर्थ यह नहीं कि समाजको उस पैदावारकी जरूरत नहीं। हाँ, समाजके पास उसे खरीदनेकी शक्ति नहीं रहती। यदि यह पूँजीपतिके मुनाफेको ही समाजका उद्देश्य न मानकर समाजकी पैदावार और खपतपर विचार करे, तो दो प्रश्न उठते हैं। प्रथम पैदावार कोन करता है? दूसरे समाजमें पैदावारको कोन खपा संकता है? पहले प्रश्नका उत्तर है—समाजमें पैदावार मेहनत करनेवाले करते हैं। दूसरे प्रश्नका उत्तर है—समाजमें तैयार सामानकी खपत समाजमें मेहनत करनेवाले करते हैं।

“इससे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि समाजमें जो लोग पैदावारके लिये परिश्रम करते हैं, वे ही पैदावारको खर्च करनेवाले भी हैं। यदि पैदावारके लिये परिश्रम करनेवालोंको अपने परिश्रमका (केवल परिश्रमकी शक्तिको कायम रखनेका नहीं) फल मिल जाय तो पैदावार फालतू पड़ी नहीं रह सकती। परंतु ऐसा होता नहीं, इसलिये पैदावार पड़ी रह जाती है और पैदावारका क्रम टूट जाता है।

“मुनाफेके रूपमें पैदावारके लिये परिश्रम करनेवालोंका जो श्रम निकालकर एक तरफ रख दिया जाता है, वह पैदावार करनेकी शक्तिको घटा देता है, परंतु समाजकी खर्च करनेकी शक्तिको घटा देता है। इसलिये एक तरफ तो पैदावारके अम्बार लग जाते हैं और दूसरी ओर जनताकी आवश्यकताएँ पूरी न हो सकनेके कारण, विलखते रहनेपर भी पैदावारको खर्च नहीं कर सकती, क्योंकि उसके पास खरीदनेकी शक्ति नहीं। खर्च करनेकी शक्ति तो मुनाफेके रूपमें उससे छीन ली गयी है। पैदावारके खर्च न हो सकनेके कारण उसे कम करनेकी जरूरत अनुभव होती है। इसका अर्थ होता है—मजदूरीके रूपमें खरीदनेकी शक्ति जनताके पास और कम हो जाय। अर्थात् बेकारी बड़े, मेहनत कर सकनेवालोंकी सख्या घटे और साथ ही खर्च कर सकनेवालोंकी सख्या भी घटे और पैदावारको और भी कम किया जाय। परिणामतः खर्च करनेकी शक्ति

और भी घट जाती है, इस प्रकार यह चक्कर समाजमें पैदावार और खर्चके दायरेको कम करता हुआ समाजकी एक बड़ी संख्याको भूखे और नंगे रहकर मरनेके लिये छोड़ देता है ।

“कहा जाता है कि पूँजीवादमें उत्पादन-शक्तियोंमें निरन्तर प्रगति होती रहती है । नये-नये साधनोंका आविष्कार एवं प्रयोग होता रहता है, परंतु सामाजिक सम्बन्धोंमें परिवर्तन नहीं होता । अर्थात् पूँजीपति और श्रमिकका सम्बन्ध ज्यों-का-त्यों रह जाता है । पूँजीपति श्रमिकोंको कम-से-कम वेतन देना चाहते हैं । फलतः प्रति दसवें वर्ष आर्थिक संकट उपस्थित होता है । उत्पादन-शक्तियोंके बढ़नेसे लाखों मजदूरोंके बदले सैकड़ों मजदूरोंसे ही उत्पादन हजारों गुना ज्यादा बढ़ता जाता है । वस्तुओंकी बहुतायतके साथ मजदूरोंकी बेकारी बढ़ती जाती है और उनकी क्रयशक्ति घटती जाती है । अतः बाजारमें वस्तुओंकी खपत कम हो जाती है । यह क्रम उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है । इस तरह पूँजीपतिके भी सामने प्रश्न खड़ा होता है कि वह अपना माल कहाँ बेचे ? इसका पहला मार्ग खोजा गया साम्राज्यवाद । निर्भीक होकर पूँजीपति दुनियाके कोने-कोनेमें पहुँचे । विश्वविजयका मार्ग अपनाया । औपनिवेशिक युद्ध किये । भारत, अमेरिका, कनाडामें बाजार बनाया । वहाँसे सस्ता कच्चा माल प्राप्त किया । किसी देशके निवासियोंको पराजित किया । किसी देशके निवासियोंको मिटा भी दिया । यूरोपके पूँजीपतियोंने दुनियाको अपना बाजार बना लिया ।

कहा जाता है—“लार्ड डलहौजीके समय भारतमें जो सुधार हुए, मार्क्सकी दृष्टिसे वे सुधार हुए ही नहीं, किंतु उस समय औद्योगिक क्रान्तिके कारण इंग्लैंडमें रेल, तार आदिके सामान पर्याप्त बन गये थे । इस मालकी खपतके लिये पहले यूरोप और अमेरिकाके बाजार थे, किंतु कुछ समयके बाद और नये बाजारोंकी आवश्यकता हुई । तब भारतके द्वारा इस समस्याकी पूर्ति की गयी । भारतमें रेल-तारका सामान महँगे-से-महँगे दामोंपर बेचा गया । फिर रेलोंद्वारा भारतवर्षका कच्चा माल इंग्लैंडमें भेजनेके लिये सुगमतासे एकत्रित किया जा सकता था । इंग्लैंडका माल भी भारतके कोने-कोनेमें पहुँच गया । औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम (१७५०-१८५०) इंग्लैंडमें हुई । अतः उसने सर्वश्रेष्ठ साम्राज्य स्थापित कर लिया । बादमें फ्रांस और जर्मनीमें औद्योगिक उन्नति हुई । अतः वे साम्राज्य-निर्माणमें पिछड़ गये ।”

पूर्वोक्त रामराज्य-प्रणालीके अनुसार कहा गया है कि मजदूरोंकी संख्या-वृद्धि, वेतनमें वृद्धि, कामके घटोमें कमी होनेसे न तो बेकारी बढ़ेगी और न तो क्रयशक्ति ही घटेगी । फलतः मालकी खपतमें भी कमी न होगी । अतः आर्थिक

सकट भी नहीं आयेगा। पूँजीपतियोंने लाभके लोभमे राज्य फैलाया; बाजार बनाया; अपनी चीजोंको संसारके कोने-कोनेमें पहुँचाया सही; परंतु उनपर रामराज्यका धर्मनियन्त्रण न होनेसे उनमें शोषणकी मात्रा बढ़ गयी। फिर भी उनके रेलों, तारों, यन्त्रोंके कारण भौतिक दृष्टिसे पिछड़े हुए देशोंकी भी प्रगति हुई। जडयन्त्रवादमें यदि शासक सावधान एवं नियन्त्रित होकर राज्य-संचालन करता है तो लाभ होता है, अन्यथा नुकसान तो होता ही है। इसी तरह धर्मनियन्त्रित ईमानदार शासन होता है; तभी यान्त्रिक आविष्कार प्रगतिका साधन होता है, अन्यथा विश्व-सद्वार श्रुव है। सावधान न रहनेपर अपने ही द्वारा आविष्कृत विद्युत् या यन्त्रके द्वारा वैज्ञानिक अपनी ही हत्या कर बैठता है। इस तरह विज्ञानका, यन्त्रोंका फेद्यव नवीन साधनों एवं वस्तुओंका विस्तार लाभदायक भी हुआ। परंतु उसपर धर्मनियन्त्रण न रहनेसे उसमें जन-शोषण युद्ध आदि अनर्थ भी हुए। विज्ञानपर धर्मका नियन्त्रण ठीक होनेसे अनर्थ-अश दूर हो जाता है। धर्मनियन्त्रित शासनतन्त्रमें मही स्वतन्त्रता एवं आत्मनिर्भरताके लिये तथा बेकारीकी समस्या हटानेके लिये ही महायन्त्रोंके निर्माणपर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। इससे बाजारों, कोयलों, पेट्रोलों तथा कच्चे मालोंको प्राप्त करनेके लिये होनेवाले युद्धों, सहारांपर भी रोक लग जाती है। अतः रामराज्यमें महायन्त्रोंके निर्माणपर प्रतिबन्ध भी आवश्यक होगा ही। परमाणुबम, हाइड्रोजनबम एक महत्त्वपूर्ण खोज होनेपर भी जन-हितकी दृष्टिसे उसपर प्रतिबन्ध आवश्यक समझा जा रहा है। उसी तरह महायन्त्रोंका आविष्कार महत्त्वपूर्ण होनेपर मानवशान्ति, सदाचार एवं धर्मकी रक्षाके लिये महायन्त्रोंपर प्रतिबन्ध अत्यावश्यक है। यदि रामराज्यके इन सिद्धान्तोंको अपनाया गया होता तो गत दोनो महायुद्ध भी न होते और संसारकी प्रगति भी अधिकाधिक हुई होती।

लेनिनने पूँजीवादके तीन स्तर बताये हैं—(१) व्यापारिक, (२) व्यावसायिक और (३) महाजनी। उसके अनुसार आधुनिक युग महाजनी पूँजीवादका है। इसमें यूरोप और अमेरिकाके पूँजीपति पिछड़े हुए देशोंमें पूँजी लगाते हैं और उस पूँजीके सूदद्वारा धन एकत्रित करते हैं। पूँजीसे तात्पर्य बड़े-बड़े कारखानोंसे है। इनका संचालन उपनिवेशों या अन्य देशोंके पूँजीपतियोंद्वारा होता है। कारखानोंके मूलका सूद साम्राज्यवादी पूँजीपतियोंको मिलता है। लेनिनके अनुसार साम्राज्यवादी स्तर पूँजीवादकी मरणामन्न स्थिति है। इसमें अन्तर्विरोध चरमसीमामें पहुँचा होता है। पहला विरोध है पूँजी और श्रमके बीच। उद्योगप्रधान देशोंमें पूँजीवादियोंके ट्रस्टों, सिंडिकेटों, बैंकों, बैंकमालिकोंका देशकी पूँजी और व्यवसायोंपर पूरा प्रभुत्व रहता है। इस स्थितिमें

श्रमिकोंका वैधानिक सङ्घर्ष स्थिति सुधारनेके लिये पर्याप्त नहीं होता । इजारेदार दैकशाह वैधानिक सङ्घर्षसे प्रभावित होकर श्रमिकोंकी दशा सुधारनेके लिये प्रस्तुत नहीं हो सकते । (यहाँ वैधानिक विरोधका तात्पर्य है—मजदूर-सभाओं, सहयोगसमितियों एवं संसदीय दलोंके आन्दोलनसे) अतः मजदूरोंको क्रान्तिका मार्ग अपनाना पड़ता है । क्रान्तिद्वारा पूँजीवादका अन्त करनेसे ही श्रमिकोंकी दशा सुधर सकती है ।

“दूसरा विरोध बैंकगाहोंके विभिन्न गुटों तथा साम्राज्यवादी शक्तियोंके बीच होता है । यह विरोध विभिन्न देशोंके पूँजीवादके असमान विकासके कारण होता है । यूरोपमें सर्वप्रथम इंग्लैंडमें औद्योगिक क्रान्ति हुई । फ्रांसने इस क्षेत्रमें उसीका अनुसरण किया । १९ वीं सदीमें कच्चे मालके स्रोत एवं तैयार मालके खपतके लिये बाजारोंकी आवश्यकता पड़ी । तब उन्होंने दुनियामें साम्राज्य स्थापित किया । तबतक जर्मनी भी औद्योगिक क्षेत्रमें अग्रसर हुआ । उसे भी साम्राज्यकी अपेक्षा हुई, किंतु साम्राज्य-स्थापनाके क्षेत्रमें इंग्लैंडका एकाधिकार था । फलतः साम्राज्य-स्थापनामें पिछड़ा हुआ मध्य यूरोप पुराने साम्राज्यवादी फ्रांस एवं इंग्लैंडको युद्धद्वारा पराजित करके ही साम्राज्यमें हिस्सा बँटा सकता था । इसीलिये जर्मनी, इटली तथा जापानने युद्धके लिये तैयारियों की और साम्राज्यवादी लोगोंमें भी अस्थायीरूपसे दो गिरि हो गये । युद्धों, महायुद्धोंद्वारा किसीका विनाश होता है, किसीका आधिपत्य होता है । फिर भी साम्राज्यवादी सङ्घर्षका अन्त नहीं होता, किंतु आन्तरिक विरोध हावी रहता है । तीसरा विरोध सभ्य कहे जानेवाले साम्राज्यवादी राष्ट्रों और पराधीन राष्ट्रोंके बीच होता है । साम्राज्यवादी निर्बल राष्ट्रोंका शोषण करते रहते हैं । साम्राज्यवादी शोषणको सघटित करनेके लिये पराधीन देशोंमें रेल-तार आदिके कारखाने खोलते हैं । जनता इनसे मुक्त होनेकी इच्छासे इनके विरुद्ध मोर्चा स्थापित करती है । समयकी प्रगतिसे शोषण बढ़ता है । राष्ट्रिय सङ्घर्ष भीषण बन जाता है । साम्राज्यवादी देशोंके भी शोषित श्रमिकोंकी सहानुभूति पराधीन देशोंके शोषितोंके साथ होती है । बन्धु-भावसे प्रेरित होकर दोनों साम्राज्य-वादियोंके विरुद्ध बगावत करते हैं ।”

यह हम कई बार कह चुके हैं कि घटनाएँ ससारमें भली भी होती हैं और बुरी भी । अच्छी घटनाओंका अनुसरण उचित है, बुरी घटनाओंका नहीं । व्यवहारके लिये विधानका ही उपयोग किया जाता है, इतिहासका नहीं । जगद्गुरु भारतकी दृष्टिसे सम्राट् एवं सार्वभौमका अभिप्राय देशके केन्द्रीय शासन एवं विश्व-सरकारसे होता था । छोटी-छोटी शक्तियाँ परस्पर टकराकर अपने और संसारके अकल्याणका कारण बनती हैं । इसलिये एक परम समर्थ

धर्मनियन्त्रित शासकका नियन्त्रण समारपर होना आवश्यक होता है । जिसने राजसूययज्ञ किया हो, जो राजमण्डलका ईश्वर हो और जो अपनी आज्ञासे राजाओका भी नियन्त्रण करता हो, वही सम्राट् है—

येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः ।

शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट् ॥

(अमरकोष, २ । ८ । ३)

‘सर्वभूमेरीश्वर. सार्वभौम.’—अखण्ड भूमण्डलका धर्मनियन्त्रित शासक ‘सार्वभौम’ होता है ।

व्यापारका कार्य वैश्यक या सम्राट्का नहीं । फिर भी योरप आदि देशोंमें पूँजीपति व्यापारियोंसे शासन प्रभावित रहता था; अतः पूँजीवाद और साम्राज्यवादका अभेद सम्भव गाना जाने लगा । आधुनिक सभ्यताके विस्तारमें (जिसका मार्क्सवादी बड़ा महत्त्व मानते हैं) इस साम्राज्यवादका प्रमुख हाथ है । इसी कारण ससारके कोने-कोनेमें रेल, तार, रेडियो, वायुयान, कल-कारखानोंका विस्तार हुआ । यह पूँजीवाद एवं साम्राज्यवाद यदि धर्मनियन्त्रित, ईमानदार होता तो उससे ससारका कल्याण ही होता, अकल्याण नहीं । धर्मनियन्त्रण न होनेसे अथवा धर्मकी ओटमें स्वार्थ-साधकोंकी प्रवृत्ति होनेसे लाभके साथ-साथ शोषण भी चलता रहता है । इसी प्रकार धर्महीन स्वार्थ साधक आन्दोलनकारियोंद्वारा संचालित आन्दोलन भी सर्वप्रथम, वैमनस्य एवं सर्वनाशका ही कारण होता है । भारतके समान वैध अहिंसात्मक आन्दोलनद्वारा मजदूरीकी दशा सुधारी जा सकती है । परन्तु मार्क्सवादियोंको तो दशा सुधारनेके बहाने विश्वमें सर्वहाराके अधिनायकत्वके नामपर कुछ ताना-शाहोंका राज्य बनाना अभीष्ट है । पूँजीवादके कारण ससार एक इकाई बन जाता है । यातायात यन्त्रोंद्वारा पूँजीपति ससारको अपने मालका बाजार बना लेता है । पिछड़े हुए देशोंमें भी प्राचीन अर्थतन्त्र नष्ट होकर नयी व्यवस्था चल पड़ती है । यह परिवर्तन व्यक्तिकी इच्छासे नहीं, किन्तु परिस्थितिके अनुसार होता है । इस कारण ही पूँजीवादके विरुद्ध श्रमिक वर्गका अधिक संख्यामें एकत्रित होना सम्भव होता है । मार्क्सने पूँजीवादको आवश्यक ही नहीं किन्तु सर्वहाराके अधिनायकत्वके समान ही अनिवार्य भी बताया है । आमतौरपर गुण-वर्णन ग्रहणके लिये होता है और दोष-वर्णन परित्यागके लिये । यही गुण-दोष-वर्णनका प्रयोजन है—

ताते कलु गुण दोष वसाने । सग्रह त्याग न विनु पहिचाने ॥

जो पूँजीवाद इतना महत्त्वपूर्ण आवश्यक एवं अनिवार्य वस्तु है, जिसके बिना साम्यवादका मूलमन्त्र पूर्ण यन्त्रीकरण ही सम्भव नहीं, उसके दोषोंको

जानकर दोष मिटाना न्यायसङ्गत है । परंतु मार्क्स पुनरुत्थानका विरोधी है; उसके मतानुसार दोष मिटाना मुख्य नहीं, किंतु दोषवान्‌को ही मिटाना ठीक है । अतएव वह शोषण मिटानेके पक्षमें नहीं है, किंतु शोषकवर्गका ही मिटाना आवश्यक समझता है । वह वर्गोंका विरोध अमिट मानता है, परंतु व्यावहारिक बात यह है कि संसारके कल-पुर्जोंमें दोष आते हैं, शरीर एवं मस्तिष्कमें दोष आते हैं; इसी प्रकार मनुष्यसमूहमें भी दोष आते हैं । दोषोंके मिटानेके विधान भी हैं । चिकित्साशास्त्र दोष ही मिटानेके लिये है । उत्थान-पतन संसारका स्वभाव है । जिसका उत्थान हुआ, उसका पतन भी हो सकता है । जिसका पतन हुआ, उसका पुनरुत्थान भी हो सकता है—
‘नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।’ (मेघदूत) चक्रके अरेके समान कभी नीचे और कभी ऊपर जाना-आना लगा ही रहता है । सूर्य-चन्द्रकी उदयास्तपरम्परा भी विचारणीय है । शास्त्रीय दृष्टिसे उपजीव्य-विरोध एक मुख्य दोषोंमें है, जिसमें कार्यद्वारा कारणका विरोध उपजीव्य-विरोध समझा जाता है । जैसे पितासे उत्पन्न पुत्रका पितृ-घातक होना उपजीव्य-विरोध है । उपकारके प्रति कृतज्ञता मानवताका सर्वप्रथम लक्षण है ।

मार्क्सके अनुसार ‘पूँजीवादी सभ्यता एव संस्कृतिका आधार एकमात्र अर्थवाद ही होता है । इसके अनुसार पुरानी सभ्यता एव सम्बन्धोंका अन्त हो जाता है । पिता-पुत्र, पत्नी-पति, शिक्षक-शिष्य आदिकोंके परम्परागत सम्बन्ध टूट जाते हैं, केवल अर्थमूलक ही सबके सम्बन्ध हो जाते हैं । इससे परम्पराके आड़में वर्गसंघर्षको छिपानेका अवकाश नहीं होता । वर्गसंघर्ष सीधा और स्पष्ट हो जाता है, जो कि सर्वहारा क्रान्तिमें अत्यन्त आवश्यक है ।’

वस्तुतः जिसे मार्क्सवादी गुण कहते हैं, विचारकोंकी दृष्टिमें वह दोष है । धार्मिक, सांस्कृतिक परम्पराओंके नष्ट हो जाने तथा सर्वत्र अर्थकी प्रधानता हो जानेसे मनुष्य शुद्ध पशु ही बन जायगा । पिता-पुत्रका, पति-पत्नीका सम्बन्ध धर्ममूलक न होकर अर्थमूलक होना क्या गुण है ? पैसोंके लाभकी सम्भावना न होनेपर पत्नी पतिको छोड़ दे, पुत्र पिताको छोड़ दे, शिष्य गुरुको पैसोंके लोभसे मार दे—क्या यह सभ्यता भी मानव-सभ्यता कही जा सकती है ? धर्मा, दया, स्नेह, वात्सल्य, पातिव्रत्य आदि वे पवित्र गुण हैं, जिनके सामने अर्थका कुछ भी महत्त्व नहीं । पिताके आज्ञानुसार राज्य छोड़कर रामका वनमें जाना, रामसे परित्यक्ता होनेपर भी सीताका पतिव्रता बनकर रहना, भरतादि भ्राताओंकी भ्रातृवत्तलता आदिके सामने अर्थवादकी नगण्यता स्पष्ट बतलाती है कि असाधुकी ही अर्थसम्पत्ति इस दानव-युगको ला सकती है । साधु (सत्) पुरुषोंकी अर्थसम्पत्ति तो धर्म, सभ्यता एवं परम्पराकी रक्षाका ही कारण बनती है ।

मार्क्सके अनुसार 'श्रमिक-वर्ग पूँजीवादकी कब्र खोदने हैं। पूँजीपति उसे कम-से-कम वेतन देता है। वेतन-वृद्धिके लिये श्रमिक सघटन करता है, तोड़-फोड़का मार्ग अपनाता है। राष्ट्रका धन थोड़ेसे पूँजीपतियोंके पास इकट्ठा हो जाता है। अधिकाधिक लोगमें दरिद्रता फैल जाती है। श्रमिक धीरे-धीरे सघटित होते हैं। वे कारखाना-सघ, जिला-सघ, राज्य-सघ, विश्वमंघ आदि बनाते हैं और उन्हें यह समझाया जाता है कि पूँजीवादी व्यवस्थामें उनकी दशा कभी भी सतोषजनक न होगी। पूँजीवादका अर्थ है, साम्राज्य-वृद्धि, गोपण, युद्ध, महायुद्ध, गरीबी, हत्या आदि। आधुनिक राज्य पूँजीपति-का राज्य है। जब कभी हड़ताल होती है, मजदूर मारे जाते हैं, जेल भेजे जाते हैं। पूँजीपतियोंके पक्षमें ही न्यायालयोंके निर्णय होते हैं। इन आधारपर श्रमिक समझने लगता है कि पूँजीवादी राज्यका अन्त होना ही उनकी मुख-समृद्धि-का कारण है और वह महायुद्ध अथवा सकटके समय क्रान्ति करके राज्यको उलट देनेका प्रयत्न करता है। इसी आधारपर (१९१४—१९१८) के महायुद्धमें लेनिनने श्रमिकोंको उकसाकर रूसमें गृह-युद्ध शुरू करा दिया। मजदूर ही पलटनमें भरती होकर सैनिक बनकर युद्ध-कला सीखता है। उस युद्ध-शिक्षाका प्रयोग वह क्रान्तिमें करता है। मार्क्सके मतानुसार श्रमिक-वर्ग ही पूँजीवादका विरोध कर सकता है। वही समझता है कि हमारे पास न धन है न जमीन, केवल श्रमके बलपर ही हमें जीना है। अन्य क्रिमान आदिका पूँजीवादसे कुछ-न-कुछ स्वार्थ रहता है। वे पूँजीवादका विनाश नहीं, किंतु सुधार चाहते हैं। अतः क्रान्तिका नेतृत्व मजदूरके ही हाथमें होना उचित है। पूँजीवाद-के नाशसे मजदूर केवल एक चीज ही खोता है और वह है गुलामी। हाँ, श्रमिक-वर्ग परिस्थितियोंके अनुसार अन्य वर्गकी भी सहानुभूति प्राप्त करता है।'

सक्षेपमें कहा जा सकता है कि सद्भावना एवं मनुष्यताको दूर फेंककर शुद्धरूपसे ईर्ष्या, द्वेष एवं लोलुपताको उत्तेजित कर कुछ मुट्ठीभर कूटनीतिज्ञ सर्वहारा राज्यके नामपर तानाशाही राज्य-स्थापनाका प्रयत्न करने हैं। इसीलिये वे सुधार और समझौतेको क्रान्तिमें बाधक समझते हैं। मालिकोंके पैसेसे पेट भरना, मालिकोंके कारण ही एकत्रित होना, उन्हींके प्रसादसे युद्ध-कला सीखना और उन्हींका सहार करना, जब कि ईमानदार शत्रु भी दगा नहीं कर सकता, ऐसे ऐन मौकेपर विश्वासघात करना ही उन्हें सिखाया जाता है। इन मतको 'सिद्धान्त' या 'दर्शन' कहना सिद्धान्त या दर्शनके स्तरको बहुत नीचे गिराना है। दगावाजी, विश्वास-घातके आधारपर किसी भी समाज या राष्ट्रका कभी भी कल्याण नहीं हो सकता। जिन रूस, चीन आदिमें दगावाजी—विश्वासघातसे समृद्धि दिखायी देती है, वह भी स्थायी नहीं हो सकती। यों तो मनुका भी कहना है कि अधर्मसे पहले प्राणीकी

समृद्धि, विजय एवं कल्याण होता हुआ-सा मालूम पड़ता है, परंतु अन्तमें उसका नाश ध्रुव है—

अधर्मेणैधते तावत्ततो मद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥

(मनु० ४ । १७४)

इनका कूटनीतिक सिद्धान्त भी स्थिर नहीं । मार्क्सने बतलाया था कि 'क्रान्तिका' नेतृत्व श्रमिकोंके ही हाथमें हो सकता है, अन्य वर्गका अधिनायकत्व नहीं हो सकता । इसपर विविध तर्कोंके द्वारा बल दिया गया, परंतु मार्क्सवादी चीनने ही किसानोंके द्वारा क्रान्ति करके पिछले मतको मिथ्या सिद्ध कर दिया । मार्क्सवादी इसे कुछ विशेष परिस्थितियोंके कारण अस्थायी परिवर्तन बतलाते हैं । चीनकी कम्युनिष्टपार्टीने किसानोंकी सहायतासे ही क्योमिताङ्ग (चीनकी राष्ट्रिय सस्था) को पराजित कर नयी राज्य-व्यवस्था कायम की । चीनकी क्रान्ति किसानोंद्वारा हुई, मजदूरोंद्वारा नहीं, यह पुराने मार्क्सवादके विरुद्ध है । अब आधुनिक मार्क्सवादी ग्रन्थोंमें मजदूरोंके स्थानमें 'किसान-मजदूर' कहा जाने लगा । माओत्सेतुंग चीनकी क्रान्तिको समाजवादी क्रान्ति नहीं मानते, किंतु पूँजीवादी जनतन्त्रीय क्रान्ति बुर्जुवा डेमोक्रेटिक रीवोल्यूशन कहते हैं । इसके द्वारा सामन्तशाहीका अन्त किया गया है, पूँजीवादका नहीं । मार्क्सने कम्युनिष्टपार्टीके नेतृत्वमें सर्वहाराकी क्रान्ति कहा था । लेनिनने कहा था कि 'पिछड़े हुए सामन्तवादी अथवा पूँजीवादी देशमें (जैसा चीन या जारशाही रूसमें था) पूँजीवादी जनतन्त्रीय क्रान्ति शीघ्र ही समाजवादी क्रान्तिके रूपमें परिणत की जा सकती है ।' परंतु चीनमें ऐसा नहीं हुआ । माओत्सेतुंगके मतानुसार 'चीनकी पूँजीवादी जनतन्त्रीय क्रान्ति पुरानी क्रान्तियोंसे भिन्न है ।'

कहा जाता है 'रूसी क्रान्तिके प्रथम फ्रास आदिकी क्रान्तियोंका नेतृत्व पूँजीवादियोंके हाथमें था । श्रमिकवर्गका उसमें सहयोग था । क्रान्तियोंके बाद समाजपर पूँजीवादियोंका ही एकाधिपत्य हुआ । श्रमिकोंकी हीन दाशा ज्योंकी-त्यों बनी रही, परंतु रूसी क्रान्तिके पश्चात् श्रमिकवर्ग सतर्क हो गया । अतः अब फ्रास-जैसी पूँजीवादी जनतन्त्रीय क्रान्ति (१७८७) जिसमें श्रमिकोंका कोई स्थान न रहे, सम्भव नहीं । चीनकी क्रान्ति कम्युनिष्टपार्टीके नेतृत्वमें हुई थी, इसलिये चीनके पूँजीपति अपना एकाधिकार स्थापित नहीं कर सके । पूँजीवादको रखते हुए माओका कहना है कि किसान-मजदूरोंके हित पूर्णतया सुरक्षित रहेगे ।'

इस तरह यह नहीं कहा जा सकता कि 'मार्क्सने जो कह दिया, वह ब्रह्माक्षर हो गया, गलत नहीं होगा । मार्क्सवादी भी इसे मार्क्सवादकी पुनर्व्याख्या मानते हुए साम्यवादको पुराने मार्क्सवादसे भिन्न मानते हैं । इससे पुनरुत्थान नहीं हो सकता, पूँजीवादमें सुधार नहीं हो सकता', यह पक्ष खण्डित हो जाता

है। पूँजीवादके रहते हुए भी किसान-मजदूरोंका हित सुरक्षित रह सकता है—यह चीनी क्रान्तिसे स्पष्ट ही है।

मार्क्सका कहना था कि 'पिछली क्रान्तियाँ एक शोषक-वर्गके नेतृत्वमें दूसरे शोषकवर्गको पदच्युत करनेके लिये हुई थीं। फ्रांसकी ऐतिहासिक राज्यक्रान्ति पूँजीपतियोंने सामन्तशाहीके विरुद्ध की थी। ब्रिटेनके गृहयुद्ध (१६४२-४९) और रक्तहीन क्रान्ति (१६८८) का भी यही सार है। इन क्रान्तियोंसे शोषणका अन्त नहीं हुआ; किंतु सर्वहारा-क्रान्तिद्वारा वर्गों तथा शोषणका अन्त होगा। शोषणके अन्तके लिये ही श्रमिकोंकी क्रान्ति होती है।'

शोषणकी मनोवृत्ति बदलनेसे ही शोषणका अन्त होता है। ईमानदार शासकोंके शासनका उद्देश्य ही शोषण या मात्स्यन्यायका अन्त करना राज्य-संस्थाकी स्थापनाका उद्देश्य ही यही है। बिना ईमानदारीके श्रमिक-क्रान्तिसे भी शोषणका अन्त नहीं होता। अपने विरोधियोंको कुचल डालनेकी तीव्र भावना कम्युनिष्टोंमें सर्वाधिक होती है। पूँजीवादियोंमें परस्पर जैसे सवर्ष होता है, वैसे ही किसानों तथा मजदूरोंके भी परस्पर सवर्ष आये दिन होते ही रहते हैं, जिसमें एक दूसरेके शोषणके लिये वे प्रयत्नशील रहते हैं।

मार्क्सने यह भी कहा था कि 'समाज तभी बदलता है जब उसका अन्त-विरोध चरम सीमापर पहुँच जाता है, प्रगति असम्भव हो जाती है, पूँजीवादी उत्पादनकी वृद्धिसे बाजारोंकी खोज होती है। जहाँतक बाजार मिलते रहते हैं, प्रगति होती रहती है। परंतु जैसे ही नये बाजारोंका अभाव होता है, फिर पूँजीवादकी प्रगति समाप्त हो जाती है। पूँजीवाद एव उसके भीषण सकटक का अन्त क्रान्तिसे होगा। पुराने समाजके अन्त एव नये समाजके जन्मके लिये क्रान्ति नितान्त आवश्यक है।'

रामराज्यकी दृष्टिसे सदिच्छा, सद्वृद्धि तथा सद्धर्मकी भावना फैलाकर एक वर्गको दूसरे वर्गका शोषक बनाया जा सकता है। चीनी कम्युनिष्ट पूँजीवादको रखते हुए भी उन्नति सम्भव समझते ही हैं। मार्क्सने भी ब्रिटेन और अमेरिका-जैसे जनवादी देशोंमें क्रान्ति बिना भी ससदीय नीतिसे सामाजिक परिवर्तन सम्भव माना है। रामराज्यकी निर्दिष्ट प्रणालीके अनुसार क्रान्ति एव सामाजिक परिवर्तन बिना भी गतिरोध दूर हो जाता है।

सामाजिक संकट

जो कहा जाता है कि 'सम्पूर्ण उत्पादन-साधनों या मुनाफा कमानेके साधनोंका समाजीकरण हो जानेसे कोई वस्तु मुनाफाके लिये कमायी ही न जायगी, उपयोगके लिये आवश्यकताके अनुसार ही सब वस्तुओंका उत्पादन होगा, अतएव

क्रय-शक्तिके घटने और बाजारमें माल न खपत होनेका प्रश्न ही नहीं उठेगा। पूँजीवादमें कल-कारखाने व्यक्तिगत होते हैं, अतः पूँजीपतिके सामने मुनाफा कमाना ही मुख्य लक्ष्य रहता है। वह आवश्यकताभर उपयोगी वस्तु पैदा करके कारखानोको बंद नहीं रख सकता, क्योंकि इससे उसका आर्थिक नुकसान होता है। वह बराबर कारखाना चलाकर माल पैदा करता है और दूसरे देशोंके बाजारोंको माल खपतके लिये ढूँढता है। बेकार मजदूरोकी परवा भी उसे नहीं होती; परंतु बेकारीसे यदि ९५ प्रतिशत मजदूरोकी क्रय-शक्ति घट जायगी तो बाजारोमे मालकी खपत न होनेसे पूँजीवादके सामने गतिरोध अनिवार्य होगा। जब सब कारखाने एवं उत्पादन-साधन मजदूर सरकारके हाथमें होंगे, तब मुनाफा कमाना उसका लक्ष्य ही नहीं होगा। वह तो उपयोगके लिये ही वस्तु-निर्माण करायेगी। उपयोग वस्तु पैदा हो जानेपर कारखानोको बंद भी रख सकती है। उसके यहाँ मजदूरोको अन्य उपयोगी वस्तु-निर्माणमे लगाया जा सकता है। सभी नागरिकोंके लिये अच्छी मोटर, अच्छे मकान, अच्छा भोजन, अच्छा वस्त्र आदि उपयोगी वस्तुओंके निर्माणके लिये नये-नये कारखाने बनाये जायेंगे। उनमें सब लोगोंको काम दिया जायगा। यन्त्रोंके पूर्ण विकास हो जानेपर जब फिर थोड़े ही समयमें थोड़े ही आदमियोंद्वारा सब उपयोगी वस्तुओंका निर्माण हो जायगा तो भी बारी-बारीसे थोड़ा-थोड़ा काम सबसे लिया जायगा। सप्ताहमें एक दिन या मासमे एक दिन ही सबको काम करना पड़ेगा। शेष समय साहित्य, विज्ञान, कला आदिके सीखनेमे लोग लगा सकते हैं। इस तरह जो समस्या पूँजीवादमे हल नहीं हो सकती, वह सब कम्युनिज्ममे हल हो जायगी।'

परंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि जहाँ भी ईमानदारीपूर्वक उत्पादन एवं ईमानदारीसे वितरणकी व्यवस्था होगी, वहाँ उक्त समस्याका समाधान हो सकता है। किसी भी अच्छे शासनका यही लक्ष्य होता है कि राष्ट्रकी जनताको योग्यता एवं आवश्यकताके अनुसार काम, दाम, आराम मिले। किसीको काम, दाम, आरामके अभावमें बेकारीका मुकाबिला न करना पड़े—यह बात कम्युनिष्ट सरकार बन जाने मात्रसे सम्पन्न नहीं हो सकती। कम्युनिष्ट सरकार भी कोई समस्या जादूकी छड़ीसे नहीं मुलझा सकती, किंतु काम, दाम, आरामके वितरणमें ईमानदारी लानेसे ही समस्याओंका समाधान हो सकता है। ईमानदारीके बिना वितरणमें वैषम्य, पक्षपात हाना स्वाभाविक है। कम्युनिष्टोंमें भी पदाधिकारके लिये होड़ चलती ही है। इसीसे जारशाही खतम होते ही क्रान्तिकारियोंमे दलबंदियों हुई और पक्षपात, मारकाट शुरू हो गयी। ईमानदारी होनेके कारण ही धर्म-नियन्त्रित राम-राज्य या कोई भी शासन उक्त समस्याका समाधान कर सकता है। अर्थात् किसीका वैध स्वत्व एवं अधिकार बिना छीने भी आमदनी एवं उसके उपयोगपर नियन्त्रण किया

जा सकता है। प्रयोज्य ढाँचे में अन्यायोपाजित बड़ी-बड़ी पूँजीको ग्रहणकर बेरोजगारों-को रोजगार दिया जा सकता है। कर्तव्य-विमुखोंका भी धन लेकर बेकारी दूर की जा सकती है। वैय, अतिरिक्त आयके भी पाँच हिस्सेमें चार हिस्सा राष्ट्रीय काममें लगाया जा सकता है। दान एवं सहायताकी परम्परा उद्बोधित कर बेकारी एवं अमृतुल्य मिटाया जा सकता है। विपत्तिकालमें जैसे राज्य-कोषसे राष्ट्रकी सहायता की जाती है, वैसे ही विपत्ति-विपत्त-कालमें मग्न या अन्य उपयोगी कामके लिये व्यक्तिगत कोष या पूँजी, भूमि अन्य साधनोंका भी राष्ट्रहितके लिये उपयोग किया जा सकता है। जैसा कि अग भी संग्रामके समय सभी राष्ट्रोंके शासकोंको विशेषाधिकार होता है कि वे किसी भी नागरिकके मकान, मोटर, रुपया आदि सरकारी कामके लिये ले सकते हैं। साथ ही जबतक महायन्त्रोंपर नियन्त्रण नहीं होता, तबतक पूँजी, श्रम एवं लाभ तथा राष्ट्रहितको ध्यानमें रखकर व्यवसायियों, समाज तथा राज्य-संचालकोंद्वारा उचित श्रम-मूल्य निर्धारण किया जायगा। जैसे-जैसे उत्तमोत्तम यन्त्रोंका विकास होगा, कम-से-कम लोगोंके द्वारा अविक-मे-अधिक माल पैदा होने लगेगा, वैसे-वैसे कामके घटोमें कमी की जायगी, मजदूरोंकी संख्या बढ़ायी जायगी। इस पक्षमें यह भी हो सकेगा कि मासभरमें प्रत्येक मजदूरको एक घंटा ही काम करना पड़ेगा और उतने ही काम करनेके बदले उसे उच्चस्तरीय जीवन-निर्वाह योग्य धन मिल जायगा और उसकी क्रय-शक्ति बनी रहेगी तथा मालकी खपत न घटेगी।

राष्ट्रहित तथा अपना घाटा रोकनेके लिये व्यवसायी भी उतना ही माल बनायेगे जितने कि खपत होगी। अपना जो धन और मजदूर अन्य उपयोगी वस्तु बनानेमें लगायेंगे। यदि जडवादी, ईश्वर-धर्म-विमुख देहात्मवादी कम्युनिष्टोंमें ईमानदारी हो सकती है, पक्षपातशून्य होकर सबका हित रोचकर ईमानदारीसे उत्पादन और वितरणका काम ठीक चला सकते हैं तो गैरकम्युनिष्ट धर्मनियन्त्रित, ईश्वर-आत्मा, लोक-परलोक तथा धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक माननेवाले रामराज्यवादी सुतरा ईमानदार हो तो ही सकते हैं। इस पक्षमें नौकरशाही रुकेगी। यन्त्रवत् अन्य प्रेरित प्रवृत्ति मिटेगी, उत्साह रहेगा, दान, पुण्य, यज्ञ, तप, परोपकारकी भावनासे राष्ट्र एवं समाजका हिताचरण अधिक सम्भव होगा। नरकका डर, स्वर्गका लोभ भी बुरे कर्मोंका निवर्तक एवं अच्छे कर्मोंका प्रवर्तक होगा। आस्तिकका भविष्य विशाल है। अन्तमें वैकुण्ठ या परम उपवर्ग उसका व्यय रहता है, जिसके लिये सर्वस्व-त्याग भी सम्भव होता है। इसके विपरीत जड कम्युनिज्ममें यह सब असम्भव ही है। मान भी लिया जाय कि कम्युनिष्टोंका स्वप्न पूरा हुआ और पूर्णतः पश्चात्तिक विकास सम्पन्न हुआ और सबके लिये ही मोटर, वायुयान, भोजन, वस्त्रादि मिलने लगा। पर यदि मनीषाभर या वर्णभरमें एक दिन एक घंटा काम करना पड़ा, तो भी शारीरिक श्रमका प्रतिदिन काम न मिलनेपर उनके शरीर अनेक प्रकारके रोगोंके शिकार हो जायेंगे। कोई विरोधी या दुश्मन होता है, तभी शास्त्रात्मक अभ्यास,

मल्ल-युद्ध तथा व्यायामादिमें प्रवृत्ति होती है। यदि वर्गभेद समाप्त हो जाय तो विरोध एव युद्धकी सम्भावना ही न रहेगी और फिर खाली मस्तिष्कमें शैतानका राज्य होगा। दुराचार, पापाचार, विलासिताकी वृद्धि होगी, जिससे स्वास्थ्य-नाशके साथ शान्ति-भङ्ग होकर भीषण क्रान्ति होगी। विलास एवं आधिपत्यकी उद्दाम कामनाकी पूर्ति कभी हो ही नहीं सकती। अध्यात्मभावना बिना अखण्ड भूमण्डलकी सुन्दरियों तथा सुन्दर भोग-साधन एक व्यक्तिको भी तृप्त करनेमें समर्थ हो नहीं सकते—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।

सर्वं नैकस्य पर्याप्तमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥

अध्यात्मशास्त्रोके अनुसार अध्यात्मविचार एवं शान्तिसे ही तृष्णाका अन्त होता है, अन्यथा नहीं। कम्युनिष्टके लिये कोई भी काम करनेके लिये न मिलनेसे अनाचार, पापाचारमें ही प्रवृत्त होना पड़ेगा, क्योंकि कोई भी बिना कुछ किये क्षणभर भी रह नहीं सकता—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । (गीता ३।५)

अध्यात्मवादमें पूर्ण यान्त्रिक विकास, अनन्त धन-धान्य एवं उपभोग-सामग्री मिलनेपर सयम, योगाभ्यास, उपासना तथा विविध कर्मकाण्ड करनेके लिये पूर्ण अवकाश रहेगा। आसन, प्राणायामादि तथा श्रौत-स्मार्त विविध कर्मकाण्डोंके करनेमें परिश्रम करनेका अवकाश रहेगा। व्याधिहीन शरीर स्वस्थ रहेगा। चित्त उपास्यब्रह्मकी उपासना एव ब्रह्मज्ञानमें दीर्घकालके लिये स्थिर रह सकेगा। चञ्चलता, तृष्णा आदिकी प्रगल्भता होकर समाधि-सम्पत्ति हो सकेगी। अध्यात्मवादीका भविष्य उज्ज्वल एव उत्साहप्रद रहेगा। जडवादी कम्युनिष्टका भविष्य अन्धकारपूर्ण एवं नैराश्यव्याप्त होगा। जडवादीके मरते ही उसका सब कुछ समाप्त हो जायगा, परन्तु अध्यात्मवादीको मरने अर्थात् देह-त्यागनेके अनन्तर इस लोकसे भी अधिक दिव्य ऐश्वर्य एव भोग-सामग्री मिलेगी। यदि दिव्य भक्ति एवं ज्ञानमें सम्पन्न होकर देह-त्याग किया गया तब तो सर्वसाधनानपेक्ष, अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्दस्वरूपावस्थानलक्षण, मोक्ष या भगवत्प्राप्ति सिद्ध होगी। निरङ्कुश एवं अनन्त तृप्ति अनन्तरूपसे प्राप्त होगी। रामराज्यवादीकी दृष्टिमें ईश्वर एवं धर्मके विरोधी मार्क्सवादी तथा धर्मनियन्त्रणरहित पूँजीवादी दोनों समाज एव विश्वके लिये हानिकारक हैं और उन्हींके आपसी संघर्ष सार्वजनिक धर्म, सुख एवं शान्ति खतरेमें पड़ सकती है। ऐसे पूँजीवाद एव साम्यवाद दोनों ही हानिकारक हैं। इन दोनोंमें ही शोषण होती है। इनमें यदि साम्यवादीके यहाँ समष्टिके नामपर मुट्ठीभर तानाशाहोंकी तानाशाहीमें विश्वके नागरिकोंका धन, धर्म, स्वतन्त्रता, शान्ति सकटग्रस्त होती है तो धर्म-नियन्त्रणरहित गोपक पूँजीवादी तथा उच्छृङ्खल साम्राज्यवादी व्यक्ति के नामपर समष्टिका शोषण करके जनतामें त्राहि-त्राहिका आर्त्तनाद फैला देते हैं। किन्तु रामराज्यवादी अर्थात् धर्मनियन्त्रित शासन-तन्त्रवादी

समष्टि-व्यष्टि दोनोंका ही समन्वय करके सर्वत्र सुख, धर्म शान्ति एव स्वतन्त्रताका साम्राज्य स्थापित करते हैं। उनके यहाँ प्रथम तो बेकारी एव शोषण फैलानेवाले महायन्त्रका ही वहिष्कार होता है, अतः सभीको स्थायीरूपसे योग्यता एव आवश्यकताके अनुसार काम, दाम, आरामकी व्यवस्था होती है। सबको विकासका पूर्ण स्वातन्त्र्य रहता है। सुख-शान्ति, लोक-परलोक, परम निःश्रेयसका मार्ग सभीके लिये प्रगस्त रहता है। दैव-दुर्विपाकसे महायन्त्रोंके विकास हो जानेपर भी पूर्वोक्त प्रकारसे शोषण हटाकर आर्थिक सतुलन स्थापित किया जाता है, जिससे आर्थिक मकट एव गतिनिरोधका कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता।

शोषकोंके अन्यायोपार्जित द्रव्य तथा कर्तव्य-विमुख लोगोंके न्यायोपार्जित या दायप्राप्त द्रव्य राष्ट्रके हितार्थ छीन ही लिये जाते हैं, परन्तु कर्तव्यपरायण लोगोंके न्यायोपार्जित द्रव्यके भी अतिरिक्त आयका स्वल्पांश ही स्वामीके काममें उपयुक्त होता है। पाँच हिस्सेमें चार हिस्सा राष्ट्रके ही काममें लगानेका नियम होता है। उसमें दान, पुण्य, यज्ञ, परोपकारका पूर्ण स्थान रहनेसे कथम्पि आर्थिक असंतुलन हो ही नहीं पाता। किसीकी बेकारी या क्रय-शक्तिका ह्रास तथा मालके खपत न होने आदिका प्रसङ्ग ही नहीं उपस्थित होता। 'पञ्चधा विभजन् वित्तम्' के अनुसार पाँच हिस्सेमें चार हिस्सेका राष्ट्र-हितार्थ जो उपयोग कहा गया है, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि चार भाग ही राष्ट्र-हितार्थ उपयुक्त हो, किन्तु उसका तात्पर्य यह है कि सामान्य-जीवन-यात्रोपयोगी अंशसे अधिक सम्पूर्ण धन राष्ट्र-हितार्थ प्रयुक्त किया जाय। तभी तो कहा गया है कि जितनेमें पेट भरे उतना ही ग्रहण करना ठीक है, अधिकमें अभिमान करनेवाला चोरके तुल्य दण्डभागी है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।

अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

(श्रीमद्भा० ७।१४।८)

धनवान् होकर दान न करना पाप है और दरिद्र होकर सदाचारी तपस्वी न होना भी पाप है। ये दोनों ही दण्डके योग्य हैं—

द्वावम्भसि निचेष्टयौ गले वद्ध्वा द्वां शिलाम् ।

धनवन्तमदातारं दरिद्रं चात्तपस्विनम् ॥ (विदुरनीति)

अतएव उत्तरोत्तर यन्त्रोंके विकाससे जैसे-जैसे अल्प श्रम एव अल्प व्ययमें उत्पादन बढ़ता जायगा, जैसे-जैसे लाभ बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे बेकारी एव आर्थिक असंतुलन दूर करनेके लिये कामके घटोकी कमी, वेतनकी अधिकता एव मजदूरीकी सख्या भी बढ़ती चली जायगी। साथ ही अतिरिक्त आय (यहाँ मावर्सवादियोंके अर्थमें अतिरिक्त आयका प्रयोग नहीं है, किन्तु टैक्स एव निर्वाहोपयोगी खर्च आदिसे बचा हुआ लाभ ही अतिरिक्त आय है) से चार हिस्सा ही नहीं, किन्तु उससे अधिक भी राष्ट्र-हितार्थ प्रयुक्त किया जा सकेगा।

समाजवादी सञ्जवाग

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता यदि अच्छी वस्तु है, उससे इतना बड़ा लाभ हुआ, तो कुछ दोष होनेसे ही वह हेय नहीं होती। बिजलीसे प्रकाश फैलाया जा सकता है, मशीन भी चलायी जा सकती है और आत्महत्या भी की जा सकती है। अतः बुद्धिमानोंका कर्तव्य है कि वे ऐसा मार्ग निकालें जिससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रताकी रक्षा हो और गतिरोध भी मिटे। वैसे भी समाजवादी गारानमें ही नहीं, किंतु सभी ढंगके शासनोमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एक सीमाके भीतर है। भाई-बहन और पिता पुत्रीका परस्पर गादी करने तथा आत्महत्या करनेमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मान्य नहीं है। इस प्रकार समाजका अहितकर काम करनेकी स्वतन्त्रता किसीकी भी मान्य नहीं। समष्टिके नामपर व्यक्तिको पंगु बना देना भी ठीक नहीं, साथ ही व्यक्तिगत स्वाधीनताके नामपर समष्टि-विरोधी कार्यवाही करनेकी छूट व्यक्तिको देना भी ठीक नहीं। इसी आधारपर व्यक्तिगत वैध-व्यपौती मिलिक्रियत या वैध-धनोंका अपहरण बिना किये भी रामष्टि-हितके अनुकूल कानून बनाये जाते हैं। आज भी सभी शासनो एव राष्ट्रोंमें सत्राम आदि सकटकालमें बहुत कुछ व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओमें सकोच मान्य होता है। अमरीका आदिने भी अपने ढंगसे उक्त गतिरोध रोका ही है।

रामराज्यशासनमें समष्टि-हितकी दृष्टिसे इस प्रकारकी व्यवस्था होती है कि किसीके दखि होने या अपने परिश्रमका पूरा फल न पानेका प्रश्न ही नहीं उठता। मार्क्सवादियोंका कहना है कि 'पूँजीपतियोंके हाथसे भूमि-सम्पत्ति, कल-कारखानोंको छीन लेनेसे मजदूर ही पैदावारके साधनोंके मालिक हो जायेंगे। फिर जो भी पैदा करेगा, वह सब उन्हींके काम आयेगा। इससे उनके भूखे नगे रहनेका डर ही न रहेगा और पूँजीपतियोंका इकट्ठा किया हुआ धन-वैभव भी उन्हींके काममें आयेगा, फिर खरीदनेकी शक्ति बढ़ जायगी और काम करनेवाले अधिक-से-अधिक पदार्थ पैदा करेंगे तथा दूसरे पदार्थोंसे विनिमय करेंगे। पूँजीपतियोंके पास मजदूरोंकी मेहनतका बहुत बड़ा भाग न जा सकेगा और मजदूरोंकी अवस्था उन्नत होगी, जैसे रूसी किसानोंकी उन्नति पहलेसे तेरह गुनी अधिक होगी है। इस तरह मजदूर, इंजीनियर, डाक्टर आदिका भी अन्तर मिट जायगा। कठोर एव अप्रिय कार्योंके लिये मशीनें बन जायेंगी, जिससे किसीको कोई भी काम कठोर और अप्रिय नहीं प्रतीत होगा। सब कामकी शिक्षा देकर सभीको सब कामके योग्य बना दिया जायगा। किसीको किसी कामके लिये बाध्य नहीं किया जायगा। यदि मशीनोंकी उन्नतिसे हजार मजदूरोंका काम दस ही मजदूरोंसे हो सकेगा तो भी मजदूर बेकार नहीं होंगे, क्योंकि उनसे अन्य काम कराया जायगा। मजदूरोंके लिये अच्छे फर्नीचर, अच्छे भवन बनाये जायेंगे। आजकी तरह मजदूर दस घंटे काम न करके वारी-वारीसे एक या दो घंटे काम करेंगे, बाकी समयमें मौज लेंगे।'।

इस तरह काल्पनिक सुख-स्वप्नका वर्णन करके समाजवादी बरातलमें स्वर्गवाम उतार देनेकी बात करते हैं, परंतु वस्तुस्थिति यह है कि जगत्की विचित्रताके साथ ही मनुष्योंमें भी विचित्रता होती है। सभी मनुष्य कामकी नवाङ्गीण शिक्षा ही प्राप्त कर सकते हैं, न मनुष्य कामके विशेषज्ञ ही हो सकते हैं और न मनुष्य प्रमाद-आलस्यग्रन्थ होकर शक्ति-त्रोय विना ईमानदारीमें शक्तिभर परिश्रम ही कर सकते हैं। यह भी नहीं हो सकता कि मनुष्य अनिवार्य आवश्यकताभर ही पदार्थ लें, अधिकका संग्रह न करें। सभी व्यक्ति स्वतन्त्र व्यक्त, हम्बर, रंगरंग मोटरकी इच्छा कर सकते हैं, सभी प्राइवेट हवाईजहाज चाह सकते हैं। सभी फर्स्टक्लासके मकान, फर्नीचर चाहेंगे, सभी वकील, जज या प्रबानमन्त्री होना चाहेंगे, फिर नावागण कायों एव वस्तुओंमें कोई क्यों मनुष्य होगा? अगर यह दृष्टा सम्भव है तो किंगी भी सिद्धान्तवादीको इसमें क्या आपत्ति होगी।

आमतौरपर कोई भी ईमानदार मानवताके नाने अपने वैयक्तिक मर्यादामें सन्तुष्ट रहता है। अन्यन्त ग्राम्य लोगोंका भी यही विश्वास है कि अपनी वैयक्तिक कमाईमें सुखी रोटीमें सन्तुष्ट रहना अच्छा है। दूरसोंकी वस्तुका अपहरण करके सुख-भोग महत्त्वकी बात नहीं है। पञ्जाबी ग्रामवासियोंका कहना है कि 'बाजरेदा डोडा चगा ठगींदा परोठा मदा' दूरसोंके साधन एव वन-वैभवको छीनकर सुखी वन जाना बड़ा मरल है, परंतु यह सुख, यह धन परिणामतः हितकर नहीं है। भारतीय नीतिशास्त्रका तो कहना है कि 'अतिक्लेशेन ये ह्यर्था धर्मस्यातिक्रमेण च। शत्रूणां प्रणिपानेन मा च तेषु मन कृया॥' (विदुः०) अति क्लेशमें, वर्मातिक्रमणमें, शत्रुचरण-चुम्बनमें जो अर्थ प्राप्त होता है वह मुनोदक नहीं होता। चोरीमें, डाकमें, छलछद्ममें, छीना-अपट्टीमें सुखी वन जाना, बनी वन जाना निन्द्य है। इन्हीं मनुष्य मान्यताओं, औचित्यानौचित्य, न्याय-अन्यायका विचार मिटानेकी दृष्टिमें कम्युनिष्ट कहने हैं, 'पुराना औचित्यानौचित्य, न्याय-अन्याय आजके कामका नहीं है।' क्या कुछ डाक भी यही नहीं कह सकते हैं कि परवित्तापहरणको अमराध मानना पुराने जमानेकी बात थी, आज यह अमराध नहीं है। फिर भी न्याय एव वर्मयुक्त मार्गमें बेकारी एव आर्थिक असन्तुलन दूर करनेका प्रयत्न सबके सामने अनिवार्यरूपसे है ही। रामराज्यवादी उसे महर्षि स्वीकार करता है। सहायता प्राप्त करके कर्तव्यपालन, बहिर्मुखोंका वित्तापहरण करके अतिरिक्त आयका पञ्चवा विभाजन, दानका प्रोत्साहन, न्यतिशेग, सर्वमृदक्षिणा आदि बागों तथा आतिथ्य मत्कारका प्रचार एव नियम बनाकर तथा वेतनकी उचित दर एव कामके घंटोंका उचित निर्धारण एव मुनाफेकी भी उचित सीमा निर्वागण करना आदि कार्य उचित कहे जा सकते हैं। साम्यवादी सरकारोंको भी सरकारी काम तथा शिक्षा, स्वास्थ्य एवं सुरक्षा, रूमचर, पुच्छिन, पलटन आदिका काम चालनेके लिये घर या गुनागना

आश्रय लेना ही पड़ेगा । सब लोग जितना कमाये उतना खा-उड़ा जायँ तो उपर्युक्त काम कैसे चलेगा ? एक व्यक्तिकी स्वतन्त्रताकी सीमा वहीतक है, जहाँतक कि दूसरोकी स्वतन्त्रतामे बाधा न पड़े । यह सभी सम्य शासन मानते हैं, यह मार्क्सकी कोई नयी बात नहीं है । परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि परस्परका सेव्य-सेवकभाव या उपकार्य-उपकारकभाव समाप्त हो जाय । सभी सैनिक यदि निजी स्वतन्त्रताकी बराबरीका दावा करे तो सेनापतिकी आज्ञा ठुकरा सकते हैं, फिर तो सैनिक-संगठनका उद्देश्य ही समाप्त हो जाय । समाजवादी किसी अन्यके चक्रवर्तित्वकी तो समालोचना करते हैं, परंतु मजदूर तानाशाही सम्पूर्ण विश्वपर कायम करनेके लिये आकाश-पातालका कुलवा भिडा रहे हैं । आखिर सोवियतसंघके सभी राष्ट्र मार्क्सके कुछ तानाशाहोके इच्छानुसार ही चल रहे हैं, विश्व कम्युनिष्ट-संघ आखिर सम्पूर्ण ससारमे कम्युनिष्ट शासन-स्थापनका प्रयत्न करता ही है । फिर राम-जैसे जितेन्द्रिय, सदाचारी, धर्म-नियन्त्रित, चक्रवर्तीके निष्पक्ष शासनमे सम्पूर्ण विश्वमे शान्ति हो, छीना-झपटी बंद हो, सब सुखी हो तो क्या आश्चर्य है ? अपने विश्वासके अनुसार सब अपना धर्म पालन करे, अपनी शक्ति एवं बुद्धिके अनुसार अर्थोपार्जन करे, अपनी कमाई अपने इच्छानुसार अपनी सत्तानोको दे सके, दान-पुण्य कर सके, लोक-परलोक बना सके, कोई किसीके धर्म एवं सम्पत्तिपर हमला न करे, सभी उन्नत सभी सुखी हो—यही तो रामराज्य है ।

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'दिखायी पड़नेवाली व्यक्तियोंमे सम्पत्ति एवं योग्यताकी असमानता मौजूद है । अध्यात्मवादी इस असमानताका दूर होना असम्भव मानते हैं, परंतु मार्क्सवादी इस असमानताको दूर कर सकनेका दावा करते हैं । असमानता दूर होनेकी ही अवस्थाका नाम कम्युनिज्म या समष्टिवाद है । इसमे यथासम्भव समानता दूर कर देनेके बाद संघटनका सिद्धान्त होगा, प्रत्येक मनुष्य अपनी सामर्थ्यभर परिश्रम करेंगे और प्रत्येक मनुष्यको अपनी आवश्यकताके अनुसार पदार्थ मिलेगा । एतदर्थ योग्यता एवं शिक्षाकी असमानता दूर होनी आवश्यक है ।' मार्क्सवादी जन्मान्तरीय कर्मोंकी विचित्रतासे असमानता नहीं मानते । वे परिस्थियोको ही इसका मुख्य कारण मानते हैं । सबको शिक्षा, मस्तिष्क एवं स्वास्थ्यकी उन्नतिका समान अवसर देकर दिखायी देनेवाली असमानता दूर की जा सकती है । जन्मसे ही अल्पबुद्धि एवं दुर्बल, गरीबोकी ही सतान होती है । अमीरोकी संताने अधिक स्वस्थ एवं बुद्धिमान् होती हैं । मार्क्सवादके अनुसार सबको समान अवसर मिलनेसे नयी पीढ़ीके लोगोंमें असमानता बहुत कुछ कम हो जायगी । कुछ पीढ़ीतक समान परिस्थियोमे मनुष्यका जन्म होनेसे प्रायः सब एक-से ही बलवान्, बुद्धिमान् होंगे । यदि पशुकी नस्लमे उन्नतिकी जा सकती है तो मनुष्यका सुधार क्यों नहीं होगा ? भले ही कुछ ढूँढ़े-ढँढ़े, अन्धे भी हों फिर भी नियम तो जन-साधारणकी दृष्टिसे ही बनते हैं ।'

वस्तुतः यह तर्क बहुत ही निःसार है । 'अमीरोंके लडके बुद्धिमान्, बलवान् होते हैं', यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि अमीरोंके लडके अधिक निर्वुद्धि एवं निर्वल होने हैं । व्यवहारमें धनवानोंको ही लक्ष्मीका वाहन अर्थात् उल्क कहा जाता है । अधिकांश धनवान् विलासी होते हैं । निर्वार्य होनेमे पहले तो उन्हें सतान ही कम होती है, जिससे इनमें दत्तकोकी भरमार चलती है । सताने उत्पन्न भी होती हैं तो निर्वल एवं निर्वुद्धि । हम पहले कह चुके हैं कि व्यापारकी दक्षता, शोषणके हथकड़े, जाल-फँदोंकी सब बाते, राजाओं, जमींदारोंके दीवान या कारिन्दे तथा सेठोंके मैनेजर-गुमास्ता लोग ही करते थे या करते हैं । आज भी ऐसे-ऐसे धनवान् हैं कि केवल धनके कारण ही उनका सम्मान किया जाता है । यदि उनको धन न होता तो कौड़ी-क्रीमत्तका भी उन्हें कोई न पूछता । हाँ, जहाँ मावधानीमे प्रयत्न किया जाता है, वहाँ धनवान्, बलवान्, बुद्धिमान् एवं धर्मनिष्ठ भी होते हैं । शास्त्रोंमें इमे पूर्वजन्मकी तपस्याओं एवं योगान्यासका फल बताया है—'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभद्रोऽभिजायते ।' (गीता ६।४१) योगभद्र अर्थात् योगकी पूर्ण सिद्धि—मुक्ति पानेके पहले मरनेवाले लोगोंका पवित्र श्रीमानोंके घरमें जन्म होता है । हरिश्चन्द्र, दिलीप, मान्वाता, अज, दशरथ, युधिष्ठिर, अर्जुन आदि इसके उदाहरण हैं । प्रायः लक्ष्मी-सरस्वतीका विरोध ही समझा जाता है । किसी ही पुण्यशालीके यहाँ लक्ष्मी-सरस्वतीका सहवास होता है, परन्तु इससे भी उच्च पक्ष महात्म्या, महामोभाग्यसे अरण्यवासी विरक्तो, निष्किंचनो, उच्छिष्ट-वृत्तिवालोंके यहाँ जन्म होना माना गया है, क्योंकि वहाँ बुद्धि-विवेककी बहुत ही प्रधानता रहती है—

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।***

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ॥

(गीता ६।४२, ४३)

भारतके जितने भी विशिष्ट विद्याएँ, ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, शिल्प, साहित्य तथा नीति आदि सम्बन्धी ग्रन्थ हैं, सबके रचयिता अरण्यवासी कन्द-मूल-फलाशी बल्कल्यसनवारी निष्किंचन लोग ही हुए हैं । वेदान्त, सांख्य, न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, योग, भारत, रामायण, योगवाशिष्ठ तथा शुक, बृहस्पति, कणिक, कौटिल्य, कामन्दक आदि नीतिग्रन्थ हैं, सबके निर्माता अकिंचन लोग ही हैं, धनवान् या पूँजीपति नहीं । शंकराचार्य, उदयनाचार्य, भट्टपाद, श्रीहर्ष, वाचस्पति मिश्र, रामानुजाचार्य, तुलसीदास, सूरदास आदि कोई भी धनवान् आदमी नहीं थे । आजके भी विभिन्न देशोंके विभिन्न नेता उन्ही वर्गोंमें हैं तथा यहाँतक कि मार्क्स भी अमीर नहीं था । सभी अकिंचन सरस्वतीके उपासक विद्वान् ही मान्य हैं । लक्ष्मीके उपासक सदा ही उनका अनुगमन करते थे । मान्वाता, हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र आदि भी वसिष्ठ आदि ऋषियोंके ही नियन्त्रणमें रहते थे ।

अतएव यहाँ उच्च शास्त्र-ज्ञानवाला निर्धन ब्राह्मण ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है। फिर यह भी तो देखते हैं कि एक ही अमीरके चार पुत्रोंको समान अवसर मिलनेपर भी कोई बहुत चतुर निकलता है, कोई भोदू निकलता है। जगत्की विचित्रताका आधार कर्मको मानना ही पड़ेगा। जहाँ इस जन्मके कर्म वैचित्र्यसे उपपत्ति न हो वहाँ जन्मान्तर-कर्मको वैचित्र्य मानना अनिवार्य है। उष्ट्र, गर्दभ, मनुष्यादिके वैचित्र्यका भी क्या कारण है? इस प्रश्नका जन्मान्तरीय कर्मके सिवा अन्य कोई समाधान नहीं है। जो इन विचित्रताओंका कारण स्वभावको कहते हैं उनसे प्रश्न होगा, स्वभाव क्या है?—सत् या असत्? असत् कहे तो उसमें कार्यक्षमता नहीं हो सकती, सत् है तो भी वह चेतन है या अचेतन? अचेतनमें भी विकाभावात् विचित्र कार्यकरत्व नहीं हो सकता। चेतन कहे तो भी अल्पज्ञ या सर्वज्ञ? अल्पज्ञमें भी विविध वैचित्र्योपेत विश्वका व्यवस्थापकत्व नहीं बन सकता। सर्वज्ञ कहे तो प्रश्न होगा कि वह सापेक्ष विचित्र सृष्टि करता है या निरपेक्ष? निरपेक्ष कहे तो उसमें वैषम्य, नैर्घृण्य दोष आयेगा। सापेक्ष कहे तो वही कर्म-सापेक्षता माननी पड़ेगी। सदा ही अध्यापको, इंजीनियरो, डाक्टरों, जजों, प्रधानमन्त्रियोंके स्थान थोड़े ही रहेंगे। मजदूरों, छात्रों, न्यायार्थियों तथा गरीबलोगोंकी संख्या ही अधिक रहेगी। अतः चींटियोंको कनभर और हाथीको मनभरका सिद्धान्त बिना माने काम चलना सर्वथा ही असम्भव होगा। फिर भी समता या विषमता असंतुलित न रहनी आवश्यक है। अति विषमता, अति समता दोनों ही अव्यवहार्य हैं। जैसे अङ्गमें भी सब बराबर नहीं होते, हाथकी अंगुलियाँ भी सब एक-सी नहीं होती हैं। फिर भी उनकी समता-विषमता संतुलित रहती है। यही स्थिति समाजकी भी उचित है। यदि कम्युनिष्ट काल्पनिक समताके आधारपर सिद्धान्त बनाना चाहते हैं तो अध्यात्मवादीके यहाँ आत्मा ही वास्तविक समानता स्वतन्त्रता भ्रातृताकी आधारभित्ति है। इतना ही नहीं, अध्यात्मवादी ही ऐसी भी अवस्थाका आना अनिवार्य मानते हैं, जब सभी परमानन्द ब्रह्मस्वरूप ही होंगे, विषमताकी गन्ध भी कहीं उपलब्ध नहीं होगी। परंतु व्यवस्था तो करनी है वर्तमान स्थितिकी, अतः हम कल्पनाओंको छोड़कर उपस्थित अवस्थामें क्या हो सकता है, यही विचार करना उचित समझते हैं। वैधानिक साधनों एवं धार्मिक, आध्यात्मिक साधनोंसे समष्टि जगत्को उच्च-से-उच्च स्तरपर पहुँचाना रामराज्यका आदर्श है। 'राममगति रत सब नर नारी। सकल परम गति के अधिकारी ॥' 'हृष्ट. पुष्ट. प्रसुदित. 'नाकुण्डली नास्रग्वी १' इत्यादि श्लोकोमें कहा गया है कि 'रामराज्यमें सभी हृष्ट-पुष्ट, प्रसुदित रहते थे। सभीके गृहोंमें हीरकादिजटित स्वर्णमय कपाट लगे रहते थे।' फिर भी वास्तविकता यह है कि पदार्थोंकी उत्पत्तिकी कुछ सीमाएँ हैं। यदि सभी स्वतन्त्र हवाईजहाज, सभी हम्बर, रोलस, व्यूक मोटर चाहे, सबके-

सब उच्चस्तरीय साधन चाहेंगे तो उसकी पूर्ति तो हजारों नहीं लाखों वर्षतक हो सकना सम्भव नहीं। गली-गलीमें विजलीका फैल जाना या मिलोंके द्वारा कपडा जितना सरल है उतना भारतके पैतीस करोड आदमियोंको एक-एक वायुयान, एक-एक व्यूक मिलना सरल नहीं। इमी तरह केमर, कस्तूरी, हीरा आदिका मिलना भी सम्भव नहीं है। जब सभी लोग सब चीज बना नहीं सकते तो विनिमयद्वारा वस्त्वन्तर प्राप्त करनेकी आवश्यकता रहेगी ही। फिर वस्तुओकी विनिमय-मुविधाके लिये रुपया या मुद्राका व्यवहार आवश्यक होगा। स्थानान्तरसे वस्तु स्थानान्तरमें पहुँचाना आवश्यक होगा। इसपर कुछ व्यय एवं श्रम भी होगा। व्यक्ति या सरकार जो भी यह कार्य करेगा कुछ-न-कुछ लाभ अश्व्य चाहेगा। हाँ, यह ठीक है कि मुनाफा सीमित हो, अव्यवस्था फैलानेवाला न हो। आजके विस्तृत यातायात-सम्बन्धोंका यह भी एक महान् लाभ है कि ससारके किसी कोनेमें कोई वस्तु क्यों न उत्पन्न हो ओर कहाँ भी किसी वस्तुकी कमी क्यों न हो, फिर भी देशान्तरकी वस्तु देशान्तरमें पहुँचनेमें कोई कठिनता नहीं। अतिवृष्टि, अनावृष्टिसे कहीं भी भुखमरी नहीं हो सकती। परंतु यदि क्रय-विक्रयका व्यवहार मिट जायगा तो यह सब सम्भव न होगा। अनेक रोजगारोंके समान ही क्रय-विक्रय भी एक धधा है। लाभ बिना उसे कौन अपनायेगा? हाँ, लाभ सीमित हो, उसपर नियन्त्रण हो, यह तो आवश्यक ही है। भुखमरी मिटाना अमीर, गरीब सबके ही अग्र्युदयका प्रयत्न करना अपेक्षित वस्तुओका उत्पादन बढ़ाना अत्यावश्यक है ही।

समाजवादी कहते हैं कि रूसमें रोटीकी कमी नहीं है। सम्भव है कुछ ही दिनोंमें वहाँ रोटी सबको मुफ्त मिलने लगे, जैसे होटलोमें पानी मुफ्त मिलता है। परंतु रामराज्यका तो आदर्श यह था कि किसी भी जगह पानी मॉगनेपर दूध ही पिलाया जाता था। देनेवाले सदा ही देनेकी कोशिश करते थे, परंतु लेनेवाले अपनी गाढी कमाईका ही खाना पसंद करते थे। प्रतिग्रहसे हर तरहसे बचनेका प्रयत्न करते थे। रूसी तो फिर भी यह कहते रहेगे कि जो काम न करे उसको खाना मिलना ही न चाहिये। फिर जहाँ लोगोकी व्यक्तिगत सम्पत्ति ही न रहेगी, वहाँ काम लेकर रोटी देनेका प्रसङ्ग ही क्या है? रामराज्यमें वृद्ध, बालक काम न कर सकनेवालोंको भी भोजनादिकी मुविधा रहेगी। जिस व्यक्तिगत सम्पत्तिमें सबकी कमाई नहीं सम्मिलित है, उसके द्वारा लोगोको मुफ्त रोटी देनेकी विरोधता ही मुख्य विशेषता है। साम्यवादी व्यवस्थामें तो सबकी कमाई सम्मिलित ही रहती है। रामराज्यकी सभ्यता ही थी कि रोटी एवं दूध आदिका कोई गृहस्थ विक्रय करना पाप समझता था। क्षीर-विक्रय, रस-विक्रय तो स्पष्ट निषिद्ध है। रामराज्यमें आवश्यक उपयोगी पदार्थ सबको सरलतासे सुलभ करना ध्येय ही है। समाज-

वादी कहते हैं कि गैरसमाजवादी देश व्यापारमें होड़ करते हैं। दूसरे देशोंके बाजारोंपर कब्जा करना चाहते हैं, जिससे सबको युद्धके लिये तैयार रहना पड़ता है। पूँजीवादी शासन-प्रणाली रहते-रहते यदि कोई देश निःशस्त्र हो जाय तो खूँखार पूँजीवाद देश उसे झपट लेते हैं। युद्धकी तैयारीमें लगे रहनेसे पैदावारमें बाधा पड़ती ही है। प्रायः सभी देशोंकी आमदनीका बहुत बड़ा भाग शस्त्रास्त्र एवं फौजोंपर खर्च हो जाता है। धनके इस भागका फल मिलता है भय, कष्ट एवं अकालमृत्यु। यह सब धन मनुष्योंकी हालत सुधारनेमें लगानेसे बहुत लाभ हो सकता है। लाखों बलवान् जवान युद्धकी तैयारीमें फँसे रहते हैं, पैदावारका काम नहीं कर सकते। इनका सम्पूर्ण समय मरना, मारना, सिखने-सिखानेहीमें खर्च होता है। यदि मुनाफा कमानेकी भावना छोड़कर उपयोगके लिये ही माल तैयार किया जाय तो अन्ताराष्ट्रिय पूँजीवादी होड़ समाप्त हो जायगी। फिर न दूसरे देशोंकी बाजारोंकी जरूरत रहेगी और न युद्ध आवश्यक होगा।

आधुनिक पूँजीवादी या समाजवादी सभी शासन धर्महीन होनेका ही महत्त्व समझते हैं। इसीलिये व्यक्तिगत स्वार्थकी इतनी प्रधानता हो गयी है कि एक दूसरेकी हत्या उनकी दृष्टिमें साधारण-सी बात होती है। धर्म, नियन्त्रित रामराज्यमें युद्धकी अपेक्षा गान्तिका ही सर्वातिशायी महत्त्व होता है। साम, दान, भेद तीनों नीतियोंसे ही सब काम चलाना श्रेष्ठ है, परंतु सर्वथा तीनों नीतिके विफल होने एवं अनिवार्य होनेपर ही चतुर्थ दण्ड-नीतिका प्रयोग करना उचित बतलाया गया है। अहिंसा एवं सत्यसे सम्पूर्ण व्यवहार चलाया जाय, विरोधियोंका भी भाव ही बदलनेका प्रयत्न उचित है, परंतु फिर भी तो आखिर समाजवादी रूसको भी तो द्वितीय महायुद्धमें कूदना पड़ा ही और लालसेनाके करोड़ों सैनिकोंको भरती करना ही पड़ा। परमाणु बम, हाइड्रोजन बम आदि घातक अस्त्र-शस्त्रोंपर अरबों रुपये खर्च करने पड़ रहे हैं। आखिर जो युद्ध अनुचित समझता है उसकी इस प्रकारकी चेष्टा क्यों? जैसे समाजवादी कहते हैं कि 'जब विश्वभरमें कम्युनिष्ट राज्य कायम हो जायगा, तब कोई खतरा न रहेगा, तब युद्ध-तैयारी बंद की जा सकेगी। उसके पहले तैयारी न रखनेसे तो पूँजीवादी राष्ट्र रूसको हड़प लेंगे।' किंतु यह तो कोई भी कह सकता है कि 'जब विश्वभरमें एक चक्रवर्ती सरकार बन जायगी, तब युद्ध आवश्यक न रहेगा' परंतु प्रश्न तो यह है कि जबतक दोनोंके मनोरथ नहीं पूरे होते, तबतक क्या होना चाहिये? वस्तुतः इस समय क्या पूँजीवादी, क्या समाजवादी अपना-अपना गुट बलवान् बनानेमें लगे हैं। इस समय उपनिवेशवाद समाप्त हो रहा है, परंतु अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रके विस्तारमें सब लगे हैं। अमेरिका अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ा रहा है, रूस अपना। इसके लिये ही शस्त्रास्त्रकी तैयारी एवं कूटनीतिक दौंव-पेच दोनों ओरसे चले जा रहे हैं, परंतु रामराज्यवादी

इस सम्बन्धमें व्यापक दृष्टिकोणसे विचार करते हैं । अहिंसा, मत्स्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदिके नियम विश्वव्यापी एवं विश्वके हितार्थ हैं । प्रत्येक व्यक्तिको समाज, राष्ट्र एवं विश्वके हानिकारक किसी काममें नहीं प्रवृत्त होना चाहिये । समष्टिके अविरोध ही व्यक्ति की चेष्टा आदरणीय है । अहिंसा आदि समष्टि सामाजिक समझौतेका आदर सबको करना चाहिये ।

मार्क्सवाद एवं राष्ट्र

परन्तु जबतक सभी राष्ट्र एवं समाज इस उच्चकोटिके मिष्टान्तको मान नहीं लेते, तबतक क्या किसी सज्जन व्यक्ति या राष्ट्रको किसी कृदनीतिक व्यक्ति या राष्ट्रकी कृदनीतिका शिकार बन जाना चाहिये ? रामराज्यवादी ऐसे अवसरके लिये अनिवार्यरूपमें आनेवाले युद्धका स्वागत करता है । मायावीके साथ निरी साधुनासे काम नहीं चलता ।

यस्मिन्न्यथा वर्तते यो मनुयन्मस्मिन्नथा वर्तितव्यं स धर्मः ।

मायाचारो मायया बाधितव्य साचाचार साधुना प्रनुपेयः ॥

(महा० शा० प० १०९। ३०)

समरमें जब कृतयुगके प्रारम्भमें मत्त्वगुणका पूर्ण प्रभाव था, सभी धर्म नियन्त्रित थे, तब युद्धकी आवश्यकता नहीं थी । परन्तु समार त्रिगुणात्मक है, इसमें रज और तम भी हैं ही । फिर कभी उनका भी उद्भव सम्भव है । जब अत्यन्त तामस, राजस, आदमीपर उपदेशका असर नहीं पड़ता, तब वहाँ दण्डविधान अनिवार्य ही होता है । तभी तो प्रत्येक राष्ट्रमें कानून, दण्डविधान, पुलिस, थाना, जेल आदिकी व्यवस्था है । ये ही व्यक्ति के उपद्रव समष्टिमें भी फैलते हैं । तब बड़े युद्धोंका रूप बन जाता है । समाजवादियोंको ही अपने विरोधियोंके दमनार्थ क्या-क्या नहीं करना पड़ता है । कितने गुप्तचर, कितनी पुलिस, पर्ज (मफाया) में सलग्न है । रामराज्यमें अन्यायी रावणको भी पहले अन्यायसे विरक्त होनेके लिये समझाया-बुझाया गया था । जब अनेक प्रकारसे समझाने-बुझानेपर भी रावण रास्तेपर नहीं आया, तब उसे दण्ड देना अनिवार्य हो गया । यही रामराज्यका युद्ध है । ऐसा युद्ध निरावरण साक्षात् स्वर्गका द्वार है, इससे पराङ्मुखकी अकीर्ति तथा पुण्यलोकोंका नाश भ्रुव है—

अथ चैश्वमिम धर्म्य संग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ (गीता २। ३३)

समष्टि-हितके लिये महायन्त्रका प्रवर्तन बंद होना चाहिये । रामराज्यशासनमें उत्पादनमें मुनाफाको प्राथमिकता न देकर राष्ट्रकी आवश्यकताको प्राथमिकता दी जायगी । सरकारद्वारा निर्धारित राष्ट्रहितानुकूल योजनाका अनुसरण करना सभी उद्योगपतियोंका कर्तव्य होगा । अतः आधुनिक जडवादियोंके समान बाजारों,

यन्त्रो, पेट्रोल आदिके लिये रामराज्यमें युद्ध नहीं होंगे । धर्म, संस्कृति तथा गरीबोंके हित-स्वत्वोंकी रक्षाके लिये अनिवार्य होनेसे युद्धका स्वागत किया जायगा । ससारमें आर्तनाद न हो, अन्याय-अत्याचार न हो, किसीकी बहू बैटियोंके सम्मानपर आँच न आवे, इसीलिये बलवानोंका बल एव अस्र-शस्त्र आदि अपेक्षित होते हैं और अपेक्षित होते रहेंगे ।

मार्क्सवादी कहते हैं, 'आज मजदूरोंके लिये देश-भक्तिकी बात व्यर्थ है । जब कोई पूँजी देशमें लगती थी, तब कुछ मजदूरोंको लाभकी सम्भावना भी थी । परन्तु, जब पूँजीपति अपनी पूँजीको उन विदेशोंमें लगाना पसंद करते हैं, जहाँ मजदूर कम देनी पड़े और कच्चे माल सस्ते पड़े, तब ऐसे पूँजीपतियोंके देशके मजदूर देशभक्तिके नामपर अपनी जान क्यों दे ?' मार्क्सवादीकी दृष्टिमें 'जिसकी कोई सम्पत्ति नहीं, उसका कोई खास देश नहीं होता । केवल दो हाथ ही उसकी अपनी सम्पत्ति है । जहाँ मजदूरी मिल जाय, वही उसका देश है । पूँजीपति भी अपने लाभके लिये लाखों किसानों-मजदूरोंको तोपकी आगमें झुलसा डालते हैं । इनकी जीतोंमें मजदूरोंका कोई लाभ नहीं होता ।'

उपर्युक्त बातें किसी देश-कालके लिये सही हो सकती हैं, परन्तु यह व्यापक सत्य नहीं है । आस्तिक लोग जननी, जन्मभूमिको स्वर्गसे भी श्रेष्ठ मानते हैं—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।' उच्छ्वासिल वृत्तिवाले अकिंचन महर्षि—जिनकी भौतिक सम्पत्ति कुछ नहीं—उन्हे भी मातृभूमिकी भक्ति मान्य होती है । देशधर्मकी रक्षा और कल्याणके लिये वे भी अपने सर्वस्वका त्याग करने ही रहने हैं । भारतीयोंमें तो प्रातःकाल ही धरित्रीपर पाद-विन्यास करनेके पहले धरित्रीकी वन्दना की जाती है, परन्तु वे मातृभूमिकी भक्तिके साथ मातृपति परमेश्वरको नहीं भूलते । उनकी मातृभूमि संकीर्ण एव किसीकी हानि पहुँचानेवाली नहीं होती । इसीलिये वे समुद्रवसन, पर्वतस्तनमण्डला धरित्रीको विष्णुपत्नी मानते हैं—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले ।

विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्व मे ॥

कहींके भी मजदूर कोई राष्ट्रसे बाहरकी वस्तु नहीं—विशेषतया भारतमें तो उच्च खानदानके ब्राह्मण, क्षत्रियादि ही मजदूर बनकर अपना जीवन बिता रहे हैं । उनकी अपने देश, धर्म, जातिका ध्यान रहता है, उसका रक्षण उन्हे अभीष्ट है । पूँजीपतिके लिये नहीं, अपने लिये, अपने धर्मके लिये भी उन्हे देशभक्ति आवश्यक होती है । वस्तुतः इसीलिये धार्मिक तथा सांस्कृतिक इतिहासोंके संस्कारोंने ओतप्रोत भावनाके बिना राष्ट्रियताका कोई महत्त्व नहीं होता । जो जड़वादी विश्वसूत्रको ही नहीं मानता; अपने माता-पिताका ही महत्त्व नहीं

मानता, वह देशका महत्त्व क्या मानने लगा ? जिनका मत है कि 'माता अपने स्वार्थसे दूध पिलाती है; क्योंकि दूध बिना निकले उसे कष्ट होता है । शिशु भी क्षुधासे पीड़ित होकर स्तन पीने लगता है', उन्हें देशभक्तिसे क्या लेना ? पर जलमें मेढक भी होता है, मीन भी होती है । मेढकका जल-स्नेह नगण्य है, परतु मत्स्य जलका अनुरागी है । जडवादियोंको जहाँ रोटी मिले, वही उनका देश है, परतु धार्मिक-सांस्कृतिक भावनावाले तो अपने पूर्वजों तथा अपनी जन्मभूमिके प्रदेशको, 'अपने पावन तीर्थों, अवतारों, देवताओं, महापुरुषोंके तपःपूत लीलाभूमिको बड़ी आदरकी दृष्टिसे देखते हैं और उसकी रक्षा तथा सम्मानके लिये उन्हें आत्मबलिदान करनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता । गोस्वामी तुलसीदासके राम कहते हैं—

अद्यपि सब वैकुण्ठ बसाना । वेद पुराण विदित जगु जाना ॥

अवध पुरी सम प्रिय नहीं सोऊ । यह प्रसंग जानइ कोऊ कोऊ ॥

जन्मभूमि नम पुरी सुहावनि । उत्तर दिति वह सरजू पावनि ॥

मार्क्सवाद एवं युद्ध

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'युद्ध जगलीपनका चिह्न है । स्वयं कमाकर खानेके बजाय दूसरोंसे छीनकर पेट भरना ही युद्धका स्वरूप है । सामाजिक भावना एवं सहयोगकी बुद्धि होनेसे परिवारके रूपमें सगठित होते ही आपसी लड़ाई बंद हो गयी । एक परिवारके आदमी एक हित समझकर आपसमें न लड़कर दूसरे परिवारसे लड़ने लगे फिर लड़ाईके बजाय परिवारोंमें भी सहयोगकी भावना हुई । फिर गाँवभरका एक हित समझनेकी बुद्धि हुई तो परिवारोंका भी युद्ध बंद होकर गाँवोंका युद्ध होने लगा । मनुष्यकी आवश्यकताओं एवं पैदावार-साधनोंके बढनेसे आत्मीयताका क्षेत्र बढ गया और फिर देशका संगठन होने लगा । परतु अब तो वैज्ञानिक विकासके युगमें कोई भी देश दूसरे देशकी सहायताके बिना अकेले रह नहीं सकता । सभी देशोंके परस्पर सम्बन्ध हैं, अतः उनमें भी सहयोगका सम्बन्ध होना चाहिये । इतिहासके क्रमको देखते हुए अब वह समय आ गया है कि देशों एवं राष्ट्रोंको मिटाकर सम्पूर्ण ससार एक राष्ट्रका रूप धारण कर सके । पूँजीवादी-प्रणालीमें साम्राज्यवादके रूपमें देशोंके सगठनका प्रयत्न होता है; परतु उसके मालिक दूसरे-दूसरे देशों एवं उपनिवेशोंका शोषणकर स्वार्थसिद्धिकी चेष्टा करते हैं । अतः अन्य देशोंके असतोष एवं बगावतकी भावना बनी ही रहती है । अतः समाजवादी प्रणालीके आधारपर ही यह सगठन सम्भव है । इसीलिये अन्ताराष्ट्रिय कम्युनिष्ट-संघकी चेष्टाएँ सभी राष्ट्रोंमें चलती रहती हैं । ससारके प्रत्येक देशको विश्वव्यापी समाज और राष्ट्रका अङ्ग बन जाना चाहिये और उनका परस्पर सहयोग होना चाहिये । इस तरह युद्धोंका भय सदाके लिये दूर हो सकता है । एक देशके किसानों-मजदूरोंमें दूसरे देशके किसानों-मजदूरोंसे कोई द्वेष नहीं रहता, अतः उनका ही राज्य होना ठीक है ।'

इस सम्बन्धमें रामराज्यवादीका कहना है कि 'युद्धका खतरा मिटे, विश्व व्यापी संघटन बने, विश्व सरकार बने', यह सब बात अच्छी है, परंतु वह समाजवादकी ही सरकार हो ऐसा आग्रह क्यों ? भौतिकवादी अपना विचार सभी राष्ट्रो एवं सभी व्यक्तियोंपर लादना चाहते हैं, परंतु संसारमें आज भी अरबों मनुष्य ईश्वर, धर्म एवं अपने वेद, बाइबिल, पुराण, कुरान, अवेस्ता एवं मन्दिर, मसजिद, गिरजा, गुरुद्वारामें विश्वास रखते हैं । अपने शास्त्रोंके अनुसार अपने धर्म, कर्म, संस्कृति, सभ्यताका पालन करते हैं । वे अपने पूर्वजोंके ऐतिहासिक गौरव तथा अपनी बपौती, मिलिक्यतके स्वामी होनेका विश्वास रखते हैं तथा अपनी कमाई अपने बेटो-पोतोंके लिये छोड़ना उचित समझते हैं । फिर सबको तिलाञ्जलि देकर अपनी सभ्यता, संस्कृति, सम्पत्तिसे हाथ धोकर जडवादकी पराधीनता स्वीकार करना किसे अभिमत हो सकता है, जहाँ अपना विचार व्यक्त करने, प्रचार करनेकी भी स्वाधीनता नहीं है और न प्रेस-पत्र, भूमि, सम्पत्ति आदि सामग्री ही है । वस्तुतः पारिवारिक संगठनमें भी व्यक्ति मिट नहीं जाता, उसे कभी भी पृथक् रहनेकी स्वाधीनता रहती है । इसीलिये बृहस्पतिने भी सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथाका पोषण करते हुए भी कहा है कि सम्मिलित कुटुम्बमें पृथक् पृथक् व्यक्ति अग्निहोत्र, बलिवैश्वदेव, श्राद्ध आदि नहीं कर सकता । एक गृहपति—घरका पुरखा ही सब करता है—

एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम् ।

एकं भवेद् विभक्तानां तदेव स्याद् गृहे गृहे ॥

(बृहस्प० स्मृ० गायक० सं० २६ । ५)

अतः पृथक् धर्मानुष्ठानकी दृष्टिसे पृथक् भी रह सकते हैं ।

एवं सह वसेयुर्वा पृथग् वा धर्मकाम्यया ।

पृथग् विवर्धते धर्मस्तस्माद् धर्म्या पृथक्क्रिया ॥

(मनु० ९ । १११)

वस्तुतः वृक्षोंका समुदाय ही बन होता है । ऐसे ही व्यक्तियोंका समुदाय ही समाज होता है । वृक्षोंके कटनेसे वन कट जाता है, अतः व्यक्तियोंके परतन्त्र एवं जडप्राय होनेसे समाजकी भी वही दशा होगी । केवल समाजके नामपर कुछ तानाशाहोंके हाथमें ही विश्वका जीवन डाल देना कौन बुद्धिमान् ठीक समझेगा ? अतः इसकी अपेक्षा रामराज्यकी व्यवस्था कही श्रेष्ठ होगी, जिसमें सभी व्यक्तियों, जातियों, सम्प्रदायों एवं राष्ट्रोंके अपने विश्वासके अनुसार अपना धर्म, ईश्वर एवं शास्त्र मानने, विचार व्यक्त करनेकी पूर्ण स्वाधीनता होगी ।

पुराण, कुरान, वेद, बाइबिल, मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, गुरुद्वारा—सबका सम्मान रहेगा । सभी अपने तीर्थों, देवस्थानोंका आदर कर सकेंगे । सभीका

अपनी वपौती—मिल्कियतपर अधिकार रहेगा । अपने विचारका प्रचार करने, सगठन, प्रेस-पत्र आदि स्थापित करनेकी सक्ती छूट होगी, अर्थात् व्यष्टि एव समष्टि सभीको लौकिक, पारलौकिक अभ्युत्थान एव परम निःश्रेयस प्राप्त करानेकी सुविधा उपस्थित की जायगी । समष्टि व्यष्टिका उपोद्बलक होगा । व्यष्टि समष्टिके अविरोधेन आत्मोन्नतिके लिये प्रयत्न करते हुए समष्टि-सेवामें स्वेच्छासे ही प्रवृत्त होंगे । जैसे कुटुम्बका विश्वासभाजन, ईमानदार, निष्पक्ष, सर्वहितैषी व्यक्ति गृहपति (वरका पुरखा) होता है, इसी प्रकार मण्डल, राज्य, राष्ट्र एव विश्वका पालन करनेवाले व्यक्तियों या व्यक्ति-समूहोंको भी सबका विश्वासभाजन, निष्पक्ष, सर्वहितैषी एव ईमानदार होना अनिवार्य होगा । फिर भी यह भूलना न चाहिये कि परिवार बन जानेपर भी परिवारके सदस्योंमें लडाईं होती है, ग्राम बन जानेपर भी ग्रामीणोंमें लडाईं होती है, राष्ट्र बननेपर भी राष्ट्रके भीतर सब उपद्रव दंते हैं । रूममें भी एक दूसरेको हटाकर अधिकारारूढ होनेका प्रयत्न करते ही हैं, उम्मी तरह आगे भी यह सघर्ष रहेगा । अतः जवतक अविवेक, अविचार, अभिमान, अधर्मको रोकनेके लिये सत्य एवं मार्त्विक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि गुणों तथा शास्त्रों एवं आध्यात्मिक जीव-ब्रह्मादिकी भावना दृढ नहोगी, तवतक कुटुम्बका भी सगठन असम्भव है, विश्व-सगठनकी बात तो दूर है ।

वस्तुतः इस मार्गमें ही राष्ट्र, एवं विश्वका सघटन सम्भव है । रामराज्यका तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्'का सिद्धान्त है ही । किं बहुना, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक विश्वको समताका आस्पद बनाकर अभेद-भावना करके उसे आत्मस्वरूप समझना एक उदात्त उपासना है । फलतः तदनुसार चेष्टा ठीक ही है । समष्टि-अविरोधेन राष्ट्र, समाज या व्यक्तिका अपने विकासकी स्वाधीनता होनेसे उनपर जिम्मेदारी होगी, अपनी हानि और लाभकी बाते सोचना, आलस्य-प्रमादका छोड़ना, सावधानी-तत्परताके साथ पुरुषार्थके लिये अग्रसर होना सम्भव हो सकेगा । तभी विश्वकी उन्नति और गान्ति होगी । तानाशाही-शासन यन्त्रका कल-पुर्जा बन जानेसे सभी व्यक्ति या देश जड़-यन्त्रवत् हो जायेंगे । उनका विकास रुक जायगा । समाजवादी कहते हैं कि 'अपने लाभके लिये ही परिश्रम करना, शक्तिसंचय करना, यह मनुष्यकी प्रकृति नहीं है—यह तो एक अभ्यास है, जो मनुष्यकी परिस्थितियोंके अनुसार बन जाती है । प्राचीन कालमें युद्ध होनेपर हारनेवाले व्यक्तियोंको मारकर खा जाते थे । बलवान् कमजोरोंके घन, स्त्रियों आदि छीन लेते थे । ज्योंके लिये राजा लोग चढाई करते थे । उस समय समाजका यही अभ्यास था, परंतु आजका मनुष्य इसे नहीं सहन कर सकता । असभ्य लोगोंमें आज भी लूटपाट चलती रहती है, परंतु आज मनुष्यका स्वभाव बदल गया है ।

अतः हानिके डर एवं लाभके लोभसे काम करनेकी आदत बदल सकती है। आज दिन प्राणी कमाता है। खर्च करनेसे अधिक बटोरकर भी रखता है; क्योंकि उसे भय है कि उसे आगे शायद पदार्थ न मिल सके पर यह ठीक नहीं, इसका उत्तर पीछे विकासवादके खण्डनमें विस्तारसे आ चुका है।

अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें पूँजीवाद

मार्क्सके अनुसार वैज्ञानिक साधनोंके विकाससे पैदावारकी शक्तिके बहुत अधिक बढ़ जानेपर जब भिन्न-भिन्न देशोंके पूँजीपति अपनी पैदावारको अपने देशमें नहीं खपा सकते, तब उन्हें दूसरे देशोंके बाजारोंमें अपना माल पहुँचाना पड़ता है। पूँजीपति अपना माल दूसरे देशोंमें बेचकर मुनाफा उठाना तो पसंद करते हैं, परंतु अपने देशमें दूसरे देशके पूँजीपतियोंका माल आकर बिकना पसंद नहीं करते; क्योंकि इससे उनके मुनाफेका क्षेत्र घट जाता है। इसके अतिरिक्त प्रकृतिने उपयोगी पदार्थोंको सभी देशोंमें समानरूपसे नहीं बाँट दिया है या प्रकृतिने अलग-अलग देशोंको अपना-अपना निर्वाह अकेले कर सकनेके योग्य नहीं बनाया। व्यापार, व्यवसाय और पैदावारके कुछ पदार्थ एक देशमें बहुत अधिक मात्रामें मिल सकते हैं, और कई ऐसे पदार्थ हैं, जो उस देशमें नहीं मिल सकते। जापानमें कोहा नहीं मिलता, इंग्लैंडमें रुई नहीं पैदा होती, जर्मनीको पेट्रोल बाहरसे लेना पड़ता है। स्वीडनको अपना लोहा बाहर भेजना जरूरी है। कनाडा अपनी लकड़ीको नहीं खपा सकता; अमेरिका अपनी रुईको बेचनेके लिये जगह ढूँढता रहता है। ये पदार्थ इन देशोंको दूसरोंसे लेन-देने पड़ते हैं। कोई देश अकेले अपना निर्वाह नहीं कर सकता, परंतु प्रत्येक देशके पूँजीपति अपने-अपने व्यवसायमें मुनाफा कमानेके लिये दूसरे देशोंके व्यापारिक आक्रमणसे बचाना चाहते हैं और दूसरे देशोंपर आक्रमण करना चाहते हैं।

मार्क्सवादी कहते हैं कि “साम्राज्यवादके ऐतिहासिक विकासकी तुलना हम पूँजीवादसे इस प्रकार कर सकते हैं। पूँजीपति व्यक्तिकी ही तरह किसी उन्नत देशके पूँजीपति अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें कम हैसियतके पूँजीवादी राष्ट्रोंको कुचलकर शोषण-क्षेत्रपर अपना एकाधिकार कायम करनेका यत्न करते हैं। जिस प्रकार पूँजीपति एक व्यापारीकी अवस्थासे औद्योगिक साधनोंद्वारा पैदावारके पदार्थोंको बनानेवाला बनकर मुनाफेके जरिये भारी पूँजी इकट्ठी कर चुकनेके बाद स्वयं कुछ भी न कर, रुपयेके रूपमें अपनी पूँजीकी शक्तको उधार देकर पैदावारका मुख्य भाग स्वयं खाँचना रहता है, उसी प्रकार पूँजीपति देश अन्ताराष्ट्रिय बाजारमें पहले केवल व्यापार, वाणिज्यद्वारा पूँजी इकट्ठी करते हैं। उसके बाद अपनी औद्योगिक पैदावार दूसरे देशोंपर आदते हैं और इस अवस्थासे उन्नति कर दूसरे देशोंको अपनी पूँजीमें जकड़ना आरम्भ करते हैं। ऐसी अवस्थामें पहुँचकर पूँजीपति देश स्वामीन देशों और उपनिवेशोंकी पैदावारमें कोई भाग नहीं लेते।

ये देश पैदावारका मुख्य साधन पूँजी उन देशोंमें लगाकर मुनाफेका भाग खींचते रहते हैं और उन देशोंकी आर्थिक प्रगति और राजनीतिपर अपना नियन्त्रण रखते हैं। जिस प्रकार पैदावारके साधनोंके मालिक, पूँजीपति और परिश्रम करनेवाली साधनहीन श्रेणीके हितोंमें विरोध होता है, पूँजीपति श्रेणी परिश्रम करनेवाली श्रेणीके परिश्रमको मुनाफेके रूपमें निगलती रहती है, उसी प्रकार अन्ताराष्ट्रिय पूँजीवाद अर्थात् एक देशके पूँजीपतियोंद्वारा दूसरे देशपर अधिकारका अर्थ हो जाता है—पराधीन देशके परिश्रमका शोषण।

‘जिस प्रकार परिश्रम करनेवाली श्रेणीके शोषणसे पूँजीपति अपनी शक्तिको बढ़ाकर अपने शोषणका क्षेत्र बढ़ाता है, उसी प्रकार अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें साम्राज्यवादी देश एक देशका शोषणकर दूसरे देशोंको पराधीन बनाकर शोषण करनेकी शक्ति प्राप्त करते हैं। मार्क्सवादके अनुसार जिस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्थाका अन्त एक देशमें उसे समाप्त कर देनेसे नहीं हो सकता, उसी प्रकार साम्राज्यवादका अन्त भी किसी एक देशके प्रयत्नमें नहीं हो सकता। उसके लिये साधनहीनोंके संगठित अन्ताराष्ट्रिय प्रयत्नकी आवश्यकता है। जिस प्रकार एक देशमें पूँजीवाद साधनहीन श्रेणीको पैदाकर अपनी विरोधी शक्ति पैदा कर लेता है, उसी प्रकार अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें साम्राज्यवादी देश शोषणके क्षेत्रको घेरकर नये शोषित देश पैदाकर अपना विरोध करनेवाली शक्ति पैदा कर देते हैं। जिस प्रकार पूँजीपति अपने देशमें पैदावारके साधनोंपर अधिकार जमाकर मेहनत करनेवाली श्रेणीको जीवन-उपायोसे हीन कर देता है, उसी प्रकार एक पूँजीवादी देशके साम्राज्यका विस्तार व्यापारके क्षेत्रोंको अपने वशमें कर नये उगते हुए राष्ट्रों और पराधीन राष्ट्रोंके जीवनको असम्भव कर देता है। जिस प्रकार एक देशमें आर्थिक सकट लाकर पूँजीवादी व्यवस्थाकी अयोग्यताको स्पष्ट कर देता है और नयी व्यवस्था लानेकी आवश्यकता उपस्थित कर देता है, उसी तरह अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें साम्राज्यवादी देश साम्राज्यवादके आगे विस्तारको असम्भव कर देते हैं और नयी व्यवस्था लानेको बाध्य करते हैं।

काट्स्कीका कहना है कि ‘साम्राज्य-विस्तारका यत्न पूँजीवादका आवश्यक परिणाम नहीं। साम्राज्य-विस्तार नीतिकी जिम्मेदारी पूँजीवादी देशोंके कुछ एक पूँजीपतियोंपर है। इस विषयमें यदि पूँजीवादी देश समझौता करके अपने मालको खपानेके लिये और कच्चा माल प्राप्त करनेके लिये ससारको बॉट ले तो सभी पूँजीवादी राष्ट्रोंकी आवश्यकता पूरी हो सकती है और अन्ताराष्ट्रिय युद्धोंका होना जरूरी नहीं रहेगा।

परन्तु मार्क्सवादियोंके विचारमें काट्स्कीका यह सिद्धान्त न तो इतिहासके अनुभवपर पूरा उतरता है और न पूँजीवादके विकासके मार्गके अनुकूल ही है। काट्स्की इस बातको भूल जाता है जिस प्रकार एक देशमें आर्थिक हितोंकी

रक्षाके लिये श्रेणियों राजनैतिक शक्तिका व्यवहार करती हैं, उसी प्रकार अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें पूँजीवादी राष्ट्र अपने आर्थिक हितोंकी रक्षाके लिये अपने राष्ट्रोकी सैनिक शक्तिका व्यवहार करते हैं। जबतक पूँजीवादी राष्ट्रोंके सामने अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें मुनाफा कमानेका प्रश्न है, उनमें समझौता हो ही नहीं सकता। प्रत्येक राष्ट्र इस लूटमें सबसे बड़ा भाग लेनेका यत्न करेगा। जबतक बलवान् पूँजीवादी देशोंका भय रहेगा, निर्बल पूँजीवादी देश लूटके बाजारमें कम भाग लेना स्वीकार करेंगे। परन्तु अन्ताराष्ट्रिय लूटद्वारा उनकी सैनिक शक्ति बढ़ते ही वह और अधिक बाजारों और उपनिवेशोंकी माँग पेश करेंगे। अभी हालकी अन्ताराष्ट्रिय घटनाएँ इस बातको प्रमाणित कर देती हैं। अपनी पूँजीकी शक्ति और सैनिक शक्ति पहले बढ़ाकर इटलीने अवीसीनियाको हडप लिया, बादमें अन्ताराष्ट्रिय शान्तिकी रक्षाके लिये उसका और फ्रांसका समझौता टूट गया। दूसरा उदाहरण हमारे सामने जर्मनीका है। अपनी सीमाके देशोंको अपनी पूँजीवादी लूटका क्षेत्र बना चुकनेके बाद भी जब जर्मनीकी पूँजीपति-श्रेणीकी भूख शान्त नहीं हुई, तब जर्मनीने दूर देशों और उपनिवेशोंकी माँगपर जोर देना आरम्भ किया। मानो निर्बल और पिछड़े हुए देशोंका जन्म जर्मनीके अन्ताराष्ट्रिय पूँजीवादका शिकार बननेके लिये ही हुआ हो।

“यदि काट्स्कीके अन्ताराष्ट्रिय पूँजीवादी साम्राज्यवादके सिद्धान्तके अनुसार पूँजीवादी राष्ट्र परस्पर समझौतेद्वारा ससारके निर्बल राष्ट्रोको शोषणके लिये परस्पर वोट भी ले तो भी वह समझौता ससारमें चिरशान्ति स्थापित नहीं कर सकता; क्योंकि गोपित राष्ट्रोकी जनताका भी अपने जीवनके अधिकारोंके लिये प्रयत्न करना आवश्यक और स्वाभाविक है और इस कारण उपनिवेशों तथा पराधीन देशोंमें अन्ताराष्ट्रिय अशान्तिका कारण बना ही रहेगा।”

पर धर्मनियन्त्रित रामराज्यवादीके दृष्टिकोणसे व्यक्ति-समुदाय ही समष्टि है, जैसे वृक्षोंका समुदाय ही वन है। प्रत्येक वृक्षके हास, विकास व्यक्तिगत होते हुए भी परिणामतः वनका हास, विकास वन जाता है। व्यक्तिगत विकास-शक्ति नष्ट हो जानेपर वन कभी भी टिक नहीं सकता। इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति बुद्धिमानी साधनानोंसे व्यक्तिगत एवं सामूहिक विकासका प्रयत्न करे तो कुटुम्ब, समाज एवं राष्ट्र विकसित हो जाता है। समाजके हितका ध्यान रखते हुए ही व्यक्तिगत विकासका प्रयत्न उचित है। कितने कार्य ऐसे भी होते हैं, जिनमें व्यक्तिगत प्रयत्नसे काम नहीं चलता, वहाँ सामूहिक तौरपर ही कार्य किया जाता है। शुभ, अशुभ कर्मोंका फल व्यक्तिगतरूपसे प्राणियोंको भोगना पड़ता है। छोटी-छोटी इकाइयोंमें कार्य करनेमें सुविधा होती है। भोजन-वस्त्रादिका प्रबन्ध भिन्न-भिन्न कुटुम्बोंमें बँटे रहनेसे स्वास्थ्य तथा रुचिकी अनुकूलता अधिक होती है। करोड़ों

या लाखों आदमियोंका एक स्थानमें भोजन बनाना, बँटना असम्भव है । पूँजीवादी राज्योंमें भी जनसख्या, उसकी आवश्यकता तथा पैदावारकी मात्रा और उसके सतुलनका विचार किया जाता है ।

उत्पादन-उपयोग, आय व्यय, आयात-निर्यात आदि सब बातोंका ज्ञान और उनके आँकड़े सभी राज्योंमें रखे जाते हैं । अतः 'पूँजीवादीराज्यमें भोक्ताओं एव खाद्यकी मात्राका परिज्ञान नहीं रहता'—यह कहना असङ्गत है । जहाँ व्यक्तिगत सम्पत्तिका सिद्धान्त मान्य है, वहाँ स्वाभाविकरूपसे उत्पादक या व्यापारी दोनों ही मुनाफा चाहेंगे और यही सहज वितरणका मार्ग भी है । व्यापारी जहाँ जिन वस्तुकी बहुतायत है, वहाँसे उसे खरीदकर जहाँ कमी है, वहाँ पहुँचा देता है । इसके बदले उसे कुछ लाभ भी हो जाता है । प्राचीन समयमें प्रत्येक कार्य इसी ढंगसे होते रहे हैं, जिससे समाजका भी कार्य चले और व्यक्तिका लाभ भी होता चले । अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह, व्यापार, कृषि, गोरक्षा, गिल्प आदि सभी कामोंसे निर्माता, प्रयोक्ता सभीको लाभ होता है ।

राम-राज्य-प्रणालीके अनुसार कभी आर्थिक असतुलन न होनेसे बेकारी, बेरोजगारी न होगा और राष्ट्रके प्रत्येक नागरिकका जीवनस्तर ऊँचा होगा । क्रयशक्तिके घटनेका कोई प्रश्न ही न रहेगा, फिर मालके खपत न होनेकी भी शिकायत न होगी । जो कहा गया है कि 'समाजमें मेहनत करनेवाले ही पैदावार करते हैं और वे ही तैयार मालकी खपत करते हैं, अतः समाजमें जो पैदावारके लिये परिश्रम करनेवाले हैं, वे ही पैदावारको खर्च करनेवाले हैं । यदि परिश्रम करनेवालोंको अपने परिश्रमका पूरा फल मिल जाय तो पैदावार फालतू पड़ी नहीं रह सकती ।' यह ठीक नहीं है, क्योंकि पैदा करनेवाले और उप-भोक्ताओंकी श्रेणियोंमें भेद है । यो तो राष्ट्रका कोई भी नागरिक कुछ-न-कुछ करता ही है । बिना कुछ किये तो कोई क्षणभर भी टिक नहीं सकता । फिर मिल-मजदूरोंद्वारा की गयी पैदावारका उपभोग किसान भी करता है । किसानद्वारा की गयी पैदावारका मिल-मजदूर भी उपभोग करता है । अध्यापक, इंजीनियर, छात्र, सिपाही, सरकारी कर्मचारी, फिल्म-कार्यकर्त्ता तथा विभिन्न कार्य करनेवाले होते हैं । इस तरह समाजके घटक विभिन्न व्यक्तियोंके कार्यों और शक्तियोंमें भेद होता है । इसीलिये उन्हें काम, दाम, आराममें भी कुछ वैषम्य मानना पड़ता है । अध्यापक, इंजीनियर उत्पादनका कार्य नहीं करते, फिर भी उत्पादकोसे अविक उपभोग-सामग्री उन्हें मिलती है । एक फावड़ा चलानेवालेको इंजीनियरके बराबर वेतन कहीं भी नहीं दिया जाता । यदि सम्पूर्ण लाभ उत्पादकका ही है, उसे ही मिल जाय तब तो भूमि, मशीन, मकान तथा मुद्रा लानेवालेको लाभमें

कुछ भी हिस्सा न मिलेगा। परंतु उत्पादनमें इन वस्तुओंका महत्वपूर्ण स्थान है—ये सब बातें विस्तारसे पहले सिद्ध की जा चुकी हैं। परिश्रम करनेवालेका वही फल है जो मजदूर और मालिकके समझौते या पञ्चायत अथवा न्यायालयद्वारा वेतन निर्धारित होता है। मुनाफा श्रमका फल नहीं; किंतु कच्चे माल, मशीन तथा पूँजीका फल है। श्रमका फल श्रमिकको वेतनके रूपमें मिल चुका।

यदि सम्पूर्ण मुनाफा मजदूरको दे दिया जाय तो पैदावार करनेके साधन; नये यन्त्र, कल, कारखाने आदि विकसित न हो सकेंगे न बढ़ ही सकेंगे। मजदूरको जो मिलेगा, वह खर्च कर डालेगा। मजदूर-सरकार भी यदि लागत खर्च निकालकर सब लाभ मजदूरोंको बाँट दे तो वह भी कल, कारखानोंका विकास न कर सकेगी। अतः मजदूर सरकार भी विकासके लिये लाभान्वित बचाती है और वह विकास भी समाजके हितके लिये ही होता है। यही बात दूसरे पक्षमें भी कही जा सकती है। अतएव पूँजीवादी भी तो लाभका उपयोग कल, कारखानोंके विस्तारमें—उद्योगोंके विस्तारमें लगाता है। उससे समाजका जीवनस्तर विकसित होता है। कोई भी पूँजीपति रुपयोंको निश्चल जमा रखनेमें लाभ नहीं समझता। पूँजीपतिका अपना निजी खर्च मजदूर-देशके मन्त्रियोंसे कम ही होता है। रूसी नेता बुल्गानिन और कुश्चेवके स्वागतमें करोड़ों रुपये खर्च हो गये। वे भी मजदूर ही हैं। कहा जा सकता है कि यह सम्मान व्यक्तिका नहीं; किंतु एक राष्ट्रका था। इसपर दूसरे लोग भी कह सकते हैं कि एक राजाका भी स्वागत उसके व्यक्तिगत न होकर राज्यका ही होता है। किसी भी विद्वान या धनवान्पर जो भी खर्च होता है, वह राष्ट्र एव उसकी विद्या तथा सम्पत्तिपर ही खर्च होता है। जिन पुराने बादशाहोंका हजारों रुपये रोजका खर्च था, वह भी क्या था? उनके हजारों नौकरोंकी जीविका इसीसे चलती थी। उत्तमोत्तम वस्तुके खरीदनेमें जो रुपये खर्च होते थे, वह कारीगरों, कलाकारों और निर्माताओंके पास जाता था।

अस्तु, रामराज्य-प्रणालीसे उत्पादनवृद्धिके अनुसार कामके घटोमें कमी, मजदूरोंकी संख्या और वेतनवृद्धिका क्रम लगा रहता है। अतः समाज या मजदूरोंके क्रय-शक्तिके घटनेका कोई भी प्रश्न नहीं खड़ा होता। बेकारी एवं भूखे, नंगे रहनेका किसीको अवसर ही नहीं होगा। व्यक्ति और समाज सबका कर्तव्य है कि समाजमें कोई भी भूखा, नगा, बेरोजगार, बेकार न रहने पाये। पूँजीपति, उत्पादन-साधन, उत्पादक, श्रमिक तथा अन्य बुद्धिजीवी लोगोंके हितके स्वत्व-रक्षणका प्रयत्न होगा।

‘मार्क्सवादियोंके अनुसार प्राकृतिक अवस्थाओंके कारण सभी देशोंमें औद्योगिक विकास समानरूपमें नहीं हो पाता। औद्योगिकरूपसे जिन देशोंका विकास घट रहा है,

उनमें खेतीद्वारा कच्चे मालकी पैदावार अधिक होती है और वह देश अपने कच्चे मालकी पैदावारको खपा सकनेमें असमर्थ रहते हैं। इन देशोंमें कच्चा माल सस्ता मिल सकता है और औद्योगिक मालको बेचकर मुनाफा कमानेकी गुजाइश रहती है। इसलिये औद्योगिकरूपसे उन्नत देश कम उन्नत देशोंपर प्रभुत्व जमाकर आर्थिक लाभ उठानेका यत्न करते हैं। कम उन्नत देश पूँजीवादी देशद्वारा अपने शोषणको रोक न सके, या दूसरे उन्नत पूँजीवादी देश उन देशोंमें आकर उनका बाजार खराब न कर सके, वहाँ उनका पूरा एकाधिकार और ठेका कायम रहे, इसलिये औद्योगिकरूपसे उन्नत पूँजीवादी देश कम उन्नत देशोंको अपने राजनैतिक अधिकारमें रखनेका यत्न करते हैं। कम उन्नत देश या तो उन्नत पूँजीपति देशोंके अधीन हो जाते हैं या उन्हें उपनिवेश बना लिया जाता है या उन्हें सुरक्षणमें ले लिया जाता है। इस प्रकार यूरोपके कुछ देशोंने औद्योगिक विकास और पूँजीवादकी उन्नतिके बाद सन् १८७६ से लेकर १९१४ के महायुद्धसे पूर्व कम उन्नत देशों अफ्रीका, एशिया आदिमें यूरोपके क्षेत्रफलसे दुगुनी भूमिपर अपना अधिकार कर लिया। इसमें सबसे अधिक भाग था इंग्लैंड और फ्रांसका। इंग्लैंड इससे पूर्व भी भारत, ब्रह्मा आदि देशोंको अधीन कर चुका था और कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीकामें अपने उपनिवेश बसा चुका था। जर्मनी और इटलीमें पूँजीवादका विकास बादमें होनेके कारण उनके होश सँभालनेसे पहले ही इंग्लैंड और फ्रांस पृथ्वीका बड़ा भाग सँभाल चुके थे। भूमिकी एक सीमा है, उसे पूँजीवाद देशोंके शोषणके लिये आवश्यकतानुसार बढ़ाया नहीं जा सकता; इसलिये पूँजीवादी देशोंमें झगडा होना आवश्यक हो जाता है।'

पूँजीवादी साम्राज्यवाद

मार्क्सवादके अनुसार किसी देशका पूँजीवाद जब मुनाफेके लिये अपने देशसे बाहर कदम फैलाता है, तब वह साम्राज्यवादका रूप धारण कर लेता है। प्राचीन समयका साम्राज्यवाद सैनिक आक्रमणके रूपमें आगे बढ़ता था और पराधीन देशोंका शोषण भूमि-करके रूपमें बरतता था। पूँजीवादका साम्राज्य-विस्तार आरम्भ होता है व्यापारसे। फिर अपने व्यापारको दूसरे देशोंके मुकाबलेमें सुरक्षित रखनेके लिये और पिछड़े हुए देशोंके कच्चे मालपर एकाधिकार रखनेके लिये साम्राज्यवादी देशोंमें परस्पर झगडा और युद्ध होता है।'

मार्क्सवादके अनुसार पूँजीवादके ऐतिहासिक विकासका परिणाम है साम्राज्यवाद। जिन प्रकार पूँजीवाद, व्यक्ति-स्वतन्त्रतासे आरम्भ होकर पूँजीपतियोंके एकाधिकारमें परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार साम्राज्यवाद भी अन्ताराष्ट्रीय स्वतन्त्र व्यापारसे आरम्भ होकर बलवान् पूँजीपति राष्ट्रके एकाधिकारमें

परिवर्तित हो जाता है और इस एकाधिकारको प्रत्येक पूँजीवादी राष्ट्रके पूँजीपति अपने ही अधिकारमें रखना चाहते हैं ।’

रामराज्य-प्रणालीके अनुसार एक सार्वभौम शासन अन्तराष्ट्रिय शासन होता है । उसके द्वारा सभी राष्ट्रोंके परस्पर समन्वय एवं सामञ्जस्यका सफल प्रयत्न होता है । उसके अनुसार अन्तराष्ट्रिय व्यापारकी भी सुविधा होती है । अपने प्रयोजनयोग्य वस्तु रखकर शेष वस्तु उन देशोंमें भेजी जाती है, जहाँ उस वस्तुकी कमी होती है । इसी तरह एक देशमें अधिक उत्पादन होनेपर अन्य देशोंमें माल भी उसी व्यापारद्वारा सहजमें पहुँचाया जा सकता है । स्वभावसे ही जहाँ जिस वस्तुकी कमी होती है, व्यापारी वहाँ लाभके लिये माल पहुँचाते हैं । राष्ट्रहितकी दृष्टिसे अपने यहाँसे भी यदि मँग पूर्ति हो सकती है तो बाहरके मालपर प्रतिबन्ध लगाया जाता है । तदनुसार ही व्यापारिक समझौता होता है । इसी समझौतेके द्वारा जिस देशमें जिस वस्तुकी बहुतायत है, वहाँसे उसका निर्यात होता है । जिस वस्तुकी किसी देशमें कमी है, उसमें उस वस्तुका देशान्तरसे आयात होता है । इसी आधारपर जापानको लोहा, इंग्लैंडको रूई, जर्मनीको पेट्रोल अन्य देशोंसे मिलता है । इसी आधारपर स्वीडन लोहा, कनाडा लकड़ी, अमेरिका रूईका निर्यात करता है । अवश्य पाश्चात्य साम्राज्यवादियोंने व्यापारके लिये अनेक देशोंको गुलाम बनाया और उपनिवेशके रूपमें राजनीतिक प्रभावक्षेत्रमें रखकर विविध प्रकारका लाभ उठानेका प्रयत्न किया और अब भी कर रहे हैं । यद्यपि अब उपनिवेशवाद मिट रहा है, फिर भी कई साम्राज्यवादी अभी भी उसका मोह छोड़नेमें असमर्थ हैं । भारतीय अश गोवाको पुर्तगाली अब भी उपनिवेश बनाये है । अमेरिकाके कई क्षेत्रोंमें अब भी उपनिवेशवाद है । उपनिवेशवादके रूपमें न सही, परन्तु राजनीतिक प्रभावक्षेत्र बनानेकी दृष्टिसे तो मार्क्सवादी राष्ट्र रूस, चीन आदि भी प्रयत्नशील हैं । इस समय पूँजीवादी अमेरिका एवं मार्क्सवादी रूसकी ही होड़ है । दोनों ही अपने-अपने प्रभावक्षेत्रके विस्तारके लिये प्रयत्नशील हैं । इनके व्यापारिक समझौते भी उन्हीं क्षेत्रोंमें होते हैं । सिद्धान्तके विचारसे देखा जाय तो किसी देशमें कम्युनिज्म रहे तो भी पूँजीवादी राष्ट्रका कोई नुकसान नहीं । परन्तु कम्युनिष्ट राज्य तो सिद्धान्ततः तबतक किसी देशमें कम्युनिज्मकी स्थापना असम्भव समझते हैं, जबतक सारे ससारमें उसकी स्थापना न हो जाय । ऐसी दशामें जब हम मार्क्सवादियोंके द्वारा मह-अस्तित्वकी घोषणा सुनते हैं—तो आश्चर्य होता है ।

अन्तराष्ट्रिय कम्युनिष्टराज्य या विश्व-मजदूर-सरकार बनाना कम्युनिष्टोंका ध्येय है और जैसे एक राष्ट्रमें तानाशाही मजदूर-शासन होता है, वैसे ही विश्व-भरमें तानाशाही मजदूर-शासन होगा । इसकी अपेक्षा रामराज्य-प्रणालीके अनुसार सार्वभौम विश्व-सरकारकी योजना कहीं श्रेष्ठ है । जिसमें केवल शान्ति, सामञ्जस्य,

समन्वय एव विकासके लिये सार्वभौम नियन्त्रण होगा । अपने-अपने क्षेत्रमें अधिकाधिक स्वाधीनताका उपयोग सब कर सकेंगे । जहाँ राष्ट्रके भीतर नागरिकों-को भी पर्याप्त स्वाधीनता रहती है, वहाँ अन्तराष्ट्रिय क्षेत्रमें तो और अधिक स्वाधीनता मान्य होती है । प्राचीन कालमें यद्यपि चरित्र, बुद्धि, शक्ति और सघटनके बलसे ही विश्वपर सार्वभौम सत्ता स्थापित होती थी तो भी तत्-तत् राजाओंकी स्वीकृति अपेक्षित होती थी, और परम्परासे जन-मामान्य स्वीकृतिकी प्राप्ति की जाती थी । ढग लगभग वही-का-वही आज भी है । बुद्धि, धन एव सैनिक-सघटन तथा अस्त्र-शस्त्र-शक्ति एव नीतिके बलपर ही आज बड़े-बड़े गुट बनते हैं । उनका कोई मुखिया होता है और उसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपमें जनस्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक होता है । जबतक किसी ढगकी सार्वभौम सत्तावाली विश्वमरकार न बनेगी, तबतक अपने-अपने क्षेत्रके विस्तारका प्रयत्न होता ही रहेगा । व्यापारिक लाभ भी प्रत्येक राष्ट्र उठानेका प्रयत्न करता ही रहेगा । इसमें पूँजीवादी राष्ट्रोंके समान ही समाजवादी राष्ट्र भी सघर्षरत रहते हैं । जैसे व्यक्तियोंमें स्वार्थलिप्सा होती है, वैसे ही वर्गा तथा राष्ट्रोंमें भी स्वार्थलिप्सा रहती है । जैसे अपने वर्ग-हित-के लिये कम्युनिष्ट हिंसा, छूट-खमोट सब कुछ उचित समझता है, वैसे ही कम्युनिष्ट सरकारें अपने राज्य-हितके लिये भी दूसरे राष्ट्रोंके साथ न्याय, अन्याय सब कुछ उचित समझती हैं । फिर अपने ही उपस्थापित सभी आक्षेपोंसे कम्युनिष्ट स्वयं नहीं मुक्त हो सकते, क्योंकि छीना-झपटी, अन्याय, हिंसा आदिमें कम्युनिष्ट व्यक्ति-गतरूपसे, वर्गरूपसे, राज्यरूपसे इतर लोगोंकी अपेक्षा बड़े-चढ़े हैं । उनमें आपसमें भी पदच्युत करके पदाधिरुद्ध होनेका सघर्ष चलता ही है । कितने ही मतभेदवाले व्यक्ति-समूह पर्ज, कटक-शोधनके नामपर समाप्त कर दिये गये ।

धर्मनियन्त्रणरहित पूँजीवादी तथा व्यक्तिवादी भी इसी कोटिमें हैं । धर्म-नियन्त्रित रामराज्यवादी चाहे व्यक्ति हो, चाहे राज्य, चाहे सार्वभौम मरकार हो, वह तो प्राणीमात्रको परमेश्वरकी सत्ता समझती है । समष्टि-व्यष्टि सबके ही हित-स्वत्व-का रक्षण, सबके साथ न्याय उसे अभीष्ट है । बहुमत ही नहीं—अल्पमतके साथ भी अन्याय होना अनुचित है । जैसे कभी-कभी अस्त्र-शस्त्र-बलके द्वारा किसीपर अन्याय होता है, वैसे ही बहुमतके बलपर अल्पमतपर भी । कभी-कभी अल्प-संख्यक सजनोंपर बहुसंख्यक अन्यायी एव डाकुओंद्वारा अन्याय किया जाता है । धर्मनियन्त्रित व्यक्ति, राज्य अथवा सार्वभौम शासन सदा सर्वत्र अन्याय मिटा-कर सामञ्जस्य स्थापनमें ही तत्पर रहेगा । इतिहासमें भली-बुरी सभी ढगकी घटनाएँ होती हैं । वे सब सिद्धान्त ही नहीं होती । अतः पूँजीवादी, व्यक्तिवादी अथवा समाजवादी वर्गोंद्वारा हुई अवाञ्छनीय घटनाएँ कभी ग्राह्य नहीं हो सकती ।

अशान्तिकी जड़-आर्थिक विषमता

मार्क्सवादके दृष्टिकोणसे वर्तमान ससारमे व्यक्तिके जीवनसे लेकर अन्ताराष्ट्रिय परिस्थितिक सभी सकटोंका कारण आर्थिक विषमता ही है। समाजमे पैदावार समाजके हितके लिये नहीं की जाती, बल्कि कुछ व्यक्तियोंके मुनाफेके लिये ही की जाती है। इसीलिये ऐसी विषमता पैदा हो जाती है। इस विषमताको कायम रखनेके लिये पूँजीवादी समाजमे सरकारकी व्यवस्था और अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें साम्राज्यकी व्यवस्था करनी पडती है। मार्क्सवाद समाजमे एक नयी व्यवस्था लानेके लिये यत्न करना चाहता है, जिसमे यह सब विषमताएँ और बन्धन न रहे, जो व्यक्ति और समाजके विकासको असम्भव बना रहे हैं। मार्क्सवादके सिद्धान्त इसी प्रकारकी नयी व्यवस्था कायम करनेकी शक्ति रखते हैं या नहीं, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उन्हें उनके वास्तविक रूपमें रख देनेका यत्न किया गया है। समाजमे शान्ति और व्यवस्था कायम करनेके लिये समय-समयपर अनेक सिद्धान्तोंका जन्म हुआ है। इन सिद्धान्तोंका समुच्चय ही समाजशास्त्र है। मार्क्सवाद आदि कालसे संकलित होते हुए समाज-शास्त्रका सबसे नवीन अध्याय है।'

परंतु उनका यह कथन पिष्टपेषणमात्र है। यदि कोई व्यक्ति, वर्ग अथवा राज्य स्वतन्त्रता चाहता है, तानाशाही कम्युनिष्ट शासनयन्त्रका नगण्य कल-पुर्जा नहीं बनना चाहता, तो वह स्वयं ही परिश्रम कर, सम्पत्ति-विपत्तिका खतरा उठाकर, प्रमाद, आलस्यारित्यागपूर्वक तत्परतासे विद्वान्, बलवान्, धनवान् बननेके प्रयत्नसे अच्छी स्थितिमें पहुँच सकता है। इसमे कोई आश्चर्य नहीं।

जैसे किसी दासको स्वतन्त्ररूपसे अपने परिवार चलानेके लिये चिन्ता नहीं होती थी, मालिक अपनी परिस्थितियोंके अनुसार उनकी व्यवस्था करता था। उसी तरह कम्युनिष्ट-शासनमे दासके तुल्य जनसामान्यको निश्चित रहना सम्भव हो सकता है, खान-पान-वस्त्रकी निश्चिन्तता रह सकती है, परंतु स्वाधीनतापूर्वक अपनी जीवन व्यवस्थाके संचालनकी दृष्टिसे यह स्थिति नगण्य है। यो तो अच्छे मालिकके कुत्तेकी भी खान-पान, आराम शिक्षण आदिकी अच्छी व्यवस्था होती है, किंतु क्या वह आदर्श स्थिति कही जा सकती है? स्वाधीनतापूर्वक जीवन-निर्वाहके लिये व्यक्तिगत भूमि-सम्पत्ति, रोजगारोंकी भी स्वतन्त्रता अपेक्षित होगी। उसमे एकको दूसरेकी सहायता अपेक्षित होगी। इसलिये एकको दूसरेसे ऋणके रूपमें सहायता लेनी पडती है। किसीसे भूमि भी कर देकर लेनी पडती है। अपनी कमाईसे ही उस अंगको चुकाना पडता है। इसे कोई भी सभ्य समाज शोषण नहीं कह सकता। हाँ, यदि अनुचितरूपमे कर या सूद देना पड़े तो अवश्य शोषण कहा जा सकता है, परंतु जहाँ सरकार या न्यायालय या पंच अथवा आर्ष

शास्त्रोंद्वारा सूद या करकी दर निश्चिन होती है, वहाँ शोषणकी बात नहीं कही जा सकती। ठीक इसी तरह अधिक विकसित देश कम विकसित देशोंको मुद्रा अथवा कल-कारखानोंकी सहायता दें और उससे उसके बदले कच्चा माल या अन्य कुछ लें तो यह भी शोषण नहीं कहा जा सकता। किंतु आपसी समझौताके आधारपर ही यह सबहोता है। विकसित देशोंकी सहायतासे ही अविकसित देशोंका विकास सम्भव है। कम्युनिष्ट राज्य भी आपसमें सहायता करने हैं और बदलेमें कोई दूसरी चीज प्राप्त करते हैं। यदि इसे ही शोषण कहा जाय तो कम्युनिष्ट राज्य भी शोषक हैं। यदि छोटे-से मजदूरसे राज्यका मिनिस्टर या फील्डमार्शल बन जाना अपराध नहीं है तो छोटे व्यापारीसे बड़ा धनवान् या पूँजीपति बन जाना भी अपराध नहीं है।

कोई राज्य-सरकार कभी धनहीन होती है, दूसरोसे कर्ज लेती है; पर वही सदुद्योगसे बहुधन-सम्पन्न हो जाती है और दूसरोंकी भी सहायता करनेवाली हो जाती है। पर यह कोई अपराध नहीं गिना जाता। हाँ, यदि दूसरोंको नुकसान पहुँचाकर, दूसरोंके साथ अन्याय करके ऐसा किया जाता है तो अवश्य अपराध है और ऐसा अपराधी चाहे व्यक्ति, चाहे वर्ग, चाहे सरकार हो, वह दण्डनीय है। रहा यह कि पूँजीपति बिना कुछ किये ही यह लाभ उठाता है तो यह भी कथन व्यर्थ है। फड़वा चलाना ही काम नहीं है, महाव्यापारका संचालक भी काम करता है। सैनिक चन्द्रू चलता है, युद्ध-मन्त्री केवल नीति-निर्धारण करता है।

व्यापार-संचालनसे होनेवाला महान् लाभ भी राष्ट्रकी ही समृद्धि होगी। आवश्यकता पड़नेपर राष्ट्रके हितार्थ सहायताके रूपमें उसका उपयोग हो सकता है। रामराज्यप्रणालीका मुख्य आदर्श ही यही है कि न कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्तिका शोषक हो, न कोई वर्ग दूसरे वर्गका शोषक हो और न कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्रका शोषक हो, किंतु सब एक दूसरेके पोषक होने चाहिये। जहाँतक दूसरेको सहायता पहुँचानेका प्रश्न है, वह ठीक है। नाममात्रका उससे अपना भी लाभ निकालना हो तो भी कोई हर्ज नहीं, किंतु सहायता पहुँचानेके नामपर दूसरे वर्गों या राष्ट्रोंका शोषण करना सर्वथा अपराध है। उत्तम सिद्धान्त तो यह है कि परार्थ ही अपना स्वार्थ माना जाय। मध्यम बात यह है कि स्वार्थके अभिरोधेन परार्थ किया जाय। दूसरेका नुकसान कर अपना स्वार्थ-साधन तो विशुद्ध आसुरी प्रकृति है और इससे संघर्ष और विनाश भ्रुव होता है। शोषक व्यक्ति, शोषक वर्ग या शोषकराज्यविरोधी शोणितसमूह अवश्य होगा। इसी तरह शोषित राज्यों तथा वर्गोंमें भी प्रबल निर्बलके शोषक होते ही हैं।

माक्सिवादी भी मानेंगे कि पराधीन राष्ट्रोंमें भी सामन्त तथा पूँजीपति किसान-मजदूरोंके शोषक होते हैं। बड़े मजदूर तथा बड़े किसान छोटे मजदूर तथा

किसानोंके शोषक होते हैं। इसीको मात्स्यन्याय कहते हैं। इसीको अन्त करनेके लिये धर्मनियन्त्रित शासन धर्मराज्य या रामराज्य अपेक्षित होता है। मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष, वर्गविध्वंसद्वारा समस्याका समाधान चाहते हैं। रामराज्यवादी धर्म, अहिंसा, सत्य, सामञ्जस्य, समन्वयद्वारा तथा अचिकित्स्य अन्यायीको दण्डद्वारा वर्ग-विद्वेष रोककर वर्गसन्द्वाव एव सामञ्जस्यद्वारा समस्याका समाधान चाहता है। वर्गके भीतर पुनः नये वर्ग सम्भव होते हैं। एक वर्गमें भी गतगः संघर्ष देखा जाता है। अतः सद्भाव विना कभी भी गोपण तथा अशान्तिका अन्त नहीं हो सकता। अतः रामराज्यवादीकी धर्म नियन्त्रण अङ्गीकार विना दूसरी गति नहीं है। जैसे गोपक-श्रेणीमें भी एक दूसरेके शोषक होते हैं, वैसे शोषित-श्रेणीके लोग भी एक दूसरेके शोषक होते हैं। साँपके मुँहमें पड़ा हुआ मेढक शोषित-उत्पीड़ित ही है, तो भी वह मच्छरोंके खानेके लिये जीभ लपलपाता ही है। इस तरह शोषित ही दूसरोंका शोषक होता है। मालिकका खैरखाह बड़ा कर्मचारी एक तरहका मजदूर ही है। वही दूसरे मजदूरोंको वेतन कम देकर कामके घंटोंको बढ़ाकर शोषण करता है। मार्क्सवादी मजदूरोंके इस कार्यको अज्ञानमूलक कहकर समाधान करते हैं। परन्तु कोई भी शोषण वस्तुतः अज्ञानमूलक ही होता है। अपने स्वार्थके सामने जैसे बड़ा मजदूर समाजका हित भूल जाता है, वैसे ही अपने स्वार्थके सामने पूँजीपति भी समाजके हितको भूल जाता है। इसी स्वार्थमूलक अविवेकको मिटानेके लिये ईमानदारी तथा विवेककी आवश्यकता होती है।

समाजवादी व्यवस्थामें भूमि, सम्पत्ति, उत्पादनके साधन सबपरसे स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। सरकारी वस्तु या सहकारिताके आधारपर होनेवाले उत्पादनोमें कोई व्यक्ति इच्छानुसार उपयोग नहीं कर सकता। किसी अतिथिको भोजन कराना हो या किसी समय जाड़ेकी रात काटनेके लिये धानकी भूसीकी ही आवश्यकता हो तो भी अपनी वस्तु-जैसा उसका यथेष्ट विनियोग नहीं किया जा सकता। गेहूँ-जौके खेतसे दम वाली या बजड़े, जुआर या मक्काके कुछ बाल भी शामिलाल खेतोंसे स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं लिये जा सकते। शहरकी अपेक्षा गाँवोंमें यही विशेषता है। वहाँ हर वस्तुके लिये दामकी अपेक्षा नहीं रहती। किसान स्वतन्त्रता-पूर्वक वस्तु तैयार करता है। स्वतन्त्रतापूर्वक विनियोग करता है। सर्प, वास्तुक, पालक आदिके शाक इच्छानुसार पैदा किये जा सकते हैं। थोड़े ही खेत तथा थोड़ी ही सम्पत्तिमें अपने कुटुम्बके उपयोगकी सब वस्तु तैयार कर ली जाती है—

तरुणं सर्पपशाकं नवोदनं पिच्छलानि च दधीनि ।

अल्पव्ययेन सुन्दरि ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति ॥

उसीमेंसे अन्नदान, वस्त्रदान, सुवर्ण-रजतदान, यज्ञ, तीर्थयात्रा सब कुछ कर लेता है। समाजीकरणमें यह सब कुछ नहीं बन सकता। कुत्तोंको रोटी मिल

जायगी किंतु भूकनेकी स्वतन्त्रता न रह जायगी। बकरीको चना मिल जायगा, किंतु जुगाली करनेकी स्वाधीनता न रहेगी। ऐसे ही किसी तरह कुछ रौटी-कपड़ा मिल जायगा, पर धार्मिक आचार-विचारोंकी स्वतन्त्रता नहीं रह जायगी। रामराज्य-प्रणालीमें सब प्रकारकी स्वाधीनता एवं सामञ्जस्य होनेसे संघर्ष बचेगा। धर्मनियन्त्रण तथा विवेकसे अभ्युदय तथा आर्थिक संतुलन एवं समन्वय हो सकता है।

व्यक्तिगत-सम्पत्तिका सिद्धान्त रहनेपर ही उत्तराधिकारकी बात चलती है। यह भी पशुओंकी अपेक्षा मनुष्योंकी ही विशेषता है कि पिता-पितामह आदिकी सम्पत्ति पुत्र-पौत्रोंकी वपौती सम्पत्ति होती है, एतदर्थ धर्मका सम्बन्ध भी अनिवार्य होता है। पिता आदिको पिण्ड-श्राद्धादि प्रदान करनेके अधिकारी ही दाय्याधिकारी होते हैं। इसके लिये प्रत्यक्ष-अनुमानसे भिन्न एक वचन प्रमाण भी मानना पड़ता है। पिताकी सम्पत्तिपर विवाद उठनेपर सिद्ध करना पड़ता है कि अमुक हमारे पिता हैं। इसे सिद्ध करनेके लिये प्रत्यक्षानुमान असमर्थ हैं। इसमें तो माता-पिताका वचन ही प्रमाण मानना पड़ता है। उसके बिना पिता आदिकी सिद्धि नहीं हो सकती। वचन प्रमाण माननेपर ही माता-भगिनी, पुत्री-पत्नी आदिमें भी भेद सिद्ध होता है। तदनुसार ही ससारभरमें सर्वत्र भेद-व्यवहार चलता है। पत्नी, पुत्री, भगिनी सभी स्त्री हैं। फिर भी पत्नी, भगिनी आदिके साथ व्यवहार-भेद करना पड़ता है। पशुओंमें प्रत्यक्षानुमान तो मान्य है, किंतु आगम—वचन प्रमाण मान्य नहीं है, अतः उनके यहाँ न व्यक्तिगत सम्पत्ति है न उत्तराधिकार है और न पत्नी, भगिनी, पुत्री, माता आदिका भेद-व्यवहार ही चलता है। वह इनमेंसे किसीको भी पत्नी बनाकर सतान पैदा कर सकता है, पर यह सब मानवताके विपरीत है। जिस दिन मनुष्य भगिनी-पुत्रीसे संतान उत्पन्न करने लगेगा, उस दिन मनुष्यता-पशुतामें कोई भेद न रहेगा। कशुनिष्ठ भी ऐसा करनेका साहस नहीं कर सकता है।

इस तरह रामराज्य-प्रणालीमें आगम-प्रमाण तथा धर्मका भी आदर कर पितृपितामहादिकी सम्पत्तिका उत्तराधिकार तथा धार्मिक विवाहादिकी मान्यता होती है। स्वार्थ-परार्थका समन्वय करके व्यष्टि-समष्टिके अभ्युदयका प्रयत्न किया जाता है। यह सही है कि लोभाभिभूत व्यक्ति या राष्ट्र आत्मनाश नहीं देखते। हरित तृणके लोभमें बकरी कूप-पतनकी चिन्ता नहीं करती है, मधुलोभमें पड़कर प्राणी आत्मप्रपात नहीं देखता, पर कोई भी समझदार सर्वनाश देखकर समझौता करता ही है। अमेरिका और रूस दोनों ही एक-दूसरेका नाश चाहते हैं। दोनों ही परमाणु, हाईड्रोजनबमकी धमकी देते हैं। तथापि एक दूसरेके भयसे नियन्त्रित

है; तभी तो आज सह-अस्तित्वका राग अलापा जा रहा है। यदि रूसी साम्राज्यवादियोंके साथ सह-अस्तित्व सम्भव समझते हैं, तब तो साम्राज्यवादी भी परस्पर तथा आत्महितकी कामनासे अपने लोभकी मात्राको संकुचित कर सकते हैं। इस समय सयुक्तराष्ट्रसंघद्वारा भी बहुत कुछ नियन्त्रण और समन्वय हो सकता है। मार्क्सवादियोंके मतानुसार भी जब अन्ताराष्ट्रिय मजदूर-राज्य स्थापित हो जायगा, तभी सब सघर्षोंका अन्त हो सकता है। धर्मनियन्त्रित रामराज्यवादीके सार्वभौम शासनमें तो स्पष्ट ही उसके द्वारा सब अन्यायोंका निराकरण हो जायगा। इसे ऐतिहासिक अनुभवोंके विपरीत नहीं कहा जा सकता। भले ही आधुनिक मनगढ़ंत मिथ्या इतिहासके अनुसार रामराज्य ऐतिहासिक तथ्य न हो, परन्तु आर्ष प्राचीन इतिहासके अनुसार अखण्ड भूमण्डलव्यापी सार्वभौम रामराज्य परम ऐतिहासिक तथ्य है। हाँ, मार्क्सका सर्वहारा राज्य अभीतक निराकार स्वप्न ही है। इतिहास साक्षी है कि धर्महीन, जड़वादी राज्य कभी पनप नहीं सका है। शान्ति और समन्वय तो धर्महीन राज्यमें असम्भव है। क्राट्स्कीका अन्ताराष्ट्रिय पूँजीवादी साम्राज्यवाद तथा मार्क्सका विश्वव्यापी सर्वहारा राज्य मुकाबिलेकी ही चीज है। किंतु रामराज्यवादीका धर्मनियन्त्रित सार्वभौम राज्य सहस्रशः अनुभूत प्रयोग है। मान्धाता, दिलीप, अज, रामचन्द्र, नहुष, पुरुरवा, अलर्क आदिका अखण्ड भूमण्डलवर्ती धर्मराज्य पूर्णतया शान्तिके स्थापक रह चुके हैं। लाखों वर्षोंके अनुभवोंके सामने सौ-दो सौ-वर्षके मार्क्सवादी अनुभव कुछ भी मूल्य नहीं रखते। मार्क्सवादी सर्वहारा राज्य या पूँजीवादियोंका अन्ताराष्ट्रिय साम्राज्यवाद किसी पथको अपनाये, उसमें धर्म-नियन्त्रणके बिना लूट-खसोटका अन्त नहीं हो सकता।

मार्क्सवादमें यह भी कहा जा सकता है कि वहाँ किसीके पास कुछ चीज़ नहीं रह जायगी, फिर कौन किसकी क्या चीज़ लूटेगा? इसमें तो सभी फाँकेमुस्त ही होंगे, परन्तु रामराज्य-प्रणालीमें तो सार्वभौमका नाममात्रका ही नियन्त्रण होगा, वस्तुतः सर्वोपरि धर्मका ही नियन्त्रण मुख्यरूपसे रहेगा। मार्गमें पड़े हुए दो लाख-के नोट पाकर जिसका है उसे लौटा देनेकी सलाह मार्क्सवादी नहीं दे सकता। यह तो रामराज्यवादी ही कह सकता है। परान्न या परद्रव्य मार्गमें हो चाहे गृहमें ही पड़ा हो, विधिपूर्वक बिना पाये नहीं लेना चाहिये। यहाँ तो बाजारोंमें माल भेजनेका उद्देश्य केवल मुनाफा नहीं, किंतु वितरण ही है। लाभ भी अवश्य हो सकता है, किंतु वह आनुषंगिक है, मुख्य नहीं। अतएव किसीके द्वारा किसी राष्ट्रके शोषणकी भी बात नहीं आयेगी, क्योंकि समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताके दृष्टिकोणसे जैसे एक व्यक्ति दूसरेका पोषक होगा, वैसे ही एक राष्ट्र, एक वर्ग भी दूसरे राष्ट्र, दूसरे वर्गोंका शोषक न होकर पोषक ही होगा।

माक्सवादियोंका यह आरोप पाश्चात्य पूँजीवादियोंके लिये सही हो सकता है कि पैदावार समाजके हितार्थ नहीं होता, मुनाफा कमानेके लिये ही होता है, किंतु रामराज्यवादियोंके लिये यह आरोप सर्वथा निराधार ही है, क्योंकि रामराज्यवादीके मतमें तो बलवान्का बल गोपणके लिये नहीं रक्षणके लिये है। धनवान्का धन गोपणके लिये नहीं दानके लिये होता है। उत्पादनसे समाजको वस्तु मिलेगी। उत्पादकको लाभ भी मिल सकता है। आम्रका सिञ्चन भी हो जाय, पितरोका तर्पण भी हो जाय—‘एकक्रिया द्वयर्थकरी’का उदाहरण स्पष्ट है।

माक्सवादियोंका यह कथन भी सही नहीं कि ‘आर्थिक गोपणके कारण ही सग्राम होते हैं।’ सदा अनेकों कारणोंसे सग्राम होते ही रहे हैं। जैसे समान लक्ष्य रहनेपर भी कम्युनिष्टोंमें पदाधिकार-लिप्सासे मारकाट होती रहती है, उसी तरह सार्वभौम बननेकी इच्छासे भी अनेकों युद्ध हुए हैं। मनुष्योंमें ही क्या, पशु-पक्षियोंमें भी तो विभिन्न कारणोंको लेकर सघर्ष तथा युद्ध होते रहते हैं, कहीं सम्पत्तिके लिये, कहीं भूमिके लिये, कहीं कन्याके लिये, कभी धर्मके लिये, कभी मान-प्रतिष्ठा, इज्जत-आवरुके नामपर भी सग्राम हुए हैं। देवताओं-असुरोंका सग्राम कौरव-पाण्डवोंका सग्राम, राम-रावणका सग्राम केवल आर्थिक विप्रमताके लिये नहीं हुए।

ससारमें प्रतिस्पर्धासे उन्नति होती है। आजकल भी अन्नोत्पादनमें, पशुपालनमें, तैरनेमें, उडनेमें, चलनेमें—हर बातोंमें प्रतियोगिता चलती है। प्रतियोगिता उन्नति-का मूल है, एतदर्थ पुरस्कार भी वितरण किया जाता है। प्राणीका यह स्वभाव भी है कि लाभके लोभ और हानिके भयसे उत्प्रेरित होकर वह तन्मयतासे काम करता है, अतः उत्पादनमें होड़ होना अनुचित नहीं है। फिर भी रामराज्यकी नीतिका अनुवर्तन करनेसे आर्थिक असंतुलन नहीं हो सकता। धनका धर्मार्थ, यशोऽर्थ, अर्थार्थ, कामार्थ और स्वजनार्थ इस तरह पञ्चधा विभाग होनेसे आर्थिक असंतुलन अवश्य ही दूर हो सकता है। यज्ञादि प्रमङ्गसे भी अर्थका वितरण होनेसे आर्थिक असंतुलन दूर होता है। रामराज्यकी दृष्टिमें एक वर्ग दूसरे वर्गका पोषक होता है, शोषक नहीं। रामराज्यमें कोई भी दरिद्र, दुखी, अबुध और लक्षणहीन नहीं था—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना । नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥

सब प्राणी परस्पर प्रेम करते थे, सब स्वधर्म निरत थे, और सब श्रुतिके अनुसार चलते थे—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चरहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥

हाथी और शेर प्रेमसे साथ-साथ विहार करते थे—

चरहिं एक सँग गज पंचानन ।

धन, विद्वान् और शक्तिमानोंका बाहुल्य होना राष्ट्रका भूषण है, दूषण नहीं। जब सभी समानरूपसे बलवान्, बुद्धिमान् एवं समान क्रियावान् नहीं होते, तब सभीके

समान धनवान् होनेकी कल्पना भी व्यर्थ है। निर्बल बलवान्का सहारा चाहता है, अल्पबुद्धि विपुल बुद्धिकी अपेक्षा करता है। इसी तरह सब लोग समानरूपसे धनार्जन नहीं कर सकते, अतः अल्पधन भी विपुलधन-सम्पन्नकी अपेक्षा कर सकता है। इसीलिये योग्यता एवं आवश्यकताको ध्यानमें रखते हुए ही 'चींटीको कणभर और हाथीको मनभर' के अनुसार सभीके लिये समुचित काम, दाम और आरामकी व्यवस्था होनी चाहिये—यह रामराज्यका सिद्धान्त है। इससे लूले, लंगड़े, ऋद्ध-अपाहिज आदिका भी निर्वाह होगा। इसी दृष्टिसे सबको सस्ता कपड़ा, सस्ती रोटी, सस्ता आवास-स्थान, सस्ती शिक्षा, सस्ती चिकित्सा और सस्ता न्याय सुलभ हो सकेगा। उद्यमोंमें होड़, बाजारों, पेट्रोल, कोयलों आदिके लिये सग्राम आदि तबतक अवश्य बने रहेंगे, जबतक एक राष्ट्रसे दूसरे राष्ट्रका भेद बना रहेगा। सिद्धान्त और शासनकी दृष्टिसे एक दूसरेको अपनेमें मिलानेके लिये सभी प्रयत्नशील बने ही रहेंगे। सब कम्युनिष्ट हो जायँ, सब सोवियत-संघमें मिल जायँ, तभी संघर्ष रुक सकता है। परंतु फिर भी लेनिन, ट्राट्स्की, स्टालिन आदिमें जैसे संघर्ष चला, वैसे ही सत्ता हथियानेके लिये संघर्ष चल ही सकता है। इस दृष्टिसे सर्वोत्तम पक्ष धर्म-नियन्त्रित शासनका है, जिसमें पृथक्-पृथक् शासन रहनेपर भी युद्ध, संघर्षसे सब दूर रह सकते हैं। यदि अखण्ड भूमण्डलका एक ही धर्म-नियन्त्रित शासक हो, तभी सब सुख-स्वप्न पूरे हो सकते हैं। जिन कम्युनिष्टोंका वर्ग-भेद, वर्ग-संघर्ष एवं वर्ग-विध्वंस ही अभ्युदयका मार्ग है, उनकी सद्भावना और भ्रातृता कैसी है—यह सज्जमनेमें किसीको कठिनाई न होगी। सब चीजें समाजकी हो यही कहकर सब चीजे मुट्ठीभर मजदूर अधिनायकोंके हाथकी ही बना दी जायँगी। बैलगाड़ीवालों, ऊँटवालों, गधेवालों—सबका पूर्ण सत्यानाश तो कम्युनिज्ममें ही होगा। किसान, व्यापारी तथा बुद्धिजीवी-वर्गको भी कम्युनिष्ट अधिनायकोंके दास बनकर ही गुलामीका जीवन बिताना पड़ता है। नमूनेके तौरपर कुछ शहरो, ग्रामोंमें अवश्य मजदूरोंको स्वर्ग दिखायी दे, परंतु व्यापक तौरपर रूसकी कहानी तो कुछ और है। जो इसे अपनी आँखों देख चुके हैं, उनके वर्णनोंको 'पत्थरके देवता' नामक पुस्तकमें कोई भी देख सकता है।

जो कहा जाता है कि 'कम्युनिज्ममें हर काम हर व्यक्तिको सिखलाया जायगा' यह भी अत्यन्त अव्यावहारिक बात है। सब काम सब नहीं कर सकते, सब काममें सबको दक्षता भी नहीं प्राप्त हो सकती है। प्रत्येक व्यक्तिको उच्चकोटिकी मोटरें, नये-नये वायुयान सुरुभ कर देना कम्युनिस्टोंका दिमागी पुलावमात्र है। जब सैनिक और सेनापति, शासक और नासितका भेद न रहेगा, तब कोई भी व्यवस्था न चल सकेगी। यदि उपर्युक्त भेद रहेगा तो रूपान्तरसे वही स्वामी और सेवकका

भाव आ ही जाता है । अकमर और मातहत लोगोंमें भी वही भावनाएँ चलती हैं ।

धर्म और ईश्वरपर विश्वास होनेसे ही प्राणी अत्याचार, पापाचार आदिसे बचता है । अन्यथा शासको की आँखमें धूल डालकर लोग मनमाना अनाचार, दुराचार कर सकते हैं । धर्म और ईश्वरकी कल्पना न होनेसे ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र परस्पर एक दूसरेसे जाल-फरेब करते हैं । धर्म और ईश्वरपर विश्वास होनेसे प्राणिमात्रमें परमेश्वरका अस्तित्व दिखायी देता है । सब प्राणी परमेश्वरकी संतान हैं ('अमृतस्य पुत्राः'), फिर किससे विग्रह और किससे वेर ? यह भावना सिवा अध्यात्मवादके जडवादमें कभी पनप ही नहीं सकती । अध्यात्मवादमें ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ पढाया जाता है । जडवादमें तो थोड़ा-सा ही मतभेद होनेपर एक दूसरेको मौतके घाट उतार देनेकी बात सोची जाती है । रामराज्य ही महायन्त्रोंका निर्माण रोकना और उद्योग-धंधोंका विकेन्द्रीकरण करना चाहता है, परंतु कम्युनिज्ममें तो यन्त्रीकरणका विस्तार ही अभीष्ट है, फिर छोटे-छोटे कारीगरों या बैलों, ऊँटों, गधों आदिकी समस्या कम्युनिज्ममें कैसे हल होगी ? रामराज्य-परिपक्वकी दृष्टिमें आर्थिक असंतुलन दूर करनेकी पूर्ण योजना है ही । पूँजी और श्रम दोनोंही उत्पादनके मूल हैं । दोनोंकी उचित कदर की जायगी । विविध प्रकारके करों तथा आयात-निर्यातोंके सम्बन्धमें सदा ही समष्टि तथा व्यष्टिके हितोंका ध्यान रखा जाता है । व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व—सभी आत्मोन्नतिके उपाय कर सकते हैं, परंतु समष्टिके परस्पर हितका सामञ्जस्य रखना उनका अनिवार्य कर्तव्य है । यह केवल कम्युनिष्टोंकी ही बात नहीं है, किसी भी शासनमें समूचा राष्ट्र ही एक कुटुम्ब माना जाता है । सर्वत्र राष्ट्रके उन्नायकों, नेताओं तथा प्रबन्धकोंकी योग्यता और ईमानदारीके अनुसार ही उत्पादन एवं वितरणकी ठीक-ठीक व्यवस्था होती है । खपतके अनुरूप ही माल पैदा करनेका नियम रामराज्य-पद्धतिमें रहता है, क्योंकि समष्टि-हितके अविरोध ही व्यष्टिको प्रत्येक कार्य करनेकी स्वाधीनता मान्य है । शास्त्रों एवं तर्कोंसे किसीकी बपौती, मिल्कियत एवं गाढे पसीनेकी कमाई और दान या पुरस्कारमें पायी हुई सम्पत्तिका अपहरण करना अन्याय एवं पाप है ।

अवश्य ही उत्पत्तिके पुराने साधनों एवं पद्धतियोंमें रद्दोदल होनेसे उत्पादनमें विस्तार हो जाता है । उत्पन्न वस्तुओंमें सस्तापन भी आता है, आमदनी-में भी वृद्धि हो जाती है । खपतके लिये बाजारोंकी आवश्यकता, माल भेजने, मँगानेके लिये एवं कारखानोंके लिये कोयले, पेट्रोल आदिके खानोंकी आवश्यकता, बाजारों एवं कोयले, पेट्रोल आदिके लिये सघर्ष और बेकारीकी समस्या आदि भी खड़ी हो जाती हैं । इसीलिये रामराज्यमें उद्योगोंका विकेन्द्रीकरण ही अभीष्ट

है । छोटे-छोटे व्यवसायोंद्वारा स्वावलम्बी ढंगसे बेकारी दूर करके व्यापक-रूपसे रोजगारोंकी व्यवस्था की जाती है । कम्युनिष्ट यद्यपि बड़ी-बड़ी पुस्तकोंमें कल-कारखानोंके द्वारा गरीबोंके रोजगार छिन जानेकी चीख-पुकार मचाते हैं, परंतु उन्हीं कल-कारखानोंका वे समर्थन भी करते हैं । इनका ही क्यों, वे कल-कारखानोंके विस्तारसे ही लाखोंकी संख्यामें मजदूरोंका एकत्रित एवं संगठित हो सकना और मजदूर-आन्दोलनोंके द्वारा कम्युनिष्टराज्य-स्थापनाका भी स्वप्न देखते हैं । ईश्वर एव धर्मकी भावना दृढ़ होनेसे वैभव एवं सम्पत्तिगले अपनी सम्पत्तिका सदुपयोग राष्ट्रके पोषण तथा जीवन-स्तर उन्नत करनेमें करेंगे । बेकारी दूर करनेके काममें उनकी सम्पत्ति उपयुक्त होगी । इसीलिये प्राचीनकालमें आजकी अपेक्षा कहीं अधिक सम्पत्ति, शक्ति, बल, विद्या और दक्षताके रहनेपर भी असतुलित विपमता, बेकारी, कलह आदि नहीं थे । ईश्वर एवं धर्मकी भावना घटनेसे ही मात्सीय न्याय, परस्पर भक्ष्य-भक्षकभाव, शोषक-शोषितभाव बढ़ता है और उसे ही मार्क्सवादी गुण मानते हैं । वर्ग-कलह, वर्ग-विद्वेष तथा वर्ग-विध्वंस ही जिस सस्थाके सिद्धान्त एव आधार हो, वे ही जिसके जीवन एव उन्नतिके एकमात्र साधन हों, उससे विश्वशान्ति एवं विश्वमें समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताकी स्थापनाकी आशा करना व्यर्थ ही है ।

उत्पादन-विस्तारसे इस तरह कुछ भौतिक परिवर्तन होनेपर भी धर्म, दर्शन एव राजनीतिक-नियमों, स्वत्वोंमें रद्दोद्दलका कोई प्रसङ्ग नहीं होता । अमेरिका आदिकोंमें बिना मौलिक रद्दोद्दलके भी काम चलता ही है । आर्थिक दशा सामाजिक, धार्मिक नियमोंका नींव ही नहीं है, जिससे कि आर्थिक दशामें परिवर्तन होनेसे सामाजिक, धार्मिक नियमरूपी भवन ढह पड़े और उनमें रद्दोद्दल करना आवश्यक हो । जो यह कहा जाता है कि 'जिन लोगोंने उत्पादन-साधनोंमें रद्दोद्दल कर लिया, उन्हें उत्पन्न हुई वस्तुओंके वितरण-सम्बन्धी नियमोंमें भी परिवर्तन कर लेनेका अधिकार मानना न्यायसङ्गत है । अतः पुत्र-पौत्र आदिका पिता-पितामहकी सम्पत्तिपर दायरूपसे बपौती-सम्पत्तिके रूपमें अधिकार माननेके नियममें भी हेरफेर करके तथा सभी स्वत्व-सम्बन्धी पुराने नियमोंमें परिवर्तन करके समाजीकरण या राष्ट्रीकरणका सिद्धान्त माना जाना ठीक ही है ।' परंतु यह बात विचारणीय है कि उत्पादन-साधनोंमें परिवर्तन करनेका मुख्य श्रेय किसको है ? क्या साधारण मजदूर-समुदायको ? नहीं, मानना पड़ेगा कि इसका पहला श्रेय बड़े वैज्ञानिकों एव अन्वेषकोंको है । फिर ऐसे भी बहुतसे शास्त्र नियम हैं, जिनमें परिवर्तन असम्भव है । ऐसी दशामें यह सब कथन भी निस्सार है । इसपर विस्तृत विचार आगेके ४२८ से ४३२ पृष्ठोंपर देखना चाहिये ।



सप्तम परिच्छेद

ऐतिहासिक भौतिकवाद

इतिहास क्या है ?

मार्क्सके ऐतिहासिक भौतिकवादपर विचार करनेके पूर्व यह समझना आवश्यक है कि 'इतिहास' है क्या ? यूनानी भाषामें इतिहास (हिस्ट्री) का अर्थ जिज्ञासा होता है । मुसल्मानोंमें शिक्षापूर्ण उच्च आदर्शका वर्णन ही इतिहास समझा जाता था । फ्रांसके प्रसिद्ध लेखक वाल्टेयरके अनुसार मनुष्यकी मानसिक शक्तिका वर्णन ही इतिहास है, छोटी-छोटी घटनाओंका वर्णन इतिहास नहीं । उसके अनुसार शासकोंका वर्णन भी इतिहास नहीं, किंतु 'मनुष्य जगलीसे सभ्य कैसे हुआ', इस विकासका वर्णन ही इतिहास है । विज्ञान-वृद्धिसे विज्ञानका अनुसरण इतिहासमें भी होने लगा । प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों, मुद्राओं, खण्डहरोंद्वारा सत्यका अनुसंधान होने लगा । व्यूरी-जैमी प्रसिद्ध लेखिकाने कहा कि 'इतिहास एक विज्ञान है।' एक फ्रांसीसी लेखकका कहना है कि 'इतिहास शुद्ध विज्ञान है।' परंतु दूसरे लोग कहते हैं कि इतिहास कभी विज्ञान नहीं हो सकता । लेख-मुद्राओंके द्वारा भी सत्य घटनाओंका ज्ञान नहीं हो सकता । लेखोंमें परस्पर विरोध भी होता है । कुछ लोग 'इतिहास' को एक 'कला' कहते हैं किंतु कलामें विशेषरूप देनेके लिये वस्तुकी कुछ काट-छाँट करनी पड़ती है, और ऐसा करनेमें सत्य अश्र छिप जाता है । कुछ लोगोंका कहना है कि कला लेखन-शैलीमें होनी चाहिये । विज्ञान घटनाओंके अनुसंधानमें होना चाहिये ।

विश्वमें पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग भी हैं, उनका प्रभाव भी इतिहासपर पड़ता है । १४ वीं शतीमें युरोपमें प्लेगका भीषण प्रकोप हुआ था । उससे डेढ़ करोड़ मनुष्य मरे थे । इसके कारण वहाँ बड़ा भारी धार्मिक एवं राजनीतिक उथल-पुथल हुआ था । इन सबका कारण चूहे ही थे । हैजा आदि भी कीटाणुओंके ही परिणाम हैं । नेपोलियनकी अजेय सेना सग्रहणीके कीटाणुओंका शिकार वनकर रूसमें नष्ट-भ्रष्ट हो गयी थी । जंगल नष्ट होनेसे जमीनका कटाव बढ़ गया । प्रकृतिकी उथल-पुथलसे कितने ही साम्राज्य भूगर्भमें विलीन हो गये । कभी-कभी साधारण-साधारण घटनाओंसे ही इतिहासका कायापलट हो जाता है । फ्रांसकी क्रान्तिके दिनो वहाँका राजा लुई भाग निकला । रास्तेमें एक गाड़ी पड़ी होनेके कारण उसका मार्ग रुक गया । गाड़ी हटानेमें देर होते ही भीड़ एकत्रित हो गयी । राजा पहचाना गया और पकड़ लिया गया । यदि वह भागकर राज-भक्त सेनामें पहुँच गया होता तो क्या फ्रांसकी क्रान्ति सफल हो सकती थी ?

हीगेलके अनुसार 'इतिहास ईश्वरकी आत्मकथा है। वह मनुष्योंको अपनी रुचि-के अनुसार कार्य करने देता है। उनका फल वही होता है, जो ईश्वर चाहता है।' इंग्लैंड-के डिल्टन मेरका मत है कि 'संसार अज्ञातरूपसे, पर बड़े कष्टपूर्वक ईश्वरकी ओर बढ़ रहा है—मेरे लिये इतिहासका यही अर्थ है।' यह भी एक पक्ष है कि इतिहास-में निष्पक्षता-हो ही नहीं सकती। लेखक जिस देशकालमें रहता है, उसका प्रभाव उसपर अश्वय होता है। अतः वह अतीतको भी वर्तमानके चश्मेसे देखता है। जर्मन इतिहासशौ-का कहना है कि 'जर्मनीके जंगलो, पहाड़ों, नदियों तथा जर्मन वीर-गाथाओंका गौरव-पूर्ण वर्णन ही इतिहास है।' एक इटालियनका कहना है—'यदि प्राचीन इतिहासके अध्ययनसे हममें उत्साह नहीं बढ़ता तो फिर गड़े मुर्दे खोदनेकी क्या आवश्यकता?' कुछ लोगोंका मत है कि इतिहास अपनेको दोहराता रहता है। दूसरे कहते हैं—'प्राचीन घटनाओंकी पुनरावृत्ति असम्भव है।' कुछ लोग 'विशिष्ट ऐतिहासिक व्यक्तियोंका विस्तृत वर्णन ही इतिहास' समझते हैं। कुछ लोग छोटी-से-छोटी घटनाओंका भी इतिहासपर प्रभाव मानते हैं। मेरके अनुसार सार्वजनिक घटनाओंका क्रम-बद्ध वर्णन ही इतिहास है। प्रो० हॉर्नशॉकी रायमें विश्व-घटनाओंकी गति या उसके कुछ अंशका वर्णन इतिहास है। लार्ड ऐकटनका कहना है कि विश्वका इतिहास राष्ट्रोंके इतिहासका संग्रह नहीं, किंतु वह लगातार विकास है। वह स्मरण-शक्तिके लिये भार न होकर आत्माके लिये प्रकाश है। 'स्टडी आफ हिस्ट्री' के अनुसार 'इतिहासका आधार राष्ट्र नहीं हो सकता। अपने राष्ट्रको ही विश्व मान लेना भूल है। वह तो विश्वका अङ्गमात्र है, इसी दृष्टिसे उसका इतिहास लिखा जाना चाहिये।' मिस्टर वेल्सके अनुसार मानव जाति ही राष्ट्र है।

इस तरह इतिहासके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी धारणा होनेपर भी इतिहासका उद्देश्य सत्यकी खोज अवश्य होना चाहिये। इससे भिन्न उद्देश्य होनेपर घटनाओंकी खींचा-तानी तोड़-मरोड़ अवश्य करनी पड़ेगी। 'आई फ्लाउण्ड नो पीस' के लेखक मिस्टर वेन मिलरका कहना है कि आँखों देखी घटना भी ठीक नहीं बतायी जा सकती। दो आदमी उसे भिन्नरूपसे देखते हैं। प्रत्येक व्यक्तिकी कल्पना अलग ही चलती है। पत्रों, सरकारी लेखोंमें भी भाव बदले जाते हैं। फिर हजारों वर्ष पुराने इतिहासका वर्णन सत्य कैसे हो सकता है? वस्तुतः इसीलिये रामायण, महाभारत आदि आर्ष इतिहासके लेखक वल्मीकि, व्यास आदि ऋषि प्रत्यक्षा-नुमान या संवाददाताओंके तारों, पत्रोंके आधारपर नहीं, किंतु समाधिजन्य श्रुतम्भरा प्रज्ञाके अनुसार घटनाओंको पूर्णतया जानकर ही इतिहास लिखनेमें संलग्न हुए थे। वैदिकोंके यहाँ वेदार्थ जाननेमें इतिहास-पुराणका अत्यन्त उपयोग है—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्', पुराणमिति वृत्तमाख्यायिके-दाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रचेतीतिहासः। (कौ० अर्थ० १। ५। १४) ब्रह्मादिपुराण, रामायण महाभारतादि इतिहास, बृहत्कथादिआख्यायिका, मीमांसादि उदाहरण, मनु

याज्ञवल्क्यादि धर्मशास्त्र, औशनस बार्हस्पत्यादि अर्थशास्त्र—ये सभी कौटल्यके अनुसार इतिहास हैं। शुक्रके मतानुसार किसी राजचरित्र वर्णनके व्याजसे प्राचीन घटनाओंका वर्णन ही इतिहास है—

‘प्राग्वृत्तकथनं चैकराजकृत्यमिषादितः ।

यस्मिन् स इतिहासः स्यात् पुरावृत्तः स एव हि ॥’ (शुक्र बी० ४।२९३)
इतिहासके साथ पुराणोंका भी सम्बन्ध अनिवार्य है; क्योंकि पुराणमें सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रजापतियोंके बादकी सृष्टि), वग (कुल), मन्वन्तर (प्रत्येक मनुके अधिकारका समय), वश्यानुचरित (कुलवृत्त) का वर्णन विशेषरूपसे होता है। इतिहास केवल घटनाओंका वर्णन मात्र हो तब तो केवल गढ़े मुदोंके उखाड़नेके अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह जाता, अतः उसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षोपदेश आवश्यक है। इस तरहका कथायुक्त वृत्त ही इतिहास है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।

पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥ (का० मीमां० म० टी० १।२)
धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षके उपदेशोंसे समन्वित कथायुक्त पूर्ववृत्तका वर्णन ही इतिहास है। मानवजातिकी प्रगति ऐतिहासिक क्रमसे इसी ओर होती रही है।

इतिहासकी मार्क्सिय व्याख्या

मार्क्सके अनुसार ‘इतिहास छः युगोंमें विभक्त है। प्रथम युगमें अति प्राचीन मनुष्य साम्यवादी संघोंमें रहता था। उस समय उत्पादन, वितरण आदि समाजवादी ढंगसे होता था। दूसरा युग दासताका है। कृषि-प्रथा गोपालनके फलस्वरूप व्यक्तिगत सम्पत्तिका जन्म हुआ। सम्पत्तिके स्वामियोंने अन्य सम्पत्ति-रहित लोगोंको अपना दास बनाया। राज्य एवं तत्सम्बन्धी अन्य सस्थाओंका जन्म हुआ। तीसरा सामन्तशाही युग हुआ, इसमें सामन्त भूमिके स्वामी होते थे। गरीब किसान इन सामन्तोंके अधीन रहते थे, पर दास नहीं। चौथा युग आधुनिक पूँजीवादी युग है। इस युगका प्रादुर्भाव व्यवसायों एवं कारखानोंके फलस्वरूप हुआ है। इसमें अर्थ, समाज एवं राज्यके स्वामी पूँजीपति होते हैं। श्रमिक अपना जीवन-निर्वाह श्रमके द्वारा करते हैं। पाँचवाँ युग सर्वहाराके अधिनायकत्वका होगा। इसमें अर्थ, समाज एवं राज्यकी वागडोर श्रमिकोंके हाथमें होगी। यह समाजवादी एवं शोषणरहित युग होगा। इसके बाद मानव-जाति छठे युगमें प्रवेश करेगी। उसमें राज्यविहीन समाज होगा। वास्तविक स्वतन्त्रता तभी होगी, यह सुवर्णयुग होगा।’

मार्क्सका अति प्राचीन युग रूसोकी प्राकृतिक स्थितिके समान है। रूसोकी भौति ही मार्क्सके मतमें भी व्यक्तिगत सम्पत्ति सभ्यताकी धात्री है। मार्क्सका आधुनिक पूँजीवादी युगका चित्रण रूसो-जैसा ही है। रूसोका ‘आदर्श प्रत्यक्ष जन-तन्त्र’ और ‘सामान्येच्छाके सिद्धान्त’की तुलना मार्क्सके ‘साम्यवाद’से की जा सकती है। जैसे रूसोकी सामान्येच्छाद्वारा एक नयी स्वतन्त्रता सम्भव होती है, वैसे ही मार्क्सके

क्रान्ति और सर्वहाराके अधिनायकत्वमें एक नयी साम्यवादी व्यवस्थाका जन्म होगा। रूसोकी यह स्वतन्त्रता प्राचीन प्राकृतिक स्थितिके स्वतन्त्रतासे भिन्न थी। वैसे ही मार्क्सका साम्यवाद भी अति प्राचीन साम्यवादसे भिन्न है। भेद इतना ही है कि रूसो आदर्शवादी था और मार्क्स भौतिकवादी।

मार्क्सके अनुसार 'मानव-इतिहास वर्ग-संघर्षका इतिहास है। यह संघर्ष युगानुरूप होता है। कभी प्रत्यक्ष, कभी अप्रत्यक्ष भी रहा है। कभी विजेताद्वारा नये समाजका निर्माण हुआ, तो कभी दोनों वर्गोंका विध्वंस हुआ है। सर्वहाराकी क्रान्तिद्वारा ही इस वर्ग-संघर्षका अन्त होगा; क्योंकि इसके द्वारा वर्गका अन्त होकर एक वर्गविहीन समाज बनेगा।' आधुनिक लोगोंकी दुनिया ही छः हजार वर्षकी है। इसके ही भीतर इन्हे अनेको युगोंकी कल्पना करनी पड़ती है। परन्तु भारतीय महर्षियोंकी दृष्टिसे वर्तमान सृष्टि ही दो अरब वर्षकी मानी जाती है। आधुनिक वैज्ञानिक भी अब सृष्टिकी प्राचीनताकी ओर बढ़ रहे हैं। इस दृष्टिसे धर्म-राज्य राम-राज्य और सोपद्रव, क्षुद्रराज्य—तीन ही प्रकारका युग प्रतीत होता है। मार्क्सके छः युग सोपद्रव क्षुद्रराज्यके भीतर ही हैं।

अनेक दार्शनिक हाब्सके प्राकृतिक खूँखार मानव एवं उसके द्वारा अनु-बन्धपूर्वक 'दीर्घकाय'को सर्वाधिकार समर्पण आदि-जैसे ही मार्क्सके ऐतिहासिक वर्णनको भी अप्रामाणिक समझते हैं। अतीत घटनाओंके सम्बन्धमें प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती, अतः अनुमान या आगमोद्वारा ही उस सम्बन्धमें कुछ जानकारी हो सकती है। आगमोंपर मार्क्सका विश्वास नहीं था। अपुष्ट कारणोंके आधारपर इतिहासके सम्बन्धमें अटकल लगाकर किसीने तीन, किसीने पाँच तो किसीने छः युगकी कल्पना कर डाली। ये कल्पनाएँ निराधार हैं। रूसोकी प्राकृतिक स्थितिमें स्वर्णयुग ही था, उसी प्रकार मार्क्सकी भी अति प्राचीन मनुष्योंकी साम्यवादी संघकी स्थिति थी। फिर उसका अन्त क्यों हुआ? जिस तरह उसका अन्त हुआ उसी तरह मार्क्ससम्मत सर्वहाराके डिक्टेटरशिप्में होनेवाली क्रान्ति-द्वारा वर्गहीन राज्यका भी अन्त क्यों न होगा? हीगेलके अनुसार कोई भी संवाद अन्तमें वाद बन जाता है; क्योंकि कुछ-न-कुछ लोग उस संवादके भी विरोधी रहते ही हैं। उन्हींका समुदाय उस संवादका प्रतिवादी बन जाता है। जब अति प्राचीन साम्यवादी संघवादी बन सका तो अन्तिम वर्गविहीन समाज क्या स्थायी-रूपसे हो सकेगा? और उसका विरोधी कोई न होगा? फिर हीगेलका आदर्श राज्य भी द्वन्द्वमानके अनुसार अन्तिम ही है। इसमें भी सिवा अन्धविश्वासके और क्या प्रमाण है? फिर यह भी तो कहा जा सकता है कि जैसे रूसोकी सामान्येच्छाद्वारा प्राप्त स्वतन्त्रताका स्वप्न पूरा नहीं हुआ, उसी तरह मार्क्सके भी वर्गविहीन राज्यका स्वप्न पूरा होनेवाला नहीं। धर्मनियन्त्रित शासन-तन्त्रवादीके यहाँ हास-

विकासका चक्र चलता रहता है। अतः कृतयुगमें धर्म-राज्य एवं दण्ड आदिसे विहीन धर्मनियन्त्रित राज्य था और वह स्वर्णयुग था—यह आर्य इतिहासोंसे विदित है। पुनश्च रजोगुण-तमोगुणके विस्तारसे उसमें गड़बड़ी हुई। फिर धर्म-नियन्त्रित राज-तन्त्र हुआ, तमोगुण बढ़नेसे फिर और विविध विवादमय राज्य हुए। पुनश्च 'चक्रानेमिक्रमेण' धर्मनियन्त्रित लोकतन्त्र, धर्मनियन्त्रित राजतन्त्र एवं पुनः शुद्ध राजादि विहीन धर्मनियन्त्रित राज्य हो सकता है। जैसे प्रतिवर्ष वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओंका प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही यह भी सम्भव है। मार्क्सका 'वर्ग-सघर्ष' कोई वास्तविक तथ्य नहीं है। यह तो एक विकार है। मात्स्य-न्यायका फैलना धर्म-नियन्त्रण घटनेपर ही बढ़ता है। धर्म-नियन्त्रण बढ़नेपर घट जाता है। यो तो प्रत्येकव्यक्तिके भीतर देवासुर-सग्राम चलता ही रहता है। रजोगुण, तमोगुणके अनुकूल वृत्तियों, चेष्टाएँ, भावनाएँ तथा उनसे युक्त व्यक्ति, समुदाय, आसुर समुदाय है। सत्त्वगुणके अनुकूल वृत्तियों, भावनाएँ, चेष्टाएँ तथा उनसे युक्त व्यक्ति, समुदाय दैवी समुदाय है। इनका सघर्ष सदा ही चलता है, परंतु कभी व्यक्त कभी अव्यक्त। भीतरका ही सघर्ष कभी-कभी बाह्यरूप धारण कर लेता है। कभी कोई पक्ष जीत जाता है तो कभी कोई पक्ष। तमोगुणपर सत्त्वगुणकी विजय ही अमृतपर सत्यकी, दानवतापर मानवताकी, आसुर-शक्तिपर दैवीशक्ति की विजय है। यही जड़वादीपर अव्यात्मवादीकी विजय है। यही व्यष्टिवादपर समष्टि-वादकी, सकीर्णतापर उदारताकी जीत है। आदर्शवादी दार्शनिक हाव्स आदिके प्राकृतिक मनुष्य और अनुबन्धद्वारा राज्य-कल्पनाको अप्रामाणिक एवं अनैतिहासिक कहते हैं। ठीक इसी तरह अति प्राचीन साम्यवादी समाज और वर्ग-भेद आदिकी मार्क्सिय कल्पना भी अप्रामाणिक एवं अनैतिहासिक ही है।

भौतिकवादी व्याख्या

कहा जाता है कि हीगेलके ऐतिहासिक आदर्शवादके मुकाबिलेमें ही मार्क्सने अपनी प्रणालीका नाम 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' रखा था। इस प्रणालीद्वारा मार्क्स विभिन्न परिवर्तनों, क्रान्तियों एवं मानसिक, सामाजिक घटनाओंको उत्पन्न करनेवाले मूलस्रोतोंका पता लगाना चाहता था, इसलिये इतिहास संचालन करनेवाले नियमोंका उसने पता लगाया। उसका कहना था—'मनुष्योंके विवेक एवं विचारोंमें परिवर्तन करने-वाली तथा विभिन्न सामाजिक प्रणालियों और पारस्परिक विरोधकी सृष्टि करनेवाली प्रधानशक्ति, विचारों, भावनाओं या विश्वव्यापी ज्ञानसे अथवा सर्वव्यापी आत्मके ज्ञानसे नहीं हुआ, किंतु वह जीवनकी भौतिक अवस्था एवं नियमोंद्वारा ही हुआ है। इसलिये मनुष्यजातिके इतिहासका आधार भौतिक है, अर्थात् जिस मार्गमें मनुष्य एक सामाजिक प्राणीकी हैसियतसे, प्राकृतिक परिस्थितियों, आन्तरिक, शारीरिक और मानसिक शक्तियों की सहायतासे अपने सांसारिक या भौतिक जीवनका निर्माण

करता है और अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये वस्तुओंको उत्पन्न करता, बाँटता और बदलता है, वही नियम, मार्ग या तरीका जीवनका भौतिक विषय या अवस्था है।

पर यहाँ यह विचारणीय है कि यदि विभिन्न परिवर्तनों, क्रान्तियों, मानसिक-सामाजिक रचनाओंको उत्पन्न करनेवाला कोई मूल स्रोत ढूँढना आवश्यक है और उसका कारण मार्क्सके मतानुसार भौतिक अवस्था और भौतिक नियम ही है, तो भौतिक अवस्था एवं भौतिक नियमोंका भी कारण क्या है—यह भी जिज्ञासा स्वाभाविक तथा अनिवार्य है। व्यावहारिक बात तो यह है कि विचारशील, विवेकी पुरुष ही जड़ भौतिक वस्तुओंमें रहोबदल करता रहता है; जड़ वस्तु स्वयं न अपनेको जान सकती है, न अन्यको ही। हिताहित सोचना, किसी उद्देश्यसे प्रवृत्त होना यह शुद्ध चेतनका ही धर्म है, अचेतनका नहीं। इसीलिये जैसे रेल, तार, रेडियो, वायुयान, विभिन्न शस्त्रास्त्र, कल-कारखाने, बड़े-बड़े बाँध, पुल, महान् दुर्ग—सब चेतनके विचार एवं इच्छाके ही परिणाम हैं, इसी प्रकार अन्यान्य आकाश, पृथ्वी आदिकी उत्पत्ति एवं उसके नियम एवं अवस्थाओंमें भी अवश्य ही किसी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् समष्टि चेतनकी इच्छा एवं विचारोंको कारण मानना अनिवार्य है। किसी भी विचारमें विचार्य कुछ भौतिक वस्तुएँ एवं उनकी अवस्थाएँ भी कारण हो सकती हैं। परंतु इसका अभिप्राय इतना ही है कि जैसे घटज्ञानमें विषयरूपसे घट भी हेतु है, परंतु इतने मात्रसे चक्षुमें घटका संनिकर्ष तथा मन या अन्तःकरणका चक्षुद्वारा घटाकार परिणत होना और चेतन आत्माद्वारा उन सबका प्रकाश होना गौण या मुख्य है—यह नहीं कहा जा सकता है। किंतु ज्ञानमें तो ज्ञाता ही मुख्य है, ज्ञेय एवं प्रमाण आदि ज्ञाताके अङ्ग होकर ही ज्ञानके साधन हैं।

विवेकी ज्ञाता जीवनकी भौतिक अवस्थाओंमें रहोबदल करता ही रहता है। यद्यपि भौतिकवादी किसी भी सिद्धान्त, सत्य, न्याय, धार्मिक या सामाजिक नियमको शाश्वत या नित्य नहीं मानते, फिर भी अचेतन भूतोंमें अनेक शाश्वत नियम मानना अनिवार्य है, पृथ्वीका गन्धवत्त्व एवं विभिन्न बीजोंद्वारा विभिन्न प्रकारकी वस्तुओंका उत्पन्न होना, विविध प्रकारके बीजोंसे विभिन्न पुष्प, स्तवक, कुड्मल, वृक्ष एवं विभिन्न रूप, रस, गन्धसे युक्त फलोंका उत्पन्न होना, जलका निम्न प्रदेशकी ओर बहना, अग्निका ऊर्ध्वमुख प्रज्वलन, वायु एवं आकाशके निश्चित धर्म शाश्वत ही हैं। समुद्रमें विभिन्न तिथियोंमें नियन्त्रित समयपर ज्वारभाटाका आना, चन्द्रमाका नियमित हास-विकास कितना शाश्वत है—यह सुस्पष्ट है। जिस प्रकार भौतिक नियम शाश्वत हैं, वैसे ही ज्ञाता, चेतन एवं ईश्वरादिके नियम शाश्वत हैं, अतएव धार्मिक, सामाजिक एवं न्यायसम्बन्धी अपरिगणित धर्म भी शाश्वत है। ईश्वरीय नियम, धार्मिक सिद्धान्त, न्याय एवं सत्यके अनुसार विवेकी

प्राणी शारीरिक, मानसिक एवं भौतिक परिस्थितियोंकी सहायतासे अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये वस्तुओंको उत्पन्न करता, बँटता तथा रद्दोबदल भी करता है। परंतु जहाँ आध्यात्मिक धार्मिक दृष्टिसे तथा विवेकके विरुद्ध शारीरिक मानसिक तथा बाह्य भौतिक परिस्थितियाँ, परस्त्री, परधन-हरणके अनुकूल भली ही हो, तथापि एक विवेकी पुरुष उनका विरोध ही करता है। नदीके तीव्र प्रवाहमें पड़ा हुआ मुर्दा ही निर्विरोध धाराका अनुसरण करता है, परंतु जीवित प्राणी अवश्य ही विरोध करता है, प्रवाह चीरकर लक्ष्यकी ओर बढ़ता है। प्रवाहका किंचित् अनुसरण भी प्रवाह अतिक्रमणके ही अभिप्रायसे करता है। समुद्रमें नाव डालकर वायुके अनुसार भटकनेवाला प्राणी निरुद्देश्य ही होता है। जिसका कोई लक्ष्य होता है, वह विरुद्ध भीषण झझावातका भी मुकाबला करके लक्ष्यकी ओर बढ़ता है, यदि उसमें सर्वथा असमर्थ रहा तो उसी जगह लंगर डालकर नावको रोक देता है—‘जैसी बहे बयार पीठ तब तैसी दीजै’ का दुरुपयोग करनेवाले अवसरवादी सर्वथा अविश्वसनीय ही हुआ करते हैं।

उत्पादन-शक्तियाँ और नियम

कहा जाता है कि उत्पादन-शक्तियाँ दो प्रकारकी हैं—एक चेतन, दूसरी अचेतन। अचेतन शक्तियोंके अन्तर्गत भूमि, जल, वायु, कच्चा माल, औजार, मशीनें आदि आ जाती हैं। चेतन शक्तियोंमें मजदूर, आविष्कारक, अन्वेषक, इंजीनियर आदि आ जाते हैं। जातिगत गुणों अर्थात् किसी मनुष्य-समूहकी जन्मसिद्ध योग्यताका भी चेतन शक्तियोंमें अन्तर्भाव है। सबसे अधिक महत्त्व शारीरिक और मानसिक श्रम करनेवाले श्रम-जीवियोंका है। उनके द्वारा ही पूँजीवादी समाजमें विनिमय मूल्यकी सृष्टि होती है। दूसरा महत्त्व आधुनिक यन्त्रविद्याका है, जिसके कारण आज समाजमें उथल-पुथल हो रहा है। मार्क्सके मतानुसार ‘मनुष्य उत्पादक कार्य और उसकी आवश्यकताके प्रभावानुसार अपने समाज, राज्य, धर्म-दर्शन और विधानसम्बन्धी सिद्धान्तोंकी रचना करता है। भौतिक, आर्थिक अवस्था इसकी आधार-भित्ति स्वरूप है। उससे उत्पन्न होनेवाली धार्मिक राजनीतिक, दार्शनिक आदि प्रणालियाँ उसके ऊपर बने हुए भवनोंके समान होती हैं। ये भवन जितने अंशोंमें अपनी आधारभित्तिके अनुरूप होते हैं, उतने ही दृढ़ होते हैं, उतनी ही उन्नति और समृद्धि होती है। सामाजिक दशाओंके द्वारा सम्पत्ति सम्बन्धी नियम बनाये जाते हैं और मनुष्योंके उन पारस्परिक सम्बन्धोंका निर्णय किया जाता है, जिनसे उत्पत्तिका कार्य चलता है। उत्पादनके नियमोंका निर्णय समाजके मनुष्य ही करते हैं, जैसे और नियमोंका निर्णय समाजके मनुष्य ही करते हैं। जैसे मनुष्य प्राकृतिक सामग्री और शक्तियोंकी सहायतासे भौति-भौतिकी वस्तुओंका निर्माण करते हैं, उसी प्रकार मस्तिष्कपर उत्पादक शक्तियोंकी प्रतिक्रियाके फलस्वरूप सामाजिक, राजनीतिक

और न्यायसम्बन्धी विधानों तथा धार्मिक, चारित्रिक, दार्शनिक सिद्धान्तोंका भी निर्णय वे ही करते हैं।^१

उत्पादक-उत्पादन-शक्तियों और उनके द्वारा होनेवाले परिणामोंपर विचार करते हुए यह कभी न भूलना चाहिये कि उच्चावच अनन्तानन्त सब भौतिक पदार्थ भोग्य हैं। वे अपने लिये नहीं, किंतु भोक्ताके लिये होते हैं। भोक्ता भोग्यके लिये नहीं होता, किंतु भोग्य भोक्ताके लिये होता है। पलंग अपने लिये नहीं, किंतु सोनेवाले भोक्ताके लिये होता है। करोड़ों रुपयोकी माला, मालाके लिये नहीं, अपितु पहननेवालेके लिये होती है, अतएव पलंग यदि छोटी पड़ जाय तो पलंगमें सुधार होना चाहिये, न कि सोनेवालेको काट-पीटकर पलंगके लायक बनाना चाहिये। माला छोटी पड़ती है, सिरसे गलेमें नहीं उतरती, तो मालाको तोड़कर सुधारना ठीक है, पहननेवालेका सिर छीलकर मालाका गले उतारना बुद्धिमानी नहीं। ठीक इसी प्रकार भोक्ता नित्य, चेतन, आत्माके लौकिक पारलौकिक हितकी दृष्टिसे भौतिक वैभव एवं उनके रद्दोबदलका उपयोग किया जा सकता है, परंतु आत्माके लौकिक, पारलौकिक हितोंके विपरीत असर डालनेवाले भौतिक प्रभावोंको हर प्रकार रोकना ही उचित है। जैसे स्थूल देह सूक्ष्म मनके अधीन रहता है, वैसे ही देह, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि सभी सहित आत्माके लिये होते हैं, वैसे ही देहादिसघात स्वविलक्षण स्वप्रकाश असंहत आत्माके लिये हैं। रथादि अचेतनकी प्रवृत्ति सारथि चेतनसे अधिष्ठित होती है, वैसे ही जड़ देहादिकी प्रवृत्ति चेतन आत्मासे अधिष्ठित होती है। देहादि यदि आत्माके अधीन न हो तो भारभूत हो जाते हैं, इसी तरह अचेतन भौतिक सभी व्यवस्थाएँ भी समष्टि चेतन-नियन्त्रित रहकर ही सुख-साधक हो सकती हैं। आधुनिक वैज्ञानिक लोग जड़ प्रकृति-वशीकारके लिये प्रयत्नशील होते हैं। आधिभौतिक बड़ी-से-बड़ी उन्नति यदि आत्माके अनुकूल है, आत्माके नियन्त्रणमें है तभी उसका महत्त्व है, अन्यथा वह भारभूत दुःखरूप ही है। इस तरह भौतिक अवस्थाके अनुसार चेतनके सब नियमोंमें रद्दोबदल अत्यन्त असंगत है, आशिक रूपसे भौतिक अवस्थाओंका उपयोग एवं अनुसरण मान्य है ही। फिर भी चेतनपर अचेतनका हावी हो जाना कथमपि उचित नहीं है, चेतन उत्पादक होनेसे एव भोक्ता भी होनेसे महत्त्वपूर्ण है, वह पूँजी एवं यन्त्र दोनोंपर ही अधिकारी होता है, अतः चेतनसे अचेतनकी तुलना ही नहीं हो सकती। फिर भी श्रमजीवीको श्रमका फल जैसे मिलना आवश्यक है, वैसे ही पूँजीपतिको पूँजीका फल भी मिलना आवश्यक है और यह कम्युनिष्टको भी मानना ही होगा, भले ही उसकी दृष्टिमें ही यह फल व्यक्तिको न मिलकर समाजको मिले। यहाँ रामराज्यके अनुसार आधुनिक शोषक पूँजीवाद या व्यक्तियोंका अधिनायकवाद या निःस्वत्ववाद नहीं मान्य है, किंतु वह पूँजी सबको मान्य है, जिसके द्वारा यन्त्र एवं आविष्कारक, अन्वेषक एव श्रमजीवियोंका भी काम चला है।

आधुनिक रूपमें आजकल भी व्यक्ति बैंकोंमें रुपया जमा करता है और उसका सूद भी प्राप्त करता है ।

माली हालत या भौतिक अवस्था भले ही तत्सम्बन्धित नियमोंकी आधार-भित्ति हो, परंतु 'दार्शनिक धार्मिक सभी नियमोंकी आधारभित्ति या नींव भी माली हालत ही है'—यह कहना सर्वथा असंगत है । भले पुरुष चाहे निष्किंचन हों या धनवान्; किंतु अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदिका आदर सभी करते हैं । प्राचीन कालमें जैसे अकिंचन ब्रह्मचर्यका, तपस्याका सम्भावन करते थे, वैसे ही एक सर्वसाधन-सम्पन्न सम्राट् भी सब त्यागकर ब्रह्मचर्य एवं त्याग-तपमें परिनिष्ठित होता था । आज भी भले लोग धनी हों या गरीब, धर्मका आदर करते हैं । बुरे चाहे धनी हों या गरीब, धर्मकी उपेक्षा करते हैं । देह-भिन्न आत्माका अस्तित्व तथा ईश्वर सदा, राजा, रङ्ग, अमीर, गरीब सभी मानते हैं, फिर माली हालतमें रहोवदल होनेसे धर्म एव दर्शनमें रहोवदल होना कहाँतक सगत है ?

कथंचित् भावनाओंपर वातावरणका किंचित् प्रभाव पड सकता है, परंतु तत्त्वज्ञान एव वस्तुस्थितिसे सम्बन्ध रखनेवाले धर्म-दर्शनमें भी माली हालतके रहोवदल होनेसे रहोवदल मानना अत्यन्त मूर्खता है । लूट, खसूट, चोरी, हत्या, कभी भी धर्म बन जायेंगे, परोपकार, दया, सत्य, कभी अधर्म बन जायेंगे, तब तो कभी सखियाका अमृतरूपमें और अमृतका सखियारूपमें बदलना भी मान लिया जायगा । तत्त्वज्ञानकी व्यवस्था ही लीजिये—रज्जुमें रज्जुज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है, रज्जुमें सर्प, धारा, माला आदिका ज्ञान सदा ही अयथार्थ रहेगा, चाहे माली हालतमें रहोवदल हो, चाहे कितना ही भौतिक परिवर्तन हो, परंतु किसी भी हालतमें रज्जुमें रज्जुज्ञानकी अयथार्थता नहीं हो सकती । वस्तुतः मार्क्सवादी व्यक्तिगत भूमि सम्पत्ति, खानों, कल-कारखानोंपर राष्ट्रीकरणके नामपर अधिकार करनेके लिये आदिपरम्पराप्राप्त शास्त्रीय नियमोंका अपलाप करके अपने कृत्योंका समर्थन करना चाहते हैं । परस्त्री, पर-धनका अपहरण, हत्या एव जाल-धोखेकी भी उचित या न्यायसिद्ध बननेके लिये यह वाग्जाल फैलाते हैं और कहते हैं कि ईश्वरीय या शास्त्रीय कोई भी सत्य न्याय अथवा धर्म नहीं है । माली हालत, भौतिक अवस्थाके अनुसार ही धर्म, सत्य, न्याय बनते हैं, अतः सभी नियमोंकी नींव माली हालत या भौतिक अवस्था ही है । इस दृष्टिसे वे कहते हैं कि 'पुरानी माली हालत या भौतिक अवस्था बदल गयी तो पुराने सब नियम धरा-शायी हो गये । इसलिये पुराने नियमोंके अनुसार जो पहले अधर्म था, वह अब अधर्म नहीं है । अतः हमलोगोंका पर-धन, पर-स्त्री-हरण, हत्या, जाल-फौरेव आदि अधर्म या अन्याय नहीं है । जिन लोगोंने उत्पादन साधनों एव उत्पादनोंमें रहोवदल कर लिया, उन्हें धर्म एव न्यायमें भी रहोवदल कर लेनेका हक

है, उत्पन्न वस्तुओंके वितरण-सम्बन्धी नियमोंमें भी रद्दोबदल कर लेनेका हक है—ये सब बातें अपने पापको, अन्यायोंको पुण्य या न्यायसिद्ध करनेका असफल वागाडम्बरमात्र है, जिसमें कुछ भी दम नहीं है। कोई भी व्यसनी या अपराधी, अपनी प्रवृत्ति या रुचिके अनुसार ही अधार्मिक धार्मिक सामाजिक राजनीतिक नियम चाह सकता है।

मार्क्सका कहना है कि 'मनुष्य स्वयं अपने इतिहासका निर्माण करता है। वह यह कार्य अपनी इच्छाके अनुसार अभिलषित मार्गसे नहीं कर सकता, किंतु उसे उस मार्गके अनुसार कार्य करना पड़ता है, जो कि उसके सामने प्रस्तुत होता है और जिसे वह प्राप्त कर सकता है। उदाहरणार्थ अति प्राचीन युगमें थोड़े-थोड़े मनुष्य गिरोह बनाकर रहते थे, रक्त-सम्बन्धके आधारपर संघटित होते थे। उनके देवता भी उनकी परिस्थितिके अनुसार बनाये गये। इससे प्रकट होता है कि उस परिस्थितिका प्रभाव उन जंगली लोगोंकी मानसिक अवस्था, उनके मजहब, उनके चरित्र और उनके सामाजिक नियमोंपर कैसा पड़ता था। सपों, सिंहों आदिकी पूजा उस कालकी निशानी है। इसी तरह मध्यकालके क्षत्रिय सरदारों, जमींदारोंका आधार भूमि-सम्बन्धी अधिकार और शहरोंकी दस्तकारीपर था। उस परिस्थितिके अनुसार उन लोगोंके धार्मिक विचार बदल गये और नवीन मतोंकी स्थापना हुई, जो कि इस युगके अधिकार प्राप्त लोगोंके हितके अनुकूल थे। जो नैतिक, धार्मिक, दार्शनिक विचार इस हितके विरोधी थे, उन्हें दबा दिया गया।

इसी प्रकार वर्तमान पूँजीवादी समाज व्यक्तिगत पूँजीके आधारपर रचा गया है और वह सामूहिक तथा सहयोगमूलक भावोंके उच्छेदनार्थ प्रयत्नशील है। यह स्वार्थसिद्धिके लिये व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका प्रचार करता है तथा श्रम-जीवियों और सम्पत्तिका एक स्थानपर संग्रह करता है, जमींदारी, जागीरदारीकी प्रथा और उसके समर्थक विश्वासों (राजाकी ईश्वररूपमें मानना) को नष्ट करता है और उनके स्थानपर धार्मिक स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत विवेकके सिद्धान्तका विस्तार करता है। यह समाज व्यक्तिगत अधिकारोंका प्रचार करता है, प्राचीन राजाओंके एकतन्त्र शासनके विरुद्ध युद्ध करता है, राष्ट्रियताका भाव फैलाकर व्यापार व्यवसायका विस्तृत क्षेत्र प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है तथा जमींदारी आदिके विरोधार्थ ही वह एकतन्त्र सत्ताका समर्थन करता है। एकतन्त्र सत्ता भी जब पूँजीवादमें बाधक होती है, तब उसके विरुद्ध भी वह संग्राम करता है और एकतन्त्र शासनको नष्ट कर वैध राज्य-सत्ता या प्रजातन्त्रकी स्थापना करता है। यह सब काम इसलिये नहीं सम्पन्न किये जाते कि कोई विलक्षण बुद्धिमान मनुष्य प्रबल विचार शक्तिद्वारा या नवीन ज्ञानोदयद्वारा या ईश्वरीय प्रेरणाद्वारा करता है,

किंतु यह सब उस प्रभावसे सम्पन्न होता है, जो मनुष्यके भौतिक आधार या आर्थिक आधारके परिवर्तन होनेसे मनुष्योंके मस्तिष्कपर पड़ता है। मार्क्सका कहना है कि 'मनुष्यके अस्तित्वका आधार उसके विवेक या अन्तरात्माके आदेश-पर नहीं होता, किंतु अन्तरात्माका आधार उसकी सामाजिक स्थिति या दशापर होता है। कोई भी मनुष्य सामाजिक जीवनका निर्माण नहीं कर सकता और न उसके अनुकूल कानून ही बना सकता है। वह तो केवल एक नौकर या कार्य-कर्ताके समान होता है, जो समाजके भौतिक आधार या आर्थिक दशासे उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्तियों और विचारधाराओंका अनुसरण करता है। तथापि कार्यकर्ता व्यापक ज्ञानवान्, उद्योगी एवं अधिक योग्य हों तो अपनी सीमाके भीतर महान् कार्य कर सकते हैं, की गयी उन्नतिको बहुत दूरतक बढ़ा सकते हैं। ईसा, मुहम्मद आदि इसी कोटिके थे।'

अवश्य भौतिक परिस्थितियाँ कभी-कभी प्राणीको अपने अनुसार चलनेके लिये बाध्य करती हैं, फिर भी लक्ष्य एवं सिद्धान्तके अनुसार महापुरुष परिस्थितियों-को ही बदल देते हैं, परिस्थितियोंके दास नहीं बनते, परिस्थितियोंके वशीभूत होकर भी अपना धर्म नहीं छोड़ते, भले प्राण छोड़ना पड़े तो प्राण छोड़ देते हैं। अति प्राचीन युगका मार्क्सोय इतिहास भी सर्वथा अप्रामाणिक है। 'गिरोह बनाकर रहना' पहले भी अच्छा था, आज भी अच्छा है। रक्त-सम्बन्धसे विभिन्न समूह आज भी होता ही है। 'परिस्थितिके अनुसार सर्प, सिंह आदिको देवता बनाने' की बात प्रलाप है। शास्त्रविश्वासी आज भी शेरनाग एवं नृसिंह भगवान्को परमेश्वरके अवताररूपमें पूजते ही हैं। इसी तरह 'मध्यकालमें धार्मिक विचार बदल गये' यह कहना भी असंगत है। अनादि अपौरुषेय शास्त्रोंका प्रामाण्य मानने-वालोंका जैसा विचार करोड़ों वर्ष पूर्व रामायणके रामराज्यमें था, हजारों वर्ष पूर्व महाभारतके युधिष्ठिर राज्यमें था, वैसा अब भी है। शास्त्रप्रमाण न माननेवाले जैसे आज हैं वैसे पहले भी थे। उनके मत सदा ही बदलते रहते हैं। शास्त्र अति प्राचीन कालके मालिकों, मध्य कालके सरदारों एवं अर्वाचीन कालके पूँजीपतियोंके बनाये नहीं हैं। वे आतंकाम, पूर्णकाम, वीतराग, महातपा, अरण्य-वासी, कन्दमूलफलाशी, वल्कलवसनधारी महर्षियोंद्वारा रचे गये हैं, सो भी स्वतन्त्र-रूपसे नहीं, अपितु अनादि, अपौरुषेय, परमेश्वरीय वेदादि शास्त्रोंके आधारपर रचे गये हैं। उनकी व्यवस्थाओंमें आधुनिक ढुलमुल पन्थियोंकी अवसरवादिताका स्पर्श भी नहीं है। बायबिलमें भी कहा गया है कि मूर्खके छेदसे ऊँटका निकल जाना सम्भव है, पर धनिकोंका स्वर्गीय राज्यमें प्रवेश करना कठिन है।' इसी प्रकार न केवल भारतीय धर्मग्रन्थ अपितु ससारके सभी धर्मग्रन्थ वीतराग, अकिंचनो एवं साधारण श्रेणीके लोगोंद्वारा बनाये गये हैं और उन मेधावियोंका कोई पक्षपात नहीं है। मनु यद्यपि सम्राट् थे, फिर भी उन्होंने अकिंचनोंका ही

महत्त्व गाया है। यह कहना नितान्त मूर्खता है कि 'शास्त्रकार ऋषि धनिकोंके एजेन्ट थे। उनके हितोंकी रक्षाके लिये ये लोग पाप-पुण्यके चक्करमें जनसाधारण-को फँसाये रखनेका प्रयत्न करते रहते थे।' भला, जो राजान्मग्नहणको घोर पाप समझते थे, 'कुसूल-धान्यक' ब्राह्मणकी अपेक्षा जो अश्वस्तनिक (कलके लिये कुछ न रखनेवाले) ब्राह्मणको ही श्रेष्ठ मानते थे, महात्यागको ही सर्वस्व मानते थे, वे किस प्रलोभनसे ऐसा निष्ठुर कर्म करते? आज भी तो धनिकवर्ग नास्तिकप्राय है। वह किस भारतीय विद्वान्का सम्मान करता है? यह वर्ग जितना उच्छृङ्खल-की पूजा करता है, उतना आस्तिक पक्षकी प्रतिष्ठा करता तो आस्तिक पुरुषों एवं आस्तिक संस्थाओंको आर्थिक संकटके कारण कार्य करनेमें बाधा क्यों पड़ती? फिर भी शास्त्रविश्वासी शास्त्र, युक्ति एवं लोकसिद्ध न्यायके अनुसार उचित होनेसे व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति आदिका समर्थन करते हैं। इसी तरह आस्तिकपक्ष-का राजाओंके एकतन्त्र शासनसे न विरोध है और न आधुनिक लोकतन्त्रके साथ कोई राग है। धर्म-नियन्त्रित एकतन्त्र-शासन भी लाभदायक होता है। धर्म-नियन्त्रित होनेसे ही लोकतन्त्र या प्रतिनिधितन्त्र लाभदायक हो सकता है। उच्छृङ्खल, धर्मशून्य, रावण, वेन आदिका एकतन्त्र भी हानिकारक हुआ था। वैसे उच्छृङ्खल लोकतन्त्र आजकल भी देशके लिये खतरनाक है।

शास्त्रोंके अनुसार कोई भी कार्य विचारशील ईश्वर, महर्षियों, बुद्धिमान् व्यक्तियों अथवा व्यक्तिसमूहोंकी गम्भीर विवेचनाओं एवं लोकहित भावनाओंसे होता है। भले कामोंका मूल भले विचार, भली प्रेरणाएँ तथा सावधानी और बुरे कामोंके मूल कारण बुरे विचार, बुरी प्रेरणाएँ एवं प्रमाद आदि होते हैं। इस तरह सिद्ध है कि बुद्धिपूर्वक कार्यकारी पुरुष विचारपूर्वक ही कोई कार्य करता है। शास्त्र भी 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्रह्मसूत्र १।१।५) इत्यादि सूत्रोंसे कहते हैं कि जड प्रकृतिसे विलक्षण विश्वका निर्माण नहीं होता, क्योंकि विलक्षण कार्य ईक्षण अर्थात् विचारपूर्वक होता है। जड प्रकृतिमें विचारशक्ति नहीं है। अतः वह विश्वसृष्टिका स्वतन्त्र कारण नहीं है। प्रत्यक्ष, अन्वय-व्यतिरेकसिद्ध चेतनोंके सावधानी एवं प्रमादके आधारपर होनेवाले कार्योंकी भलाई-बुराईका प्रत्यक्ष कार्यकारण-भाव छोड़कर अचेतन भौतिक अवस्थाओंके अनुसार यन्त्रसंचालित ढंगसे घटनाओंका परिवर्तन मानना सर्वथा निराधार है। एक तरफ बुद्धिसङ्गत ईश्वर-प्रेरणा, शुभाशुभ कर्मरूप प्रारब्ध या दैवकी प्रेरणाको अन्धविश्वास बतलाना और दूसरी तरफ बुद्धिपूर्वक चेतनद्वारा होनेवाले कार्योंको यन्त्रसंचालित ढंगसे भौतिक अवस्थाओं या भौतिक ऐतिहासिक प्रभावोंका परिणाम मानना, यह कितनी उपहासास्पद बात है? यदि 'चेतन प्राणी अपना, और समाजका लौकिक-पारलौकिक हिताहित सोच-विचारकर बुद्धिपूर्वक कार्य नहीं करता, किसी भौतिक

प्रवाहके परतन्त्र होकर ही कार्य करने एवं सोचनेको बाध्य होता है', तो फिर व्यक्तियों या समूहोंका गुण दोष क्यों माना जाय ? फिर तो कानूनोंके द्वारा किन्हीं गुणोंका विधान या निषेध भी क्यों होना चाहिये ? कोई भी विधान एवं निषेध स्वतन्त्रके लिये ही सम्भव होता है । लोहशृङ्खलासे निगडित हस्तपादादिगड्डे व्यक्तिको जलादि लानेके लिये कौन बुद्धिमान् आदेश देगा ? ऐसे ही बलात् नियोजित कार्यसे किसीको कोई कैसे रोक सकता है, तथा विहिताकरण, निषिद्धा-नुष्ठानके लिये दण्ड एवं शुभानुष्ठानके लिये पुरस्कारकी व्यवस्था कौन करेगा ? 'स्वतन्त्र, कर्त्ता' पाणिनिके इस सूत्रके अनुसार—'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' को ही कर्त्ता कहा जाता है । अश्वसे चलने, पौवसे चलने या न चलनेमें जो स्वतन्त्र होता है, वही कर्त्ता होता है । उसीके लिये अश्वसे जाना चाहिये या पैरसे जाना चाहिये यह विधान तथा अश्वदिसँ न चलना चाहिये यह निषेध सार्थक होता है । उसीके लिये दण्ड एवं पुरस्कारकी व्यवस्था होती है । भूत, भौतिक अवस्था तथा उसका प्रवाह सब-के-सब जड़ ह । वे अपने-आपको नहीं जानते । समाजका हानि-लाभ सोच नहीं सकते । प्रेरणा भी कर नहीं सकते । फिर उनके आधारपर किन्हीं भी घटनाओं, प्रवृत्तियों या आन्दोलनोंको मानना कहोतक उचित है ?

प्रवाह प्रवाहीसे भिन्न नहीं होता । जैसे पिपीलिकाओंसे भिन्न पिपीलिकाओंकी पक्ति नहीं होती, सैनिकोंसे भिन्न सेना नहीं होती, एक-एक वृक्षोंसे भिन्न वन नहीं होता, वैसे जड़ भूतोंसे भिन्न उसका प्रवाह भी नहीं होता है । साथ ही जड़ भूतोंमें या उनके प्रवाहमें विचार्यकारिता भी नहीं होती । अतः उनके परतन्त्र चेतन बुद्धिमान्को कार्य करने एवं सोचनेको बाध्य होना पड़े, यह असंगत है ।

० अवश्य सम्पत्तियाँ विपत्तिकेरूपमें आनेवाली भूत या भौतिक घटनाएँ विचारणीय होती हैं । विचारशील शक्तिशाली प्राणी शक्ति रहनेपर भूत या भौतिक घटनाओंको अनुकूल बनाता है, शक्ति न रहनेपर लाचारीसे सहन करता है । यदि प्रवाह-परतन्त्र ह सब घटनाएँ हों तो भलाई-बुराईका उत्तरदायित्व भी चेतन व्यक्तियों या समुदायपर न होना चाहिये और न तो उन्हें उसका फायदा ही भोगना चाहिये । फिर तो किसी परिस्थितिके अनुसार ही हिटलर एवं उसके साथियोंका जन्म हुआ, युद्ध छिड़ा एवं अभूतपूर्व विश्वव्यापी संग्राम हुआ । फिर उसके साथियोंको युद्ध-पराधी बनाकर फॉसीपर लटकानेका क्या अर्थ है ?

कहा जाता है, गान्धीजी बड़े प्रभावशाली थे । फिर भी उनके यन्त्रीकरण-के विरुद्ध खदर आदिकी योजना प्रवाहविरुद्ध होनेसे सफल नहीं हुई । पर इससे यही क्यों न माना जाय कि उस योजनाके पीछे जितनी शक्ति अपेक्षित थी, गान्धीजीके पास उतनी शक्ति न थी । इसके विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि

बढ़े-चढ़े बौद्ध-धर्मको रोकनेके लिये कुमारिल एवं शंकराचार्य सफल हुए। अतः चेतन शक्तिशाली पुरुष भौतिक प्रवाहको मोड़ते हैं, वे प्रवाहमें नहीं बहते। इसी-लिये भारतीय सिद्धान्त है कि 'कालो वा कारणं राज्ञः राजा वा कालकारणम्। इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥ (महा०) काल राजाका कारण है या राजा कालका कारण है, यह संशय नहीं होना चाहिये—राजा ही कालका कारण होता है। काल प्रवाह, भौतिक प्रवाह या इतिहासकारको चेतन प्राणी, राजा, विशिष्ट महापुरुष तथा ईश्वर अवश्य ही बदल सकते हैं।

कहा जाता है कि 'उत्पत्ति और समाजका एक रूप नष्ट होता है तो उसका स्थान दूसरा रूप ले लेता है। इस क्रान्तिकारी परिवर्तनका कारण दो प्रकारके घटना-समूह होते हैं। दोनो यद्यपि कभी संयुक्त रूपसे दिखायी देते हैं, फिर भी दोनो-पृथक् रूपसे काम करते हैं। इनमें एक यन्त्र विद्यासम्बन्धी है, जिसके फलस्वरूप उत्पादन-शक्तियोंमें परिवर्तन होता है। दूसरा घटनासमूह व्यक्ति-सम्बन्धी है, जिसका सम्बन्ध सामाजिक वर्गों और दलोंसे होता है। काम करनेवाले मजदूरोंकी बढ़ती हुई दक्षता, नवीन कच्चे माल और बाजारोका अन्वेषण, माल बनानेकी नवीन पद्धति, औजारों और मशीनोंका आविष्कार व्यापार तथा विनिमयके अधिक उत्तम सघटनके फलसे जब उत्पादक शक्तियोंकी वृद्धि हो जाती है और समाजका भौतिक आधार अथवा आर्थिक नींव बदल जाती है, तब उत्पत्तिकी पुरानी प्रणालीसे माल तैयार करनेका पुराना तरीका लाभदायक नहीं रह जाता; क्योंकि माल बनानेका पुराना तरीका, पुराने सामाजिक विभाग, पुराने कानून, पुरानी शासनसंस्थाएँ, पुराने विद्यासम्बन्धी सिद्धान्त (ऐसी उत्पादक शक्तियोंके अनुकूल जो या तो लुप्त हो चुकी हैं या लुप्त हो रही हैं) रह नहीं जाते? अतः अब वह समाजरूपी भवन उसकी आर्थिक दशारूपी नींवके सट्टा नहीं रह जाता। इस प्रकार उत्पादक शक्तियों और उत्पत्तिकी प्रणाली एक दूसरेके विरुद्ध हो जाती हैं। प्राचीनता, नवीनताका यह विरोध धीरे-धीरे मनुष्यके विचारोपर प्रभाव डालता है। मनुष्य एक नवीन युगका आरम्भ अनुभव करने लगता है। इस घटनासे समाजका सघटन भी बदलने लगता है। जो वर्ग पहले तुच्छ समझे जाते थे, वे ही महत्त्वपूर्ण और सम्पत्तिके स्वामी बन जाते हैं। जिन वर्गोंकी पहले प्रधानता थी, उनका पतन होने लगता है। इस प्रकार समाजके मूल आधारमें परिवर्तन होनेसे प्राचीन धार्मिक, कानूनी, दार्शनिक और राजनीतिक प्रणालियों पहले तो अपने अस्तित्व कायम रखनेके लिये हाथ-पैर मारती हैं, परन्तु समय-परिवर्तनके कारण वे अव्यवहार्य और निकम्मी हो जाती हैं, लोगोके उपयोगार्ह नहीं रह जातीं। मनुष्योके विचार भी प्रायः परिवर्तनविरोधी स्थितिपालक होते हैं, पर फिर वे भी धीरे-धीरे घटनाओंका अनुसरण करने लगते हैं। महान् विचारक उत्पन्न होते हैं, वे नवीन परिस्थितिका रहस्य समझाते हैं। उसके अनुसार नवीन भावनाओं, विचारधाराओं-

का जन्म देते हैं। फिर मनुष्योंमें विवेक जाग्रत् होता है। सदेह और प्रश्नोंकी परम्परासे नवीन सत्य सिद्धान्तोंका उदय होता है। फलस्वरूप मतभेद, वादविवाद, फूट, वर्गकलह और क्रान्ति उत्पन्न होती है।'

पूर्वके तर्कोंसे ही उपर्युक्त मार्कसीय मन्तव्यका भी खण्डन हो जाता है। उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि काल या परिस्थिति एव भौतिक अवस्थाओंके कारण सिद्धान्तोंमें परिवर्तन नहीं हो सकता। पैदल चलने, बैलगाड़ियोंद्वारा चलने एवं वायुयानद्वारा चलनेके जमानेमें भले ही भेद हो गया हो, परतु उनमें रहने-वाले नित्य आत्मा एव परमेश्वरमें भेद नहीं हो गया। इस तरह चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नक्षत्रमण्डल, आकाशमण्डलमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अग्निका दहन, प्रकाशन-धर्म, पृथ्वीके अन्नादि उत्पन्न करनेके स्वभावमें रहोवदल नहीं हुआ। अग्नि, सूर्य, वायु एव आकाशके धर्ममें रहोवदल नहीं हुआ। चन्द्रमाके घटने बढ़ने एव तदनुसार समुद्रके ज्वारभाटेमें भी रहोवदल नहीं हुआ। भोजनसे भूख मिटानेके सिद्धान्तमें, पानीसे प्यास बुझानेके सिद्धान्तमें, सतानोत्पादन कार्यादिमें भी उल्लेख्य परिवर्तन नहीं हुआ। अतएव सत्य-अहिंसा, स्तेयादि धर्मोंका भी महत्त्व घटा नहीं है। मगीनो एव बड़े-बड़े कलकारखानोंके बननेसे या मजदूरोंमें कार्यक्षमता, दक्षता बढ़ जानेसे सम्पत्तिमें, सुख-सुविधा आदिमें वृद्धि हो जानी अलग बात है, परतु इससे धार्मिक, दार्शनिक या राजनीतिक सिद्धान्तोंमें अन्तर पड़नेका कोई भी कारण नहीं है। पुनश्च आधुनिक लोगोके मतानुसार जो छः हजार वर्षके भीतर ही ससारका ऐतिहासिक एव प्रागैतिहासिक काल मानते हैं, उनके लिये यह भले ही कोई नवीन अद्भुत विकास हो, परतु जो अरबों वर्षकी दुनिया मानते हैं, वे लाखों वर्ष पहले महायन्त्रोंका निर्माण करके उनका दुष्परिणाम भी जान चुके हैं। अतएव उनके निर्माणको पाप तथा अवैध घोषित कर चुके हैं। रामायणके पुष्पकयान तथा देवताओंके दिव्य विमानोंका मुकाबिला करनेमें आजके विमान कुछ हैं ही नहीं। कथासरित्सागर, वृहत्कथामें वर्णित विमानोंका भी आधुनिक विमान मुकाबिला नहीं कर सकते। उनमें एक कीलके दवानेसे एक बारकी उड़ानमें आठ हजार योजनतक जानेकी क्षमता थी, खतरेकी तो तो कोई सम्भावना थी ही नहीं। यन्त्रचालित नगर एव बाजार आदिको और उनके शासन आदिकी सम्पूर्ण व्यवस्था एक कारीगरके हाथमें होना कितना महत्त्वपूर्ण आविष्कार था*।

* राजा भोजके पास एक काष्ठमय अश्वकार यन्त्र था, जिसकी एक घड़ीमें ११ कोसकी गति थी—'षट्येकया क्रोशदशेकनव्य सुकृत्रिनो गच्छन्ति चारुगत्या। वायु दशति व्यग्न सुपुष्कत्र विना मनुष्येण चलत्यजन्म॥' (समरा० सूत्र०)। उज्जैनके राजा प्रद्योतने राजा उदयनको फँसानेके लिये एक यन्त्रनय हाथी बनाया था, जिसपर

महाभारतके ब्रह्मास्त्र, नारायणास्त्र, पाशुपतास्त्र-जैसे अस्त्र-शस्त्रोंकी बराबरी व्याजकलके हाईड्रोजन बम आदि भी नहीं कर सकते हैं। वे अस्त्र प्रयुक्त किये जाते थे, साथ ही मध्यसे ही लौटाये भी जा सकते थे और पाशुपतास्त्र तो क्षण-भरमें ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोका संहार कर सकता था। धन, रत्न, मणियोंकी कमी रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर आदिके राज्यमें न थी। उनकी बुद्धि, शक्तिकी भी आजके लोगोंसे तुलना नहीं की जा सकती। विश्वकर्मा, मय एव नल-नीलकी कारीगरी, हनुमान्, अंगद, वालि, अर्जुन, भीमकी शक्तिका आज कौन बराबरी कर सकता है? तथापि उन लोगोंने अपौरुषेय शास्त्रों एव तदाश्रित धर्म, दर्शन एव आर्ष नीतियोंमें कोई परिवर्तन आवश्यक नहीं समझा एवं आज भी ब्रिजिन अमेरिका आदि राष्ट्रोंने पचासो तल्ले ऊँचे भवन बनाये, पंद्रह सौ मील प्रति घंटे चलनेवाले वायुयान बनाये, परमाणु बम, हाईड्रोजन बम-जैसे शस्त्रास्त्र बनाये हैं, वे भी ईसाईमतकी ही पुकार मचा रहे हैं, धर्म एव ईश्वरका सम्मान ही कर रहे हैं।

मार्क्स एवं इतिहास

मार्क्सवादी समाजके विचारों, सिद्धान्तों तथा राजनीतिक सस्थाओंको समाजकी सत्ता और उनकी भौतिक परिस्थितियोंके ही अनुकूल मानते हैं और समाजकी सत्ता एव भौतिक परिस्थितियाँ उनके मतमें उत्पादन-शक्तियों तथा उत्पादन-सम्बन्धोंपर निर्भर रहती हैं। इन्हींपर समाजका ढाँचा स्थिर होता है। दास-युगमें सामाजिक रीतियाँ अन्य युगोंसे भिन्न थीं। यही बात सामन्तवादी तथा

६० योद्धा बैठते थे (कथासरित्सागर)। भरद्वाजकृत अश्वोधिनीके 'शक्त्युद्गमाद्यष्टौ' इस सूत्रकी 'वैधावनवृत्ति' में शक्त्युद्गम आदि आकाशगामी विमानके आठ प्रकार इस तरह बतलाये गये हैं—(१) शक्त्युद्गम (बिजलीसे चलनेवाला), (२) श्रुतवाह (अग्नि, जल, वायुसे चलनेवाला), (३) धूमयान (वाष्पसे चलनेवाला), (४) शिखोद्गम (तेलसे चलनेवाला), (५) अशुवाह (सूर्यकिरणोंसे चलनेवाला), (६) तारामुख (उल्कारस अर्थात् चुन्वकसे चलनेवाला), (७) मणिवाह (चन्द्रकान्त-सूर्यकान्त आदिसे चलनेवाला) और (८) मरुत्सक (केवल वायुमें चलनेवाला)। पुष्पकविमानका वर्णन वात्मीकिरामायणमें सुप्रसिद्ध है—'ब्रह्मणोऽर्थे कृतं दिव्यं दिवि यद् विश्वकर्मणा । विमानं पुष्पकं नाम सर्वरत्नविभूषितम् ॥' 'भागवत'में शाल्वके विमानका भी वर्णन इन शब्दोंमें आया है—'स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधामं दुरासदम् । ययौ शारदती शाल्वो वैरं वृष्णिगृहं स्मरन् ॥ त्वचिद् भूभौ क्वचिद् व्योम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचिद् ॥' (१०। ७६। ८, २२) कुवेरका पुष्पकयान, कर्दमका दिव्ययान और शाल्वका विमान जल, स्थल, पर्वत तथा आकाशमें सर्वत्र चलता था। शुकनीतिके चौथे अध्यायमें शेष-चन्द्रक आदिका विशेषरूपसे उल्लेख है—'नलिकं द्विविधं शेषं बृहत् क्षुद्रविभेदतः । तिर्यगुन्वच्छिद्रमूलं नाडं पञ्चवितस्तिक्त्तम् ॥ मूलाग्रयोर्लक्ष्यमेदि तिलनिन्दुयुतं सदा । अन्त्रानाग्निहृद् द्रान्वूर्णद्वलत्कर्णकम् ॥ शुकनी० ४। १०२८ २९)।

पूँजीवादी युग के लिये भी कही जा सकती है। इन भिन्नताओंका कारण उत्पादन-शक्तियों और उत्पादनके सम्बन्ध हैं। मार्क्सने कहा है कि 'मनुष्यकी सत्ता उसकी चेतनाद्वारा नहीं निश्चित होती; किंतु उसकी चेतना ही सामाजिक सत्ताद्वारा निश्चित होती है।'

अध्यात्मवादी रामराज्यमें विचारशील, सावधान मनुष्य शास्त्र तथा शिष्ट सज्जनोके समागमसे सन्निधा, सद्बुद्धि एवं सदिच्छा प्राप्त करके तत्परतासे सत्प्रयत्न करता है और सत्कलका भागी होता है। सत्प्रयत्नद्वारा चेतन प्राणी समाजकी सत्ता एवं परिस्थितियोंमें भी परिवर्तन कर सकता है। उत्पादन-शक्तियों एवं उत्पादन-सम्बन्धोंमें भी विचारवान् मनुष्यने ही परिवर्तन किये हैं और अब भी उसीके द्वारा परिवर्तन किये जा सकते हैं। सामान्य स्थितिमें मनुष्य भी आदत, स्वभाव या प्रकृतिके परतन्त्र होकर ही सब चेष्टा करता है। इसीलिये गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञानवान् प्राणी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा करता है। सभी प्राणी प्रकृतिका ही अनुसरण करते हैं, उसमें किसीका निग्रह कुछ नहीं कर सकता—'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहं किं करिष्यति ॥' (३। ३३) भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम्हारा यह उद्योग व्यर्थ है, प्रकृति तुम्हें नियुक्त करेगी। मोहवश जो तुम नहीं करना चाहते हो, उसे भी प्रकृति हठात् तुमसे करायेगी—'मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥' 'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यन्नशोऽपि तत् ॥' (गी० १८। ५९ ६०) इत्यादि। परंतु जब शास्त्रोंमें तथा लोकमें भी विधि-निषेध मान्य होते हैं, तब सुतरा यह मानना पड़ता है कि प्राणी किसी कार्यके करने, न करने या अन्यथा करनेमें स्वतन्त्र होता है। स्वतन्त्र होनेपर ही वह कर्ता होता है, तभी उसके लिये विधि-निषेध सम्भव होते हैं। किसी जकड़े हुए, बँधे हुए, परतन्त्र प्राणीको कोई भी समझदार व्यक्ति किसी कार्यके करनेका आदेश नहीं दे सकता। 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' इस पाणिनि-सूत्रकी बात हम पहले लिख ही चुके हैं। (पृष्ठ ४३५)। प्रकृति, स्वभाव, आदत या परिस्थिति सभीके सामने है। यदि सभी परतन्त्र ही हैं, तो प्रकृति या परिस्थितिसे परतन्त्र प्राणीद्वारा होनेवाले अपराधका उत्तरदायित्व उस प्राणीपर नहीं होना चाहिये, अतएव उसे दण्डभागी भी न होना चाहिये। इसी तरह किसी प्राणीसे शुभकर्म बन जानेपर उसे अनुग्रहभागी भी न होना चाहिये, परंतु यह बात लोक तथा शास्त्र सबके विरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त निम्न दशासे निकलकर उच्चस्थितिकी ओर चलनेका प्रयत्न भी कभी सफल नहीं हो सकेगा। फिर तो जैसी प्रकृति या परिस्थिति होगी, तदनुसार ही प्राणी पतित होने या उन्नत होनेके लिये बाध्य होगा। परंतु यह बात लोकानुभवमें निरुद्ध ही है। गीताचार्य भगवान्ने इसका समाधान

करते हुए बतलाया है कि सामान्यरूपसे इन्द्रियोका अपने विषयोंमें स्वाभाविक राग-द्वेष होता है। अनुकूल विषयमें राग और प्रतिकूल विषयमें द्वेष होता है। उन राग-द्वेषोंके वश न होना ही पुरुषार्थका सार है अर्थात् राग-द्वेषरूप सहकारी कारणसे युक्त होकर ही प्रकृति प्राणीको स्वानुरूप कार्यमें प्रवृत्त करती है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ (गीता ३ । ३४)

काम तथा प्रकृति काम्य—रागवान्को ही काम्यकर्ममें प्रवृत्त कर सकते हैं। काम, प्रकृति भी रागहीन द्वेषास्पद पदार्थमें प्राणीको प्रवृत्त नहीं कर सकते। सिंहकी हिंसा-प्रकृति द्वेषास्पद प्राणियोंकी हिंसामें ही उसे प्रवृत्त करती है, द्वेषानास्पद अपने शिशुकी हिंसामें सिंहकी हिंसा-प्रकृति भी उसे नहीं प्रवृत्त कर सकती। अतः जैसे मृत्तिकासे घट बननेमें जल सहकारी कारण है, जल न रहनेपर मृत्तिकासे घट नहीं बनता, वैसे ही प्रकृतिके प्रवर्तनमें राग-द्वेष सहकारी कारण हैं। राग-द्वेषके विघटित कर देनेपर प्रकृति या परिस्थिति व्यर्थ हो जाती है। अतः सच्छास्त्रोंके अभ्यास एवं सत्पुरुषोंके समागमसे आवश्यक, उचित, शास्त्रीय राग-द्वेष बनाकर स्वाभाविक पाशविक राग-द्वेषको विघटित कर देना चाहिये। इससे प्रकृति या परिस्थिति व्यर्थ हो जाती है। यही प्राणीका पुरुषार्थ है। इसीमें प्राक्तन सुकृत एव ईश्वरानुग्रहका भी उपयोग होता है। इस पुरुषार्थके ही बलपर समाज एवं उसकी परिस्थितियाँ, उत्पादन-शक्तियाँ तथा उत्पादन-सम्बन्ध बनाये-विगाड़े जाते हैं। अनुचित परिस्थितियोंके विघटन एव उचित परिस्थितिके सम्पादनमें चेतन प्राणीकी ही स्वाधीनता होती है। व्यवहारमें स्पष्ट ही देखा जाता है कि चेतन अचेतनका गुलाम नहीं है; किंतु अचेतन ही चेतनका गुलाम है। दृष्टानुसारिणी ही कल्पना उचित होती है। इसके अनुसार पुरुषार्थमरायण महापुरुष इतिहासको, परिस्थितियोंको बदलते है, वे परिस्थितियोंके दास नहीं होते। किसी भी युगमें दुरुगुण, दुर्व्यवस्था, कुविचार एव आलस्य प्रमादके परिणाम होते हैं, वे सदा ही त्याज्य माने जाते हैं। सद्विचार एव तत्परतामूलक किसी भी युगकी अच्छाइयाँ सदा ग्राह्य होती हैं। खलंके लिये विद्या, धन और शक्ति सदा ही विवादार्थ, मदार्थ, तथा परपीडनार्थ थी, सत्पुरुषोंके लिये उक्त तीनों ही वस्तुएँ सदा ही ज्ञानार्थ, दानार्थ एवं रक्षणार्थ थीं। भूत-संघातमय मनुष्य तथा मनुष्य संघातप्राय समाज सभीकी सत्ता अनन्त, अखण्ड व्यापक बोधसे ही निर्धारित होती है। जड़ स्वयं अपनेको ही सिद्ध नहीं कर सकता, तो फिर उसके द्वारा चेतनकी सिद्धि कैसे कही जा सकती है? प्रकाशके द्वारा घटादिका निश्चय तो होता है, परंतु घटादिके बलपर प्रकाशका निश्चय कोई बुद्धिमान् व्यक्ति माननेको तैयार नहीं होगा।

परिवर्तनके कारण

माकर्मके मतानुसार 'परिवर्तनका कारण न तो भौगोलिक अवस्था ही है न जनसंख्या ही, क्योंकि यूरोप सदियोंसे अपरिवर्तनशील रहा है, फिर भी वहाँ पंचायती व्यवस्था, दासप्रथा, सामन्तवादी, पूँजीवादी व्यवस्था आदि अनेक परिवर्तन हुए। जनसंख्या भारतमें इंग्लैंड, अमेरिकामें अधिक होनेपर भी वहाँ इतने परिवर्तन नहीं हुए।' स्टालिनका कहना है कि 'ऐतिहासिक भौतिकवादके अनुसार आवश्यक जीवन-साधनोंको प्राप्त करनेकी प्रणाली ही सामाजिक परिवर्तनकी नियामक शक्ति है। व्यक्तिको जीवन रहनेके लिये भौतिक मूल्यों (वस्तुओं) की आवश्यकता पड़ती है। उत्पादनके सिलसिलेमें वह अन्य व्यक्तियोंसे सम्बन्ध स्थापित करता है। यह उत्पादन स्वेच्छापर आश्रित नहीं होता, किंतु उत्पादन-शक्तियोंके रूपपर ही आश्रित रहता है। उत्पादन किन्नी अवस्थामें देरतक स्थिर नहीं रहता, अपितु विकासकी दिशामें उसका परिवर्तन होता रहता है। उत्पादन-पद्धतिमें परिवर्तन होनेसे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था-विचारों, राजनीतिक मतों और राजनीतिक संस्थाओंमें परिवर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है।'

माकर्सके शब्दोंमें 'सामाजिक सम्बन्ध उत्पादक शक्तियोंसे जुड़े हुए होते हैं। नयी उत्पादक शक्तियोंके अर्जनमें मनुष्य अपनी उत्पादन-पद्धति बदल देते हैं। अपनी उत्पादन-पद्धति तथा अपनी जीविकोपार्जनकी प्रणाली बदलनेमें वे सभी सामाजिक सम्बन्धोंको परिवर्तित करते हैं। हाथकी चक्कीकी अवस्थामें सामन्तगर्ही सामाजिक सम्बन्ध व्याप्त होते हैं। भापसे चलनेवाली चक्कीने वह समाज बनता है, जिसमें औद्योगिक पूँजीपतिका प्रभुत्व होता है। सामाजिक प्रगतिमें विचारों, सिद्धान्तों, मतों और संस्थाओंका भी स्थान होता है। ये सब भौतिक जीवनपर तो अवश्य आश्रित होते हैं, किंतु उनका सामाजिक शक्तियोंके समेटने, संचालित करनेमें महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। नये विचार, नये सिद्धान्त और नयी भौतिक परिस्थितियोंमें उत्पन्न इनके द्वारा जनसाधारणको भौतिक मुठियोंका ज्ञान होता है। यह विचार सामाजिक परिवर्तनमें बहुमूल्य होते हैं। इन्हींके आधारपर जनता उन शक्तियोंका विचार करती है, जो प्रगतिमें बाधक होती हैं।'

अध्यात्मवादी रामराज्यके मतानुसार कोई भौतिक सिद्धान्त एवं विचार नये नहीं होते हैं। असत्का अर्थात् अत्यन्त अविद्यमानका कभी भाव नहीं होता; सत्का अर्थात् विद्यमानका कभी अभाव नहीं होता—'नासतो विप्रने भावो नाभावो विद्यते मतः।' (गी० ०० । १६) तिलमें तेल है तभी वह प्रकट होता है। मित्रतामें तंड नहीं होता है, अतः लाख प्रयत्न करनेपर भी मित्रतामें कभी तल प्रकट नहीं होता। माकर्मवादी कुछ प्रादेशिक घटनाओंके आधारपर कार्य-कारण-भाव निश्चित

करते हैं और उन्हींके आधारपर सिद्धान्त गढ़ते हैं। परंतु घटनाएँ अनुकूल-प्रतिकूल, इष्ट-अनिष्ट दोनों ही ढंगकी होती हैं। चोरी, हिंसा, दुराचार आदिका भी कभी विकास होता है, उसमें भी क्रम होता है, फिर भी वह सिद्धान्त नहीं बन जाता। व्यक्तिगतरूपसे तथा समाजगतरूपसे कभी विकास होता है और कभी हास भी होता है, इसीमें प्रमाद एवं पुरुषार्थका उपयोग होता है। जिस मजदूर-समाजको मार्क्सने विकासोन्मुख माना है, उसकी ही अनुभूयमान हालत बहुत ही चिन्तनीय है। मशीनयुगके कारण बेकारीकी भी समस्या खड़ी हुई समझी जाती है। विद्या-बुद्धिका भी विकास नहीं कहा जा सकता है। फिर भी मार्क्स सर्वहाराका राज्य अवश्यम्भावी कहता है। वह किसानको उदीयमान वर्ग नहीं मानता था। परंतु चीनकी क्रान्तिमें किसानवर्ग उदीयमान वर्ग सिद्ध हो गया। यदि इसी प्रकार किसी अन्य वर्गका उदय हो जायगा तो मार्क्सकी अन्य भविष्य वाणियों भी झूठी सिद्ध हो जायेंगी।

मार्क्सकी ऐतिहासिक कल्पनाएँ और तदनुसारी नियम-निर्धारण सहस्रों नहीं सैकड़ों वर्षोंके ऐतिहासिक अनुभवोंके आधारपर हैं, परंतु अध्यात्मवादियोंकी धरित्री और उसका इतिहास सहस्रों, लक्षों नहीं अपितु अरबों वर्षोंके हैं। वहाँका यह व्यापक नियम है कि शुभ कर्मोंसे सुख एवं तत्साधनोंकी समृद्धि होती है और अशुभ कर्मोंसे दुःख एवं तत्साधनोंकी समृद्धि होती है। बुद्धिमानी, सवधानी एवं तत्परतासे कर्तव्यपरायण होनेपर समृद्धि बढ़ती है और अविवेक, असावधानी तथा प्रमादसे असमृद्धि बढ़ती है। धन-धान्य-समृद्धि बढ़नेसे जीवनस्तर उन्नत होता है। प्रमादहीन होनेसे समृद्धिके कारण विद्या, विवेक, कला, काव्य, संस्कृतिका विकास होता है। प्रमादयुक्त होनेसे समृद्धिके परिणामस्वरूप अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचारकी वृद्धि होती है। असमृद्धिमें भी प्रमाद होनेपर अनाचार, दुराचार आदि बढ़ते हैं और प्रमादहीन होनेसे असमृद्धि-दशामें भी विद्या, विवेक, तपस्याका विस्तार होता है। विश्वकर्मा एवं मयकी शिल्पकला शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। 'समराज्ज्ञान-सूत्रधार' के रचयिता भोजका काल ईसाकी १० वीं शतीमें माना जाता है। उस ग्रन्थमें अनेक प्रकारके कला-कौशल, वायुयान आदिका वर्णन मिलता है। राज्यधर तक्षा (बढई) के द्वारा निर्मित वायुयान एक कीलके आघातसे आठ सौ योजन चल सकता था। उस तक्षाद्वारा निर्मित यन्त्रमय महानगरके सभी व्यवहार यन्त्रसे ही होते थे, तो भी तत्कालीन लोगोंके विचारों, सिद्धान्तोंमें कोई अन्तर नहीं पड़ा। इसका उल्लेख 'कथासरित्सागर' में मिलता है। 'रामायण' 'महाभारत' के अनुसार बहुत विशाल पुष्पकयान आधुनिक सभी वायुयानोंसे अधिक विशाल, कलापूर्ण, द्रुतगामी तथा निरापद था। ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र आदि अन्न-गन्धोंका मुकाबिला तो आधुनिक हाईड्रोजन बमसे करोड़ोंगुना अधिक शक्ति अस्त्र बनाया जाय, तो भी नहीं किया जा सकता। तब भी उन

ब्रह्मास्त्रादिके निर्माताओंके धर्म, सिद्धान्तों, विचारों, आचारोंमें कोई भी रद्दो-बदल नहीं हुआ। ब्रह्मलोककी दिव्य ब्रह्मपुरीमें, इन्द्रलोककी दिव्य अमरावतीपुरीमें और विष्णुकी दिव्य वैकुण्ठपुरीमें जो विचार, जो सिद्धान्त, जो आचार आदरणीय थे, वे ही परम अकिंचन, बलकलवसनधारी, कन्दमूल-फलाग्नी, अरण्यवासी, वीतराग महर्षियोंके यहाँ भी माननीय थे। सप्तद्वीपा मेदिनीके सम्राट और अकिंचन दरिद्र ब्राह्मणके आचार, विचार, सिद्धान्त, धर्म एक-से ही होते थे। इन्द्रादि देवगणोंके दिव्य विमान, दिव्य भोग तथा दिव्य शक्तिसे सम्पन्न होनेपर भी उनके सिद्धान्तों एवं विचारोंमें कोई भेद नहीं होता था। पीछे बतलाया जा चुका है कि प्राचीन कालमें महायन्त्रोंका प्रचलन हुआ था, परन्तु उसके बैकारी आदि दुष्परिणामोंको देखकर ही आस्तिकोंद्वारा उसपर प्रतिबन्ध लगाया गया था। कुछ धनिकोंको शोषक देखकर 'धनवान् होना ही शोषक होनेका कारण है' यह समझना नितान्त भ्रम है। कुछ बलवानोंको अन्यायी, अत्याचारी देखकर 'बलवान् होना अन्यायी होनेमें हेतु है' यह समझना और कुछ विद्वानोंको दुराचारी देखकर 'विद्वान् होना दुराचारी होनेका कारण है' यह समझना निरा भ्रम ही है।

यह बतलाया जा चुका है कि सत्पुरुषोंके यहाँ धन, बल एवं विद्या सर्वथा दान, रक्षण एवं ज्ञान-प्रकाशके लिये होती है। जसे किसी मक्खीको घी हजम न होते देखकर कोई यह कल्पना करे कि घी किसीको हजम नहीं होता, तो यह भ्रम ही है। पानीसे आग बुझती हुई देखकर यदि कोई पानी-जैसी ही वस्तु पेट्रोलसे अग्नि बुझाना चाहेगा तो यह उसकी मूर्खता ही समझी जायगी। इसी तरह किसी राजा या धनवान्को नास्तिक, प्रमादी एवं दुराचारी देखकर यदि कोई वैसी व्याप्ति (नियम) बनाना चाहे तो यह उसका भ्रम ही कहा जायगा। चक्रमक पत्थरसे अग्नि निकाल लेना, अरणिमन्थनसे अग्नि निकाल लेना, दीपगलाका (दियासलाई) से अग्नि निकाल लेना या और भी किसी आधुनिक साधनसे अग्नि निकाल लेना, इनसे अग्निके दाहकत्व, प्रकाशकत्व सिद्धान्तमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। हाथकी चक्कीसे आटा पीस लेने या यन्त्रकी चक्कीसे आटा पीस लेनेसे भोजन करके भूख मिटानेके सिद्धान्तमें कोई फरक नहीं पड़ा है, बल्कि आज भी स्वास्थ्यके विचारसे हाथकी चक्कीका आटा श्रेष्ठ समझा जाता है। आज भी अग्निहोत्रके लिये अरणि-मन्थनसे ही अग्नि प्रकट की जाती है। श्मशानकी अग्निसे भी चावल पक सकता है और अग्नि-होत्रकी अग्निसे भी भोजन बन सकता है। फिर भी सत्कारकी दृष्टिसे श्मशानकी अग्नि अशुद्ध होती है, उससे पकाये गये अन्नको आस्तिक व्यक्ति ग्रहण नहीं करते। प्राचीन कालमें अनन्त धन-धान्यसम्पन्न विपुल वैभवयुक्त मार्वाभौम सम्राट् सामन्त, साधारण व्यापारी एवं किसान तथा उज्ज्विल वृत्तिाला परम अकिंचन तपस्वी, सभी शास्त्रानुसारी, समान सिद्धान्त और समान विचारके होते रहे हैं।

किसी भी व्याप्तिज्ञानमें अनुकूल तर्क होना आवश्यक है। 'जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ वह्नि होता है' यह व्याप्ति प्रसिद्ध है। परंतु यहाँ भी 'यदि धूम वह्निव्यभिचरित हो जाय तो क्या हो' इस आक्षेपका समाधान यह है कि 'तब धूमको वह्निजन्य न होना चाहिये।' परंतु धूमकी वह्निजन्यता प्रत्यक्ष ही है। प्रत्यक्ष विरोध ही तर्ककी अवधि है। अनुकूल तर्कके बिना कतिपय स्थलीय सहचार दर्शनमात्रसे व्याप्तिका निश्चय नहीं हो सकता, इस तरह उत्पादन-शक्तियोंका परिवर्तन होनेपर भी विचारो, सिद्धान्तों यथा समाजमें परिवर्तन न हो तो क्या हानि है? इसका समाधान आवश्यक है। पर इस सम्बन्धमें मार्क्सवादी कुछ भी उत्तर नहीं दे पाते। जिस प्रकार भ्रममें पूर्वप्रमाकी हेतुताका प्रश्न उठता है, अर्थात् पहले सर्पकी प्रमा (यथार्थ ज्ञान) होती है, तब सर्पका संस्कार होता है, तभी अज्ञान, सादृश्य, संस्कार आदिसे रस्सीमें सर्प-भ्रम होता है। अतः कहा जा सकता है कि आरोप्य प्रमा आरोपका हेतु है। परंतु वहाँ यह प्रश्न होता है कि आरोप्य प्रमाके बिना ही यदि भ्रम-प्रमा साधारण आरोप्य संस्कारसे ही आरोप हो तो क्या हानि है? यहाँ अनुकूल तर्क न होनेसे प्रमा और आरोपका कार्य-कारण-भाव सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार विचार एवं सिद्धान्तमें परिवर्तन प्रमाणके आधार-पर होता है। प्रमा किसी भी सम्पत्ति-विपत्ति, अमीरी, गरीबी हालतके परतन्त्र नहीं होती। पुरुषकी परिस्थिति इच्छा या स्वयं पुरुष प्रमापर प्रभाव नहीं डाल सकते। सहस्रो प्रयत्नोसे भी प्रमाणजन्य प्रमामें हेर-फेर नहीं हो सकता। प्रमाणकी उपस्थितिमें प्रमेयकी प्रमिति होती ही है, न कोई प्रमितिको रोक सकता है, न कोई उसमें रहोबदल ही कर सकता है। प्रमाणमूलक विचारो, सिद्धान्तोंमें और तन्निष्ठ लोगोंके तदनुमारी आचारोमें कोई हेर-फेर नहीं हो सकता।

हाँ, कई प्रकारकी परिस्थितियाँ ऐसी अवश्य होती हैं जिनमें प्राणियोंका शास्त्र-सम्बन्ध और परम्परा टूट जाती है। तब नये ढंगके अपूर्ण या अर्धपूर्ण विचार अथवा सिद्धान्त उत्पन्न होते हैं। अकालो, दुष्कालो या युद्धोके कारण किंवा भौगोलिक उथल पुथलके कारण अथवा देशान्तर गमनके कारण प्राचीन शिक्षा तथा सदाचार-परम्पराका सम्बन्ध टूटनेसे फिर विशृङ्खलता हो जाती है। जैसे प्राचीन कालके क्षत्रिय लोग विजयके उद्देश्यसे देशान्तरोंमें गये। वहाँ उनका अपने धर्म, संस्कृति-के आचार्यों तथा विद्वानोंसे सम्बन्ध टूट गया। फिर उनके आचार्योंमें परिवर्तन हुआ और शिक्षा, विचार तथा सिद्धान्तोंमें परिवर्तन होते होते उनके मूल स्वरूपमें पर्याप्त परिवर्तन हो गया—

ज्ञानकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।

वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥

(मनु० १०।४३)

यह कहा जा चुका है कि शिक्षा, समागमके अनुसार ही बुद्धि होती है, तदनुसार ही इच्छा और तदनुसार ही प्रयत्न होता है। प्राणी जैसे लोगोंका सहवास करता है, जैसे लोगोंका सेवन करता है और जैसा बननेकी इच्छा करता

है, वैसा ही बन जाता है—

यादशैः संनिविशते यादशांश्चोपसेवते ।

यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ॥ (महा० उद्योग० ३६ । १३)

प्राणी जैसा सकल्प करता है, वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही बन जाता है—

‘यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेत प्रेत्य भवति ।’ (छान्दो० ३।१।४।१)

इस तरह सत्त्व एव शिक्षामें परिवर्तन होनेसे जब बुद्धि, विचार, सिद्धान्त तथा कर्ममें परिवर्तन होता है, तब समाजका भी रूप बदल जाता है । सत्समागम, सत् शिक्षासे सद्बुद्धि, सदिच्छा, सत्कर्म एव सत्समाज बनता है । असत्समागम, असत् शिक्षासे असद्बुद्धि, असद्-इच्छा, असत्कर्म एव असत्समाज बन जाता है । सत् और असत्का निर्णय प्रत्यक्ष, अनुमान एव आगमके आधारपर ही होता है । कहा जा चुका है कि उत्पादन-साधनोंमें या सम्पत्तिमें रद्दोबदल होनेपर भी प्रमाणजन्य प्रामाण्य कोई अन्तर नहीं हो सकता है । इसलिये किसी भी स्थितिमें प्रमाणके आधारपर ही सत्-असत्का निर्णय हो सकता है । सत्को असत् और असत्को सत् समझ लिये जानेका कारण प्रमाद है । प्रमाणनिर्णीत सच्चिदात्मता तथा सत्समागमसे किसी भी हालतमें सद्बुद्धि, सत्सिद्धान्त, सदिच्छा, सत्कर्म और सत्-समाज एव सद्-व्यक्तिका निर्माण हो सकता है । परन्तु ‘मानव-इतिहास प्रगतिका इतिहास है’ यह सिद्धान्त इस सम्बन्धमें सर्वथा ही असंगत है । कोई भी समक्षद्वारा व्यक्ति कह सकता है कि आजकी स्थिति बुद्धि, शक्ति, सद्भावनाकी दृष्टिसे प्रगति नहीं, किन्तु अधोगतिकी ही है । भौतिक बाह्य चमत्कृतिकी चकाचौधमें चौधियाया हुआ आजका मानव सत्प्रमाण, सच्छास्त्रसे बहिर्मुख होकर जडयन्त्रका किंकर होकर स्वयं भी जडयन्त्रवत् हो गया है । आध्यात्मिकता, धार्मिकतासे बहिर्मुख होकर, सत्कृति-सम्यक्तासे प्रच्युत होकर वह पशुप्राय होता जा रहा है । यदि यही प्रगति है, तो फिर अधोगति क्या है, यह भी विचारणीय है ।

उत्पादनमें सुविधाके लिये अल्प व्ययमें अल्प श्रमसे अधिक-से-अधिक उत्पादन हो सके, इसके लिये मनुष्योंकी प्रवृत्ति हो सकती है । परन्तु उसके साथ सिद्धान्तमें, विचारमें तथा समाजमें भी परिवर्तन हो, यह आवश्यक नहीं है । रामायणके युगमें कई लोग पैदल चलते थे, कई लोग आकाश, समुद्र और पहाड़ोंपर समानरूपसे अव्याहत गतिवाले रथसे चलते थे—‘उदन्वदाकाशमहीधरेषु वशिष्ठमन्त्रोक्षणजप्रभावात् ।’ कई पुष्पकयानसे चलते थे, कई पथरोसे, वृक्षोंसे लड़ते थे, कई धनुष-बाणसे, कई भुशुडि, शतघ्न तथा अन्यान्य विविध यन्त्रोंसे लड़ते थे, विविध प्रकारसे काम करते थे । फिर भी उनके विचार, सिद्धान्त सुस्थिर थे, क्षणिक या परिवर्तनशील नहीं थे । महाभारतके आख्यानोके आधारपर भी यही बात कही जा सकती है । आज भी कितने ही लोग पदाति

(पैदल भी चलते) हो, मोटरपर भी चलते हो और वायुयानपर भी चलते हो, तो भी उनके विचारों, सिद्धान्तोंमें कोई भी परिवर्तन नहीं होता है । इतना ही नहीं, कितने ही आधुनिक विचारक अतिप्राचीन वैदिक अध्यात्मवाद एवं धर्म-नियन्त्रित रामराज्यवादको पसंद करते हैं । अनाग्रह बुद्धिका फल है—‘बुद्धेः फलमनाग्रहः ।’ और तत्त्वका पक्षपात बुद्धिका स्वभाव होता है—‘तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभावः ।’ जैसे पर्वत, कन्दरामें स्थित लाखों वर्षोंका गाढान्धकार भी प्रदीप-प्रभाके प्रकट होते ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही भीषण से-भीषण विपरीत वातावरण-में भी प्रमाणके द्वारा संगण्य-विपर्ययादिरहित निर्दोष तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता ही है । इसमें चाहे हाथकी चक्कीसे आटा पीसा जाय, चाहे भापकी चक्कीसे । जब किन्हीं कारणोंसे, परिस्थितियोंसे या प्रमादसे सत्समागम, सच्छिद्धामें गडबडी आती है, तब सद्विचार, सत्सिद्धान्तसे प्रच्युति होती है और तभी धार्मिक, सामाजिक अधोगति होती है । यही धर्मग्लानि एवं अधर्माभ्युत्थान कहा जाता है; परन्तु यह अवस्था स्थिर नहीं रहती है । गीताके आचार्य दार्शनिकगिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके अनुसार जब-जब धर्मग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान बढ़ता है, तब-तब परमेश्वर अवतार ग्रहण करके धर्मका प्रतिष्ठापन करते हैं ।

इतिहास और व्यक्ति

स्तालिनका कहना है कि ‘इतिहास विज्ञानको वास्तविक विज्ञान बनाता है तो सामाजिक इतिहासके विकासको सम्राटों, सेनापतियों, विजेताओं तथा शासकोंके कृत्योंकी परिधिमें अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता । इतिहास-विज्ञानके लिये आवश्यक है कि भौतिक मूल्योंके निर्माता लाखों, करोड़ों मजदूरोंके इतिहासके चिन्तनको अपना मूल विषय बनाये । द्वन्द्ववादके अनुसार प्रकृतिके सभी बाह्य रूपों एवं पदार्थोंमें आन्तरिक असंगतियाँ सहजरूपसे विद्यमान हैं । इन पदार्थों और रूपोंमें भावपक्ष तथा अभावपक्ष दोनों ही हैं । उनका अतीत है तो अनागत भी है । एक अश मरणशील है तो दूसरा विकासोन्मुख । इन दो विरोधी अंगों—पुरातन और नवीन, मरणशील और विकासोन्मुख, निर्वाण और निर्माण—का संघर्ष ही विकास-क्रमकी आन्तरिक प्रक्रिया है ।’ इस आधारपर कम्युनिष्ट, मार्क्सवादी सदा ही नवीन एवं विकासोन्मुख विचारधारा या दलका साथ देता है, चाहे वह बाह्यरूपसे कितनी ही बलहीन दशामें क्यों न हो । वह कभी पुरातन एवं मरणशील विचारधारा या दलके साथ सहानुभूति नहीं रखता, चाहे वह कितना ही समृद्ध दृष्टिगोचर क्यों न हो । इसी पृष्ठभूमिके आधारपर मार्क्सवादियोंका कहना है कि ‘सर्वहाराके अधिनायकत्वद्वारा नयी सभ्यता, नयी संस्कृतिका जन्म होगा । वह नयी सभ्यता मानवकी सब देनोंको ग्रहण करेगी और उन्हें जनवादी रूप देगी । साथ ही विज्ञान एवं उत्पादनकी प्रगतिसे

नयी मानवताका जन्म होगा ।' कहा जाता है कि 'रूसके परिवर्तनसम्बन्धी साहित्योंसे यह स्पष्ट है ।' वेब दम्पतिका कहना है कि 'रूसके नागरिक उसी जीवनको आदर्श जीवन मानते हैं, जिसका ध्येय बन्धुओंका हित हो, चाहे वे बन्धु किसी भी आयु, लिङ्ग, धर्म या जातिके हों ।' जॉनसनके अनुसार 'ईसाइयोंकी तरह कम्युनिष्ट भी समाज-हितको ही जीवनका लक्ष्य मानते हैं । कम्युनिष्ट ईसामसीहके सच्चे उत्तराधिकारी हैं । सभी धार्मिक नेताओंने मानवके सामने जो आदर्श रक्खे हैं, रूसके नागरिक ही उन आदेशोंके अनुसार जीवन-निर्वाह करते हैं ।' इन सबका कारण मार्क्सवादीके मतानुसार 'उत्पादन-शक्तियों एवं उत्पादन-सम्बन्धोंमें परिवर्तन ही है । रूसमें उत्पादन-शक्तियोंपर जनताका राज्यद्वारा एकाधिकार है और उत्पादन सम्बन्ध समाजवादी है । इसीलिये वहाँ नयी सम्यताका जन्म हो सकता है ।' मेक्सिम गोर्कीके अनुसार 'सोवियेट कारखाना एक समाजवादी शिक्षाकेन्द्र है, न कि पूँजीवादी कमाईखाना ।'

जहाँ किसी पक्षविशेषके समर्थनके लिये ही साहित्यिक तैयार किये जाते हैं और इसी ढंगका इतिहास गढ़ा जाता है, वहाँके साहित्य एवं इतिहाससे किसी सत्य घटना या सत्य सिद्धान्तका निर्णय असम्भव ही होता है । आजके मार्क्सवादी इतिहासमें भी लाखों, करोड़ों मजदूरों, किसानोंको कोई नहीं पूछता है । हाँ, उनके नामपर कुछ राजनीतिक चालवाजोंकी ही इतिहास एवं साहित्यमें प्रशंसाके पुल बाँधे जाते हैं और उन्हींका स्वागत-सत्कार होता है । लेनिन, स्टालिन आदि ही ऐतिहासिक व्यक्ति कहलाये जाते हैं, मिल-मजदूरों, किसानोंको कौन जानता है ? द्वन्द्ववादी विचार तर्ककी कसौटीपर अव्यभिचरित नहीं निकलते, यह दिखलाया जा चुका है । हास-विकास, निर्वाण-निर्माणके सिद्धान्तकी कहानी नयी नहीं, पुरानी ही है । परन्तु इन सबमें अनुस्यूत, अविनाशी आत्माको भुलाकर इसका दुरुपयोग किया गया है । अनाचार, पापाचार एवं अन्याय भी विकासोन्मुख हो सकते हैं, विविध प्रकारके रोग भी विकासोन्मुख होते हैं । सद्भावना, सद्गुण और स्वास्थ्य भी विकासोन्मुख एवं निर्वाणोन्मुख होते हैं । मार्क्सवादियोंके अनुसार विकासोन्मुखका साथ देकर और विकासोन्मुखको दो धक्के देकर उसे जीव ही खतम कर देनेकी कल्पना अवसरवादिता, स्वार्थ-परायणता और दानवताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है । फिर तो मरणोन्मुख अपने साथीकी भी सहायता करना मूर्खता ही कही जायगी और फिर चिकित्सा पद्धतिका विकास भी व्यर्थ ही समझा जायगा । इसके अतिरिक्त बाह्यरूपसे बलहीन दशामें विद्यमान व्यक्ति या समूहकी विकासोन्मुखता भी किम तरह विदित हो सकेगी ? मार्क्स तथा लेनिनने किसानोंको विकासोन्मुख नहीं समझा था, परन्तु चीनमें ठीक उनके विपरीत अनुभव हुआ । अभीसे मार्क्सवादी अटकलका मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है । मार्क्सवादी असंगतियाँ काल्पनिक हैं । वे ऐसी नहीं हैं जिनका समाधान ही न हो । अन्यथा किसी भी व्यक्ति, समुदाय,

जीवन या व्यवस्थाको इकाई मानकर उसीमें अन्तर्विरोध या असंगतियोंकी कल्पना करके उसे विकासोन्मुख मानकर आगन्तुक विघ्नोंके हटानेका प्रयत्न न करके उसके विनाशके लिये ही दो धक्के देना ठीक समझा जायगा। फिर तो विनश्वर वस्तु अवसरसे पहले ही नष्ट हो जायगी। यही बात कम्युनिष्ट नेताके शरीर, स्वास्थ्य एवं वर्गहीन समाज तथा नयी सभ्यताके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है।

यदि उत्पादन-शक्तियो एव उत्पादन-सम्बन्धोंके आधारपर नयी सभ्यता, नयी मानवता और नयी संस्कृतिका जन्म हो सकता, तब तो जिस पूँजीवादके द्वारा इन शक्तियोंका विकास हुआ है, पहले उस पूँजीवादका ही इसके द्वारा कल्याण होता और फिर वे सद्गुण जिनकी कल्पना कम्युनिष्टोंमें की जा रही है, पूँजीवादमें भी हो सकते थे। अतः 'यन्त्रों, मशीनों एवं उत्पादनके बढ़नेसे मनुष्यता तथा सद्गुण बढ़ जायेंगे' यह कल्पना आकाशकुसुम-जैसी ही है। यदि ऐसा ही होता तो मानवता-सम्पादनार्थ बड़े-बड़े धनपति, कुबेरपति एवं सम्राट् धन तथा साम्राज्य छोड़कर अर्किचन बनकर अरण्यवासी होनेका प्रयत्न न करते। वेव दम्पति तथा जॉनसनकी दृष्टिसे रूसी कारखाने समाजवादी शिक्षाके केन्द्र हैं और रूसके नागरिक ईसाके उत्तराधिकारी हैं। परन्तु भूतपूर्व विभिन्न देशोंके प्रसिद्ध कम्युनिष्टोंद्वारा ही लिखे हुए उनके अनुभवोंके सकलन—'पत्थरके देवता' पुस्तक—पढ़नेसे तो रूसी नागरिकोंका दूसरा ही रूप मालूम पड़ता है। हगरी तथा पोलैडकी घटनाओंने तो तथाकथित रूसी कसाईखानेको भी विश्वके सम्मुख रख दिया। कम्युनिष्ट अपने दलके सदस्यों या स्वमतसे अविरुद्ध लोगोंके लिये भले ही कुछ करते हो, परन्तु उनसे मतभेद रखनेवालोंको रूसमें जीवित रहनेका भी अधिकार नहीं है। कितने ही वैज्ञानिकोंको इसलिये मौतके घाट उतार दिया गया कि उनके सिद्धान्तोंमें कुछ चेतन कारणवादकी झलक आती थी। कम्युनिष्ट कहते हैं कि 'रूसमें दूसरी पार्टी इसलिये आवश्यक नहीं है कि वहाँ कोई दूसरे वर्ग हैं ही नहीं, फिर उनका प्रतिनिधित्व करनेवाली पार्टीकी क्या आवश्यकता है? कम्युनिष्ट-सरकारविरोधी विचार व्यक्त करना रूसमें राष्ट्रविरोधी विचार प्रकट करना समझा जाता है।' परन्तु यह स्पष्ट है कि जब गैर-सरकारी विचार व्यक्त करनेका किसीको अधिकार ही नहीं है, तब फिर यह मालूम भी कैसे हो कि रूसमें मतभेद, वर्गभेद है या नहीं? फिर यदि वहाँ मतभेद है ही नहीं तो प्रबल पुलिस एवं गुप्तचर-विभाग वहाँ किस लिये है और वर्गसफाया फिर किसका होता है?

राष्ट्रियताका भाव

मार्क्सवादके अनुसार 'राष्ट्रियता भी पूँजीवादसे ही सम्बन्धित है। यूरोपमें पूँजीवादके साथ-साथ राष्ट्रियताका उदय हुआ था। व्यापारिक स्पर्धाके फलस्वरूप पूँजीपतियोंमें राष्ट्रियताकी चेतना जागरित हुई। १५ वीं सदीमें व्यापारियों और मल्लाहोंके प्रोत्साहनद्वारा यूरोपके देशोंने अन्य महाद्वीपोंकी खोज की,

अग्रेजोंने भारतवर्षमें व्यापारिक, राजनीतिक अधिकार स्थापित किया। अन्य देशों-के व्यापारियोंने व्यापारिक सुविधा प्राप्त न होनेके कारण अपनेको पिछड़े हुए देशके नागरिक समझा, इसलिये उन्होंने ब्रिटेन-जैसे समृद्ध देशोंके मुकाबिलेके लिये अपने राष्ट्रको सुदृढ़ बनाया। राष्ट्रियताकी भावनाका जन्म १४वीं शतीमें हुआ था, उन्होंने उपयोग किया। इसी स्वार्थके फलस्वरूप राष्ट्रियताने उग्र रूप धारण किया। स्टालिनके मतानुसार 'पूँजीपति राष्ट्रियताका पाठ बाजारमें ही सीखता है।' उसके अनुसार भाषा, प्रदेश, आर्थिक जीवन और सांस्कृतिक स्थायी सम्बन्ध राष्ट्रियताका आधार है। एक राष्ट्रमें इन सब विशेषताओंका होना आवश्यक है। इस दृष्टिसे इजराइलके यहूदी राष्ट्र बने। इसके पहले यहूदियोंका कोई एक राष्ट्र नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि वे यूरोपके भिन्न देशोंमें फैले हुए थे। मध्यकालीन साम्राज्योंको भी राष्ट्र नहीं माना जाता था। सिकंदरका साम्राज्य या अन्य साम्राज्य भी राष्ट्रके रूपमें नहीं थे। राष्ट्रियताकी आड़में ही आधुनिक साम्राज्योंका जन्म हुआ। इन साम्राज्योंमें भिन्न-भिन्न जातियाँ तथा राष्ट्र हैं। साम्राज्यवादी देश उन जातियों तथा राष्ट्रोंका शोषण करते हैं; फिर भी इस सम्बन्धमें वे अपनेको अधिक सभ्य मानने हैं। जारशाही रूसके साम्राज्यमें कई परतन्त्र राष्ट्र एवं जातियाँ थीं। जारशाहीके रूसी शासक इनका शोषण करते थे। यही स्थिति अन्य साम्राज्योंकी भी थी। इन परतन्त्र राष्ट्रोंमें धीरे-धीरे राष्ट्रिय चेतना जागरित हुई, राष्ट्रिय आन्दोलन आरम्भ हुए और इनका नेतृत्व पूँजीपतियोंने किया। १९वीं शतीमें यूगोस्लाविया और बोसनिया गतीमें एशियाके राष्ट्रोंने ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, तुर्की आदिसे मुक्त होनेके लिये आन्दोलन छेड़े।

रूसकी बोलशेविक पार्टीने कहा कि 'जबतक साम्राज्यवादका अन्त नहीं होता तबतक राष्ट्रियताका प्रश्न हल नहीं हो सकता।' कहा जाता है कि १९१७ की रूसी क्रान्तिके पश्चात् सोवियतराज्यकी स्थापना हुई। जारशाही साम्राज्यके सभी राष्ट्र एवं जातियोंको आत्म-निर्णयका अधिकार मिला। कम्युनिष्ट पार्टीके अनुसार पूँजीवादी शासनके साथ सभी प्रकारके शोषणका अन्त होना आवश्यक था। राष्ट्रिय-शोषण भी एक प्रकारका शोषण ही है। प्रत्येक राष्ट्रको सोवियत समाजवादीमत तथा संघमें रहने तथा न रहनेकी स्वाधीनता मिली। धीरे-धीरे साम्राज्यके अन्य राष्ट्रों एवं जातियोंने सोवियत-संघकी सदस्यताके पक्षमें निर्णय किया। आत्म-निर्णयके साथ-साथ प्रत्येक राष्ट्रको सांस्कृतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। स्टालिनका आदेश था कि 'कोई भी कम्युनिष्ट क्रिमी परतन्त्र राष्ट्रमें एक शासककी भौति व्यवहार नहीं कर सकता। पार्टीके सदस्योंको चाहिये कि वे पिछड़े हुए राष्ट्रोंके जागरणमें सहयोग दें।' फलस्वरूप रूसमें निरन्तर सांस्कृतिक उन्नति हो रही है। मार्क्सके मतानुसार 'इस जागरणका मूल कारण शोषणका अन्त ही है।'।

इस सम्बन्धमें भी मार्क्सवादी कल्पना मनगढन्त है। कुटुम्ब, कुल, जाति, सम्प्रदाय तथा समाजके समान ही राष्ट्रकी कल्पना भी प्राचीन है। महा-भारतमें कई स्थलोंमें देशके सम्बन्धमें 'राष्ट्र' शब्दका प्रयोग आया है। वेदोंमें भी राष्ट्र शब्दका प्रयोग देशके लिये आता है, जैसा कि—'आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्, आराष्ट्रे राजन्यः।' (यजु० सं० २२। २२)। इसीलिये धर्मनियन्त्रित रामराज्य-प्रणालीमें समष्टिके अवरोधसे व्यष्टिके अभ्युदयका विधान है। व्यक्ति कुटुम्बके अवरोधसे, कुटुम्ब कुलके अवरोधसे, कुल ग्रामके, ग्राम प्रदेशके, प्रदेश राज्यके और राज्य विश्वके अवरोधसे आत्मोन्नतिके लिये प्रयत्नशील हो सकते हैं। कुलके लिये एकका, ग्रामके लिये कुलका और जनपदके लिये ग्रामका त्याग किया जा सकता है—'त्यजेदेकं कुलस्यार्थं ग्रामस्यार्थं कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थं आत्मार्थं पृथिवी त्यजेत् ॥' अवश्य ही व्यक्तिवाद तथा जातिवादके तुल्य ही राष्ट्रवाद या देशवाद भी संघर्षसे ही उग्ररूप धारण करता है। सीमित शक्तिवाले लोग ही यदि सीमित क्षेत्रमें प्रयत्न करते हैं, तो वह प्रभावशाली सिद्ध होता है, अन्यथा समुद्रमें सत्तू घोलनेके तुल्य सीमित प्रयत्न अकिञ्चित्कर होता है। इसीलिये व्यक्तिगत, कुटुम्बगत, मण्डलगत, राज्यगत एवं राष्ट्रगत उत्तरोत्तर विकसित तथा विशाल प्रयत्न ही सफल होते हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अनुसार विश्वके, तथा महाविराट्की उपासनाके अनुसार अनन्त कोटि ब्रह्माण्डात्मा महाविराट्के अभ्युदयके लिये भी प्रयत्न होता है, परंतु उसके लिये विशिष्टरूपसे उच्चकोटिकी भावनाओका विकास अपेक्षित होता है।

धर्मनियन्त्रित रामराज्य-प्रणालीकी सार्वभौम सत्तामें केवल समन्वय एवं सामञ्जस्यकी स्थापनाके लिये ही सार्वभौम सत्ताद्वारा विभिन्न जातियों एवं राष्ट्रोंका नियन्त्रण किया जाता है। फिर भी सभी धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों तथा राष्ट्रोंको पूर्ण विकासका अवकाश भी रहता है। उसी सार्वभौम सत्ताके द्वारा राष्ट्रों, जातियों तथा व्यापारियोंके संघर्ष रोके जाते हैं। जैसे व्यक्तिगत उन्नतिसे कुटुम्बोंकी उन्नति और कुटुम्बोंकी उन्नतिसे ग्रामों तथा नगरोंकी उन्नति होती है, वैसे ही ग्रामों तथा नगरोंकी उन्नतिसे मण्डलों, प्रान्तों एवं राज्यकी उन्नति होती है। राज्यो एवं राष्ट्रोंकी उन्नति विश्वकी उन्नतिमें अपेक्षित होती है। व्यक्तित्व एवं कुलीनताका अभिमान अनेक बार प्राणियोंको बुरे कर्मोंसे बचाता है। महाभारतमें आख्यान है कि 'एक श्वान किसी महर्षिकी कृपासे वृक (भेड़िया), व्याघ्र, सिंह एवं शार्दूलतक बन गया। फिर भी श्वानके सत्कार विद्यमान होनेसे श्वानके स्वभावानुसार उससे ऐसी दुश्चेष्टा हुई कि उसे पुनः श्वान ही बनना पड़ा।' इसी तरह एक समय किसी ऋषिने एक मृषिकाको रूप-यौवनसम्पन्न दिव्य कन्या बना दिया। फिर उसे वर पसंद करनेके लिये कहा गया। उसने सबसे श्रेष्ठ वर निश्चय करते-करते सूर्यको पसंद किया। फिर सूर्यके आच्छादक बादलको श्रेष्ठ समझा। फिर बादलोंको

उड़ानेवाले वायुको, फिर वायुको रोकनेवाले पर्वतोंको और अन्तमें पर्वतोंमें भी चिल कर देनेवाले मूपकको सर्वश्रेष्ठ समझकर उसे ही पति बनाया। निष्कर्ष यह है कि सस्कारोमें उच्चता धीरे-धीरे आ सकती है, एकाएक नहीं, अतः कुलीनताका बड़ा महत्त्व है।

भारतीय राजनीतिज्ञोंने सेनामें कुलीन योद्धाओंका संग्रह आवश्यक बतलाया है। युद्धमन्त्री और प्रधानमन्त्रीकी नियुक्तिमें भी विशिष्टरूपसे कुलीनताका ध्यान आवश्यक बतलाया गया है। यहाँ कुलीनता तथा शालीनताका ध्यान केवल बुरे कामोंमें बचनेके लिये ही है, घमण्ड या अभिमानके लिये नहीं। दोषत्याग एवं गुणार्जनके लिये ही गौरवका उपयोग होता है। 'श्रीमद्भागवत'में बतलाया गया है कि 'भगवद्विमुख, विविध गुणयुक्त ब्राह्मणकी अपेक्षा भगवद्भक्त चाण्डाल भी श्रेष्ठ है। भगवद्भक्त चाण्डाल अपने कुलसहित कृतार्थ हो जाता है, परंतु घमण्डी ब्राह्मण आत्मकल्याण करनेमें भी समर्थ नहीं होता।' इसी अभिप्रायसे किसी शासकने एक ही अपराधमें पकड़े गये चार अपराधियोंको उनके कुल, सस्कार, योग्यता आदिके अनुसार चार प्रकारके दण्ड दिये। जिसे केवल सामने आते ही छोड़ दिया गया, उसकी न्यायालयमें बाहर निकलते-ही-निकलते हृदयगति अवरुद्ध होकर मृत्यु हो गयी। जिससे यह कहा गया कि 'आप ऐसे, और आपका यह काम।' वह अपने आप फाँसी लगाकर मर गया। जिसे कुछ भला-बुरा कहा गया, वह देश छोड़कर चला गया और जिसे दस बेंतकी सजा दी गयी, वह दस ही दिनोंके बाद पुनः उसी अपराधमें पकड़ा गया।

इस तरह कुल, जाति, राष्ट्र आदिके अभिमानसे कुल, जाति एवं राष्ट्रके गौरवस्वरूप आदर्शभूत महापुरुषोंके स्मरणसे, उनके आदर्शोंमें प्रेरणा प्राप्त होती है। हीन पुरुषोंके चिन्तनसे हीन प्रेरणा मिलती है और उत्तम पुरुषोंके चिन्तनसे उत्तम प्रेरणा मिलती है। यह प्रत्यक्ष है कि विशिष्ट संगीत सुनने तथा विशिष्ट संगीतज्ञके दर्शन या माहात्म्य-श्रवणसे संगीतमें प्रवृत्ति होती है। विशिष्ट वीर पुरुषोंकी वीरगाथा सुननेसे मनमें वीरताका संचार होता है। कामिनी-दर्शन या कामकलाके दर्शन, श्रवणादिसे काम-भावना जागरूक होती है। सर्प, व्याघ्रादि भीषण प्राणीके दर्शनसे भय उत्पन्न होता है। सत्पुरुषोंके दर्शन, श्रवणादिसे सद्भावना उत्पन्न होती है। परोपकारी, दयालु, देशभक्त आदिके दर्शन, श्रवणसे भी उस-उस ढंगके भाव उद्बिक्त होते हैं। विभिन्न राष्ट्रोंके विभिन्न ऐतिहासिक सस्मरण होते हैं। उनसे विभिन्न महापुरुषों, अवतारों, पैगम्बरों, तीर्थंकरों आदिके विशिष्ट सम्बन्ध होते हैं। वे स्थान, वे देश उन-उन

अनुयायियोंके लिये तीर्थभूत होते हैं। मार्क्सवादी भी मार्क्स, एंजिल्सके चित्रो एवं कृतियोंका आदर करते हैं। रूसी लेनिन, स्टालिनका तथा चीनी माओत्सेत्तुंग आदिका दर्जन स्मरण तथा उनकी कृतियोंका आदर करते हैं। इन सबसे उन्हें प्रेरणा मिलती है। भगवान् शिव, विष्णु, भगवान् रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र, बुद्ध तथा शङ्कराचार्य आदिसे संस्कारका, विशेषरूपसे भारतभूमिका विशिष्ट सम्बन्ध है। अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना, गङ्गा, चित्रकूट, रामेश्वर, द्वारका, जगन्नाथ, उज्जयिनी आदि विशिष्ट तीर्थ माने जाते हैं। इन हेतुओंसे विशिष्ट देशोंमें उन देशवासियोंकी विशिष्ट श्रद्धा होती है। उनकी रक्षा और समृद्धिके लिये उनके द्वारा विशिष्ट प्रकारकी प्रेरणाएँ मिलती रहती हैं। शास्त्रोंमें तो कहा गया है कि जननी और जन्मभूमि स्वर्गसे भी अधिक श्रेष्ठ होती है—‘जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।’

आधुनिक इतिहास बतलाता है कि मार्क्सवादी नीतिके अनुसार बने हुए ‘अन्ताराष्ट्रिय मजदूर-संघ’ में यद्यपि १९०७ की स्टार्टगार्टकी बैठकमें यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था कि ‘आगामी होनेवाले महायुद्धोंमें मजदूरोंको भाग न लेकर उनका जोरदार विरोध करना चाहिये और महायुद्धको गृहयुद्धके रूपमें परिणत करके साम्राज्यवादका अन्त करके समाजवादकी स्थापना करनी चाहिये।’ इसी प्रस्तावको सन् १९१० की कोपेनहेगेनकी बैठकमें पुनः दोहराया गया। फिर भी १९१४ में जब पहला महायुद्ध प्रारम्भ हुआ, तो सभी देशोंके मजदूरनेता राष्ट्रियताके स्वाभाविक प्रवाहमें बह गये और उन्होंने युद्धका समर्थन किया। कहावत है कि ‘पहले अपनी ही दाढ़ीकी आग बुझायी जाती है’। दूसरे अन्ताराष्ट्रिय मजदूर-संघके बहुमतने उपर्युक्त प्रस्तावका उल्लङ्घन किया। फ्रांसके क्रान्तिकारी संघवादी भी इस राष्ट्रियताकी लहरमें बह गये और राष्ट्रियताके आधारपर एक देशके समाजवादी दल दूसरे देशके समाजवादी दलसे खुलकर लड़े। १९१९ में अन्ताराष्ट्रिय मजदूरसंघकी पुनः स्थापना करनी पड़ी और फिर उसका भी द्वितीय महायुद्ध-कालमें अन्त कर दिया गया, अब ‘कोमिन्फार्म’ नामकी संस्था बनी। ट्राट्स्कीके अनुयायी तो स्टालिन एवं रूसको मार्क्सवादी परम्पराके विपरीत समझते हैं और रूसी राज्यमें नौकरशाहीका बोलबाला मानते हैं। अन्य वामपन्थी लोग भी यही समझते हैं कि ‘साव्रियत रूसने मार्क्सवादी विश्वक्रान्तिका मार्ग छोड़ दिया है, उसमें नौकरशाही एवं स्टालिनशाहीका ही एकाधिकार है; वह दुनियाके प्रतिक्रियावादियोंसे समझौता करके उन्हें प्रोत्साहन देता है।’

मार्क्सवादी इतिहासके आधारपर कहते हैं कि ‘सर्वहाराका राज्य आनेवाला ही है, स्वागतके लिये तैयार रहो।’ अराजकतावादी कहते हैं—‘वह राज्यहीन

समाज आ ही गया है, स्वागतके लिये तैयार रहो ।' हॉन्म, लॉक, रूसो आदिकी भी एक ऐतिहासिक धारणा थी । कान्ट, ग्रीन, फिकटे, हीगेल आदिकी दूगरी ही ऐतिहासिक धारणाएँ थीं । मार्क्स, एंजल्सकी अलग ही ऐतिहासिक धारणा है । हॉन्सके मतमें 'राज्यके जन्मसे पहले मनुष्य एक खूँखार जानवरके तुल्य भीषण था ।' लॉक एव रूसोके अनुसार 'राज्यके जन्मसे पहले मनुष्य एक श्रेष्ठ स्थितिमें था । फिर वह राज्यके पचड़ेमें क्यों पड़ा ?' इसके भी भिन्न-भिन्न प्रकारके उत्तर हैं । बहुतोंने अनुबन्ध या 'सोशल कन्ट्राक्ट'को ऐतिहासिक कहा और बहुतोंने उसे सर्वथा अप्रामाणिक बतलाया । ये सभी लोग इतिहासका ही नाम लेते हैं । भविष्यके सम्बन्धमें भी ऐसी ही विभिन्न अटकलें हैं । रूसोका मामान्येच्छाका राज्य, ग्रीन, कान्टका आदर्श विश्वराज्य, हीगेलका आदर्श राज्य, मार्क्सका वर्गहीन राज्य, बाकुनिनका राज्यहीन समाज एक स्वप्निल जगत्की ही चीजे रह गयी हैं । फिर भी उनके अनुयायी अध विश्वास लिये उन्हीं लकीरोको पीट रहे हैं, यद्यपि वे शास्त्रवादियोंको ही अध विश्वासी मानते हैं ।

परतु रामायण, महाभारतका इतिहास समाधिजन्य ऋतुम्भरा प्रज्ञापर आधारित है । वह तार, टेलिप्रिन्टरके आधारपर या अटकलोकें आधारपर नहीं बना, और न किसी मूर्ति, शिलालेख, साम्भो अथवा मुद्राओंके आधारपर ही बना है । इसीलिये रामायण, महाभारतादि इतिहास इतिवृत्तसम्बन्धी पात्रोंके हसित, भाषित, इङ्गित, चेष्टित, स्थूल, सूक्ष्म, सनिकृष्ट, व्यवहित—सभी घटनाओका हस्तगत आमलकके समान प्रत्यक्ष आर्ष साक्षात्कार करके ही लिखे गये हैं । इसके अतिरिक्त आधुनिक इतिहासोंकी काल-सीमा छः हजार वर्षकी ही तो है । इसीमें उनका ऐतिहासिक एव प्रागैतिहासिक काल आ जाता है, परतु रामायणादिकी दृष्टिसे तो वर्तमान सृष्टि लगभग दो अरब वर्षकी है । यदि ससारभरका एक वर्षका इतिहास एक पन्नेमें भी लिखा जाय तो भी दो अरब पन्नेका इतिहास होता है, फिर उसका कितने दिनोमें अध्ययन हो मकेगा और कौन, कब तथा क्या निष्कर्ष निकाल सकेगा और कब उसे कार्यान्वित किया जायगा ? इतिहासका अभिप्राय भी गड़े मुद्दोंको उखाड़नेके तुल्य पुरानी घटनाओंको दोहराना ही नहीं, किंतु उन अतीत घटनाओसे धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक अभ्युदयोपयोगी शिक्षण (सवक) प्राप्त करना ही होता है । अतएव सभी घटनाओ या सभी व्यक्तियोंको इतिहासमें स्थान नहीं मिलता और न सवका उल्लेख ही इतिहासमें सम्भव है । कितने ही मनुष्य उत्पन्न होते हैं कितने ही

मरते हैं, कितनी ही घटनाएँ घटती रहती हैं। उनका इतिहासमें न तो उल्लेख ही होता है और न उल्लेख करना सम्भव ही है। नगरो, ग्रामोंमें मनुष्योंके जन्मने-मरनेका लेखा-जोखा होता है, फिर भी पशुओ, पक्षियों, मच्छरोके जन्मने-मरनेका कोई लेखा-जोखा नहीं होता। इतिहासकी दृष्टिमें सामान्य मनुष्यो एवं घटनाओका भी यही हाल है।

इतिहासका वर्ण्य विषय

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'राजाओ, महाराजाओ, वीरपुरुषोका वर्णन करना इतिहासका लक्ष्य न होकर समष्टि जनताकी स्वाभाविक जीवनस्थिति, उत्पादन-साधन और उनके परस्पर सम्बन्ध तथा उनके परिणामोका निरूपण ही इतिहासका मुख्य विषय होना चाहिये।' तदनुसार ही मार्क्सवादी प्राथमिक वर्गहीन समाज, फिर मालिक और गुलाम, फिर सामन्त एवं किसान-गुलाम, फिर पूँजी-पति और मजदूर, फिर मजदूर राज्य तथा पुनः वर्गविहीन—समाजकी स्थापनाका इतिहास सिद्ध करके दिखलाते हैं। दूसरे लोग पाषाण-युग, लौह-युग, यन्त्र-युग आदिकी कल्पना करते हैं। इतिहासके गोरखधधेसे अपने-अपने मतलबकी चीज सभी निकालते हैं, विशेष प्रामाणिक आधार खोजे बिना ही कल्पनाके महल खड़े किये जाते हैं। फिर ये सभी कल्पनाएँ हजार, दो हजार वर्षके इतिहासके भीतर ही हैं। विशेषतः मार्क्सवादी विवेचन अधिकांश रूपसे ४०० वर्षोंकी ही घटनाओपर निर्भर है। लाखो-करोड़ो वर्षोंके इतिहासकी कौन-कौन-सी घटनाएँ आधुनिक कल्पनाओमें साधक हैं, कौन कौन सी बाधक हैं—इससे उनका कुछ भी मतलब नहीं। यही स्थिति अराजकतावादियोंकी भी है। घटनाएँ सब सकारण होती हैं। फिर भी सब घटनाएँ परस्पर एक दूसरेकी कारण नहीं होती। कई स्थलोपर तो घटनाएँ अव्यवहित होनेपर भी उनमें कार्य-कारण-भाव नहीं माना जाता। कौवेका बैठना और ताड़का गिरना व्यवधानशून्य होनेपर भी कार्य-कारण सम्बन्धसे शून्य होता है। इसी आधारपर बहुत-सी घटनाओके सम्बन्धोको काकतालीय ही माना जाता है। इसके अतिरिक्त प्राणियों, देश तथा मसारके सौभाग्य-दौर्भाग्य दोनो ही चलते हैं। दौर्भाग्यसे बुरी घटनाएँ और सौभाग्यसे अच्छी घटनाएँ भी घटती हैं। अच्छी घटनाओके मूलमें सौभाग्यके अतिरिक्त मत्प्रयत्नका भी हाथ होता है। बुरी घटनाओमें दुर्भाग्यके अतिरिक्त प्रमाद, आलस्य, दुराचार, दुष्प्रयत्नका भी हाथ रहता है। रावणके हाथो भी बहुत-सी घटनाएँ हुईं। युधिष्ठिर एवं दुर्योधनादिके द्वारा भी अनेक ढगकी घटनाएँ घटीं। देवो-असुरोसे सम्बन्धित घटनाओंके बारेमें भी यही बात कही

जा सकती है। बुरी घटनाओंका वर्णन बुरे कामोंसे बचने और सावधान होनेके लिये होता है तथा अच्छी घटनाओंका वर्णन गुणग्रहण एवं प्रोत्साहनके लिये होता है। इसीलिये रामायणके अध्ययनसे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि राम-भरत आदिके समान वर्तना चाहिये, रावणादिकी तरह नहीं। महाभारत पढ़कर यह पाठ सीखना चाहिये कि युधिष्ठिरादिके समान वर्तन करना चाहिये, दुर्योधन आदिके समान नहीं—‘रामादिवद् वर्त्तितव्यं न तथा रावणादिवत् । युधिष्ठिरादिवद् वर्त्तितव्यं न दुर्योधनादिवत् ॥’

सदाचार, सद्धर्म, सत्कर्म, सदुद्योग, सद्बनार्जन एवं सदुपायोंका शिक्षण ऐतिहासिक सद्व्यवहारोंसे सीखा जा सकता है। सत्पुरुषोंके भी कुलित आचारोंका अनुसरण नहीं किया जा सकता। ‘यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः’ यह स्वभावोक्ति है। प्राणीकी स्वाभाविक प्रवृत्ति श्रेष्ठ पुरुषोंके अनुकरण करनेकी होती है, अतः श्रेष्ठ पुरुषोंको शास्त्रानुगारी सदाचार-पालनका विशेष ध्यान रखना चाहिये। प्राणियोंको भी श्रेष्ठोंके शास्त्रानुगारी सुचरितोंका ही अनुकरण करना चाहिये, दुश्चरितोंका नहीं। इसीलिये वैदिक ऋषिने कहा है कि जो हमारे सुचरित हों उन्हें ही तुम आचरणमें लाओ, दुश्चरितोंको नही—‘यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि’ (तैत्तिरीयोपनिषद् १ । ११ । २) । अव्यात्म-दृष्टिसे विज्ञान-वैराग्यकी विवक्षामें ही विभिन्न महापुरुषोंकी घटनाओंका वर्णन किया जाता है। उक्त प्रयोजनमें भिन्न वाग्वैभवसे अन्य कोई परमार्थ नहीं है। श्रीशुकदेवजीने परीक्षितको बतलाया था कि मैंने जो ससारमें यज्ञ फैलाकर स्वर्ग जानेवाले महापुरुषोंकी कथाएँ कहीं हैं, उनका अभिप्राय विज्ञान वैराग्यके प्रतिपादनमें ही है। कितना ही बलवान्, बुद्धिमान्, वनवान्, सम्राट् क्यों न हो, सबको ही कालके मालमें जाना पड़ता है। स्वधर्मानुष्ठान, परोपकार एवं मायात्कार ही जीवनका सार है। प्रपञ्चका अविष्टान आत्मा ही सत् है। इस प्रकार वैराग्य, विज्ञान-सम्पादनके अतिरिक्त वाग्वैभवको छोड़कर कोई परमार्थता नहीं है। हाँ, जगत्कारण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् चेतन भगवानकी कथाओंका वर्णन तो भक्तिके लिये भी उपयोगी है—

कथा ईमांस्ते कथिता महीयसा विताय लोकेषु यशः परेयुषाम् ।

विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो वक्तोविभूनीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥

यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः ।

संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलम् ।

तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥

(भागवत १० । ३ । १४-१५)

मार्क्सवादियोंके मतानुसार 'वर्ग-संघर्ष, वर्ग-विद्वेष एवं वर्ग-विध्वंसका इतिहास ही इतिहास' माना जाता है, परंतु वस्तुतः वही मानवका इतिहास नहीं है। वाद, प्रतिवाद, सवादका भी यही ध्येय नहीं है, किंतु आत्मसाक्षात्कार, स्व-धर्मानुष्ठान, क्षमा, दया, परोपकार, त्याग, तपस्या आदि ही इतिहासका ध्येय है। अवश्य ही खाने-कमाने, लड़ाई-झगड़े और संघर्षकी भी घटनाएँ होती हैं, परंतु वे आदर्श एवं अनुकरणीय नहीं हैं। उनके द्वारा उत्थानानुकूल रचनात्मक शिक्षा नहीं ग्रहण की जा सकती। मनुष्योंमें ही कयो, पशु-पक्षियो, कीड़ो-मकोड़ोमें भी खाने-पीने, विषयोपभोगके लिये संघर्ष चलता है। कइयोमें तो खूब ज़मकर लड़ाई होती है। बंदरो, मुर्गों, तीतरो, भेड़ो आदिमें भी गहरी लड़ाई होती है। उनमें भी जातिभेदके आधारपर प्राबल्य-दौर्बल्य होता है। मुर्गोंमें यह प्रसिद्ध है। किसी भी लड़ाईमें दो गुट हो सकते हैं। मजदूरोकी ही आपसमें जब कभी लड़ाई होने लगती है, तब उनमें दो गुट बन जाते हैं। कभी जातिभेदसे संघर्ष होता है, कभी धर्मभेदसे, कभी जीविकाभेदसे और कभी सिद्धान्तभेदसे भी संघर्ष चलता है। कई कूटनीतिज्ञोद्वारा कृत्रिम गुट बना डाले जाते हैं। आजकल तो स्त्री-पुरुषोंमें भी संघर्ष उत्पन्न करनेकी चेष्टा चल रही है।

घटनाएँ चेतनके परतन्त्र होती हैं, किंतु चेतन घटनाओंके परतन्त्र नहीं होता। चेतनकी परतन्त्रता इसी प्रकार अस्थायीरूपसे सम्भव होती है। जैसे एक दौड़नेवाले चेतन व्यक्तिने अपने आप स्वतन्त्रतापूर्वक स्वेच्छासे दौड़ना प्रारम्भ किया। वह दौड़ने, न दौड़ने या बैठ जानेमें पहले स्वतन्त्र है; किंतु बादमें दौड़नेसे उत्पन्न होनेवाले वेगके बढ़ जानेपर वह परतन्त्रताका अनुभव करता है। फिर उसे ठहरना होता है तो कुछ पहलेसे ही उसे अपनी गति मन्द करनेका प्रयत्न करना पड़ता है। मोटर आदिका दौड़ना रोकनेके लिये तो और भी पहलेसे गति मन्द करनेके लिये प्रयत्न करना पड़ता है। मनन करनेवाला मन्ता चेतन मनका प्रयोक्ता है, वह स्वतन्त्र है। परंतु मननजन्य वेगके बढ़ जानेपर मननको सहसा रोक देना मन्ताके वशकी बात नहीं होती। मनन रोकनेके लिये मन्ताको यम-नियमादि-अष्टाङ्गयोग करने पड़ते हैं। आये दिन हम देखते हैं कि मनुष्य परिस्थिति बनाता है और उसका सामना करता है। यदि ऐसा न हो, प्राणी परिस्थितिका एक जडयन्त्र ही हो, तब तो पुरुषार्थके लिये स्थान ही न रह जाय। वैज्ञानिक कितनी ही बार यन्त्रोके निर्माणमें तथा संचालनमें असफल होते हैं, कितनी ही बार रेल, मोटर एवं वायुयानोंकी दुर्घटनाएँ होती हैं; फिर भी हिम्मती लोग घबराते नहीं, संकटपूर्ण परिस्थितिका मुकाबला करते हैं।

सम्पत्ति विपत्ति, अनुकूलता-प्रतिकूलता—सभीमें वाद, प्रतिवाद, सवादकी कथा जुड़ सकती है। उन्नति भी पाप पुण्य, भलाई-बुराई दोनोंकी होती है। गैतानवर्गकी भी उन्नति एव अवनति होती है। इसी तरह एक सज्जन और सज्जनवर्गकी भी उन्नति एव अवनति हो सकती है। सभीका समर्थन इतिहाससे मिल सकता है। फिर भी सज्जन लोग सज्जनोके इतिवृत्तिसे ही शिक्षा ग्रहण करेंगे और सज्जनोचित उपायसे ही उन्नतिको प्रयत्न करेंगे। आर्य, प्रामाणिक रामायण, महाभारत आदि इतिहासोंके आधारपर तो बतलाया जा चुका है कि कृतयुगमें सत्त्वप्रधान धर्मनियन्त्रित मनुष्य राज्य, राजा तथा दण्ड-विधान आदिके दिना ही एकमात्र धर्मसे नियन्त्रित होकर सब काम आपसमें ही चला लेते थे। उस समय सत्त्व प्रधान एव धर्म-नियन्त्रित होनेके कारण अपराधी भी कोई नहीं होता था। इसका कारण यह भी था कि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् स्वच्छ परमेश्वरके अधिक सनिहित प्राणियोंमें स्वच्छता अधिक थी। जो वस्तु स्वच्छ कारणसे अधिक सनिहित होती है, वह उतनी ही स्वच्छ होती है। जैसे आकाशसे उत्पन्न वायु पृथ्वीकी अपेक्षा अधिक स्वच्छ है। तेज वायुकी अपेक्षा कुछ कम, किंतु जलादिकी अपेक्षा अधिक स्वच्छ है। तेजकी अपेक्षा जल कुछ कम स्वच्छ है, परंतु पृथ्वीकी अपेक्षा अधिक स्वच्छ है। पृथ्वी पार्थिव प्रपञ्चकी अपेक्षा अधिक स्वच्छ है। इसी तरह परमेश्वरसे उत्पन्न ब्रह्मा और ब्रह्मासे उत्पन्न वज्रिष्ठादि महर्षि अधिक स्वच्छ, सात्त्विक एव सर्वज्ञ थे। परमेश्वरसे उत्तरोत्तर दूर परम्परा सृष्ट प्राणियोंके सत्त्वमें तथा सर्वज्ञता आदिमें भी उत्तरोत्तर न्यूनता आती गयी। तदनुकूल ही रजस्तमोगुणकी वृद्धि होनेसे पाप एव अपराधकी भी वृद्धि होती गयी। जहाँ सत्त्व एव धर्मकी प्रधानता है, वहाँ धर्मनियन्त्रण ही पर्याप्त है। जहाँ सत्त्व एव धर्मकी न्यूनता होती है, वहाँ बाह्य नियन्त्रण भी अपेक्षित होता है। जलकी जैसे निम्न प्रदेशकी ओर स्वभावतः प्रवृत्ति होती है, वैसे ही इन्द्रियोंकी अपने विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी ओर स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है। सुन्दर शब्द, सुन्दर स्पर्श, सुन्दर रूप, सुन्दर रस, सुन्दर गन्ध, सुन्दर भूषण वसन, सुन्दर स्त्री आदिकी ओर इन्द्रियोंका स्वाभाविक खिंचाव होता है। इन्द्रियों और मन सुन्दरता-मात्र देखकर किसी वस्तुकी ओर प्रवृत्त होते हैं। 'यह मेरा है या पराया, यह ग्राह्य है या त्याज्य,' यह विवेक तो धर्मनियन्त्रित, शास्त्रसंस्कृत मन ही कर सकता है। मनके अधिक विषयप्रवण एव रागी हो जानेपर उसके नियन्त्रणके लिये फिर शास्त्रके अतिरिक्त नरक एव राजदण्ड आदिका भय भी अपेक्षित होता है। यही कारण है कि जब सत्त्व धर्ममें कमी हुई, रजोगुण, तमोगुणकी वृद्धि हुई और

अधर्मका विस्तार हुआ, तब इन्द्रियोपर नियन्त्रण भी कम हो गया । फिर तो राग-प्रवण मन सुन्दर परधन तथा परकलत्रादिके अपहरणमें प्रवृत्त होने लगा । तभी मात्स्यन्याय फैला और प्रजा उद्विग्न होकर नियन्त्रण एवं व्यवस्था चाहने लगी । तभी परमेश्वरानुग्रहीत, चन्द्र-सूर्यादि अष्टलोकपालोके अंशोसे युक्त राजा-का प्रादुर्भाव हुआ और उसपर भी धर्मका नियन्त्रण हुआ ।

धर्म-नियन्त्रित राजा धर्म-प्रसार, दण्ड-विधान आदिद्वारा मात्स्यन्यायको हटानेमें समर्थ हुआ । वैवस्वत मनु, इक्ष्वाकु, मान्धाता, दिलीप, गाधि, अलर्क, शिवि, रन्तिदेव, हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र, युधिष्ठिरादि राजा पूर्ण धर्म-नियन्त्रित, दयालु, परोपकारी और प्रजारक्षणार्थ अपना सर्वस्व बलिदान करनेवाले हो गये हैं । रामचन्द्रका प्रजारक्षणार्थ सर्वत्याग प्रसिद्ध है । शिवि, रन्तिदेव आदि नरेन्द्रोने केवल प्रजाके ही नहीं, पशु-पक्षियोतकके हितार्थ अपने राज्य, धन, प्राण—सब कुछका त्याग किया है । इन्हें शोषक एव अन्यायी कहना शुद्ध उच्छृङ्खलताका ही प्रदर्शन करना है । धर्म-नियन्त्रित राजा, जनप्रतिनिधियोंका शासन ही ऐहिक, आमुष्मिक, अभ्युदय और परम निःश्रेयसका मार्ग प्रशस्त कर सकता है । उसके बिना मात्स्य-न्याय फैलता है । सभीका शासनमें भाग लेना सम्भव न होनेसे प्रतिनिधिकी कल्पना करनी पड़ती है । प्रतिनिधि मुख्यसे भिन्न होता ही है, किंतु वह मुख्यका अपेक्षित एव निश्चित कार्यकारी होता है । स्वेच्छात्मक सस्थाओ या अराजकतावादी सघको भी तो यूरोप या ससारके लिये प्रतिनिधि निश्चित करना ही पड़ता है । हाँ, प्रतिनिधि योग्य होना उचित है । अराजकतावादकी नींव है व्यक्ति और मार्क्सवादकी नींव है समाज । प्रथम पक्षमें समूहकी स्वाधीनताकी पहली सबसे बड़ी शर्त है व्यक्तिकी स्वतन्त्रता । तदनुसार सब कुछ व्यक्तिकी स्वाधीनताके लिये ही होना चाहिये । दूसरे पक्षमें स्वाधीनताकी सबसे बड़ी शर्त है जनताकी स्वाधीनता, अतः सब कुछ जनताके लिये ही होना चाहिये । रामराज्यवादीकी दृष्टिमें व्यष्टि और समष्टिका अभेद है, अतएव दोनोंका समन्वय ही सिद्धान्त है । समष्टिके द्वारा व्यष्टिको अभ्युदयकी सुविधा मिलती है और व्यष्टिके द्वारा समष्टिका निर्माण होता है ।

समाजवादी तथा अराजकतावादी दोनोंहीके सिद्धान्तोके आधारभूत इतिहास अल्प देशीय हैं । मार्क्सके अनुभवका क्षेत्र इंग्लैंडका श्रमिक आन्दोलन ही था । अधिक-से-अधिक फ्रांस, जर्मनी तथा इंग्लैंडके, तत्रापि लगभग ४०० वर्षतकके ही इतिहासपर उसका सिद्धान्त प्रतिष्ठित है । अतः उसका क्या प्रामाण्य ?

अष्टम परिच्छेद

माक्स-दर्शन

माक्स प्रयोग तथा अनुभवद्वारा प्राप्त ज्ञानको ही वास्तविक ज्ञान मानता है। 'डाइलेक्टिस' (द्वन्द्वमान) की चर्चा हम पहले कर आये हैं। यह एक यूनानी शब्द है, जिसका अर्थ है दो मनुष्योंका वार्तालाप। इसमें एक तर्ककी स्थापना की जाती है, फिर उसका खण्डन होता है, जिसमें नये तर्ककी उत्थापना होती है। इस प्रकार एक नीचे दर्जेके सत्यसे ऊँचे दर्जेके सत्यपर पहुँचते हैं। यह एक क्रमोन्नतिकी प्रक्रिया है, इसमें स्थिरता नहीं है, वेग है। यही प्रक्रिया सारी प्रकृतिमें वर्तमान है। मानव-समाज और प्रकृतिके इतिहाससे ही द्वन्द्वमानके नियम निकाले गये हैं। ये नियम व्यापकरूपसे सब प्रकारकी गतिके नियम हैं। इनमें तीन मुख्य हैं, १-परिमाणका गुणमें तथा गुणका परिमाणमें परिवर्तन करनेका नियम, २-विरोधियोंके अन्तःप्रवेशका नियम तथा स्वयं विपरीतानुवर्तनका नियम और ३-प्रतिषेधके प्रतिषेधका नियम। इन तीनों नियमका विस्तार हीगेलने विचारके नियमोंके रूपमें किया है। पहला नियम उसके तर्कशास्त्रके पहले खण्डमें है, जिसका नाम है अस्तित्वका सिद्धान्त (डाक्ट्रिन आफ बीइंग्स)। दूसरा नियम दूसरे खण्डमें है, जिसका नाम है सत्ताका सिद्धान्त (डाक्ट्रिन आफ एसेन्स)। तीसरा नियम है, उसके सारी प्रथाका बुनियादी नियम। माक्स इन नियमोंको प्राकृतिक नियमोंके रूपमें देखता है।

'पहला नियम जिसे हम यों कह कहते हैं कि प्रकृतिमें गुणात्मक परिवर्तन भूत या गतिके परिमाणमें कमी या वृद्धीके कारण होता है। प्रकृतिमें गुणोंका प्रभेद निर्भर है रासायनिक संघटनके प्रभेद नियमपर या गति या शक्तिके परिमाण या रूपपर। इसलिये गत या गति घटाये बढ़ाये बिना किसी वस्तुके गुणोंमें परिवर्तन करना सम्भव नहीं। दूसरे नियमकी प्रति हम यों भी कर सकते हैं कि हर एक वस्तु दो विरोधी भावोंका संयोग है, अर्थात् हर वस्तुमें और वस्तु चिन्तन क्रियाके लिये भी यही लागू है। दोनों पहलू हैं, भावात्मक और अभावात्मक, धनात्मक और ऋणात्मक। दूसरे शब्दोंमें सत्य विरोधात्मक है। अतिभातिरुवादी उस सहज सत्यकी उपलब्धि नहीं कर सकता, इसलिये कि वह हर वस्तुको स्थिररूपमें देखता है। लेकिन यह जगत् और इसके पदार्थ सदा चञ्चल हैं।

पीछे हमने देखा है कि गतिमात्र इस प्रकारके विरोधात्मक सत्यका उदाहरण है। किसी वस्तुके स्थानपरिवर्तनको हम यो ही समझ सकते हैं कि वह वस्तु एक ही समयपर एकाधिक स्थानपर है तथा एक ही स्थानपर है भी और नहीं भी है। इस विरोधाभासका हल है गति।

अध्यात्मवादीका इस सम्बन्धमें कहना है कि द्वन्द्वमान कोई व्यापक या स्थिर सिद्धान्त नहीं है; क्योंकि विचार करनेपर वह वाद-विवाद, तर्क-प्रतितर्कमें भी सही नही उतरता। तर्कके सम्बन्धमें यही कहा जा सकता है कि वह प्रमाणान्तरोंके समान प्रतिष्ठित नहीं होता। कोई तार्किक अपने तर्कसे एक वस्तुको प्रतिष्ठित करता है, दूसरा कोई उससे भी बड़ा तार्किक और उत्कृष्ट तर्कसे पहले तर्कको तर्काभास सिद्ध करके प्रथमतर्कमिद्ध व्यवस्थाका खण्डनकर अन्य उत्कृष्ट व्यवस्थाको प्रतिष्ठित करता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर खण्डन-मण्डन चलता रहता है—‘यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैःनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥’ परंतु इस तरह तो तर्क ही अप्रतिष्ठित ठहरते हैं, फिर उनके द्वारा किसी भी अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। फिर तो तर्कद्वारा किसी भी सत्यपर पहुँचना सम्भव नहीं है, परम सत्यतक पहुँचनेकी बात तो दूर रही। अनवस्थित तर्कके आधारपर ही द्वन्द्वमान सिद्धान्त बनानेका प्रयत्न किया जाता है, किंतु अनवस्थित तर्क किसी भी सत्यका बोधक नहीं हो सकता। अतः ऐसे आधारपर आधारित द्वन्द्वमानके आधारपर किसी सिद्धान्तपर पहुँचना कैसे सम्भव है ?

यद्यपि रामराज्यवादी तर्कको सर्वथा अप्रतिष्ठित नहीं मानते। वे कहते हैं कि कतिपय तर्कोंका अप्रतिष्ठितत्व देखकर ही तर्कजातीय होनेसे विमत तर्कोंका भी अप्रतिष्ठितत्व अनुमित किया जाता है। परंतु यदि सभी तर्क अप्रतिष्ठित हैं तो तर्कोंका अप्रतिष्ठितत्व सिद्ध करनेवाला तर्क भी अप्रतिष्ठित ही होगा। फिर स्वतः अप्रतिष्ठित तर्कके बलपर तर्कोंका अप्रतिष्ठितत्व कैसे सिद्ध होगा ? इस तरह कहना होगा कि सत्यबोधक तर्क या प्रमाणान्तरसवादी तर्क अप्रतिष्ठित नहीं होता। जो तर्क प्रतिष्ठित होता है वह तो निश्चितरूपसे वस्तु-तत्त्वका बोधक होता है। फिर उसका तर्कान्तरसे खण्डन भी नहीं हो सकता और न उसके द्वारा सिद्ध विषयका ही खण्डन हो सकता है। न उससे उत्कृष्ट तर्कका उत्थान होता है और न उसके द्वारा उत्कृष्ट सत्यके सिद्धि ही आशा रहती है। सुतरा प्रत्यक्ष एव आगममें इस न्यायका संचार नहीं हो सकता; क्योंकि किसी भी तर्कान्तर या प्रमाणान्तरसे निर्दोष प्रत्यक्षागमका बाध नहीं होता। इस तरह जब विचार या तर्कके स्वजातीय, विजातीय प्रमाणोंमें ही खण्डन-मण्डन, साधन-बाधनकी परम्परा नहीं चलती, तब भौतिक विषयोंमें द्वन्द्वमान सिद्धान्तरूपसे कैसे लागू होगा ?

परिमाणका गुणमें परिवर्तन तथा गुणका परिमाणमें परिवर्तनका नियम अवश्य कहीं उपलब्ध हो सकता है, परतु यह नियम अव्यभिचरित नहीं है। मृत्तिकासे घट, तन्तुसे पट बनता है; प्रकृतिमें जलानयन, अङ्गप्रावरण, शीतापनयनकी सामर्थ्य नहीं होती, परतु कार्योंमें यह सब होता है। यहाँ मूलकारणमे भिन्न किसी भी वस्तु-अन्तरका प्रवेश नहीं है, फिर भी कारणसे कार्यकी भिन्नता नहीं होती। जैसे शिविकावाहक प्रत्येक रूपमे मार्गदर्शनादि कार्य करते हैं, किंतु मिलकर शिविकावाहन कार्य करते हैं। इसी तरह तन्तु आदि जो कार्य नहीं कर पाते, वह कार्य तन्तुनिर्मित पटादि कर सकते हैं। इसी तरह वेदान्तरीतिसे शब्दगुणवाले आकाशसे उत्पन्न वायुमें शब्द, स्पर्श दो गुण हो जाते हैं। फिर वायुमे उत्पन्न तेजमें शब्द, स्पर्श, रूप तीन गुण हो जाते हैं। तेजसे उत्पन्न जलमे शब्द, स्पर्श, रूप, रस चार गुण हो जाते हैं। जलमे उत्पन्न पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पाँच गुण होते हैं। पृथ्वी जलमें, जल तेजमे जग्न लीन हो जाता है, तब गुणोंकी कमी होती जाती है। परमकारण स्वप्रकाश ब्रह्म चेतन सर्वथा निर्गुण एव निर्विशेष माना जाता है। कार्यकी ओर चलनेमे गुणों और विशेषणोंमे वृद्धि होती है। कारणकी ओर जानेमे निर्गुणता, निर्विशेषताकी वृद्धि होती जाती है; फिर भी कारणसे भिन्न कार्य स्वतन्त्र सत्तावाला नहीं होता। सकुचित एव प्रसारित पटमें एव सकुचिताङ्ग, विरुमिताङ्ग, कूर्ममें भेद प्रतीत होने, कारण-कार्यमें विलक्षणता प्रतीत होनेपर भी वास्तवमे भेद नहीं है। कार्यान्तरका भेद भी शिविकावाहकोंके मार्गदर्शन एव शिविकावाहनके दृष्टान्तसे दिखाया जा चुका है। शब्द-स्पर्शादि गुण तथा समवाय सामान्यविशेष आदि भी मूल द्रव्यकी अवस्थाविशेष ही हैं, वस्तुतः उनमे भिन्न नहीं हैं।

तापगुणकी वृद्धि होने-होते जलका द्रवत्व समाप्त हो जाता है और तापका ह्रास होते होते जल वर्ष बन जाता है। तापवृद्धिसे जलके परिमाणमें कमी आनी है। वेदान्त-रीतिमे तेजमे ही जलकी उत्पत्ति होती है, अतः तेजमें उसका विलय होना कोई अनहोनी बात नहीं है।

वैज्ञानिक द्वन्द्ववाद

माक्सवादी कहते हैं कि संख्यानुगुणित डिफरेंशन काल्कुलस यह मानकर चलता है कि एक ही रेखा ऋजु और वक्र दोनों है और इस बुनियादपर जो नतीजे निकलते हैं, उनका हम व्यावहारिक उपयोग करते हैं। एक असीम व्यासके वृत्तके परिधिका एक छोटा अंग ऋजु रेखा है, लेकिन एक वृत्तके अंगके नाते यह रेखा वक्र भी है। इसी प्रकारका एक दूसरा उदाहरण भी है—दो ऋजु रेखाएँ यदि किसी बिन्दुपर मिलती हैं, तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि उन बिन्दुसे थोड़ी ही दूरपर ये दोनों रेखाएँ असमानान्तर हैं। गणितहीमें और

यह एक विरोधाभास है कि किसी संख्याके वर्गमूलको उसके वर्गफलके रूपमें प्रकाशित किया जाय, जैसे— $k \frac{1}{2} = \sqrt{2}$ इससे भी अधिककी कोई ऋणात्मक संख्या किसी संख्याका वर्ग हो सकती है; क्योंकि वर्गीकरणका यह साधारण नियम है कि ऋणात्मक संख्याका वर्ग धनात्मक होता है। लेकिन $\sqrt{-1}$ गणितका एक आवश्यक अंग है खड़ीकरण, फैक्टराइजेशनका उदाहरण $k^2 + x^2 = (k + ix)(k - ix)$ ($k - ix$) ।

भौतिक विज्ञानमें विरोधियोंके ऐव्यका उदाहरण है अणु, स्वयं तडितकी अणुमें क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं है। लेकिन यह जिन अंशोंसे बनता है, उसमें एक धन तडितात्मक है, 'प्रोटन' और दूसरा ऋणतडितात्मक है, 'इलेक्ट्रन', जीवन तो सर्वथा विरोधमय है। वह हर समय कुछ है और कुछ अन्य भी है। ज्यो ही इस विरोधका अन्त होता है, जीवनका भी अन्त हो जाता है। विचारक्षेत्रमें यह विरोध विद्यमान है। मनुष्यकी ज्ञानशक्ति अपरिसीम है, लेकिन उसका वास्तविक ज्ञान सीमाबद्ध है।

अब परिमाणके गुणात्मक परिवर्तनके कुछ उदाहरण ले लीजिये।

भौतिक विज्ञानके क्षेत्रमें सबको विदित है कि आलोक तरङ्ग एक प्रकारके 'एलेक्ट्रो मैग्नेटिक' तरङ्ग है। इन तरङ्गोंकी लंबाईयोंके घटने-बढनेके कारण विभिन्न प्रकारकी रश्मियोंकी उत्पत्ति होती है। जो आलोक मनुष्यकी आँखोंमें दिखायी पडता है, वह इन तरङ्गोंका एक छोटा हिस्सा है। जिन रश्मियोंको हम देखते हैं, वे मुख्य सात रंगकी हैं, जो आरम्भ होती हैं लालसे और जिनका अन्त होता है बैगनीसे। लालके उधर इन तरङ्गोंकी लंबाई बढती जाती है और बैगनीके उधर यह लंबाई घटती जाती है। एक साधारण उदाहरण है—वस्तुकण 'मोलेकुल' के अन्तिम विभाजनपर परमाणु 'ऐटम'की उत्पत्ति, परमाणु और वस्तुकणके गुणोंमें बहुत प्रभेद है।'

वस्तुतः जिन उदाहरणोंको विरोधियोंकी सह-अवस्थितिके सम्बन्धमें उपस्थापित किया गया है, वे परस्पर विरोधी कहे ही नहीं जा सकते, अपेक्षाबुद्धिसे ही ये विरोध भासित होते हैं, परंतु वस्तुविरोध पुरुषबुद्धिपरतन्त्र नहीं होता। वास्तविक विरोध है भाव-अभावका, तेज-तिमिरका, सत्-असत्का, इनमें परस्पर तादात्म्य या सयोगादि सम्बन्ध नहीं हो सकता। यो तो जैसे एक ही पुरुष विभिन्न अपेक्षाबुद्धियोंसे पिता, पति, पुत्र आदि रूपमें व्यवहृत होता है, फिर भी उसमें वस्तुतः भेद नहीं है, वैसे ही रेखामें ऋजुत्व, वक्रत्व आदि अपेक्षाबुद्धिकृत भेद है। वस्तुतः वह एक साधारण रेखा है, यह स्थिति है।

मार्क्सका विरोधियोंका सहअस्तित्व एक प्रकार अनेकान्तवादसे मिलता-जुलता है। इसे भी एक प्रकारसे अनेकान्तवाद ही कहा जा सकता है।

इसका विचार हमारे यहाँके दर्शनोंमें विस्तारसे है । 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः स्यादस्ति चावक्तव्यश्च स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च ।' अर्थात् हर वस्तुमें यह सप्तभङ्ग न्याय जोड़ा जाता है । यह वस्तु किसी तरह है, किसी तरह नहीं है । किसी तरह है भी, नहीं भी है । किसी तरह अवक्तव्य है, किसी तरह है भी और अवक्तव्य भी है, किसी तरह नहीं भी है और अवक्तव्य भी है, किसी तरह है भी नहीं भी है, अवक्तव्य भी है, किसी पदार्थकी नित्यताका एकता आदिके सम्बन्धमें भी ये सप्तभङ्ग जोड़े जाते हैं ।

इसपर विचारणीय बात यह है कि एक वस्तुमें युगपत् सत्त्व तथा असत्त्व-विरुद्ध धर्मका होना असम्भव है । जैसे एक ही वस्तु समानरूपसे गीत और उष्ण नहीं कही जा सकती । वस्तुतः जो वस्तु सत्य है, वह सर्वथा, सर्वदा, सर्वरूपसे है ही—जैसे परमात्मा । जो कहीं, कभी, किसी रूपसे है, किसी रूपसे नहीं है, वह वस्तुतः असत् ही है । 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।' (गीता २।१६) असत्का सत्त्व एव सत्त्वका कभी अभाव नहीं हो सकता । प्रत्यय (बोध) मात्र वस्तुतत्त्वका व्यवस्थापक नहीं होता । शुक्ति, रजत, मरीचिमें जल आदिका प्रत्यय भी प्रत्यय ही है, परंतु मिथ्या वस्तुका ही व्यवस्थापन करता है । यदि कहा जाय कि जिस प्रत्ययमे लौकिक दृष्टिसे बाध न हो उसे सत्य मानें, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि लौकिक दृष्टिसे देह ही आत्मा है, इस प्रत्ययका बाध नहीं होता । फिर भी देह-भिन्न आत्मा प्रमाणसिद्ध है ही । वस्तुमें विकल्प नहीं हो सकता, अतः एक वस्तुमें ही सत्त्व, असत्त्व दोनो धर्म नहीं हो सकते ।

यदि यह अनेकान्तवाद सब वस्तुमें मान लिया जाय तो प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय एव अनेकान्तवाद आदिके सम्बन्धमें भी यही अनेकान्तवाद जोड़ा जा सकता है । अर्थात्, 'यह अनेकान्तवादका पक्ष 'कथंचित् सत्य है, कथंचित् असत्य है', इत्यादि । तब तो अनिर्धारित ज्ञान सशय-ज्ञानके तुल्य अप्रमाण ही माना जायगा । यदि कहा जाय कि नहीं, अनेकान्तवाद सिद्धान्त निर्धारित स्वरूप ही है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जब सभी वस्तु अनेकान्तिक हैं, तब तो वस्तु होनेसे अनेकान्तवादमें भी अनेकान्तिकता अनिवार्य ही है । अतः अनिर्धारित प्रमाता, अनिर्धारित प्रमाण, अनिर्धारित प्रमेय, अनिर्धारित साधन, अनिर्धारित साध्यके आधारपर व्यवहार भी कैसे सम्पन्न होगा ?

विकासवाद परिणामवादमें आ जाता है । मूल वस्तुमें भेद, अन्तर्विरोध एव कार्यमें वस्तुतः भेद होता है या नहीं, इसपर विचारणीय यह है कि वस्तु सर्व-

रूपसे परिणत होती है या एक देशसे ? सर्वरूपसे परिणत होती है, तब तो पूर्णरूपका सर्वथा त्याग होनेसे उसे तत्त्वान्तर ही कहना चाहिये । परतु ऐसा व्यवहार नहीं होता । यदि वस्तुके एकदेशका परिणाम होता है, तो प्रश्न होगा कि वह एकदेश वस्तुसे भिन्न है या अभिन्न ? भिन्न है तो उस वस्तुका परिणाम कैसे हुआ ? अभिन्न है तब तो एक देश भी वस्तुसे अभिन्न होनेसे उसका परिणाम वस्तुका ही सर्वरूपसे परिणाम हुआ । फिर भी पूर्वोक्त दोष ही होगा । कुछ लोगोके मतानुसार एक देशको वस्तुसे भिन्नाभिन्न कहा जाता है, अर्थात् कारणरूपसे अभिन्न एवं कार्यरूपसे भिन्न । जैसे सुवर्णरूप कटक-कुण्डलादि अभिन्न हैं, परतु कटक-कुण्डलादिरूपसे भिन्न ही हैं । भेदाभेदका एकत्र होना विरुद्ध है, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रमाण-विपरीत प्रतीति ही विरोध है । जो वस्तु प्रमाणसे जैसी प्रतीत होती है, उसे तो वैसे उसी रूपमें मानना चाहिये । 'कुण्डलमिद सुवर्णम्' यह कुण्डल सुवर्ण है, इस प्रकारके समानाधिकरणके प्रत्ययमें भेद, अभेद-दोनों ही प्रतीत होते हैं । यदि यहाँ सुवर्ण-कुण्डलका अत्यन्त अभेद हो तब तो दोनोंमेंसे किसी एककी ही दो बार प्रतीति होनी चाहिये । यदि दानोका अत्यन्त भेद हो तब तो समानाधिकरण-प्रत्यय नहीं होना चाहिये । अश्व-गोका अत्यन्त भेद है । उनका समानाधिकरण प्रत्यय नहीं होता । आधारार्थेयभावमें 'कुण्डे बदरम्' 'कुण्डमें बेर है', ऐसा प्रत्यय होता है । 'कुण्ड बेर है', ऐसा प्रत्यय नहीं होता । एकाश्रयाश्रितोमे भी समानाधिकरण प्रत्यय नहीं होता अर्थात् एक आसनपर स्थित चैत्र-मैत्रमें चैत्र और मैत्र ऐसा प्रत्यय होता है । चैत्र मैत्र है, ऐसा प्रत्यय नहीं होता । अतः कार्यका कारणरूपसे अभेद होता है । इस तरहके असदिग्ध अवाधित सार्वजनिक अनुभवसे सद्रूपकारण सर्वत्र अनुगत है । इसलिये सद्रूपसे सबका अभेद है । गो, घट अदिमें कार्यरूपमें भेद है । 'कार्यरूपेण नानात्व-मभेदः कारणात्मना । हैमात्मना यथाभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा ।'

परतु विचार करनेसे यह पक्ष अनुचित प्रतीत होता है । भेद क्या वस्तु है जो अभेदके साथ रहता है ? यदि अन्योन्याभावको ही भेद कहा जाय, तो भी यह देखना है कि क्या कार्य-कारण कुण्डल और सुवर्णमें यह अन्योन्याभावरूप भेद है ? यदि नहीं है, तब तो कार्य-कारणका अभेद ही हुआ, भेद नहीं हुआ । यदि है तब तो कार्य-कारणका भेद ही रहेगा, अभेद नहीं हो सकेगा । यदि कहा जाय कि भाव एवं अभावका विरोध ही नहीं, तो यह कथन भी ठीक नहीं । क्योंकि भाव-अभावका एकत्र अवस्थान नहीं होता । यदि दोनोंकी सहावस्थिति मानी जाय, तब तो कटक-कुण्डलका भी तात्त्विक ही अभेद होना चाहिये; क्योंकि आप भेद-अभेदकी एक साथ अवस्थिति मानते ही हैं, किंच यदि कटक हाटकसे अभिन्न है तो जैसे हाटक-रूपसे कटक-मुकुटादि अभिन्न हैं, वैसे ही कटरूपसे भी कटक-मुकुटादिको अभिन्न होना चाहिये । क्योंकि कटक हाटकसे भिन्न है, इस तरह हाटक ही वस्तु ठहरती हैं, कटकादि नहीं ।

यदि कहा जाय कि हाटक रूपसे अभेद है, कटक आदिरूपसे तो भेद है ही । परतु जब कटक हाटकमे अभिन्न है तब कुण्डलादिमें हाटकके समान ही कटककी अनुवृत्ति क्यों नहीं है । यदि अनुवृत्ति नहीं होता तो कटक सुवर्णसे अभिन्न कैसे समझा जाता है ? जिसके अनुवर्तमान होनेपर जो व्यावृत्ति होते हैं, वह उससे भिन्न होते हैं, जैसे मालामें सूत्र अनुवृत्ति होता है, पुष्प व्यावृत्ति होते हैं, अतः सूत्रसे पुष्प भिन्न हैं । हाटकके अनुवर्तमान होनेपर भी कुण्डलादिमें कटकादि अनुवृत्ति नहीं हैं, अतः हाटकसे कटकादि भिन्न ही ठहरते हैं ।

सत्तामात्रकी अनुवृत्तिसे कटककी अनुवृत्ति मानें तब तो सभी वस्तु सर्वत्र अनुगत हो सकती है । फिर तो 'इदमिदं नेदम्' इदमस्मान्नेदम्, इदमिदानीं नेदम्'—यहाँ यह है, यहाँ यह नहीं है, इसमे यह उत्पन्न होता है, यह नहीं होता है, इत्यादि विभाग ही नहीं बन सकेगा । फिर तो किसीका किसीसे विवेकका कोई हेतु ही न रहेगा । किंच दूरसे सुवर्णमात्रका ज्ञान हो जानेपर भी कुण्डल मुकुटादि जिज्ञासा होती है । परतु यदि कुण्डलादि सुवर्णसे अभिन्न ही हैं, तो सुवर्णका ज्ञान हो ही गया, फिर जिज्ञासा क्यों होनी चाहिये ? हाँ, यदि वनकसे कुण्डलादिका भेद है तब तो वनकके विज्ञात होनेपर भी वे अज्ञात तथा जिज्ञास्य हो सकते हैं । अगर भेद-अभेद दोनों ही हैं तो जैसे भेदके कारण कुण्डलादि अज्ञात हैं, वैसे ही अभेदके कारण ज्ञात क्यों न होने चाहिये ? कारणके अभावमें कार्यका अभाव स्वाभाविक है । जब ज्ञानका कारण अभेद है तो सुवर्णके ज्ञानसे सुवर्णाभिन्न कुण्डलादिका ज्ञान होना ही चाहिये । फिर तो कुण्डलादिकी जिज्ञासा और ज्ञान आदि होना व्यर्थ ही है । जिसके गृहीत होनेपर जो नहीं गृहीत होते, वे उससे भिन्न ही होते हैं । जैसे हाथीके गृहीत होनेपर गर्दभ नहीं गृहीत होता, अतः हाथी गर्दभमे भिन्न है । उसी तरह हेमके ग्रहण होनेपर भी कटक, मुकुट, कुण्डलादि नहीं गृहीत होते ; अतः सुवर्णसे कटकादि भिन्न हैं । तथापि 'सुवर्ण कुण्डल, कुण्डल सुवर्ण है', इस प्रकारका समानाधिकरण व्यवहार भी होता है । यह अत्यन्त भिन्न अन्व-महिषमें नहीं होता । आचाराधेय या समानाश्रयमें भी समानाधिकरण नहीं होता । यह ऊपर कहा जा चुका है कि अनुवृत्ति, व्यावृत्ति एवं सुवर्ण होनेपर भी कुण्डलादिकी जिज्ञासा कैसे बन सकेगी ? वास्तविक भेद एवं अभेद दोनोंकी एवत्र उपपत्ति हो नहीं सकती । अतः भेद या अभेद किसीका त्याग करना ही होगा । अतः अभेदको तत्त्वभूत अधिष्ठान मानकर उसीमें कल्पित भेद मानकर सब व्यवस्था हो सकती है । भेदोपादानाभेद कल्पना कहनेके लिये भेदको स्वतन्त्र मिद्ध होना चाहिये, परतु भेद भिन्न वस्तुओंके परतन्त्र होता है । वस्तुएँ प्रत्येक रूपमे एक ही हैं । अतः एक नहीं होगा, तो तदाश्रित भेद मिद्ध ही नहीं होगा, परंतु एक भिन्नके अधीन नहीं होता । 'नायमयम्' अमुक अमुक नहीं है । इसी तरह भेदज्ञान प्रतियोगि-ज्ञान-सापेक्ष होता है, किंतु एकत्वग्रहणमें किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं होती ।

मार्क्सवादी चैतन्यको भूतोंका गुणात्मक परिणाम म.नते हैं । यहाँ भी यह प्रश्न होगा कि 'चैतन्य भूतोंमें प्रथमसे विद्यमान था, केवल उसकी अभिव्यक्ति हुई है, अथवा भूतोमे अविद्यमान था, अतः अविद्यमानकी उत्पत्ति हुई है ?' अविद्यमानकी उत्पत्ति असत्कार्यवादी वैशेषिकोंकी ही दृष्टिसे मान्य होती है, परंतु वह सर्वथा असंगत ही है । इस सम्बन्धमें सांख्यवादियोंका यह कहना है कि उस शक्त कारणकी शक्ति शक्य कार्यमे ही रहती है या सर्वत्र रहती है ? यदि सर्वत्र रहती है तो वही अवस्था सर्वत्र बनी रहेगी । यदि शक्यमें ही रहती है तो यदि शक्य घटादिकार्य अमत् है, तो उसमे शक्ति कैसे कही जा सकती है; क्योंकि असत्का कोई सम्बन्ध ही नहीं बनता ।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि शक्तिभेद ही इस प्रकारका होता है जो किसी कार्यको उत्पन्न करता है सब कार्यको नहीं । क्योंकि यहाँ भी वही प्रश्न होगा कि शक्तिविशेष कार्यसे सम्बद्ध रहता है या असम्बद्ध ? यदि सम्बद्ध कहा जायगा तो असत्के साथ सम्बन्ध हो नहीं सकता; अतः कार्यको सत् ही कहना पड़ेगा, असम्बद्ध कहेंगे तो वही अव्यवस्था आयेगी । जैसे मिट्टी, तन्तु आदिके रहनेपर ही घट-पट आदिकी उपलब्धि होती है, तद्वत् कारणके भावमें ही कार्यकी उपलब्धि होती है, अतएव कार्य कारणमे अनन्य अभिन्न है । जहाँ अश्व, गो आदिका भेद होता है, वहाँ दूसरेके भानमे ही दूसरेकी उपलब्धिका नियम नहीं होता । अतः यदि कार्य कारणसे भिन्न होता तो कारणकी उपलब्धिमे कार्योपलब्धिका नियम न होता, किंतु यहाँ ऐसा नियम है, अतः कारणसे भिन्न कार्य नहीं होता । अतः जब कारण सत् तब कार्य सत् होना चाहिये । कुलालादिका घटसे भेद है, अतः वहाँ कुलालादि होनेमे घट होनेका नियम नहीं है; क्योंकि निमित्त नैमित्तिक भाव रहनेपर भी भिन्नता निश्चित है ।

कहा जा सकता है कि 'अग्निके भावमें ही धूमकी उपलब्धि होती है, तब भी वह्नि धूमका भेद होना है । वैसे ही मृत्तिकादि कारणके रहनेपर घटादि कार्यकी उपलब्धि होनेपर भी उनका परस्पर भेद नहीं रहेगा' परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि अग्नि बुझ जानेपर भी वातायनशून्य गोपाल-कुटीर आदिमें धूमका उपालम्भ होना है । यदि अविच्छिन्नमूल दीर्घरेखावस्थ धूमके साथ वह्निके साहचर्यका नियम बनावे तो दोष नहीं है; क्योंकि 'तद्भावे तद्भावात् तदुपलब्धौ तदुपलब्धेऽन्यतः' उपादान कारणके भावमे कार्यका भाव तथा उसकी उपलब्धिमें उपलब्धि होनेसे उसकी अनन्यता होनेका नियम है, अतः अभेद है । इसके अतिरिक्त प्रत्यक्षमे ही तन्तु आदि कारण ही पट आदि कार्य निश्चित होते हैं । तन्तुसे भिन्न पट नामकी वस्तु कुछ नहीं है, अर्थात् 'तद्भावनीयतद्भावत्वे सति तद्बुद्ध्या-नुरक्तबुद्धिप्रियता' ही अभेदका कारण है । अर्थात् तद्भावमें तद्भाववाला होकर

तदनुरक्त बुद्धिका विषय होना ही अमेदका कारण है, जैसे मृत्तिकादि कारणके रहनेपर ही घटादि कार्य रहता है और मृत्तिकाबुद्धिके साथ ही घटबुद्धि होती है। अतः मृत्तिका और घटका अमेद ही समझना चाहिये। वहि-धूममें 'तद्भावे तद्भाव' होनेपर भी 'उपलब्ध्यानुपलब्धे' का नियम नहीं है। प्रभा और रूपमें सहोपलब्धिका नियम होनेपर भी सहभावका नियम नहीं है। कारण और कार्यमें 'तद्भावे तद्भाव,' 'उपलब्ध्यानुपलब्धे,' दोनों ही नियम रहते हैं; अतः कार्यकारणका अमेद रहता है। पट तन्तुका धर्म है, अतः तन्तुमें पट भिन्न नहीं है। जो जिसमें भिन्न होता है, वह उसका धर्म नहीं होता—जैसे गो अश्वका धर्म नहीं होता। पट तन्तुका धर्म है, अतः तन्तुसे अर्थान्तर नहीं है। उपादानोपादेयभाव होनेसे भी तन्तुमें पटका अमेद ही सिद्ध होता है। जिनमें भिन्नता होनी है, उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं होता। जैसे घट-पट—दोनों भिन्न हैं, उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं होता। तन्तु-पटका उपादानोपादेयभाव है, अतः दोनोंमें अभिन्नता ही है। दोनोंकी जिनमें भिन्नता होती है उनमें या तो कुण्ड-चेरके तुल्य संयोग होता है, या हिम-विन्द्वके तुल्य अप्राप्ति रहती है। तन्तु-पटमें संयोग, अप्राप्ति—दोनों ही नहीं रहते, अतः अभिन्नता ही माननी चाहिये।

तन्तुके गुरुत्व कार्यमें भिन्न तन्तुनिर्मित पटका दूसरा गुरुत्व कार्य नहीं होता, इसलिये भी तन्तु पटका अमेद ही मानना युक्त है। इन हेतुओंमें सिद्ध होता है कि आतान-वितानात्मक तन्तु ही पट है। फिर भी 'पट उन्पद्यते, पटो विनश्यति' इस प्रकार पटकी उत्पत्ति तथा विनाशकी बुद्धि तथा तन्तु एव पटका व्यवहार और अर्थक्रिया शीतापनयन, अङ्गप्रावरणादि कार्यक्षमता-भेदसे भी तन्तु-पटका भेद नहीं सिद्ध होता है, क्योंकि ये सभी बातें अमेदमें भी उपपन्न हो सकती हैं। जैसे कूर्मके विद्यमान अङ्गोंका ही आविर्भाव-तिरोभाव होता है, वैसे ही विद्यमान घटादि कार्योंका ही मृत्तिकादि कारणोंमें ही आविर्भाव एव कारणमें ही तिरोभाव होता है। इसी आविर्भाव-तिरोभावमें उत्पत्ति-विनाशकी बुद्धि होती है। अत्यन्त अशुक्ल की उत्पत्ति तथा शुक्ल का विनाश नहीं होता। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते मृतः।' जैसे कूर्ममें संकोच विकासशाली अग्ने अवयवोंकी भिन्नता नहीं, वैसे ही कारणसे कार्य भी भिन्न नहीं है। 'तन्तुषु पट' तन्तुओंमें पट है—यह व्यवहार भी उसी ढंगका है, जैसे वनमें वृक्ष हैं। वस्तुतः वृक्षोंमें भिन्न वन नहीं है, वैसे ही तन्तुओंमें भिन्न पट नहीं है।

जैसे एक अग्निमें दाहकत्व, प्रकाशकत्व, पाचकत्व आदि कार्यभेद होनेसे भी अग्निमें भेद नहीं होता, उसी तरह कारण मृत्तिका एव तत्कार्य घटादिमें अनेक कार्योंमें भेद होनेपर भी उनमें भेद नहीं सिद्ध होता। अङ्गप्रावरण पटमें होता है, तन्तु-

से नहीं; पट तन्तुसे ही बनता है, पटसे नहीं; इत्यादि कार्यक्षमताकी व्यवस्था अभेदमे भी समस्त-व्यस्त भेदसे बन जाती है। जैसे व्यस्त पृथक्-पृथक् शिविका-वाहक भृत्य मार्ग-दर्शन किया करते हैं और समस्त मिलकर शिविकावहन करते हैं, वैसे ही प्रत्येक तन्तु अङ्गप्रावरण कार्य नहीं कर सकते, मिलकर वह कार्य कर देते हैं। इस सम्बन्धमें यह भी शङ्का होती है कि कारण-व्यापारके पहले पटका आविर्भाव सत् था या असत् ? असत् था, तब तो उसका उत्पादन कहना पड़ेगा, अगर आविर्भाव भी सत् ही है, तो कारण व्यापार व्यर्थ होगा; क्योंकि यदि कार्य विद्यमान है तो कारण-व्यापारको कौन आवश्यक समझेगा। आविर्भावका भी आविर्भाव माना जायगा, तब तो अनवस्था-प्रसङ्ग होगा। परन्तु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि अमत्-कार्यवादमें भी तो इसी ढंगके दोष आते हैं। असत्की उत्पत्ति माननेपर भी यही प्रश्न होगा कि असत्की उत्पत्ति सती है या असती ? सती है तो फिर कारण व्यापार व्यर्थ है। असती है तो फिर असती उत्पत्तिकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी और अनवस्था दोष होगा। यदि उत्पत्ति पटसे भिन्न नहीं है, पटस्वरूप ही है तब तो पट एवं उत्पत्ति दोनों-का एक ही अर्थ होगा। फिर तो पट उत्पन्न हुआ, यह कहनेसे पुनरुक्ति समझी जानी चाहिये और फिर पट नष्ट होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उत्पत्ति और विनाश दोनों ही एक कालमें एकत्रित नहीं रह सकते। इसलिये पटोत्पत्तिको स्वकारणसमवायरूप माना जाय या स्वसत्तासमवायरूप माना जाय ? यदि पट असत् है तो दोनो ही नहीं हो सकते; क्योंकि असत्के साथ कारण-सम्बन्ध या सत्ता-सम्बन्ध नहीं बन सकता। सत्का ही कार्य-कारणके व्यापारसे प्रादुर्भाव होता है—यही पक्ष ठीक है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पटरूपके साथ ही कारण-सम्बन्ध है; क्योंकि पटरूप कोई क्रिया नहीं है। कारणको सम्बन्ध क्रियाके ही साथ होता है, क्रिया-सम्बन्ध बिना कारणता ही नहीं हो सकती। अव्यापी सक्रिय अनेक एवं आश्रितपरतन्त्र होता है। जो भी सावयव होता है, वह कार्य होता है, कार्य होनेसे ही सकारण भी होना अनिवार्य है।

इस सम्बन्धमें अनेक पक्ष हैं। अनेकवादी असत्से ही सत्की उत्पत्ति कहते हैं, परन्तु निरुपाख्य असत्से शब्दाद्यात्मक प्रपञ्चोकी उत्पत्ति कैसे बन सकती है ? क्योंकि सत् तथा असत्का कोई भी तादात्म्यादि सम्बन्ध नहीं बन सकता। सांख्य आदि उत्पत्तिसे पहले भी कार्यको सत् ही कहते हैं। अवश्य ही बीज तथा मृत्तिका-पिण्डादि कारणोके प्रध्वसके पश्चात् ही अङ्कुर, घटादिकी उत्पत्ति होती है तथापि प्रभवंस कार्यके प्रति कारण नहीं है, किंतु बीज आदिके अवयव ही कारण हैं, अतएव उनकी ही कार्योमें अनुवृत्ति देखी जाती है। यदि

अभावसे भाव उत्पन्न हो तब तो अभाव सभीको सर्वत्र मुलभ ही है। फिर कार्योत्पत्तिमें बाधा न होनेमें सदा ही कार्योत्पत्ति होती रहनी चाहिये।

यदि कारण-व्यापारमें पूर्व कार्य असत् हो तो वह किसी तरहसे सत् नहीं बनाया जा सकता। सैंकड़ों मिलियनोंके प्रयत्नमें भी नील रूप पीत नहीं बनाया जा सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सत्त्व-असत्त्व—दोनों ही घटके धर्म हैं; क्योंकि यदि घटधर्मा सत् हो तभी उसके धर्म हो सकते हैं, असत् धर्मोंके धर्म कैसे हो सकेंगे? सत्त्व असत्त्व धर्मका आधार माननेपर भी घटादि कार्यको सत् ही कहना पड़ेगा। यदि असत्त्व धर्मका घटकी आत्मा या घटमें सम्बन्ध नहीं है, तो घटको असत् कैसे कहा जा सकता है? तत्सम्बन्धितया तत्स्वरूप होनेसे ही किसी वस्तुमें तद्रूपताकी प्रतीति होती है। अतः कारण-व्यापारके ऊर्ध्व एवं पहले भी कार्य सत् ही होता है। उगी सत् कार्यकी कारणमें अभिव्यक्ति होती है, जैसे निपीडनद्वारा तिलमें तैल व्यक्त होता है अवयवतद्वारा बान्धनमें तण्डुलकी व्यक्ति होती है, दोहनमें गोदुग्ध, उसके मन्थनसे नवनीत अभिव्यक्त होना है, उसी तरह अट्टराडि कार्य भी सत् ही रहते हैं। कारण-व्यापारमें उनकी अभिव्यक्ति सम्भव है, परंतु असत्की उत्पत्तिना कोई भी दृष्टान्त नह अभिव्यक्त होती

वस्तु कहीं भी असत् नहीं देखी जाती।

कार्यके लिये प्रतिनियत उपादान कारणोंका ग्रहण किया जाता है। पदार्थों तन्तु, घटार्थी मृत्तिका, कुण्डलार्थी सुवर्ण हृदता है। इसमें मालूम पड़ता है कि वे कार्य उन उन कारणोंसे विशेषरूपसे सम्बद्ध रहते हैं। तभी प्रतिनियत कारण हृदना संगत हो सकता है। असत् कार्य होगा तो वह किसीसे कैसे सम्बद्ध होगा? यदि कारणसे असम्बद्ध ही कार्य हो, तो असम्बद्धता समान होनेसे सब कार्य सभी कारणोंमें उत्पन्न होने चाहिये। फिर अमुक कार्य अमुक कारणसे उत्पन्न होनेका नियम न होना चाहिये। साथ ही कार्य-कारणकी स्पष्ट ही अव्यवस्था होगी।

कुछ लोग कहते हैं, 'असम्बद्ध होनेपर भी जो कारण जिस कार्यके उत्पादनमें शक्त होता है, उस कारणसे वही कार्य उत्पन्न होता है। शक्ति फल-बलमें कल्प्य होती है। अर्थात् जिस कारणसे जिस कार्यकी उत्पत्ति होनी दिखती है, उस कार्यकी उत्पत्तिकी शक्ति उसी कारणमें है, यह मालूम पड़ता है। अतः अव्यवस्था नहीं होगी।'।

साख्यवादी सत्कार्यवादी होते हुए भी अचेतन प्रकृतिको ही कारण कहते हैं, परंतु वेदान्ती चेतन ब्रह्मको कारण कहते हैं। जो उत्पत्तिके पहले जिम रूपमें होता है, वह उसीसे उत्पन्न होता है। घट मृत्तिका-रूपमें उत्पत्तिमें पहले रहता है; अतः मृत्तिकासे उत्पन्न होता है। तैल उत्पत्तिमें पहले तिल-रूपमें रहता है, अतः तिलसे उत्पन्न होता है। वह मिक्ता-रूपमें नहीं रहता; अतः सिक्तामें नहीं उत्पन्न

होता । अतः उत्पत्तिके पहलेका कार्य कारणरूप ही रहता है । उत्पत्तिके पश्चात् भी कार्य कारणसे अभिन्न ही रहता है । इसीलिये श्रुतिने भी इदं पदार्थ कार्य-प्रपञ्चको उत्पत्तिके प्रथम सद्रूप ही बतलाया है — ‘सदेव सोम्य इदमग्र आसीत् । असद् वा इदमग्र आसीत् ॥’ यहाँ अव्याकृत या अव्यक्त ही असत्पदसे कहा गया है, कारण असत् किसी कालसे सम्बद्ध नहीं हो सकता । असत्का आसीत्के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि आमीत्से सत्ता बोधित होती है, तथा च सत्ता एवं असत्का परस्पर विरोध होनेसे असत्का आसीत्के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता । संसारमें घट, कुण्डल और दधि चाहनेवाले क्रमेण मृत्तिका, सुवर्ण तथा क्षीर ग्रहण करते हैं । दधि चाहनेवाला मिट्टी या घट चाहनेवाला क्षीर नहीं ढूँढ़ता । यह बात सत्कार्यवादमे ही बनती है । यदि उत्पत्तिके पहले कार्य अत्यन्त असत् हो तो असत् तो सर्वत्र ही अविशिष्ट-रूपसे है, फिर क्षीरसे दधि क्यों उत्पन्न होता है, मृत्तिकासे क्यों उत्पन्न नहीं होता ? यदि यह माना जाय कि क्षीरमें ही दधिकी कुछ विशेषता है, मृत्तिकामें ही कुछ घटकी विशेषता है, अन्यत्र नहीं है, अतः क्षीरसे दधि तथा मृत्तिकासे घट उत्पन्न होता है, तब तो उत्पत्तिसे पहले कार्यकी कोई विशेषता मान्य हो ही गयी, फिर असत्-कार्यवाद कहाँ रहा ?

कारणमें कार्यानुकूल शक्ति माननेपर भी यह विकल्प होगा कि वह शक्ति कारण एवं कार्यसे भिन्न है या अभिन्न ? भिन्न है, तो भी सती ही है या असती ? दानो ही पक्ष ठीक नहीं हैं; क्योंकि अन्य एवं असत् शश-शृङ्गादि अन्यके नियामक नहीं होते । कार्य-कारण दोनोंसे जैसे असम्बद्ध अन्य है, वैसे ही शक्ति भी । तथापि शशशृङ्गवत् असत् हो तब ऐसी शक्तिके आधारपर क्षीरसे ही दधि उत्पन्न हो, मृत्तिकादिसे घट उत्पन्न हो, यह नियम कैसे बनेगा ? अतः शक्तिको कारणकी आत्मभूता एव कार्यको शक्तिका आत्मभूत मानना चाहिये । इस तरह सत्कार्यवाद तथा कारण-कार्यका अभेद भी सिद्ध हो जाता है । कार्य-कारण एवं द्रव्य गुणादिका अश्व-महिषवत् भेदबुद्धि नहीं होती; अतः उनका अभेद मानना चाहिये । इसी प्रकार कार्य-कारणका समवाय सम्बन्ध माना जाय, तब भी प्रश्न होगा कि समवाय एवं समवायियोंका सम्बन्ध है या नहीं ? यदि सम्बन्ध मन्त्र है, तब तो अनवस्था प्रसङ्ग होगा । सम्बन्ध नहीं है, तो असम्बद्ध समवाय कर्त्तव्य कारणका नियामक हो कपे होगा ? यदि समवाय स्वयं सम्बन्धरूप होनेसे सम्बन्धान्तरको अपेक्षा न करे, वह स्वतः सम्बद्ध होकर नियामक होता है, तो समवायके सम्बन्धमें भी ऐसा ही क्यों न हो ? परंतु नैयायिक आदि संयोगको संयोगियोंमे सम्बद्ध करनेके लिये समवाय-सम्बन्ध मानते हैं । यदि संयोग कार्य है और कर्त्तव्य समवायिकारणजन्य होता है, अतः वहाँ समवाय आवश्यक है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि तब तो आत्मा, कालादि नित्य संयोगमे समवाय नहीं अपेक्षित

होना चाहिये । किं च सम्बन्धियोंके अधीन ही समवायका निरूपण होता है । फिर भी वह सम्बन्धियोंके भेदसे भिन्न नहीं होता । उनकी उत्पत्ति विनाशमें उत्पन्न तथा नष्ट नहीं होता, किंतु नित्य एव एक ही समवाय रहता है, वैसे ही संयोग भी क्यों न हो ? किं च कार्य द्रव्य अवयवी है, कारणरूप द्रव्यमें रहता है । यहाँ यह प्रश्न होता है कि सम्पूर्ण अवयवोंमें अवयवी रहता है, अथवा व्यस्त पृथक्-पृथक् अवयवोंमें ? यदि वही सम्पूर्णमें, तो अवयवी द्रव्यका प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि समस्त अवयवोंके साथ सनिकर्ष ही अवश्य है । समस्त आश्रयोंमें वर्तमान बहुत्व व्यस्त आश्रयोंके ग्रहणमें नहीं गृहीत होता । यह भी नहीं कहा जा सकता कि अवयवगः समस्त अवयवोंमें कार्य (अवयवी) रहता है । क्योंकि इस तरह तो आरम्भक अवयवोंसे भिन्न अवयवीके अवयव मानने पड़ेंगे जिनके द्वारा आरम्भक अवयवोंमें अवयवी रहता है । जैसे म्यानके अवयवोंसे भिन्न अपने अवयवोंद्वारा तलवार म्यानमें व्याप्त होती है ।

किंतु इस तरह अनवस्था-दोष होगा, क्योंकि उन अवयवोंमें भी रहनेके लिये कार्यके अन्य अवयव मानने पड़ेंगे । यदि प्रत्येक अवयवमें अवयवीको मानें तब तो एक अवयवमें जब अवयवी रहेगा, उस समय अन्य अवयवोंमें नहीं रहेगा । क्योंकि देखते ही हैं, जब देवदत्त काश्मीरमें रहता है, उसी समय काशीमें नहीं रहना । यदि एक कालमें अनेको स्थलोंमें अस्तित्व कहा जायगा तो अवश्य ही अवयवीका नानात्व हो जायगा । जैसे काशी, काश्मीरमें रहनेवाले चैत्र, मैत्र अनेक ही होते हैं । फिर भी कहा जाता है कि जेमे गात्व जाति प्रत्येक व्यक्तिमें होनेपर भी प्रत्येकमें गृहीत होती है, फिर भी एक ही है । उसी तरह अवयवी प्रत्येक अवयवमें रहते हुए उपलब्ध होगा और एक ही रहेगा, परंतु यह सब कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि प्रत्येक अवयवमें अवयवी पूर्णरूपसे उपलब्ध होगा तब तो गोके शृङ्गसे भी स्तनका कार्य एव पुच्छसे पृष्ठका कार्य होना चाहिये, किंतु ऐसा होता नहीं, अतः कारणसे अभिन्न ही कार्य है ।

यदि कार्य उत्पत्तिके पहले अमत् है, तब तो वह उत्पत्ति क्रियाका कर्ता भी नहीं बनेगा । उत्पत्ति भी एक क्रिया है । क्रिया कभी अकर्तृका नहीं होती । घटकी उत्पत्तिकी कर्ता घट ही होता है । 'घट उत्पद्यते' घट उत्पन्न होता है, ऐसा ही व्यवहार सर्वसम्मत है । यदि घटोत्पत्तिके कर्ता कुलालादि हों, तब तो 'कुलालादय उत्पद्यन्ते' कुलालादि उत्पन्न हो रहे हैं, ऐसा व्यवहार होना चाहिये । स्पष्टरूपसे कुलालादिकी उत्पद्यमानता नहीं प्रतीत होती । घटकी उत्पद्यमानता प्रतीत होती है । कुछ लोग कहते हैं स्वकारण एवं सत्ताके साथ सम्बन्ध ही कार्यकी उत्पत्ति है, परंतु यदि कार्य स्वयं अमत् है, निरात्मक है तब उसका किसीके साथ सम्बन्ध

भी क्या होगा ? क्योंकि दो सत्का ही सम्बन्ध होता है, सत् तथा असत्का एवं दो असत्का भी सम्बन्ध नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त अभाव या असत् निरुपस्थित असत् ही होता है तब उत्पत्तिके प्रथम कार्य असत् था—यह मर्यादा-करण भी नहीं बन सकता । यह व्यवहार नहीं होता कि अमुक राजाके पहले बन्ध्यापुत्र राजा था । यदि कारकव्यापारसे बन्ध्यापुत्र, खपुष्प भी उत्पन्न हो सके तभी यह कहा जा सकता है कि उत्पत्तिके पहले असत् कार्य कारकव्यापारसे उत्पन्न हुआ है ।

कहा जा सकता है कि जैसे प्रथमसे ही सिद्ध होनेसे कारणकी स्वरूप सिद्धिके लिये कोई व्यापृत्त नहीं होता तो उभी तरह यदि कारकव्यापारके पहले भी कार्य स्वरूप सिद्ध ही हो तो उसके लिये कौन व्यापृत्त होगा ? कारणसे यदि कार्य अनन्त ही है, तब कारणके समान ही कार्यके लिये भी कारकव्यापार नहीं होना चाहिये । परंतु व्यापार देखा जाता है, अतः कारकव्यापारकी सार्थकताके लिये उत्पत्तिके पहले कार्यका अभाव मानना उचित ही है । किंतु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कारणको कार्याकारसे व्यवस्थापन करनेके लिये ही कारकव्यापार अपेक्षित होता है । वह कार्याकार कारणका आत्म-भूत ही है; विशेष दर्शनमात्रसे वस्तुभेद नहीं होता । देवदत्त हाथ-पांव फैलाने या संकुचित करनेमें भिन्न नहीं हो जाता है; क्योंकि 'स एवायम्' वही यह है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा (पहचान) होनी है । प्रतिदिन ही पिता, माता, भ्राता आदिमें हास-विकास आदि होते रहते हैं । फिर भी वस्तुभेद नहीं प्रतीत होता; क्योंकि पिता-माता, भ्राताकी एक रूपसे प्रत्यभिज्ञा होती रहती है । यदि कहा जाय कि वहाँ जन्मका व्यवधान न होनेसे ही अभेद प्रतीत होना ठीक है परंतु कार्य-कारणमें ऐसा नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि यहाँ तो कारण बीज, मृत्पिण्डादिका नाश एवं अङ्कुर, घटादिकी उत्पत्ति होती है, अतः प्रत्यभिज्ञा नहीं होती । किंतु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ भी कारण नाश आदि नहीं अनुभूत होता । क्षीरादिका दधि आदि रूपसे संस्थान प्रत्यक्ष दिखायी देता है । वट-बीजादिसे समान जातीय अवयवोंके उपचयद्वारा अङ्कुर वृक्षादिकी उत्पत्ति एवं अवयवोंके अपचयसे विनाशका व्यवहार होता है । वस्तुतः कारणका विनाश और कार्यकी उत्पत्ति यहाँ भी नहीं है । जैसे मृत्पिण्डके अवयव घटमें अन्वित हैं, वैसे ही वटबीजके अवयव वटबीज भी अन्वित हैं । इस तरहके अवयवोपचय तथा अवयवोपचयसे यदि वस्तुमें भिन्नता हो और इसीसे सत्की उत्पत्ति तथा सत्का विनाश हो तो गर्भस्थ तथा पर्याप्त स्थिति में शिशुमें भी भेद कहना पड़ेगा, और बाल्य-यौवनादि शरीरमें भी भेद कहना पड़ेगा; क्योंकि अवयवोंका उपचय-अपचय वहाँ भी देखा ही जाता है । फिर तो पित्रादि व्यवहार भी बाधित होगा । इस तरह सत्कार्य-

वादमें तो कारणको कार्याकाररूपसे व्यवस्थापन करनेमें कारकव्यापार सार्थक है, परंतु अमत्-कार्यवादमें तो कारकव्यापार सर्वथा निर्विषय हो जायेंगे। जैसे आकाशके हननके लिये खड्ग आदिका प्रयोग व्यर्थ है, वैसे ही कार्याभाव या असत्में भी कारकव्यापार व्यर्थ होंगे। कहा जाता है कि समवायी कारणमें अर्थात् तन्तु-मृत्तिका आदिमें कारकव्यापार होगा, परंतु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि अन्यविषयक व्यापारसे अन्यकी निष्पत्ति असम्भव है। अन्यता यदि समान ही है तो फिर सिकता-विषयक व्यापारसे भी पट क्यों नहीं उत्पन्न होता? जो कहते हैं कि समवायी कारणका ही आत्मातिशय कार्य है, उन्हें तो सत्कार्यवाद मानना ही पड़ेगा। अतः क्षीर आदि द्रव्य ही द्रव्याद्याकारसे अवस्थित होकर कार्य—द्रव्यके रूपमें व्यवहृत होते हैं; वेदान्तमतानुसार तो मूल कारण परब्रह्म ही घटादि अन्तिमकार्य पर्यन्त उस-उस कार्यके आकारसे नटवत् सर्वव्यवहारका आस्पद होकर प्रतीत होता है। जैसे लपेटा हुआ वस्त्र स्पष्ट नहीं दीखता, फैला हुआ स्पष्ट दीखता है, उभी तरह कारणावस्थित कार्य स्पष्ट नहीं उपलब्ध होता, कार्यावस्थित होकर स्पष्ट दीखता है।

यह भी गड़्हा होती है कि लोकमें कुलाल घट आदि कार्योंके लिये मृत्तिका दण्ड-चक्रादिका संग्रह करते हैं परंतु ब्रह्म बिना सामग्री-संग्रहके किस तरह विश्व-निर्माण कर सकेगा? परंतु जैसे क्षीर स्वभावसे दधिनिर्माणधम होता है, जल हिमरूपसे परिणत हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म भी प्रपञ्चात्मना व्यक्त हो जाता है। यद्यपि औष्ण्य, शैत्य आदिकी अपेक्षा करके ही क्षीर, नीर आदि दधि, हिम आदि रूपमें परिणत होते हैं, तथापि इन साधनोसे केवल शीघ्रता-सम्पादन की जाती है। यदि स्वयं दधि आदि बननेकी शक्ति न होती तो बाह्य साधनोसे भी क्षीर आदि दधि आदि नहीं बन सकते। इमीलिये वायु, आकाश आदिसे दधि नहीं बनता; क्योंकि उनमें दधि बननेका स्वभाव नहीं है।

जैसे ऋषि, मुनि, देवादि बाह्य साधनोके बिना ही विविध शरीरो एव प्रासाद आदिका निर्माण कर सकते हैं, तन्तुनाभ (मकड़ी) बिना बाह्य साधनके तन्तु-निर्माण करती है, बलाका (बगुली) बिना शुक्रके ही घन-गर्जन-श्रवणसे गर्भ धारण करती है, कमलिनी बिना किसी गमन-साधनके ही दूसरे सरोवरमें पहुँच जाती है, उसी तरह बाह्य साधन बिना चेतनब्रह्म भी विश्वकी रचना करता है। यद्यपि कहा जा सकता है कि देवादिका अचेतन शरीर ही अन्य शरीरका कारण है। यहाँ अचेतन ही कारण है, मकड़ीका मुखलालादि ही कठोर होकर तन्तु बन जाता है, बलाका भी गर्जन-श्रवणसे गर्भ धारण करती है, यहाँ भी बाह्य निमित्त है ही। इसी तरह पद्मिनी चेतनप्रयुक्त अचेतन शरीरसे ही दूसरे सरोवरमें जाती है, जैसे लता वृक्षपर आरुढ़ होती है, तथापि कुलालादिसे विलक्षणता तो इन कारणोंमें स्पष्ट ही है।

वस्तुतः लक्षण एव प्रमाणसे ही वस्तुकी सिद्धि होती है। जो-जो पदार्थ प्रमाण-सिद्ध होते हैं, उन्हींका अस्तित्व माना जाता है। विज्ञान आदिचे प्रयोग-

द्वारा भी ज्ञान ही सम्पादन किया जाता है। विश्व, राष्ट्र या देहादि प्रपञ्च तथा भूत-प्रकृति आदि भी प्रतीत होते हैं, प्रमाण-सिद्ध हैं, तभी उनका अस्तित्व माना जाता है। तथाच जैसे नील, पीत, हरितरूपका प्रकाशक प्रकाशरूपसे प्राक् सिद्ध है, वैसे ही भूतादिप्रपञ्च, प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमाता—इन सबका भी भागक अखण्ड बोधरूप साक्षी उन सबसे प्रथम सिद्ध है। जड़भूतकी सिद्धि तो चेतन साक्षीके परतन्त्र है, परंतु प्रमाण, प्रमाता या साक्षीको उनकी सिद्धिके लिये किसी जड़की अपेक्षा नहीं होती। जैसे घटादिके प्रकाशके लिये भले ही सूर्यकी अपेक्षा हो, परंतु सूर्यके प्रकाशके लिये घटादिकी अपेक्षा नहीं, उसी तरह भूत आदि सिद्धिके लिये प्रमाण, साक्षी आदिकी अपेक्षा है; परंतु प्रमाण आदिकी सिद्धिके लिये जड़भूतादिकी अपेक्षा नहीं।

ससारमें प्रकाशके सम्पर्कसे या प्रकाशरूप होनेसे 'प्रकाशित होता है,' ऐसा व्यवहार होता है। प्रकाशः प्रकाशते, घटः प्रकाशते—ये ही दोनोंके उदाहरण हैं। इसी तरह स्वप्रकाश चेतनमें सूर्यादिके समान प्रकाश स्वरूप होनेसे 'प्रकाशते'का व्यवहार होता है। 'प्रपञ्चः प्रकाशते'में 'घटः प्रकाशते'के समान चेतन सम्पर्कसे 'प्रकाशते'का व्यवहार होता है। इस तरह परतन्त्र एवं अस्वतःसिद्ध जड़भूतसे चेतनकी उत्पत्ति माननेकी अपेक्षा स्वतन्त्र स्वतः सिद्धचेतनसे जड़भूतकी सिद्धि वहीं श्रेष्ठ तथा बुद्धिगम्य है।

भौतिकवादी तथा प्रकृतिवादियोंका कहना है कि 'अचेतन प्रपञ्चका अचेतन प्रकृति या भूतादि ही कारण हैं, चेतन ब्रह्म या ईश्वर कारण नहीं हो सकता। जैसे घट आदि कार्योंमें मृत्तिका अन्वित होती है, वैसे ही प्रपञ्चमें जड़ता या सुख, दुःख, मोहकी अन्विति प्रतीति होती है।' परंतु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यदि दृष्टान्तबलसे ही यह सिद्ध करना है, तब तो यह भी कहा जा सकता है कि संसारमें कहीं भी चेतनसे अधिष्ठित हुए बिना स्वतन्त्ररूपसे अचेतन कोई पुरुषार्थ सम्पादन नहीं कर सकता। प्रज्ञावान् शिल्पीलोग ही गृह, प्रासाद, वायुयान आदिका निर्माण करते हुए देखे जाते हैं। उसी तरह कहा जा सकता है कि नानाकर्म-फलोपभोग योग्य बाह्य आध्यात्मिक विविध वैचित्र्ययुक्त संसार बड़े-बड़े शिल्पी जिसे मनसे भी कल्पना नहीं कर सकते, उसे अचेतन प्रकृति या भूत किस तरह रच सकते हैं? जड़ लोष्ट-पापाण-जैसे स्वतन्त्ररूपसे कुछ नहीं कर सकते, वैसे ही प्रकृति भूतादि भी स्वतन्त्ररूपसे विश्व-निर्माणमें अगम्य हैं। कुम्भकारादिसे अधिष्ठित ही मृत्तिकादिसे घटादि बनते हैं, उसी तरह भूत या प्रकृति भी चेतनसे अधिष्ठित होकर ही कोई कार्य कर सकते हैं। फिर यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि जड़ घटका कारण जड़ मृत्तिका है। अतः जड़ विश्वका भी जड़ ही कारण होना चाहिये। क्योंकि उसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि 'चेतन कुलाल जैसे मृत्तिमसे घट बनाता है, वैसे ही चेतन ब्रह्म ही जड़ प्रकृति, परमाणु आदिसे जगत् बनाता है।'।

सुख, दुःख आदि आन्तर हैं, बाह्य शब्दादि उनके निमित्त हो सकते हैं, परन्तु सुखादिरूप नहीं हो सकते। विशिष्टकार्य किसी प्रेश्वान् द्वारा ही निर्मित देखा जाता है, अतः अवश्य ही प्रसन्न भी वैसे ही होना चाहिये। प्रकृति की साम्प्रदायिकतासे प्रच्युति भी विना चेतनके होना असम्भव है। यह भी कहा जा सकता है कि केवल चेतनकी भी प्रवृत्ति नहीं दृष्ट है, परन्तु चेतनयुक्त रथादि अचेतनकी प्रवृत्ति तो देखी ही गयी है। अचेतनयुक्त चेतनकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। अतः विचारणीय विषय यह है कि जिसमें प्रवृत्ति दृष्ट है, उसकी प्रवृत्ति मानी जाय या जिसके सम्बन्धमें प्रवृत्ति हो रही है, उसकी प्रवृत्ति मानी जाय? यदि कहा जाय कि जिसमें प्रवृत्ति दृष्ट है, उसीकी मानी जाय, क्योंकि दोनों ही प्रत्यक्ष हैं, जैसे रथादि प्रवृत्तिके आश्रयरूपसे प्रत्यक्ष हैं, वैसे ही केवल चेतन प्रवृत्तिके आश्रयरूपमें प्रत्यक्ष नहीं है। किन्तु प्रवृत्तिके आश्रयभूत देहादि संयुक्त ही चेतनके सद्भावकी सिद्धि होती है; क्योंकि केवल अचेतन रथादिकी अपेक्षा जीवित देहमें विलक्षणता दृष्ट है, परन्तु सद्भावमात्रसे प्रवृत्तिके प्रति चेतनकी हेतुता नहीं सिद्ध होती, जैसे सद्भावमात्रसे घटादिके प्रति आकाशकी निमित्तता नहीं सिद्ध होती। अतः प्रवृत्तिमें चेतन हेतु नहीं है। इसीलिये प्रत्यक्ष देहके रहनेपर ही प्रवृत्ति एव चैतन्यका उपलम्भ होता है। देह न रहनेपर चैतन्यका भी उपलम्भ नहीं होता। अतः देहका ही धर्म प्रवृत्ति एवं चैतन्य है, यह चार्वाक कहते हैं। इस दृष्टिसे अचेतनकी ही प्रवृत्ति सिद्ध होती है।

इसपर अव्यात्मवादीका कहना है कि भले ही जिस देहमें प्रवृत्ति दिखायी देती है, उसीकी प्रवृत्ति मानी जाय, परन्तु वह चेतनमें ही होती है; क्योंकि चेतनके रहनेपर ही प्रवृत्ति होती है, चेतन न रहनेसे प्रवृत्ति नहीं होती। यद्यपि काष्ठादिके आश्रय ही दहन, प्रकाशन आदिरूप क्रियाएँ देखी जाती हैं, केवल अग्निमें दहन, प्रकाशनादि नहीं उपलब्ध होते। चन्द्र, सूर्य, विद्युत्—सभी प्रकाश जलीय एव पार्थिव-काष्ठ, लोहादिके ही आश्रित हैं, तथापि अग्निसे ही दाह-प्रकाश आदि होते हैं। क्योंकि अग्निसंयोग होनेसे ही काष्ठादिमें दाहकत्वादि होते हैं, अग्निवियोग होनेपर काष्ठादिमें दाह-प्रकाशादि उपलब्ध नहीं होते। चार्वाक भी चेतन देहके सम्पर्कसे ही अचेतन रथ आदिकी प्रवृत्ति मानते हैं। अतः चेतनकी प्रवर्तकतामें विवाद नहीं है। कहा जा सकता है कि कर-चरणादियुक्त प्राणी अपने व्यापारसे ही अचेतनका प्रवर्तक होता है। इधर ब्रह्मरूप चेतन तो प्रवृत्तिशून्य, कूटस्थ, नित्य है, वह कैसे प्रवर्तक होगा? परन्तु इसका समाधान यह है कि जैसे अयस्कान्त मणि एव मुन्दररूप आदि स्वतः प्रवृत्तिरहित होनेपर ही लोह तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंके प्रवर्तक होते हैं। वैसे ही प्रवृत्तिरहित ब्रह्म भी अचेतनका प्रवर्तक होगा।

कुछ लोग कहते हैं कि जैसे अचेतन क्षीरकी वल्मवृद्धिके लिये स्वतः प्रवृत्ति होता है, उसी प्रकार अचेतन जलवायु आदिमें भी स्वतः लोकोपकारके

लिये प्रवृत्ति होती है ।' परतु यह भी ठीक नहीं । यदि उभयवादिसम्मत रथ आदिमें चेतनाधिष्ठित प्रवृत्ति दृष्ट है, तब तो उसी दृष्टान्तसे क्षीर-जल आदिकी प्रवृत्तिमें भी चेतनाधिष्ठित होनेका अनुमान किया जा सकता है—जलादीनां प्रवृत्ति-इचेतनाधीना अचेतनप्रवृत्तिवाद् रथादिप्रवृत्तिवत् । रथादिके समान अचेतनकी प्रवृत्ति होनेसे जलादिकी प्रवृत्ति चेतनाधीन है । क्षीरका प्रवर्तक तो चेतन धेनु ही है । 'योऽप्सु तिष्ठन्नद्वयोऽन्तरः' 'योऽपोऽन्तरः यमयति' (बृहदा० उप० ३ । ७ । ४) एतस्य... वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते' (बृ० उ० ३ । ८ । ९) यह श्रुति कहती है कि अन्तर्यामी चेतन जलके भीतर रहकर उसका नियमन करता है, उसीके शासनसे नदियाँ बहती हैं । वत्सके चोषणसे भी दुग्धकी प्रवृत्ति होती है, जलके प्रवाहणके लिये निम्नभूमि प्रदेश आवश्यक होता है, चेतनापेक्षा तो सर्वत्र है ही । आधुनिक महायन्त्रोंमें भी मूल-प्रवर्तक चेतन रहता ही है ।

कुछ लोग कहते हैं, तृण पल्लवादि दूसरे निमित्तोंकी अपेक्षा बिना ही स्वभावसे ही क्षीरादिके रूपमें परिणत होते हैं, उसी तरह प्रकृति या भूत भी स्वभावसे ही विविध प्रपञ्चाकारसे परिणत होता है । क्योंकि क्षीर आदि बननेमें दूसरा कोई निमित्त उपलब्ध नहीं होता । यदि कोई निमित्त होता तब तो उन-उन निमित्तोंको लेकर यथेष्ट क्षीर बनाया जा सकता था । परतु यह भी कथन ठीक नहीं है, तृणादिका क्षीर आदि परिणाम निष्कारण नहीं है ।' धेनुसे खाये हुए तृणादिसे ही क्षीर बनता है । यदि धेनु दुग्ध बननेका असाधारण निमित्त न होती तो धेनुसे अनुपभुक्त या वृषभ आदिसे उपभुक्त तृणसे भी क्षीर बनना चाहिये था । अतएव धेनु आदि निमित्तोंको लेकर दुग्ध यथेष्ट बनाया ही जा सकता है । धेनु एवं उसकी उदर-बहि आदि ही तृणादिको क्षीर बनाती हैं । अधिक दुग्ध चाहनेवाले धेनुको पर्याप्त दाना-घास देकर उसे प्राप्त करते हैं । संसारमें कई वस्तु मानुष-सम्पाद्य वस्तुएँ होती हैं और कई देवसम्पाद्य होती हैं । जो लोग प्रकृति-भूतों या परमाणुओंमें भी चेतन-शक्तिकी कल्पना करते हैं, वे तो फिर जड़वादी नहीं रह जाते । साथ ही अनेक चेतन परमाणुभूत या परमाणु विद्युत्को कारण माननेकी अपेक्षा लाभवार्थ एक व्यापक सर्वशक्ति चेतन ईश्वरको ही कारण मानना कहीं श्रेष्ठ है । जड़ परमाणुओंसे संयुक्त होकर कार्यारम्भके लिये कर्म अपेक्षित होगा । देखा जाता है कि तन्तुओंमें कर्म (हलचल) होता है । तभी संयोग आदिद्वारा पटादिकी उत्पत्ति होती है । कर्म भी कार्य है, अतः उसका भी कोई निमित्त चाहिये । यदि कोई निमित्त न होगा, तो परमाणुमें आद्यकर्म ही नहीं होगा । यदि लोकानुसार प्रयत्न या अभिघातादि परमाणु कर्मका निमित्तमान्य है, तब तो तदर्थ चेतन ईश्वर मानना ही युक्त है ।

कहा जाता है कि 'ज्ञानस्वरूप ब्रह्मसे प्रपञ्चकी उत्पत्ति इसीलिये नहीं हो सकती कि प्रपञ्च ब्रह्मसे विलक्षण है । सुवर्णसे उत्पन्न मुकुट-कुण्डलादिमें, मृत्तिका-

मार्क्स-दर्शन

से उत्पन्न घटादिमे समानता होती है। मृत्तिकासे मुकुट-कुण्डलादि नहीं बनते। जगत् अचेतन है, अतः इसका कारण भी अचेतन होना ठीक है। इस तरह ज्ञानसे विलक्षण होनेसे प्रपञ्च ज्ञानका कार्य नहीं। प्रीति, परिताप, विषादका हेतुभूत प्रपञ्च चेतनका कार्य नहीं हो सकता, किंतु प्रकृतिका ही कार्य होना चाहिये। विपरीत दृष्टान्त भी मिलते ही हैं। लोकमें चेतनत्वेन प्रसिद्ध पुरुष, पशु आदिसे विलक्षण केश, नख आदिकी उत्पत्ति होती है। तथा अचेतनत्वेन प्रसिद्ध गोमय, केश, काष्ठ आदिसे वृश्चिक, यूका, दीमकादिकी उत्पत्ति होती है। इसपर भी कहा जा सकता है कि वस्तुतः अचेतन गरीरोसे ही अचेतन केश आदिकी उत्पत्ति होती है। इसी तरह गोमयादिसे वृश्चिकादिके अचेतन शरीरकी उत्पत्ति होती है। तो भी उक्त दृष्टान्तोसे कारण-कार्योंकी विलक्षणता तो सिद्ध ही हो जाती है। गोमयकी अपेक्षा वृश्चिक शरीरमें गरीरकी अपेक्षा केश आदिकी विलक्षणता भोगा-यतन और भोगानायतनरूपसे स्पष्ट ही है। कारण-कार्यमें अति समानता होनेसे तो कार्य-कारणभाव ही नहीं होता। कुछ समानता तो इधर भी है ही। ब्रह्मगत सत्ता स्फूर्ति जगत्में भी अनुगत है ही।

मार्क्सवादी तो स्वयं ही अचेतनभूतसे चेतनाकी उत्पत्ति मानते हैं। वे भी गोमयादिसे वृश्चिकादिकी उत्पत्तिका दृष्टान्त उपस्थापित करते हैं। इस दृष्टिसे भी चेतन ब्रह्मसे तद्विलक्षण अचेतन प्रपञ्चकी उत्पत्तिमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किंच जैसे पृथ्वीत्व जातियुक्त पाषाणोंमें ही हीरक, पद्मराग आदि बहुमूल्य रत्न होते हैं, कोई मध्य वीर्यके सूर्यकान्त आदि मणि होते हैं, कोई कुत्ता, बगुला, कौवाके हटानेके लायक सामान्य पाषाण होते हैं, बीजोंसे ही बहुविधपत्ते, पुष्प, फल, गन्ध, रसादि विचित्र वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, वैसे सभी बीज पार्थिव ही हैं। फिर पृथक् बीजोंसे पृथक् ढंगके पत्र, पुष्प, फल, रसादि उत्पन्न होते हैं। एक ही अन्नरसके लोहितादि, रस, केश, नख आदि विचित्र कार्य होते हैं। उसी तरह एक ही ब्रह्मसे विविधवैचित्र्योपेत प्रपञ्चका निर्माण होता है।

बौद्धलोग सम्पूर्ण प्रपञ्चको उत्पत्तिके पहले असत् कहते हैं, अर्थात् सत्के अभावको ही विश्वका मूल कारण कहते हैं। इस कथनमें यह असंगति है कि असत् है, या असत् था। इस प्रकार असत् या अभावके साथ अस्तित्वका सम्बन्ध कैसे होगा? क्योंकि सत्के साथ ही सत्का सम्बन्ध हो सकता है। सपुष्पके तुल्य असत् या अभावके साथ सत्ताका सम्बन्ध सम्भव नहीं। इसी तरह प्रमाण या प्रमाता होनेपर ही भाव या अभावका बोध हो सकता है। यदि प्रमाता एव प्रमाणका अस्तित्व था, तब तो असत् या अभाव कैसे कहा जा सकेगा? क्योंकि प्रमाता और प्रमाण-का ही अस्तित्व था। यदि प्रमाता-प्रमाण नहीं थे, तब तो फिर अभाव या असत्का

प्रबोध भी कैसे हो सकता था ? बीजके उपमर्दन होनेसे अङ्कुरकी उत्पत्ति होती है, यह देखकर बौद्धलोग अभावसे ही अङ्कुरादि कार्योंकी उत्पत्ति कहते हैं। परन्तु यदि ऐसी बात होती, तब तो बीजके दाहसे भी अङ्कुरकी उत्पत्ति होनी चाहिये, क्योंकि बीज दाहमें भी तो बीजका उपमर्दन या अभाव हुआ ही। अतः बीजके अवयव ही अङ्कुरके कारण हैं। बीज अङ्कुरोत्पत्तिके पूर्वकी अवस्था है। जैसे घटोत्पत्तिके पहले मृत्तिकाकी पिण्डावस्था होती है। पिण्डमें, घटमें, कपालमें जो व्यापक है, वह मृत्तिका ही सबका कारण है। पिण्डादि सब मृत्तिकाके कार्य ही है। उसी तरह बीजावयव ही बीज एवं अङ्कुरादिमें व्यापक होनेसे वही कारण है। पिण्ड या बीज, घट-अङ्कुरादिमें व्यापक नहीं हैं, अतः वे कारण नहीं हैं। एक कारणमें युगपत् विरुद्ध अनेक कार्य नहीं हो सकते, अतः एक कारणसे होनेवाले कार्योंमें क्रमभाविता है। पिण्ड, घट, कपाल, बीज, अङ्कुर, नाल, स्कन्ध, शाखोपशाखादि कार्य क्रमसे ही होते हैं।

जो कहते हैं कि पिण्ड, कपालादि कार्योंसे भिन्न होकर कारण मृत्तिका कुछ भी नहीं है, उन्हें अन्वय व्यतिरेकादि प्रमाणोंपर अवश्य ध्यान देना चाहिये। जैसे पुष्पोंके परस्पर व्यावृत्त होनेपर भी उनमें अनुवृत्त सूत्र उनसे भिन्न होता है, वैसे ही पिण्ड, घट, कपालादिके परस्पर व्यावृत्त होनेपर भी सबमें अनुवृत्त मृत्तिका स्पष्ट ही उन कार्योंसे पृथक् है। अतः इस कारणको असत् नहीं कहा जा सकता। इसी तरह उत्पत्तिके पहले कार्य भी सत् ही रहत है। जैसे अविज्ञात ही घट विज्ञात होता है, वही ज्ञायमान होता है और वही विस्मृत होता है और फिर उसीका स्मरण भी होता है। इसी तरह सामग्रीके अभावसे या कुड्यादि दीवाल आदि आवरणसे वर्तमान रहता हुआ भी घट प्रतीत नहीं होता है। पिण्डमें घट रहता हुआ भी आवृत्त होनेसे उपलब्ध नहीं होता। जैसे एक ही आकाशमें चान्द्र प्रकाश सौर्य प्रकाशसे आवृत्त होता है, एक ही घटमें नीर क्षीरसे आवृत्त होता है, वैसे ही एक देशस्थ ही घट पिण्डसे आवृत्त रहता है। एक ही मिट्टीमें पिण्ड आदि सहस्रों कार्य हैं, जिसकी अभिव्यक्तिकी सामग्री उपस्थित होती है, वही अभिव्यक्त होता है, अन्य आवृत्त रहते हैं। इस तरह पिण्डसे घट, घटसे कपाल, कपालसे घट आदि आवृत्त होते हैं।

लोकमें अनेक ढंगसे अभिव्यक्ति होती है, दीपसे रूपकी अभिव्यक्ति होती है। दण्ड, चक्र, कुलालादिसे घट अभिव्यक्त होता है। जैसे दीपसे आवरणनाशके अतिरिक्त घट सप्रकाश बनाया जाता है, वैसे ही कुलालादि-द्वारा आवरणभङ्गके साथ घटाभिव्यक्ति हो जाती है। इसीलिये शिलाघातसे पिण्ड-भङ्ग होनेपर भी कुलालादि बिना घटकी अभिव्यक्ति नहीं होती।

जैसे अज्ञानताकी निवृत्तिके लिये प्रमातलोग प्रमाणका उपादान करते हैं, प्रमाणके सम्बन्धसे प्रमेयकी अज्ञातता नष्ट होती है, प्रमातामे प्रमाणकी अभिव्यक्ति होती है। निष्पन्न प्रमाण प्रमेयमे मग्न होकर उसी तरह प्रमेयाकार हो जाता है, जैसे कुल्या (नहर) का जल नालियोद्वारा क्षेत्रमे जाकर क्षेत्राकार हो जाता है, प्रमाणके प्रमेयाकार होनेसे अज्ञानताके नष्ट होनेसे प्रमेयकी अभिव्यक्ति होती है। इसी तरह दीपप्रकाशसे घट सप्रकाश होता है। वही घटनिष्ठ प्रकाश घटनिष्ठ तमका अपनोदन करता है। इसी तरह मृत्तिकामें स्थित घटाकार दण्ड-चक्रादिसे स्फुट होता है। शिलादिसे पिण्डभङ्ग होनेपर दूसरे चूर्णादि कार्य सम्पन्न हो जाते हैं, वे भी घटके आवरण ही हैं, अतः घटकी अभिव्यक्ति नहीं होती। इसीलिये भिन्न-भिन्न घटादि कार्योंकी अभिव्यक्तिके साधन नियत हैं। प्रागभाव, प्रवसाभाव आदि भी अन्योन्याभावके तुल्य ही भावरूप हैं। जैसे घटान्योन्याभाव घटरूप ही है वैसे ही प्रागभाव पिण्डरूप है। प्रवसाभाव कपालादिरूप है। भावान्तर ही किसी दृष्टिसे अभाव कहा जाता है—‘भावान्तर-मभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया।’

जो प्रागभाव, प्रवसाभावको शून्य ही कहता है, उससे यह भी प्रश्न होगा कि उन दोनोंमें भेद है या नहीं? यदि कहा जाय कि भेद नहीं है, तो भेद-व्यवहार क्यों है? अगर भेद है तो उन दोनोंका भेदक क्या है? अगर विलक्षण स्वरूपको ही भेदक कहे तो भी ठीक नहीं, क्योंकि शून्यमात्रमें विलक्षणस्वरूपता क्या हो सकती है? विलक्षणग्वरूपता हो तो शून्यता भी कैसी होगी? शून्यके साथ उपाधि सम्बन्ध भी नहीं बन सकता, अतः औपाधिक भेद भी नहीं कहा जा सकता। ‘घट-प्रागभावकी पिण्ड ही उपाधि है’ ऐसा कहें, तो उसमें प्रमाण बनलाना पड़ेगा। यदि प्रत्यक्ष-प्रमाण कहें, तो भी ठीक नहीं, कारणरूप तथा स्पर्शहीन प्रागभावके साथ चक्षु आदिका सम्बन्ध सम्भव नहीं है। अतः प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। यदि पिण्डके दर्शनसे ही प्रागभावका दर्शन मानें, तब तो प्रागभावके भावरूप माननेसे ही सब काम चल ही सकता है। ‘स्वरूपपररूपाभ्यां नित्य सदसद्रात्मकम्’ इस दृष्टिसे अभाव या अमत्से जगत् या कार्यकी उत्पत्ति अमग्नत है, किंतु स्वप्रकाश चेतन ब्रह्मसे ही पूर्वोक्त युक्तियोमे जगत्की उत्पत्ति सद्गत है।

इसी तरह अचेतन अदृष्ट आदि भी चेतनके बिना कर्मके कारण नहीं हो सकते। परमाणु यदि सावयव हैं, तब तो वे भी कार्य एवं अनित्य ही होंगे। उनकी उत्पत्तिमें कारणान्तर हूँदना पड़ेगा। यदि निरवयव हैं, तब तो उनका दूसरे परमाणुओंसे सयोग होनेपर परिमाणवृद्धि न होगी, क्योंकि एक देशसे सयोग होनेपर तो सयोगसे अव्याप्त देशोद्वारा प्रश्रिमा (विस्तार) हो सकता है। परंतु इस दशामें सावयवत्व, अनित्यत्वादि दोष होते हैं। निरवयवका तो सम्पूर्णरूपसे ही

अव्यवधानेन संयोग मानना होगा तथा च एक दूसरेहीमें समा जायेंगे, वृद्धि की कोई आशा नहीं होती। इसके अतिरिक्त ससारमें प्रदेशवाले पदार्थोंका ही संयोग होता है, फिर निष्प्रदेश, निरवयव परमाणुओंका संयोग भी कैसे होगा ? इसी तरह परमाणुओंको प्रवृत्तिस्वभाव, निवृत्तिस्वभाव, उभयस्वभाव या अनुभयस्वभाव मानना पड़ेगा, परंतु इनमें कोई पक्ष ठीक नहीं है। प्रवृत्तिस्वभाव है, तब तो नित्य ही प्रवृत्ति होनेसे वस्तुनाशरूप प्रलय नहीं होगा। निवृत्तिस्वभाव होनेसे कभी सृष्टि न होगी। विरोधात् उभयस्वभाव भी नहीं कहा जा सकता। अनुभयस्वभाव कहेगे तब तो दूसरे किसी निमित्तसे उनकी प्रवृत्ति माननी पड़ेगी, फिर वहीं सर्वज्ञ चेतन अपेक्षित होगा।

इसके अतिरिक्त लोकमें रूपादिमान् वस्तु अपने कारणकी अपेक्षा स्थूल एवं अनित्य होती है। जैसे पट तन्तुओंकी अपेक्षा स्थूल एवं अनित्य होते हैं। अंशुओंकी अपेक्षा तन्तु स्थूल तथा अनित्य होते हैं। परमाणु भी यदि रूपादिमान् हैं, तो उनका भी कारण होना चाहिये और उसकी अपेक्षा उनमें स्थूलता एवं अनित्यता भी होनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि गन्ध, रस, रूप, स्पर्श गुण-संयुक्त पृथ्वी स्थूल है। तदपेक्षया रूप, रस, स्पर्श गुणसंयुक्त जल सूक्ष्म है। इसीप्रकार रूप, स्पर्श गुणवाला तेज एव स्पर्श गुणवाला वायु और भी सूक्ष्म है। तद्वत् पृथिव्यादि परमाणुओंमें सूक्ष्मता, स्थूलताका तारतम्य होना चाहिये। यदि गुणोंकी अधिकतासे पृथ्वी, जल परमाणुमें मूर्तिवृद्धि होगी, तब फिर वे परमाणु ही क्या रहेंगे ? जब कार्योंमें गुणोंके उपचयसे मूर्तिवृद्धि होती है तो परमाणुमें भी गुणोपचयसे मूर्तिवृद्धि क्यों न होगी ? यदि परमाणुओंमें गन्धादिगुण न मानें तो उनके कार्योंमें ही गन्धादि कहाँसे आयेगे ? क्योंकि कारण गुण ही कार्यगुणोंके आरम्भक माने जाते हैं। यदि सबसे एक ही गुण माने जायें, तब तो पृथ्वीमें रस, जलमें रूप, तेजमें स्पर्श नहीं उपलब्ध होने चाहिये। यदि समताके लिये सभीको गन्धादि चारों गुणोंसे युक्त मानेंगे, तब तो जलमें भी गन्ध एवं तेजमें भी गन्ध, रस उपलब्ध होने चाहिये। वायुमें भी रस-गन्धका उपलम्भ होना चाहिये, परंतु ऐसा होता नहीं। द्रव्य एवं गुण यदि अत्यन्त भिन्न हों, तो जैसे पुष्प-पलाशादि भिन्न हैं, स्वतन्त्र हैं, वैसे ही गुण भी द्रव्यसे पृथक् स्वतन्त्र होने चाहिये। परंतु यहाँ तो गुण द्रव्य-परतन्त्र ही होता है। द्रव्यके साथ-साथ सहभाव होनेसे द्रव्यमात्र ही गुण है, यही मानना ठीक है। धूम, अग्निके समान-द्रव्य-गुणमें भेद नहीं प्रतीत होता—इसी प्रकार कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय भी द्रव्य ही है।

जैसे एक ही देवदत्त विभिन्न स्मन्धिरूपोंकी अपेक्षासे मनुष्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, बाल, युवा, वृद्ध, पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता या जामाता आदि रूपसे कहा

जाता है, जैसे एक ही अङ्क स्थानविशेषके योगसे दस शत, सहस्र आदि शब्दोंसे व्यवहृत होता है ।

विचार करनेपर कारणसे भिन्न होकर कुछ नहीं होता । मिट्टीसे भिन्न होकर घटादि पदार्थ उपलब्ध नहीं होते । जन्मके पहले प्रध्वंसके पश्चात् कार्यकी उपलब्धि नहीं होती, अन्तःकरणसे भिन्न उनकी सत्ता नहीं होती । सद्बुद्धि तथा असद्बुद्धि—दोनों ही सर्वत्र उपलब्ध होती हैं । जिम विषयकी बुद्धि कभी भी व्यभिचरित नहीं होती, वही सद्बुद्धि और जिस विषयकी बुद्धि व्यभिचरित होती है, वह असद्बुद्धि होती है । 'नीलम् उत्पलम्' के तुल्य 'सन् घटः, सन् पटः, सन् हस्ती', इमी तरह सन्-सन् सर्वत्र घटादिमें सद्बुद्धि बनी रहती है । घटादि बुद्धि व्यभिचरित होती है, अतएव घटादि बुद्धिके विषय घटादि असत् हैं, क्योंकि उसका व्यभिचार होता है । सद्बुद्धिका विषय सत् है, क्योंकि उसका व्यभिचार नहीं होता ।

कहा जा सकता है कि घट नष्ट होनेपर तो घटबुद्धि व्यभिचरित (बाधित) हो ही जाती है, परन्तु यह कहना ठीक नहीं, कारण पटादिमें सद्बुद्धि रहती ही है । 'सन् घटः' 'सन् पटः' इस रूपसे घट, पटविशेष्यरूपसे, सन् विशेषण रूपसे प्रतीत होता है । घटके नष्ट हो जानेपर विशेष्य न रहनेपर विशेषणबुद्धि नहीं होती । जैसे जो व्यक्ति न रहनेपर अभिव्यञ्जक न रहनेसे गोत्वकी प्रतीति नहीं होती, यह नहीं कि गोत्व नहीं रह गया । वैसे ही गोत्वके समान सत्के विद्यमान होते हुए भी अभिव्यञ्जकविशेष्य घटादि न रहनेपर सत् प्रतीत नहीं होता । इसीलिये यह भी नहीं कहा जा सकता कि जैसे घट नष्ट होनेपर पट आदिमें सद्बुद्धि बनी रहती है, वैसे ही घटबुद्धि भी घटान्तरमें बनी रहती है, क्योंकि भले घटान्तरमें घटबुद्धि बनी रहे, परन्तु फिर भी पटादिमें तो घटबुद्धिका व्यभिचार है ही, परन्तु सद्बुद्धिका तो कहीं भी व्यभिचार नहीं होता ।

कहा जा सकता है कि घट नष्ट हो जानेपर उसमें सद्बुद्धि भी नहीं रहती, परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि विशेष्य न रहनेसे सद्बुद्धि नहीं होती । सद्बुद्धि विशेषणविषया होती है, विशेष्य नहीं होनेसे विशेषणता नहीं बनती । फिर सद्बुद्धि कैसे हो सकती है ? यह नहीं कहा जा सकता कि सद्बुद्धिका विषय सत् रहा ही नहीं, इसलिये सद्बुद्धि नहीं रहती ।

यहां यह शङ्का होती है कि घटादि विशेष्य असत् हैं, तो उसके साथ सत्-का सामानाधिकरण्य नहीं होना चाहिये ? परन्तु इसका समाधान यह है कि जैसे रज्जु-सर्पके सम्बन्धमें सर्पके बाधित होनेपर भी इदमशके साथ 'अयं सर्पः' सामानाधिकरण्य-व्यवहार होता है । इसी तरह घटादिके असत् होनेपर भी 'घटः सन्, पटः सन्' इस रूपसे अबाधित सत्के साथ असद् घटादिका सामानाधिकरण्य व्यवहार बन जाता है ।

पूँजीका स्वरूप

कहा जाता है कि 'अर्थशास्त्रके क्षेत्रमें पूँजी स्वयं उदाहरण है । वह धनका एक निम्नतम परिमाण है, जिसके रहनेपर ही उसका स्वामी पूँजीपति कहला सकता है । मार्क्सने उद्योगकी किसी शाखाके एक श्रमिकका उदाहरण लिया है, जो आठ घंटेतक अपने लिये अर्थात् अपनी मजदूरीका अर्थ उत्पन्न करनेके लिये श्रम करता है और चार घंटे अतिरिक्त अर्थ पैदा करनेके लिये जो उसके मालिककी जेबमें जाता है । इस विशेष दृष्टान्तमें यदि पूँजीपति अपने अतिरिक्त अर्थके द्वारा मजदूर-श्रेणीका जीवन भी बिनाना चाहता है तो उसके पास इतना धन होना चाहिये कि वह दो मजदूरोंके लिये मजदूरी, कच्चा माल तथा उत्पादनके साधनोंका बंदोबस्त कर सके । लेकिन पूँजीपतिका उद्देश्य केवल जीना नहीं है, बल्कि अपनी सम्पत्तिकी वृद्धि करना है । इसलिये इस धनका मालिक अभी पूँजीपति नहीं है । अब यदि पूँजीपतिको मजदूरसे दुगुना अच्छा जीवन व्यतीत करना है और अतिरिक्त अर्थका आधा कारोबारमें फिर डालना है तो उसे आठ मजदूरोंको काममें लगाना चाहिये और पहले अर्थ-संग्रहका चौगुना कारोबारमें लगाना चाहिये । अब यह अर्थसंग्रह पूँजीका आकार ले लेता है । इस प्रकार अर्थ-संग्रहका परिमाण बढ़ते-बढ़ते एक सीमापर वह पूँजीके रूपमें परिणत हो जाता है ।'

परंतु यह कहना ठीक नहीं, कारण, मार्क्सका अतिरिक्त श्रम और अतिरिक्त मूल्यकी कल्पना ही निराधार है, इसका विवेचन पीछे हो चुका है । यह भी कहा जा चुका है कि व्यापार या उद्योगद्वारा धनार्जनका तरीका ही इस प्रकारका होता है जिसमें बुद्धिमानीसे एक मृतमृषिकाद्वारा भी कोटिपति बन जा सकता है । मार्क्सके मतानुसार उत्पादन-साधन ही पूँजी है, उसकी मात्रा अल्प हो या बड़ी । इसीलिये किसानोंके खेत भी उत्पादन-साधन हैं । इस दृष्टिसे किसान भी पूँजीपति रहते हैं ।

समाज-विज्ञानके क्षेत्रमें इस गुणात्मक परिवर्तनकी गवाहीके लिये एजिल्सने नेपोलियनको साक्षी माना है । वह कहता है कि 'फ्रांसीसी घुड़सवार, जो नियन्त्रित सिपाही थे, लेकिन कोई अच्छे घुड़सवार नहीं थे और मामेलुक जो बहुत अच्छे घुड़सवार थे लेकिन जिनमें नियन्त्रण नहीं था । उनकी लड़ाईके सिलसिलेमें दो मामेलुक आसानीसे तीन फ्रांसीसियोंका मुकाबला कर सकते थे । सौ मामेलुक सौ फ्रांसीसियोंके बराबर थे । लेकिन ३०० फ्रांसीसी साधारणतया ३०० मामेलुकोंको हरा देते थे । और १ हजार फ्रांसीसी १५ सौ मामेलुकोंको हरा देते थे । पहलेके उदाहरणकी तरह इससे यह स्पष्ट है कि नियन्त्रित सिपाहियोंके जत्थेके परिमाणके बढ़नेपर उसका किस प्रकार गुणात्मक परिवर्तन होता है और वह अपनेसे अधिक संख्याकी फौज हरा देता है ।'

परतु इससे भी यही मित्र होता है कि अनियन्त्रण, अनुगामनहीनता अल्प-संख्यकोंमें इतनी हानिकर नहीं होती जितनी कि बहुसंख्यकोंमें । उसी प्रकार नियन्त्रणका गुण अल्पसंख्यकोंमें भले कुछ प्रकट हो, किंतु बहुसंख्यकोंमें अधिकरूपसे फटदायी होता है । नियन्त्रित सञ्चित समुदाय शक्तिशाली होता है । तृणादिनिर्मित रज्जु ही इसका दृष्टान्त है । परिणामवादानुसारी सत्-कार्यवादमें कोई भी विद्यमान ही गुण किसी अवस्थाविशेषमें प्रकट होता है । सिकतामें तेल नहीं होता, अतः कभी नहीं व्यक्त होता । तिनमें तेल होता है, अतः वह कभी प्रकट होता है । वेदान्त-मतानुसार कारणकी अपेक्षा कार्यमें भिन्नता न होनेपर भी कुछ अनिर्वचनीय गुण भी मित्र होते हैं । जेमे मृत्तिमाद्वारा जलानयन नहीं होता, फिर भी मृत्तिकानिर्मित घटादिद्वारा जलानयन आदि कार्य होते हैं । तन्तुद्वारा अङ्गप्रावरण, शीतापनयन नहीं होता, फिर भी तन्तुनिर्मित पटद्वारा वह कार्य होता है । आकाशमें स्पर्श नहीं होता, फिर भी तन्निर्मित वायुमें स्पर्शगुण है, वायुमें रूप नहीं तथापि वायुपरिणामभूत नेत्रमें रूप गुण उपलब्ध होता है । इसी तरह एक-एक व्यक्ति या अल्प व्यक्तिमें जो गुण नहीं व्यक्त होते, अविक-संख्यक उन्हीं व्यक्तियोंमें वे गुण प्रकट होते हैं । इसी तरह एक या अन्य व्यक्तियोंमें अनियन्त्रणका जो दुष्परिणाम नहीं व्यक्त होता, बहुसंख्यकोंमें वह दुष्परिणाम स्पष्ट हो जाता है ।

प्रतिषेधका प्रतिषेध

इसी तरह प्रतिषेधके प्रतिषेधका उदाहरण मार्क्सवादी उपस्थित करते हैं कि 'यदि यवका एक दाना जमीनमें डाला जाय तो गर्मी और नमीके प्रभावसे इसमें एक विशेष परिवर्तन होता है । इसमेंसे पौधा उगने लगता है । उस दानेके अस्तित्वका अन्त हो जाता है । उसका प्रतिषेध हो जाता है । उसके स्थानपर जो पौधा उगता है, वह उस दानेका प्रतिषेध है । वह पौधा बरता है, उसमें फल आते हैं और फिर उसमें यवके दाने उत्पन्न होते हैं, लेकिन इन दानोंके पकनेके साथ ही उस पौधेका भी अन्त हो जाता है । अब प्रतिषेधका प्रतिषेध होकर नये यवके दाने हो गये । एक ही दाना नहीं, बल्कि मूल दानेका दस, बीस या तीस गुना ।'

इसी तरह पतंगोंके सम्बन्धमें उनका कहना है कि 'ये अडेने निकलते हैं । उसके प्रतिषेधके बाद ये पतंगे बढ़कर पूर्ण यौन विहासको प्राप्त होते हैं और यौन सम्बन्धमें अडे पैदा होकर मर जाते हैं । प्रतिषेधका प्रतिषेध करके फिर अडे पैदा हो गये, एक नहीं अनेक ।'

इस सम्बन्धमें पीछे कहा जा चुका है कि बीज विनाश या बीज प्रतिषेध अङ्कुरादि कार्यका कारण नहीं है, किंतु बीजके अवयव ही अङ्कुरके कारण हैं,

क्योंकि उनका ही अनुबोध कार्यमें होता है। बीजके विनाशका कारण यह है कि एक उपादान कारणमें एक कार्यकी अभिव्यक्ति होनेपर कार्यान्तरोकी निवृत्ति होती है। बीज भी एक अवयवकी ही कार्यावस्था है। अङ्कुररूप कार्यकी अभिव्यक्तिसे उसकी निवृत्ति आवश्यक है। जहाँ पूर्व कार्यकी निवृत्ति आवश्यक नहीं है, वहाँ प्रतिषेधके प्रतिषेधका कोई अर्थ नहीं है। आकाशसे वायुकी उत्पत्ति होती है, फिर भी आकाश नहीं निवृत्त होता। वायुसे तेजकी उत्पत्ति होती है, परंतु वायुकी निवृत्ति नहीं होती। मृत्तिकासे घट उत्पन्न होता है, किंतु मृत्तिकाकी निवृत्ति नहीं होती। आम्रादि वृक्षोसे फलेकी उत्पत्ति होती है, परंतु वृक्षोका नाश या प्रतिषेध नहीं होता। मनुष्य-पशु आदिसे ही दूसरे मनुष्य-पशु आदि उत्पन्न होते हैं, परंतु उत्पादकोका विनाश नहीं होता। भूतोकी उत्पत्तिका सिद्धान्त यह है कि कारण व्यापक, सूक्ष्म तथा स्वच्छ एव निर्गुण, निर्विशेष है। कार्य व्याप्य, स्थूल, अस्वच्छ, सगुण एव सविशेष है। परंतु साख्यमतानुसार कार्यकी विशेषताओंकी भी अभिव्यक्ति ही होती है, उत्पत्ति नहीं। अत्यन्त असत्की उत्पत्ति नहीं होती—यह बात सत्कार्यवादके प्रसङ्गमें कही जा चुकी है। वेदान्तमतानुसार जो आदिमें तथा अन्तमें नहीं होती, मध्यमें प्रतीत होती है, वह वस्तु रज्जु-सर्प आदिके तुल्य सदसद्विलक्षण अनएव अनिर्वचनीय ही होती है। वह शुक्ति रजतादि मिथ्या पदार्थोंके समान होनेपर भी सत्य-सी प्रतीत होती है। आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥ (माण्ड० करि० २।६) परिणाम-वादमें कारणको कार्याकारतया परिणत होनेके लिये कारणमें आवश्यक विचार होना ही चाहिये। एतावता अन्तर्विरोध या प्रतिषेध कार्यका कारण नहीं हो जाता। यदि प्रतिषेध कारण होता तो सर्वत्र वह सुलभ ही है, फिर कार्योंत्पत्तिके लिये कारणोपादान ही व्यर्थ होगा। यदि प्रतिषेध ही कार्योंत्पत्तिका कारण होता तो दग्ध बीजसे भी कार्योंत्पत्ति होनी चाहिये थी, क्योंकि दाढ़से भी बीजका प्रतिषेध हुआ ही। हम स्पष्ट देखते हैं कि कार्यके लिये कार्यार्थी तत्कारणोंका अन्वेषण करते हैं। वेदान्तानुसार कारण ब्रह्म ही अनिर्वचनीय माया एवं तदश विभिन्न उपाधियों-द्वारा कार्याकारेण विवर्जित होता है। अडे भी पतगोके फल हैं, प्रतिषेधरूप नहीं।

कहा जाता है कि मूल वस्तुके अन्तर्विरोध (विध्वंस) से समन्वयद्वारा वस्त्वन्तरकी उत्पत्ति होती है—‘नानुपसृष्ट प्रादुर्भावात्’ विनष्ट बीजसे ही अङ्कुर उत्पन्न होता है। मृत्पिण्डके उपमर्दनसे ही घट निर्माण होता है। विनष्ट धीरसे ही दधिका निर्माण होता है। यदि कूटस्थ कारणसे ही कार्य उत्पन्न हो तब तो अविशेषेण सभीसे सब कार्यकी उत्पत्ति होने लगे। अर्थात् कूटस्थ कारणका यदि कार्य-जनन स्वभाव है तब तो तत्काल ही उससे कार्य उत्पन्न होना चाहिये, कालक्षेप न होना चाहिये। यदि कूटस्थ कारणमें कार्यजनक स्वभाव नहीं है, तब उससे कभी भी कार्य न उत्पन्न होना चाहिये। यदि कहा जाय कि समर्थ होते हुए भी

क्रमेण सहकारियोंकी अपेक्षासे ही कार्य उत्पन्न होता है, परंतु सहकारी कुछ उपकार करते हैं या नहीं ? यदि नहीं तो वे सहकारी ही क्यों होंगे ? यदि उपकारका आधान करते हैं तो भी भिन्न या अभिन्न उपकारका आधान करेंगे । यदि उपकार अभिन्न हैं तब तो वह कूटस्थ कारणका ही स्वरूप ठहरा । फिर कार्यमें विलम्ब क्यों होना चाहिये ? यदि उपकार भिन्न है, तब तो उस उपकारके होनेपर ही कार्य होता है, उसके अभावमें कार्य नहीं होता । फिर तो अन्वय-व्यतिरेकसे उपकार ही कार्यका कारण हुआ । कूटस्थ कारणके रहनेपर भी कार्य नहीं होता, अतः कूटस्थ उत्पादक नहीं हुआ—

वर्पात्तपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयो. फलम् ।

चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फल. ॥

(नैष्कर्म्यसिद्धि भव सर्वदर्शनमग्रह)

अतः अभावग्रस्तबीज आदिसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है । ब्रह्मात्मवादी इसका भी खण्डन करते हैं । उनका कहना है कि अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, यदि अभावसे भाव उत्पन्न हो तब तो अभाव सर्वत्र सुलभ ही है, फिर कारण-विशेषकी कल्पना व्यर्थ ही होगी । उपमर्दित बीजोंका अभाव एव शशविपाण दोनो ही समानरूपसे निःस्वभाव हैं । अतः उनके अभावत्वमें भी कोई भेद नहीं है । फिर बीजमे अङ्कुर, क्षीरसे दधिके उत्पन्न होनेका नियम व्यर्थ ही है । यदि निर्विशेष अभाव कारण है तब तो शशविपाण, खण्डुपादिसे भी अङ्कुरादिकी उत्पत्ति होनी चाहिये, परंतु ऐसा होता नहीं । यदि उत्पलमें नीलत्वके तुल्य अभावमे कुछ विशेषता स्वीकृत है तब तो विशेषवान् होनेसे अभाव भाव ही हो जायगा । विशेष्यवान् होनेसे उत्पल जैसे भाव है, वैसे ही विशेष्यवान् होनेसे अभाव भी भाव ही हो जायगा । और फिर तो अभाव कार्य उत्पत्तिका हेतु भी नहीं हुआ, जैसे शशविपाणादि किसीका हेतु नहीं होता ।

इसके अतिरिक्त यदि अभावसे भावकी उत्पत्ति हो तब तो हर एक कार्यमें अभावका ही अन्वय दिखायी देना चाहिये, परंतु देखा जाता है कि इसके विपरीत सभी कार्य भावरूपसे ही उपलब्ध होते हैं । जैसे मृत्तिकासे अन्वित घटादिको तन्तु आदिका विकार नहीं कहा जाता, किंतु मृत्तिकाका ही विकार कहा जाता है; वैसे ही भावान्वित कार्य भावके ही विकार हैं, अभावके नहीं ।

जो कहा जाता है 'स्वरूप-उपमर्दके बिना किसी भी कूटस्थ कारणमे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, अतः अभावसे भावकी उत्पत्तिका मिथ्यान्त ही ठीक है'— यह कहना भी ठीक नहीं । स्थिर म्बभाववाले सुवर्ण, मृत्तिका आदि स्पष्टरूपमे कार्यमें प्रत्यभिज्ञात होते हैं, अतः स्थिरभावमें ही कार्य-कारणभाव मानना युक्त है । बीज आदिका उपमर्द देखा जाता है, इससे उपमृद्यमाना पूर्वावस्था उत्तरावस्थाका कारण नहीं है, किंतु अनुपमृद्यमान बीजावयव ही अङ्कुरादिमें अनुगत होकर कारण

होते हैं। असत् खपुष्पादिसे कार्योत्पत्ति नहीं होती, सत् सुवर्णादिसे कार्योत्पत्ति देखी जाती है, अतः भावसे भावकौ उत्पत्तिका पक्ष ही ठीक है।

कूटस्थ स्थिर कारण ही क्रमवत् सहकारी कारणोंकी अपेक्षासे कार्यकारी होते हैं। ये सहकारी अनुपकारक नहीं कहे जा सकते, किन्तु इनके द्वारा आहित उपकार कारणसे न भिन्न है न अभिन्न, किन्तु अनिर्वचनीय है। इसलिये कार्य भी अनिर्वाच्य ही होता है। फिर स्थिरकी अकारणता नहीं कही जा सकती; क्योंकि कार्यका वही उपादान है—जैसे कल्पित अनिर्वाच्य सर्पका उपादान रज्जु होती है।

यदि अभावसे ही भावकी उत्पत्ति होती है तब तो उदासीन, अनीहमान लोगोकी भी समीहित सिद्धि होनी चाहिये, क्योंकि अभाव तो सभीको सुलभ है। खेतीके कार्यमें बिना सलग्न हुए भी किसीको सस्यादि प्राप्त होने चाहिये। कुदाल मृत्तिकादिमें बिना प्रवृत्त हुए भी घटोत्पादन कर सकेगा। तन्तुवाय तन्तुभ्रोमे बिना प्रवृत्त हुए भी वस्त्रलाभ कर लेगा, परन्तु यह सब होता नहीं; अतः भावसे ही भावकी उत्पत्ति होती है, अभावसे नहीं।

बीज एव मृत्तिका-पिण्ड उपमर्द हुए बिना अङ्कुर, बीज आदि उत्पन्न नहीं होते, अतः अभाव या विनाश ही कार्योके कारण होते हैं। इस कल्पनाकी इस पक्षमें अपेक्षा लाघव है। बीज एवं मृत्तिकाको ही कार्योका कारण माननेमें बीज या मृत्पिण्डका आकारविशेष कार्यका कारण नहीं है, अतएव अन्वयी द्रव्य ही कारण होता है। पिण्ड या बीजके आकारविशेषका कार्यमें अन्वय भी नहीं है। अन्वय बीजावयव एव मृत्तिकामात्र ही अनुभूत होता है। मृत्तिका कारण है; क्योंकि उसके अभावमें घटका अभाव होता है, परन्तु पिण्डादि आकारके न रहनेपर भी घटकी उपलब्धि होती है। सभी कारण कार्यका उत्पादन करते हुए अपने पूर्व कार्यका तिरोधान करते हैं, क्योंकि एक कारणमें एक कालमें ही दो कार्य नहीं हो सकते। पूर्वकार्यके उपमर्दसे कारणका स्वरूप नहीं उपमर्दित होता।

मृत्तिकादिका पूर्व कार्य पिण्डादि हैं, घटादिकी उत्पत्तिके लिये उनका तिरोधान आवश्यक ही है। कार्यान्तरकी उत्पत्तिके लिये पूर्वकार्यका तिरोधान आवश्यक होता है, इसलिये पिण्डादिका तिरोधान होता है, इसलिये नहीं कि कारण नाश कार्यका हेतु है। असत्कारणवादी कहता है कि पिण्डादिसे भिन्न मृत्तिकादि कुछ भी नहीं है। यद्यपि कहा जा सकता है कि पिण्डादि पूर्वकार्यके उपमर्दित होनेपर भी मृदादि कारण नहीं नष्ट हुआ, क्योंकि वह घटादि कार्यान्तरमें अन्वित है, परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि पिण्ड घटादिसे भिन्न मृदादि कारणका उपलम्भ ही नहीं होता।

इसपर वेदान्तिका कहना है कि मृदादि कारणोंसे घटादिकी उत्पत्ति होनेपर पिण्डादिकी निवृत्ति हो जानेपर भी मिट्टी आदि कारणकी घटादिमें अनुवृत्ति रहती है। अतः पिण्डादिके विनष्ट होनेपर भी मृदादि कारणका विनाश नहीं हुआ। असद्वादी कहते हैं कि 'यद्यपि मृत्तिकादि कारण पिण्डादिके नष्ट होनेपर नष्ट हो गया, घटादिमें मृत्तिकादि कारणका अन्वयदर्शन कारणकी अनुवृत्तिसे नहीं, अपितु सादृश्यके कारण है। पिण्डगत मृत्तिकासे घटगत मृत्तिका भिन्न है, फिर भी सादृश्यके कारण अभेद प्रतीतिसे अन्वयदर्शन-सा होता है।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि पिण्डादिगत मिट्टी आदिकोंके अवयवोंका ही घटादिमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अतः पिण्डगत मृत्तिकासे घटगत मृत्तिका भिन्न है—यह प्रत्यक्ष नहीं है, किंतु 'यत् सत् तत् क्षणिक यथा दीपं सन्तश्चेमे भावाः' जो सत् है वह क्षणिक होता है जैसे दीप, और सभी पदार्थ सत् हैं; अतः वे क्षणिक होने चाहिये। इस अनुमानसे मृदादिकारणोंकी भी क्षणिकताका अनुमान करके ही भेद सिद्ध किया जा सकता है। परंतु 'सैवेय मृत्तिका' वही यह मिट्टी है—इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष पहचानसे विरुद्ध होनेके कारण यह अनुमान अग्निके अनुष्णत्वानुमानके समान अनुमानाभास है।

कहा जा सकता है कि 'प्रत्यक्ष-प्रमाणसे कारणकी एकता प्रतीत होती है और अनुमानसे भेद प्रतीत होता है, अतः जैसे प्रत्यक्षसे विरुद्ध होनेके कारण अनुमानको अनुमानाभास कहकर अप्रमाण घोषित किया जाता है, वैसे ही अनुमानविरुद्ध प्रत्यक्षको ही प्रत्यक्षाभास कहकर अप्रमाण क्यों न घोषित किया जाय ?' परंतु यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक ही हुआ करता है, अतः अनुमानद्वारा प्रत्यक्ष न होनेसे प्रत्यभिज्ञासिद्ध प्रत्यक्षका विरोध उपजीव्यविरोध ठहरता है। इसलिये अनुमान दुर्बल है। अन्यथा यदि अनुमानसे प्रत्यक्ष बाधित होगा तब तो सर्वत्र ही अनाश्वास होगा।

कहा जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा स्वार्थमें स्वतः प्रमाण नहीं हो सकती, किंतु दूसरी बुद्धियोंके सवादसे ही उसका प्रामाण्य हो सकता है, परंतु स्यायित्व-साधक दूसरी कोई बुद्धि नहीं है, अतः 'प्रत्यभिज्ञासिद्धः प्रत्यभिज्ञायमानः' अर्थ भी क्षणिक ही है। परंतु यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि इस तरह तो अनुमान-सिद्ध क्षणिकत्वबुद्धि भी स्वार्थमें स्वतः प्रमाण न होनेसे उसे भी तादृग् दूसरी बुद्धिकी अपेक्षा होगी। उस दूसरी बुद्धिको भी अपने प्रामाण्यके लिये तादृक् तीसरी बुद्धिकी आवश्यकता होगी—इस तरह अनवस्था प्रसङ्ग होगा। अतः प्रत्यभिज्ञाके प्रमाण-बुद्धिका स्वतः प्रामाण्य ही अङ्गीकार करना ठीक है। इस दृष्टिसे प्रत्यभिज्ञान भी स्वतः प्रमाण है।

जो कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा भी सादृश्यके कारण भ्रमरूप है। 'त एवेमे केशाः'—ये वही बाल हैं, इत्यादिस्थलोमे बालोंकी भिन्नता रहनेपर भी सादृश्यके कारण

अभिन्नता प्रतीत होती है, उसी तरह 'सैवेयं मृत्तिका' वही यह मिट्टी है, इत्यादि स्थलोमें भी सादृश्यके कारण ही अभेदकी प्रत्यभिज्ञा होती है, उनका कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि एक स्थायी अनुभविता न होनेसे पूर्वोत्तर कालवर्ती तत्पदार्थएव इदं पदार्थका ग्रहण ही नहीं होगा। उनके ग्रहण हुए बिना 'तेनेद सदृशम्' यह सादृश्य-बुद्धि ही नहीं होगी। फिर सादृश्य-बुद्धिमूलक भी प्रत्यभिज्ञाको कैसे कहा जा सकता है? कोई भी क्षणिक बुद्धि या क्षणिक द्रष्टा भिन्न कालवर्ती पदार्थोंको नहीं ग्रहण कर सकता। इस सम्बन्धमें विज्ञानवादी बौद्धोंका कहना है कि बाह्यार्थके बिना ही बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, अतः सादृश्य बिना ही अर्थात् असत् सादृश्यमें ही सादृश्य-बुद्धि होती है। परंतु इस तरह तो तत् पदार्थ और इद पदार्थकी बुद्धि भी सादृश्य-बुद्धिकी तरह ही असद्विषयक ही समझी जायगी। यदि कहा जाय कि ऐसा भी अभीष्ट ही है अर्थात् विज्ञानवादी बाह्य अर्थका अस्तित्व ही नहीं अङ्गीकार करता। अतः सभी बुद्धियाँ बाह्य विषयके बिना ही उत्पन्न होती हैं तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो बुद्धि, बुद्धि भी असद्विषयक ही होगी। अतः बाह्य अर्थके समान ही आन्तर अर्थ (बुद्धि) का भी असत्त्व सिद्ध हो जायगा। यद्यपि शून्यवादी इसे भी अभीष्ट ही मानता है, तथापि यदि सर्वबुद्धि मिथ्या ही हो तो असद्बुद्धि भी मिथ्या हो जायगी। फिर तो असत् या शून्यकी सिद्धि भी असम्भव ही होगी। इसलिये सादृश्य-बुद्धिसे प्रत्यभिज्ञा होती है—यह कहना गलत है। तथा च कार्योंत्पत्तिके पहले कारणका सद्भाव सिद्ध होता है। ससारमें तम आदिद्वारा प्रावृत घटादि वस्तु आलोकादिके द्वारा आवरण तिरस्कारसे अभिव्यक्त होती है। अतः अभिव्यक्तिके पहले भी उसका अस्तित्व होता है। उसी तरह घटादि कार्य भी कारण-व्यापारद्वारा आवरण तिरस्कारसे अभिव्यक्त होता है। अतः अभिव्यक्तिके पहले भी उसका अस्तित्व मान्य होना चाहिये। जैसे अविद्यमान वस्तु सूर्योदय होनेपर भी उपलब्ध नहीं होती, उसी तरह कार्य यदि उत्पत्तिके पहले अविद्यमान होता तो कारक-व्यापारसे भी उसकी अभिव्यक्ति सर्वथा असम्भव ही होनी।

कहा जा सकता है कि सत्कार्यवादीके मतानुसार यदि घटादि कार्य कभी भी अविद्यमान नहीं है, तब तो सूर्योदय होनेपर उसका सदा ही उपलब्ध होना चाहिये, किंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि आवरण दो प्रकारके होते हैं—जैसे अभिव्यक्त घटका तम आदि आवरण है, उसी प्रकारसे अभिव्यक्तिके पहले अनभिव्यक्त घटका आवरण है मृदादि अवयवोंका पिण्डादि कार्यान्तररूपसे संस्थान। इसलिये जबतक मृदादि अवयवोंकी पिण्डादि कार्यान्तररूपसे स्थिति रहती है, तबतक अर्थात् उत्पत्तिके पहले घटादि कार्य उसी आवरणसे आवृत होनेके कारण उपलब्ध नहीं होते। उसी आवरणके भङ्ग होनेसे घटादि कार्योंकी उत्पत्तिका व्यवहार होता है। जैसे तम हटनेसे घटादिके व्यवहारका भाव होता है, वैसे ही पिण्डादिसे तिरोभूत

रहनेपर अभावका व्यवहार होता है। कपालादिसे तिरोभूत होनेपर घटादिके नष्ट होनेका व्यवहार हुआ करता है। कहा जा सकता है कि पिण्ड-कपालादि घटादिके समान देशवाले होनेके कारण आवरण नहीं हो सकते, क्योंकि तम और कुल्यादि (दीवार) आवरण घटादिसे भिन्न देशवाले होते हैं अर्थात् आवृतके देशमे भिन्न देशवाला ही आवरण होता है, परन्तु पिण्ड-कपाल आदि तो सर्वथा आवृतके ही देशवाले होते हैं। यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि क्षीर जलके समान देशमें रहकर भी जलका आवरण रहता है। समानदेशत्व आवरणका बाधक है—इसका क्या अभिप्राय है ? एकाश्रयाश्रितत्व या एककारणत्व ? अर्थात् जो दो वस्तु एक आश्रयमें आश्रित होते हैं उनमें एक दूसरेका आवरण नहीं होता। अथवा जिन दो वस्तुओंका एक ही कारण होता है उनमें एक दूसरा आवरण नहीं होता। इनमें पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि एकाश्रयाश्रित होनेपर भी क्षीरके द्वारा क्षीरमिश्रित जलका आवरण होता ही है, तथा दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि कार्यभेदसे कारणका भेद होता है। अतः घटादिके कारण मृदादि अवयवोंसे कपालादिके कारण मृदादिके अवयवोंका भेद होता है। अतः एककारणत्व असिद्ध है अर्थात् यदि घट अवस्थावाली मृत्तिकामात्रमें रहनेवाले कपाल आदिके घटका अनावरण कहें तो यह अभीष्ट ही है। परन्तु यदि अव्यक्त घटावस्थावाली मृत्तिकामें रहनेवाले कपालादिको अनावरणत्व कहना चाहते हैं तो यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यहाँ घट और कपालादिके कारण मृदादि अवयवोंका भेद ही है।

कहा जा सकता है कि फिर तो आवरणभावके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये, घटोत्पत्तिके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि आवरण-विनाशमात्रके प्रयत्नसे ही घटकी अभिव्यक्ति होती है। क्योंकि तम आदि आवृत घटादिके प्रकाशके लिये दीपादिकी उत्पत्तिका भी प्रयत्न देखा ही जाता है, भले ही वह प्रयत्न भी तमके निराकरणार्थ ही हो। तमके हटनेपर स्वयं ही घट उपलब्ध होता है। तथापि प्रकाशवान् ही घटका उपलम्भ होता है। इस तरह तमके निराकरणसे अतिरिक्त भी प्रदीपोत्पत्तिका प्रकाशविशिष्ट घटका उपलम्भ हो यह विशिष्ट प्रयोजन सिद्ध होता है। इस तरह घट प्रागभावका यह मतलब नहीं कि उत्पत्तिके पहले घटस्वरूप ही नहीं। अत्यन्ताभाव, प्रागभावादि यदि अपने प्रतियोगि घटादिसे अत्यन्त भिन्न हों तो घटादिकी अनाद्यनन्तता और अद्वितीयता सिद्ध होगी। यदि सद्रूप हों तो फिर अभाव ही नहीं रह जायेंगे, क्योंकि भाव और अभावकी परस्पर सद्गति नहीं होती।

कहा जाता है कि अभाव प्रसिद्ध वस्तु है। जैसे भावका अपलाप नहीं किया जा सकता वैसे ही अभावका भी, परन्तु विचारणीय विषय यह है कि

वह अभाव क्या है ? घटका स्वरूप ही है या अर्थान्तर ? यदि प्रथम पक्ष कहे तो ठीक नहीं; क्योंकि यदि घटस्वरूप ही हो तो घटके द्वारा उसका व्यपदेश कैसे हो ? अर्थात् अभेदमें घटका प्रागभाव इस रूपसे भेदमूलक सम्बन्ध व्यवहार कैसे होगा ? यदि कहा जाय कि कल्पित सम्बन्धको ही लेकर व्यवहार बनता है तो भी यही कहना पड़ेगा कि कल्पित अभावका ही 'घटस्य प्रागभावः' इस रूपसे व्यवहार होता है। घटस्वरूपका घटसे व्यपदेश नहीं बन सकता। यदि कहा जाय कि घटाभाव घटसे अर्थान्तर है तो वह घटसे अर्थान्तर कारणरूप ही हुआ तथा च घटप्रागभाव घटकारणरूप ही ठहरा।

अभिव्यञ्जकके व्यापार होनेसे नियमेन घटकी अभिव्यक्ति होती है, अभिव्यञ्जक व्यापार न होनेसे नहीं। इस तरह अन्वयव्यतिरेकसे घटादि कार्योंके लिये कुलालादि-व्यापार सार्थक होते हैं। उस व्यापारसे आवरण-भङ्ग आर्थिक रूपसे हो जाता है। कारणमें वर्तमान एक कार्य इतर कार्योंका आवरण होता है। यदि घटादिके पूर्वाभिव्यक्त पिण्डादि कार्य या घटध्वसके पश्चात् अभिव्यक्त कपालादि कार्योंके विनाशका ही प्रयत्न किया जाय तो चूर्णादि भी कार्य उत्पन्न होंगे। उन कार्योंसे भी घट आवृत ही रहेगा। अतएव घटाभिव्यक्तिके लिये नियत कारण व्यापार अपेक्षित होता है। 'अतीतो घटः, अनागतो घटः' ये दोनों बुद्धियाँ भी वर्तमान घटबुद्धिके समान ही विद्यमान वस्तुका ही आलम्बन करती हैं। इसीलिये अनागत वस्तुके लिये अर्थियोकी प्रवृत्ति होती है। यदि खपुष्पवत् अनागतादि वस्तु अत्यन्त असत् हो तो उनमें अर्थियोकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

'इह कपालेषु घटो भविष्यति' इन कपालोंमें घट होगा। यह प्रतीति प्रागभावकी प्रतीति कही जाती है। इस मिट्टीसे घट होगा इस विश्वाससे ही कुलालादि प्रवृत्त होते हैं। घटनिर्माणार्थ प्रवृत्त कुलालादिके व्यापार-कालमें 'घटः असत्' इस वाक्यका यदि इतना ही अर्थ है कि जैसे कुलालादि वर्तमान है उस प्रकारसे घट वर्तमान नहीं है। तब तो ऐसे असत्का कोई विरोध नहीं; क्योंकि घट तो भविष्यद्रूपसे ही वर्तमान है। पिण्ड या कुलालादिकी जैसी वर्तमानता है, वैसी वर्तमानता घटकी नहीं है, क्योंकि पिण्डकी वर्तमानता और घटकी वर्तमान दशामें घटोत्पत्तिके पहले घट असत् अर्थात् कुलालादिकी तरह वर्तमान नहीं है, इस कथनका कोई विरोध नहीं। परन्तु घटकी जो भविष्यत्ता विशिष्ट कार्यरूप 'घट असत्' इस व्यवहारसे उसका प्रतिषेध नहीं हो सकता। चतुर्विध अभावोंमें जैसे घटान्योन्याभाव घटसे भिन्न पटादिरूप ही है, 'घटस्वरूप ही नहीं; पट घटाभाव स्वरूप होनेपर भी अभावात्मक नहीं होता किंतु भावरूप ही रहता है। इसीलिये कहा गया है कि 'स्वरूपपररूपाभ्यां सर्वं सदसदात्मकम्।' इसी प्रकार घटके प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभावकी भी घटसे भिन्नता और भावरूपता ही कहनी चाहिये।

उम तरह विकसित बीजमें अन्तर्विरोध, वर्गमेढ, वर्गमवर्ष एवं वर्ग-विषयसखी वाद-प्रतिवादके अद्भुत फलपर्यन्त विकास होना और उससे पुनः उगी प्रकार अद्भुतान्तरकी विकासान्तरकी उत्पत्ति यद्यपि किंगी अगमे उष्ट है तथापि भूतोंकी उत्पत्तिमें यह नियम व्यभिचरित है। आकाशमे वायुकी उत्पत्ति होती है, फिर भी आकाश बना रहता है। वायुमे तेजकी उत्पत्ति होनेपर भी वायु नष्ट नहीं हो जाती, इसी प्रकार तेजसे जल एवं जलसे भूमि उत्पन्न होनेपर भी कारण बने ही रहते हैं। कार्यके विक्रमान्तर होनेपर प्रथम विकास समाप्त हो जानेका नियम सर्वथा अदृष्ट है। वृक्षसे फलोंके विकसित होनेपर भी वृक्षोंके नष्ट होनेका नियम नहीं है। मनुष्य, पशु आदिसे मनुष्य, पशु आदिकी उत्पत्ति होनेपर भी कारणका विनाश नहीं होता। भूत भी सावयव होनेसे कार्य है। जो-जो भी सावयव होता है, यद्यदिके समान कार्य ही होता है। साथ ही जो भी कार्य है, उसे सम्पूर्वक एवं सोपादान भी होना चाहिये। कर्मा चेतन होता है, इस दृष्टिसे ईश्वरसिद्धि होती है एवं कार्यकी अपेक्षा उपादान व्यापक शुद्ध एवं नित्य होता है, इस दृष्टिसे कार्यकी अपेक्षा कारणकी अनश्वरता, स्वच्छता एवं व्यापकताकी ही निर्णय होता है। इस तरह पृथ्वी जलसे, जल तेजसे, तेज वायुमे एवं वायु आकाशसे उत्पन्न होता है, यह श्रुतियों एवं युक्तियोंसे सिद्ध है। यहाँ वाद-प्रतिवाद, समन्वय आदिका सिद्धान्त व्यभिचरित एवं अत्यल्पदेशीय ही सिद्ध होता है।

पाश्चात्य वैज्ञानिक कहते हैं 'कि गणितशास्त्रके किसी अद्भुत चिह्नको लीजिये 'क'। इसका प्रतिषेध है '—क'। यदि '—क' से गुणाकर हम इसका प्रतिषेध करते तो इसका फल होता है 'क'। प्रतिषेधके प्रतिषेधसे मूल अद्भुत फिर लोट आया, लेकिन और ऊँचे स्तरपर अपने वर्गफलके रूपमें। इसमें कोई हानि-की बात नहीं है। यही नतीजा क और क के गुणासे भी प्राप्त होता है; क्योंकि 'क' के वर्गमूलमें सदा दोनों अद्भुत रहते हैं 'क' और 'क'। सख्यागुणितके द्वारा किसी गणितकी समस्याका हल तो इसका और भी अच्छा उदाहरण है। दो अद्भुत चिह्न 'क' और 'ख' ले लीजिये। जिनके परिवर्तनका आपसी सम्बन्ध निर्धारित है। यानी किसी एकमें परिवर्तन हो तो दूसरेमें परिवर्तनका स्थिरीकरण उस उक्त सम्बन्धमे हम कर सकते हैं। यदि हम दोनोंका प्रतिषेध करें तो घटते-घटते ये दोनों अद्भुत नहीं बराबर हो जाते हैं। लेकिन उनका पूर्व सम्बन्ध ज्यों-का-त्यों बना रहता है। इसको अद्भुतमें हम यों रख सकते हैं। $\frac{\text{सख्यागुण} + \text{'क'}}{\text{सख्यागुण} + \text{'ख'}}$ लेकिन

यह सम्बन्ध बराबर है, $\frac{\text{क}}{\text{ख}}$ के अन्त इस प्रतिषेधके द्वारा जब हम उस समस्याको हल कर लेते हैं, तो हम फिर मूल अद्भुत अपनी त होते हैं। पूर्व प्रतिषेध का प्रतिषेध और समस्याका हल हो गया।

उत्प्रेक्षित उदाहरण भी वस्तुतः प्रतिषेधके प्रतिषेधका नहीं। धन-ऋणका बढाव-घटावके रूपमें विरोध होनेसे यद्यपि धनका प्रतिषेध ऋणको कहा जा सकता है, ऋणके गुणनसे निकलनेवाले फलभूत वर्गफल सख्याको भी प्रतिषेधका प्रतिषेध कहा जा सकता है। परंतु केवल वह धनके रूपमें ही मूल सख्याके रूपमें है, वस्तुतः उसका रूप पृथक्-पृथक् है। जैसे अङ्कुर-कारणभूत यवका दाना और अङ्कुरका फलभूत यवके दाने पृथक्-पृथक् हैं।

संख्यागुणनितका भी उदाहरण, इस सम्बन्धमें अनुकूल नहीं है। मूलका प्रतिषेध शून्यवत् 'क' अवश्य प्रतिषेधका प्रतिषेध है। उनके निर्धारित परस्पर सम्बन्धके आधारपर उसके प्रतिषेधसे मूलपर पहुँचते हैं, परंतु यह अपेक्षा-बुद्धि-की ही कलाबाजी है। इससे प्रतिषेधके प्रतिषेधसे प्रतियोगी सत्त्व-व्यवस्थापन-जैसी कोई चीज नहीं निकलती। एक अपेक्षा-बुद्धिमे वही वस्तु पहली या दूसरी, छोटी या बड़ी हो सकती है, परंतु वस्तुतः वह विरोधात्मक नहीं हो सकती।

ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद

कहा जाता है कि 'इतिहासके लिये भी यही बात लागू है। सब सभ्य जातियोंका, जो एक निर्दिष्ट अवस्थाको पार कर चुकी हैं। आरम्भ भूमिके सामृद्धिक स्वामित्वसे होता है। कृषिके विकासके लिये एक स्तरपर भूमिका सामूहिक स्वामित्व उत्पादन-क्रियाके लिये बाधकस्वरूप बन जाता है। इसका अन्त किया जाता है, इसका प्रतिषेध होता है और कुछ बीचके स्तरको पारकर व्यक्तिगत सम्पत्तिमें रूपान्तरित हो जाता है, व्यक्तिगत सम्पत्तिसे ही कृषिका ऊँचे स्तरपर विकास होता है, लेकिन व्यक्तिगत सम्पत्ति ही आगे चलकर कृषि-उत्पादनकी क्रियाके लिये बाधकस्वरूप हो जाती है। अब इसके प्रतिषेध-की और भूमिपर सामूहिक स्वामित्वकी माँग होने लगती है, लेकिन यह मूल-रूपसे बहुत भिन्न होगा, जिसमें आधुनिक आविष्कारोंका पूरा उपयोग किया जा सकेगा।'।

पर यह कहना भी सङ्गत नहीं है। भूमिपर सामूहिक स्वामित्व ऐतिहासिक नहीं है। ईश्वर-निर्मित भूमि ईश्वरकी थी। बलिकी पत्नी विन्ध्यावलिने भगवान वामनसे कहा था कि आपने क्रीड़ाके लिये ही जगत्की रचना की है, परंतु दुर्बुद्धि-लोग उसे अपना समझने लगते हैं। आप सर्वकर्ता हैं, आपहीद्वारा जीवोंमें भी कर्तृत्व सफल होता है, फिर बलि आदि आपको क्या दे सकते हैं—

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते

स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः।

कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति

त्यक्तहियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः

॥

ईश्वरके उत्तराधिकारी ब्रह्मा, इन्द्र, मनु आदि हुए। धर्म-नियन्त्रणकी स्थिति कमजोर पडनेपर मात्स्यन्याय-निराकरणके लिये जनताने मनुको शासक बनाया। तदनन्तर विभिन्न व्यक्ति भी व्यष्टिभूमिके ही स्वामी हुए। प्राणियोंका धर्मद्वारा सृष्टिमें हाथ होता है, कर्मके अनुसार ही और भोग-साधन प्राप्त होते हैं। हेरण्यगर्भ, मनु आदिको कर्मानुसार समष्टि-भोग साधन मिलते हैं, सामान्य जीवोंको भी व्यष्टि-भोगसाधन भी कर्मोंके अनुरूप ही मिलते हैं। कोई वस्तु ईश्वर या प्रकृतिद्वारा निर्मित है, एतावता वह सबकी है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक स्त्री भी प्रकृतिद्वारा निर्मित होती है, तो भी उमपर माता-पिताया ही स्वत्व होता है। पश्चात् उनके द्वारा दिया हुआ स्वत्व पति आदिको मिलता है, या स्वयं वह जिसे स्वत्व समर्पण करती है, उसे मिलता है।

जिम रूपमें भूमि, आकाशादिपर कभी सामूहिक स्वामित्व था, उस रूपमें आज भी है ही। भूमिपर सभी प्राणियोंको जीवित रहने, चलने बैठने, श्वास लेने, अवकाश ग्रहण करनेका अधिकार सदा मिला, आज भी है। परंतु विविष्ट-रूपसे भूमिका स्वामित्व भूमिपतिका ही है। भूमिपतिद्वारा दिया हुआ सीमित भूमि-पतित्व अन्यलोगोंको भी प्राप्त हुआ। इसीलिये भूमिकर देनेकी प्रथा है। यह कोई भी व्यवस्था सर्वथा आगन्तुक एवं नवीन नहीं है। व्यक्तिगत सम्पत्तिसे ही कृषिका जैसे ऊँचे स्तरपर विकास हुआ, इसी प्रकार आगे भी व्यक्तिगत भूमिका अपहरण किये बिना उसका उच्चतम विकास हो सकता है। अमेरिका आदिमें भी वैसा ही विकास हो रहा है। बड़े कामोंके लिये सहकारिताके आधारपर सम्भूयोत्थान (सम्मिलित कृषि, व्यापारादि) पहले भी होता था, यह अन्यत्र दिखाया गया है, वैसा ही अब भी हो रहा है, आगे भी हो सकेगा। अतः भूमि, सम्पत्ति आदिका अपहरण प्रतिपेक्षके प्रतिपेक्षका तदाहरण नहीं हो सकता है।

उन्नत साधनोंसे फलमें उन्नति होती है। इस दृष्टिसे जब भी पहले या पीछे उन्नत साधन होते हैं तब कृषि उन्नत होती है। आज भी जहाँ उन्नत साधन नहीं मिलते, वहाँ खेतीका वही निम्नरूप है। अनेक स्थानोंमें आज भी सामूहिक खेतियोंसे व्यक्तिगत खेतियाँ उच्चकोटिकी होती हैं। दूरी दृष्टिसे अन्न, फल आदिकी उत्पत्ति और अच्छाई तथा मात्रा पहले बहुत अच्छी थी, अब कम अच्छी है। जिन खेतोंमें पहले बीस मन अन्न पैदा होना था, उनमें आज पाँच मन भी उत्पन्न नहीं होता। पशुओं, मनुष्योंकी भी जैसी बुद्धि, शक्ति, आकार, बल-पराक्रम हजारों वर्ष पहले था, उससे आज ह्रास ही है। मनुष्योंके पुराने अस्थिपञ्जर तथा प्राचीन तलवारों और भालोंके वृहत् आकार इसके साक्षी हैं।

समाजवादी कहते हैं कि यह बात इतिहाससे सिद्ध है कि पारिवारिक और वैयक्तिक सम्पत्ति एकत्रित करनेके नियम चलनेसे पहले मनुष्य हजारों वर्षतक श्रेणी-

भेदके बिना आदिम सप्तष्टिवादकी अवस्थामें रहा है', पर यह ऐतिहासिक तत्त्व आधुनिक लोगोका स्वगोष्ठिनिष्ठ सिद्धान्तमात्र है। संसारके सबसे प्राचीन इतिहास महाभारत और रामायण हैं, जिनकी बहुत कुछ सत्यता मोहन-जो-दड़ो तथा हरप्पाके भूगर्भसे मिली हुई वस्तुओसे सिद्ध होती है। उन आर्ष इतिहासो एवं अपौरुषेय वेदादि शास्त्रोसे सिद्ध है कि न केवल मनुष्योंमें ही किंतु देवताओ, पशुओ, वृक्षोंमें भी ब्राह्मण आदि भेद सृष्टिकालसे ही है। अवश्य यह श्रेणी-भेद शोषक तथा शोषितके आधारपर नहीं हुआ, किंतु धर्मके आधारपर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि श्रेणी-भेद और उसके अनुसार ही श्रौत-स्मार्त धर्म एवं जीविकाओके विधान हुए, 'न वै राज्यं न राजासीद्ध च दण्ड्यो न दाण्डिकः' (महा०शा० ५९।१४) आदि पूर्वोक्त सर्वोत्कृष्ट धर्म-नियन्त्रणके युगमें भी धर्म तथा ब्राह्म आदि श्रेणियोकी सत्ता थी ही।

'पुराकालमें सब ब्राह्मण ही थे, क्षत्रिय आदि न थे। स्त्रियों भी विवाहित न होती थी, सम्पत्ति सामूहिक होती थी।' आदि बातें भी अत्यन्त असङ्गत हैं। अनादि सृष्टि-सहारकी परम्परामें मूलभूत धर्मपरम्परा भी अनादि है। तन्मूलक वर्णाश्रम-धर्म, पातिव्रत्यादि-धर्म भी अनादि ही है। कभी भी उत्पत्ति-क्रममें कार्योंत्पत्तिके पहले कारण ही रहता है, वायुकी उत्पत्तिके पहले आकाश था ही। क्रम-वर्णनमें क्षत्रिय आदि उत्पत्तिके पहले ब्राह्मण ही थे, विवाह होनेके पहले स्त्रियाँ आज भी अविवाहित होती हैं। आज भी घट बननेके पहले मृत्तिका ही रहती है, परंतु इससे ब्राह्मणादि वर्णों तथा विवाहादि धर्मोंकी अनादितामें कोई बाधा नहीं आती। अतएव इन सबोका उत्पत्ति-क्रम-वर्णनमें ही तात्पर्य है। आकाशसे वायु, वायुसे तेज एवं तेजसे जल तथा जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति होती है। यह कहा जा सकता है कि पृथ्वी, जलके उत्पत्तिके पहले तेज ही था, तेजसे भी पहले वायु ही था, वायुसे भी पहले आकाश था और कुछ नहीं था। उसी तरह भगवान्की मुखशक्तिसे ब्राह्मणकी उत्पत्तिके पश्चात् बाहुकी शक्तिसे क्षत्रियकी उत्पत्ति हुई। अतः उदर या ऊरुसे वैश्य, पादसे शूद्रकी उत्पत्ति हुई। उत्पत्तिक्रममें पौर्वापर्य होता ही है, उसीमें अभावका व्यवहार होता है। जब कि अनादि वेदोद्वारा ही प्रतिकल्पकी सृष्टि होती है और अनादि वर्णाश्रम-धर्मका प्रतिपादन होता है। अनादि ही पातिव्रत-धर्मका प्रतिपादन है, तब अमुक वर्ण या अमुक धर्म पहले नहीं था — इत्यादि कल्पनाएँ निराधार एवं अप्रमाणित हैं।

जीव ईश्वरके समान ही धर्माधर्म भी अनादि हैं। तदनुसार ही तद्बोधक शास्त्र एवं तदनुयायी वर्णाश्रम-धर्म भी अनादि हैं। ब्राह्म आदि विवाहोसे सब वर्णोंमें उत्पन्न ही ब्राह्मणादि वर्ण हैं, अतः विवाह आदि सभी अनादि हैं। ज्वेतकेतु आदिकी कथाएँ गुणवादसे लक्ष्यार्थमें पर्यवसित हैं, वाच्यार्थमें नहीं। अर्थात् कुन्तीको देवताओसे सतानोत्पादनमें प्रवृत्त करनेके लिये यह अर्थवाद है और अर्थवाद भी

जहाँ प्रमाणान्तरसे विरुद्ध अर्थका प्रतिपादक होना है, वहाँ भूतार्थवाद न होकर गुणवाद ही होता है अर्थात् उसका वाच्यार्थमें कुछ भी तात्पर्य न होकर प्रगमा या निन्दाद्वारा प्रवृत्ति या निवृत्तिमें ही तात्पर्य होता है । मिथ्यान्ततः हानि-विकासका चक्र ही सिद्ध है । तदनुसार कभी ब्राह्मणोंकी बहुलता, कभी शूद्रोंकी बहुलता होती है, अर्थात् कभी ज्ञान-विज्ञानप्रधान मनुष्योंकी बहुलता होती है, कभी गिल्पादि कर्म-प्रधान मनुष्योंकी—

यथा कृतयुगे पूर्वमेकवर्णमभूत् किल ।

तथा कलियुगस्यान्ते शूद्रीभूता प्रजास्तथा ॥

(मत्स्यपुराण अन्वय १४३ । ७८)

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'दर्शनके क्षेत्रमें स्वयं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही एक ऐसा उदाहरण है । पहलेके भौतिकवादका प्रतिपेध हुआ आदर्शवाद, और इस आदर्शवादका प्रतिपेध हुआ फिर भौतिकवाद । लेकिन यह भौतिकवाद यान्त्रिक भौतिकवाद नहीं, बल्कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है । दार्शनिक क्षेत्रमें एक और उदाहरण है, रूसोके समतावादका तथ्य । रूसोके अनुसार प्राकृतिक वर्ग-युगमें सब मनुष्य समान थे । रूसो भाषाको भी इस प्राकृतिक अवस्थाका विकार मानता है, उसके अनुसार एक ही जातिके पशुओंके बीचकी समताको उन पशु-मनुष्योंके लिये भी लागू करना चाहिये जिनको हैकलने एक आनुमानिक श्रेणीयुक्त क्रिया है, आलालीमूक । लेकिन इन पशु-मनुष्योंको अन्य पशुओंकी अपेक्षा एक सुविधा यी उन्नतिकी शक्ति और यही अगमताका कारण थी । इसलिये असमतामें भी रूसो उन्नतिकी कारण देखता है । लेकिन यह उन्नति विरोधपूर्ण थी । यह साथ-ही-साथ अवनति भी थी । उन्नतिकी मार्ग यही था कि मनुष्य व्यक्तिगतरूपसे पूर्णताकी ओर कदम बढ़ाता, लेकिन यही कदम मनुष्य-जातिके लिये अवनतिका भी कदम था । संभ्यताका हर एक कदम अगमताकी ओर अग्रसर होता था । यह निर्विरोध सच है और वैधानिक नियमका मूल सत्य भी है कि लोग सरदारोंको चुनते हैं अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिये न कि उसका अन्त करनेके लिये । फिर भी ये सरदार अवश्य ही लोगोंको सतानेवाले बन जाते हैं और यहाँ तक सताते हैं कि यह अगमता चरम सीमापर पहुँचकर अपने विपरीत बन जाती है और गमताका कारण बन जाती है, क्योंकि निरङ्कुश शासकके नामने सब समान हैं, सब शून्य हैं । लेकिन यह शासक तभीतक प्रभु है जबतक वह जबरदस्त है और जब वह निकाला जाता है तब जबरदस्तीकी शिकायत नहीं कर सकता । शक्ति ही उसकी प्रभुता बनाये रखती है । अन्तमें शक्तिमें ही उसका पतन होता है । सब प्राकृतिक और सही रास्तेपर ही चलते हैं । इस प्रकार अगमता फिर एक बार समतामें रूपान्तरित हो जाती है । लेकिन यह मूक प्राथमिक मनुष्यकी प्राकृतिक समता नहीं है, यह समाजकी उन्नत गमता है । गतानेवाले गताये-जानेवाले हो जाते हैं, प्रतिपेधका प्रतिपेध हो जाता है ।'

उपर्युक्त कथन भी असङ्गत ही है; क्योंकि किसी भी शास्त्रार्थमें जब एक पक्षका खण्डन होता है तब वह दूसरे प्रकारसे अपने खण्डित पक्षका समर्थन करता है। जैसे द्वैत-अद्वैत पक्षके ही शास्त्रार्थकी बात लीजिये। श्रीमध्वके द्वैतका खण्डन मधुसूदनने 'सिद्धान्तविन्दु' ग्रन्थके द्वारा किया। उसका खण्डन करके 'न्यायामृत'-द्वारा पुनः द्वैतका प्रतिष्ठापन हुआ। उसका खण्डन पुनः 'अद्वैतसिद्धि' द्वारा हुआ। पुनश्च 'न्यायामृत-तरङ्गिणी' द्वारा उसका प्रतिष्ठापन हुआ, पुनश्च 'गौड़ब्रह्मानन्दी' द्वारा उसका खण्डन हुआ, 'न्यायभास्कर' द्वारा पुनः प्रतिष्ठापन हुआ। 'न्यायेन्दुशेखर'-द्वारा पुनः खण्डन होनेपर पुनः प्रतिष्ठापनार्थ प्रयत्न हुआ, परन्तु एतावता उनके पहलेके द्वैत और अद्वैतसे पिछले द्वैत-अद्वैतमें कोई भेद नहीं हुआ। इसी तरह जडवाद एव भौतिकवादका भले ही सहस्रो बार खण्डन तथा मण्डन हो तथापि वस्तुत्वमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। ऐसे प्रतिषेधके प्रतिषेधको प्रतिप्रसव कहा जाता है। दर्शनशास्त्रोंमें सिद्धान्ततः भी इसके उदाहरण मिलते हैं। जैसे सन्यासका विधान, पुनश्च कलियुगके लिये निषेध, पुनश्च कलमें भी वर्णविभाग वैदिकधर्म-प्रवृत्ति-पर्यन्त विधानद्वारा प्रतिषेधके प्रतिषेध होनेसे विधानका प्रतिप्रसव होता है। यह निर्दोष उदाहरण है। इसी प्रकार व्याकरणकी दृष्टिसे राम शब्दके प्रथमा या द्वितीयाके द्विवचनमें 'राम औ' इस स्थितिमें 'वृद्धिरेचि'से वृद्धि प्राप्त होती है। उसका बाधकर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त होता है। पुनश्च 'नादिचि'से उसका बाध होकर 'वृद्धिरेचि'से वृद्धि हो जाती है। तब 'रामौ' शब्द बनता है।

भौतिकवाद एव आदर्शवादके तत्त्वोंमें कोई भी अन्तर नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तुतः पहले भौतिकवादका खण्डन हो गया था और अब वह पुनः सिद्ध ही हो गया है। रूसो हैकेल आदिकोके मनःकल्पित इतिहासकी अपेक्षा ऋषियोंके आर्ष इतिहासका महत्त्व कहीं अधिक है। तदनुसार सृष्टिकालके वशिष्ठ, अत्रि आदि उच्चकोटिके महामानव थे। उनके धर्म, योग, वेदान्त आदिके सिद्धान्त आजके सभ्य कहे जानेवाले नरपशुओंको दुर्विज्ञेय ही हैं। उनमें जो आध्यात्मिक समता थी, वह आज भी है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

(गीता ५।१८)

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु

साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

(गीता ६।९)

विद्वान् सदा ही सर्वत्र समब्रह्मका दर्शन करता है, यही समता है। शरीर-बुद्धि या कर्म अथवा उसके फलकी दृष्टिसे न कभी समता थी, न होनेवाली है।

पशुतुल्य मनुष्य असंस्कृत मूक तभी होता है जब उसका सद्गुरु-सम्बन्ध नहीं होता। आज भी यह बात स्पष्ट है। जहाँ शिक्षण है, वहाँ ज्ञान-विद्या विकसित होती है, जहाँ शिक्षण नहीं है, वहाँ विकास नहीं होता। ईश्वरने ब्रह्माको नियुक्त करके उसे नित्य वेदोंका उपदेश दिया—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। (श्वेता० उप० ६।१८)

ब्रह्माने सनकादिको एव मरीचि आदिकोंको उत्पन्न करके उन्हें वेदादि शास्त्रोंका उपदेश किया है। जिन मनुष्योंका प्रमादवश उक्त सम्पर्क टूट गया, वे ही पशुतुल्य हो गये हैं।

हान्स, लाक, रूसो आदिकी कल्पनाएँ परस्पर भी टकराती हैं। हान्सके मतानुसार 'आदिम प्राणी समताकी स्थितिमें नहीं था, किंतु खूँखार था।' लाकका 'आदिम मनुष्य बहुत नेक था', रूसोका भी ऐसा ही था। सुकरातके अनुसार 'मनुष्य स्वभावसे ही सामाजिक प्राणी है' इनके अनुबन्धीय राज्यको भी अन्य दार्शनिक अनैतिहासिक कहते हैं। हैकलका अनुमान केवल उसका दिमागी फितूर ही है। मनुष्यो एव पशुओंके वैपम्यका कारण उनके जन्मान्तरीय कर्म मानने पड़ेंगे। निहंतुक शक्तिवैपम्यकी उपपत्ति हैकलके पास कुछ नहीं है। मनुष्योंमें भी कर्मतारतम्यसे ही उन्नतिकी शक्तिमें तारतम्य होता है और इसका भी अन्तिम उद्देश्य है उस आध्यात्मिक स्तरपर समता स्थापित करना, जिससे अधिक उन्नति हो ही नहीं सकती।

व्यक्तिगत उन्नतिकी ओर कदम बढ़ाना कभी भी अवनतिका कारण नहीं होता। व्यक्तिका समुदाय ही समाज है, व्यक्तिगत उन्नतिसे समाजकी उन्नति सुतरा सम्भव होती है। उन्नति एव सभ्यताका कोई भी कदम अवनतिका कदम नहीं है। क्या कोई विद्वान् बलवान् बनता है, एतावता किसीका नुकसान होता है? इतनी सहज-सी चीजको आधुनिक सभ्योंने कितने उल्टे रूपमें ग्रहण किया है? यदि किसी ऊँचे स्थानपर १०० मनुष्य चढ़नेके लिये अग्रसर होते हैं और यदि कुछ आलसियो, दीर्घसूत्रियोंको पीछे छोड़कर कुछ लोग आगे बढ़ते हैं तो स्पर्धासे दूसरे भी आगे बढ़नेके लिये दीर्घसूत्रता और आलस्य छोड़ेंगे ही। अतः आगे कदम बढ़ानेसे यदि विषमता होती है, तो यह भी उन्नत स्तरपर समताकी ओर ले जानेका ही प्रयत्न है।

मुखिया, सरदार या राजाको सदा ही धर्मनियन्त्रित होना आवश्यक है। उच्छृङ्खल होना धर्महीनताका परिणाम है, सरदार या राजा होनेके कारण नहीं। धर्महीन राज्योंमें ही उच्छृङ्खल या निरङ्कुश शासन होते हैं, वेन, रावणादि इसके उदाहरण हैं। मनु, इक्ष्वाकु, नृग, नल, मान्धाता, राम, युधिष्ठिर आदि धर्मनियन्त्रित राजाओंमें निरङ्कुशताका लेश भी नहीं हो सकता था। समाजवादी दृगकी समता उच्चकोटि

की होगी, यह उनके अपने, घरकी-ही कल्पना है। मुग़ों, कबूतरोंकी तरह साम्यवादी बन्धनमें मनुष्योंको सर्वथा परतन्त्र कर देना ही अगर समानता है, तो इससे कोई भी समझदार दूर ही रहना चाहेगा।

यदि प्रकृति ही सबको सही रास्तेपर चलाती है, तब तो ससारमे प्रचलित शिक्षण-व्यवस्था एवं दण्डविधान सब पागलपन ही ठहरेगा और समाजवादियोंका भी प्रचार और उपदेश सब व्यर्थ ही सिद्ध होगा। अतः इसे प्रतिषेधके प्रतिषेधका उदाहरण समझना व्यर्थ है। प्रतिषेध कभी भी कारण नहीं हो सकता है। यदि प्रतिषेध ही कारण है, तब तो अवश्य ही मसलकर, जलाकर भी जौके दानेका प्रतिषेध होता ही है, फिर उससे अङ्कुरकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती? यदि विशिष्ट प्रतिषेधसे अङ्कुरकी उत्पत्ति है, तो कहना पड़ेगा कि वह प्रतिषेध नहीं है, किंतु परिणामोपयोगी विकारमात्र है, प्रतिषेध या विनाश अभावात्मक ही है, विशेषता प्रतियोगीमे ही हो सकती है, अभावमें नहीं, क्योंकि कार्यके लिये विशिष्ट कारणका अन्वेषण होता है, प्रतिषेध या अभावका अन्वेषण नहीं होता। अतः प्रतिषेधसे या प्रतिषेधके प्रतिषेधसे किसी भी विशिष्टकार्यसिद्धिकी कल्पना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त प्रतिषेधका प्रतिषेध भावात्मक ही होता है। जैसे किसीको भ्रमवशात् रजतमे अरजत-बुद्धि होती है। तब वह कहता है कि 'नेदं रजतम्', पुनश्च जब उसका बोध होता है तब उस प्रतिषेधका प्रतिषेध होता है—'इदं नारजतम्'। यह अरजत नहीं है, इसका फल होता है रजतका व्यवस्थापन।

प्रकृतिमे जिस बीजका प्रतिषेध होकर अङ्कुरकी उत्पत्ति होती है, उस अङ्कुरके प्रतिषेधसे भी उस बीजका पुनः व्यवस्थापन नहीं होता। अतः वस्तुतः यहाँपर प्रतिषेधका प्रतिषेध हुआ ही नहीं। अङ्कुरको प्रतिषेधका फल किसी तरहसे कहा भी जाय, परंतु वह प्रतिषेधरूप नहीं हो सकता। और बीजको भी अङ्कुर प्रतिषेधका फल भले ही कहा जाय, परंतु अङ्कुरका प्रतिषेध अङ्कुर फल नहीं कहा जा सकता। अङ्कुरका कारणभूत बीज अन्य है, बीजसे अङ्कुरादि क्रमसे उत्पन्न फलरूप बीज उससे भिन्न होता है। पिता-पुत्रमे जैसे भेद होता है, वैसे ही प्रथम बीज एव बीजजन्य फलभूत बीजोमे भेद है। एक पिताके अनेक पुत्र होते हैं, वैसे ही एक बीजसे सैकड़ो फल उत्पन्न होते हैं। अतः यहाँ भी अन्तिम बीज प्रतिषेधका प्रतिषेध स्वरूप नहीं हो सकता। वस्तुतः प्रतिषेधके प्रतिषेधका व्यवहार वही होता है जहाँ प्रतिषेधके प्रतिषेधसे प्रथम प्रतिषेधके प्रतियोगिका सत्त्व-व्यवस्थापन किया जाता है। जैसे रजतनिषेधका निषेध करके रजतके सत्त्वका व्यवस्थापन किया जाता है।

कहा जाता है कि 'विचारजगत् और द्वन्द्वन्याय तर्कशास्त्रका साधारण नियम है, 'हाँ' 'हाँ' है और 'नहीं' 'नहीं'। इसके विपरीत द्वन्द्वमान कहता है कि

‘हाँ’ नहीं है और ‘नहीं’ हाँ है। ऊपरी दृष्टिसे द्वन्द्वमानकी भाषा बहुत ही विरोधपूर्ण है। लेकिन कुछ विचार करनेपर इसकी सत्यता प्रमाणित हो जायगी। तर्कशास्त्रके तीन बुनियादी नियम हैं। १. एकताका नियम, २. विरोधका नियम और ३. मध्यपरिहारका नियम। पहले नियमके अनुसार ‘क’ है, या ‘क’=‘क’ दूसरा नियम पहले नियमका नकारात्मकरूप है। इसका रूप है ‘क’ नहीं है=न ‘क’। तीसरे नियमके अनुसार किसीके लिये दो विरोधी गुण एक साथ नहीं हो सकते, वास्तवमे या तो ‘क’, ‘ख’ है या ‘क’, ‘ख’ नहीं है। यदि इनमेंसे एक बात सत्य है तो दूसरी असत्य है और दूसरी सत्य है तो पहली असत्य है। इनके मध्यमे कोई बात नहीं हो सकती।

‘युग्मवेगके निर्देशानुसार दूसरे और तीसरे नियमोंको इस प्रकार मिलाया जा सकता है। किसी विशिष्ट प्रश्नका, किसी वस्तुविशेषका अमुक गुण है या नहीं? उत्तर हो सकता है ‘हाँ’ या नहीं। ‘हाँ’ और ‘ना’ दोनोंमे उसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। इन नियमोंमे कोई भूल नहीं मालूम पड़ती। फिर द्वन्द्वमानका नियम क्योंकर सही है? प्रकृतिमे ही इसका उत्तर मिल जाता है, जिसका विवरण पहले दिया जा चुका है और अभी आगे चलकर फिर दिया जायगा। अतिभौतिक विचारप्रणालीकी जो कि तर्कशान्त्रमे मिलती है, गडबडी यह है कि व्यष्टि और समष्टि, इकाई और समूह—सबको एक साथ मिला दिया जाता है। इसी प्रकार निश्चित परिमाणोंमे हाइड्रोजन, उद्रजन और आक्सीजनके मिश्रणसे पानी बनता है। आधिभौतिकवादके लिये पानीमे अम्लजन और उद्रजनका पृथक् अस्तित्व बना रहता है। केवल तर्कन्यायमें पानी तथा अम्लजन और उद्रजनका एकीकरण होता है। यह रहस्यमय कल्पना है। इससे यह परिणाम निकलता है कि अम्लजन और उद्रजन तथा पानी—सभी एक साथ आसपास रहते हैं और अनन्त कालतक रहेंगे।’

वस्तुतः पाश्चात्य अतिभौतिकवाद भी भौतिकवादके समान ही निस्तत्त्व है। वास्तविक अव्यात्मवाद एव तर्क वेदान्तके सिद्धान्त बिना समझे हुए मार्क्सवादी उसके खण्डनकी निरर्थक चेष्टा करते हैं। अध्यात्मवादी जब कहता है, सत् नत् ही है असत् नहीं, असत् असत् ही है सत् नहीं, तब उसका तात्पर्य है कि कोई वस्तु उसी रूपसे उगी दृष्टिसे सत् एव असत् दोनों नहीं हो सकती। इसी आधारपर अनेकान्तवादका खण्डन किया जाता है। सभी देशकालमें व्यभिचरित वस्तु ही है, किसी देशकालमे व्यभिचरित वस्तु असत् है। मृत्तिकाविहार घटादिमें मृत्तिका अव्यभिचरितरूपसे विद्यमान होती है। अतः वह घटादिकी अपेक्षा सत् है। परन्तु मृत्तिकाका कारण जल है, जलकी अपेक्षा मृत्तिका असत् है। उनकी

अपेक्षा जल सत्, परतु सर्वकारण, स्वप्रकाश, अखण्डबोधस्वरूप सत् सर्वदेश, काल तथा वस्तुओंमें अव्यभिचरित होनेसे निरपेक्ष सत् है। तदभिन्न सब वस्तु असत् ही है। यदि सत्-असत्की अव्यवस्था हो तो किन्हीं भी सिद्धान्तों, मन्तव्यों अर्थात् अनेकान्तवाद या मार्क्सवाद एवं द्वन्द्ववादके सम्बन्धमें भी वही बातें लागू होंगी। मार्क्सवाद भी एकान्ततः सत्य नहीं है। किसी रूपमें सत् है, अन्य रूपोंमें असत् भी है। फिर अनिश्चित सिद्धान्तमें किसीकी प्रवृत्ति कैसे होगी? अपेक्षा-बुद्धिसे भाव-अभावकी एकत्र स्थिति तो भारतीय दर्शनमें अधिक प्राचीनकालसे मान्य है—

भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया।

अर्थात् किसी अपेक्षासे दूसरा भाव ही अभाव है। जैसे घटघटरूपसे भाव होने पर भी पटरूपसे अभाव भी है। इसीलिये स्वरूप-पररूपसे हरेक वस्तु सत्, असत्, उभयात्मक है—

स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मकम्।

परतु इतने मात्रसे सत्-असत्का अविरोध नहीं कहा जा सकता। स्वरूपसे सत् असत् नहीं हो सकता। अन्यरूपसे सत्का असत् होना यह अपेक्षाबुद्धिकृत है। नियम तभी निर्दोष होता है जब वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव दोषोंसे मुक्त हो। विचित्र ससारमें गुणधर्मकी विचित्रता स्वाभाविक है। केवल कतिपय स्थलोंमें सहचार-दर्शनमात्रसे व्याप्ति नहीं होती। पार्थिवत्व एवं लोह लेख्यत्वका सर्वत्र सहचार होनेपर भी केवल हीरकमें अव्याप्ति होनेमात्रसे यह व्याप्ति अशुद्ध समझी जाती है। फिर द्वन्द्वमानके तो लगभग सभी नियम अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोषोंसे ग्रस्त होते हैं।

कहा जाता है कि 'द्वन्द्वमान' इस स्थावर आविर्भावितकताका भेदन कर जाता है। 'मनुष्य' शब्दमें सब सम्भव मनुष्य सम्मिलित हैं। लेकिन मनुष्यजाति और मनुष्यगण यद्यपि भिन्न और पृथक् तर्कसिद्ध श्रेणियाँ हैं, लेकिन केवल तार्किक दृष्टिसे ही वे ऐसे हैं। एक ही घटनावलीके देखनेके लिये ये विभिन्न दृष्टिकोण हैं। व्यापकताके दृष्टिकोणसे अर्थात् उस दृष्टिकोणसे, जिसमें एक ही मनुष्य जातिका सदस्य होनेके नाते सब एक समान हैं। 'मनुष्यजाति' सब मनुष्योंकी समष्टि है। मनुष्यगण सब मनुष्योंकी समष्टिकी ही एक और कल्पना है, लेकिन इस अर्थमें कि कोई भी मनुष्य किसी दूसरे मनुष्यके समान नहीं है। द्वन्द्वमानके लिये विशेष और व्यापक याने 'साधारण एक और सब' विरोध रहते हुए भी ये दोनों एक दूसरेमें और एक दूसरेके द्वारा अवस्थित हैं। 'श्याम' का 'श्यामत्व' और उसके मनुष्यत्वसे पृथक् रूपमें न रह सकता है न उसके रहनेकी कल्पना ही की जा सकती है। मनुष्यको मनुष्यरूपमें हम उस साधारण गुणसे जानते हैं— जो सब विविष्ट मनुष्योंमें विद्यमान है, और हर विशिष्ट मनुष्यकी पहचान तभी हो सकती है, जब व्यापक मनुष्यरूपसे उसकी भिन्नताको दिखलाया जाय।

हेगेलके तर्कशास्त्रका वही गुण है कि वह विरोधियोंके एकत्वको मानता है और उनको श्रेणीबद्ध करता है । 'तर्कसिद्धि-रूपमें', एक और पूर्णरूपमें व्यापक और दूसरी ओर पूर्णरूपमें एक । हेगेलीय भाषामें दो विरोधियों—उद्वजन, अम्लजन—का एकत्व ही पानी है । ये तर्ककी दृष्टिमें विरोधी हैं । इन दो विरोधियोंके मेलमें जो पानीय वस्तु बनती है वह न उद्वजन है और न अम्लजन । गुणात्मकरूपमें दोनोंका अन्तर्धान हो जाता है और विद्युत्कुल नये गुणोंके संयोगकी सृष्टि हो जाती है । परिणाम तो उतना ही रहता है, लेकिन रूप परिवर्तित हो जाता है ।

उपर्युक्त कथन भी निःसार है । यह तो अध्यात्मवादमें ही स्वीकृत है कि वस्तुओंमें सामान्य-विशेषभाव एवं सार्वभौमिक-विशिष्टरूपमें मान्य होने हैं । जाति एवं गुणकी दृष्टिमें समष्टि-व्यष्टिका उपर्युक्त विवेचन भ्रान्तिपूर्ण है । नित्य एक एवं अनेकोंमें समवेत जाति है । जैसे अनेक गोव्यक्तियोंमें एक गोत्वजानि रहती है, उसीके आधारपर सभी गोव्यक्तियोंको जाना जाता है, परंतु गण या समूह तो विशेष (नैयायिकम्भीकृत पदार्थ) का भी कहा जा सकता है, जिनमें जाति नहीं है । अनेक जातिके मनुष्योंके समूहको भी गण कहा जा सकता है, परंतु उन्हें एक जातिका नहीं कहा जा सकता यह प्रसन्न ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि अद्यान्तर जातिका है । मनुष्यत्व जानि तो सभी मनुष्योंमें होती ही है । व्यष्टि और समष्टि अध्यात्मवादमें वृद्ध और बनके तुल्य है । व्यष्टित्व और समष्टित्वका तो भेद होता ही है । ऐसे अनेक गुणधर्म समष्टिमें मान्य होने हैं, जो व्यष्टिमें नहीं होने । जैसे-एक-एक तन्तुओंसे शीतापनयन नहीं होता, परंतु वही तन्तु-समुदाय पटरूपमें परिवर्तित होकर अङ्गप्रावरण, शीतापनयन आदि कार्य करते हैं । व्यक्ति-समुदायमें भिन्न होकर समष्टि कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है ।

जिन तत्त्वोंमें जिन वस्तुका निर्माण होता है उन तत्त्वोंका किसी-न-किसी रूपमें उस वस्तुमें बना रहना स्वाभाविक है । कर्ता, निमित्त आदिके बिना भी कार्य रह सकता है, परंतु उपादान या समवायी कारण बिना तो कार्यकी स्थिति सम्भव ही नहीं होती । कोई नियम तभी निर्दोष माना जाता है, जब वह अव्याप्ति-अतिव्याप्ति आदि दोषोंसे रहित हो । व्याप्त्य मनुष्यत्वका व्यास धर्म है, सुतरा व्यापक धर्मके बिना व्यास धर्मकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती । जैसे क्षितित्व, चलत्व आदि द्रव्यत्व-व्यास धर्म हैं । अतः क्षितित्व, चलत्व आदि द्रव्यत्वके बिना नहीं रह सकते । विभिन्न विशेषोंमें ही सामान्यका पर्यवसान होता है ।

वस्तुतः जिस रूपमें आग्नीजन और हाइड्रोजन जटिल जनन होते हैं; उस रूपमें वे विरोधी नहीं हैं । यद्यपि अग्नि और तेल किसी रूपमें विरोधी हैं;

परतु वे ही युक्तिसे समन्वित होकर दीपक-प्रज्वलनका भी काम करते हैं। जल-अग्नि परस्पर विरोधी हैं, परंतु युक्तिसे समन्वित होकर बाष्पद्वारा यन्त्र संचालन करते हैं। वे विरोधी अन्यरूपसे हैं, कार्यवाहक अन्यरूपसे हैं। इसीलिये स्वरूपसे भाव, अभाव, सत्, असत्की एकता नहीं हो सकती। अन्यथा सरोवर-कमल और गगन-कमलकी तथा मित्रातनय एव बन्ध्यातनयकी एकता भी कही जानी चाहिये। अतः इस प्रकारके काल्पनिक विरोधके दृष्टान्तसे सत्, असत्, भाव, अभावकी तरह उसी सम्बन्धसे उसी देशमें उसी वस्तुका भाव-अभाव नहीं रह सकता। जैसे भूतलके उसी प्रदेशमें संयोग सम्बन्धसे उसी प्रकारके उसी घटका भाव-अभाव-दोनों नहीं हो सकते। यदि यह हो सके तब तो ससारसे विरोधमात्र ही दत्तजलाञ्जलि हो जायगा।

उद्रजन, अम्लजन दो विरोधियोंके मिलनेसे पानी बना। उद्रजन, अम्लजन केवल इतनेमात्रसे विरोधी नहीं होते क्योंकि एक वह है जो दूसरा नहीं है। इतना दूर क्यों जाया जाय, और सरल लौकिक दृष्टान्त ले। अनेक तन्तुओंसे पट बनता है, तन्तुओंमें भी एक वह नहीं है, जो दूसरे है। एक दृष्टिसे सब परस्पर भाव एवं अभावस्वरूप हैं और उनके मिलनेसे ही पट बनता है। पटमें तन्तुओंका अन्तर्भाव हो जाता है, एक नयी वस्तु पट बन जाती है। परंतु यह कलाबाजी अविचारित रमणीय ही है। तन्तुओंको परस्पर विरोधी कहनेकी अपेक्षा परस्पर सहयोगी कहना प्रत्यक्ष-प्रमाणके अधिक अनुकूल है। विरोधी तो उन्हें एक दूसरेका अभावात्मक होनेसे केवल अपेक्षा-बुद्धिसे कहा जाता है। इसी तरह पट बननेपर तन्तुका लुप्त हो जाना, पटरूपी नयी वस्तुका बन जाना भी अविचारित रमणीय है। विचारनेपर अब भी तन्तुओंसे भिन्न होकर पट कोई वस्तु नहीं है। शीतापनयनादि-अर्थ-क्रियाकारिता विशेषरूपसे अवस्थित समुदायका गुण है। समुदाय समुदायीसे भिन्न नहीं, एव विशेष अवस्थिति अवस्थावालोसे भिन्न नहीं हो सकती है। व्यष्टिवृक्षोंसे भिन्न होकर समष्टि बन नहीं है। पटसे भिन्न होकर उसकी संकुचित-प्रसारित अवस्था भी भिन्न नहीं है। यही स्थिति उद्रजन, अम्लजनकी है, उन्हें परस्पर विरोधी न कहकर सहयोगी कहना अधिक उपयुक्त है।

पञ्चभूत भी परस्पर विरुद्ध कहे जा सकते हैं। जलसे अग्निका निर्वाण हो जाता है, किसी ढगसे अग्निसे जलका गोपण हो जाता है; पर साथ ही उनका कार्य-कारणभाव भी है। तेजसे ही जलकी उत्पत्ति होती है और तेजमें ही जलका संहार होता है। ब्रह्मसे ही विश्वकी उत्पत्ति होती है, उसीमें उसका संहार भी होता है। इस दृष्टिसे ब्रह्म ही विश्वका उत्पादक भी है, संहारक भी है। परंतु यह विरोध अपेक्षा बुद्धिक्रम है। सत्, असत्का-सा विरोध नहीं है। इसी

तरः सत्त्व, रज, तमका भी परस्पर विरोध कहा जा सकता है। सत्त्व प्रकाशात्मक है, रज चल है, तम आवरणात्मक एवं अवष्टम्भात्मक है। व्यवहारमें भी सत्त्वके घटनेपर रज-तमका घटना अनिवार्य है। रजके घटनेपर अन्यका घटना अनिवार्य है, तो भी महदादि कार्यकी उत्पत्तिमें दोनों सहयोगी बनते हैं। अवश्य ही जबतक उनका सम परिणाम चलता रहता है, तबतक वे कोई कार्य नहीं आरम्भ कर सकते, परंतु विपमता होनेपर प्रधानके अप्रधान सहयोगी हो जाते हैं, फिर कार्यका उत्पादन करते हैं और हर एक कार्यमें वे उपलब्ध भी होते हैं। यही चीज हर एक उपादानकारणके सम्बन्धमें कही जा सकती है। अगर आक्सीजन, हाइड्रोजन जलके कारण हैं, तो अवश्य ही उनमें संयोग अपेक्षित है। इसी तरह कार्यावस्थामें भी उनका अस्तित्व रहना ही चाहिये। और कार्य भी कारणसे भिन्न होकर सर्वथा नयी वस्तु नहीं है। जैसे पटकी ही अवस्थाविशेष, उनका सकोच और प्रसार है, वैसे ही कारणकी अवस्थाविशेष ही कार्य है। इसीलिये जलसे पुनरपि हाइड्रोजन, आक्सीजन निकल आनेपर जल कुछ भी नहीं रह जाता है। भाव-अभावके समान उद्भजन, अम्लजनका विरोध नहीं होता। अतएव उनका सम्बन्ध होता है, सम्बन्धसे जल बनता है, किंतु भाव-अभावके सम्बन्धसे, सत्-असत्के सम्बन्धसे किसी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती।

इसी तरह कहा जाता है कि 'तर्कशास्त्रके अनुसार आरम्भ क्या है ? यह कुछ (अस्तित्व) नहीं है, क्योंकि आरम्भमात्र है। लेकिन इसी कारणसे वह कुछ नहीं भी नहीं हो सकता। इस प्रकार आरम्भ न अस्तित्व है, न नास्तित्व है। साथ ही वह अस्तित्व, नास्तित्व—दोनों ही है। यही अस्तित्व-नास्तित्वकी एकता है। एकका दूसरेमें रूपान्तर है। संक्षेपमें यह होनेकी एक क्रिया है जिसमें अस्तित्व और नास्तित्वकी साधारण बुनियाद है। इस तर्कको वास्तविकताके रूपमें देखा जाय तो श्याम एक मनुष्य है। जो एक मनुष्य-श्रेणीका है जिसमें सब मनुष्य सम्मिलित हैं। श्यामका और अन्य मनुष्योंमें व्यावर्तक धर्मोंसे भेद होता है, जो कि एकमे होते हैं, दूसरेमें नहीं। इस तरह वे विशिष्ट अंगोंमें भिन्न होते हुए भी मनुष्यत्वेन समान हैं। उन चीजोंको देकर जो उनमें नहीं हैं, किंतु दूसरोंमें हैं। लेकिन इस प्रभेदका अर्थ यही है कि अपने विशिष्ट गुणोंके अलावा वह और मनुष्योंके समान है। इस प्रकार तार्किक दृष्टिसे श्यामका पूरा ज्ञान हो जाता है। जब उसकी कल्पना विशिष्ट 'श्याम' तथा सर्वसाधारण मनुष्योंके एकत्वके रूपमें की जाय।'

मार्क्सवादी इसे एक सहज और महान् सत्य कहते हैं। विशुद्ध सत् विशुद्ध असत्से अभिन्न है। विशेष गुणोंके द्वारा ही एक वस्तुको दूसरीसे अलग किया जा सकता है और इस अलग करनेका अर्थ ही है दो बातोंका एक साथ

कहना । भावात्मकरूपसे वही वस्तु एक है और अभावात्मकरूपसे अन्य । इस प्रकार विचारमें एक वस्तुको दूसरेसे पृथक् करना हों और ना दोनो करना है और इसमें विरोध और पुनर्मिलन दोनो है । समरूपता और पार्थक्य—दोनोका रहना आवश्यक है, नहीं तो एकको दूसरेसे पृथक् नहीं किया जा सकता ।

“यही तत्त्व है सत् और असत्के एकत्वका । हेगेलकी इस तार्किक प्रथाका रूप है वाद (थिसिस), प्रतिवाद (एन्टीथिसिस) और समन्वितवाद (सिन्थिसिस) । दूसरे शब्दोंमें भाव-अभाव, अभावका अभाव या प्रतिषेधका प्रतिषेध । इस त्रिगुट सम्बन्धकी विशेषता यह है कि ये एक साथ विराजमान रहते हैं । एकके वाद दूसरेका आविर्भाव नहीं होता । जब कहा जाता है कि ‘राम मनुष्य है’ तो राम और अरामका विरोध तथा उसका साथ-साथ इन सबकी कल्पना एक साथ हो जाती है । मनमें तर्ककी जो क्रिया होती है, उसमें इन दोनोके पृथक्करणका पहले एक सिरा, फिर दूसरा सिरा और फिर दोनोका सम्बन्धित अस्तित्व दीखता है । लेकिन वास्तवमें इस त्रिगुट सम्बन्धका अस्तित्व आरम्भसे ही है और तर्कक्रिया इस अस्तित्वको मान लेती है । हेगेलने लिखा है कि इस त्रिगुट क्रियाको हम चतुष्क्रियाके रूपमें भी देख सकते हैं । पहला है अविभाजित एक, दूसरा विभाजन, तीसरा भावात्मक तथा अभावात्मक, फिर विभाजितरूपसे उस एककी पुनः स्थापना । जीवन संघर्षमें अवयवद्वारा परिवर्तनीयता और वशानुक्रमिकताके विरोधी ऐक्यका प्रदर्शन अवयवके विकासका मुख्य स्तम्भ है ।”

विरोधियोंके एकत्वके नियमको हेगेलने इस भाषामें लिखा है—“यह समझा जाता है कि भाव और अभावका अन्तर अमिट है । लेकिन तहमें ये दोनो चीजें एक हैं । कोई एक नाम दूसरेमें परिवर्तित हो सकता है । इस प्रकार जमा और उधार सम्पत्तिके दो विशेष प्रकार नहीं हैं । कर्ज लेनेवालेके लिये जो अभाव है, देनेवालेके लिये वह भाव है । पूरवका रास्ता पश्चिमका भी रास्ता है । भाव और अभाव एक दूसरेके ऊपर निर्भर है और परस्पर सम्बन्धमें ही इनका रूप प्रकाशित है । चुम्बक पत्थरका उत्तरी ध्रुव बिना दक्षिणी ध्रुवके नहीं रह सकता । किसी चुम्बकको दो भागोंमें काटनेपर एक हिस्सेमें उत्तरी और दूसरेमें दक्षिणी ध्रुव नहीं रहता । इसी प्रकार बिजलीकी दो धाराएँ-धनात्मक और ऋणात्मक, एक दूसरेसे स्वतन्त्र नहीं होती ।”

वस्तुतः उपर्युक्त बातें भी वागाडम्बरके अतिरिक्त कुछ नहीं हैं—यह पीछे कहा जा चुका है । किसी अपेक्षासे भावान्तर ही अभाव होता है । स्वरूपसे कोई भी वस्तु सत् है, किंतु वही अन्यरूपसे असत् है परंतु स्वरूपसे ही कोई वस्तु सत्-असत् नहीं हो सकती । परमाणुवादियोंकी दृष्टिसे समवायी कारण

तन्तुओमे पटका आरम्भ होता है, जो पहले अमत् ही रहता है। इसका असत्-कार्यवादकी दृष्टिसे खण्डन हो जाता है। असत् खपुष्य सहस्रों प्रयत्नोंसे निर्मित नहीं होता। अतः सत् ही कार्यकी अभिव्यक्ति मात्र कारकव्यापारोंसे होती है। इस स्थितिमें आरम्भके पहले, आरम्भकालमें तथा कार्य सम्पन्न होनेपर—इन तीनों अवस्थाओंमें भी कारणरूपसे कार्य सत् ही रहता है। अतः स्वेन रूपेण आरम्भ या आरब्ध वस्तु सत् ही है, 'हो' हो ही है, उसे 'नहीं' नहीं कहा जा सकता। इसलिये आरम्भको अस्तित्व नास्तित्वकी एकता नहीं कहा जा सकता।

राम-श्याम नामका कोई मनुष्य भी हो सकता है। कोई भी मनुष्य अपनेमें असाधारणता भी रखता है और इतर साधारणता भी है। विशिष्ट रूपसे इतर भिन्नता और तदितर व्यापक सामान्य रूपसे अभिन्नता कहनेकी अपेक्षा यह कहना अधिक सङ्गत है कि अमुक मनुष्यमें कुछ अपने असाधारण गुण हैं और कुछ मनुष्य-सामान्य-गुण। एक मनुष्य कुछ गुणोंकी अविशेषतासे ही इतर मनुष्योंसे भिन्न नहीं है। मनुष्यत्व सामान्य रहनेपर भी व्यक्तियोंमें परस्पर भिन्नता रहती है, अतः यह अस्तित्व-नास्तित्वकी एकताका उदाहरण नहीं कहा जा सकता। इस उदाहरणसे अस्तित्व-नास्तित्वकी एकाविकरणता और विरोधपरिहार नहीं कहा जा सकता। विरोधका स्वरूप यही होता है कि—

यस्य यद्देशावच्छिन्नतत्कालावच्छिन्नयत्सम्यन्धावच्छिन्नयद्दर्मावच्छिन्न-यदधिकरणता यत्र, तत्र तस्य तद्देशावच्छिन्नतत्कालावच्छिन्नतत्सम्यन्धावच्छिन्न-तद्दर्मावच्छिन्नतदत्यन्ताभावो न सम्भवति।

जिस वस्तुका जिस देशमें, जिस कालमें, जिस सम्यन्धसे, जिस धर्मसे, जिस रूपसे जहाँ भाव रहता है, उस वस्तुका उसी देशमें, उसी कालमें, उसी सम्यन्ध-से, उसी रूपसे अभाव नहीं कहा जा सकता। पर्वतमें धूमत्वेन धूम रहनेपर भी वह्नित्वेन धूम नहीं है, तो भी यह अभाव अग्निके अनुमानमें बाधक नहीं हो सकता। विशेष गुणोंके कारण विशिष्टकी सामान्यसे भिन्नताका अर्थ विलक्षणता-मात्र है। इससे एक वस्तुमें सालक्ष्ण्य-वैलक्ष्ण्यका सह अस्तित्व सिद्ध होता है। नैयायिकोंके मतानुसार साधर्म्य-वैधर्म्य अनेक पदार्थोंमें सहावस्थित होते हैं, परन्तु एतावता मूल वस्तुमें भेद नहीं सिद्ध होता। जैसे प्रसारित पट और सङ्कुचित पटमें वैलक्ष्ण्य प्रतीत होनेपर भी वस्तुमें भेद नहीं सिद्ध होता। व्यावर्तक भेदक धर्मसे वस्तुकी भिन्नता या व्यावृत्ति होती है। इसका अभिप्राय यही है कि—'नील-मुत्पलम्' नीलता कमलकी विशेषता है, इससे वह अनील श्वेत, अरुण आदि कमलोंसे भिन्न सिद्ध होता है। नीलताको छोड़कर वह अन्य कमलोंसे अभिन्न ही

रहता है। यहोंके भेद-अभेद दोनो असमानता तथा समानताके ही बोधक हैं, भिन्नता अर्थात् भिन्नजातीयता अभिन्नता अर्थात् अभिन्नजातीयता।

परंतु इस समानजातीयता, असमानजातीयताका भेदाभेदके समान परस्पर विरोध नहीं होता, क्योंकि कमल व्यापक है। नील कमल उसका ही अवान्तर भेद है, जैसे मनुष्यजातिके भीतर ब्राह्मणत्व आदि जातियाँ हैं। एक ब्राह्मणमें ब्राह्मणत्व भी है, मनुष्यत्व भी। इनका आपसमें कोई विरोध नहीं होता। यह भावात्मक-अभावात्मक वस्तुओका एकीकरण नहीं कहा जा सकता। इतनेमात्रके लिये इतनी दूर भटकनेकी आवश्यकता नहीं। यो तो सहयोगी वस्तुओमे भी भावात्मकता, अभावात्मकताका सह अस्तित्व किसी अपेक्षा-भेदसे मिलता ही है। यह विरोध परिहार स्वमनःपरिकल्पित ही है। जैसे कोई अपने मनसे ही प्रेतकी कल्पना करके उससे संग्राम करता हो और कहता हो कि हमने अपने प्रतिद्वन्दीको हरा दिया, ठीक यह भी वैसा ही है।

भाव, अभाव एवं अभावका अभाव या वाद, प्रतिवाद, समन्वितवाद अथवा अविभक्त एक तथा उसका भावात्मक, अभावात्मक विभाजन, फिर विभक्त स्वरूपोसे एक वस्तुकी स्थापना आदि कल्पना मनोरञ्जक अवश्य है, पर है सारशून्य ही। यह केवल बौद्धोंके विनाश (अभाव) कारणवादके आधारपर गढ़ी गयी है। बौद्धोंने देखा कि बीजसे अङ्कुर उत्पन्न होनेमें बीजका स्वरूप नष्ट हो जाता है; अतः अङ्कुरोत्पत्तिके अव्यवहितपूर्व क्षणवर्ती विनाश ही है; अतः विनाशहीको कारण मानना ठीक है। परंतु सांख्यो और वेदान्तियोने उसका खण्डन किया है। यदि विनाश ही कारण है तो बीजदाहसे भी अङ्कुर उत्पन्न होना चाहिये। यदि अभाव ही कारण है तो वह तो सर्वत्र सुलभ है तो फिर कार्योत्पत्तिके लिये कारण-सामग्री ढूँढनेकी प्रवृत्ति क्यों होती है? फिर कार्यमें कारणाश सत्की अनुवृत्ति देखी जाती है। विनाश, अभाव या असत्की अनुवृत्ति नहीं देखी जाती। अतः भाव ही कार्यका कारण है, अभाव नहीं।

इस मण्डन एवं खण्डनसे प्रभावित होकर मार्क्सवादियोंने मूलबीजको अविभाजित एक वस्तु मान पुनः उसका विभाजन मानकर भाव, अभावकी कल्पना की और उनके समन्वयसे अङ्कुरकी उत्पत्ति मान ली। परंतु वस्तुतः यहाँ भाव-अभाव-जैसा विभाजन और उसके समन्वयका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। विनाश, अभाव या असत्से न कोई कार्य उत्पन्न हो सकता है, न सत्-असत्का कोई सम्बन्ध हो सकता है। न ख-पुष्प, वन्ध्यापुत्रसे किसीकी उत्पत्ति हो सकती है, न किसीसे उनका कोई सम्बन्ध ही हो सकता है। बीजावयव ही अङ्कुरके कारण हैं और उन्हींका कार्यमें अनुवेध भी रहता है। परंतु एक उपादानमे कार्यान्तरकी

उत्पत्तिके लिये पूवकायका तिरोधान आवश्यक होता है। इसीलिये बीजावस्थाका तिरोभाव नान्तरीयक रूपसे होता है।

अवयवद्वारा परिवर्तनीयता और वशानुक्रमिकताके विरोधी ऐक्यका उदाहरण भी ऐसा हो है। जैसे आम्रादि बीजसे आम्रादि वृक्षकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही मनुष्य, पशु आदि बीजोसे ही मनुष्य, पशु आदि देहोकी उत्पत्ति होती है। अवयव-परिवर्तनादिद्वारा गोलाझूल, मनुष्य आदिके विकासकी कल्पना सर्वथा अप्रमाणित है। उसमें मुख्य आपत्ति यह है कि उन-उन प्राणियोकी परम्परा स्वतन्त्ररूपसे आज भी प्रचलित है, आज वैसा कोई परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता। न तो पूँछ घिसनेमें आज कोई मनुष्य बनता है और न मनुष्यसे आगे कोई विकसित वर्ण दिखायी देता है। न कोई मनुष्यका अङ्ग बढ़ रहा है और न कोई घट रहा है। यों परिणामवादमें कार्याके रूपमें भिन्नता और कारणात्मना अभिन्नताका सिद्धान्त मान्य है ही। इसका तत्त्व भेदाभेद-विवेचनमें आ चुका है।

हीगेलके दृष्टान्तोसे भाव-अभाव, सत्-असत्का विरोध मिट नहीं सकता। जमा-उधार, लेना-देना, ऋण-धन, पूर्व-पश्चिम आदिमें भाव, अभावकी अपेक्षा बुद्धिजन्य कल्पनामात्र है। उनकी सम्पत्ति या रास्तेके एक स्थानमें ऋण-धन ओर पूर्व-पश्चिमकी एकता हो सकती है, परंतु क्या इसी तरह उसी देशमें, उसी कालमें, उसी सम्बन्धसे, उसी रूपमें, उसी घटका भाव और उसीका अभाव साथ-साथ रह सकता है? क्या इसी तरह मित्रापुत्र और वन्ध्यातनयका सह अस्तित्व हो सकता है? वस्तुस्थिति यह है—‘कचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वा-नधिकरणत्व’ ही असत् है। अर्थात् जो किसी भी उपाधि या अधिकरणमें सत्त्वेन प्रतीत न हो वही असत् है। जो प्रातिभासिक रजतादि कही शुक्तिकादिमें सत्त्वेन प्रतीत होता है, वह शुक्ति रजतादि प्रातिभासिक सत् है। कारण ब्रह्ममें सत्त्वेन प्रतीत आकाशादि व्यावहारिक सत् है और अत्यन्तावाध्य स्वप्रकाशरूपसे भासमान सत् पारिमार्थिक सत् है। ऐसे सत्-असत्की भी यदि एकता हो सकती है, तब ससारमें विरोध क्या है। फिर गोषक गोपित-वर्गोंका ही अमिट विरोध क्यों? उनमें तो एकता स्पष्ट ही है। दूसरोके भक्षक जगली जानवर या पानीकी मछली आदि स्वयं ही दूसरोद्वारा भक्षित होते हैं, फिर यहाँ तो एक स्थानमें ही शोषकत्व, गोपितत्व स्पष्ट है। वस्तुतः सत्-असत्का भेद अपेक्षाबुद्धिजन्य कल्पनामात्र नहीं है। हाँ, जहाँ भावान्त ही अभाव है, वहाँ विरोधकी चर्चा व्यर्थ है।

पटाभाव घट स्वरूप है, अतः घटका, पटाभावका कोई विरोध नहीं है, एतावता घटाभावका भी घटके साथ विरोध नहीं है, यह कहना उपहासास्पद ही

है। साथ ही भाव, अभाव एक दूसरेके ऊपर निर्भर है—इसका दो अर्थ हो सकता है। एक तो यह कि अभाव किसी वस्तुका और किसी अधिकरणमे होता है, अर्थात् प्रतियोगिनिरूपक (जिसका अभाव हो) और दूसरा अनुयोगी, (जैसे 'भूतले घटो नास्ति' 'भूतलमे घट नहीं है')। भूतलका तथा घटका ज्ञान हुए बिना घटाभावका ज्ञान नहीं हो सकता। अभाव अधिकरणस्वरूप है, इस दृष्टिसे अनुयोगिस्वरूप तो अभाव कहा जा सकता है, परंतु अभाव और प्रतियोगी भी कभी एक हो जाते हो, ऐसी बात नहीं है।

इसके अतिरिक्त अभाव तो अवश्य ही अनुयोगी-प्रतियोगीकी अपेक्षा रखता है, परंतु भाव इस प्रकार अभावकी अपेक्षा नहीं रखता। निरुपाख्य असत्त्व इससे भी अधिक अव्यवहार्य है। चुम्बकके उत्तरी ध्रुव, दक्षिणी ध्रुव एवं विजलीकी धनात्मक-ऋणात्मक दो धाराएँ परस्पर विरोधी होनेपर भी भावरूप हैं। उनका जुट सकना सम्भव है, परंतु इसी तरह भाव-अभाव, सत्-असत्का जुटना असम्भव है। उपर्युक्त विरोध सत्त्व, रज, तमके विरोध-जैसा है, जो कि विरोध होनेपर भी समन्वित होकर कार्यारम्भक होते हैं। इस प्रकार भाव-अभाव, सत्-असत्का समन्वय होकर कार्यारम्भकता सम्भव नहीं है।

कहा जाता है कि 'प्रकृतिके दृश्यगत घटनाओके मूलमे भूतकी गति है। इसका विरोध स्पष्ट है। यदि कोई पूछे कि कोई गतिशील पदार्थ किसी विशेष समयपर किसी स्थानपर है या नहीं, तो युवेरवेगके नियमके अनुसार इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता कि 'हाँ' 'हाँ' है और 'नहीं' 'नहीं' है। गतिशील पदार्थ एक बिन्दुपर है भी और नहीं भी है। इसका विचार इसी सकेतसे किया जा सकता है कि 'हाँ' 'नहीं' है और 'नहीं' 'हाँ'। गतिशील पदार्थ 'विरोधके तर्क' की अकाट्य दलील है और जो इस तर्कको नहीं मानता, उसको जैनोके साथ कहना पड़ेगा कि गति इन्द्रियोका भ्रममात्र है। जो ऐसा नहीं मानते उन्हें या तो युवेरवेगके तर्कशास्त्रके बुनियादी नियमको मानकर गतिका त्याग करना पड़ेगा अथवा गतिको मानकर इस बुनियादी नियमका परिहार करना होगा।' पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृतिकी दृश्यगत घटनाओकी बुनियादी बात है भूतकी गति। लेकिन गति एक विरोध है। इसका विचार द्वन्द्वमानके नियमसे किया जाना चाहिये अर्थात् इस सकेतसे कि 'हाँ' नहीं है और 'नहीं' 'हाँ' है। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि दृश्यगत घटनाओके सम्बन्धमे हम विरोधी तर्कके राज्यमे हैं। लेकिन गतिशील भूतके अणुओके सयोगसे वस्तुओकी सृष्टि होती है। यह सयोग कम या अधिक क्षणस्थायी होकर तिरोहित हो

जाता है और दूसरे सयोग डमका स्थान ले लेने हैं। जो अनन्त है, वह है भूतकी गति। जब बाहरी गतिके कारण भूतके एक विशिष्ट सयोगका आविर्भाव होता है और गतिहीके कारण जबतक उसका अन्तर्धान नहीं होता, तबतक डमके अस्तित्वके प्रश्नको भावात्मकरूपसे ही हल किया जा सकता है। यही कारण है कि यदि कोई बुधग्रहको दिखाकर हमसे पूछे कि डमका अस्तित्व है या नहीं? तो हम निःसंकोच यह उत्तर देंगे कि 'हाँ' है। इसका अर्थ यह है कि स्पष्ट वस्तुओंके सम्बन्धमें हम युवेरवेगके ही नियमका अनुसरण करेंगे। डम राज्यमें 'हाँ' 'हाँ' है और 'नहीं' 'नहीं' का ही संकेत लागू होता है। लेकिन डम नियमका राज्य अबाध नहीं है। जब कोई वस्तु उत्पत्तिकी अवस्थामें है तो उसका उत्तर देनेमें कुछ संकोच नहीं होता। जब किसी मनुष्यके मरके बाल काफी उड़े देखे जाते हैं, तो कहा जाता है कि वह गजा है। लेकिन वह कब पूरा गजा हो जायगा, ठीक डम मुहूर्तका निश्चय नहीं किया जा सकता।

‘किमी विशिष्ट प्रश्नका कि अमुक वस्तुका अमुक गुण है या नहीं, ‘हाँ’ या ‘ना’ में ही उत्तर दिया जा सकता है। लेकिन जब कोई वस्तु परिवर्तनकी स्थितिमें है, किमी विशेष गुणका डममें सयोग या वियोग हो रहा हो, तब इसका उत्तर दिया जा सकता है—‘हाँ’ ‘नहीं’ है तथा ‘नहीं’ है ‘हाँ’। वेरवेगके नियमके अनुसार डमका उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह एतराज किया जा सकता है कि जिस गुणका वियोग हो रहा है उसका अभी अन्तर्धान नहीं हुआ और जिस गुणका सयोग हो रहा है, अभी वह पहलेमें ही वर्तमान है। डमलिये ‘हाँ’ या ‘ना’ में डमका उत्तर असम्भव नहीं, किंतु वाचिनामूलक है, चाहे वह वस्तु परिवर्तनहीकी क्रियामें क्यों न हो। लेकिन यह एतराज गलत है। जिस बुधकी टोढीपर दाढीकी रेखा उग रही हो उसको दाढीवाला नहीं कहा जायगा, यद्यपि यह रेखा धीरे-धीरे दाढीमें परिणत हो रही है। गुणात्मक परिवर्तनके लिये परिमाणकी एक सीमातक पहुँचना आवश्यक है। जो इसको भूलता है, वह वस्तुओंके गुणोंके सम्बन्धमें स्पष्ट राय नहीं दे सकता।’

सिद्धान्ततः भूत स्वयं प्रकृतिका कार्य है, प्रकृतिके गुण भूतमें भी रहते हैं। सभी घटनाओंका मूल ईश्वर चेतनाविधित प्रकृति है। ‘चञ्चलगुणवृत्तम्’ के अनुसार प्रकृति क्षणपरिणामशील या गतिशील है। सुतरा तत्त्वपरिणामभूत सभी कार्य भी गतिशील हैं, परंतु परिच्छिन्न कोई पदार्थ समकालमें अनेक स्थान नहीं हो सकता। अवश्य ही वह जिस समय किसी स्थलमें है, उसी समय तदन्यस्थलमें नहीं कहा जा सकता। कितनी भी तीव्रगति किसीकी क्यों न हो, फिर भी एक ही देशकालमें उसका भाव अभाव नहीं कहा जा सकता।

काल बड़ा सूक्ष्म होता है, अतः किसी स्थलपर समकालमे गतिशील पदार्थका अस्तित्व, नास्तित्व नहीं कहा जा सकता । उसी वस्तुको रूपान्तरसे भाव एव रूपान्तरसे अभाव कहना सम्भव है । परंतु उसी रूपसे भाव अभाव—दोनों कोटि-कोटि प्रयत्नसे भी सम्भव नहीं हैं, तीव्रगामी बाण या तलवारसे समवेत सहस्र कमलपत्रका छेदन समकालमें ही प्रतीत होता है । पापड़ खाते समय समकालमें ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी प्रतीति समकालमे मालूम पड़ती है, फिर भी सर्वत्र क्रमिकता ही है । हाँ, क्रम इतना सूक्ष्म है कि परिलक्षित नहीं होता, फिर भी उसका अनुमान तो होता ही है । इस तरह अति तीव्रगतिमे, अतिसूक्ष्मकालमें अस्तित्व-नास्तित्वका क्रम भी बदल जाता है । इसीलिये अस्तित्व-नास्तित्व एकत्र स्थलमे क्रमिक ही रहता है; समकालिक नहीं । सामान्य गतिमान् पदार्थका जब विभिन्न स्थानीय अस्तित्व, नास्तित्व, भिन्नकालिक है, तो इसी तरह तीव्र गतिमान् पदार्थोंका भी एकत्र अस्तित्व, नास्तित्व भिन्नकालिक ही मानना उचित है । इस तरह उसे अकाट्य तर्क समझना भ्रम ही है ।

युवेरवेग हो या कोई और हो, यौक्तिक विचारमे जिसका पक्ष उचित हो ग्रहण करना चाहिये । अयुक्तियुक्त किसीका भी मत त्याज्य होना चाहिये । किसी भी नियमसे सत् असत्, असत् सत् नहीं हो सकता । द्वन्द्वमानकी बाजीगरी भी इस सम्बन्धमे व्यर्थ ही है । सिर्फ घटका स्वेन रूपेण अस्तित्व है, अन्यरूपेण नास्तित्व है । इसके सिवा अस्ति, नास्तिकी एकत्र अवस्थिति सर्वथा असम्भव है । गतिशील परमाणुओंके संयोगसे दृश्य वस्तुओंका निर्माण हो अथवा प्रतिक्षण परिणामी प्रकृति-तत्त्वका परिणामस्वरूप दृश्य वस्तु हो उसकी अस्थिरता निश्चित है । फिर भी वस्तुके भाव-अभावमे संदेह नहीं होना चाहिये । संदेह होता है स्थिरता एवं अस्थिरतामे ।

नदीप्रवाह एव दीपशिखामें स्थूलदृष्टिसे स्थिरता एव एकता प्रतीत होती है, किंतु वस्तुतः उनमे स्थिरता-एकता सादृश्यमूलक भ्रम ही है । गगन, पर्वत, समुद्र, नक्षत्रादि—सभीमे स्थिरता, एकता, प्रत्यभिज्ञा इसी प्रकार सादृश्यमूलक भ्रम ही है । फिर भी अविचारित रमणीय एकता आदिका व्यवहार चलता ही है । सदृश परिणाम जबतक चलता है, तबतक एकता विसदृश परिणाम होनेसे ही भिन्नता, अनेकताकी प्रतीति होने लगती है । सदृश-विसदृश किसी भी परिणाममे अस्तित्व तो रहता ही है, आविर्भाव, तिरोभावके आधारपर होने-वाले भाव-अभावके व्यवहारमे भी क्रम अनिवार्य है । समकालमे, समदेशमे, समसम्बन्धसे, समरूपसे एक ही वस्तुका भाव या अभाव नहीं रह सकता । यह पर्वतवत् अकम्प्य विरोध है, यह कहा जा चुका है । प्रमाणकी दृष्टिसे सब स्पष्ट ही होता है, अस्पष्ट नहीं । सिरके अधिकांश बालोंके उड़ जानेपर भी हम यही कह सकते हैं कि 'वह खल्लाट हो रहा है ।'

जिसे पूरे मुहूर्तका पता लगाना अभीष्ट है, उसे घड़ी लेकर चाटक लगाकर बैठना ही पड़ेगा। जिसे गर्दभके वालोंकी जिज्ञासा है, उसे गिननेका श्रम करना ही पड़ेगा। जैसे अमुक वस्तुका अमुक गुण है या नहीं, इस प्रश्नका उत्तर हाँ या नहींमें ही देना उचित है, वैसे ही परिवर्तनकी हालतमें भी निश्चित उत्तर दिया ही जा सकता है।

सांख्यीय सत्कार्यवादके अनुसार छोटे-से वटवृक्षके अंदर वटवृक्षकी सत्ता है तभी उसका प्रादुर्भाव होता है। फिर भी जबतक उसका आविर्भाव नहीं है तबतक अभावका व्यवहार चलता है और जिन कालमें अङ्कुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पल्लवादिकी अवस्था है उस कालमें स्पष्टतया उसी रूपमें उसका भाव, अन्य रूपमें अभाव कहनेमें कोई अडचन नहीं हो सकती। युवककी ठोड़ीमें बालोंकी जो अवस्था है, उन्ही रूपमें उसका भाव अन्यरूपमें अभाव कहनेमें भी कोई अडचन नहीं। उन्ही भूतलपर दैव-कालभेदमें, सम्बन्ध तथा स्वभेदमें, वटके भाव-अभावका व्यवहार होता ही है। वस्तुओं तथा उनके गुणके सम्बन्धमें वही स्पष्ट मत है। 'हाँ' नहीं है, 'नहीं' हाँ है, यह मत कभी भी स्पष्ट मत नहीं कहा जा सकता। कारणमें कार्यका अस्तित्व रहता है; इसलिए बीजमें भी अङ्कुर है। युवक क्या, शिशुकी भी ठोड़ीमें बालोंका अस्तित्व है। जबतक आविर्भाव नहीं है तबतक अङ्कुरके तुल्य बालोंका भी अभाव है। जितना प्रादुर्भाव है उतनेका भाव, जितनेका नहीं उतनेका अभाव है, इससे अधिक स्पष्टता क्या हो सकती है।

एफीसियसका प्राचीन दार्शनिक कहता है कि 'सभी चीजें परिवर्तनशील हैं, सभी परिवर्तित हो रही हैं। जिन संयोगोंको हम वस्तु नाम देते हैं, वे सदा ही परिवर्तनकी स्थितिमें हैं।' जबतक ऐसे संयोगोंका अनुपात कायम रहता है, उनका विचार हम हाँ-हाँ और नहीं-नहींके संकेतसे कर सकते हैं। लेकिन जिस समय उनमें ऐसा परिवर्तन होता है कि वह पहिला अनुपात नहीं रहता, तब उनका विचार विरोधके तर्कसे ही हो सकता है। हमें हाँ और ना दोनोंमें उत्तर देना पड़ेगा। वह है भी और नहीं भी है।

जैसे स्थिरता गतिका एक विशिष्ट प्रकार है उन्ही तरह साधारण तर्कशास्त्र द्वन्द्वमान तर्कका एक विशेष प्रकार है।' प्लेटोके गिण्टि कैटिलसके विषयमें कहा जाता है कि जब हेराक्लिट्जने कहा कि एक ही नदीमें हम दो बार प्रवेश नहीं कर सकते, तब उसने कहा कि एक बार भी हम उसमें प्रवेश नहीं कर सकते, क्योंकि प्रवेश करते-करते उसमें परिवर्तन होता रहता है। वह एक दूसरी नदी हो जाती है। ऐसी रायमें होनेकी क्रियाको उसके अस्तित्वसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह द्वन्द्वमानका अपव्यवहार है। हेगेलका कहना है कि 'कुछ' सर्वप्रथम 'प्रतिषेधका प्रतिषेध' है।

द्वन्द्वमान और भौतिकवादका आपसमें कोई विरोध नहीं है । वास्तवमें द्वन्द्वमानकी बुनियाद ही भौतिकवाद है । यदि प्रकृतिकी भौतिकवादी धारणाका अन्त हो जाय तो साथ ही द्वन्द्वमानका भी अन्त हो जायगा ।

हीगेलकी प्रथामे 'द्वन्द्वमान और अतिभौतिकवाद दोनो समानार्थसूचक हैं । मार्क्सिय दर्शनमे द्वन्द्वमान प्राकृतिक सिद्धान्तके सहारे खड़ा है । हीगेलके अनुसार धारणाओमें जो विरोध है उनके आविष्कार और हलसे ही विचारधारा आगे बढ़ती है । भौतिकवादी सिद्धान्तके अनुसार धारणाओमें अवस्थित विरोध उन विरोधोके प्रतिबिम्बमात्र हैं जो दृश्यगत जगत् वर्तमान हैं और जिनका मूल कारण प्रकृतिका अन्तर्विरोध यानी उसकी गति है ।'

एफेशियसके प्राचीन दार्शनिककी दृष्टि भी इस सम्बन्धमें भ्रमात्मक ही है । सूक्ष्मकालभेदके अनुसार सूक्ष्मपरिवर्तित अवस्थाओका भी सुस्पष्ट अस्ति या नास्तिरूपसे निरूपण किया जा सकता है । अनिश्चित अवस्था सदा ही अज्ञानकी अवस्था है, प्राकृतिक एवं यान्त्रिक प्रत्यक्ष साधनो, अनुमानो या आर्षविज्ञानों अथवा अपौरुषेय आगमोके आधारपर उस अज्ञानको मिटाना ही उचित है । उभयतः आकर्षणकी स्थिरता एक गतिका प्रकार भले मान्य हो, परतु सब गतियो एवं गतिमानोकी अधिष्ठानभूत आत्मसत्ता गतिका प्रकारविशेष नहीं है । एकत्व-भ्रमके मूल कारण सादृश्य-ज्ञानके लिये 'तेनेदं सदृशम्' 'के ते नेदं सदृशम्' जाननेके लिये अनेककालावस्थायी द्रष्टाको स्वतः स्थिर मानना पड़ता है । इसीलिये साख्योने सब पदार्थोको क्षणपरिणामी मानते हुए भी चित्-शक्तिको कूटस्थ माना है—

क्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चित्तिशक्तेः ।

व्यवहारमे गतिमान, पशुपक्ष्यादि जगम तथा स्थावर भूमि पर्वतादि स्वतन्त्ररूपसे मान्य है । अतः गतिविशेष ही स्थिरता है, यह दृष्टान्त ही असङ्गत है ।

इस तरह सत्को असत्, असत्को सत् कहनेवाला द्वन्द्वमान कोई तर्क ही नहीं है । नदीके प्रथम प्रवेशकालमें ही नहीं, किंतु प्रतिक्षण भिन्नता क्रैटिलससे बहुत पहले भारतीय दर्शनोंने बता रखा है—

नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च ।

कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वान्तर्ग दृश्यते ॥

यथार्चिषां स्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः ।

तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः ॥

सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत् स्रोतसां तदिदं जलम् ।

सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धामृषायुषाम् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २२ । ४२—४४)

नित्य ही भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय अलक्ष्य वेगवाले कालद्वारा होना रहता है। सधम होनेके कारण वह प्रतीत नहीं होता। दीपादि अग्नि-ज्वालाओं, सरिताओं, फलों तथा वनस्पतियों एवं सभी भूतोंका वय एव अवस्थाओंके अनुसार क्षण-क्षणपर उत्पत्ति और प्रलय होता रहता है। क्षण-परिवर्तनशील होनेपर भी 'यह वही दीप है, यह वही जल है, यह वही पुत्रादि है', इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा—पहचान तथा एकत्व-बुद्धि भ्रान्तिसे ही है।

पदार्थ तो सभी प्रतिपेयके प्रतिपेय हैं, परन्तु यदि पहला प्रतिपेय भ्रमात्मक हो तभी जो प्रमात्मक घटके निपेयका निपेय है अथवा घटव्ययका 'वस' है, वह व्स घटरूप नहीं हो सकता। अतः द्वन्द्वमानके तर्काभामसे व्यापक नियमोंका बाध नहीं हो सकता। इसीलिये भूत, भौतिक प्रपञ्च या भौतिकवाद या किसी वादके साथ द्वन्द्वमानका अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। तर्क, प्रतितर्क, निष्कर्ष, वाद, प्रतिवाद, समन्वय या सिद्धान्त सर्वत्र आदरणीय हैं, परन्तु इससे द्वन्द्वमान नामकी कोई स्वतन्त्र प्रमाण वस्तु सिद्ध नहीं होती। मार्क्सवादीके कथनानुसार भौतिकवादी वारणाका अन्त हो जाय, तो द्वन्द्वमानका ही अन्त हो जायगा। परन्तु मार्क्सके गुरु हीगेलने, जो द्वन्द्ववादका आविष्कारक माना जाता है, अतिभौतिकवाद और द्वन्द्वमानको समानार्थक माना है।

इस तरह मार्क्सका भौतिक द्वन्द्वमान आविष्कारकके मतसे ही विरुद्ध है। हीगेलके मतानुसार यह ठीक है, कि तर्क-प्रतितर्क वादसे पक्ष-विपक्षका साधन, बाधन, विरोधोद्भावन तथा विरोध-परिहारसे विचारवाग आगे बढ़ती है, परन्तु फिर भी उसकी सीमा है। तर्क या विचारवारा तत्त्वनिर्णयावसान ही होता है। तत्त्व-निर्णयके वाद वह व्यर्थ ही नहीं, अनिष्टकर भी है, परन्तु विचारगत विरोध बाह्य वस्तुओंमें भी होना ही चाहिये, यह अनिवार्य नहीं है। अनेक प्रकारके दोषोंसे विचारोंमें भिन्नता होते हुए भी वस्तुओंमें भिन्नता नहीं होती। एक ही रत्नमें मर्प, वारा, माला, भूछिद्रादि अनेक विचार उत्पन्न होते हैं; परन्तु वस्तु एक ही है, उसमें कोई मेढ नहीं। 'प्रपञ्चका मूल क्या है, आत्मा क्या है', इस सम्बन्धमें वस्तुस्थिति एक रहनेपर भी तर्कों, प्रतितर्कों तथा विचारोंमें पर्याप्त भिन्नता होती है। तर्कोंमें बाह्य वस्तुओं एव उनकी विचित्रताओंका असर होता है, यह अवश्य है। महाकारण ईश्वर या प्रकृति या भूत व्यापक होते हैं। उनसे विविध, विचित्र कार्य उत्पन्न होते हैं, तदनुकूल विचित्र अवस्थाएँ उद्भूत होती हैं। इनसे भिन्न अन्तर्विरोध नामकी कोई वस्तु नहीं है। कहा जाता है 'हीगेलके अनुसार घटनाओंका विस्तार, विचार-विस्तारसे विदित होता है', परन्तु भौतिकवादमें विचारका विस्तार वस्तुओंके विकासपर निर्भर है।

अतिभौतिकवाद और द्वन्द्वमान

अतिभौतिकवादी विचारमें—'प्रकृति वस्तुओं और दृश्यगत घटनाओंका

एक आकस्मिक घटोर है, जहाँ वे एक दूसरेसे विच्छिन्न तथा स्वतन्त्र हैं ।^१ इसके विपरीत द्वन्द्वमान इन वस्तुओं और दृश्यमान घटनाओंको एक सूत्रमें बाँधता है जिसमें उनकी पारस्परिक निर्भरता प्रकाश पाती है । इसलिये द्वन्द्वमानके अनुसार किसी प्राकृतिक घटनाको स्वतन्त्ररूपसे, अपने बहिरावेष्टनसे अलगकर नहीं समझा जा सकता; क्योंकि वे इन बहिरावेष्टनोसे सम्बन्धित हैं और अपनी पारिपार्श्विक अवस्थाद्वारा सीमित हैं ।

अतिभौतिकवादके विपरीत द्वन्द्वमान यह मानता है कि प्रकृतिकी अवस्था स्थिर और गतिहीन नहीं है, बल्कि अविश्राम गति और परिवर्तनकी अवस्था है, अविश्राम नवीन और विकासकी अवस्था है जहाँ किसी-न-किसी चीजका उत्थान और विकास होता है और किसी-न-किसी चीजका ध्वंस और निर्माण । इसलिये द्वन्द्वमानके तरीकेकी यह मॉग है कि दृश्यगत घटनाओंका विचार न केवल उनके पारस्परिक सम्बन्ध और उनकी पारस्परिक निर्भरताके दृष्टिकोणसे होना चाहिये, बल्कि उनकी गति, उनका परिवर्तन, विकास, आविर्भाव और अन्तर्धानकी दृष्टिसे भी होना चाहिये । द्वन्द्वमानका तरीका मुख्यरूपसे उसको महत्त्व नहीं देता जो उस मुहूर्तमें स्थायी और दृढ़ मालूम होता है, लेकिन जिसका अन्त होना आरम्भ हो गया हो, बल्कि उसको जिसका उत्थान और विकास हो रहा हो; यद्यपि उस क्षणमें वह भंगुर ही मालूम पड़ रहा है, क्योंकि द्वन्द्वमान उसीको अजेय मानता है जिसका उत्थान और विकास हो रहा हो । एजिल्सके शब्दोंमें सारी प्रकृति, छोटी-से-छोटी लेकर बड़ी-से-बड़ी चीज, एक बालूके कणसे सूर्यतक, प्रोटिस्टा (प्राथमिक जीवित कोष) से मनुष्यतक, लगातार आविर्भाव और तिरोधानकी अवस्थामें है, सदा परिवर्तनशील है और परिवर्तनकी अवस्थामें है इसलिये एजिल्सका कहना द्वन्द्वमान वस्तुओं और उनके मानसिक प्रतिबिम्बोंको उनके पारस्परिक सम्बन्ध और सयोगमें उनकी गति, उनके उत्थान और अन्तर्धानमें देखता है ।

‘अतिभौतिकवादके विपरीत द्वन्द्वमान विकासकी क्रियाको सामान्य वृद्धिके रूपमें, जहाँ परिमाणकी वृद्धि और हाससे गुणोंका परिवर्तन नहीं होता, नहीं देखता, बल्कि ऐसे विवासके रूपमें देखता है, जो नगण्य और अदृश्य परिवर्तनसे बुनियादी गुणोंके परिवर्तनके रूपमें परिणत होता है । इस विकासमें गुणात्मक परिवर्तन धीरे-धीरे नहीं होता, बल्कि एकाएक और द्रुतगतिसे; जो एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें कुदानका रूप लेता है । यह आकस्मिकरूपसे घटित नहीं होता, बल्कि क्रमवर्धमान परिमाणात्मक परिवर्तनोंके संग्रहका परिणाम है । द्वन्द्वमानके तरीकेके लिये यह आवश्यक है कि इस विकासकी क्रियाको हम चक्रगतिके रूपमें न देखें, न इस रूपमें कि जो कुछ पहले घटित हो चुका है,

उसकी सामान्य पुनरावृत्ति हो रही है, बल्कि एक अनुगति और ऊर्ध्वगतिके रूपमें, एक गुणात्मक अवस्थासे दूसरी नयी गुणात्मक अवस्थामें परिवर्तनके रूपमें, मावारणमें असाधारण, निम्नस्तरमें उच्चस्तरपर विकासके रूपमें देखना चाहिये ।

अवश्य ही वस्तु-वैचित्र्य विचार-विस्तारमें उपयोगी है, फिर भी वस्तु बिना भी स्वप्नों, मनोरथोंमें विचार, विस्तार परिलक्षित होते हैं, परन्तु विचार बिना तो वस्तुका विकास असम्भव ही है । जैसे वैज्ञानिक यन्त्र, रासायनिक तत्त्वोंका विकास, विटलेपण विचारप्रभृत हैं, वैसे ही प्राकृतिक, भौतिक गति या विकास भी ईश्वरीय विचारमूलक ही हैं । इसीलिये—

‘तद्वैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति’ (छा० उ० ६।२।३)

—इत्यादि वचनोंमें उपनिषदोंमें स्पष्टरूपसे कहा गया है कि स्वप्रकाश, सत्, चेतनने ही ईक्षणपूर्वक विश्व-निर्माण किया । द्वन्द्वमानके जादूमें जड़-प्रकृति या जड़-भूतोंमें स्वतः चन्द्र, सूर्य आदि निर्माणकी क्षमता नहीं मिट होती । पशु-मनुष्य एवं उसके दिव्य मस्तिष्क आदि यदि केवल भूतोंका ही करिश्मा है, तो विविध यन्त्रोंके निर्माणके लिये भी चेतन मनुष्यकी अपेक्षा न हानी चाहिये । अ-यात्मवादमें प्रकृति, वस्तुओं एवं घटनाओंका आकस्मिक बटोर नहीं है । यह कल्पना तो असमीक्षणीय जड़में ही हो सकती है । अ-यात्मवादमें तो समारके किसी पदार्थकी चेष्टा कर्मभाषेन ईश्वरके विचारमें ही होती है । किसी भद्दे पाश्चात्य अ-यात्मवादमें प्रकृतिको वस्तुओं एवं घटनाओंका आकस्मिक बटोर कहा जा सकता है । मार्क्सवादका प्रकृति शब्द भी भ्रामक है, वस्तुतः वे साख्योंकी प्रकृतितक पहुँच भी नहीं सके हैं । वे तो भूतों, परमाणुओं तथा उसके कतिपय विश्लेषणो-तक ही पहुँच सके हैं । अ-यात्मवादियोंकी दृष्टियोंमें आकाशसे भी सूक्ष्म शब्द तन्मात्रा और उसमें भी सूक्ष्म अह, अहसे भी सूक्ष्म महत्त्व, महत्त्वसे भी सूक्ष्म प्रकृति है । इसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है ।

प्रपञ्चकी विचित्रतासे सम्बन्धकी भी विचित्रता होती है, अतएव विच्छिन्न, अविच्छिन्न, स्वतन्त्र, अस्वतन्त्र—अनेक प्रकारके पदार्थ समारमें होते हैं । प्रत्येक भोग्य पदार्थ मोक्षसम्बद्ध होते हैं । प्रत्येक कार्य, कारणसम्बद्ध भी होते हैं । साथ ही अनेक पदार्थ परस्परसम्बद्ध होते हैं, कई असम्बद्ध होते हैं । कई अनुकूल सम्बन्ध-वाले, कई प्रतिकूल सम्बन्धवाले होते हैं । भौतिकवादी सम्मत-प्रपञ्चकी अप्रामाणिक एक सूत्रवद्धताकी अपेक्षा ईश्वर, काल, कर्म तथा भोक्तामें उनकी सम्बद्धता कहीं श्रेष्ठ है । घटनाओंके सम्बन्धमें भी यही बात कही जा सकती है । ससारमें कितने ही पदार्थ उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, उनकी परम्परासे भी परस्पर सम्बन्ध नहीं होता, फिर प्रत्येक पदार्थको परस्पर निर्भर कैसे कहा जा सकता

है ? द्वन्द्वमानमें ही नहीं, किसी भी दर्शनमें किसी वस्तुको समझने, पहचाननेके लिये अपेक्षित अङ्गोपाङ्गका ज्ञान सम्पादित किया जाता है। किसी रोगको समझनेके लिये उसके निदान, आहार-विहार, देश-काल, साक्षात् या परम्परासे प्रभाव डालनेवाले पदार्थों तथा घटनाओपर विचार किया ही जाता है। इसी प्रकार सम्बन्धित सभी घटनाओके सम्बन्धमें विचार किया ही जाता है। प्रकृतिकी अविराम गति और प्राचीनका तिरोभाव, नवीनका आविर्भाव आदि कल्पनाएँ साख्योकी ही हैं। इसी आविर्भाव-तिरोभावको निर्माण तथा ध्वंस कहा जा सकता है। अवश्य ही साख्यके मतानुसार सत्का ही आविर्भाव-तिरोभाव होता है, अत्यन्त असत्का नहीं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । (गीता २।१६)

यह कोई द्वन्द्वमानका नया दृष्टिकोण नहीं है। सभी विचारक किसी भी घटनामें आविर्भाव-तिरोभावके विचारको आदर देते हैं।

जिसकी आयति (भविष्य) उत्तम होती है, वही महत्त्वपूर्ण होता है। इसीलिये द्वितीयाके चन्द्रका वन्दन किया जाता है, क्योंकि वह उत्तरोत्तर वर्धमान दशामें रहता है। आयतिशून्य पूर्णिमाका पूर्ण चन्द्र भी इतना माङ्गलिक नहीं माना जाता, क्योंकि उसके अभ्युदयके दिन समाप्त हो चुके होते हैं, अब उसका उत्तरोत्तर हास ही होनेवाला है—‘प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजाः’। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि जो हासको प्राप्त हो रहा है, अब उसका विकास होगा ही नहीं। देखते ही हैं कि जिम चन्द्रमाका हास होता है, उसीका पुनः विकास होता है। जिस समुद्रमें भाटा आता है, उसमें पुनः ज्वार आता है। अनेक बार मनुष्यकी रुग्णता और पुनः स्वस्थता होती है। माली हालतमें भी त्रिगाड, सुधार होता रहता है। पृथ्वी अनेक बार अनुर्वरा हो जाती है, उपज घट जाती है; पुनः उपचारसे उर्वरा बनायी जाती है।

मार्क्स तथा लेनिनकी भविष्यवाणी थी कि ‘मजदूरोंद्वारा ही क्रान्ति होगी। किसान सामान्य पूँजीवादी भले ही संख्यामें अधिक हो और गरीब भी हों; तब भी वे कभी वर्धमान, विकासमान नहीं हैं, अतः उनकी कभी उन्नति होनेवाली नहीं।’ पर चीन और भारतमें ठीक इसके विपरीत हुआ, यहाँ किसानों, मध्यवर्गों, सामान्य उत्पादन साधनवालों अर्थात् साधारण पूँजीपतियोंद्वारा ही क्रान्ति हुई। इतना ही नहीं, भारतमें तो शान्तिपूर्ण अहिंसात्मक आन्दोलनद्वारा पर्याप्त सफलता मिली है, जिसकी मार्क्सवादमें कल्पना भी नहीं हो सकती। परिवर्तनसम्बन्धी एजिल्सकी बात अध्यात्मवादीके लिये कोई नवीन वस्तु नहीं है। हाँ, आत्मा कूटस्थ होनेसे अपरिवर्तनशील है, वह सब परिवर्तनोका द्रष्टा

है, अन्यथा परिवर्तनका अस्तित्व भी कैसे मिट्ट होगा ? बाह्य वस्तुओंमें मन एवं मानसिक परिवर्तनोंके होनेपर भी सर्वसाक्षी अपरिवर्तित ही रहता है ।

सच्ची बात तो यह है कि मार्क्सवादियोंने भारतीय दर्शनोंकी गम्भीरता ही नहीं समझी । वे अध्यात्मवादके नामपर बहुत-सी अनर्गल बातें कहते हैं । अध्यात्म-वादी सामान्य-वृद्धिरूप विकास नहीं मानते, किंतु वादलोंके सघर्षसे या ऋणात्मक, धनात्मक विद्युत्-धाराओंके सम्पर्कसे एकाएक महान् प्रकाश-जैसा द्रुतगामी प्रकाशरूप विकास भी मानते हैं । जलका बर्फ बन जाना और वाष्प बन जाना यह कौन नहीं जानता ? इमे एक अवस्थामे दूसरी अवस्थाकी कुदान कही जाय या क्रमवर्धन परिमाणात्मक परिवर्तनोंके सग्रहका परिणाम कह लिया जाय अथवा सीधी भाषामें परिणामविशेष कह ले, कोई विशेष अन्तर नहीं पडता । इसी तरह विकासकी गति उत्तरोत्तर अग्रगति, ऊर्ध्वगतिकी ओर अवश्य होती है, परंतु जिनका इतिहास क्षुद्रतम है, उन्हीं लोगोंके लिये ऐसी अनुभूति होती है । जिनके यहाँ वर्तमान सृष्टिका ही इतिहास अरबों वर्षोंका है, फिर अनन्त सृष्टि-सहस्रोंका इतिहास भी जिनके सामने है, उनके लिये तो चन्द्रमाके हास-विकासके तुल्य, सूर्यके उदय-अस्तकी तरह दिन रात, जन्म-मरण, समुद्रके ज्वार-भाटा, सोने-जागने तथा ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त ऋतुके परिवर्तनके तुल्य सृष्टि-प्रलयकी परम्परा चलती है ।

संसारके सबसे प्राचीन ग्रन्थ अपौरुषेय अनादि वेद कहते हैं—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । (तै० आ० १० । १ । १४)

‘धाताने यथापूर्व ही सूर्य-चन्द्रका निर्माण किया ।’ महादार्शनिक भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

‘भूतग्राम. स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।’ (८ । १९)

ये वे ही भूतग्राम पुनः उत्पन्न होकर प्रलीन होते हैं । यह प्रपञ्च प्रवृत्ति निरुद्देश नहीं है । जड़ प्रकृतिका स्वतन्त्र कोई उद्देश्य नहीं होता । उद्देश्य चेतनका ही होता है । अनादि अविद्या काम-कर्मबद्ध जीवोंको भोग एवं अपवर्ग सम्पादन करना ही प्रकृतिप्रवर्तनका ईश्वरीय उद्देश्य है ।

मार्क्सिय विचार-धाराका आवार इतिहास लघुतम है । जिसमें कुछ शताब्दियोंसे ही मनुष्य संसारकी उत्पत्ति, वर्गसघर्षके इतिहासका प्रारम्भ और कुछ ही शताब्दियोंमें वर्गसघर्षके इतिहासकी समाप्ति भी हो जाती है । मार्क्सके मतानुसार कम्युनिष्टराज्य होते ही वर्ग-सघर्षकी समाप्ति हो जाती है । इस वर्ग-सघर्षके भी विकासकी उत्तरोत्तर प्रगति क्यों नहीं होती, यह तो वे ही जान सकते हैं । यदि किसी भी सिद्धान्तके विरोधी कुछ लोग हो सकते हैं और उनकी संख्या

बढ़कर प्रतिवाद खड़ा हो जाता है, तो कम्युनिज्म ही इसका अपवाद क्यों ? उसके भी तो विरोधी हैं ही, उनकी भी सख्या बढ़ती ही है ।

सिद्धान्तस्तु—

सर्वे क्षयान्ता निचया पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।

सयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥

(बाल्मी० रा० अयोध्या० १०५ । १६)

संसारके सभी सग्रहोंका एक दिन क्षय होता है, सभी उत्थानोंका एक दिन पतन होता है, सभी सयोगोंका एक दिन वियोग होता है और सभी जीवनोंका एक दिन मरण होता है । फिर कम्युनिष्ट-राज्यका कभी अन्त न होगा यह कल्पना भी अन्ध-विश्वास ही है । यदि सब पुरानी वस्तुओंका विनाश होता है, तो कभी कम्युनिष्टराज्य या वर्गहीन-राज्य भी पुराना होगा और इसका भी विनाश, ध्वंस किंवा निर्वाण भ्रुव है ।

एजिल्मके शब्दोंमें 'प्रकृति द्वन्द्वमानका परीक्षास्थल है । यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक प्रकृति-विज्ञानने इसके प्रभूत उदाहरण दिये हैं, जो प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं और इस प्रकार यह प्रमाणित कर दिया है कि अन्तिम विश्लेषण करनेपर प्राकृतिक प्रक्रिया आतिभौतिक नहीं बल्कि द्वन्द्वात्मक है । अनन्तकालसे यह किसी चित्रगतिसे नहीं घूमती, बल्कि इसका एक इतिहास है । यहाँ डार्विनका नाम सर्वप्रथम है, जिसने यह प्रमाणित कर कि आजका सावयव संसार उद्भिज्जपशु और इस प्रकार मनुष्य भी कोटिशः वर्षोंकी विकास-क्रियाका परिणाम है, प्रकृतिकी आतिभौतिक कल्पनापर प्रचण्ड प्रहार किया । वह कहता है—'भूतविज्ञानमें प्रत्येक परिवर्तन परिणामका गुणमें परिवर्तन है । यह परिमाण किसी-न-किसी प्रकारकी गतिका परिमाण है, जो या तो वस्तुविशेषमें वर्तमान है या उसको दी जाती है । उदाहरणार्थ पानीके उत्तापको एक सीमातक बढ़ाते हुए उसकी द्रवावस्थापर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । लेकिन ज्यों-ज्यों यह उत्ताप घटता या बढ़ता है, एक क्षण आता है, जब पानीकी अवस्था-में परिवर्तन होता है और एक दशामें यह भाप बन जाता है और दूसरी दशामें वर्ष । किसी प्लैटिनमके तारको गर्म करनेके लिये कि वह चमक सके एक निश्चित परिमाणकी विजली आवश्यक है । हर खनिज पदार्थके गलनेका एक विशेष उत्ताप होता है । हर वायवीय पदार्थके लिये एक निश्चित विन्दु है, जब कि उचित ठंडक और दबावके प्रयोगसे उसको तरल पदार्थमें परिणत किया जा सकता है । पदार्थ-विज्ञानमें जिनको स्थिरसंज्ञक माना जाता है, अधिकांश क्षेत्रमें वे ही विन्दु हैं, जब गति या विन्दुके ह्राससे वस्तुविशेषमें गुणात्मक परिवर्तन होता है । ऐसी स्थिर संज्ञाका उदाहरण है वह कोण, जिसपर आलोक रश्मि-का परिवर्तन होकर सीधा प्रतिफलन होता है ।'

रसायन-शास्त्रपर विचार करते हुए एजित्स आगे चलकर कहता है—‘रसायन-शास्त्रके विज्ञानका सार यह है कि वस्तुओंमें परिमाणात्मक परिवर्तनके फलस्वरूप उनके गुणोंमें परिवर्तन होता है। हीगेलको इसका ज्ञान था। अम्लजन, यदि इसके अणुमें दो न होकर तीन परमाणु हो, तो यह ओजोन बन जाता है जिसका गुण साधारण अम्लजनसे भिन्न है। आतिभौतिकवादके विरुद्ध द्वन्द्वमान यह समझता है कि सब वस्तुओंमें तथा दृश्यगत घटनाओंमें अन्तर्विरोध वर्तमान है, क्योंकि इनमें एक भावात्मक और दूसरा अभावात्मक कोण है। एक भूत तथा भविष्य है। इनमें कुछ विकास हो रहा है, परिमाणात्मक परिवर्तनोंकी गुणात्मक परिवर्तनोंमें परिणति हो रही है। विकास क्रियाशील भीतरी शक्ति है इन विरोधियोंका संघर्ष, पुराने और नयेमें, जिसका विनाश हो रहा है और जन्म हो रहा है, उसमें, जो अदृश्य हो रहा है तथा जिसका विकास हो रहा है, उसमें।’

आधुनिक विज्ञान कोई ऐसी चीज नहीं है, जो इदमित्थ सही हो और उसके आधारपर आत्मा, धर्म तथा ईश्वरकी समस्या हल की जा सके। उसके सम्बन्धमें किनने ही विरुद्ध हैं। लार्ड केल्विनकी घोषणा थी कि वे ऐसा भाव समझनेमें असमर्थ थे, जिसको वे यन्त्र रचनामें परिणत न कर सकें। परंतु अब तो केन्द्राकर्षण, काल और दिक्स्मन्धी विचारतक बदल गये। गणित तथा पदार्थ-विज्ञानमें बहुत-से सिद्धान्त ऐसे हैं, जो परस्पर विरोधी हैं। उदाहरणार्थ पहले यूक्लिडके स्वतःसिद्ध नियम अनिवार्य विचार-तत्त्व माने जाते थे, परंतु सालिवानके अनुसार अब वह पुरानी वस्तु हो गयी। उनका कहना है आजसे सौ वर्ष पूर्व लोवाशेफ्स्की नामक रूसीने और बोलीयाई नामक हंगेरियनने यह ज्ञान लिया था कि यूक्लिडका रेखागणित अविवेच्य आवश्यकताका स्थान नहीं ले सकता। दो हजार वर्षतक यूक्लिडके सिद्धान्तोंने निर्विरोध राज्य किया, सभी वैज्ञानिक उन्हें जितना मनुष्योंके लिये, उतना ही देवताओंके या ईश्वरके लिये भी आवश्यक मानते थे। उस समय लोवाशेफ्स्की तथा बोल्यायीको लोग विद्विष कहते थे। महान् विद्वान् गौसतकको जो स्वयं इसे समझ चुका था, अपना आविष्कार प्रकाशित करनेका साहस न हो सका, परंतु अन्तमें लोवाशेफ्स्की आदिकी बात मान्य हुई।

सालिवानके अनुसार ‘आज जर्मन रेखागणितकार रीमानके रेखा-गणितसे ही अनेक प्रश्नोंका निर्णय होता है।’ अब वैज्ञानिकोंको विश्वास हो गया कि जिस दिक्में हमारा अस्तित्व है, वह यूक्लिडके रेखा-गणितके नियमोंपर नहीं चलती, रीमानके दो रेखागणितके नियमोंपर चलती है। आज पहलेके सिद्धान्तोंके विपरीत मान्यता है कि दिक्का विस्तार असीम नहीं, सीमित है। दो बन्दुआक बीचका न्यूनतम अन्तर शून्य रेखा नहीं, एक त्रिकोणके तीनों कोण सम्मिलित होकर दो

समकोण नहीं बनाते । प्रकाशकी किरणें ऋजु रेखाओंमें नहीं फैलती । जिस वस्तुपर प्रकाश-रश्मि पड़ती है उसपर दबाव डालती है । सीमित एवं गोलाकार दिक्का आकार निरन्तर तेजीसे बढ़ता जा रहा है । दिक् पारिमाणिक नहीं । एक परमाणुका प्रभाव सम्पूर्ण विश्वपर रहता है । परमाणुमें एलेक्ट्रॉन (परमाणुका अस्थिर शक्तिकण), प्रोटॉन (केन्द्रित शक्तिसमूह) के चारों ओर घूमे हुए बिना ही बीचके स्थानकी यात्राके एक मार्ग-चिह्नसे दूसरे मार्ग-चक्रमें पहुँच जाता है । आज तो विज्ञान-वेत्ताओंने विद्युत्कण-को स्वेच्छाचारी भी मान लिया है, जिसमें यन्त्रवादका बिल्कुल ही नाश हो जाता है । जिस आइजक न्यूटनके केन्द्रिय आकर्षणका सिद्धान्त आज भी श्रद्धासे पढ़ाया जाता है, उसीके सम्बन्धमें सालिवानका कहना है कि न्यूटनका यह आविष्कार और इसकी पुष्टि मानुषी बुद्धिकी चरम कृति समझी जाती थी, तो भी आज हम केन्द्रियाकर्षणकी व्याख्या सर्वथा भिन्न परिभाषाद्वारा करते हैं । इस विषयपर हमारा सम्पूर्ण दृष्टिकोण न्यूटनके दृष्टिकोणसे जड़से ही भिन्न है । न्यूटनके सिद्धान्तको लागू करनेसे कई अंशोंमें वह अवास्तविक और अशुद्ध ठहरता है । आज वह प्रणाली जड़ और शाखासहित उखाड़ फेंकी गयी, जिसकी नींवपर इस सिद्धान्तको खड़ा किया गया था ।

इस तरह आजके पाठ्यग्रन्थोंमें पढ़ाया जाता कि पृथ्वीमें गम्भीर प्रवेश करनेवाली प्रकाशरश्मियाँ दूरवर्ती तारक गणोंके स्तरपर हो रहे द्रव्यनिर्माणकी उपज हैं । दूसरे सिद्धान्तद्वारा इसी प्रकारकी उपजका कारण द्रव्यनाश बतलाया जाता है, जो कि ठीक पूर्वके विपरीत है । एक सिद्धान्तके अनुसार अस्थिर विद्युत्कण तरङ्गका गुण रखते हैं, दूसरे सिद्धान्तके अनुसार कणोंका इनमेंसे किसीका भी त्यागना सम्भव नहीं, क्योंकि कुछ घटनाओंकी व्याख्या पहले सिद्धान्तानुसार होती है, कुछका दूसरे ही द्वारा । मनोविज्ञानके क्षेत्रमें भी परस्परविरोधी सिद्धान्तोंपर आधारित चार सम्प्रदायें बन गयी हैं । इनफ्रायड एटलर यूग और स्टैक्कैलके सम्प्रदायमें बड़े-बड़े प्रतिभाशाली विद्वान् अपने पक्षका समर्थन करते हैं । जीवशास्त्रमें भी आकस्मिक परिवर्तनोंके प्रश्नपर प्रो० वाइजमैन एवं लेमार्कके अनुयायी एक दूसरेका निरन्तर विरोध करते हैं । एलौपथिकमें बी० सी० जी० के प्रामाणिक विद्वान् पी० वी० वैजमिनके अनुसार बी० सी० जी० प्रभावशाली एवं निगपद यक्ष्मानिरोधक उपचार है । पर डाक्टर डब्ल्यू० एफ० ब्राडले (इंग्लैंड) अभी भी इसे विवादास्पद ही समझते हैं । पाश्चात्य मनोविज्ञानका प्रवर्तक फ्रायड कहता है कि हिस्टीरियामें जो डाक्टर औपध देता है वह कोरा ठग है, किन्तु सभी डाक्टर हिस्टीरियामें औपध देते हैं । सालिवानके अनुसार सत्यसे वैज्ञानिकोंका वास्तविक अन्तिम अभिप्राय सुविधासे है । वैज्ञानिक सिद्धान्तिक दृष्टिकोणसे अपने-आपको कुछ

भी समझें, वास्तवमें वे क्रियासाधक होते हैं। अलेक्सिस कैरलका कहना है कि गणित भौतिक और रसविज्ञान आवश्यक विज्ञान है, परंतु चेतन द्रव्योंकी खोजमें मूल प्रारम्भिक विज्ञानोंका स्थान इन्हें प्राप्त नहीं हो सकता। उसके अनुसार मानव-जातिके दुष्ट और पतित बड़ी सख्याके नियन्त्रण तथा मार्गदर्शनके लिये सात्त्विक आहार विहारद्वारा आध्यात्मिक प्रवृत्तिवाले तपस्वियोंकी एक अल्प सख्या बननी चाहिये—यह भारतीय ही सूझ है।

अभी थोड़े ही दिन हुए डाक्टर लोकी यह बात इंग्लैंडकी विज्ञान-परिपदमें दुहरायी गयी है कि आधुनिक विज्ञानकी सबसे बड़ी खोज यह है कि 'अभी हमलोग कुछ भी नहीं जानते हैं।' फिर विज्ञानके बलपर मार्क्स, एजिल्सका सब कुछ जान सकनेका दावा करना निरादम्भ नहीं तो क्या है? जहाँ अभीतक अहत्तत्त्व और महत्तत्त्वतक, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन मात्राओंको जाननेमें विज्ञान सफल नहीं हुआ है, फिर अहत्तत्त्व, महत्तत्त्व और अव्यक्त प्रकृतिकी बात तो दूरकी है। फिर 'अणोरणीयान्' आत्मा और परमात्माको वैज्ञानिकोंकी यान्त्रिक कसौटीपर कसना केवल उपहासास्पद नहीं तो क्या है? इसी प्रकार एजिल्स तथा मार्क्सका इतिहास महान् आर्ष इतिहासकी अपेक्षा एक विकृत अप्रामाणिक क्षुद्रतम इतिहास है, अतः इसके आधारपर ससारका स्वरूप निर्धारित नहीं हो सकता। डार्विनने स्वयं ही अपने लिये अनेक विषयोंको अज्ञेय माना है। उद्भिज्ज, पशु और मनुष्योंकी विकास कहानी स्वयं ही अप्रामाणिक है, फिर इसके द्वारा अतिभौतिकवादपर प्रचण्ड आघात आकाश-मुष्टिहननके तुल्य है।

हेतुविशेषोंसे वस्तुओंका रूपान्तरण होता है, किंतु वह रूपान्तरण वस्त्वन्तरण नहीं है। वर्ष हो जानेपर भी वस्तु जल ही रहता है। इसी तरह भाप बन जानेपर भी जलका अभाव नहीं हो गया। 'नासतो विद्यते भावः' का निश्चित सिद्धान्त सुस्थिर है। जैसे प्रसारित पट और सकुचित पटकी अवस्था-विशेष है, वैसे ही वर्ष और भाप जलकी अवस्था-विशेष ही है। अन्य उदाहरण भी इस सिद्धान्तके विरोधी नहीं हैं। रसायनशास्त्रके उदाहरण भी उक्त सिद्धान्तके बाधक नहीं हैं। अम्लजनके तीन परमाणुओंसे ओजोन बनता है, उसका गुण अम्लजनसे भिन्न होता है। इसी तरह नैयायिकोंके अनुसार दो परमाणुओंके द्वयगुण बनते हैं, परंतु तीन परमाणुका कुछ भी नहीं बनता। छः परमाणुओंका त्रसरेणु बनता है, पौंचका कुछ नहीं। औपधोकी मात्रा-भेदसे गुणभेद तो प्रसिद्ध ही है। पृथक् पृथक् ओपधियोंके गुणोंसे सम्मिलित ओपधियोंके गुणोंमें संसर्गजनित विशेषता होती है। एक मात्रासे पानी, अन्न या दुग्ध शरीरके पोषक होते हैं और वे ही दूसरी मात्रासे शरीरके नाशक बन जाते हैं। ऐसी बातोंको अतिभौतिकवादके विरुद्ध समझना नितान्त भ्रम है।

वस्तुओं एवं घटनाओंमें अन्तर्विरोधकी कल्पना भी तत्त्वशून्य है। भावात्मक अभावात्मक यदि क्रमिक हों तो उनका विरोध कहा ही नहीं जा सकता, विरोध तो सम देश-कालमें उसी वस्तुके भावाभावका होता है। भूत और भविष्य आविर्भाव-तिरोभाव पुराने-नये—ये सभी भिन्नकालिक होनेसे विरोधी हैं ही नहीं। पिता-पितामहादि प्राचीन, पुत्र-पौत्रादि नवीन, अध्यापक प्राचीन, छात्र नवीन, इनमें विरोध नहीं है, किंतु उपकार्योपकारभाव है। मनुष्यकी बैठने, लेटने, चलने आदिमें कई ढंगकी अवस्थाएँ विकसित होती हैं, जो परस्पर एक दूसरेसे विलक्षण होती हैं। इसी तरह बीजके अवयवोंका बीज अङ्कुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा आदि अनेक अवस्थाएँ होती हैं, इनमें पूर्व-पूर्व अवस्था उत्तरोत्तर अवस्थाओंकी जननी है—सहायक है, विरोधकल्पना दूरभिसंधिपूर्ण है। सिर्फ वर्गविद्वेष, वर्गविध्वंसके वाले कारनामोंके समर्थनके लिये उसे दार्शनिकरूप देनेका प्रयत्न किया जाता है। जैसे पिता अपने उत्तराधिकारी पुत्रके जन्मके लिये प्रयत्नशील होता है, उसी प्रकार कारण भी अपने उत्तराधिकारी कार्यके जन्मके लिये अनुकूल होता है। राजा शिशु एवं दिलीपने तो स्वगरीर देकर भी कपोत तथा नन्दिनी गायकी रक्षाके लिये प्रयत्न किया था। यहाँ विरोध नहीं, किंतु उपकारकी भावना है। वस्तुस्थिति तो यह है कि विवर्धमान क्षीयमानका सहायक होता है, युवक वृद्धकी सेवासे अपनेको पुण्यात्मा मानता है, बलवान् निर्बलका, विद्वान् अविद्वान्का, धनवान् निर्धनका सहायक होता है—यही मानवता है।

कहा जाता है कि 'द्वन्द्वमानके अनुसार निम्नस्तरसे ऊँचे स्तरपर विकासको हम साधारण पट-परिवर्तनके रूपमें नहीं देखते; बल्कि वस्तुओं और दृश्यगत घटनाओंमें वर्तमान विरोधके रूपमें तथा इन विरोधियोंकी बुनियादपर कायम दो विपरीत गतियोंके संघर्षके रूपमें देखते हैं। लेनिनके शब्दोंमें द्वन्द्वमान वस्तुओंकी सत्ताके आन्तरिक विरोधका अध्ययन है। लेनिनके ही शब्दोंमें द्वन्द्वमान वस्तुओंकी सत्ताके आन्तरिक विरोधका अध्ययन है, और विकास विरोधियोंके संघर्षका नाम है। द्वन्द्वमान प्रतिदिनके साधारण तर्कशास्त्रका स्थान नहीं ले सकता, जिस प्रकार बीजगणित या संख्यानुगणित अङ्कगणितका स्थान नहीं ले सकते। जिस प्रकार अङ्कगणितकी सीमाके बाहरकी समस्याओंको हल करनेके लिये गणितकी उच्च शाखाओंका प्रयोग किया जाता है, उदाहरणार्थ उन समस्याओंका जिनमें अज्ञात और परिवर्तनीय परिमाण या संख्या और उनके सम्बन्धोंका विचार होता है। उसी प्रकार द्वन्द्वमान गतिशील सम्बन्धों और क्रियाओंका साधारण तर्कशास्त्रके दायरेमें लानेका साधन है; क्योंकि साधारण तर्कशास्त्र

केवल स्थिर सम्बन्धोंको लेकर चलता है, द्वन्द्वमान उसीको लेकर कार्यारम्भ करता है जिसको अपने दायरेके बाहर रख छोड़नेके लिये साधारण तर्कशास्त्र मजबूर है, वह यह कि किसी वस्तुको अपने ही द्वारा समझा नहीं जा सकता। इसको योंही समझा जा सकता है कि यह और किसी वस्तुमें आया और किसी अन्य वस्तुकी ओर यह जा रहा है और इसकी गतिका कारण है इसके ओर इसके बहिरावेष्टनके बीचका एक क्रियाशील सम्बन्ध। इसलिये द्वन्द्वमान प्रत्येक वस्तुकी अन्य वस्तुओंके बीच पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रियाके फलस्वरूप गतिका मूर्तरूप ही समझना है। प्रत्युत्पादक, विपरीतानुवर्तन, विरोध और सन्तर्पण (जो परिवर्तन और विकासका भी जनक है) के बिना द्वन्द्वमान असम्भव हो जाता है। गति और उसके रूपान्तरके अध्ययनके लिये द्वन्द्वमान अत्यावश्यक है। लेकिन जहाँ रूप, सार सम्बन्धका विकास तुलनात्मकरूपसे नहीं होता, वहाँ साधारण तर्कशास्त्रका प्रयोग ही मिथ्य है।

“द्वन्द्व-मक भौतिकवाद मनुष्यके वास्तविक भौतिक अस्तित्वके स्थूल सत्यको लेकर चलता है। यह उस अतिभौतिकवादी तरीकेका निरस्कार करता है जो ससारके विषयमें एक कल्पित मतका प्रचार करना चाहता है, जैसे यह एक है या अनेक, यह युक्त है या विच्छिन्न इत्यादि। प्रत्यक्षीकरण और प्रत्यक्षीभूत कल्पनाका रूप प्रतिविम्बका रूप है। वादगी दुनियाका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस ओर भी दृष्टि आकर्षित करता है कि यह मानसिक क्रियाशील है, यह निष्क्रिय प्रतिविम्बमात्र नहीं है। इसके अनुसार विचार, भूत जिसका वास्तविक अस्तित्व है, जो क्रियाशील और इसलिये विकासमान है—कि सम्बन्धित सम्पूर्णता और जीवन मनुष्योंके बीच व्यावहारिक सम्बन्धका परिणाम है। यान्त्रिक भौतिकवाद विश्वको मशीनकी तरह एक प्रणालीबद्धरूपमें देखता है, जब कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसको एक अमीम सृजनात्मक क्रियाके रूपमें देखता है।”

पूर्वोक्त युक्तियोंमें स्पष्ट है कि मार्क्सवादियोंका विरोध एक विचित्र वस्तु है, जो कारणगत विरोधरूपसे उच्चस्तरीय विकासका कारण बनता है। अध्यात्मवादीको इसमें विरोधकी कोई बात ही नहीं दीखती। जो एक साथ मिलकर कार्योंत्पादक होते हैं, उन्हें अध्यात्मवादी सहयोगी ही कहते हैं, विरोधी नहीं। अग्नि, जल, सत्व, रज, तम आदि परस्पर विरोधी तत्त्व भी सहयोगी होकर कार्यके जनक होते हैं, यह स्पष्ट किया जा चुका है। साधारण तर्कशास्त्र एवं द्वन्द्वमानका भेद भी वैसा ही है, जमे मित्रातनय एवं वन्द्यातनयका। कहना न होगा कि ऐसा कोई भी द्वन्द्वमानका विषय नहीं है, जो तर्कशास्त्रका विषय न हो। जो वस्तु अनादि अपौरुषेय, शास्त्रेकममधिगम्य है, वह धर्म-ब्रह्मादि न तर्कका विषय है, न द्वन्द्वमानका। अतः ‘अङ्गगणितकी सीमाके बाहरकी समस्याओंको हल करनेके लिये जैसे

बीजगणित-रंख्यानुगणित अपेक्षित होते हैं, वैसे ही साधारण तर्कके सीमाके बाह्यकी समस्याओंको हल करनेके लिये द्वन्द्वमान है, यह भी साधारण तर्कसे उच्चकोटिका तर्क है,' इत्यादि कथन भी मार्क्सवादियोंका स्वगोष्ठिनिष्ठ सिद्धान्त है। स्थिर, अस्थिर—सभी सम्बन्धोमे तर्कशास्त्रका प्रवेश होता है। वस्तुतः मार्क्सवादमें साधारण तर्कका या द्वन्द्वमानका कोई भी स्पष्ट अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव दोषरहित लक्षण और परिभाषा नहीं है। इसीलिये खड़-छन्दके समान मार्क्सवादमें मनमाना तर्क चलता है। किंतु तर्कशास्त्रमें तर्ककी विशेष परिभाषा है—‘व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः’^१ व्याप्यके आरोपसे व्यापकका आरोप तर्क कहलाता है। तर्क स्वयं प्रमाण नहीं होता, किंतु अनुमानमें अपेक्षित व्याप्तिज्ञानका सहायक होता है। जो अतर्क्य है, उसीको तर्कशास्त्र छोड़नेको मजबूर होता है। उस सम्बन्धमें द्वन्द्ववाद भी मूक ही रहेगा। साध्य, साधनभाव जैसे स्थिर वैसे ही गतिशील पदार्थोंके सम्बन्धमें भी लागू होते हैं।

किसी वस्तुको समझनेके लिये सम्भावित, असम्भावित सम्बन्धों तथा विविध परिस्थितियोंको जानना तर्कशास्त्रको भी अभीष्ट है। कुछ भारतीय तार्किकोंका तो यहाँतक कहना है कि एक घटका ज्ञान भी पूरा और सही तब होता है, जब घटेतर सकल वस्तु प्रतियोगि भेदयुक्त घटका बोध होता है। अर्थात् स्वेतर सकल पदार्थोसे ‘भिन्नत्वेन रूपेण’ घटका बोध होता है। इतर-भिन्नता जाननेके लिये इतर सकल पदार्थोंका ज्ञान भी आवश्यक होता है। कौन वस्तु किन-किन हेतुओंसे उद्भूत होती है, किन-किन प्रमाणोंसे विदित होती है, इसका अन्तिम परिमाण क्या होगा, उसका किन वस्तुओपर किस ढंगका प्रभाव होगा—यह तो राजनीति, अर्थशास्त्र, वाणिज्य, आयुर्वेद, अध्यात्मशास्त्र, मन्त्रशास्त्र आदि शास्त्रोंमें विचारा जाता है। इतना ही नहीं, किसका कितना दृष्ट प्रभाव पड़ेगा, कितना अदृष्ट प्रभाव पड़ेगा, यह भी विचार भारतीय शास्त्रोंमें होता है। फिर भी संसारकी प्रत्येक वस्तुकी क्रिया-प्रतिक्रियारूप सम्बन्ध नहीं होता। संसारमें कितने ही पदार्थ परस्पर सहयोगी होते हैं, कितने विरोधी होते हैं, कितने ही उदासीन भी होते हैं। हाँ, प्रत्येक कार्य वस्तु त्रिगुणात्मक होनेसे और गुणोंका चल स्वभाव होनेसे गतिका मूर्तरूप तो नहीं, किंतु गतिका फल कहा जा सकता है। परंतु उसमें जैसे गति निदान है, वैसे ही सत्त्वका प्रकाश और तमका अवष्टम्भ भी मिला हुआ है। विपरीतानुवर्तन विरोध एव सघर्षके अनेक स्थान हैं, परंतु वहाँ द्वन्द्वमान नामकी कोई सर्वसम्मत वस्तु नहीं है।

गतिका रूपान्तरण स्वयं नहीं होता, किंतु किसी वस्तुके रूपान्तरणमें गति कारण अवश्य है, परंतु वहाँ द्वन्द्वमानका गन्ध भी नहीं है। द्वन्द्वात्मक

- अथवा ‘अविज्ञात तत्त्वको प्रमाण, हेतु, उपपात्तसे जाननेके लिये ऊहापोह करना तर्क है। (न्याय० १। १। ४०)

भौतिकवाद और यांत्रिक भौतिकवादका भेद भी अवास्तविक है । एकता-अनेकता, युक्तता-अयुक्तता, विच्छिन्नता-अविच्छिन्नताका विचार काल्पनिक नहीं है । इन विचारोंके बिना वस्तुयाथात्म्यका बोध असम्भव ही है । समूचे शरीरको ही मनुष्य या आत्मा मान रखना अविवेकका पूरा परिचय है । जैसे ईंट, चूना, पत्थर, काष्ठ आदिसे बना हुआ मकान एक सघात है, वह किसी अपनेसे अमहत भोक्ता चेतनके लिये होता है, वैसे ही माता-पिताके श्रुत, शोणितसे बना हुआ अस्थि, मांस, चर्ममय पजर देह भी मकानके समान ही किसी अपनेसे अमहत, असन्न चेतनके लिये होना चाहिये ।

अचेतनके सभी व्यवहार चेतनके दुःख-निवृत्ति सुखप्राप्तिके लिये होते हैं । वैसे ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, दिल, दिमाग आदिकी प्रवृत्तियों भी किसी चेतनके सुखार्थ मानना युक्तियुक्त है । इसे काल्पनिक कहना अनुचित है । अतएव मानसिक क्रियाको क्रियाशील मानना भी अनभिज्ञता है । गुण और क्रिया स्वयं ही द्रव्याश्रित होते हैं । जैसे गुण गुणका आश्रय नहीं होता, वैसे ही क्रिया भी क्रियाका आश्रय नहीं होती है । वस्तुतः मानसिक क्रिया भौतिक है—यह भारतीय अव्यात्मवादी भी मानते हैं । ब्रह्मात्मक ज्ञान नित्य-ज्ञान है, वह विभिन्न मानसिक क्रियाओंका भी निर्विकार भासक है । मानसी क्रियाओंकी विशेषता स्पष्ट है, नित्य ज्ञान क्रिया नहीं है, अव्यात्मवादी इसे प्रति-विम्बरूप मानते ही नहीं । 'फिर निष्क्रिय प्रतिविम्ब नहीं है'—यह कथन भी अनुक्तापलम्भ है । विकासमान भूतकी सम्बन्धित पूर्णता या जीवित मनुष्योंके बीच व्यावहारिक सम्बन्धका परिणाम ही ज्ञान है—यह कथन मानसिक क्रियारूप ज्ञानके सम्बन्धमें कहा जा सकता है, परन्तु नित्यज्ञानके सम्बन्धमें ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञानका प्रागभाव या प्रव्यसाभाव नहीं सिद्ध होता, क्योंकि भाव, अभाव किसी वस्तुके ग्रहणके लिये ज्ञान आवश्यक ही है ।

ज्ञानको स्वभावका ज्ञापक कहना 'वदतोव्याघात' है । जैसे महाकाशमें घटादि उपाधिद्वारा परिच्छिन्नता और अनेकता प्रतीत होती है, वैसे ही विषयों एवं मानसी वृत्तियोंके कारण नित्य ज्ञानमें भी परिच्छिन्नता तथा अनेकता प्रतीत होती है । वस्तुतः निरुपाधिक अनन्त आकाशके तुल्य ही निरुपाधिक ज्ञान भी नित्य एवं अनन्त है । अपरप्रेरित जडपदार्थोंमें स्वतः सर्जनकी शक्ति नहीं होती । विज्ञानसे भी नहीं सिद्ध होता कि किसी चेतन मनुष्यके प्रयत्नके बिना जडपरमाणु, जडविद्युत्कण, जडभूत या प्रकृति गतिशील होनेपर भी नियमित तथा अनुकूल गति बनाकर अभीष्ट कार्य-सिद्धि कर सकेंगे । जल तथा वायु गतिशील हैं, फिर भी कार्यसिद्धिके अनुकूल गतिशील बनाना चेतनका ही कार्य है । इसी तरह गतिशील भूतोंको भी नियामक चेतनकी

आवश्यकता है। क्रिया कोई भी असीम नहीं होती, कर्म या क्रिया स्वयं क्षण-भङ्गुर ही होती है। हाँ, सदृश क्रियाओंका प्रवाह असीम हो सकता है, परन्तु यह असीमता भी तो प्रत्यक्ष नहीं है। असीमताका अनुमान ही करना पड़ेगा। अनुमानका भी कोई निश्चित लिङ्ग नहीं है। ससारभरके प्रायः सभी अध्यात्मवादी सम्प्रदाय तथा बौद्ध योगाचार, सौतान्त्रिक, वैभाषिक एवं माव्यमिकतक बन्धको अनादि किन्तु सान्त मानते हैं। भगवान् कृष्णकी गीता भी उसे अनन्त बतलाती है। 'नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा' (१५।३)। इस ससारका न अन्त है, न आदि है। अद्वैतवेदान्तके अनुसार अनादि होते हुए भी सान्त है। गीताके वचनका अभिप्राय यही है कि तत्त्व-साक्षात्कार बिना इस संसारका अन्त नहीं होता। असीम भी हो, सर्जनशक्ति भी हो, तो भी, जड़का प्रेरक-प्रवर्तक चेतन आवश्यक ही है। किसी भी जड़की अनुकूल सर्जनशक्ति बिना नियन्त्रणके सर्वथा अदृष्टचर है।

‘मनुष्यके मानसिक तथा बाहरी वस्तुओंके सयोगजनित व्यवहारने यह सिद्ध किया कि जिस दिशामें प्राचीन भौतिकवादी सत्यको खोजना चाहते थे, वह वहाँ नहीं है, उसको खोजनेके लिये दूसरी दिशाको जाना पड़ेगा। मनुष्यका विचार जिस सत्यको पहुँच सकता है, वह अनन्त कालके लिये सम्पूर्ण सत्य नहीं है, जिसका अस्तित्व ऐसे पुरुषके लिये है जो मनुष्यके राग-द्वेष और ससीमतासे मुक्त हो। जिस सत्यको मनुष्य पहुँच सकता है, वह उन सम्बन्धोंका—जिनके अन्तर मनुष्य जाता है, चलता-फिरता है और रहता है—एक विकासमान समन्वय है। यह आपेक्षिक सत्य है, क्योंकि यह कुछ पारस्परिक सम्बन्धों तथा क्रिया-प्रतिक्रियाओंका रूप है, जिनको हम उन सम्बन्धोंके अंदरसे ही देखते हैं। पुनः परिमाणकी दृष्टिसे भी यह आपेक्षिक है, क्योंकि इसमें सदा वृद्धि होती रहती है और अधिकतर वृद्धिप्राप्ति करनेकी इसमें शक्ति है। लेकिन गुणात्मक दृष्टिसे और तुलनात्मकरूपमें यह सत्यपूर्ण भी है। यद्यपि यह पूर्ण सत्य नहीं, तथापि जहाँतक यह प्रयोग सिद्ध है, वहाँतक यह सत्य ही है।

“सिद्धान्त और प्रयोग, पूर्णता और आपेक्षिकता, पुरानी अवस्थाका जारी रहना और परिवर्तित होना, कायमी अवस्था और वृद्धि, इन विरोधियोंके एकत्वमें ही कान्टके पूर्व यान्त्रिक भौतिकवाद तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवादका प्रमेय है। एजिल्सके शब्दोंमें—‘पिछली सदीमें भौतिकवादका रूप यान्त्रिक होनेका कारण यह था कि उस समय प्रकृतिविज्ञानकी शाखाओंमें यन्त्रविज्ञानका ही काफी विस्तार हो चुका था। देकार्तके लिये पशु एक मशीन-जैसा था। अठारहवीं सदीके भौतिकवादके लिये मनुष्य भी वैसे ही था। उस समयके फ्रांसीसी भौतिकवादकी यह सकीर्णता थी कि वह हर प्रक्रियाके सम्बन्धमें यन्त्रवादका प्रयोग करता था, चाहे वह रसायन शास्त्र हो, चाहे जीव-प्रकृति, जिसके सम्बन्धमें

यान्त्रिक सिद्धान्त लागू है सही, लेकिन जिनका नियन्त्रण और उच्चकोटिके नियमोंद्वारा होता है। उसकी दूसरी सकीर्णता यह है कि वह विश्व ससारको सक्रियरूपमें भूतके ऐतिहासिक विकासके रूपमें नहीं देखता। प्रकृतिकी अविराम गतिका ज्ञान तो लोगोको था, लेकिन उस समयके विचारके अनुसार यह गति अनन्तकालसे एक चक्रके आकारमें है और उन्हीं परिणामोका बारबार आविर्भाव होता रहता है। यान्त्रिकवाद एक यन्त्रचालकका अनुमान करता है और इस प्रकार ईश्वर और अप्रकृतिवादकी पुनः सृष्टि करता है। वास्तविक परिवर्तनकी व्याख्या यह नहीं कर सकता। वास्तविक परिवर्तनका कारण है वस्तुकी स्वयंगति।

द्वन्द्वमानके संक्षिप्त सूत्र १६ हैं—हीगेलके तर्कशास्त्रके ऊपर लेनिनने १६ सूत्रोंका विस्तार किया है, जिनके अध्ययनसे द्वन्द्वमानको समझनेमें बहुत सहायता मिलती है। लेनिनके शब्दोंमें द्वन्द्वमानका संक्षिप्त विवरण है, विरोधियोंका एकत्व। एक प्रकारसे ये मोलहों सूत्र इसीके विगद विस्तार हैं। मनन-क्रियाका आरम्भ होता है, विश्व-प्रक्रियासे। उसके कुछ विशिष्ट गुणोंको अलग करके उनके अलग रूपको ही ध्यानमें लाकर वस्तु (कर्म) को लेकर ही मनन-क्रियाका आरम्भ है। इसलिये द्वन्द्वात्मक मनन-क्रियाके लिये पहले आवश्यक है, वस्तुओंको ज्यों-की-त्यों उनके अलग रूपमें देखना। यही लेनिनका पहला सूत्र है—वस्तुनिरीक्षण।

“लेकिन वस्तुतत्त्वके तोड़नेके पहले कदमको पूरा करना पड़ता है। दूसरे कदमसे इस द्वन्द्वमानका पुनर्निर्माण करके यदि विश्व ससार एक परिवर्तनशील प्रक्रिया है, जिसके अङ्ग परस्पर सम्बन्धित हैं तो हम इनकी पहचान यो करते हैं कि मस्तिष्कमें इन आशिक क्रियाओंको, यथा समाज उत्पादनके साधन परिवर्तनशील वस्तु शब्दको अलग कर लेते हैं। इनका हम नाम देते हैं—पृथक्कित (आइसोलेट्स)। यह पृथक्कित, पारिपार्श्विक अवस्था (वहिरावेष्टन) या स्थान, काल, भूतसे अलग कर लिया गया है। इसलिये स्वयं पृथक्कित एक कल्पनामात्र है, क्योंकि द्वन्द्वात्मक दृष्टिसे पारिपार्श्विक अवस्थासे मुक्त कोई वस्तु रह नहीं सकती। लेकिन यह कल्पना भी वास्तविक ही है, इसलिये कि वस्तु-राज्यमें इसका अस्तित्व है। द्वन्द्वमानके अध्ययनका पहला कदम है इन पृथक्कितोंका स्वतन्त्ररूपसे अध्ययन करना और फिर उनको अपनी पारिपार्श्विक अवस्थासे सयुक्तकर द्वन्द्वमानका पुनर्निर्माण करना। इसी प्रकार हम अति-भौतिकवादी अलाहिदापने और एकरूपपानेके ऊपर उठ सकते हैं और दुनियाको एक अन्तःसम्बन्धित गतिके रूपमें देख सकते हैं। यही लेनिनका दूसरा सूत्र है। हमें प्रत्येक वस्तुके दूसरे वस्तुओंसे सम्बन्धोंकी विचित्रता और परिपूर्णताका विचार करना चाहिये।”

प्राचीन भौतिकवादी एव द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दोनोंहीकी खोजसे परमार्थ सत्य मिलनेवाला नहीं है। परमार्थ निःसीम सत्य एक ही है, उसमे पूर्णता-अपूर्णताकी खिचड़ी नहीं है। उसी परमार्थ सत्यका औपाधिकरूप स्वप्न, श्रुति, रजतादिमें प्रातिभासिक सत्यरूपमें प्रस्फुटित होता है। व्यावहारिक आकाशादिमें व्यावहारिक सत्यरूपमें प्रस्फुटित होता है। अत्यन्त अबाध्य वस्तु ही परमार्थ सत्य होती है, अतः परमार्थ सत्यका अनन्त एव कालातीत होना स्वाभाविक है। अविचारित संघातप्राय मनुष्य भले ही आपेक्षिक सत्य हो, परतु विचारनिर्णीत स्वरूप तो मनुष्योका ही नहीं प्राणिमात्रका अनन्त सत्य ही है और इस अनृत मर्त्य मनुष्य-देहादिसे ही सत्य अमृत प्राप्त करना जीवनका ध्येय है, यही बुद्धिमानोंकी मनीषाका माहात्म्य है—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।

यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥

(श्रीमद्भा० ११।२९।२२)

अठारहवीं सदीके भौतिकवादियोसे बहुत पहले ईसाके भी बहुत पहले भगवान् श्रीकृष्णने स्थूलदेह एवं इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्राणादि युक्त सूक्ष्म शरीरको यन्त्र मानकर यन्त्रारूढ जीवोको ईश्वराधिष्ठित मायाद्वारा भ्रमण करना माना है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

आमयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ (गीता १८।६१)

शरीर, दिमाग आदिसे उत्तम यन्त्र अवतक कोई भी नहीं निकले हैं। बल्कि यो कहना चाहिये कि रेल, तार, रेडियो, मोटर, हवाईजहाज एव अन्य कारखानोंके मशीन-यन्त्र आदि सबका आविर्भाव करनेवाला मनुष्य शरीर, बुद्धि, मस्तिष्क ही है। सुतरां इस सर्वोत्कृष्ट यन्त्रका निर्माता तथा संचालक सर्वज्ञ ईश्वर ही है। वस्तुकी स्वयंगति असिद्ध है। अचेतन रथादिकी गति चेतनाधिष्ठित ही होती है। अतः जल, वायु आदिकी प्रवृत्ति भी अन्तर्यामी चेतनसे अधिष्ठित ही होती है। यदि स्वयंगति भूत है तब उनसे स्वयं ही विलक्षण कार्योंकी उत्पत्ति होनी चाहिये, फिर चेतन मनुष्यकी इच्छानुसार जडभूतकी कार्याकारेण परिणति न होनी चाहिये। अग्नि, जल, वायुके तुल्य स्वयं गति होनेपर भी कार्यानुकूल गतिके लिये चेतन ईश्वर नियामक एवं व्यवस्थापकरूपसे आवश्यक है।

विरोधियोंके एकत्वके सम्बन्धमें कहा जा चुका है कि भाव, अभाव-जैसे विरोधियोंकी एकता सर्वथा असम्भव तथा अदृष्ट है। अग्नि, जल, सत्त्व, रज, तम-जैसे विरोधियोंका भी महयोग होता है, एकता नहीं। 'वस्तु अर्थात् कार्यसे मनन-क्रिया अर्थात् ज्ञानका आरम्भ होता है', यह कल्पना भी व्यर्थ

है। अनुभव-मिद्ध बात है कि 'जानाति, इच्छति, अथ करोति' प्राणी किसी वस्तुको जानता है, फिर इच्छा करता है, फिर कर्म करता है। किसी भी कर्मके लिये पहले सकृत्प अपेक्षित होता है। 'यच्छतुर्भवति तत्कर्म कुरुते।' (छा० उ०) प्राणी जैसा सकृत्प करता है, वैसा ही कर्म करता है—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः ।

व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।

यग्रहि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥

(मनुस्मृ० २ । ३-४)

सभी काम संकल्पमे ही होते हैं और सकामकी ही क्रिया होती है। निःसङ्ग निःकामकी कोई भी क्रिया कभी भी देखी नहीं जाती। विश्वनिर्माण भी ईश्वरीय संकल्प तथा चिकीर्षामूलक ही है। व्यवहारमें भी कोई शिल्पी पहले वस्तुकी कल्पना या संकल्प करता है, फिर इच्छा करता है, पुनः साधन-समूहपूर्वक मनःस्थ वस्तुको बाह्यकार देता है। लेनिनका सूत्र इस सहज स्वाभाविक व्यवहारका उल्लङ्घन करता है। वस्तु-तत्त्वको तोड़ना और पुनर्निर्माण करना यह द्वन्द्ववादी भाषा ही अग्रद्वत है। पुनर्निर्माण जगत् निर्मित वस्तुके ही पुनर्निर्माणके अर्थमें प्रयुक्त होता है, नव निर्माण और पुनर्निर्माणमें यही अन्तर है। मृत्पिण्डका विभाजन घट-निर्माणके लिये होता है। एक अवस्था टूटनेपर ही दूसरी अवस्था आ सकती है। अनः पिण्डावस्था टूटनी है, तब घटावस्था आती है। इस तरह कार्यावस्थासे पूर्व व्यवस्थाका प्रत्यावर्तन नहीं होता। देवकाल तथा विविध सम्बन्धित पदार्थोंसे सम्बन्ध रहनेपर भी पृथक्त्व रहता ही है, वैज्ञानिक विश्लेषण भी तभी सार्थक है। सम्मिलित, सम्बन्धित, अविविक्त भूमण्डल सूर्यमण्डलमें विवेकद्वारा विभिन्न गुणधर्मयुक्त अनेक पदार्थ मिलते हैं। यों तो कारणरूपसे सभीकी एकता है। पार्थिवरूपसे अभिन्न होते हुए भी लोहा, सोना, चाँदी, पत्थर, मिट्टी आदि रूपसे भिन्नता मानना ही तत्त्वज्ञान है। अ-यात्मवादके लिये यह कोई नयी वस्तु नहीं है। वस्तुके यथार्थ जो भी दृष्टिकोण हो, उपयोगिताकी दृष्टिसे सभीपर विचार होना चाहिये। काकदन्तपरीक्षा, गर्दभरोमगणना आदि व्यर्थकी परीक्षाएँ होती हैं, वे अमान्य होती हैं।

कहा जाता है कि 'प्रत्येक वस्तु विराट विश्वप्रक्रियाका एक अङ्ग है। इसकी प्रकृतिको इसकी रूपान्तरिक अवस्थासे अलग करके नहीं समझा जा सकता।' यही लेनिनका तीसरा सूत्र है। 'हमें वस्तु या दृश्यगत घटनाओंके विकास इसकी अपनी गति, इसके अपने जीवन आदिका विचार करना चाहिये।

लेकिन यह विकास ऐसा नहीं है जो मनमानी ढंगसे, बिना किसी कारणके रहस्य-मयरूपमें होता है। विकास सदा बाहरी सम्बन्ध तथा आन्तरिक सम्बन्धोंकी जाँचका है। हमें वस्तुकी अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियों और दिशाओंकी खोज करनी चाहिये। यही लेनिनका चौथा सूत्र है। पाँचवाँ सूत्र है कि 'हमें वस्तुको विरोधियोंके एकत्व तथा योगफलके रूपमें देखना चाहिये।' छठा सूत्र है—इन विरोधियोंके पटविस्तार तथा संघर्षको हमें देखना चाहिये और सातवाँ सूत्र वस्तुके विश्लेषण तथा समन्वयका एकीकरण है। आठवाँ सूत्र है—प्रत्येक वस्तुका सम्बन्ध न केवल बहुविध है बल्कि सार्वभौमिक है। प्रत्येक वस्तु प्रत्येक अन्य वस्तुसे सम्बन्धित है। नवाँ सूत्र न केवल विपरीतोंका एकत्व बल्कि प्रत्येक गुणका उसके विपरीतमें रूपान्तरित होना है।

दसवाँ सूत्र नये पार्श्वों और सम्बन्धोंके दृश्यगत होनेकी असीम क्रिया है। ग्यारहवाँ सूत्र है—मनुष्यद्वारा वस्तु, दृश्य, क्रिया इत्यादिके ज्ञानको गहराईमें ले जानेकी तथा बाह्यावरणसे तत्त्वपर और कम गहराईके तत्त्वसे अधिक गहराईके तत्त्वपर पहुँचनेकी असीम क्रिया। बारहवाँ सूत्र है—सह अस्तित्वसे कार्य-कारणके सम्बन्धको पहुँचना। एक प्रकारके सम्बन्ध और पारस्परिक निर्भरतासे अधिक गहरा तथा अधिक व्यापक सम्बन्ध—तथा पारस्परिक निर्भरताकी ओर जाना। तेरहवाँ सूत्र निम्नस्तरसे ऊँचे स्तरपर विकासकी क्रियामें कुछ गुणोंकी पुनरावृत्ति है। चौदहवाँ सूत्र प्रतीयमानरूपसे पुराने रूपपर लौट जाना 'प्रतिषेधका प्रतिषेध' है।

रामराज्यकी दृष्टिमें प्रत्येक वस्तु महाविराट्का ही अंश है। सुतरां मूलके गुण-धर्म, शाखा-उपशाखाओंमें होने उचित ही हैं। कारणकी अपेक्षा कारणोंमें अनिर्वचनीय विलक्षणता भी होती ही है। स्पष्टतया स्पर्शहीन आकाशसे स्पर्शवान् वायुकी, रूपहीनवायुसे रूपवान् तेजकी उत्पत्ति स्फुटरूपसे होती है। मनमानी ढंगसे विकास तो जड़वादी ही मानते हैं। अध्यात्मवादी तो हर एक कार्यके साधारण, असाधारण—कई ढंगके कारण मानते हैं, परन्तु सभी कारण दृष्ट ही नहीं, कुछ अदृष्ट भी होते हैं। दिक्, काल, आकाश, ईश्वर, अपूर्व 'अदृष्ट' प्रागभाव, प्रतिबन्धकाभाव आदि साधारण कारण होते हैं। उपादान, निमित्त, सहकारी आदि अनेक असाधारण कारणका योग होता है, तभी कोई विकार सम्पन्न होता है। विरोधियोंके एकत्वकी अपेक्षा सहयोगियोंके सहयोगसे कार्यकी उत्पत्ति कहना वहीं अधिक सङ्गत है।

विरोधियोंके संघर्षकी कल्पनाकी अपेक्षा यही कहना ठीक है कि किसी समान उद्देश्यकी मिट्टिके लिये विरोधी भी सहयोगी हो जाते हैं। विरोधियोंके संघर्षका सहयोगरूपमें परिवर्तन हुए बिना दोमेंसे एकका विनाश भ्रष्ट है। फिर

विरोधियोंकी एकताका स्वप्न व्यर्थ ही है। सर्वत्र रहते हुए पदविस्तारकी कल्पना भी निराधार है। वस्तुके विच्छेपण तथा समन्वयका एकीकरण क्रमेण विच्छेपण, विभाजन तथा समन्वय हो सकता है, परन्तु समकालमें दोनोंका अस्तित्व तथा एकीकरण असम्भव एव अप्रमाणित है।

प्रत्येक वस्तुके सम्बन्धोंका बहुविधत्व, सार्वभौमत्व अंशतः ठीक ही है, पर इसमें भी सहयोग विरोध तथा उदासीनताको भी गिन लेना चाहिये। वाच्यत्व प्रमेयत्वादि तथा दैशिक, कालिक सार्वभौम सम्बन्ध अ-यात्मवाटको भी मान्य है। किन्तु इससे कोई माक्सवाय अभिप्राय नहीं मिट्ट होता। विपरीतोंका एकत्व तथा प्रत्येक गुणका रूपान्तरित होना सारग्रन्थ है। साव-अभाव, सत्-असत् आदि विपरीतोंकी एकता असम्भव है, यह कहा जा चुका है। अग्नि, जल, मत्त, रज आदि विपरीतोंका एतत्त्व न कहकर सहयोग ही कहना ठीक है। कारणकी अपेक्षा कार्यामे तथा अल्पसंख्यकाकी अपेक्षा बहुसंख्यकोंमें गुणधर्मका वैलक्षण्य अव्यात्मवादमें मान्य है। मृत्तिकासे जलानयनका कार्य नहीं सम्पन्न होता, मृत्तिकाके कार्य घटसे वही कार्य सम्पन्न हो जाता है। तृण साधारण नगण्य तथा अल्पशक्ति होता है, पर वही सामूहिकरूपमें एकत्रित रज्जु बनकर दुरुच्छेद्य बन जाता है।

वस्तुतः कारणमे भिन्न होकर कार्य नहीं होता, फिर भी व्यवहारमें कारण-कार्यका वैलक्षण्य मान्य होता है। अतत्त्वभूत रज्जुसर्पसे भी सत्य भय-कम्प आदि देखा जाता है। अनप्य नये पद्यों और सम्बन्धोंकी कल्पना निराधार है, क्योंकि अत्यन्त अविद्यमान कोई वस्तु या सम्बन्ध व्यक्त नहीं होता है। वटवीजमें जिनकी शक्ति विद्यमान है, उतना ही विकास होता है। विकास ही नहीं, किन्तु विकासके साथ हानि भी स्पष्ट दिखायी देता है। विच्छेपण-विच्छेपणकी विचित्रतामे शक्तिगर्भमें विचित्रता भी परिलक्षित होती है। औपचारिक सयोग-वियोग तथा पौवाके कलम 'जाट' से तथा बीजेके संस्कारसे विकासमें विचित्रता होती है, फिर भी विकास निस्सीम नहीं है। प्रत्येक वस्तुमें 'जायते अस्ति वर्धते' के वाद ही 'विपरिणमते अपक्षीयते एवं विनश्यति' की स्थिति आ जाती है। अर्थात् उत्पत्ति वृद्धिकी एक सीमा है। उसके बाद ही विपरिणाम, अपक्षय एव विनाश आ जाता है। दृष्टिमें जो गुण धर्म हैं, समष्टिमें भी उनका अस्तित्व रहता है। अतः शुद्ध स्वप्रकाश ब्रह्मातिरिक्त किसी भी वस्तुको निस्सीम नहीं कहा जा सकता। जब ससारमें सावयन पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश दृष्ट है, तब सावयव विश्व-प्रपञ्चकी भी उत्पत्ति तथा विनाश मानना अनिवार्य है।

प्रवाह भी प्रवाहियोंमे भिन्न नहीं होता। दिन रातका प्रवाह या बीजाङ्गका प्रवाह एव कर्म तथा देहोंका प्रवाह आदि सभी प्रवाह प्रवाहियोंके अनित्य होनेसे

अनित्य ही हैं। जिस वस्तुका प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव बन सकता है, उस वस्तुको निस्सीम कहना उपहासास्पद ही है। जैसे अनादि परमाणुकी श्रमना अग्निजन्य पाकसे नष्ट होती है, अग्निसे दग्ध होनेसे अनादि बीजाङ्कुरकी परम्परा टूट जाती है, उसी तरह विश्वप्रपञ्चकी परम्परा भी कालसे किंवा तत्त्वज्ञानसे टूट जाती है। मार्क्सवादी विश्वकी निस्सीमतामें प्रत्यक्ष-प्रमाण एवं प्रत्यक्ष साधन-यन्त्रोंका प्रयोग वर्तमान कालके लिये जो भी करे, परंतु भविष्यके सम्बन्धमें तो प्रत्यक्ष या यन्त्र कथमपि सकल नहीं हो सकते। अनुमान कोई ऐसा निर्दोष नहीं है जिसने विश्वकी अनन्तता या निस्सीमता विदित हो सके। फिर क्रिया कोई भी चाहे वह प्रातिस्विक हो या सामूहिक, निःसीम नहीं कही जा सकती।

मनुष्यद्वारा वस्तु, दृश्य, क्रिया इत्यादिके ज्ञानकी गहराईमें ले जानेकी तथा बाह्यावरणसे तत्त्वपर और कम गहराईके तत्त्वसे अधिक गहराईपर पहुँचनेकी अपीम क्रियाकी बात भी कल्पना ही है। अतत्त्व अनात्मसम्बन्धी ज्ञान यद्यपि अल्पज्ञ जीवके लिये असीम ही है, फिर भी सर्वज्ञ ईश्वरके लिये वह भी निस्सीम नहीं। दूररी दृष्टिमें ज्ञातरूपसे तथा अज्ञातरूपसे सभी वस्तु साक्षी भास्य है— 'किञ्चिज्जानामि किञ्चिन्न जानामि' अमुकको नहीं जानता हूँ, अमुकको जानता हूँ— इस रूपसे अज्ञानविषयतया या ज्ञानविषयतया सभी वस्तु साक्षीभास्य हैं। सर्वकारण सर्वाधिष्ठानरूपसे भी परम तत्त्वका ज्ञान अन्तिम ही तत्त्वज्ञान है। इसी ज्ञानके सम्बन्धमें गीताचार्यका कहना है—

‘यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।

(७।२)

जिसको जानकर पुनः अन्य कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रहता—

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥

(१५।२०)

इस तत्त्वको जानकर प्राणी बुद्धिमान् होता है और कृतकृत्य हो जाता है। उपनिषदे भी कहती हैं—आत्माके श्रवण, मनन, विज्ञानमें सबका श्रवण, मनन तथा विज्ञान हो जाता है—

आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।

(बृहदा० उप० २।४।५)

जैसे पृथ्वीके विज्ञानसे पार्थिवतत्त्व, जलके विज्ञानसे जलीयतत्त्व तरङ्ग आदिका विज्ञान हो जाता है, वैसे ही सर्वकारण सर्वाधिष्ठानके विज्ञानसे सब कुछ विज्ञात हो जाता है।

सहयोगियोंका सहअस्तित्व तो सभी मानते हैं। विरोधियोंका भी सहअस्तित्व अगर मार्क्सवादको मान्य है, तब तो फिर मजदूर और मालिकका भी सहअस्तित्व

हो ही सकता है। फिर मार्क्सवादी चूहा, विल्लीके तुल्य वर्गोंका अमिट विरोध क्यों मानते हैं ?

पारस्परिक सम्बन्ध तथा निर्भरताकी बात अच्छी है, पर स्वात्मनिर्भरताका भी महत्त्व नहीं भूलना चाहिये। परमुखापेक्षिता दोष भी है। अध्यात्मपद्धत माननेपर तो बाह्य साधनानपेक्षता बड़े ही महत्त्वकी वस्तु है। उत्तरोत्तर ज्ञान, क्रिया, शक्तिका विकास हो रहा है, संसार उन्नतिके उच्च शिखरकी ओर बढ़ रहा है, इस विश्वासमें भी अन्धविश्वासका ही अंश अधिक है। स्तर भेद होनेपर भिन्नता ही कहना चाहिये, पुनरावृत्ति नहीं। प्रतिपेक्षके प्रतिपेक्षकी मार्क्सवादी मान्यता असङ्गत है, यह पीछे दिखाया जा चुका है। अङ्कुरके कारणभूत जौके दाने अङ्कुरके फलभूत जौके दानोंसे सर्वथा भिन्न हैं। यह प्रतिपेक्षके प्रतिपेक्षका उदाहरण नहीं हो सकता। इसका शुद्ध उदाहरण पीछे दिखलाया जा चुका है।

“पट्टहवाँ सूत्र लेनिनका है—रूप और सार, आवार और आकारके अदर अस्तित्वका मन्वर्प तथा इसका विपरीत। सोलहवाँ सूत्र है—परिमाणका गुणोंमें परिवर्तन तथा इसका विपरीत, व्याख्या और उदाहरण। जीवनका उदाहरण प्रकृतिके द्वन्द्वात्मक रूपपर स्पष्ट प्रकाश डालता है। अवयवके तथा कोषके जीवनमें जीवन और मृत्यु, आविर्भाव और तिरोभाव, अन्तर्ग्रहण तथा बहिर्मोचन, भूत और शक्तिको ये पास-पास ही मिलते हैं तथा परस्पर सन्विलष्ट रहते हैं। इसके अतिरिक्त पूँजीवादमें अन्तर्विरोधके तीन सूत्र हैं—

१. प्रत्येक भिन्न फैक्टरीमें उत्पादनका सुचारुरूपसे सघटन होता है और सामाजिक उत्पादन क्षेत्रमें अराजकताकी चेष्टा की जाती है।
२. एक ओर मशीनकी उत्पत्ति और उत्पादनका विस्तार प्रत्येक पूँजीवादीके लिये बाध्यतामूलक नियम है, दूसरी ओर उद्योगकी रिजर्व सेनामें वृद्धि और सामयिक सकटका बारबार होना, ये उत्पादनके सम्बन्ध पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धोके विरुद्ध विद्रोह करते हैं।
३. सम्पूर्ण पूँजीवादी प्रथामें एक ओर पूँजी ही सम्पत्ति है और दूसरी ओर उद्योगमें पूँजीका प्रयोग किया जाता है यानी एक ओर बैंकमें एकत्रित पूँजी है और दूसरी ओर औद्योगिक पूँजी है। इस प्रभेदके उदाहरण हैं सूदजीवी, जिनकी जीविका है पूँजीपर सूदद्वारा और दूसरे जो अपनी जीविका पूँजीके व्यावहारिक प्रयोगसे अर्जन करते हैं। (लेनिन)

“हर प्रथा या क्रियाके आन्तरिक विरोधोके रूप और गुण भिन्न होते हैं। सर्वहाराके अधिनायकत्वमें राष्ट्रका लोप भी विरोधका उदाहरण है, पर यही वर्ग-सघर्षके अन्तका कारण बन जाता है और इस प्रकार राष्ट्रका लोप होता है। आपेक्षिक और पूर्ण सत्य भी विरोधका उदाहरण है।

अथ न्या औद्योगिक प्रवृत्ति का आर्थिक कार्यकारण भाग है। दोनोंका योग-

है। सर्वद्वाराके अविनाशकरुषे राखल्लेकी कठपत्ती तो अभी खन ही है। अभी दो सर्वद्वाराका अविनाशकरुषे भीमल तानाशाही बन रहा है। सर्वद्वाराके अविनाशकरुषे वर्गाकी लीप केखत डडके खलपर प्रतीत होला है। खल्लः खल्लः

अतिथि १२५५

उत्थापितका यह कथन आशिक सत्य है कि एक दूसरेके विषय काय्कासिणी आत्किष्णू पृथ्वापर वर्तमान हैं । यह कहना उचित है कि विविध विश्व विरोविनी तथा अन्यविनी अनेक प्रकारकी आत्किष्णू वर्तमान हैं । यदि विरोध ही जगतका सत्य है, तब ही सत्ययोगमूलक काय् ही नहीं होना चाहिये । किन्तु वै, प्रम, सत्ययोग, विरोध—सभी सत्यमेव सत्ता है । सत्यहि गुण परम्पर

विशिष्ट और व्यापकके सम्बन्धमें अन्तःप्रवेश भी विरोधका एक उदाहरण है। (व्यापक साधारण) के सम्बन्धसे विच्छिन्न होकर विशिष्टका कोई अस्तित्व नहीं है और विशिष्टोंसे ही व्यापकका अस्तित्व है। प्रत्येक व्यापकरूप केवल करीब-करीब ही सब विशिष्ट वस्तुओंका अपनी व्यापकतामें ला सकता है। और प्रत्येक विशिष्ट वस्तु कुछ-न-कुछ व्यापक रूप ग्रहण करती है।”

अन्तर्विरोधपर बुखारिन

“एक दूसरेकी विरोधी भिन्न कार्यकारी शक्तियाँ पृथ्वीमें वर्तमान हैं। व्यक्तिगतके रूपमें इन शक्तियोंका समीकरण होता है, तब विरामकी स्थिति होती है। यानी उनके वास्तविक विरोधपर एक आवरण पड़ जाता है। लेकिन किसी एक शक्तिमें तनिकमात्र परिवर्तन करनेहीसे अन्तर्विरोधका पुनराभास होता है। और उस समीकरणका अन्त होता है और यदि एक नये समीकरणकी सृष्टि होती है तो यह एक नये आधारपर यानी शक्तियोंके एक नये संयोगसे ही होती है। मार्क्सीय द्वन्द्वन्याय इस विरोधको भुला नहीं देता, लेकिन सामाजिक विकासमें इस विरोधको मुख्य स्थान नहीं देता। इतिहासके अध्ययनसे हम यह पाते हैं कि यद्यपि भिन्न देशोंमें भूगोल, जलवायु, उद्भिज्ज, जगम और प्राकृतिक सम्पद्में परिवर्तन नहींके बराबर हुआ, तथापि वहाँके सामाजिक सम्बन्धोंमें महान् परिवर्तन हो गये, जैसे सामन्तप्रथाके स्थानपर पूँजीवादकी स्थापना।”

रूप एव सार आदिका सघर्ष तथा परिमाणका गुणमें परिवर्तनकी कल्पना निराधार है। जीवन-मृत्युका तिरोभाव-आविर्भाव, अन्तर्ग्रहण तथा बहिर्मोचन आदि काल और विषयभिन्न होनेसे विरोध या सघर्षका प्रश्न ही नहीं उठता। ये सब चीजें समान वस्तुके विषयमें समान कालमें परस्पर विरुद्ध ठहरती हैं। कालभेदसे किसी भी वस्तुका आविर्भाव-तिरोभाव आदि निर्विरोध ही है। इसी तरह एक ही कालमें एककी मृत्यु अन्यका जन्म आदि होनेसे कोई विरोध नहीं होता। पूर्वग्रहीत वस्तुका बहिर्विमोचन, अग्रहीत वस्तुका ग्रहण भी परस्पर विरुद्ध नहीं है। अतः इसे सघर्ष नहीं कहा जा सकता। पूँजीवादके अन्तर्विरोधकी कल्पना भी अतार्थिक ही है। रामराज्यप्रणालीसे उत्पादन तथा वितरणकी व्यवस्था होनेसे यह विरोध टिक ही नहीं सकता। धन एवं पूँजीका भेद सिद्धान्ततः अमान्य है। प्रजाके उपभोगार्थ उत्पादनसे भी लाभ आनुपन्निकरूपमें प्राप्त होता है। उत्पादन-कार्यमें लाभके अनुसार कामके घंटोंमें कमी, मजदूरोंकी सख्याकी वृद्धि तथा मजदूरोंका भी उचित दर होनेसे न बेकारी ही रहेगी और न क्रयशक्तिमें ही कमी आयगी और न मालकी खपतमें कोई गड़बड़ी होगी। भोगोपयोगी वस्तुओंका ही निर्माण करना और मजदूरोंके

विरोधी होनेपर भी विमर्दवैचित्र्य, परस्पर सहकारसे वे भी कार्यक्षम होते हैं। गुणोंकी विषमतासे गुणोंमें सहकार होता है, समतामें विरोध होता है। सारी सृष्टि गुणोंकी विषमता एवं सहकारके आधारपर ही टिकी है। परिणामी गुणोंका समता-विषमता—दोनों ही धर्म है। प्रलयानुगुण कर्मोंकी अपेक्षासे समता तथा सृष्टिके अनुगुण कर्मोंसे विषमता होती है। संसारमें प्रेम, परोपकार, सहयोग स्वाभाविक है; विरोध, ध्वंस निम्नगामिनी प्रवृत्तियोंके परिणाम तथा प्रामादिक हैं।

वेदान्तकी दृष्टिसे सभी चराचर विश्व विघोषतः प्राणिवर्ग परमेश्वरकी ही संतान है—‘अमृतस्य पुत्राः।’ उनका तो समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृता ही मुख्य स्वभाव है। विरोध ही आवरणका कारण होता है, आवरण हटते ही विरोधका कहीं पता नहीं लगता—‘उमा जे राम चरनरत बिगत काम मद क्रोध । निज प्रभुमय । देखहि जगत केहि सन करहि विरोध ॥’ जो जगत्की स्वाभाविक मूलभूत स्वाभाविक स्थितिको पहचानते हैं, वे लोग सम्पूर्ण संसारको भगवद्रूप ही देखते हैं। फिर वे किससे विरोध करें? स्वाभाविक स्थितिसे अविद्या, काम, कर्मद्वारा प्रच्युति होनेपर अविद्या स्वार्थ आदिके जागरूक होनेपर फिर विरोध-वैमनस्य चलता है। तभी ‘जीवो जीवस्य जीवनम्’ जीवसे ही जीवका जीवन चलता है—यह धर्म-प्रच्युतिमूलक मात्स्यन्याय फैलता है। स्पेन्सर आदिके सघर्षवादका अन्धानुकरण ही माक्सवादियोंका अन्तर्विरोध है। इसके अनुसार जो प्रबल होगा उसीका जीवित रहना न्यायसिद्ध है। इसमें किसी गरीब कमजोरकी सहायता करना मूर्खता है। जो अपनेको बदली हुई परिस्थितिके अनुकूल नहीं बदल सकता, वही गरीब है। उसपर दया करना बेकार है। परंतु आजके परस्पर सहकार सहयोगके जमानेमें यह एक अत्यन्त उपहासास्पद वस्तु है।

इसी तरह ‘पुराने समीकरणका अन्त तथा नये समीकरणको नये आधारपर शक्तियोंके नये संयोगसे सृष्टि होती है’—यह कहना भी पिष्टपेषण ही है। अभ्युदयानुगुण परिवर्तनमें नये संयोगो या नये परिणामोंका अङ्गीकार सभीको सम्मत है ही। सामाजिक परिवर्तनका कारण ज्ञान, क्रिया, शक्तिका परिवर्तन ही है, और उनमें भी ज्ञान-शक्तिका विकास ही मुख्य है। भौगोलिक तथा वातावरणका परिवर्तन भी इन नये परिवर्तनोंमें कारण होते हैं। जो लोग उत्पादन-साधनोंके परिवर्तनोंके आधारपर ही सामाजिक परिवर्तन मानते हैं, उन्हें भी उत्पादन साधनोंके परिवर्तनका कारण ढूँढ़ना पड़ेगा और अन्ततोगत्वा बुद्धिपर ही आना पड़ेगा। बुद्धिमें कारण शिक्षण तथा अभ्यास ही होता है। आरम्भमें शिक्षण, अन्तमें अभ्यास और अन्वेषणके ही प्राख्यसे बुद्धिका विकास होता है। बुद्धि-विकाससे धन-धान्य समृद्धिके कारण यन्त्रोंका भी विकास होता है और उसके

बिना भी आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक क्षेत्रमें विकास होता है, इसीलिये कल-कारखानोंके विकासके बिना भी प्राचीन भारतमें आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक विकास उच्चकोटिका हुआ था। यद्यपि महायन्त्रोंका विकास प्राचीनकालमें भी हुआ था, तथापि उसका दुष्परिणाम देखकर उसे उपपातक निश्चितकर उसपर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। फिर भी विशिष्ट गन्ना, विमान, रथ तथा शिल्पकलादिका विकास मय, विश्व-कर्मादिद्वारा होता ही रहा। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि भाप या बिजलीकी चक्की तथा कपड़ों, लोहों, ताम्रादिके बड़े-बड़े कल-कारखानोंके विकास बिना धार्मिक, सामाजिक विकास या कोई उन्नति नहीं होगी।

वस्तुतः व्यापक इतिहासके महान् क्षेत्रमें सामन्तवाद और पूँजीवाद-जैसी प्रथाओंका कोई बड़ा महत्त्व नहीं है। प्रमाद-पुरुषार्थ, सुव्यवस्था-दुर्व्यवस्थाके अनुकूल ही अनुकूल-प्रतिकूल परिवर्तन होते रहते हैं। मार्क्सवादियोंके सामने केवल कुछ गतान्दियोंका ही इतिहास है। यदि गतान्दियोंके इतिहासमें इतने परिवर्तन हुए हैं, तो सहस्रान्दियों एवं लक्षान्दियोंके इतिहासमें क्या क्या परिवर्तन हुए होंगे, इसका भी तो विचार करना चाहिये। आस्तिकोंकी दृष्टिसे मनुष्यलोकमें ही नहीं, किंतु देवलोकके भी विकास तथा अभ्युदयकी पराकाष्ठा निर्धारित ही है, और परम उत्कर्ष वैवल्य—अपवर्गका भी स्वरूप निश्चित है। तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, कौपीतकि आदि उपनिषदों, इतिहास, पुराणोंमें लौकिक-पारलौकिक उन्नति तथा परम निःश्रेयसके स्वरूप निर्धारित हैं। अन्तमें कहा गया है कि अचिन्त्य अनन्त स्वरूपभूत परमानन्द सुधासिन्धुका एक तुषारमात्र आनन्द ही अनन्त ब्रह्माण्डके धर्मिष्ठ सार्वभौम सम्राट्, मनुष्यगन्धर्व, देवगन्धर्व, कर्मदेव, आजानदेव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति, ब्रह्मादिके उत्तरोत्तर प्रकृष्ट आनन्दके रूपमें वितरित होता है। मनुष्यलोकके उत्कर्ष-अपकर्षकी कोई ऐसी अवस्था नहीं जो इन करोड़ों वर्षोंमें न आयी हो, अतः गतान्दियोंकी परिवर्तनपरम्परा कोई अभूतपूर्व घटना नहीं है।

गुण-परिवर्तन

“पूँजीवादमें समाज और प्रकृतिका विरोध तो विद्यमान रहता है, लेकिन इस विरोधके विशिष्टरूपका निराकरण होता है भौगोलिक परिवेष्टनके गुणोद्धार नहीं; बल्कि पूँजीवादके विकासके मूल नियमोंके द्वारा। समाज अपने आन्तरिक नियमोंसे और अपनी उत्पादक-शक्तियोंके विकाससे हर विशेष सामाजिक रगटोंके विशेष साधनोंद्वारा अपने भौगोलिक परिवेष्टनमें परिवर्तन करता है। जगलोंकी कमी हो गयी है, पेड़ोंके लगाने और गिरानेपर नियन्त्रण रखा जाता है। कोयला काफी नहीं है, पेट्रोलियम उसके स्थानपर इस्तेमाल किया जाता है। चमड़ा, रेशम, ऊनकी कमी है, अतः ये कृत्रिम उपायोंसे बनाये जाते हैं।

हवामें नमीकी कमी है, आवपाशीसे काम लिया जाता है। पशु और वनस्पति जगत्में नये रूपमें प्राप्त होते हैं, क्योंकि इनके नये किसकी सृष्टि होती रहती है। यदि इतना होते हुए भी पूँजीवादी समाजमें प्राकृतिक परिवर्तन इतना सीमित है तो इसका कारण प्रकृति और समाजके विरोधमें नहीं मिलेगा, बल्कि पूँजीवादी उत्पादक सम्बन्धोंमें मिलेगा जो उत्पादक-शक्तियोंका पूरा-पूरा विकास नहीं होने देता। समाजवादमें ही यह प्राकृतिक परिवर्तन पूर्णरूपमें सम्भव है, जिसमें मुनाफाके लिये नहीं, उपभोगके लिये पदार्थ बनाये जाते हैं।

“किसी वस्तुकी मूल गति ही उसके गुणका निर्देश करती है। भूत अपनी गतिसे ही असंख्य गुणोंकी सृष्टि करता है। मनुष्य, सामान्य जीवनकोष, जड़ पदार्थ—सभी एक ही भौतिक विकासकी चढ़ती सीढ़ीके कदम हैं और ये कदम भिन्न गुणसम्पन्न हैं। प्रत्येक गतिमें यान्त्रिक गति सम्मिलित है और इसके कारण भूत कणोंकी सजावटमें भिन्नता आ जाती है। इन यान्त्रिक गतियोंको समझना विज्ञानका पहला काम है; लेकिन यह केवल पहला ही कदम है। यान्त्रिक गतिसे व्यापक गतिका अन्त नहीं हो जाता। गति केवल स्थान-परिवर्तनमात्र नहीं है। यन्त्र-राज्यसे ऊपर यह गुणका भी परिवर्तन है। यान्त्रिक गति हर उच्च प्रकारकी गतिका एक आवश्यक अङ्ग है, यद्यपि यह गतिके और गुणोंकी भी सृष्टि करती है। रासायनिक क्रियाके साथ उत्ताप और वैद्युतिक परिवर्तनका निरन्तर संयोग है। सावयव जीवन बिना यान्त्रिक, कणिक, रासायनिक उत्ताप और विजली सम्बन्धी परिवर्तनोंके असम्भव है। लेकिन प्रत्येक क्षेत्रोंमें इन समवर्तमान रूपोंसे मूलरूपके तत्त्वका भंडार चुक नहीं जाता।

“इसमें कोई सदेह नहीं कि विशिष्ट गुणसम्पन्न भूतकी नयी अवस्थाका आविष्कार गतिके एक नये प्रकारका आविष्कार होगा। परिणामकी वृद्धिसे वस्तुविशेषका गुण अपने विपरीनमें परिवर्तित हो जाता है। जैसे, निर्विरोध प्रतियोगिता पूँजीवादका और साधारणतः पण्य-उत्पादनका मौलिक गुण है। एकाधिकार इसका ठीक उल्टा है। लेकिन हम अपनी आँखके सामने प्रतियोगिताको एकाधिकारमें रूपान्तरित होते देख रहे हैं, जिससे बड़े पैमानेपर उत्पादनकी सृष्टि होकर छोटी फैक्ट्रियों दबती जा रही हैं और उत्पादन बड़े-से-बड़े पैमानेपर होकर अन्तमें पूँजी और उत्पादनका इस प्रकार एकत्रीकरण हो जाता है कि इसका परिणाम एकाधिकार हो जाता है।”

(लेनिनका साम्राज्यवाद)

वस्तुतः समाज और प्रकृतिमें विरोध नहीं होता, क्योंकि प्रकृतिद्वारा समाजका विकास एवं उपोद्बलन होता है; प्रकृतिसे ही सम्पूर्ण प्रकारकी सुविधा

प्राप्त होती है। समाजद्वारा उपयोग करते-करने जो प्राकृतिक वस्तुओंकी कमी होती है, इसे विराय नहीं कहा जा सकता। पृथ्वीसे घटादिका निर्माण होता है, मृत्तिकाका उपयोग होता है, फिर भी घटादि कार्य प्रकृतिविरोधी नहीं समझे जाते। कारणसे कार्यकी उत्पत्ति होती है, किंचित् कारणागका उसमें उपक्षय भी होता है। माता-पितासे सतानोकी उत्पत्ति होती है, वहाँ भी किंचित् उपक्षय होता है, तथापि यहाँ विरोध नहीं समझा जाता। जगत्की कमी रोकनेके लिये पेड़ लगाना तथा गिरानेपर नियन्त्रण करना, कोयलेकी कमी होनेपर पेट्रोलियमका प्रयोग आदि समाज अपना काम चलावनेके लिये करता है, इसे विरोध-निराकरण नहीं कहा जा सकता। अन्ततः प्राकृतिक परिवर्तनसे उन-उन कमियोंकी पूर्ति होती है, जैसे खेतोंकी उर्वराशक्ति अधिक फसल उपजानेसे नष्ट हो जाती है, तदर्थ कृत्रिम खाद डालने आदि उपायोंसे उर्वरा शक्ति बढ़ायी जाती है। परन्तु कुछ समय तक फसल न उपजानेसे या बाढ़ आदि प्राकृतिक परिवर्तनसे पुनः उर्वरा शक्तिकी वृद्धि हो जाती है। इसी तरह अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, महामारी, युद्ध, खण्ड प्रलयादि द्वारा प्राकृतिक परिवर्तन होता है। कालक्रमसे किनारे ही अरण्यनगर तथा नगर अरण्य हो जाने हैं। इन परिवर्तनोंकी दृष्टिमें ज्ञातविद् तथा सहस्राब्दिका काल अत्यल्प है।

पशुओं तथा वनस्पतियोंके कृत्रिम कलम एवं नस्ल सुचारुद्वारा नया रूप प्राप्त होना है, यह मनुष्यकी कृतिकी विशेषता है। इसमें भी प्रकृतिके सहयोगसे ही काम चलता है। वस्तुतः ईश्वरका अग ही जीव है। ईश्वरकी ज्ञान-क्रिया-शक्तिका ही अग जीवकी ज्ञान-क्रिया-शक्ति है, इसीलिये ईश्वरके तुल्य अनेक वस्तुओंकी निर्माणशक्ति मनुष्य आदि जीवोंमें भी उपलब्ध होती है। इस तरह प्राकृतिक वस्तुओंके कमी होनेपर मनुष्य प्राकृतिक वस्तुओंके सहारे प्रकारान्तरसे कमी पूरी करनेका प्रयत्न करता है।

उत्पादक-शक्तियोंके विकासके मूलमें समाजवाद या पूँजीवाद नहीं है। किन्तु आवश्यकताकी अनुभूति तथा तदनुकूल प्रयत्नपरायणता ही है। इसीलिये वेदों, पुराणोंसे विदित होता है कि आध्यात्मिक धार्मिक विस्तारके समय भी उत्पादक-शक्तियोंका पर्याप्त विकास था। फिर भी वैकारी आदिका कारण होनेसे उसे अधिक सार्वजनिक रूप नहीं दिया गया। आज भी समाजवादी रुमकी अपेक्षा पूँजीवादी अमेरिकामें उत्पादक-शक्तियोंका कम विकास नहीं कहा जा सकता। समाजके उपभोगको ही लक्ष्य बनाकर उत्पादन साधनोंका विकास रामराज्यप्रणालीमें मान्य होता है, किन्तु उससे मुनाफा आनुषङ्गिक रूपमें ही प्राप्त होता है। उपभोगसे अधिक माल वननसे मालकी खपतमें कमी होनेसे सुतरा उद्योगपतियोंकी अन्य अपेक्षित वस्तुओंके उत्पादनमें प्रवृत्ति स्वाभाविक है।

भूतोकी स्वयं गति असिद्ध है। अचेतनकी प्रवृत्ति चेतनसे ही अधिष्ठित होती है। सत्त्व, रज आदि गुण; वायु, नेत्र, जल आदि भूतोकी स्वयं गति निर्विवाद नहीं है। चेतनाधिष्ठित भूतोकी गतिका भी गुणात्मक परिणाम सीमित है; निस्सीम नहीं। इसीलिये तैजस परिणाम चक्षुसे ही रूपका दर्शन होता है, पार्थिव प्राणेन्द्रियसे नहीं। इसीलिये भूतोका गुणात्मक परिणाम होनेपर भी भूतोसे चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। जैसे पटात्मक परिणामके लिये तन्तुमें ही शक्ति है, वायुमें नहीं। तिलसे ही तेल होता है, वाल्से नहीं। उसी तरह जड़ भूतोका शब्दादि गुण-परिणाम सम्भव है, किंतु चैतन्यभूतोका परिणाम नहीं सिद्ध होता। भले ही भूत तथा भौतिक देह, दिमाग, मस्तिष्क आदिके होनेपर ही चैतन्यका उपलब्ध होता है, तथापि इतने मात्रसे चैतन्य भूतका धर्म नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि यदि अन्वयमात्रसे ही गुण-धर्मनिर्णय हो तब तो आकाशके रहनेपर भी सब कार्य होते हैं, फिर तो गन्धादि भी आकाशके धर्म समझे जाने चाहिये। अतः अन्वय-व्यतिरेक—दोनोंके घटनेपर ही कारण-कार्य-भाव या धर्म-धर्मीभावका निर्णय होता है। प्रस्तुत प्रसङ्गमें अन्वय व्यभिचरित है। पटादिमें एव मृत शरीरमें भूत रहता है, किंतु वहाँ चैतन्यका उपलब्ध नहीं होता।

‘विशिष्ट अवस्थायुक्त अन्नसे मदशक्तिकी तरह विशिष्ट अवस्थावाले भूतोसे ही चैतन्यकी उत्पत्ति होती है’, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अन्नमें मदशक्ति पहले भी रहती है। यह अनशनके पश्चात् अन्न लेनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है। यदि वाल्में तेलकी तरह वह पहले न हो तो किसी भी अवस्थामें उसका प्राकट्य नहीं हो सकता। भूतोमें चैतन्यका अस्तित्व होता तो अवश्य ही वह घटादिमें भी उपलब्ध होता। व्यतिरेक तो सर्वथा ही सद्विध रहता है। भूतोके न रहनेपर चैतन्य रहता ही नहीं, इसीलिये अनुपलब्ध है, अथवा रहता हुआ भी अभिव्यक्त भूत न होनेसे अनुपलब्ध होता है? सुस्पष्ट है कि लोहा, लकड़, तार आदि पार्थिव जलीय पदार्थ अग्निके अभिव्यक्त हैं। अतएव उनके न रहनेपर अग्निके रहते हुए भी अभिव्यक्ति नहीं होती। इसी तरह देह, दिल, दिमाग आदि आत्मचैतन्यके व्यक्त हैं; अतएव उनके न रहनेपर आत्मचैतन्यकी रहते हुए भी अभिव्यक्ति नहीं होती।

भूतोकी यान्त्रिक गति और व्यापक गतिमें वास्तविक भेद नहीं है। व्यष्टि चेतन मनुष्यादिद्वारा यान्त्रिक गति बनती है। समष्टि ईश्वर चेतनद्वारा व्यापक गति बनती है। सर्वथापि चेतनके बिना भूत या गुण किसीकी स्वाभाविक गति नहीं हो सकती। गुणात्मक परिवर्तन भी यन्त्र-राज्यके बहिर्भूत नहीं है। तन्तुसे पट, जलसे बर्फ या भाप आदिका निर्माण यान्त्रिक गतिसे सम्पन्न होता ही है। वस्तुतः प्रत्यक्षानुमानद्वारा विदित भूत ही प्रकृति नहीं है। किंतु प्रत्यक्षानुमानसे अज्ञात

अपौरुषेय तथा आर्पणास्त्रोमे विज्ञात भूत एवं उससे भी अधिक उच्च स्तरकी सत्त्व, रज, तम आदिकी साम्यावस्थारूप प्रकृति अत्यधिक सूक्ष्म है और उसका भण्डार सचमुच अखण्ड है। उसीसे सब कमियोंकी पूर्ति होती रहती है। उसी कारण धरतीसे अगणित अपरिमित अन्नोके उपजानेपर भी उसका भण्डार नहीं टूटता।

उत्ताप एव वैद्युतिक परिवर्तन सबकी यान्त्रिक गतिपूर्वक ही है। यह जैसे मान्य है, वैसे ही अन्य परिवर्तनोंमें भी ईश्वरीय या माननीय यान्त्रिक गति ही काम देती है। इसीलिये विभिन्न गुणसम्पन्न भूतकी प्रत्येक अवस्था चेतनद्वारा ही आविष्कृत होती है। विपरीत गुणमें परिवर्तन भी यान्त्रिक गतिका ही परिणाम है। निर्विरोध प्रतियोगिता या एकाधिकार अपनी अपनी सीमामें गुण है। राम-राज्य-प्रणालीमें जहाँ विकासके लिये प्रतियोगिता गुण है वहाँ वह निःसीम भी नहीं है। इसीलिये तो महायन्त्रोंके निर्माणपर प्रविधायक अवश्यक समझा गया है। प्रतियोगितापर भी नियन्त्रण अनेकित माना गया है, उत्पादनके केन्द्रीयकरणकी अपेक्षा विवेन्द्रीयकरणको रामराज्य-प्रणाली अधिक महत्त्व देती है, परन्तु समाजवादमें उलटा महायन्त्रोंका अधिकाधिक विकास करके छोटी फैक्टरियोंका अस्तित्व सर्वथा ही समाप्त कर दिया जाता है। समाजवादियोंका फैसला तो बदरबॉटका फैसला है। मजदूरों तथा छोटी फैक्टरियोंका पक्ष लेकर मिलमालिकों एवं बड़े-बड़े कर कारखानोंको भला-बुरा कहते-कहते बड़े-छोटे सब कारखानों, मालिक-मजदूर, किसान, जमींदार सभी भूमि-सम्पत्ति, उद्योग धर्मोंको राष्ट्रियकरणके नामपर छीन लेते हैं। समाजवादी समाजके नामपर ऐसा भीषण तानाशाही एकाधिकार स्थापित करते हैं कि सबकी भूमि, सम्पत्ति, कल, कारखानोंको छीनकर लेखन, भाषणकी स्वतन्त्रता छीनकर सभीको परतन्त्रताके बन्वनोंमें जकड़ देते हैं।

कहा जाता है कि “गुणसे परिणामके परिवर्तनका साधारण उदाहरण है अच्छा बीज, जिसके बोनेमें उपजका परिमाण बहुत बढ़ जाता है। इसी तरह रूसकी सामूहिक खेती इसका दूसरा उदाहरण है जिसके कारण भी उपजका परिमाण बहुत बढ़ जाता है। लेवीने गुणपरिवर्तनके सम्बन्धमें वस्तुओंको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया है। कणिक (वैयक्तिक, आटोमैटिक) तथा सामूहिक (स्टैटिस्टिकल) और गुण-परिवर्तनको चार श्रेणियोंमें विभक्त किया है।

१-कणिक-से-कणिक । (वैयक्तिक-से-वैयक्तिक) २-सामूहिक-से-सामूहिक ।

३-कणिकसे सामूहिक । ४-सामूहिकसे कणिक ।

उदाहरण १ (क) मनुष्यकी बाल्यावस्थासे वृद्धावस्था ।

(ख) खनिज पदार्थ—प्राकृतिक अवस्थासे व्यावहारिक वस्तुके रूपमें ।

(ग) जमीनका टुकड़ा जिसका व्यावहारिक मूल्य सामाजिक विकासके कारण बढ़ गया हो ।

२ आस्ट्रेलियामें भेजा गया खरगोशका पहला जोड़ा, जहाँ अब उनका ढेर एक उत्पात बन गया है ।

३ एक धूपका 'दिन', बहुत-से धूपके दिन सूखा ।

४ इसमें सभी वे उदाहरण हैं जिनमें समूह टूटकर अलग-अलग हो जाते हैं, जैसे एक परिवारका टूटना ।

“परिवर्तनकी कल्पनाके लिये ये उदाहरण सहायक हैं, लेकिन यह ध्यान रहे कि ये सभी उदाहरण द्वन्द्वात्मक परिवर्तनके उदाहरण नहीं । इसी प्रकार लेवीने उद्भिजराजके दो उदाहरण दिये हैं । १—जगलमें सोतोके पास एक प्रकारकी काई जमती है स्फैगमनसास, जो धीरे-धीरे जगलको उजाड़ देती है । २—एक झील है । उसकी तहपर उद्भिज सड़ते रहते हैं । तह ऊपरको उठती है और उसकी सतहपर लता तैरने लगती है । झील दलदल बन जाती है । लताओंकी जड़े जमकर धीरे-धीरे घासका मैदान बन जाती है । हवाके झोकोसे बीज उड़कर लगनेसे पेड़ पौदे जम जाते हैं, फिर एक जगल बन जाता है ।”

अच्छे बीजसे, अच्छे खेतसे, अच्छी खादसे भी, उपजके परिमाणका बढ़ना सर्वसम्मत है, परन्तु यहाँ भी बीजादिकी अच्छाई रूप, गुणसे उपजका विस्तार होता है । यहाँ गुणका परिमाणके रूपसे परिवर्तन नहीं कहा जा सकता । गुण गुण ही रहता है, वह गुण रहकर ही उपजके परिमाणकी वृद्धिका कारण बनता है । दूसरी दृष्टिसे बीजादिकी अच्छाईसे उपजकी अच्छाई होती है, उपजकी अच्छाईके स्वरूपमें ही वस्तुकी अच्छाई और सख्यावृद्धि आ जाती है ।

लेवीके गुण-परिवर्तनके कणिकसे कणिकका उदाहरण भी कोई चीज नहीं है । मनुष्यकी बाल्यावस्थामें वृद्धावस्था, खनिज पदार्थोंका प्राकृतिक अवस्थासे व्यावहारिक अवस्थाके रूपमें परिवर्तन होना, सामाजिक विकासके कारण भूमिके टुकड़ेका व्यावहारिक मूल्य बढ़ जाना आदिका षड्भाव-विकारमें अन्तर्भाव हो जाता है । बाल्यावस्थामें वृद्धावस्थाका परिवर्तन, वृद्धि और विपरिणामके भीतर ही है । दूसरा उदाहरण भी इसी तरहका है । तीसरा उदाहरण तो मोंगपूतिके सिद्धान्तानुसार मोंग बढ़ जानेसे मूल्य बढ़ जाना है ।

आस्ट्रेलियाके खरगोसके जोड़ेसे बहुत-से खरगोशोंका उत्पन्न हो जाना भी कौन-सी नयी बात है ? अनुकूल परिस्थिति मिलनेसे कुत्ते, शूकर, मुर्गे आदि किसी भी जोड़ेसे सामूहिक विस्तार होता है । कणिकसे सामूहिक परिवर्तनका उदाहरण भी इसी ढंगका है । 'एक धूपका दिन साधारण है, परंतु वही परिमाणकी वृद्धिसे होकर बहुत सा धूपका दिन सूखा बन जाता है,' यह भी कोई चमत्कृति नहीं है । दीपक आदिरूपमें छोटी अग्नि वायुसे वृक्ष जाती है, बड़ी अग्निका वायु सहायक बन जाता है । मृदु आतप रोचक होता है, तीव्र हो जानेपर वही उद्वेजक हो जाता है । अग्निका एक रीमाका सनिधान अनुकूल होता है, अन्य प्रकारका सनिधान मारक हो जाता है । सामूहिकसे कणिकका उदाहरण, समूह टूटकर अलग-अलग हो जाना, परिवार टूटकर पृथक्-पृथक् हो जाना आदि भी किसी सिद्धान्तका साधक नहीं है । विभाजनसे समूहका विग्रहण होना प्रसिद्ध है ।

इसी प्रकार लेवीका जगलकी काईसे जगलके उजड़ जानेका उदाहरण भी कोई अपूर्व नहीं है । शरीरसे ही उत्पन्न रोगके द्वारा शरीरका नाश हो जाता है । कई लताओंके आश्रित होते ही वृक्ष नष्ट हो जाते हैं । किसी वृक्षपर एक बोंदाकी गाखा उत्पन्न होनेसे वृक्ष नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार झीलका जगल बन जानेका उदाहरण भी साधारण ही है । इतना ही क्यों, भौगोलिक परिवर्तनोंसे जल स्थल, स्थलमें जल, पहाड़में समुद्र, समुद्रमें पहाड़ादि बनते ही रहते हैं । इन आधारोंपर केवल कारणोत्री अपेक्षा कार्योंमें अनिर्वचनीय विलक्षणतामात्र सिद्ध होती है, परंतु इनसे यह सिद्ध नहीं होता कि कारणमें अत्यन्त अविद्यमान कोई वस्तु कार्यरूपमें व्यक्त होती है । अतएव भूतसे चैतन्यकी अभिव्यक्ति आदि भी नहीं सिद्ध हो सकती ।

ज्ञानका मूल

माक्सवादी ज्ञानकी परिभाषा करते हुए कहते हैं कि "ज्ञान सम्बन्धोंकी चेतना, वस्तु विषय तथा आत्मविषयक जीवधारी मनुष्यके रूप हम और बाहरी दुनियाके सम्बन्धोंकी चेतना, बाहरी दुनियाँमें व्यापक और विशिष्ट तफसीलोके बीचका सम्बन्ध और दृष्टिभूत वस्तु तथा उसकी कल्पनाके बीचका सम्बन्ध जिसमें और जिसके द्वारा हम अस्तित्वका अनुभव करते हैं । अपना अस्तित्व और बाहरी दुनियाका भी अस्तित्व हम दृष्टिभूत वस्तुओं और उनकी कल्पनाओंमें ही अपने और बाहरी दुनियाके बीच समता और प्रभेद दोनोंका एक साथ अनुभव करते हैं । प्राकृतिक वास्तविकताकी बाहरी दुनियाँ और मननक्रियाकी भीतरी दुनियाँमें विविध प्रकार और परिणामकी समता और प्रभेदका मानस चित्रमें चित्रित कर सकना और इन सबको सम अस्तित्व (को एविजर्सास) और अनुवर्तन (सक्सेशन) क्रिया, प्रतिक्रिया, परस्परक्रिया और कार्यकारण निर्भरताके उचित सम्बन्धोंमें सजाने और व्यवस्थित करनेका नाम ही जानना है ।

“सम्बन्ध ही चेतना ही ज्ञान है, विशेषकर वस्तु-जगत् के अस्तित्वोंके बीचका तथा अत्मानुभूत (दृष्टिगत वस्तु, कल्पनाएँ आदि) अस्तित्वोंके बीचका सम्बन्ध तथा इन दोनों जगतोंके बीचके सम्बन्धकी चेतना ही ज्ञान है । एक और दृष्टिकोणसे व्यावहारिक अर्थमें विचार वस्तु-जगत् को ठीक-ठीक प्रतिफलित और प्रतिबिम्बित करता है, इसकी निश्चयता ही ज्ञान है । भौतिकवादने प्रकृतिको क्रियाशील रूपमें माना और विचारको अक्रिय रूपमें, जिसका केवलमात्र काम था इन्द्रियग्रह्य वस्तुओंको ग्रहण करना तथा उसपर मन्थन करना । यह कान्ट और कान्टके पश्चात् के आदर्शवादी थे जिन्होंने मननशक्तिकी रचनात्मक क्रियानर जोर दिया, लेकिन इतना अधिक जोर दिया कि उसको बेहिसाब बढ़ा-चढ़ा दिया ।

“अंग्रेजी और फ्रांसीसी भौतिकवादने उस मूल स्वीकृतिसे आरम्भ किया कि विचारकी वस्तु (विचारका कर्म) का अस्तित्व विचारकर्ताके अस्तित्वसे पहले है और विचारकर्ता इसकी अनुभूति प्राप्त करता है । लेकिन वह इससे आगे न बढ़ सके । हमसूहवन्ने इस मतको इन शब्दोंमें रखा है । मनुष्यके विचारके सम्बन्धमें, अलग-अलग रूपमें इनमेंसे प्रत्येक वस्तु, हमारे शरीर और मनके बाहर किसी वस्तुके किसी गुणका प्रतीक या प्रतिनिधि है, जो वस्तुकी मनुष्यकी इन्द्रियों-पर अपनी क्रियाकी विचित्रतामें विविध दृश्योंकी सृष्टि करती है (लिवायथन) । यह प्रश्न भौतिकवादियोंके सामने इस रूपमें था कि इस ज्ञानकी उत्पत्ति इन्द्रियग्राह्य रूपोंके मूल उद्गमस्थ नसे होकर एक विशेषशक्ति प्रज्ञाद्वारा होती है, लेकिन यह विशेषशक्ति क्या है, यही एक झगड़ेका विषय हो गया । आदर्शवादी इस मतका पोषण करते थे कि यह ‘प्रज्ञा’ धर्मपण्डितोंकी आत्मा ही है जो एक अतिप्राकृतिक शक्ति है, जो इन्द्रियानुभूत मायावी रूपोंको परम और अनन्त सत्यमें परिणत करती है । भौतिकवादी इस मतके लिये झगड़ते रहे कि यह ‘प्रज्ञा’ कितनी ही रहस्यमयी हो, फिर भी यह प्राकृतिक ही है ।

प्रसिद्ध लेखक आनातोल् फ्रांसने परिस्थितिको इस तरह चित्रित किया है ‘मठ की दीवारके नीचे जहाँ छोटे बच्चे अपना खेल खेल रहे थे, हमारे साधुमित्र वहाँ एक और खेल खेल रहे थे जो उतना ही व्यर्थ था, लेकिन मैं वहाँ जा मिला क्योंकि समय बिताना ही चाहिये । हमारा खेल शब्दोंका खेल था जो हमारे गूढ़ मगज लेकिन सूक्ष्म दिमागके लिये सुखकर था, एक विचारशैलीको दूसरी विचारशैलीके विरुद्ध उभाड़नेवाला था और उसने सारे ईसाई समाजमें हलचल मचा दी । हम दो विरोधी दलोंमें बँट गये । एक दलका कहना था कि सेवों (फ्र) के पहले सेव

जाति थी, केन्नेके पहले केन्ना जाति थी, भ्रष्टचरित्र और लालची साधुओंके पहले साधु जाति, लालच तथा भ्रष्टचरित्रता थी ही। पीठपर लात जमानेके लिये लात और पीठने पहले पीठ जमानेवाला लातसदमे ईश्वरके अन्तःस्थलमें विद्यमान था।' और दूसरे दबने उत्तर दिया कि 'नहीं, नेत्रोंसे ही सेव जातिकी धारणा होती है, केलोंने ही केन्ना जातिका अस्तित्व है। साधुओंसे ही साधु जाति, लालच तथा भ्रष्टचरित्रन की उत्पत्ति है। लान जमाने और खानेके बाद ही पीठपर लातका कोई अर्थ होना है। वन खिलाडी गरम हो गये और घूँसा चरने लगा। मैं दूसरे दलका पृष्ठ पोपक था, क्योंकि उमका मत मेरे लिये बुद्धिग्राह्य था और सोवासोंकी बैठरने डम मनको अग्राह्य बनाया (रिपोर्ट आफ ऐजिल्स)।'

“प्रजावादी दृष्टिकोणमे वैज्ञानिक ज्ञानका चिह्न है इसके प्रतिपाद्योंकी व्यापकता और अवश्यम्भाविता। व्यापकताका अर्थ है कि सिद्धान्तका प्रयोग बिना व्यतिक्रमके हमारे सब अनुभवोंपर हो सके और अवश्यम्भाविताका अर्थ है कि सब मनुष्योंकी बुद्धि ऐसे सत्यको ग्रहण करनेके लिये उनको बाध्य करे। लेकिन प्रजावादीको कार्यकारण-सम्बन्धोंका एक सूत्रबद्ध मिलमिला कहींसे मिल जाता है, जो उनके अनुसार वस्तुओंके भ्रमपूर्ण चित्रोंके मूलमें है? इन विचारोंके स्पष्ट और स्वयं मिथ तथा तर्कमङ्गत होनेसे ही ऐसा क्यों अनुमान किया जाय कि ये बाहरी दुनियाकी सच्ची तस्वीरें हैं? लेनिनके शब्दोंमें इस रहस्यका इस प्रकार उद्घाटन हो जाता है। करोड़ों बार दुहरानेमे मनुष्यके अभ्यास और अनुभव चेतनामें तर्क सकेतका रूप धारण कर लेते हैं। तथाकथित तर्कमङ्गत विचारके सार्वभौमरूपोंका ऐतिहासिक आधार यही है।”

वस्तुनः यह परिभाषा अन्योन्याश्रय-दोषसे युक्त है। ज्ञानका निश्चय होनेपर ही जन-सम्बन्धका निश्चय होगा और जन-सम्बन्ध निश्चय होनेसे ज्ञानका निश्चय होगा। नाथ ही ज्ञान और चेतना-दोनों एक ही वस्तु हैं, फिर 'ज्ञान-सम्बन्धोंकी चेतना ज्ञान है,' इसका यह अर्थ हुआ कि ज्ञान-सम्बन्धोंका ज्ञान ही ज्ञान है। इस तरह आत्माश्रय दोष भी है। जयतक ज्ञान नहीं विदित है तब तक ज्ञान-सम्बन्धोंका भी ज्ञान कैसे होगा? इसी प्रकार 'वस्तुविषयक, आत्म-विषयक तथा जीवधारी मनुष्यके रूप और बाहरी दुनियाके चेतनाको ज्ञान कहते हैं,' यह परिभाषा भी अपूर्ण है। क्योंकि ज्ञान और चेतना दोनों एक ही वस्तु हैं। फिर 'ज्ञानके लक्षणकी जिज्ञासा अमुक सम्बन्धकी चेतना ज्ञान है,' इतना कह देनेसे वह कैसे पूर्ण होगी? इसके अतिरिक्त सम्बन्ध-चेतना यदि ज्ञान है तो प्रश्न होगा कि वस्तु-चेतना ज्ञान है या नहीं? सम्बन्ध चेतना ही वस्तुकी चेतना है, यह कहना भी असङ्गत है, क्योंकि सम्बन्ध सम्बन्धीसे भिन्न ही होता है।

अतएव सम्बन्ध-सम्बन्धीवा आधाराधेय भाव होता है। जैसे घट-ज्ञान पट-ज्ञान-का लक्षण नहीं होता, उसी तरह वस्तु-सम्बन्ध-ज्ञान वस्तु-ज्ञानका लक्षण नहीं हो सकता। इसी प्रकार बाहरी दुनियाके व्यापक और विशिष्ट तफसीलोके बीचका सम्बन्ध भी ज्ञान नहीं कहा जा सकता। सम्बन्ध द्विष्ट होता है; अर्थात् दो सम्बन्धियोंमें रहता है, जैसे संयोग। जिन दो वस्तुओंका संयोग होता है, उन दोनोंमें ही सम्बन्ध रहता है। ज्ञान आत्मामें ही रहता है।

इसके अतिरिक्त सम्बन्ध स्वय ही ज्ञेय पदार्थ है, उसका भी ज्ञान होता है, फिर वह स्वय ही ज्ञान कैसे हो जायगा? इसी तरह 'दृष्टिभूत वस्तु तथा उसकी कल्पनाके बीचका सम्बन्ध जिसमें और जिसके द्वारा हम अस्तित्वका अनुभव करते हैं वह ज्ञान है', यह भी कहना गलत है। क्योंकि अनुभव भी तो ज्ञान ही है। चेतना, अनुभव, ज्ञान आदि पर्यायवाची शब्द हैं। उसी वस्तुका लक्षण करनेमें उसीका उपयोग होना अयुक्त है। 'अपने और बाहरी दुनियाके बीच समता और प्रभेद दोनोंका जिन दृष्टिभूत वस्तुओं और उनकी कल्पनाओंमें अनुभव करते हैं वह ज्ञान है', यह भी कहना अपर्याप्त है, क्योंकि दृष्टि और उनकी कल्पनाओंका भी अन्तर्भाव ज्ञानमें ही है। अतः जबतक ज्ञान या अनुभव या चेतनाका स्पष्ट लक्षण न हो जाय तबतक इन वाक्याडम्बरोसे काम नहीं चल सकता।

इसी तरह 'मनन-क्रियाकी भीतरी दुनियामें विचित्र प्रकार एवं परिमाणकी समता और प्रभेदका मान चित्रमें चित्रित कर सकना और इन सबको सम अस्तित्व और अनुवर्तन-क्रिया, प्रतिक्रिया, परस्परक्रिया और कार्य-कारण निर्भरताके उचित सम्बन्धोंमें सजाने तथा व्यवस्थित करनेका नाम ही ज्ञान है', यह कथन भी शब्दाडम्बरको छेड़कर कुछ नहीं है। वस्तुतः कल्पना, मनन-क्रिया, चित्रण करना, सजाना आदि क्रिया वर्ततन्त्र ही होती है, परंतु ज्ञान तो कृति और इच्छासे भी पहले होता है। इसीलिये 'जानाति, इच्छति, अथ करोति' का व्यवहार होता है। अर्थात् कोई भी प्राणी जानता है, फिर इच्छा करता है, पुनश्च कर्म करता है। प्राणी जैसा रं वत्प करता है, वैसी ही क्रिया करता है—यह पीछे कहा जा चुका है।

कोई भी क्रिया चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, कर्ताके परतन्त्र ही होती है। विना ज्ञान कर्ताकी इच्छापर निर्भर नहीं होता; प्रमाणकी उपस्थितिमें कर्ताकी इच्छा न होनेपर भी ज्ञान होता है। दुर्गन्ध-ज्ञानको हम नहीं चाहते तब भी निर्दोष घ्राणकी उपस्थितिमें दुर्गन्ध रहनेपर ज्ञान अनिवार्य ही है, यहाँ कर्ताकी स्वतन्त्रता नहीं होती है। मानस परिणाम होनेपर भी मनन-क्रिया, भावना एवं ज्ञानमें यही भेद रहता है। बाहरी दुनियाकी वास्तविकता और भीतरी दुनियाकी समता तथा भिन्नताका मनमें चित्रण करना ज्ञाता या प्रमाताका काम हो सकता है। इन

सबका मम अस्तित्व और अनुवर्तनक्रिया, प्रतिक्रिया और कार्य-कारणके उचित सम्बन्धमें मजाने और व्यवस्थित करने आदिका काम भी प्रमाताका ही है, ज्ञानका नहीं। भौतिकवादियोंके यहाँ जीवित मनुष्य ही प्रमाता हो सकता है। देह-से भिन्न प्रमाता कोई आत्मा मार्कमवादियोंको मान्य नहीं है। ज्ञान स्वयं-प्रकाश है। व्यवस्थापन करना, सजाना आदि ज्ञानका काम नहीं होता। प्रमाण भी अज्ञात-जपक होता है, अकृतकारक नहीं।

इसी तरह सम्बन्धकी चेतना ही ज्ञान है या वस्तु-जगत्के अस्तित्वोंके बीचका तथा अत्मानुभूत अस्तित्वोंके बीचका सम्बन्ध एव इन दोनों जगतोंके बीचके सम्बन्धोंके बीचकी चेतनाका नाम भी ज्ञान है, यह भी कथन व्यर्थ है। क्योंकि वस्तुतः अस्तित्वका स्वतः सम्बन्ध नहीं होता। अस्तित्ववाली वस्तुओंका सम्बन्ध होता है और वे सम्बन्ध जेव एव गुणविशेष होते हैं, चेतना या ज्ञान नहीं। उभी प्रकार आत्मा मार्कमवादमें देह-भिन्न है ही नहीं। अनुभव-ज्ञानसे भिन्न कोई वस्तु नहीं होती, फिर आत्मानुभूत अस्तित्वोंका सम्बन्ध भी स्वयं अनुभव या ज्ञानस्वरूप नहीं हो सकता। विचार वस्तु-जगत्को ठीक ठीक प्रति-फलित, प्रतिविम्बित करता है, इसकी निश्चयता ही ज्ञान है। यहाँ भी वस्तुतः वस्तु-का अन्तःकरणमें प्रतिफलन या प्रतिविम्बन ही विचार या निश्चय कहलाता है। यहाँ भी निश्चय, ज्ञान, विचारादि मानार्थक हैं। यहाँ भी अन्योन्याश्रय आदि दोष उपस्थित होते हैं।

भारतीय नैयायिकोंकी दृष्टिसे सर्वव्यवहारहेतु आत्मगुणको ही ज्ञान माना जाता है। सुरपट्ट है कि ससारके सभी व्यवहार तथा व्यापार ज्ञानमूलक हैं। ससारमें अक्रामकी कोई भी क्रिया नहीं होती और सभी काम सरूपमूलक ही होते हैं। वेदान्तकी दृष्टिमें काम, सकल, चिच्छिक्त्वा, श्रद्धा, अश्रद्धा, ही, धी, भय—ये सभी मनके वर्म हैं। नैयायिकोंके तथा वैशेषिकोंके अनुसार आत्म-मनः-मयोगसे उत्पन्न होनेवाले ये सब आत्माके ही गुण हैं।

सामाजिक व्यवस्था

कम्युनिष्ट यह मानते हैं कि 'मनुष्य जिन किसी भी अवस्थामें रहा हो उसके समस्त कुल सिद्धान्त, नियम एवं आदर्श रहे हैं' परंतु उनके मतानुसार 'समाजकी अवस्था बदलनेके साथ उनके सिद्धान्तों, नियमों एवं आदर्शोंमें भी परिवर्तन होता रहता है।' उनकी इस मान्यताका मूल कारण यही है कि 'सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, विद्वत्पूरा ईश्वर उनकी समझमें आता ही नहीं।' अतएव सर्व-देश-कालके अनुसार निर्धारित शाश्वत सिद्धान्तों, मूल्यों एवं नियमोंपर उनका विश्वास नहीं जमता। सबसे बड़ा दोष तो यह है कि वे परिस्थिति-परतन्त्र मनुष्योंकी परिस्थित्यनुसारिणी विचार-धाराओंको ही दर्शनोंका स्रोत मानते हैं,

जो एक प्रामाणिककी दृष्टिमें अत्यन्त हेय एवं नगण्य है।' वे कहते हैं कि 'विचारोंके जीवनकी बदलती हुई परिस्थितियों ही विभिन्न विचार-धाराएँ उत्पन्न करती हैं। किसी विशिष्ट समय की विशिष्ट परिस्थितियोंमें जीवनका विकास होनेसे विचारकोंके मंस्कार एवं विचारधाराएँ एक विशिष्ट मार्गपर ढल जाती हैं। वे तदनुसार ही सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवनके उद्देश्य एवं आदर्श निश्चित करनेका प्रयत्न करते हैं।' उनके मतानुसार 'सुकरात, अरस्तू, अफलातून आदि दार्शनिकोंने भी अपनी जीवनस्थितिके अनुसार ही अपने विचार व्यक्त किये।'।

इन बातोंसे यह स्पष्ट है कि इन विचारकोंने प्रमाणके आधारपर तत्त्वकी दृष्टिमें किसी वस्तुका विचार नहीं किया। मार्क्सकी भी यही हालत थी, वह भी गरीबोंकी श्रेणीमें उत्पन्न हुआ था। अतः उसे भी अपनी परिस्थितिके अनुसार ही विचार करना पड़ा। इससे स्पष्ट है कि इन किन्हीं भी विचारोंका वस्तु-स्थितिसे कोई सम्बन्ध नहीं। किंतु भारतीय दर्शनोकी स्थिति ऐसी नहीं। यहाँ तत्त्वके सम्बन्धमें परिस्थितिका प्रभाव रोककर भी प्रमाणके बलसे काम लिया जाता है। प्रामाणिक निर्णय अमीर-गरीब, सुखी-दुखी, सम्पन्न-विपन्न, नौकर-मालिक—सबका एक-सा ही रहना है। आलोकसहकृत मनःसंयुक्त निर्दोषचक्षुद्वारा सभी लोग रूपान्तर पदार्थके सम्बन्धमें एक मत ही होंगे। उसी प्रकार निर्दोष श्रोत्रादिसे शब्दादि ज्ञान भी सबको एक-से ही होंगे। इस सम्बन्धमें परिस्थिति अकिञ्चित्कर ही रहेगी। इसीलिये शुक-जैसे महाविरक्त, वसिष्ठ-जैसे महान् श्रोत्रिय एवं राम-जैसे सम्राट् आदिकोंके धर्म, दर्शन आदिके सम्बन्धमें एक ही ढंगके विचार थे। उनके तत्त्व-निर्णयपर परिस्थितियों या सम्पत्ति-विपत्ति आदिका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ना था।

कम्युनिष्ट कहते हैं कि 'मनुष्य सर्वज्ञ परमेश्वर एवं शास्त्रोंके अनुसार होनेवाली सामाजिक व्यवस्थापर सतुष्ट नहीं होता। अपनी व्यवस्थामें उसे त्रुटियाँ मालूम पड़ती हैं, वह उनमें परिवर्तन कर फिर आगे बढ़ना है। पुनश्च उनमें आनेवाली रुकावटोंका अनुभव कर उसमें रहोवदल करता है। इस प्रकारके परिवर्तनोंसे ही विकास होता है।' परंतु अल्पज मनुष्यकी बनायी हुई व्यवस्थासे कभी भी गान्धिकी आशा नहीं की जा सकती। मार्क्सवादी अपनी व्यवस्थाको 'अन्तिम व्यवस्था' कहते हैं। मजदूरों-पूँजीपतियोंके संघर्षको ही वे संघर्षकी अन्तिम कड़ी कहते हैं। परंतु विकास-क्रममें इसे भी अन्तिम कैसे कहा जा सकता है? वस्तुतः जैसे समय-समयपर असत्य-अधर्मके विस्तारसे सत्य एवं धर्म भी कुछ समयके लिये दब जाता है, तथापि अन्तमें सत्य और धर्मकी ही विजय होती है, वैसे ही ईश्वरीय व्यवस्था भी जो सर्वज्ञद्वारा सर्वदेश-काल एवं सर्वहितकी दृष्टिसे निर्धारित की गयी है, कभी-कभी दब-सी जाती है। पर अन्तमें उसीकी विजय एवं स्थिरता रहती है। अलजोद्वारा निर्धारित व्यवस्था थोड़े ही दिनोंमें

दोषपूर्ण प्रतीत हे ने लगती है। अतः उनमें परिवर्तन आवश्यक प्रतीत होता है। इस तरह कोई भी मनुष्य मार्क्सके समान ही अपनी व्यवस्थाको ही सर्वोत्कृष्ट एव अन्तिम समझता है, परंतु उससे भी उत्तम योजना लेकर दूसरे भी सामने आ ही जाते हैं। कई तार्किक बड़े-बड़े प्रयत्नसे दिव्य तर्कोंद्वारा कोई व्यवस्था उपस्थित करते हैं, पुनश्च उससे भी अच्छा तर्क लेकर दूसरे महागय सामने आ जाते हैं—
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमन्तृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥

(ब्रह्म० शा० भा० १।१।१)

पर ईश्वरीय व्यवस्था हजारों नही लाखों वर्षोंसे सकल होती हुई चली आ रही है। सत्कारकी सभी सरकारोंने उसे मान्यता भी दी है। प्रायः सभी सरकारोंने व्यक्तियों एव जातिधर्मोंकी धार्मिक स्वाधीनता एव दायभाग आदिके सम्बन्धमें धार्मिक व्यवस्थाओंको स्वीकृत किया है। वर्म नियन्त्रित मनुष्य सदा ही एक दूसरेका शोषक रहा। उच्छृङ्खल होते ही उसमें 'मार्क्सन्याय' फैलता और वह एक दूसरेका शोषक बन जाता है। उसी अवस्थामें प्रबल दुर्बलका घनक बनता है, धनवान्, शक्तिमान् निर्धन एवं शक्तिहीनका शोषक या भक्षक बन जाता है। जीवरूपसे सब समान होते हुए भी एक जीव दूसरे जीवोंको अपने उपयोगमें लाता है। उसी तरह मनुष्यताके नाते सब समान होनेपर भी एकका दूसरेके उपयोगमें आना पहले भी और आज भी अनिवार्य ही है। अज्ञानाभिभाव, शोष-शोषिभावको उपकार्योपकारकरूपसे आदरणीय बना लिया जा सकता है। जैसे वेगार पहले कुछ झूठेसे ही ली जाती थी, आज श्रमदानके रूपमें वही वेगार बड़े-बड़े लोगोसे भी ली जा रही है।

पाप-पुण्य और शोषण

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'प्रबल मनुष्य दुर्बल मनुष्योंको अपनी गुलामीमें जकड़े रखनेके लिये ही अपनी शक्तियोंका प्रयोग करता था और तदर्थ ही उसने अनेक सिद्धान्त बनाये। बहुतोंने निर्बलोंको सतोषका पाठ पढ़ाया और साधन-सम्पत्तियोंको भी दया, सहानुभूति एव त्यागका उपदेश किया, इस जीवनमें एव मृत्युके बाद दूसरे जीवनमें सुखादि लानेका विश्वास दिलाया। व्यक्तियोंको समझाया गया कि 'ये गुण व्यक्तिगत पूर्णताके लक्षण हैं और ऐहलौकिक-पारलौकिक सुखके साधक हैं। इन सभी उपदेशोंकी तहमें शान्ति एव व्यवस्थाकी इच्छा और उद्देश्य ही मुख्य है।' उनके मतानुसार 'इसी इच्छाने धर्मको जन्म दिया है। फिर भी समाजके भीतर आनेवाली असमानताके कारण असतोष एव अशान्तिकी सम्भावना बनी ही रहती है। इसीलिये समाजहितैषियोंने सदा ही असमानता दूर करने और समानता लानेका प्रयत्न किया। सभी सत्तों एव धर्मोंने समानताका गुण गाया है।'।

उपर्युक्त कथनका सार यह है कि वस्तुतः धर्म, सतोष, दया, त्याग, सहानुभूति वास्तवमें कोई महत्त्वकी चीज नहीं। केवल शोषकोके

जो एक प्रामाणिककी दृष्टिमें अत्यन्त हेय एव नगण्य है।' वे कहते हैं कि 'विचारोंके जीवनकी बदलती हुई परिस्थितियों ही विभिन्न विचार-धाराएँ उत्पन्न करती हैं। किसी विशिष्ट समयकी विशिष्ट परिस्थितियोंमें जीवनका विकास होनेसे विचारकोंके संस्कार एवं विचारधाराएँ एक विशिष्ट मार्गपर ढल जाती हैं। वे तदनुसार ही सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवनके उद्देश्य एव आदर्श निश्चित करनेका प्रयत्न करते हैं।' उनके मतानुसार 'सुकरात, अरस्तू, अफलातून आदि दार्शनिकोंने भी अपनी जीवनस्थितिके अनुसार ही अपने विचार व्यक्त किये।'

इन बातोंमें यह स्पष्ट है कि इन विचारकोंने प्रमाणके आधारपर तत्त्वकी दृष्टिमें किसी मृत्युवस्तुका विचार नहीं किया। मार्क्सकी भी यही हालत थी, वह भी गरीबोंकी श्रेणीमें उत्पन्न हुआ था। अतः उसे भी अपनी परिस्थितिके अनुसार ही विचार करना पड़ा। इससे स्पष्ट है कि इन किन्हीं भी विचारोंका वस्तु-स्थितिसे कोई सम्बन्ध नहीं। किंतु भारतीय दर्शनोकी स्थिति ऐसी नहीं। यहाँ तत्त्वके सम्बन्धमें परिस्थितिका प्रभाव रोककर भी प्रमाणके बलसे काम लिया जाता है। प्रामाणिक निर्णय अमीर-गरीब, सुखी-दुखी, सम्पन्न-विपन्न, नौकर-मालिक-सबका एक-सा ही रहना है। आलोकसहकृत मनःसयुक्त निर्दोषचक्षुद्वारा सभी लोग रूपान्तर पदार्थके सम्बन्धमें एक मत ही होंगे। उसी प्रकार निर्दोष श्रोत्रादिसे शब्दादि ज्ञान भी सबको एक-से ही होंगे। इस सम्बन्धमें परिस्थिति अकिञ्चित्कर ही रहेगी। इसीलिये शुक-जैसे महाविरक्त, वसिष्ठ-जैसे महान् श्रोत्रिय एव राम-जैसे सम्राट् आदिकोंके धर्म, दर्शन आदिके सम्बन्धमें एक ही ढंगके विचार थे। उनके तत्त्व-निर्णयपर परिस्थितियों या सम्पत्ति-विपत्ति आदिका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था।

कम्युनिष्ट कहते हैं कि 'मनुष्य सर्वज्ञ परमेश्वर एव शास्त्रोंके अनुसार होनेवाली सामाजिक व्यवस्थापर संतुष्ट नहीं होता। अपनी व्यवस्थामें उसे त्रुटियाँ मालूम पड़ती हैं, वह उनमें परिवर्तन कर फिर आगे बढ़ना है। पुनश्च उनमें आनेवाली रुकावटोंका अनुभव कर उसमें रहोवदल करता है। इस प्रकारके परिवर्तनोंसे ही विकास होता है।' परंतु अल्पज मनुष्यकी बनायी हुई व्यवस्थासे कभी भी ज्ञानिकी आशा नहीं की जा सकती। मार्क्सवादी अपनी व्यवस्थाको 'अन्तिम व्यवस्था' कहते हैं। मजदूरों-पूँजीपतियोंके संघर्षको ही वे संघर्षकी अन्तिम कड़ी कहते हैं। परंतु विकास-क्रममें इसे भी अन्तिम कैसे कहा जा सकता है? वस्तुतः जैसे समय-समयपर असत्य-अधर्मके विस्तारसे सत्य एव धर्म भी कुछ समयके लिये दब जाता है, तथापि अन्तमें सत्य और धर्मकी ही विजय होती है, वैसे ही ईश्वरीय व्यवस्था भी जो सर्वज्ञद्वारा सर्वदेव-बाल एव सर्वहितकी दृष्टिसे निर्धारित की गयी है, कभी-कभी दब-सी जाती है। पर अन्तमें उसीकी विजय एवं स्थिरता रहती है। अलाजोद्वारा निर्धारित व्यवस्था थोड़े ही दिनोंमें

दोषपूर्ण प्रतीत हे ने लगती है। अतः उसमें परिवर्तन आवश्यक प्रतीत होता है। इस तरह कोई भी मनुष्य माक्सके समान ही अपनी व्यवस्थाको ही सर्वोत्कृष्ट एव अन्तिम समझता है, परंतु उससे भी उत्तम योजना लेकर दूसरे भी सामने आ ही जाते हैं। कई तार्किक बड़े-बड़े प्रयत्नसे दिव्य तर्कोंद्वारा कोई व्यवस्था उपस्थित करते हैं, पुनश्च उससे भी अच्छा तर्क लेकर दूसरे महाशय सामने आ जाते हैं—
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमन्तुभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥

(ब्रह्म० शां० भा० १।१।१)

पर ईश्वरीय व्यवस्था हजारों नही लाखों वर्षोंसे सफल होती हुई चली आ रही है। ससारकी सभी सरकारोंने उसे मान्यता भी दी है। प्रायः सभी सरकारोंने व्यक्तियों एव जातिधर्मकी धार्मिक स्वाधीनता एव दायभाग आदिके सम्बन्धमें धार्मिक व्यवस्थाओंको स्वीकृत किया है। धर्म-नियन्त्रित मनुष्य मदा ही एक दूसरेका पोषक रहा। उच्छृङ्खल होते ही उसमें 'मात्स्यन्याय' फैलता और वह एक दूसरेका शोषक बन जाता है। उसी अवस्थामे प्रबल दुर्बलका घातक बनता है, धनवान्, शक्तिमान् निर्धन एव शक्तिहीनका शोषक या भक्षक बन जाता है। जीवरूपसे सब समान होते हुए भी एक जीव दूसरे जीवोंको अपने उपयोगमें लाता है। उसी तरह मनुष्यताके नाते सब समान होनेपर भी एकका दूसरेके उपयोगमें आना पहले भी और आज भी अनिवार्य ही है। अज्ञाज्ञिभाव, शोष-शेषिभावको उपकार्योपकाररूपसे आदरणीय बना लिया जा सकता है। जैसे बेगार पहले कुछ शूद्रोंसे ही ली जाती थी, आज श्रमदानके रूपमें वही बेगार बड़े-बड़े लोगोसे भी ली जा रही है।

पाप-पुण्य और शोषण

माक्सवादी कहते हैं कि 'प्रबल मनुष्य दुर्बल मनुष्योंको अपनी गुलामीमें जकड़े रखनेके लिये ही अपनी शक्तियोंका प्रयोग करता था और तदर्थ ही उसने अनेक सिद्धान्त बनाये। बहुतोंने निर्बलको सतोषका पाठ पढाया और साधन-सम्पन्नोंको भी दया, सहानुभूति एव त्यागका उपदेश किया, इस जीवनमें एव मृत्युके बाद दूसरे जीवनमें सुखादि लानेका विश्वास दिलाया। व्यक्तियोंको समझाया गया कि 'ये गुण व्यक्तिगत पूर्णताके लक्षण हैं और ऐहलौकिक-पारलौकिक सुखके साधक हैं। इन सभी उपदेशोंकी तहमें शान्ति एव व्यवस्थाकी इच्छा और उद्देश्य ही मुख्य है।' उनके मतानुसार इसी इच्छाने धर्मको जन्म दिया है। फिर भी समाजके भीतर आनेवाली असमानताके कारण असतोष एव अशान्तिकी सम्भावना बनी ही रहती है। इसीलिये समाजहितैषियोंने सदा ही असमानता दूर करने और समानता लानेका प्रयत्न किया। सभी सत्तों एव धर्मोंने समानताका गुण गाया है।'

उपर्युक्त कथनका सार यह है कि वस्तुतः धर्म, सतोष, दया, त्याग, सहानुभूति वास्तवमें कोई महत्वकी चीज नहीं। केवल शोषकोंके

कुछ भिट्टुओने गोषितोके ओसू पोंछने, उन्हे शान्त रखने, विद्रोह न करनेके लिये ही इन सबको गड रता है। चार्वाकोने भी धर्मके सम्बन्धमें ऐसी ही उठ्ठी-सीधी कल्पना की है। वस्तुतः महात्मा, आसकाम, परम विरक्त महर्षियोंने परम सूक्ष्म ऋतम्परादृष्टिसे अपौरुषेय वेदादिशास्त्रोके आधारपर कर्मका निर्णय किया है। श्रीकृष्ण एव शङ्कराचार्य-जैसे तार्किको, दार्शनिकोने जिसका पूर्ण रूपसे समर्थन किया है, भौतिकवादियोंकी बहिर्मुख दृष्टिमें वह समझमें न आये तो क्या आश्चर्य? सृष्टिमें ही सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोका क्रमेण अभि-
मान-उद्भवा होना रहता है। फलस्वरूप दैवी, आसुरी शक्तियों देश-विदेशमें समय-समयपर उद्भूत होनी रङ्गी। दैवी शक्तिके लोग आत्मा, ईश्वर, शास्त्र तथा धर्म लेकर चलते थे और दूसरे उसके विरुद्ध। हिरण्यकशिपुने भी जैसी विधिकी व्यवस्था थी, उससे निपरीत व्यवस्था बनानेकी प्रतिज्ञा की। 'अन्यथेदं विधा-
त्येऽहमयथापूर्वमोजसा ॥' जर्मनीमें हीगेल, एडवर्ड आदि विचारकोने भी इस सम्बन्धमें अपना मत व्यक्त किया है।

समाज-विकास की कुंजी

'सोशलिज्म' का अर्थ है 'समाजवाद' और साम्यवादका अर्थ है समाजमें समानता लाना। समाजवादका अभिप्राय यह है कि 'समाज ही उत्पादन-साधनोंका स्वामी हो। व्यक्तिके स्थानपर समाजका शासन होना ही समाजवाद है।' फ्रासके सेट साइमन और इगलैडके रॉबर्टस् ओवेनने (जिनका जन्म क्रमशः १७६० और १७७१ में हुआ था) पहले-पहल साम्यवादी विचारधारा फैलायी। उनके विचार थे कि 'सरकारकी बागडोर महात्माओं एवं वैज्ञानिकोके हाथमें होनी चाहिये।' मार्क्सवादी कहते हैं कि 'चूँकि ये विचार धार्मिक भावनाके थे, इसलिये वे लोग वास्तविकतासे परिचित न हो सके।' फ्रासके लुई ब्ल (जिसका जन्म सन् १८११ में हुआ था) ने आधुनिक समाजवादका रूप व्यक्त किया और मजदूरोके हाथमें राजनैतिक सत्ता देना आवश्यक समझा। फिर भी मार्क्सवादी अपने समाजवादको उन सबसे विलक्षण कहते हैं। एंजिल्सका कहना है कि 'समाज-वाद शब्दका प्रयोग अनेक बेसिर-पैरकी हवाई आयोजनाओके लिये हुआ है। परोपकारकी भावनाओंद्वारा मजदूरोकी अवस्था सुधारनेके ऐसे सैकड़ों प्रयत्नोंसे भी इस शब्दका सम्बन्ध रहा है जो एक तरफ मजदूरोके कल्याणकी फिक्र करते हैं और दूसरी ओर पूँजी तथा उसके मुनाफेको भी सुरक्षित रखना चाहते हैं।' इसीलिये 'कम्युनिष्ट मैनीफेस्टो' का 'समाजवादी मैनीफेस्टो' नाम नहीं रखा गया।

फ्रासके प्रौवोंने भी कहा कि 'मजदूरोके साधनहीन होनेसे उन्हे अपने परिश्रमका पूरा फल नहीं मिलता। साधनोसे मालिक बिना परिश्रम किये ही मजदूरोंके परिश्रमका फल हथिया लेता है।' अतः प्रौद्योने 'समाजको सब सम्पत्तिको मालिक' होना ठीक समझा। इनमेंसे अनेकोने स्त्री-पुरुषोके सामाजिक

बन्धनोंको भी अनावश्यक समझा। फलतः इनके बहुत अनुयायी आचारहीन भी हो गये। निरुद्ध समाजपर बुरा असर पड़ा। मार्क्सकी मुख्य विवेचना यह बनायी जा सकती है कि 'उमने मनुष्य समाजके इतिहासकी घटनाओंको कार्य-कारणकी शृङ्खलामें जोड़ दिया। प्रकृतिके समान ही मनुष्य-समाजके विकास एवं परिवर्तनके नियम हैं। समाजका रूप और सघटन किसी बाह्यशक्तिमें नहीं, बल्कि स्वयं मनुष्य समाजके विचारों, निश्चयों और कार्योंसे होता है। आगे भी समाजका रूप आवश्यकतानुसार बदला जा सकता है। पूँजीवादी प्रगाली अपने विकाससे समाजमें इस प्रकारकी स्थिति उत्पन्न कर देती है कि उसका आगे बढ़ना असम्भव हो जाता है और पूँजीवादी समाजको विनाशकी ओर बढ़ाना है, अतः श्रेणी-सघर्षके द्वारा समाजवाद विकसित होता है।'

रामराज्यवादीका इसपर कहना है कि जड़ प्रकृतिमें समीक्षकारिता नहीं बन सकती। कोई समीक्षकारी व्यक्ति या समूह आक्रमणकारी या आक्रमणका सामना करनेके लिये परस्परविचारसे निश्चित कार्यक्रम बनाता है। अमुक अश्वारोही, अमुक गजारोही, अमुक रथारोही, अमुक वायुयानारोही होकर तलवार, भाला, बर्छा, बंदूक, तोप, विस्फोटक तथा अङ्गार (बम्ब) आदि लेकर आक्रमण या मुकाबिला करेगा। अतः आनेपर वह पूर्वसंकेतानुसार वैसा ही करता है। पर अचेतन प्रकृति या उसके जड़कार्यमें या घटनाओंमें समीक्षकारिता सर्वथा असम्भव है। अतएव प्रकृति या प्रकृति-कार्य किसीमें भी स्वतन्त्रतारूपसे नियमित प्रवृत्ति नहीं हो सकती। निरीश्वरवादी साख्योंमें भी 'नद्याः कूलं पिपतिपत्ति (नदीका किनारा गिरना चाहता है) के समान प्रकृतिके विचार या ईश्वरको गौण या औपचारिक ही माना है। नदीका किनारा जड़ है, उसमें गिरनेकी इच्छा नहीं हो सकती, किंतु आसन्न पतन अर्थात् शीघ्र गिरना देखकर इस प्रकारका वाक्य प्रयोग किया जाता है। जैसे अचेतन रथादिकी प्रवृत्ति चेतन सारथ्यादिद्वारा अधिष्ठित होनेसे ही होती है, वैसे ही अचेतन प्रकृति या उसके कार्य जड़-युगकी प्रवृत्ति भी चेतन नियन्त्रित ही होती है। घटनाएँ उभी अचेतनकी हलचलमात्र हैं। वे स्वयं भी जड़ हैं। उनके नियम या कार्यकारणभाव—कुछ भी स्वतन्त्र नहीं हो सकते। मीमांसकोंका अचेतन कर्म भी ईश्वराधिष्ठित होकर ही फल देना है, उनके कार्यकारणभाव भी ईश्वरनियन्त्रित ही हैं—'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (मन्वास्मृ १।१।५) शाङ्करभाष्य आदिमें यह विषय विस्तारसे वर्णित है।

अचेतन यन्त्रोंकी नियमित प्रवृत्तिके मूलमें भी किसी चेतनको ही अनिवार्यरूपसे सनका नियामक मानना पड़ना है। किसी-किभी घटनाका परस्पर कार्य-कारणभाव होता है, यह कोई मार्क्सकी नयी बात नहीं है। दण्ड, चक्र, चीवर, कुलालादिके व्यापारकी घटना घटनिर्माण (घटना) का कारण है। तन्तु, तूरी, वेमा, तन्तुवायादिकी हलचलें पटनिर्माणका कारण हैं। समग्रामसे धन, जन, शक्तिका अभिप्राय होता है। उससे किसीकी